कल्याण





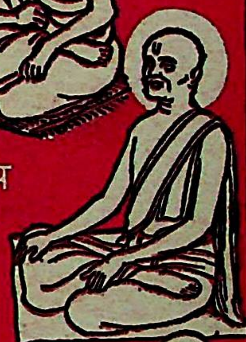


वेदान्त

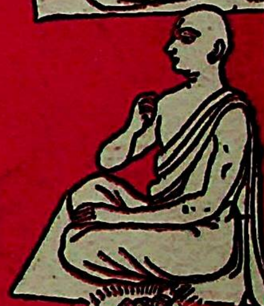
योग

न्याय





ॐ



उपासना-अङ्क

वर्ष ४२ संख्या १

भगवान

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा । जय गणेश, जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकिराम । गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजाराम । पतितपावन सीताराम ॥

[संस्करण १,५०,०००]

श्रीहनुमान्‌की अनन्य उपासना

भए हैं भगत भगवंतके भजन रस,
हौ रहे बिबेकी, जग जान्यौ जिन सपनौ ।
सेवा ही के बल, सेवा आपनी कराई, पुनि
पायौ मनोरथ सब काहू अप-अपनौ ॥
यह अद्भुत सेनापति है भजन कोई,
कह्यो न बनत तन-मन कौं अरपनौ ।
जैसौ हनुमान जान्यौ भजन कौ रस, जिन
राम के भजन ही लौं जीबौ माँग्यो अपनौ ॥

—महाकवि सेनापति

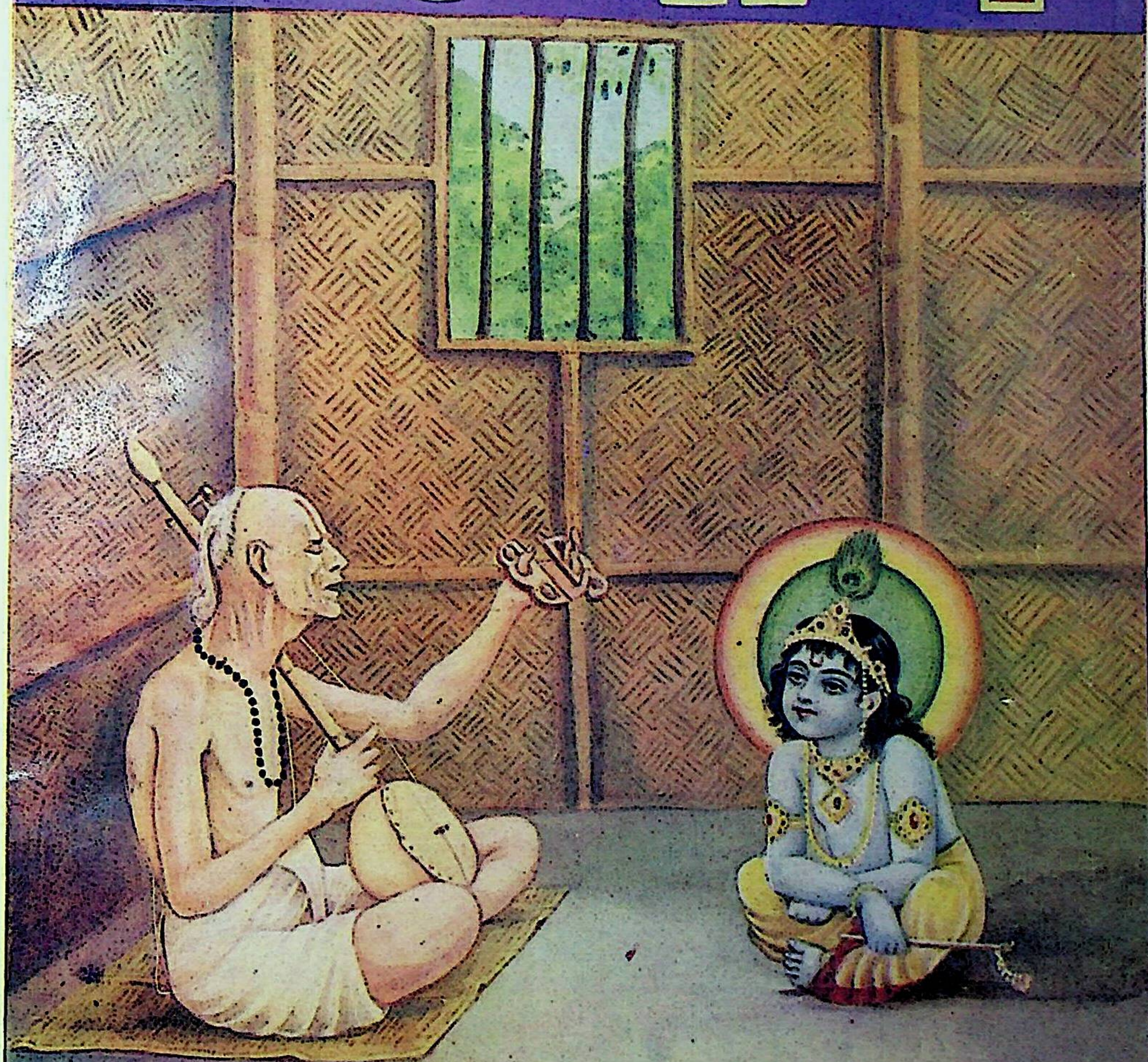
वार्षिक मूल्य
भारतमें रु. ९.००
विदेशमें रु. १३.३५
(१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका मूल्य
रु० ९.००
विदेशमें १३.३५
(१५ शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण



सूर की उपासना

वर्ष ४२ **उपासना-अङ्क** संख्या १



'कल्याण'के प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

१· मानव-जीवनका उद्देश्य 'आत्म-साक्षात्कार' या 'भगवत्प्राप्ति' है। इसको आजका मनुष्य प्रायः भूल ही गया है। बल्कि मानव आज मानवका मित्र, सहयोगी, सहायक, रक्षक, सुख-दुःखका साथी रहकर मानवताको बनाये रक्खे—इस सहज मानव-स्वरूपको भी छोड़ता जा रहा है। मानो वह अकेला ही सुख भोगता हुआ जीवित रहेगा। इसी कुविचारका परिणाम है—वर्तमान जगत्में सर्वत्र संघर्ष, द्वेष, वैर, हिंसा, विध्वंस, विनाश। सभी दुखी हैं, दुःख बढ़ रहा है, पर उसी कुपथपर सब चल रहे हैं। लोग काम, क्रोध, लोभ, धन, अधिकार आदिकी तामसी उपासनामें अन्धे होकर लग रहे हैं। इसका परिणाम लौकिक, पारमार्थिक पतन निश्चित है। इस परिस्थितिमें भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो मानव-जीवनकी वास्तविक सफलता—भगवत्प्राप्तिके लिये आकाङ्क्षा रखते हैं। सचेष्ट भी हैं, मार्ग जानना और उसपर चलना भी चाहते हैं। लौकिक विपत्तिनाश तथा भौतिक अभ्युदय चाहनेवाले लोगोंमें भी अभी ऐसे बहुत-से हैं, जो देवोपासनाके द्वारा सफलता प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे ही लोगोंके लिये यह 'उपासना-अङ्क' प्रकाशित किया जा रहा है। 'उपासना'का विषय इतना अधिक विस्तृत है कि उसका सहस्रांश भी ऐसे एक अङ्कमें प्रकाशित नहीं किया जा सकता। तथापि यथाशक्ति यथामति बहुत-से उपयोगी विषयोंपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की गयी है। आशा है, 'कल्याण'के इस विचारके पाठक तो यथारुचि तथा यथामनोरथ उपासनामें प्रवृत्त होकर इससे लाभ उठायेंगे ही; दूसरे लोग भी उन्हें लाभान्वित होते देखकर पतनके प्रवाहसे निकलकर तथा विनाशसे बचकर यथार्थ उत्थानका पथ ग्रहण करेंगे और अपना वास्तविक विकास कर सकेंगे। इस अङ्कके प्रकाशनका जो कुछ प्रयास है, यह केवल 'भगवत्प्रीत्यर्थ' और 'भगवान्‌की सेवाके लिये' ही है और उन्हींकी कृपासे किंचित् कार्य हो सका है। उनकी सहज अहैतुकी कृपा तथा सौहार्द सबको प्राप्त है ही। उसपर विश्वास करके शान्ति-सुख प्राप्त करना हमारा काम है।

२· इस विशेषाङ्कमें केवल पाठ्यसामग्रीके ७०० पृष्ठ हैं। सूची आदि अलग हैं। कई अनुष्ठानके योग्य 'यन्त्र' हैं। बहुत-से ध्यानके योग्य चित्र हैं और तिरंगे चित्र भी बहुत-से दिये गये हैं। हमारे प्रधान चित्रकार श्रीविनयकुमार मित्रकी नेत्रज्योति बहुत कम हो गयी; दूसरे कुशल चित्रकार श्रीजगन्नाथ-का देहावसान हो गया और श्रीभगवानदास कुशल कलाकार होते हुए भी इधर अस्वस्थतावश पूरा कार्य नहीं कर सके। इससे हम जितने और जैसे चित्र देना चाहते थे, उतने और वैसे नहीं दे सके, इसके लिये पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हैं।

३· सभी प्रकारका खर्च बढ़ जानेसे 'कल्याण'में घाटा लग रहा है। नौ रुपये मूल्य कर देने-पर भी घाटेकी पूर्ति नहीं हो रही है। अतएव हम अपने ग्राहकोंसे इस बार विशेष रूपसे अनुरोध करते हैं कि वे अपना पवित्र कर्तव्य समझकर 'कल्याण'के अधिक-से-अधिक ग्राहक बनाकर रुपये भिजवानेका प्रयत्न करें।

४· इस बार प्रेसकर्मचारियोंके काम न करनेके कारण विशेषाङ्क बहुत देरसे ग्राहकोंकी सेवामें पहुँच रहा है। गतवर्षका बारहवाँ अङ्क भी बहुत देरसे भेजा गया। समाचारपत्रोंमें सूचना प्रकाशित हुई थी, पर सब ग्राहकोंके पास वह नहीं पहुँच सकी। इसलिये 'कल्याण' समयपर न मिलनेके कारण बहुत-से ग्राहकोंको बहुत असंतोष रहा। उन्हें बार-बार पत्र लिखने पड़े। हमें इस बातका

बड़ा खेद है, पर हम निरुपाय थे। 'कल्याण'के प्रेमी ग्राहक हमारी परिस्थिति समझकर क्षमा करें।

५. 'कल्याण'का विशेषाङ्क तो निकल गया है। पर इस समय देशमें चारों ओर जैसी अशान्ति, अव्यवस्था, उच्छृङ्खलता, अनियमितता, अनुशासनहीनता आदिका विस्तार हो रहा है, उसे देखते कहा नहीं जा सकता कि 'कल्याण'का प्रकाशन कबतक हो सकेगा या किस रूपमें होगा। अतएव ग्राहकोंको यह मानकर संतोष करना चाहिये कि उनके भेजे हुए नौ रुपयेके पूरे मूल्यका उन्हें यह 'विशेषाङ्क' मिल गया है। अगले अङ्क भेजे जा सके तो अवश्य जायँगे। नहीं तो, उनके लिये मनमें क्षोभ न करें—परिस्थितिवश ही ऐसी प्रार्थना करनी पड़ रही है।

६. जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क भेजे जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिख दें ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण'को व्यर्थ नुकसान न उठाना पड़े।

७. मनीआर्डर-कूपनमें और वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें स्पष्टरूपसे अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या याद न हो तो 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नये ग्राहक बनते हों तो 'नया-ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर मैनेजर 'कल्याण'के नाम भेजें। उसमें किसी व्यक्तिका नाम न लिखें।

८. ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'उपासना-अङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे। आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नम्बर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये।

९. 'उपासना-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग दो-तीन सप्ताह तो लग ही सकते हैं। इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार जायगा। यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

१०. 'कल्याण'-व्यवस्थाविभाग, 'कल्याण'-सम्पादन-विभाग, 'कल्याण-कल्पतरु'(अंग्रेजी), 'साधक-सङ्घ' और 'गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ'के नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

११. जिन ग्राहकोंका सजिल्दका मूल्य आया हुआ है, उनको यदि वर्तमान परिस्थितिवश सजिल्द अङ्क जानेकी सम्भावना नहीं होगी तो अजिल्द विशेषाङ्क भेज दिया जायगा और जिल्दके पैसे मनीआर्डरद्वारा लौटा दिये जायँगे।

श्रीहरिः

उपासना-अङ्ककी विषय-सूची

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

रेखाचित्र

श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीगीता और रामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके लोग विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षा-प्रसार करनेके लिये परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षाके लिये स्थान-स्थानपर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इस समय गीता-रामायण दोनोंके मिलाकर ४३९ केन्द्र और लगभग १६००० परीक्षार्थी हैं। विशेष जानकारीके लिये कार्ड लिखकर नियमावली मँगानेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीता-भवन, पो० 'स्वर्गाश्रम' (देहरादून)

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—दोनों आशीर्वादात्मक प्रासादिक ग्रन्थ हैं। इनके प्रेमपूर्ण स्वाध्यायसे लोक-परलोक दोनोंमें कल्याण होता है। इन दोनों मङ्गलमय ग्रन्थोंके पारायणका तथा इनमें वर्णित आदर्श सिद्धान्त और विचारोंका अधिक-से-अधिक प्रसार हो—इसके लिये 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ' बारह वर्षोंसे चलाया जा रहा है। अबतक गीता-रामायणके पाठ करनेवालोंकी संख्या लगभग ५०,००० हो चुकी है। इन सदस्योंसे कोई शुल्क नहीं लिया जाता। सदस्योंको नियमितरूपसे गीता-रामचरितमानसका पठन, अध्ययन और विचार करना पड़ता है। इसके नियम और आवेदनपत्र मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) को पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

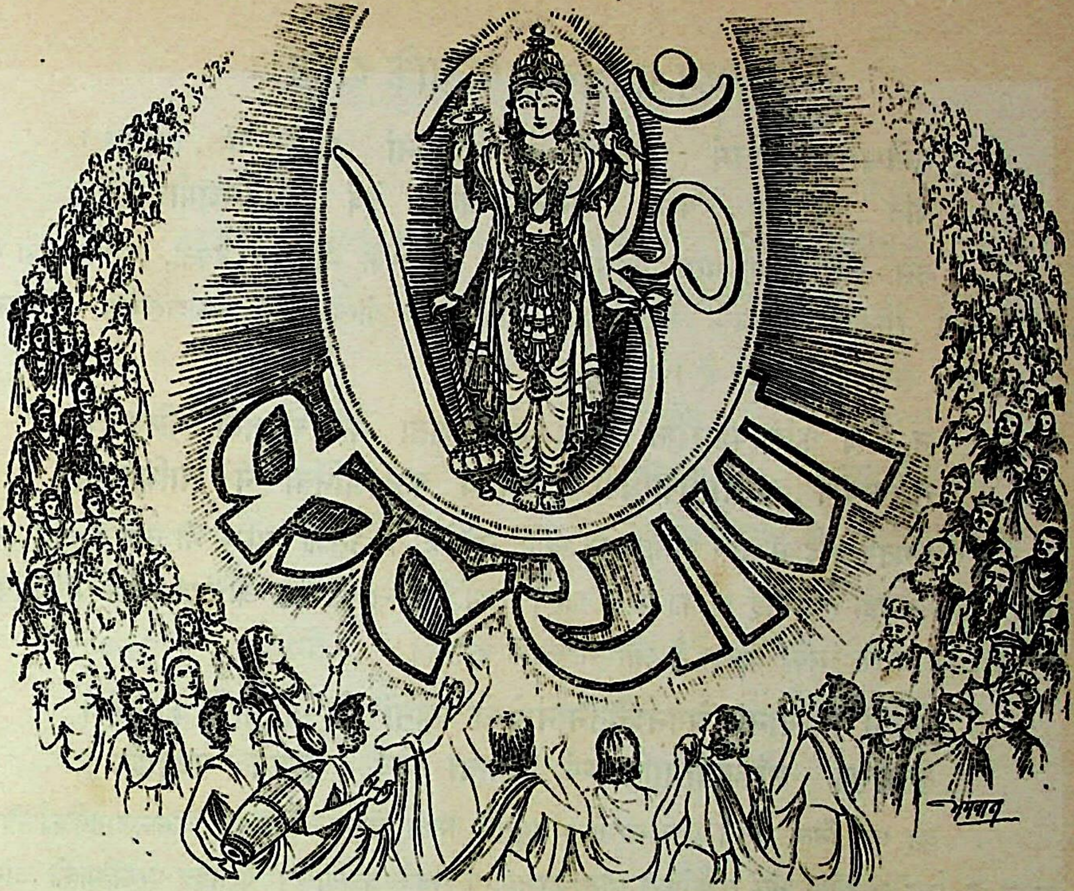
साधक-संघ

देशके नर-नारियोंका जीवनस्तर यथार्थरूपमें ऊँचा हो, इसके लिये साधक-संघकी स्थापना की गयी है। इसमें भी सदस्योंको कोई शुल्क नहीं देना पड़ता। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' दी जाती है, उसके लिये२५ पैसेका मनीआर्डर अथवा डाकके टिकट (रेवेन्यू नहीं) लिफाफेमें भेजकर प्रतिवर्ष मँगवा लेना चाहिये। उसीमें वे अपने नियम-पालनका ब्यौरा लिखते हैं। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको स्वयं इसका सदस्य बनना चाहिये और अपने बन्धु-बान्धवों, इष्ट-मित्रों एवं साथी-संगियोंको भी प्रयत्न करके सदस्य बनाना चाहिये। आनन्दकी बात है कि इसके सदस्योंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है। इस समय ९२४४ सदस्य हैं। नियमावली इस पतेपर पत्र लिखकर मँगवाइये—संयोजक, 'साधक-संघ', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।



भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

वर्ष ४२ } गोरखपुर, सौर माघ २०२४, जनवरी १९६८ { संख्या १ पूर्ण संख्या ४९४

नमस्कार

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रोंद्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, सामवेदके गानेवाले अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिनका गायन करते हैं, योगीजन ध्यानमें स्थित तद्गत हुए मनसे जिनका दर्शन करते हैं, देवता और असुरगण (कोई भी) जिनके अन्तको नहीं जानते, उन (परमात्मा परम पुरुषोत्तम) देवके लिये नमस्कार है ।

परम महेश्वर परमात्माके शरण

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् !
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

उस ईश्वरोंके भी परम महेश्वर, सम्पूर्ण देवताओंके भी परम देवता, पतियोंके भी परम पति तथा समस्त ब्रह्माण्डके स्वामी एवं स्तुति करने योग्य उस प्रकाशस्वरूप परमात्माको (हमलोग) सबसे परे जानते हैं ।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

जगत्में कोई भी उस परमात्माका स्वामी नहीं है । उसका शासक भी नहीं है और उसका कोई चिह्न भी नहीं है । वह सबका परम कारण तथा समस्त करणोंके अधिष्ठाताओंका भी अधिपति है, कोई भी न तो इसका जनक है और न स्वामी ही है ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

वह एक नित्य चेतन (परमात्मा) बहुतसे नित्य चेतन आत्माओंके कर्मफलभोगोंका विधान करता है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोगसे प्राप्त करनेयोग्य सबके कारणरूप परमदेव परमात्माको जानकर (मनुष्य) समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्माको समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उस परमात्मज्ञानविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्धदेव परमेश्वरको मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरणरूपमें ग्रहण करता हूँ ।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

शैव 'शिव' के नामसे, वेदान्ती 'ब्रह्म' कहकर, बौद्ध 'बुद्ध' के नामसे और प्रमाणपटु नैयायिक 'कर्ता' कहकर, जैन शासनके लोग 'अर्हन्' के नामसे और मीमांसक 'कर्म' कहकर जिनकी भलीभाँति उपासना करते हैं, वे तीनों लोकोंके नाथ श्रीहरि हमें वाञ्छित फल प्रदान करें ।

प्राणिमात्रकी कल्याण-कामना

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

इस विश्वमें सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब कल्याण-मङ्गलोंका दर्शन करें, कोई भी दुःखको प्राप्त न हो ।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

सब कठिनाइयोंसे—विपत्तियोंसे त्राण पायें, सब मङ्गलोंका दर्शन करें, सब सद्बुद्धिको प्राप्त हों और सब सर्वदा सर्वत्र आनन्द-लाभ करें ।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ॥

दुष्टजन सज्जन हो जायँ, सज्जन शान्तिको प्राप्त करें, शान्तजन बन्धनसे मुक्त हो जायँ और मुक्तजन दूसरोंको बन्धनसे मुक्त करें ।

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥

प्रजाजनोंका कल्याण हो । राजालोग न्याययुक्त मार्गसे पृथ्वीपर शासन करें । गौओं एवं ब्राह्मणोंका सर्वदा मङ्गल हो । सम्पूर्ण लोक सुखी हो जायँ ।

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी शस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥

बादल समयपर वर्षा करें, पृथ्वी धान्यसे समृद्ध हो, यह देश (भारतवर्ष) क्षोभरहित हो जाय और ब्राह्मण निर्भय हो जायँ ।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया ।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥

विश्व-ब्रह्माण्डका कल्याण हो, दुष्टलोग शान्त हो जायँ, सभी प्राणी अपनी बुद्धिके द्वारा एक दूसरेका भला सोचें, मन सदा भलाई और मङ्गलका ही चिन्तन करे एवं हम सबकी बुद्धि विना किसी हेतुके भगवान्में आविष्ट हो जाय ।

गायत्री

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीशृंगेरीमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य श्रीस्वामीजी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजीमहाराजका सदुपदेश)

इस जगत्‌में जीवन धारण करनेवाला कोई भी मानव कामनासे रहित नहीं है। यदि कोई पूर्णतया कामनारहित माना जाता है, तो भी इतना तो सत्य है कि उसमें भी, जीवित रहनेके लिये ही सही, जीनेकी कामना है। बृहदारण्यक उपनिषद्‌के अनुसार संन्यासी सिद्धान्ततः कामनाशून्य होते हैं; किंतु सूक्ष्म निरीक्षणसे ज्ञात होता है कि उनमें भी किसी प्रकारकी प्रसुप्त कामना वर्तमान रहती है। साधारण स्तरके मानव-प्राणी अपनी जागतिक कामनाओंकी पूर्तिके लिये आतुर रहते हैं; परंतु कुछ ऐसे हैं, जो स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिकी कामनासे प्रेरित होकर 'अश्वमेध यज्ञ' आदिका अनुष्ठान एवं अन्य पुण्य कर्मोंका आचरण करते हैं। ऐसे लोग पूर्णतया विभिन्न श्रेणीके हैं। कुछ 'गुरु'के दार्शनिक सिद्धान्तोंद्वारा प्रतिपादित साधनाङ्गोंका कठोरतापूर्वक पालन और शास्त्रोंद्वारा निर्दिष्ट विधि-विधानका सत्यतापूर्वक आचरण करते हुए भगवत्साक्षात्कारकी तीव्र लालसामें लीन रहते हैं। इस प्रकार कामनाएँ दो प्रकारकी होती हैं—(१) सांसारिक और (२) संसारातीत।

उपनिषदोंने मुख्यतः परम ज्ञानकी प्राप्तिका प्रतिपादन किया है, जिससे ब्रह्मज्ञानकी अथवा अनन्तानन्द एवं अमरत्वकी प्राप्ति होती है। वस्तुतः वे स्वर्ग एवं स्वर्गके सुखोंको निम्नस्तरका होनेके कारण हेय दृष्टिसे देखते हैं। स्वर्ग तथा स्वर्गीय सुखोपभोगमें और अमरत्वमें स्पष्ट अन्तर है। स्वर्ग-सुलभ सुख क्षणिक अनित्य सुखोपभोग है, जो इस संसारमें कृतपुण्योंका फल है और अमरत्व एक नित्य शाश्वत परम साध्य वस्तु है, जो आवागमनके आवर्तसे अतीत एक स्थायी वस्तु है।

मानव-मनमें वास करनेवाली सभी कामनाओंके उन्मूलित हो जानेपर मरणधर्मा मानव अमरत्वको प्राप्त होता है। मानव-मन भी दो प्रकारका होता है—शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध मनमें कामनाओंका वास होता है तथा विशुद्ध मन कामनाशून्य होता है। अतः मन ही मानवके बन्धन और मुक्तिका हेतु है। विषयासक्त मन बन्धनकारक है और विषय-विमुक्त मुक्तिप्रदायक है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥

सभी प्रकारके ज्ञानके मूलस्रोत वेदोंमें ऐसा कहा गया है कि शास्त्रोक्त विधि-विधानका कठोरतापूर्वक पालन करनेसे तथा उनमें निर्दिष्ट विभिन्न प्रकारकी उपासनाओंके अनुष्ठानसे मनकी शुद्धि हो सकती है। शास्त्रोक्त सभी उपासनाओंमें 'संध्योपासना' मानवकृत पापोंका परिमार्जन तथा आध्यात्मिक आनन्दका विधान करनेवाला श्रेष्ठ प्रभावशाली साधन है। इस उपासनाकी अधिष्ठात्री देवी गायत्री हैं।

व्युत्पत्ति-शास्त्रकी दृष्टिसे गायत्री वह है जो इसके गायकका सभी प्रकारकी मलिनताओं तथा पापोंसे बचाव एवं संरक्षण करे—**गायन्तं त्रायते इति गायत्री।** गायत्री 'मन्त्र' भी है और 'प्रार्थना' भी। इसका उच्चारण तथा अर्थ दोनों ही समानरूपसे महत्त्वपूर्ण हैं। यह एक प्रार्थना है जिसमें उपासक, केवल अपने लिये नहीं, सभीके लिये ज्ञानकी ज्योति पानेके हेतु प्रार्थना करता है।

शब्दोंमें सम्पुटित दिव्यता ही मन्त्र है। यह दैवी शक्ति है, जो शब्दोंके माध्यमसे अभिव्यक्त है। ये पवित्र मन्त्र सर्वोच्च दैवीशक्तिके सजीव प्रतीक हैं, जो पुरातन औपनिषदिक युगके आत्मज्ञानी ऋषियोंके अन्तःकरणमें गहन समाधिकी स्थितिमें उद्भासित हुए थे। इन्द्रियातीत परमानुभूतिकी उपलब्धिके लिये प्रतीकात्मक मन्त्र कभी भी निष्फल न होनेवाले साधन हैं। एक मन्त्रके निम्नलिखित अङ्ग होते हैं—मन्त्रका एक अङ्ग ऋषि होता है, जिसे इस मन्त्रके द्वारा सर्वप्रथम आत्मानुभूति हुई और जिसने जगत्‌को यह मन्त्र प्रदान किया। ब्रह्मर्षि विश्वामित्र गायत्रीके ऋषि हैं। मन्त्रका द्वितीय अङ्ग 'छन्द' होता है, जिससे उच्चारण-विधिका अनुशासन होता है। तृतीय अङ्ग 'देवता' है, जो मन्त्रका अधिष्ठाता होता है। चतुर्थ अङ्ग 'बीज' होता है, जो मन्त्रको विशेष शक्ति प्रदान करता है। पञ्चम अङ्ग प्रत्येक मन्त्रकी एक 'शक्ति' होती है, यह शक्ति ही मन्त्रके शब्दोंकी क्षमता है। ये सभी मिलकर मानवको उपास्यदेवताकी प्राप्ति करवा देते हैं।

उपर्युक्त गायत्री-मन्त्रके जपमें उस भगवत्ताको प्रकट करनेकी रहस्यमयी क्षमता है, जिससे कि हृदयकी सभी ग्रन्थियोंका भेदन हो जाता है, सम्पूर्ण संदेह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सभी अवशिष्ट कर्म-बन्धन विनष्ट हो जाते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।

इस स्थितिमें पहुँचते ही अनिर्वचनीय आध्यात्मिक प्रकाशकी प्राप्ति होती है। वह आनन्दानुभूति ऐसी गहन

होती है कि उसके चिन्तनसे अत्यधिक उल्लास होता है, उसकी स्मृतिमात्रसे रोम-रोम सिहर उठता है तथा उसकी पुनः-पुनः अनुभूति होनेसे हृदय आनन्द-विह्वल हो जाता है।

'उपनयन' संस्कारके पश्चात् ही किसीको गायत्रीका उच्चारण करना चाहिये। 'उपनयन' का अर्थ है—चूँकि यह मन्त्र किसी व्यक्तिको दिया जाता है, उसे एक नवीन दृष्टि—'नयन' की प्राप्ति होती है, अर्थात् उसे बौद्धिक प्रकाशकी प्राप्ति होती है। ब्राह्मणके लिये आठ वर्षकी आयुमें उपनयन-संस्कारका विधान है, यही वस्तुतः उसका पुनर्जन्म होता है। इसीसे उसकी 'द्विज' संज्ञा है। इस संस्कारके बाद गायत्री उस व्यक्तिकी दूसरी माँ होती है। गायत्रीको वेदोंकी माता बताया गया है—

'छन्दसां माता'

'गायत्री वेदजननी'

उपर्युक्त गायत्री-मन्त्रमें तीन पाद हैं, प्रत्येक पादमें आठ अक्षर हैं। इस प्रकार कुल चौबीस अक्षर हैं।

ॐ के प्रयोगसहित मन्त्रका जप आरम्भ किया जाता है। इस शब्दका वास्तविक महत्त्व क्या है? इस शब्दमें तीन अक्षर हैं—'अ' 'उ' और 'म'। यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारके ब्रह्मको ध्वनिके रूपमें प्रतीकतया प्रस्तुत करता है। ब्रह्मके रूपमें ॐ का ध्यान करनेके लिये श्रुतियोंमें बहुशः प्रतिपादन किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में बड़ी सुन्दर रीतिसे ॐ की तुलना शर और ब्रह्मकी तुलना लक्ष्यसे की गयी है। इसीपर अपनी संध्योपासना आधारित है। सामान्यतः मन्त्र न तो ऐन्द्रजालिक यन्त्र-तन्त्र है और न केवल प्रार्थना है, अपितु शब्दरूपमें मूर्तिमान् उपास्य देवता ही है और मन्त्रका जप अथवा उसका ध्यान करते समय साधकका उद्देश्य यही होता है कि उसकी उस सर्वोपरि सत्य सत्ताके साथ एकात्मता स्थापित हो सके। यह सर्वथा आवश्यक है कि साधकको गायत्रीका जप इसके अर्थ और महत्त्वको जानते हुए करना चाहिये। मन्त्र-शास्त्रमें कहा गया है कि गायत्रीसे श्रेष्ठतर कोई मन्त्र है ही नहीं—

गायत्र्या नापरो मन्त्रः।

उपासनाका लक्ष्य—मोक्ष

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामीजी अभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी महाराजका सदुपदेश)

जगत्में चौरासी लक्ष योनियोंमें मनुष्यजन्म सर्वश्रेष्ठ माना गया है। श्रीआद्यशंकराचार्य महाराजने भी 'विवेक-चूडामणि'के प्रारम्भमें 'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभम्' इत्यादि स्थानोंमें और स्वरचित प्रस्थानत्रयीभाष्यादिमें भी कई बार इस बातको दुहराया है और कहा है—

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

'सर्वश्रेष्ठ मनुष्यजन्म, विद्या, योग्यता आदि प्राप्त करके भी जो मनुष्य आत्ममुक्तिके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह असद्ग्रहसे आत्महत्या करता है।' अतः मनुष्यको आत्म-मुक्तिके लिये अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिये।

चतुर्विध पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है। मनुष्यका परम लक्ष्य मोक्ष ही है। इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये हमारे शास्त्रोंमें बहुत-से साधन और उपासनाएँ बतायी गयी हैं, तथापि सबका लक्ष्य तो एक ही है। रुचि और अधिकारके भेदसे मार्गोंमें भेद हो सकता है। सभीके लिये अपने-अपने कुल तथा गुरु-परम्पराके अनुसार उपासना करना श्रेयस्कर है।

साधारण सरल उपासनाओंसे लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म और गहनतर उपासनाओंका सविस्तर प्रकाशन आजतक न होना एक क्षति थी। इस क्षतिकी पूर्ति 'कल्याण'के इस विशेषाङ्कसे किसी अंशतक हो सकती है।

साधारणतः लोग अपने-अपने इष्टदेवकी पूजा या भक्ति करके उपासना करते रहते हैं और पञ्चायतन पूजा-उपासनाकी भी पद्धति रहती है। इसके अतिरिक्त विशेष उपासनाकी पद्धति—गायत्री-उपासना, गणेशोपासना और श्रीचक्रोपासना भी अनेकत्र वर्णित है।

वैदिक उपासनामें उद्गीथोपासना, उपकोसलविद्या, पञ्चाग्निविद्या, संवर्गविद्या, मधुविद्या, शाण्डिल्यविद्या, पर्यङ्कोपासना, अग्निविद्या आदि उपासनाओंका वर्णन उपनिषदोंमें उपलब्ध होता है। परंतु वे उपासनाएँ आजकल प्रायः दुर्लभ हैं।

तान्त्रिकोपासनामें भी बहुत प्रकार हैं। उनके बड़े-बड़े पारंगत साधक पूर्वकालमें अनेकत्र रहते थे। सिद्धि भी प्राप्त करते थे। अभी भी यह उपासना जहाँ-तहाँ है, पर इसके सिद्ध-पुरुष आजकल बहुत कम ही मिलते हैं।

इन विद्याओंके संरक्षण और सदुपयोगकी दृष्टिसे इनमें गुप्तता भी रक्खी जाती थी, परंतु इस कारणसे भी हो अथवा समाजमें बढ़ती हुई अश्रद्धासे इन उपासनाओंका क्षय होता जा रहा है।

वास्तवमें उपासनाका लक्ष्य 'मोक्ष'प्राप्ति ही है। सभी उपासकों और साधकोंको भगवान् सफलता और कल्याण प्रदान करें।

उपासनामें भक्तितत्त्व

(अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामीजी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश)

जैसे उपासना एक क्रियाका नाम है, वैसे भक्ति भी एक क्रियाका नाम है। उपासना और भक्ति एक ही तत्त्व हैं या भिन्न-भिन्न ? उपासना और भक्तिका स्वरूप भिन्न है या एक ? इसी प्रकार उपास्य और भजनीय—ये दोनों एक है या पृथक् ? इन सब बातोंपर सूक्ष्मरीतिसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न इस लेखमें किया गया है।

उपास्य और उपासनाकी परिभाषा

'उपासना' संस्कृत साहित्यका शब्द है। संस्कृतके सभी शब्दोंको यह गौरव प्राप्त है कि वे प्रकृति-प्रत्ययके संयोगसे निष्पन्न होते हुए भी प्रकृति-प्रत्ययके समुदित अर्थका प्रतिपादन करते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार उपासना शब्दमें उप, आस् और अन—ये तीन अंश हैं। इनमें उप उपसर्ग, 'आस उपवेशने' धातु और भाव अर्थमें युच् (अन) प्रत्यय है। उपासनम् उपासना अर्थात् शास्त्रविधिके अनुसार उपास्यदेवके प्रति तैलधाराकी भाँति दीर्घकालपर्यन्त चित्तकी एकात्मताको उपासना कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायके तीसरे श्लोकके शांकरभाष्यमें—'उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते।' यह लिखा है। उपासनाके समानार्थक शब्द सेवा, वरिवस्या, परिचर्या, शुश्रूषा, उपासन इत्यादि हैं। उक्त परिभाषाके अनुसार उपासक, उपास्य और उपासना—ये तीन वस्तु हमारे सामने प्रस्तुत हैं। इनका पृथक्-पृथक् स्वरूपनिर्णय करना प्रसङ्गके विरुद्ध न होगा। उपासक आराधना करनेवाले अर्थात् दीर्घकालपर्यन्त उपास्यके स्वरूपगुणादिमें चित्त-वृत्तिका सतत प्रवाह करनेवालेको कहा जाता है। उपासक और उपास्यके विविध भेद होनेके कारण ये कई प्रकारके होते हैं। इसी प्रकार इन उपास्योंकी उपासना भी विभिन्न प्रकारकी होती है। इसलिये उपासक, उपास्य और उपासनाके अनेक भेद हैं। यद्यपि वास्तविक रूपसे सर्वत्र आत्मा ही उपास्य है, आत्मातिरिक्त कोई न उपास्य है और न कोई उपासक, तथापि शास्त्रके निर्णयानुसार एवं उपासकोंके सबल-दुर्बल भेदके कारण उपासना और उपास्यके अनेक भेद कहे जा सकते हैं। 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' (मुण्डक० १।१।९), 'एको दाधार भुवनानि विश्वा' 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' (मुण्डक० ३।१।१) वाक्योंके अनुसार एवं पुरुषसूक्तानुसार विष्णु उपास्यदेव कहे गये हैं। रुद्रसूक्तके अनुसार एवं अन्यत्र 'एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।' (श्वेताश्वतर० ३।२) 'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥' (श्वेताश्वतर० ६।७) इत्यादि श्रुतिवचनोंके अनुसार महेश्वर, रुद्र अथवा शंकर उपास्यदेव ठहरते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र संसारके सर्ग, स्थिति और प्रलयके कारण हैं, इसलिये वे उपास्यदेव ठहरते हैं। उनके अतिरिक्त 'विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः', इस श्रुतिसे इन्द्र भी उपास्यदेव निश्चित होते हैं। इन सबकी उपासनाके भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, एवं उपासक भी वैष्णव, शैव, शाक्त, ब्राह्म आदि भेदसे अनेक हैं। पर इतने मात्रसे शान्ति नहीं होती; क्योंकि—

> न विष्णूपासना नित्या वेदेनोक्ता तु कुत्रचित्।
> न विष्णुदीक्षा नित्यास्ति न शिवस्यापि तथैव च॥

—इत्यादि वचनोंके अनुसार विष्णु-शिवादि देवताओंकी उपासना तथा दीक्षा नित्य नहीं हैं। उपनिषद् भी इसमें साहमत्य प्रदान करते हैं कि जिस प्रकार कर्मद्वारा संचित लोक क्षीण होते हैं, उसी प्रकार पुण्यद्वारा प्राप्त लोक भी क्षीण हो जाते हैं। 'अक्षय्यं हि चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति।' के अनुसार वैदिक 'चातुर्मास्यादि' उपासनाजन्य पुण्यका फल भी प्रलयपर्यन्त ही रहता है। इसके पश्चात् फिर

संसारमें प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। ऐसी परिस्थितिमें यह निर्णय करना स्वाभाविक है कि हमारा उपास्यदेव कौन है, जिसकी उपासनाद्वारा अक्षय्यफलकी प्राप्ति हो।

इस सम्बन्धमें लिङ्गपुराणमें लिखा है—

त्रिधा भिन्नोऽस्म्यहं विष्णो ! ब्रह्मविष्णुभवाख्यया।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलः परमेश्वरः॥

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके निर्माता निर्गुण, निराकार, निरञ्जन, निष्कल परब्रह्म परमेश्वर परमात्मा ही उपास्यदेव हैं। इसलिये व्यष्टि-उपासनामें 'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।' कहा गया है।

अहं हि सर्वसंसारान्मोचको योगिनामिह।
संसारहेतुरेवाहं सर्वसंसारवर्जितः॥

—इत्यादि अनेक वचनोंके अनुसार जगत्-जन्मादि-कारण-रूप कार्य-कारणातीत परब्रह्म परमात्मा ही उपास्यदेव ठहरते हैं। उपास्य और भजनीय—इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। जो उपास्य है, वही भजनीय है; जो भजनीय है, वही उपास्य है। इसी प्रकार उपासना और भक्ति भी एक ही हैं। काव्य-कोषादिकी व्याख्याके अनुसार 'पूजादिष्वनुरागो भक्तिः' और अन्यसिद्धान्तके अनुसार 'स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिः॥' अर्थात् जहाँ एक ओर पूज्यके प्रति अनुराग, प्रेम, स्नेह भक्ति है, वहाँ स्वरूपानुसंधान भी भक्ति ही है।

उपासनाके भेद

वास्तवमें यद्यपि नित्यानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें एकान्त प्रीति करना उपासना है, तथापि सम्पूर्ण संसारको मोहमें डालनेवाली परब्रह्म परमात्माकी मलिन सत्त्वप्रधान मायाके वशीभूत जीवके रज और तमभावको नष्ट करनेके लिये उपासनाका आश्रय अवश्य लेना चाहिये। यद्यपि शास्त्रकारोंने मानव-कल्याणके लिये अनेक मार्गोंका उपदेश किया है, फिर भी अविद्याके नाश करनेके लिये तथा आत्म-ज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कारके सम्बन्धसे वेदान्त और भगवद्गीतामें निम्न त्रिमार्ग बताया गया है। जबतक आत्म-साक्षात्कारकी क्षमता प्राप्त न हो, तबतक चित्तकी शुद्धि एवं मनकी एकाग्रताके लिये कर्म और उपासनाकी परमावश्यकता है। चित्तशुद्धि और मनकी एकाग्रताके पश्चात् यद्यपि कर्म-उपासनाकी कोई आवश्यकता नहीं; तथापि लोकानुग्रहके लिये देव-उपासना करते रहना अनुचित नहीं है। इसीलिये 'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।' यह श्रीमद्भगवद्गीता (३। २०) में कहा है।

इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि स्वरूपातिरिक्त अन्य उपास्य आत्मसाक्षात्कारपर्यन्त ऐकान्तिक उपासनाके योग्य हैं। आत्म-साक्षात्कारके पश्चात् उनकी उस प्रकारकी आवश्यकता नहीं रह जाती। आत्मातिरिक्त अन्य उपास्य भी आत्मत्वेन ही उपासनाकी योग्यता रखते हैं। इस प्रकार आत्मपर्याय परब्रह्म परमात्मा जो उपास्य है, उसके दो भेद हो जाते हैं—१ सगुण और २ निर्गुण। सगुणके पुनः दो भेद हैं—सगुण निराकार और सगुण साकार। निर्गुण निराकार तत्त्व एक ही है। उसकी उपासना बिना निरतिशयानन्दकी प्राप्ति और दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। इसीलिये वेदमें 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' (यजुर्वेद ३१। ३८)। इस प्रकार अन्य सभी मार्गोंका निषेध कर दिया गया है।

सगुण निराकारकी उपासनाके अन्तर्गत हिरण्यगर्भ आदिसे लेकर जितना कारण और कार्य-ब्रह्मका विस्तार है, वह सभी है। सगुण साकारके अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रसे लेकर भैरव, भवानी आदि सभी आकारवाली मूर्तियोंकी उपासना आ जाती है। इस प्रकार पृथ्वीके एक परमाणुसे लेकर महाकाशपर्यन्त अहं-तत्त्व, महत्तत्त्व आदि सबमें किसी-न-किसी रूपसे उसी एक निर्गुण, निष्कल, निरञ्जन तत्त्वकी उपासना होती है। बाह्यस्वरूप-कृतभेद विशेष स्वरूपका कारण होते हुए भी अवान्तर एकताके विघातक नहीं होते। इस प्रकार वैदिक, स्मार्त, पौराणिक, तान्त्रिक आदि सभी उपासनाओंमें उपास्यदेवकी व्यापकतासे मुख्यतया परब्रह्म परमात्मा ही उपास्य ठहरते हैं। अवान्तर उपास्योंमें यदि परिच्छिन्न भावको लेकर निष्ठा परिपक्व हो जाती है और उसके अतिरिक्त वास्तविक उपास्य ब्रह्मतक पहुँचनेका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता तो फिर इस प्रकारके उपासक परिच्छिन्न उपासनाके कारण मृत्युके पश्चात् परिच्छिन्न लोकोंको प्राप्त होते हैं। अतएव छान्दोग्य-श्रुतिमें प्रजापति भगवान् इन्द्रको उपदेश देते हुए कहते हैं कि—'...तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः, सर्वे च कामाः, स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति, सर्वाꣳश्च कामान्, यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति।' (छान्दोग्य० ८। १२। ६) इसी भावको दृष्टिमें रखते हुए कहा गया है—'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।' (गीता ७। २३) अर्थात् देवताओंकी उपासनातक सीमित रहनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, परमात्माकी उपासना करनेवाले परमात्माको प्राप्त होते हैं। अतएव उपासकके लिये यह आवश्यक है कि प्रारम्भसे अधिकारानुसार एवं गुरुके उपदेशानुसार उपास्यदेव-का निश्चय करके उससे आगे भी क्रमशः परिच्छिन्न भावका परित्याग

करते हुए अपरिच्छिन्नभावकी ओर अग्रसर होता रहे । अन्तिम उपासनाकी सीमातक पहुँचनेपर सभी नाम-रूप लय हो जायँगे और 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।'—ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है । एवं 'ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेव न जायते ।' के अनुसार उसका जन्म-मरण समाप्त होकर नित्य निरतिशयानन्द सच्चिद्रूप हो जाता है। वही व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलानेका अधिकार प्राप्त कर लेता है ।

भक्तिका स्वरूप और भक्तिके अधिकारी

श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रभृति ग्रन्थोंके प्रमाणानुसार परमात्माके सगुण साकार स्वरूपका बहुधा विवरण देखा-सुना गया है । भक्तोंकी रक्षा-दीक्षाके लिये मुहुर्मुहुः आविर्भूत हुए विविध रूपोंका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है । जहाँ एक ओर 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः'की बात आती है, वहाँ दूसरी ओर यदि चित्तमें प्रबल वैराग्य आदिका उदय नहीं तो निखिलगुणगणनिलय परमात्माकी कथादिका श्रवण करना, नाम-रूपका उच्चारण-दर्शनादि करनेसे भी परमात्माकी कृपाका पात्र बनकर कल्याणपथपर चला जा सकता है । इसीलिये—

जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मां सकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २० । २८—३१)

श्रीभगवान्‌के इन वाक्योंके अनुसार भक्तिसे हृदयमें परमात्मा (भजनीय) का साक्षात्कार होता है। भगवान्‌के साक्षात्कारसे हृदयकी अविद्यारूप ग्रन्थिका भेदन तथा सर्व-संशयोंका छेदन होकर मुक्तिकी प्राप्ति होती है । इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(१० । १०)

—कहा है । इसके अनुसार विधिपूर्वक भक्तियोगद्वारा ज्ञानयोगकी प्राप्ति या भगवत्साक्षात्कार होना स्वाभाविक है। इसलिये वेदोदित कर्मोंका ईश्वर-प्रसन्नताके लिये एवं ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करते हुए तज्जन्य पुण्य-पापसे असंश्लिष्ट होता हुआ भक्तियोगसे उस तत्त्वको प्राप्त करना अत्यन्त सरल मार्ग है ।

भक्तिके अधिकारी श्रीमद्भगवद्गीता (७ । १६)—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

—के अनुसार आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी माने जाते हैं । इनमें यद्यपि ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ भक्त माना गया है, तथापि—

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
(श्रीमद्भागवत १० । ९ । ४२)

—के अनुसार 'यो यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवति' इस वाक्यसे अमृतत्वकी कामनावाले व्यक्तिको ध्यान, रसन, भजन करनेका निर्देश मिलता है । जो-जो ध्यान, रसन, भजन करता है, वह-वह अमृत हो जाता है । अतएव 'कृष्णं तं विप्रा बहुधा यजन्ति, गोविन्दं सन्तं बहुधा आराधयन्ति ।' इस प्रकारका भक्तियोग श्रुतिसिद्ध और अत्यन्त सेवन करनेपर मुक्तिका कारण बन जाता है । इस प्रकार भक्तिके द्वारा भगवान् भक्तके भोगानुरोधसे भिन्न-भिन्न भोग-साधन समुपस्थित करते हुए स्वानुग्रहद्वारा ज्ञानकी उत्पत्ति और मुक्ति प्रदान करते हैं । इस प्रकार भक्ति मुक्तिका हेतु ही है। यह भक्ति अनुरागात्मिका फलरूपा-भक्ति और साधन-भक्तिके रूपसे दो प्रकारकी होती है । फल-भक्ति साधन-भक्तिके अनुष्ठानसे सिद्ध हो जाती है, उसके लिये विधानान्तर अपेक्षित नहीं है । हाँ, साधनरूपा भक्तिके लिये शुभ अपेक्षित है; क्योंकि साधनरूपा भक्ति नौ प्रकारकी शास्त्रोंमें बतलायी गयी है—

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः ।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ११ । ११)

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ५ । २४)

इस प्रकार श्रवणादि नवविध भक्तिका विश्लेषण शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक आया है और वह मानव-कल्याणके लिये एक-एक अङ्ग ही परमोपयोगी सिद्ध होता है । इसलिये उपासना और भक्ति दोनों ही परस्पर समानार्थक एवं समान कल्याणकारक माने गये हैं । उपासना भी अनेक प्रकारसे

उसी उपास्यकी होती है और भक्ति भी अनेक प्रकारसे उस एक ही भजनीयकी होती है। अतएव—

'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।' के अनुसार एक केशवदेव ही उपास्य और भजनीय हैं।

उपासनामें गायत्रीका महत्त्व

उपासना अधिकारभेदसे अनेक प्रकारकी होती है। हमारे शास्त्रोंमें अधिकारका विचार सर्वत्र किया गया है और करना भी चाहिये। बिना अधिकारके निर्णय किये किसी भी कर्ममें सिद्धि नहीं होती। लौकिक कृषि-वाणिज्यादिमें भी अधिकारका विचार किया जाता है। अतएव प्रत्येक उपासनामें अधिकारीका निर्णय तथा उपासना-प्रकार, उपास्यके गौरव आदिका विचार करना चाहिये। स्वेच्छया प्रवृत्त होनेसे न केवल इष्टसिद्धिमें बाधा होती है, अपितु हानिकी भी सम्भावना रहती है। अतएव उपासनाके सम्बन्धमें मन्त्र, मन्त्रकी दीक्षा, मन्त्रका जप, जपका विधान, समय-शुद्धि, आसन-शुद्धि आदिका विचार करके गुरूपदेशद्वारा उस प्रक्रियाका निर्वाह करना चाहिये। स्वेच्छाचारसे मन्त्रोंका जप अथवा उपासना केवल अपनेको ही कष्टदायक सिद्ध नहीं होती, अपितु उसका प्रभाव कुल, प्रान्त और राष्ट्रपर भी विपरीत पड़ता है।

गायत्रीके विषयमें इसलिये लिखना पड़ रहा है कि आज इसका कोई विचार नहीं किया जाता कि इस मन्त्रका कौन अधिकारी है। स्त्री, पुरुष और बच्चे—जिनका उपनयन-संस्कार नहीं हुआ और जिन्हें विधिवत् गायत्री-मन्त्रकी दीक्षा नहीं दी गयी, वे भी बिना स्नान किये, जूते पहने गायत्रीमन्त्रका उच्चारण करते देखे गये हैं। कुछ तो यहाँतक देखे गये हैं कि मृतकके साथ-साथ गायत्री मन्त्रका उच्चारण करते हैं।

जिस मन्त्रकी इतनी पवित्रता हो कि अन्य लोगोंसे अश्रुत होनेपर ही गुरु शिष्यके कानमें दीक्षा देता है, भला, वही इस प्रकार स्वेच्छया उच्चारण किया गया मन्त्र कैसे फलदायक हो सकेगा—ब्राह्मणके लिये गायत्री-उपासना ही नित्योपासना बतायी गयी है।

गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता।
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा॥
तावताकृतकृत्यत्वं नास्त्यपेक्षा द्विजस्य हि।
गायत्रीमात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात्॥
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादिति प्राह मनुः स्वयम्॥

इस प्रकार ब्राह्मणके लिये शास्त्रोंमें गायत्रीकी उपासनाका एकमात्र विधान है। इसलिये प्राचीन कालमें सभी ब्राह्मण—

तस्मादाद्ययुगे राजन् गायत्रीजपतत्पराः।
देवीपादाम्बुजरता आसन् सर्वे द्विजोत्तमाः॥

देवीभागवतके अनुसार सभी ब्राह्मण गायत्रीकी उपासनामें तत्पर रहते थे। गायत्री तथा अन्य मन्त्रोंकी उपासना दीक्षापूर्वक फलप्रद होती है, पुस्तकसे स्वतः पढ़कर मन्त्रके माहात्म्यसे प्रभावित होकर स्वयं ही जप आरम्भ कर देना शास्त्रसम्मत और फलप्रद नहीं होता। लिखा है—

अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः।
निष्फलं तत् प्रिये तेषां शिलायामुप्तबीजवत्॥

दीक्षाके साथ ही मन्त्रके दस संस्कार कर लेने चाहिये। उन दस संस्कारोंकी शास्त्रोंमें व्याख्या और प्रकार लिखा गया है। मन्त्र-संस्कारके साथ मालाका संस्कार भी जपके लिये आवश्यक है। दूकानसे माला खरीदकर सीधे ही जप आरम्भ कर देना सिद्धिदायक नहीं होता। गायत्री-जप-प्रसङ्गमें आसनका विचार भी किया गया है। आसन निम्नलिखितका होना चाहिये—

तूलकम्बलवस्त्राणि पट्टव्याघ्रमृगाजिनम्।
कल्पयेदासनं धीमान् सौभाग्यज्ञानसिद्धिदम्॥

इनके अतिरिक्त जो व्यक्ति बाँस, पत्थर, लकड़ी, वृक्षके पत्ते, घास, फूसके आसनोंपर जप करते हैं, उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं होती, उल्टे दरिद्रता आ जाती है। जपकालमें घुटनेके अंदर हाथ रखना चाहिये और मौन होकर जप करे। गायत्रीके विशेष अनुष्ठान आदिमें अनुष्ठानका व्यवधान नहीं होना चाहिये। मन्त्रके अङ्गन्यास, करन्यास, ध्यान, विनियोगपूर्वक जप होना आवश्यक है। इस प्रकार त्रिवर्णके लिये गायत्रीका विशेष गौरव लिखा गया है। त्रिवर्णोंमें ब्राह्मण तो बिना गायत्रीका जप किये काष्ठके हाथीकी भाँति केवल दर्शनमात्र प्रयोजनवाला है।

इस प्रकार उपासनाका महान् स्थान है और अपार गौरव है। अनेक व्यक्तियोंने उपासनाद्वारा सिद्धि प्राप्त की और अब भी प्राप्त कर रहे हैं; पर विधिहीन उपासना करनेपर मन्त्रको दोष देना केवल अज्ञानमात्र ही है। मन्त्र सत्यसंकल्पपूर्ण है। अपने दोषसे मन्त्रकी महत्ताका संकोच नहीं किया जा सकता।

पर्यङ्क-विद्या

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधिपति जगद्‌गुरु शंकराचार्य श्रीस्वामीजी श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वतीजी महाराजका सदुपदेश)

ऋग्वेदकी कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् चार अध्यायोंमें निबद्ध है। यह उपनिषद् अपने प्रथम अध्यायके द्वारा जिस सगुणविद्याका उपदेश देती है, उसी विद्याको 'पर्यङ्क-विद्या' कहते हैं।

इसमें ज्ञेय ब्रह्मके आसनको 'उपास्य' बतलाया गया है, उस आसनका 'पर्यङ्क' नामसे निर्देश किया गया है। 'पर्यङ्क' नाम है मञ्चविशेष अथवा सिंहासनका। इसलिये शाण्डिल्यविद्या, दहरविद्या तथा उपकोसलविद्या आदि विद्याओंसे इस सगुणविद्याका वैलक्षण्य सूचित करनेके लिये सम्प्रदायमें 'पर्यङ्कविद्या'के नामसे इसका व्यवहार होता है।

जैसा कि श्रुति कहती है—

'अमितौजाः पर्यङ्कः········ ········स आगच्छति

अमितौजसं पर्यङ्कं स प्राणः·························

तस्मिन् ब्रह्म आस्ते, तमित्थंवित् पादेनैवाग्र आरोहति' इति (कौषीतकि० २। ३—५)

वह प्राणरूपी पर्यङ्क अपरिमेय ओजस्वी होनेसे 'अमितौजाः' कहलाता है। वह ब्रह्मवेत्ता उस अमितौजस्वी पर्यङ्क अर्थात् सिंहासनके पास आता है, जिसपर ब्रह्माजी विराजमान हैं। इस तत्त्वको इस तरह जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी उस पर्यङ्कपर पहले पैर रखकर ही चढ़ता है। वह पर्यङ्कविद्या इस प्रकार है—

पर्यङ्क आदि एक ब्रह्मलोक है, जो श्रेष्ठ सगुण ब्रह्म-विद्याओंके वेत्ता ब्रह्मज्ञानीको ही प्राप्त होता है। उस ब्रह्म-लोकको उपासक इस प्रकार प्राप्त करता है—पहले प्राण-प्रयाणके समय प्राज्ञ आत्मासे एकीभूत होकर हृदयके अग्र-वर्ती प्रकाशसे प्रदर्शित सुषुम्णा नाड़ीके द्वारा मस्तकका भेदन करके निकलता है, फिर देवयानमार्गका अवलम्बन करके पहले अग्निलोकमें आता है। वहाँसे वायुलोकमें, पुनः क्रमशः आदित्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक एवं प्रजापतिलोकमें होता हुआ अन्तमें ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है। इस प्रसिद्ध ब्रह्मलोकके प्रवेशमार्गमें रुकावट डालनेवाला, शत समुद्रके समान गहरा सतत नील जलवाला 'आर' नामका जलाशय है, जिसका निर्माण काम-क्रोध आदि अरियोंने ही किया है। उस जलाशयके उस पार मुहूर्तकालाभिमानी देवता हैं, जो ब्रह्म-लोकप्राप्तिके अनुकूल उपासनामें काम-क्रोध आदि वृत्तियाँ उत्पन्न कर विघ्न डालते हैं। उससे आगे विरजा (विजरा) जिसके दर्शनमात्रसे जरावस्था अथवा रजोगुण दूर हो जाता है—नामकी नदीकी तरह कोई नदी है, जो सतत बहती ही रहती है। वस्तुतः वह उपासनारूप ही है। उससे आगे 'इल्य' नामका वृक्ष है। इला पृथिवीको कहते हैं, उसका ही स्वरूप होनेसे उसका नाम इल्य है; और जगह इसको अश्वत्थ, सोमसवन आदि नामसे कहते हैं। उससे आगे अनेक देवताओंद्वारा सेव्यमान उद्यान-बावली-कूप-तालाब-नदी आदि भाँति-भाँतिके जलाशयोंसे परिपूर्ण नगर नदीके किनारे-पर हैं। उस ब्रह्मलोकमें कोटि सूर्यके समान तेजोमय होनेसे किसीसे भी पराजित न होनेके कारण 'अपराजित' नाम ब्रह्माका निवासस्थान राजमन्दिर है, इन्द्र एवं प्रजापति उस राजमन्दिरके द्वाररक्षक हैं। वे दोनों वायु और आकाशरूप ही हैं। वहाँ ब्रह्माका सभास्थान है, जो 'विभु प्रमित' है, जिसे सामान्य अहंकार कहते हैं। वहीं सभाके मध्यभागमें वेदी—चबूतरा है, जिसे 'विचक्षणा' बुद्धि या 'महत्तत्त्व' कहते हैं। वहीं 'अमितौजा पर्यङ्क' है, प्राणोंके संवादमें अत्यन्त बलशाली वह प्रसिद्ध प्राण ही है। ब्रह्माका आसनभूत पर्यङ्क मञ्चक अथवा सिंहासन है।

क्योंकि श्रुति कहती है—

स आगच्छत्यमितौजसं पर्यङ्कम्, स प्राणः, इत्युत्तरत्र।

'वह ब्रह्मवेत्ता आता है अतुलबलशाली पलंगके पास, वह पलंग प्राण है।' ऐसा आगे कहा है।

मनका कारण जो प्रकृति है, वही उनकी अलंकार-युक्त भार्या है। तेजोमयी चाक्षुषी अलंकारसहित उसकी प्रतिमूर्ति है। उस पर्यङ्कपर सब लोकोंके संस्थानसहित उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज—चार प्रकारके भूत ही पुष्प-आच्छादन एवं परिधान हैं, श्रुतियाँ और बुद्धि अप्सराएँ हैं, जिन्हें 'अम्बा' कहते हैं।

इस ब्रह्मलोकके नगर—मन्दिरमें निवास करनेवाले ब्रह्म-साक्षात्कारके साधन समीपमें रहनेको ही विशेषरूपसे भोगते हैं।

इस प्रकार इस ब्रह्मलोकमें तादात्म्य अर्थात् तद्रूप-सम्पदाको प्राप्त पर्यङ्कस्थ ब्रह्मवेत्ता ही आता है। मानवभिन्न

पुरुषसे लाये जा रहे उपासकके ब्रह्मलोक-प्रवेशकालमें ही ब्रह्मा अपने परिचारकों एवं अप्सराओंको कहते हैं कि 'दौड़ो, मेरे स्वरूप-सम्पदा-सम्मानके अनुरूप सामग्री-सम्भार लेकर इसकी पूजा करो। यह विजरा नदी अर्थात् फलोन्मुखी उपासनाको प्राप्त कर चुका है। अब यह वृद्धावस्थाको प्राप्त नहीं होगा।' ब्रह्माजीके यों कहनेपर पाँच सौ अप्सराएँ उस उपासकके स्वागतके लिये उसके सामने चल पड़ती हैं। उनमें सौ हाथोंमें हल्दी-केसर-रोली आदिके चूर्ण लिये रहती हैं, सौ हाथोंमें अनेक प्रकारके दिव्य वस्त्र-अलंकार लिये रहती है, सौके हाथोंमें विविध फल होते हैं, सौके हाथोंमें दिव्य अङ्गराग होते हैं एवं सौ अप्सराएँ भाँति-भाँतिकी मालाएँ लिये होती हैं और वे उस उपासकको ब्रह्मोचित अलंकारोंसे अलंकृत करती हैं।

इस प्रकार ब्रह्मलोक-प्रवेशकालमें ही ब्रह्मालंकारसे अलंकृत वह ब्रह्मवेत्ता उपासक ब्रह्म ही बन जाता है, अन्य नहीं रहता। ब्रह्मीभूत वह उपासक ब्रह्मालंकारसे अलंकृत होकर ही ब्रह्मलोकमें प्रवेश करता है। वह काम-क्रोध आदि अरियोंद्वारा निर्मित आर नामक जलाशयपर पहुँचता है और उसको मनसे लाँघ जाता है; क्योंकि काम-क्रोध आदि वृत्तिरूप उस जलाशयको पार करनेमें मनके अतिरिक्त नौका आदि साधनकी अपेक्षा नहीं है। अज्ञानी पुरुष तो शब्द आदि विषयजन्य सुखको ही अपने अनुकूल जानकर उसीमें संसक्त रहते हैं। कदाचित् पुराकृत अपने पुण्यविशेषके प्रभावसे उस जलाशयतक पहुँचकर भी पुनरुद्धारकी आशासे रहित होकर सदाके लिये उसीमें इस प्रकार डूब जाते हैं, जिस प्रकार समुद्रयात्रा करनेवाले यात्री नौका भग्न हो जानेपर समुद्रमें। इस प्रकार दुष्पार इस 'आर' नामक जलाशयको विद्वान् संकल्पमात्रसे पार कर जाते हैं। इस जलाशयके उस पार विद्यमान उपासनामें विघ्नकर्ता वे मुहूर्ताभिमानी देवता आर जलाशय पार करनेवाले उपासकसे डरते हुए उसके सामनेसे वैसे ही भाग खड़े होते हैं, जैसे दैत्यराज हिरण्य-कशिपुके संहर्ता त्रिभुवनभर्ता भगवान् नृसिंहके सामनेसे अपना प्राण-त्राण चाहनेवाले विप्रचिति प्रभृति असुर!

तत्पश्चात् वह विरजा नाम नदीके तटपर आता है और उसको भी मनसे ही पार कर जाता है। उसकी उपासना निर्विघ्न और परिपक्व हो जाती है। उपासना-फलके प्रतिबन्धक पाप और उपकारक पुण्य कुछ भी शेष नहीं रहते; क्योंकि वह ब्रह्मवेत्ता उपासक शरीरत्याग अथवा ब्रह्म-साक्षात्कारके समय अपने सभी पाप-पुण्यका परित्याग कर देता है। उसके प्रेमी बन्धुजन उसके पुण्यको एवं उससे द्वेष करनेवाले उसके पापोंको प्राप्त करते हैं। पाप-पुण्यसे रहित वह ब्रह्मवित् विद्वान् ब्रह्म ही होता है। तब वह इल्य वृक्षके पास आता है। उसकी नासिकामें दिव्य ब्रह्मगन्ध प्रवेश करता है। जिनका पहले कभी अनुभव नहीं हुआ, ऐसे सभी सुरभि-गन्धातिशायी उस दिव्य गन्धको सूँघकर ब्रह्मलोकसे भिन्न लोकोंकी सुगन्धियोंमें उसकी दुर्गन्धबुद्धि हो जाती है। फिर वह पूर्वोक्त नगरमें पहुँचता है। उसकी रसनामें वहाँ दिव्यातिदिव्य ब्रह्मरस प्रवेश करता है। तत्पश्चात् वह आता है 'अपराजित' नामक ब्रह्मसदनके पास। वहाँ उसमें ब्रह्मतेज प्रवेश करता है। तदनन्तर वह द्वाररक्षक इन्द्र-प्रजापतिके पास आता है। वे दोनों उसका मार्ग छोड़कर दूर चले जाते हैं। वहाँसे वह 'विभुप्रमित' नामक सभामण्डपमें पहुँचता है। वहाँ ब्रह्मयश उसके शरीरमें प्रवेश करता है। तब वह 'विचक्षणा' नामक आसन्दी (छोटी चौकी) के पास आता है, जिसके 'बृहद्-रथन्तर' ये दो साम अगले पाये हैं। 'श्येन' और 'नौधस'—ये दोनों साम पिछले पाये हैं। 'वैरूप' और 'वैराज' नामक साम उसके 'अनूच्य' नामक दायें-बायें पार्श्व हैं। 'शाक्कर' और 'रैवत' नामक साम ऊपर-नीचे अर्थात् सिर और पैरकी तरफके पार्श्व हैं। वह आसन्दी लौकिक नहीं है, किंतु महत्तत्त्वात्मिका जो समष्टिबुद्धि है, वही वह आसन्दी है। वहाँसे वह अमितौजा पलंगके पास आता है। वह पलंग भी लौकिक नहीं है। सब इन्द्रियोंसे बढ़कर पञ्चवृत्ति प्राण ही है। इस पर्यङ्कके 'भूत और भविष्यत्' कालरूप अगले पाये हैं। 'श्री' और 'इरा' पिछले पाये हैं। 'बृहद्' एवं 'रथन्तर अनूच्य' नामक वाम तथा दक्षिण पार्श्वके खट्वाङ्ग हैं। 'भद्र' एवं 'यज्ञायज्ञीय' सिर और पैरकी तरफके पार्श्व हैं। ॠक् साम उसके ताने हैं और यजुः उसके तिरछे बाने हैं। चन्द्रकिरण ही उसका गद्दा है और उद्गीथ ही ऊपर बिछी हुई उपश्री—श्वेत चादर है। लक्ष्मीजी तकिया हैं। इस प्रकारके प्राणाख्य पलंगपर ब्रह्म विराजमान हैं। जो उपासक उस पर्यङ्ककी अर्थात् तादात्म्यसे इत्थम्भूत पर्यङ्कस्थ ब्रह्मकी उपासना करता है, वह पहले पैरसे ही उसपर चढ़ता है। यहाँ ब्रह्मके आयतन आदि पर्यङ्क-पर्यन्त जो कुछ कहा गया है, उन सबके सहित विशिष्ट ब्रह्म-विद्या ही 'पर्यङ्कविद्या' है।

यहाँ प्राणका ही पर्यङ्करूपसे निरूपण किया गया है, न

कि वास्तविक लौकिक पर्यङ्कका। इसलिये मुख्य समष्टि-प्राण-रूप उपाधिमें स्थित ब्रह्म ही मुख्यरूपसे यहाँ उपास्य है, हिरण्यगर्भरूप अपर ब्रह्म नहीं। यही वह 'पर्यङ्कविद्या' है।

इस पर्यङ्कपर पैरसे चढ़ते हुए पर्यङ्क-विद्यावित् उपासकसे ब्रह्मा पूछते हैं—'कोऽसीति' 'तुम कौन हो' 'तं प्रति ब्रूयात्'—ब्रह्माको इस प्रकार उत्तर दे। इस उपनिषद्-संदर्भसे उक्त उपासकके लिये आवश्यक है कि अपने उपास्यका तादात्म्याभिमान सुदृढ़ हो। इस विद्यामें देवयान-मार्गका प्रसङ्ग आ जानेसे मार्ग-चिन्तन भी आवश्यक है—ऐसा सम्प्रदाय है।

उपासना

(पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजका प्रसाद)

'क्रतुमयोऽयं पुरुषः' 'तस्मात्क्रतुं कुर्वीत' इत्यादि वचनोंके अनुसार विदित होता है कि पुरुष संकल्पमय होता है। अपकृष्ट संकल्पसे अपकर्षको प्राप्त होता है, उत्कृष्ट संकल्पसे उत्कर्षको प्राप्त होता है। वेदादि-शास्त्रवेद्य पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान्‌के दिव्य स्वरूपोंके पुनः-पुनः संकल्प एवं धारावाहिक चिन्तनको ही उपासना कहा जाता है। तादृक् समीचीन तत्त्वको लक्ष्य बनाकर दीर्घकाल निरन्तर सत्कारपूर्वक विजातीय-प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्ययका अविच्छिन्न प्रवाह ही उपासना है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भागवत ३। २९। ११)

भगवद्गुणश्रवणके द्वारा द्रवीभूत निर्मल निष्कलङ्क परमपवित्र अन्तःकरणकी समुद्रोन्मुखी अविच्छिन्न गाङ्गप्रवाहके तुल्य भगवान्‌में प्रवृत्ति ही भक्ति या उपासना कहलाती है। एतदर्थ आवश्यक है कि चित्त संसार और तद्विषयक राग-द्वेषादिसे विमुक्त हो। एतदर्थ ही उपनिषदोंने **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत'** (छान्दोग्य० ३। १४। १) —इत्यादि वचनोंसे यह बतलाया है कि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डात्मक समस्त विश्वप्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही है। **'तस्माज्जातं तज्जं तस्मिंल्लीयते इति तल्लं तस्मिन्ननिति चेष्टते इति तदनं तज्जं च तल्लं च तदनं चेति तज्जलान्'** के अनुसार सब कुछ उसी ब्रह्मसे उत्पन्न है, उसीमें स्थित है और उसीमें लीन हो जाता है। इसलिये सब कुछ वही है। जैसे समुद्रसे उत्पन्न और समुद्रमें ही स्थित होकर लीन होनेवाला तरङ्ग समुद्रस्वरूप ही है, तद्वत् यह भावना सब समय हो तो अच्छा ही है; परंतु उपासनाके समय तो अनिवार्य रूपसे होनी ही चाहिये। अन्यथा उस समय भी शत्रु-मित्रकी भावनासे मन व्यथित हुआ करेगा। उपासनाओंमें निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, सगुण साकार—कोई भी भगवत्स्वरूप लक्ष्य बनाया जा सकता है। उपनिषदोंमें दहरविद्या, शाण्डिल्य-विद्या, वैश्वानरविद्या, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, विराट् आदिकी उपासनाएँ प्रसिद्ध हैं। अपने अधिकारानुसार सद्गुरूपसदन-पूर्वक यथायोग्य लक्ष्य प्राप्त करके उपासनामें संलग्न होना चाहिये।

'देवो भूत्वा यजेद् देवान् नादेवो देवमर्चयेत्।' —इत्यादि वचनोंके अनुसार अप्राकृत रसस्वरूप पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवत्स्वरूपकी उपासनाके लिये उपासकके देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तथा अन्तरात्माकी अप्राकृतता, भौतिकता तथा लौकिकताका समूलोन्मूलन तथा उनमें अप्राकृतता, रसात्मकता तथा पूर्ण दिव्यताका आविर्भाव होना आवश्यक है। अन्यथा निखिलरसामृतमूर्ति सच्चिदानन्दघन भगवत्स्वरूपकी अनुभूतिमें प्राकृत देहेन्द्रियादि सदा असमर्थ ही रहेंगे। व्यवहारमें भी ग्राह्य-ग्राहकभाव साजात्य-में ही होता है। अतएव पार्थिव घ्राणसे पार्थिव गुण गन्धका ही ग्रहण होता है। तैजस चक्षुसे तैजस रूपका ही ग्रहण होता है। कभी भी पार्थिव घ्राणसे आकाशीय शब्द या वायवीय स्पर्शका ग्रहण नहीं होता। इसी सिद्धान्तके अनुसार सम्पूर्ण वेदादि-शास्त्रप्रोक्त वर्णाश्रमानुसारी धर्मकर्म-संस्कारद्वारा मलापनयन, अतिशयाधानके द्वारा देहादिका संशोधन करके भगवत्प्राप्तियोग्य ब्राह्मी तनुका निर्माण किया जाता है— **'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।'** इस मनुवचन (२। २८)-का भी यही तात्पर्य है। अनन्तर भगवच्चरणपङ्कज-समर्पण-बुद्धिसे अनुष्ठीयमान धर्म तथा चान्द्रायण, पराक, एकादशी, शिवरात्रि आदि व्रतोपवास-लक्षण तपस्याओंके द्वारा भी प्राकृतताकी निवृत्ति और अप्राकृतताकी सिद्धिमें सहायता

मिलती है। तीर्थस्नानोंका भी उपयोग एतदर्थ माना जाता है। अनेक सम्प्रदायोंमें यमुनाके प्रेमामृतमय जलस्पर्श और अवगाहनसे भी अप्राकृत रसात्मक भगवदुपासनोपयोगी दिव्य देहेन्द्रियादिकी प्राप्ति मानी जाती है। 'बृहन्नारदीय पुराण'के अनुसार विपुल तपस्याके अनन्तर श्रीकृष्णकी किसी सखी-द्वारा श्रीनारदजीको कुसुमसरोवरमें अवगाहन कराया गया। अवगाहनमात्रसे उन्हें दिव्य सखीदेहकी प्राप्ति हुई थी। वैसे तो जिस दिनसे ही प्राणी भगवान्के मङ्गलमय मन्त्र तथा नामादिका जप तथा भगवद्गुणगण-श्रवण एवं भगवान्के अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सार-सर्वस्व श्रीविग्रहका या स्वरूपका ध्यान-चिन्तन आरम्भ करता है, उसी क्षणसे उसके देहादिकी प्राकृतता नष्ट होकर अप्राकृत रसस्वरूपताका आविर्भाव होने लगता है, फिर भी 'भूशुद्धि', 'भूतशुद्धि', 'प्राणप्रतिष्ठा', अन्तर्मातृकान्यास बहिर्मातृकान्यास, ऋष्यादिन्यास तथा मन्त्राक्षरादिन्यास आदि विधानोंके साथ उपासना करनेसे उक्त कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होते हैं। जैसे पारदमें गन्धकनिघर्षणसे गन्धकका निजी रूप विलीन होकर पारदरूप ही बन जाता है, उसी प्रकार अप्राकृत रसरूप भगवान्का चिन्तन करते-करते चित्तका भी निजी रूप नष्ट होकर अप्राकृत रसरूप ही बन जाता है। उस समय उपासकका चित्त भक्तिरसामृतसिन्धु बन जाता है और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ भक्तिरसामृतसिन्धुकी लहरियाँ बन जाती हैं। 'अतप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते दिवम्'-इस वेदमन्त्रके अनुसार जिसका तनु अतप्त होता है, वह अपक्व होनेके कारण परमानन्दरसामृतसिन्धु 'दिव'का सम्भोग नहीं कर पाता। यहाँ कुछ लोग शङ्ख-चक्रादि भगवदायुधोंसे संतप्त होनेसे 'तप्ततनु' मानते हैं, तो कुछ लोग कृच्छ्र, चान्द्रायण, एकादश्यादि व्रतरूप तपोंद्वारा तप्ततनुको ही तप्ततनु मानते हैं। रसिकलोग तो भगवद्विप्रयोगजन्य तीव्रतापको ही परम तप मानते हैं। उस तापरूप तपके द्वारा जिसके स्थूल-सूक्ष्म-कारण--तीनों देह संतप्त (अर्थात् बाधित) नहीं हुए, वे अतप्ततनु (अपक्व) हैं। अप्राकृत रसस्वरूप विग्रहकी प्राप्तिके बिना भगवत्स्वरूपका रसास्वादन नहीं बन सकता। दण्डकारण्यके निवासी महातपा महर्षि महायज्ञों और यज्ञों-द्वारा 'ब्राह्मी तनु' प्राप्त करके भूशुद्धि तथा विविधन्यास-जालोंद्वारा दिव्यात्मा होकर परम तपस्या एवं उपासनाके लोकोत्तर उत्कर्षसे भगवान् राघवेन्द्र रामचन्द्रका दर्शन करनेमें सफल हुए। फिर भी उन्हें श्रीरामचन्द्रके परम प्रेम, परम सौन्दर्य-सार-सर्वस्व स्वरूपसे तादात्म्यापत्ति-लक्षण पूर्ण परिरम्भणकी इच्छा हुई, जिसकी पूर्ति मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्के उस रूपमें सम्भव न थी। भगवान् श्रीरामने अपने श्रीकृष्ण-स्वरूपसे उनकी अभिलाषपूर्तिका वरदान दिया। तभीसे उत्कट उत्कण्ठाके साथ वे महातपा महर्षि उस स्वरूपकी प्राप्तिके लिये भावनाविशेषमें तल्लीन हो गये। उसीके प्रभावसे उनका गोकुलमें गोपकन्याओंके रूपमें आविर्भाव हुआ। उत्कण्ठाविशेषके कारण ही, जैसे व्यवधान होनेपर भी चन्द्रोदय मात्रसे कुमुदिनी प्रफुल्लित हो जाती है, वैसे ही श्रीकृष्णके आविर्भावमात्रसे उनका हृदय-कमल प्रफुल्लित हो उठा। भगवद्विप्रयोगजन्य तीव्रतापसे सर्वविध दोषोंकी निवृत्ति तथा ध्यानप्राप्त भगवत्स्वरूप-सुखास्वादनसे भगवत्प्राप्त्युपयोगी दिव्यरसात्मक देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि-अन्तरात्माका आप्यायन होता है। परंतु इस दोषनिवृत्ति और रसात्मक देहादिके सम्पोषणमें अवान्तर अनेक तारतम्य हैं। यद्यपि परमानन्दसुधा-सिन्धुमें तरङ्गके समान भगवान्के साथ जीवोंका सहज सम्बन्ध है, तथापि अनादि माया-मोहवशात् सर्वानुभव-सिद्ध सर्वानर्थनिदान भगवद्विप्रयोग स्पष्ट ही है। यह विप्रयोग यद्यपि अनादिकालसे है, तथापि भगवद्विप्रयोग-जन्य तीव्रतापकी अनुभूति उसी भाग्यशालीको होती है, जिसे कथमपि भगवत्स्वरूप-सम्भोगसुखकी अनुभूति हुई हो। अतएव दयापरवश अकारण-करुण प्रभु अपनी ओर जीवका चित्त आकृष्ट करनेके लिये सौन्दर्यसुधा-सिन्धु-सीकरका अनुभव कभी करा देते हैं, जैसा कि नारदजीको कराया था।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥
रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्।
अपश्यन् सहसोत्तस्थे वैक्लव्याद्दुर्मना इव॥
दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि।
वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः॥
एवं यतन्तं विजने मामाहागोचरो गिराम्।
गम्भीरश्लक्ष्णया वाचा शुचः प्रशमयन्निव॥
हन्तास्मिञ्जन्मनि भवान्मा मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥

सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामाय तेऽनघ ।
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान् ॥
सत्सेवयादीर्घयापि जाता मयि दृढा मतिः ।
हित्वावद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ॥
मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित् ।
प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात् ॥

(श्रीमद्भागवत १ । ६ । १७—२५)

नारदजी कहते हैं—"भक्ति-भावनासे मेरा चित्त मेरे वशमें हो गया तथा भगवच्चरणारविन्दके ध्यानसे मेरी आँखोंमें अश्रुकला आ गयी और शनैः-शनैः भगवान् हृदयमें प्रकट हो गये। प्रेम-भावके अति उद्रेकसे मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा । मैं आनन्द-प्रवाहमें ऐसा डूब गया कि ध्याता और ध्येय दोनोंका पता नहीं रहा। मनके लिये परम कमनीय शोकापनोदन भगवान्‌का परम सुन्दर रूप सहसा ओझल होते ही मैं बहुत व्याकुल होकर उठ खड़ा हुआ । पुनः उस रूपके दर्शनके लिये प्राणायामादिद्वारा मनको समाहितकर प्रयत्न करने लगा; परंतु दर्शन न पाकर अतृप्तवत् आतुर हो उठा । ऐसा प्रयत्न करते हुए देखकर मन और वाणीके अविषय भगवान्‌ने गम्भीर और मधुर स्पष्ट वाणीसे मेरा शोक दूर करते हुए कहा—'खेद है कि इस जन्ममें तुम्हें यह दर्शन न हो सकेगा । तुम्हारी आसक्ति मुझमें बढ़ानेके लिये एक बार तुम्हें भगवद्रसका रसास्वादन करा दिया है। मुझमें आसक्ति होनेपर भक्त शनैः-शनैः कामनाओंसे रहित हो जाता है। थोड़े समयकी महात्माओंकी सेवासे ही तुम्हारी चित्तवृत्ति मेरेमें स्थिर हो गयी है। दोषमय इस शरीरको छोड़कर तुम मेरे पार्षद हो जाओगे । प्रलयकालमें भी मेरी कृपासे तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय किसी प्रकार भी नष्ट न होगा और तुम्हें मेरी स्मृति सर्वदा बनी रहेगी' ।"

एतावता जैसे-जैसे भगवत्स्वरूपके सौन्दर्य-माधुर्यकी अनुभूति होती है, वैसे-वैसे ही भगवद्विप्रयोगजन्य तीव्रतापकी भी अनुभूति होती है । जैसे-जैसे विप्रयोगजन्य तीव्रतापकी अनुभूति होती है, वैसे-वैसे अन्तःकरणादिकी विशुद्धि होती है और अन्तःकरणकी अधिकाधिक विशुद्धिसे भगवत्स्वरूपका अधिकाधिक सौन्दर्य-माधुर्य हृदयमें अभिव्यक्त होनेसे अधिकाधिक सौन्दर्यादिकी अनुभूति होती है। पुनः क्षण-क्षणका विप्रयोग तीव्रातितीव्र तापका संवर्धक होता है। कात्यायनी-अर्चन-प्रसङ्गमें गोपकन्याओंने भगवत्पद-प्रेप्सया उत्कट उत्कण्ठासे भगवतीकी अर्चना की । श्रीभगवान्‌का आविर्भाव हुआ। पुनश्च भगवत्संस्पृष्ट दुकूलादिके धारणसे भी भगवत्संस्पर्शका लोकोत्तर आनन्द अनुभूत हुआ । जैसे अनभिव्यक्त अग्निवाले काष्ठमें अभिव्यक्त अग्निवाले काष्ठका सम्बन्ध होनेसे अग्निका आवरण-भङ्ग होकर अभिव्यञ्जना होती है, वैसे ही निरावरण परमानन्दघन परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णके संस्पर्शसे एवं निरावरण ब्रह्मस्वरूप दुकूलादिके संस्पर्शसे गोपकन्याओंमें भी भगवत्सजातीय ही अप्राकृत रसरूपताकी अभिव्यक्ति हुई । इसी प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रके मङ्गलमय मुखचन्द्रकी सुमधुर अधर-सुधासे परिपूरित वेणु-विनिस्सृत वेणु-गीत-पीयूषके संसर्गसे भी पूर्णरूपसे लौकिकता-भौतिकताकी निवृत्ति एवं अप्राकृत रसरूपताकी अभिव्यक्ति हुई। पुनश्च रासलीलाके अवसरपर वेणुगीतसे आहूत होकर श्रीकृष्ण-सम्मिलनके लिये जानेको प्रस्तुत होते ही बन्धु-बान्धवोंसे अवरुद्ध होकर पूर्वाभ्यासानुसार भगवद्ध्यानमें संलग्न हो गयीं—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । २९ । ९)

उस समयकी उत्सुकता-उत्कण्ठा तथा व्याकुलता मनोवचन ही है । दुस्सह प्रेष्ठविरहजन्य तीव्रतापसे उनके सम्पूर्ण भगवत्सम्मिलनबाधक भगवद्विजातीय प्राकृत भौतिक देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदिका बाध हो गया और ध्यानमें ही प्राप्त भगवान्‌के मधुर मनोहर मङ्गलमय स्वरूपके सर्वतोभावेन आलिङ्गनसमुद्भूत अचिन्त्य-अप्राकृत रसोद्रेकसे भगवत्सम्मिलनोपयोगी अप्राकृत देहादिका सम्पोषण हो गया और फिर वे अनायासेन सर्वबन्धन-विनिर्मुक्त होकर भगवान्‌को सर्वतोभावेन प्राप्त हो गयीं—

दुस्सहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥

(श्रीमद्भागवत १० । २९ । १०)

उपासनाका स्वरूप

(परम पूज्य अनन्तश्रीविभूषित श्रीहरिबाबाजी महाराजकी कृपासे प्रेषित)

जिस क्रियाके द्वारा हम अपनेको अपने इष्टके साथ विराजमान कर सकें, उसीका नाम है—'उपासना'। 'उप—समीपे आसना—स्थितिः उपासना'। भावप्रवण मनसे उपासना करें, या उपासनासे मनमें भावप्रवणता हो; अधिकारी-भेदसे दोनों प्रकारकी बात सम्भव है। उत्तम अधिकारी सिद्ध भक्तोंके मनमें तो पहलेसे ही भावप्रवणता होती है; अतः उनकी उपासना सहज एवं सरल होती है, वह अबाध रूपसे सरिताकी प्रबल धाराकी तरह निरन्तर अपने इष्टकी ओर बढ़ती रहती है। किंतु साधक भक्तके मनमें भावप्रवणता पूर्णरूपसे विकसित नहीं होती, प्रज्वलित अग्निके समान उसका रूप नहीं होता। किसीके मनमें धूमकी तरह, किसीके मनमें चिनगारीकी तरह एवं किसी-किसीके मनमें अङ्गारकी तरह उसका रूप होता है। इसका एकमात्र कारण नाना जन्मोंके संचित संस्कार ही होते हैं। सिद्ध भक्तोंके—रसिकोंके सत्सङ्गसे उनके मनमें भी भावप्रवणता धीरे-धीरे उसी तरह प्रज्वलित पावकका रूप धारण कर सकती है। अतः किसी कोटिके साधकको भी निराशाका भाव मनमें नहीं लाना चाहिये। रुचि हो या न हो, अपनी साधनामें लगे ही रहना चाहिये। अभ्याससे क्या असम्भव है ? सभी सिद्धियोंका एकमात्र कारण अभ्यास ही है—'अभ्यासः सर्वसाधनम्।'

उपासनाकी आवश्यकता

कुछ लोगोंके मनमें यह शङ्का होती है कि हम उपासना क्यों करें, क्यों बेकारकी खटपटमें पड़ें ? हमारे जीवनमें उपासनाकी क्या आवश्यकता है ? यह तो बेकार लोगोंका काम है, एकमात्र आडम्बर है। भूख मिटानेको भोजनकी, प्यास मिटानेको पानीकी एवं श्रम दूर करनेके लिये सोनेकी तथा कामकी शान्ति एवं वंशपरम्परा-संचालनके लिये कलत्रकी हमें आवश्यकता होती है। एवं इन सब भोगोंके लिये धनकी भी परम आवश्यकता है, जो इनका मूल कारण है; पर उपासनाका हमारे जीवनमें क्या उपयोग है ?

इसके उत्तरमें हमारा उनसे नम्र निवेदन है कि आपलोगोंकी यह धारणा अविचारमूलक है। गम्भीरतासे विचार करके देखेंगे तो आपको पता चल जायगा कि उपासनाकी आवश्यकता भोजन, पान, विश्राम, वनिता एवं धनादिसे भी कहीं अधिक है। देखिये—जब स्थूलशरीरके लिये आपको इतनी सामग्री अपेक्षित है तो क्या सूक्ष्मशरीरके लिये कुछ भी नहीं चाहिये ? सूक्ष्मशरीर तो इससे बहुत श्रेष्ठ है, इसका कारण है, पोषक है और इससे अधिक सुकुमार है। उसका स्थायी प्रसादन, आराधन, रञ्जन नाटक, सिनेमा-रेडियो-रंग-रागादि लौकिक उपायोंसे असम्भव है। क्षणमात्रका मनोरञ्जन अन्तमें कभी-कभी भारी अशान्तिके गर्तमें गिरा देता है और जब सूक्ष्म ही अशान्त रहेगा तो आप इस स्थूल देहको भोजनादिसे भी पुष्ट एवं तुष्ट नहीं कर सकते। पक्षान्तरमें यदि सूक्ष्मदेहकी तुष्टि बनी रही तो अल्प भोजन या अभोजनसे भी स्थूल देह रह सकता है। देवहूतिजीकी तपश्चर्याके प्रसङ्गमें इसका प्रमाण देखिये—

तद्देहः परतःपोषोऽप्यकृशश्चाध्यसंभवात्।

(श्रीमद्भागवत ३ । ३३ । २०)

श्रीदेवहूतिजीके मनमें कोई चिन्ता न रहनेसे उनका शरीर, परिचारिकावर्गसे पोषण पानेपर भी कृश नहीं पड़ा; क्योंकि उनके मनमें आराधनाकी प्रसन्नता भरी रहती थी तथा महाराज परीक्षित्के प्रसङ्गमें—

'नैषातिदुस्सहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।'

(श्रीमद्भागवत १० । १ । १३)

परीक्षित्‌जीने कहा—'हे देव! आपके मुखचन्द्रसे निस्सृत हरिकथामृतके पान करनेसे यह अत्यन्त दुस्सह क्षुधा जल छोड़ देनेपर भी मुझे नहीं सताती।'

अब विचार करें कि हमारे सूक्ष्मदेहमें—मनमें यह अशान्ति, ये कामादि विकार कहाँसे आये, जिनके निरासनके लिये तथा चिरशान्ति, अनन्त रसके पानेके लिये हमें उपासनाकी आवश्यकता हुई ? तो विचारनेपर ज्ञात होगा कि जीवका स्वरूप वस्तुतः तो सच्चिदानन्द ही है; किंतु मायाके, प्रकृतिके संसर्गसे इसमें प्राकृत दोष भर गये हैं, जिससे यह सत् होनेपर भी असत्, चित् होनेपर भी जड एवं आनन्दरूप होनेपर भी अपनेको दुःखरूप समझने लगा। अतः प्रकृतिकी उपासनासे प्राप्त विकारोंकी मलिनताको दूर करनेके लिये पुरुषको ईश्वरकी उपासना आवश्यक हुई। जैसे अग्निमेंसे निकाला हुआ अंगारा कोयलेका रूप धारण करके मलिन एवं निस्तेज बन जाता है और जबतक उसे अग्निमें न डाला जाय, तबतक उसकी मलिनता एवं तेजोहीनता उपायान्तरसे दूर नहीं होती

ऐसे ही जीव भी ईश्वरसे वियुक्त होकर मलिन एवं निस्तेज बन गया है, प्राकृत धर्मोंमें रच-पच गया है। इसका भी सम्मार्जन-संशोधन ईश्वरके सङ्गसे ही सम्भव है और उसके लिये उपासना ही एकमात्र सरल एवं सुगम मार्ग है। जैसे वरके बिना कन्या अनाथ, आश्रय-हीन एवं पुत्रहीन होती है, वैसे ही ईश्वरके बिना जीव भी अनाथ, आश्रयवर्जित एवं सद्गुण संतानसे विहीन है। ईश्वरके गुणोंके बिना कोई भी जीव अपनेको प्राकृत दोषोंसे नहीं बचा सकता। और यह नियम है कि जिसका हम चिन्तन करते हैं, जिससे प्रेम करते हैं, जिसे पाना चाहते हैं, हमारा मन बार-बार तदाकार होता रहता है। अतः उपासनासे हमारा मन जितने कालतक इष्टाकार रहेगा, उतने कालतक हम अनिष्टसे—प्राकृत दोषोंसे सर्वथा मुक्त रहेंगे। और जब धीरे-धीरे अभ्यास एवं प्रेमके बलसे मनकी निरन्तर इष्टाकारता बन जायगी तो हमें स्वप्नमें भी अनिष्टका स्पर्श नहीं होगा। हमारा आसन एवं शासन प्रकृतिके ऊपर हो जायगा। हमें चराचरमें इष्टके सिवा और कुछ नहीं दीखेगा। अनुकूल-प्रतिकूल सब उसीके खेल प्रतीत होंगे।

उपासनामें सहायक

अब थोड़ा उपासनाके सहायक तत्त्वोंपर भी ध्यान देना आवश्यक है, जिनके योगसे उपासना बलवती बनती है। उनमें चार बातें प्रधान हैं—

१. सात्त्विक आहार, २. सत्यभाषण, ३. संयम, ४. सत्सङ्ग।

(१) गृहस्थके लिये न्यायोपार्जित धनके द्वारा पवित्रतासे बना हुआ अभक्ष्य एवं उत्तेजक पदार्थोंसे रहित परिमित भोजन ही 'सात्त्विक आहार' है तथा विरक्तके लिये भिक्षान्न ही अमृततुल्य माना गया है। भिक्षामें प्राप्त वर्जित पदार्थोंका परिहार तो उसे भी करना अभीष्ट है।

(२) वाणीद्वारा हित, मित एवं प्रियतासे भरा 'सत्य' ही सदा बोलना चाहिये।

(३) इन्द्रियोंपर एवं मनपर नियन्त्रण रखना ही 'संयम' है। जैसे चर्मपात्रमें जरा-सा भी छिद्र होनेपर उसके द्वारा उसमें भरा हुआ पानी निकल जाता है, वैसे ही दस इन्द्रियोंमेंसे एक भी इन्द्रिय यदि विषयमें चली जाती है तो उसके द्वारा मानवकी बुद्धि भी बह जाती है। अतः साधकको नित्य-निरन्तर अपने मन एवं सभी इन्द्रियोंका निरीक्षण करते रहना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें एक बड़ी सुन्दर कथा आती है—यशोदा-मैयाने अपने स्नेहभाजन बालगोपालको दधिभाण्डस्फोटनके अपराधमें उदरमें दाम (रस्सी) लगाकर उलूखलसे बाँध दिया, तब उनका 'नाम' दामोदर पड़ा। अपनी स्नेहमयी जननीका दिया हुआ दाम तथा उसके द्वारा प्राप्त दामोदर नाम भगवान्‌को बड़ा प्रिय लगता है। इस लीलासे साधक भक्तोंको यह शिक्षा भी मिलती है कि भगवान्‌ने अपने उदरमें दाम लगाकर यह व्यक्त किया है कि जो साधक उदरोपलक्षित सब इन्द्रियोंपर संयमका दाम लगायेंगे, वे मेरे समान बनकर मुझे प्राप्त कर सकेंगे। यही अङ्गन्यास-करन्यासका तथा 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' आदि शास्त्रप्रतिपादित वाक्योंका भी रहस्य समझना चाहिये।

चतुर्थ सहायक तत्त्व 'सत्सङ्ग' है, जो सर्वाधिक श्रेयस्कर एवं अमोघ है। सत्सङ्गद्वारा साधकको उपासनाके विघ्नोंका पता चलता है एवं मनोविजयकी युक्तियाँ जाननेमें आती हैं। संतोंके द्वारा प्रतिपादित भगवान्‌के मङ्गलमय मधुरातिमधुर परम पावन चरित्र कर्णकुहरद्वारा अन्तस्तलमें जाकर भावाङ्कुरका उत्पादन करते हैं तथा संतोंके सांनिध्यसे उनके पवित्र भाव भी श्वास-प्रश्वास-द्वारा हृदयमें जाकर वहाँ शोधनका काम करके प्रेम-बीजका वपन करते हैं। कथा-उपदेश सुननेको न मिले तो भी उनकी संनिधि अनुपम निधि देनेवाली एवं सर्वतोभद्र होती है; किंतु सत्सङ्गका असली अर्थ तो है संतोंमें आसक्ति करना, उनके चरणोंमें प्रेम करना और उनका कोई दोष अपने मनमें धारण न करना। ऐसा करनेसे ही पूर्ण लाभ होता है। जबतक उनमें प्रेम न हो, तबतक उनका साहचर्य भी उत्तम है। साथ रहते-रहते भी किसी दिन उनकी महत्ताका ज्ञान होनेसे उनमें प्रेम हो ही जायगा। अतः प्रेम न हो तो भी उनका साथ कभी न छोड़े।

इन चारों साधनोंसे साधकका मन निर्मल एवं सबल होकर उपासनामें भली प्रकार प्रगति करता है; अतः इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इन सब साधनोंको सद्गुरुसे दीक्षित एवं शिक्षित होकर ही करना चाहिये, यह बात ध्यानमें रखने योग्य है।

उपासनामें सफलता

उपासनामें सफलताके चार कारण होते हैं। इनमें-से एक भी यदि साधकके जीवनमें आ जाय तो उपासना शीघ्र फलप्रसविनी होती है। वे चार ये हैं—

१. विश्वास, २. व्याकुलता, ३. संकल्पत्याग और ४. समता।

विश्वास—अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें स्वप्नमें भी कभी संदेह न होना ही 'विश्वास' है। विश्वाससे चित्तको बड़ा बल मिलता है। चित्त चिन्ताहीन होकर साधनामें लगा रहता है—'कवनिहु सिद्धि कि बिनु बिस्वासा' (मानस० उत्तर०)।

व्याकुलता—'व्याकुलता' उसे कहते हैं, जब हम अपने लक्ष्यको पाये बिना पलभर भी कहीं चैनसे न रह सकें। लक्ष्यकी प्राप्तिके बिना संसार सूना-सूना दिखायी पड़े। ऐसी अवस्था मनकी बन जाय, तभी सिद्धि अविलम्ब मिलती है।

संकल्पत्याग—'संकल्पत्याग' उसे कहते हैं, जब साधक अभ्यासके द्वारा अपने मनमें अनुकूल-प्रतिकूल किसी प्रकारका संकल्प न उठने दे। चित्त सब प्रकारके चिन्तनसे मुक्त हो जाय। उस अवस्थामें चित्त ब्रह्मरूप ही हो जाता है। तब लक्ष्यके आकर्षणमें अवश्य सफलता मिलती है। इसका अभ्यास प्रायः ज्ञानी साधक करते हैं।

समता—'समता' उसे समझना चाहिये, जब साधक फलकी प्राप्ति या अप्राप्तिमें, शीघ्रतासे प्राप्ति या विलम्बसे प्राप्तिमें—दोनों दशाओंमें अपने चित्तको सम रखकर संतोषपूर्वक साधनमें ही लगा रहता है। तब उसे सिद्धि वरण कर लेती है; क्योंकि समता ईश्वरका ही रूप है। वह जिस हृदयमें आती है, वहाँ ईश्वरका प्राद्रुर्भाव भी असम्भव नहीं है।

[हरि! मैं तेरा, मैं तेरा, मैं तेरा, मैं तेरा]

(प्रेषक—श्री ओंकारदत्तजी)

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें उपासना

(अनन्तश्रीविभूषित सर्वतन्त्रस्वतन्त्र जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर 'श्री श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

वृन्दावने नित्यनिकुञ्जभागे
कदम्बजम्बूविटपान्तराले।
सार्द्धं मुकुन्देन विराजमानं
स्मरामि राधापदकंजयुग्मम्॥

श्री, सनकादिक, रुद्र और ब्रह्मा—ये चारों वैष्णव-सम्प्रदायोंके आद्यप्रवर्तक माने जाते हैं। इन्हीं चारोंके द्वारा निर्धारित की हुई सरणि (पद्धति) के प्रचारकोंमें सनकादि-सम्प्रदायके प्रचारक श्रीसुदर्शनावतार भगवान् श्रीआद्यनिम्बार्काचार्य भूतलपर प्रकट हुए। अतः वह हंस एवं सनकादिका सम्प्रदाय आगे चलकर 'श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदाय' नामसे प्रख्यात हुआ। सम्प्रदायमें प्रचलित आचार्य-परम्परा-वन्दनाओंसे यह आशय स्पष्ट ज्ञात होता है[1]।

यद्यपि विक्रमकी ११ वीं १२ वीं शताब्दीतक रचित प्राचीन सम्प्रदायाचार्योंके ग्रन्थोंमें नामतः उल्लिखित प्रपत्तिचिन्तामणि, सदाचारप्रकाश, गीताभाष्य, उपनिषद्-भाष्य आदि श्रीनिम्बार्काचार्यकृत बहुतसे ग्रन्थ-रत्न आज उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, तथापि वेदान्तपारिजात-सौरभ (ब्रह्मसूत्रोंकी सूक्ष्मवृत्ति), वेदान्तकामधेनु (दशश्लोकी), रहस्यषोडशी, प्रपन्नकल्पवल्ली, प्रातःस्तवराज आदि जो कुछ थोड़े-से ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, उनमें भी श्रीनिम्बार्काचार्यकी परम्परा, उपासना, सिद्धान्त आदिका स्पष्ट संकेत मिल रहा है।

भूमाधिकरणकी वृत्तिमें उन्होंने स्पष्ट कहा है—हमारे परमाचार्य श्रीसनत्कुमारोंने हमारे दीक्षागुरु श्रीनारदजीको जिस भूमातत्त्वका उपदेश दिया था, वह प्राण नहीं, प्राणसे भी बढ़कर परम ब्रह्म पुरुषोत्तम ही है[2]। परम ब्रह्म, पुरुषोत्तम, रमाकान्त आदि शब्दोंका अभिप्राय युगलकिशोर श्रीराधाकृष्णसे ही है। अतएव जिज्ञासाधिकरण (ब्र० सू० १। १। १) की वृत्तिमें प्रयुक्त 'पुरुषोत्तम' शब्दका तात्पर्य उन्होंने 'वेदान्त-कामधेनु'के चतुर्थ और पञ्चम श्लोकोंमें स्पष्ट करके छठे श्लोकमें मुमुक्षुजनोंको यह आदेश दिया कि 'श्रीराधाकृष्ण-युगलकिशोरात्मक परात्पर परब्रह्मकी ही निरन्तर उपासना करते रहना चाहिये। अखिल तत्त्वोंके ज्ञाता श्रीनारदजीको उनके गुरुदेव

१. श्रीहंसं च सनत्कुमारप्रभृतीन् वीणाधरं नारदम्।
निम्बादित्यगुरुं च द्वादशगुरून् श्रीश्रीनिवासादिकान्॥
(इत्यादि सायं-स्तुति)

२. परमाचार्यैः श्रीकुमारैरस्मद्गुरवे श्रीमन्नारदायोपदिष्टो भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः, इत्यत्र भूमा प्राणो न भवति, किंतु श्रीपुरुषोत्तमः, कुतः प्राणादुपरि भूम्नः उपदेशात्।
(ब्र० सू० १। ३। ८ की वृत्ति)

श्रीसनकादिकोंने यही उपदेश दिया था। श्रीगुरुदेव (श्रीनारदजी) ने वही उपदेश हमें दिया है।'

उपासनीयं नितरां जनैः सदा
प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं
श्रीनारदायाखिलतत्त्वसाक्षिणे ॥

(वेदान्तकामधेनु ६)

श्रीनिम्बार्काचार्यकी भाँति ही श्रीसनकादिकोंने भी उपासना और उसकी प्राप्ति इसी प्रकार गुरुपरम्परासे बतलायी है—'हे देवर्षि नारद! यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीराधामाधव गोविन्द प्रभुकी शरण लो। यह हमने अपने गुरुदेव श्रीहंसभगवान्‌के मुखारविन्दसे सुना है। वही बात हमने तुझसे कही है[3]।'

विभिन्न साधक-उपासकोंकी अभिरुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है, उसीके अनुसार दैशिक आचार्य शरणागत मुमुक्षुजनोंको आराधनाका उपदेश देते हैं। सनकादिकों-ने भी इसी लक्ष्यसे वाराह, कूर्म, श्रीराम आदि अवतारोंके तथा देवी आदिके चरित्रोंका वर्णन किया है और सबके अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंका दिग्दर्शन कराके उनकी उपासना करनेका उपदेश दिया है। इस सम्बन्धमें उनका 'सनत्कुमारीय परमगुणरहस्य' ग्रन्थ द्रष्टव्य है[4]। इसमें श्रीराधाजीके प्रादुर्भाव, बालचरित्र, विवाह आदिका विशेष वर्णन उपलब्ध होता है।

कुछ सज्जन श्रीराधाके सहित श्रीकृष्णकी उपासनाको अर्वाचीन बतलाते हैं और उसके प्रवर्तक केवल श्रीनिम्बार्का-चार्यको ही बतलाकर श्रीनिम्बार्कका समय अनुमानतः वि० ग्यारहवीं शताब्दी ठहराते हैं। किंतु गम्भीर अनुसंधानसे ये दोनों ही धारणाएँ भ्रान्त सिद्ध होती हैं। श्रीराधाकी उपासना श्रीनिम्बार्काचार्यसे पूर्व भी प्रचलित थी और उन्हें परम्परागतरूपसे ही प्राप्त हुई थी, जिसका फिर इनके द्वारा विशेष प्रचार हुआ। श्रीनिम्बार्काचार्यका प्रादुर्भाव भी विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीसे बहुत-बहुत पूर्व हुआ था। श्रीनिम्बार्ककृत 'वेदान्तपारिजात-सौरभ' आदि ग्रन्थोंके आधारपर अन्वेषकोंने यह प्रमाणित कर दिया है।

श्रीराधासहित श्रीकृष्णकी उपासनाका उपदेश जो सनत्कुमारोंने श्रीनारदजीको दिया था—

त्रिकालं पूजयेत्कृष्णं राधया सहितं विभुम्।

(सनत्कुमारीय योगरहस्य ३। ५)

—उसी आशयको 'उपासनीयं नितरां जनैः सदा' (वे० का० ६)—इन शब्दोंमें श्रीनिम्बार्काचार्यजीने व्यक्त किया है। अतः श्रीराधा और उनकी उपासनाको आधुनिक एवं अर्वाचीन बतलाना विचारविहीनता ही कहा जायगा।

श्रीनारदजीके पूछनेपर सनत्कुमारोंने श्रीराधाजीका जो परिचय दिया था, वह इस प्रकार है—

प्रेमभक्त्युपदेशाय राधाख्यो वै हरिः स्वयम्।
वेदे निरूपितं तत्त्वं तत्सर्वं कथयामि ते॥
उत्सर्जने तु रा शब्दो धारणे पोषणे च धा।
विश्वोत्पत्तिस्थितिलयहेतू राधा प्रकीर्तिता॥
वृषभं त्वादिपुरुषं सूयते या तु लीलया।
वृषभानुसुता तेन नाम चक्रे श्रुतिः स्वयम्॥
गोपनादुच्यते गोपी गोभूर्वेदेन्द्रियार्थके।
तत्पालने तु या दक्षा तेन गोपी प्रकीर्तिता॥
गोविन्दराधयोरेवं भेदो नार्थेन रूपतः।
श्रीकृष्णो वै स्वयं राधा या राधा स जनार्दनः॥

(सनत्कु० यो० र० उ० ७। ४—८)

''आदर्शप्रेम तथा भक्तिका अपनी जीवनचर्याद्वारा उपदेश देनेके लिये श्यामसुन्दर श्रीहरि स्वयं ही 'राधा' नामसे प्रसिद्ध हुए। वेदमें इनके तत्त्वका जिस प्रकार निरूपण हुआ है, वह सब मैं तुमसे कहता हूँ। 'रा' शब्द उत्सर्ग या त्यागके अर्थमें प्रयुक्त होता है और 'धा' शब्द धारण एवं पोषणके

---

३. यथा हि हंसस्य मुखारविन्दा-
च्छ्रुतं मया तत्कथितं रहस्यम्।
गोविन्दमाद्यं शरणं शरण्यं
भजस्व भद्रं यदि चेच्छसि त्वम्॥
(सनत्कुमारीय योगरहस्य उप० २ श्लोक ११)
'मया श्रुतं हंसमुखारविन्दात्तथा विधानं कथयामि साम्प्रतम्।'
(स० यो० २। १९)

यह ग्रन्थ अमुद्रित है। इसका पूर्वार्द्ध १८ उपदेशोंमें पूर्ण हुआ है। इसमें ६०० विविध छन्द हैं। अनुष्टुप्-मानसे उनकी संख्या ७३० के लगभग बैठती है। इसकी एक प्रति श्रीनिम्बार्का-चार्य पीठ (सलेमाबाद) एवं श्रीनिकुञ्ज, वृन्दावनमें सुरक्षित है।

४. यह ३६ उपदेशों एवं १४०० छन्दोंका ग्रन्थ है। अनुष्टुप्-मानसे १७०० के लगभग ग्रन्थ-संख्या होती है। उपर्युक्त स्थलोंपर इसकी अमुद्रित प्रतियाँ सुरक्षित हैं।

अर्थमें। इसके अनुसार श्रीराधा इस विश्वकी उत्पत्ति, पालन तथा लयकी हेतुभूता कही गयी हैं। आदिपुरुष विराट् ही वृषभ है, उसको निश्चय ही वे लीलापूर्वक उत्पन्न करती हैं; अतः स्वयं श्रुतिने उनका नाम 'वृषभानुसुता' रख दिया है। वे सबका गोपन (रक्षण) करनेसे 'गोपी' कहलाती हैं। 'गो' शब्द गौ, भूमि, वेद तथा इन्द्रियोंके अर्थमें प्रसिद्ध है। राधा इन 'गो'-शब्दवाच्य सभी पदार्थोंका पालन करनेमें दक्ष हैं, इसलिये भी 'गोपी' कही गयी हैं। इस प्रकार गोविन्द तथा श्रीराधामें केवल बाह्य रूपका अन्तर है, अर्थतः उनमें कोई भेद नहीं है। श्रीकृष्ण स्वयं राधा हैं और जो राधा हैं, वे साक्षात् श्रीकृष्ण हैं।'

इसी प्रकारका आशय 'एकं ज्योतिरभूद्द्वेधा राधामाधवरूपकम्।' इत्यादि अनेक तन्त्रग्रन्थोंके वाक्योंमें मिलता है। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें इन्हीं श्रीराधाकृष्णकी समानता—एकात्मताकी भावनासे उपासना की जाती है।

अचिन्त्य अगोचर अनन्त-ब्रह्माण्डनायक श्रीराधासर्वेश्वर प्रभुका चाक्षुष प्रत्यक्ष दुर्लभ है। अतः चेतनाचेतनात्मक इस दृश्यमान विश्वको उन्हींका रूप समझकर इसकी उपासना करनेका भी श्रीनिम्बार्काचार्यजीने आदेश दिया है। तदनुसार ही श्रीगोपाल-यन्त्रमें धर्म-अधर्म आदि समस्त विश्वकी पूजा की जाती है। ब्रह्मात्मक होनेके कारण ही यह विश्व यथार्थ (सत्) है[5]। जहाँ-जहाँ 'असत्' शब्दसे श्रुतियोंमें इसका निर्देश मिलता है, वहाँ उसे अव्यक्तत्वादि धर्मपरक समझना चाहिये। मिथ्यात्व-द्योतक नहीं। यदि कहीं मिथ्या शब्दका प्रयोग मिलता हो तो उसे विश्वकी परिवर्तनशीलताका सूचक समझना चाहिये। इस सम्बन्धमें भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यकी यह उक्ति मननीय है—

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं
त्रिरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिता॥
(वे० का० श्लो० ७)

जड-चेतनात्मक समस्त विश्व ब्रह्मात्मक, अतएव अपने उपास्य (आराध्य) का अंश एवं अङ्ग है। अतः किसीका भी अपमान न किया जाय। किसीसे भी विद्वेष करना अपने उपास्यसे ही विद्वेष करना होगा। विश्वके कण-कणमें अनुराग एवं प्रेम होनेसे ही विश्वम्भर प्रभु संतुष्ट होते हैं; क्योंकि वे अणु-अणुमें व्याप्त हैं। रजका एक कण भी ऐसा नहीं मिल सकता, जहाँपर अपने आराध्य प्रभु विराजमान न हों[6]।

जिधर दृष्टिपात हो, उधर प्रभु ही दीख पड़ें और कुछ न दीखे; जो कुछ सुना जाय, वह प्रभुका ही गुण-गान है; जो कुछ ज्ञात हो रहा है, उससे अपने उपास्य प्रभु ही ज्ञात हो रहे हैं। यही भावना वास्तविक सुख-प्रदायिनी है[7]।

अतः इस सम्प्रदायके किसी भी साधकको रुद्र आदि किसी भी देवमें हीन भावना एवं द्वेष-दृष्टि नहीं रखनी चाहिये। यह व्यापक उपासना परम्परागत है। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यने इसी भावनाकी दृढताके लिये स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया है कि—'जिसमें दीनता (विनम्रता) आदि गुण (भाव) हों, उसीपर श्रीयुगलकिशोर प्रभु कृपा करते हैं और उनकी कृपा होनेपर ही श्रवण-कीर्तन आदि (अपरा भक्ति) के साधकके हृदयमें प्रेमविशेषलक्षणा (परा) भक्तिका प्रादुर्भाव होता है[8]।

'भक्ति एवं उपासनाके शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और उज्ज्वल (मधुर-शृङ्गार)—ये पाँच रस माने जाते हैं[9]।' यद्यपि अपनी-अपनी भावनामें एक-एककी प्रधानता है, तथापि प्रत्येक रसकी उपासनामें इन सबका थोड़ा-बहुत पुट अवश्य रहता है। साधक अपनी अभिरुचिके अनुसार इन पाँचोंमेंसे किसी भी एक भावको अपना सकता है। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें यद्यपि पाँचों रसोंके उपासक हैं, तथापि प्रधानतया मधुर (उज्ज्वल) रस अभिप्रेत है। भगवान् श्रीआद्य-

५. सर्वं खल्विदं ब्रह्म। (छान्दोग्य० ३। १४। १)। सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। (छान्दोग्य० ६। २। १)

६. किंच किंचिदिह विद्यते नहि त्वां विनाण्वपि तथाखिलेश्वर।
(श्रीकृष्णस्तवराज श्लो० ६)

७. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा (छान्दोग्य० ७। २४। १)।

८. कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकापरा॥
(वे० का०)

९. शान्तं दास्यं च वात्सल्यं सख्यमुज्ज्वलमेव च।
अमी पञ्चरसा ज्ञेयाः प्रोक्ता वै रसवेदिभिः॥
(सिद्धान्तरत्नाञ्जलि, दशश्लोकी टीका, चतुर्थ परिच्छेद)

निम्बार्काचार्यने इन रसोंका क्रमशः संक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हुए कहा है—'भृत्य (दास), पुत्र, प्रिया एवं मित्रकी भाँति निष्कपट होकर देह-इन्द्रिय-मन और प्राणोंसे उपासकको अपने उपास्य एवं उपदेशक आचार्य गुरुदेवकी सेवा करनी चाहिये[10]।'

यह मधुर रसकी उपासना अर्वाचीन नहीं, परम प्राचीन है। अर्जुनने भी इसी क्रमसे प्रभुकी प्रार्थना की थी—'जिस प्रकार पुत्रकी त्रुटियोंपर पिता क्षमा करता है, मित्रकी त्रुटियोंको मित्र और प्रिया (कान्ता) की त्रुटियोंको प्रिय (कान्त) क्षमा करते हैं, उसी प्रकार हे प्रभो ! आप मेरी त्रुटियोंको क्षमा करें[11]।' इस प्रार्थनामें भक्तिके वात्सल्य, सख्य और मधुर रसोंका ही तो स्पष्ट संकेत है।

मधुररस-भावनामें सभी स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है, साधक अपनेको उपास्य प्रिया-प्रियतम श्रीयुगलकिशोरकी सहचरी मानकर उनकी आराधना करता है। वह अपनेको कान्ता नहीं मानता; क्योंकि कान्ताभावमें स्वसुख-सुखित्वकी झलक आ जाती है। श्रीकिशोरीजीके साथ स्पर्धा होकर ईर्ष्या-भावनाका होना भी स्वाभाविक है, जिससे वह उत्तम उज्ज्वल रस नहीं रहता। प्रिया-प्रियतम बाल, पौगण्ड, कुमार, किशोर—किसी भी वयकी लीला करें, उन्हें देखकर प्रमुदित होना और उसी क्रीड़ाके अनुकूल सेवा करते रहना उत्तम 'मधुर' (उज्ज्वल) रस कहलाता है। यही उज्ज्वल मधुर रसकी उपासना श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें परम्परासे चली आ रही है। उपास्य श्रीयुगलकिशोरको माता, पिता, सखा, बन्धु, गुरु, विद्या, द्रव्य—सब कुछ मानकर उनकी आराधना की जाती है। भक्त उपासक तल्लीन होकर अभ्यर्थना करता है—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

सब साधनोंका फल—भगवान्‌की भक्ति

(लेखक—महामण्डलेश्वर अनन्तश्री स्वामीजी श्रीभजनानन्दजी सरस्वती महाराज)

अपनी वाणी पवित्र करनेके लिये मैं भक्तिके आचार्य महापुरुषोंको प्रणाम करता हूँ।

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादी-
नेतानहं परमभागवतान् स्मरामि ॥

'प्रह्लाद, नारद, पराशर, पुण्डरीक, व्यास, अम्बरीष, शुकदेव, शौनक, भीष्म, दाल्भ्य, रुक्माङ्गद, अर्जुन, वसिष्ठ, एवं विभीषण—इन परम भागवतोंका मैं स्मरण करता हूँ।

यहाँ भक्तिके सम्बन्धमें महापुरुषोंकी प्रेरणासे ही कुछ टूटे-फूटे शब्द लिख सकूँगा।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी एवं रहीम खानखाना—ये दोनों ही महापुरुष समकालीन हुए हैं। कभी-कभी इन दोनों महापुरुषोंकी आपसमें भगवच्चर्चा होती थी। एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी और रहीम खानखाना पास-पास बैठे थे। बैठनेके साथ ही कुछ भगवच्चर्चा चलने लगी। गोस्वामीजीने रहीमसे पूछा—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सह बेदन सब कोय।

अर्थात् देवताओंकी स्त्रियाँ, नागोंकी स्त्रियाँ और मनुष्योंकी स्त्रियाँ गर्भका असह्य दुःख क्यों सहन करती हैं? गर्भका असह्य दुःख गोस्वामीजीने 'विनयपत्रिका'में भी लिखा है—

ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति, दारुन दुख उपजै।

फिर गर्भका ऐसा असह्य दुःख युवती स्त्रियाँ क्यों सहन करती हैं? जब तुलसीदासजीने रहीमसे यह प्रश्न किया, तब उसका उत्तर देते हुए रहीमने बड़ी सुन्दर बात कही—

गर्भ लिये हुलसी फिरैं कि तुलसी सो सुत होय।

१०. देहेन्द्रियमनःप्राणैर्मायां हित्वा समाहितः। भृत्यवत्पुत्रवत्सेवेत् प्रियावन्मित्रवत्तथा ॥ (मन्त्ररहस्यषोडशी १६)

११. पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ (गीता ११ । ४४)

'गोस्वामीजी ! वे गर्भका असह्य दुःख प्रसन्नतापूर्वक इसलिये सहन करती हैं कि उनके गर्भसे तुलसीदासजी-जैसा भक्त पुत्र हो ।' उन गोस्वामी तुलसीदासजीने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । उनमें 'रामचरितमानस'का विशेष स्थान है । उस मानसको समाप्त करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजीने भक्तिको ही सब साधनोंका फल बतलाया है—

तीर्थाटन साधन समुदाई । जोग बिराग ग्यान निपुनाई ॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना । संजम दम जप तप मख नाना ॥
भूतदया द्विज गुर सेवकाई । बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई ॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी । सब कर फल हरिभगति भवानी ॥
(मानस० उत्तर०)

'तीर्थयात्रा आदि बहुत-से साधन, योग, वैराग्य और ज्ञानमें निपुणता, अनेक प्रकारके कर्म, धर्म, व्रत और दान, अनेक प्रकारके संयम, दम, जप, तप और यज्ञ, प्राणियोंपर दया, ब्राह्मण एवं गुरुकी सेवा, विनय, विद्या और विवेककी बड़ाई (आदि) जहाँतक वेदोंने साधन बतलाये हैं, हे भवानी ! उन सबका फल श्रीहरिकी भक्ति ही है ।'

जैसे कोई धनी व्यक्ति अपने बगीचेमें अनेक प्रकारके फलोंके वृक्ष लगाये और यदि उन वृक्षोंमें कोई फल न आयें तो वे जैसे व्यर्थ हैं, वैसे ही परमार्थके अनेक प्रकारके साधनोंसे यदि भगवान्‌की भक्ति नहीं प्राप्त होती तो वे सब भी व्यर्थ ही हैं । वे साधन साधकको सुख-शान्ति नहीं दे सकेंगे । जैसे पुत्रको अपनी माताकी गोदमें जितनी शान्ति मिलती है, उतनी कहीं अन्यत्र नहीं मिलती, वैसे ही ईश्वर-भक्तरूपी बालकको भक्तिरूपी माँकी गोदमें ही परम शान्ति मिलती है । यद्यपि मोक्षका सुख भी विशेष सुख है, लिखा भी है—

तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई । रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥
(मानस० उत्तर०)

अर्थात् भगवान्‌की भक्तिके बिना मोक्षका सुख उसी प्रकार नहीं ठहर सकता जिस प्रकार बर्तनके बिना वस्तु । यद्यपि मोक्षका सुख अच्छा है, कीमती है; तथापि भक्तिके बिना वह शोभा नहीं पाता । भरतजीको जब राजगद्दी देनेका विचार हुआ, तब भरतजीने अपने हृदयके भाव प्रकट करते हुए कहा भी है—

बादि बसन बिनु भूषन भारू । बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू ॥
(मानस० अयोध्या०)

जेवर अधिक कीमती होते हैं, कपड़ा कम कीमती होता है, परंतु शोभा कपड़ेसे ही होती है । इसी प्रकार मोक्षका सुख विशेष होते हुए भी भक्तिके बिना शोभा नहीं होती । सुन्दर-काण्डमें भक्त हनुमान्‌ने रावणसे कहा है—हे रावण !

सब भूषन भूषित बर नारी । बसन हीन नहिं सोह सुरारी ॥

यानी ज्ञानरूपी जेवरोंसे सुन्दर स्त्री सब प्रकार सुशोभित हो, लेकिन भक्तिरूपी वस्त्र यदि नहीं है तो वह स्त्री शोभाको नहीं प्राप्त होती । और भी भरतजीने कहा है—

सरुज सरीर बादि सब भोगा । बिनु हरि भगति जाइ जप जोगा ॥

जिसे कानोंसे नहीं सुनायी देता, उसके लिये नाना प्रकारके रागोंके बाजे व्यर्थ हैं । जिसको पीनसका आजार है और जिसे आँखोंमें मोतियाबिंद है और जिसे फालिज मार गया है तथा जिसे बुखार चढ़ा हुआ है, उसके लिये स्पर्श, रूप, रस, गन्धके पदार्थ उसी प्रकार व्यर्थ हैं, जिस प्रकार बिना भक्तिके ज्ञान । भगवान् शंकराचार्यजीने अपनी 'विवेकचूडामणि' (३२) में एक वाक्य लिखा है—

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।

मोक्षप्राप्तिके साधनोंमें भक्ति ही श्रेष्ठ है । भगवान् कृष्णचन्द्रजीने श्रीमद्भगवद्गीतामें आठवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें एक बड़ा ही सुन्दर सिद्धान्त बतलाया है कि जो अनन्यचित्त होकर भगवान्‌का स्मरण करता है, वह सुलभतासे ही भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है ।' यह सुलभ 'शब्द' श्रीमद्भगवद्गीताके ७०० श्लोकोंमें केवल एक बार ही आया है ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

एक बात और है कि भोजनके भंडारमें अनेक प्रकारके शाक-भाजी बने हों और उनमें अनेक प्रकारके मिर्च-मसाले आदि भी पड़े हों, पर नमक न हो तो वे शाक-भाजी बिलकुल व्यर्थ हैं । कहा है—

भगति हीन गुन सब सुख ऐसे । लवन बिना बहु बिंजन जैसे ॥

एक जगह गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

कीरति कुल करतूति भूति भल सील सरूप सलोने ।
तुलसी प्रभु अनुराग रहित जस सालन साग अलोने ॥

'कीर्ति, ऊँचा कुल, अच्छी करनी, बड़ी विभूति, शील एवं लावण्यमय स्वरूप होनेपर भी यदि वह प्रभु श्रीरामचन्द्र-जीके प्रेमसे रहित है तो ये सब गुण ऐसे ही हैं, जैसे बिना नमककी साग-भाजी ।'

इतनी सब भक्तिकी महिमा क्यों कही गयी है ? क्या ये रोचक वाक्य हैं ? मेरी समझमें ये बिल्कुल यथार्थ हैं। उदाहरणके रूपमें पिताका पता तो माता ही बता सकती है। इसी प्रकार भगवान्‌रूपी पिताका पता तो भक्तिरूपी माता ही बता सकती है। दूसरी बात यह है कि जब जीव अनेक प्रकारके दुष्कृत करता है, तब भगवान् उसके कर्मोंको भुगतानेके लिये फलरूपी डंडा लिये पीछे-पीछे रहता है। जीव कहीं भी जाय, उसे अपने कर्मका फल भोगना पड़ता है। परंतु जब वही जीव भक्तिरूपी माताके पेटमें चिपक जाता है, तब भगवान्‌रूपी पिताका कर्मरूपी डंडा शान्त हो जाता है। रामचरितमानस, सुन्दरकाण्डमें भगवान् श्रीरामके वचन हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

एक और ग्रन्थमें यह श्लोक आया है—

यस्मिन् शास्त्रे पुराणे वा हरिभक्तिर्न दृश्यते।
पठितव्यं न श्रोतव्यं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत्॥

जिस पुराण या शास्त्रमें श्रीहरिकी भक्ति नहीं दिखायी देती, उसे न पढ़ना चाहिये न सुनना चाहिये, चाहे वह स्वयं ब्रह्माके द्वारा ही कहा गया हो।' बड़े-बड़े महापुरुषोंने वेदान्तकी दीक्षा प्राप्त करते हुए भगवान्‌की भक्तिको विशेष स्थान दिया है। अद्वैत वेदान्त-ज्ञानियोंमें मधुसूदन सरस्वतीका विशेष स्थान है। उन्होंने लिखा है—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

यह है भक्ति-रसका आस्वादन करनेवाले रसिक-शिरोमणि रसस्वरूप भगवान्‌की और भक्तिकी चमत्कारमयी महिमा !

वैदिक उपासना और उसके चार भेद

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित आचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी, 'तर्क-शिरोमणि')

उपासना

'उपासना' शब्दका प्रयोग मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् रूप वेदके चारों भागोंमें हुआ है। वेदमें स्थल-भेदसे वह प्रतीक्षा, इच्छा आदि अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। लोकमें भी दर्शन, पुराण, तन्त्र और स्मृति-ग्रन्थोंमें इसका पदे-पदे प्रयोग है। दर्शनोंमें क्रियायोग, तन्त्रोंमें पूजोपचार आदि, स्मृतियोंमें ध्यान एवं पुराणोंमें भगवत्सेवा आदि अनेक अर्थ इसके उपलब्ध हैं; परंतु हम यहाँपर इसको 'पङ्कज' शब्दवत् योगारूढ़ मानकर केवल उपासनाकाण्डसे सम्बद्ध अर्थमें ही इसका प्रयोग करेंगे। उपासनाकाण्ड—जिस क्रियासे जीवात्मा बन्धनसे मुक्त हो जाता है, उस क्रियाको 'उपासना' कहता है; अथवा जिस प्रक्रियाविशेषसे जीवात्मामें परमात्माके सर्वज्ञता, तृप्ति एवं अनादिबोध आदि धर्मोंका संस्रव हो जाता है, उस पद्धतिविशेषको 'उपासना' मानता है।

'वित्ति' और 'उपास्ति' भिन्न हैं।

भगवान् शंकराचार्यजी 'वित्ति' और 'उपास्ति'को अभिन्न मानकर 'उपासना'को 'वित्ति'रूप (ज्ञान) ही मानते हैं। 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' ब्रह्मसूत्रभाष्यमें उनका आदेश है—

वित्त्युपास्त्योश्च वेदान्तेषु व्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते, क्वचिद्विदिनोपक्रम्योपास्तिनोपसंहरति। क्वचिच्चोपास्तिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति।

अर्थात् वेदान्तों (उपनिषदों) में 'वित्ति' (वेदन) और 'उपास्ति' (उपासन) का व्यतिहारसे (परस्पर एक दूसरेके स्थानपर) प्रयोग होता है। कहींपर 'विदि' धातुसे उपक्रम है और 'उपास्ति'से उपसंहार। कहींपर उपास्तिसे उपक्रम है और विदिसे उपसंहार। अतः उपासना और वेदन (ज्ञान) एक ही हैं; परंतु भगवान्‌के इस मतका समर्थन 'य एवमुपास्ते य उ चैनमेवं वेद'—इत्यादि वैदिक वाक्योंसे नहीं हो रहा है। इन वाक्योंमें ज्ञान और उपासनाका भेद स्पष्ट ही है। ज्ञान और उपासनाके भिन्न होनेपर इनका विषय-भेद मानना पड़ता है। आत्माको निर्गुणरूपसे जानना 'निर्गुण-विद्या' है। यही 'वित्ति' है। परमात्माका सगुणरूपसे ज्ञान पूजोपचारके साथ सगुण-विद्या है। यही 'उपासना' है। 'उपासना' ही भक्ति है। श्रीरामानुजाचार्यजीने 'उपासना' एवं 'भक्ति'को अभिन्न माना है। इस 'उपासना'का जो अर्थ—'लक्ष्य' है, वही 'ध्येय' है, वही 'वेद्य' है, वही 'उपास्य' है।

उपासनाके भेद

यह 'उपासना' सत्यवती, अङ्गवती, अन्यवती और निदानवती—भेदसे चार प्रकारकी है। विशद ज्ञानके लिये इनका उदाहरणोंके साथ विवरण दिया जाता है।

१—सत्यवती-उपासना

'सत्यवती' उपासनाके स्वरूपका विवेचन करते हुए तत्त्वद्रष्टा कहते हैं कि जिसमें जिसपर दृष्टि हो, उसीपर ही भावना (बुद्धि) हो, वह उपासना 'सत्यवती' है। दृष्टि और बुद्धिके सामानाधिकरण्यके कारण यह उपासना 'सत्यवती' कहलाती है। ईशतत्त्व सर्वव्यापक है। व्यापक ईशकी भावनाद्वारा व्यापक दृष्टिका अनुगमन करना 'योग' है। यह 'योग' ही 'सत्यवती' उपासना है। इस 'सत्यवती' उपासनामें आरूढ़ उपासकको न्याय-दर्शनमें 'युञ्जान' योगी कहा गया है। केवल मानसोपचारसे ही वह व्यापक ईशकी आराधना करता है, अतएव वह उपासक है। आराधनाके अभावमें वह ज्ञानयोगमें प्रविष्ट माना जाता है। उसके मतमें यच यावत् पदार्थ हैं, वे **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** हैं। उसके मतमें **'अणोरणीयान्'** भी वही है एवं **'महतो महीयान्'** भी वही है। उसकी व्यापक दृष्टि आहार्यरूपा न होनेसे सत्य है, अतः यह उपासना 'सत्यवती' है। पुनरपि स्वच्छज्ञानके लिये इसका एक लक्षण किया जाता है—**'दृष्टिबुद्ध्योः सामानाधिकरण्येन पर्याप्ता उपासना 'सत्यवती'**। इसका विवरण ऊपर आ गया है। गीताने इस उपासनाको 'बुद्धियोग' कहा है।

२—अङ्गवती-उपासना

जिसमें दृष्टि अङ्गपर हो एवं बुद्धि अङ्गीपर हो, वह उपासना 'अङ्गवती' है। उदाहरणके लिये वेदान्तकी 'वैश्वानर'-उपासनाको ले सकते हैं। 'वैश्वानर' षडङ्ग है। उसके द्यु, आदित्य, वायु, आकाश, अप् और पृथिवी—ये छः अङ्ग हैं। षट् अङ्गोंकी समष्टि कृत्स्न 'वैश्वानर' अङ्गी है। इनमेंसे किसी एक अङ्गको दृष्टिका अवलम्बन बनाकर तद्द्वारा कृत्स्न अङ्गी 'वैश्वानर'की भावना करना 'अङ्गवती' उपासना है। इसीको 'प्रतीकवती' उपासना भी कहते हैं। प्रतीक नाम अङ्गका है। **'न प्रतीके न हि सः'** इस सूत्रका यही उपासना लक्ष्य है। दृष्टि अकृत्स्न किसी एक अङ्गपर है; परंतु भावना (बुद्धि) कृत्स्न 'वैश्वानर'पर है। इसी प्रकार कोई 'प्राण'की ही ब्रह्मरूपसे उपासना करता है। कोई 'मन'की ही ब्रह्मरूपसे उपासना करता है, कोई 'वाणी' को ही ब्रह्मरूप मानकर उपासना करता है। ये सब उपासनाएँ 'अङ्गवती' हैं। कारण कि प्राण, मन और वाक् ईश्वरके अङ्ग (कलाएँ) हैं। आगे भी इस विषयका विवरण होगा।

३—अन्यवती-उपासना

जिसमें दृष्टि अन्यपर हो और बुद्धि अन्यपर हो, वह उपासना 'अन्यवती' है। यह 'अन्यवती' उपासना ही मूर्ति-निर्माण और तद्द्वारा ईशोपासनाका मूल कारण है। दृष्टि-स्थिरतापूर्वक मनःस्थैर्यके लिये किसी भी अभिलषित धातु-पाषाणादि बिम्बोंपर दृष्टि निक्षेप करते हुए, उसमें उपास्यकी बुद्धि रखते हुए, प्रत्ययको प्रवाहित करना ही 'अन्यवती' उपासना है।

यह आहार्यारोपमूला है, सरलतमा है। अर्चा (प्रतिमा) और अर्च्य (परमात्मा) में आहार्यारोपमूलक अभेद होनेके कारण ही श्रीरामानुज-सम्प्रदायमें भगवान्‌के प्रतिबिम्बोंको 'अर्चावतार' कहते हैं। अन्यवती-उपासनामें ही सम्प्रदाय-परिभाषामें 'भगवत्-सेवा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें यज्ञको पुरुषरूपमें और पुरुषको यज्ञरूपमें देखा गया है, यह 'अन्यवती'-उपासना है। सूर्यमें यजुःपुरुषकी दृष्टि अन्यवती-उपासना है। आतपमें अश्वबुद्धि अन्यवती-उपासना है।

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः।

ब्राह्मणमें आतपमें अश्वत्व-बुद्धिका ही विधान है। आतप ही अश्वमेध-यज्ञका मेध्य अश्व है।

४—निदानवती-उपासना

'निदानवती' उपासनाके मूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं। इनमें 'निदान'का पदे-पदे प्रयोग है। प्रतिकृतिमें प्रतिमेयकी भावना 'अन्यवती' उपासना है। परंतु यह प्रतिमा-प्रतिमेय-भाव साकार सगुण वस्तुतक ही सीमित है। निराकार निर्गुण वस्तुकी प्रतिमा (प्रतिकृति) नहीं हो सकती। अतः निर्गुण निराकार वस्तुके ज्ञान और उपासनाके लिये 'निदानवती' उपासनाका आविष्कार किया गया है। वेदमें इसका पदे-पदे प्रयोग और व्यवहार है। अमुक वस्तुको अमुक समझो, यह संकेत निदान है। 'मृगचर्म'को त्रयी विद्या समझो। संकेत वेदमें व्यवहृत निदान है। अर्थात् अमूर्तत्रयी

विद्याका निदान मूर्त मृगचर्म है। निदानका विशद विवेचन अनुपदमें भी होगा। मूर्तिनिर्माण और तद्द्वारा ईशोपासनामें 'अन्यवती'-उपासनाका भी महान् योगदान है।

'अङ्गवती' और 'अन्यवती' उपासनाओंमें ही 'भक्ति'-शब्दका मुख्य प्रयोग है; कारण कि बुद्धिविषयक पदार्थके प्रति दृष्टिविषयक पदार्थ 'भक्ति' (अंश) माना जाता है। दृष्टिविषयक पदार्थ भी बुद्धिविषयक पदार्थके प्रति भक्ति (अंश) माना जाता है।

अङ्गवती-उपासनाका साफल्य

'अङ्गवती-'उपासना निष्फल नहीं है। 'अङ्गवती' उपासनाके प्रयोगसे इसका इस लोक और परलोकमें अच्छा प्रयोग करनेपर निश्चय ही उसका फल प्राप्त होता है—जैसे सम्पूर्ण समुद्रमें स्नान न करनेपर और क्वचित् एक देशमें ही स्नान करनेपर भी 'मैंने समुद्रमें स्नान किया है'—यह अभिमान और तीरस्थ अल्पजलको जलपात्रमें रखकर लानेपर भी 'मैं समुद्रजलको लाया हूँ'—ये दोनों अभिमान मिथ्या नहीं हैं। कारण कि सब सामुद्र-जलोंमें समुद्रत्व व्याप्त है।

अन्यवती-उपासनाका साफल्य

'अन्यवती' उपासना भी मिथ्या नहीं है। 'अन्यवती' उपासना विज्ञानद्वारा उपकार करती है। साम्य होनेके कारण उपास्यके धर्म साधनमें भी होते हैं। मसीसे कल्पित चिह्न-भेदसे यह 'अकार' है, यह 'हकार' है—आदि रूपसे व्युत्पन्न मनुष्य 'अकार', 'हकार' आदिमें अभिमान करता है। यह भी उसका व्यर्थ नहीं है। कारण कि इनके द्वारा अमूर्त अक्षरसमुदायको वह पकड़ लेता है। यहाँपर अन्यको अन्य समझकर उपासना की गयी है। अतः यह 'अन्यवती' उपासना है।

उपासनाकाण्डका समुद्देश

विषयकी गहनताके कारण पुनरपि प्रकारान्तरसे इनका वर्णन किया जाता है। वैदिक 'उपासनाकाण्ड'का समुद्देश 'भक्तियोग' है। वेदमें 'भक्ति' शब्द विशेष अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, जो 'भक्तिमीमांसामें' 'शाण्डिल्य'ऋषिकृत 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थसे भिन्न है। जहाँ आधिदैविक और आधिभौतिक दोनों धर्मोंका समुच्चय हो अथवा कर्म और ज्ञान दोनोंका जहाँ समुच्चय हो, वहाँ परस्पर एक दूसरेका 'भक्ति' (अङ्ग) हो जाता है। कर्म और ज्ञान दोनोंके समुच्चयमें 'कर्म' ज्ञानका और 'ज्ञान' कर्मका 'भक्ति' (अङ्ग) हो जाता है। ज्ञान और कर्म दोनों भक्तियोंसे ज्ञानकर्ममय किसी एक साध्यका विधान है। यही ज्ञान-कर्ममय एक साध्य (भक्ति) उपासनाकाण्डका अर्थ है। उपासनाकाण्डमें व्यावहारिक कर्मसे पारमार्थिक ज्ञानका सम्पादन किया जाता है। वेदके 'आरण्यक' भागको उपासनाकाण्ड कहते हैं। 'अरण्य' नाम परमात्माका है। उसकी प्राप्ति जिसके द्वारा हो जाय, वही वेदका भाग 'आरण्यक' है।

उपासनाके लक्षण

यहाँ विशद ज्ञानके लिये उपासनाके कतिपय लक्षणोंका निर्देश किया जाता है—

१. किसी एक आधिभौतिक पदार्थमें बाह्यदृष्टि रखकर उसके अवलम्बनसे असंनिकृष्ट किसी आधिदैविक अर्थमें मन और बुद्धिको ले जाना 'उपासना' है।

२. प्रत्यक्ष प्रत्ययसे परोक्ष अर्थमें प्रत्ययका प्रवाह 'उपासना' है। ज्ञानविशेषको 'प्रत्यय' कहते हैं। तद्बुद्धि 'तत्प्रत्यय' है। ईश्वरविषयक बुद्धि 'ईश्वरप्रत्यय' है। इसका सतत प्रवाह ही 'ईश्वरोपासना' है।

३. बुद्धिसंनिकृष्ट पदार्थके द्वारा विदूर पदार्थमें प्रत्ययका धारण 'उपासना' है।

४. विजिज्ञासित पदार्थके किसी एक रूपको पकड़कर उसमें ज्ञान और आस्थाको रखना 'श्रद्धा' है। श्रद्धाके पारवश्यसे उसके अनुकूल विज्ञानसिद्ध ध्यानादि परिचर्या 'उपासना' है।

५. 'यह परमात्मा है'—इस विश्वाससे युक्त मानवका सूर्य, गुरु एवं अवतार पुरुषोंके प्रति ईश्वरोचित कर्मोंका करना 'उपासना' है।

६. मनसे धार्यमाण अर्थमें मनके संयमसे बुद्धिका स्थैर्य 'उपासना' है।

'उपासना'के इन लक्षणोंका उदाहरण ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदिमें यत्र-तत्र प्रयुक्त 'उपासना' शब्दोंमें देखना आवश्यक है।

दो उपास्य

इस 'भक्तियोग'रूप उपासनामें दृष्टि और बुद्धिके सामानाधिकरण्यकी विवक्षा न होनेसे इस प्रकारके उपासना-स्वरूपकी सम्पत्तिके लिये 'उपासक', 'प्रथमोपास्य' एवं 'परमोपास्य' रूप तीन भाव अपेक्षित हैं। इनमें जो देवता

हुआ भावना करता है, वह 'उपासक' है। जिसको द्वार मानकर, किसीका अवलम्बन लेकर चाक्षुषी अथवा मानसी दृष्टि उपास्यमें बुद्धिको समर्पण करती है, वह द्वारभूत दृष्टिका अवलम्बन प्रथम 'उपास्य' है और जहाँ यह भावना-बुद्धि स्थिर रहकर अन्तमें विश्राम लेती है, वह भावनाका विषय 'परमोपास्य' है।

द्वारभूत माध्यमके चार प्रकार

यह प्रथम उपास्य-रूप माध्यम चार प्रकारके सम्बन्ध—मर्यादाओंसे उस उत्तम उपास्यमें बुद्धिको प्रवृत्त करता है। वे चार प्रकारकी सम्बन्ध-मर्यादाएँ—प्रतीकरूप, प्रतिरूप-रूप, भाव-प्रतिमारूप और निदानरूप—भेदसे चार प्रकारकी हैं। इसलिये यह भक्तिरूप 'उपासना' भी चार प्रकारकी हो गयी है—'प्रतीकोपासना', 'प्रतिरूपोपासना', 'भावोपासना' एवं 'निदानोपासना।'

१· प्रतीकोपासना

सम्पूर्ण पदार्थके एकदेशका ग्रहण 'प्रतीक' है। जैसे जनपदका एक नगर 'प्रतीक' (अङ्ग) है। गृहमें एक शाला 'प्रतीक' है, अर्थात् उसका अङ्ग है। मनुष्यके हाथ-पैर आदि 'प्रतीक' हैं अर्थात् अङ्ग हैं। पाञ्चाल देशकी 'अहिच्छत्रा' नगरीके एक गृहमें गये हुए मनुष्यके लिये 'पाञ्चाल देशमें गया' ऐसा व्यवहार होता है। गोमाताके पुच्छमात्रको छूता हुआ ही 'गोमाताको छूता हूँ' बोलता है। कारण कि एक ही गोत्व सब अङ्गोंमें व्यासज्यवृत्तिसे पूर्णरूपेण रहता है। केवल एक अंगुलिके ग्रहणसे पितृग्रहण-व्यवहार होता है। किसी एकदेशमें विद्यमान दृष्टि सम्पूर्णमें बुद्धिकी प्रतिष्ठा करती है। इसी प्रकार भक्ति (अङ्ग) से भक्तिमान् (अङ्गी) भिन्न नहीं है। अतः अवयव-दृष्टिसे बुद्धिवृत्तिको समुदायमें स्थिर करना 'प्रतीकोपासना' है। वह जैसे—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
(यजुर्वेद ३२।१)

इन मन्त्रोंमें अनेक देवताओंका एकत्व कहा जाता है। यहाँपर इन सबका एकत्व अङ्गदृष्टि-सापेक्ष है। इन्द्र, मित्र, वरुण आदि रूपोंसे भेद अङ्गदृष्टि-सापेक्ष है। 'अङ्गानि अन्या देवताः।' के आधारसे इन्द्र, मित्र, वरुण आदि सब देव एक ही अङ्गी ईश्वरके विभिन्न कार्योंके लिये भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं। वह उपासक यदि केवल इन्द्रकी 'उपासना' करता है अथवा केवल अग्निकी अथवा केवल वरुणकी तो सर्वथा 'प्रतीकोपासना'द्वारा एक ईश्वर ही उपासित होता है। इन्द्रका आराधन परमेश्वरका ही आराधन है। इन्द्ररूप 'प्रतीक'के भिन्न होनेपर भी 'प्रतीक'से गृहीत परमात्मा सर्वाङ्गमें पर्याप्तरूपसे व्याप्त होनेसे अभिन्न हैं, अर्थात् परमात्मा ही इन्द्र है। कारण कि अङ्गीसे अङ्ग अभिन्न ही होता है। जैसे गङ्गा नदीमें कहीं एकदेशमें अवगाहन करने-पर भी 'सम्पूर्ण गङ्गामें स्नान किया'—ऐसा व्यवहार होता है। शारीरक-मीमांसामें भगवान् व्यासने प्रत्येक 'प्रतीक'में प्रतीकवान् (अङ्गी) व्याप्त है, इसका समर्थन '**सर्वाभेदा-दन्यत्रेमे**' सूत्रमें किया है। यहाँपर 'सर्व' शब्द अङ्गीका वाचक है। '**सर्वस्य अङ्गिनः सर्वाङ्गेषु अभेदात्**' अङ्गि-धर्म सब अङ्गोंमें पर्याप्तसे विवक्षित हैं। इसी सिद्धान्तसे 'भागवत-धर्म'में '**सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति।**'—माना गया है। गीतामें भी—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(९।२३)

—कहा है। यहाँपर '**मामेव**'से अव्यय अमृतात्माका ग्रहण होता है। वह इन सब जीवात्माओंका भी अङ्गी होता है और देवताओंका भी। यहाँपर 'अविधिपूर्वकम्' की व्याख्या श्रीअभिनवगुप्ताचार्यजीने '**इन्द्रंमित्रम्**' मन्त्रार्थ-संवादिनी की है। उनका विज्ञान है कि '**येऽपि च नामधेयान्तरै-रुपासते तेऽपि च मामेवोपासते। नहि ब्रह्मव्यतिरेकि किंचि-दुपास्यमस्ति। किंतु अविधिनेति विशेषः। अन्यो विधि-रविधिः। नानाप्रकारैरहमेव परं ब्रह्म सत्तास्वभावो याज्य इति।**' अर्थात् 'उपासना'-विधिकी परिसमाप्ति 'सत्यवती' उपासनामें ही हो जाती है। उसमें असमर्थोंके लिये अन्य-विधिरूप अविधिका निर्देश हुआ है। इस अविधिरूप उपासना-को 'अङ्गवती', 'अन्यवती' और 'निदानवती' उपासना कहते हैं। इसी अविधि उपासनामें अङ्गको ही अङ्गी मानकर उपासना की जाती है। इन्द्र, वरुण आदि देवता परमात्माके अङ्ग हैं। इनमें किसी एक देवतामें अङ्गित्व (परमात्मत्व) बुद्धिसे 'उपासना' अविधि उपासना है; परंतु प्रत्येक अङ्गमें अङ्गीकी व्याप्ति होनेसे यह अङ्गोपासना (प्रतीकोपासना) अङ्गीकी ही होती है। अतः '**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्य-विधिपूर्वकम्**' कहा है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
(गीता १८ । २०; १३ । २७)

गीताके इन श्लोकोंमें उस अव्यय परमात्माके विश्व-व्यापक ऐकात्म्यका स्मरण किया गया है । उसमें अङ्गरूपसे सब देवता अन्तर्भुक्त हैं ।

'यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अपि संवहन्ति । सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकीभवन्ति ।'

मन्त्रमें भी उस सर्वात्माके साथ एकीभाव कहा गया है ।

भगवद्रूप-विशेषत्वेन प्रतीत इन सब देवताओंमेंसे किसी एक देवताकी उपासना करता हुआ उस अङ्गीरूप भगवान्‌की ही उपासना करता है । इसी अभिप्रायसे 'तेऽपि मामेव यजन्ते' कहा गया है । एकदेशकी प्रतिपत्तिसे सम्पूर्णकी प्रतिपत्तिरूप प्रतीकोपासना ही 'इन्द्रं मित्रं वरुणम्' मन्त्रों एवं 'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' आदि श्लोकोंमें प्रतिपादित है । 'प्रतीकोपासना'का ही नामान्तर 'अङ्गवती' उपासना है ।

२. प्रतिरूपप्रतिमोपासना

चित्र, प्रतिमा (मूर्ति) आदि प्रतिकृतिरूप शिल्प 'प्रतिरूप' है । उस 'प्रतिरूप (मूर्ति) में अवलम्बित बुद्धिकी दूसरे सुदूर प्रतिमेयमें स्थिति सरलतासे हो सकती है । यह प्रतिमा दो प्रकारकी है—'प्रतिकृति-प्रतिमा' और 'भावप्रतिमा' । रूपवान् साकार वस्तुकी चित्रपटद्वारा अथवा दारु-पाषाण आदि फलकद्वारा प्रतिरूप शिल्पसे सादृश्यका निर्माण 'प्रतिरूप प्रतिमा' है । जैसे मृण्मय अथवा धातुमय (मूर्तियों) में गज, अश्व, अज आदि बुद्धिसादृश्यके कारण प्रतिष्ठित हो जाती है । इसी प्रकार विश्वात्मा भगवान् हिरण्यगर्भ ईश्वरका 'प्रतिरूप' दृष्टिसे साक्षात्कार किया जा सकता है । वह जगदाधार भूतपतिरूपसे यजुर्वेद (२५ । १०)में कहा गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

'प्रत्यक्ष दीखे' इस प्रकारकी उपासना करनेकी इच्छावाला, इसकी 'प्रतिकृतिरूप' प्रतिमाकी अपेक्षा रखता है । इसलिये यह उपासक निसर्गसिद्ध विश्वाकारके सदृश हिरण्यगर्भके प्रतिकृतिरूप 'हिरण्यगर्भ' नामक 'शालिग्रामशिला' की उपासना (आराधना) करता है । यह शालिग्रामशिला जिस प्रकार दीखती है, उसी प्रकार यह विश्वात्मा हिरण्यगर्भ आकाशमें स्थित है । आकाशमें उसकी स्थितिका वर्णन वेदोंने इस रूपमें किया है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
(श्वेताश्वतर० ३ । ९, ३ । १६-१७ तथा गीता १३ । १३-१४)

इस श्रुति और गीताके वर्णनसे हिरण्यगर्भकी वर्तुलवृत्तता मालूम पड़ती है । इसलिये हिरण्मय ज्योतिर्मण्डलसे गर्भित भगवान् हिरण्यगर्भ परमेष्ठी कृष्णमूर्तिका 'शालिग्राम'-शिलाके साथ सौसादृश्य सर्वथा घटता है । शालिग्राममें की गयी दृष्टि-सादृश्य-महिमाके कारण विश्वमूर्ति भगवान् हिरण्यगर्भमें सरलतासे हो जाती है । इसलिये 'शालिग्राम'-शिलाकी उपासना विश्वरूप ईश्वरकी प्रतिरूप (प्रतिमारूप) 'उपासना' होती है ।

प्रसङ्गात् 'शालिग्राम' शब्दके विषयमें किंचित् चर्चा की जाती है । 'पारानन्दसूत्र'के प्रमाणसे 'शालिग्राम' शब्द ही साधु है । 'शालग्राम' अथवा 'सालग्राम' अथवा 'सालिग्राम' आदि शब्द असाधु हैं । 'पारानन्दसूत्र'में 'शालिग्राम' शब्दकी व्याख्या इस रूपमें उपलब्ध है—

'शालय ईश्वरास्तेषां शालीनां ग्रामभूतोऽयं प्रस्तरः—तस्मात् शालिग्रामः । अथवा शालयः सुषाः कणाः तेषां ग्रामः, तस्मात् 'शालिग्रामः' ।

अर्थात् "ऐश्वर-शक्तियाँ 'शालि' हैं, उनका समूह (ग्राम) होनेसे यह शिला 'शालिग्राम' है । अथवा 'सुषा' नामक कणोंका समूह होनेसे 'शालिग्राम' है । सर्वथा 'शालिग्राम' शब्द साधु है ।"

३. भावप्रतिमोपासना

निराकार और नीरूप वस्तुकी प्रतिकृति असम्भव है ।

अतः उसकी भावमयी प्रतिमा की जाती है। तत्तद्-देवताओं-की अर्चामें नियुक्त **'मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभिः'** आदि ध्यान-श्लोक ध्यानद्वारा 'भावमयी' प्रतिमाका ही विधान करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने इस 'भावमयी' प्रतिमाको 'मनोमयी' प्रतिमा भी कहा है। जैसे व्यास-पृष्ठसे रहित पिण्डत्व-धर्म-रहित अनुपाख्य शून्यबिन्दुके शिक्षणके लिये पिण्डबिन्दुका निर्देश किया जाता है। इस स्तोकबिन्दुमें अध्यस्त बुद्धिके द्वारा शून्यबिन्दुकी उपासना की जाती है। यहाँपर पिण्ड-बिन्दु लक्षक है, शून्यबिन्दु लक्ष्य है। लेख-लक्षित-पत्र आदिसे उपनिबद्ध विज्ञान ग्रन्थ-लक्षक है। अशरीर भावनागम्य विज्ञान लक्ष्य है। दूसरे प्रकारसे वे नहीं जाने जा सकते। इसलिये अनाकार वस्तुके ज्ञानके लिये उपयुक्त साकारमें समर्पितबुद्धि 'अनाकारोपासना' है। अनाकार और साकारका प्रतिरूपत्व (प्रतिमात्व) असम्भव होनेपर भी यथाकथंचित् गृहीत विवक्षित प्रातिरूप्य भावमय ही साकार-निराकारके भिन्न होनेपर भी अभेदक प्रत्यभिज्ञाका हेतु होता है। यही 'भावमयी' प्रतिमा है।

४. निदानोपासना

साधर्म्य-विशेषका अभाव होनेपर भी यादृच्छिक किसी पदार्थके साथ आहार्यारोप प्रकारसे संकेतरूप सम्बन्धको उत्पन्न करके स्मारकत्वका कल्पन 'निदान' है। यहाँपर संकेत-को 'निदान' कहा है। आदिकारणरूप 'निदान' इससे भिन्न है। जैसे शोक और अपकीर्तिका 'निदान' (संकेत) काला रंग है। लाल रंग क्रोधका 'निदान' है। कीर्ति और मोक्षका 'निदान' शुक्ल रंग है। सत्त्व, रज और तमोगुणोंके 'निदान' (संकेत) शुक्ल, रक्त और काला रंग हैं। हाथी लक्ष्मीका संकेत है। ध्वज विजयका निदान है। दण्ड शासनका संकेत (निदान) है। पद्म पृथिवीका 'निदान' है। श्रीलक्ष्मीदेवीके उभय हस्तोंमें विद्यमान दो कमल ज्ञानैश्वर्य और भौतिकैश्वर्यके 'निदान' हैं। शुक पक्षी सकल कलाओंका 'निदान' है। देवीके हाथमें विद्यमान मदिराका पात्र 'मोह'का निदान है। इसी प्रकार निराकार अर्थ उस-उस साकार द्रव्यसे परिकल्पित संकेतद्वारा परिलक्षित होता है। यही 'निदान' है।

लोकमें बहुत-सा व्यवहार 'निदान'के माध्यमसे प्रवृत्त हो रहा है। इस निदानसे आहार्यारोपके प्रभावसे अन्यत्र अन्यबुद्धि की जाती है। अतः यह 'निदान' भी उपासनाके लिये माध्यमिक है। माध्यमिकमें अवलम्बमान मन अप्रत्यक्ष परमें प्रविष्ट हो जाता है। इससे अतीन्द्रिय पदार्थ सरलतासे विदित और उपासित हो जाता है।

यह ईश्वर अतीन्द्रिय पदार्थ है। उसकी माध्यमिक बिना अर्थात् कोई माध्यम स्वीकार किये बिना 'उपासना' अशक्य है। इन्द्रियातीत पदार्थमें मनका अवस्थान असम्भव है। इसलिये उपासक और उपास्यके मध्यमें किसी 'शालिग्राम' शिला आदि माध्यमिककी अपेक्षा है। अतः 'भाव-प्रतिमान'का सहारा लेना आवश्यक है।

इस उपासनामें इदंकारभूत (प्रत्यक्ष) 'प्रथम उपास्य' है। गुरुका जीवात्मा अथवा जीवात्मारूप 'प्रतीक'से उप-लक्षित परमात्मा परम उपास्य है। ये दोनों इन्द्रियोंसे गृहीत नहीं हो सकते। अगृहीतकी उपासनाकी सम्भावना नहीं हो सकती। कारण कि 'उपासना'का स्वरूप ही **'इतरवृत्ति-निरोधपूर्वकेण मनोयोगेन एकत्र समानप्रत्ययप्रवाह उपासनम्।'** है। निर्विकल्पक और निरालम्बन समाधि तो अशक्य है। 'प्रतीक' अथवा 'प्रतिरूप' अथवा 'निदानवती' उपासनामें तो माध्यम 'भावमयप्रतिमा' आदि अवलम्बनमें स्थिर होकर यह मन 'जहत्' 'अजहत्' लक्षणासे किसी एक अप्रत्यक्ष विषयमें अनुरूपण (संचार) कर सकता है।

निरन्तर मनोयोगका कारण

अनुभवी जनोंका यह भी कहना है कि किसी एक पदार्थमें सादर और दीर्घकालतक निरन्तर मनोयोगका असाधारण कारण 'प्रेम' होता है। प्रेमसे ही लगा हुआ मन जबतक प्रेम है, तबतक वहाँ रहता है। 'प्रतिकृति' रूप प्रतिमा अथवा 'भावमयी' प्रतिमा सुन्दर शिल्प होनेसे प्रेमकी उत्पत्तिमें मुख्य कारण है। सहृदय जातप्रेमा मानव मूर्त इन्द्रिय-ग्राह्य किसी एक प्रतिमाको देखता हुआ ही उसके द्वारा अन्यत्र मनको धारण कर सकता है। जहाँ कहीं श्रद्धा रखता है, वहाँ जबतक इस आराध्यमें परम प्रेमसे मनको धारण करता है, तबतक वह इस उपासकका 'तप' है। तपस्यासे भावित यह अमूर्त देव, मूर्तबिम्बमें निदानसे आरोपित होकर भासता है। अमूर्त होनेसे सुदूर भी यह आराध्य मूर्त बिम्बके द्वारा संनिहित तप होकर गृहीत होता है। यही 'उपासना' है। इसमें निरतिशय प्रेम ही कारण है। प्रेममें बिम्ब (मूर्ति)-

का सौन्दर्य ही कारण है। मूर्तिके सौन्दर्यमें मूर्तद्रव्य ही कारण हैं। इसके विषयमें आचार्योंका आदेश है कि—

अर्चकस्य तपोयोगादर्चनस्यातिशायनात्।
आभिरूप्याच्च बिम्बस्य देवः सांनिध्यमृच्छति॥

अमूर्त वेद्य (उपास्य) के बुद्धि-सांनिध्यके लिये संनिहित कुछ साधर्म्यसे विवक्षित 'भावप्रतिमान' अथवा निदान माध्यमिक रूपसे अपेक्षित है। यह माध्यमिक अवलम्बन पहला 'पद' है। अप्रत्यक्ष उपास्य तो 'पुनः पद' है। 'पद' और 'पुनः पद' दोनों पृथक् रूपसे ज्ञायमान हैं तो भी उनमें अभेद रूपसे बुद्धिको रखना 'उपासना' है। इस प्रकार दोनों ही उपास्य हैं। माध्यमिक वस्तु 'द्वारोपास्य' है। उत्तम वस्तु 'परमोपास्य' है। 'तन्त्रालोक' ग्रन्थमें श्रीअभिनवगुप्ताचार्यने 'द्वारी-उपास्य' की अपेक्षा 'द्वारोपास्य' को अत्यन्त प्रेमका आस्पद माना है। एक-दूसरेके विना इसमें उपासना नहीं हो सकती। मूर्त और अमूर्त दोनों 'उपासना' कर्ममें अपेक्षित हैं। वहाँपर 'अमूर्त' की मूर्तत्व भावसे और मूर्त पदार्थकी अमूर्तत्व रूपसे 'उपासना' की जाती है। अर्थात् अमूर्त (सूक्ष्म) परमात्माको मूर्त (स्थूल) रूपमें और मूर्त (प्रतिमा) को अमूर्त (परमात्मारूप) में माना जाता है।

अमूर्त पदार्थकी प्रतिमा मूर्त पदार्थको मानना वेदमें पुनः-पुनः उपलब्ध है। हविर्यज्ञमें मूर्त मृगचर्म अमूर्त त्रयीविद्याकी 'प्रतिमा' माना गया है। वेदमें यत्र-तत्र निराकार और अमूर्त पदार्थोंके अनेक साकार और मूर्त पदार्थ 'निदान' से मूर्ति माने गये हैं। न केवल वेदमें ही, अपितु लोकमें भी लिपि-अक्षर शब्दाक्षर और परमाक्षरोंमें मूर्तामूर्तरूप अभेद-ज्ञानसे ही लोक प्रवृत्त हैं। इसमें एक-विध लिपि-अक्षर अथवा शब्दाक्षरमें भावित-बुद्धि अन्यमें उपासित होती है। इस प्रकार वैज्ञानिक कर्म ही 'उपासना' नामसे प्रसिद्ध हुआ है।

शारीरक-मीमांसामें औपनिषद विद्याएँ

'शारीरक-मीमांसा' नामसे प्रसिद्ध 'वेदान्त'सूत्रोंमें उपनिषदोंमें प्रतिपादित 'उपासना'के स्वरूपों और नामोंका निर्देश हुआ है। उनके स्वरूपोंका परिचय तो उपनिषदों और गुरुसेवाद्वारा अवगत करना आवश्यक है। यहाँ केवल उनके नामोंका निर्देश किया जाता है। इनके नाममात्रकी अवगति भी अनल्प श्रेयका कारण होती है।

१—सद्विद्या, २—आनन्दमयविद्या, ३—उद्गीथ हिरण्मय दृष्टि-विद्या, ४—उद्गीथाकाशदृष्टि-विद्या, ५—प्रस्तावप्राणदृष्टि-विद्या, ६—गायत्री-विद्या, ७—कौक्षेयज्योतिर्विद्या, ८—प्रतर्दन-विद्या, ९—शाण्डिल्य-विद्या, १०—नाचिकेत-विद्या, ११—उपकोसल-विद्या, १२—अग्नित्रय-विद्या, १३—अन्तर्यामि-विद्या, १४—अक्षर-विद्या, १५—वैश्वानर-विद्या, १६—भूम-विद्या, १७—गार्ग्यक्षर-विद्या, १८—त्रिमात्रप्राण-विद्या, १९—दहर-विद्या, २०—मधु-विद्या, २१—संवर्ग-विद्या, २२—सत्यकाम-विद्या, २३—ज्योतिषांज्योतिर्विद्या, २४—बालाकि-विद्या, २५—मैत्रेयी-विद्या, २६—पञ्चाग्नि-विद्या, २७—बृहदारण्यक-दहरविद्या, २८—माण्डूक्य-विद्या, २९—मूर्तामूर्तब्राह्मण-विद्या, ३०—उद्गीथ-प्राण-विद्या, ३१—उद्गातृप्राण-विद्या, ३२—ज्येष्ठश्रेष्ठप्राण-विद्या, ३३—अहर्व्याहृतिब्रह्मविद्या, ३४—अहंव्याहृतिब्रह्मविद्या, ३५—आयुःफलपुरुष-विद्या, ३६—न्यास-विद्या, ३७—पर्यङ्क-विद्या, ३८—उषस्तकहोल-विद्या, ३९—उद्गीथादि-विद्या, ४०—अग्नि-विद्या, ४१—मण्डलपुरुषमृत्यु-सादृश्यविद्या, ४२—लोकैषणादृष्टि-विद्या, ४३—जीवात्मोपासना-विद्या, ४४—यज्ञपवमान-दृष्टिविद्या, ४५—ईशावास्य-विद्या, ४६—उपस्त्युपदिष्ट-विद्या।

उपासकका स्वरूप

जौ मन कबहुँक हरि कौं जाँचै।
आन प्रसंग-उपासन छाँड़ै, मन-बच-क्रम अपनै उर साँचै॥
निसि-दिन स्याम सुमिरि जस गावै, कल्पन मेटि प्रेम रस माँचै।
यह व्रत धरैं लोक मैं बिचरै, सम करि गनै महामनि-काँचै॥
सीत-उष्न, सुख-दुख नहिं मानै, हानि-लाभ कछु सोच न राँचै।
जाइ समाइ सूर वा निधि मैं, बहुरि न उलटि जगत मैं नाचै॥

—सूरदासजी

पागलकी झोली

[वाराणसी-अविमुक्त भ्रू-मध्यध्यानसे ब्रह्मदर्शन]

(लेखक—महात्मा अनन्तश्री श्रीसीतारामदासजी ओंकारनाथजी महाराज)

पागलके राम-रामका विराम नहीं है। पागल राम राम कर रहा है। इतनेमें ही हरिहर आया और प्रणाम करके बोला—'अच्छा, पागल बाबा! सुनता हूँ कि आपके राम—आत्मा, अनन्त और अव्यक्त हैं, वे रहते कहाँ हैं?'

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। वह अविमुक्तक्षेत्र—वाराणसीमें रहते हैं—राम राम।

हरि—अविमुक्त वाराणसी कहाँ है?

पागल—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। वरणा और नासीके बीचमें। राम राम।

हरि—वरणा क्या है? और नासी क्या है?

पागल—राम राम सीताराम। समस्त इन्द्रियोंके दोषोंको जो वारण (निवारण) करे, उसका नाम है—'वरणा' और समस्त इन्द्रियकृत दोषोंका नाश करे, उसका नाम है—'नासी'।

हरि—वह वरणा, नासी है कहाँ?

पागल—राम राम सीताराम। 'भ्रू'।

'भ्रुवोर्घ्राणस्य यः संधिः स एषः।'

(रामोत्तरतापिनी उपनिषद् १)

'दोनों भ्रू तथा नासिकाका जो संधिस्थल है—मिलनस्थान है, वही है इहलोक और परलोककी संधि।' ब्रह्मज्ञानी लोग इसी स्थलमें संध्या करते हैं। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। इस स्थानका नाम ही 'अविमुक्त' है। यह स्थान ही उपास्य है। इस स्थानमें मन स्थिर होनेपर ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। राम राम सीताराम।

हरि—जिसको द्विदल कहते हैं वही स्थान?

पागल—राम राम सीताराम। हाँ, सीताराम!

धर्मपीठं महापीठं यत्र कामेश्वरो हरः।
अविमुक्तं महाक्षेत्रं हंसप्रपतनं तथा॥

(अध्यात्ममुक्तावलीधृत, योगिनी-तन्त्र—उत्तरखण्ड—प्रथम पटल)

'धर्मपीठ-महापीठ यह अविमुक्त महाक्षेत्र है। यहाँ ही कामेश्वर महादेव वास करते हैं, हंस मन्त्र इसी स्थानमें लय होता है।' राम राम सीताराम!

हरि—हंस मन्त्र कहाँसे उत्पन्न होता है?

पागल—राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम। मूलाधारसे। राम राम।

हरि—लय किसे कहते हैं?

पागल—राम राम सीताराम। खींचतान नहीं करनी पड़ती। ओंकारमें मिल जाता है। राम राम सीताराम।

विमुक्तं न मया यस्मान्मोक्ष्यते वा कदाचन।
महत्क्षेत्रमिदं तस्मादविमुक्तमिदं स्मृतम्॥

(मत्स्यपुराण १७९। ५४)

शिवजी कहते हैं कि "मैं इस क्षेत्रसे कभी विमुक्त नहीं होता तथा यह क्षेत्र भी कभी मुझसे विमुक्त नहीं होता। इसी कारण इसका नाम 'अविमुक्त' है।" राम राम सीताराम।

अविमुक्तो गतो देवि न निर्गच्छेत् ततः पुनः।
सोऽपि मत्पदमाप्नोति नात्र कार्या विचारणा॥

(मत्स्यपुराण १८०। २४)

राम राम सीताराम! 'हे देवि! जो व्यक्ति अविमुक्तमें प्रविष्ट होकर फिर बाहर नहीं निकलता, वह मेरे पदको प्राप्त होता है।' राम राम सीताराम।

हरि—बाहर नहीं निकलता—इसका क्या अभिप्राय है?

पागल—राम राम सीताराम। वहाँ ही वह लीन हो जाता है। राम राम सीताराम।

'अविमुक्ते वरारोहे त्रिसंध्यं नात्र संशयः।'

(मत्स्यपुराण १८०। २७)

'पार्वति! अविमुक्त ही इडा, पिङ्गला, सुषुम्णाका संधि-स्थल है। तीनों नाडियाँ वहाँ एकीभूत हो जाती हैं।'

यत्र साक्षात् स्वयं रुद्रः कृत्तिवासाः स्वयं स्थितः।
यत्र संनिहितो नित्यमविमुक्ते निरन्तरम्॥
तत्क्षेत्रं न मया मुक्तमविमुक्तं ततः स्मृतम्॥

(मत्स्यपुराण १८०। १८,१५)

'जहाँ मैं रुद्र स्वयं नित्य अवस्थान करता हूँ; जो स्थान मेरे द्वारा कभी मुक्त नहीं होता, इसी कारण उसका नाम अविमुक्त है'। राम राम सीताराम।

हरि–सबके भ्रूमध्यमें शिवजी नित्य वास करते हैं?

पागल–राम राम सीताराम। हाँ, सीताराम।

हरि–मैं तो कभी उनको नहीं देख पाता?

पागल–राम राम सीताराम। देखनेके लिये किसी दिन तुमने चेष्टा की है? सीताराम।

हरि–सो तो नहीं की, जानता भी नहीं कि किस प्रकारसे चेष्टा की जाती है।

पागल–राम राम सीताराम। आँखें मूँदकर पुनः-पुनः इस स्थलमें शिवजीका चिन्तन करना पड़ता है। सीताराम।

श्मशानसंस्थितं वेश्म दिव्यमन्तर्हितं च यत्॥
भूर्लोकेनैव संयुक्तमन्तरिक्षे शिवालयम्॥

(मत्स्यपुराण १८१। ६-७)

'सुषुम्णाके भीतर अविमुक्त अवस्थित है। वह निम्नस्थ भूलोकके साथ संयुक्त है। उसके ऊर्ध्वदेशस्थ आकाशमें शिवलोक प्रतिष्ठित है।'

हरि–सुषुम्णामें प्रवेशका उपाय क्या है?

पागल–राम राम सीताराम। केवल राम राम कहो, माँ, माँ कहकर रोओ। बस, सुषुम्णाका द्वार खुलते ही आनन्द-राज्य है। राम राम सीताराम।

हरि–अच्छा, अविमुक्तके विषयमें और कहिये।

पागल–राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

अविमुक्तं परं क्षेत्रमविमुक्ते परा गतिः॥
अविमुक्ते परा सिद्धिरविमुक्ते परं पदम्।

(मत्स्यपुराण १८१। १९-२०)

'अविमुक्त उत्तम क्षेत्र है। यहाँ मनके लय होनेपर परम गति प्राप्त होती है। अविमुक्तमें परा सिद्धि है तथा परम पद प्राप्त होता है।' राम राम सीताराम।

हरि–अविमुक्तमें मनका लय कैसे होता है?

पागल–राम राम-सीताराम। इस द्विदल-पद्मका ध्यान करते-करते मनका लय हो जाता है। मनके साथ प्राणका लय हो जाता है। राम राम सीताराम।

चतुर्मूर्त्तिः सदा धर्मस्तस्मिन् संनिहितो प्रिये॥
चतुर्णामपि वर्णानां गतिस्तु परमा स्मृता।

(मत्स्यपुराण १८२। ४१-४२)

—प्रभृति चतुष्पाद धर्म इस अविमुक्तमें अवस्थित है, 'ह', 'अ', 'उ', 'म'—इन चार वर्णोंका लयस्थान ही परमागति अर्थात् परम पद है। राम राम सीताराम।

हरि–'ह' क्या है? 'अ-उ-म' तो समझ लिया ॐकार है।

पागल–राम राम सीताराम। 'ह' है आकाश। शक्ति-स्थान कण्ठपर्यन्त है। शक्तिस्थानका आकाश 'ह' और ॐकार सब कुछ अविमुक्तमें लय हो जाता है। राम राम सीताराम।

हरि–ॐकार लय हो जाता है। रह जाता है क्या?

पागल–राम राम। रहता है हंस-'स' और 'ह'। यह 'स' ही प्राणको खींचते हुए शिवाकाशमें ले जाता है। राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

'ज्ञानानां परमं ज्ञानमविमुक्तं परं मम।'

(कूर्मपुराण)

'ज्ञानोंमें श्रेष्ठ ज्ञान ही अविमुक्त है।' वहाँ रहते समय पवन लय हो जाता है। इसी कारण वह श्रेष्ठ ज्ञान है। राम राम सीताराम।

हरि–अविमुक्तमें स्थितिके समयका ज्ञान श्रेष्ठ क्यों है?

पागल–राम राम सीताराम। अविमुक्त है निश्चयात्मिका बुद्धिका स्थान। इसी कारणसे वहाँका ज्ञान श्रेष्ठ है।

'श्मशानमेतद्विख्यातमविमुक्तमिति स्मृतम्।'

(कूर्मपुराण ३१। २७)

अविमुक्तका दूसरा नाम श्मशान है, यहाँ पञ्चभूतोंको पञ्चत्वकी प्राप्ति होती है। साधक तत्त्वातीत हो जाता है। राम राम सीताराम।

अविमु ँ परं ज्ञानमविमुक्तं परं पदम्।
अविमुक्तं परं तत्त्वमविमुक्तं परं शिवम्॥

(कूर्मपुराण ३१। ४४)

'अविमुक्त श्रेष्ठ ज्ञान है, अविमुक्त ही परम पद है, अविमुक्त परमतत्त्व है और अविमुक्त ही परम शिव है।' राम राम सीताराम।

वरणायास्तथा ह्यास्या मध्ये वाराणसी पुरी॥
तत्रैव संस्थितं तत्त्वं नित्यमेवाविमुक्तिकम्।

(कूर्मपुराण ३०। ३१। ६३-६४)

'वरणा और असीके बीचमें वाराणसी अवस्थित है।

उसका दूसरा नाम अविमुक्त है। वहाँ आत्मतत्त्व नित्य अवस्थित है।' राम राम सीताराम।

हरि—बात तो कम नहीं जान पड़ती। केवल अविमुक्त-को जाननेसे ही सब कुछ हो जाता है।

पागल—राम राम सीताराम। बात तो ऐसी ही है—

मुने प्रलयकालेऽपि न तत्क्षेत्रं कदाचन।
विमुक्तं हि शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः॥

(काशीखण्ड, पूर्वार्द्ध २६। २७)

हरि—अच्छा, आप तो भीतरकी वाराणसी—काशीकी बात कहते हैं। यह जो काशीतीर्थ है। इसका क्या कोई माहात्म्य नहीं है ?

पागल—राम राम सीताराम। बाहरका काशीधाम—अधिभूततीर्थ है और भीतरकी काशी है—अध्यात्मतीर्थ। राम राम सीताराम। काशीधामकी महिमा अपार है। काशीमें मृत्यु होनेपर मोक्षकी प्राप्ति अनिवार्य है। काशी-धाममें प्रवेश करके पत्थरके द्वारा अपने पैर तोड़ डाले और वहीं पड़ा रहे। 'काशी, काशी' नाम उच्चारण करनेपर मनुष्य काशीवासका फल प्राप्त करता है। राम राम सीताराम।

काशीलग्नं हि यत्किंचित् काशी भवति तत्क्षणात्।
काशीस्पर्शनमात्रात् ते पूर्णानन्दमयः सदा॥

(योगिनीतन्त्र, १६ पटल)

'जो कुछ काशीको स्पर्श करता है वह तत्काल काशी हो जाता है और पूर्णानन्दमय हो जाता है।'

महादेवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि मनुष्य वाराणसीमें ध्यानपरायण होकर जल-स्थल-अन्तरिक्षमें, चाहे किसी भी स्थानमें देहत्याग क्यों न करे, मृत्युकालमें मैं उसके कानमें परम ब्रह्ममन्त्र प्रदान करता हूँ। मेरे उपदेशके फलस्वरूप उसके पाप-पुण्य—कर्म-फल भस्मीभूत हो जाते हैं। वे—

'प्राप्स्यन्ति ब्रह्मनिर्वाणं ममोपदेशतः क्षणात्।'

(योगिनी०)

'क्षणमात्रमें ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त करते हैं।' राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

हरि—भ्रूयुगलके मध्य वाराणसी अवस्थित है, यह बात किस शास्त्रमें है ?

पागल—राम राम सीताराम—

'वाराणसी महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे।'

(जाबालदर्शनोपनिषद् ४। ४८)

'हे महाप्राज्ञ ! वाराणसी भ्रूद्वय और नासिका मूलके मध्यवर्ती स्थानको कहते हैं।'

'वाराणस्यां भ्रुवोर्मध्ये—' (रुद्रयामल)

जाबाल-दर्शनमें लिखा है कि 'जब श्वास-प्रश्वासकी गति निरुद्ध होती है, उस समय द्विदलमें मनकी स्थिरता होते ही चित्त शुद्ध हो जाता है।' राम-राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत्॥

(ध्यानबिन्दु ४०)

ललाटमें भ्रूयुगल और नासामूलका संयोगस्थल ही अमृत-स्थान है। वही विश्वका आधार है। इस स्थानपर मनः-संयोग होनेपर जगत्के सब विषयोंका ज्ञान हो जाता है।' राम राम सीताराम।

हरि—आपने अमृत-स्थान क्यों कहा ?

पागल—राम राम सीताराम। इस स्थानपर मनोलय होनेपर अमृतपदकी प्राप्ति होती है और आवागमनमें नहीं पड़ना होता। राम राम सीताराम।

हरि—इतना सहज है आवागमनका निवृत्त होना ?

पागल—सहज अधिक नहीं है। सीताराम। उस स्थानमें मनको रखना बहुत कठिन है।

'हंसस्थानं विष्णुपदं द्विदलं भ्रपदे भजेत्।'

(रुद्रयामल-तन्त्र २। ११)

'भ्रूयुगलके मध्यस्थानका नाम है द्विदल, हंस-स्थान और बिन्दुस्थान—इस स्थानमें ध्यान करे।'

नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः।१७८
नादरूपं पराशक्तिर्ललाटस्य तु मध्यमे॥

(योगशिखोपनिषद्)

'आज्ञानाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्रमुत्तमम्॥'

(योगशिखोपनिषद् १। १७५)

'भ्रूद्वयके मध्यवर्ती आज्ञाचक्र द्विदल है।' राम राम सीताराम।

हरि—वाराणसी, काशी, द्विदल, आज्ञा—सब एक ही वस्तु हैं ?

पागल—राम राम सीताराम। हैं। सीताराम।

आज्ञाचक्रे तदूर्ध्वे च आत्मनाधिष्ठितं परम्।
आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तितम्॥

(तन्त्रसार २। ९७, रुद्रयामल २७। ८)

"तालूके ऊर्ध्वमें आज्ञाचक्र है। वही आत्माका परम अधिष्ठान है। इस स्थानमें गुरुदेवकी आज्ञा संक्रमित होती है। अतएव इसका नाम 'आज्ञाचक्र' है।" देहमें सर्वत्र परमात्माके अवस्थित होनेपर भी आज्ञाचक्रमें मनको स्थिर कर लेनेपर उसकी विशेष अनुभूति होती है; श्रीगुरुदेवका उपदेश समझमें आ सकता है।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाख्यं तन्महाकालं सिद्धो देव्यत्र हाकिनी॥

(शिवसंहिता)

"'ह' और 'क्ष' दो वर्णोंसे युक्त आज्ञापद्म भ्रू-युगलके मध्यवर्ती स्थानमें 'शुक्ल' नामक महाकाल और देवी 'हाकिनी' वास करती हैं।" महाकाल बीजाक्षरशोभित शरच्चन्द्रके समान स्निग्ध और उज्ज्वल हैं। वही पुरुष हैं, वही परमहंस हैं। उनको जान लेनेपर साधकका पतन नहीं होता; त्रिताप-ज्वाला दूर हो जाती है। वह जीवन्मुक्त हो जाता है। राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

हरि—आज्ञापद्ममें तब तो 'ह-क्ष' बीज दो हैं, शुक्ल महाकाल और हाकिनी देवी हैं। उनका वेष सुस्पष्ट दीख पड़ता है?

पागल—राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम। हाँ, सीताराम।

हरि—कौन-सी साधना करनेपर दीख पड़ता है?

पागल—राम राम सीताराम। गुरुदेवके उपदेशके अनुसार मूलाधारमें कुण्डलिनीका चिन्तन करना पड़ता है। उसके जाग्रत् होनेपर सब पद्म दिखलायी देने लगते हैं। राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

'आज्ञायां परमेशानि प्रथमं गुरुदर्शनम्।'

(भूतशुद्धि-तन्त्र १५ पटल)

'आज्ञामें प्रथम गुरुदर्शन होता है।' राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

'अक्षरं युगलं देवि आज्ञाचक्रं स्थितं सदा।'

(भूतशुद्धि-तन्त्र)

"'हं, सः'—ये दो अक्षर आज्ञाचक्रमें नित्य अवस्थित हैं।" राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

हरि—द्विदलके विषयमें सुन लिया। केवल द्विदलका आश्रय कर लेनेपर मनुष्य कृतार्थ हो सकता है, यह समझमें आ गया। कुछ और कहिये।

पागल—राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

'गुरुस्थानं ललाटं च'— (बृहज्जाबाल)

'गुरुका स्थान ललाट है।' राम राम सीताराम।

हरि—गुरुका स्थान सहस्रदलकमल मस्तकमें न है?

पागल—राम राम सीताराम। गुरु तो विश्व-व्याप्त हैं। किसीने उनका दर्शन ललाटमें किया है, किसीने हृदयमें किया है। अधिकांशमें गुरुका ध्यान सहस्रारमें होता है। राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

'भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः।'

(नादबिन्दूपनिषद् ४)

'भ्रू-युगलके मध्यवर्ती ललाटमें सत्यलोक है।'

'तपोलोकं भ्रुवोर्मध्ये मूर्ध्नि सत्यं प्रतिष्ठितम्।'

(उत्तरगीता)

'भ्रूयुगलके मध्य तपोलोक है, मस्तकमें सत्यलोक है।' राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

हरि—भ्रू-मध्यमें ध्यान कैसे किया जाय?

पागल—राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

अर्द्धोन्मीलितं दृश्यं भ्रूमध्ये तारकवज्जगत्।
व्योमात्मैव सदाभासं स्वरूपं योऽभिपश्यति॥

(योगवासिष्ठ ३। ९। ५१)

'गुरुके उपदेशानुसार ध्यान करते-करते साधक अर्द्धोन्मीलित नेत्रको भ्रूमध्यमें स्थिर रख सके तो नक्षत्रके समान जो ज्योति दीख पड़ेगी, वही आकाशस्वरूप आत्माका आभास है, इसी कारण वह स्वरूपकी प्रथम अभिव्यक्ति है।' राम राम सीताराम।

हरि—आत्मा क्या आकाशके समान है?

पागल—राम राम सीताराम। आत्मा धानके समान है, जौके समान है, श्यामा घासके चावल (सावाँ) के समान है। अणुसे भी अणु है और आकाशसे भी महान् है। राम राम सीताराम।

भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिकसंनिभः।
महाविष्णोश्च देवस्य तत्सूक्ष्मं रूपमुच्यते॥

(योगशिखोपनिषद् ५। ३४)

'समाधिका अभ्यास करते समय भ्रूयुगलके मध्यमें ललाटके अभ्यन्तर जो शुभ्र बिन्दु देखा जाता है, वही महाविष्णुका सूक्ष्म रूप है।' राम राम सीताराम।

हरि–जप करते-करते कौन-सी ज्योति देखी जाती है ?

पागल–राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म।

(मण्डलब्राह्मण-उपनिषद् १ । २)

'गुरुदेवके उपदेशके अनुसार साधन करते-करते भ्रू-युगलके मध्यमें जो तेजोमय तारका दीख पड़ती है, वही ब्रह्म या ब्रह्मज्योति है।' राम राम सीताराम।

तदा तां तारमित्याहुर्व्योमात्मेति बहुश्रुताः।
तामेव शक्तिं ब्रुवते परमात्मेति चापरे॥

(प्रपञ्चसार)

'उस तेजोमय तारकका नाम ही ॐ, आत्मा, शक्ति, परमात्मा, प्रकृति आदि है।' जय जय राम सीताराम।

हरि–एक भ्रूमध्यकी ज्योतिका नाम ही ॐ, आत्मा, शक्ति, परमात्मा, प्रकृति आदि है ?

पागल–जय जय सीताराम। एकको छोड़कर कुछ और भी है क्या ? एक ही तो नानारूप बनकर लीला कर रहा है, अपने साथ आप ही। राम राम सीताराम। जो केवल 'राम राम' जप कर सकता है, वह उसको प्राप्त हुए बिना नहीं रह सकता। राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम।

हरि–आपकी बात खूब अच्छी लगती है और भी बोलिये।

पागल–राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तूर्यं यत्र कालो न विद्यते॥

'भ्रू-युगलके मध्यमें शिवजीका स्थान है। साधनाके द्वारा मन वहाँ लय हो जाता है। तुरीय परम पदकी प्राप्ति होती है। इस स्थानमें कालका अधिकार नहीं है।'

हरि–शक्तिस्थान कहाँ है ?

पागल–राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम। कण्ठचक्रपर्यन्त शक्तिस्थान है। राम राम।

त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(ज्ञानसंकलनी-तन्त्र १२)

'भ्रू-मध्य त्रिवेणीसंगम है, वह सब तीर्थोंका राजा है। वहाँ स्नान करनेसे महापापी भी सब प्रकारके पापोंसे मुक्त हो जाता है।' राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

रामप्रसाद कहते हैं—

'त्रिवेनी घाटेते वैस, शीतल हबे अन्तःपुर।'

दरिया साहब कहते हैं—

'तिरबेनी के मध्य तहँ मूरति सनमुख किये॥'

राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

हरि–अच्छा, भ्रू-मध्यमें ध्यानकी बात बहुत लोग कहते हैं, इसका तात्पर्य क्या है ?

पागल–राम राम सीताराम।

मूलाधाराद्धि षट्चक्रं शक्तिस्थानमुदीरितम्।
कण्ठादुपरि मूर्द्धान्तं शाम्भवं स्थानमुच्यते॥

(वराहश्रुति ५)

'मूलाधारसे कण्ठपर्यन्त शक्तिका स्थान है। कण्ठके ऊपरसे मस्तक तक शाम्भव स्थान है। यह बात पहले कही जा चुकी है। षट्चक्रभेद करके ऊपर उठनेपर मनुष्य तत्त्वातीत हो जाता है। इसी कारण भ्रू-मध्यकी इतनी प्रशंसा है। राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

हरि–भगवान् गीता (१८ । ६१) में कहते हैं—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

'हे अर्जुन ! ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें रहते हैं।'

पागल–राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम। श्रुति और पुराण, सब हृदय-कमलकी यथेष्ट प्रशंसा करते हैं। हृदय है—लीलाक्षेत्र और भ्रू-मध्य तथा सहस्रदलकमल है—मिलन-क्षेत्र। हृदयमें लीलाचिन्तन, ध्यान आदिके द्वारा सात्त्विक भाव जाग्रत् होनेपर साधक उच्च स्थितिपर जा उपस्थित होता है। राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम। भक्तलोग हृदयपद्ममें, ज्ञानी और योगीलोग द्विदल-पद्ममें मनोनिवेश किया करते हैं। राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

हरि–क्या भगवान्‌ने गीतामें कुछ कहा है ?

पागल–राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम। अवश्य ही। भगवान् कहते हैं—

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥

(५ । २७-२८)

'मोक्षपरायण जो मुनि बाह्य रूप-रस आदि सब विषयोंको मनसे बाहर करके, चक्षुको भ्रूयुगलके बीचमें रखकर, नासिकाके भीतर संचरण करनेवाले प्राण-अपान वायुको सम-भावापन्न करके, इन्द्रिय-मन और बुद्धिको वशीभूत तथा इच्छा, भय और क्रोधको दूर करते हैं, वे ही जीवन्मुक्त हैं।' राम राम सीताराम।

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(गीता ८। १०)

'जो ज्योतिर्मय आदित्यके समान स्वप्रकाश पुरुषको स्मरण करते हैं, वे ही मृत्युकालमें अविचलित चित्तसे—भक्ति और योगके बलसे भ्रू-द्वयके बीच प्राणवायुको समाविष्ट करके उस दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होते हैं।' राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

'हठयोगप्रदीपिका'में कहा गया है कि 'जो लोग तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिमें असमर्थ हैं, स्थूलबुद्धि हैं, उनको भ्रू-ध्यानसे सहज ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।' राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

हरि—तब तो द्विदल-ध्यान ही आत्मज्ञानकी प्राप्तिका सुगम उपाय है, यह बात सभी कहते हैं। परंतु जो लोग योग आदि कुछ जानते ही नहीं, जिन्हें गुरुकी प्राप्ति हुई नहीं, वे क्या द्विदल-ध्यान कर सकते हैं?

पागल—राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम। खूब कर सकते हैं। सीताराम। किंतु आँखें मूँदकर। आँखोंसे देखते हुए भ्रूध्यान करनेसे वायु चढ़ जाती है। राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

आभ्रूमध्यात् सुषुम्नायां संस्थितं हुतभुक् सदा।
(योगी-याज्ञवल्क्य)

'भ्रूमध्यपर्यन्त सुषुम्णामें अग्नि बादलोंमें बिजलीके समान विराजमान रहती है।'

मनोलयं यदा याति भ्रूमध्ये योगिनां नृणाम्।
जिह्वामूलेऽमृतस्रावो भ्रूमध्ये चात्मदर्शनम्॥
(योगी-याज्ञवल्क्य)

'जब भ्रू-मध्यमें योगीका मनोलय होता है, तब जिह्वा-मूलमें अमृतस्राव होने लगता है और भ्रू-मध्यमें आत्मदर्शन होता है।' राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

पागल—राम राम सीताराम। 'अद्वयतारकोपनिषद्'में कहा है—

''भ्रूमध्यमें सच्चिदानन्दमय तेजोराशिको 'ब्रह्म' कहते हैं, उसे देखते-देखते योगी तत्स्वरूप हो जाता है। वह गर्भ-जन्म-जरा-मृत्यु और भयसे त्राण करता है। इसी कारण उसको तारक ब्रह्म नामसे पुकारते हैं।'' राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वे च यत्तेजः प्रणवात्मकम्।
ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि॥
(घेरण्डसंहिता ६। १७)

'भ्रू-युगलके बीच मनके ऊर्ध्वदेशमें प्रणवात्मक ज्वाला-वली-युक्त तेजका ध्यान करे। इसीका नाम तेज-ध्यान है।' राम राम सीताराम। जय जय राम सीताराम।

हरि—क्या भ्रू-ध्यान एकबारगी किया जाता है?

पागल—राम राम सीताराम। ना, सीताराम। नाभि, हृदय और उसके बाद भ्रू-मध्यमें ध्यान करना पड़ता है, रामभक्तगण हृदयकमलमें इष्टदेवका ध्यान करते हैं, सहस्रारमें गुरुका ध्यान और द्विदलमें गुरु, इष्ट और मन्त्र—तीनोंको एक समझकर मन्त्र-ध्यान करते हैं।

हरि—मैं क्या करूँ?

पागल—राम राम सीताराम। हृदयमें लीलाका चिन्तन करना शुरू कर दो। हृदयके आलोकसे, पुलकसे और नादसे भर जानेपर मन अपने-आप द्विदलमें जा पहुँचेगा। जाओ, संध्या हो गयी। अब नाचनेका मन हो रहा है।

इतना कहकर पागल 'राम राम' करते हुए, थेई थेई करके नाचने लगा। राम राम सीताराम!

उपासना शब्दका अर्थ एवं उसका स्वरूप

(पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका उपदेश)

'उपासना' शब्दका अर्थ है—पासमें बैठना, उप+आसना उपासना दो शब्दोंसे बनता है। उपासनाका विषय कुछ भी हो सकता है—जैसे धन, मान, लोक-परलोककी कोई भी वस्तु। जो जिस वस्तुको चाहता है, उसका मन उस वस्तुके पासमें रहता है, उसीकी उपासना होती है; परंतु वास्तवमें उपासना होनी चाहिये सत्य-तत्त्वकी। प्रकृतिके कार्यकी उपासना न करके परमात्माकी उपासना करनी चाहिये।

गीतामें तीन प्रकारकी उपासना कही है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(१३। २४)

'कितने लोग ध्यानयोगके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करते हैं, कई सांख्ययोगके द्वारा और कई कर्मयोगके द्वारा।' गीतामें उपासनाके तीन मार्ग हैं—जैसे भक्तियोग, ज्ञानयोग एवं कर्मयोग। सत्य-तत्त्वकी प्राप्तिके लिये जो क्रिया जाय उसे 'उपासना' कहते हैं। यह सब परमात्मा-ही-परमात्मा है। वही आदि-मध्य-अन्तमें हैं,—'**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**' गीता ७। ७) (सूत्रमें मणिगणकी तरह सम्पूर्ण चराचर विश्व मुझमें ही ओत-प्रोत है।) सत्-असत् सब कुछ परमात्मा ही है। सत्य-तत्त्वकी ऐसी उपासना भक्तियोगकी पद्धतिसे उपासना है। सांख्ययोगकी उपासना असत्का त्याग करके '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**।' (गी० २। १६) 'असत्की सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं।' सत्की उपासना की जाती है। कर्मयोगमें भी सत्की उपासना है। भगवान्ने कहा है—'**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**' (२। ४०) 'इसमें कृत प्रयत्नका नाश नहीं होता।' गीताके १७वें अध्यायके दो श्लोकोंमें सत् शब्दकी पाँच बार व्याख्या की है, '**सद्भावे साधुभावे**' और '**यज्ञे तपसि दाने च**।'

'सत्' कहते हैं—सत्ताका होना, जिसका कभी नाश नहीं हो, वह सर्वत्र विद्यमान है। यह संसार प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, परंतु उसके आश्रयसे यह संसार प्रत्यक्ष नाशवान् होनेपर भी सत्य दीखता है। गोस्वामीजीने (मानस० बालकाण्डमें) कहा है कि 'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

यह संसार सत्य दीखता तो है पर सत्य है नहीं। प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्तिके मूलमें एक नित्य तत्त्व होता है, जिसके आश्रयसे पदार्थ उत्पन्न होता है। उसे प्रकाश देनेकी जरूरत नहीं है, वह स्वयंप्रकाश है। उसकी सत्यतासे ही सत्य दीख रहा है। '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' (मु० उ० २। २। १०) 'उसीके प्रकाशसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।' सांख्ययोगमें असत्को छोड़कर सत्का ही चिन्तन—ध्यान होता है। असली उपासना उसी तत्त्वके लिये साधना मात्र है।

बाल्यावस्थामें जो शरीर था, वह बदल गया। साथी, सामग्री, भाव, उद्देश्य, इन्द्रियाँ सब बदल गयीं, पर मैं तो वही हूँ, यह नहीं बदला। मैं वही हूँ, यह सत्य है। देश-काल, वस्तु-व्यक्ति सब उस सत्के अन्तर्गत हैं। सत् तत्त्व ज्यों-का-त्यों है। हमने असत्में मान्यता कर ली है '**कर्ताहमिति मन्यते**' (३। २७) 'मैं कर्ता हूँ ऐसा मान लेते हैं'। जिस शक्तिसे समष्टिकी क्रिया हो रही है '**प्रकृतेः क्रियमाणानि**' (३। २७) ऐसी अवस्थामें सब क्रिया समष्टिकी शक्तिद्वारा हो रही है ऐसा समझकर '**नैव किंचित् करोमीति**' (५। ८) 'मैं कुछ नहीं करता हूँ'—किसी क्रियामें कर्त्तापन और भोक्तापनका भाव न लावें।

अब शङ्का होती है कि मनकी स्फुरणा नहीं मिटती है। यहाँ मूलमें गलती है। हम उसे (स्फुरणाके) मिटानेके लिये, उसके कारणको न मिटाकर, उसके कार्यको मिटाना चाहते हैं। कारण, जिस मनमें स्फुरणा होती है, उस मनको हमने अपना मान लिया है। उसको अपना न मानें, वह प्रकृतिका है, उसकी सत्तासे ही स्फुरणा होती है। यह परिवर्तन हो रहा है। इस उपासनाको 'सांख्ययोगकी उपासना' कहते हैं।

सत्-असत्से परे और उसमें व्याप्त भगवान् ही है। '**मयि सर्वमिदं प्रोतम्**'। जैसे मिट्टीसे बननेवाले बर्तन पहले भी मिट्टी थी, बर्तन बननेके बाद भी मिट्टी है और बिखरनेपर भी मिट्टी ही होती है, उसी प्रकार संसारकी भी आवृत्ति है। संसार है अब भी परमात्मा है, संसारके होनेसे पहले भी परमात्मा था एवं संसारके बिखरने-पर भी परमात्मा ही है। जैसे घड़ेका ढकन, उसकी

आकृति, रंग सभी चीजें होनेसे उसका उपयोग भी होता है, ऐसे ही नाम-रूपमय यह संसार भी उपयोगी है। इसे परमात्माने ही तो बनाया है। यह परमात्मा ही तो है, दूसरी वस्तु आयी कहाँसे? उससे उत्पन्न, उसीमें लीन यह संसार परमात्मा ही है, यह उपासना 'भक्तियोगकी उपासना' है।

निष्काम भाव है। यह निष्कर्मता स्वतःसिद्ध है। कामना बनायी हुई है, अब यह विचार करें। धनकी कामना है, मान-सम्मानकी कामना है। पहले ये थीं नहीं। बाल्यावस्थामें कंकड़-पत्थरसे खेलते थे। उस समय बहुत कम ज्ञान था। कोई विशेष कामना भी नहीं थी, परंतु अब ये कामनाएँ बढ़ती ही जा रही हैं। कभी किसी वस्तुकी कामना करते हैं, कभी किसी वस्तुकी। कभी द्रव्यकी कामना होती है तो कभी मान-सम्मानकी। अतः मानना पड़ेगा कि कामनाएँ पैदा होती हैं और फिर मिट भी जाती हैं, निरन्तर रहतीं नहीं। लोग कहते हैं कि कामना मिटती नहीं, परंतु मैं तो कहूँगा कि यह भगवान्की परम कृपा है कि कामना चाहे शरीरकी हो या धनकी हो, वह टिकती नहीं। बाल्यावस्थामें कामना खेलकी थी, वह मिट गयी। पीछे दूसरी अनेक हुईं, वे भी मिट गयीं। यही बात ममताकी है। वह भी जोड़ी जाती है और छोड़ी जा सकती है। किसीके साथ ममता जोड़नेपर जुड़ जाती है और तोड़नेपर टूट जाती है। बहिनोंका जन्म एक परिवारमें होता है; परस्परमें कितना ममत्व होता है! किंतु विवाह होनेपर पतिके परिवारवालोंसे सम्बन्ध जुड़ जाता है, तब पुराने परिवारवालोंसे उतनी ममता नहीं रहती। सहोदर भाईके गोद चले जानेपर उसके साथ वह ममता नहीं रहती जो उसके साथ पहले थी। अधिक क्या, अपने शरीरकी ओर देखें। बाल्यावस्थामें जब हम बच्चे थे तो हमारी माता गोदमें रखती, दूध पिलाती। उसकी कितनी अधिक ममता थी! अब हम जवान हैं, तब वैसी ही ममता आज भी माँकी है क्या? और जब हम वृद्ध हो जायँगे तब और भी कम नहीं हो जायगी क्या? इससे सिद्ध है कि ममता जिन सांसारिक वस्तुओंसे करेंगे, वे रहेंगी नहीं। पर ममता करनेपर जो लोभ, पाप आदि होंगे, वे अवश्य रह जायँगे। व्यापारमें जिस तरह चीजें आती हैं और बिक जाती हैं, पर केवल हानि-लाभ हमारे पास रहता है, वैसे ही ममता करनेसे केवल पाप-ताप ही हाथ लगता है। मुनाफामें शोक-चिन्ता रहेगी। जवान लड़का मर जाता है, वह लड़का न पहले था, न अब है, फिर चिन्ता क्यों करते हैं? चिन्ता-शोक आदि जो करते हैं, बस, यही ममताका मुनाफा है!

एक समय श्रद्धेय श्रीसेठजीके सामने किसी भाईने प्रश्न किया कि 'जब सब परमात्मा ही हैं, तब हम जो पाप करते हैं, वे भी परमात्माके द्वारा ही होते हैं। **'ये चैव सात्त्विका भावाः'** यह भी परमात्माकी ही उपासना हुई और रावण-कुम्भकर्ण आदिके इतना अन्याय करनेपर भी उन्हें उसी परमात्माकी प्राप्ति हुई, तब हम कर्तव्य करके क्यों बन्धनमें पड़ें।' उत्तरमें श्रद्धेय श्रीसेठजीने कहा, 'हम जैसी उपासना करेंगे, वैसे ही उपास्य मिलेंगे। वैसी उपासना करनेपर दुःखमय भगवान् मिलेंगे। क्या दुःख भगवान् नहीं हैं? जैसा स्वरूप चाहते हैं, वैसी उपासना कीजिये। यदि रावण आदिकी तरह करते हैं तो वैसी शक्ति चाहिये कि भगवान्के सिवा दूसरोंसे मरें नहीं, तब तो कल्याण हो जायगा। पर यदि कोई बीचमें ही मार देगा तो क्या दशा होगी। उद्धार होनेसे वञ्चित रह जायँगे। **'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।'** (योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्मको पार कर जाता है) इस सच्चे मार्गमें धोखा नहीं है। सब कुछ परमात्मा ही है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई साकार चाहता है कोई निराकार। साकारमें भी कोई विष्णु, राम, कृष्ण, शक्ति, शिव आदिको चाहता है। जिस रूपमें जिसकी आदर्श रुचि होगी, उसकी उपासनासे उसको उसी स्वरूपकी प्राप्ति होगी। असली सत्य तत्त्वकी उपासना होनेसे असली परमात्माका ही साक्षात्कार होगा।

कर्मयोगमें भी सत्की ही उपासना है। इसमें फल-आसक्तिका त्याग होना चाहिये। लोग कहते हैं कि 'ममता-आसक्ति मिटती नहीं।' इस विषयमें यह विचारना चाहिये कि आसक्ति सदा एक-सी ही रहती है क्या? पहले जो माँका स्नेह होता है, पीछे वह वैसा ही रहता है क्या? युवावस्थामें स्त्रीमें जो आकर्षण रहता है वृद्धावस्थामें वैसा है क्या? किसी भी वस्तुके साथ देख लें, मकान बनवाया या गहना-कपड़ा बनवाया, दो-चार दिन जो आनन्द आया, फिर वह आनन्द वैसा ही रहता है क्या? अब तनिक विचार करें, संसारका कोई भी पदार्थ रहनेवाला नहीं है। फिर यह स्नेह, ममता, आसक्ति इन पदार्थोंमें न करके भगवान्से कर लेते तो कृतकृत्य हो जाते।

संसारके सारे पदार्थ नाशवान् हैं। इनसे कुछ मिलनेवाला नहीं है। केवल अन्तःकरण मलिन होगा, अशान्ति मिलेगी। माँ-बेटेका बड़ा स्नेह है, लड़का इस समय माताके अनुकूल आचरण करता है; पर बड़ा हो जानेपर जब वह पत्नीके कहनेके अनुसार माताके प्रतिकूल चलने लगता है, तब माताकी ममता वैसी नहीं रह सकती है, वह स्वतः टूट जाती है। ममता उस कच्चे धागेके समान है जो थोड़ा-सा विरुद्ध पड़नेपर टूट जाता है। इसलिये ममताका त्याग कठिन नहीं है, ममताका ग्रहण करना कठिन है। यह सदा एकरस नहीं रहती है, बदलती रहती है। इससे सिद्ध है कि प्रीति असली जगह नहीं हुई। पाँच वर्षका बालक अपनी माँको खोजता है। दूसरी माताएँ बैठी हैं, पूछनेपर वे अपनेको माँ कहती हैं, किंतु बालक उनमेंसे किसीको माँ नहीं कहता। उसकी माँ होती तो वह उसकी गोदमें चला जाता। **'ममैवांशो जीवलोके'**। इसलिये गीतामें कहा है **'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'** 'जिसको पाकर फिर दूसरी वस्तुको उससे अधिक नहीं मानता।'—यह माँकी उपासना है। वास्तवमें यह उपासना होनी चाहिये भगवान्‌की। प्राप्त वस्तुकी ममता और अप्राप्तकी अभिलाषा—यह संसारकी कामना है। कर्मयोगमें फलकी कामनाका त्याग है। निष्कामभावका वास्तविक तत्त्व है **'कर्म चैव तदर्थीयम्'**—**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति, 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य'** आदि। ममता नहीं छूटनेसे प्रगतिमें कठिनता है। माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाईमें अधिक स्नेह है, ममता है, किंतु जरा-सी अनुकूलतामें बाधा पड़ी, स्वार्थको झटका लगा कि वह ममता नहीं रहती है। इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

वास्तवमें लोग ममताका त्याग करना नहीं चाहते हैं; प्रत्युत नित्य नयी-नयी ममता-कामना पकड़े लिये जा रहे हैं। यदि ममताका त्याग कठिन मालूम देता है तो नया सम्बन्ध जोड़ना छोड़ दें। घर छोड़कर साधु हो गये और साधु हो जानेपर चेला-चेलीसे ममताका सम्बन्ध जोड़ने लगे। ममताका सम्बन्ध उस एकके साथ जोड़ो, जो सत्य है; जिसके सिवा अपना और कोई नहीं है। संत-महात्माओंकी महिमा इस बातमें है कि वे सबसे सम्बन्ध छुड़ाकर एकमात्र परम पिता परमेश्वरमें लगा दें। वे भटकते जीवको सत्यके साथ जोड़ दें—तेरा वह है जो यह कह रहा है—**'ममैवांशो जीवलोके'**। उसीके नाते सबकी सेवा करो, आदर-सत्कार करो। स्त्री केवल पतिके नाते ही पतिके परिवारवालोंकी सेवा करती है; इसी तरह उस भगवान्‌के नाते सबकी सेवा करना है। 'नाते नेह राम सौं मनियत।' भगवान्‌से अपनापन कर लेना है, यही 'उपासना' है, भगवान्‌के 'पास बैठना' है।

राजा चित्रकेतुकी हजारों रानियाँ थीं परंतु पुत्र एक भी नहीं था। नारद-अङ्गिरा ऋषि आये, उनसे प्रार्थना की और लड़का हो गया। रानियोंमें ईर्ष्या हो गयी कि अब इस रानीका सबसे अधिक मान-सत्कार होगा, इसलिये उन्होंने मिलकर उसे विष दे दिया। लड़का मर गया और राजा व्याकुल हो गया। सब जगह शोक छा गया। नारदजी फिर आये। राजाने कहा—'महाराज! मेरे पुत्रको जीवित कीजिये।' नारदजी लड़केसे बोले—'तेरे माता-पिता रो रहे हैं, तुझे दया नहीं आती।' लड़का बोला—'महाराज! मैं किस-किसपर दया करूँ? जहाँ जाता हूँ, वहीं माता-पिता हैं।'

जीवात्मा चौरासी लाख योनियोंमें घूमता ही रहता है, वह कहीं फँसता नहीं। रुपया जहाँ जाता है, वहीं फँस जाता है। यही अर्जुनका मोह था। वह मोहवश बोला—'मैं युद्ध नहीं करूँगा, मेरे सभी नाते-रिश्तेवाले खड़े हैं।' भगवान्‌के समझानेपर अर्जुनकी समझमें आ गया और वह बोला—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा।'**

कर्मयोगके अनुसार ममता, आसक्ति, कामनाका त्याग कर अपने 'कर्तव्यके आचरण द्वारा' उपासना की जाती है, ज्ञानयोगके अनुसार 'परमात्माको जानकर' उपासना की जाती है। भक्तियोगके अनुसार 'भगवान्‌को मानकर' उपासना की जाती है। ज्ञानयोगके द्वारा जो प्राप्ति होती है, कर्मयोगके द्वारा भी उसीकी प्राप्ति होती है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
(गीता ५।५)

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।
(गीता ५।४)

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परम धाम प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है; क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है।' कर्मयोगमें भी प्रभुको मानकर उपासना होती है। संसारसे मन हटाकर चलना और भगवान्‌के पास बैठना उसकी उपासना है। थोड़ी

देर जप कर लें, पाठ-पूजन कर लें—यह असली उपासना है क्या ? असली उपासनाका तात्पर्य है, हर समय उसीमें लगन हो। जैसे परिवारमें हर समय मन लगा रहता है, वैसे ही हर समय चलते-फिरते परमात्मामें लगन होनी चाहिये। यही सच्ची उपासना है। इसकी सिद्धि अवश्य होती है। यह मनुष्य-शरीर इसीलिये मिला है। संसारके लिये मिला होता तो संसारकी सिद्धि हो जाती; किंतु सिद्धि नहीं हुई। अतः परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीर है, उसीकी उपासना करनी चाहिये। उपासनाका प्रभाव छिपाये छिप नहीं सकता। किसीने कहा है—

भजन करो पातालमें प्रगट होय आकाश।
दाबी दुर्बा ना रहे कस्तूरीकी बास॥

जिसने परमात्माकी ओर चलना प्रारम्भ कर दिया अथवा जिसने परमात्माको प्राप्त कर लिया, उसका आचरण बदल जाता है। उसके शरीरमें, बल-बुद्धिमें अन्तर आ जाता है। उसके प्रभावसे वायुमण्डल वैसा ही बन जाता है, प्रकृति स्वयंको सफल मानती है। संसारकी चीजें उसके काममें आ जायँ तो अपनेको सफल मानती हैं। एक बार श्रद्धेय श्रीसेठजीने कहा था—'गीताप्रेसका प्रभाव इसीलिये है कि उससे भगवान्‌का इतना प्रचार होता है और दुनियाको शान्ति मिलती है। इसीलिये लोग सोचते हैं कि उसमें हमारी सेवा लग जाय, थोड़ा समय लग जाय तो हम निहाल हो जायँ।' भक्तोंके कारण ही तीर्थ बस जाते हैं। उपासनाका प्रभाव पशु-पक्षियोंपर भी पड़ता है।

उपासनाका तत्त्व

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका एक पुराना लेख)

शास्त्र और महात्माओंके अनुभवसे यह सिद्ध है कि साकार और निराकार दोनों प्रकारके उपासकोंको परम गति प्राप्त हो सकती है। साकारके उपासकको सगुण भगवान्‌के दर्शन भी हो सकते हैं, निराकारके उपासकको उसकी इच्छा न रहनेके कारण नहीं होते। साकार ईश्वरकी उपासना ईश्वरका प्रभाव समझकर की जानेसे सफलता शीघ्र होती है। साकार ईश्वरके प्रभावको समझनेका यही मतलब है कि साधक उस एक ईश्वरको ही सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् समझे। जिस शिव या विष्णुरूपकी वह उपासना करे, उसके लिये उसे यह न समझना चाहिये कि मेरा इष्टदेव ईश्वर केवल इस मूर्तिमें ही है, और कहीं नहीं है। ईश्वरमें इस तरहकी परिमित बुद्धि एक तरहका तामस ज्ञान है। गीता अध्याय १८ श्लोक २२में इसकी निन्दा की गयी है। इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्तिपूजा नहीं करनी चाहिये अथवा कोई भाई सरलभावसे तत्त्व न समझकर केवल मूर्तिमात्रमें ईश्वर समझकर ही उसकी उपासना न करें। सर्वथा उपासना न करनेकी अपेक्षा किसी भी भाँतिसे उपासनामें प्रवृत्त होना उत्तम ही है; परंतु यह ज्ञान अल्प होनेके कारण इससे की हुई उपासनाका फल बहुत देरसे होता है। अल्पज्ञानकी उपासनामें यदि हानि है तो केवल यही है कि इसकी सफलतामें विलम्ब हो जाता है; क्योंकि इसमें उपासक उपास्य वस्तुका महत्त्व कम कर देता है।

कोई अग्निका उपासक यज्ञके लिये अग्नि प्रज्वलित करके यदि यह मान ले कि बस, यही इतनी ही दूरमें अग्नि है, और कहीं नहीं है, तो इससे वह अग्निका महत्त्व कम करता है; वह एक व्यापक वस्तुको छोटी-सी सीमामें बाँध देता है। इसके विपरीत जो उपासक यह समझता है कि अग्नि वास्तवमें सर्वत्र व्यापक है; परंतु अव्यक्त होनेके कारण सब जगह दीखता नहीं, प्रकट होनेपर ही दीखता है, और चेष्टा करते ही वह प्रकट हो सकता है। वस्तुतः अभाव होता तो वह किसी भी जगह किसी भी वस्तुमें प्रकट कैसे होता! जैसे प्रज्वलित अग्नि हवनकुण्डमें दीखता है, परंतु है सर्वत्र; इसी प्रकार भगवान् भी निराकार रूपसे सर्वत्र समभावसे व्याप्त हैं, भक्तके प्रेमसे साकार रूपसे प्रत्यक्ष होते हैं। निराकार ही साकार है और साकार ही निराकार है, इस प्रकार समझना ही साकारका प्रभाव समझना है। असलमें ईश्वरके साथ अग्निकी तुलना नहीं की जा सकती। यह तो एक दृष्टान्तमात्र है; क्योंकि अग्नि परमात्माकी भाँति सर्वव्यापी नहीं है। एक स्थानमें पाँच वस्तुएँ सर्वव्यापी नहीं हो सकतीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि अपने-अपने रूपमें स्थित हैं। पृथ्वीका प्रधान गुण गन्ध है, अग्निका रूप है। सर्वव्यापी परमात्मा तो कारणका भी महाकारण है, इसलिये वह सबमें स्थित है। कार्य कभी सर्वव्यापी नहीं होता, व्यापक कारण होता है। जगत्‌का कारण प्रकृति है; परंतु परमात्मा तो उसका भी कारण होनेसे महाकारण है। प्रकृति जड होनेसे अपने जड कार्यको

कारण हो सकती है; परंतु वह चैतन्य परमात्माका कारण नहीं हो सकती। अतएव परमात्मा ही सबका महाकारण है, वही जड-चेतन सबमें सदा पूर्णरूपसे स्थित है। सबके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। वह नित्य अनादि है।

निराकार ब्रह्मका स्वरूप सत्, विज्ञान, अनन्त, आनन्दघन है। 'सत्' उसे कहते हैं, जिसका कभी अभाव या परिवर्तन न हो, जिसमें कभी कोई विकार न हो और जो सदा एकरस एकरूप रहे। 'विज्ञान'से बोध, चेतन, शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। 'अनन्त' उसे कहते हैं, जिसकी कोई सीमा न हो, कोई माप-तौल न हो, जिसका कहीं आदि-अन्त न हो, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और महान्-से-महान् हो एवं समस्त संसार जिसके एक अंशमें स्थित हो। 'आनन्दघन'से केवल आनन्द-ही-आनन्द समझना चाहिये। 'घन'का अर्थ यह है कि उसमें आनन्दके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुके लिये किसी प्रकार भी अवकाश नहीं है। जैसे बर्फमें जल घन है, इसी प्रकार परमात्मा आनन्दघन है। बर्फ तो साकार जड कठोर है, परंतु परमात्मा चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, निराकार है। इस प्रकारका निराकार परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है।

परमात्माकी आनन्दरूपताका वर्णन नहीं हो सकता; वह अनिर्वचनीय है। यदि आपको किसी समय किसी कारणसे महान् आनन्दकी प्राप्ति हुई हो तो उसे स्मरण कीजिये। उससे बड़ा आनन्द वह है, जो सच्चे मनसे किये हुए सत्सङ्ग, भजन या ध्यानद्वारा उत्पन्न होता है, जिसका वर्णन गीताके अध्याय १८ श्लोक ३६, ३७में है। इस सुखके सामने भोग-सुख सूर्यके सामने खद्योतके सदृश भी नहीं है। परंतु यह सुख भी उस परम आनन्दरूप ब्रह्मका एक अणुमात्र ही है; क्योंकि ब्रह्मानन्दके अतिरिक्त अन्य आनन्दघन नहीं है। सब एक सीमामें हैं और उनमें दूसरोंका अवकाश है।

इसी आनन्दरूप परमात्माका सब विस्तार है। इस परमात्मामें संसार वैसे ही समाया हुआ है, जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब। वास्तवमें है नहीं, समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। दर्पण तो जड और कठोर है; परंतु वह परमात्मा परम सुखरूप होनेपर भी चेतन है तथा वह इस प्रकार घनरूपसे व्याप्त है कि उसकी किसीसे तुलना ही नहीं की जा सकती। उसकी घनता किसी पत्थर, शिला, बर्फ आदि-जैसी नहीं है। इनमें तो अन्य पदार्थोंके लिये गुंजाइश भी है परंतु उसमें किसीके लिये कुछ भी गुंजाइश नहीं है। जैसे इस शरीरमें 'मैं' (आत्मा) इतना सूक्ष्म घन है कि उसके अंदर दूसरेको कभी स्थान नहीं मिल सकता। शरीर, मन, बुद्धि आदिमें किसी दूसरेका प्रवेश हो सकता है; परंतु उस आत्मामें किसीका प्रवेश किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वह सर्वव्यापी निराकार परमात्मा भी घन है।

उसकी चेतना भी विलक्षण है। इस शरीरमें जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब जड हैं और उनको जाननेवाला चेतन है। जो पदार्थ किसीके द्वारा जाना जाता है, वह जड है, दृश्य है। वह आत्माको नहीं जान सकता। हाथ-पैर आत्माको नहीं जानते, पर आत्मा उनको जानता है। वही सबको जानता है। ज्ञान ही उसका स्वरूप है। वह ज्ञान ही परमेश्वर है, जो सब जगह है। ऐसी कोई जगह नहीं है जो उससे रहित हो। इसीसे श्रुति उसे कहती है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।'**

वही ब्रह्म भक्तोंके प्रेमवश उनके उद्धारार्थ साकाररूपसे प्रकट होकर उन्हें दर्शन देते हैं। उनके साकार रूपोंका वर्णन मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है; क्योंकि वे अनन्त हैं। भक्त जिस रूपसे उन्हें देखना चाहता है, वे उसी रूपमें प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन देते हैं। भगवान्का साकार रूप धारण करना भगवान्के अधीन नहीं, प्रेमी भक्तोंके अधीन है। अर्जुनने पहले विश्वरूप-दर्शनकी इच्छा प्रकट की, फिर चतुर्भुजकी और तदनन्तर द्विभुजकी। भक्तभावन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उसके इच्छानुसार थोड़ी ही देरमें तीनों रूपोंसे दर्शन दे दिये और उसे निराकारका भाव भी भलीभाँति समझा दिया। इसी प्रकार जो भक्त परमात्माके जिस स्वरूपकी उपासना करता है, उसको उसी रूपके दर्शन हो सकते हैं।

अतएव उपासनाके स्वरूप-परिवर्तनकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान् विष्णु, राम, कृष्ण, शिव, नृसिंह, देवी, गणेश आदि किसी भी रूपकी उपासना की जाय, सब उसीकी होती है। भजनमें कुछ भी बदलनेकी जरूरत नहीं है। बदलनेकी जरूरत है, यदि परमात्मामें अल्पबुद्धि हो तो उसकी। भक्तको चाहिये वह अपने इष्टदेवकी उपासना करता हुआ सदा यह समझता रहे कि मैं जिस परमात्माकी उपासना करता हूँ, वही परमेश्वर निराकाररूपसे चराचरमें व्यापक है, सर्वज्ञ है, सब कुछ उसीकी दृष्टिमें हो रहा है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी,

सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन मेरा इष्टदेव परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये उनके इच्छानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारणकर अनेक लीला करता है। इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवाले पुरुषके लिये परमात्मा कभी अदृश्य नहीं होते और न वह कभी परमात्मासे अदृश्य होता है।

श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता; क्योंकि वह एकीभावसे मुझमें ही स्थित है।' निराकार-साकारमें कोई अन्तर नहीं है। जो भगवान् निराकार हैं, वही साकार बनते हैं।

भगवान् कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४। ६)

'मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा और सब भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमाया-से प्रकट होता हूँ।' क्यों प्रकट होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर भी भगवान् ही देते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषोंका उद्धार और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करने तथा धर्म-स्थापनके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

इस प्रकार अविनाशी निर्विकार परमात्मा जगत्‌के उद्धारके लिये भक्तोंके प्रेमवश अपनी इच्छासे आप अवतीर्ण होते हैं। वे प्रेममय हैं। उनकी प्रत्येक क्रिया प्रेम और दयासे ओतप्रोत है। वे जिनका संहार करते हैं उनका भी उद्धार ही करते हैं। उनका संहार भी परम प्रेमका ही उपहार है; परंतु अज्ञ जगत् उनके दिव्य जन्म-कर्मोंकी लीलाका यथार्थ रहस्य न समझकर नाना प्रकारके संदे[ह] करता है। भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(गीता ४। ९)

'हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रका[र] जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीर त्यागकर फि[र] जन्मको नहीं प्राप्त होता, वह तो मुझे ही प्राप्त होता है।'

सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतोंके परम गति और परम आश्रय हैं। वे केव[ल] धर्मकी स्थापना और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूपसे प्रकट होते हैं। अतएव उन परमेश्वरके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है—यों समझकर जो पुरुष उनका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित होकर संसारमें बर्तता है, वही वास्तवमें उनको तत्त्वसे जानता है। ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुषको इस दुःखरूप संसारमें फिर कभी लौटक[र] नहीं आना पड़ता।

भगवान्‌के जन्म-कर्म कैसे दिव्य हैं, इस तत्त्वको जो समझ लेता है, वही सच्चा भाग्यवान् पुरुष है। उज्ज्वल, प्रकाशमय, विशुद्ध, अलौकिक आदि शब्द दिव्यके पर्यायवाची हैं। भगवान्‌के जन्म-कर्मोंमें ये सभी घटते होते हैं। उनके कर्म संसारमें विस्तृत होकर सबके हृदयों[पर] असर करते हैं; कर्मोंकी कीर्ति ब्रह्माण्डभरमें छा जाती है; जो उनका स्मरण-कीर्तन करते हैं, उनका हृदय भी उज्ज्वल बन जाता है। इसलिये वे उज्ज्वल हैं। उनकी लीलाका जितना ही अधिक विस्तार होता है, उतना ही अन्धकारका नाश होता है। जहाँ सदा हरि-लीला-कथा होती है, वहाँ ज्ञान-सूर्यका प्रकाश छा जाता है, पाप-तापरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है; इसलिये वे प्रकाशमय हैं। उनके कर्मोंमें किसी प्रकारका स्वार्थ या अपना प्रयोजन नहीं है, कामना नहीं है, किसी पापका लेश नहीं है, मलरहित हैं, इसलिये वे शुद्ध हैं। उनके-जैसे कर्म जगत्‌में कोई नहीं कर सकता। ब्रह्मा-इन्द्रादि भी उनके कर्मोंको देखकर मोहित हो जाते हैं। जगत्‌के लोगोंकी कल्पनामें भी जो बात नहीं आ सकती, जो बिल्कुल असम्भव है, उसको भी वे सम्[भव]

कर देते हैं; अघटन घटा देते हैं। जीवन्मुक्त या कारक—इन सबकी अपेक्षा भी अद्भुत हैं, इसलिये वे अलौकिक हैं। उनका अवतार सर्वथा शुद्ध है। अपनी लीलासे ही आप प्रकट होते हैं। वे प्रेमरूप होकर ही सगुणरूपमें प्रकट होते हैं। प्रेम ही उनकी महिमामयी मूर्ति है, इसलिये प्रेमी पुरुष ही उनको पहचान सकते हैं। इस तत्त्वको समझकर जो प्रेमसे उनकी उपासना करते हैं, वे भाग्यवान् बहुत ही शीघ्र उन प्रेममयके प्रेमपूर्ण वदनारविन्दका दर्शन कर कृतार्थ होते हैं। अतएव शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा—सब उनके चारु चरणोंमें अर्पण कर दिन-रात उन्हींके चिन्तनमें लगे रहना चाहिये। उनका प्रेमपूर्ण आदेश और आश्वासन स्मरण कीजिये—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

(गीता १२। ८)

'मुझमें मन लगा दो, मुझमें ही बुद्धि लगा दो। ऐसा करनेपर मुझमें ही निवास करोगे अर्थात् मुझको ही प्राप्त होओगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

वेदोक्त उपासना सुरत-शब्द-योग

(लेखक—डॉ० श्रीसम्पूर्णानन्दजी)

वेद हिंदुओंकी तो अक्षय और अमूल्य निधि है ही, वह मनुष्यमात्रकी सम्पत्ति है। वेदने स्वयं डिंडिमघोषके साथ इस बातको कहा है—

इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां वैश्याय च शूद्राय स्वाय चारणाय च।

'यह कल्याणमयी वाणी सब मनुष्योंके लिये है। इसका उपदेश सबको दिया जाना चाहिये। ब्राह्मण और क्षत्रियको, वैश्य और शूद्रको, अपनेको और परायेको।' 'पराया' शब्द इतना व्यापक है कि इसके अन्तर्गत मनुष्यमात्रकी गणना हो सकती है। अधिकारीभेदसे शिक्षा-दीक्षामें थोड़ा-बहुत भेद अवश्य करना होता है, परंतु ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो किसी-न-किसी अंशमें वैदिक आदेश और उपदेशकी परिधिके पूर्णतया बाहर हो।

वैदिक वाङ्मयके स्थूल रूपसे तीन विभाग किये जाते हैं—ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड और कर्मकाण्ड। पाश्चात्य विद्वानोंने वेदका अध्ययन करके कुछ विचित्र निष्कर्ष निकाले हैं और यह देखकर कि भारतीय विद्वानोंने भी उनका अनुकरण किया है, चित्तकी विचित्र स्थिति होती है, न हँसते बनता है न रोते। पश्चिमी विद्वानोंके सामने उनके यूरोपीय अनुभव थे। यूरोपमें सैकड़ों वर्षोंतक उस प्रवृत्तिका बोलबाला था जिसे 'कोलेस्टिसिज्म' कहते हैं। बड़े-बड़े विद्वानोंने अपनी सारी शक्ति बाइबिलकी शाब्दिक मीमांसामें लगायी है। बाइबिलके शब्दोंसे खींचकर जो अर्थ निकाले गये, उनके बाहर जाना घोर अधर्म था। जिसने भी किसी ऐसी बातको कहनेका साहस किया, वह ईश्वरकी स्पष्ट वाणीके तिरस्कार करनेका दोषी ठहराया गया और उसके लिये वधसे हल्का किसी प्रकारका दण्ड दिया जाय, यह सम्भव नहीं था। इसी धारणाका यह परिणाम था कि जियाडेनो बूनो यह कह देनेके लिये जला दिये गये कि पृथिवी अचल नहीं है वरं सूर्यकी परिक्रमा करती है। ऐसी ही बात कहनेके लिये गेलिनियोंको भी प्राणदण्ड मिलनेका था, परंतु उस ८० वर्षके बुड्ढेने पोपसे क्षमा माँगकर अपना प्राण बचाया। कभी-कभी तो ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती थीं जो बड़ी हास्यास्पद होती थीं। सन् १७९९ के ३१ दिसम्बरको पोपकी ओरसे यह घोषणा निकली कि बुधसे लेकर शनितक जिन ग्रहोंके नाम बाइबिलसे सम्पुष्टि पाते हैं, उनके सिवा कोई अन्य ग्रह नहीं हैं। ईश्वरने किसी और ग्रहकी सृष्टि की ही नहीं। इसके ठीक दूसरे दिन अर्थात् १ जनवरी १८०० को अवान्तर ग्रहपुञ्जके एक ग्रहके दर्शन हुए, जिससे यह स्पष्ट हो गया कि ईश्वरने बाइबिलमें उल्लिखित ग्रहोंके अतिरिक्त दूसरे पिण्डोंका भी सर्जन किया है, जिनका चर्चा उसने अपनी वाणीसे बाइबिलमें नहीं किया। ऐसा अन्धेर बहुत दिनोंतक नहीं चल सकता। एक ओर विज्ञानकी उन्नति होने लगी, दूसरी ओर ग्रीक दार्शनिकोंके ग्रन्थोंके अनुवाद निकलने लगे। मानवबुद्धिपर जो अर्गलाएँ जकड़ी हुई थीं, वे क्रमशः टूट गयीं। स्वतन्त्र विचारका मार्ग खुल गया और विचारकोंने ऐसी बातोंको कहना आरम्भ किया, जिनका किसी प्रकार भी बाइबिलसे सामञ्जस्य बैठाना असम्भव हो गया।

पाश्चात्य विद्वानोंने अपने इसी अनुभवके अनुसार भारतीय वाङ्मयको भी देखना आरम्भ किया। एक

ओर उनकी दृष्टि वेदके संहिता-भाग और उसपर आधारित मीमांसादर्शन तथा कर्मकाण्डकी पुस्तकोंपर पड़ी, दूसरी ओर उन्होंने उपनिषदोंका अध्ययन किया। उनको ऐसा लगा कि दोनोंमें कोई सामञ्जस्य नहीं है और उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि बहुत दिनोंतक कर्मकाण्डकी शृङ्खलामें बँधी हुई भारतीय बुद्धिमें एक दिन विद्रोहकी लहर उठी होगी और यह नव-जाग्रत्-चेतना उपनिषदोंके रूपमें अभिव्यक्त हुई होगी। कर्मकाण्डकी जगह ज्ञानकाण्डमें नहीं है। स्पष्ट रूपसे यह भले ही न कहा गया हो कि कर्मकाण्ड हेय और त्याज्य है, परंतु उपनिषद् खुले शब्दोंमें इस बातको सूचित करते हैं कि कर्मकाण्ड मनुष्यको ज्ञान नहीं दे सकता और मोक्षकी ओर नहीं ले जा सकता। वह नीचे स्तरके अधिकारियोंके लिये ही है। यह बात भी चित्तसे ओझल कर दी गयी कि ज्ञानकाण्डके सबसे बड़े प्रसारक भगवत्पाद शंकराचार्यने वेदान्तदर्शनके प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'के भाष्यमें ही यह स्पष्ट कर दिया है कि जिसने श्रुतिसम्मत कर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया, वह ज्ञानका अधिकारी नहीं हो सकता।

भ्रमका एक और कारण भी था। दीर्घकालतक बौद्ध और जैन-शास्त्रोंके प्राबल्यके कारण यागादिका चलन बहुत उठ गया था और इन क्रियाओंके समर्थक संहिताभागका बहुत ह्रास हो चुका था। सायणने जिस वेदभाष्यकी रचना की, वह बहुमूल्य ग्रन्थ है, परंतु वह भाष्य केवल यज्ञपरक है। उसमें वेदमें निहित रहस्योंके चर्चाका प्रायः अभाव है। जिन मन्त्रोंका सीधा अर्थ नहीं निकलता, वहाँ व्याकरणकी दृष्टिसे समझानेका प्रयत्न किया गया है। उदाहरणके लिये ऋग्वेदका यह मन्त्र लीजिये।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥
(ऋग्वेद ४। ५८। ३)

'एक वृषभ है, जिसकी चार सींगें हैं, तीन पाँव हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं। तीनसे बँधा हुआ है, इस महान् देवने मनुष्योंमें प्रवेश किया।' ऐसा विलक्षण जीव पृथिवीपर तो कहीं है नहीं और यह मानना कि यह मन्त्र संस्कृत व्याकरणसे सम्बन्ध रखता है, वेदके अर्थको संकुचित करना है। इसमें तो कोई ऐसा रहस्य होना चाहिये जो मनुष्यमात्रसे सम्बद्ध हो। यह एक उदाहरणमात्र है। ऐसे अनेक मन्त्र हैं। अग्नि, मरुत्, यम, इन्द्र आदि शब्दोंके कोई गम्भीर अर्थ होने चाहिये। उस गम्भीर अर्थकी कुछ झलक उन विद्याओंके वर्णनमें मिलती है, जिनका उपनिषदोंमें उल्लेख है। उपनिषद् किसी बौद्धिक विद्रोहके परिणाम नहीं हैं। जो रहस्य संहिता-भागमें है, वही उपनिषदोंका आधार है। निरुक्तकारने कहा है कि 'अनृषि', जो ऋषि नहीं है, वह वेदार्थको नहीं समझ सकता। ऋषि बनकर योगके दीपकको लेकर वेदार्थमें प्रवेश करनेका प्रयत्न नहीं किया गया, इसीलिये संहिता-भाग नीरस और निष्प्रयोजन प्रतीत होने लगा। उपनिषद्-भाग बहुत कुछ बुद्धिगम्य है। उसके अध्ययन-अध्यापनपर जोर दिया जाने लगा; परंतु संहिता-भाग पीछे पड़ गया। यदि किसीकी आत्माको ऐसा माननेसे संतोष होता हो कि हमारे पथिकृत् ऋषि और मनु," जिन्होंने हमारी संस्कृति और सभ्यताकी नींव डाली,—आग, हवा, पानी-जैसी प्राकृतिक शक्तियोंके उपासक थे, तो वह दयाका पात्र होगा।

उपासनाके क्षेत्रमें इस देशमें बहुत-से प्रयोग देखनेमें आये। कुछका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूपसे वेदोंसे है, कुछके आधार आगम हैं। परंतु सत्र बात यह है कि जितने भी सम्प्रदाय निकले, जितनी भी उपासना-पद्धतियाँ निकलीं, उन सबका आधार वेद है। तन्त्रकी कोई निन्दा करता है, कोई प्रशंसा; परंतु उभय पक्षको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वेदमन्त्रोंमें मुख्यरूपसे देवोंकी नहीं, प्रत्युत देवताओंकी उपासना है। देवता स्त्रीलिंग शब्द है। किसी मन्त्रकी देवता इन्द्र है, किसीकी विष्णु, किसीकी रुद्र। वाक्य-विन्यासका यह रूप ही इस बातको इङ्गित करता है कि इन मन्त्रोंमें विष्णु या इन्द्र-जैसे देवोंकी ओर लक्ष्य नहीं है। प्रत्येक मन्त्रकी देवताका नाम इस बातकी ओर संकेत करता है कि उस मन्त्रकी यथाविधि उत्थापनासे तत्-तत्-शक्ति उद्बोधित होती है। रौद्री शक्ति, वैष्णवी शक्ति, ऐन्द्रीय शक्तिका उद्बोधन, ऊर्जाके तत्-तत्-रूपको जगाना ही मन्त्रका उद्देश्य है। विश्वमें शक्तिका अपार, अगाध समुद्र उद्वेलित हो रहा है। विशेष प्रकारकी साधनासे उस शक्तिका कोई अंश किसी रूपविशेषमें, किसी स्थानविशेषपर, किसी साधक-विशेषके द्वारा प्रकट हो जाता है। यही तान्त्रिक साधनाका रहस्य है। शक्तियोंके नाम भिन्न हों, प्रक्रियाएँ भी कुछ भिन्न हों, परंतु बात वही है जो वेदमें कही गयी है। इन्द्र आदि

देवोंका महत्त्व यही है कि उन्होंने किसी पुराकल्पमें साधनाके द्वारा तत्-तत्-शक्तिका संचय और साक्षात्कार किया है। इन्द्र वह व्यक्ति हैं, जिसमें ऐन्द्रीयशक्ति विशेष रूपसे उद्बोधित हुई है। वेदमें उतनी महत्ता शक्तिमान्की नहीं है, जितनी शक्तिकी है।

आज उपासनाके जितने प्रकार देख पड़ते हैं और उपासनाके विभिन्न प्रकारोंको लेकर जो इतने सम्प्रदाय चल पड़े हैं, उन सबका उद्गम वेदसे है। उदाहरणके लिये उस उपासनाको लीजिये, जिसका विधान द्विजमात्रके लिये किया गया है। मेरा तात्पर्य संध्या-वन्दनसे है। प्रत्येक द्विजसे यह आशा की जाती है कि वह दो बार संध्या करेगा। मनुने यहाँतक कहा है कि—

नानुतिष्ठति यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

'जो प्रातःकाल और सायंकाल संध्या नहीं करता, उसे द्विजोंके सब अधिकारोंसे बहिष्कृत कर देना चाहिये।' संध्याके दो-तीन मुख्य अङ्ग हैं। इनमें सबसे ऊँचा स्थान प्राणायाम और गायत्री-जपका है। भले ही योगीजन प्राणायामका अभ्यास करते हों, परंतु थोड़ा-सा प्राणायाम प्रत्येक व्यक्तिको संध्याके द्वारा करना होता है। इसका अभ्यास डाला जाता है और फिर गायत्रीका जप करना होता है। एकाग्रचित्त होकर ही श्रद्धाके साथ यह जप हो सकता है; क्योंकि जो व्यक्ति बिना अर्थके जाने मन्त्रका जप करता है, उसका जप निरर्थक होता है। आज लोग बिना अर्थके समझे ही जप कर डालते हैं, परंतु मन्त्र स्पष्ट कहता है कि—

तत् सवितुः वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
(यजुर्वेद)

'मैं उस देव सविताके श्रेष्ठ तेजका ध्यान करता हूँ।' ध्यान अनेकाग्र चित्तसे नहीं हो सकता। आगे चलकर कोई योगाभ्यास करे या न करे, परंतु उपनयनकी तिथिसे ही चित्तको एकाग्र करके दिव्य तेजपर स्थिर करनेकी आदत डाली जाती है। यदि विचार करके देखा जाय तो जितने प्रकारकी उपासना-शैलियाँ हैं, उन सबका सूत्रपात यहींसे होता है। एक और बात महत्त्वकी है। उपासकको अपने उपास्यसे क्या वरदान माँगना चाहिये? खाना-कपड़ा आदि संसारी वस्तुओंके लिये हाथ फैलाना अशोभन है। वेदके अनुयायी यही कहते हैं कि मैं जिस तेजका ध्यान करता हूँ 'धियो यो नः प्रचोदयात्'—जो मेरी बुद्धिको प्रेरित करे। बराबर यही प्रार्थना दूसरे-दूसरे शब्दोंमें दूसरे-दूसरे मन्त्रोंमें दुहरायी गयी है।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।
(ऋग्वेद १।८९।१)

'चारों ओरसे हमारे मनमें कल्याणकारी विचार उठे।' 'शिवसंकल्पमस्तु' (यजुर्वेद)—हमारे संकल्प कल्याणकारी हों। संसारी वस्तुएँ तो अपने कर्मोंके फलस्वरूप मिल ही जायँगी। उनको माँगनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि बुद्धि ईश्वरप्रेरित रही, शुद्ध रही, कल्याणकारी संकल्पोंसे युक्त रही, तो यह जन्म पवित्र होगा, अगला जन्म पवित्र होगा और मोक्षका मार्ग भी प्रशस्त होगा।

उपासनाके सम्बन्धमें श्रुतिने स्वयं कई जगह स्पष्ट आदेश दिये हैं। पहली बात तो यह कही गयी है कि जो व्यक्ति 'अविरतो दुश्चरितात्' और अशान्त-मानस होगा उसको सिद्धि नहीं हो सकती। जो व्यक्ति सत्-चरित्र नहीं है और जिसका अन्तःकरण शान्त नहीं है, वह उपासनाकी नीची भूमिकाओंमें भी प्रवेश नहीं कर सकता। अशान्त-मानसके विषयपर विद्यारण्यने पञ्चदशीमें बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने कहा है कि जगत्में कुछ द्वैत तो ईश्वरकृत है और कुछ जीवकृत। प्रत्येक जीव, चाहे वह प्रत्यक्षरूपसे दुराचारी न हो, परंतु बैठे-बैठे कल्पनाओंके जगत्का निर्माण किया करता है और इस कल्पनाजगत्के द्वारा वह अपनी बहुत-सी वासनाओंकी आंशिक तृप्ति कर लेता है। वे मानसिक जगत् रोज बनते-बिगड़ते रहते हैं। यह मनुष्य-कृत द्वैत है। इनसे तात्कालिक क्षति चाहे न देख पड़े परंतु परम्परया निश्चय ही हानि होती है, जैसा कि श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(२।६२-६३)

साधारणतः मनुष्य प्रतिदिन और दिन-रात उपासनाके काममें नहीं लगा रहता। अपनी आवश्यक दिनचर्या आदिसे जो समय बचता है, उसका यापन कैसे किया जाय, इसके सम्बन्धमें बहुत ही सुन्दर उपदेश दिया गया है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—यदि देवका यजन करना है तो स्वयं देव बनना चाहिये। देव बननेका अर्थ कुछ तो

सत्-चरित्र होना है। परंतु एक बात और है। यह समझ लेना चाहिये कि देवगण क्या और कौन हैं? पुराकल्पोंके कुछ महातपस्वी ही इस कल्पके देव हैं। जिस प्रकार कि बड़ा भाई छोटे भाईका हाथ पकड़कर उसको चलना सिखलाता है, उसी प्रकार देवगण इतर जीवोंको धर्मके मार्गपर चलनेमें सहायता देते हैं। यदि वे दण्ड भी देते हैं तो जीवोंके हितके लिये। वह साधारण जीवोंके अकारण हितैषी हैं। यदि देव-यजन करना है तो इसी अर्थमें देव बनना चाहि । यथाशक्य परोपकार-रत रहना ही देव बनना है। देव शब्दका अर्थ इससे भी ऊपर जाता है। वास्तविक अर्थोंमें देवपूजा क्या है? सच्चा देव तो एक है। श्रुति (श्वेताश्वतर० ६। ११) के शब्दोंमें 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः'—जो सब प्राणियोंकी अन्तरात्मा है, वही देव है और वही एक है। वही ईश्वर है, वही परमात्मा है, वही उपास्य और पूज्य है। रुचियोंके वैचित्र्यके कारण मनुष्य उसको अनेक रूपोंमें देखते हैं और अनेक रूपोंमें उसकी उपासना करते हैं—वह सौम्य भी है और रौद्र भी। वह जगत्‌का रचयिता, पालक और संहर्ता है। यजुर्वेदके रुद्राध्यायमें उसके कुछ नाम और विशेषण गिनाये गये हैं; परंतु न उसके नामोंका, न गुणोंका अन्त है। इतना तो समझमें आता है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। परंतु वस्तुतः उसके लिये 'नेति नेति' 'यह नहीं, यह नहीं' ही कहते बनता है। मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार उसकी चाहे जिस रूपमें उपासना करे, परंतु यह जानना चाहिये कि जितने भी नाम और रूप हैं, उसके आंशिक प्रतीक हैं। कोई प्रतीक उसका यथावत् निरूपण नहीं कर सकता। इसीलिये श्रुति कहती है 'नेदं यदिदमुपासते'—यह जिसकी उपासना की जाती है, ब्रह्म नहीं है। यह बात उपासकको सदैव अपने चित्तमें रखनी चाहिये। उसका लक्ष्य यह होना चाहिये कि मैं इस प्रतीकके बहाने ब्रह्म अर्थात् परमात्माकी उपासना कर रहा हूँ। यह प्रतीक ब्रह्मका शुद्ध और सम्पूर्ण रूप नहीं है। ब्रह्म तक पहुँचनेकी एक सीढ़ी है, जिसको एक दिन परित्याग करना होगा। एक जगह स्वामी रामतीर्थने कहा है कि उपासनाकी तीन भूमिकाएँ हैं 'तस्यैवाहम्, तवैवाहम्, त्वमेवाहम्' 'मैं उसका ही हूँ, मैं तुम्हारा ही हूँ, मैं तुम्हीं हीं हूँ'। सारी उपासनाका लक्ष्य है कि यह 'त्वमेवाहम्' मैं तुम्ही हूँ,—यह स्थिति प्राप्त हो जाय। इसीलिये विद्यारण्यने कहा है कि जबतक 'ब्रह्म है' ऐसा ज्ञान रहता है, तबतक वह ज्ञान परोक्ष—निम्नकोटिका है। साधना सफल हुई, उपासना फलवती हुई। इसका निष्कर्ष यह है कि ज्ञानका स्वरूप ब्रह्म है, सबसे बदलकर 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा हो जायगा।

उपासना कैसे की जाय? इसके सम्बन्धमें भी श्रुतिने पर्याप्त संकेत किये हैं। उदाहरणके लिये 'छान्दोग्य उपनिषद्'में कई विद्याओंका उल्लेख है। इनमेंसे अधिकांशका लोप-सा हो गया है। भले ही पण्डितवर्ग इनकी शाब्दिक विवेचना कर दें, परंतु इनका अभ्यास नहीं होता। हाँ, एक शैली ऐसी है जिसका आज भी अभ्यास होता है। कई सम्प्रदाय हैं, जिन्होंने विशेषरूपसे उसको अपनाया है। यह वह शैली है, जिसका 'छान्दोग्य'में 'उद्गीथ-विद्या' के नामसे उल्लेख किया गया है। पण्डितवर्ग इससे प्रायः अनभिज्ञ है। वह शब्दोंकी व्याख्या करके अपना परितोष कर लेता है; परंतु इस विद्यामें दीक्षित और इसके द्वारा उपासना करनेवाले भी बहुत हैं। आजकल यह पुराना नाम प्रचलित नहीं है। इसका अभ्यास 'नादानुसंधान'के नामसे होता है और कबीर तथा उनके बाद आनेवाले संतमतके आचार्योंने इसका प्रचार 'सुरत-शब्द-योग'के नामसे किया है।

उद्गीथका दूसरा नाम 'प्रणव' है। यह नाम अधिक प्रचलित है। प्रणवकी व्युत्पत्ति यह है—प्रकर्षेण नूयते स्तूयते अनेन इति प्रणवः—जिसके द्वारा प्रकर्षके साथ, विशेष रूपसे स्तवन किया जा सके, वह 'प्रणव' है। पतञ्जलिने स्पष्ट ही कहा है—'तस्य वाचकः प्रणवः'—प्रणव ईश्वरका वाचक है। यों तो ईश्वर अनामी है, परंतु यदि उसका कोई नाम हो सकता है तो वह प्रणव है। तन्त्रग्रन्थोंकी संकेत भाषामें इसे 'तार' कहते हैं। प्रणवको लोग मुख्यतया ओंकारके नामसे जानते हैं। ऐसा माना जाता है कि अ, उ, म् के मिलानेसे ओ३म् बनता है और इन तीन अक्षरोंके ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि अनेक अर्थ बताये जाते हैं। यह सब तो पण्डितोंका वाग्विलास है। वस्तुतः ओंकार व्याकरणके नियमोंके अनुसार नहीं बना है। यह एक ऐसी ध्वनि है जिसका अनुभव योगीको ही होता है और वह भी अपने अभ्यासके आरम्भमें नहीं, प्रत्युत उस भूमिकामें पहुँचनेपर, जहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी सिमटकर ध्यानमात्र अवशेष रह जाता है। इस बातकी ओर 'दुर्गासप्तशती' के प्रथम अध्यायमें इन शब्दोंमें संकेत किया गया है—

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका।

सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता ।
अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ॥

'(हे भगवती !) तुम स्वाहा और स्वधा हो, तुम ही वषट्कार हो, तुम ही वाक्स्वरूपा हो, तुम अमृतस्वरूपा हो और अविनाशी, अक्षर हो, तुममें साढ़े तीन मात्राएँ हैं; तीन तो वे जो प्रत्यक्ष हैं और अर्धमात्रा वह जो नित्य है, अविनाशी है, परंतु अनुच्चार्य है ।' स्पष्ट ही यह ओंकार-का वर्णन है । इसकी प्रथम तीन मात्राएँ तो वे हैं जिनको 'अ, उ, म्'से व्यक्त करते हैं और इन तीन मात्रा-ओंके समाप्त होनेपर एक झीना दिव्य नाद शेष रह जाता है, वह अनुच्चार्य है । उसका अनुभव तो हो सकता है, परंतु न तो उसे वाणीसे व्यक्त कर सकते हैं, न लिखने-की किसी परिपाटीसे उसका संकेत कर सकते हैं। यह ॐकार हिंदुओंके ब्रह्मा आदि उपास्योंसे सम्बन्ध नहीं रखता, प्रत्युत योगसे सम्बन्ध रखता है । इसके दो प्रमाण हैं। एक तो यह कि 'छान्दोग्य-उपनिषद्'के द्वितीय खण्डके अनुसार अनुसंधान करनेके बाद देवगणने उसको मुख्य प्राणमें पाया । इस वाक्यका यही अर्थ हो सकता है कि प्राणके अभ्याससे अर्थात् योगाभ्याससे ही इसकी प्राप्ति हो सकती है । दूसरा प्रमाण यह है कि बौद्ध और जैन आम्नायोंमें भी इसका स्थान है। उनके मन्त्रोंमें भी आरम्भमें ओंकार आता है । यद्यपि साधारणतः वे लोग भी हिंदुओंकी भाँति इसके अर्थको भूल गये हैं। तिब्बतमें तो अशिक्षित लोग भी 'ओं मणि पद्मे हुम्' मन्त्रका जप करते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि 'ॐ' तथा 'हुम्'का क्या तात्पर्य है ।

ओंकारकी महिमा कठोपनिषद् (१ । २ । १५)में इस प्रकार बतायी गयी है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ।
ओमित्येतत् ।

'सब वेद जिस पदका मनन करते हैं, सब तपस्वी जिसको कहते हैं, जिसकी इच्छा करके ब्रह्मचर्य आदिका आचरण करते हैं, वह पद तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ, यह ओंकार है ।'

माण्डूक्य-उपनिषद् (१) के अनुसार—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति । सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।

'यह सब कुछ 'ओ३म्' अक्षर है । उसकी महिमा यह है कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् सब ॐकार है और त्रिकालके परे जो कुछ भी है वह भी ॐकार ही है ।

वाग्वा ओंकारो वागेव ह्यनुजानाति चिन्मयो
ह्ययमोंकारश्चिदेव ह्यनुज्ञाता ।
(नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् ८ । ६)

'वाक् ही ॐकार है । ऐसा बतलाया जाता है । यह ॐकार चिन्मय है । जाननेवाला भी चिन्मय है ।'

जैसा कि मैं अभी ऊपर कह आया हूँ, ॐकारकी अनुभूति प्रथम कल्पिक अभ्यासीको नहीं होती । अभ्यासके आरम्भमें जो नाद सुन पड़ता है, उसे 'अनाहत' कहते हैं। ऐसा नाद जो बिना दो भौतिक वस्तुओंके टकराये उत्पन्न होता है । अनाहतका नाम हिंदीमें 'अनहद' हो गया है । इस प्रकारके अनुभवका नादबिन्दु-उपनिषद् (३३-३७) में इस प्रकार वर्णन दिया है—

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥
आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवः ।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घंटाकाहलजस्तथा ॥
अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥
महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥

'जब पहले-पहल यह अभ्यास किया जाता है, तो यह नाद कई तरहका होता है और बड़े जोर-जोरसे सुनायी देता है, परंतु अभ्यास बढ़ जानेपर वह नाद धीमे-से-धीमा होता जाता है। शुरूमें इस नादकी ध्वनि समुद्र, बादल, झरना, भेरीकी तरह होती है; परंतु बादमें भ्रमर, वीणा वंशी तथा किंकिणीकी तरह मधुर होती है । इस तरहसे वह ध्वनि धीमी-से-धीमी होती हुई कई तरहकी सुनायी देती है । भेरी आदिकी ध्वनि सुननेपर उसमें धीमे-से-धीमे नादका विचार करना चाहिये । साधकको चाहिये

कि वह धीमेसे घने और घनेसे धीमे नादमें जाय और मनको इधर-उधर न भटकने दे।

संतमतके जिन महात्माओंने हिंदीमें अपने अनुभवको व्यक्त किया है, उन्होंने भी नादानुसंधानके अभ्यासीके दिव्य अनुभूतियोंका बड़े रोचक शब्दोंमें वर्णन किया है। यों तो महात्मा रामलालके शब्दोंमें 'आदि शब्द अहै ओंकारा' है, परंतु इस 'आदि शब्द'तक पहुँचनेका मार्ग कठिन होनेके साथ-साथ रोचक भी है। कठिनताके सम्बन्धमें तो पलटू साहबका यह शब्द स्पष्ट है—

'रणका चढ़ना सहज है मुश्किल करना योग।'

और इसी बातको कबीरने विस्तारसे कहा है—

साधु संग्राम है विकट बेड़ामती सती और सूर की चाल आगे।
सती संग्राम है पलक दो चार का सूर संग्राम पल एक लागे।
साधु संग्राम है रैन दिन जूझना देह परयन्तका काम भाई।
कहत कबीर टुक बाग ढीली करे उलट मन गगनसे जमीं आई।

इसी प्रसंगका एक और छन्द अवतरित करता हूँ। इसके रचयिता गुलाल साहब थे।

एकै नाम अधारा, मेरे एकै नाम अधारा हो।
परखि परखि निरखत निस वासर, जगते भयो नियारा हो।
अष्ट कमलमें जीव बसतु हैं, सतगुरु सब्द बिचारा हो।
लै कै पवन हंस जब गवन्या, त्रिकुटी मौ उजियारा हो।
पैठि पताल मूल बंद बाँधो, सुखमन सेज सँवारा हो।
निरझर झरत अमी तहँ बरखत, मनुवा तहाँ हमारा हो।
गगन मंडलमें नौबति बाजै, आठ पहर इकतारा हो।
मारयो ममता चित्त समानो, चौमुख दीपक बारा हो।
छूटी देह नेह रहि इक सो, आदो ब्रह्म बिचारा हो।
कह गुलाल साहब हम पायो, जम का करहि हमारा हो।

यह याद रखना चाहिये कि संतोंकी वाणीमें प्रणवके लिये प्रायः 'नाम' या 'सत्य नाम' शब्दका व्यवहार हुआ है।

गोरक्षके शिष्य भर्तृहरिका भी एक छन्द द्रष्टव्य—

बीज नहीं अंकूर नहीं।
नहीं रूप रेष आकार नहीं।
उदै अस्त तहाँ कह्या न जाइ।
तहाँ भरथरी रह्या समाइ॥
मारौ मयूर साधौ निंद।
सुपिनै जाता गयौ बिंद।
जुरा मरण नहीं व्यापै रोग।
कहै भरथरी घनि घनि जोग।
नादा बिंद बजाइलै दोऊ।
पुरिलै अनहद बासा॥
एकांतिका बासा सौधिले भरथरी।
कहँ गोरष मछिन्द्रका दासा।

वैदिक कालसे उपासनाका यह क्रम आजतक यथाव[त्] चला आ रहा है और ऐसा विश्वास करना चाहिये कि औ[र] सब वैदिक उपासनासम्बन्धी विद्याओंका चाहे लोप हो जाय, परंतु यह विद्या यथावत् जीवित रहेगी। शब्दों[में] हेर-फेर हो सकते हैं, परंतु जबतक कुछ भी मनुष्य ऐ[से] बचे रहेंगे, जिनकी प्रवृत्ति योगकी ओर होगी, तबतक य[ह] विद्या भी चलती रहेगी। मार्ग कठिन है, पर यही मार्ग प्रशस्त है। मोक्षका सीधा और एकमात्र द्वार है। भक्ति आदि नामसे जितनी भी पद्धतियाँ प्रचलित हैं, उन सबका इसीमें अन्तर्भाव है। निश्चय है कि इस मार्गपर चलनेके लिये वैराग्य चाहिये, सदाचार चाहिये, श्रद्धा चाहिये और गुरुभक्ति चाहिये। उपनिषद्के शब्दोंमें—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

(श्वेताश्वतर० ६। २३)

'जिस महात्मामें ईश्वरके प्रति पराभक्ति होगी और जैसी ईश्वरमें वैसी ही गुरुमें। उसपर यह सब वेदोक्त विषय आप-से-आप प्रकट हो जायँगे।'

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मुण्डक० २। ४)

'ओंकाररूपी धनुषपर आत्मारूपी तीर चढ़ाकर ब्रह्मरूपी लक्ष्यकी ओर प्रमाद छोड़कर उस तीरको चलाना चाहिये। जिस प्रकार अच्छी तरहसे चलाया हुआ तीर लक्ष्यमें प्रवेश करके अदृष्ट और तन्मय हो जाता है और तादात्म्यको प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार इस अभ्याससे आत्माको ब्रह्मसे तादात्म्य प्राप्त हो जाता है।' यही 'सुरत-शब्द-योग'का रहस्य है और वेदमें वर्णित सभी विद्याओंमें यही विद्या श्रेष्ठ है। मोक्षका इससे सुन्दर और अचूक कोई दूसरा उपाय नहीं है।

आत्माका पूर्ण जागरण और उसकी परिणति

(लेखक—पद्मविभूषण महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०)

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है कि इस जगत्में सभी (जीव) आत्माएँ प्रकृत (वास्तविक) जाग्रत् अवस्थामें नहीं हैं। वे मायिक जगत्में अज्ञानके आवरणसे आच्छन्न होकर मोहनिद्रामें निद्रित हैं। वे जबतक इस मोहनिद्रासे उठ नहीं जाते, तबतक मायातीत चिन्मय सत्ताका अनुभव नहीं कर सकते; चिन्मय दिव्य जगत्में संचरण करनेकी तो बात ही दूर रही। दूसरी ओर, इसी जगत्में ठीक ऐसे भी संयमी महापुरुषरूपी आत्मा हैं जो इस मोहमय जगत्को देखतक नहीं पाते। उन लोगोंकी दृष्टि निरन्तर चिद्भूमि-पर पड़ती रहती है। वे लोग चिदाकाश एवं उससे भी ऊपरके चिन्मयराज्यका ही सदा दर्शन करते रहते हैं—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २। ६९)

गीताके इस श्लोकमें संयमी अथवा प्रबुद्ध एवं मूढ अथवा निद्रित आत्माओंकी विशेषताका वर्णन है। इससे ज्ञात होता है कि जगत्के अधिकांश जीव ही सो रहे हैं। हमलोगोंमें प्रचलित जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—ये निद्राके ही विभिन्न भेद हैं। अर्थात् हमारी व्यवहारभूमि, जिसे हम जाग्रत् अवस्था मानते हैं, वास्तविक जाग्रत् नहीं है। वह वास्तविक ज्ञानकी दृष्टिसे निद्राके ही अन्तर्गत है। इस बातको याद रखना होगा कि मनुष्यमात्रके जीवनका लक्ष्य है—'इस मोहनिद्रासे जाग्रत् होना तथा पूर्णभावसे जाग्रत् होकर ऊर्ध्वमुखी क्रमविकासके परम फलस्वरूप जीवभावसे शिवभावमें पहुँचना एवं आत्माकी पूर्णता प्राप्त करना।'

आचार्य शंकरने अपने 'दक्षिणामूर्तिस्तोत्र'में सुस्पष्टरूपसे निर्देश किया है कि 'इस मोहनिद्रासे जो जीवको जगा देते हैं, वे ही वास्तविक सद्गुरु हैं।' जीव जिस समय पूर्णरूपसे जाग उठता है, उस समय सर्वप्रथम वह यही अनुभव करता है कि यह जगत् उसके बाहर नहीं, किंतु उसके भीतर ही है। निर्मल दर्पणमें जिस प्रकार विराट् नगर प्रतिबिम्बित होता है एवं जिस प्रकार वह प्रतिबिम्बित नगर दर्पणके अन्तर्गत है, दर्पणसे बाहर नहीं है; ठीक उसी प्रकार इस समग्र विश्वको भी आत्मारूपी निर्मल दर्पणमें प्रतिबिम्बित समझना चाहिये। वस्तुतः यह विश्वद्रष्टा आत्माके अपने ही भीतर है, बाहर नहीं है। मायाके कारण जो अन्तरकी वस्तु है, उसे अन्तर या भीतर न देखकर बाहर देखा जा रहा है। सद्गुरु जिस समय शुद्ध विद्याका संचार कर जीवको मोहनिद्रासे जगाकर उठा देते हैं, उस समय जीव अपने आत्मस्वरूपमें प्रबुद्ध होकर समग्र विश्वको अपने ही भीतर प्रत्यक्ष अनुभव करनेमें समर्थ हो जाता है। याद रखना चाहिये कि इस तथाकथित बाह्य-जगत्से आन्तर-जगत्में प्रवेश करना ही साधनाका उद्देश्य है एवं गुरुकृपा (प्राप्ति) का भी यही एकमात्र लक्ष्य है।

यह जो अन्तर्जगत्में प्रवेशकी बात कही जा रही है, इसमें क्रम है। पहले अज्ञान-जगत्से उठकर ज्ञान-जगत्में प्रविष्ट होना पड़ता है। इसपर परा संवित्से नित्यधामकी प्राप्ति होती है। अज्ञान-जगत्में अवस्थानके समय अनुभव होता है कि यह जगत् भेदज्ञानके द्वारा अनुप्राणित है। किंतु जिस समय गुरुकृपासे ज्ञानका उदय होता है, उस समय ज्ञात होता है कि वास्तविक पक्षमें ज्ञेय वस्तु बाहर कुछ नहीं है। 'ज्ञेय वस्तु बाहर है'—यह भ्रम-ज्ञान है। इस मार्गसे प्रविष्ट होनेपर दीख पड़ता है कि वस्तुतः साकार ज्ञान ही ज्ञेय पदार्थ है—यही बाह्यरूपमें अथवा स्थूलरूपमें कल्पित है। जिसे हमलोग मायाका निर्देश करते हैं, वह क्रियाशक्तिका ही नामान्तर है। इसीके प्रभावसे साकारज्ञान बाह्यपदार्थके रूपमें प्रतीत होता है। ज्ञानराज्यमें ज्ञान ही एक प्रान्तमें साकार ज्ञान या ज्ञेयरूपमें भासमान (भासित) होता है एवं अन्य प्रान्तमें यही ज्ञान ज्ञाताके रूपमें आत्मप्रकाश करता है। ज्ञानराज्यके अतिक्रमण करनेके लिये ज्ञानके इस ज्ञेयभाव तथा ज्ञानभावको दूर करना आवश्यक है। ऐसा कर लेनेपर ज्ञान विशुद्ध हो जाता है।

इस विशुद्ध ज्ञानका अवलम्बन करके ज्ञान-राज्यसे संविद्-राज्यमें प्रवेश किया जाता है। माया या अज्ञान-राज्यमें भेदज्ञान प्रबल होता है। ज्ञान-राज्यमें भी भेदाभेद-ज्ञान विद्यमान रहता है। किंतु संविद्राज्यमें भेदका लेश भी अवशेष नहीं रह जाता। यह अभेद-ज्ञानकी अद्वैत भूमि

है। यही 'तुरीय'-राज्यरूपसे वर्णित होती है। इसीके बाद अखण्ड प्रकाश है, जिसे 'तुरीयातीत' भी कहना नहीं बनता।

मनुष्य-जीवनका वास्तविक उद्देश्य है—रूपान्तर प्राप्त करना। यह कार्य गुप्तरूपसे सम्पादित होता है। इसीसे गुप्तपथसे प्रवेश करना पड़ता है। गुप्तधामके कार्य वस्तुतः रहस्य ही हैं। यह जो रूपान्तरकी बात कही गयी है, इसीका नाम 'जागरण' है। पूर्ण जागरण ही पूर्ण रूपान्तर अथवा अखण्ड प्रकाशरूपमें विश्राम है। मायाराज्यमें आत्मा भेदज्ञानसे मुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँकी विद्या अशुद्ध विद्या है। यही मायाका कञ्चुक है। इसपर कलाका नियन्त्रण भी है तथा अन्यान्य आवरण भी हैं। अन्तर्जगत्में प्रवेशका प्रथम उपाय है—शुद्ध विद्याका उन्मेष। इसके फलस्वरूप पशुत्वकी निवृत्ति होती है। पशुभावमें स्थित पुरुष संविद्-मार्गमें प्रवेशका अधिकार नहीं प्राप्त कर सकता, अर्थात् जबतक शुद्ध विद्याकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक महाशक्तिके मार्गमें प्रवेश असम्भव है।

(२)

आत्माकी विभिन्न प्रकारकी अवस्थाओंकी जानकारीके लिये प्रतीतिके भेदका विश्लेषण आवश्यक है। प्रतीतिके अनुसार ही किसी प्रमाता आत्माको अप्रबुद्ध अथवा निद्रित कहा जाता है एवं अन्य किसी प्रमाताको अप्रबुद्ध नहीं कहकर प्रबुद्ध-(जाग्रत्-) कल्प कहा जाता है।

यह विश्वभुवन (जो महामाया और मायाके अन्तर्गत) अनाश्रित शिवसे लेकर कालाग्नि-रुद्रपर्यन्त विस्तृत है अर्थात् समग्र विश्वके ऊर्ध्व शिखरपर अनाश्रित शिव विद्यमान हैं एवं सबके नीचे (अधः) भी कालाग्नि-रुद्र क्रीड़ा कर रहे हैं। यद्यपि यह विश्व प्रकाशात्मक है। इसलिये प्रकाशकी भित्तिसे संलग्न हैं, तथापि 'भवी' आत्मा अर्थात् अप्रबुद्ध जीवको लगता है कि सब कुछ उसके बाहर है। 'भव' शब्दसे यहाँ भेद-ज्ञान ही विवक्षित है। भेद-ज्ञान-सम्पन्न सिद्ध आत्मा भी 'भवी' नाम (शब्द) से ही अभिहित होता है—पुकारा जाता है। मायासे अभिभूत होनेके कारण इसे अभिन्न वस्तु (आत्मा) में ही भिन्न ज्ञान (भ्रम) हो रहा है।

इन भवी जीवोंसे ऊपर एक दूसरे प्रकारके आत्मा हैं। इन्हें भेद-ज्ञान नहीं है। किंतु भेद-ज्ञान न होनेपर भी उनपर उसका संस्कार रहता है। ऐसे जीवोंको 'भवपदी' कहकर किसी-किसीने निर्देश किया है। ये सभी जीव शुद्ध-विद्यापदमें अनुप्रविष्ट हैं और कोई-कोई सम्प्रज्ञात समाधिके स्तरमें विद्यमान हैं। ये सभी जीव शुद्धविद्याके प्रभावमें आन्तरिक संस्कारादि भिन्नके समान अनुभव करते हैं। इनमें भी दो श्रेणियाँ हैं—इनमेंसे कुछ तो बाह्य-ज्ञानशून्य होते हैं तथा किन्हीं-किन्हींको बाह्य-ज्ञान रहता है। जिनको बाह्य-ज्ञान रहता है, उन्हें परा संवित्-तत्त्वका उपदेश दिया जा सकता है। ये पशु होनेपर भी क्षेप्य पशु हैं; क्योंकि ये अधिकारी हैं। ये सब चिद् अणु यह समझते हैं कि ग्राहक एवं ग्राह्यरूपमें विश्वके दो विभाग हैं। जो अंश ग्राहक है, वह अजड एवं चिन्मय है तथा जो अंश ग्राह्य है, वह जड एवं अचित् है। अतः इस जातिका पशु मायाद्वारा मोहित नहीं होता। इसका कारण यह है कि ग्राह्य वस्तुको जड तथा अपनेसे भिन्न मानना ही माया है। ये सब पशु अपने स्वरूपको पहचान नहीं सकते—ये लोग भी पूर्ववर्णित 'भवी' आत्माके ही अन्तर्गत हैं।

दो प्रकारके प्रमाताओंकी बात बतला दी गयी। इन दोनोंमें कोई भी प्रबुद्ध नहीं है। अब इसके बाद 'प्रबुद्ध' नामक तृतीय प्रकारके प्रमातापर विचार करना है। इन सब जीवोंको 'द्विपदी' कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि एक ओर जैसे इनमें भवका संस्कार है, दूसरी ओर वैसे ही उद्भव-संस्कार भी है। ये सभी प्रमाता जीव भेदाभेद-दशामें स्थित हैं। ये लोग एक ओर जैसे जड-भावात्मक 'इदंता'का आश्रय किये रहते हैं, दूसरी ओर ठीक वैसे ही इन्हें चिद्-भावात्मक 'अहंता' प्राप्त रहती है। सुतरां इन लोगोंकी अनुभूति 'यह' और 'मैं'—इन दोनोंकी सामानाधिकरण्य होती है। अर्थात् ये लोग अहंभावमें आरोप कर अनुभवका भेदांश मिटाकर 'इदं अहं' (यह मैं हूँ)के रूपमें बोधको प्राप्त होते हैं। ये लोग अपने शरीरके समान ही विश्वको देखा करते हैं, जिससे भेद भी रहता है और अभेद भी। योगीलोग इसे ईश्वरकी अवस्था कहते हैं। यह हुआ प्रबुद्ध आत्मा-विवरण।

(शेष इसी अङ्कके पृष्ठ ६८९ से पढ़िये।)

मानव वह जो करता है मानव बन, सब जगकी सेवा।
मिलती उसे सिद्धि मानव-जीवनकी; प्रभु-प्रसाद-मेवा ॥

कस्मै देवाय हविषा विधेम

(लेखक—श्रीअरविन्द)

'कर्म और यज्ञ—परम श्रेयके साधक हैं'—'श्रेयः परम् अवाप्स्यथ'। किंतु कर्म तीन प्रकारके होते हैं; एक वह जो यज्ञके बिना वैयक्तिक सुख-भोगके लिये किया जाता है, ऐसा कर्म सर्वथा स्वार्थ और अहंकारसे भरा हुआ होता है और जीवनके वास्तविक धर्म, ध्येय और उपयोगसे वञ्चित रहता है—'मोघं पार्थ स जीवति'। दूसरा कर्म वह है जो कामनासे, पर यज्ञके साथ होता है तथा इसका भोग केवल यज्ञके फलस्वरूप ही होता है और इसलिये उस हदतक यह कर्म निर्मल एवं पवित्र होता है; और तीसरा कर्म वह है जो बिना किसी कामना या आसक्तिके किया जाता है। इसी अन्तिम कर्मसे जीव परमको प्राप्त होता है—'परमाप्नोति पूरुषः'।

'···प्रकृतिका सारा कर्म ही' अपने वास्तविकरूपमें यज्ञ है और समस्त कर्म, यज्ञ तथा तपके भोक्ता सर्वभूत-महेश्वर भगवान् हैं—

'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।'

—और इन सर्वगत एवं यज्ञमें प्रतिष्ठित भगवान्‌को जानना, 'सर्वगतं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' ही सच्चा वैदिक ज्ञान है।

'पर उसे एक निम्नतर क्रियामें, प्रकृतिमें विद्यमान दिव्य आत्माकी शक्तियोंके, देवताओंके माध्यमसे और इन शक्तियों तथा मानव आत्माके बीच शाश्वत क्रियामें भी जाना जा सकता है, जिसमें परस्पर आदान-प्रदान, परस्पर साहाय्य-संवर्धन, पारस्परिक क्रियाओं और तुष्टिका उन्नयन—एक ऐसा व्यवसाय चलता रहता है जिसमें मनुष्य परम श्रेयकी योग्यतामें उत्तरोत्तर उन्नत होता जाता है। वह जान पाता है कि उसका जीवन प्रकृतिस्थ परमेश्वरके कर्मका एक अंशमात्र है, कोई ऐसा जीवन नहीं जिसको वह अपने लिये ही धारण करे या बितावे। उसे जो भोग प्राप्त होते हैं और उसकी कामनाओंकी जो पूर्ति होती है, उन्हें वह यज्ञका फल और भागवत-क्रियारत देवताओंकी दी हुई देन समझता है तथा अब वह पापमय अहंकारपूर्ण स्वार्थपरताके मिथ्या और दुष्ट भावसे प्रेरित होकर उन भोगोंका पीछा करना छोड़ देता है और यह नहीं समझता कि 'ये भोग कोई ऐसा श्रेय हैं जिसे उसको बिना सहायताके अपने निजी बलद्वारा जीवनसे छीन लेना है, जिसके लिये उसे किसी प्रकारके प्रतिदान देने या कृतज्ञता प्रकाशित करनेकी आवश्यकता नहीं। यह भाव उसमें ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी इच्छाओंको अपने अधीन करता है, जीवन और कर्मोंका सारतत्त्व यज्ञको ही जानकर उससे संतुष्ट होता है और यज्ञावशेषको पाकर ही परितृप्त होता है। बाकी जो कुछ है उसे अपने जीवन और जगत्-जीवनके बीच परस्पर होनेवाले महान् और परम हितकर आदान-प्रदानपर स्वच्छन्द रूपसे न्योछावर कर देता है।

कर्मके इस विधानके विरुद्ध जो कोई चलता है और अपने ही वैयक्तिक पृथक् स्वार्थकी सिद्धिके नाते ही जो कर्म करता और फल-भोग करता है वह व्यर्थ ही जीता है; वह जीवनके वास्तविक अर्थ, उद्देश्य और उपयोगसे तथा जीवकी ऊर्ध्वगतिसे वञ्चित रहता है; वह उस मार्गपर नहीं है जो परम श्रेयकी ओर ले जाता है। किंतु परम श्रेयकी प्राप्ति तभी होती है, जब यज्ञ देवताओंके लिये नहीं बरं उस सर्वगत परमेश्वरके लिये किया जाता है, जो यज्ञमें प्रतिष्ठित है और देवगण जिसके निम्नतर रूप तथा शक्तियाँ हैं। और जब मनुष्य अपने काम-भोगपरायण निम्नतर आत्माका त्याग कर अपने व्यक्तिगत कर्तृत्वभावको सब कर्मोंकी यथार्थ कर्त्री प्रकृतिको तथा अपने भोक्तृत्व-भावको सब कर्मोंके यथार्थ भोक्ता परमेश्वर, परमात्मा, जगदात्माको अर्पण कर देता है, उसी परमात्मस्थितिमें, अपने किसी व्यक्तिगत भोगमें नहीं, वह अपना ऐकान्तिक संतोष, परम तृप्ति और विशुद्ध आनन्द लाभ करता है। उसे तब कर्म और अकर्मसे कुछ लेना-देना नहीं रह जाता। वह किसी भी पदार्थके लिये न तो देवताओंका आश्रित रहता है और न मनुष्योंका। किसीसे वह किसी अर्थकी अभिलाषा नहीं करता; क्योंकि वह स्वात्मानन्दसे पूर्ण परितृप्त रहता है; पर फिर भी वह केवल भगवान्‌के लिये आसक्ति या कामनासे रहित होकर यज्ञरूपसे कर्म करता है। इस प्रकार वह समत्वको प्राप्त होता है और प्रकृतिके त्रिगुणसे मुक्त 'निस्त्रैगुण्य' हो जाता है। उसका आत्मा, जब वह प्रकृतिकी कर्मधारामें कर्म करता होता है तब भी, प्रकृतिकी अस्थिरतामें नहीं, बरं अक्षर ब्रह्मकी शान्तिमें स्थित रहता

है। इस प्रकार यज्ञ परमपदकी प्राप्तिमें उसका साधन-मार्ग होता है।

'·········जब कोई मुक्त अनासक्त पुरुष, यज्ञार्थ कर्म करता है तो उसके समस्त कर्मोंका लय हो जाता है—'समग्रं प्रविलीयते' अर्थात् वह कर्म उसके मुक्त, शुद्ध, सिद्ध, सम आत्मापर अपना कोई बन्धनकारक परिणाम या संस्कार नहीं छोड़ जाता।·········यहाँ (गीतामें) यज्ञसम्बन्धी जो वर्णन है वह रूपात्मक है और इस शिक्षाके द्वारा जिस यज्ञको करनेके लिये कहा गया है, वह यज्ञ आन्तरिक है। प्राचीन वैदिक पद्धतिमें सदा ही दो तरहका अर्थ रहता था—एक भौतिक और दूसरा मनोवैज्ञानिक, एक बाह्य और दूसरा प्रतीकात्मक, एक यज्ञका बाह्य अनुष्ठान और दूसरा उसकी सब विधियोंका आन्तरिक आशय। किंतु प्राचीन वैदिक ऋषियोंकी गूढ़ रहस्यमय तथा प्रतीकात्मक भाषाको, जो सर्वथा यथावत्, अद्भुत, कवित्वमय और मनोवैज्ञानिक थी, इस समयतक (गीताके कालतक) लोग भूल चुके थे और इसलिये अब गीतामें उसीके स्थानमें वेदान्त और पश्चात्कालीन योगके भावको लेकर व्यापक, सार्वजनीन और दार्शनिक भाषाका प्रयोग किया गया है। यज्ञकी अग्निसे यहाँ किसी स्थूल अग्निका अभिप्राय नहीं है, प्रत्युत वह ब्रह्माग्नि अथवा ब्रह्ममुखीन ऊर्ध्वगामिनी शक्ति, आभ्यन्तर अग्नि, यज्ञपुरोहितस्वरूप अन्तःशक्ति अभिप्रेत है। जिसमें हवन किया जाता है वह अग्नि है—आत्मसंयम या शुद्ध हुई इन्द्रियक्रिया अथवा राजयोग और हठयोगमें समानरूपसे प्रयुक्त प्राणायाम-साधनकी प्राणशक्ति। अथवा अग्नि है—आत्मज्ञानाग्नि, परम यज्ञकी अग्निशिखा। यज्ञका अवशिष्ट जो भक्षण किया जाता है, उसको कहा गया है कि वह हुतशेष अमृत है; यहाँ हमें प्राचीन वैदिक प्रतीकका कुछ अंश अभी भी बचा हुआ मिलता है, जिसमें सोमरस अमृतका भौतिक प्रतीक था—दिव्य आनन्दका वह अमरत्वदायक उल्लास, जो यज्ञसे प्राप्त होता था, देवताओंको चढ़ाया जाता और मनुष्योंद्वारा पान किया जाता था। और स्वयं हव्य है मनुष्यकी भौतिक या मनोवैज्ञानिक किसी भी शक्तिका कोई भी कर्म, जो उसके द्वारा शारीरिक क्रिया अथवा मानसिक क्रियाके रूपमें देवताओंके लिये या भगवान्के लिये, आत्माके लिये या वैश्व-शक्तियोंके लिये, अपने ही उच्चतर आत्माके लिये अथवा मानवजाति और सर्वभूतोंके अन्तरात्माके लिये उत्सर्ग किया जाता है।

यज्ञका यह (गीतामें वर्णित) विस्तृत विवरण एक ऐसी विशाल और व्यापक व्याख्याके साथ आरम्भ होता है, जिसमें यह स्पष्ट रूपसे घोषणा की गयी है कि 'यज्ञकी क्रिया, यज्ञकी अग्नि, यज्ञकी हवि, यज्ञका होता और भोक्ता, यज्ञका लक्ष्य और ध्येय—सब एक ब्रह्म ही है। अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्मके द्वारा ब्रह्माग्निमें ही अर्पित है, ब्रह्मकर्ममें समाधिके द्वारा वह ब्रह्म ही है, जिसे प्राप्त करना है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

यही वह ज्ञान है जिससे युक्त होकर मुक्त पुरुषको यज्ञ-कर्म करना होगा। 'सोऽहम्' 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म' 'अयमात्मा ब्रह्म।'—इन सब महान् वेदान्त-वाक्योंमें प्राचीनकालमें इसी ज्ञानकी घोषणा हुई है। यह अखण्ड एकत्वका ज्ञान है; वह एक है जो कर्ता, कर्म और कर्मोंके उद्देश्यके रूपमें, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके रूपमें अभिव्यक्त है। जिस विश्व-शक्तिमें कर्मकी आहुति दी जाती है, वह स्वयं भगवान् हैं; आहुति देनेकी उत्सृष्ट-शक्ति भगवान् हैं। जिस किसी वस्तुकी आहुति दी जाती है वह भगवान्का ही कोई-न-कोई रूप है। होता भी मनुष्यके अंदर स्वयं भगवान् ही हैं। क्रिया, कर्म, यज्ञ—सब गतिशील-कर्मशील भगवान् ही हैं; यज्ञके द्वारा गन्तव्य स्थान भी भगवान् ही हैं। जिस मनुष्यको यह ज्ञान है और जो इसी ज्ञानमें रहता और कर्म करता है, उसके लिये बन्धन करनेवाला कोई कर्म हो ही नहीं सकता। उसका कोई कर्म वैयक्तिक तथा अहंकारविनियुक्त नहीं होता। होता है केवल दिव्य पुरुष ही, जो अपनी दिव्य प्रकृतिद्वारा अपनी ही सत्तामें कर्म करता है और यह कर्म यही होता है कि वह अपनी आत्म-चेतन विश्वशक्तिकी अग्निमें प्रत्येक पदार्थकी आहुति देता है। और इस भगवत्-परिचालित गति और कर्मका लक्ष्य है जीवका भगवान्के साथ एकीभूत होकर भगवान्की स्थिति और चेतनाका ज्ञान प्राप्त करना और उसपर अपना अधिकार रखना। इस तत्त्वको जानना और इसी एकीकारिणी चेतनामें निवास करना एवं कर्म करना ही मुक्त होना है।

किंतु सभी योगी इस ज्ञानतक नहीं पहुँचे हैं। 'कुछ योगी दैवयज्ञ (देवताओंके प्रीत्यर्थ) करते हैं; अन्य यज्ञको यज्ञद्वारा ही ब्रह्माग्निमें हवन करते हैं।' दैवयज्ञ करनेवाले भगवान्की कल्पना विविध रूपों और शक्तियोंमें

करते हैं और विविध साधनों या धर्मोंके द्वारा, अर्थात् कर्म-सम्बन्धी सुनिश्चित विधि-विधान, आत्मसंयम और उत्कृष्ट कर्मके द्वारा उन्हें ढूँढ़ते हैं। जो ब्रह्माग्निमें यज्ञके द्वारा ही यज्ञका हवन करनेवाले हैं अर्थात् जो ज्ञानी हैं, उनके लिये यज्ञका सीधा-सादा भाव ही, अर्थात् जो कुछ भी कर्म किया जाय वह सीधे भगवान्‌को ही अर्पण कर देना, अपनी सारी वृत्तियों और इन्द्रिय-व्यापारोंको एकीभूत भागवत चैतन्य और शक्तिमें निक्षिप्त कर देना ही एकमात्र साधन है, एकमात्र धर्म है। यज्ञके साधन विविध हैं। हव्य भी नानाविध हैं। एक आत्मसंयम और आत्मानुशासनका आन्तरिक यज्ञ है जिससे उच्चतर आत्मवत्ता और आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। 'कई अपनी इन्द्रियोंको संयमाग्निमें हवन करते हैं, कई अन्य इन्द्रियाग्निमें विषयोंका हवन करते हैं, कई समस्त इन्द्रियकर्मों और प्राणकर्मोंका ज्ञानदीप्त आत्म-संयमरूपी अग्निमें हवन करते हैं।' तात्पर्य, एक साधना है जिसमें इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण किया जाता है, पर उस इन्द्रियव्यापारसे मनको संक्षुब्ध या प्रभावित नहीं होने दिया जाता, स्वयं इन्द्रियाँ विशुद्ध यज्ञाग्नि बन जाती हैं। एक साधना है जिसमें इन्द्रियाँ इतनी स्थिर कर दी जाती हैं कि अन्तरात्मा अपने विशुद्ध रूपमें मनःक्रियाके परदेके भीतरसे स्थिर और शान्त प्रकट हो सके। एक साधना है जिससे आत्माका बोध हो जानेपर इन्द्रियबोध-सम्बन्धी सभी कर्म और सभी प्राण-कर्म उस एक स्थिर प्रशान्त आत्मामें ग्रहण कर लिये जाते हैं। सिद्धिका साधक योगी इस प्रकार जो यज्ञ करता है, उसमें दी जानेवाली आहुति द्रव्यमय हो सकती है, जैसे भक्तलोग अपने इष्टदेवको पूजा चढ़ाते हैं। अथवा यह यज्ञ तपोयज्ञ हो सकता है अर्थात् आत्मसंयमका वह तप जो किसी महत्तर उद्देश्यकी सिद्धिके लिये किया जाय; अथवा यह राजयोगियों और हठयोगियोंके प्राणायाम-जैसा कोई योग हो सकता है; अथवा यह किसी भी अन्य प्रकारका योग-यज्ञ हो सकता है। ये सभी सत्ताकी शुद्धिके साधन होते हैं; सभी यज्ञ परमकी प्राप्तिका एक मार्ग हैं।

इन सभी विविधताओंके बीच नित्य बना रहनेवाला जो उद्धारक तत्त्व है वह है निम्न प्रकृतिकी गतियोंको अपने अधीन करना, कामनाके प्रभुत्वको घटाकर उसके स्थानमें किसी महान् ऊर्जाको प्रतिष्ठित करना, अहमात्मक भोगको त्यागकर उस दिव्य आनन्दका आस्वादन करना, जो यज्ञसे, आत्मोत्सर्गसे, आत्मप्रभुत्वसे, अपने निम्न आवेगोंको किसी महत्तर ध्येयपर न्योछावर करनेसे प्राप्त होता है। 'जो यज्ञावशिष्ट अमृत भोग करते हैं वे ही सनातन ब्रह्मको लाभ करते हैं'—'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।'. यज्ञ ही विश्वका विधान है। यज्ञके विना कुछ भी हासिल नहीं हो सकता। न इस लोकमें प्रभुत्व प्राप्त हो सकता है न परलोकमें स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है और न परम पदकी प्राप्ति ही हो सकती है—'जो यज्ञ नहीं करता उसके लिये यह लोक भी नहीं है, परलोककी तो बात ही क्या है—'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।' इसलिये ये सब यज्ञ और अन्य अनेक प्रकारके यज्ञ 'ब्रह्म'के मुखमें विस्तृत हुए हैं—उस अग्निके मुखमें जो सब हव्योंको ग्रहण करता है। ये सब कर्ममें प्रतिष्ठित उसी एक महान् सत्‌के साधन और रूप हैं, जिन साधनोंके द्वारा मानव जीवका कर्म उसी सत्‌को समर्पित होता है। मानव जीवका बाह्य जीवन भी उसी सत्‌का एक अंश है और उसकी अन्तरतम सत्ता उसके साथ एक है। ये सब साधन या यज्ञ 'कर्मज' हैं, सब भगवान्‌की उसी एक विशाल शक्तिसे निकले, उसी एक शक्तिद्वारा निर्दिष्ट हुए हैं जो वैश्व-कर्ममें अपनेको अभिव्यक्त करती और इस विश्वके समस्त कर्मको उसी एक परमात्मा परमेश्वरका क्रमशः बढ़ता हुआ नैवेद्य बनाती है; जिसकी चरम अवस्था, मानव प्राणीके लिये आत्म-ज्ञानकी या भागवत चेतनाकी अथवा ब्राह्मी चेतनाकी प्राप्ति है। 'ऐसा जानकर तू मुक्त होगा'—'एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।'

किंतु यज्ञके विभिन्न रूपोंके क्षेत्रमें क्रम हैं, जिनमें सबसे नीचेका है द्रव्यमय यज्ञ और सबसे ऊपरका ज्ञानमय यज्ञ। ज्ञान वह वस्तु है जिसमें यह सारा कर्म परिसमाप्त होता है। ज्ञानसे यहाँ किसी निम्न कोटिका ज्ञान अभिप्रेत नहीं है। अभिप्रेत है—परम ज्ञान, आत्मज्ञान, भगवत्स्वरूप-ज्ञान, वह ज्ञान जिसे हम उन्हीं लोगोंसे प्राप्त कर सकते हैं, जो सृष्टिके मूल तत्त्वको जानते हैं। यह वह ज्ञान है जिसके प्राप्त होने-पर मनुष्य मनके अज्ञानमय मोहमें तथा केवल इन्द्रिय-ज्ञानकी और वासनाओं तथा तृष्णाओंकी चेष्टाओंमें अब और नहीं फँसता। यह वह ज्ञान है जिसमें सब कुछ परिसमाप्त होता है। उसके प्राप्त होनेपर 'तू सब भूतोंको अशेषतः आत्माके अंदर और तब मेरे अंदर देखेगा।' क्योंकि आत्मा वही एक, अजर, सर्वगत, सर्वाधार, स्वतःसिद्ध सद्वस्तु या ब्रह्म है, जो हमारी मन-बुद्धिके पीछे छिपा हुआ है और

जिसमें हमारी चेतना अहंभावसे मुक्त होनेपर विशालताको प्राप्त होती है और तब हम सभी जीवोंको उसी एक सत्के अंदर भूतोंके रूपमें देख पाते हैं—'भूतानि'।

पर हम यह भी देख पाते हैं कि यह आत्मा या अक्षर ब्रह्म हमारी मूल अन्तश्चेतनाके सामने एक परम पुरुषका आत्म-प्राकट्य है, जो हमारी सत्ताका उत्स है और सभी क्षर एवं अक्षर जिसकी अभिव्यक्ति है। वह ईश्वर है, भगवान् है, पुरुषोत्तम है। उसीको हम प्रत्येक वस्तु यज्ञरूपसे समर्पित करते हैं; उसीके हाथोंमें हम अपने सभी कर्म सौंप देते हैं; उसीकी सत्तामें हम जीते और चलते-फिरते हैं; अपनी प्रकृति तथा उस परम पुरुषके अंदर वास करनेवाले सर्वभूतके भीतर उसके साथ युक्त होकर हम उसके साथ तथा सर्वभूतोंके साथ एक आत्मा तथा सम्भूतिकी एक शक्ति हो जाते हैं। हम अपनी आत्मसत्ताको उसकी परम वास्तविकताके साथ तद्रूप और एकात्म कर लेते हैं। कामवर्जित यथार्थ कर्मोंके करनेसे हमें ज्ञान होता है और हम अन्तरात्माकी आत्मप्राप्ति उपलब्ध करते हैं; आत्म-ज्ञान और परमात्मज्ञानमें स्थित होकर कर्म करनेसे हम मुक्त हो जाते और भागवतसत्ताकी एकता, शान्ति और आनन्दमें प्रवेश करते हैं। —(संकलित)

परोपासना

(लेखक—पूज्यपाद अनन्तश्रीस्वामीजी महाराज, पीताम्बरा पीठ, दतिया)

माया—अविद्याके प्रभावसे जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूपको भूल गया है। उसे प्रतिकूलवेदनीयतासे सांसारिक क्लेश अविद्याके प्रभावसे ही हो रहे हैं, जिससे छुटकारा पानेके लिये वह अहर्निश प्रयत्नशील हो रहा है। इसके लिये लौकिक अनेक उपायोंको कर रहा है तथापि उसकी निवृत्ति नहीं हो रही है। इसीकी सिद्धिके लिये तथा लौकिक विषयानन्दसे पराङ्मुख होकर नित्य निरतिशय सुखकी प्राप्तिके लिये उपासना-विधिके प्रतिपादक शास्त्रोंकी प्रवृत्ति है। एक सच्चिदानन्द परब्रह्म ही पूर्ण नित्यानन्द स्वरूपवाला है। जीव उसको प्राप्त करनेपर ही परम सुखी हो सकता है। यह शास्त्रका परम लक्ष्य है। उपासना-तत्त्वके रहस्यज्ञ महात्माओंका अनुभव भी उक्त सिद्धान्तको पुष्ट करनेवाला है। उपासना-सम्बन्धी सभी क्रियाएँ गुरुमूलक ही हैं, ऐसा कहा गया है। साधकोंके अधिकार-भेदसे उपासना-विधि अनेक प्रकारकी है। सगुण-निर्गुण भेद एवं अभेदके प्रकारसे उसका अनुष्ठान किया जाता है। प्रकृत परोपासना, जो अजपा-जपके नामसे साधकोंमें प्रसिद्ध है, वह अभेद या अद्वैत सिद्धान्तकी साधना है। अजपाके विषयमें तन्त्रसारमें कहा है कि 'जो श्वास-प्रश्वासके गमनागमनसे सम्पन्न होती है, उच्चारणद्वारा जिसका जप नहीं होता है, उसे ही 'अजपा जप' कहते हैं।' हंस मन्त्रसे इसका अभ्यास होता है जिसका उद्धार इस प्रकार है—

वियदर्धेन्दुलसितस्तदादिसर्गसंयुतः ।
अजपाख्यो मनुः प्रोक्तो द्व्यक्षरः सुरपादपः ॥

चन्द्रबिन्दु-युक्त हकार और सविसर्ग सकारके मिलनेसे दो अक्षरोंका 'हंसः' मन्त्र बनता है जो साधकोंके लिये कल्पवृक्षके समान है। गुरुरूप अर्धनारीश्वर शिवके ध्यानमें इस तत्त्वका साक्षात्कार होता है। ध्यान इस प्रकार है—

उद्यद्भानुस्फुरिततडिदाकारमर्धाम्बिकेशं
पाशाभीती वरदपरशूं संदधानं कराब्जैः ।
दिव्याकल्पैर्नवमणिमयैः शोभितं विश्वमूलं
सौम्याग्नेयं वपुरवतु नश्चन्द्रचूडं त्रिनेत्रम् ॥

'जिनका आकार उदयकालके सूर्य एवं चमकती हुई बिजलीके समान दीप्तिमान् है, जो अपनी चारों भुजाओंमें क्रमशः पाश, अभयमुद्रा, वरमुद्रा और परशु धारण किये हुए हैं, दिव्य मणिमय सिंहासनपर विराजमान हैं और विश्वके मूल कारण हैं—ऐसे सौम्य (शान्त) एवं आग्नेय (उग्र) अथवा अग्नीषोम-स्वरूप त्रिनेत्रधारी चन्द्रचूड भगवान् अर्धनारीश्वर हमारी रक्षा करें।'

दक्षिणामूर्तिसंहितामें लिखा है—

अथ वक्ष्ये महेशानि प्रत्यहं प्रजपेन्नरः ।
मोहान्धो यो न जानाति मोक्षस्तस्य न विद्यते ॥
श्रीगुरोः कृपया देवि ज्ञायते जप्यते यदा ।
उच्छ्वासनिःश्वासतया तदा बन्धक्षयो भवेत् ॥
उच्छ्वासैरेव निःश्वासैर्हंस इत्यक्षरद्वयम् ।
तस्मात्प्राणस्य हंसाख्य आत्माकारेण संस्थितः ॥

नाभेरुच्छ्वासनिःश्वासाद् हृदयाग्रे व्यवस्थितः ।
षष्टिश्वासैर्भवेत् प्राणः षट्प्राणाः नाडिका मता ॥
षष्टिनाड्या ह्यहोरात्रं जपसख्याक्रमो मतः ।
एकविंशतिसाहस्रं षट्शताधिकमीश्वरि ॥
जपते प्रत्यहं प्राणी सान्द्रानन्दमयीं पराम् ।
उत्पत्तिस्तु जपारम्भो मृत्युस्तत्र निवेदनम् ॥
विना जपेन देवेशि जपो भवति मन्त्रिणः ।
अजपेयं ततः प्रोक्ता भवपाशनिकृन्तनी ॥

'स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासके रूपमें जीव जिस मन्त्रका जप करता है, उसे ही हंस अथवा 'अजपा-मन्त्र' कहा गया है। सांसारिक मोहसे अन्धा हुआ अज्ञानी जीव जबतक इस परा विद्याको नहीं जानता, तबतक उसे मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है। जब श्रीगुरुदेवकी कृपासे इस विद्याको जान लेता है एवं तदनुसार साधना करता है, तभी उसको सांसारिक बन्धनोंसे मुक्ति प्राप्त होती है। श्वासकी स्वाभाविक बहिर्गमन एवं अन्तर्गमनकी क्रियामें हंस—इन दो अक्षरोंका जप चलता रहता है, इसीलिये प्राणको 'हंस' कहते हैं और वही आत्म-स्वरूप है। श्वासक्रिया नाभिसे प्रारम्भ होती है, उसीके अनुसार हृदय-चक्र-(अनाहत-) में प्राणकी स्थिति है। ६० श्वास-क्रिया होनेपर उसकी संज्ञा 'प्राण' होती है। ६ प्राणोंकी एक नाड़ी एवं ६० नाड़ीका एक पूर्ण दिन-रात। इस प्रकार ६० × ६ × ६०=२१६०० इक्कीस हजार छः सौ श्वास ही इस मन्त्रकी जप-संख्या है। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी प्रतिदिन इस परमानन्दस्वरूपिणी परा विद्याका जप करता रहता है। श्वास-प्रश्वासके रूपमें इस जपका प्रारम्भ जन्म लेते ही हो जाता है तथा मृत्युके समय उस जप-का समर्पण होता है। इस प्रकार यह जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त एक अखण्ड साधना है। इस उपासनामें बिना जप किये ही मन्त्री साधकका जप चलता रहता है। अतः संसारबन्धनको नष्ट करनेवाला यह 'अजपाजप'के नामसे विख्यात है।'

यह जप किस चक्रमें, कितने समयमें, कितनी संख्यामें होता है तथा उसके कौन देवता हैं, इसके लिये निम्नलिखित तालिका दी जा रही है, जिसके दो क्रम हैं—एक आरोह, दूसरा अवरोह।

आरोह-क्रम

चक्र	श्वास-संख्या	समय	देव
मूलाधार	६००	४० मिनट	गणेश
स्वाधिष्ठान	६०००	६ घंटा ४० मिनट	ब्रह्मा
मणिपूर	६०००	६ घंटा ४० मिनट	विष्णु
अनाहत	६०००	६ घंटा ४० मिनट	शिव
विशुद्धि	१०००	१ घंटा ६ मि० ४० से०	जीव
आज्ञा	१०००	१ घंटा ६ मि० ४० से०	गुरु
सहस्रार	१०००	१ घंटा ६ मि० ४० से०	परमात्मा
योग—	२१६००	२४ घंटा	

अवरोह-क्रम

सहस्रार	१०००	१ घंटा ६ मि० ४० से०	परमात्मा
आज्ञा	१०००	१ घंटा ६ मि० ४० से०	गुरु
विशुद्धि	१०००	१ घंटा ६ मि० ४० से०	जीव
अनाहत	६०००	६ घंटा ४० मि०	शिव
मणिपूर	६०००	६ घंटा ४० मि०	विष्णु
स्वाधिष्ठान	६०००	६ घंटा ४० मि०	ब्रह्मा
मूलाधार	६००	४० मि०	गणेश
योग—	२१६००	२४ घंटा	

इन क्रमोंमें प्रथम आरोह-क्रममें हंसका जप होता है तथा दूसरे अवरोहक्रममें सोऽहं मन्त्रका जप किया जाता है। तालिकाके अनुसार भावनाके प्रकारमें निम्न श्लोक हैं—

हंसो गणेशो विधिरेव हंसो
हंसो हरिर्हंसमयश्च शम्भुः।
हंसो हि जीवो गुरुरेव हंसो
हंसो ममात्मा परमात्महंसः॥
देहो देवालयः प्रोक्तो जीवो नाम सदाशिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥
अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहमात्मानमिति भावयेत्॥
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंसात्मिकां भगवतीं जीवो जपति सर्वदा॥

'इस मन्त्रके प्रतिपाद्य देवता आधारादि चक्रोंके अनुसार क्रमशः गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, जीव, गुरु एवं आत्मा तथा परमात्मा हैं। इन सभी रूपोंका विकास हंस-मन्त्रसे ही होता है। अतः यही सबका कारण है तथा इन सभी रूपोंका समन्वय इसी मन्त्रमें है। शरीररूपी मन्दिरमें सदाशिव ही जीवरूपसे निवास करते हैं। इस मन्त्रके द्वारा अज्ञानरूपी निर्माल्य (जो चण्डाधिकार होनेसे त्याज्य है) छोड़नेपर ही हंसः सोऽहं रूपमें परिणत हो जाता है। इसके अनुसार भावना इस प्रकार है—कि "मैं ही साक्षात् ब्रह्म हूँ, मैं सभी शोकोंसे मुक्त हूँ तथा सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ।" इस प्रकार स्वयंको ब्रह्मरूप मानना चाहिये। श्वासके बहिर्गमनमें हकारका उच्चारण होता है तथा अन्तर्गमनमें सकारका। इस प्रकार जीव हंसस्वरूपिणी भगवती अजपा-गायत्रीका जप करता रहता है।'

ब्रह्मरन्ध्रमें विन्दुके रूपमें कारण-तत्त्वकी स्थिति है। ऊर्ध्वमें शक्तिरूप विसर्ग एवं अधोभागमें शिवविन्दुकी स्थिति है। उसे ही 'हंस' शब्दसे कहा गया है, अवरोह-क्रममें सोऽहं रूपसे भी इसे ही कहा गया है। इसीको परमात्म-मन्त्र भी कहते हैं।

साधन-क्रम

प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें शय्यासे उठकर साधकको गुरु-मन्त्रका अभ्यास करना चाहिये तथा इष्टदेवके मन्त्रका जप करनेके पश्चात् अपने (जीव) स्वरूपके इष्टदेव एवं श्रीगुरुके स्वरूपमें लीन होनेका चिन्तन करना चाहिये। आधारचक्रमें सुप्त कुण्डलिनी महाशक्तिको श्रीगुरुके द्वारा प्रदत्त क्रियासे जगाना चाहिये। साढ़े तीन वलयमें कुण्डलिनीके स्वरूपको 'हूं' या 'हंस' मन्त्रके द्वारा एवं भस्त्रा-प्राणायामके द्वारा सीधा करके विशुद्धचक्रमें स्थित अणुरूप जीवको आधारचक्रमें लाकर कुण्डलिनीके मुखमें स्थित करना चाहिये। इसके पश्चात् षट्चक्रमें क्रमशः आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि एवं आज्ञामें होती हुई प्राणशक्तिकी ऊर्ध्वगतिके साथ उसे मानसचक्रमें पहुँचाना होता है। वास्तविक योग आज्ञाचक्रसे ही आरम्भ होता है। सहस्रारमें परविन्दु-स्थित शक्तिव्यापिका और निबोधिकासे ऊपर निर्वाणशक्तिके भी ऊपर महाशून्यमें उसकी समाप्ति होती है। महाशून्यके अंदर हंस-मन्त्रके मूल विसर्ग और विन्दुकी स्थिति है, जिसके चारों ओर साढ़े तीन फेरेमें ऊर्ध्व-कुण्डलिनीका साक्षात्कार होता है। नीचेकी कुण्डलिनी और ऊर्ध्व-कुण्डलिनीका ऐक्य ही इस महायोगकी पूर्णता है। जिस प्रकार अधः-कुण्डलिनीको मूलाधार कहते हैं, इसी प्रकार ऊर्ध्व-कुण्डलिनी भी ऊर्ध्व-मूलाधार है—'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' इसे भगवद्गीताके पुरुषोत्तमयोगमें इसी रूपमें माना गया है। कठोपनिषद्में 'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखः' इत्यादि मन्त्रमें इसे ही स्वीकार किया गया है। इन दोनों शक्तियोंका योग भगवान् शिवके स्वरूपमें माना गया है, जिसे अम्बिका एवं श्रीगङ्गाके स्वरूपसे कहा गया है। बौद्ध धर्ममें इसे ही निर्वाणके नामसे माना गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसीके लिये 'स्थित्वा-स्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'—ऐसा कहा गया है। वैदिक योग एवं बौद्धयोगमें भावाभाव-रूपसे बतानेमें भेद है। यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म है, इसीलिये इसे श्रीगुरु-कृपाके द्वारा ही प्राप्त होना सम्भव बताया गया है। ऊर्ध्व एवं अधःक्रमसे इसका आरम्भ होता है; इसलिये दोनों क्रम अवरोह एवं आरोह अभ्यासद्वारा साध्य माने गये हैं। श्रीविद्याकी साधनामें सृष्टि एवं संहारक्रमके नामसे इसे ही बताया गया है। श्रीविद्याक्रममें श्वास-प्रश्वासका विवरण निम्न प्रकारसे दिया गया है।

श्रीविद्यामें अजपा साधन

उक्त २१६०० श्वासोंका विवरण श्रीचक्रके देवताओंमें किस प्रकार विभाजित है, इसे यहाँ लिखा जा रहा है। इसके पूर्व साधकको आत्माष्टाक्षर-मन्त्र तथा अजपा-गायत्रीका जप जानना आवश्यक है, जिसका विनियोग निम्न प्रकारसे है—

ॐ अस्य श्रीअजपामन्त्रस्य हंस ऋषिः, अव्यक्ता गायत्री छन्दः, परमात्मा देवता, हं बीजम्, सः शक्तिः, सोऽहं कीलकम् मोक्षार्थे जपे विनियोगः।

ह्सां ह्सीं ह्सूं ह्सैं ह्सौं ह्सः—इससे हृदयन्यास एवं करन्यास करना चाहिये। इसके पश्चात् ॐ भूर्भुवः स्वः—इसके द्वारा दिग्बन्ध करना चाहिये।

ध्यान

अग्नीषोमगुरुद्वयं प्रणवकं विन्दुत्रिनेत्रोज्ज्वलं
भास्वद्रूपसुखं शिवाङ्घ्रियुगलं पार्श्वस्थसूर्यानिलम्।
उद्यद्भास्करकोटिकोटिसदृशं हंसं जगद्व्यापिनं
शब्दब्रह्ममयं हृदम्बुजपदे नीडे सदा संस्मरेत्॥

'ॐ ह्रीं हंसः स्वाहा' (आत्माष्टाक्षर-मन्त्रः)

'हंसहंसाय विद्महे। सोऽहं हंसाय धीमहि। तन्नो हंसः प्रचोदयात्'—(हंस-गायत्री)

इस प्रकार दोनों मन्त्रोंके जपके पश्चात् पूर्वतालिकाके अनुसार गत दिनके जपका सभी चक्रोंके देवताओंको समर्पण करे। श्रीविद्याके उपासकोंके मतसे उक्त २१६०० श्वासोंकी योजना इस प्रकार की जाती है। पूर्णमण्डलाक्षररूप श्वासोंकी संख्या ५७६ है। अकार और कसे लेकर क्षकार पर्यन्त ३६ अक्षर माने गये हैं। अ से अः पर्यन्त १६ स्वरके वर्गोंको ३६ के साथ गुणित करनेसे ३६ गुणित १६=५७६ पूर्णमण्डलाक्षरकी संख्या होती है। एक मासमें ३६ दिन श्रीविद्याक्रममें माने जाते हैं। ३६ दिन संख्याको पूर्ण मण्डलाक्षरसे गुणित करनेपर २०७३६ श्वास-संख्या हो जाती है। प्रकाशानन्दनाथसे लेकर सुभगानन्दनाथ पर्यन्त ९ नाथ हैं, जिन्हें अ, ॠ, क, च, ट, त, प, य, श—इन नव अक्षरोंसे कहा जाता है। शिवसे लेकर पृथ्वीपर्यन्त ३६ तत्त्वोंके श्वासकी संख्या ३६ मानी गयी है। कामेश्वरी नित्यासे लेकर चित्रा नित्यापर्यन्त १६ नित्याओंकी संख्या १६ प्रश्वासकी होती है। ५ दिनमें पूर्ण होनेवाली घड़ियोंकी संख्या अ, ए, च, त, य—इन पाँच अक्षरोंसे मानी गयी है। घड़ीके अनुसार इनकी संख्या ६० होती है। मेषादि राशियोंकी संख्या १२ है। इसलिये राशिसंख्याके श्वास १२ लिये गये हैं। सूर्य आदि नवग्रहोंकी संख्या ९, तत्त्वोंकी संख्या ५, मातृकाओंकी संख्या ५०, इसके अनन्तर श्रीचक्रमें आये हुए ९१ शक्तिआवरण-देवताओंकी श्वास-संख्या ९१ ली जाती हैं। इस प्रकार ५७६ + २०७३६ + ९ + ३६ + १६ + ६० + १२ + ९ + ५ + ५० + ९१ = कुल २१६०० श्वास-संख्या आती है। एक निश्चित समयसे अजपाका प्रारम्भ करना चाहिये और उसीके अनुसार समयविभाग करके अभ्यास करना अत्यन्त उपयोगी है। जिस चक्रका जो समय आता हो, उसीका ध्यान करते हुए जप चलना चाहिये। उक्त प्रकारसे अभ्यास करनेसे उपासक शीघ्र ही आत्माके स्वरूपके साथ तादात्म्य-लाभ करके समस्त क्लेशोंसे छूट जाता है। इसकी प्रशंसामें 'शारदातिलक'में कहा गया है—

हंसः पदं परेशानि प्रत्यहं जपते नरः।
मोहान्धो यो न जानाति मोक्षस्तस्य न विद्यते॥
श्रीगुरोः कृपया देवि ज्ञायते जप्यते ततः।
तस्माच्छ्वासैश्च निःश्वासैस्तदा बन्धक्षयो भवेत्॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
तस्या विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते॥
अनया सदृशी विद्या चानया सदृशो जपः।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति॥

'हे भगवति! यह वही 'हंस' पद है, जिसका मनुष्य प्रतिदिन जप करता है। मोहमें पड़कर जो मनुष्य इस मन्त्रको नहीं जानता, उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। जब श्रीगुरुदेवकी कृपासे जीव इसको जान लेता है एवं जप करता है, तब इस श्वासकी साधारण क्रिया, जो अनायास ही सम्पन्न होती रहती है, उसीके द्वारा वह संसारबन्धनसे छूट जाता है। योगियोंको मोक्ष प्रदान करनेवाली इस अजपानामक गायत्रीके ज्ञानमात्रसे सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। न तो इस विद्याके समान कोई विद्या है और न इसके-जैसा कोई जप ही। इस विद्याके समान पवित्र साधना आजतक न तो हुई है और न होगी ही अर्थात् यह सर्वश्रेष्ठ उपासना है।'

भगवान्की स्वरूपशक्तियोंका विलास

(सन्धिनी, संवित् तथा ह्लादिनीका पारस्परिक सम्बन्ध)

(लेखक—त्रिदण्डी स्वामी श्रीमद्भक्तिसाधक निष्किञ्चन महाराज)

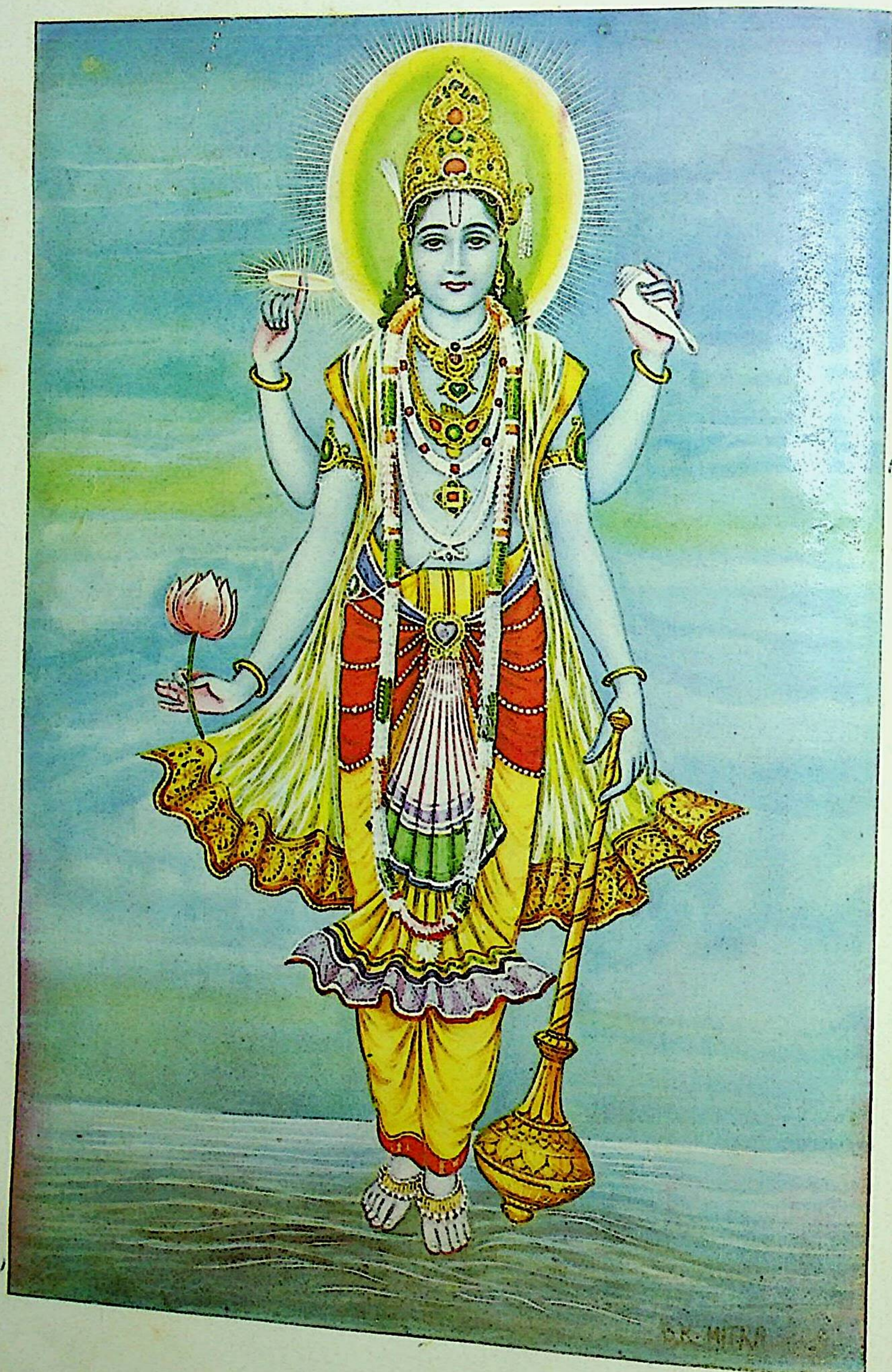
वर्तमान युगके भक्तिगङ्गा-भगीरथ श्रीभक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं कि 'भगवान्का दिव्य नित्य विग्रह जड इन्द्रियोंके द्वारा या ज्ञान-चेष्टाके द्वारा देखनेमें नहीं आ सकता। भक्तियोगसे अर्थात् भक्तिवृत्तिके द्वारा केवल भक्तगण ही उसका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं। उदाहरणार्थ, सूर्य विग्रहविशिष्ट वस्तु है। सामान्य चर्मचक्षुसे या आसुरी-चक्षुसे उस विग्रहका दर्शन नहीं होता। देवताओंके दिव्य नेत्र सूर्यके रश्मिजालको भेदन करके उनका दर्शन करते हैं। जो मनुष्य ज्ञानमार्गसे या योगमार्गसे भगवान्का अनुसंधान करते हैं, वे नित्य विग्रहके रश्मिजाल-स्वरूप ब्रह्म एवं अंशस्वरूप परमात्माका ही अनुसरण कर पाते हैं, चिन्मय नित्यविग्रहको देखनेमें समर्थ नहीं होते। श्रुतिने भी भगवान्को सूर्यसदृश बतलाकर इस तत्त्वको स्पष्ट किया है। यथा—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि······॥
(ईश० १५, १६)

अर्थात् हे पूषन्! (हम भक्तजनोंके परिपोषक), हिरण्मय (ज्योतिर्मय) पात्र (आवरण) के द्वारा सत्यका (यथार्थ-तत्त्वका) मुख (मुख्य स्वरूप) अपिहित (आच्छादित) है। सत्यधर्म (तत्त्ववस्तुकी उपासना) के लिये और दृष्टि (उसकी उपलब्धि) के लिये आप अपने इस (आवरण)को अपावृणु (उन्मुक्त) करें। हे पूषन्! हे एकमात्र ऋषेः (सब वस्तुओंके द्रष्टा)! हे यम (सर्वनियन्ता)! हे सूर्य (सूर्यके समान सबके सम्यक् दर्शनकी सामर्थ्यसे परे, केवल देवस्थानीय भक्तोंके दर्शनीय)! हे प्राजापत्य (प्रजापति ब्रह्माको वेदज्ञान प्रदान करनेवाले)! रश्मिसमूहको (वि-ऊह) विशेषरूपसे प्रसारित करें और तेजको (ज्योतिको) (सम् ऊह) सम्यग् भावसे अध्याहृत करें। जिससे आपके कल्याणतम (समस्त कल्याणकी खानि) रूप (अप्राकृत श्रीविग्रह) का आपकी कृपासे दर्शन प्राप्त हो। इन दोनों श्रुतिमन्त्रोंके अर्थकी उपलब्धिकी चेष्टाके पूर्व श्रीचैतन्य-चरितामृतके निम्नलिखित तीन पयारोंको देखनेसे यह अर्थ सुगम हो जायगा। यथा—

सूर्यमण्डल जेन बाहिरे निर्विशेष।
भितरे सूर्येर रथ आदि सविशेष॥
तैछे परव्योमे नाना चिच्छक्ति विलास।
निर्विशेष ज्योतिर्बिम्ब बाहिरे प्रकाश॥
निर्विशेष ब्रह्म सेइ केवल ज्योतिर्मय।
सायुज्येर अधिकारी ताँहा पाय लय॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत ५। ३४, ३७-३८)

अर्थात् बाहरसे सूर्यमण्डलको देखनेपर उसमें कोई विशेषता या विचित्रता नहीं दीखती; केवल एक ज्योतिर्मण्डल दीखता है। परंतु समान लोकसे देवगण उसमें सूर्यनारायणकी मूर्ति, सात घोड़ोंका रथ आदि विशेषता देखते हैं। इसी प्रकार वैकुण्ठमें भी चिच्छक्तिके विलासमें विभिन्न प्रकारकी विशेषता या विचित्रता वर्तमान है, जैसे भगवद्विग्रह, पार्षद-गण, आभरणादि। इस विचित्रताका विवरण श्रीमद्भागवतमें जहाँ श्रीभगवान् प्रसन्न होकर ब्रह्माको वैकुण्ठका दर्शन कराते हैं (भाग० २। ९। ९-१६) तथा जब सनक-सनन्दनादि चारों ऋषि वैकुण्ठाधिपति श्रीभगवान्का दर्शन करते हैं (भा० ३। १५। ३७—४२)—इन प्रसङ्गोंमें मिलता है। ज्ञानमार्गवाले इस स्थलमें जड विशेष देखनेमें अभ्यस्त होकर ज्ञानके अनुशीलनके द्वारा 'नेति-नेति' कहकर उसका निरसन करके चिद्विशेषका संधान न पाकर केवल ब्रह्मके निर्विशेषत्वकी उपलब्धि करते हैं। यही समझानेके लिये ऊपर उद्धृत श्रुतिके दो मन्त्रोंमें ब्रह्मके साथ सूर्यकी उपमा दी गयी है। यहाँ भक्त भगवान्के चरण-कमलमें प्रार्थना करता है कि 'निर्विशेष ब्रह्मरूपमें प्रतीयमान अपनी अङ्गज्योतिको संवरण करते हुए वे अनुग्रहपूर्वक अपने स्वरूपभूत अशेष कल्याण गुणोंके आधार चिद्घन स्वरूपके दर्शनके लिये उपयोगी 'प्रेमाञ्जनच्छुरित विलोचन' (ब्रह्मसंहिता ५। ३८) प्रदान करें।'



भगवान् विष्णु

निर्विशेषवादी ज्ञानीलोग ब्रह्मकी शक्तिको स्वीकार नहीं करते; क्योंकि शक्तिमत्ता स्वीकार करनेपर ब्रह्मको सविशेष मानना पड़ेगा। श्रुतिने उनके विरुद्ध ब्रह्मकी शक्तिमत्ताका निर्देश किया है, तथापि वे उन श्रुतिमन्त्रोंको औपाधिक, व्यावहारिक, अपारमार्थिक आदि कहकर उन असलीके अर्थको ग्रहण नहीं करते। परंतु भगवान्‌के निःश्वाससे निकले (बृहदा० ४।५-११) अपौरुषेय प्रत्येक श्रुतिमन्त्रको सत्य मानना ही पड़ेगा तथा विशेष-विशेष स्थलोंमें श्रुतिमन्त्रोंमें आपात प्रतीयमान पारस्परिक विरोधमें सामञ्जस्य स्थापित करके सत्यका निरूपण करना पड़ेगा। श्वेताश्वतर (६।८) श्रुति कहती है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
　　न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
　　स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

अर्थात् 'उनके (पूर्व मन्त्रोक्त परमेश्वरके) प्राकृत देहेन्द्रियादि नहीं हैं। उनकी सहायतासे होनेवाले प्राकृत कार्य भी नहीं हैं। उनके समान या उनसे अधिक कोई देखनेमें नहीं आता। उनकी स्वाभाविकी (स्वरूपभूता) परा (श्रेष्ठा अर्थात् गीता ७।५ में कथित अपरा जडा अष्टधा प्रकृतिसे उत्कृष्ट) शक्ति एक होकर भी विविध प्रकारकी है, जैसे ज्ञान (संवित्), बल (सन्धिनी) और क्रिया (ह्लादिनी)' श्वेताश्वतर—श्रुति (४।९-१०) में गीतोक्त अपरा प्रकृति मायाशक्तिकी बात भी है। यथा—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
　　तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

अर्थात् 'ब्रह्म मायाशक्तिके अवलम्बनसे जगत्‌की सृष्टि करता है और उसमें उससे भिन्न तत्त्व अर्थात् जीव मायाके द्वारा बद्ध होता है। (उस अपरा) प्रकृतिको मायाके रूपमें और परमेश्वरको मायाधीशके रूपमें जाने। यह मायिक जगत् उसका ही अंशभूत है। यह मायाके द्वारा सृष्ट भूतगणसे परिव्याप्त है।'

इन श्रुतिमन्त्रोंको क्यों व्यावहारिक या अपारमार्थिक कहकर निर्विशेषवादी ब्रह्मको निःशक्तिक कहकर उसकी शक्तिमत्ताको उड़ा देते हैं, यह समझमें नहीं आता। अतएव बहुत वक्तव्य रहनेपर भी संक्षेपमें यह स्थापित किया गया कि ब्रह्म विविध शक्तियोंसे शक्तिमान् है। यद्यपि केवल निर्विशेष दर्शनमें उसकी उपलब्धि नहीं होती। भक्तियोगके प्रभावसे जो सम्यग्दर्शनमें समर्थ हैं, वे ब्रह्मकी भगवत्ताके दर्शनके अधिकारी होकर भगवत्प्रेमानन्द प्राप्त कर ब्रह्मानन्दकी उपेक्षा करते हैं।

श्रीभगवान्‌की अनन्त शक्तियोंमें उनकी परा, स्वाभाविकी स्वरूपशक्तिकी बात हमने सुनी, जो ज्ञान, बल और क्रियाके नामसे श्रुतिमें प्रसिद्ध वृत्तित्रयके रूपमें वर्तमान है। पुराणमें (जैसे श्रीविष्णुपुराणमें ध्रुवकी उक्ति १।१२।६८ श्लोकमें है) इन तीन वृत्तियोंको क्रमशः संविद्, सन्धिनी और ह्लादिनी कहा गया है। यहाँ—

ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥

अर्थात् 'हे भगवन्! सबके अधिष्ठानस्वरूप आपमें एक ही स्वरूपभूता शक्ति ह्लादिनी, संवित् और सन्धिनी—इन तीन रूपोंमें वर्तमान है। किंतु आप गुणवर्जित हैं (मायिक तीनों गुणोंसे परे हैं) अतएव आपमें (मायिक जगत्‌के समान) मिश्रिता, आह्लादकरी, तापकरी मायिक शक्ति नहीं है। श्रीधर स्वामी इस श्लोककी टीकामें लिखते हैं कि ह्लादिनी आह्लादकरी स्वरूपभूता शक्ति सर्वसंस्थिति अर्थात् जिससे सबकी सम्यक् स्थिति है, वह आपमें ही है, जीवमें नहीं है और जीवमें जो त्रिविधा गुणमयी शक्ति है, वह आपमें नहीं है; वह ह्लादतापकरी-मिश्रा है। ह्लादकरी मनःप्रसादसे उत्पन्न होती है, वह सात्त्विकी शक्ति ह्लादकरी है; और जो विषय-भोगादिसे उत्पन्न होती है, वह तामसी शक्ति तापकरी है; तथा इन दोनोंसे मिश्रिता विषयोत्पन्ना शक्ति राजसी है। आपमें इनके न रहनेका कारण यह है कि आप सत्त्वादि (प्राकृतिक) गुणोंसे रहित हैं।

सर्वज्ञ सूक्तमें श्रीविष्णुस्वामीका वचन इस प्रकार है—

ह्लादिन्या संविदाऽऽश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः।
स्वाविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः॥

अर्थात् 'सच्चिदानन्द ईश्वर ह्लादिनी और संवित्—इन दो स्वरूपशक्तियोंके द्वारा आलिङ्गित हैं, किंतु जीव स्वीय आरोपित अविद्याके द्वारा आच्छादित होनेके कारण नाना प्रकारके क्लेशोंका आकर बना हुआ है।' भगवद्विमुख होनेपर

जीव अविद्यावरणपूर्वक मायाग्रस्त होता है। मायाशक्तिके अधीन होनेसे कारागृहस्वरूप ब्रह्माण्डमें नाना प्रकारसे सांसारिक क्लेशोंको भोगता है। स्वरूपशक्तिकी छायारूप इस मायाशक्तिके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये भक्तियोगके द्वारा स्वरूपशक्तिका आश्रय प्राप्त करना आवश्यक है। उसको प्राप्त कर लेनेपर फिर क्लेश भोगना नहीं पड़ता।

श्रीजीवगोस्वामीने अपने संदर्भग्रन्थमें इसके सम्बन्धमें कुछ दार्शनिक विचार किया है। वे 'प्रीति-संदर्भ' (९५ अध्याय) में कहते हैं कि जो वस्तु-शक्ति भगवान्‌को निज आनन्दके द्वारा उन्मत्त करती है, उसका लक्षण क्या है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि श्रुतिमें कथित है कि 'माया भगवान्‌का अतिक्रम नहीं कर सकती और भगवान् स्वतः तृप्त हैं; अतएव उस वस्तुशक्तिको सांख्यमतानुयायियोंके सिद्धान्तानुसार प्राकृत सत्ताविशिष्ट मायिक आनन्दरूपा नहीं कह सकते। उस वस्तु-शक्तिको निर्विशेषवादियोंके समान (शक्ति न कहकर) भगवत्स्वरूपानन्दरूपा भी नहीं कह सकते; क्योंकि यह सिद्धान्त पूर्वापर विचारद्वारा विशेषरूपमें असिद्ध है। अतएव वह जीवके भी स्वरूपानन्दरूपा नहीं है; क्योंकि नित्य होते हुए भी जीव अत्यन्त क्षुद्र है। इस कारण भगवान्‌में ही केवल 'ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित्'—ये तीन शक्तियाँ अवस्थित हैं। 'हे भगवन्! आप निर्गुण हैं, आपमें आह्लाद, क्लेश तथा मिश्रभाव नहीं है'—इस विष्णुपुराणके वाक्यमें उनकी ह्लादिनी नामक स्वरूपशक्ति आनन्दरूपा है; क्योंकि इस शक्तिके द्वारा ही भगवत्स्वरूपका आनन्दविशेष लक्षित होता है तथा भगवान् इस शक्तिके द्वारा ही तत्तत् आनन्द अन्य भक्तोंको प्रदान करते हैं, यही चरम सिद्धान्त है। भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति नित्य वर्तमान होनेके कारण निर्विशेषवादीका उपर्युक्त सिद्धान्त मान्य नहीं है। ह्लादिनीकी सर्वानन्दातिशायिनी नित्यवृत्ति भक्तवृन्दमें प्रदत्त होनेपर वह 'भगवत्प्रीति' के नामसे अभिहित होती है। श्रीभगवान् भी इस प्रीतिको भक्तमें अनुभव करके भक्तकी प्रीतिको ग्रहण करते हैं।

श्रीभगवान्‌की जो त्रिविध शक्ति विष्णुपुराणमें कथित है, वह भगवान्‌को आनन्द प्रदान करती है। वह सांख्यका जड आनन्द नहीं है और न निर्विशेषवादीका शक्ति-शक्तिमान् तत्त्वकी अभिन्नताकी अनभिज्ञताकृत चिदेकानन्द है। ह्लादिनी-शक्ति भगवान्‌को आनन्द प्रदान करती है तथा भगवान् ह्लादिनी शक्तिके द्वारा जीवको अपना प्रीतिधर्म प्रदान करते हैं, फिर भक्तकी भगवत्प्रीतिसे बाध्य होकर प्रीतिको पुष्ट करते हैं।

श्रीजीवगोस्वामी अपने भागवतसंदर्भ (१०३) में कहते हैं—'भगवान् जिस शक्तिके द्वारा सत्ताको धारण करते हैं और कराते हैं, वह सारे देश-काल-द्रव्य आदिकी प्रकाशिका 'सन्धिनी' है; जिस शक्तिके द्वारा स्वयं जानते और जनाते हैं, वह 'संवित्' चित्प्रधाना शक्ति है। जिस शक्तिके द्वारा स्वयं आनन्द लेते हैं और दूसरोंको आनन्द प्रदान करते हैं, वह 'ह्लादिनी' शक्तिके नामसे विवेचित होती है। उस मूल पराशक्तिका त्रिरूपत्व सिद्ध हो गया। उसके स्वतः प्रकाशमयी जिस विशेषवृत्तिके द्वारा भगवान् स्वयं अपनी स्वरूपशक्ति अथवा चिद्वैशिष्ट्यादिका आविर्भाव करते हैं, वही 'विशुद्ध सत्त्व' है। वह अन्यनिरपेक्ष और भगवत्प्रकाशस्वरूप है। स्वयं अनुभव करने और दूसरोंको अनुभव करानेकी द्विविध वृत्तियोंके विद्यमान होनेके कारण वह 'संवित्' भी है। मायाका स्पर्श न होनेके कारण वह विशुद्ध है। इसी विशुद्ध सत्त्वसे वैकुण्ठ नामक धाम प्रकाशित होता है। यह 'विशुद्ध सत्त्व' शब्द स्वतःप्रकाशमय भगवत्स्वरूप-शक्तिके वृत्तिविशेषका बोधक है। प्रकृतिगत अशुद्धताकी प्रसिद्धि सत्त्व होनेके कारण शुद्धसत्त्व सन्धिनी चित्-शक्ति विशेष है। यह शुद्ध सत्त्व स्वरूपशक्तिकी वृत्ति होनेके कारण स्वरूपशक्तिरूप है। प्राकृतिक सत्त्वादि गुण जो जीवमें होते हैं वे ईश्वरमें नहीं होते, यह श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित है। जैसे एकादश स्कन्धमें (११। २५। १२) भगवदुक्ति है कि 'सत्त्वरजस्तमः—ये तीनों गुण मद्विमुख जीवके साथ सम्बद्ध रहते हैं, मेरे साथ कभी सम्बद्ध नहीं होते।' विष्णुपुराणमें (१। ९। ४३) कहा गया है कि 'जिसमें अप्राकृत गुणसमूह विराजमान हैं, उस ईश्वरमें सत्त्वादि प्राकृतिक गुण नहीं रहते और न रह सकते हैं। उस निखिल शुद्ध वस्तुओंके समूहमें अविमिश्र शुद्धवस्तु आदिपुरुष नारायण प्रसन्न हों।' यहाँ 'प्राकृतिक' विशेषणके द्वारा भगवान्‌में तदितर अप्राकृत गुणसमूह विद्यमान हैं, यह व्यक्त होता है। इस स्थलमें विशुद्ध-सत्त्व सन्धिनी-अंश प्रधान आधारशक्ति है। संविद्-अंशप्रधान आत्मविद्या है।

इस विषयमें गौड़ीय वैष्णवाचार्य-भास्कर श्रीसरस्वती महाराज कहते हैं—'परतत्त्व वास्तव वस्तुस्वरूप है तथा त्रिशक्तिमें नित्य अभिव्यक्त है। अतएव स्वरूपशक्ति त्रिविधरूपमें परिलक्षित होती है। उन सबको अंशिनी (रूप) शक्तिका अंश कहा गया है। शक्तिकी नित्य वर्त्तमानता या

सदंश अर्थात् कालादिद्वारा क्षोभित होनेकी अयोग्यता 'सन्धिनी' नामसे ख्यात है। ज्ञातृत्व या चिदंश नित्यानन्दसे विशेषत्व-युक्त हुआ अद्वयज्ञान 'संवित्' नामसे अभिहित होता है। अर्थात् जिसमें श्रीकृष्णका स्वतः कर्तृत्वपूर्ण—चिद्धर्म व्यक्त है, वही 'संवित्'-शक्तिके नामसे प्रसिद्ध है। अंशिनीका जो अंश सच्चित्‌से विशेषत्वकी रक्षा करता है, वही आनन्दमयी शक्ति है। विशेषत्वका वर्णन करनेमें विविध शक्तियोंका विभिन्न परिचय होते रहनेपर भी वह अंशत्रय-स्वरूपशक्तिमें ही अवस्थित है।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने अपनी १०८ श्लोकयुक्त श्री-'गौराङ्गलीलास्मरणमङ्गलस्तोत्रम्' नामक लघु ग्रन्थमें ७९ वें श्लोकमें इस तत्त्वका संक्षेपमें वर्णन किया है।

यथा—

स वै ह्लादिन्या यः प्रणयविकृते ह्लादनरत-
स्तथा संविच्छक्तिप्रकटितरहोभावरसितः।
तथा श्रीसन्धिन्या कृतविशदतद्धामनिचये
रसाम्भोधौ मग्नो व्रजरसविलासी विजयते॥

अर्थात् 'स्वरूपशक्तिके तीन प्रभाव हैं—ह्लादिनी, संवित् और सन्धिनी। ह्लादिनीके प्रणय-विकारमें श्रीकृष्ण सर्वदा अनुरक्त हैं और संवित् शक्तिके द्वारा प्रकटित अन्तरङ्ग भावके द्वारा सर्वदा रसित-स्वभाव हैं। सन्धिनी-शक्तिके द्वारा प्रकटित निर्मल वृन्दावन आदि धाममें वे स्वेच्छामय व्रजरसविलासी श्रीकृष्ण नित्य रस-सागरमें निमग्न रहते हैं।' तात्पर्य यह है कि 'ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित्—स्वरूपशक्तिकी तीन वृत्तियाँ सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। स्वरूपशक्ति-की ह्लादिनी वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णको सम्पूर्ण चिदाह्लाद प्रदान करती रहती हैं। स्वयं श्रीकृष्ण-प्रियंकरी होकर वे महाभावरूपा हैं तथा निजकायव्यूहरूपमें अष्ट प्रकारके भावोंको अष्ट सखियोंके रूपमें अभिव्यक्त करती हैं। ये चिद्-जगद्‌रूप व्रजकी नित्यसिद्धा सखियाँ हैं। स्वरूपशक्ति 'संवित्' व्रजके समस्त भावोंको अभिव्यक्त करती हैं। स्वरूप-शक्तिकी 'सन्धिनी व्रजके भू-जलादि विशिष्ट ग्राम, वन तथा गिरिगोवर्द्धनादि विलासपीठ तथा श्रीकृष्णके और श्रीराधिका तथा उनके सखी-सखा, गोधन, दास आदि चिन्मय कलेवर और विलासके उपकरणके रूपमें प्रकाशित है। श्रीकृष्ण ह्लादिनीके प्रणय विकारमें सर्वदा परमानन्दरत हैं तथा संवित्‌के आविर्भूत रहस्यजनित भावोंके साथ क्रियावान् हैं। वंशीवादनके द्वारा गोपीजनका आकर्षण तथा गोचारण, रासलीला आदि समस्त श्रीकृष्णक्रियाएँ संविद्-आश्रित हैं। सन्धिनीकृत धाममें व्रजविलासी श्रीकृष्ण सर्वदा रसमग्न रहते हैं।'

जीव यथार्थ उपासनाके द्वारा स्वरूपशक्तिका आश्रय प्राप्त करता है, तब कहीं उसको भगवत्प्रेमरूप चरम कल्याण-की प्राप्ति होती है। साधनभक्तिकी परिपाकावस्थामें जीव जब अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है, तब ह्लादिनी शक्तिके बलसे मधुर-रसका भावोदय होता है, व्रजमें श्रीराधाकृष्णके स्वजनवृन्दका अनुगतभाव हृदयमें उदित होता है, क्रमशः परमानन्दतत्त्वमें जगत्‌के भीतर अतुलसम्पत्सुखकी प्राप्ति होती है। इससे बढ़कर जीवका और कोई लाभ नहीं। प्रेम-के अंशके समान शुद्ध-सत्त्वविशेष स्वरूपतत्त्व ही भाव है (भक्तिरसामृतसिन्धु १।३।१)। भावका ही दूसरा नाम 'रति' है। इसीको कोई-कोई 'प्रेमाङ्कुर' कहते हैं। सर्व-प्रकाशिका स्वरूपशक्तिकी संवित् नामक वृत्तिके साथ ह्लादिनी वृत्तिके मिलनका सार अंश ही भाव है। संवित् वृत्तिके द्वारा वस्तुज्ञान होता है, ह्लादिनी वृत्तिके द्वारा वस्तु आस्वादित होती है। श्रीकृष्णरूपी परम वस्तुकी स्वरूप-शक्तिकी सर्वप्रकाशिका वृत्तिसे जो अभिप्राय निकलता है, जीवशक्तिकी संवित् वृत्तिसे वह अभिप्राय नहीं निकलता। भगवान्‌की कृपा या भक्तकृपाके द्वारा जब जीवके हृदयमें स्वरूपशक्तिका आविर्भाव होता है, तभी स्वरूपशक्तिकी वृत्ति जीवहृदयमें कार्य करती है। इससे चिद्-जगत्‌का ज्ञान प्रकाशित होता है। चिद् जगत्‌का स्वरूप शुद्ध-सत्त्व है। मायिक जगत्‌का स्वरूप सत्त्वरजतमोगुण-मिश्रित स्थूल तत्त्व है। उस चिद्-जगत्‌के ज्ञानमें ह्लादिनीका सार मिलनेपर चिद्-जगत्‌का आस्वाद उदित होता है। वह आस्वाद जब पूर्णताको प्राप्त होता है तब उसे 'प्रेम' कहते हैं। उस प्रेमको 'सूर्य'रूप कहें तो उसकी 'किरण'को भाव कहेंगे।

इन तीन शक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धको संक्षेपमें कहें तो कह सकते हैं कि सन्धिनी-शक्तिकी वृत्तिमें विग्रह, धाम आदिके सत्तामात्रकी व्यवस्था होती है। संवित्-शक्तिकी वृत्तिमें ज्ञानयोगमें उस सत्ताविषयक वस्तु-समूहका पारस्परिक सम्बन्ध प्रकाशमें आता है और ह्लादिनी-शक्तिकी वृत्तिमें उस पारस्परिक सम्बन्धविषयक प्रीतिरूप प्रीति या ह्लादकी स्फुरणा होती है। इस प्रकार सन्धिनीसे संवित्‌का उत्कर्ष है और तदपेक्षया ह्लादिनीका उत्कर्ष है।

वेदमें (जैसे छान्दोग्य० ६।२।१में) 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'के अनुसार भगवान् सत्—सत्ताशील है। भगवान् सन्धिनीशक्तिके सहयोगसे स्वयं सत्ता धारण करते हैं और (जैसा कि ऐतरेय श्रुति १।१।२ में लिखा है कि 'य इमान् लोकान् असृजत्' उसके अनुसार) सृष्टिद्वारा सत्ता धारण कराते हैं। 'संवित्' शब्दका अर्थ है, सं=सम्यक्, विद्=अवगति अर्थात् संवित् शक्तिके सहयोगसे वे सम्यक् अवगत होते हैं और सम्यक् अवगत कराते हैं और ह्लादिनीशक्तिके सहयोगसे वे ह्लाद अर्थात् आनन्दपूर्ण रहते हैं तथा ह्लादमय बनाते हैं। जैसा कि तैत्तिरीयश्रुति २।७।१ में वर्णन है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

वे स्वयं रस या आनन्द हैं और रस अर्थात् उनको प्राप्त करके सब आनन्दयुक्त होते हैं। अतएव वेदमें भगवान्‌की स्वाभाविकी परा या स्वरूपशक्तिकी तीन वृत्तियों—अर्थात् 'ज्ञान' (संवित्), 'बल' (सन्धिनी) और 'क्रिया' (ह्लादिनी)—की बात कहकर (श्वेता० ६।८) उसकी व्याख्या भी इसी प्रकार अन्यान्य स्थानोंमें की गयी है। इसीलिये भगवान्‌की स्वरूपशक्ति और उसकी तीनों वृत्तियाँ वैदिक ही हैं। सर्वज्ञ-सूक्तमें लिखा है—

अविद्यासंवृतो जीवः संक्लेशनिकराकरः।

अर्थात् 'जीव अविद्या यानी भगवान्‌की बुद्धिमोहिनी अविद्यारूपिणी मायाशक्तिके द्वारा सम्यक्‌रूपसे आवृत रहता है, इस कारण आत्यन्तिक क्लेशसमूहोंको भोगता है।' यहाँतक कि निर्विशेष ज्ञानकी साधनासे कोई बहुत ऊँचे पदपर पहुँच भी जाते हैं तो वे ज्ञानाभिमानी-गण फिर नीचे गिर जाते हैं; किंतु भगवत्परायण भक्तियोगके साधक कभी पतित नहीं होते। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि—

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥
(११।५।३)

अर्थात् 'इनमें जो साक्षात् आदिपुरुष परमेश्वरका भजन न करके उनकी अवज्ञा करते हैं, वे स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं। उनका अधःपतन हो जाता है।' श्रीमद्भागवतमें ब्रह्मादि-स्तवन (१०।२।३२-३३) में भी लिखा है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।

'जो मुक्तिके मिथ्याभिमानी लोग आपके श्रीचरणोंका आदर नहीं करते, वे अविशुद्ध बुद्धिवाले बड़ी कठिनतासे कहीं ऊँचे पदपर पहुँच भी जाते हैं तो वहाँसे नीचे गिर जाते हैं; पर जो आपके निज जन हैं, जिनकी आपमें अविचल प्रीति है, वे कभी मार्गसे गिरते नहीं।' चैतन्य-चरितामृत (मध्य० ६।१६२) के अमृतप्रवाह-भाष्यमें श्रीभक्तिविनोद ठाकुर लिखते हैं कि—'चित्-शक्ति अपनी ह्लादिनी और संवित्‌के समवेतका सार जब जीवको प्रदान करती है और जीव उसे ग्रहण कर लेता है तो निष्कपट चित्-शक्तिके भावमें मायाका आवरण—विक्षेपरूप अचित् विक्रम दूर हो जाता है और जीव कृष्ण-प्रेमभक्तिका अधिकारी बन जाता है।'

जीव निष्कपट भावसे जब स्वरूपशक्तिका आश्रय प्राप्त करनेके लिये चेष्टावान् होकर मायाशक्तिके पराक्रमको दूर करनेमें समर्थ होता है, तब वह सन्धिनीके बलसे बलवान् होकर अपने मायामुक्त नित्य स्वरूपमें अवस्थित होता है तथा संवित्—ह्लादिनीकी सहायतासे कृष्ण-प्रेम-प्राप्तिको ही परम कल्याण समझकर श्रीकृष्णकी सेवाके द्वारा आह्लादित करके स्वयं भी आह्लाद या परमानन्दका अधिकारी बनता है। यह बात श्रुति (मुण्डक ३।१।२ तथा श्वेता० ४—७) में संकेतसे कही गयी है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

अर्थात् 'जीव संसार-सागरमें निमग्नावस्थामें मायाका दमन करनेमें असमर्थ होनेके कारण माया-मोहित होकर शोक या क्लेशको प्राप्त होते हैं। परंतु जब ईश्वरकी सेवामें प्रवृत्त हो जाते हैं, तब ईश्वरकी महिमाके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त करके शोकसे मुक्त हो जाते हैं, आनन्दमें प्रतिष्ठित होते हैं।' भगवान्‌की ह्लादिनी, संवित् और

सन्धिनीसे युक्त स्वरूपशक्तिकी क्रिया उनके भक्तके सिवा अन्यत्र सम्यक् क्रियाशीला नहीं होती। कर्मी लोगोंमें अचित् मायाशक्तिकी क्रिया बलवती होनेके कारण चित्क्रिया कम ही परिलक्षित होती है। उनकी सत्तामें नित्यता नहीं होती। विभिन्न जन्मोंमें तथा एक जन्ममें भी उनमें नाना प्रकारके परिवर्तन स्वाभाविक देखनेमें आते हैं। सन्धिनीकी क्रियामें सदा ही व्याघात होता है। संवित्की क्रिया भी प्रायः उनमें आच्छादित रहती है, उनका ज्ञान प्राकृतिक विषयोंमें ही आबद्ध रहता है। ह्लादिनीकी तो बात ही क्या! जड जगत्का जो आनन्द या सुख है, यह भी प्रायः सभी समय शोक, स्पृहा, परिभव, लोभ आदिके कारण निरानन्दमय हो जाता है। ज्ञानमार्गी लोग व्यतिरेक मुखसे 'नेति-नेति' कहकर उसका निरसन करते हुए स्थिर संस्थितिमें अधिष्ठित नहीं हो पाते, अतएव उनके सम्बन्धमें भी सन्धिनी शक्ति सम्यक् क्रियावती नहीं होती। उनमें क्वचित् कोई-कोई महात्मा ब्रह्मभूत होते हैं और वे 'मद्भक्तिं लभते पराम्' (गीता १८। ५४) के अनुसार परा भक्ति प्राप्त कर, सन्धिनीका पूर्ण आश्रय मिलनेपर नित्य अवस्थितिमें सुप्रतिष्ठित होते हैं। उनका ज्ञान, भगवत्तत्त्वका सम्यग् दर्शन न होनेके कारण, संवित्-शक्तिकी पूर्ण क्रियासे युक्त नहीं होता और उनका आनन्द, दुःख-निवृत्तिरूप व्यतिरेकमुखी होनेके कारण, अन्वयरूपमें आनन्दप्रद नहीं होता। अतएव ह्लादिनीके पूर्ण आश्रय-से वे वञ्चित रहते हैं, जबतक कि वे भक्तियोगमें सुप्रतिष्ठित होकर भगवत्प्रेमसुखको प्राप्तकर कृतार्थ नहीं होते। भगवत्प्रेमसुखको प्राप्त करनेपर तो ब्रह्मानन्द उन्हें अति नगण्य जान पड़ता है। शास्त्रप्रमाण उद्धृत करते हुए श्रीरूपगोस्वामीने इस कारिका (भ० र० सिन्धु १। १। ३८) में लिखा है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुधाम्भोधेः परमाणुतुलामपि॥

अर्थात् 'ब्रह्मानन्द कोटि-कोटि गुना वर्द्धित होनेपर भी भक्ति-सुख-समुद्रके परमाणुके साथ भी तुलनाके योग्य नहीं है।' तथापि भक्तिके भीतर ही मुक्ति अनुस्यूत है। जो भक्तिमें सम्यक् रूपसे प्रतिष्ठित हैं, मुक्ति उनके करतलगत हो जाती है। लीलाशुक श्रीबिल्वमङ्गलने अपने सुप्रसिद्ध श्रीकृष्णकर्णामृत (१०७वें श्लोक) में श्रीभगवान्से कहा है—

भक्तिस्त्वयि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्
दैवेन नः फलति दिव्यकिशोरमूर्तिः।
मुक्तिः स्वयं मुकुलिताञ्जलि सेवतेऽस्मान्
धर्मार्थकामगतयः समयप्रतीक्षाः॥

अर्थात् 'हे भगवन्! यदि आपमें हमारी भक्ति स्थिरतर रहती है, तो आपकी दिव्य किशोर (श्रीकृष्ण) मूर्तिकी प्राप्ति आपकी कृपासे स्वतः ही होती है। तब स्वयं मुक्तिदेवी स्वभावतः हाथ जोड़कर (अवान्तर फल अविद्या-मुक्त होनेके कारण) हमारी सेवाके लिये व्यस्त हो उठती हैं और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूपी फल सदा हमारी सेवाके अवसरकी प्रतीक्षा करते रहते हैं (और हम उनकी ओर देखते तक नहीं)।' श्रीनारद-पञ्चरात्रमें भी इसी प्रकारकी एक उक्ति प्रसिद्ध है। यथा—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः॥

अर्थात् 'मुक्ति आदि समस्त सिद्धियाँ तथा अन्य अद्भुत भोगराशि दासीके समान डरती हुई हरिभक्तिरूपा महादेवीके अधीन होकर पीछे-पीछे डोलती हैं।' मायाधीश भगवान् भक्तकी भक्तिके वश रहते हैं, यह बात श्री-शुकदेवजीने कही है (भा० १०। ८६। ५९) 'भगवान् भक्तभक्तिमान्।' यही बात भगवान्ने स्वयं दुर्वासा ऋषिसे यथार्थ साधुका परिचय देते हुए स्पष्ट अक्षरोंमें कही है—(भा० ९। ४। ६३–६७) यथा—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥

अर्थात्—'मैं भक्तके पराधीन हूँ। उनके सामने मेरी स्वतन्त्रता नहीं रहती। साधुगण अर्थात् भक्तगण मेरे हृदयको ग्रस्त किये रहते हैं अर्थात् मैं उनकी इच्छाके अनुसार चलता हूँ; क्योंकि भक्तगण मुझे प्रिय हैं। वे समदर्शी साधुगण मुझमें अपने हृदयको पूरा-पूरा आबद्ध रखते हैं। अतएव वे उसी प्रकार मुझे वशमें कर लेते हैं जैसे सती स्त्री सत्पतिको अपने वशमें रखती है।'

अतएव हमने देख लिया कि श्रीभगवान्की स्वरूप-शक्तिकी तीनों वृत्तियों—सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनीकी पूर्ण क्रिया जीवमें शुद्धा, ऐकान्तिकी, अहैतुकी भक्तिके

रूपमें प्रकट होती है। अन्यान्य स्थलोंमें अर्थात् भुक्ति-मुक्ति तथा सिद्धिकी कामना करनेवालोंके सामने इन वृत्तियोंकी स्फूर्ति सम्यक् और पूर्णरूपमें नहीं होती। अतएव नित्य मङ्गल और भगवत्प्रेमरूप चरम कल्याणकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले जीवके लिये भगवान्की स्वरूप-शक्तिके अंशस्वरूप संन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी—इन तीनों शक्तियोंके सम्यक् आश्रयकी प्राप्तिके लिये निष्कपट भावसे अहैतुकी, अविमिश्रा भक्तिका अवलम्बन करना परम आवश्यक है। भव-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये स्वतन्त्र प्रयत्न करना अनावश्यक है और व्यर्थ काल-क्षेप करना है (भा० ११। १५। ३३)। परंतु इसके लिये यथार्थ साधु अर्थात् उत्तम भक्तका सङ्ग परम प्रयोजनीय है, जिससे सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनीके सारके सहित स्वरूपवृत्ति पूर्णरूपसे क्रियान्विता हो।

गौडीय वैष्णवकी उपासना

(लेखक—आचार्य प्रभुपाद श्रीमत्प्राणकिशोरजी गोस्वामी)

उपासनाका अर्थ है—समीप रहना, पारमार्थिक तात्पर्य है—आराधना, सेवा, अर्चना। जो उपासना करता है, उसे 'उपासक' कहते हैं और जिसकी उपासना की जाती है, वह 'उपास्य' कहलाता है। उपासककी महिमामें उपास्यकी महिमा है और उपास्यकी महिमामें उपासकका गौरव है। प्रयोजनके अनुसार उपास्य निर्धारित होता है। परम उपास्य एक होनेपर भी माया-मुग्ध जीव उसकी खोज करनेमें असमर्थ है। जीवका मन असंख्य कामनाओंसे पूर्ण होनेके कारण असंतुष्ट रहता है। 'मेरा'की भावनामें मोहग्रस्त होकर जन्म-जन्मान्तर भोग्य सामग्रीकी खोजमें लगा रहता है। कहीं भी उसे तृप्ति नहीं होती। धन, जन, काव्य, साहित्य, भोग्य, साम्राज्य अपने अधिकारमें करके भी अशान्ति और दुर्दमनीय मनः-पीड़ासे मुक्त नहीं हो पाता। प्राप्त देहसे सम्बन्ध त्याग कर अज्ञात मृत्युके मार्गसे जाना पड़ेगा, यह भय उसका नहीं जाता। बृहदारण्यक उपनिषद्में ऋषि स्मरण कराते हैं कि 'किस प्रियकी खोजमें तुम हो? सोच करके देखो—पुत्र, धन, गृह, परिवार—संसारमें जिन सबको प्रिय मानकर तुम उपासना करते हो, वे स्वतन्त्ररूपसे प्रिय नहीं हैं। वस्तुतः तुम्हारी आत्मा ही प्रिय है। आत्माके प्रियत्वसे और सब प्रिय लगते हैं। अतएव प्रिय आत्माकी उपासना करो।'

'आत्मानमेव प्रियमुपासीत' (बृहदा० १। ४। ८)

अन्य किसीके लिये अन्य कोई प्रिय नहीं। केवल आत्माके सुखके लिये अन्य सब प्रिय होते हैं—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'
(बृ० २। ४। ५)

आत्माका दर्शन ही प्रयोजन या साध्य है। इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये प्रधान साधन हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इस तीन प्रकारकी उपासना या साधनासे क्रमशः विभिन्न प्रकारकी आराधनाओंका प्रसार हुआ है। परम तत्त्वके दर्शनमें दर्शककी योग्यताका परिचय मिलता है। कोई निर्विशेष भावना करते हैं और कोई सविशेष दर्शन करते हैं। एक अद्वय ज्ञानतत्त्व ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे क्रमशः ज्ञानी, योगी और भक्तके द्वारा गृहीत और उपासित होता है। सूर्यको कोई तेजोमय मण्डलके रूपमें भावना करता है और कोई देवताका धाम मानकर उपासना करता है। चैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—

उपासना भेदे जानि ईश्वर महिमा।
अतएव सूर्य ताँर दियेत उपमा॥
(१। २। २७)

उपासना सकाम और निष्काम भेदसे दो प्रकारकी है। दोनों प्रकारकी उपासनामें ही देह, मन, बुद्धि और देहीका होना आवश्यक है। देह, मन और बुद्धिके लय होनेपर उपास्य, उपासक और उपासना कुछ भी नहीं रहते। त्रिपुटी लय होनेपर उपास्यकी महिमा, माधुर्य, रूप—गुण, नामसे वञ्चित होना पड़ता है। यह अवस्था उपासकके लिये अवाञ्छनीय है तथा नित्यानन्दबोधकी विरोधी है। अभेद-ब्रह्मानुसंधानरूपी मोक्षको भगवान्के उपासक तुच्छ मानकर त्याग देते हैं।

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

तुलसीदासजी महाराज काकभुशुण्डि-गरुड़-संवादमें पुनः कहते हैं—

हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥
तातें नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥

सकाम उपासक परम पुरुषोत्तमकी उपासनामें सहसा अग्रसर नहीं होते। वे कामनाकी पूर्तिके अनुकूल इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करते हैं। सभी देवता परमदेवताके अंश हैं, इस धारणामें असमर्थ होकर वह कामनापूर्तिके लिये स्वतन्त्र पृथक् देवताका द्वार खटखटाया करते हैं। पर इस अवस्थामें भी परम पुरुषोत्तम श्रीभगवान् ही उनकी अभिलषित कामनाकी पूर्ति करते हैं।

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः।
उपासत इन्द्रमुख्यान् देवादीन् न तथैव माम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २२। ३२)

'सत्त्व, रज और तमोगुणसे अभिभूत जीवगण अपनी कामनाकी पूर्तिके लिये इन्द्रादि देवताओंकी उपासना करते हैं। आग्रहपूर्वक मेरी उपासना नहीं कर पाते। उपर्युक्त उपासना मुझ त्रिगुणातीतकी उपासना नहीं है।' एक प्रकारके और भी मायामोहित जीव हैं, वे परमेश्वरकी आराधना करते हुए भी कामनाका त्याग नहीं करते। परंतु भगवान् उनकी तुच्छ कामनाएँ भी पूरी करते हैं। कर्दम मुनिके भगवद्दर्शनमें यह बात सुनी जाती है। यथा—

ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्-
पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम्।
उपासते कामलवाय तेषां
रासीशकामान्निरयेऽपि ये स्युः॥
(श्रीमद्भा० ३। २१। १४)

देवर्षि नारद युधिष्ठिरसे कहते हैं—'हे राजन्! कोई-कोई श्रद्धापूर्वक नाना प्रकारके उपहार प्रदान करके श्रीहरिकी उपासना करते हैं, किंतु जीवके प्रति द्वेष करनेवाले व्यक्तिको उस उपासनाका यथोचित फल प्राप्त नहीं होता।' यथा—

ततोऽर्चायां हरिं केचित् संश्रद्धाय सपर्यया।
उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम्॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ४०)

उद्धव कहते हैं कि 'सर्वभूतमें वर्तमान आपकी हे भगवन्! ब्राह्मणलोग यथार्थरूपसे उपासना करते हैं। साधारण लोग आपको कैसे जान सकते हैं?' यथा—

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः।
उपासते त्वां भगवन् याथातथ्येन ब्राह्मणाः॥
(भाग० ११। १६। २)

श्रीभगवान् उद्धवसे कहते हैं कि 'सत्ययुगमें प्रणवमय वेद, वृषभरूपधारी धर्म और हंसके रूपमें मुझको पाप-स्पर्श-शून्य तपोनिष्ठ साधुजन भजते हैं, मेरी उपासना करते हैं। यथा—

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥
(श्रीमद्भा० ११। १७। ११)

भगवान्‌की उपासनामें निष्ठाकी भूमिमें उतर जानेपर उपास्यके रूप, गुण, लीला और माधुर्यका आस्वादन होता है। एक विशिष्ट सम्बन्धके अनुभवसे उपासना सुप्रतिष्ठित होती है। निष्ठाके अभावमें मनुष्य एक मार्गसे दूसरे मार्गमें भटकता रहता है। एक मार्ग पकड़कर नहीं रह सकता।

दक्षिण देशमें कुम्भकोणम् तंजोर जिलामें कामकोटि नामक ग्राम है। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु तीर्थभ्रमणके समय वहाँ एक ब्राह्मणके द्वारा आमन्त्रित हुए। मध्याह्नकालमें ब्राह्मणके घरमें महाप्रभु पहुँचे। उन्होंने देखा कि ब्राह्मणके यहाँ रसोईका कोई प्रबन्ध नहीं है। वे निश्चेष्ट होकर बैठे हुए हैं। प्रभुने पूछा—'ब्राह्मण! रसोई कब बनेगी?' ब्राह्मण थे निष्ठावान् श्रीरामके उपासक। उत्तर दिया—'मेरे प्रभु श्रीराम वनमें वास करते हैं। रसोई बनानेकी सामग्री वनमें नहीं प्राप्त होती। श्रीलक्ष्मण शाक, फल-मूल लाने गये हैं। उनके लौट आनेपर जानकी माता रसोईका प्रबन्ध कर लेंगी, देर न होगी।' उनकी उपासनाकी, विचारकी और निष्ठाकी बात सुन प्रभुको बड़ा ही आनन्द प्राप्त हुआ।

ताँर उपासना शुनि प्रभु तुष्ट हैला।
अस्ते व्यस्ते सेइ विप्र रन्धन करिला॥
(चै० च० २। ९। १८५)

तीसरे पहर दिनको प्रभुने तो भिक्षा ग्रहण की, परंतु वह ब्राह्मण उपवासी ही रहे। महाप्रभुने उनसे पूछा—'आपने स्वयं तो भोजन किया नहीं। मुझे ही भिक्षा करायी, आपको हो क्या गया?' तब ब्राह्मण दुःखित होकर बोले—'मुझे अब इस जीवनको रखकर क्या फल मिलेगा? मैं अग्नि या जलमें प्रवेश करके प्राण त्याग दूँगा। माता जानकीको राक्षस रावणने हरण किया है, यह सुनकर भी प्राण धारण करना क्या उचित है? प्राणत्याग करना ही उत्तम है।'

प्रभु बोले—'ब्राह्मण ! धैर्य धारण कीजिये । रावणने मायाकी सीताको हरण किया है ।'

ईश्वर प्रेयसी सीता चिदानन्द मूर्त्ति ।
प्राकृत इन्द्रियेर तारे देखिते नाहि शक्ति ॥

निष्ठापूर्वक की गयी उपासना भगवत्कृपाको आकर्षित करती है । श्रीकृष्णचैतन्यके सहपाठी और भक्त मुरारीगुप्त प्रसिद्ध हैं । वे नैष्ठिक रामोपासक थे । एक दिन मुरारीकी रामोपासनामें निष्ठाकी बात प्रभु कहने लगे—'मैंने एक दिन मुरारीको श्रीकृष्णके रूप-गुण-माधुर्यकी बात सुनाकर श्रीरामकी उपासना न करके श्रीकृष्णकी उपासना करनेके लिये कहा । बारंबार मेरी बात सुनकर वे मुझसे बोले—'प्रभु ! मैं आपका दास हूँ । आप जो आदेश दें, वही करना कर्तव्य है ।' इतना कहकर वे घर गये । परंतु कैसे रामोपासनाका त्याग करें, यह सोचते समय उनको बड़ा ही दुःख होने लगा । सारी रात जागकर रोते-रोते बीत गयी । सबेरे आकर वे मेरे चरणोंमें पड़ गये और बोले—

रघुनाथेर पाय मुई बेचिया छों माथा ।
काढ़िते ना पारि माथा मने पाई व्यथा ॥
श्रीरघुनाथ चरण छाड़ान ना जाय ।
तब आज्ञा भंग हय कि करि उपाय ॥
ताते मोरे एई कृपाकर दयामय ।
तोमार आगे मृत्यु हउक जाउक संसय ॥

'मैंने श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अपना मस्तक बेच दिया है। उसे वापस नहीं ले सकता । मनमें बहुत व्यथा होती है। श्रीरघुनाथजीके चरण छोड़े नहीं जा सकते। इधर आपकी आज्ञा भंग होती है। मैं क्या उपाय करूँ ? अतः दयामय ! कृपा करके यह कर दो जिससे आपके सामने मेरी मृत्यु हो जाय और संदेह मिट जाय ।'

मुरारीकी बात सुनकर मैं संतुष्ट हो गया । उनकी उपासनामें निष्ठा देखकर सब लोग आनन्दित हुए। मैंने कहा—

साक्षात् हनूमान् तुमि श्रीराम किङ्कर ।
तुमि केने छाड़िबे ताँर चरण कमल ॥
(चै० च० १ । १५ । १५६)

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु परमानन्दकन्द नन्दनन्दन मदनगोपालकी उपासनाका ही विशेषरूपसे उपदेश दिया करते थे । ब्रह्मसंहिताके अनुसार परम ईश्वर सच्चिदानन्द गोविन्दकी योगपीठस्थ रूपमें उपासनाका निर्देश श्रीकृष्णदास कविराजकृत चैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें किया गया है । आदिगुरु ब्रह्मा अपने ब्रह्मलोकमें रहते हुए वृन्दावनकी उपासना करते हैं ।

जाँर ध्यान निजलोके करे पद्मासन ।
अष्टादशाक्षर मन्त्रे करे उपासन ॥

मदनगोपाल मन्त्रराजके प्रतिपाद्य श्रीभगवान् परम ऐश्वर्य-माधुर्य प्रकटित करके गोपीजनद्वारा परिवेष्टित-रूपमें उपास्य हैं । इनकी उपासनामें कामबीज और कामगायत्रीकी प्रधानता है । नाना प्रकारके रसोंसे सर्वरसमय श्रीकृष्णकी उपासना होती है । सम्बन्धानुग व्रजके रस दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर हैं । इनमें श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभुके अभिमत है—मधुर-रसकी उपासना । इस उन्नत उज्ज्वल मधुर-रसकी उपासनामें कामबीज, कामगायत्रीका प्रयोग होता है । आदिबीज, वेदके चरम महावाक्य प्रणवसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका ही बोध होता है। सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारणस्वरूप, प्रणव-प्रतिपाद्य स्वयं श्रीभगवान्‌को समझनेके लिये ही 'क्लीं' बीजका प्रकाश है । प्रणव और क्लीं दोनोंमें ऐश्वर्य और माधुर्यका तारतम्य है । अनुसंधान करनेसे ज्ञात होता है कि गौतमीय तन्त्रके अनुसार 'क्लीं' बीज माधुर्यका द्योतक है ।

ककारः पुरुषः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
ईकारः प्रकृती राधा नित्यवृन्दावनेश्वरी ॥
लश्चानन्दात्मकं प्रेमसुखं तयोश्च कीर्तितम् ।
चुम्बनानन्दमाधुर्यं नादबिन्दुः समीरितः ॥

परमपुरुष सच्चिदानन्दविग्रह 'क' कारके वाच्य हैं । नित्यवृन्दावनेश्वरी श्रीराधा परा प्रकृति 'ई' कार हैं । आनन्दमय प्रेमसुख बोधक 'ल' कार है । दोनोंके मिलनमें चुम्बनानन्द 'नादबिन्दु' अलंकार है ।

इस अर्थसे ज्ञात होता है कि कामबीजका तात्पर्य है मधुर-रसकी लीलामें विहारशील श्रीराधागोविन्दका मधुमय युगलस्वरूप । कामबीज श्रीराधाकृष्ण हैं । श्रीराधाके सङ्गमें रहनेपर ही उनके अधिरूढ़ मादनाख्य महाभावकी महिमासे श्रीनन्दनन्दनके 'मदनमोहन' स्वरूपका प्राकट्य होता है। इस मिलनानन्दमें सर्वोत्कृष्ट असमोर्ध्व माधुर्यके विग्रह

श्रीकृष्णकी सर्वातिशायी पूर्णतम अभिव्यक्ति निकुञ्ज-रहस्यमें होती है। स्वयं अप्राकृत मदन भी इस स्वरूपके माधुर्यके उपभोगके लिये लोलुप रहते हैं। अतएव अप्राकृत नवीन मदन शब्दकी सार्थकता है। भुवन-मोहन तो हैं ही, अपने रूपपर आप ही मोहित हैं, इसी कारण नवीन मदन हैं। स्वारसिक भजनमें यह कामबीज आस्वाद्य कुञ्ज-विहारीकी ही उपासना है। प्रणवका रहस्य गायत्रीमें अभिव्यक्त है। कामबीज कामगायत्रीसे व्यञ्जित होता है। गायत्री-उपासनाकी 'प्रेरणाकी प्राप्ति'का भाव समझना चाहिये। पहले 'प्रचोदयात्' को लीजिये, प्राकृत अङ्गसीमाका अतिक्रमण करके जो अनङ्गका विलास है, उसकी ही 'प्रेरणा-प्राप्ति'की उपासना है। कामगायत्रीका प्रत्येक अक्षर साक्षात् मन्मथ-मथनके प्रत्येक अङ्गके माधुर्यके आस्वादनके लिये लुब्ध करता है। उपासकके भीतर उत्कण्ठामयी लालसाको उद्बुद्ध करता है। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने श्रीसनातन गोस्वामीको काशीधाममें इस मन्त्रका अर्थ समझाते हुए कहा था—

कामगायत्री मन्त्ररूप हय कृष्णस्वरूप,
सार्द्ध चब्बिस अक्षर तार हय।
से अक्षर चन्द्रचय, कृष्णे करिल उदय,
त्रिजगत् कैल काममय।

मन्त्रमूर्ति नन्दनन्दनके त्रिजगत् काममय करनेके समान महामाधुर्यका प्राकट्य गायत्रीमें होता है। श्रीकृष्णके इस त्रिजगत् काममयके प्रसङ्गमें राय रामानन्द कहते हैं—

पुरुष योषित् किंवा स्थावर जङ्गम।
सर्वचित्ताकर्षक साक्षात् मन्मथमथन॥

स्थावर-जङ्गम कोई भी इस आकर्षणसे दूर नहीं रह सकता। पर सबका चित्ताकर्षण ही चरम वस्तु नहीं है। इसके आगे कहते हैं—

शृङ्गार रसराजमय मूर्त्तिधर।
अतएव आत्मपर्यन्त सर्वचित्तहर॥

स्वयं भगवान् शृङ्गार-रसके उत्कर्षमें निज प्रियावर्गका चित्त हरकर अपने माधुर्यसे आप विमोहित हो जाते हैं। इस स्वरूपकी उपासना ही महाप्रभुको अभीष्ट है। महाप्रभुने राय रामानन्दसे सुस्पष्ट भाषामें पूछा था कि 'बताओ, सर्वापेक्षा श्रेष्ठ उपास्य कौन है?' राय रामानन्दने महाप्रभुके हृदयका भाव प्रकट करते हुए उत्तर दिया था कि 'श्रीराधाकृष्णका युगल नाम ही परम उपास्य है और वह नाम-जप करना पड़ेगा व्रजेश्वरीकी सखीकी अनुगता दासीकी भावनासे।'

उपास्येर मध्ये कोन उपास्य प्रधान।
श्रेष्ठ उपास्य युगल राधाकृष्ण नाम॥

हमलोगोंकी सर्वश्रेष्ठ उपासना युगलनाम-संकीर्तन है।

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

श्रीराधा-कृष्णसे एकीभूत हैं श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु। श्रीनित्यानन्द प्रभुने इस गौर-विग्रहकी उपासना प्रवर्तित की। महाप्रभुकी प्रकट अवस्थामें ही सर्वत्र गौर-उपासना प्रचलित हो गयी। प्रथम उपासक थे श्रीअद्वैत, पश्चात् श्रीनित्यानन्द, श्रीवास, गदाधर, सार्वभौम भट्टाचार्य, प्रकाशानन्द सरस्वती, श्रीरूप-सनातन, श्रीहरिदास आदि अगणित पार्षद भक्त थे। इन लोगोंने परतत्त्वसीमाके अर्थमें श्रीगौरसुन्दरको ही अनुभूत किया था। आगे चलकर खेतुरीके महोत्सवमें, एवं अन्यान्य अनेक स्थानोंमें युगल नाम-संकीर्तनमें महाप्रभुके दिव्य आविर्भावका दर्शन करके भक्तवृन्दने कलियुगके उपास्यके रूपमें श्रीकृष्णचैतन्यको ही ग्रहण किया। अतएव श्रीमद्भागवतकी प्रतिध्वनि करते हुए श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—

अन्तः कृष्णं बहिर्गौरं दर्शिताङ्गादिवैभवम्।
कलौ संकीर्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः॥

उपासनाके विषयमें यहाँ एक विशेषत्व अवश्य विचारणीय है। सर्वत्र नाना प्रकारकी उपासना-पद्धतिके साथ भगवान्‌के नाम-गुण-कीर्तनको भी साधनके एक अङ्गके रूपमें स्वीकार किया गया है। यही क्यों? किसी-किसी गोष्ठीमें उच्च कीर्तनकी अपेक्षा ध्यान, धारणा, जप-तपको ही श्रेष्ठता प्रदान करके उपासनाका गौरव स्थापित करनेका प्रयास देखा जाता है; परंतु श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनुगत भक्तोंका दृष्टिकोण इन सब उपासनाक्रमोंकी अपेक्षा कुछ और ही प्रकारका होता है। इस चैतन्य-उपासनामें नाम-संकीर्तन ही अङ्गी मुख्य उपासना है। वह भी विशुद्ध अविमिश्र है, उसमें अन्य किसी साधनाके मिश्रणकी आवश्यकता नहीं। सभी काल, सभी देश तथा सभी अवस्थाओंमें यह उपासना सभीके लिये साध्य है। अन्य साधना,

स्मरण, वन्दना आदि करनेपर भी नामसंकीर्तनको न छोड़कर निरवच्छिन्न नाम-प्रवाहकी उपासनाके द्वारा ही उसे करना पड़ता है।

चैतन्येर दृष्टि पड़ प्रेमसंकीर्तन।
× × × ×
अवतरि चैतन्य कैल धर्मप्रचारण।
कलिकालेर धर्म कृष्णनामसंकीर्तन॥
संकीर्तन यज्ञे ताँरे करे आराधन।
सेई त सुमेधाः आर कलिहतजन॥
(चै० च० म० ११-...)

उपास्यकी उपासना

(लेखक—आचार्य श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
(ऋ०)

वेद-शास्त्र, पुराण और इतिहासके सिद्धान्तोंसे समस्त विचारशील तत्त्ववेत्ताओंने इस बातको पूर्णतया निर्धारित कर छोड़ा है कि इस महान् विकराल कालचक्रकी वक्रगतिद्वारा असार संसारके न्यून-से-न्यून और महान्-से-महान् पदार्थकी भी दशा सदा एक-सी नहीं रहती है। यहाँतक कि अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी और आकाश—ये पाँचों मूल तत्त्व भी, जिनसे इस विशाल ब्रह्माण्डकी—सम्पूर्ण चराचरकी रचना होती है, सदैव एक-सी अवस्थामें नहीं रहते हैं। अतः जन्म-मरणादि दुःख-परम्परासे छुटकारा पानेके लिये श्रीमद्भागवतकथारूपी अमृतके सेवनके सिवा और कोई साधन नहीं है—

संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षो-
र्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण
पुंसो भवेद् विविधदुःखदवार्दितस्य॥
(श्रीमद्भा० १२।४।४०)

भगवत्कथाके श्रवणसे ज्ञान-वैराग्यकी उत्पत्ति होती है। साथ ही मनमें भक्तियोगका आविर्भाव होता है। उक्त ज्ञान-वैराग्ययुक्त भक्तियोगके परिपाकसे अन्तःकरणकी अत्यन्त शुद्धि होती है। तदनन्तर सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, भक्तजनोंके साथ नित्य-निरन्तर रमण करनेवाले, युगपद् विरुद्धगुणधर्माश्रय, ब्रह्मादिनिखिलदेववृन्दवन्दितपदारविन्द, निखिल-निगम-निरूपित, रसमय, सच्चिदानन्दघनविग्रह, परमानन्द-कन्द, गोपीजनवल्लभ नन्दनन्दन गोपालदेवका दिव्य अनुग्रह प्राप्त होता है। भगवान् उस भक्तको 'यह मेरा अपना प्रिय किङ्कर है।' इस भावसे अपना लेते हैं और वह भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष-सुखका आस्वादन करने लगता है। भगवान् समस्त साधनोंसे अप्राप्य हैं। वे अपनी कृपासे ही सुलभ होते हैं। जीव श्रीमत्प्रभुका सहज दास होकर उनकी सेव्य-सेवकभावसे तन, मन, धन और वाणीद्वारा सेवा करके उनकी अनुकम्पा प्राप्त किये बिना कैसे उन्हें पा सकता है?

'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि॥'

भगवान् जीवोंके परम हितैषी सखा हैं, जीवोंके धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये युग-युगमें अवतार धारण करके विविध लीलाएँ करते हैं, जिनके श्रवण-कीर्तन करके जीव कृतकृत्य हो जाते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(ऋ० अ० २।३।१...)

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥
(श्रीमद्भा० ११।११।६)

इन श्रुतियोंसे प्रतिपादित भगवान्के साथ अत्यन्त सुदीर्घ कालतक वियोग रहनेके कारण प्राप्त हुए आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक त्रिविध तापोंसे पीड़ित होकर भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवरूप चार दोषोंसे दूषित

अन्तःकरणवाले लोगोंद्वारा प्रचारित प्रलापक शास्त्रोंके अधीन बुद्धिवाले होकर भवाटवीमें भटकनेवाले जीवोंका भगवान्‌द्वारा स्वकीयत्वेन वरण ही परम पुरुषार्थ है।

'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः ॥'

व्रजसीमन्तिनीकदम्बरूपी कदम्बवृक्षोंके कटाक्षमय प्रसूनोंसे पूजित और श्रीयमुनाजीकी उठी हुई मन्द-मन्द हिलोरोंसे शीतल-सुगंधित पवनसे हिलते हुए केशोंद्वारा सुशोभित गण्डस्थलकी कान्तिसे मण्डित कुण्डलोंकी प्रभासे प्रकाशमान, प्रसन्न श्रीमुखारविन्दमें चमकती हुई दन्तछटासे छविमान् मधुर अधरोंपर मुरली धारण किये, क्षराक्षरातीत श्रीभगवान् श्यामसुन्दरकी महिमाके ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह-रूपा अनन्य भक्तिके उत्पन्न होनेपर ही जीवोंको भगवत्प्राप्ति होती है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥
(गीता ८। २२)

वह अनन्य भक्ति भगवान्‌की कृपासे उपलब्ध होती है। उसके दो भेद हैं—१–साधनरूपा और २–फलरूपा। साधनरूपा भक्ति नवविधा है। उसके निष्पन्न होनेपर श्रीयशोदोत्सङ्ग-लालित नन्दलालके चरणोंमें चित्तकी एकाग्रता होती है। यही सेवापदार्थ है और यही मुख्यतया 'भक्ति' शब्दका अर्थ है।

भज इत्येष वै धातुः सेवायां परिकीर्तितः।

अतः सर्वात्मभावद्वारा सर्वेन्द्रियोंसे भगवत्सेवन करना ही सेवापदार्थ है।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

गुरुशरणागतिपूर्वक श्रवण-स्मरण-कीर्तनादि उपासना-विधिरूप ज्ञानसामग्रीसे अनादि अविद्याजनित संसारवासना नष्ट हो जाती है। तदनन्तर चित्तशुद्धिपूर्वक भगवत्-शरणमें जानेसे भगवान्‌के साथ जीवात्माका सेव्य-सेवक-भाव सम्बन्ध स्थापित होता है। फिर भगवान्‌की सेवाद्वारा यथाधिकार फल-प्राप्ति होती है। भगवद्दर्शन ही भजन-सेवनका परम फल है।

उसपर श्रवणादि साधनोंद्वारा चित्तकी अत्यन्त शुद्धि हुए बिना भगवद्दर्शनसे उत्पन्न अलौकिक आनन्द (भगवद्रस) का अनुभव नहीं हो सकता।

'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः' ॥
(श्रीमद्भा० १०। २१। ७)

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'
(तैत्ति० उ० २। ७)

इस श्रुतिसे प्रतिपादित रसमय, परमानन्दस्वरूप, दिव्य मङ्गल-विग्रह, सच्चिदानन्द, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रकी परम पावन चरण-रेणुको पाकर ही जीव आनन्दसिन्धुमें निमग्न हो सकता है। 'सारज्ञानां पदाम्बुजम्'—भगवच्चरणारविन्द ही भगवदनन्य रसिकोंका विश्राम-गृह है।

'नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्'
(श्रीमद्भागवत)

'नान्यं तवाङ्घ्र्युपनयादपवर्गमूर्तेः'
(श्रीमद्भा० १२। ८। ४३)

जैसे कमल-मकरन्दका लोलुप मधुप निशिदिन उसीपर झंकार करता हुआ मँडराता है, उसी तरह प्रेमी भगवदनन्य रसिकोंका मनरूपी भ्रमर भगवान्‌के चरणकमलोंमें अहर्निश रमता है। इसीलिये नन्दादिकोंने चरणारविन्दके दर्शन-स्मरणकी प्रार्थना की है—

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥
(श्रीमद्भा० १०। ४१। ६६)

तथा व्रजसीमन्तिनियोंने भी भगवच्चरणरजकी प्रार्थना बारंबार की है।

'फणिफणार्पितं ते पदाम्बुजम्।'

अतः 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' 'कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्' 'जलरुहाननं चारु दर्शय' इत्यादि शतशः वाक्योंसे भगवद्दर्शनकी फलरूपता पुष्ट होती है। वह फल भगवत्कृपैकसाध्य होनेसे उसकी प्राप्ति होनेतक श्रवणादि साधनसमूहोंकी आवृत्ति निष्कामभावसे करना ही सिद्धान्त है।

इससे यह सिद्ध होता है कि फल देना या न देना फलदाता भगवान्‌की इच्छाके अधीन है, जीवकी कृतियोंसे साध्य नहीं। यद्यपि दोषोंके निराकरण करनेके लिये बहुत प्रकार हैं तो भी 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' इस भगवद्वाक्यानुसार सभी अन्यान्य उपाय सदोष होनेसे 'अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे'—सभी अनर्थोंको शान्त करनेवाला श्रीकृष्णविषयक भक्तियोग ही सर्वोपादेय, सर्वोत्तम और सर्वदोषनिवर्तक उपाय है।

षडैश्वर्यशाली वनमाली घनश्यामके मानसिक, दैहिक एवं आर्थिक व्यापारविशेषको ही सेवा कहते हैं और उसका आधार परम सेव्य भगवान्‌में सबसे बढ़कर दृढ़ प्रेम ही है।

धात्वर्थ उत्तमा सेवा स्नेहोऽर्थः प्रत्ययस्य च।

भगवान्‌की वह सेवा सभी इन्द्रियोंसे तथा मन और आत्मासे होती है। भगवत्सेवारूप क्रियामें उप+समीपमें आसनपर बैठकर क्रियाकलाप करना पड़ता है, वही उपासना कहलाती है। परंतु भगवत्सेवामें सर्वेन्द्रियोंकी प्रवृत्ति स्वतः नहीं हो सकती; क्योंकि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठोपनिषद् २।१।१)

इस वाक्यके अनुसार इन्द्रियाँ स्वभावतः विषयप्रवणा होती हैं। उनको भगवत्प्रवणा करना श्रवणादि-साधनद्वारा भगवत्कृपैकसाध्य है। अतः भगवत्कृपाद्वारा उनकी सेवामें प्रेरणा प्राप्त करनेके लिये प्रेरक सर्वान्तर्यामी व्रजेशसे समस्त व्रजसुन्दरियाँ प्रार्थना करती हैं—

'हे लीलानायक! हे गोपाल! हम अपने कानोंसे मङ्गल-रूप आपके गुणों, लीलाओं एवं नामोंका वर्णन करनेवाला प्रधान शास्त्र श्रवण करनेमें समर्थ हों, ऐसी कृपादृष्टि कीजिये—अर्थात् आपकी कथा सुननेमें प्रतिबन्धकरूप बाधिर्यादि दोष दूर हों; क्योंकि उनके रहनेसे आपकी रसमयी कथा सुननेसे वञ्चित होना पड़ेगा। इससे वियोग-भाव अत्यन्त दुःसह हो जानेपर जब रक्षकके अभावमें देहपात हो जायगा, तब तो भगवत्संयोगसुखकी उपलब्धि हुए बिना सकल अभीष्ट मनोरथोंकी पूर्ति असम्भव है; अतः जैसे संयोग-दशामें आप ही रक्षक हैं, उसी तरह विप्रयोग-दशामें भी आपकी षडैश्वर्यवती रसमयी कथा ही संसारके तापोंसे पीडित भक्तजनोंके लिये एकमात्र संजीवनसाधन है।

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।९)

अर्थात्—भगवान्‌के यों पूछनेपर कि 'तुम यदि शुद्ध प्रेमी भक्त हो तो मेरे विरहमें क्यों प्राण धारण करती हो', उत्तरमें गोपियोंने निवेदन किया कि 'जब आप ब्रह्मादि देवोंकी प्रार्थनापर कार्यवश भूतलपर प्रकट होते हैं, तब जो प्राणी हैं, वे तो आपके स्वरूप-दर्शन, चरण-स्पर्शादिसे कृतार्थ हो जाते हैं और जब आप प्रेमी भक्तोंकी दृष्टिसे ओझल हो जाते हैं, तब तो उन विरही जीवोंका जीवन संकटमें पड़ जाता है। उस समय आपकी परम पावन रसमयी लीला-कथा-सुधा ही एकमात्र संजीवनी परमौषधि है, जिससे विरहीजनोंके प्राण बच जाते हैं। क्या करें हम, गाँव-गाँवमें पण्डितजी आपकी सरस मधुर कथा बाँचते हैं, जिसे सुनकर हमारे प्राण तनसे नहीं निकलते। अनन्य रसिक-जनोंने प्रसिद्ध स्वर्गीय अमृतसे तथा मोक्षमयी सुधासे भी आपके कथामृतकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है—

या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किंत्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥

(श्रीमद्भा० ४।९।१०)

भगवत्कथा-रस प्रारब्धपर्यन्त समस्त दोषसमूहोंको नष्ट करता है। स्वर्गीय अमृत तो कामादिवर्धक होनेसे उपेक्षणीय है और मोक्षामृत भगवदीयोंको अभीष्ट नहीं है। उस कथारसका आस्वादन श्रवणेन्द्रियद्वारा होता है, क्योंकि कथारस द्रव्य नहीं शब्दमय है, अतः भगवद्गुण, नाम, लीलारस प्रतिपादन करनेवाले शब्दोंका श्रवण करना ही कथारसका आस्वादन है। उससे भिन्न अमृत अधिक धनव्ययादि-साध्य है। कथामृत तो लक्ष्मीजीको भी अपेक्षित है। वह **'कविभिरीडितम्'** अमृत पीनेवाले ब्रह्मादि देवोंसे भी प्रशंसित है और मङ्गलमय होनेसे वक्ता तथा श्रोतागणोंका सर्वथा मङ्गलकारी है। वह ब्रह्माण्डके भीतर-बाहर सर्वत्र व्यापक है—**'मृडविरञ्चिसभासु गीता'** वह कथा शिव तथा ब्रह्माजीकी सभाओंमें गायी जाती है।

भगवान् स्वतन्त्र हैं—कथामृत परतन्त्र है। भगवान् तो देवोंकी प्रार्थनापर आते हैं, फिर आकर तिरोहित हो जाते हैं। कथामृत तो आकर भी तिरोहित नहीं होता। आप परमानन्दरूप हैं तो आपकी कथा भी परमानन्दमयी है; क्योंकि वह महाभाव एवं रसराजस्वरूप आप युगल प्रियाप्रियतम श्रीराधाकृष्णकी रहस्य-लीलाओंसे पूर्ण है। स्वर्गीय अमृत समुद्र-मन्थनसे उत्पन्न होकर स्वर्गके एक कोनेमें रक्खा है,

यह कथामृत तो 'आततम्'—सर्वत्र फैला हुआ है; अतः सुलभ है। अन्य अमृत देशादिनिरुद्ध होनेसे परिमित हैं। मरणधर्मवालोंको अमर बनानेके कारण अमृत नामधारी होनेपर भी कल्पान्तमें देवोंका भी नाश सुना जानेके कारण वह वास्तवमें अमृत नहीं कहा जा सकता। भगवत्कथा ही यथार्थ अमृतपदसे वाच्य है; क्योंकि वह सांसारिक त्रिविध तापोंको समूल नष्ट करनेवाली है; उसके आगे चतुर्वर्ग तृण-समान गिने जाते हैं। ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा भजनानन्द श्रेष्ठ है। भगवत्कथा-श्रवणकी महिमा यत्र-तत्र सर्वत्र प्रसिद्ध है ही, अतः विस्तारके भयसे इसे यहीं समाप्त कर देते हैं।

इस प्रकार विप्रयोग-दशामें भगवत्सुखकी प्राप्तिके लिये श्रीमद्भगवत्कथाको ही प्रेमी भक्तजनोंके देहरक्षणका साधन बतलाया गया है। अब संयोग-दशामें भगवद्दर्शनके साधनोंकी प्रार्थना करती हुई गोपियाँ निवेदन करती हैं—आपके मङ्गलमय विग्रहका हम अपने नेत्रोंसे दर्शन करनेमें समर्थ हों। अर्थात् आप-के दर्शनमें प्रतिबन्धकरूप अन्धत्वादि दोष हमको कभी न हों, ऐसी कृपा कीजिये; क्योंकि उनके रहते संयोगदशामें भी आपके स्वरूपका दर्शन न होनेसे हमारा जीवन ही व्यर्थ हो जायगा। अतः संयोगावस्थामें अपने नेत्ररूपी चकोरोंसे आपके मुखचन्द्रका दर्शन करनेके लिये नेत्रोंकी परम आवश्यकता है। 'मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ' इस भागवतीय वाक्यके अनुसार भगवद्दर्शनसे ही चक्षु-इन्द्रियकी सार्थकता है अन्यथा 'बर्हायिते ते नयने नराणाम्' वे मयूरपिच्छके अन्तर्गत दीखनेवाले नेत्रोंकी तरह व्यर्थ ही हैं। चक्षुष्मान् व्यक्तियोंके नयनोंके उत्सवको बढ़ानेवाले सर्वात्मा भगवान्‌का दर्शन ही परम लाभ है। 'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः' और कुछ नहीं। 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' यह श्रुति तथा 'अयं हि परमो लाभो यद्योगेनात्मदर्शनम्' यह भागवतीय वाक्य यही प्रमाणित करते हैं। अतः भगवद्दर्शन ही फलरूप है। इन्द्रियवान् पुरुषोंका भगवान्‌के साथ संलाप करना दर्शन मिलनेपर ही हो सकता है।

आलिङ्गन, सेवन, चरणस्पर्श, अधरामृतपान, भगवत्-कूजित वेणु-गानका श्रवण, उनके मुख-सौरभका आघ्राण तथा भोगका रसास्वादन और उनके निकट गमन—ये सब सुख भगवद्दर्शन बिना कैसे सम्भव हैं? जैसे अन्धकारमें बैठे रहना आँखोंका फल नहीं, उसी तरह मोक्ष भी इन्द्रियवान् पुरुषोंका फल नहीं हो सकता; इसीलिये गुह्यकोंने भगवन्मूर्ति एवं वैष्णवोंके दर्शनकी प्रार्थना की है—

दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्।

(श्रीमद्भा० १०। १०। ३८)

जिस प्राणीके वाणी, युगल पाणि, नेत्र, श्रोत्र, पैर और चित्त—ये छः भगवत्सेवामें आसक्त हों वह कृतार्थ ही है; क्योंकि उक्त छः अङ्ग ही पुरुषोंमें प्रधान माने गये हैं। भगवद्दर्शनको ही ब्रह्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार कहते हैं। परंतु ज्ञानीजनोंको अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति तथा भक्तजनोंको साक्षात् पुरुषोत्तमकी प्राप्ति होती है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मज्ञानी परम पुरुषोत्तमको प्राप्त होता है। अतः ज्ञान साधन है और भक्ति फलरूपा है। 'लाङ्गलं जीवनम् इतिवत्' जैसे हल साधन है, अन्न जीवन है, तथापि अन्नप्राप्तिका कारण होनेसे हलको ही जीवन कह दिया जाता है, उसी प्रकार भक्तिकी प्राप्तिका साधन होनेसे ज्ञानको भक्तिसाध्य पर-प्राप्तिका साधन कहा गया है। अतः ज्ञानको साधन तथा भक्तिको फल समझना चाहिये। भक्तिमात्रैकगम्य भगवान् अपने निष्किञ्चन, अनन्य भक्तोंके ही वशीभूत होकर अपना दर्शन देते हैं। भगवत्तत्त्वका ज्ञान, भगवत्स्वरूपका दर्शन एवं भगवल्लीलामें प्रवेश—ये तीनों अनन्य भक्तिसे ही सम्भव हैं। जो सर्वसङ्गसे रहित है, वही भगवत्तत्त्वके रहस्यको जानकर उनकी तन, मन, धनसे सेवा करने लगता है। अपरिचित वस्तुका सेवन कोई भी नहीं कर पाता है।

सभी जीव दुःखोंका अभाव तथा सुखकी प्राप्ति चाहते हैं और उनके साधनकलापोंको क्रियान्वित भी करते हैं; परंतु उससे विपरीत फल ही पाते हैं। भगवत्सुख ही सच्चा सुख है। उससे भिन्न सभी दुःखमय होनेसे अनुपादेय हैं। सदानन्दांशसे रहित चिदंश जीव सुखका लोभी होनेसे अहर्निश उसीके लिये प्रयत्नशील रहता है, जिधर सुख पानेकी चेष्टा करता है, उधर ही धोखा खा जाता है। इस प्रकार प्राणियोंकी दयनीय दशा देखकर परम दयालु जगत्पिताने अपने धाममें सुखपूर्वक निवास करानेके लिये मनरूपी बागडोरसे बँधे हुए दस इन्द्रियरूपी घोड़ोंसे सुसज्जित मानव-शरीररूपी रथ दिया है। ऐसे श्रीमन्मुकुन्द-की सेवाके उपयोगी मानव-कलेवरको प्राप्तकर उनको न भजना कृतघ्नता ही है। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसः—कालवश आधुनिक युगमें श्रवण, कीर्तन, दर्शन ही मुख्य साधन माने जाते हैं। अतः सर्वथा भगवच्चरित्रका श्रवण तथा नाम, लीला, गुणोंका ऊँचे स्वरसे कीर्तन एवं भगवद्दर्शन करना

ही मुख्यतया कलिकालमें सर्वोपादेय साधन रह गया है। एवं संयोग और विप्रयोग भेदसे दो प्रकारके सुखके लिये प्रार्थना करके उनकी प्राप्तिमें आयुकी परमावश्यकता समझकर श्रीमन्मुकुन्द-सेवोपयोगी आयु प्राप्त करनेके लिये श्रुतिरूपा गोपियाँ स्तुति करती हैं—'दे देव !' दशविध लीला-विशिष्ट पुरुषोत्तम। 'स्थिरैः' सांसारिक एवं वैषयिक व्यापारोंसे रहित दृढ 'अङ्गैः' अवयवोंसे 'तुष्टुवांसः' परमब्रह्मसे श्रीगोपालजी-की स्तुति करनेवाले हमलोग 'तनूभिः' देह, इन्द्रिय एवं अन्तःकरणोंसे 'यद्' वेदादि भागवत-शास्त्रोंमें प्रसिद्ध जो 'हितं' जीवोंकी हितकारिणी सेवाके लिये उपयोगी 'आयुः' जीवन है, उसे 'व्यशेम' हम प्राप्त हों। इसीमें हमारे जीवन-की सफलता है। आप प्राणनाथ हैं, जीवनधन हैं, आपकी सेवा करना ही हम सेवकोंका परम कर्तव्य है। इसके विपरीत आपके भजन, सेवनसे रहित, परम फलकी प्राप्तिमें विलम्ब करनेवाला जीवन हमें अभीष्ट नहीं है—

तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः।
नृणां येनेह विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥

इस भूतलपर जितने देहधारी प्राणी हैं, उनमें मनुष्य-योनि ही सर्वश्रेष्ठ है 'तासां मे पौरुषी प्रिया'। उसको पाकर परम सुखसे सेव्य हरि-भक्तोंके दुःखोंको हरनेवाले भगवान्-की सेवा तन, मन, धन, वचनसे करनेपर ही जन्म, कर्म, आयु, मन, वचनोंकी सार्थकता है। विष्णुसूक्तमें भी 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' इस मन्त्रमें 'भजधातु सेवार्थक है—विष्णु भगवान्‌की सेवा न हो तो वह आत्महननके सिवा और क्या है ! भगवन्महिमा अपार है, उसका सम्पूर्ण वर्णन करना अपनी शक्तिके बाहर है; अतः विस्तारके भयसे यहीं प्रसङ्ग समाप्त करते हैं।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

श्रीचैतन्य महाप्रभुके मतमें साध्यसाधन-तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीमहानामव्रत ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सृष्टिमें मनुष्य एक विचित्र प्राणी है। एक अंशमें वह जीव है, अपने प्रयोजनके साधनमें रत है और दूसरे अंशमें वह मनुष्य है, यथार्थ मनुष्य है, अपने प्रयोजनसे ऊपर है। साधारण मनुष्योंमें देखते हैं कि उसका प्रयोजन समाप्त नहीं होता। निरन्तर वह कुछ-न-कुछ अनुसंधान करनेमें लगा रहता है। उसकी चाह मिटती नहीं। इसका कारण है जीवकी अपूर्णता। अपूर्ण जीव पूर्ण होना चाहता है। अतृप्त जीव तृप्ति खोजता है। मरणशील जीव अमृतकी ओर दौड़ता है। जबतक उसको अमृतमयी व्रज-प्राप्ति नहीं हो जाती, तबतक कामनाकी निवृत्ति नहीं होती।

हम जीवनके सामयिक प्रयोजनोंको खूब समझते हैं। समस्त जीवनके प्रयोजनको नहीं समझते, नहीं सोचते-विचारते। इतना तो स्पष्ट है कि भोजनाच्छादनके लिये कर्मकी आवश्यकता है और जीवन-धारणके लिये भोजना-च्छादनकी आवश्यकता है। परंतु जीवन-धारण किस लिये है, यह स्पष्ट नहीं होता। हमारे हाथमें एक घड़ी बँधी है, दो-दस मिनटका हिसाब तो हम रखते हैं; परंतु सारा जीवन जो चला गया, इसका कोई हिसाब-किताब हमारे पास नहीं है।

सारे जीवनके इस प्रयोजनका नाम ही वैष्णवशास्त्रोंमें 'प्रयोजन-तत्त्व' रक्खा गया है। यह चरम प्रयोजनीय वस्तु है क्या ! श्रीमन्महाप्रभुकी भाषामें 'पुरुषार्थ-शिरोमणि प्रेम ही महाधन है'। जिस प्रयोजनके सिद्ध होनेपर सब प्रयोजन निवृत्त हो जाते हैं, वह है प्रेम—'प्रेम-प्रयोजन'। यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि 'भगवान् श्रीकृष्ण वह प्रयोजन हैं' यह बात भी वे नहीं कहते। कारण यह है कि हृदयमें यदि प्रेम न हो तो भगवान्‌को पानेपर भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उनका 'न पाना' ही रहता है। कंस और शिशुपालने श्रीकृष्णको प्राप्त किया था, परंतु प्रेमहीन होनेके कारण उस मिलनमें उन्हें माधुर्यका आस्वादन नहीं हुआ। खाद्य पदार्थकी भूख नहीं है तो उस खाद्यका भोग आस्वादन न होगा। पहले भूख प्रयोजनीय है। श्रीकृष्णको आस्वादन करनेकी भूख ही प्रेम है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि 'खाद्य भोजन है, पर भूख नहीं है—यह कष्टकर तो है, किंतु भूख है और भोजन नहीं है, यह क्या तदपेक्षया अधिक कष्टप्रद नहीं है ?' लौकिक जगत्‌के भोजन और भूखके सम्बन्धमें यह सर्वथा सत्य है। परंतु अलौकिक, अप्राकृतिक भूख, 'प्रेम' के सम्बन्धमें यह बिल्कुल ही असत्य है। प्रेम नहीं है और

श्रीकृष्ण हैं—यह दृष्टान्त मिलता है; परंतु प्रेम है और श्रीकृष्ण नहीं हैं, ऐसा दृष्टान्त कहीं भी नहीं है। प्रेमका एक अनिर्वचनीय स्वभाव है श्रीकृष्णको आकर्षित करना। प्रेमरूपी भूख हृदयमें लग जानेपर आस्वाद्य वस्तु—वे प्रेमके 'विग्रह' वहाँ दौड़कर आनेके लिये बाध्य हैं। वे इसी प्रकार प्रेमके अधीन हैं।

इस परम प्रयोजनीय वस्तुको प्राप्त करनेके उपायका नाम 'साधन' है। प्रेमधनकी प्राप्तिके साधनका नाम 'भक्ति' है। भक्ति बड़ी दुर्लभ वस्तु है। श्रीरूपको शिक्षा देते समय महाप्रभुने भक्तिकी सुदुर्लभता बतलायी है। ब्रह्माण्डमें अगणित जीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण कर रहे हैं, जलचर, थलचर और नभचर जीवोंमें मनुष्योंकी संख्या बहुत कम है। उनमें भी शाश्वत वैदिक सिद्धान्तकी शीतल छायामें आश्रय लेनेवाले मनुष्योंकी संख्या और भी कम है। जो लोग वेदको मानते हैं, उनमें भी आधे आदमी तो केवल जबानी वेद मानते हैं। उनके जीवनमें, आचरणमें वैदिक सत्यका प्रकाश नहीं है।

जिनके जीवनके आचरणमें वैदिक धारा अक्षुण्ण रूपसे प्रवाहित होती है, उनमें अधिकांश लोग योग-यज्ञकी क्रियाओंमें लिप्त रहते हैं। उन्हें वास्तविक तत्त्वका ज्ञान नहीं। तत्त्वज्ञानियोंमें सब अनुभूति-सम्पन्न नहीं होते। तत्त्वकी अनुभूतिके बिना मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ऐसे तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न कोटि-कोटि मनुष्योंमें कोई एक अनुभूति प्राप्त करके मुक्त होता है। इस प्रकारके कोटि-कोटि मुक्त लोगोंमें कोई एक श्रीकृष्ण-भक्त मिलना दुर्लभ है। मिल भी सकेंगे, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

मुक्ति अभाववाची है और 'भक्ति' भाववाची। दुःखसे परित्राण, बन्धनसे छुटकारा मुक्ति है। किंतु भक्ति एक भाववाची वस्तुका आस्वादन है। जैसे पराधीनताके बन्धनसे मुक्ति और स्वाधीनताका उपभोग एक ही वस्तु नहीं है। कभी-कभी किसी देशमें बहुत चेष्टाके बाद पराधीनताके नागपाशको तोड़ा जाता है, किंतु उसीके साथ-साथ स्वाधीनताका पूर्ण भोग नहीं होता। स्वाधीनताका आस्वादन एक भाववाची वस्तुका सम्भोग है। वह पूर्णरूपसे चेष्टाकी अपेक्षा करता है। इसी प्रकार मुक्तिकी साधना एक वस्तु है और भक्तिकी साधना दूसरी वस्तु है। 'कोटि-कोटि मुक्त पुरुषोंमें कोई एक कृष्ण-भक्त दुर्लभ है।' इसका कारण यह है कि मुक्तिके सुखमें एक आपात पूर्णताका आभास होता है। उसमें मुक्त पुरुष मुग्ध हो जाता है, इस कारण उसकी भक्ति-साधनाका पथ अवरुद्ध हो जाता है।

ज्ञानी जीवन्मुक्त दशा पाइनु करि माने।
वस्तुतः बुद्धि शुद्ध नहे कृष्णभक्ति बिने॥
(श्रीचैतन्य-चरितामृत)

भक्त निष्काम होता है। मुक्तिकी कामना भी एक कामना है। कामनाहीन होनेके कारण ही भक्त शान्त होता है और शान्त होनेसे ही यह भक्तिका अधिकारी होता है। भक्तिकी दुर्लभताकी बात कहते हुए महाप्रभुने श्रीरूप-गोस्वामीसे कहा था कि 'संसार-चक्रमें भ्रमण करते-करते क्वचित् कोई भाग्यवान् जीव भक्ति-लताका बीज प्राप्त करता है। वह भाग्यवान् कौन है? सांसारिक मार्गपर चलते-चलते कदाचित् किसीके मनमें इस प्रकारका विचार उत्पन्न होता है कि 'मेरे पास पर्याप्त धन-जन, विद्या-बुद्धि, सामर्थ्य-सौन्दर्य होते हुए भी मैं अत्यन्त अभागा हूँ; क्योंकि मुझे हरिभक्ति प्राप्त नहीं हुई।' यह भावना तीव्र होकर यदि चित्तमें उद्वेग उत्पन्न करती है तो समझना चाहिये कि वह व्यक्ति भाग्यवान् है। इस प्रकारकी भावना अकारण उत्पन्न नहीं होती। जिस गृहस्थके पड़ोसी उसकी अपेक्षा गरीब होते हैं, वह अपनेको धनी समझता है। दूसरी ओर, जिसके पड़ोसी उसकी अपेक्षासे धनशाली होते हैं, वह अपनेको गरीब समझता है। इसी प्रकार जो लोग भक्तिधनके धनी हैं, उनका सङ्ग-सान्निध्य प्राप्त होनेपर मनुष्य अपने पास उस धनका अभाव देखता है, इससे उसके हृदयमें वेदनाका उदय होता है। परंतु अभक्तके सान्निध्यसे हृदयमें रही-सही थोड़ी-सी भक्ति भी नष्ट हो जाती है।

'लव मात्र साधुसङ्गे सर्वसिद्धि हय।'

यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है।

भक्तिमान् सज्जनके सङ्गसे जिसके हृदयमें भक्तिवासना जाग्रत् हुई है, वही भाग्यवान् है। ऐसा ही भाग्यवान् मनुष्य—'गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज'—सद्गुरु और श्रीकृष्णकी कृपासे भक्तिलताके बीजको प्राप्त करता है। 'प्रसादे पाय' (कृपासे प्राप्त करता है)—श्रीमुखकी यह बात ध्यान देने योग्य है। भक्ति-बीज चेष्टा करनेसे प्राप्त नहीं होता, एकमात्र कृपासे ही प्राप्त होता है। वह प्रयास-साध्य कदापि नहीं है। तो क्या चेष्टाकी कोई सार्थकता नहीं है?—अवश्य है। यदि सार्थकता न होती, तो इतना साधन-भजन, जप-तप करनेकी बात कैसे कही जाती? बहुत दुष्कर प्रयास

या भजन करनेपर यह ज्ञात होता है कि भक्ति प्रचेष्टालभ्य वस्तु नहीं है। प्रचेष्टा अपनी व्यर्थताको प्रकट करके सार्थक बनती है। यथार्थ अनुभूतिकी प्राप्ति कृपासे ही होती है। वेदमन्त्रमें भी है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'—जिसको कृपा करके वरण करते हैं, वही उनका संधान पाता है। अन्य लोगोंकी सारी दूसरे प्रकारकी आयोजना आडम्बरमात्र है। अनुग्रह-शक्तिकी मूर्ति श्रीगुरुकी कृपाके बिना और कोई गति नहीं है।

हृदयमें भक्तिका बीज वपन होनेपर नित्य जल-सेचन करके उसे अङ्कुरित और वर्द्धित करना पड़ता है। तब भक्तिलता वृद्धिको प्राप्त होकर ब्रह्मलोक, परव्योमको भेद करके गोलोक-वृन्दावनमें श्रीकृष्णके चरणरूपी कल्पवृक्षपर आरोहण करती है। तब उस लतामें प्रेम-फल फलता है। श्रवण-कीर्तनरूपी जलका सेचन चलते ही रहना चाहिये। यही सर्वश्रेष्ठ साधन है। अन्य सब प्रकारके साधनोंकी अपेक्षा महाप्रभुके द्वारा प्रदत्त इस भागवतीय साधनमें एक अपूर्वता है। अन्य सभी साधनोंमें पहले ही शास्त्रोक्त साधन-रहस्य आचार्यके मुखसे सुनना पड़ता है। तदनन्तर जीवनके आचरण और अनुष्ठानोंमें उसे पालन करना पड़ता है। परंतु उपर्युक्त भागवतीय साधनमें श्रवणमात्रसे ही फलकी प्राप्ति हो जाती है। केवल श्रवणाङ्गके माध्यमसे ही प्रेम-प्राप्ति-रूप फल-लाभ होता है। यह एक नयी बात है। यह श्रवण-मङ्गलत्व केवल भागवतशास्त्रमें ही वर्तमान है। इसके गूढ़ हेतुका अनुसंधान किया जाता है।

सब शास्त्रोंमें 'इतिकर्तव्यता' होती है अर्थात् यह करो, यह न करो—इस प्रकारका विधि-निषेध रहता है। निष्काम कर्म करो, फलकी आकाङ्क्षा न करो। यह उपदेश केवल सुनने और सोचनेसे कोई फल नहीं होता। वास्तविक जीवनमें इसे परिणत करनेसे ही वाञ्छित फलकी प्राप्ति होती है। भागवतशास्त्रका मुख्य उपदेश 'इतिकर्तव्यता' नहीं है। भागवतका लक्ष्य है पुराण-पुरुषकी नित्य नवायमान लीला-कथाका वर्णन करना। जो शाश्वत सत्य व्रजमें, व्रज-वनमें प्रकटित हुआ है, उसका संवाद देना। उसके कानोंमें पहुँचते ही कल्याणका स्रोत खुल जाता है। यही भागवत-शास्त्रका दावा है। यह रहस्य और भी स्पष्ट होना चाहिये। जीवके साथ भगवान् श्रीकृष्णका अनादि और नित्य सम्बन्ध है, नित्य वस्तु किसी भी कालमें नाशको प्राप्त नहीं होती। जो मनुष्य सदा ही उनको भूला रहता है, यहाँतक कि मुखसे भी उनको स्वीकार नहीं करता, उसका भी नित्य-कृष्ण-दासत्व सम्बन्ध नष्ट नहीं होता; वह केवल विस्मृतिके आवरणसे आवृत रहता है।

बाल्यजीवनकी अनेक प्रिय मित्रोंकी बातें कर्मजीवनमें स्मृतिपटपर नहीं रहतीं। परंतु अचानक उस बाल्य-मित्रका नाम, उसके रूप-गुण, कार्य-कलापकी बात सुननेपर जब विस्मृतिका पर्दा हट जाता है, तब प्रीति पुनः नवीनता प्राप्त करती है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण जीवके सदासे ही अपने हैं। व्रजके रसतत्त्वमें ही जीवका नित्य निवास है। यह नित्य सम्बन्ध उसको याद नहीं है। सम्बन्धके शाश्वत सूर्यको स्मृति-भ्रंशतारूपी मेघने ढँक लिया है। 'मार्जन हय भजन'—भजनके द्वारा ही यह बादल हट सकता है। व्रजकी रासलीलाकी कथा सुनते-सुनते ही मन प्राण-प्रियतमके लिये आकुल हो उठेगा। रासलीलाके उपसंहारमें श्रीशुकदेवजीने यही बात कही है—

'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्।'

माधुर्यघन व्रजकी प्राप्तिका उपाय है, नित्य नवायमान माधुर्यमयी व्रज-कथाका पुनः-पुनः अनुशीलन। भ्रान्ति-पटल अत्यन्त ही घना है। इसको हटानेके लिये बारंबार इस कथाका आस्वादन आवश्यक है। हमारे कान मलसे भरे हैं, इसी कारण हम सुनकर भी नहीं सुनते, कानके मार्गसे बात मर्म-स्थानमें प्रवेश नहीं करती। इसीलिये कहा है कि—'नित्यं भागवतं शृणु।' नित्य अभिनिविष्ट चित्तसे भागवत सुनो। अखण्ड मनःसंयोगसे सुनो। श्रवण-कीर्तन ही चरम कल्याण-प्रद है। वे अमृत हैं। उनकी कथा भी अमृत है। उस अमृतकथाका जो कीर्तन करते हैं, वे भी पूर्णामृत आस्वादन करते हैं। जो श्रवण करते हैं, उनको भी परमामृतका आस्वादन प्राप्त होता है। इस श्रवण-कीर्तनके जल-सेचनसे ही भक्तिलता बढ़ती है। श्रीनारदभक्तिसूत्रमें भक्तिको 'अमृतस्वरूपा' कहा है। श्रीगीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—'भक्त्या मामभिजानाति' अर्थात् भक्तिके द्वारा मुझको सम्यक्‌रूपसे मनुष्य जानता है। श्रुति कहती है—'भक्तिवशः पुरुषः' 'भक्तिरेव भूयसी'। श्रीभगवान् भक्तिके वश हैं, भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका श्रेष्ठ साधन है।

परंतु भक्तिलताकी वृद्धिके मार्गमें दो प्रबल बाधाएँ हैं—एक है वैष्णवापराध और दूसरा है लाभ-पूजा-प्रतिष्ठाकी चाह। विष्णुका अपत्य (विष्णोरपत्यं पुमान्)—इस अर्थमें

जीवमात्र वैष्णव है। उसे पीड़ा पहुँचाना, उसकी अवज्ञा करना, निन्दा करना आदि वैष्णवापराध हैं। अपराध मुख्यतः नैतिक हैं। नैतिक (Ethicae) जीवन पवित्र हुए बिना आध्यात्मिक (Spiritual) साधना फलवती नहीं हो सकती। निरपराध होकर भजन करनेका यही मुख्य तात्पर्य है। मनुष्यके प्रति, भक्तके प्रति, शास्त्रके प्रति जिसकी दृष्टि और आचरण जितना ही निर्मल होगा, उसकी साधना भी उतनी ही उत्कृष्ट होगी।

प्रतिष्ठाका लोभ साधन-पथका दूसरा अन्तराय है। लक्ष्य वस्तु परम पतिके आसनपर जब हम अपने मलिन 'अहं' (मैंपन) को बैठा देते हैं, तब भक्तिलताकी वृद्धि रुक जाती है। केवल इतना ही नहीं, बड़ी जटिल विपत्ति यह है कि साधककी दृष्टि हरिपदसे निजपद-प्रतिष्ठाकी ओर निबद्ध हो जाती है और तब भजन भक्तिदान न करके प्रतिष्ठाके मोहको ही बढ़ाता है। अतएव आराध्य वस्तुके प्रति लक्ष्य सुस्थिर रखकर अहंको पूर्णतया त्यागकर भजन करना होगा। इस प्रकार साधन करनेसे ही भक्तिलता श्रीकृष्ण-पादपद्ममें पहुँचेगी, तब व्रजवन और हृदयवन एकाकार हो जायँगे। श्रीकृष्णके साथ जीवका जो नित्य सम्बन्ध है, वह हृदयमें अनुभूत होने लगेगा। भक्तिलतामें परम पुरुषार्थ प्रेम-फल फलेगा। महाप्रभुकी करुणाके दानसे कृष्णनाम और व्रजका उन्नत उज्ज्वल प्रेम एकाकार हो जायगा—'नाम फले कृष्णपदे प्रेम उपजाय।' निष्कपट और निरपराध होकर नामलीला-गुणका श्रवण-कीर्तन ही साधन है। तभी साध्य वस्तु व्रज-प्रेमकी प्राप्तिसे जीव धन्य हो जायगा।

जय गौरहरि ! जय जगद्बन्धु हरि !

उपासना या साधनाका प्रभाव क्यों नहीं दीखता ?

(लेखक—ब्रह्मलीन स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

यह प्रश्न तो ऐसे साधकके मनमें ही उठता है जिसकी साधना प्रदान करनेवाले गुरुमें श्रद्धा नहीं होती, आत्मसमर्पण करने-जैसी श्रद्धा नहीं होती। जहाँ दृढ़ श्रद्धा है, वहाँ साधन खूब तत्परतासे हुए बिना नहीं रहता। अतएव इस प्रकारके साधकको ऐसी खोज करनेकी फुरसत ही नहीं मिलती। इसलिये साधनामें प्रथम आवश्यकता है दृढ़ श्रद्धाकी। श्रीभगवान्ने गीता ४। ३९ में कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये गुरुके ऊपर परम श्रद्धा अनिवार्य है। श्रद्धा न होनेसे ज्ञान-साधना तत्परतासे नहीं होती और जबतक साधनामें तत्परता नहीं आती, तबतक साधनामें कोई फल प्रत्यक्षरूपमें नहीं दीखता। यह भाव सूचित करनेके लिये श्रीभगवान्ने उससे अगले श्लोक (४। ४०) में कहा है—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

एक तो अज्ञानी है और दूसरे किसीके ऊपर श्रद्धा नहीं रखता, ऐसा मनुष्य सदा संशयग्रस्त रहेगा। स्वयं समझता नहीं और गुरुजनके ऊपर विश्वास रखता नहीं, ऐसे मनुष्यका संशय कैसे दूर होगा ? अतएव श्रीभगवान् कहते हैं कि इस संशयग्रस्त साधकका यह लोक बिगड़ता है, इसमें उसे सुख नहीं मिलता; इसी प्रकार उसका परलोक भी बिगड़ जाता है।

यहाँतक हमने यह देखा कि किसी भी साधनाकी सफलताके लिये साधना बतानेवाले व्यक्तिके प्रति परम श्रद्धा होना अनिवार्य है। किसी भी साधनामें सिद्धिके लिये 'अभ्यास-वैराग्य'के प्रसङ्गमें अभ्यासका स्वरूप बतलाते हुए पातञ्जल योग-दर्शनमें लिखा है—

(१) **दीर्घकाल**—साधना दीर्घकालपर्यन्त अडिग श्रद्धासे करनी चाहिये। दीर्घकालका अर्थ यहाँ दो वर्ष, चार वर्ष, दस वर्ष आदि सीमित समयके अर्थमें नहीं है। बल्कि इसका अर्थ है—सिद्धि प्राप्त होनेतक। इसलिये सिद्धि प्राप्त होनेतक अडिग धैर्यसे साधना करते रहना चाहिये।

(२) **नैरन्तर्येण**—अर्थात् साधना नित्य-निरन्तर करनी चाहिये। चार दिन मुस्तैदीसे करके दो दिन छोड़ दे तो ऐसा करनेसे साधना सफल न होगी। इसके लिये

नित्य और निरन्तर अर्थात् बीचमें नागा किये विना साधना करते रहना चाहिये।

(३) सत्कारासेवित—दूसरी जगह कहीं ध्यान न देकर केवल साधनामें ही चित्तको एकाग्र रखना चाहिये। यदि साधनामें आदरबुद्धि, भाव और प्रेम न हो तो उसमें एकाग्रता नहीं होती; इसलिये जो कुछ भी करे, वह आदरबुद्धि, भाव और प्रेमसे करे। इस प्रकार जो साधना होती है वह सफल हुए विना नहीं रहती।

अब दीर्घकालपर्यन्त मनुष्य साधना नहीं कर सकता। इसका कारण या तो श्रद्धाकी कमी है या पुरुषार्थ हो नहीं पाता। चार-छः महीने साधना करे और फिर विचार करे कि इस छः महीनेसे साधना करते आ रहे हैं, परंतु फल तो कुछ नहीं दीखता। तो यह ठीक नहीं। यह समझनेके लिये एक दृष्टान्त लें। योगवासिष्ठमें लिखा है—

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा।
एवमात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते॥

जैसे बीज बोनेके बाद अङ्कुर निकलनेमें देर लगती है और माताके उदरमें गर्भके परिपक्व होनेमें समय लगता है, उसी प्रकार साधनाके परिपक्व होनेमें समय अवश्य ही लगेगा। थोड़ा समय लगता है या अधिक, इसका आधार साधकके काषायके ऊपर है। जिस साधकका काषाय अल्प प्रमाणमें और अच्छा होता है, उसे थोड़े समयमें सिद्धि मिल जाती है। जिसका काषाय बड़े प्रमाणमें और घटिया होता है, उसे बहुत देर लगती है। भले ही एक ही गुरुके दो शिष्य हों और उनके पास साधना करते हों, तथापि ऊपर लिखे कारणोंसे एकको जल्दी सफलता मिलती है और दूसरेको देरसे।

एक मूँगका दाना बोइये तो तीसरे ही दिन अङ्कुर आ जायगा; परंतु कोई कठिन दाना, जैसे बेरका बीज अथवा बेल बो दें, तो उसके अङ्कुर निकलनेमें ६-७ महीने लग जायँगे। इस प्रकार विभिन्न प्रकारके बीजके अङ्कुर निकलनेमें अलग-अलग समय लगता है। इसी प्रकार साधनाके सफल होनेमें भी समय लगता है।

इसी प्रकार माताके उदरमें गर्भके परिपक्व होनेमें भी कुछ समय अपेक्षित होता है। छोटे जीवोंको थोड़ा समय लगता है और बड़े प्राणीको विशेष। मानव-गर्भके परिपक्व होनेमें २७० दिन लगते हैं। अब यदि परदेश गया हुआ पति पाँच महीना बीतनेके बाद ही हर महीने पूछने लगे कि पत्नीको क्या बालक हुआ, तो यह प्रश्न जिस प्रकार हास्यास्पद जान पड़ेगा, उसी प्रकार साधनाके परिपक्व होनेके समयसे पहले ही यदि मनमें विचार आवे कि साधनाका फल क्यों नहीं दीखता, तो यह भी उसी प्रकार हास्यास्पद होगा।

पूर्ण धैर्यपूर्वक साधकको जबतक सिद्धि प्राप्त न हो जाय, तबतक दृढ़ श्रद्धाके साथ साधना करते रहना चाहिये। यदि बीचमें धैर्य टूटने लगा तो सब किया-कराया व्यर्थ जायगा।

श्रद्धाकी कमीका दूसरा दुष्परिणाम यह होता है कि एकके बाद दूसरी साधना बदलती रहती है और अन्तमें किसीमें भी निष्ठा नहीं रहती। मनका स्वभाव ही ऐसा है कि यह प्राप्तका आदर नहीं करता; प्राप्तमें दोष देखता और उससे घबराकर अप्राप्तकी खोजमें दौड़ा करता है। मन हठीले स्वभावके कारण अनादिकालसे जन्म-मरणका दुःख भोगता आ रहा है और जबतक अपना हठीलापन नहीं छोड़ता, तबतक जन्म-मरणके दुःखसे छुटकारा नहीं है। परिश्रमसे यदि वह 'यदृच्छालाभसंतुष्टः' का पाठ पढ़ ले तो भव-बन्धनसे उसकी मुक्ति हो जाय।

एक आदमी एक साधनामें लगता है। चार-छः महीने या वर्ष-दो वर्ष उसमें ठीक मन लगाता है। पश्चात् अकुलाने लगता है और उसमें दोषदृष्टि करके दूसरी अधिक सरल साधनाकी खोजमें लग जाता है। नये साधनमें उसे गुण-ही-गुण दीखता है। अतएव उसे ग्रहण कर लेता है। पश्चात् उसमें चार-छः महीने या वर्ष-दो वर्ष रमण करता है और फिर अकुलाकर उसे भी छोड़ देता है। इस प्रकार एकके बाद दूसरी साधना छूटती जाती है और जीवन व्यर्थ ही कट जाता है।

कोई साधना केवल गुणप्रद या केवल दोषप्रद नहीं होती। इस संसारकी रचना ही द्वन्द्वात्मक है। अतएव गुणके साथ दोष, सुविधाके साथ असुविधा, अनुकूलताके साथ प्रतिकूलता रहती ही है। दोष, असुविधा और प्रतिकूलतापर ध्यान न देकर एक ही साधनामें मनुष्य लगा रहे, तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है; अथवा तब होती है जब उसमें अविचल श्रद्धा होती है। इस प्रसङ्गकी चर्चा भगवान्‌ने

स्वधर्मपालनके सम्बन्धमें की है । वह देखने योग्य है । श्रीभगवान् (गीता ३ । ३५) कहते हैं—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

अब यहाँ धर्मके स्थानमें साधना शब्द रख दीजिये तो कुछ भी हर्ज न होगा । तब इसका अर्थ यह होगा कि अपनी साधना, भले ही, दूसरी साधनाकी अपेक्षा कम आकर्षक अथवा अधिक श्रमसाध्य जान पड़े तो भी उसमें लगे रहनेमें ही साधकका कल्याण है । मन दूसरेकी साधना देखकर अवश्य कहेगा कि वह साधना सहजसाध्य है; परंतु उसके भुलावेमें पड़ना नहीं चाहिये और अपनी ही साधनामें लगे रहना चाहिये । भगवान् तो यहाँतक कहते हैं—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
(गीता ३ । ३५)

अपनी साधना करते-करते यदि साधककी आयु पूरी हो जाय, तो भी उससे साधकका कल्याण ही है; परंतु एक साधनाको छोड़कर दूसरी ग्रहण करनेमें हानि है । यह बात एक दृष्टान्तद्वारा समझिये । मान लीजिये कि एक आदमीके पास सात मोटरें हैं । प्रत्येकमें एक प्रकारकी सुविधा है तो दूसरे प्रकारकी असुविधा है । इसी प्रकार सातोंमें पृथक्-पृथक् विशेषताएँ हैं । वह मनुष्य यदि असुविधापर ध्यान न देकर सुविधाको देखकर किसी मोटरमें जाय तो अवश्य गन्तव्य स्थानमें पहुँच जायगा । परंतु यदि असुविधाको देखेगा और किसी मोटरमें एक-आध मील जाकर असुविधासे घबराकर पीछे लौटेगा और इसी प्रकार दूसरी मोटरोंमें लौट-फेर करता रहेगा तो कभी गन्तव्य स्थानमें नहीं पहुँच सकेगा । कोल्हूके बैलके समान दिनभर चलता रहेगा तो भी शाम होनेपर जहाँ-का-तहाँ ही रह जायगा ।

यही बात साधनाकी है । निष्ठा एक ही साधनामें होती है । जैसे पतिव्रताका पति एक ही होता है, उसी प्रकार साधककी साधना एक ही होती है; गुरु एक ही होता है, उसी प्रकार मन्त्र भी एक ही होता है । इसमें यदि बार-बार अदल-बदल किया करे तो मनुष्यको कभी भी साधनामें सिद्धि मिलनेवाली नहीं है ।

साधनाके दो प्रकार हैं—एक निर्गुण-निराकार और दूसरा सगुण-साकार । सगुण-साकारमें मनुष्य राम-कृष्णादिकी उपासना करता है । श्रीरामकी उपासना करनेवालेको कोई भ्रममें डाल दे और कहे कि तुम इस उपासनाको छोड़ दो; क्योंकि श्रीकृष्णकी उपासनामें सिद्धि शीघ्र मिलती है । आगे चलकर वह साधक कृष्णकी उपासनाको भी छोड़ देता है और गणपतिको ले लेता है; फिर गणपतिको छोड़कर शीघ्र फलकी प्राप्तिके लिये हनुमान्‌की उपासना करता है । इस प्रकार यदि एक बार साधना बदली तो फिर उसका कोई अन्त नहीं होता । अमेरिकाका एक तलाकका किस्सा यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा । एक स्त्रीने जब पहली बार तलाक दिया तो उसने बहुत ही विचार किया और फिर तलाक दे दिया । दूसरा घर करनेके साथ-साथ वर्तमान पतिसे और अच्छा पति कहाँ मिलेगा, वह इसकी खोज करने लगी । मनका ऐसा स्वभाव है कि वह प्राप्त वस्तुका आदर नहीं करता । इतना ही नहीं, बल्कि उसका दोष देखने लगता है और अप्राप्त वस्तुके काल्पनिक गुणकी ओर ही दृष्टि डालकर उसपर आकर्षित होता है । इस प्रकार उस स्त्रीने एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा—इस प्रकार ४५ वर्षकी उम्र होते-होते १९ बार तलाक दिया । अन्तमें न्यायाधीशने कहा कि 'मैं आशा करता हूँ कि यह अन्तिम तलाक होगा ।'

यही बात साधनाकी है । एक साधना छोड़कर दूसरी करनेसे, फिर अनेक प्रकारकी साधनाओंकी खोजमें मन दौड़ता है और एक साधनाके बाद दूसरी साधना बदलती जाती है एवं किसी भी साधनामें स्थिरता न होनेके कारण खाली हाथ मनुष्य मृत्युको प्राप्त होता है । इसी कारण श्रुति भगवती साधकका अधिकार बतलाते हुए कहती है कि—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

अर्थात् जिस साधकको ईश्वरमें पूर्ण अनुराग होता है और जैसी भक्ति ईश्वरमें होती है वैसी ही गुरुमें होती है, उस साधकको कभी साधना बदलनी नहीं चाहिये । उसके लिये कहा है—

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।

अर्थात् जिस मनुष्यमें अटूट श्रद्धा है और गुरुमें ईश्वर-भाव है, उसको जो साधना बतलायी जाती है, वह सिद्ध हुए बिना नहीं रहती ।

प्रत्येक साधनामें सिद्धिपर्यन्त धैर्य रखनेकी तथा विश्वास न छोड़नेकी अनिवार्य आवश्यकता है । मनुष्य अपनी मान्यताओंके वश होकर जो कुछ पढ़ता है या मित्रमण्डलीमें सुनता है, उसको अनुभवमें लानेकी आशा करता है और

वैसा अनुभव न होनेपर साधनापरसे विश्वास ही गँवा बैठता है। कोई कहता है कि 'मुझे तो घण्टा-जैसी ध्वनि सुनायी पड़ती है।' कोई कहता है कि 'मुझे तो मधुर वंशी-ध्वनि सुन पड़ती है।' किसीको प्रणवका दर्शन होता है, किसीको प्रकाशका दर्शन होता है और वह भी लाल, नीले और उजले प्रकाशका। किसीको राम-कृष्ण आदि देवताओंका तथा अम्बिका, बहुचरा आदि देवियोंका दर्शन होता है। किसीको गणपतिका, तो किसीको हनुमान्‌जीका दर्शन होता है। इस प्रकारकी बहुत-सी बातें मनुष्यके पढ़ने और सुननेमें आती हैं। भगवान् ही विभिन्न रूपोंमें प्रकट होते हैं। मन जिस भावनाके ऊपर केन्द्रित होता है, उसी भावनाके अनुसार उसे दीखता है। परंतु वैसा ही दर्शन दूसरेको हो, यह आवश्यक नहीं है। इसलिये साधकको ऐसी मान्यतामें नहीं फँसना चाहिये, उसे अपनी साधनामें अडिग धैर्यसे अग्रसर होना चाहिये। गुरु वसिष्ठ कहते हैं—

साधनं सफलं तस्य विज्ञेयं यस्य सन्मतेः।
दिनानुदिनमायाति तानवं भोगगृध्नुता॥

यहाँ मूलमें 'विचार' शब्द है। परंतु विचार एक साधन-मात्र है। इसीलिये 'विचार'के लिये 'साधन' शब्दका प्रयोग किया है जो गलत नहीं कहा जा सकता। वसिष्ठ ऋषिके कहनेका तात्पर्य यही है कि साधन सफलतापूर्वक ठीक तौरपर हो रहा है, यह तभी समझो जब साधकके मनकी भोग-लोलुपता दिन-प्रतिदिन शान्त होती जाय। जिस साधककी इच्छा हो वह आत्मनिरीक्षण करके देख ले कि उसकी साधना ठीक चल रही है या नहीं।

साधनामें श्रद्धाके बाद दूसरी आवश्यकता अडिग धैर्यकी है। जबतक सिद्धि प्राप्त नहीं हो जाती, धैर्यपूर्वक अपनी साधनामें लगे रहना चाहिये। इसको समझनेके लिये एक विस्तृत दृष्टान्त लीजिये। एक अच्छे तराजूको डोरीसे ठीक बाँधकर इस प्रकार टाँग दो कि जमीनसे वह कुछ ऊपर रहे। एक पलड़ेमें चालीस तोलेके वजनका एक बाट रख दो। अब इसी भारके चने दूसरे पलड़ेपर रखने हैं। प्रतिदिन एक-एक चना रक्खें तो ३ चनेका एक वाल होता है और ३२ वालका एक तोला होता है। इस हिसाबसे एक तोलेमें ९६ चने आयँगे और ४० तोला बराबर होगा ३८४० चनेके। अब ३६० दिनका एक वर्ष होता है तो १० वर्षमें ३६०० दिन होंगे। बाकी बचे २४० चने। उसके तीस दिनके एक मासके हिसाबसे ८ महीने होते हैं। अर्थात् रोज एक चना रखनेसे पलड़ेपर उस बाटके बराबरके वजनके चने १० वर्ष ८ महीनेमें पूरे होंगे और तब दोनों पलड़े सम रेखामें आ जायँगे। दूसरे दिन एक चना और रखनेसे चनेवाला पलड़ा नीचे झुक जायगा और बाटवाला पलड़ा ऊपर उठ जायगा, इसी प्रकार यदि हम प्रतिदिन साधना करते जायँ और वह भावसे तथा प्रेमपूर्वक हो तो धीरे-धीरे पुराने संस्कार धुलते जायँगे और नये संस्कार पड़ते जायँगे। यह काम चनोंके समान बहुत धीरे-धीरे होना चाहिये। उसमें कितनी प्रगति हो रही है, यह जाननेका कोई साधन नहीं है। इसीके कारण साधक घबरा जाता है और अधिक-से-अधिक चार-पाँच वर्ष साधन करके फिर उसे छोड़ देता है। ऊपरके दृष्टान्तमें हमने स्पष्ट देखा है कि जो कार्य धीमी गतिसे होता है, वह पूरा हो तभी उसकी सिद्धि देखनेमें आती है, यही बात साधनामें भी समझनी चाहिये। चित्तका संस्कार अवश्य धुलता है, नया शुभ संस्कार पड़ता जाता है। परंतु जबतक सारे संस्कार धुल न जायँ और उनके स्थानमें शुभ संस्कार दृढ़ न हो जायँ, तबतक कोई परिणाम देखनेमें नहीं आता। चनेके दृष्टान्तमें जैसे ३८४० वें दिन एक चना रखते ही दोनों पलड़े बराबर हो जाते हैं और दूसरे दिन एक ही चना रखनेपर चनेवाला पलड़ा नीचे झुक जाता है, उसी प्रकार साधनाका क्रम पूरा होनेपर जब शुभ संस्कारका उदय होता है, तभी उसका अनुभव होता है; और तब साधकके आनन्दका पार नहीं रहता। उस आनन्दका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता। चना रखनेवालेको ३८४०वें दिन तथा उसके दूसरे दिन जो आनन्द होता है, उससे भी अधिक आनन्द साधना पूरी होनेपर साधकको होता है।

जिस साधकमें असीम धैर्य तथा उत्साह है, वही साधक सिद्धि प्राप्त करता है। जो धैर्य छोड़ बैठता है और जिसका उत्साह जाता रहता है, वह साधक साधना बीचमें ही छोड़ देता है। चनेके दृष्टान्तके समान कोई १००० दिन साधना करता है और उत्साह मन्द होनेपर छोड़ देता है। अधिक धैर्यवान् साधक २००० दिन साधना करता है और धैर्यमें कमी आनेपर उसे छोड़ देता है, कोई ३००० दिनतक साधना करता है और फल समीप आता हुआ भी न दीखनेसे साधना छोड़ देता है और सिद्धिसे

वञ्चित रह जाता है। कोई ३८०० दिनतक साधना करता है और धैर्यमें कमी आनेके कारण उत्साह मन्द होनेपर उसे छोड़ देता है।

यह तो एक दृष्टान्तमात्र है। यह इस बातको समझानेके लिये है कि साधनामें अडिग श्रद्धा और अटूट धैर्य होना चाहिये। वस्तुतः साधनाकी सिद्धिके लिये समयकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती; क्योंकि इसका आधार अन्तःकरणके दोषोंकी निवृत्तिके ऊपर है। दोष अधिक हों तो अधिक समय लगेगा और कम हों तो कम समय लगेगा। ध्रुवजीको छः महीनेमें ही भगवान्का दर्शन हो गया था। खट्वाङ्ग राजाको क्षणभरमें ज्ञान होकर मुक्ति मिल गयी। विद्यारण्य मुनिने गायत्रीके २३ पुरश्चरण किये, परंतु कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकी। किंतु लाभ यह हुआ कि उनको उत्कट वैराग्य हो गया और उन्होंने संन्यास ले लिया। संन्यास लेनेके बाद गायत्री देवी उनके ऊपर प्रसन्न हुईं और प्रकट होकर वर माँगनेके लिये कहा। विद्यारण्य मुनि बोले—'माताजी! अब तो मैं संन्यासी हूँ और मुझे कोई कामना नहीं है; परंतु आपने पहले दर्शन क्यों नहीं दिये? यह मेरी समझमें नहीं आता।' तब गायत्री देवीने कहा—'तुम्हारे २४ महापातक थे। २३ पुरश्चरणसे २३ पाप धुल गये। यदि एक और पुरश्चरण किया होता तो तुमको मेरा दर्शन हो जाता। किंतु तुमने वैसा न करके, संन्यास ले लिया और संन्यासकी दीक्षामात्रसे तुम्हारा २४वाँ पाप भी दग्ध हो गया। इस कारण मैं आज तुम्हारे समक्ष प्रकट हो गयी हूँ।'

विद्यारण्य मुनिने जैसे धैर्य गँवाकर साधना छोड़ दी थी, उसी प्रकार आजकल बहुत लोग एक निश्चित समयतक कोई फल प्राप्त होते न देखकर साधना छोड़ देते हैं। प्रथम आवश्यकता तो अविचल श्रद्धाकी है। ऐसी श्रद्धा हो तो धैर्य टिके और तभी उत्साहसे साधना हो सके।

साधना छूटती है अपने दोषके कारण और साधक समझता है कि यह साधना ही ठीक नहीं है अथवा गलत है। ऐसी अधकचरी साधना करनेवाले मनुष्य ही शास्त्रकी निन्दा करते हैं और लोगोंमें कहते फिरते हैं कि साधना और सिद्धिकी बात केवल मनुष्यको बहकानेके लिये है और ऐसा मनुष्य यदि विद्वान् होता है तो अपनी आकर्षक शैलीमें इस विषयपर पुस्तकें लिख डालता है!

साक्षरा विपरीताश्चेद् राक्षसा एव केवलम्।

समाजमें अधिकांश लोग तो शास्त्रसे परिचित नहीं होते। इस कारण इस प्रकारके लेखोंसे वे प्रभावित हो जाते हैं और नास्तिक बन जाते हैं। वे अपनी पुस्तकमें यह भी निरूपण करते हैं कि आत्मसाक्षात्कार-जैसी कोई बात होती ही नहीं, यह तो अपने आपको धोखा देनेकी बात है। अंग्रेजीमें इसको वे लोग Auto-Hypnotism कहते हैं।

अडिग धैर्यवान् साधक सिद्धि प्राप्त होनेतक लगा रहता है और ३८४० दिनतक एक-एक चना पलड़ेपर रखता जाता है। वहाँ जैसे दोनों पलड़े समतोलमें आ जाते हैं उसी प्रकार साधकको भी अन्तिम ४० दिन जितने कम समयमें ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

धैर्यविहीन साधक साधन छोड़ते समय अपने मनको समझाता है कि इतने लंबे समयतक भावसे साधना करनेपर भी फल कुछ न मिला। कोई प्रतिबन्ध बाधक हुआ होगा। प्रतिबन्ध तीन प्रकारके हैं—(१) भूत, (२) वर्तमान और (३) भावी।

भूत प्रतिबन्ध—भूतकालमें अनुभूत पदार्थ तथा स्त्री-पुत्र आदि एवं घर-बार आदिका साधनाके समय स्मरण होना—इसको 'भूत-प्रतिबन्ध' कहते हैं। इसकी निवृत्ति अपने पुरुषार्थसे ही होती है। इसका उपाय भगवान्ने गीताके अध्याय ६ श्लोक ३६ में बताया है। मन जहाँ-जहाँ जाय, वहाँसे उसको हटावे और साधनामें लगावे। इसके सिवा भूतप्रतिबन्धके मिटानेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

वर्तमान प्रतिबन्ध—मुख्यतः चार प्रकारका होता है। (१) कुतर्क, (२) दुराग्रह, (३) मन्दबुद्धि और (४) विषयासक्ति। इनमें कुतर्क और दुराग्रह केवल पुरुषार्थसे दूर हो सकते हैं और मन्दबुद्धि तथा विषयासक्ति गुरुकी कृपासे दूर होती है। इसमें भी पुरुषार्थकी आवश्यकता तो पड़ती ही है, पर मुख्यता गुरु-कृपाकी होती है।

भावी प्रतिबन्ध—यह प्रारब्धका ही एक भाग है। कभी-कभी एक ही कर्म ऐसा होता है कि उसका फल दो-तीन जन्मोंमें जाकर भोगना पड़ता है। परंतु इस भावी

प्रतिबन्धकी कथाएँ बहुत देखनेमें नहीं आतीं। मेरी जानकारीमें अबतक जडभरत और वामदेवकी कथाके सिवा दूसरी कोई नहीं आयी है।

इस प्रतिबन्धकी व्यवस्था साधकके लिये जानना जरूरी नहीं है। यह तो गुरुके ऊपर है। वही प्रतिबन्धके स्वरूपको समझकर उसकी निवृत्तिका उपाय बतला सकते हैं।

एक साधक था, वह जब साधना करने बैठता, तभी 'किं जातम्' यह प्रश्न खड़ा हो जाता। कुछ दिन तो उसने धैर्य रक्खा, परंतु बारंबार इस प्रश्नको उठते देखकर उसने इस विषयमें गुरुसे निवेदन किया। गुरुने तुरंत अपनी अटकल लगायी और शिष्यसे पूछा कि 'तुम जब घरसे निकले, उस समय घरके लोगोंकी क्या स्थिति थी?' सबकी स्थितिका वर्णन करते हुए उसने बतलाया कि वह घरसे निकला, उस समय उसकी स्त्री गर्भवती थी, बच्चा होनेवाला था और उसका क्या बालक पैदा होता है? यह जाननेके लिये उसका मन केन्द्रित हो गया था। इसी कारण उसके मनमें यह बार-बार प्रश्न उठा करता था। गुरुने तुरंत ही शिष्यको आज्ञा दी कि घर जाकर पता लगा आओ कि स्त्रीको क्या बालक हुआ है। ऐसा करनेपर उसका 'किं जातम्' का प्रश्न शान्त हो गया। इस प्रकार प्रतिबन्धका सिद्धान्त गुरुके लिये उपयोगी है। साधकको इसका उपयोग नहीं करना चाहिये।

इस निबन्धमें हमने देख लिया कि साधनमें श्रद्धाकी प्रथम आवश्यकता है। उसके साथ-साथ असीम धैर्य और पूर्ण उत्साह भी होना चाहिये। इन तीनोंमें एककी भी कमी होनेसे साधना पूर्ण नहीं होती। अतएव जो साधक अपनी साधनाको पूर्ण करना चाहता है, उसे गुरुमें अविचल श्रद्धा रखनी चाहिये तथा धैर्य और उत्साह अन्ततक बनाये रखना चाहिये। इसके सिवा सिद्धिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

परमात्माकी उपासना

(लेखक—श्रद्धेय पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर महोदय)

मनुष्य उपासना करता है। हर एक मनुष्य किसी-न-किसीकी उपासना करता ही है। घरमें आप देखेंगे तो पति पत्नीकी उपासना करता है और पत्नी अपने पतिकी उपासना करती है। इस उपासनासे भी लाभ होता है। शिष्य गुरुकी उपासना करता है और इस उपासनासे उपासकको लाभ भी होता है। शिष्य गुरुके समीप रहकर, गुरुकी उपासना करके ज्ञानका लाभ करता है और ज्ञानी बनता है। इसी प्रकार उपासना करनेवाला उपासक लाभ प्राप्त करता है।

इस प्रकार उपासना करनेवाला उपास्यके गुण अपनेमें धारण करता है और उपास्य-जैसा बननेका यत्न करता है। इस विश्वमें यही चल ही रहा है। परंतु साधारण मनुष्यके पास रहनेका नाम उपासना है—ऐसा कोई कहता नहीं। विशेष आत्मिक शक्ति जिसके पास होती है उसके पास रहनेसे उसकी आत्मिक शक्तिका प्रभाव उसके पासमें रहनेवालेको प्राप्त होता है और उसको उपासना कहा जा सकता है।

अज्ञानी मनुष्य ज्ञानीके पास रहता है और ज्ञान प्राप्त करता है। इससे उसका लाभ भी होता है। संसारमें यह क्रम चल रहा है। परंतु योग्यकी उपासना ही सच्ची उपासना है। अयोग्यकी उपासना लाभकारी नहीं होती अतः योग्यकी ही उपासना करनी चाहिये।

उपासनासे लाभ

उपासनाका अर्थ 'उप+आसना'—पास बैठना है। हम शीतकी पीड़ा दूर करनेके लिये अग्निके समीप बैठते हैं, यह अग्निकी उपासना है अर्थात् अग्निके समीप बैठना है। इससे मनुष्यका लाभ होता है। अग्निके गुण अग्निका उपासक अपनेमें धारण करता है।

इसी प्रकार सद्गुरुके पास रहनेसे सद्गुरुके पासका ज्ञान शिष्यको मिलता है और इस ज्ञानसे शिष्य ज्ञानी बनकर उन्नत होता है। शिष्यने जो गुरुकी उपासना की, उसका शुभ फल उस शिष्यको प्राप्त हुआ और वह शिष्य उन्नत होकर श्रेष्ठ बना। इस प्रकार उपासनासे उन्नति होती है।

इस रीतिसे इस जगत्में उपासना चल रही है और उससे लोगोंका लाभ भी हो रहा है। वास्तवमें इस विश्वमें ऐसा क्रम है—

१. परब्रह्म, परमात्मा
२. जीवात्मा
३. बुद्धि, ज्ञान

४. मन, मननशक्ति
५. पञ्चज्ञानेन्द्रिय (नेत्र, कर्ण, नासिका, त्वचा और जिह्वा)
६. पञ्चकर्मेन्द्रिय (मुख, पाँव, हाथ, मूत्रेन्द्रिय और गुदा)
७. स्थूल शरीर (एक मानव)
८. मानवसमाज

इसमें मानव रहता है और वह कर्म करके अपनी उन्नति करना चाहता है। इस मानवकी उन्नति तब होती है कि जब वह अपना सम्बन्ध ऊपर लिखे साधनोंके साथ सुयोग्य रीतिसे रखता है। अपने मन और बुद्धिको जब मानव अपनी उपासनाद्वारा परमात्मामें लगाता है, तब उसकी उन्नति होती है। उन्नतिका नियम यह है कि मानव अपना सम्बन्ध अपनेसे उच्च स्थानके साथ जोड़ दे और कभी नीचेके स्थानके साथ अपना सम्बन्ध न होने दे। ऊपर और नीचेके पदार्थोंका परमेश्वर-कृत सम्बन्ध है, वह सर्वदा रहेगा ही; परंतु मनुष्यकृत उपासनाका सम्बन्ध सदा उच्च स्थानके साथ ही होना योग्य है, यह ध्यानमें रखना चाहिये।

मनुष्य सदा आनन्दका उपभोग करना चाहता है। यह आनन्द मनुष्यके अंदर, अर्थात् मनुष्यकी आत्माके अंदर विद्यमान रहता ही है।

जाग्रत्-अवस्थामें यह मनुष्य बाह्य सृष्टिमें विचरता रहता है। इस कारण इसको यह आनन्द प्राप्त नहीं होता। आप अनुभव करके देखिये, जब मनुष्य गाढ़ निद्रामें रहता है, उस समय वह आनन्दमें निमग्न रहता है। निद्रा दूर होनेपर वह मनुष्य कहता है कि 'मुझे अच्छी निद्रा लगी थी, मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ।'

मनुष्य इन अवस्थाओंका अनुभव करता है—
१—जाग्रत्-अवस्था
२—स्वप्न-अवस्था
३—सुषुप्ति-अवस्था
४—तुर्यावस्था

इन अवस्थाओंका मनुष्य उपभोग करता है। इनमें प्रथमकी तीनों अवस्थाएँ हरएक मानवके अनुभवमें आती हैं। तुर्यावस्थाका उत्तम योगी ही वर्णन करनेमें समर्थ हो सकता है। हरएक मनुष्य इसका उत्तम रीतिसे वर्णन नहीं कर सकता। सुषुप्तिका आनन्द हर मनुष्य ले सकता है, परंतु तुर्यावस्थाका योग्य आनन्द उत्तम योगी ही कह सकता है। यह सुषुप्ति और तुर्यावस्था आनन्दकी उत्तम अवस्थाएँ हैं और इन अवस्थाओंका हरएक अनुभव करता है, पर वह उनका वर्णन नहीं कर सकता।

ये सुषुप्ति और तुर्यावस्था सच्चे आनन्दकी अवस्थाएँ हैं। ये अवस्थाएँ मनुष्यको प्राप्त हो सकती हैं। जो यत्न करता है, उसको ये प्राप्त होती हैं और इनके प्राप्त होनेपर मनुष्यको आनन्द भी मिलता है।

इस शरीरमें रहता हुआ मनुष्य परमात्माकी उपासना एकाग्र मनसे करेगा तो उसको आत्माका यह निजानन्द प्राप्त हो सकेगा। यह आनन्द सबसे श्रेष्ठ है और इसी आनन्दको प्राप्त करनेके लिये ही मनुष्यको यह मानव-जन्म प्राप्त हुआ है।

मनुष्य गाढ़निद्रामें इस आनन्दको प्राप्त करता है। पर यह गाढ़निद्राकी अवस्था अज्ञानावस्था है। गाढ़-निद्रा समाप्त हुई और मनुष्य जाग्रत् अवस्थामें आ गया तो वह कहता है कि मैं उत्तम रीतिसे सोया था। उस समय मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। उस समय मुझे किसी प्रकारका क्लेश नहीं था। यह हरएकका अनुभव है।

गाढ़निद्रा तब आती है, जब इस मनुष्यको विश्व, राष्ट्र, मानवसमाज, अपना शरीर, मन, बुद्धि आदिका कुछ भी विचार नहीं रहता। यही उपासनाकी पद्धति है। उपासना करनेके समय मनुष्य मानव-समाजसे दूर होता है। अपने घरमें एकान्तके कमरेमें बैठता है, दूसरा कोई वहाँ नहीं रहता। वह अपना शरीर, अपना मन व्यवहारकी उपाधियोंसे दूर करता है और किसी मन्त्रपर, ओंकारपर या अन्य किसी स्थानपर अपने मनको स्थिर करता है। यह मन थोड़ेसे अभ्याससे स्थिर होने लगता है।

जब यह मन स्थिर होता है तो इस मनके सामने आत्माका निज प्रकाश प्रकाशित होने लगता है। यह प्रकाश ध्यानके समय जिसके मनके सामने प्रकाशित होता है उसको उस समय अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकाश-दर्शनके पश्चात् इस प्रकाशका स्थिरीकरण करना आवश्यक होता है। उपासना योग्य रीतिसे चली तो यह प्रकाशदर्शन साध्य होता है।

साधारण मनुष्यका मन स्थिर नहीं रहता। वह सदा चञ्चल रहता है और जिसका व्यवहार बहुत बड़ा होता है उसका मन स्थिर रहना बड़ा कठिन होता है। अतः ध्यान करनेके समय अपने व्यवहारसे अपना मन दूर करना चाहिये। नहीं तो, मनमें व्यवहारकी बातें आती हैं और मन एकाग्र नहीं हो पाता। बड़े कार्य-व्यवहारवालोंके सामने

यह कठिनता सदा रहती है। अतः उपासना करनेके समय अपने मनको व्यवहारोंके विचारसे दूर रखना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं कि अपना कार्य-व्यवहार छोड़ देना चाहिये, परंतु इसका अर्थ इतना ही है कि उपासना करनेके समय अपने मनको इन व्यावहारिक विचारोंसे दूर रखना चाहिये।

मनुष्य व्यवहार करता रहे; परंतु दिनमें दो बार सबेरे तथा शामको थोड़ा समय उपासना करनेके लिये रक्खा जाय, तो उसे अच्छा लाभ हो सकता है। ध्यान-धारणा करनेसे मनुष्यके मनकी शक्ति अच्छी प्रकार विकसित होती है। इससे मनुष्यका व्यवहार सुचारुरूपसे चल सकता है। अर्थात् उपासनासे मनुष्यका लाभ ही हो सकता है और किसी प्रकारसे हानि होनेकी सम्भावना नहीं है।

उपासनासे मनकी शक्ति बढ़नेके कारण मनुष्य व्यवहार उत्तम रीतिसे कर सकता है। अतः व्यवहारसे जो लाभ होता है वह होता रहता है। उपासनामें जो समय जाता है, उससे मनुष्यकी हानि तो हो ही नहीं सकती, प्रत्युत मनुष्यको बड़ा लाभ होता है; क्योंकि उपासनामें जो समय जाता है, उससे मनकी शक्ति बढ़ती है और इस कारण मनुष्यका व्यवहार उत्तम रीतिसे सुधरता है। अतः व्यवहारमें भी लाभ होता है। और उपासनासे मुख्यतः आध्यात्मिक लाभ अधिक होता है। मन सुदृढ़ बनता है। मनके शुद्ध होनेपर उस मनसे कदापि बुरा कार्य हो ही नहीं सकता। अतः मनुष्य उपासना करे और अपना लाभ हो—ऐसा व्यवहार करे। कई लोग ऐसा समझते हैं कि उपासना आदि धर्म-कृत्योंके करनेसे मानवीय व्यवहारकी हानि होती है, पर यह गलत है। ऐसा कभी नहीं होता। उपासना करनेवालेके सब व्यवहार दोषरहित होते हैं, अतः उसके व्यवहार भी उन्नत होते हैं। इस तरह उपासनासे व्यवहार तथा परमार्थ—इन दोनोंमें लाभ ही होता है।

इस प्रकार विचार करके मनुष्य अपनी इच्छाके अनुकूल उपासना कर अपनी उन्नति सम्पादन करे।

भगवद्-उपासना

(लेखक—शास्त्रार्थमहारथी पं० श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

'उपासना' शब्द उप उपसर्गपूर्वक 'आस उपवेशने' धातुसे निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है—श्रीमन्नारायण भगवान्से नैकट्य स्थापित करना।

अर्चना, आराधना, पूजा, परिचर्या, वरिवस्या, सेवा, यजन, वन्दन, ध्यान, चिन्तन, जप, उपस्थान, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, भजन, योग और समाश्रयण आदि-आदि उपासनाके साक्षात् अथवा तदङ्गभूत विविध क्रियात्मक अनुष्ठानोंके अपर पर्याय हैं। वेदादि शास्त्रोंमें प्रायः उक्त सभी शब्द यत्र-तत्र ज्यों-के-त्यों अथवा प्रत्ययविशेषके तारतम्यसे रूपान्तरमें प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं। यथा—

(क) यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्।
(अथर्व० १०।८।२२)

(ख) अर्चा शक्राय शाकिने।
(ऋग्वेद १।५४।२)

(ग) वन्दामहे त्वा।
(ऋग्वेद ३।८।९)

(घ) मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।
(ऋग्वेद १।१०१।६)

(ङ) भर्गो देवस्य धीमहि।
(ऋग्वेद ३।६२।१०)

(च) अग्निं विश ईळते।
(ऋग्वेद १०।८०।६)

(छ) अग्ने स्तोमं मनामहे।
(ऋग्वेद ५।१३।२)

(ज) अराधि होता स्वर्निषत्तः।
(ऋग्वेद १।७०।८)

(झ) ब्रह्मैतदुपास्स्वैतत्तपः।
(तैत्तिरीय १०।८)

(ञ) त्र्यम्बकं यजामहे।
(ऋग्वेद ७।५९।१२)

(ट) यस्य देवे परा भक्तिः।
(श्वेताश्वतरे ६।२३)

(ठ) अहरहः सन्ध्यामुपासीत।
(षड्विंश-ब्राह्मण)

(ड) प्रतिकृतिं कृत्वा यथालाभमर्चयेत्।
(बौधायन कल्पसूत्र २)

ऐसे ही अन्यान्य भी शतशः प्रमाण विद्यमान हैं, जो विस्तारभयसे उद्धृत नहीं किये जा रहे हैं। उपर्युक्त रेखाङ्कित समस्त क्रियाएँ उपासना-अर्थमें प्रयुक्त हैं। अतः इनका भावार्थ अनपेक्षित है।

'उपासना' शब्द तो सामान्य है, परंतु तदुपयुक्त क्रिया-विशेषबोधक पर्यायशब्दोंकी शास्त्रोंमें विभिन्न परिभाषाएँ नियमित की गयी हैं। तदनुसार ही उपासनाकी परिभाषित क्रियाएँ अनुष्ठित होती हैं।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि देश, काल और पात्रकी स्वाभाविक विभिन्नताके कारण उपासना-वैविध्य सहेतुक है। इन नैसर्गिक वैविध्य-परम्पराओंकी आधार-भित्तियोंपर ही तत्तत्सम्प्रदायोंका अस्तित्व निर्भर करता है।

दुर्भाग्यवश आज दलबंदी, फिरकापरस्ती-जैसे संकीर्ण शब्दोंका अनुवाद बलात् 'सम्प्रदाय' कर डाला गया है। वही अर्थ तथैव प्रख्यात भी हो गया है। परंतु वस्तुतः 'सम्प्रदाय' शब्दका अर्थ—'ईश्वर-उपासनाकी वह पवित्र परम्परा है जो कि आराधकको उसकी सर्वविध योग्यताके आधारपर आध्यात्मिक गुरुद्वारा प्राप्त होती है।' ऐसी परिस्थितिमें सभी सम्प्रदायोंका चरम लक्ष्य भगवत्-प्राप्ति है तथा सभीका गम्य स्थान भी एकमात्र भगवद्-धाम ही है। परंतु गमन-पद्धतियाँ अपनी-अपनी योग्यता एवं क्षमताके अनुरूप अपनायी जाती हैं।

यों तो ईश्वरवादी अवैदिक मतोंमें भी उपासनाके नामपर कुछ-न-कुछ क्रियाएँ की ही जाती हैं। उन क्रियाओंके द्वारा तत्तत्-मतानुयायियोंको आंशिक मनस्तोष भी होता है; तथापि वे मत आराधककी योग्यता एवं क्षमताका परीक्षण न करके अपने सभी अनुयायियोंको एक ही उपासनापद्धति अपनानेको बाध्य करते हैं। एतावता इस अपनी अवैज्ञानिकताके कारण वे साधक सर्वात्मना कृतार्थ नहीं हो पाते। तभी तो स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ-जैसे एक यथार्थवादी भारतीय साधकोंकी वाणी मात्र सुनकर वे अपनी उपासना-पद्धतिकी न्यूनताका स्वयं अनुभव करने लगते हैं और भारतीय उपासनापद्धतिकी ओर उन्मुख होते हैं।

उपासना क्या है और क्यों करनी चाहिये ? यह इस लघुकलेवर लेखका विषय नहीं है। इसके लिये एक बृहत् ग्रन्थका निर्माण हो सकता है; तथा पुनरपि स्थाली-पुलाकन्यायसे यत्किंचित् दिग्दर्शन कराते हैं।*

सभी बुद्धिमानोंको यह मानना ही चाहिये कि केवल पाञ्चभौतिक शरीर मात्र 'मैं'-शब्दवाच्य नहीं है। किंतु शरीरातिरिक्त तदवच्छिन्न एक चेतनशक्ति भी उस शरीरका नियन्त्रण करनेवाली है, जिसे जीवात्मा नामसे पुकारा जाता है।

अतः उक्त पाञ्चभौतिक स्थूल देह और चेतन सूक्ष्म आत्मा इन दोनोंके योगायोगका सम्मिलित ऐक्य ही वस्तुतः व्यावहारिक 'मैं'-शब्दवाच्य है; क्योंकि जड और चेतन दोनों तत्त्व सर्वथा विरुद्धधर्मानुस्यूत हैं, अतः इन दोनोंके योगायोग-द्वारा एक तीसरे विलक्षण तत्त्वका प्रादुर्भाव होना स्वाभाविक है। शारीरिक परिभाषामें उसे 'अन्तःकरण' कहा जाता है। क्रियावैविध्यके कारण उसी अन्तःकरणका संकल्प-विकल्पात्मक केन्द्र 'मन' शब्दवाच्य है, निश्चयात्मक केन्द्र 'बुद्धि'-शब्दवाच्य है, चेतनात्मक केन्द्र 'चित्त' और स्वानुभूति क्रियात्मक केन्द्र 'अहं' शब्दवाच्य है। इस प्रकार जीव-को भी जीवन प्रदान करनेवाला अन्तर्यामी ही देह, इन्द्रिय, मन और प्राण आदि परिकरसहित पारमार्थिक 'मैं शब्द-वाच्य कहा जा सकता है।

एतावता जैसे शारीरिक विकास, दृढ़ता और स्वास्थ्य-वृद्धिके लिये भ्रमण, चंक्रमण, दण्ड, बैठक, दौड़-भाग, कुश्ती और विविध प्रकारके आसन आवश्यक हैं, ठीक उसी प्रकार प्राणशक्तिके विकासके लिये यम, नियम, आसन आदि योगोक्त साधनोंसे परिनिष्ठित प्राणायाम आवश्यक है तथा मनःशक्तिकी स्थिरताके लिये धारणा, ध्यान और समाधि परमावश्यक हैं। यही योगशास्त्रोक्त उपासनापद्धतिका सारभूत संक्षिप्त निदर्शन है। इसके विधिवत् अनुष्ठानसे जहाँ अणिमादि अनेक सिद्धियोंके अतिरिक्त जरापलित-विवर्जित स्वच्छन्द जीवन प्राप्त होता है, वहाँ भगवत्-साक्षात्कारके अलौकिक आनन्दकी भी प्राप्ति होती है।

'लक्षं तु चतुरो वेदा लक्षमेकं तु भारतम्,' प्रमाणानुसार एक लक्षमन्त्रात्मक वेद-राशि काण्ड-त्रयमें विभक्त है।

---

* इस विषयकी विशेष चर्चा लेखकके 'क्यों ?' नामक बृहद् ग्रन्थमें की गयी है, जो 'धर्म-धाम' कमलानगर, दिल्लीसे प्राप्य है।

उसमें अस्सी सहस्र कर्म-प्रधान मन्त्र दर्श, पौर्णमास, अश्वमेध, वाजपेय और राजसूय आदि विविध यज्ञानुष्ठानोंके विधायक हैं। षोडश सहस्र उपासनाप्रधान मन्त्र श्रीमन्नारायणकी समष्टि-के व्यष्टीभूत देवगणके माध्यमसे अन्ततोगत्वा तदीयाराधनके ही परिचायक हैं। चार सहस्र ज्ञानप्रधान मन्त्र भगवत्साक्षा-त्कारके द्योतक हैं। इस प्रकार वैदिक उपासनापद्धति अधिकारीविशेषपर आधारित तथा बहुप्रयास-साध्य होनेके कारण अकलियुगीन कही जा सकती है। इसीलिये प्रबन्ध ग्रन्थोंमें उसे कलिवर्ज्य-प्रकरणमें समाविष्ट किया गया है; क्योंकि द्रव्य, देवता विधिके यत्किंचित् विपर्ययसे भी उसमें पदे-पदे प्रत्यवायकी सम्भावना बनी ही रहती है। वृत्रासुरका विजय-यज्ञ स्वर-व्यत्ययके कारण ही तो वाग्वज्र होकर उसकी मृत्युका कारण हो गया था। अतः वेदोक्त सन्ध्या-वन्दन, देवर्षि-पितृ-तर्पण और पञ्चदेवोंकी यथाभिमत उपासना-विधिको छोड़कर शेष श्रौत-यज्ञोंका विस्तृत विधान सम्प्रति शक्ति-ह्रासके कारण दुःसाध्य हो गया है। पाञ्चरात्र आदि आगम-शास्त्रोक्त तान्त्रिक उपासनापद्धति भी वैदिक उपासनापद्धतिकी भाँति ही क्रिया-बहुलताके कारण अतीव जटिल है। वह जहाँ सद्यः सिद्धिप्रद है, वहाँ विधि-विपर्याससे, 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' का उदाहरण भी बन सकती है।

वामतन्त्रोक्त उपासनापद्धति तो और भी सर्वाधिक सावधानीकी अपेक्षा रखती है; क्योंकि तद्गत थोड़ी-सी भूल-चूक भी साधकको प्राणदण्ड न भी दे तो भी उन्मादी तो अवश्य ही बना डालेगी।

ऐसी स्थितिमें युग-क्रमप्राप्त सर्वविध ह्रासके कारण क्षीणशक्ति मानव-समाजके कल्याणके लिये वेदादि सर्वतन्त्रा-नुमोदित नवधा भक्ति ही इस युगमें भगवद्-उपासनाकी निष्कण्टक सरणि कही जा सकती है। अकिञ्चन भाव-से सर्वात्मना भगवान्पर अवलम्बित भक्त, जब स्वयोग्यतानुसार श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य और सख्य—इन आठों साधनोंको क्रमशः पार करता हुआ अन्तमें 'आत्म-निवेदन' कक्षामें पहुँच जाता है। बस, 'सा काष्ठा सा परा गतिः'—तब उसे अन्य कुछ प्राप्य अवशिष्ट नहीं रहता। वह कृतकृत्य हो उठता है। इसी 'आत्म-निवेदन'को तत्तत् शास्त्रोंमें प्रपत्ति, शरणागति, आत्म-समर्पण, परम-ज्ञान, स्व-स्वरूपानुसंधान, मोक्ष, निर्वाण और 'ज्योतिःमें ज्योतिः समाना' आदि नामोंसे स्मरण किया गया है।

भगवद्-उपासना काम्य कर्म नहीं है; यह तो नित्यकर्म-कोटिका अनुष्ठेय कृत्य है। जैसे शारीरिक जीवनके लिये बुभुक्षा, तृषा आदि षड् ऊर्मियोंका परिहार आवश्यक है; मिथ्या आहार-विहार आदि दोषजन्य रुधिरामय और उदरामय विविध व्याधियोंके अपनयनके लिये सुचिकित्सक द्वारा निर्दिष्ट औषधका विधिवत् सेवन तथा पथ्यो-पचार अत्यावश्यक है, ठीक इसी प्रकार मानसिक और आध्यात्मिक जीवनके लिये कदाचारजन्य 'आधि' शब्दो-पलक्षित मानसिक विकृतियोंके उपशमनार्थ भगवद्-उपासना ही एकमात्र अमोघ औषध है। जैसे षड् ऊर्मियोंका प्रतिकार किये बिना और रोगापनयनार्थ औषध-सेवन किये बिना शारीरिक मृत्यु अवश्यम्भावी है, ठीक इसी प्रकार भगवद्-उपासनाके बिना मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंका विनाश सुनिश्चित है। इसलिये आध्यात्मिक जीवनको सुरक्षित रखनेके लिये भगवद्-उपासना सर्वथा अनिवार्य है—

'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।' ॐ शम्।

कृष्ण-नामकी मधुरता

मृद्वीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः
स्वर्यातेन सुधाप्यधायि कतिधा रम्भाधरः खण्डितः।
सत्यं ब्रूहि मदीय जीव भवता भूयो भवे भ्राम्यता
कृष्णेत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिल्लक्षितः॥

हे मेरे जीव! तुमने दाखका रसास्वादन किया, मिश्री खायी और स्वादिष्ट दूध भी पीया, स्वर्गमें जानेपर तुमने अनेकों बार अमृतपान और रम्भाका अधर भी चुम्बन किया होगा; परंतु सच-सच बताओ, तुमने पुनः-पुनः भवाटवीमें भटकते हुए, 'कृष्ण' नामके दो अक्षरोंमें जो माधुर्यका उद्गार है, वैसा कहीं और भी देखा है?

उपासनाविषयक विचार-धारा

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्यावाचस्पति, विद्यानिधि)

१—'उपासना'का अर्थ एवं उपासना-विज्ञान

'उपगम्य आसनम्—इति उपासना—समीप जाकर बैठनेका नाम 'उपासना' होता है। 'आस उपवेशने' (अ० आ० से०) इस धातुसे 'ण्यासश्रन्थो युच्' (३।३।१०७) इस पाणिनिसूत्रद्वारा 'युच्' प्रत्यय करनेपर, उसे 'युवोरनाकौ' (पा० ७।१।१) से 'अन' करनेपर फिर 'उप' के साथ समास करनेसे 'उपासना' शब्द बनता है। यद्यपि भावमें प्रत्यय होनेसे यहाँ नपुंसकलिङ्ग होना चाहिये था, परंतु 'स्त्रियां क्तिन्' (पा० ३।३।९३) के अधिकारमें होनेसे यहाँ स्त्रीलिङ्ग और 'टाप्' हुआ।

यहाँ समीप बैठना वैध इष्ट होनेसे यह शब्द परिचर्या-पूजा अर्थमें पर्यवसित हो जाता है। पूजा होती है—परमात्माकी। परमात्माके सर्वव्यापक, अखण्ड एवं निराकार होनेसे और हमारे एकदेशीय, सखण्ड तथा साकार होनेसे, परमात्माके समीप बैठना उपपन्न (संगत) नहीं हो सकता, तब उपासना भी नहीं हो सकती—यह प्रश्न उठता है; इसपर यह स्मरण रखना चाहिये कि इसका उपाय वेदादि शास्त्रोंने बताया है—'प्रतिमोपासना'। जिसकी पूजा सम्भव न हो, उसका कोई प्रतीक, कोई प्रतिनिधि, कोई मूर्ति या कोई अङ्ग स्थिर कर लेना पड़ता है। उसीकी पूजासे उस उपास्यकी उपासना करनी पड़ती है।

यहाँ यह भी समझ रखना चाहिये कि परमात्मा 'अङ्गी' होता है। अङ्गीकी उपासना-पूजा हो ही नहीं सकती। हमारा आत्मा अङ्गी है; उसकी हमारे किसी शिष्यको गुरु-पूजावाले दिन पूजा करनी हो, तो क्या वह कभी कर सकता है? कभी नहीं। अतः उसे उस अङ्गीकी पूजा किसी अङ्गद्वारा ही करनी पड़ेगी। वह छात्र गुरुके गलेमें पुष्पमाला डालेगा। उनके निराकार आत्मापर वह पुष्पमाला भला कैसे डाल सकता है? गुरुके अङ्ग गलेमें पुष्पमाला चढ़ानेसे वह पूजा अङ्गी—गुरुके आत्माकी ही सम्पन्न हो जाती है। साकार अङ्गपर साकार माला चढ़ी; और उससे निराकार अङ्गी आत्मापर निराकार श्रद्धा चढ़ी। इस प्रकार अङ्गपूजा या प्रतीकोपासना अथवा मूर्तिपूजासे अङ्गीकी प्रसन्नता स्वतः हो उठती है। इसके अतिरिक्त उपासनाका अन्य कोई सरल उपाय ही नहीं है—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'।

कहा जा सकता है कि—'निराकारका कोई अङ्ग नहीं बन सकता, निराकार एवं विशाल वह परमात्मा छोटी-सी मूर्तिमें कैसे समा सकता है? हम उस निराकारकी मनसे उपासना कर लेंगे। बुद्धिद्वारा उसका विचार कर लेंगे। उसे हृदयमें प्रतिष्ठापित कर उसकी पूजा कर लेंगे। वेदमन्त्रोंसे उसकी स्तुति कर लेंगे। उस पूर्ण पुरुषका मनद्वारा आह्वान कर लेंगे और उस सर्वव्यापककी मनद्वारा परिक्रमा कर लेंगे; क्या आवश्यकता है प्रतिमोपासनाकी?'

इसपर यह याद रख लेना चाहिये कि यदि परमात्माको हृदयमें प्रतिष्ठापित करके उसकी पूजा की जायगी, तो यह भी तो प्रतिमोपासना-सी होगी। यदि वह विशाल परमात्मा छोटी-सी मूर्तिमें नहीं घुस सकता तो उससे भी छोटे हृदयमें उसे कैसे प्रतिष्ठापित किया जा सकेगा? जड मनमें भी उसका पाना कठिन होगा—'न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग् गच्छति, नो मनः, न विद्मो न विजानीमः' (केनोपनिषद् १।३) मनकी भी उसमें गति नहीं।

उस अनिर्वचनीयको हम परिमित वाणीसे कैसे प्राप्त कर लेंगे? उस असीमितकी हम अपने सीमित मनसे भी कैसे सीमा बना सकेंगे? कैसे उस असीमितकी 'मनसा परिक्रमा' कर सकेंगे? स्पष्ट है कि हम उसकी कुछ प्रतिमा अपने सीमित मनमें अवश्य स्थिर कर लेंगे। तब चाहे हम शरीरसे परिक्रमा करें, चाहे मनसे; यह सङ्गत हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रतिमोपासना जहाँ व्यावहारिक है, वहाँ स्वाभाविक भी है ही। मनुष्य जब अवधानमें आता है और उसे इस सृष्टिमें जब परमात्माकी सत्ताका विश्वास हो जाता है, तब सृष्टिमें उसके कार्योंको देखकर मनुष्यका मस्तक उसके सामने स्वतः झुक जाता है। जब मनुष्य देखता है कि मेरा उपास्य सर्वव्यापक है और मैं एकदेशी हूँ, मैं उसकी सर्वव्यापक पूजा कर ही कैसे सकता हूँ? उस समय उसके समक्ष दो दृष्टिकोण उपस्थित होते हैं। एक तो, अपने सर्वव्यापक उपास्यकी उपासनाके असम्भव होनेसे उपासनाका सर्वथा त्याग और दूसरा, उसकी एकदेशी उपासनाका अवलम्बन। बस, इसी

दूसरे दृष्टिकोणसे प्रतिमोपासनाका अध्याय प्रारम्भ होता है। अत्यन्त ज्ञान हो जानेपर एक तीसरा दृष्टिकोण भी उपस्थित हो जाता है। वह है—अद्वैतवाद। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् उसी परमात्माका विकास है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। हम भी वही हैं। फिर उसकी उपासना क्या और कैसी? इस पक्षमें आत्मा-परमात्माके अभेद हो जानेसे उपास्य-उपासकका भेद नहीं रह जाता। अतः उपासनाकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परंतु यह पक्ष पारमार्थिक होनेपर भी व्यावहारिक नहीं होता। व्यवहारमें मनुष्य एक उच्चकी उपासना करना चाहता है। उपासनामें सदा उस अभिन्नको भी भिन्न रखना चाहता है। सर्वत्र ओत-प्रोतको भी वह एकदेशी कर देता है; क्योंकि वह स्वयं एकदेशी होता है।

इसको यों समझना चाहिये कि उपास्य परमात्मा तो अणु-अणुमें सर्वत्र अखण्ड व्यापक है; पर उपासक एकदेशी है, पृथिवीपर बैठा है। वह उपास्यका ध्यान करना चाहता है तो एक दिशाकी ओर अपना मुख करता है। एक ही देशमें स्वयं बैठता है। ध्यानकी समाप्तिके समय 'नमः शम्भवाय च मयोभवाय च' मन्त्रसे अन्तिम नमस्कार भी एक ही अपने सामनेकी दिशाकी ओर कर सकता है। नमस्कार करनेके समय या तो सामने कोई दीवाल होगी या पृथिवी वा सूर्यका तेज या आकाश। पर वे उसके नमस्कारके लक्ष्य नहीं होते। नमस्कारका लक्ष्य होता है—वही एक—उन सबमें व्यापक परमात्मा। बस, यह प्रतिमोपासनाका आदि-स्रोत है।

उपासक जानता है कि मेरा उपास्य सर्वव्यापक है, पर मैं हूँ एकदेशी। मेरे ध्यानका विषय सीमित हो सकता है, पर वह उपास्य असीमित है। वह अखण्ड है, पर हम सब उसके उपासक खण्ड-खण्ड हैं; अतः मैं उपासक भी उसकी व्यापक पूजा नहीं कर सकता। यदि मैं चर्खीकी भाँति घूमता हुआ भी उसे नमस्कार करता जाऊँ, तब भी मेरा मुख एक ही ओर रहेगा; युगपत् सब दिशाओंमें मैं परमात्माको प्रणाम नहीं कर सकता। अगत्या मुझे उसकी एकदेशी ही पूजा करनी पड़ेगी। बस, यहींसे प्रतिमोपासना शुरू होती है; क्योंकि उसकी उपासना करनेका भाव उसे एकदेशमें रखनेका होता है। 'उपगम्य आसना' (समीपस्थिति) का नाम 'उपासना' सार्थक भी तभी होता है; अन्यथा हम एकदेशी उस सर्वव्यापकके 'उप' अर्थात् समीप पहुँच ही कैसे सकते हैं! वहाँ प्रतिमोपासनाके अतिरिक्त हम उसकी उपासना अन्य ढंगसे कर ही नहीं सकते। यही होता है, उपासना-विज्ञान *।

२—मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदमें प्रतिमोपासना

पहले कहा जा चुका है कि अङ्गीकी उपासना उसके किसी अङ्गके माध्यमसे हुआ करती है। उसी अङ्गको मूर्ति या प्रतिमा कहा करते हैं। उसी प्रतिमोपासनाको वेद भी प्रमाणित करता है। देखिये—

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्रि! उपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज॥
(अथर्ववेद सं० ३। १०। ३)

इसमें प्रतिमाकी उपासना तथा प्रतिमासे प्रार्थना वैदिक सिद्ध हो रही है। इस मन्त्रका अन्वय इस प्रकार है—

'हे रात्रि! संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वाम् उपास्महे; सा त्वं [रात्रिः, प्रतिमा वा] नः आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज।'

इसका अर्थ यह है कि 'हे रात्रि! संवत्सरकी प्रतिमा (प्रतीक, मूर्ति) जिस तेरी हम उपासना करते हैं, वह तू हमारी प्रजा (संतान) को धन-प्राप्ति आदिसे संयुक्त कर।'

यहाँपर रात्रिको संवत्सरकी प्रतिमारूपमें उपासनीय माना है। 'प्रतिमा' मूर्तिको और 'उपासना' पूजाको कहते हैं और फिर उससे अपनी संतानकी समृद्धि प्रार्थित की गयी है। इससे प्रतिमोपासना तथा उससे प्रार्थना वैदिक कालसे चली आ रही है,—यह प्रत्यक्ष है। इससे प्रतिमाकी उपासना एवं प्रार्थना करनेपर प्रतिमाका अधिपति हमारी उस प्रार्थना-उपासनाको स्वीकार करता है—यह सूचित होता है।

यदि वेद प्रतिमोपासना न मानता तो रात्रिको संवत्सरकी प्रतिमा न बनाता तथा उसकी उपासना तथा प्रार्थना न कराता। 'प्रतिमाम् उपास्महे'—ये शब्द प्रतिमाकी उपासना-को तथा प्रतिमाके आगे प्रार्थनाको वैदिक बता रहे हैं। यहाँ रात्रिको रूपकसे संवत्सरकी प्रतिमा माना है और उसकी उपासना मानी है। यदि यहाँ रूपकके अंशको पृथक् कर लें, तो 'प्रतिमाम् उपास्महे' बचता है। इससे 'प्रतिमोपासना' वैदिक हो जाती है।

* इस विषयमें स्पष्टता हमारी 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके चतुर्थ पुष्पमें देखी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त यहाँपर 'संवत्सर' का अर्थ 'प्रजापति' है। जैसे कि—शतपथब्राह्मणमें—

'स [प्रजापतिः] ऐक्षत इमं वा [संवत्सरं] आत्मनः प्रतिमाम् असृक्षियत् संवत्सरमिति । तस्माद् आहुः—प्रजापतिः संवत्सर इति । आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत ।' (११ । १ । ६ । १३)

वेदमें बहुतोंके मतमें रूढ शब्द नहीं होते; अतः 'रात्रि' शब्द भी यहाँ यौगिक है। स्वामी दयानन्दजीने अपनी उणादिकोषकी टीकामें 'रात्रि' का अर्थ किया है—

'राति–सुखं ददाति इति रात्रिः ।' (४ । ६७)।

तब उपासक अपने सामने विद्यमान भगवान्‌की प्रतिमाको लक्ष्य करके कहता है—'हे रात्रि ! (उपासकोंको आनन्द देनेवाली !) संवत्सरस्य (प्रजापति-परमात्माकी) प्रतिमा (मूर्ति) यां त्वां (जिस तेरी) उपास्महे (हम उपासना करते हैं), सा (वह तू) नः (हमारी) प्रजां (संतानको) आयुष्मतीं (चिरायु करके उसे) रायस्पोषेण संसृज (धन-वस्त्रसे संयुक्त कर)। इससे वेद प्रतिमाकी उपासना तथा प्रतिमाके आगे प्रार्थनाको स्वसम्मत बता रहा है।

३—विभिन्न देवी-देवताओंकी उपासना

पहले कहा जा चुका है कि अङ्गी परमात्माकी पूजा स्वतः हो नहीं सकती; अतः उसे उसके किसी अङ्ग-विशेषको ही पूजाका माध्यम बनाना पड़ता है। सो अङ्गी भगवान्‌के अङ्ग देवता हुआ करते हैं; इसपर देखिये अथर्ववेदसंहिता—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।
तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥
(१० । ७ । २७)

यहाँ देवताओंको परमात्माका अङ्ग बताया गया है।

यही बात भगवद्गीता भी कहती है—'पश्यामि देवान् तव देव ! देहे······ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्' (११।१५) 'पश्यादित्यान् वसून् रुद्रान् अश्विनौ मरुतस्तथा' (११ । ६)। यहाँ देवताओंको भगवान्‌का अङ्गात्मक देह बताया गया है। भगवान् अङ्गी हैं, यह भी भगवद्गीता बताती है—

अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
(१० । २०)

यहाँ भगवान्‌को सबका आत्मा (अङ्गी) बताया गया है। अङ्गीकी पूजा अङ्गोंके विना कभी हो ही नहीं सकती—यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिये हिंदूधर्ममें देवपूजाका आदर है। उसमें 'भगवद्गीता' सूचित करती है—यदि अङ्गपूजा केवल अङ्गकी पूजाके उद्देश्यसे की जाती है और उसके पूजनसे केवल अङ्गकी पूजा उद्दिष्ट होती है, अङ्गीकी नहीं, तब वह अविधिपूर्वक होती है—'यजन्त्य-विधिपूर्वकम्'। (९ । २३)

उसका फल स्वर्ग भी 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९ । २१) गतागतकारक होनेसे नाशवान् है। अतः नाशवान् फलको चाहना अल्पबुद्धिता हुआ करती है। पर यदि अङ्गपूजाको अङ्गीकी पूजाका साधन माना जाय, लक्ष्य भी अङ्गीकी प्रसन्नता हो और उसमें फला-काङ्क्षा भी न की जाय, तब उस अङ्गपूजनको भी साध्यका साधन समझनेसे वह अविधिपूर्वक (अज्ञानमूलक) नहीं होता; गतागतकारक भी नहीं होता। उसमें अल्पबुद्धिता भी नहीं रहती।

पूर्व-पूजाकी अवैधताका भाव यह है कि कई काम्य-विषयोंके लोभी अपनी प्रकृतिके अनुसार विभिन्न देवताओंकी पूजा करते हैं (गीता ७ । २०)। वे उन देवताओंकी आराधनामें तत्पर होते हैं; पर उन्हें यह मालूम नहीं होता कि सभी देवपूजाओंके लेनेवाले अङ्गी भगवान् ही हैं (गीता ७ । २२); और वे ही उस देवपूजाका फल दिया करते हैं; अतएव वे यथार्थतासे च्युत हो जाते हैं और वह उनकी पूजा अवैध हो जाती है।

फलतः विभिन्न देवी-देवताओंकी पूजा इसलिये की जाती है कि अङ्गीकी पूजा स्वतः हो नहीं सकती; अपने इष्ट अङ्गोंद्वारा ही उसका होना सम्भव होता है। और देवता भगवान्‌के अङ्ग होते हैं, जैसे कि पहले कहा जा चुका है। अतः उपासनामें देवी-देवताओंकी पूजाका यही रहस्य है कि अङ्गीकी पूजा अङ्गोंके बिना नहीं हो सकती। इसलिये देव-पूजाको साध्य न मानकर अङ्गी—भगवान्‌की पूजाका साधन समझना चाहिये। यह पूजन वैध होगा। देवपूजाको साध्य मानना अवैध होगा; अथवा उसे प्रथम सीढ़ी जानना चाहिये।*

* इस विषयमें स्पष्टता हमारी 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थ-मालाके अष्टम पुष्पमें देखनी चाहिये।

४–जपविज्ञान

प्रत्येक विशिष्ट शब्द अपनी एक विशेषता रखता है। उसका प्रभाव दूसरेपर पड़ता ही है। पर वेद एक अपौरुषेय ज्ञानराशि है। इसके मन्त्रोंकी आनुपूर्वीका नियत होना और पदप्रयोग-परिपाटीका परिवर्तन न होना—इस बातसे उसकी विशेषता व्यक्त हो रही है। इसलिये वेदका नाम 'मन्त्र-संहिता' प्रसिद्ध है। परिवर्तन न होनेसे सूचित हो रहा है कि इन मन्त्रोंका जपमें विनियोग है।

कौत्स मुनि, जिनका मत निरुक्तमें श्रीयास्काचार्यने आलोचित किया है—'अनर्थका मन्त्राः' कहते हैं। उनका भाव यह है कि मन्त्रोंको अर्थकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये। इसका आशय यह हुआ कि इनका उच्चारणमें प्रयोजन है। उच्चारणका जबतक कोई फल न हो, तबतक उससे कौन अपनी जबानको थकावेगा? तब इससे जपका फलयुक्त होना सिद्ध होता है। इसलिये महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिमुनिने पस्पशाह्निकमें 'ज्ञान-कर्मके धर्माधर्माधिकरण' में कहा है—'यथा वेदशब्दा नियमपूर्वकमधीताः फलवन्तो भवन्ति'। इससे वेदमन्त्रोंके नियमबद्ध जपनेसे उससे फलप्राप्तिकी सिद्धि सिद्ध होती है। नहीं तो, कौत्समुनि इतने अज्ञानी नहीं थे कि मन्त्रोंको निरर्थक कहते। अतः 'अनर्थक' कहनेका भाव उनका यह है कि इनका सामर्थ्य शब्दोंके उच्चारणमें है। अर्थोंमें वह सामर्थ्य नहीं। अर्थमें ध्यान देनेसे शब्दकी शक्ति मारी जाती है। उसमें कुछ रुकावट पड़ जाती है। इसलिये 'काव्यप्रकाश' में वेदोंको शब्दप्रधान माना गया है।

बीजमन्त्र अर्थहीन ही तो दीखते हैं, पर उनमें बड़ा सामर्थ्य होता है। 'ह्रीं, क्लीं, ऐं' आदि बीजमन्त्र कितना प्रभाव रखते हैं, यह जानना हो तो चिन्तामणि बीजमन्त्रके उपासक श्रीहर्षका 'नैषधचरित' महाकाव्य तथा उसका १३वाँ सर्ग देखना चाहिये।

फलतः वेदशब्दोंका सामर्थ्य अमोघ है। 'जप व्यक्तायां वाचि' (भ्वा. प. से.), 'जप मानसे च' (भ्वा. प. से.) दोनों प्रकारके मन्त्र-जपोंमें शक्ति विशेष होती है। इसलिये मन्त्रकी आनुपूर्वीमें परिवर्तन कर देनेपर उसके लौकिक हो जानेसे उसकी शक्तिमें न्यूनता मानी जाती है। अतएव हमलोगोंकी कन्या भी मन्त्रके शब्दोंसे संस्कृत होकर ही किसीकी पत्नी बनती है।

वेद-मन्त्रोंके स्वरसहित उच्चारणद्वारा भौतिक तत्त्वों एवं भौतिक जगत्पर तथा मन्त्रके देवतापर अभूतपूर्व प्रभाव डाला जा सकता है, या उसे वशमें किया जा सकता है। वेद-मन्त्रोंके शुद्ध स्वरसहित उच्चारण एवं उनकी क्रियाओं-द्वारा, अग्नि, जल, वायु, मेघ, विद्युत् आदि देवशक्तियोंसे विविध उपयोग लिया जा सकता है। प्राचीन कालमें दिव्य द्रष्टा महर्षि लोग एक-एक मन्त्रके रहस्य एवं विज्ञानके अन्वेषणमें अपना सुदीर्घकालिक ब्रह्मचर्यका जीवन अर्पित कर दिया करते थे।

अतः मन्त्र-शक्तिमें अवश्य ही विश्वास रखना चाहिये। इसीलिये योगदर्शनमें 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (४।१) कहा है। यहाँ मन्त्रशक्ति तथा उससे सिद्धि भी मानी गयी है। मन्त्र शब्दात्मक होता है। शब्दमें अचिन्त्य शक्ति होती है। वैर, प्रेम, क्रोध, शान्ति, कार्य-सिद्धि तथा विविध क्रान्तियाँ, जो नित्यके व्यवहारमें दीखती हैं—ये सब शब्द-शक्तिसे ही हुआ करती हैं। शब्दोंके आनुपूर्वी विशेषसे सङ्गीत बन जाता है, जिससे पशु-पक्षी भी प्रभावित होते हैं। कई क्रियाओंका मन्त्रसे विधान होनेसे विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न होता है। उन्हीं मन्त्रोंका संग्रह मन्त्रयाग 'वेद' प्रसिद्ध है। उपवेद, आयुर्वेदमें भी मन्त्र होते हैं। इसी प्रकार तन्त्रशास्त्रमें भी। मन्त्रशक्तिसे ही ब्राह्मण वृष्टि करवाने या रुकवानेमें समर्थ होते हैं—यह प्रसिद्ध है। जपनादिमें यदि स्वर-वर्णादिकी आनुपूर्वीका भङ्ग कर दिया जाय, तब उसके फलमें भी भङ्ग हो जाता है। इसीलिये प्रसिद्ध है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

इन्हीं स्वरकी त्रुटियोंसे वृत्रासुरका वध हुआ—यह कथा सुप्रसिद्ध है। मानस-जपका प्रभाव सारे आकाशमण्डलमें व्याप्त हो जाता है, इसलिये सूक्ष्मका प्रभाव स्थूलकी अपेक्षा अधिक होना प्रसिद्ध है।

कई मन्त्र वेदसे भिन्न पुराणों तथा उनसे भिन्न तपस्वियोंके भी होते हैं। उनमें मन्त्रोंके उद्भावक मुनियोंकी तपस्याका बल प्रभाव रहता है। आविष्कारकोंकी तपस्या यावत्कालावस्थायिनी होती है, तबतक वे मन्त्र भी सफल होते रहते हैं; बादमें वे निष्फल या निष्प्रभाव हो जाते हैं। पर वेद-मन्त्र अपौरुषेय शक्तिवश सदा ही सफल होते हैं;

अवश्य ही उनका प्रयोक्ता शास्त्रोक्त अधिकारी, निष्ठावान् तथा पूर्ण विद्वान् एवं शुद्ध उच्चारणवाला होना चाहिये। इस प्रकार याज्ञिक-मन्त्रोंद्वारा वशीकृत देवशक्ति हमपर अनुग्रह करती है। वह उच्चयोनि तथा लोकोत्तर बलशालिनी होनेसे हमें अपने मनोरथोंकी पूर्तिमें सुगम सुझाव देती है। उन मन्त्रोंके प्रकम्पनोंका प्रभाव हमारे शरीरपर होनेसे वे हमारे रोग आदिके परमाणुओंको बहिष्कृत करनेमें समर्थ हो जाते हैं। मानसिक एवं शारीरिक अस्वास्थ्य दूर हुआ, तो लोककल्याण स्वयं उपस्थित हो जाता है।*

५–गायत्री-उपासना-विज्ञान

गायत्री-मन्त्र वेदका सारस्वरूप है, यह मनुस्मृति (२।७६–७७) में स्पष्ट है। इसलिये वेदारम्भ-संस्कारमें वेदोंके पूर्व्यर्थ मुख्यतया वटुको गायत्री-मन्त्रका दक्षिण कर्णमें उपदेश दिया जाता है। लौकिक दृष्टिसे भी गायत्री-मन्त्र महत्त्वपूर्ण है। इसे मन्त्रराज समझना चाहिये। इस मन्त्रमें सूर्यसे बुद्धिकी प्रार्थना है; क्योंकि वह बुद्धिका अधिष्ठाता देव है। इसी बुद्धिके दाता होनेसे ही सूर्योदयके समय चोरोंकी चौर्य-प्रवृत्ति तथा जारोंकी जारता-प्रवृत्ति हट जाती है।

बुद्धिकी प्रार्थनासे ही 'वृद्धा कुमारीवर-न्याय' तथा 'वृद्धान्धब्राह्मणवर-न्याय'के अनुसार इससे सभी कुछ माँग लिया जाता है। एक वृद्धा कुमारीने पति, पुत्र, धन, धान्य, गाय आदिको चाहते हुए भारी तपस्या की। देवताने साक्षात् होकर उसे एक वर माँगनेका आदेश दिया। तब उस वृद्धा कुमारीने वर माँगा कि 'मैं अपने पुत्रको सोनेके पात्रमें घी-दूध-मिश्रित भात खाता हुआ देखना चाहती हूँ।' इस प्रकार उसने एक ही वरसे यौवन, पति, पुत्र, धन, धान्य, गाय आदि माँग लिये।

इसी प्रकार एक जन्मान्ध, निर्धन, अविवाहित ब्राह्मणकी भी कथा है। देवताके मुखसे एक वरकी प्राप्ति जानकर उसने देवसे वर माँगा—'मैं अपने पौत्रको राजसिंहासनपर बैठा देखना चाहता हूँ।' इस प्रकार एक वरसे उसने अपनी आँखें, धन, यौवन, विवाह, स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि माँग लिये।

यही बात है—बुद्धिकी प्रार्थनाकी। हमारे जो कार्य सिद्ध नहीं होते, या उल्टे पड़ जाते हैं, उसका मुख्य कारण होता है—बुद्धिकी विपरीतता। इसी कारण प्रसिद्ध है—'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।'

'बुद्धि'का लक्षण यह है—

'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्।'

'बुद्धि सब व्यवहारोंका कारण है।'

जब चाणक्यके शिष्यने चाणक्यसे कहा था कि—'आपके ही आदमी आपका पक्ष छोड़कर राक्षसके पक्षमें जा मिले हैं।' तब श्रीचाणक्यने कहा कि 'सभीको जाने दो, 'मा गात्तु बुद्धिर्मम' एक मेरी बुद्धि न जाय, शेष सभी हमें छोड़कर भले ही चले जायँ।'

यद्यपि बुद्धिकी प्रार्थना हम लौकिक वचनोंसे भी कर सकते हैं, तथापि वेदके अपौरुषेय एवं नियत आनुपूर्वीवाले तथा नियतपद-प्रयोग परिपाटीवाले होनेसे उसमें अनन्यसदृश अपूर्वता हुआ करती है, जिससे उसके द्वारा अतिशयित फल हुआ करता है।

इसी बुद्धिकी महत्ता होनेसे ही भगवान्ने गीतामें कहा है—

'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि। (७।१०)
'गायत्री छन्दसामहम्। (१०।३५)

गायत्री छन्द है, मन्त्रका नाम सावित्री है।

'सावित्र्यास्तु परं नास्ति। (मनु० २।८३)

यहाँपर सावित्री मन्त्रको सर्वश्रेष्ठ कहा है। इसी सावित्रीके जपसे क्रूर ग्रहोंका दुष्फल भी दूर हो जाता है। देखिये महाभारत वनपर्वमें—

प्रजपन् पावनीं देवीं गायत्रीं वेदमातरम्।
ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि॥
ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराः सदा।
(२००।८३–८५)

इस प्रकार गायत्री-मन्त्रका महत्त्व है।

* इस विषयमें श्रीसनातनधर्मालोकका पञ्चम पुष्प देखना चाहिये।

चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गायत्री लोकसम्मता।
य एतां वेद गायत्रीं पुण्यां सर्वगुणान्विताम् ॥
तत्त्वेन भरतश्रेष्ठ स लोके न प्रणश्यति।
(महा० भीष्म० ४ । १५-१६)

यहाँपर गायत्रीके अवलम्बनसे विनाशका दूर होना माना है। इसलिये उपासनामें गायत्री मन्त्रका प्रयोग स्वतः सिद्ध है।*

६—माला-जप तथा माला-भेद

श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'। (१० । २५)

यहाँ जपनको एक यज्ञ माना गया है।

'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।'
(मनु० २ । ८५)

यहाँ जपयज्ञको विधियज्ञसे भी दसगुना अधिक माना गया है।

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्याद् अन्यद् न वा कुर्यात्, (मनु० २ । ८७)

ब्राह्मण अन्य कुछ करे या न करे, परंतु जप अवश्य करे। इससे वह संस्कृत हो जाता है।

'जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते।'
(मनु० ४ । १४६)

'जो जप तथा हवनमें लगे रहते हैं, उनका पतन नहीं हुआ करता।' यह जपकी महिमा है।

जपको यज्ञ कहा जाता है, यह हम पूर्व कह चुके हैं। 'यज्ञ' यज धातुसे बनता है, जिसका अर्थ है—देवपूजा, देवताओंका सङ्गतिकरण और देवनिमित्तक दान। अतः पूजारूप उपासनामें तथा जपमें सहायक माला हुआ करती है, जिसका संकेत भगवद्गीतामें—

'सूत्रे मणिगणा इव' (७ । ७) में आया है। जपके लिये संख्या १०८ होती है; तदर्थ मालाकी आवश्यकता होती है। जपकी साधनमालाकी भी १०८ मणियाँ हुआ करती हैं। मालाकी मणियाँ १०८ क्यों होती हैं, एतदर्थ हमारी * 'श्रीसनातनधर्मालोकग्रन्थमाला'का पञ्चम पुष्प देखा जा सकता है।

जपनेके लिये माला इसलिये रखनी पड़ती है कि जपकी संख्या हो जाय। बिना संख्याके जप करना ठीक नहीं होता। 'बृहत्पराशरस्मृति'में कहा है—

'अप्समीपे जपं कुर्यात् ससंख्यं तद् भवेद् यथा।'
(४ । ४०)

अब मालाएँ किस-किसकी हुआ करती हैं, इसपर उक्त स्मृतिकार कहते हैं—

स्फाटिकेन्द्राक्षरुद्राक्षैः पुत्रजीवसमुद्भवैः।
अक्षमाला प्रकर्तव्या प्रशस्ता चोत्तरोत्तरा ॥
अभावे त्वक्षमालायाः कुशग्रन्थ्याऽथ पाणिना।
यथाकथञ्चिद् गणयेत् ससंख्यं तद् भवेद् यथा ॥
(४ । ४१-४२)

यहाँ स्फटिक (बिल्लौर), इन्द्राक्ष, रुद्राक्ष, पुत्रजीव आदिकी मालाएँ कही गयी हैं। यदि वे न मिलें, तो करमाला भी गृहीत की गयी है—हाथकी अंगुलियोंसे गणना करें।

रुद्राक्षकी विशेषता बहुत प्रसिद्ध है। यदि वह असली हो तो उसे पहननेसे रक्तचापकी बीमारीका भी दूर हो जाना माना जाता है। यहाँ इन मालाओंका उपलक्षण है, इयत्ता नहीं कि अन्य माला न हो सके। तुलसीकी माला भी ली जा सकती है। उसमें सात्त्विक विद्युत्प्रदान-शक्ति विज्ञान-सम्मत होनेसे उसका भी उपयोग हो सकता है। उस तुलसी-मालाको पहने रहनेसे गण्डमाला रोगकी सम्भावना नहीं रहती।

प्रत्येक पलमें हमारे छः श्वास निकलते हैं। ढाई पल या एक मिनटमें १५ श्वास निकलते हैं। एक घंटेमें ९०० श्वास निकलते हैं। १२ घंटोंमें १०, ८००

* अधिक स्पष्टता 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके पञ्चम पुष्पमें देखिये।

* 'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाके नौ पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं। १०वें पुष्पकी तैयारी हो रही है। इस ग्रन्थमालामें हिंदुधर्मके सभी विषयोंपर गम्भीरतासे समाधान करके विचार किया गया है। इस पुष्पको छोड़कर सभी पुष्प मिल जाते हैं। इस ग्रन्थमालाकी सभी गुणज्ञोंने प्रशंसा की है। इन पुष्पोंको हमारे नाम पत्र लिखकर 'आलोक ग्रन्थमाला' कार्यालय, पो० लाजपतनगर नयी दिल्ली १४ से मँगाया जा सकता है।

श्वास होते हैं। इतने समय जीवको जप करना चाहिये। जैसा कि 'योग-चूडामणि' उपनिषद्में कहा है—

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
(३२)

यहाँ दिन-रातके श्वासोंकी संख्या २१,६०० बतायी गयी है। पर रात सोनेके लिये है। यदि हम एक माला करें, तो उसके १०८ दाने होते हैं; हमने एक सौ आठ बार जप किया। यदि हम उपांशु (जिसमें जपके अक्षर स्पष्ट सुनायी न दें) जप करें 'उपांशुः स्याच्छतगुणः' (मनु० २।८५), तो उसका सौगुना फल कहा है; तब १०८ × १०० = १०,८०० संख्याका दिनका जप हो जाता है। यह सोचकर मालाके १०८ दाने रक्खे गये। माला न मिल सके, तो हस्तमालाका अवलम्बन करना चाहिये।

उपासनाके सम्बन्धमें अन्य भी कई विषयोंपर विचार उपस्थित किया जा सकता था; पर बहुत विस्तार हो जानेसे तथा समयाभाववश हम यहीं रुकते हैं।

उपासना

[भक्तिक्षेत्रकी उपलब्धियाँ]

(लेखक—आचार्य श्रीमुन्शीरामजी शर्मा 'सोम' एम्० ए०)

यहाँ राग-द्वेषकी विपुलता है। इसका परिणाम है—कलह, अशान्ति, क्लेशाकुलता। व्यक्ति, वर्ग, राष्ट्र—एक नहीं, प्रायः सब-के-सब राग-द्वेषके क्रीडा-कन्दुक बन गये हैं। ऐसा नहीं कि यह आजके युगकी ही विशेषता हो; प्राचीनकालमें भी सत् एवं असत्में संघर्ष चलता ही रहा है। किसी समय यह देव एवं दैत्य-संघर्ष था, कभी आर्य एवं दस्युका संघर्ष था और कभी वृत्र और इन्द्रका संघर्ष था। इन संघर्षोंने मानवजातिको कभी बढ़ाया और कभी गिराया। संघर्षसे पृथक् भी कुछ प्राणी रहे हैं। संघर्षमें इन्हें दुःख-बहुलताके दर्शन हुए थे, जो इनकी रुचिके प्रतिकूल था। ये राग-द्वेषसे ऊपर उठे। सत्त्वका समावेश अपने जीवनमें करके इन्होंने शान्तिकी शरण ली। इनका सिद्धान्त था—हम दूसरोंको नहीं, तो अपने-आपको तो राग-द्वेषसे पृथक् कर ही सकते हैं। अन्य राग-द्वेषसे चिपटें, चिपटते रहें। वे बिना चिपटे रह भी नहीं सकते। यह जानते और अनुभव करते हुए भी कि इससे जीवन किरकिरा होता है, वे राग-द्वेषके दलदलमें फँसते हैं। उनकी वृत्तियाँ बनी ही ऐसी हैं कि वे राग-द्वेषमें स्वाद लेते हैं, उससे दूर नहीं हो पाते। चोटें लगती हैं, पर अपनी आदतसे ये विवश हैं। खोपड़ियाँ फूटती हैं, पर दूसरोंके स्वत्वापहरणसे ये पृथक् नहीं हो पाते। अंग्रेजको देश छोड़ना पड़ा, पर भारत-पाकिस्तानको लड़ाकर दोनोंको निर्बल बनानेमें आज भी वह पश्चात्पद नहीं है। मुसल्मान चीनमें अपमानित है, पर पाकिस्तान उसका साथ नहीं छोड़ सकता। जर्मनी दो भागोंमें विभक्त होकर कराह रहा है, पर हिटलरी ढंगको अपनानेके लिये प्रकृत्या विवश है। ऐसा समझकर और देखकर कुछ व्यक्ति इससे उपरत हो जाते हैं। दुनियाँ भाड़में जा रही है, तो जाने दो। हम क्यों जायँ? जो कहने-सुननेसे मान जाय तो अच्छा है, वह कल्याण-पथकी ओर अग्रसर हो। जो न माने, वह अपने मार्गपर चले। हम भी अपने मार्गपर चल रहे हैं।

ऐसे व्यक्ति राग-द्वेषसे ऊपर उठते हैं। इस उत्थानमें इन्हें भी संघर्ष करना पड़ता है, युद्ध लड़ना होता है, पर दूसरोंसे नहीं, अपने-आपसे। 'युधा इद् आपित्वमिच्छसे' अपनेसे युद्ध ही अपनेपनका विकास है, अपनेसे प्रेम करनेकी अभिलाषा है, अपने-आपको प्राप्त करना है। राग-द्वेषका परित्याग कोई खेल नहीं है, अथक संघर्षकी कथा है, अनवरत त्याग और योगकी साधना है। पर करनेवाले करते हैं, विघ्नोंपर विजय प्राप्त करते हैं और सत्के साथी बन जाते हैं।

सत्के साथ रहना—सत्की उपासना करना, सत्का समीपी बनना तब होगा, जब हम सत्से प्रेम करें, उसके गुणोंपर रीझें, उसे आदर्श मानकर प्रणत हों। सत्में कोई ऐसी शक्ति निवास करती है, जो साधकको प्रिय है और जिसका आधान वह अपने जीवनमें करना चाहता है।

यह चाह ही इष्ट है। इष्टदेवके सामने ही सब झुकते हैं। वार्तामें उसका नाम लेते हैं, सभामें उसका गुण-कीर्तन करते हैं, एकान्तमें उसके गुण-कर्म-स्वभावका मनन करते हैं और निरन्तर उसीकी भक्तिभावनामें निरत रहते हुए उसे अपने चतुर्दिक् वैसे ही समाच्छादित कर लेते हैं, जैसे आजकलके आणविक युद्धके प्रेमी एयर-अम्ब्रैला—वायु-छत्रसे अपनेको ढक लेते हैं और वैमानिक आक्रमणोंसे सुरक्षित हो जाते हैं। प्रभुके लिये भक्ति, कान्ति एवं प्रीति रखते हुए ये साधक प्रभुके साथी बन जाते हैं और क्रमशः साधनामें आगे बढ़ते हुए ये उसके सखा, फिर भ्राताके रूपमें दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

उपासनाका प्रथम अङ्ग है—प्रणति, नमन, झुकना। इसमें इष्टदेवकी महत्ता सामने रहती है। झुकना किसी महती शक्तिके आगे ही होता है। लोकमें ज्ञान एवं ऐश्वर्यका माहात्म्य देखा जाता है। दोनों ही जनताको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। कभी-कभी इनका मिथ्याडम्बर भी आकर्षणका हेतु बन जाता है, पर उसकी कलई शीघ्र ही खुल जाती है। वास्तविक नमन सत् ज्ञान एवं सत् ऐश्वर्यके प्रति ही होता है। जो क्षणिक है, स्थायी नहीं; जो उधार लिया हुआ है, अपना नहीं, वह ज्ञान तथा ऐश्वर्य भी कालान्तरमें स्वतः माहात्म्यसे वञ्चित हो जाता है। अतः ज्ञान एवं ऐश्वर्यकी अपेक्षा महत्ता सत्में है। परम तत्त्वका प्रथम विशेषण सत् ही है। उसीकी सत्ता है, महत्ता है। अन्योंकी सत्ता उसीकी अपेक्षा रखती है।

सत्की यह सत्ता सौम्य है, सोमके योग्य है। यहाँ जो कुछ सोम है, प्राण, वीर्य, वैभव आदि हैं, उसीका है। हमें जितना उपयोगके लिये मिला है, उस उपयोगकी सार्थकता भी उसीके लिये कर्म करनेमें है। रज तथा तममें ग्रस्त व्यक्ति उपयोगकी इस सार्थकताको हृदयङ्गम करनेमें असमर्थ हैं। सात्त्विकतापरायण, उत्क्रमणशील व्यक्तियोंकी ही यह सम्पदा है। वे ही सत् सोमकी सौम्यताको अनुभव कर पाते हैं और वे ही सोम राजाको अपनी भेंट चढ़ानेके योग्य होते हैं। वे ही वचनोंद्वारा, उसके नामका जाप करते हुए, उसे पुकारते हुए, उसके चरणोंमें प्रणत होते हैं। वे ही उसके सालोक्य-लाभके योग्य पात्र हैं।

वचनोंद्वारा परम तत्त्वका नाम लेना, उसके वाचक प्रणवका बार-बार उच्चारण करना, उद्गीथ-गानको गाना, ओंकारके साथ प्राण-गतिको सम कर देना मानो प्रभुकी सालोकता प्राप्त कर लेना है। वचन व्योममें विस्तीर्ण होते हैं। इस व्योममें ओ३म् ओतप्रोत है। अतः मन वचनोंद्वारा प्रभुके साथ समलोकवासी अनायास बन जाता है। उसके वचन उसी लोकमें पहुँच रहे हैं, जहाँ उसका वचनीय पूर्वसे ही विद्यमान है। वचनीयता वैसे भी लोकसे ऊपर नहीं जा पाती।

वचनसे सलोकता तो प्राप्त हो गयी, पर निकटता नहीं आयी। इस निकटताके लिये साधकको वचनोंसे भी ऊपर प्रभुके गुण-कर्मोंका चिन्तन करना पड़ता है। वह मनायु बनकर ही सामीप्य-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। किसीके गुणोंका चिन्तन एवं मनन उसके समीप पहुँचनेका अचूक साधन है। मुखसे मैं नाम लेता रहूँ, तो मैं और नामी दूर-दूर ही रहेंगे; भले ही दोनों एक लोकमें निवास करते हों; पर जब मैं उसके गुणोंपर ध्यान ले जाता हूँ तो उसका निकटवर्ती बन जाता हूँ। नाम बाहर है, गुण भीतर हैं। गुणोंकी आभ्यन्तरता प्रभुके नैकट्यकी सूचक है। यह आभ्यन्तरता जितनी ही अधिक सघन होती जायगी, समीपता उतनी ही अधिक बढ़ती जायगी। अतः वचनके साथ मनका लगा रहना आवश्यक है। वचनमें जो नाम है और उस नाममें जो गुण है, यदि मन उनके साथ लगा रहा तो प्रभु अपने समीप ही जान पड़ेंगे।

नामके जप, कीर्तन आदिसे सालोक्य और गुण-चिन्तन या मनन-ध्यानसे सामीप्यकी सिद्धि हो गयी, पर अभी भक्तका गन्तव्य परिपूर्णता तक नहीं पहुँचा। उपासना अभी अधूरी है। वचनोंकी अपेक्षा मनायुमें उसकी अधिकता तो है, पर जो सामीप्य साथ-साथ रहनेमें है, वह इसमें कहाँ? जब भक्त निरन्तर प्रभुको समीप देखे, उसके साथ-साथ रहनेकी अनुभूति करे, उससे बातें करे, सत्सङ्गकी भाँति उसीसे शङ्का-समाधान, प्रश्नोत्तर आदि करनेका अभ्यासी बने और वे मेरे साथ हैं—संतत साथ हैं, इस भावनाको दृढ़-से-दृढ़तर करता जाय, तो वह किसी-न-किसी दिन प्रभुके सायुज्यको प्राप्त कर लेगा। समीपतामें सायुज्यका योग भक्ति-क्षेत्रकी बहुमूल्य उपलब्धि है।

भक्त अभीतक तीन स्तर पार कर पाया है। ये तीन स्तर हैं—सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य। पर मार्ग अभी लम्बा है। अध्वाकी अवधि यहींतक नहीं है। भक्तको और आगे बढ़ना है। सायुज्यमें साथ-साथ रहना तो है, पर

यदि साथ-साथ रहते हुए भी प्रेम न हुआ, स्नेहकी स्निग्धता न हुई, रूखे-सूखे बने रहे, व्याकरणकी फक्किकाएँ और दर्शनकी चपेटें सहते रहे, शुष्क ज्ञान, शास्त्रार्थ या वाद-विवादकी वितण्डामें पड़े रहे, तो सफलता, भक्तके उद्‌देश्यकी सिद्धि दूर ही रहेगी। हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद भी साथ-साथ रहते थे; पर प्रेम-भावमें दोनों कितनी दूर थे। गणितमें तीन और छः साथ-साथ रख दिये जायँ, पर दोनोंके मुख, दोनोंकी दिशाएँ प्रेमके अभावमें एक-दूसरेके विपरीत ही रहेंगी। अतः साथ-साथ रहनेका महत्त्व तो है, पर उससे भी बढ़कर है—प्रेम-भावसे रहना। यह प्रेम या मैत्री-भाव सखाओंमें परिलक्षित होता है। सख्यभाव प्राप्त हो गया, तो मानो भक्ति-पथका गन्तव्य निकट आ गया।

सखा-भावसे भी बढ़कर भ्रातृभाव है। बन्धुतामें जो अपनत्व है, अपनेपनका बन्धन है, वह सखा-भावसे उच्चकोटिका है। सख्य-बन्धन श्रेयस्कर है, इसमें संदेह नहीं, पर बन्धुका बन्धन तो अनुपमेय है। उसके लिये कोई उपमा नहीं दी जा सकती। सखा कालान्तरमें परिस्थितियोंकी विषमताके कारण पृथक्-पृथक् हो सकते हैं, पर बन्धुको बन्धुसे, भ्राताको भ्रातासे कौन पृथक् कर सकता है? माँने उन दोनोंको अपने हृदयकी ग्रन्थिसे जो बाँध रक्खा है। यह ग्रन्थि टूटे तो वे भी टूट जायँगे। पर यह ग्रन्थि अभेद्य है, अकाट्य है। बन्धुता भी इसीलिये अच्छेद्य है।

भक्त प्रभुका सखा बने, प्रेमी बने, यह बहुत बड़ी बात है। पर वह उसका भ्राता या बन्धु बने, यह उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। सखाभावमें सारूप्य है, तो बन्धुभावसे सार्ष्टि है। सखाओंमें सरूपता रहती है। दोनों सरूपता, समान वय-गुण-रूप आदिके कारण सखा कहलाते हैं, पर दोनों समान भोगके अधिकारी नहीं बन पाते। श्रीदामा और श्रीकृष्ण सखा थे, पर दोनोंके भोगमें आकाश-पातालका अन्तर था। 'अति अधिकार जनावत याते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैया'—सूरकी यह पद-पंक्ति भोगमें अन्तरको स्पष्ट कर रही है। श्रीकृष्णके सहपाठी सुदामा भी दीन थे, यद्यपि अन्तमें उनके भी भवन प्रभुकृपासे ,खड़े हो गये; पर अन्तर तो बना ही रहा। बन्धुतामें यह अन्तर नहीं रहता। दो बन्धु समान स्तरपर भोग भोगते हैं। सार्ष्टि, इसी समान पद, भोग, ऐश्वर्य आदिकी उपलब्धिको सूचित करनेवाली स्थिति है।

भक्त प्रभुकी वचनोंद्वारा स्तुति करे, मनद्वारा उसके गुणोंका चिन्तन करे, उसके संदर्शनमें जीवन व्यतीत करनेका प्रयत्न करे, उसका साथी बने, सखा बने और अन्तमें उसके बन्धुभावको प्राप्त कर ले—ये पाँच उपलब्धियाँ उपासनाक्षेत्रके पाँच स्तर हैं। श्रीमद्भागवत ३। २९। १३ के अनुसार इनके नाम हैं—सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य और सार्ष्टि। ऋग्वेदके निम्नाङ्कित मन्त्रमें इनका वर्णन इसी क्रमसे हुआ है, यद्यपि भागवतमें सायुज्यके स्थानपर एकत्वको अन्तमें रक्खा गया है—

को नानाम वचसा सोम्याय मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखित्वं को भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती॥
(ऋ० ४। २५। २)

कौन है यहाँ जो वचनोंद्वारा सोम्य प्रभुके आगे झुके? कौन है जो मनायु बनकर प्रभुके गुण-कर्म-स्वभावका चिन्तन करे और उसकी ज्ञान-किरणोंसे अपनेको आच्छादित कर ले? कौन है जो ऐश्वर्यशाली प्रभुके सायुज्य, सखाभाव तथा भ्रातृभावको प्राप्त करनेका आकाङ्क्षी हो? उस कविके लिये किसके हृदयमें भक्ति, कान्ति तथा प्रीतिकी तरङ्गें उमड़ती हैं? जिसमें ये बातें हों, वही भक्त है, वही प्रभुका प्यारा है।

सर्वाङ्ग उपासना

जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं
पाणिद्वन्द्व समर्चयाच्युतकथां श्रोत्रद्वय त्वं शृणु।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छाङ्घ्रियुग्मालयं
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन्नमाधोक्षजम्॥

हे जिह्वे! केशवका कीर्तन कर; चित्त! मुरारिको भज; युगल हस्त! श्रीधरकी अर्चना करो; हे दोनों कानो! तुम अच्युतकी कथा श्रवण करो; नेत्रो! श्रीकृष्णका दर्शन करो; युगल चरणो! भगवत्स्थानोंमें भ्रमण करो; अरी नासिके! मुकुन्दचरणसेविता तुलसीकी गन्ध ले और हे मस्तक! भगवान् अधोक्षजके सामने झुक।

उपासनाका मनोवैज्ञानिक आधार

(लेखक—प्रोफेसर श्रीलालजीरामजी शुक्ल, यू०जी० सी०)

प्राकृतिक चिकित्साके प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर हेनरी लिंडलहरने अपनी 'प्रैक्टिस ऑफ नेचरल थेरोप्यूटिक्स' नामक पुस्तकमें मनुष्यके मनोभावोंका उसके स्वास्थ्यपर पड़नेवाले प्रभावको बताते हुए लिखा है कि हम अपने शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके स्वास्थ्यको किसी महापुरुष, अदृश्य देवदूत तथा सर्वव्यापी तत्त्वसे एकत्व स्थापित करके निश्चयपूर्वक सुधार सकते हैं। विश्वव्यापी आत्माको ही विभिन्न नामोंसे जैसे ईश्वर, जगत्पिता, अचल नियम अथवा परमात्मा या ब्रह्मके नामसे पुकारा जाता है। हम जिस प्रकारकी आत्माका ध्यान करते हैं, उससे हमारा सम्पर्क उसी प्रकार स्थापित हो जाता है, जिस प्रकार भौतिक वायरलेसके द्वारा संसारके विभिन्न स्थलोंसे रेडियो स्टेशनके द्वारा यह सम्पर्क स्थापित होता है। इस प्रकार हम स्वयंको ऊँचे-से-ऊँचा उठा सकते हैं और अपनेको नीचे गिरनेसे रोक सकते हैं। प्रत्येक मनुष्यका मस्तिष्क स्वयं मानसिक वायरलेस सेटके समान है, जो कि विभिन्न प्रकारके भले और बुरे विचारोंको सदा प्राप्त करता रहता है। यह कार्य मनुष्यकी जाग्रत् और स्वप्न—दोनों ही अवस्थाओंमें होता है। हमारे मनमें कौन-सा विचार उठेगा और कौन-सा नहीं, इस बातपर निर्भर करता है कि हम किस प्रकारकी आत्मासे अपना सम्पर्क जोड़ रहे हैं। अर्थात् हम किसके प्रति श्रद्धा, प्रेम और आस्था स्थापित कर रहे हैं तथा किसका ध्यान कर रहे हैं।

उक्त मनोवैज्ञानिक सत्यका समर्थन हम 'उपटन सिंक्लेयर' की 'मेन्टल रेडियो' नामक पुस्तकसे पाते हैं। उपटन सिंक्लेयरने बताया है कि मनुष्य अपने विचार न केवल भौतिक माध्यमके द्वारा भेज सकता है, वरं वह अभौतिक मार्गोंसे भी अपने विचार दूसरे लोगोंको भेज सकता है। इस तरह संसारमें समर्थ योगीलोग लोककल्याणके विचारोंको एक स्थानपर बैठकर ही विश्वकी पूरी जनतातक पहुँचा देते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति महान् आत्माओंके संदेशोंके लिये अपने मनके द्वारको खोलकर उन दुर्लभ संदेशोंको प्राप्त कर सकता है, जो सामान्य व्यक्तिको नहीं मिलते।

योगसूत्रमें बताया गया है कि मनुष्य जो कुछ भी सोचता है, वह तदनुरूप हो जाता है। भगवद्गीतामें कहा है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(१७।३)

प्रत्येक मनुष्यकी लगन उसके स्वभावके अनुसार ही होती है। यही उसका सत्त्व है। इसीके अनुसार वह अपने मित्रोंको, गुरुओंको, देवी-देवताओंको चुनता है और उनपर अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रकाशित करता है। यह एक सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। मनुष्यकी जैसी श्रद्धा होती है, उसीके अनुसार उसका व्यक्तित्व बन जाता है। 'जैसी जिसकी भावना वैसी उसकी सिद्धि।'

आधुनिक मनोविज्ञानने अचेतन मनकी कुछ गूढ़ क्रियाओंकी खोज करके यह बताया है कि मनुष्य अपनी आत्माका साक्षात्कार अनेक प्रकारकी गुप्त चेष्टाओंके द्वारा करता है। इस प्रकारकी चेष्टाओंमें एक चेष्टा आन्तरीकरण अथवा आत्मीकरणकी चेष्टा है। जो बात हमारा भीतरी मन चाहता है, उसके अनुरूप वह किसी बाहरी आदर्श अथवा व्यक्तिका ध्यान करने लगता है। जब यह ध्यान बहुत अधिक बढ़ जाता है, तब ध्याता और ध्येयमें सम्पूर्ण एकत्व स्थापित हो जाता है। तादात्मीकरणकी सामान्य स्थितिको हम किसी ड्रामा अथवा खेल देखनेवाले दर्शकोंकी मनोवृत्तिमें देखते हैं। बिना तादात्मीकरणके होनेवाली घटनाओंका आनन्द ही नहीं लिया जा सकता। साहित्य-निर्माण और साहित्य-रसास्वादनमें भी अचेतन मनकी यही तादात्मीकरणकी प्रक्रिया काम करती है। इसे साहित्य-समाज-आलोचकोंने काल्पनिक तादात्मीकरण (इमेजिनेटिव आइडेन्टीफिकेशन) कहा है। इस काल्पनिक तादात्मीकरणकी पराकाष्ठा हम उपासककी मनोवृत्तिमें देखते हैं। उच्च कोटिकी उपासनामें मनुष्य स्वयंको खो देता है और केवल उपास्य उसके लिये रह जाता है।

थूलेसने अपनी 'साइकोलॉजी ऑफ रिलिजन' नामक पुस्तकमें यह बात बतायी है कि सेन्ट कैथेराइन एक विशेष

समयपर, जब कि हजरत ईसा क्रासपर कीलेसे ठोके गये थे, अपने शरीरके विभिन्न स्थलोंमें उसी प्रकारकी पीड़ाका अनुभव करती थीं, जिस प्रकारकी पीड़ा शरीरमें कील ठोकनेसे होती है। ऐसी अवस्थामें एक डाक्टर उनकी देखभाल करते थे। उन्होंने कैथेराइनकी पीड़ाको वास्तविक अनुभूत पाया। कहा जाता है कि मीराँ भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममें इतनी डूब जाती थी कि वह श्रीकृष्णरूप ही बन जाती थी और जब मरी तो वह द्वारकाधीशमें ही समा गयी।

आधुनिक कालमें संसारके सभी मज़हबोंका तिरस्कार हो रहा है। मज़हबी साधनाओंकी मखौल उड़ायी जाती है। कहा जाता है कि धर्म मानवजातिका व्यापक पागलपन है। मनुष्यके अज्ञानके ऊपर निर्भर है। जैसे-जैसे मनुष्यका वैज्ञानिक अथवा तार्किक विचार बढ़ता है, वैसे-वैसे धर्म क्षीणप्राण होता जाता है। संसारके बहुतसे मनोवैज्ञानिक प्रायः धर्मको विज्ञान-विरोधी, तर्कविरोधी और अज्ञानपर आधारित मानते हैं। कहते हैं धर्म मनुष्यका बौद्धिक नहीं, वरं भावात्मक सहारा है। जैसे-जैसे मनुष्य स्वयंमें सामर्थ्य और स्वावलम्बनका अनुभव करता है, वह किसी धर्मकी, बाहरी देवी-देवताकी, चाहे वे वास्तविक हों या काल्पनिक, उपासनाकी आवश्यकता नहीं देखता।

वर्तमान मनोवैज्ञानिकोंमें चार्ल्स युंग एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने मज़हबकी अनेक प्रकारकी साधनाओंको मानव-स्वास्थ्य और मानव-विकासके लिये नितान्त आवश्यक माना है। उनका कथन है कि संसारके सभी मानसिक चिकित्सक मिलकर उतने मानसिक रोगियोंको आरोग्यप्रदान नहीं करा पाते, जितना कि संसारका निम्न-से-निम्न स्तरका मज़हब कराता है। धार्मिक साधनाएँ मनुष्यको वह आश्वासन देती हैं जो किसी प्रकार उसे दूसरी तरहसे प्राप्त नहीं हो सकते हैं। इस जीवनके बाद भी आगेके जीवनकी हरेक व्यक्तिको आकाङ्क्षा रहती है। भौतिक विज्ञान इस आकाङ्क्षाकी पूर्तिके हेतु मनुष्यको कुछ भी नहीं देता। यही कारण है कि भौतिक विज्ञानमें अधिक-से-अधिक प्रगति करनेवाले देशोंमें जितना पागलपन अथवा मानसिक रोग बढ़ गया है, उतना उन देशोंमें नहीं बढ़ा है, जहाँ भौतिक विज्ञानका प्रसार अधिक नहीं हुआ। मरनेके बादके जीवनके विषयमें भी धार्मिक साधनाएँ ही मनुष्यको संतोष देती हैं।

इतना ही नहीं, अपने जीवनकालमें भी मनुष्यको अनेक प्रकारके असंतोष होते हैं। इन असंतोषोंका सामना साधारण मनुष्य अपनी सीमित शक्तिसे नहीं कर पाता। जिस व्यक्तिको अपने स्वत्वके विषयमें अथवा संसारके विधानके विषयमें उतना ही ज्ञान है, जितना कि भौतिक विज्ञान उसे देता है। वह किसी प्रकारकी असहनीय निराशाके होनेपर या तो मृत्युका या पागलपनका आवाहन करने लगता है। कभी-कभी वह झूठे संतोषसे स्वयंको भुलाता रहता है। असाधारण मनोविज्ञानमें अनेक ऐसी मनोरचनाएँ बतायी गयी हैं, जिनमें मनुष्य अपने असंतोषको भुलानेकी चेष्टा करता है।

डाक्टर राधाकमल मुकर्जीने अपनी 'सिकनेस ऑफ सिविलिजेशन' नामक पुस्तकमें वर्तमानकालके मनुष्यकी दयनीय मानसिक अवस्थाका भलीभाँति चित्रण किया है। हमारी वर्तमान भौतिक उन्नतिने तथा वैज्ञानिक बुद्धिने मनुष्यको आन्तरिक शान्ति नहीं दी, वरं उसको आध्यात्मिक दृष्टिसे खोखला कर दिया है। इसीका परिणाम है कि जहाँ संसारके प्रगतिशील राष्ट्र बड़े-बड़े विश्वयुद्धोंकी तैयारी करते रहते हैं, वहाँ दूसरी ओर सम्पूर्ण मानव भारी मानसिक असंतोष और विक्षिप्तताका अनुभव करता है। डाक्टर फ्रायडने इस प्रकारकी मानवकी दयनीय अवस्थाको हटानेका कोई मार्ग नहीं बताया है। उनके अनुसार यह मनुष्यका दुर्भाग्य ही है, जिससे वह किसी प्रकार भी मुक्त नहीं हो सकता। सभ्यताका विकास और मानसिक रोगोंकी वृद्धि एक-दूसरेके सहगामी हैं। डाक्टर मुकर्जी स्वयं एक अच्छे साधक और सगुण ब्रह्मके उपासक हैं। उन्होंने डाक्टर फ्रायडकी उक्त निराशावादिताका उत्तर अपने नये दर्शनके द्वारा दिया है। यह दर्शन भौतिक विज्ञानकी विधियोंपर अथवा उनकी मान्यताओंपर न होकर अन्तरानुभूति और अलौकिक सहानुभूतिके सिद्धान्तोंपर आधारित है। प्रत्येक मनुष्यके भीतर वह तत्त्व उपस्थित है, जो अपार शक्ति, ज्ञान और आनन्दका स्रोत है। इसका साक्षात्कार करनेके लिये ही अनेक प्रकारकी उपासनाओं तथा साधनाओंका अवलम्बन लिया जाता है। वेदान्त-दर्शनके अनुसार सत्य मनुष्यकी अन्तरात्मामें है। मनुष्यके आध्यात्मिक ज्ञानकी प्रगति बाहरसे भीतरकी ओर होती है। जबतक मनुष्यका मन विषयोन्मुखी है, तबतक वह अपने स्वरूपको विषयोंमें प्रक्षेपित

होते हुए ही देख सकेगा। सभी प्रकारके लोकमें प्रसिद्ध देव-भाव अन्तरात्माकी पूर्णताके प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) हैं। इस सत्यको पश्चिममें डाक्टर युंगने और पूर्वमें स्वामी विवेकानन्द तथा उनके अनुयायियों आदिने प्रसिद्ध किया है।

उपासनाकी अत्यन्त आवश्यकता

(लेखक—श्रीश्रीकान्तशरणजी)

ईश्वर और जीवका सम्बन्ध

उपासनाका अर्थ—आराधना, पूजा, परिचर्या आदि होता है। उपासनाका तात्पर्य यहाँ ईश्वरकी उपासनासे है। ईश्वर और जीवके स्वरूपपर विचार करनेसे सभी जीवोंको उसकी उपासना करनेकी अत्यन्त आवश्यकता एवं व्यवस्था प्रकट होती है; यथा—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः॥

(गीता १५ । ७)

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। तथा—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(रामचरितमानस, उत्तर० ११६)

ईश्वरका अंश जीव अविनाशी और सच्चिदानन्दस्वरूप है। अंशका अर्थ भाग (हिस्सा) होता है। जो वस्तु जिसके भाग (हिस्से) की होती है, वह उसीकी होकर रहती है और उसीके उपभोगके लिये रहती है। ईश्वरके अंश होनेसे जीव ईश्वरके भोग्य हैं। अतएव इन्हें हर अवस्थामें शरीरके सभी अंगोंसे उसीके भोग्यभूत (सेवक) होकर रहना चाहिये; यही स्थिति उपासना है।

श्रीगोस्वामीजीने भी जीवमात्रको ईश्वरका चरण-सेवक ही लिखा है; यथा—

'जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषन बसत
मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता॥'

(विनयपत्रिका ५८)

'(हे श्रीरामजी !) यह जीव स्वरूपतः आपके चरणोंका सेवक है; परंतु यह प्रवृत्तिरूपी लङ्कापुरीमें विभीषणजी-के समान मोहरूपी रावणके कुटुम्बरूप कामादि दुष्टोंके मध्यमें चिन्ताग्रस्त रहता है।' भाव यह कि यह स्वरूपतः आपके चरणोंका सेवक है; परंतु कामादि विकारोंके वशमें पड़कर उस परिस्थितिसे भिन्न हो अत्यन्त दुखी है। इसपर यह भार अपने स्वरूपप्रयुक्त धर्म ईश्वरोपासनाको भुला देनेसे आ पड़ा है; यथा—

'बहुरोग बियोगन्हि लोग हए।
भवदंघ्रि निरादर के फल ए॥
भवसिंधु अगाध परे नर ते।
पद पंकज प्रेम न जे करते॥
अति दीन मलीन दुखी नितही।
जिन्ह के पद पंकज प्रीति नहीं॥'

(रामचरितमानस, उत्तर० १३)

इस प्रकार जीवके स्वरूपका विचार करनेसे हरि-उपासना करना इसका स्वरूपप्रयुक्त धर्म है। अतः इसे इसकी अत्यन्त आवश्यकता है। आगे इसकी पुष्टि वेद-शास्त्रके वाक्योंसे भी की जाती है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।'

(सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् ३ । १४ । १)

'यह सब निश्चय ब्रह्म ही है। यह जगत् उसी ब्रह्मके द्वारा उत्पन्न होता है और उसीमें इसका लय होता है तथा यह उसीमें चेष्टा करता है। अतः मनुष्यको शान्तचित्तसे उसीकी उपासना करनी चाहिये।'

बृहदारण्यक० ७ । ३ । २२ में भी ऐसा ही कहा गया है; तथा—वाल्मीकि० (६ । ११७ । २५) में भी 'जगत् सर्वं शरीरं ते' सारा जगत् आप (श्रीरामजी) का शरीर है।' ऐसा कहा गया है। गीतामें विराट्रूप-प्रदर्शनके समय भी भगवान् जगत्‌को अपने शरीररूपमें ही दिखाते हैं।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध है कि जैसे मनुष्यके नेत्र, पाँव एवं हाथ आदि सभी अङ्ग उसके सेवक-रूपमें रहते हैं; यथा—

'सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिब होइ।'

(रामचरितमानस, अयो० ३०६)

इसी प्रकार ब्रह्मका शरीर होनेसे यह सारा जगत् उसका सेवक है। यही बात स्पष्ट करनेके लिये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—इस वाक्यखण्डके साथ ही उसकी उपासनाकी व्यवस्था सिद्ध करती हुई श्रुति कहती है कि जगत् उसी ब्रह्मके द्वारा उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता है एवं उसीमें चेष्टा करता रहता है; अर्थात् उसीके द्वारा इसकी पालन-व्यवस्था भी होती है। इन कारणोंसे वह उपास्य है। अतः उसके शरीररूप सारे जगत्‌को उसकी उपासना करनी चाहिये। जैसे किसी खेतको जो बोता है, उसकी रक्षा (पालन) करता है और जिसके यहाँ उस खेतका उपजा हुआ अन्न जाता है, वही उस खेतका स्वामी होता है, उस खेतसे उत्पन्न अन्न उसीके लिये रहता है, वही उस अन्नका भोक्ता होता है; उसी प्रकार जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और लयकी व्यवस्था करनेसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्म श्रीरामजी ही सारे जगत्‌के जीवोंके स्वामी एवं भोक्ता हैं। जगत् उक्त अन्नवत् उनका परतन्त्र भोग्य है, इसी परतन्त्र भोग्यताको दासत्व एवं शेषत्व कहा जाता है; इस विचारसे जगत्‌के सभी जीवोंको ईश्वरकी उपासना करनी चाहिये।

श्रीगोस्वामीजीने भी उक्त तीनों व्यवस्थाएँ ईश्वरके द्वारा कहकर उसकी उपासना करनी चाहिये—यह बात कही है; यथा—

तासु भजनु कीजिअ तहँ भर्ता। जो कर्ता पालक संहर्ता॥

(रामचरितमानस, लंका० ९)

दूरि न सो हितू हेरि हिये ही है।
……'जगदीस' जीवन जीवको,
जो साज सब सबको सजै॥
हरि-हरहि हरता, बिधिहि बिधिता,
सिवहि सिवता जो दई।
सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई॥
ध्यान अगम सिवहूँ, भेट्यो केवट उठि॥
ठाकुर अतिहि बड़ो, सील, सरल, सुठि।
…स्वामीको सुभाउ कह्यो…
जपि नाम करहि प्रनाम,
कहि गुन-ग्राम, रामहिं धरि हिये।
बिचरहिं अवनि अवनीस-चरन-
सरोज मन मधुकर किये॥

(विनयपत्रिका १३५)

इस पदमें पहले अन्तर्यामी श्रीरामजीको 'जगदीस' कहा गया है। फिर 'हरि-हरहि हरता' इस पदसे श्रीविष्णुका पालनद्वारा क्लेशहरण और श्रीशिवजीका प्रलयकरणरूपी हरण उनके द्वारा कहा गया है, फिर 'बिधिहि बिधिता' पदसे श्रीब्रह्माजीका उत्पत्ति-कार्य आदि त्रिदेवोंकी शक्तियोंके कार्योंके आधार भी श्रीरामजीको ही कहा गया है। ये उपास्य होनेके लक्षण हैं। यह ऐश्वर्यदृष्टिका विचार है।

उनकी मोद-मङ्गलमयी मूर्ति और उनके सौलभ्य आदि माधुर्यके गुणोंका वर्णन कर उनके उपास्य होनेयोग्य स्वभावका वर्णन है। तब अन्तमें 'जपि नाम……' इस चरणसे उपासना करनेकी रीति कही गयी है।

इस पूरे पदको पढ़कर उपास्यदेवके उपयुक्त ऐश्वर्य और माधुर्य—दोनों प्रकारके गुणोंको समझना चाहिये।

इस प्रकार ईश्वरका स्वरूप और जीवोंका उनसे सम्बन्ध ज्ञात होनेपर जीवोंके लिये उसकी उपासना करनेकी व्यवस्था एवं आवश्यकता ज्ञात होती है।

उपासनाके अधिकारपर विचार

मनुकी आज्ञा है—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

(मनु० ६। ३५)

'तीनों ऋण (देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण) शोधकर तब मनको मोक्षमार्गमें लगाना चाहिये, जो ऋण-शोधन किये बिना मोक्षार्थी होता है, वह नीचे गिरता है।'

उपासना भी मोक्ष-प्राप्तिका प्रधान साधन है; यथा—

यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।

(गीता ९। २५)

मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।

(गीता ८। १६)

'हे अर्जुन! मुझे प्राप्त होकर उसका फिर जन्म नहीं होता (वह मुक्त हो जाता है)।' अतः इस मोक्ष-साधन-उपासनामें भी प्रथम ऋणत्रय-शोधन आवश्यक है। पर यह कार्य जीवके किये हुए उपायोंसे होना कठिन है—गीता अ० १। ४७ में अर्जुनका शारीरिक अभिमान और अ०

२ । ७ में मानसिक अभिमानका शोधन हो चुका था । पर वे वचनसे प्रश्नोत्तर करते आते थे । अन्तमें अ० १८ । ४५–६२ में जब भगवान्ने काण्डत्रयके उपाय कहकर उन्हींमें **'यथेच्छसि तथा कुरु'** (अ० १८ । ६३) कहकर इच्छानुसार करनेके लिये कहा; तब अपनी असमर्थतासे डरकर अर्जुनने कुछ उत्तर नहीं दिया । वे शोच करने लगे (क्योंकि आगे 'मा शुचः' कहकर वह शोच निवृत्त किया गया है) । इसपर इनका वाचिक अभिमान भी नहीं रहा । अब वे भगवान्की कृपाके पूर्ण अधिकारी हो गये । यथा—

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई ।
भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥
(रामचरितमानस, बाल० १९९)

बस, अ० १८ । ६३ पर मन, कर्म और वचनके शुद्ध होनेपर परम कृपापात्र अर्जुनको अ० १८ । ६४ में भगवान्ने अत्यन्त प्यारा एवं परम गुह्य तत्त्व सुननेका अधिकारी कहकर परम हितपरक उपासना बतला दी—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(गीता १८ । ६५)

'मुझमें मन (लगाने) वाला हो, मेरा भक्त हो, मेरी पूजा कर और मुझको ही नमस्कार (रूपमें मेरी शरणागति) कर (फिर) तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ (क्योंकि) तू मेरा प्यारा (सखा) है ।'

महाभारत वन० १८९ । ५७-५८ में **'शरणं गच्छध्वं'** के प्रति **'नमश्चक्रुः'** कहा गया है । अतः 'नमः' का अर्थ शरणागति होता है । यहाँ अर्जुनको भगवान् अपनी शरणागति-विधाका उपदेश कर रहे हैं । शरणागतिमें 'तवास्मि' अर्थात् 'मैं आपका हूँ'—इस भावनाके द्वारा सर्वदा भगवान्के सम्मुख ही उनका भोग्यभूत होकर रहना चाहिये । इसपर भगवान् इसका कुल भार ले लेते हैं और यह उभय लोककी चिन्ताओंसे रहित रहकर उनकी उपासना करता है । यह तात्पर्य भी साथ ही कहा गया है—

'मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥'

अर्थात् अपना अंशभूत जीव जब शरण होता है; तब यह उनका अत्यन्त प्यारा होता है । इसके लिये भगवान् स्वयं उपाय होकर इसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं । यह बात वे यहाँ प्रतिज्ञापूर्वक सत्य कह रहे हैं ।

ऋणत्रय-निवृत्ति

'मन्मना भव, मद्भक्तः भव, मद्याजी एवं मां नमस्कुरु'

इन वचनोंसे यहाँपर भगवान् जीवकी सब प्रकारकी वृत्तियोंको अपनेमें लगानेकी बात कहते हैं । इसपर अर्जुनको यह जाननेकी आकाङ्क्षा हो सकती थी कि ऋणत्रयाधिकारियोंको बिना संतुष्ट किये मैं कैसे मोक्षमार्गकी अपेक्षावाली यह आपकी सर्वात्मना शरणागति कर सकता हूँ ? उपर्युक्त मनु० ६ । ३५ की कड़ी आज्ञा उन्हें भय दे रही थी । इसका स्वयं निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

'सब धर्मोंका परित्याग करके मुझ एककी शरणमें आ जा । मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा दूँगा; शोक मत कर ।'

यहाँ 'सबसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा'—ऐसा कहनेका भाव यह है कि 'ऋणत्रयाधिकारियोंके द्वारा मैंने ही तेरी रक्षा-शिक्षा आदि व्यवस्थाएँ की हैं । वे सब मेरे नियम्य हैं और मैं उन सबका नियामक हूँ । अतः उन सबके द्वारा हुए उपकार मेरे ही हैं । मैं उन सब रूपोंसे तेरा शरण (रक्षक) हूँ; ऐसा समझकर तू मुझ रक्षककी शरणमें आ जा; तब उनके सम्बन्धके सामान्य धर्म छोड़नेके पापोंसे मैं तुझे छुड़ा दूँगा ।'

गीता अ० २ । ४ में अर्जुनका प्रश्न भी है—'भीष्म-द्रोण आदि मेरे रक्षक-शिक्षक हैं । इनकी सेवा-पूजा करनी चाहिये, इन्हें बाणोंसे कैसे मारूँ ?'

यहाँ तीनों ऋणोंके उपलक्षमें भगवान्ने इस श्लोकमें तीन बार अपनेको 'माम्', 'एकम्' और 'अहम्'—इन तीन एकवचनके पदोंसे कहा है । इससे भी दिखाया है कि 'मैं तीनों ऋणोंका धनी हूँ । अतः तीनों ऋणोंसे छुड़ा सकता हूँ' ।

विचार करनेपर तीनों ऋणोंके अधिकारीगण तो अपना-अपना ऋण चुकानेवाले हैं । उनके माता-पिताने उन्हें पाला-पोसा था । बदलेमें उन्होंने भी अपनी संतानको पाला है ।

ऐसे ही ऋषि-ऋण आदिकी व्यवस्थाएँ हैं। ऋणोंका आदि-स्रोत तो भगवान्‌से ही चला है। कहा भी है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
(गीता ९।१७)

अतः भगवान् ही तीनों ऋणोंसे मुक्त कर सकते हैं। श्रीनारदजीने प्रचेताओंसे कहा है—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(श्रीमद्भा० ४।३१।१४)

'जैसे जड़के सींचनेसे वृक्षके सभी अङ्ग एवं प्राणोंके तृप्त होनेसे इन्द्रियाँ सचेत होती हैं, वैसे ही श्रीहरिका पूजन करनेसे सभीका पूजन हो जाता है (अर्थात् भगवान् सबके आत्मा हैं, उन्हें आत्मसमर्पण करके तृप्त करनेपर सबकी तृप्ति हो जाती है)।'

श्रीकरभाजन मुनिने राजा जनकसे कहा है—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥
(श्रीमद्भा० ११।५।४१)

'हे राजन्! जो सारे कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें प्राप्त हो जाता है, वह देव, ऋषि, कुटुम्बीजन और पितृगण—इन किसीका भी ऋणी और सेवक नहीं रहता।'

अतः उपासनाका अधिकारी होनेके लिये शुद्ध मन, कर्म और वचनसे भगवान्‌का कृपापात्र बनकर उनकी शरण होकर तीनों ऋणोंसे उऋण होकर उपासना करनी चाहिये।

उपासनाकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीजवरणछोड़दासजी भगत)

केवल अपने जीवनकी कृतार्थताके लिये ही नहीं, अपितु विश्वके कल्याणके लिये, तीव्र तपश्चर्यारूप वनमाला एवं ज्ञान-वैराग्यरूप दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत होकर प्राचीन ऋषि-मुनियों और संत-महात्माओंने अपने-अपने अनुभवपूर्वक भगवत्प्राप्तिके अनेक उपायोंका संशोधन किया है। जिस उपायकी सहायतासे दुर्लभ तत्त्वकी प्राप्ति सुलभ हो जाय, वही 'उपासना' है। उपासना एक आध्यात्मिक प्रयोगशाला है, जिसमें दुर्लभ तत्त्व (आत्मा और परमात्मा) का अन्वेषण किया जाता है और उनके दिव्य रहस्योंकी अनुभूति होती है। उपासनाके बिना आध्यात्मिक उन्नति असम्भव है।

उपासनाकी आवश्यकताके सम्बन्धमें भगवान् पतञ्जलि योगसूत्रमें कह रहे हैं कि 'स हि क्रियायोगः समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।' अर्थात् उपासना समाधिको उत्पन्न करती है और क्लेशोंको क्षीण करती है। जीवात्माकी परमात्माके प्रति मनकी समतुलना एवं तीव्र योगाभ्यासपूर्वक बुद्धिकी एकाग्रता हो जाना ही 'समाधि' है। उपासनाके बिना काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ-नामक रागमूलक क्लेश, क्रोध, ईर्ष्या, असूया, मोह, अमर्ष-नामक द्वेषमूलक क्लेश, मिथ्याज्ञान (अविद्या), विचिकित्सा (संशय), मान, प्रमाद-नामक द्रोहमूलक क्लेश तथा दुर्मति, दम्भ, दुर्वासना, हिंसा, अस्मिता (अहंता), अभिनिवेश (दुराग्रह) इत्यादि क्लेश—कभी भी जीवात्माके हृदयसे नष्ट नहीं हो सकते हैं। इन क्लेशोंकी निवृत्ति और शम, दम, विनय, मैत्री, दया, शान्ति, प्रेम आदि दिव्य वृत्तियोंके साथ-साथ दिव्य चैतन्यके साथ सायुज्यकी प्राप्तिके लिये उपासना अनिवार्य है।

'उपासना' शब्दका अर्थ 'ईश्वरके समीप बैठना' है। मूलस्थिति 'ईश्वर-जीव और जगत्' इस रूपमें है। परंतु किसी भी अचिन्त्य कारणवश ईश्वर, जगत् और जीव—ऐसी स्थिति हो गयी है। ईश्वर और जीवके बीचमें जगत्‌के आ जानेसे जीवात्माकी बुद्धिसे परमात्माका सम्पर्क न्यून हो गया है। इस प्रकारका परिवर्तन हो जानेसे जीवात्माकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति—दोनों संकुचित हो गयी हैं और जीवात्मा ईश्वरसे दूर चला गया है। इस स्थितिको श्रीरामानुज

स्वामीने 'ज्ञानका संकोच' कहा है। यही जीवात्माकी अल्पज्ञता है। कारण, जगत् आवरणरूप है। अतः इसकी विविध रमणीय वस्तुएँ जीवात्माकी इन्द्रियोंको अपनी ओर आकर्षित करती हैं; जिससे जीवात्माकी बुद्धि विषयप्रवण मनकी अनुगामिनी हो जाती है और जीवात्मा क्लेशोंका पात्र बन जाता है। उपासनासे ज्ञानका विकास होता है। जिस क्रियासे जीवात्मा और परमात्माके मध्यमें स्थित जगत् तिरोहित हो जाय और उसकी ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति विकसित हो जाय, उसी क्रियाका नाम 'उपासना' है। जिससे जगत्के हट जानेसे जीवात्मा परमात्माके समीपमें ही बैठ जाता है और पूर्ववत् स्थिति 'ईश्वर-जीव और जगत्' यह हो जाती है। यही भगवत्-सान्निध्य है, यही मुक्ति है।

जीवात्मामें परमात्माके धर्मोंका प्रवेश करनेके उपायका नाम 'उपासना' है। जीवात्माको उचित है कि वह सम्पूर्ण जगत्के कारण, रक्षक, अन्तर्यामी तथा अंशी परमात्माको प्राप्त करे। परमात्मा 'पवित्राणां पवित्रम्' एवं 'मङ्गलानां मङ्गलम्' है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'—इस न्यायसे पवित्र तत्त्वकी प्राप्तिके लिये पवित्र बनना परम आवश्यक है। कारण; 'शुचिकामा हि देवाः शुचयश्च' अर्थात् देव (परमात्मा) स्वयं पवित्र हैं और पवित्रात्माओंके साथ ही सम्पर्क चाहते हैं। उपासनाके अनुसंधानसे जीवात्मामें अन्तःकरणकी शुद्धि और परमात्माके प्रति पवित्र प्रेम, श्रद्धा एवं विश्वासकी वृद्धि होती है। अनेक प्रकारके शरणागत प्राणियोंकी रक्षा करनेका एकमात्र जिस (परमात्मा) का व्रत है, उसको जीवात्मा अपनी सम्पूर्ण रक्षाका भार समर्पण कर देता है, जिससे जीवात्मा परमात्माका कृपापात्र बन जाता है। प्राप्त (जीवात्मा) में प्राप्य (परमात्मा) के ज्ञान, आनन्द, औज्ज्वल्य, सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य, लावण्य, यौवन, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, धैर्य, शौर्य, पराक्रम, यश, श्री, अपहतपापत्व, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, कृतज्ञत्व, अनपकारित्व एवं आनृशंस्य इत्यादि अनेक कल्याण-गुणोंका आविर्भाव होता है। प्राप्त प्राप्यका अखण्ड अनुभव करता है।

परब्रह्म परमात्मामें जीवात्माकी बुद्धि भक्तिरूपमें परिणत हो जानेके लिये उपासना आवश्यक है।

पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण जिनका चित्त समाहित है, उनकी तो सभी क्रियाएँ उपासना हैं; परंतु जिस आत्माका मन संसार-व्यवहारमें प्रबल होनेके कारण अत्यन्त चञ्चल है, जिसका चित्त विषयप्रवण होनेसे अशान्त है, वह भी परमात्माकी प्राप्ति कर सके, विशेषकर ऐसे लोगोंके लिये उपासना आवश्यक है। योगसूत्रके भाष्यमें भगवान् व्यास कहते हैं कि 'नातपस्विनः योगसिद्धिः' अर्थात् तप (उपासना) के बिना परमात्माका योग (मिलन) असम्भव है। निष्कामभावपूर्वक जो जीवात्मा, 'समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसि' परमात्माकी सर्वाङ्गपूर्ण उपासना करता है, उसको भगवत्प्राप्तिरूप 'योग' और अपुनरावृत्तिरूप 'क्षेम' प्राप्त होता है। इसलिये उपासना परम आवश्यक है।

विश्वमें विभिन्न जातियोंकी धर्मके विषयमें विभिन्न मान्यताएँ हैं, परंतु सर्वत्र सुख एवं शान्तिका साक्षात्कार और प्राणिमात्रमें परमेश्वरका दर्शन करनेके लिये अपने-अपने धर्मके अनुकूल उपासना करना सबका पवित्र कर्तव्य माना गया है। सभी उपासकोंको एक सामान्य नियमका पालन करना आवश्यक हो जाता है, वह नियम है 'यत् सर्वत्र तदीक्षणम्'। अपने ही उपास्यके सब रूप हैं और सब उपासक अपने ही उपास्यकी उपासना विभिन्न रूपोंमें कर रहे हैं। इस सिद्धान्तका समर्थन—

ब्रह्मा दक्षः कुबेरो यमवरुणमरुद्वह्निचन्द्रेन्द्ररुद्राः
शैला नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः।
द्वीपा नक्षत्रतारा रविवसुमुनयो व्योम भूरश्विनौ च
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु वो विश्वरूपः॥

अर्थात् 'जिसके विराट् शरीरमें—ब्रह्मा, दक्ष, कुबेर, यम, वरुण, मरुत्, वह्नि, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, पहाड़, नदियाँ, समुद्र, ग्रहोंका समूह, मनुष्य, दैत्य, गन्धर्व, सर्प, द्वीप, नक्षत्र, तारा, सूर्य, वसुगण, मुनि, आकाश, पृथ्वी, अश्विनीकुमार आदि सबका निवास है, वह विश्वरूप परमात्मा सबकी रक्षा करे।' इसीलिये उपासना आवश्यक है।

सर्वधर्म-मत-पन्थ-सम्प्रदायोंमें उपासनाकी महत्ता

(लेखक—विद्याभूषण श्रीरामकृष्ण अनन्त भट्ट काशीकर)

'उपासना' शब्दकी व्युत्पत्ति उप—आसना, पास बैठनेकी क्रिया—ऐसी होती है। वेदोंमें अनेक प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन है। इस लेखमें उनमेंसे कुछका वर्णन करनेके अनन्तर अन्य मत-पन्थियोंमें उपासनाका क्रम कैसा होता है, उसका भी संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है। यथा—अङ्गावबद्ध-उपासना, सम्पद्-उपासना, प्रतीकोपासना, अहंग्रह-उपासना, संवर्ग-उपासना आदि।

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति'

(छान्दोग्य० १।१।१)

अर्थात् 'इस उद्गीथकी—यज्ञके अङ्गविशेषकी ब्रह्मभावसे उपासना करे।' इसका नाम 'अङ्गावबद्ध' उपासना है।

उद्गीथका ही नाम प्रणव है। शास्त्रोंमें प्रणवमन्त्र (ॐकार) को मन्त्रराज कहा है; क्योंकि उसकी उपासनासे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है। यह प्रत्यगात्माका वाचक या प्रतीकरूप है। अथर्ववेदीय 'नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्'में इसका बड़ा सुन्दर निरूपण किया गया है। देवताओंने मन्त्रराजका श्रवण करके सगुणब्रह्मकी उपासनाद्वारा बुद्धिको शुद्ध किया और फिर मन्त्रराज प्रणवके मार्गको जाननेके लिये प्रजापतिसे प्रार्थना की। तब प्रजापतिने उन्हें 'नृसिंहोत्तर-तापनीयोपनिषद्'में उसका विस्तारसे युक्तिपूर्वक उपदेश किया।

ॐकार अशेषजगदात्मक है—

अज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान् पुनरपि धिषणोद्भासितान् कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥ १ ॥
यो विश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान् स्थविष्ठान्
पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवाञ्ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान् पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ॥ २ ॥

'जो अपनी चराचरव्यापिनी ज्ञानरश्मियोंके विस्तारसे सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्तकर (जाग्रत् अवस्थामें) स्थूल भोगोंको भोगनेके अनन्तर फिर (स्वप्नावस्थामें) बुद्धिसे प्रकाशित वासनाजनित सम्पूर्ण भोगोंका पानकर, मायासे इस सब जीवोंको भोग कराता हुआ स्वयं आनन्दका भोक्ता होकर शयन करता है तथा जो परम अमृत और अजन्मा ब्रह्म, मायासे तुरीय (चौथी) संख्यावाला है, उसे हम नमस्कार करते हैं। जो सर्वात्मा (जाग्रत् अवस्थामें) शुभाशुभ कर्मजनित स्थूल भोगोंको भोगकर फिर (स्वप्नकालमें) अपनी बुद्धिसे परिकल्पित सूक्ष्म विषयोंको (सूर्य आदि बाह्य ज्योतियोंका अभाव होनेके कारण) अपने ही प्रकाशसे भोगता है और फिर धीरे-धीरे इन सभीको अपनेमें स्थापितकर सम्पूर्ण विशेषोंको छोड़कर निर्गुणरूपसे स्थित हो जाता है, वह तुरीय हमारी रक्षा करे।'

ऐसा ध्यान करके तथा 'सारा प्रपञ्च ब्रह्म है' एवं 'प्रत्यगात्मा ब्रह्म है'—ऐसी आलोचना करनेसे ब्रह्मके साथ आत्माकी एकता सिद्ध होती है और इससे निर्गुण ब्रह्मका अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। किंतु ॐकारके सार्वात्म्यकी ध्यानके लिये कल्पना की जाती है और ब्रह्मका सार्वात्म्य वास्तविक है।

अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासनाका रहस्य

नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है एवं मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, अनुभव और चिन्तन करनेवाली इन्द्रियोंके और मनके सहित उस सम्पूर्ण दृश्यको नाशवान्, क्षणभङ्गुर और स्वप्नवत् समझकर उसका अभाव करना अर्थात् उसे अनित्य होनेके कारण असत् समझकर उससे रहित हो जाना, और जिस बुद्धिवृत्तिके द्वारा सबका अभाव किया जाता है, उस वृत्तिका त्याग करके उससे भी रहित हो जानेपर द्रष्टाका जो केवल चिन्मय स्वरूप बच रहता है अर्थात् दृश्यमात्रका अभाव हो जानेपर चिन्तन करनेवाला जो द्रष्टा शेष बच जाता है, उ[illegible]में स्थित होना ही अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना है। इस उपासनारूप साधनसे दृश्य, दर्शनका बाध हो जाता है और द्रष्टाका परब्रह्म परमात्माके साथ तादात्म्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है। जैसे घटाकाश और महाकाशके बीच व्यवधानरूप केवल घटकी आकृति ही भेद-दर्शनमें

हेतु है, इसी प्रकार सब दृश्यमात्र जीवात्मा और परमात्माके भेद-दर्शनमें हेतु है। जब यथार्थ ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य और दर्शनका बाध हो जाता है, तब स्वभावतः ही जीवात्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाशस्थानीय आकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है; उसी प्रकार जीवात्माका सच्चिदानन्दघन परमात्माके साथ एकीभाव हो जाता है अर्थात् वह अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

वेद और उपनिषदोंके 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य अभेदनिष्ठा (अभेद-ज्ञान) का प्रतिपादन करते हैं और 'द्वा सुपर्णा' आदि श्रुतियाँ भेद-निष्ठाका प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि वैदिक सनातनधर्मके प्रायः सभी आर्षग्रन्थोंमें भेद-निष्ठा और अभेद-निष्ठाका ही 'भेदोपासना' और 'अभेदोपासना' आदि अनेक नामोंसे वर्णन किया गया है। जो भी कुछ चर-अचर, जड-चेतन संसार है, वह सब परमात्मासे ही उत्पन्न हुआ है, परमात्मामें ही स्थित है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है; इसलिये वस्तुतः परमात्मस्वरूप ही है।

जो पुरुष इस सम्पूर्ण संसारको परमात्माका स्वरूप समझकर परमात्मभावसे इसकी उपासना करता है, वह परमात्माको ही प्राप्त होता है।

यह उपासना भेद और अभेद दोनों ही दृष्टियोंसे की जा सकती है। भेद-दृष्टिवाला उपासक समझता है कि जो कुछ है वो परमात्मा है और मैं उसका सेवक हूँ।

उपासनाबलान्मुक्तो भोगान् कर्मफलान् सदा।
भुङ्क्ते विष्णोः समीपस्थः सर्वदोषविवर्जितः॥
(बृहद्भाष्य)

माध्वतत्त्वज्ञानमें—'उपासना' सामर्थ्यसे (बहुत उपासनासे) जीवात्मा अपने कर्मफलोंका भोग श्रीहरिके सामीप्यमें रहकर सर्वदोषरहित होकर भोगता है। इसीको सामीप्य मुक्ति कहते हैं।

योग्योपास्तिं विना नैव मुक्तिः कस्यापि सेत्स्यति।
अयोग्योपासनाकर्तुरनर्थश्च भविष्यति॥
तस्मात्तु योग्यतां ज्ञात्वा हरेः कार्यमुपासनम्॥
(अनुव्याख्यान)

'अपने योग्यतानुसार उपासना किये बिना मुक्ति नहीं मिलती। अयोग्य उपासना करनेवालेको अनर्थ प्राप्त होता है। इसलिये अपनी योग्यताको जानकर उसके अनुसार ही श्रीहरिकी उपासना करनी चाहिये।' ऐसे माध्वतत्त्वज्ञानमें उपासनाका महत्त्व कहा गया है।

यज्ञके अङ्गसमूहमें—अर्पण (स्रुक्-स्रुवादि, होता), जो अर्पण किया जाता है वह हवि, जिसमें अर्पित होता है वह अग्नि, अर्पण करनेवाला यजमान, हवनरूप क्रिया, हुतम्—ये सब यज्ञके अङ्ग हैं। इस प्रकार अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, जिससे घृतकी आहुति दी जाती है वह भी ब्रह्म है और जिस मन्त्रसे आहुति दी जाती है वह भी ब्रह्म है—इस भाँति जो सम्पूर्ण यज्ञाङ्गोंको ब्रह्मरूपसे भावना करना है, वह 'अङ्गावबद्ध' उपासना है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(गीता ४। २४)

इस भाँति उसके फलस्वरूप जो प्राप्त होता है वह भी ब्रह्म ही है।

सम्पद्-उपासनाका लक्षण शास्त्रोंमें ऐसा कहा है—'अल्पालम्बनतिरस्कारेण उत्कृष्टवस्त्वभेदध्यानं सम्पद्।'—'अल्प आलम्बनका तिरस्कार करके उत्कृष्ट वस्तुके साथ अभेद ध्यान करना 'सम्पद्' है।' अर्थात् सम्पद्-उपासनामें सम्पद्यमान पदार्थका चिन्तन मुख्य है। 'आरोप्यप्रधाना सम्पद्' अर्थात् 'जिस वस्तुका आरोप किया जाय, उस आरोप्य पदार्थका चिन्तन सम्पत् है।' सम्पत्में अधिष्ठान अप्रधान होता है और आरोप्य ही प्रधान होता है। वहाँ गुणगत सादृश्यानुसार एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी उपासना की जाती है; जैसे कि वृत्तिके अनन्त होनेसे मन अनन्त है तथा मनसे उत्कृष्ट विश्वेदेव भी अनन्त हैं। इस प्रकार अनन्तता-सादृश्यसे विश्वेदेव ही मन है, यह सम्पद् है; इससे (मनमें अनन्त विश्वेदेवोंकी दृष्टि अर्थात् भावना होनेके कारण) अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार मनरूप अल्प आलम्बनका तिरस्कार करके (दोनोंमें अनन्ततारूप गुणका सादृश्य होनेके कारण) सेव्य-सेवकभावनारूप ध्यान करना 'सम्पद्-उपासना' है। शास्त्रोक्त विष्णु आदिके रूपानुसार प्रतिमामें विष्णु आदिकी उपासना भी 'सम्पद्' है। तथा च—

फलवत्कर्मणां क्वापि किञ्चित्सामान्यसंश्रयात् ।
सम्पन्निर्महतां सम्पदूपीयः कर्मसूच्यते ॥
यदि वा तत्फलस्यैव किञ्चित्सामान्यवर्त्मना ।
सम्पादनं भवेत सम्पदग्निहोत्रादिकर्मणि ॥

(बृहदारण्य वार्तिक)

'अधिक फल देनेवाले अश्वमेध आदि कर्मोंमें कर्मत्व आदिके कुछ सादृश्यसे अग्निहोत्रादि किसी अल्प कर्ममें सम्पादन करना अर्थात् यथाशक्ति अग्निहोत्रादि कर्म करते हुए 'मैं अश्वमेध आदि कर्म कर रहा हूँ' ऐसी ध्यान-भावना करना 'सम्पद्' कहलाता है। अथवा अग्निहोत्रादि किसी अल्प कर्मके अवलम्बनसे अश्वमेध आदि उत्कृष्ट कर्मके फलको सम्पादन करना 'सम्पद्' है।'

जितनी उपासनाएँ होती हैं, उन सभीमें एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका आरोप करके उस आरोपितकी चिन्ता अर्थात् भावना करनी पड़ती है। सुतरां उन दो वस्तुओंमें एक होती है 'अधिष्ठान' और दूसरी होती है 'आरोप्य'। जिसमें अन्य वस्तुका आरोप किया जाता है वह होती है—अधिष्ठान तथा जिसका आरोप किया जाता है वह होती है—आरोप्य। शालग्रामशिलामें जो विष्णुकी उपासना की जाती है उसमें शालग्रामशिला है—अधिष्ठान तथा विष्णु हैं—आरोप्य। जिस स्थलमें अधिष्ठान तथा आरोप्यमें गुणादिगत कुछ सादृश्य न रहनेपर भी उपासना की जाती है, उसे 'प्रतीक उपासना' कहते हैं। कहा गया है—

आलम्बनस्य प्राधान्येन ध्यानं प्रतीकोपास्तिः।

अर्थात् आलम्बनका प्रधान रूपसे ध्यान करना 'प्रतीकोपासना' है। क्योंकि—

तद्भिन्नत्वे सति तद्बोधकत्वं प्रतीकत्वम्।

अर्थात् किसी वस्तुके भिन्न होनेपर भी उसका बोधक होना प्रतीकत्व है। तथा—

'अन्यवस्तुनोऽन्यरूपेणोपासनं प्रतीकोपासनं यथा ब्रह्मप्रतीकानामादित्यादीनां ब्रह्मदृष्ट्योपासनमिति ।

(सर्वलक्षणसंग्रह)

'अन्य वस्तुमें अन्य रूपकी उपासना करना 'प्रतीकोपासना' है। जैसे ब्रह्मप्रतीक आदित्यादिमें ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करना।' यही अध्यास भी है। यथा—

'अतस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यासः' अर्थात् 'जिसमें जो वस्तु न हो; उसमें वह वस्तु है ऐसी बुद्धि करना अध्यास है।' इस अध्यासमें आलम्बनका ही चिन्तन मुख्य है; क्योंकि 'अधिष्ठानप्रधानोऽध्यासः' 'अध्यासमें अधिष्ठान (आलम्बन) ही प्रधान है।' जैसे—

'मनो ब्रह्मेत्युपासीत ।' (छान्दोग्य उ० ३ । १९ । १)

'मनकी ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करे'—आदित्य ब्रह्मदृष्टि है ऐसा उपदेश है। यहाँ मन और आदित्यमें ब्रह्मदृष्टिका आरोप किया जाता है। 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।' (वेदान्तदर्शन ४ । १ । ५) के भाष्यमें कहा गया है—'ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत्प्रतीकेषु तद्दृष्ट्यध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम्' 'यहाँ ब्रह्मका ऐसा उपास्यत्व है, जो प्रतिमा आदिमें विष्णु आदिके अध्यारोपणके समान प्रतीकोंमें ब्रह्मदृष्टिका अध्यारोपण है। वस्तुतः इन सब उपासनाओंको शास्त्रनिर्देशानुसार ही—किसको कौन-सी उपासना करनी चाहिये, यह श्रीगुरुमुखसे जानकर करना उचित है।

शाङ्कर मतमें उपासना कैसी होती है ?

उपासना कैसी करनी चाहिये ? 'ब्रह्म मम आत्मेत्युपासना कार्या ।' 'ब्रह्म मेरा आत्मा है; ऐसी उपासना करनी चाहिये ।'

प्रश्न—'ज्ञानानन्तरं ब्रह्म विना किमपि नास्ति खलु, अतो वेदोऽपि मिथ्या वा ?'

'क्या ज्ञानप्राप्तिके अनन्तर ब्रह्मके सिवा कुछ भी नहीं है। यों कहनेसे वेद भी मिथ्या है ?'

उत्तर—'ज्ञानानन्तरं मिथ्यैव' 'ज्ञानप्राप्तिके अनन्तर मिथ्या ही है।'

प्रश्न—'मिथ्यारूपवेदोक्तोपासनया सत्यज्ञानं कथं भवति ?' 'मिथ्यारूप वेदोक्त उपासनासे सत्य ब्रह्मका ज्ञान कैसे हो सकता है ?'

उत्तर—'स्वप्नमसत्यमपि स्वप्नदर्शनेन जाग्रति सत्यफलप्राप्तिर्यथा सम्भवति तथा वेदोक्तोपासनया यथार्थज्ञानं सम्भवति । यः स्वप्ने कृष्णं कृष्णदन्तं पुरुषं पश्यति, स एनं हन्ति; यः स्वप्नेषु स्त्रियं पश्यति स समृद्धिं प्राप्नोति; इत्यादि श्रुतिदर्शनादसत्येन कारणेन सत्यफलं सम्भवतीति सिद्धम्।' 'स्वप्न असत्य होनेपर भी स्वप्न-दर्शनके योगसे जाग्रत्में सत्यफल-प्राप्ति जैसे होती है, वैसे ही वेदोक्त उपासनासे यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है ! जो स्वप्नमें काले दाँत और काले

रंगवाले पुरुषको देखता है, वह उसे मार देता है; जो स्वप्नमें किसी स्त्रीको देखता है, वह समृद्धिको प्राप्त होता है—इत्यादि श्रुतियोंको देखनेसे असत्य कारणसे सत्य फल सम्भव होता है—यह बात सिद्ध होती है।'

प्रश्न—'मायाविशिष्टस्य सगुणब्रह्मण उपासना केवलं ज्ञानसाधनमेव वा अन्यफलमपि ददाति वा ?'

'मायाविशिष्ट सगुण ब्रह्मकी उपासना केवल ज्ञानका साधन ही है अथवा अन्य फल भी देती है ?'

उत्तर—'सगुणोपासनोपासकस्य जीवस्य संकल्पमात्रेण सर्वापेक्षितप्राप्तिरूपजगदैश्वर्यं ददाति।'

'सगुण-ब्रह्मकी उपासना उपासक-जीवको संकल्पमात्रसे सर्व-इच्छित फल-प्राप्तिरूप जगदैश्वर्य देती है।'

यद्यपि परमात्मा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें तथा सर्वत्र सदैव विराजमान हैं, तथापि उनकी प्राप्ति उपासनाके ही द्वारा हो सकती है। कहा गया है—

गवां सर्पिः शरीरस्थं न करोत्यङ्गपोषणम्।
निःसृतं कर्मसंयुक्तं पुनस्तासां तदौषधम्॥
एवं स हि शरीरस्थः सर्पिर्वत्परमेश्वरः।
विना चोपासनादेव न करोति हितं नृषु॥

'यद्यपि घी गौके शरीरमें ही स्थित है, तथापि जबतक उसे यत्नपूर्वक दुहकर, दूधका दही बनाकर, उसे मथकर, मक्खन निकालकर, उसे अग्निमें तपाकर घी बनाकर खिलाया नहीं जाता, तबतक वह घी उसके शरीरमें स्थित रहते हुए भी उसका पोषण नहीं कर सकता। इसी भाँति सबके अंदर परमात्माकी स्थिति होते हुए भी बिना उपासनाके प्राणियोंका कोई हित नहीं होता।'

श्वेताश्वतरोपनिषद्‌की श्रुतिमें भी कहा गया है—

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥
(१।१५)

'जिस प्रकार तिलोंमें तेल, दहीमें घी, सोतोंमें जल और काठोंमें अग्नि देखी जाती है, उसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तप (उपासना) के द्वारा आत्माको देखनेका प्रयत्न करता है, उसे यह आत्मा आत्मामें ही दिखायी देता है।'

रामानुज-मतमें उपासनाकी विशिष्टता

प्रश्न—'जीवानां जन्मान्तरादि क्लेशात् कथं मुक्तिः ?'
'जीवोंको जन्मान्तरादि दुःखोंसे कैसे मुक्ति मिल सकती है ?'

उत्तर—'भगवदुपासनातः प्रीतः परमात्मा मुक्तिं ददाति।'
'भगवदुपासनासे संतुष्ट होकर परमात्मा मुक्ति देता है।'

प्रश्न—'कर्मोपासकेनापि अनुष्ठेयं किम् ?'
'उपासकके लिये भी क्या कर्मानुष्ठान आवश्यक है ?'

उत्तर—'कर्मोपासनाया अङ्गम्, अतोऽवश्यमनुष्ठेयम्।'

'कर्म उपासनाका अङ्ग है, अतएव उसका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये।'

प्रश्न—'उपासना का ?'

'उपासना क्या है ?'

उत्तर—'उपासनाविच्छिन्नस्मृतिसंततिरूपा, ध्यान-वेदन-भक्ति-ज्ञानादिशब्दवाच्या, संस्कारपरिपाकसमासादितविशदतमप्रत्यक्षकरा।'

'उपासना—यह निरन्तर स्मृति-परम्परारूप है। वह ध्यान-वेदन-भक्ति-ज्ञानादि शब्दवाच्य और संस्कार-परिपाक होनेसे अतिशयित स्पष्ट प्रत्यक्षाकारसे प्राप्त हुई होती है।'

प्रश्न—'उपास्यं ब्रह्म उपासितुरन्यत्वेनोपास्यं किमुतात्मत्वेन ?'

'उपासना ब्रह्मकी भिन्न रूपसे करनी चाहिये या मैं ही ब्रह्म हूँ—इस रूपसे ?'

उत्तर—'जीवः शरीरस्य यथाऽऽत्मा तथा स्वस्यापि परब्रह्मात्मेत्युपासीत।'

'जीव जैसे शरीरका आत्मा है वैसे ही परब्रह्म उपासकका भी आत्मा है; यों उपासना करनी चाहिये।'

'उपासनायाः पूर्वकृतं प्रारब्धभिन्नं कर्मोपासनातो विनश्यति, उत्तरकृतं कर्म न श्लिष्यते, प्रारब्धकर्म त्वनुभवेनैव नश्यति।'

'उपासनासे पूर्वकृत प्रारब्धकर्मसे अतिरिक्त कर्म नष्ट होता है। उपासनाके अनन्तर किये गये कर्म नहीं लगते। और प्रारब्ध कर्म तो भोगसे ही नष्ट होता है।'

प्रश्न—'देहान्ते जीवानां का गतिः ?'

'देहान्तके पश्चात् जीवोंकी क्या गति होती है ?'

उत्तर—'ब्रह्मोपासनानिष्ठा अर्चिरादिमार्गेण विष्णुलोकं गत्वा तत्र परमात्मानमनुभवन्ति । बद्धानां मध्ये यागाधिकारिणो धूमादिमार्गेण चन्द्रलोकं गत्वा ततः स्वर्गादिकमनुभूय पुनर्निवर्तन्ते । पापकर्माणस्तु चन्द्रलोकाद् यमलोकं गत्वा तत्र वेदनामनुभूय पुनरुत्पद्यन्ते ।'

'ब्रह्मोपासनानिष्ठ जीव अर्चिरादि मार्गोंसे विष्णुलोकमें पहुँचकर वहाँ परमात्माका अनुभव करते हैं; बद्ध जीवोंमें यज्ञ-यागादि कर्म करनेवाले धूमादि मार्गोंसे चन्द्रलोकको पहुँचकर वहाँ स्वर्गादि सुखका भोग करके फिर वापस लौट आते हैं; और पापकर्म करनेवाले चन्द्रलोकसे यमलोकको जाकर वहाँकी यातनाओंका भोग करके पुनः उत्पन्न होते हैं ।'

प्रश्न—'मुक्तानां पुनरागतिरस्ति वा ?'

'मुक्त जीवोंका संसारमें पुनरागमन होता है क्या ?'

उत्तर—'न पुनरावृत्तेः श्रवणात् ।'

'नहीं ! श्रुतियोंमें उनकी पुनरावृत्ति (पुनर्जन्म) नहीं होती, ऐसे कहा है ।'

माध्व-मतमें उपासनाका मुख्यत्व

जिज्ञासु—'मोक्षदातुर्विष्णोर्लक्षणानि ज्ञातुमिच्छामि ।'

'मोक्ष देनेवाले श्रीविष्णुभगवान्के लक्षण क्या हैं ? मैं यह जानना चाहता हूँ ।'

गुरु—'विष्णुरानन्दपूर्णः । सर्वान्तर्यामी । पृथ्वीस्वर्गाद्याधारः । अदृश्यः । प्राकृतरूपरहितः । गुणगुणिभेदरहितः । अवयवावयविभेदरहितः । ज्ञानानन्दात्मकशरीरवान् । सर्वपालकः । सृष्टिसंहारकर्ता । अव्यक्तः । मुक्तप्राप्यः । सर्वगतः । सर्वशब्दवाच्यः । युक्तिविरुद्धाविरुद्धचिन्त्याचिन्त्यसर्वगुणोपेतः । इत्यादयः ।'

'भगवान् श्रीविष्णु आनन्दपूर्ण, सर्वान्तर्यामी, पृथ्वी-स्वर्गादि लोकोंके आधार, अदृश्य, प्राकृतरूपरहित, गुण और गुणीके भेदसे रहित, स्वरूपभूत हस्तपादादि अवयव और अवयवीभूत देह इसमें भेद न रखनेवाले, ज्ञानानन्दात्मक शरीरवाले, सर्वपालक, सृष्टि-स्थिति-संहार करनेवाले, अव्यक्त, मुक्तजनोंको ही प्राप्य, सर्वव्यापक, सर्वशब्दोंसे प्रतिपाद्य, युक्तिविरुद्धाविरुद्ध चिन्त्याचिन्त्य सर्वगुणोंसे सम्पन्न हैं ।'

प्रश्न—'विष्णुरदृश्यश्चेदुपासकानां कथं तस्य साक्षात्कारो भवति ?'

'विष्णु तो अदृश्य हैं फिर उपासकोंको उनका साक्षात्कार कैसे हो सकता है ?'

उत्तर—'अदृश्योऽपि स्वप्रसादादुपासकानां व्यक्तो भवति ।'

'विष्णु अदृश्य होनेपर भी स्वप्रसाद—अनुग्रहसे उपासकों (भक्तों) को व्यक्त (प्रत्यक्ष) होते हैं ।'

प्रश्न—'परमात्मावाच्य इति वेदोक्तं खलु, तस्य गुणाः कथं वर्णनीयाः ?'

'परमात्मा अवाच्य है, ऐसा वेदोंमें कहा गया है, तब उनके गुणोंका वर्णन कैसे किया जाय ?'

उत्तर—'परमात्मा साकल्येनावाच्योऽपि यत्किंचिद्रूपेण वाच्य एव ।'

'परमात्मा सम्पूर्णतया अवाच्य होनेपर भी यत्किंचिद्रूपसे वाच्य (स्तुति करने लायक भी) हैं ही ।'

प्रश्न—'विष्णोर्गुणा अनन्ताः खलु तस्य गुणोपासना कथम् ?'

'विष्णुके गुण अनन्त हैं; फिर उनके गुणोंकी उपासना कैसे करनी होगी ?'

उत्तर—'विष्णुः सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति चतुर्गुणैर्मनुष्यैरुपसंहारः कर्तव्यः । देवैर्योग्यतानुसारेणैककाले यावन्तो गुणाः स्फुरन्ति तावद्गुणैरुपसंहारः कर्तव्यः । विरिञ्चिस्तु सर्वगुणैरुपासनां कर्तुं योग्यः । सर्वैरपि परमात्मा मम स्वामीत्युपासना कार्या ।'

'परमात्माकी सत्य, ज्ञान, आनन्द, ब्रह्म—ऐसे चार गुणोंसे मनुष्योंको उपासना करनी चाहिये । देवताओंको अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार एक कालमें जितने गुण विषयीभूत होंगे, उतने ही गुणोंसे उपासना करनी चाहिये । चतुर्मुख ब्रह्मदेव तो सर्वगुणोंसे युक्त उपासना करने योग्य हैं । सब लोगोंको परमात्मा मेरे स्वामी हैं—यों समझकर उपासना करनी चाहिये ।'

प्रश्न—'अधिकगुणोपासनेन किं प्रयोजनम् ?'

'अधिक गुणोंकी उपासनासे क्या प्रयोजन है ?'

उत्तर—'अधिकबलं भवति ।'

'अधिक बल होता है ।'

प्रश्न—'मोक्षानन्तरमपि जीवानामुपासनास्ति किम् ?'

'मुक्तिके अनन्तर भी जीवोंके लिये उपासना कर्तव्यतया प्राप्त रहती है क्या ?'

उत्तर—'मोक्षे मुक्ताः स्वेच्छयोपासनां कुर्वन्ति न बद्धवत्।'

'मोक्षमें मुक्त जीव स्वेच्छासे उपासना करते हैं, संसारियोंकी भाँति विधिमें बँधे रहकर नहीं करते।'

प्रश्न—'लक्ष्मीर्नित्यमुक्ता खलु तस्या अप्युपासनास्ति किम्?'

'लक्ष्मीदेवीको नित्यमुक्त कहते हैं, फिर वे भी उपासना करती हैं क्या?'

उत्तर—'सापि भक्तिविशेषात् स्वेच्छयोपासनां करोति।'

'वे भी भक्तिविशेषके कारण स्वेच्छासे उपासना करती हैं।'

प्रश्न—'स्वयोग्यबिम्बरूपव्यतिरिक्तरूपमप्युपास्यानि किम्?'

'स्वयोग्य बिम्बरूपसे व्यतिरिक्त अन्य बिम्बस्वरूपकी उपासना कर्तव्य है क्या?'

उत्तर—'अमुमुक्षुभिःकाम्यार्थमुपास्यानि। मुमुक्षुभिर्मोक्षप्रतिबन्धकदुरितानां निवारणार्थमुपास्यानि।'

'अमुमुक्षु लोगोंको काम्यफलकी प्राप्तिके लिये और मुमुक्षुको मोक्षप्रतिबन्धक दुरितादिकी निवृत्तिके लिये उनकी उपासना करनी चाहिये। मुमुक्षुओंको सदा श्रीहरिकी ही उपासना करनी चाहिये।' कहा गया है—

तस्मादुपास्यो विष्णुर्हि ज्ञातव्यः सज्जनैः सदा।
तथैवोपासते सन्तस्तथैवोपदिशन्ति च॥
मम स्वामी हरिर्नित्यं सर्वस्य पतिरेव च।
इति ध्येयः सर्वदैव भगवान् विष्णुरव्ययः॥

(अनुव्याख्यान ४। १)

'इस प्रकार विष्णुकी उपासना करनी चाहिये; उसी तरह सज्जनोंको उन्हें जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। सत्पुरुष इसी प्रकार उनकी उपासना करते हैं और उसीका उपदेश देते हैं। श्रीहरि ही मेरे स्वामी हैं, सबके अधिपति हैं। इसी प्रकार उनका ध्यान करना चाहिये।' तथा—

उपासनाबलान्मुक्तो भोगान्कर्मफलान् सदा।
भुङ्क्ते विष्णोः समीपस्थः सर्वदोषविवर्जितः॥

(बृहद्भाष्य)

'उपासनाके बलसे मुक्त हुआ जीव अपने कर्मफलोंका भोग सदा श्रीहरिके समीप रहकर सर्वदोषरहित होकर भोगता है। इसीको सामीप्य मुक्ति कहते हैं।'

शाक्तमतमें उपासना

सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वाधार, सर्वमय, समस्त गुणाधार, निर्विकार, नित्य, निरञ्जन, सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता, विज्ञानानन्दघन, सगुण, निर्गुण, साकार, निराकार, परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं। वे एक ही अनेक भावों और अनेक रूपोंमें लीला करते हैं। उन्हीं विश्वरूप प्रभुको रुचिवैचित्र्यके कारण संसारमें लोग ब्रह्म, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, महाशक्ति, देवी, राम, कृष्ण, गणेश, सूर्य, अल्लाह, गॉड आदि भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें विभिन्न प्रकारसे पूजते हैं। असलमें यह एक परमात्मा ही महाशक्ति है। परमात्माके पुरुषवाचक स्त्री स्वरूप इन्हीं अनादि, अविनाशिनी, अनिर्वचनीया सर्वशक्तिमयी परमेश्वरी, आद्यमहाशक्तिके ही हैं। परमात्मस्वरूपा यह महाशक्ति स्वयं अपरिणामिनी है, परंतु इन्हींकी मायाशक्तिसे सारे परिणाम होते हैं। इसी प्रकार महाशक्ति ही अपने मायारूपी दर्पणमें अपने विविध भावों और भावोंको देखकर जीवरूपसे आप ही मोहित होती है। इस परमात्मरूप महाशक्तिकी उपासना दो रूपसे होती है—एक दक्षिणाचार और दूसरा वामाचार। पहलेकी सात्त्विक-राजस उपासना होती है और दूसरी तामस उपासना होती है। तामसिक देवता, तामसिक पूजा, तामसिक आचार—सब 'वामाचार' कहलाता है। इसमें मद्य-मांस-मीन-मैथुन-मन्त्र इस पञ्च-मकारका बहुत बखान किया गया है।

यद्यपि तन्त्रशास्त्र समस्त श्रेष्ठ उपासना-शास्त्रोंमें एक बहुत उत्तम शास्त्र है। उसमें अधिकांश बातें सर्वथा अभिनन्दनीय और उपासकको परमसिद्धि प्रदान करनेवाली हैं, तथापि सुन्दर बगीचेमें भी जिस प्रकार असावधानीसे कुछ जहरीले पौधे उत्पन्न हो जाया करते और फूलने-फलने भी लगते हैं, उसी प्रकार तन्त्रमें भी बहुत-सी अवाञ्छनीय बातें आ गयी हैं। यह विषयी कामान्ध मनुष्यों और मांसाहारी-मद्यलोलुप अनाचारियोंकी ही काली करतूत मालूम होती है। हजार स्त्रियोंके साथ व्यभिचारको और अष्टोत्तरशत नरबालकोंकी बलिको, तथा—

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा धरणीतले।
उत्थाय च पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

—ऐसे निर्बन्ध मद्यपानको अनुष्ठान-सिद्धिके लिये कारण मानता हो, वह शास्त्र तो सर्वथा अशास्त्र और शास्त्र नामको

कलङ्कित करनेवाला ही है। शाक्तमतमें उपासनाका मन्त्र पञ्चदशाक्षरी 'श्रीविद्या' तथा 'नवार्ण मन्त्र' मुख्य हैं।

जैनधर्ममें उपासना

तव सुदव दवं चेदा झाणरह धुरन्धरो हवे।

'तप' 'श्रुत' और 'व्रत'का पालन करनेवाला आत्मा ही ध्यानरूपी रथपर आरूढ हो सकता है। ध्यानसे ही जीवका अन्तिम साध्य—मोक्ष प्राप्त होता है; इसीलिये मोक्षके साधन ध्यान और ध्यानके साधन तप, श्रुत और व्रत हैं।

(१) अनशन, (२) अवमौदार्य, (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्त शय्यासन और (६) कायक्लेश—ये छः बाह्य तप हैं और (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान—ये छः अन्तरङ्ग तप हैं। केवल शरीरको कृश करना ही तपका मुख्य हेतु नहीं है; राग, द्वेष और मोहको कम करना ही उसका प्रमुख हेतु है।

'श्रुत' कहते हैं—शास्त्रोंके स्वाध्यायको। ज्ञानीका ही तप सफल होता है। अज्ञानपूर्वक तप सच्चा तप नहीं कहलाता। 'व्रत' नाम है संयमका। इन्द्रियोंके विषयमें यथेच्छ प्रवृत्तिको 'अव्रत' कहते हैं और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना ही व्रत या संयम है।

जैनमतमें मन्त्र-जपके प्रकार—ध्यान करते समय ध्येयका जो नामोच्चार किया जाता है, उसको 'मन्त्र-जप' कहते हैं। आत्माका ध्येय तो एक परमात्मा ही है। उस लक्ष्य-बिन्दुको सामने रखकर नाम-जप करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। परमात्मामें अनन्त गुण होनेसे उन गुणोंके चिन्तनरूप मन्त्रजपके भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। जगत्में मङ्गलरूप, लोकोत्तम और शरण्यभूत पञ्च-परमेष्ठी ही होनेसे पञ्च णमोकार मन्त्र ही मन्त्र-जपका मुख्य प्रकार है। वह मन्त्र यह है—

'णमो अरिहन्ताणम्। णमो सिद्धाणम्। णमो आइरियाणम्। णमो उवज्झायाणम्। णमो लोए सव्व साहूणम्।'

यह (३५ अक्षरोंका) पञ्च णमोकार महामन्त्र है। इस मन्त्र-जपसे जीवके सब दुःख-पाप दूर होते हैं और आत्मा परमात्मा हो जाता है। इसी मन्त्रको संक्षिप्त करनेसे छः अक्षरका—'अरिहन्त सिद्ध', पाँच अक्षरोंका—'अ-सि-आ-उ-सा', चार अक्षरोंका—'अरिहन्त', 'दो अक्षरोंका—'सिद्ध' और एकाक्षरी मन्त्र 'ओम्' इत्यादि अनेक प्रकार बन सकते हैं।

ध्यान—ध्यानका सच्चा ध्येय तो परमात्मा ही है; लेकिन जबतक आत्मदर्शन नहीं होता, तबतक मनको एकाग्र करनेके लिये पञ्च-परमेष्ठियोंका आदर्श आगे रखकर मन्त्र-जपरूप उपासना करनी चाहिये।

बौद्ध-धर्ममें उपासना

उपासना दो प्रकारकी होती है—लौकिक और अलौकिक। लौकिक उपासनाका अर्थ होता है 'अभ्यास', उद्योग—किसी चरम उद्देश्यकी सिद्धिके लिये लगातार प्रयत्न। अलौकिक उपासना कहते हैं उन आध्यात्मिक या मानसिक साधनाओंको, जो योग अथवा तन्त्रकी प्रक्रियासे अलौकिक सिद्धियोंकी अथवा मुक्तिकी प्राप्तिके लिये की जाती है।

बौद्धोंकी तान्त्रिक उपासनाओंमें सर्वप्रथम आवश्यकता होती है एक सुसंस्कृत साधककी, जिसकी परीक्षा किसी अधिकारी गुरुके द्वारा की जा चुकी हो तथा जिसे तान्त्रिक उपासनाके योग्य करार दिया जा चुका हो।

जिस प्रकार तान्त्रिक उपासनाके अनेक भेद हैं, उसी प्रकार उपासनाकी कठिनता एवं सुगमताके अनुसार अनेक श्रेणियाँ होती हैं। तन्त्रोंकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) क्रियातन्त्र, (२) चर्यातन्त्र, (३) योगतन्त्र और (४) अनुत्तर योगतन्त्र। और इन चार प्रकारके तन्त्रोंसे सम्बन्ध रखनेवाले उपासक भी चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं।

वर्तमान बौद्धधर्ममें बोधिसत्व मञ्जुश्रीका भी पद बहुत ऊँचा माना गया है। इस स्थानपर बोधिसत्व मैत्रेय (भावी बुद्ध) तथा मञ्जुश्रीके विषयमें मैत्रेय ही एक ऐसे देवता हैं, जिन्हें हीनयानीय तथा महायानीय दोनों सम्प्रदायवाले मानते हैं।

वज्रयानीय बौद्ध-धर्मका मुख्य गढ़ इस समय महाचीन (तिब्बत) है। वज्रयानका गायत्री-तुल्य उपासनाका मुख्य मन्त्र 'ॐ मणि पद्मे हुम्' इन्हीं बोधिसत्व अवलोकितेश्वरका षडक्षरी महामन्त्र है।

जरथुस्त्र (पारसी) धर्मकी अग्नि-उपासना

पारसी जरथुस्त्रियोंके 'आतिश बेहराम' नामक अग्नि-मन्दिरमें एक विशेष अग्निको स्थापित किया जाता है। इस मन्दिरको 'अगियार' भी कहते हैं। इसके गर्भ-गृहमें संगमरमरकी वेदीके ऊपर एक चाँदी या पीतलके आफर-व्यान्या (एक प्रकारके अग्निपात्र)में पवित्र अग्निको प्रतिष्ठित किया जाता है। इस अग्निमें रात-दिन चन्दन जलाया जाता है। इससे एक सुन्दर बोध मिलता है। चन्दनका जलना और सुगन्धका फैलना स्वर्गकी ओर जानेवाले मार्गको दिखलाकर, जहाँ ईश्वरका निवासस्थान है और जहाँ ईश्वरीय अग्नि सृष्टिके व्यवहारको चालू रखनेके लिये प्रज्वलित रहता है, उस लोककी ओर भक्ति करनेवाले आत्माका ध्यान ऊँचा उठाता है। अग्नि प्रज्वलित होता है और उसका तेज ऊपर चढ़ता है। वह मानो जीवनका महान् प्रकाश है और जुदा पड़े हुए आत्माके चिह्नको प्रदर्शित करता है। जिस खण्डमें अग्नि सदा प्रज्वलित रहता है, वह सृष्टिकर्ताका सुन्दर नमूना अशोईकी शिखापर है और अन्धकारको दूर करनेवाला तथा मनुष्यके आन्तरिक नित्य जीवनको उच्च स्थान प्रदान करनेवाला है। उस खण्डके आकाशके ऊपर निराकार (अदृष्ट) प्रभुकी दृष्टिमें पड़नेवाली ज्योतिको आशो अहुरमज़्दकी बन्दगी करनेवाले अपना सिर समर्पण करते हैं। अग्नि ईश्वरका पुत्र है। वह इस भौतिक जगत्का स्रष्टा है और अपने पिता अहुरमज़्दका प्रतिनिधि तथा अनन्त सुखका स्वामी है। वह मनुष्योंका कल्याण करनेवाला तथा सृष्टिका प्रकाश और जीवन है। अतएव केवल एक ही जीवनकी आराधना करनी चाहिये और वह अहुरमज़्दकी—ईश्वरकी। ईश्वरही एक महान् जीवन है।

अन्तमें पारसी जरदोश्ती धर्ममें अवेस्ताके अनुसार जो अग्निकी स्तुति की गयी है, यहाँ उसका अनुवाद प्रस्तुत किया जाता है। यह सारी स्तुति अवेस्तामें 'आतिश निआएश' नामसे प्रसिद्ध है। प्रत्येक जरदोश्ती अग्नि-मन्दिरमें अग्निके सम्मुख खड़ा होकर अग्निके ऊपर चन्दनका हवन करते हुए स्तुति करता है—

'हे अहुरमज़्दके अग्नि ! तुम कल्याण प्रदान करनेवाले और उपकार करनेवाले हो; तुम्हें नमस्कार हो। दादार अहुरमज़्द समस्त सृष्टिका स्वामी है, वृद्धि करनेवाला है। उसके नामसे मैं यह स्तुति करता हूँ। परम श्रेष्ठ अग्नि आतिश बेहरामका प्रताप बढ़े ॥ १ ॥

'अत्यन्त वृद्धि करनेवाले और स्तवनका सुन्दर फल प्रदान करनेवाले दिव्य अहुरमज़्द तुम मुझे पवित्र करो। दुष्टकर्मोंसे दूर रक्खो। मेरी नम्रताके लिये मुझे शक्ति प्रदान करो। मेरी मङ्गल-कामनाओंके बदले मुझे सरदारी दो ॥ २ ॥

'अहुरमज़्दकी ओरसे सब वस्तुओंको पवित्र करनेवाले अग्निदेव ! तुम्हारे उत्सव, तुम्हारी आराधना, तुम्हारे समर्पण, स्वास्थ्य प्रदान करनेवाले समर्पण, मैत्रीपूर्ण समर्पणकी मैं स्तुति करता हूँ। हे अग्नि ! तुम पूजनीय हो; तुम आराधना करने योग्य हो। जो मनुष्य हाथमें ऐसम् लेकर, हाथमें वरसम् लेकर, हाथमें जुव्वम् लेकर, हाथमें हाव्नोम् लेकर तुम्हारी सदा पूजा करता है, उस मनुष्यको प्रतिष्ठा और सुख प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

'हे अग्नि ! इस समय तुम कल्याणप्रद हो जाओ। हमारे ज्ञानमें कल्याणप्रद हो, भोजनमें कल्याणप्रद हो। तुम समिधामें निवास करो, भोजनमें निवास करो और हमारा मङ्गल करो ॥ ४ ॥

'हे अग्नि ! सुदीर्घकालतक, राह-बाटमें, इस घरमें तुम सदा प्रज्वलित रहना, देदीप्यमान रहना और वर्द्धित होते रहना ॥ ५ ॥

'हे पवित्र अग्नि ! मुझे तुम दीर्घ-जीवन दो, पूर्ण सुख प्रदान करो, पूर्ण पोषण प्रदान करो। स्थूलताको नष्ट करो, तीव्र वाणी प्रदान करो। मुझे प्रवीणता और बुद्धि प्रदान करो। मुझे ऐसा पौरुष प्रदान करो जो सदा बढ़ता रहे, घटे नहीं' ॥ ६ ॥

ईसाई (ख्रिस्ती) धर्ममें प्रार्थना ही उपासना

ईसामसीहका वचन तुम्हारेमें सर्वज्ञानसे परिपूर्ण रहे; स्तोत्र, गीत और आध्यात्मिक स्तवनोंसे परस्परको शिक्षण दें और बोध करें; अपने अन्तःकरणमें ईश्वरकी कृपाकी प्रेरणासे गाओ। बाइबलमें 'स्तोत्र-संहिता' नामक पाँच अध्याय और १५० वर्गका एक प्रकरण उपासनाके लिये कहा गया है। उसमें 'परमेश्वरका स्तवन करो'—यह वाक्य अनेक बार आया है। उसको मूल ग्रन्थमें 'हालेलूया'

कहा गया है । ईसाई-धर्ममें इस प्रार्थनारूपसे ही उपासना की जाती है ।

इस्लाम-धर्ममें उपासना

हजरत मुहम्मदको अपने समयकी अरबमें प्रचलित 'बुतपरस्ती' खटकने लगी और उन्होंने 'खुदापरस्ती' का प्रचार करना निश्चय किया । बहुत दिनोंतक मक्काके समीप हारा पर्वतकी एक गुफामें एकान्तवासके अनन्तर उन्होंने अपनी स्त्रीको सूचित किया कि फरिश्ता जिबराइल उनके पास यह समाचार लाये थे कि खुदाने मुहम्मदको अपना पैगम्बर नियत किया है । मुहम्मद अपठित थे और कुरानके वाक्य उनके मुखसे आवेशकी अवस्थाओंमें निकले कहे जाते हैं । कुरानका मुख्य आशय खुदाकी एकता है । कहते हैं, खुदा एक है और उसके सिवा कोई दूसरा नहीं । मुहम्मद उसके पैगम्बर हैं । कलमा या इस्लाम-धर्मकी गायत्रीका यही अर्थ है । इस्लामके मुख्य अङ्ग छः प्रकारके 'ईमान' (सिद्धान्त) और चार प्रकारके 'दीन' (कर्मकाण्ड) हैं । ईमानमें खुदा, उनके पैगम्बर, उनके फरिश्ते, कुरान, खुदाकी सर्वशक्तिमत्ता तथा मृत्युके पश्चात् न्यायके दिनमें विश्वास करना है । दीनके अङ्ग नमाज, रोजा, जकात और हज हैं ।

हमलोग एकान्तमें स्वस्थचित्तसे बैठकर संध्योपासना करते हैं, ईसाई (खिस्ती) घुटने टेककर भगवच्चिन्तन करते हैं और यहूदी (ज़रथोस्ती) खड़े होकर प्रार्थना करते हैं; पर मुसल्मानोंकी पाँच वक्तकी नमाज (उपासना) का ढंग ही निराला है । चटाई अथवा दरी (जा-नमाज) पर ही उपासना हो सकती है और नमाजके अवसरपर उपासकका मुख मक्केकी ओर होना चाहिये । शारीरिक शुद्धिके विना नमाज स्वीकृत नहीं होती । मैथुन इत्यादि अवस्थाओंके उपरान्त स्नानसे ही शुद्धि होती है । अन्यथा हाथ-पैर और मुखको धोनेसे काम चल जाता है । जलके अभावमें बालूसे काम चल सकता है । नमाजका समय उषःकाल, मध्याह्नके उपरान्त, मध्याह्न तथा सायंकालके मध्यमें, सूर्यास्तके कुछ बाद और सोनेके पूर्व हैं । ठीक इन समयोंपर मस्जिदकी मीनारोंसे इमाम लोग 'अल्ला हो अकबर' के नारे लगाते हैं । नमाजको स्त्री नहीं सुन सकती । नमाजमें आठ प्रकारसे उठना-बैठना पड़ता है । प्रार्थनाएँ छोटी होती हैं और अरबी भाषामें पढ़ी जाती हैं । वे कई बार दुहराई जाती हैं । प्रत्येक प्रार्थनाको 'रकोह' कहते हैं । प्रत्येक शुक्रवारको मध्याह्नके उपरान्तकी नमाज सामूहिक होती है । मुसल्मानोंका गायत्री-मन्त्र 'कलमा' है । कलमेको दिलसे मानना और जुबानसे कहना चाहिये । कलमे पाँच हैं—

(१) पहला कलमा पाकीका । अल्लाहके सिवा कोई इबादतके लायक नहीं, हजरत मुहम्मद अल्लाके रसूल हैं ।

(२) दूसरा कलमा गवाहीका । मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाहके सिवा इबादतके लायक कोई नहीं है । वह एक है और उसका कोई फरीक नहीं है । और मैं इकार करता हूँ कि हजरत मुहम्मद अल्लाके बन्दे और रसूल हैं ।

(३) तीसरा कलमा बुजुर्गीका । अल्लाह पाक है और तमाम तारीफ अल्लाहके लिये हैं । और नहीं है कोई मअबूद सिवा अल्लाहके, और अल्लाह बहुत बड़ा है । और नहीं है ताकत गुनाहोंसे बचने और नेकी करनेकी, मगर अल्लाहकी मददसे, जो आलीशान और बुजुर्गीवाला है ।

(४) चौथा कलमा एकपनेका । नहीं कोई लायक इबादतके सिवा अल्लाहके, और नहीं है कोई फरीक उसका उसीकी तमाम बादशाही है, और उसीके लिये तमाम तारीफें हैं । वही जिंदा करता है और वही मारता है । उसीके हाथमें भलाई है और वह हर चीजपर कादिर है ।

(५) पाँचवाँ कलमा कुफ्रको दूर करनेका । मैं बख्शिश माँगता हूँ अल्लाहसे, जिसके सिवा कोई इबादतके लायक नहीं । हमेशा जिन्दा और कायम रहनेवाला है । और मैं तोबा करता हूँ उसीकी तरफ ।

इसके सिवा नमाजके अजाँ (मन्त्र) सात हैं । नमाजके लिये सात शर्तें कही गयी हैं । खुदाकी इबादत (उपासना) करनेकी एक तरकीब है, जिसको अल्लाहने अपने पैगम्बरके मारफत बन्दोंको सिखाया है । नमाज गुजार जन्नती है । और नमाज छोड़नेवाला सख्त गुनाहगार है । पैगम्बरने फर्माया है कि नमाज दीनका सूतून (खम्ब) है और नमाज मेरी आँखोंकी ठंडक है । अजाँके माने खबर करनेके हैं । लेकिन नमाजोंके लिये खास अल्फाजसे खबर करनेको अजाँ कहते हैं ।

अजाँ कहना सुन्नत है । अजाँ हर नमाजके वक्तमें कहना चाहिये, अगर वक्तसे पहले कह दें तो वक्त आनेपर दुबारा कही जाय; अजाँका कहना औरतोंके लिये, सुन्नत नहीं है । अजाँ यह है—

(१) 'अल्लाहु अक्बर, अल्लाहु अक्बर' (दो बार कहे) अल्लाह बड़ा है, अल्लाह बड़ा है)।

(२) 'अशहदु अल्‌ला इलाह इल्लल्लाह' (२ बार कहे) (मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाहके सिवा दूसरा कोई इबादतके लायक नहीं)।

(३) 'अशहदु अन्न मुहम्मदुर रसूलुल्लाह्' (२ बार कहे) मैं गवाही देता हूँ कि मुहम्मद अल्लाहके रसूल हैं।

(४) 'हय्य अलस्सोलात' (२ बार, सीधे तरफ मुँह करके कहे) नमाजके लिये आओ।

(५) 'हय्य अलल् फलाह्' (२ बार, दायें तरफ मुँह करके कहे) नेक कामके लिये आओ।

(६) 'अल्लाहु अक्बर, अल्लाहु अक्बर' (अल्लाह बड़ा है, अल्लाह बड़ा है)।

(७) 'ला इलाहा इल्लल्लाह्' अल्लाहके सिवा दूसरा कोई मअबूद नहीं।

सुबहकी अजाँमें नं० ५ और ६ के बीचमें दो बार यह कहना—'अजाँ—अस्सोलातु खैरुम् मिनन्नौम' नींदसे नमाज अच्छी है।

नमाज इस्लाम-धर्मकी मुख्य उपासना है। इस्लाम-धर्ममें ही सूफी नामक एक पन्थ है, उसका उपासना-मार्ग थोड़ा-सा भिन्न होता है।

उपर्युक्त मतोंके सिवा भारतमें शैव, सौर, गाणपत्य, वैष्णवोंके श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय, श्रीवल्लभ सम्प्रदाय, श्रीगौड़ीय सम्प्रदाय, श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय, श्रीरामानन्द मत, वीरशैव (वसवेश्वार) मत, उदासीन सम्प्रदाय, नाथ सम्प्रदाय, दादूपंथ, रामसनेही सम्प्रदाय, वारकरी सम्प्रदाय, प्रणामी धर्म, स्वामिनारायण सम्प्रदाय, दयालबाग-पंथ आदि अनेकानेक मत-पंथ-सम्प्रदायोंकी विभिन्न उपासना-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। लेखका कलेवर बढ़नेके भयसे उनका वर्णन नहीं किया गया। पाठक क्षमा करेंगे।

उपासनाका सार

(लेखक—श्रीरामनिरीक्षणसिंहजी, एम्० ए०, काव्यतीर्थ)

'उपासना' शब्द बहुत प्रचलित है। इसके अर्थके सम्बन्धमें कोई विशेष वैमत्य नहीं है। अपने उपास्य या आराध्यके निकट श्रद्धालु अथवा शुश्रूषुके रूपमें बैठना ही उपासना है (उप+आसना)। पारलौकिक कल्याणके हेतु भगवान्‌की उपासना ही वास्तविक शास्त्रसम्मत उपासना है। यों लौकिक कल्याणार्थ शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियोंकी उपासना भी छोटे पैमानेपर सर्वत्र व्यवहृत है। यह निम्नकोटिकी उपासना है तथा शास्त्र-विगर्हित है।

ऐहलौकिक कल्याणार्थ ईश्वरोपासना या देवोपासना भी निम्नकोटिकी ही उपासना है। भगवान्‌के सच्चे भक्त लोग किसी लौकिक स्वार्थकी सिद्धिके लिये भगवान्‌को कष्ट नहीं देते हैं। भक्त-भयहारी अपने-आप अपने भक्तोंके योग-क्षेमका वहन करते रहते हैं—यह दूसरी बात है।

अब हमें नीचेकी पंक्तियोंमें सृष्टि-संचालनमें भक्तोंके द्वारा दी जानेवाली व्यापक सहायताके सम्बन्धमें कुछ विवेचन करना है। हमारी तुच्छ बुद्धिमें ईश्वरकी सृष्टिके संचालनमें जो लोग शास्त्रानुमोदित मार्गसे निष्काम बुद्धिसे सहायता करते हैं, वे ही परम वैष्णव एवं परम भक्त हैं और वे ही उच्च कोटिके सच्चे उपासक हैं। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके आचार्योंके मतोंकी एकवाक्यता इसी बिन्दुपर होती है।

सृष्टिको सुचारुरूपसे चलाना भगवान्‌को अभीष्ट है। सनातन आर्य-शास्त्रोंके अनुसार सृष्टि गड्डुलिकाप्रवाहसे नहीं चल रही है। इसका कोई त्रिकालदर्शी सर्वशक्तिमान् पुरुष नियन्ता और नियामक है। दूसरे धार्मिक सम्प्रदायोंका जो भी मत हो, उनमेंसे कुछ तो सृष्टिको हजार-दो-हजार वर्षोंसे ही संचालित समझते हैं। सनातन आर्यधर्ममें सृष्टिको कालानवच्छिन्न शाश्वत माना गया है। इसी क्रममें कर्मके प्रवाहको भी अनादि-अनन्त माना गया है, जिसके वश जीवोंको संसारमें बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें भ्रमित होना पड़ता है। उससे मुक्ति पानेके उपाय भी शास्त्रोंमें वर्णित हैं। प्राणियोंके लिये जन्म-मरणका प्रवाह अत्यन्त दुःखदायी है। ईश्वर नहीं चाहता है कि किसी प्राणीको दुःख भोगना पड़े। पूर्वजन्मके संचित तथा वर्तमान युगके क्रियमाण कर्मोंके भोगके फेरमें ही प्राणी सुख-दुःख प्राप्त करते हैं। प्राणियोंको अपने कर्मोंके फलभोगमें कम-से-कम कष्ट पहुँचे—यही ईश्वरकी इच्छा है। इसी इच्छाकी पूर्तिके साधक भक्त

लोग—उपासक लोग हैं। सारे शास्त्र भी इसी महान् यज्ञके पोषक तथा प्रतिपादक हैं। 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।' यह श्रुतिवाक्य ईश्वरकी सृष्टिसम्बन्धी इच्छाका द्योतक है। ईश्वर सृष्टिमें अकेला नहीं रहना चाहते। नाना प्रकारके अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े, सजीव-निर्जीव, जड-चेतन प्राणियों तथा वस्तुजातोंकी सृष्टि करके वे सदा उनके कर्मकलापके निरीक्षणके द्वारा अपना मनोविनोद किया करते हैं। किसी प्राणीके कर्मोंका फल वे नहीं देते हैं, वह फल-वितरणका काम तो निर्धारित कर्म-विपाकके नियमानुसार होता रहता है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
अहं करोमीति वृथाभिमानः।
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥

(अध्यात्मरामायण)

जैसे एक नावपर चढ़े हुए सारे यात्रियोंका एक ही स्वार्थ रहता है कि नाव कुशलपूर्वक पार चली जाय, वैसे ही सृष्टि-प्रवाहमें पड़े हुए सारे मनुष्योंका एक ही उद्देश्य होना चाहिये कि सब मिलकर ऐसी शास्त्रसम्मत युक्तिसे जीवनयापन करें कि सारे-के-सारे लोग सकुशल इस भवसागरसे पार हो जायँ।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

कार्य-अकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रोंके विधानको समझकर ही कर्म करना चाहिये। फलतः मनुष्यके दैनिक जीवनमें जितने कर्मकलाप करनेकी प्रतिदिन आवश्यकता पड़ती है, उन्हें शास्त्रविधानकी कसौटीपर कसते रहनेकी आवश्यकता रहती है। प्रत्येक क्षण जागरूक रहते हुए अपने क्रियमाण कर्मके अवश्यम्भावी फलपर ध्यान देते रहना है कि उसका कर्म ईश्वरकी सृष्टिमें सहायक किंवा बाधक होनेवाला है। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सृष्टिविघातक कर्मोंके कर्त्ताओंको कदापि क्षमा नहीं कर सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें यह कहना है कि शास्त्रविरोधी कर्म करनेवाले मनुष्य ईश्वरके कोप-भाजन बनकर नरकगामी होते हैं और वर्तमान देहसे मोक्ष प्राप्त नहीं करके अग्रिम जन्ममें अधोयोनिमें जानेका रास्ता पहलेसे ही प्रशस्त कर लेते हैं। स्थूल दृष्टिसे भले-बुरे कर्मकी पहचान है,—जो कर्म दूसरे प्राणियोंके हितका विरोधी है, वह कुत्सित तथा शास्त्र-प्रतिकूल है। इसके विपरीत जो कर्म सब प्राणियोंके लिये सुखावह है, वह शास्त्रानुमोदित है और सृष्टि-संचालनमें सहायक है।

ईश्वरका सबसे प्रिय भक्त तथा उपासक वही है जो इस प्रकारसे सृष्टि-संचालनमें उनकी सहायता करता है। यह असिधाराव्रतके समान सदा-सर्वदा कठोर व्रत है। इस व्रतपर आरूढ़ रहते हुए इस क्षणभङ्गुर शरीरका त्याग करना मनुष्य-जीवनका सर्वोपरि पुरुषार्थ है। इस कठोर व्रतपर आरूढ़ होने तथा अन्ततक स्थिर रहनेका प्रधान साधन है—इन्द्रिय-दमनपूर्वक वीतराग साधु-महात्माओंकी सङ्गति।

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जो पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोक न बेद न आन उपाऊ॥

(मानसरामायण बाल० २। ६-७)

उपासनाके रहस्योंमेंसे एक यह भी रहस्य है कि अपने उपास्यसे किसी कामनाकी इच्छा रखकर उपासना करना निम्न कोटिकी उपासना है। इसमें वणिक् बुद्धिकी गन्ध रहती है। इसमें उपासकको कोई विशेष लाभ नहीं होता। उपास्यको तो स्वयं इस बातकी चिन्ता रहती है कि उपासकके योगक्षेमका वहन होता रहे और वास्तवमें वैसा ही होता है। भगवान्‌का उद्घोष है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९। २२)

उसी प्रकार भगवान्‌ने गीतामें ही कहा है कि 'न मे भक्तः प्रणश्यति।' उपर्युक्त लक्षण अनन्योपासनाका है जो उत्कृष्ट कोटिकी उपासना है। निम्न कोटिकी उपासना सकामोपासना है, जिसमें भूत-प्रेतादि अधम योनियोंकी उपासना भी सम्मिलित है।

कुछ लोग अपने अधम स्वार्थकी पूर्तिकी धुनमें किसी-किसी मनुष्यको ही अपना इष्टदाता परमेश्वर समझते हैं; वे भी तामसिक उपासक हैं और लोकमें तामसिक उपासनाका उदाहरण उपस्थित करते हैं। उत्कोचदाता लोग इसी श्रेणीके उपासक हैं जो घूस लेनेवाले अधिकारियोंके सामने अपनेको परम श्रद्धालु दीन-दुखी दर्शाते हुए अत्यन्त विनयी बनते हैं; परंतु भीतरसे उन उत्कोचग्राहियोंको लाख-लाख गालियाँ देते रहते हैं। आज समाजमें ऐसी ही बकुल-भक्ति-की भरमार है और मक्कारीका बोलबाला है। भगवान् समाजको इस व्यापक रोगसे बचावें।

उपासना-योग्य स्थान

हमारे यहाँ प्रत्येक कामकी सिद्धिके लिये उपयुक्त स्थानके प्रश्नपर भी विचार किया गया है। सब काम सब स्थानोंपर नहीं किया जा सकता है। जैसे छात्रोंके अध्ययनके लिये नगरके कोलाहलसे दूर शुद्ध वायुमण्डलवाला निर्जन स्थान उपयुक्त समझा गया है, उसी प्रकार धार्मिक भावोंसे ओतप्रोत स्थान उपासनाके लिये उपयुक्त समझा जाता है। तीर्थ तथा देवालय उपासनाके लिये सदासे उपयुक्त स्थान समझे गये हैं। भारतवर्षके कोने-कोनेमें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायके तीर्थ तथा बड़े-बड़े विशाल देवमन्दिर अति प्राचीन कालसे निर्मित खड़े हैं, समय-समयपर उन देवालयोंका जीर्णोद्धार भी किया गया है। विधर्मियों-विदेशियोंके दीर्घकालीन शासनकालमें अधिकांश तीर्थों तथा देवालयोंकी जो दुर्दशा हुई, वह आज भी दृष्टिगोचर है। अपनी शक्तिभर मुसल्मान लुटेरोंने आर्य सनातनधर्मका अस्तित्व मिटानेमें कोई कसर नहीं रक्खी। इस प्रकार विदेशी विधर्मियोंके द्वारा बड़ा विनाश किया गया!

देशके भीतर भी अज्ञानपूर्ण मतवादकी उग्रताके समय मध्ययुगमें एक मतवादके द्वारा दूसरे मतवादके देवालयोंपर यत्र-तत्र आघात किया गया। अंग्रेजी शासन-कालके १५० वर्षोंमें यह क्रम रुका रहा। उस कालमें ईसाई-धर्मके प्रचारके सिलसिलेमें अंगरेज शासकोंने छिपे-छिपे सनातनधर्मपर व्यापक आघात और लाखोंकी संख्यामें आदिवासियोंको धर्मच्युत किया। वह क्रम आज भी जारी है। सबसे बड़े दुःखकी बात यह हुई है कि स्वयं सनातनधर्मावलम्बी मठधारी तथा तीर्थवासी पण्डे-पुजारी लोग धर्मकी लीकको छोड़कर गर्हित जीवन बिताने लगे हैं, जिससे आज अधिकांश तीर्थोंमें धार्मिक हिंदूजनताकी श्रद्धा नहीं रह गयी है। श्रद्धालु हिंदू जनताके लिये वहाँ उपासनाका कोई स्थान नहीं रह गया है। यह महान् दुःखकी बात है। इसके अतिरिक्त सारे तीर्थस्थानोंमें शहरोंकी विलासिताकी सामग्री भर गयी है, वेश्याओंका अड्डा भी जहाँ-तहाँ कायम हो गया है। सिनेमाघर तो प्रायः सर्वत्र बन गये हैं। केवल एक चित्रकूटमें अभी इन बातोंकी कमी है। आज बदरीनारायण-केदारनाथकी दुर्गमता हट जाय और ठंडकी कमी हो जाय तो वहाँ भी सिनेमा-घर बन जायगा!

हिंदू-जनताका यह कर्तव्य है कि इन पवित्र तीर्थ-स्थानोंको पुनः एक बार शुद्ध करके वहाँ नैष्ठिक पण्डे-पुजारियोंके ही रहनेका प्रबन्ध करें। उन स्थानोंको धूर्तोंके द्वारा पैसा उगाहनेका अड्डा नहीं रहने दिया जाय। वे स्थान सच्ची श्रद्धाके स्थान बन जायँ, वीतराग लोगोंके लिये उपासनाके स्थान बन जायँ। यह काम कानूनके द्वारा नहीं हो सकता है। आज बहुसंख्यक श्रद्धाहीन लोग शहरका मजा लूटने तीर्थस्थानोंमें जाते हैं। उनका जाना तभी रुकेगा जब वहाँसे बाजारू जीवनका लोप और सिनेमा आदि पतनके कारणरूप तमाशे उठ जायँगे। भोगके स्थानमें योगकी स्थापना हो जायगी। कामुक, लम्पट लोगोंका वहाँ पहुँचना दुर्गम हो जायगा। पवित्र आचरणके धर्मपरायण गृहस्थ एवं सती-साध्वी स्त्रियाँ ही उन स्थानोंमें भगवदुपासनाके लिये स्वच्छन्द विचरण करें,—ऐसा वातावरण तैयार होना चाहिये। बड़े-बड़े योग्य आचारवान्, विद्वानोंके आचार्यत्वमें दर्शन-शास्त्रों तथा पुराणोंके अध्ययन-अध्यापनका आयोजन किया जाना चाहिये। जो द्रव्य अभी अनधिकारियोंकी पुष्टिमें खर्च होता है, उसीसे ये काम चलेंगे। व्यवस्थाकी आवश्यकता है।

सब तज, हरि भज

सब तजि भजिऐ नंद-कुमार।
और भजे तैं काम सरै नहिं, मिटै न भव-जंजार॥
जिहिं जिहिं जौनि जन्म धार्‌यौ, बहु जोर्‌यो अघ कौ भार।
तिहि काटन कौं समरथ हरि कौ तीछन नाम-कुठार॥
वेद, पुरान, भागवत, गीता, सब कौ यह मत सार।
भव-समुद्र हरि-पद-नौका बिनु कोउ न उतारै पार॥
यह जिय-जानि, इहीं छिन भजि, दिन बीते जात असार।
सूर पाइ यह समौ लाहु लहि, दुर्लभ फिरि संसार॥

उपासनाका मूल

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

'उपासना' का अर्थ है उप (पास) आसन (बैठना) पास बैठना ।

हम जिसकी उपासना करते हैं, उसके पास बैठ जाते हैं। परमात्माकी उपासनाके समय परमात्माके पास आसन जमा लेते हैं। शास्त्रोंमें इसी अवस्थाको 'सामीप्य'-मुक्तिके नामसे पुकारा गया है। इसके पहले 'सालोक्य' होता है। तदनन्तर 'सारूप्य' और 'सायुज्य'-की उपलब्धि होती है अर्थात् उनके 'स्वरूप'को 'आत्मसात्' करते हैं। अन्तमें वही-वही है—दूसरा नहीं।

अब तनिक विचार करें कि यह किस क्रमसे होता है और उस क्रमका मूल और फल क्या है ? पुरुषोत्तमयोग (गीता, अध्याय १५।२०) में 'इति गुह्यतमं शास्त्रम्' कहकर गीता-शास्त्रकी 'इति' कर दी गयी है। उसके प्रारम्भमें कहा है 'ऊर्ध्वमूलम्' अन्तमें कहा है—'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।'

उपासनाका मूल यही 'ऊर्ध्व' है। इसके नीचे सभी शाखा-प्रशाखाएँ हैं और फल तथा रस भी नीचे ही है—जड़ें भी नीचेतक फैली हैं 'अधश्च मूलान्यनुसंततानि'। गोल चक्र होनेसे मूल चारों तरफ है—'यो मां पश्यति सर्वत्र'। इसीलिये उपासनाका क्रम किसी भी स्थितिसे शुरू किया जा सकता है। हम जहाँ हैं, वहींसे प्रारम्भ करें और पहुँच जायँ। अब मनन करें कि हम कहाँ हैं? और कैसे चलना है ? कबतक पहुँचना है ?

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईसु बिनु हेतु सनेही ॥

अकारण-करुणाकर सर्वश्रीनाथ भगवान्ने हमें मनुष्य-देह दिया है, मनन करनेका बल दिया है, इसलिये सोचें कि यह लोक क्या है ? किसके आलोकमें हमें आगे बढ़कर लोकोत्तर स्थितिके पास पहुँचकर लोकालोकसे अतीत लोकोत्तम—उपासनाका फल पाना है और उसी रसमें (रसो वै सः) तन्मय रहकर शाश्वत लीलामें सनातन रूपसे सम्मिलित होना है—यही विचार करें।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ॥

बिना सत्सङ्गके विवेक नहीं होता और सत्सङ्ग बिना रामकृपाके नहीं मिलता। रामकृपा चतुराई छूटे बिना नहीं होती—

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥

दक्षकी कन्या साक्षात् भगवान् शंकरकी शक्ति सती होनेपर भी अपनी चतुराईके कारण जल गयी, तभी पार्वतीके रूपमें उत्पन्न होकर राम-कथाकी अधिकारिणी बनी। हिमाचल-कन्या ही विश्वासरूप शंकरकी सहधर्मिणी श्रद्धाका रूप धारण करके शान्ति और स्थिरतासे रामचरित्र सुन सकती है और 'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्' 'श्रद्धा-विश्वासके बिना सिद्धलोग परमात्माका आलोक प्राप्त नहीं कर सकते' तो पास बैठकर सामीप्यद्वारा सारूप्य और सायुज्यतक कैसे पहुँचेंगे ?

अच्छा, अब विवेकके लिये जिस सत्सङ्गकी आवश्यकता होती है वह 'सत्सङ्ग' क्या है ? उपासनाके बिना 'सत्' की सङ्गति कैसे होगी ? इसलिये चलिये, अब हम सत्की सङ्गति-में पहुँचनेके लिये 'उपासना-तत्त्व'की खोज करें।

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥

सत्सङ्ग 'लव' मात्रका होता है। 'लव'निमेष परमानु जुग······काल जासु कोदंड'। 'लव' मात्र उस क्षणका बीचका भाग है। 'तेहि छन मध्य राम धनु तोरा' उस क्षणके मध्य भागमें ही रामने शिवके धनुषका भङ्ग किया। एक क्षणमें तीन 'लव' होते हैं। एक 'लव' में आँख बंद होती है और दूसरे 'लव'में खुलती है। यह उन्मेष और निमेष जिस 'लव'के आधारपर होता है, वही 'लव' सत् है। कारण पहलेका 'लव' तो 'था' पीछेका लव 'होगा'—'है' तो केवल एक मध्यका 'लव' ही है, इसीलिये—'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा लोग सब ठाढ़े ॥ जब प्रभुने धनुष तोड़ा तब लेते, चढ़ाते, खैंचते, तोड़ते किसीने देखा ही नहीं। वही 'लव' प्रेम भी है, 'लौ' भी है जो प्रभुसे लग जाती है। वही तीसरी आँख है जो हमें गुरुकृपासे खोलनी है और जिसपर भगवान्का

श्रीचरणचिह्नरूप तिलक लगाया जाता है। उपासनाका मूल वही 'लव' है, जो 'सत्' है और जिसकी सङ्गति और उपासनासे विवेक-ज्ञान जाग्रत् होकर कृतकृत्यता प्राप्त होती है।

'है' कहूँ तो 'है' नहीं, नहीं कहूँ तो 'है'।
'है' अरु नहिंके बीचमें जो कछु 'है' सो 'है'॥

भाव और अभावका आधार जो स्वभाव है, वही 'सत्' है और वही उपासनाका मूल है। उस 'सत्' के चार पैर हैं— सत्य, ज्ञान, प्रेम और आनन्द—जो चित्त, बुद्धि, अहंकार और मनके द्वारा व्यक्त होकर सारे लोकमें विचरण करता रहता है। 'भ' यानी 'भवन' (उत्पत्ति) 'ग' यानी 'गमन' (प्रलय) जिस 'सत्' के आधारपर चलता है, वही 'भगवान्' हैं और उसीके समीप रहना उपासनाका तात्पर्य है।

चलती चक्की देख कर हँसे कमाल ठठाय।
'कीली' से लागा रहे तो, वह दाना बच जाय॥

जो दाना उस मूल 'तत्' 'सत्' से लगा रहता है, वह बचता है। नहीं तो 'दो पाटन' के मध्यमें 'सावित बचा न कोय'—कौन चक्रसे बच सकता है, यदि चक्रके 'मूल' की शरण ग्रहण नहीं की जाय।

तीन 'लोक' हैं—'स्थूल', 'सूक्ष्म' और 'कारण'। जो दीखता है वह 'लोक' है, जो देख रहा है वही द्रष्टा है—'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे,' 'जग'में भी दो अक्षर हैं—'ज'-जन्म और 'ग'-गमन-मृत्यु। जहाँ जन्म-मृत्यु हो वही 'जग' है और जन्म-मृत्यु जहाँ मिट जाते हैं—मिल जाते हैं, उस मूल-आधार स्थानको उपासनाका मूल कहा जाता है। उस आधारपर स्थिर रहना ही धर्म है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

'भारत'को ही शरण जानेका उपदेश है—जो 'भा' यानी आत्मज्योतिमें 'रत'—परायण है, वही श्रेष्ठ है। उसीको युद्धका अधिकार है—'तस्माद् युध्यस्व भारत'।

इसीलिये भारतको ही युद्धका अधिकार है, स्वार्थ-रतको नहीं। उपासना भी एक शुभ कर्म है और जब वह आत्मज्योतिमें रत हो जाती है तब शुद्ध धर्म बन जाती है और फिर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य।'

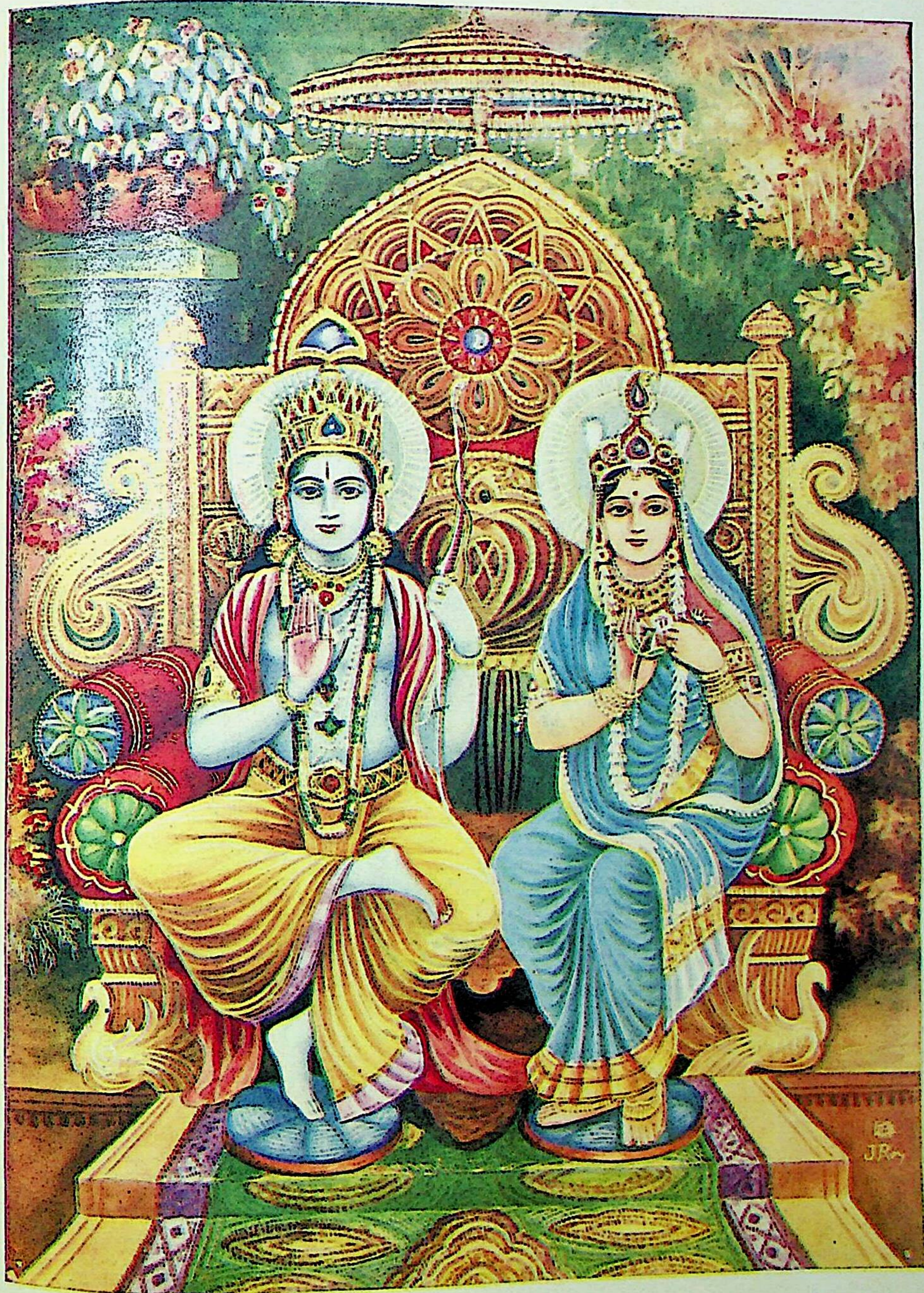
जब शुद्ध-अशुद्ध धर्मोंसे और शुभ-अशुभ कर्मोंसे छुट्टी हो जाती है तब उपासनाका रहस्य, मर्म, मूल, फल, पत्र, पुष्प या रसकी स्वयं उपलब्धि हो जाती है—

मूलायाग्राय मध्याय मूलमध्याग्रमूर्तये।
क्षीणाग्रमूलमध्याय नमः पूर्णाय शम्भवे॥

मूल भी वही, अग्रभाग भी वही, मध्य भाग भी वही, सबके प्रलय होनेपर भी वही और सबमें वही तथा उसीमें सब। यह प्रतीति ही उपासनाका मूल है। प्रतीतिका अर्थ है कि प्रतिकूलताओंकी 'इति'। जब कभी कोई किसी भी अवस्थामें प्रतिकूल नहीं लगता, वही 'प्रतीति' है। 'अनुग्रह'का यही अर्थ है। जब प्रभुकी सभी इच्छाओंको अनुकूल ग्रहण किया जाता है, तभी अनुग्रह है; अन्यथा परिग्रहसे आग्रह और आग्रहसे निग्रह बढ़ता है। उपासना-तत्त्वको समझकर प्रभुका अनुग्रह तथा प्रतीति प्राप्त करना है।

प्रभुसे प्रार्थना

यह विनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल करम लै जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ अंडकी नाईं॥
या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति-प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं॥



सिंहासनासीन श्रीसीताराम



वैदिक उपासना-रहस्य

(लेखक—श्रीरणछोड़दासजी 'उद्धव')

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥
(यजु० ४० । १५)

'सोनेके पात्रसे सत्यका मुख ढका हुआ है, हे पूषादेव ! मुझ सत्यधर्माको उस सत्यका दर्शन हो सके, इसके लिये आप उस आवरणको हटाइये।'

यह मन्त्र उपासनाका उपाय बतलाता हुआ कहता है— 'हिरण्मय पात्रसे अर्थात् स्वर्णसे सत्यका मुँह ढँका हुआ है। हे पूषादेव ! सत्यधर्मकी दृष्टिके लिये अर्थात् साक्षात्कारके लिये आप उस आवरणको हटाइये।' उपनिषद्के ज्ञानके लिये ब्रह्मसत्य और देवसत्यका स्वरूप जानना आवश्यक है। उसके लिये कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(मुण्डकोपनिषद् ३ । १ । १)

'एक वृक्षकी एक शाखाके अग्रभागपर दो सुनहरे रंगके पक्षी बैठे हैं। दोनों संयुक्त यानी जोड़ले हैं। दोनोंमें घनिष्ठ मित्रता है। इन दोनोंमेंसे एक पक्षी फलको चख रहा है और दूसरा पक्षी बिना खाये उस खानेवालेकी चौकसी कर रहा है।' जीवात्मा और परमात्माकी जोड़ी है। परमात्मा ईश्वर है, जीवात्मा जीव है। जीव और ईश्वर केवल 'देवसत्य'का नाम है। स्वयम्भू आदि उपेश्वर हैं, अश्वत्थ महेश्वर है और परात्पर परमेश्वर हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा और भूपिण्ड—ये ईश्वरकी सामग्रियाँ हैं और अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान और शरीर—ये जीवकी सामग्रियाँ हैं। कर्म भोगनेवाला और अन्य योनियोंमें जन्म लेनेवाला जीवात्मा केवल भोक्ता देवसत्य है। महान्, विज्ञान और अव्यक्त आदिका कर्मभोगसे कोई सम्बन्ध नहीं है। श्राद्ध महानात्माके लिये ही किया जाता है। कर्मके फल भोगनेवाला उक्त देवसत्य ही है। षोडशीपुरुष केवल अजन्मा ही है।

स्वयम्भू आदि पञ्च ब्रह्मोंमेंसे सबसे अन्तका ब्रह्म 'अन्नाद-अग्नि' अर्थात् भूपिण्ड और महिमा-पृथिवी है। महिमापृथिवीमें ही स्तोमके भेदसे तीन लोकका भेद उदय होता है। यह 'स्तौम्यत्रिलोकी' नामसे प्रसिद्ध है। इन्हीं तीन अग्नियोंके सर्वहुत यज्ञसे एक वैश्वानर, दो हिरण्यगर्भ एवं तीन सर्वज्ञरूप ईश्वरीय देवसत्य है। ईश्वरीय देवसत्यका सर्वत्र-अध्यात्ममें भाग १ प्राज्ञ, हिरण्यगर्भ; भाग–२ तैजस और वैश्वानर; भाग–३ वैश्वानर नामसे प्रसिद्ध है। यही भूतात्मा है। इसका आधार सर्वभूतान्तरात्मा है। यह जीव भोक्ता सुपर्ण है, वह ईश्वर साक्षी सुपर्ण है। जीव कर्मकर्ता और ईश्वर कर्मसाक्षी है। दोनों मित्र हैं और दोनों जोड़ले हैं। दोनों ब्रह्माश्वत्थकी शाखाके अग्रभागमें स्थित हैं। दोनोंका मूलाधार भूपिण्ड है।

सर्वज्ञभाग सहस्रशीर्ष है, हिरण्यगर्भ भाग सहस्राक्ष है और वैश्वानरभाग सहस्रपात् है। अध्यात्म-संस्थामें जीवरूपसे यही दश-अङ्गुलका उल्लंघन कर अर्थात् प्रादेशमात्र बनकर स्थित हो रहा है। इसी देवसत्यका समष्टिरूपसे निरूपण पुरुषसूक्तके 'सहस्रशीर्षा' मन्त्रमें है।

ईशोपनिषद्के १५वें मन्त्रमें कहा है कि—'सांसारिक सम्पत्ति 'हिरण्यपात्र' यानी संसार सुनहरा है। सुवर्ण (सम्पत्ति) ने आत्मतत्त्वको ढँक रक्खा है। वित्तमोहसे मुग्ध मनुष्य हृदयमें स्थित सत्य आत्मतत्त्वके दर्शन करनेमें असमर्थ हो रहा है। इस पृथिवीकी सम्पत्तिका अधिष्ठाता पृथ्वीका अभिमानी देवता 'पूषा' है। उसीकी उपासनासे भौतिक आवरण हट सकता है। हमें नम्रभावसे उसी देवतासे प्रार्थना करनी चाहिये कि—'हे पूषन् ! आपने अपनी शक्तिसे सत्य—आत्मतत्त्वपर जो भौतिक सम्पत्तिरूप आवरण लगा रक्खा है, उसे हटाइये और हमारे आत्माको भौतिक बन्धनसे मुक्त कीजिये, जिससे हम आत्मस्वरूपको पहचान सकें।' सोलहवें मन्त्रमें भक्त देवसे प्रार्थना करता है—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य
व्यूह रश्मीन् समूह।

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥
(यजु० ४० । १६)

'हे पोषक ! एकद्रष्टा ! नियामक ! तेजःप्रदाता ! प्रजापालक ! अपनी किरणोंको एकत्र कर और एक ओर कर । जो तेरा अत्यन्त कल्याणकारी तेजोमय रूप है, वह तेरा रूप मैं देखता हूँ । जो यह प्राणोंमें पुरुष है, वह मैं हूँ ।'

एकर्षे, यम, सूर्य और प्राजापत्य--इनका वैज्ञानिक तत्त्व यह है कि पृथिवी अग्निमयी है, अन्तरिक्ष वायुमय है और द्युलोक सूर्यमय अर्थात् आदित्यमय है । बारह आदित्योंमेंसे एक 'पूषा'नामका आदित्य है । इस मन्त्रमें सूर्यशब्दसे उसी आदित्यका ग्रहण किया है । पृथिवीका पूषा 'एकर्षि' है, अन्तरिक्षका आङ्गिरस वायुरूप पूषा 'यम' है और द्युलोकका आदित्यरूप पूषा 'सूर्य' है । ये तीनों प्राजापत्य यानी प्रजापतिकी संतान हैं । भूपिण्ड चित्याग्निमय है । इसमें अङ्गिरा नामका पूषाग्नि स्थित है । यही केन्द्रमें रहनेवाला पूषा पृथिवीका प्रजापति है । इसी प्रजापतिकी एकर्षि, यम और सूर्य (आदित्य)—ये तीन अवस्थाएँ हैं । अग्नि, वायु और आदित्य—ये तीनों एक ही पार्थिव अङ्गिराके विवर्त हैं । अतएव तीनोंके लिये समष्टि-रूपसे ऋषिने पहले 'पूषन्' शब्द कहा है । आगे जाकर इसके व्यष्टिरूप प्राजापत्यभावोंका दिग्दर्शन कराते हुए—'एकर्षे, यम, सूर्य एवं प्राजापत्य' यह कहा है । ये सब प्राणरूप हैं ।

कल्याणतम रूपके तत्त्वके लिये कहा है कि तीनों लोकोंमें व्यापक पूषामें सत्यधर्मके अनुकूल और प्रतिकूल—ये दो भाव हैं । पूषामें रहनेवाला हिरण्मय (देवरूप ज्योतिर्मय-) भाग सत्यधर्मके दर्शनका विरोधी है; कारण इसकी सत्तामें चाक्षुष कृष्णके दर्शन नहीं हो सकते । किंतु तमोमय मूलभाग अनुकूल है; क्योंकि इसीकी सत्तामें चाक्षुष कृष्णके दर्शन होते हैं । पूषाका यह पार्थिव तमोमय-रूप ही सत्यधर्म दृष्टिमें उपयोगी बनता हुआ हमारे लिये कल्याणतम है । सत्यधर्मके दर्शनमें यही रूप अपेक्षित है । तमोमय भूतभाग पूषाका मौलिक रूप है । हिरण्यभाग आगन्तुक है और यह हिरण्मय सूर्य तो तेरा आत्मा है । वह तो स्वयं द्रष्टा है, उपासक है, उसे देखकर मुझे क्या लाभ ! वह तो स्वयं मैं हूँ । मैं उस उपास्य कृष्णतत्त्वको देखना चाहता हूँ, जो कल्याणतमरूप पूषासे ढँका हुआ है ।

सारांश यह है कि पृथ्वीका अङ्गिरा भाग पूषा है । ९, १५ और २१ भेदसे इसके एकर्षि, यम तथा सूर्य—ये तीन प्राजापत्य रूप हैं । पूषा पृथिवी है । इसके साथ दिनका और रात्रिका भी सम्बन्ध है । दिन सूर्यका भाग है, यह चाक्षुष पुरुषका ढकना होनेसे अकल्याण रूप है । रात्रिका घोर तम भी आगन्तुक होनेसे ढकना बनता हुआ अकल्याणरूप ही है । मौलिक छाया भाग ही इसका कल्याणतम रूप है । चाक्षुष पुरुषको आप न दिनकी धूपमें देख सकते हैं और न रात्रिके अन्धकारमें देख सकते हैं । वह छायामें दीखता है । सत्यधर्म-दर्शनके लिये हमें पूषाकी छायारूप इसी कल्याणतम रूपपर दृष्टि जमानी चाहिये अर्थात् छायामय भूतप्रधान पूषा देवताकी ही उपासना करनी चाहिये ।

इस मन्त्रके अर्थकी व्याप्ति इतनी ही नहीं है, किंतु उक्त अर्थके साथ-साथ ही यह मन्त्र वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञरूप जीव देवसत्यका भी निरूपण करता है । भूपिण्डपर स्थित एकर्षि अग्निप्रधान वैश्वानरका, यम वायुप्रधान हिरण्यगर्भका और सूर्य इन्द्रप्रधान सर्वज्ञका स्वरूप बनता है । इन तीनोंकी समष्टि देवसत्य है, यही प्राणात्मा है और मर्त्याग्नि भूतमय शरीर है । इस भौतिक पूषा भागका यह देवसत्यरूप अमृताग्नि ही कल्याणतम रूप है । सत्यधर्मरूप विज्ञानकी उपासनाके द्वारा मैं इसे ही देखना चाहता हूँ । पूषाका कल्याणतम अमृतरूप 'मैं' (भोक्ता—देवसत्य) हूँ, यह अमृतभाग उस ईश्वरीय अमृतपुरुषसे अभिन्न है, मैं उसीका अंश हूँ । वैश्वानर अग्नि, तैजस वायु एवं प्राज्ञ इन्द्र—इन तीनोंकी समष्टि देवसत्यरूप जीवात्मा है । इस प्रकार 'अहं' भावमें अग्नि, वायु और इन्द्र—ये तीनों प्रविष्ट हैं तथापि प्रधानता वायुकी ही है । वायु ही हमारा वास्तविक आत्मा है; क्योंकि चिदाभासको ही 'जीवात्मा' कहा जाता है और चित्का प्रतिबिम्ब ही चिदाभास है । इस चित्का प्रतिबिम्ब महान्पर ही स्थित है । गीतामें कहा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
(गीता १४ । ३)

'मेरी महत्—ब्रह्मरूप प्रकृति योनि है और गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापित करता हूँ ।' भृगुतत्त्व ही महद्ब्रह्म है । इसकी अप्, वायु और सोम—ये तीन अवस्थाएँ हैं । इन तीन अवस्थाओंके कारण ही वह प्रतिबिम्ब पानी, वायु और

सोम—इन तीन अवस्थाओंमें स्थित है। अध्यात्म-संस्थामें वैश्वानर अपान-सम्बन्धी है, प्राज्ञ प्राणसम्बन्धी है और मध्यस्थ वायुरूप तैजस व्यानसम्बन्धी है। जबतक मध्यस्थ व्यानवायु अपने स्वरूपमें स्थित रहता है, तभीतक जीवनसाधक वैश्वानर और प्राज्ञ स्थित रहते हैं।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥
(कठोपनिषद् २।२।५)

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥
(कठोपनिषद् २।२।३)

बीचमें बैठा हुआ यह तैजस वायु इस ओरसे पृथ्वीका रस लेता है और उस ओरसे दिव्य रस लेता है। पृथिवीका भाग अर्थप्रधान होनेसे मर्त्य है और दिव्यभाग ज्ञानप्रधान होनेसे अमृत है। मध्यस्थ वायु दोनों ओर झुकता है।

पृथिवीका रस 'इरा' नामसे प्रसिद्ध है। महर्षि ऐतरेयने इसके सम्बन्धसे ही प्रधानपुरुषको 'इरामय' बतलाते हुए परोक्षभावसे इसे हिरण्मय कहा है। विज्ञान पुरुष ही हिरण्मय है और प्रज्ञान पुरुष भी हिरण्मय है, केवल स्वरूपमें अन्तर है। विज्ञानपुरुष हिरण्मय (अग्निमय) होनेसे हिरण्मय है और प्रज्ञानपुरुष इरामय (पार्थिव-अन्नरसमय) होनेसे हिरण्मय है। (ऐतरेय-आरण्यक २।७) सारांश पृथिवीका मर्त्य भौतिक रस 'इरा' कहलाता है।

जिस पुरुषका वायुमय आत्मा पार्थिव मर्त्य इराकी ओर अर्थात् पार्थिव सम्पत्तिकी ओर झुक जाता है, उसका वह आत्मा इराप्रधान बनता हुआ मृत्युरूप बन जाता है। यदि वायुमय आत्मा इराकी आसक्ति छोड़कर ज्ञानमूर्ति प्राज्ञका आश्रय लेता है, 'अनिर' (इरारहित) बन जाता है, तो अमृत-प्राज्ञकी प्रधानतासे यह भी अमृतरूप बन जाता है। अनासक्तिरूप बुद्धियोग द्वारा जब आपका वायुभाग अनिर बन जायगा, तब वह 'अमृत' बन जायगा। यही उपासनाका रहस्य 'वायुरनिलममृतम्' में कहा गया है।

उपासनाका रहस्य

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

'उपासना' शब्दकी व्युत्पत्ति तथा मुख्य अर्थ[1]

उपँ उपसर्गपूर्वक अदादि आत्मनेपदी सेट (२।१४) 'आस' उपवेशने (To Sit- बैठना) धातुसे उत्तरकृदन्तीय 'ण्यासश्रन्थो युच्' (पाणिनिसू० ३।३।१०७) इस सूत्रसे युच् तथा स्त्रीत्वसूचक टाप् प्रत्यय करनेसे 'उपासना' शब्दकी निष्पत्ति होती है 'युवोरनाकौ' (७।१।१) से 'यु' का अन होता है। वरिवस्या, शुश्रूषा, परिचर्या, आराधना, सेवा आदि शब्द इसके पर्यायवाची हैं एवं पूजा, भक्ति, नमस्या, अपचिति, सपर्या, अर्हणा, नमस्क्रिया तथा ध्यान-अनुष्ठान आदि शब्द

---

१. इस शब्दका यहाँ 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' की दृष्टिसे कुछ विस्तृत विवेचन है। पाठक क्षमा करेंगे।

२. उपसर्गभाष्यादि ग्रन्थोंमें 'उप' उपसर्गके सामीप्य, सामर्थ्य, व्याप्ति, आचार्यकृति, दोष, दान, क्रिया, वीप्सा (व्याप्ति), आरम्भ, पूजा, पठन आदि कितने अर्थ कहे गये हैं—

उपः सामीप्यसामर्थ्यव्याप्त्याचार्यकृतौ भृतौ।
दोषदानक्रियावीप्सारम्भाध्ययनपूजने॥

अथवा—

उपासन्नेऽधिके हीने सादृश्यप्रतियत्नयोः।
उद्योगव्याप्तिपूजासु शक्तावारम्भदानयोः॥

(हेमचन्द्र, मेदिनी, अभिधानचिन्तामणि, उपसर्गभाष्य, उपसर्गार्थसंग्रह १९)

यहाँ सेवा, पूजा, उपचर्या अर्थ है, यथा—

देवं देवमुपचरति, उपासितो गुरुः शिष्येण, उपचितः पिता पुत्रेण इत्यादि। विश्वप्रकाश-कोश 'उप' के बहुतसे अर्थ बतलाता है, यथा—

उपः सामर्थ्यदाक्षिण्यदोषाख्यानात्ययेषु च।
आचार्यकरणे दाने व्याप्तावारम्भपूजयोः॥
तद्योगेऽपि च वीप्सायां भरणार्थोपमार्थयोः।
उपो हीनेऽधिके प्रोक्तोऽप्यासन्नेऽप्युपकीर्तितः॥

(विश्वप्रकाशकोश, अव्ययप्रकरण, पृ० १८९, काशी चौखम्बा संस्करण)

इससे भी उपासना शब्दके प्रयोगका क्षेत्र बहुत विस्तृत सिद्ध होता है।

इसके अत्यन्त निकटार्थक एवं सामान्य अन्तरङ्गार्थक हैं—

पूजा नमस्यापचितिः सपर्याचार्हणाः समाः ।
वरिवस्या तु शुश्रूषा परिचर्याप्युपासना ॥
(अमरकोश २ । ७ । ३४-३५)

उपास्ति, उपासा, उपासन आदि भी इसके रूप हैं और शास्त्रोंमें प्रयुक्त हुए हैं । श्रीरामतापिनी-उपनिषत्, कुलार्णवतन्त्र १७ । ६८ भागवत एवं आचार्य शंकरके भाष्योंमें उपास्ति शब्द व्यवहृत मिलता है । उपासा शब्द भी कहीं-कहीं उपलब्ध होता है, यथा—धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत (मुण्डकोपनिषद् ३ । ३) में 'उपासा' शब्द उपासनाके लिये ही प्रयुक्त है और शंकराचार्य, आनन्दविज्ञान, नारायण सर्वज्ञादि सभीने यहाँ उपासनाका 'निरन्तर ध्यान' ही अर्थ किया है । यहाँ हम भक्ति आदि अन्य शब्दोंको छोड़ केवल उपासना शब्दपर ही कुछ विचार प्रस्तुत करनेका प्रयत्न करेंगे ।

'उपासना' शब्दकी अनेक परिभाषाएँ, अर्थ एवं प्रभेद

वाररुचादि विभिन्न लक्षणकोशों तथा परिभाषाकोशों एवं पुराणादिमें भी 'उपासना'की अनेक परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं—यथा—उपासना (उपासनं वा) १—चिन्तनापरपर्यायः मननात्मकः मानसव्यापारः, २—वस्तुस्वरूपानपेक्षं पुरुषेच्छामात्रतन्त्रं मानसं प्रवाहरूपम्, ३—निकृष्टेषूत्कृष्टबुद्धिः, ४—ध्यानं क्रिया वा ।

'कुलार्णवतन्त्र'में उपासनाकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
समीपसेवा विधिना उपास्तिरिति कथ्यते ॥
(१७ । ६७)

अर्थात् सदा सभी प्रकारसे समीप रहकर सेवा करना उपासना है ।

वेदान्तग्रन्थोंमें उपासनाके मुख्य दो ही भेद निर्दिष्ट हैं—अहंग्रहोपासना एवं प्रतीकोपासना । ब्रह्मसूत्रके चौथे अध्यायके प्रथम उपासनापादमें (४ । १ । ३-१२) में इन दोनोंपर विस्तारसे विचार किया गया है । इन भेदोंपर पुराणोंमें बहुत विस्तारसे प्रकाश डाला गया है[४], विशेषकर प्रतीकोपासनाकी पद्धतियोंपर । हरिभक्तिविलास, पूजाप्रकाश, पूजापङ्कजभास्कर, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु आदिमें इसपर सूक्ष्म विचार एवं प्रकाश प्राप्त होता है । इन विषयोंपर हम किसी भिन्न लेखमें विचार करेंगे । यहाँ तो हम इसके अन्य प्रयुक्तार्थ तथा सामान्य मुख्यरूप एवं फलादिपर ही कुछ विचार प्रस्तुत कर रहे हैं ।

श्रीमद्भागवतादिमें 'उपासना' शब्द

श्रीमद्भागवत, वाल्मीकिरामायण, पुराणों एवं काव्योंमें 'उपासना' शब्द विभिन्नार्थोंमें प्रयुक्त दीखता है । 'उपासितो यत्पुरुषः पुराणः' (श्रीमद्भा० १ । ५ । ६) में इस शब्दका 'पूर्णभक्तिसे प्रसन्न कर लेना' अर्थ है । भागवत ३ । २१ । १४ के 'त्वत्पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् । उपासते कामलवाय तेषां' में उपासना शब्द पूजा-भक्ति अर्थमें प्रयुक्त है। भागवत ७ । ७ । ३८ 'कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः' में प्रेमपूर्वक भजन-ध्यान अर्थ अभिप्रेत है । यह अगले—प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता । न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च। प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्' (७ । ७ । ५१-५२) श्लोकोंसे सुस्पष्ट होता है । 'उपासते योगरथेन धीराः' (८ । ५ । २९) में भी ध्यान ही अर्थ है । १० । ७३ । १४ के 'राज्यम् उपासितव्यम्' में सेवा अर्थ है । इसी प्रकार १० । ८४ । १२ में 'चन्द्रतारका उपासिताः' में पूजा अर्थ है । ११ । २१ । ३२ के 'इन्द्रमुख्यानुपासते' में भी यही अर्थ है ।

'उपासना' शब्दके अन्यार्थ

ऋग्वेद २ । २७ । ७, १० । १५४ । १; अथर्व ६ । ४२ । २; तैत्तिरीय सं० १ । ६ । १० । १; मैत्रेयी सं० २ । १ । १ रघुवंश १० । ६२, मनु० ७ । ३७, कुमारसम्भव २ । ३८ आदिमें 'उपासना' का पूजा, सेवा तथा उपस्थित होना—सामने हाजिर होना आदि अर्थ है । इसी प्रकार नीतिशास्त्रके अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक—

'दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात् सुतो लालनाद्

३. उपासानिशितं—संतताभिध्यानेन संस्कृतमित्यर्थः ।
(शां० भा०)

४. पुराणोंका स्वरूप ही उपासनाका है । कई खण्डोंका नाम भी उपासनाखण्ड है, जैसे—गणेशपुराणका 'उपासनाखण्ड' ।

विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयात् शीलं खलोपासनात् ॥'

(नीतिशतक १ । ३३; पञ्चतन्त्र १ । १८०; निर्णयसाग० सं०, शां० पद्धति, चतुर्वर्गसंग्रह ४ । १५; सुभा० माण्डा० ३ । १३ । १००) में 'उपासना' शब्द सहवासार्थक है। (शीलं सत्स्वभावः, दुर्जनसहवासान्नश्यतीति—श्रीरामचन्द्रबुधेन्द्र-की सहृदयानन्दिनी टीका)। यहाँ 'उपासना'का 'साथमें रहना' अर्थ अभीष्ट है। याज्ञवल्क्यस्मृति ३। ४५ के 'साग्निः सोपासतो व्रजेत्'में उपासनाका विज्ञानेश्वर, अपरादित्य, विश्वरूपा-चार्य, वीरमिश्र, देवबोध, सुरेश्वराचार्य, धर्मेश्वर तथा लक्ष्मी देवी आदिने 'गृह्याग्नि' अर्थ किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र १।५।१५।१ में 'सेवा' अर्थ है। मनुस्मृति ३। १०४ में 'उपासना'का अर्थ भोजनं करना है। गौतमधर्मसूत्र ५। ३९ 'उपासनानि सर्वाणि'में उपासनाका अर्थ 'प्रणाम' है—उपासनं-नमस्कारादि (मस्करिभाष्य, मैसूर संस्करण, पृ० १०४) महाभारत आदि पर्वमें उपासना शब्द बारंबार शरानुसंधान शराभ्यासादिमें प्रयुक्त है। (M. M. iWllam.) मृच्छकटिक १।९में 'संगीताभ्यास' अर्थ भी हैं। गीता १३।७ में 'सेवाभक्ति' अर्थ है। नैषधका० १ । ३४ के 'उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते' में भी 'प्रणाम' अर्थ है। भट्टि-काव्य ५ । १०७ तथा ७ । ८७ में 'उपासांचक्रिरे द्रष्टुं देवगन्धर्वकिन्नराः' में 'जाना-पहुँचना' अर्थ है—उपगताः—शंकराचार्य जयमंगला मल्लि० इत्यादि । वाल्मीकीय रामायण १ । ३० । ६ के 'उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ' में समीप रहना अर्थ है—(समीपस्थितिं चक्रतुः—गोविन्दराजादि) और १। ३५ । १—'उपास्य रात्रिशेषं तु' में 'बिताना' अर्थ। मनु० २ । ६९ में 'उपासना'का 'ध्यान' अर्थ है। 'संध्योपासन' शब्दमें ध्यान-वन्दना दोनों ही युक्त हैं, जैसे—

निसि प्रवेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्या बंदन कीन्हा ॥

(मानस १ । २२६। १ इत्यादि)। इसी प्रकार 'देवीभागवत' में ध्यानार्थ भी निर्दिष्ट है। अतः हेमचन्द्र, पुरुषोत्तम, महेश्वर, मेदिनीकार धरणिधरादिका यह कथन ठीक ही है कि 'उपासना' शब्दका—'स्यादुपासनमासने । शुश्रूषायां शराभ्यासेऽप्युपधाने च गेन्दुके । व्रते विशेषे प्रणये' इत्यादि अनेक अर्थोंमें प्रयोग होता है।

सर्वोपरि उपासना और उसका फल

योगवासिष्ठ ५ । ४२ । २५ एवं ब्रह्मसूत्र ३ । २ । ५, २४ के शांकर-रामानुज आदि भाष्योंमें भगवद्ध्यानको ही सर्वोपरि उपासना कहा है।

'भक्तिरूपापन्नमेवोपासनं संराधनम्' (३ । २ । २४ का श्रीभाष्य[9]) इस सूत्रका तात्पर्य बतलाते हुए आचार्य शंकर श्रुतियोंके बहुविध प्रमाणसे ध्यानकालमें भगवान्का शीघ्र ही दर्शन—प्राकट्यादि भी निरूपित करते हैं। पुनः उन्होंने स्मृति तथा पुराणोंके प्रमाणसे इस बातकी भी पुष्टि की है कि उपासनाकालमें भगवान् उपासकोंको अवश्य दर्शन देते हैं—

---

५. गोस्वामी तुलसीदासजीने मानस ३ । २१ । ८—११ में इसी श्लोकका—

'संग ते जती कुमंत्र ते राजा। पान ते मान ग्यान ते लाजा ॥

इत्यादि रूपसे भावानुवाद-सा किया है।

६. मेधातिथि यहाँ उपासनाका अर्थ अभ्यास एवं नारायण सर्वज्ञ 'आमन्त्रण स्वीकार करना' लिखते हैं।

७. हरदत्तकी मिताक्षरामें यह ५ । ३४ वाँ सूत्र है और 'उपासना'की व्याख्या उन्होंने छोड़ दी है।

८. अनेन चिरसंगीतोपासनेन ग्रीष्मसमये' 'क्षुधा ममाक्षिणी खटखटायेते । [मृच्छकटिकनाटक, निर्णयसागर प्रेसके १९१६ ई० का चतुर्थसंस्करण-पृष्ठ ३, श्लोक ८ के बादकी पङ्क्ति]

९. (क) अपिसंराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (वेदान्तदर्श० ३।२।२४)

(ख) अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । (वेदान्त० १ । २ । ३०)

(ग) भावं तु बादरायणोऽस्ति हि । (वेदान्त० १ । ३ । ३२)

१०. इसी प्रकार 'राम उपासक जे जग माहीं' (रामचरितमानस उत्तर १३०। ३) की व्याख्यामें श्रीरामचरणदासजी करुणासिंधुजी महाराज (नवल० प्रे०, लखनऊ) रामायणके वचनसे 'उपासना'की परिभाषा इस प्रकार लिखते हैं—

गुरुमन्त्रानुसारेण लयं ध्यानं जपं तथा।
पाठं तीर्थं च संस्कारमिष्टं सर्वपरात्परम् ॥
इष्टपूजां प्रकुर्याद् वै तत्कथां शृणुयात् पठेत् ।
तदंशव्यापकं विश्वं कथ्यते साप्युपासना ॥

यह महारामायण योगवासिष्ठसे भिन्न उपासना-ग्रन्थ है। इसके ४९। ८ में 'उपासक' का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

भूमौ जले नभसि देवनराडुरेषु
भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु।
पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु रामरूपं
रामस्य ते भुवि तले समुपासकाश्च ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।
(महाभा० शान्ति० ४७ । ५४, २८४ । ६९, ब्रह्मपुराण ४० । ८७)

फिर अगले सूत्रमें वे उपासक-उपास्य, ध्याता-ध्येयकी एकता भी तुरंत प्रतिपादित करते हैं—

'ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति, न, इत्युच्यते—
प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।
(ब्रह्मसू० ३ । २ । २५)

यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु···सविशेषा इवावभासन्ते, न च स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति । एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः स्वतस्त्वैकात्म्यमेव । (३ । २ । २५ का शां० भा०)

पुनः वे लिखते हैं कि उपासनाभ्याससे स्वतः ही जीव तथा प्राज्ञकी अभिन्नता प्रतिपन्न होने लगती है और वे पुनः इसे श्रुतिसे प्रमाणित भी करते हैं, यथा—

'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'
(मुण्डकोपनिषद् ३ । २ । ९)
'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यकोप० ४ । ४ । ६)

इस तरह आचार्यके मतसे भगवद्ध्यानसे भगवद्दर्शन तथा पुनः शीघ्र ही अभ्यासवृद्धिद्वारा भगवत्सारूप्य-सायुज्यकी प्राप्ति होती है । पूरे योगवासिष्ठ ग्रन्थमें भी यही प्रतिपादित है । आचार्य रामानुजके मतसे अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय एवं योग—ये पाँच उपासनाके अङ्ग हैं और इनसे भगवद्दर्शनकी प्राप्ति होती है (श्रीभाष्य, सर्वदर्शनसंग्रह—रामानुजविशिष्टाद्वैतदर्शन) । मनुजी भी सुस्पष्ट ही लिखते हैं कि ध्यानोपासनासे भगवद्दर्शन कर साधक-उपासक मुक्त हो जाता है—

ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ।
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ॥
···ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ।
(मनु० ६ । ७३-७४, ७९)

और उपासनाका वास्तवमें यही सर्वोपरि श्रेष्ठ फल भी है ।

उपासनाके कुछ प्रबल अन्तराय

विज्ञाननें[११] आज विश्वको विनाशके कगारेपर ला खड़ा किया है, भगवदुपासना ही अब इस विभीषिकाकी भी दवा है ।

तथापि उपासनामें भी बहुतसे अन्तराय आते हैं—

पुराणोंमें कथा आती है कि मनुको ऋत्विजोंके दोषसे और साधनवैकल्यसे पुत्रके बदले कन्या हुई जो इला कहलायी । त्वष्टाके वाणीदोषसे उत्पन्न वृत्र इन्द्रके वधमें अक्षम रहा । काशीराज अविधिपूर्वक दक्षिणाग्निमें हवन करता हुआ श्रीकृष्णके मारनेके अभिचारमें असफल होकर स्वयं विनष्ट हुआ । हिरण्यकशिपुके पुरोहित प्रह्लादके लिये अभिचार करते हुए स्वयं मृत हुए । जब ऐसी भूलके उलटे परिणाम उस युगमें उन मर्मज्ञोंको प्राप्त हुए तो अबके संदिग्ध-साधकोंका क्या कहना, जिनके लिये 'संशयात्मा विनश्यति' आदि उक्तियाँ ही हैं । *अतः इन विघ्नोंको सावधानीसे दूर रखना चाहिये । मनुकी दृष्टिमें अमनस्कता तथा भावदोष ही प्रधान विघ्न हैं—

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥
(मनु० २ । ९७, वि० पुरा०, विष्णुधर्म०)

यहाँ वेदसे अध्ययन, जप, ध्यानादि परिगृहीत हैं, यह मनुके व्याख्याताओंका मत है—

'वेदास्तद्विषयाध्ययनजपादि । विषयचिन्तात्यागोऽनेन विहितः तदभावे निष्फलं स्यात्' (मेधातिथि)
'वेदाध्ययनयज्ञनियमतपांसि । भोगादिविषयसेवासंकल्पशीलिनो न कदाचित्फलसिद्धये प्रभवन्ति ।' (कुल्लूक भट्ट)
'विप्रदुष्टभावस्य—स्त्र्याद्यासक्तस्य' (राघवानन्द)
'वेदा इति ब्रह्मचारिधर्माः, त्यागा इति संन्यासिधर्माः, यज्ञा इति गार्हस्थ्यधर्माः, तपांसीति वानप्रस्थधर्माः, नियमा इति साधारणधर्माः विप्रदुष्टभावस्य—कामक्रोधदूषितचित्तस्य' (नन्दनकृत मनुव्याख्यान)

---

११. विज्ञान बनाम शास्त्रपर विशेष जानकारीके लिये Truth (ट्रुथ) कार्यालय ९१ चौरंगी कलकत्तासे प्रकाशित Reason Science and Shastras पुस्तक निःशुल्क मँगाकर देखनेका कष्ट करें ।

* अभिचार कर्मको उपासनाकी श्रेणीमें नहीं रखखा जा सकता । उपासनाका फल विलम्बसे भले ही मिले, उससे साधककी हानि नहीं पहुँच सकती । (सम्पादक)

अन्यत्र भी कहा गया है—

किं तज्जपेन तपसा मौनेन च व्रतेन च।
सुरार्चनेन दानेन[१२] (तीर्थैन) स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥

(श्रीमद्भागवत ११।१४।३०, ११।२६।१३, पद्मपुराण सृष्टि० १९। ३५२-५३, ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्मखं० १६। ९०—९५, कृष्णजन्मखं० ६१। ३५, बृहन्नारदी० पुरा० ६। ८, महा० अनुशासन ३८। ४०)

इसी तरह अवैध उपासनाओंके भी कहीं राजा बलिको तो कहीं त्रिजटाको मिलने तथा कहीं निष्फल होनेकी भी बात आती है—

अश्रोत्रियं श्राद्धमधीतमव्रत-
मदक्षिणं यज्ञमनर्त्विज हुतम्।
अश्रद्धया दत्तमसंस्कृतं हवि-
रेते प्रदत्तास्तव दैत्य! भागाः[१३]॥

(हरिवंश ३।७२।४७; वाराहपुराण १८०।५९—८०, १९०।२५, २६, ३५, १९९।१३५; मत्स्यपुराण २४६। ८४—८९, वामनपुराण।३१।८४, ९२, बृहन्नारदीयपुराण उत्तरभाग २।२६ इत्यादि)

अर्थात् 'श्रोत्रिय पात्रसे रहित श्राद्ध, बिना ब्रह्मचर्यका अध्ययन, विना दक्षिणाके यज्ञ, बिना ऋत्विजके हवन, बिना श्रद्धाके दान और बिना संस्कारके अर्पित की गयी हवि—ये सब दैत्यवर्य बलि! तुम्हारे ही भाग होंगे, इनके फल तुम्हारे पास ही पहुँच जायँगे।'

उपासकको कामरूप भावदोषसे सर्वथा मुक्त रहकर क्रोधसे भी सर्वथा दूर बचे रहना चाहिये। क्रोध उपासनासिद्धिमें अत्यन्त बाधक होता है। प्रायः क्रोधमें आकर उपासक उपासनाका परित्याग करता है, अतः शास्त्रोंमें कहा गया है कि क्रोधी साधककी उपासनाएँ सफल नहीं होतीं। जब साधक उपासनामें प्रवृत्त होता है तो देवता लोग कुछ ऐसा दृश्य उपस्थित करते हैं, जिससे उसे अवश्य क्रोध आ जाय और उसकी उपासना व्यर्थ चली जाय[१४]—

यत् क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्यं
यद्वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य।
प्राप्नोति नैव किमपीह फलं हि लोके
मोघं फलं भवति तस्य हि क्रोधनस्य॥

(वामनपुराण ४२।८९ आदि)

इस तरह बाह्य जगत्‌के दोषोंसे बचकर सर्वथा इष्टानुरक्ति, गाढ़ अबाधित ध्यानमें तल्लीनता ही समीचीन उपासना है। भूशयन, अष्टधा ब्रह्मचर्य, शुद्ध सात्त्विक अल्पाहार—ये सब इसीके बहिरंग प्रयोजक हैं। कहीं-कहीं स्त्रैण, नास्तिक तथा महापातकी जनोंका दर्शन भी उपासनामें बाधक कहा गया है। परान्नभक्षण भी फलह्रासकर कहा गया है—

यस्यान्नपानपुष्टाङ्गः कुरुते धर्मसंचयम्।
अन्नदातुः फलं चार्द्धं कर्तुश्चार्द्धं न संशयः॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन परान्नं वर्जयेत्सुधीः।
पुरश्चरणकाले च काम्यकर्मस्वपीश्वरि॥

(कुलार्णवतन्त्र १५वाँ उल्लास, ८२-८३, तन्त्रसार पृ० ४७)[१६]

जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं परस्त्रीभिः कथं सिद्धिर्वरानने॥

(कुलार्णव १५।८५, तन्त्रसार पृ० ४७)

उपासना-जपादिमें अन्यमनस्कता, अनवधानता, नग्नशिरस्कता, अपवित्रता, राग-रोष, बहिरालापता इत्यादि भी भयानक बाधक हैं तथा चित्तैकाग्रयता एवं अनिर्विण्णता—ये सम्पादक साधन हैं[१५]—

---

१२. यहाँ किन्हीं स्थानोंपर 'तीर्थैन' पाठ है।

१३. (क) अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥
(गीता १७।२८)

(ख) श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।
बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥
(रामचरितमानस ७।९०।४)

१४. रावण, मेघनाद आदिके सम्बन्धमें ऐसी बातें रामायणोंमें बार-बार आती हैं।

१५. (क) त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६।२१, विष्णुधर्म १।२।८।२० तथा ३।२३३।७८ इत्यादि)

(ख) काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥
(रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, दो० ३८)

(ग) तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥
(रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा ३८)

१६. पर इसमें संन्यासी आदिकी वैध भिक्षा सम्मिलित नहीं है; क्योंकि धर्मतः उसमें उनका स्वत्व निर्दिष्ट है—'भिक्षायां तेषां स्वस्वत्वोत्पादनात्' (मिताक्षरा, विज्ञानेश्वर, राघवभट्ट, तन्त्रसार इत्यादि)

मनःसंहरणं शौचं मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम्।
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसम्पत्तिहेतवः॥
(वही पृ० ४८)

'मनको एकाग्र किये रहना, बाहर-भीतरकी शुद्धि, मौनभाव, मन्त्रार्थ-चिन्तन, व्यग्रताका अभाव तथा खेद या उकताहट-का न होना—ये जपकी सफलताके साधक हैं। आधुनिक तामस विदेशी वस्त्र भी उपासनाके बाधक एवं अनुपयुक्त हैं। साथ ही—

उष्णीषी कञ्चुकी नग्नो मुक्तकेशो गलावृतः।
अपवित्रकरोऽशुद्धो विलपन् जपेत्क्वचित्॥
उपानद्गूढपादो वा यानशय्यागतस्तथा।

पगड़ी बाँधे, जामा पहने, नंग-धड़ंग, बाल या शिखा खोले, कंठको ढके तथा अपवित्र हाथसे, एवं रोते-बिलखते, बात करते हुए कभी जप न करे। जूता पहने, सवारीपर या खाटपर बैठकर भी जप नहीं करना चाहिये।

उपासनामें यदि स्तोत्रपाठ करना हो तो सुस्पष्ट उच्चारण करना चाहिये तथा यदि मन्त्र-जप किया जाय तो मानसिक ही करना चाहिये। इसके विपरीत किये गये वाचिक जप तथा मानसिक पाठ सफल नहीं, व्यर्थ हो जाते हैं।

मनसा यः स्मरेत् स्तोत्रं वचसा वा मनुं जपेत्।
उभयं निष्फलं देवि भिन्नभाण्डात् पयो यथा॥
(कुलार्णवतन्त्र १५।६१ तथा विष्णुधर्म० १।५५।९, वृद्धपारा० ४।५७, लघुहारीत ४।३२, अत्रि० २।१०, लिंगपुराण ८५।११७, शिवपुराण, वायवीयसंहिता उत्तरार्ध १४।१४—२७ इत्यादि)

इसी प्रकार बाँस, पत्थर, पृथ्वी, काष्ठ, तृणादिके आसनोंपर की गयी उपासना भी व्यर्थ कही गयी है—

वंशाश्मधरणीदारुतृणवल्लवनिर्मितम्।
वर्जयेदासनं धीमान् दारिद्र्यव्याधिनाशनम्॥
(कुलार्णव० १५।३३, हंसमाहे० १७)

उपासनामें शङ्का, अविश्वास भी बाधक हैं—
(गीता ४।४०)

कवनिउँ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।
बिनु हरिभजन न भवभय नासा॥
इत्यादि (राम०-मानस० ७।९०।८)

इसपर विशेष जानकारीके लिये मानसपीयूष (गीताप्रेस) पृष्ठ ४५४—५६ तक देखनेका कष्ट करें।

उपासनाकी गोपनीयता भी परमावश्यक

शास्त्रोंमें उपासना, मन्त्रादिकोंके बारेमें सर्वत्र बार-बार कहा गया है—'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः।' 'गोपनीयं प्रयत्नेन' इत्यादि। गोस्वामी तुलसीदासजी भी बार-बार लिखते हैं—

जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ। फलै तबहिं जब करिअ दुराऊ॥
···गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा।···
द्विज द्रोहिहि न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होय नृप जबहूँ॥

इससे स्पष्ट है कि उपासनाकी बातोंको प्रकाशित करना, जहाँ-तहाँ कह देना—उसके महत्त्वको कम करने तथा निष्फल करनेका ही उपक्रम है।

'पाएउँ नाम परम चिन्तामणि उर करते न खसैहौं।'
'सुनु सठ सदा रंकके धन ज्यों छिनु छिनु प्रभुहि सँभारिहि।'
(विनय० ८३।१)

—इत्यादिमें भी गोपनीयताका ही भाव है। साक्षात् स्वयं भगवान् ही कश्यप-पत्नी अदितिसे साधनकी गोपनीयता-के विषयमें कहते हैं कि किसीके लाख पूछनेपर भी तुम इसे न प्रकट करना—

नैतत् परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथंचन।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम्॥
(श्रीमद्भा० ८।१७।२०)
···सुगुप्तं सत् सिध्यति (श्रीधरस्वामी)

यह श्लोक जप-ध्यानादि साधनोंकी गुह्यतमताका ही निर्देशक है। गीतामें भी—

'इदं तु ते गुह्यतमं' (९।१), 'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ' (१५।२०) 'गुह्याद् गुह्यतरं मया' (१८।६३) 'परमं गुह्यं' (१८।६८; ११।१)

—इत्यादिसे उपासना तथा सभी साधनाओंको परम-गुह्य—गोपनीय ही बतलाया गया है।

भगवान् गणपति सुमतिनामक वैश्यसे कहते हैं कि मैं तुम्हारे योगक्षेम-वहनके लिये प्रतिदिन प्रबन्ध करूँगा, ५ मंडक[17] दूँगा। पर तुम इस रहस्यको कहीं भी प्रकाशित न करना-अन्यथा सब व्यर्थ होगा—कुछ न मिलेगा—मेरी बात झूठी दीखेगी'—

अहं तव प्रतिदिनं पञ्च पञ्च खण्डघृतायुतान् मण्डकान् दास्ये। परं कस्यापि इदं रहस्यं न कथनीयम्। कथिते तु

१७. गव्हाचे एक अत्यन्त मांडा नामक पातल पश्याचा रूपांचे पकान्न। (मराठी सरस्वती कोश खण्ड २ पृ० १४६०)

मद्वचो वितथं भविष्यति । (शुकरह० ६ । ५९ के बादका गद्य, पृ० १९, काशीका १९५९का संस्करण)। इसी तरह देवनिर्दिष्ट स्वप्नादि संकेतोंके भी गोपनकी विधि बतलायी गयी है। अतः उपासना गुप्त ही रखनी चाहिये।

उपासनामें दैन्य—एक रहस्य

उपासनामें 'अहंकार' भी निश्चय ही एक भीषण अन्तराय है। भगवान्‌की लीला तो भगवान् ही जानें। 'लाद दे, लदाय दे, लादनेवालेके साथ भी कर दे।'

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम्।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः॥
(भागवत ३ । ९ । ३८)

—इत्यादिसे सिद्ध है कि उपासनाके 'अथ'से 'इति' तकके निर्वाहमें भी एकमात्र भगवत्कृपा ही हेतु है। अतः उपासकमें दीनता वे स्वयं ही लाते हैं—अन्यथा 'गुमान गुविंदहिं भावत नाहीं।' दैन्यका निर्वाह प्रभुकी ही कृपाका परिणाम है। सदा सर्वत्र भगवद्दर्शन करने तथा अपनेको परम अयोग्य तथा सबका सेवक समझना—यह परमोच्च कोटिकी उपासना है। इससे प्रभु प्रसन्न होकर उसे तुरंत ही सदा, सर्वत्र, सबमें, सभी सुख-दुःखादि परिस्थितियोंमें भी अपना दर्शन कराने लगते हैं—'स्थिरबुद्धिरसंमूढः ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।' यह परमोच्च कोटिकी उपासनाके साथ सभी उपासनाओंका फल भी है। इस उपासनामें अगाध, असीम एवं अक्षय पुण्यकी धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। जहाँ-जहाँ दृष्टि तथा बुद्धि जाती है—सर्वत्र भगवच्चिन्तन, दर्शन तत्काल होता रहता है।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम्।
तत्र तत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम्॥
तत्र तत्र समाधयः। (पैङ्गलोपनिषद् ४ । २१-२२;
सरस्वतिरहस्योपनिषद् ३ । ३१; चाण० १३ । १३;
ललितोपाख्यान-ब्रह्माण्डपुराण ४३ । ५०; इत्यादि)

अतः इसे 'धर्ममेघ' भी कहा जाता है। इसमें प्रभुके साथ क्षणभर भी वियोग होनेकी कोई बात ही नहीं—'ता कहँ सुख सोइ जानै चिदानंद संदोह।' सदा सर्वोपरि धर्मधारामृतका निरन्तर अभिवर्षण एवं सर्वोपरि आनन्द-सीमा प्रभुका प्रतिक्षण संस्पर्श—'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।' (६ । २८) होता रहता है।

विज्ञानयुगमें उपासनाका अनन्य साधारण महत्त्व और उसकी नितान्त आवश्यकता

(लेखक—श्री श्रीरामभाधव चिंगले, एम्० ए०)

'चतुर्विधा तु या मुक्तिर्मदुपासनया भवेत्।'
(मुक्तिकोपनिषद् १ । २५)

'मेरी (भगवान्‌की) उपासनासे चारों प्रकारकी मुक्ति मिलती है।'

आजकलका अधिकांश तथाकथित सुशिक्षित समाज विज्ञानसे प्रभावित है। विज्ञानकी प्रगति निस्संदेह आज इतनी अधिक हुई है और इतनी द्रुतगतिसे होती जा रही है कि उसे देखकर हमारी आँखें चौंधियाँ न जायँ, तो ही आश्चर्यकी बात हो। ऐसी स्थितिमें आजकलका सुशिक्षित समाज विज्ञान तथा उसपर आधारित यान्त्रिक प्रगतिका अनन्य पुजारी बन रहा है। उसकी दृष्टिमें किसी भी तरहकी उपासना, अध्यात्मविचार, धर्म-कर्मादि सदृश बातें इस बीसवीं सदीके अवकाश युगमें (Space-age) वासी, पुरानी, मध्ययुगीन और अजायबघरमें स्थान पानेके लायक मालूम होती हैं।

किंतु कुछ अधिक गहराईमें घुसकर विचार करनेपर यह नितान्त भ्रान्त धारणा मालूम होती है। विज्ञानके युगधर्म होनेका और उसके अत्यधिक महत्त्वका हम निषेध नहीं करना चाहते। किंतु इसके साथ ही हमें विज्ञानकी मर्यादाओं-को भी न भूलना चाहिये। विज्ञानने जहाँ एक ओर मानवको प्रचुर रूपमें भौतिक सुख-समृद्धि प्रदान की है, वहाँ दूसरी ओर उसने अनेक जटिल समस्याएँ भी उपस्थित कर दी हैं। केवल इतना ही नहीं, विज्ञानद्वारा दिये हुए महाभयंकर अण्वस्त्रोंने तो आज मानवको सर्वसंहारके मुँहतक पहुँचा दिया है। यह ठीक है कि विज्ञानने मनुष्यको आकाशमें खेचर पक्षियोंसे और समुद्रमें जलचरोंसे कई-गुना अधिक वेगसे संचार करना सिखाया है; किंतु इसी विज्ञानने मानवको इस अवनीतलपर मानवकी तरह रहना नहीं सिखाया है। इस विज्ञानकृत यन्त्रयुगमें मनुष्यकी मनुष्यता ही लुप्त होती जा रही है और वह स्वयं यन्त्रवत् बनता जा रहा है। इसके विपरीत धर्मने मनुष्यको उसकी पाशविक प्रवृत्तियोंपर अंकुश

लगाकर मनुष्यकी तरह रहना सिखाया है और मनुष्य बनाकर नरसे नारायण बननेके पथपर प्रवृत्त किया है। धर्मके अभावमें मनुष्यके जीवनमें कामवाद, कामचार, कामभक्ष—इसी तरहकी बातें देखनेको मिलती हैं। इसका कारण स्पष्ट है। विज्ञानकी व्याप्ति केवल इन्द्रियगोचर विश्वतक ही सीमित है। वह केवल 'क्या है' इतना ही बतला सकता है। 'क्या होना चाहिये' और 'क्यों होना चाहिये'—इस प्रकारके प्रश्न विज्ञानके क्षेत्रसे बाहरके हैं। मानव-जीवनके मूल्योंका विचार न तो विज्ञानने कभी किया है और न कभी कर सकेगा। विज्ञान केवल बाह्य इन्द्रियगोचर विषयों तक, ज्ञेयवस्तु तक ही सीमित है। स्वय अपना या ज्ञाताका विचार उसकी कक्षासे बाहरकी बात है। विज्ञान पूरी तरहसे भौतिक जगत् और बाह्यविषयप्रवण है। वह पूर्णतया आत्मविस्मृत है। इसीलिये वह दुनियाके सबसे बड़े लाभसे वञ्चित रहता है। 'नात्मलाभादपरो लाभः।'—'आत्माका लाभ ही सबसे बढ़कर है।' इससे बढ़कर दूसरा' कोई लाभ नहीं। आत्माका अज्ञान ही मृत्यु है। आत्माका ज्ञान ही अमृतत्व या मोक्ष है। आत्मतत्त्वका ज्ञाता समस्त दुःखोंको पार कर जाता है—'तरति शोकमात्मवित्'। इस अर्थके अनेक शास्त्रवचन हैं।

अब प्रश्न यह है कि 'अनादिमूल अविद्यासे आवृत इस आत्माको किस प्रकार जाना जाय?' इसका उत्तर एक ही है कि किसी-न-किसी प्रकारकी उपासनाके द्वारा। यों तो उपासनाका किसी भी कालमें अनन्यसाधारण महत्त्व है; किंतु इस विज्ञानयुगमें तो इसकी नितान्त आवश्यकता है। आज विज्ञानकी प्रगतिने ही मानव-जीवनमें अनेक गुत्थियाँ, अनेक समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। आज मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन ही समस्यामय हो रहा है। खाने-पीने, रहने-सोने, उठने-बैठने-जैसी जीवनकी साधारण-सी बातोंको लेकर ही समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। इस परिस्थितिके अनेक कारण हैं। किंतु मुख्य कारण है—अध्यात्मकी विस्मृति और भौतिकवादका प्राधान्य। इस कारण मानव-जीवनके सारे मूल्य उलट-पुलट हो रहे हैं, हर बातको लेकर साध्य-साधनका विपर्यास हो रहा है। इसका कटु फल यह हो रहा है कि जीवन-संघर्ष अत्यन्त तीव्र हो गया है और प्रतिदिन अधिकाधिक तीव्र होता जा रहा है। अमेरिका-जैसे धनकुबेर, साधनसम्पन्न और विज्ञानकी उन्नति-परिसीमापर पहुँचे हुए देशकी जनता भी आज सच्चे अर्थमें सुखी हो, यह बात नहीं है। वहाँ मानसिक विकृति और आत्मघातकी प्रवृत्ति बढ़ती हुई दिखायी देती है। वहाँकी जनता भी सच्चे सुख और सच्ची शान्तिसे वञ्चित ही है!

इस रुग्ण तथा विकट परिस्थितिपर अनेक प्रकारके उपाय सुझाये जा रहे हैं। जागतिक स्तरपर अनेक नयी-नयी योजनाएँ बनायी जाकर उन्हें कार्यान्वित भी किया जा रहा है। इनका थोड़ा-बहुत इष्टफल भी दृग्गोचर हो रहा है। इस प्रकारके प्रयत्न निस्संदेह आवश्यक तथा उपादेय हैं; किंतु ये सब उपाय मानवको सच्चा सुख और चिरशान्ति नहीं दे सकते। ये सब उपाय उपरि-उपरि स्वरूपके हैं। रोगके मर्म-तक ये नहीं पहुँच सकते। इस रोगका सच्चा और मूलभूत उपाय अध्यात्मप्रवणता ही है। इसीका दूसरा पर्याय 'उपासना' है। भगवत्तत्त्वकी विस्मृति ही क्या व्यष्टिजीवनमें और क्या समष्टिजीवनमें अनेक विपत्तियोंको जन्म देती है। एकमात्र भगवत्प्रवणता ही सब अनर्थोंको जड़से उखाड़ फेंकनेमें समर्थ है। केवल इतना ही नहीं, वह सब तरहसे मङ्गलमय वातावरण भी निर्माण कर सकती है। इसीसे व्यष्टिजीवन, समष्टि-जीवन, सबका, सब तरहसे—ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक कल्याण हो सकता है। इसीलिये आज दिन उपासनाका और उसका सर्वाङ्गीणस्वरूप विशद करनेवाले 'कल्याण' के 'उपासना-अङ्क' का महत्त्व है।

उपासनाका व्यापकरूपसे अर्थ है—भगवत्तत्त्वके अनन्त रूपोंमेंसे (सगुण, साकार, निर्गुण, निराकार इत्यादिमेंसे) किसीको लेकर भगवत्तत्त्वकी ओर प्रवण होना। अधिकार-भेद और रुचिवैचित्र्यके कारण उपासकोंके भेद और विविधतासे उपासनाके भी अगणित स्वरूप हो सकते हैं। इनमेंसे किसी एक प्रकारमें अथवा कुछ विशिष्ट प्रकारोंमें ही आग्रह रखना भगवत्तत्त्वविषयक अज्ञान प्रकट करना है। तथापि स्थूलरूपसे हम कह सकते हैं कि कर्म, भक्ति, ज्ञान, योग—इनमें सब तरहकी उपासनाओंका अन्तर्भाव किया जा सकता है। सब तरहकी पूजा, भक्ति, प्रार्थना, आराधना, अर्चना, भगवत्सेवा, ध्यान, चिन्तन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, योगके विविध प्रकार, यथा राजयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग इत्यादिका अन्तर्भाव हम व्यापक अर्थमें उपासनामें कर सकते हैं। किसी भी उपासनामार्गका निष्ठापूर्वक, दीर्घकाल और निरन्तर अवलम्ब करनेपर वह साधकका क्रमशः आध्यात्मिक विकास कराते हुए अन्तिम ध्येयतक—अभेदरूपसे भगवत्प्राप्तितक पहुँचा देता है। इसलिये साधकोंको विशिष्ट प्रकारके उपासनामार्गमें श्रेय-

कनिष्ठ बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। 'भक्ति' इस अर्थमें व्यवहृत 'उपासना'—कर्म, ज्ञान, योग इत्यादि सबके लिये उपकारक है। भगवदर्पणबुद्धिसे और भगवत्सेवाकी भावनासे किया हुआ कर्म तत्काल और शीघ्र फलदायी होता है। भगवद्भक्तिके प्रभावसे भगवत्कृपा प्राप्त होकर अद्वैत ज्ञानकी प्राप्ति भी शीघ्र और अनायास हो जाती है। योगमार्गमें भी भगवत्कृपाके फलस्वरूप शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। सभी सिद्धियोंके स्वामी एकमात्र भगवान् ही हैं।

भगवत्तत्त्वकी सच्चे हृदयसे उपासना भगवत्प्राप्तिका श्रेष्ठ और सुलभ साधन तो है ही, साथ ही वह स्वयं साध्य भी है। इसी दृष्टिसे भक्तिको पञ्चम पुरुषार्थ कहा गया है। जिन्हें एक बार भगवदुपासना या भगवद्भक्तिका चस्का लग गया, वे तीनों लोकोंके वैभवको भी तुच्छ समझकर ठुकरा देते हैं; **'त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिः'** (श्रीमद्भागवत ११। २। ५३)। इहलौकिक और पारलौकिक वैभवकी तो बात दूर रही, ऐसे भक्ति-प्रेमरसास्वादी महाभागवत मुक्तिकी भी परवाह नहीं करते। महाराष्ट्र-संतशिरोमणि श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—'दासीसी अनुसरणे। हे तो लाजिरवाणे। मूर्ख मागती मुक्ति रे रे!!' अर्थात् मुक्ति भगवच्चरणोंकी दासी है। अतएव मुख्य स्वामीको छोड़कर दासीके पीछे लगना यह नितान्त लज्जास्पद बात और निरी मूर्खता है। इसी अर्थसे श्रीमद्भागवतकार कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(३। २८। १३)

'मेरे भक्त मेरी सेवाके अतिरिक्त सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य अथवा कैवल्य किसी भी प्रकारकी मुक्ति दी जानेपर भी ग्रहण नहीं करते।'

मुक्ति ऐसे महाभागोंके पीछे गोवत्स-न्यायसे फिरा करती है; किंतु साध्यस्वरूपा परम दुर्लभ, पञ्चम पुरुषार्थरूप अनन्य भक्तिका भी इन्हें लाभ होता है। इसका सच्चा मर्म तो अनुभवसे ही जाना जा सकता है।

किसी भी प्रकारकी उपासनाके द्वारा उक्त साध्यस्वरूपा भक्ति प्राप्त की जा सकती है। चाहिये सच्ची लगन, जैसे ही हम किसी भी प्रकारकी उपासनामें सच्चे हृदयसे, दृढ़ताके साथ स्थिर हो जाते हैं, वैसे ही उस उपासनाके माध्यमके द्वारा भगवत्तत्त्वके स्पर्शके फलस्वरूप हमारे जीवनमें आमूलाग्र परिवर्तन होने लगता है। हमारा अभीतकका अज्ञानान्धकारमय जीवन ज्योतिर्मय, आलोकमय होने लगता है। यथार्थ ज्ञानके प्रकाशमें हमारे सारे व्यवहार होने लगते हैं। हमारी अभीतककी अँधेरेकी टटोल बंद हो जाती है। हमारे नेत्रोंके अज्ञानपटल धीरे-धीरे दूर होकर ज्ञानचक्षु उन्मीलित होने लगते हैं। त्रिकालाबाधित सत्स्वरूप भगवत्तत्त्वके स्पर्शमात्रसे हमारा क्षणभङ्गुर मृत्युसे ग्रस्त अस्तित्व, कालत्रय-अवस्थायित्वमें रूपान्तरित होने लगता है। हमें जीते-जी अमरत्वका अनुभव आने लगता है। हमारा मृत्युका भय दूर हो जाता है। चिद्घन, चित्स्वरूप भगवत्तत्त्वके स्पर्शसे हमारा अल्पक्षणजीवी वृत्तिज्ञानके साथ सारूप्य दूर होकर हमें चिन्मय स्वरूपका अनुभव होने लगता है; विभिन्न आगमापायी अवस्थाओंमें हमें सदा अविलुप्त साक्षित्वका प्रत्यय आने लगता है। आनन्दघन, आनन्दमय परमात्माके स्पर्शमात्रसे हमारा दुःखबहुल जीवन उत्तरोत्तर वर्धमान स्वरूपानन्दमें आप्लावित होने लगता है। वहाँ न तो मोह है, न किसी प्रकारका शोक ही है—**'तत्र को मोहः कः शोकः'** (ईशावास्योपनिषद् ७)। सच्चे उपासकको संसारके साधारण दुःख तो दूर रहे, बड़े-से-बड़ा दुःख भी विचलित नहीं कर सकता—

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

उपासनाद्वारा सम्पादित भगवत्तत्त्वरूप पारसमणिके स्पर्शमात्रसे हमारा अभीतकका लौहमय जीवन स्वर्णमय होने लगता है और आगे चलकर तो स्वयं स्पर्शमणिकी क्षमता प्राप्त कर लेता है। शक्तिपति भगवान्के स्पर्शमात्रसे शनैः-शनैः हमारी सारी कमजोरियाँ दूर होकर हममें शक्तिका संचार होने लगता है। अनन्त कल्याण-गुणोंके निधान, निखिल मङ्गलमय गुणोंके निकाय सच्चिदानन्द प्रभुके स्पर्शसे हमारे अन्तःकरणमें अज्ञान-दशामें विद्यमान, अनेक हेय गुण (जिनका कि अपरपर्याय 'आसुरी सम्पत्ति' है) दूर होकर दैवी सम्पत्तिद्वारा निर्दिष्ट होनेवाले अनेक मङ्गल गुण इनका स्थान लेने लगते हैं। अधिक विस्तार न करते हुए संक्षेपमें कहें तो हमारा प्राकृत पार्थिव जीवन, इस भूलोकमें ही, इसी भौतिक शरीरमें रहते हुए ही दिव्य जीवनमें रूपान्तरित होने लगता है।

हमारे इस सब तरहसे इष्ट आन्तरिक परिवर्तनका प्रभाव हमारे बाह्य-जीवनपर भी पड़े बिना नहीं रहता। इस दृष्टिसे

भगवदुपासनाका हमारे सामाजिक जीवनकी दृष्टिसे भी बहुत महत्त्व है। सर्वत्र भगवद्भाव होनेपर उपासककी स्वार्थवृत्ति दूर होकर परमार्थवृत्ति उसका स्थान लेने लगती है। ऐसे महाभागका पहलेका तुच्छ, क्षुद्र, स्वार्थी 'स्व' विस्तार पाकर विश्वव्यापी हो जानेसे वह विश्वकल्याणमें ही अपना कल्याण समझने लगता है। ऐसे ज्ञानी महाभागवतोंके द्वारा ही विश्वका सच्चा शाश्वत कल्याण हो सकता है। इनकी छोटी-मोटी सभी बातोंमें, साधारण-सी हलचलमें भी विश्व-कल्याणकी ही भावना रहती है। गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानस 'स्वान्तःसुखाय' लिखा। लेकिन उनकी इस स्वान्तःसुखार्थ कृतिने आजतक कितने असंख्य जीवोंका पथप्रदर्शन करके उनका उद्धार किया है, आज भी कर रही है और आगे भी यावच्चन्द्रदिवाकरौ करती रहेगी। ऐसे लोकोपकारक संतोंका वर्णन भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यने निम्न श्लोकमें बहुत ही उत्तमताके साथ किया है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति संतो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥
(विवेकचूडामणि ३९)

'इस दुस्तर संसारसागरसे स्वयं पार होकर शान्त और महान् संतजन निःस्वार्थ बुद्धिसे दूसरे लोगोंको भी तारते हुए (इस अवनीतलपर) वसन्तके समान लोककल्याण करते हुए निवास करते हैं।'

ऐसे महाभागोंके कारण उनका कुल पवित्र हो जाता है, उनको जन्म देनेवाली माता कृतार्थ हो जाती है और पृथ्वी माता भी पुण्यवती हो जाती है। यह सब भगवदुपासनाके प्रभावसे होता है। कितनी अगाध महिमा है भगवद्भक्तिकी!

आओ! हम सब मिलकर मङ्गलमय भगवान्से प्रार्थना करें—

नाथ! सततं भक्तिर्ममास्तु त्वयि।

हे नाथ! मेरे मनमें निरन्तर आपकी भक्ति बनी रहे।

ईश्वरप्राप्तिके लिये वैदिक उपासना

(लेखक—स्व० महामहोपाध्याय पण्डित श्रीसकलनारायणजी शर्मा)

ईश्वरकी प्राप्ति महान् धर्म है; क्योंकि उससे अवश्य ही सुख-शान्तिका लाभ होता है और वह सर्वदा एकरस एवं नित्य होता है। धर्मकी तीन शाखाएँ हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। छान्दोग्योपनिषद्में कहा है—

'धर्मस्य त्रयः स्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनं दानम्।'

भक्ति और तपस्या यज्ञ हैं, दान कर्म है और अध्ययन ज्ञान है। ज्ञानके बिना कोई काम नहीं होता। जो ज्ञान भक्ति और कर्मका सहायक है, वह कारण है। जो इन दोनोंके बलसे उत्पन्न होता है, वह कार्य है। दोनों प्रकारके ज्ञान धर्म हैं। ज्ञानका पर्यायवाची शब्द 'वेद' है। वेदका मुख्य तत्त्व ॐ है। शास्त्रोंमें ज्ञानके अर्थमें 'विवेक' और 'विद्या' शब्दका भी व्यवहार हुआ है। ज्ञानसे मुक्ति निश्चितरूपसे सम्पन्न होती है।

उद्गीथ-विद्या

ज्ञान उपासनासे होता है। वह उपासना कैसे की जाय? 'ॐ' के द्वारा परमात्माका ध्यान करना—यह भी एक उपासना है। 'हे ॐस्वरूप परमात्मन्! मुझे स्मरण रक्खो, कहीं मुझे भूल न जाना'—'ॐ क्रतो स्मर।' प्रणव अर्थात् ॐ परमात्माका सर्वश्रेष्ठ नाम है; क्योंकि इसके द्वारा उन्नतभावपूर्वक परमात्माका गायन होता है। इसीसे प्रणवको 'उद्गीथ' कहते हैं। बहुत-सी उपनिषदों और योगदर्शनमें कहा गया है कि प्रणवका जप करनेसे आत्मज्ञानकी उपलब्धि एवं विघ्नोंका नाश हो जाता है। आचार्यलोग इसे अक्षर—अविनाशी मानते हैं। पृथ्वी सब प्राणियोंको धारण करती है। वही प्राणियोंका आश्रय है; उसका सार है जल। जलने ही ओषधियोंमें सार-तत्त्वका दान किया है। उसीसे पुरुष परिपुष्ट होते हैं। पुरुषमें सार वस्तु है—वाक् (बोली)। उसमें ऋक् और साम यथार्थ तत्त्व हैं। उनका सार 'ॐ' है। शक्ति अथवा अर्थकी दृष्टिसे इससे बढ़कर ईश्वरका दूसरा नाम नहीं है—'स रसानां रसतमः।' (छान्दोग्य०) इसके उच्चारणके समय वाक् और प्राणमें एकता सम्पन्न होती है, इससे जप करनेवालोंके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं—

'आपयिता ह वै कामानां भवति।' (छान्दोग्य०)

प्रणव शब्दका एक अर्थ 'स्वीकार' अर्थात् 'हाँ' भी होता है। जो इसे धारण करनेमें तत्पर है, उसके सब कार्य और इच्छाएँ स्वीकृत हो जाती हैं। अर्थात् उसे सर्वत्र 'हाँ', 'हाँ' ही दिखायी देता है।

संवर्ग-विद्या

'संवर्ग' शब्दका अर्थ है—ग्रहण कर लेना अथवा ग्रास कर लेना। अग्नि बुझनेपर कहाँ जाती है? सूर्य, चन्द्रमा अस्त होनेपर कहाँ रहते हैं? इसका उत्तर है कि ये तीनों वायुसे ग्रस्त हो जाते हैं। इनपर वायुका आवरण पड़ जाता है; क्योंकि इनकी उत्पत्ति वायुसे है और ये तीनों ही अग्नि-रूप हैं। प्रकाशमय होनेके कारण सूर्य और चन्द्रके अग्नित्वमें भी संदेह नहीं हो सकता। वेदने इनका आविर्भाव अग्निसे माना है। जल भी वायुमें लीन हो जाता है। सुषुप्तिके समय वाणी, आँखें, कान तथा मन प्राणमें व्याप्त रहते हैं। उस समय केवल श्वास—प्राणवायु चलता रहता है। दूसरी इन्द्रियोंकी क्रियाएँ भी लुप्त हो जाती हैं। यह प्राणमें इन्द्रियोंका संवर्ग हुआ। प्राण और वायुका संवर्ग कहाँ होता है? इनका संवर्ग परमात्मा है। यह ज्ञान जिसे होता है, वह परमात्माका भक्त बन जाता है।

एक समय शौनक और काक्षसेनि भोजन कर रहे थे। उसी समय एक ब्रह्मचारीने आकर उनसे भोजनकी भिक्षा माँगी। उन लोगोंके अस्वीकार करनेपर ब्रह्मचारीने कहा—'जो सबका पालन करनेवाला है, जिसमें सबका संवर्ग होता है, उसे तुमलोग नहीं देखते; इसीसे अन्न नहीं दे रहे हो।' इसपर दोनों महर्षियोंने उसे अन्न देकर कहा—'हम जानते हैं कि तुम्हारे वचनका तात्पर्य 'ब्रह्म' है। जो सबको खाता है, जिसे कोई नहीं खा सकता, जिसमें सब लीन हो जाते हैं और जो किसीमें लीन नहीं होता, वह महामहिमशाली मेधावी ब्रह्म है, जो सबको उत्पन्न करता है।'

'आत्मा देवानां जनिता प्रजानाᳫहिरण्यदᳫष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानः…'

(छान्दोग्य० ४। ३। ७)

मधु-विद्या

ब्रह्माण्डमें कौन ऐसा मनुष्य है, जो माधुर्य नहीं पसंद करता। मधुविद्यामें जो 'मधु' शब्द है, वह मीठे पदार्थका बोधक है। मनुष्यजातिका स्वाभाविक खाद्य मीठा दूध है। परमात्मा उससे भी माधुर्यशाली हैं। उस माधुर्यकी प्राप्ति सूर्यके द्वारा हो सकती है; क्योंकि सूर्य खट्टे फलोंको पकाकर मीठा बना देता है। इसीसे उपनिषद् कहती है कि सूर्य देवताओंके मधु हैं। मधुका छाता किसी लकड़ी आदिमें लगता है। सबसे ऊपरका द्युलोक इसके लिये आश्रय है, अन्तरिक्ष छाता है और सूर्यरश्मियाँ भ्रमरोंकी पंक्तियाँ हैं। चारों वेदोंके अनुसार किये हुए कर्म पुष्प-पराग हैं। उनसे अमृतस्वरूप मोक्ष, जो कि मधु है, उत्पन्न होता है। कर्म-प्रवर्तक सूर्य ही मुख्यरूपसे मधु है। यदि उसकी उपासना करें तो परम मधु ब्रह्मकी प्राप्ति सहज हो जाती है।

असौ वा आदित्यो देवमधु……

वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि।

(छान्दोग्य ३। १। १, ३। ५। ४)

पञ्चाग्नि-विद्या

जो लोग उत्तरायण सूर्यमें शरीर त्याग करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं। उन्हें फिर लौटना नहीं पड़ता। जो दक्षिणायनमें प्राण त्याग करते हैं, वे संसारमें फिर जन्म ग्रहण करते हैं। उत्तरायणका अर्थ 'ज्ञानमार्ग' है और दक्षिणायनका 'कर्ममार्ग'। ज्ञानमार्गके पथिकको पञ्चाग्निविद्याका पूर्ण परिचय होना चाहिये। श्वेतकेतु पाञ्चालोंकी राजसभामें गया। वहाँ उससे पाँच प्रश्न पूछे गये। परंतु श्वेतकेतु किसीका उत्तर न दे सका। उसने वहाँसे लौटकर अपने पिता गौतम आरुणिसे कहा—'पिताजी! आपने मुझे सब विद्याएँ नहीं सिखायीं। मैं पाञ्चाल-नरपति प्रवाहणके प्रश्नोंका उत्तर नहीं दे सका। आप मुझे उन विद्याओंका उपदेश कीजिये।' इसपर आरुणिने उन विद्याओंके सम्बन्धमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। श्वेतकेतुने पुनः राजा प्रवाहणके पास जाकर उन विद्याओंका उपदेश प्राप्त किया। राजाने पञ्चाग्नि-विद्याका उपदेश किया—

'यह लोक अग्नि है। इसको प्रज्वलित करनेके लिये सूर्य लकड़ी है। उसकी किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गार हैं तथा अवान्तर दिशाएँ स्फुलिङ्ग हैं। इस अग्निमें देवता लोग श्रद्धारूपी हविका हवन करते हैं। इस हवनसे सोमकी उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है कि यहाँ श्रद्धा जलस्वरूप है। अतएव देवता जलसमूह मेघरूप अग्निमें सोम चन्द्रमाको, लोकरूप अग्निमें वृष्टिको और वृष्टिसे उत्पन्न अन्नको पुरुषरूप अग्निमें जलाते हैं। उससे वीर्य उत्पन्न

होता है। उसका हवन स्त्रीरूप अग्निमें होता है। मनुष्योंकी उत्पत्तिमें लोक, मेघ, पुरुष और स्त्री कारण हैं। पुरुष और स्त्रीको चिताकी आग भस्म करती है। यही पाँच अग्नियाँ हैं। इन पाँचोंमें परमात्मा व्याप्त हैं। इनके द्वारा जो परमात्माको जानता है, वह नित्यमुक्त हो जाता है। वेदान्तमें इस पञ्चाग्निविद्याका बड़ा विस्तार है; संक्षेपमें यहाँ उसका उल्लेख किया गया है। इसका ज्ञाता पुनरावृत्तिहीन मुक्तिको प्राप्त होता है—

'पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥'

(बृहदारण्यक० ६। २। १५)

उपकोसलकी आत्मविद्या

उपकोसल जाबालि सत्यकामके पास बहुत दिनोंतक शिष्यभावसे रहा; परंतु महर्षिने उसे ब्रह्मतत्त्वका उपदेश नहीं किया। उनके बाहर चले जानेपर मानसिक व्याधिसे पीड़ित होकर उपकोसलने भोजन और भाषणका परित्याग कर दिया। इसपर सत्यकामकी अग्नियोंने करुणापरवश होकर उपदेश किया कि 'प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म।' इसपर यह संदेह होता है कि प्राणवायु जो कि अचेतन है, क अर्थात् सुख जो कि परिमित है और ख अर्थात् आकाश जो कि शून्य है—ये भला ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? उस वचनका यह अभिप्राय नहीं है। जिस परमात्माके बलसे प्राण अपना कर्म करते हैं, वही प्राण है। वह आकाशके समान व्यापक और आनन्दस्वरूप है। इस विद्यामें लौकिक प्राण, सुख और आकाशका वर्णन नहीं है। इसके पश्चात् अग्नियोंने पृथक्-पृथक् उपदेश किया और जाबालि सत्यकामने लौटकर और भी उपदेश किया। इन्हीं सब विद्याओंका नाम 'उपकोसल-विद्या' है। जो ईश्वरको विद्योक्तरूपमें समझता है, वह उसकी उपासना करता है। यह उपासना मननसे दृढ़ होती है—'प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म।' (छान्दोग्य०)

शाण्डिल्य-विद्या

शाण्डिल्य महर्षि भक्तिशास्त्रके आचार्य थे। उनका बनाया हुआ 'शाण्डिल्यसूत्र' संस्कृत-साहित्यका आदरणीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें भक्तिका वर्णन करते हुए कहा गया है कि परमात्माका मुख्य गुण करुणा है—'मुख्यं हि तस्य कारुण्यम्।' (शाण्डिल्यसूत्र) महर्षिका कथन है कि सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म है, उपासनामें यह भावना रखनी चाहिये। इसका कारण यह है कि परमात्मा 'तज्जलान्' है। अर्थात् यह संसार उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता और उसीसे प्रतिपालित होता है। पुरुष अध्यवसायमय अर्थात् भावनामय है। उसकी जैसी भावना होगी, वैसी ही उसे गति मिलेगी। परमात्मा इच्छामय, प्रज्ञाचैतन्यस्वरूप, सत्यसंकल्प, सर्वगत, सर्वकर्ता तथा रस-गन्धोंका आदिस्थान है। जितनी अच्छी अभिलाषाएँ हैं, सब उसीकी प्रेरणासे होती हैं। इन्द्रियोंके बिना जो सब कुछ करता है, जो सबसे महान् तथा सबसे सूक्ष्म है, वह दयालु हमलोगोंके हृदयमें ही विराजमान है। यदि हमलोग उसका आश्रय लें तो उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हैं, इसमें संदेह नहीं।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत'''
'एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति।'

(छान्दोग्य० ३। १४। १,४)

दहर-विद्या

जैसे इस लोकमें पुरुषकारसे पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही पुण्यबलसे उत्पन्न उत्तमोत्तम पारलौकिक सुख भी नष्ट हो जाता है। जिसे परमात्माका ज्ञान हो गया है, उसके सुख नित्य होते हैं। वे कभी नष्ट नहीं होते। परमात्माका ज्ञान उपासनाके बिना नहीं होता। उपासनाका अर्थ है,—समीप रहना। जिसका कोई पता-ठिकाना ही नहीं, उसके समीप कोई कैसे रहे? श्रुति कहती है कि 'मनुष्यका शरीर ही ब्रह्मपुर है। उसका दहर—हृदय-कमल भगवान्का निवासस्थान है। उसीमें परमात्माको खोजो। वहीं उसका साक्षात्कार करो। यह मत सोचो कि सबसे बड़े भगवान् इतने छोटे-से स्थानमें कैसे रहेंगे। जितना बड़ा यह बाहरका आकाश है, उतना ही बड़ा—बल्कि उससे भी बड़ा हृदयाकाश है। उसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु आदि सभी हैं। उसमें रहनेवाले परमेश्वर शरीरके धर्मोंका स्पर्श नहीं करते। जरा-मृत्यु, क्षुधा-पिपासा उनका स्पर्श नहीं कर सकतीं। बाहरकी अभिलाषाएँ वहाँ पूर्ण रहती हैं। कोई दुःख-शोक वहाँ नहीं सताता।

'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्।'

(छान्दोग्य० ८। १। १)

भूम-विद्या

जगत्के प्राणी जो कुछ करते हैं, उसका उद्देश्य सुख है। सुखकी जानकारीके बिना सुख नहीं हो सकता। यह सभी जानते हैं कि क्षणस्थायी अल्प वस्तुमें सुख नहीं होता। जितने पदार्थ नाशवान् हैं, अल्प हैं, वे किसी-न-किसी रूपमें दुःखमय हैं। सबसे महान्—सबसे बड़ी वस्तु ईश्वर है, वही सुख है। उसका स्वरूप आनन्दमय है—'आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्।' यहाँ एक बात विचार करनेयोग्य है कि हम जगत्में बहुत कुछ खाते-पीते, देखते-सुनते हैं; परंतु तृप्ति नहीं होती। इसका कारण क्या है ? जगत्की वस्तुएँ परिमित हैं, अल्प हैं। परमात्मा सबसे बड़े—असीम हैं। उनके मिल जानेपर दूसरे किसी पदार्थकी इच्छा नहीं होती और पूर्णता आ जाती है; क्योंकि सब वस्तुओंकी स्थिति परमात्माके सहारेसे ही है। सब वस्तुएँ विनाशशील हैं और परमात्मा अमृतस्वरूप भूमा (अनन्त) है।

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः।' (छान्दोग्य० ७। २३। १)

दीर्घायुष्य-विद्या

जो मनुष्य चौबीस, चौवालीस अथवा अड़तालीस वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करके यज्ञादि करते हैं, वे नीरोग रहते हुए सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी उपासक हैं, उनकी मृत्यु उनकी इच्छाके अधीन होती है। महिदास नामके एक उपासक ज्ञानी हो गये हैं, वे सोलह सौ वर्षतक जीवित रहे।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः…… स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्। (छान्दोग्य० ३। १६। ७)

जो बहुत दिनोंतक जीवित रहना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञानरूप उपासना करनी चाहिये।

मन्थ-विद्या

सिद्ध अथवा शरण—प्रपन्न हो जानेपर धनकी आवश्यकता नहीं होती। परंतु साधनावस्थामें उसकी आवश्यकता होती है। तदर्थ मन्थाख्य कर्म किया जाता है। इससे धनप्राप्ति होती है। उस कर्ममें ईश्वरसे प्रार्थना की जाती है—'हे अग्निस्वरूप देव भगवन्! सब देवता विपरीत होकर मेरे अभिजयों (सफलताओं) को नष्ट कर देते हैं। मैं उनकी तृप्तिके लिये आहुति देता हूँ।' किसी अच्छे मुहूर्तमें दुग्धपायी रहकर कुशकण्डिका करे और ओषधियों तथा फलोंसे हवन करे। बृहदारण्यकोपनिषद्के 'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा' इत्यादि मन्त्रोंसे आहुति देनी चाहिये।

जिसको मोक्षप्राप्तिकी इच्छा है, उसको किसी कामनासे ईश्वरकी उपासना नहीं करनी चाहिये। सकाम उपासना तो मोक्षमें विघ्नकारक है। भगवान् निष्काम कर्मसे प्रसन्न होते हैं। जबतक हृदयमें कामनाएँ भरी हुई हैं, तबतक परमात्माके लिये स्थान कहाँ है ? कामनादूषित हृदयके सिंहासनपर परम पवित्र परमात्मा कैसे विराजमान होंगे ? इसीसे बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है—

'योऽकामो निष्काम आप्तकामः।' (४। ४। ६)

'जो अकाम है, निष्काम है, आप्तकाम है, वही भगवत्प्राप्तिका अधिकारी है।'

भजन-रहित जीवन प्रेतका जीवन है

भजन बिनु जीवत जैसैं प्रेत।
मलिन मंदमति डोलत घर-घर, उदर भरन के हेत॥
मुख कटु बचन, नित्त पर-निंदा, संगति-सुजस न लेत।
कबहूँ पाप करैं पावत धन, गाड़ि धूरि तिहि देत॥
गुरु-ब्राह्मन अरु संत-सुजन के, जात न कबहुँ निकेत।
सेवा नहिं भगवंत-चरन की, भवन नील कौ खेत॥
कथा नहीं, गुन-गीत सुजस हरि, सब काहू दुख देत।
ताकी कहा कहौं सुनि सूरज, बूड़त कुटुँब समेत॥

—सूरदासजी

वैदिक उपासना या विद्या

(लेखक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम', साहित्याचार्य)

वेद ज्ञानस्वरूप परमात्माकी निःश्वास वाणी है, अतः उसका एक-एक अक्षर ज्ञान-विज्ञानसे ओतप्रोत है। भगवान् श्रीकृष्णने सखा अर्जुनको विश्वरूप सगुण साकार पुरुषोत्तम-तत्त्वके सम्यग्-दर्शन या सम्यग्-ज्ञानके लिये दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। भगवान्‌की दिव्य वाणीरूप वेद भी हमें वही दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं। उनमें कही गयी विद्याएँ वेदन या दर्शन ही तो हैं। उस दर्शन या दृष्टिसे जब हम जगत्‌को देखते हैं तो जो पहले पाञ्चभौतिक विकारका पुञ्ज दिखायी देता था, वही सच्चिदानन्दघन परमात्मरूपसे दृष्टिगोचर होने लगता है।

'ब्रह्मैवेदं सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन।'

'वासुदेवः सर्वम्' इत्यादि अनुभूतियाँ उस दिव्य दृष्टिकी ही देन हैं। ईशावास्य-उपनिषद्‌ने हमें सर्वत्र ईश्वरको व्याप्त देखनेकी दृष्टि दी है—'ईशावास्यमिदं सर्वम्।' यह दृष्टि मिलनेपर ही त्यागपूर्वक भोग सम्भव होगा। दूसरोंके धनके प्रति लोभकी वृत्ति दूर होगी। यह दृष्टि कोई कल्पना नहीं, परम सत्य है। परंतु इस सत्यका मुख हिरण्मय पात्रसे—सांसारिक वैभव-भोगके सुनहरे सपनेसे ढका हुआ है—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।' (ईश० १५)

इस ढक्कन या आवरणको हटानेके लिये उन्हीं पूषा—पोषक परमात्मासे प्रार्थना करनी होगी कि वे उस आवरणको हटा दें, जिससे हमें सत्यधर्मका दर्शन हो सके—परमात्माके वास्तविक स्वरूपका बोध सुलभ हो सके।

वैदिक विद्याएँ हमें वेदन या दृष्टि देती हैं; अतः उन्हें विद्या या दर्शन कह सकते हैं। उस विद्याको जीवनमें उतारनेका, उस दृष्टिके अनुसार देखनेका जो निरन्तर प्रयास या अभ्यास है, इसीका नाम 'उपासना' है। इसीसे हम लक्ष्यके समीप पहुँच सकते हैं और तब इसका उपासना नाम सार्थक होगा। इसी उद्देश्यसे हम यहाँ क्रमशः दो विद्याओंपर विचार करते हैं—एक है—'संवर्ग-विद्या' और दूसरी 'उपकोसल-विद्या।'

(१) संवर्ग-विद्या

संवर्गका अर्थ है संवर्जन। संग्रहण अथवा सम्यग् ग्रसन ही संवर्जन है। जो वस्तु दूसरेको ग्रस लेती या आत्मसात् कर लेती है, वह 'संवर्ग' कहलाती है। उसमें जो संवर्ग नामक गुण है, उसीके ध्यान या चिन्तनका विधान है। संवर्ग-विद्याके उपदेशको सरलतापूर्वक हृदयङ्गम करानेके लिये छान्दोग्य श्रुतिमें एक आख्यायिका दी गयी है।

आख्यायिका प्रारम्भ करनेके पूर्व संवर्ग-विद्याके पूर्वापर-सम्बन्धका भी परिचय करा देना आवश्यक जान पड़ता है। इस प्रसंगसे पहले आदित्यमें ब्रह्मदृष्टि रखकर उपासना करनेका विधान किया है—'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः।' इत्यादि

इन्हीं आदित्यके दो सूत्रात्मा तत्त्व कहे गये हैं—आधिदैविक जगत्‌में वायु और आध्यात्मिक लोकमें प्राण। अतः आदित्यकी उपासनाके अनन्तर उनके सूत्रात्मा वायु तथा प्राणकी उपासना भी क्रमप्राप्त है। अतः उसका विधान किया जाता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि वायु और प्राणको ब्रह्मका पाद बताकर या उनमें ब्रह्मके एक पादकी दृष्टिका विधान करके उनकी उपासना तो पूर्वाध्यायमें कह ही दी गयी है, अब यहाँ उसकी क्या आवश्यकता है? इसके उत्तरमें भगवान् शंकराचार्यका कथन है कि पूर्व अध्यायमें इन दोनोंमें ब्रह्मके एक पादकी दृष्टिका अभ्यास बताया गया है और अब पादकल्पनाके बिना साक्षाद् ब्रह्मभावसे इनकी उपासना बतानी है, इसलिये संवर्ग-विद्याके प्रकरणका आरम्भ किया गया है।*

प्राचीन कालमें राजा जनश्रुतके प्रपौत्र जानश्रुति पौत्रायण बड़े प्रतापी नरेश थे। वे 'श्रद्धया देयम्' इस श्रुतिके अनुसार श्रद्धापूर्वक दान करते थे। अन्य लोगोंका श्रद्धा-पुरःसर दान स्वल्प मात्रामें हुआ करता है, किंतु

* वायुप्राणयोर्ब्रह्मणः पाददृष्ट्यध्यासः पुरस्ताद् वर्णितः। अथेदानीं तयोः साक्षाद् ब्रह्मत्वेनोपास्यत्वायोत्तरमारभ्यते।
(छा० उ० ४। १ शांकरभाष्य)

जानश्रुति बहुदायी थे। उनका दान बहुत बढ़ा हुआ था। उन्होंने सभी दिशाओंके ग्रामोंमें अतिथिशालाएँ बनवा दी थीं। उनमें ठहरनेवाले सभी लोग राजाकी ओरसे ही भोजन पाते थे। वे अपने घरमें बहुत अधिक भोजन बनवाते थे। उनके यहाँ जितने भी भोजनार्थी आ जायँ, सबको मुक्तहस्त होकर भोजन परोसा जाता था। वहाँ किसीके लिये मनाही नहीं थी। उनके दान-जनित यश और प्रताप सर्वत्र और सर्वदा समानरूपसे फैल रहे थे। देवता और महर्षि भी उनके दान-धर्मसे बहुत संतुष्ट थे और उनपर अनुग्रह करना चाहते थे।

एक दिन रातमें, जब राजा महलकी छतपर विश्राम कर रहे थे, कुछ हंस उड़ते हुए उधर आ निकले। उन हंसोंके रूपमें राजापर कृपा करनेके लिये आये हुए कतिपय देवता और महर्षि ही थे। हंस इतने निकटसे उड़े कि राजाकी दृष्टि उनपर पूर्णतः पड़ रही थी। उनमेंसे एक हंस कुछ आगे बढ़ गया था। पीछेवाले हंसोंने उसे पुकारकर कहा—'अरे ओ भल्लाक्ष! सावधान! ठहर जा, आगे न बढ़। राजा जानश्रुतिका तेज दिनके ही समान रातमें भी तपता है; कहीं वह तुझे भस्म न कर डाले।'

भल्लाक्षने उत्तर दिया—अरे! यह बेचारा राजा तो अत्यन्त तुच्छ है; इसके किस गुणपर रीझकर तुमलोग इतनी प्रशंसा करते हो? क्या तुम इसे गाड़ीवाले रैक्वके समान बता रहे हो? असम्भव! भला यह कैसे उन महात्माके समान हो सकता है?

हंसोंने पूछा—कैसे हैं वे गाड़ीवाले महात्मा रैक्व जिनकी तुम इतनी गुणावली गाते हो?

भल्लाक्ष बोला—रैक्वकी वह शक्ति है कि प्रजा जो कुछ भी सत्कर्म करती है, वह सब रैक्वके धर्ममें अन्तर्भूत हो जाता है। ठीक वैसे ही, जैसे कृत (सत्ययुग) नामवाले पासेकी जीत होनेपर उससे निम्न श्रेणीवाले त्रेता, द्वापर और कलि नामक सभी पासे उसीमें समाविष्ट हो जाते हैं।

हंस—ऐसी कौन-सी विद्या रैक्व जानता है?

भल्लाक्ष—वह ऐसी विद्या जानता है, जिसको जान लेनेपर प्रत्येक व्यक्ति उसीके समान शक्तिशाली हो जाता है।

इतनी-सी बात करके हंस उड़ गये। राजा जानश्रुतिने उनकी सारी बातें सुनीं। वे श्रद्धालु और त्यागी थे तथा सद्विद्या-ग्रहणके लिये सदा उत्सुक रहते थे। उन्होंने सेवक भेजकर रैक्वका पता लगवाया और बहुत-सी गौएँ, सुवर्णमुद्राएँ, खच्चरियोंसे जुता रथ, अपनी कन्या तथा वह गाँव, जहाँ रैक्व रहते थे, उन महात्माको भेंटमें अर्पित किये तथा उनसे विद्या देनेके लिये प्रार्थना की।

रैक्वने एक बार तो नाहीं कर दिया था, परंतु राजाकी ज्ञान-पिपासाका अनुभव करके राजकुमारीको पत्नीरूपमें ग्रहण किया और अपना उपदेश देकर उन्हें कृतार्थ किया।* आज भी महावृष देशमें वे ग्राम, जहाँ रैक्व निवास करते थे, रैक्वपर्ण नामसे विख्यात हैं।

रैक्वने संवर्ग-दृष्टिसे आधिदैविक वायु और अध्यात्म प्राणकी उपासनाका उपदेश देते हुए कहा—'वायु ही संवर्ग है। जब आग बुझती है, तब वायुमें ही लीन होती है। जब सूर्य अस्त होता है तो वायुमें ही लीन होता है तथा जब चन्द्रमा अस्त होता है, तो वायुमें ही लयको प्राप्त होता है। जिस समय जल सूखता है, वह वायुमें ही लीन हो जाता है। वायु देवता ही इन सब जलोंको अपनेमें लीन कर लेता है—यह अधिदैवत संवर्ग दृष्टि है।' (छा० उ० ४।३।१-२)†

---

* विद्या-दानके छः तीर्थ (द्वार) हैं—गुरुकी सेवामें रहकर ब्रह्मचर्य-पालन, धनदान, मेधा (धारणशक्ति), श्रोत्रियत्व, प्रेमपात्रता और विद्याके बदले विद्यादान। जैसा कि कहा गया है—

ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियः।
विद्यया वा विद्यां प्राह तानि तीर्थानि षण्मम॥

राजाने इनमेंसे अपने लिये 'धनदान' रूप तीर्थको ही चुना और धन देकर विद्याग्रहणके लिये तीव्र इच्छा व्यक्त की। रैक्वने भी प्राचीन नीतिका अनुसरण करके ही उसे ग्रहण किया था। स्मृति कहती है—'जहाँ धर्म, अर्थ अथवा विद्याके अनुरूप शुश्रूषा न प्राप्त हो, वहाँ विद्या नहीं देनी चाहिये; क्योंकि वह ऊसर भूमिमें बोये हुए उत्तम बीजकी भाँति व्यर्थ होती है'—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥

† वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति। यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति। यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति। यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति। वायुर्ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते—इत्यधिदैवतम्।

'अब अध्यात्म संवर्ग-दर्शन कहा जाता है—प्राण ही संवर्ग है। जब यह पुरुष सोता है; प्राणको ही वाक्-इन्द्रिय प्राप्त होती है। प्राणको ही नेत्र, प्राणको ही श्रोत्र और प्राणको ही मन प्राप्त हो जाता है। प्राण ही इन सबको अपनेमें लीन कर लेता है। ये दो ही संवर्ग हैं—देवताओंमें वायु और इन्द्रियोंमें प्राण।' (छा० उ० ४। ३। ३–४)*

श्रुतिने बाह्य वायुको अधिदैवत संवर्ग और प्राणवायुको अध्यात्म संवर्ग बताया है। पहले कहा गया है कि जो सबको अपने आपमें लीन कर ले, वह संवर्ग है। ऐसा संवर्ग केवल ब्रह्म है; क्योंकि उसीमें सबका लय होता है। वह ब्रह्म सर्वात्मक है। अतः यद्यपि सब कुछ वही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है—'ब्रह्मैवेदं सर्वं नेह नानास्ति किञ्चन।' तथापि जिस महाभूतमें संवर्ग गुण अधिक अभिव्यक्त है तथा जिस प्राणमें उस गुणकी अधिक अभिव्यक्ति है, उसमें संवर्ग दृष्टिके द्वारा ब्रह्मभावका अभ्यास करनेसे जब वह भाव स्थिर हो जाता है, तब उपास्यका संवर्गनामात्मक गुण उपासकमें भी उतर आता है। अतः वह उपासक बाह्यवायु तथा प्राणवायुकी अखिल शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। इस तरह वह स्वयं भोक्ता होता है और सब कुछ उसका भोग्य हो जाता है। यह ब्रह्मात्मभाव जिसमें भी दृढ़ हो जाय, वही जैसे दिव्य गुणसे सम्पन्न हो सकता है। इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि आग बुझ जानेपर भले ही बाह्य वायुमें विलीन हो जाती हो, सूर्य और चन्द्रमा तो अस्त होनेके बाद दृष्टिसे ओझल मात्र होते हैं, उनका लय तो नहीं होता है; फिर श्रुतिके उक्त कथनकी यथार्थता कैसे समझी जाय? इसका उत्तर यों समझना चाहिये। अस्त होनेपर जो सूर्य और चन्द्रमाका अदर्शन होता है, उसमें बाह्यवायु ही निमित्त है। वायु-तत्त्व ही सूर्यको अस्ताचल-तक पहुँचाता है; क्योंकि चलन वायुका ही कार्य है। अथवा प्रलयकालमें सूर्य और चन्द्रमाके स्वरूपका ध्वंस होनेपर तेजका अपने कारणभूत वायुतत्त्वमें ही लय होना सम्भव है; अतः श्रुतिके उक्त कथनमें कोई असंगति नहीं है।†

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल और वायु—ये पाँच अधिदैवत हैं तथा वाक्, नेत्र, श्रोत्र, मन और प्राण—ये पाँच अध्यात्म हैं। इनकी कुल संख्या दस है। विराट् छन्दके अक्षरोंकी भी संख्या दस है। श्रुतिने विराट्को अन्न कहा है। इस प्रकार ये दस अन्न हैं। इनमें बाह्यवायु और प्राणवायु अत्ता (भोक्ता) हैं और शेष—इनके अन्न हैं। इस तरह जो विद्वान् भोक्ता-भोग्य रूपसे इन सबको जानता है, उसे दसों दिशाओंमें जो कुछ है, वह सब दृष्ट उपलब्ध हो जाता है। उक्त दसों देवताओंको छोड़कर जगत् नामकी कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती है। सारा जगत् उक्त दस देवतामय ही है। अतः अन्न और अन्नादरूपसे इन सबको जाननेवाला विद्वान् सब कुछ जान लेता है। जगत्में उसके जानने योग्य कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती है। वह स्वयं प्राणरूप होकर सबका भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार श्रुतिने संवर्ग-विद्याकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। संवर्ग-विद्याका विद्वान् सर्वज्ञ ब्रह्मरूप हो जाता है।

शौनक और काक्षसेनिने एक ब्रह्मचारीके समक्ष यह स्वीकार किया था कि संवर्ग-विद्याका तात्पर्य सर्वज्ञ ब्रह्ममें है। वह ब्रह्म—

'आत्मा देवानां जनिता प्रजाना ँ हिरण्यदँष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति।'

(छा० उ० ४। ३। ७)

'यह सम्पूर्ण देवताओंका आत्मा, समस्त प्रजाजनोंका उत्पादक, हिरण्मय (सूर्यरूप) दंष्ट्रावाला, सबका भक्षक और विद्वान् (सर्वज्ञ) है। ज्ञानीजन इसकी बड़ी महिमा बताते हैं। इसे कोई नहीं खा सकता, परंतु यह अन्न और अनन्न—सबको खाता है।'

(२) उपकोसल-विद्या

महर्षि सत्यकाम जाबालके गुरुकुलमें एक ब्रह्मचारी रहता था, जिसका नाम था—उपकोसल। कमलकुमार उपकोसलने गुरुकी आज्ञाके अनुसार नियमपूर्वक रहकर बारह वर्षोंतक अग्नियोंकी परिचर्या की। आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंको तो उपदेश दे, विद्याग्रहण कराकर, उनका समावर्तन-संस्कार करके घर भेज दिया; केवल उपकोसल ही ऐसा विद्यार्थी था, जिसका आचार्य समावर्तन नहीं करते थे। एक दिन आचार्य-पत्नीने पतिसे कहा—'यह ब्रह्मचारी भलीभाँति तपस्या कर चुका। इसने अच्छी तरह अग्नियों-

* अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति। प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्त इति। तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु।

† देखिये छा० उ० ४। ४। १ का शांकरभाष्य।

की सेवा की है। ये अग्निगण आपकी निन्दा न करें—इसके लिये यह आवश्यक है कि आप इस ब्रह्मचारीको उपदेश देकर विदा कीजिये।'

आचार्यने पत्नीकी बात अनसुनी कर दी। वे उपकोसलको उपदेश दिये बिना ही कहीं बाहर चले गये। इससे उसको खेद हुआ और उसने अनशन करनेका निश्चय किया। आचार्य-पत्नीने भोजनके लिये आग्रह किया, किंतु उसने मानसिक अस्वस्थता बताकर भोजनसे अनिच्छा प्रकट की। तब उसके द्वारा उपासित त्रिविध अग्नि प्रत्यक्ष प्रकट हुए और उपदेश देते हुए बोले—'प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म।' अर्थात् 'प्राण ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है।'

ब्रह्मचारी बोला—अग्निदेव! प्राण ब्रह्म है, यह तो मुझे भी ज्ञात है, किंतु 'क' और 'ख' क्या हैं, यह मैं नहीं जानता।

वे कहने लगे—जो 'क' है वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' है।

उपकोसल शब्दशास्त्रमें निष्णात था; जैसे उसने 'प्राणो ब्रह्म'का अर्थ समझ लिया था, उसी तरह 'कं ब्रह्म' और 'खं ब्रह्म'का भी साधारण अर्थ समझ लिया था, किंतु इससे उसको संतोष नहीं था। 'क' का अर्थ है—सुख और 'ख'का अर्थ है—आकाश। ब्रह्मचारीने सोचा लौकिक सुख तो क्षणभङ्गुर है, अतः वह 'ब्रह्म' नहीं हो सकता तथा आकाश भी जड होनेके कारण 'ब्रह्म' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ब्रह्म नित्य चेतन है। अग्निदेव उपदेश कर रहे हैं, इसलिये यह उपदेश असत्य नहीं हो सकता; अतः उसने 'क' 'ख' के विषयमें अपनी अनभिज्ञता प्रकट की थी।

अग्निदेवने उसकी इस शङ्काका निवारण करनेके लिये ही 'क' और 'ख' को एक दूसरेका विशेषण और विशेष्य बना दिया। जैसे नील कमल कहनेसे रक्त कमलका वारण हो जाता है, उसी तरह 'क' इस विशेषणसे 'ख' को और 'ख' इस विशेषणसे 'क' को युक्त कर देनेपर लौकिक क्षणभङ्गुर सुख और जड आकाशका वारण हो जाता है। ब्रह्म सुखरूप है, किंतु वह सुख 'ख' (आकाश) के समान नित्य अविनाशी एवं व्यापक है। ब्रह्म 'ख' (आकाशस्वरूप) है, किंतु जड नहीं; सुखस्वरूप—आनन्दमय एवं चेतन है। जैसे प्राण जीवनकी आधार-शिला या सत्ता है, उसी प्रकार ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्का प्राण—जीवनाधायक एवं अधिष्ठान सत् है। इस प्रकार इन नपे-तुले शब्दोंद्वारा अग्निदेवने सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका उपदेश कर दिया।

तदनन्तर एक-एक अग्निने उपकोसलको उपदेश देना आरम्भ किया। सबसे पहले गार्हपत्य अग्निने कहा—'पृथिवी, अग्नि, अन्न और सूर्य—ये चार मेरे शरीर हैं। वहाँ आदित्यमें जो पुरुष (सूर्यमण्डलका अभिमानी देवता) दृश्यमान होता है, वह मैं गार्हपत्य अग्नि ही हूँ। जो गार्हपत्य अग्नि है, वही मैं आदित्यमण्डलमें स्थित हूँ।' यों कहकर यह बात स्पष्ट की गयी है कि पृथिवी और अन्नसे जो मेरा सम्बन्ध है, वह वैसा ही है जो भोक्ता-का भोज्यके साथ होता है। तात्पर्य यह कि पृथिवी और अन्न मेरे भोज्य हैं और मैं उनका भोक्ता हूँ। परंतु आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुषके साथ मेरा तादात्म्य-सम्बन्ध है। भोक्तृत्व, पाककर्तृत्व और प्रकाशकत्व—ये तीनों अग्नि और सूर्यके सामान्य धर्म हैं। अतः ये दोनों परस्पर अभिन्न हैं। पृथिवी और अन्न—ये इन दोनोंके भोज्य हैं।

इस अभेद ज्ञानको अथवा गार्हपत्य अग्निकी दी हुई इस विद्याको भलीभाँति समझकर जो विद्वान् इसकी उपासना करता है अर्थात् अन्न और अन्नाद रूपसे चार स्वरूपोंमें विभक्त हुए गार्हपत्य अग्निके इस याथात्म्यको जो अभ्यासमें लाता है, उसको मिलनेवाले फलका निर्देश करते हुए श्रुति कहती है—'वह अपने पापकर्मका नाश कर देता है। लोकवान् होता है—हमारे आग्नेय लोकका अधिकारी होनेसे वह हमारी ही भाँति उस लोकके वैभवसे सम्पन्न होता है। इस लोकमें वह पूरे सौ वर्षकी आयु तक जीवित रहता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, उसके वंशमें होनेवाली संततिकी परम्परा कभी नष्ट नहीं होती है। साथ ही हम सब अग्निगण इस लोक तथा परलोकमें उसके जीवनकी सतत रक्षा करते हैं।'

तदनन्तर अन्वाहार्यपचन नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि) ने उपदेश दिया—'जल, दिशाएँ, नक्षत्र और चन्द्रमा—ये चार मेरे शरीर हैं अर्थात् मैं अपनेको चार रूपोंमें विभक्त करके स्थित हूँ। वहाँ चन्द्रमामें जो यह पुरुष दृष्टिगोचर होता है, वह मैं हूँ। जो यहाँ दक्षिणाग्नि है, वही मैं वहाँ

चन्द्रमण्डलमें स्थित हूँ।' यहाँ भी पूर्ववत् अन्न-सम्बन्धसे तथा प्रकाशकत्वमें समानता होनेके कारण दक्षिणाग्नि और चन्द्रमामें एकता है। दक्षिण दिशासे दोनोंका सम्बन्ध भी है। दर्श और पौर्णमास यज्ञोंमें अन्वाहार्यपचन नामक अग्निमें हविष्यका श्रपण (पाक-क्रिया) प्रसिद्ध है। वे हविष्य चन्द्रमाको प्राप्त होकर अन्न हो जाते हैं। इस प्रकार चन्द्रमामें अन्नका सम्बन्ध प्रसिद्ध है। जल और नक्षत्रोंका अन्नरूपसे ही इनके साथ सम्बन्ध है। नक्षत्रगण चन्द्रमाके भोग्य हैं—यह बात तो सुप्रसिद्ध ही है। जल अन्नके उत्पादक होनेसे स्वयं भी अन्नरूप हैं; अतः दक्षिणाग्निके भोज्य हैं। इस तरह इन सबकी एकता तथा इनके पारस्परिक भुक्ति-भोग्य-भावके बोधसे वही फल बताया गया है, जो गार्हपत्य अग्नि तथा आदित्यकी एकताके बोधसे कहा गया है।

तत्पश्चात् आहवनीय अग्निने उपकोसलको बताया—'प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत्—ये मेरे भी चार शरीर हैं। विद्युन्मण्डलमें जो पुरुष दृष्टिगोचर होता है, वह मैं हूँ। वही मैं हूँ।'

यहाँ भी आहवनीय अग्निके फल रूपसे द्युलोक विषय है। होमके द्वारा अपूर्वकी उत्पत्ति होती है, जिसका फल है—द्युलोक (स्वर्ग)। अतः वह फलका आश्रय है। इधर आकाश विद्युत्का आश्रय प्रसिद्ध है। अतः विद्युत् और आहवनीय दोनों आश्रित होनेके कारण भोग्य हैं और द्युलोक तथा आकाश दोनों आश्रय होनेसे भोक्ता हैं। इस तरह इनमें भोग्य-भोक्तृभाव-सम्बन्ध सूचित होता है।

इस प्रकार त्रिविध अग्नियोंकी एकताके विचारसे पृथिवी, अग्नि, अन्न, आदित्य, जल, दिशा, नक्षत्र, चन्द्रमा, प्राण, आकाश, द्युलोक तथा विद्युत्—ये सब परस्पर किसी-न-किसी रूपसे सम्बन्ध होनेके कारण एक हैं। इन सबका अन्तर्यामी एक है; तथा ये उस पूर्वनिर्दिष्ट सच्चिदानन्द ब्रह्मके ही स्वरूपविशेष हैं। इस प्रकार उपकोसलको सर्वव्यापी ब्रह्मतत्त्वका बोध करानेके लिये प्रयत्न किया गया है।

इसका भी वही फल है जो पहलेवाले उपदेशोंका है। इस तरह पृथक्-पृथक् उपदेश करके अग्नियोंने पुनः एक स्वरसे कहा—'उपकोसल! हमारे द्वारा तुम्हें जो पृथक्-पृथक् उपदिष्ट हुई हैं, वह हमारी विद्या अर्थात् अग्नि-विद्या है। तथा पहले 'प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' के रूपमें जिसका उपदेश किया गया है, वह आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या है। अब तुम्हारे आचार्य विद्याके फलकी प्राप्तिके लिये तुम्हें ब्रह्मवेत्ताकी गतिका उपदेश करेंगे।'

इसके बाद आचार्य आश्रमपर पधारे। आचार्य सत्यकाम जाबालको भी गुरुकी ओरसे उपदेशमें विलम्ब होनेपर उनके द्वारा सेवित वृषभ, अग्नि, हंस और मद्गुने उन्हें चतुष्कल ब्रह्मका उपदेश दिया था। आचार्यको अपनी बीती याद आयी। उन्होंने उपकोसलको देखते ही ताड़ लिया कि इन्हें ब्रह्मविद्या प्राप्त हो चुकी है। शिष्यके मुखपर ज्ञानका आलोक देखकर आचार्यने पूछा—'सोम्य! आज तो तुम्हारी मुखश्री ब्रह्मवेत्ताकी-सी जान पड़ती है। किसने तुम्हें उपदेश दिया है?' उपकोसलको सकपकाते देख गुरुजी स्वयं ही समझ गये और बोले—'इन्होंने ही उपदेश दिया होगा। बताओ, तुम्हें क्या उपदेश दिया गया है?' मेधावी उपकोसलने सब कुछ आचार्यको सुना दिया। तब आचार्य बोले—'सोम्य! इन्होंने तो तुम्हें केवल लोकोंका ही उपदेश दिया है। अब मैं उस ज्ञानका उपदेश देता हूँ, जिसे जान लेनेपर पापकर्मसे उसी प्रकार सम्बन्ध नहीं रहता, जैसे कमलके पत्तेका जलसे सम्पर्क नहीं होता है।'

यों कहकर आचार्य बोले—'नेत्रोंमें जो पुरुष दिखायी देता है अर्थात् नेत्रस्थानमें उससे उपलक्षित जो द्रष्टा है वह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है। यहाँ नेत्रोंमें जो पुरुष-शरीरकी छाया दीखती है, उस छायात्माको द्रष्टा नहीं कहा है, अपितु ब्रह्मचर्यादि साधनोंसे सम्पन्न तथा स्थूल नेत्र-गोलकोंसे रहित, शान्त एवं विवेकी पुरुष जिसको द्रष्टाके रूपमें समझते हैं, जो दृष्टिका भी द्रष्टा तथा नेत्रका भी नेत्र है; उस आत्माको यहाँ नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष कहा गया है। वही अमरणधर्मा, अविनाशी एवं सर्वथा भयरहित है। नेत्र उसकी अभिव्यक्तिका स्थान है। उस नेत्रमें भी यदि घी या पानी डाला जाय तो वह पलकोंमें ही बह जाता है; कमलमें जलकी भाँति उस स्थान या नेत्रमें नहीं चपकता है। जिसके स्थानकी ऐसी महिमा है, उसके उस स्थानमें रहनेवाले उस विलक्षण स्थानीकी निरञ्जनताके विषयमें क्या कहा जा सकता है? इस द्रष्टा पुरुषकी ओर समस्त वाम शोभन पदार्थ अपने आप जाते हैं; अतः इसे 'संपद् वाम' नाम देकर श्रुतिने उसके माहात्म्यका भूरि-भूरि

गान किया है। वह वाम मनोहर पुण्यफलकी प्राप्ति कराता है, अतः 'वामनी' कहलाता है। जो इसे इस रूपमें जानता है, वह ज्ञानी भी वामनी होता है। वह समस्त लोकोंमें भासमान होनेसे 'भामनी' भी कहलाता है। इसका उपासक भी सर्वत्र भासमान होता है।

उसकी गतिका वर्णन करते हुए श्रुति कहती है—'वह अर्चिः आदिके पथसे क्रमशः आगे बढ़ता हुआ विद्युत्-लोकतक जाता है। वहाँसे कोई अमानव पुरुष उसे ब्रह्मकी प्राप्ति करा देता है। वही देवमार्ग या ब्रह्ममार्ग है। उससे जानेवाले पुरुष फिर इस मानवलोकमें नहीं लौटते हैं, नहीं लौटते हैं।' 'नावर्तन्ते नावर्तन्ते' कहकर श्रुतिने इस विद्याके उपदेशका उपसंहार किया है। इसी ब्रह्ममार्गको लक्ष्य करके भगवद्गीता (८। २४) में कहा गया है—

'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।'

'ब्रह्मवेत्ता जन उस मार्गसे जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।'

उपकोसल उक्त ब्रह्मज्ञान और उसकी गतिका उपदेश पाकर कृतार्थ हो गया।

वैदिक उपासनाका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीश्रुतिशीलजी शर्मा)

'उप' उपसर्गपूर्वक 'आस्' धातुसे 'उपासना' शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है 'पास बैठना'। पर 'पास बैठना' इस शाब्दिक अर्थसे 'उपासना' का पूरा भाव प्रकाशित नहीं होता; अतः उसका अर्थ यह करना पड़ेगा कि 'किसीके पास बैठकर उससे तादात्म्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेना उपासना है।' अपने उपास्यदेवके उत्तम गुणोंको अपना लेना ही सच्ची उपासना है। जिस प्रकार अग्निकी उपासना करने अर्थात् उसके पास बैठनेपर अग्निके उष्णत्वादि धर्म मनुष्यमें भी आ जाते हैं, उसी प्रकार अपने उपास्यदेवके समीप बैठनेपर उस देवके सभी गुण उस उपासकमें आ जाने चाहिये, यही सच्ची उपासना है। वैदिक उपासनाका भी यही ध्येय-वाक्य है कि—'यद् देवाः अकुर्वन् तत् करवाणि।' (गोपथ ब्राह्मण)। 'देवोंने जो किया, वही मैं भी करूँ।' इस प्रकार उत्तम-उत्तम गुणोंको धारण करना ही उपासना है। महापुरुषोंके गुणोंको धारण करनेसे महापुरुषोंकी उपासना की जासकती है। समावर्तन-संस्कारके प्रसंगपर स्नातकको उपदेश देते हुए आचार्य-प्रवर कहते हैं—

'यानि अस्माकं सुचरितानि। तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि।' (तैत्तिरीय उप० १। ११। २)

'हे स्नातक! तुमने हमारे अंदर जो उत्तम गुण देखे हों, उन्हींकी तुम उपासना करो, दूसरोंकी नहीं।' उपासना-का कितना उत्तम आदर्श है। उपास्यमें उपासककी अपेक्षा श्रेष्ठता होती है, इसी कारण वह उपासनाके योग्य बनता है। वह उपासकके लिये आदर्शरूप होता है। वैदिक ऋषियोंके सामने भी इन्द्र, अग्नि आदि देव आदर्शरूप थे। इसीलिये उन्होंने वेदोंमें इन देवोंकी उपासना की।

यहाँ मैं एक बात स्पष्ट कर दूँ कि वेदविद्याके अनुसार इन्द्र, अग्नि आदि विभिन्न नाम उस एक ही सर्वशक्तिमान् परमात्माके द्योतक हैं। वेद कहता है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १। १६४। ४६)

'वह परमात्मा एक होते हुए भी ज्ञानी उसे अनेक नामोंसे पुकारते हैं। वही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, यम और मातरिश्वा है।'

इस प्रकार किसी भी देवकी उपासना की जाय, वह उसी परमात्मदेवकी उपासना होती है। यह उपासना प्रार्थनाओंके जरिये ही हो सकती है। प्रार्थनाका अर्थ है—अपने उपास्यदेवके गुणोंका बार-बार चिन्तन—ध्यान करना। मनमें जिसका ध्यान किया जाय, वह मनुष्य भी तत्सदृश ही बन जाता है—

'यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत् कर्मणा करोति तद् अभिसम्पद्यते।'

'मनुष्य मनमें जिसका ध्यान करता है, उसीको वाणीसे बोलता है, जो कुछ भी वाणीसे बोलता है, उसीको कर्मसे करता है, और कर्मसे जो कुछ करता है, वह वैसा ही बन

जाता है।' यह है प्रार्थनासे लेकर उपासनातक गति-विधि। इसीलिये मनुष्यको अपना उपास्यदेव चुननेमें बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये; क्योंकि मनुष्यकी श्रद्धा इतनी नाजुक होती है, जो अपने उपास्यमें जरा-सा भी दुर्गुण देखकर ताशके महलकी तरह एकदम ढह जाती है। इसलिये उत्तम यह है कि उसी एक सर्वोत्तम गुणोंसे समन्वित सर्वशक्तिमान् परमात्माको ही अपना उपास्यदेव बनाया जाय। यही बात भगवान् श्रीकृष्णने गीता(१८ । ६६) में कही है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

'सब धर्मोंको छोड़कर भगवान्‌की शरणमें जाओ।' अर्थात् धर्मोंके झगड़ेमें न पड़कर सीधे भगवान्‌की शरणमें ही जाना चाहिये। यही पापोंसे छूटनेका सबसे सरल उपाय है।

वैदिक उपासनाका सच्चा स्वरूप गीता (४ । २४)में इस प्रकार बताया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

'अर्पण, हवि, अग्नि, आहुति देनेवाला सब ब्रह्म ही हो, वही ब्रह्ममार्गसे जा सकेगा।' अर्थात् जो पूर्णरूपसे ब्रह्ममय बन जाता है, वही ब्रह्मके मार्गका पथिक हो सकता है। यही बात ऋग्वेदके निम्नमन्त्रमें बतायी गयी है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।
तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्।
(ऋ० १ । १६४ । ५०)

'विद्वानोंने यज्ञके द्वारा यज्ञकी पूजा की, यही उनका प्रथम धर्म था।' ये विद्वान् सर्वप्रथम स्वयं यज्ञ अर्थात् पूज्य बने, तब उन्होंने उस पूज्यतम महान् देवकी पूजा की। भगवान्‌तक पहुँचनेके लिये स्वयंको उसके योग्य बनाना पड़ता है। उसके लिये आवश्यक है कि—

विश्वानि······दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तत् नः आ सुव।
(ऋ० ५ । ८२ । ५)

'हमारे सब दुष्टभाव दूर हों और जो कुछ सद्भाव या सद्गुण हों, वे हमें प्राप्त हों।' वह परमात्मा स्वयं सद्गुणोंकी खान है; अतः उसे तो सद्गुणोंसे ही जीता जा सकता है। अनन्यभक्ति ही मनुष्यको उसके पास पहुँचा सकती है।

वह परमात्मा 'आत्मदा बलदा' (ऋ० १० । १२१ । २)— हमें आत्मशक्ति और शारीरिक शक्तिको देनेवाला है। वह हमें हर तरहसे सशक्त बनाता है, इसी तरह हम अन्य निर्बलोंको बलवान् बनायें; उन्हें भी हम आत्मशक्ति और शारीरिक शक्ति प्रदान करके सशक्त बनायें।

इस परमात्माकी विश्व उपासते (ऋ० १० । १२१ । २)—उपासना सारा संसार करता है। परमात्मा इस संसारका उत्पादक एवं संस्थापक है, इसलिये इस संसारका एक-एक अणु परमात्माकी महिमा गा रहा है। महात्मागण इस संसारके प्रत्येक पदार्थमें परमात्माके दर्शन करते हैं। सर्वत्र उस परमात्माके दर्शन अनन्य उपासनाका ही परिणाम है।

प्रशिषं यस्य देवाः (ऋ० १० । १२१ । २)—उस परमात्माके अनुशासनमें सभी देवगण अपना कार्य करते हैं। सभी उसकी आज्ञाका पालन करते हैं—

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
(कठोप० २ । ३ । ३)

'उसी सर्वनियन्ताके भयसे अग्नि और सूर्य तप रहे हैं, इन्द्र और वायु अपना काम कर रहे हैं और मृत्यु भी उसीके भयसे सर्वत्र दौड़ लगाती है।' ऐसे सर्वनियन्ताकी छायामें रहना ही अमृत है और उससे दूर जाना ही मृत्यु है।

वह परमात्मा है तो सर्वत्र, पर उसे पाना सरल नहीं है; क्योंकि—

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते
शृतास इद्वहन्तः तत् समाशत।
(ऋ० ९ । ८३ । १)

'तपसे बिना तपे हुए शरीरवाला उसे प्राप्त नहीं कर सकता, अपितु तपस्वी मनुष्य ही उसे प्राप्त कर सकता है।' परमात्माका उपासक तपस्वी हो, शीतोष्ण, सुख-दुःख सहनेकी उसमें क्षमता हो। संक्षेपमें, वेदमें ऋषियोंके द्वारा बताये गयेके अनुसार कर्मयोगी या स्थितप्रज्ञ हो। ऐसा कर्मयोगी फलकी आशाका त्याग करके परोपकारकी दृष्टिसे सार्वजनिक लोकसेवा करता है। लोकसेवा या जनता-जनार्दनकी सेवा भी उसी विश्वरूप परमात्माकी उपासना ही है। यही सच्ची उपासना है और यही वैदिक उपासनाका सच्चा स्वरूप है।

उपनिषदोंमें प्राणोपासना

(लेखक—श्रीगणेशदत्तजी काण्डपाल एम्० ए०, बी० टी०)

प्राणतत्त्वकी श्रेष्ठता

प्राणतत्त्व निखिल जगत्‌में विद्यमान है। सकल पदार्थोंकी सृष्टिका कारण बीजरूप प्राण ही है। उपनिषद्‌में कहा गया है—

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुषः पृथक्॥

अर्थात् 'सम्पूर्ण विद्यमान वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है और सबकी उत्पत्ति प्राणतत्त्वसे ही होती है। चैतन्यमय पुरुष चेतन जीवोंको पृथक्-पृथक् प्रकट करता है।' अतः प्राण ब्रह्मरूप माना गया है। 'प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तैत्ति० भृगु० ३) से यही सिद्ध होता है। तैत्तिरीयोपनिषद्‌में इसे 'सर्वायुष'की संज्ञा दी गयी है; क्योंकि प्राण ही सबका जीवन है। जबतक शरीरमें प्राण है तभीतक शरीर जीवित रहता है। प्राणतत्त्वकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेके लिये उपनिषदोंमें कथाओंका आश्रय लिया गया है, जिनका उल्लेख करना मैं उचित समझता हूँ।

एक बार इन्द्रियोंमें अपनी-अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद होने लगा। प्रजापतिने उनसे कहा—'जिसके बिना शरीर पापिष्ठतर-सा दिखायी दे, वही तुममें सर्वश्रेष्ठ है।' तब वाक्‌ने एक वर्षके लिये शरीरसे उत्क्रमण किया और लौटकर पूछा—'तुम मेरे बिना जीवित कैसे रहे?' उत्तर मिला—'जिस प्रकार गूँगा, नेत्रसे देखने, कानसे सुनने, मनसे चिन्तन करने तथा प्राणसे प्राणन-क्रिया करते हुए जीवित रहता है।' यह सुनकर वाक्‌ने शरीरमें प्रवेश किया। इसी प्रकार प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन आदिने शरीरसे उत्क्रमण किया और शरीर पूर्ववत् जीवित रहा। अन्तमें प्राणने उत्क्रमण करना चाहा। जिस प्रकार एक बलिष्ठ घोड़ा अपने पैर बाँधनेकी कीलोंको उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार प्राणने सभी इन्द्रियोंको उखाड़ दिया। तब सभी इन्द्रियोंने कहा—'भगवन्! आप ही हम सबमें श्रेष्ठ हैं। आप शरीरसे उत्क्रमण मत कीजिये।' उन्होंने प्राणतत्त्वकी स्तुति करते हुए कहा—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥
(प्रश्नो० २। ५)

अर्थात् 'यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है। यही सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथिवी तथा भूतसमुदाय है। सत्, असत् तथा अमृतस्वरूप ब्रह्म भी यही है।'

निष्कर्ष—(१) समस्त इन्द्रियोंमें प्राणतत्त्व श्रेष्ठ है। वाक्, चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्राणतत्त्वके अभावमें निष्क्रिय हो जाती हैं।

(२) सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण हमें प्राणोपासना करनी चाहिये। इन्द्रियोपासनाका त्याग करना चाहिये। विषय-वासनामें कभी रत नहीं होना चाहिये। इन्द्रियोपासनाका अर्थ ही है—भोगवासनायुक्त जीवनमें इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका सेवन।

प्राणतत्त्वकी शुद्धता तथा अनासक्तता

एक बार प्रजापतिके पुत्र देव और असुर परस्पर स्पर्धा करने लगे। देवोंने उद्गीथद्वारा असुरोंका अतिक्रमण करना चाहा। अतः उन्होंने वाणीसे कहा—'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' वाक्‌ने उद्गान करना स्वीकार किया। उसने शुभ वाणीका स्वयंके लिये और वाणीके भोगका देवोंके लिये उद्गान किया। यह देखकर असुरोंने सोचा, देवता इस उद्गाताके द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने वाक्‌को पापविद्ध कर दिया। वाणी जो अशुभ भाषण करती है, बुरे वचन बोलती है, वही उसका पाप है।

इसी प्रकार देवताओंने चक्षु, श्रोत्र आदिसे उद्गान करनेको कहा; किंतु सभीको असुरोंने पापविद्ध कर दिया। फलस्वरूप चक्षु अभद्र दर्शन (बुरी चीजोंको देखना), श्रोत्र अभद्र श्रवण (बुरी बातें सुनना), मन अभद्र संकल्प (बुरे-बुरे विचार करना) करता है तथा प्राण दुर्गन्धको सूँघता है। तब देवोंने प्राणसे उद्गान करनेकी विनती की। प्राणने उद्गान किया। असुरोंने उसे भी पापविद्ध करनेकी चेष्टा की। किंतु प्राणोंके समीप पहुँचनेपर असुर उसी प्रकार नष्ट हो गये, जिस प्रकार मिट्टीका ढेला कठोर शिलाखण्डसे टकराकर चूर-चूर हो जाता है। इस प्राणरूप उद्गाताके द्वारा देवोंने विजय पायी।

निष्कर्ष—(१) प्राणतत्त्व परम पवित्र और शुद्ध है। उसे पापविद्ध नहीं किया जा सकता है।

(२) प्राणतत्त्व स्वार्थरहित तथा अनासक्त है। प्राणके द्वारा सभी इन्द्रियाँ भोग करती हैं, पर प्राण स्वयं किसी भी कर्मका भोग नहीं करता। स्वार्थके कारण ही चक्षु आदि इन्द्रियोंको पापविद्ध करनेमें असुर समर्थ हुए। अनासक्ति तथा निःस्वार्थभावसे उद्गान करनेके कारण ही प्राणने उद्गीथ कर्ममें सफलता पायी।

(३) पापकी जड़ स्वार्थ है। स्वार्थभावनासे किया गया कर्म सफल नहीं होता है।

(४) प्राणोपासकको अनासक्त होकर निःस्वार्थ भावसे कर्म करना चाहिये। तभी वह आसुरी वृत्तियोंपर विजय पा सकता है।

अतः उपनिषदोंने अमृतत्व-लाभ तथा सफलता-प्राप्ति-हेतु प्राणोपासनाका विधान किया है। इस देवतासे मृत्यु दूर रहती है। जहाँ प्राण है, वहाँ मृत्यु नहीं फटक सकती। अतः प्राणोपासकसे मृत्यु दूर रहती है। कहा भी है—

'सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं ह्यस्या मृत्युर्दूरं ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद।' (बृहदा० १।३।९)

अर्थात् यह प्राण 'दूर' नामधारी है; क्योंकि इससे मृत्यु दूर रहती है। जो यह जानता है, उससे भी मृत्यु दूर रहती है।

बृहदारण्यकोपनिषद्में पाँच दृष्टियोंसे प्राणोपासनाका विधान है।

(१) उक्थदृष्टिसे प्राणोपासना—इस संसारके सभी जीवोंको उठानेवाला तत्त्व प्राण ही है। प्राणहीन जीव उठ नहीं सकता। इसलिये सभीको उठानेके कारण प्राण 'उक्थ' कहलाता है। अतः सबके उत्थापककी दृष्टिसे प्राणोपासना करनी चाहिये।

(२) यजुर्दृष्टिसे प्राणोपासना—प्राणोंके योगसे शरीर जीवित होता है। प्राणोंमें ही समस्त जीवधारियोंका योग होता है। इसी कारण प्राण ही 'यजु' कहलाता है। इस भावसे प्राणकी उपासना करनी चाहिये।

(३) सामदृष्टिसे प्राणोपासना—समस्त भूत प्राणतत्त्वसे सङ्गत होते हैं; प्राणमें ही साम्य-प्राप्ति करते हैं। अतः प्राण ही 'साम' है। इस भावसे प्राणोपासना करनी चाहिये।

(४) क्षत्रदृष्टिसे प्राणोपासना—प्राणतत्त्व ही शरीरकी क्षतसे रक्षा करता है। शरीरमें घाव इत्यादि हो जाय तो प्राणतत्त्व ही उसे भरता है। इसलिये प्राण ही 'क्षत्र' है, इस भावसे प्राणोपासना करनी चाहिये।

(५) प्राण ही 'ज्येष्ठ' है; क्योंकि गर्भमें प्राणतत्त्व ही सबसे पहले वृत्तिलाभ करता है। तदनन्तर प्राणके द्वारा अन्य इन्द्रियाँ वृत्तिलाभ करती हैं। अतः आयुकी दृष्टिसे प्राण ज्येष्ठ है। इसी प्रकार गर्भका पोषण करनेके कारण प्राण 'श्रेष्ठ' भी है। अतः इसी भावसे प्राणोपासना करनी चाहिये।

तात्पर्य यह है कि प्राणमें शरीरको उठाने, विभिन्न वृत्तियोंका योग करने, उनमें साम्य स्थापना करने तथा क्षतादिसे रक्षा करनेकी शक्ति है। साथ-साथ वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भी है। इसीलिये प्राणोपासक भी प्राणवत् शुद्ध, अनासक्त तथा अमर हो जाता है।

प्राणोपासकके लिये जप-विधान

उपनिषदोंने प्राणोपासकके लिये निम्न मन्त्रोंके जपका विधान किया है। प्राणोपासकको अपने ही अंदर वर्तमान प्राणतत्त्वसे प्रार्थना करनी चाहिये।

(१) असतो मा सद्गमय (बृह० १।३।२८)—'हे शुद्ध ब्रह्मस्वरूपी प्राण! तुम मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ।' असत् ही मृत्यु है, सत् अमरत्व है। प्राण अमर है; अतः अमर प्राणसे अमरत्वकी ओर ले जानेका अनुरोध करे।

(२) तमसो मा ज्योतिर्गमय (बृह० १।३।२८)—'हे नित्यज्योतिष्मान् प्राण! तुम मुझे अज्ञानान्धकारसे उबारकर ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित कर दो।' तुम स्वयं ज्योतिःस्वरूप हो, मेरे अन्तरमें भी ज्योतिकी किरणें प्रोद्भासित कर दो।

(३) मृत्योर्माऽमृतं गमय (बृह० १।३।२८)—'हे अमृतस्वरूपी प्राण! मुझे मृत्युसे उबारकर अमरत्वकी ओर ले जाओ।' मृत्यु तुमसे दूर रहती है; अतः तुम मुझे भी मृत्युसे दूर रक्खो।

इस प्रकार प्राणतत्त्वकी उपासनामें संलग्न साधक प्राणवत् शुद्ध और अमर हो जाता है। उसके अन्तस्तममें स्थित आसुरी वृत्तियोंका नाश हो जाता है और दैवी वृत्तियाँ प्रस्फुरित हो उठती हैं।

सांख्यमतमें चित्त और चित्तपरिकर्म

(लेखक—डॉ० श्रीशिवशङ्करजी अवस्थी)

प्राचीन तत्त्वज्ञ, सांख्य शब्दसे ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्तों एवं योगद्वारा उपासना-पद्धतियों तथा कर्मोंकी सूक्ष्मताओंको ग्रहण करते थे; ऐसा प्रतीत होता है। कालान्तरमें एक ही शास्त्रके ये दो अङ्ग, एक ओर मीमांसादिक दर्शनोंको तथा दूसरी ओर भक्त्यादि मार्गों तथा विविध पन्थोंको जन्म देकर बिखर गये। परवर्ती आलोचकोंमें जो साधक थे वे तो नहीं, किंतु चिन्तापरायण बालकोंने दृष्टिकोणको ही पूर्ण दर्शन मानकर समालोचना या व्याख्याकी नींव डाली, जो समाजके लिये शुभावह नहीं बन सकी। भगवान् श्रीकृष्णने इसीको दृष्टिमें रखकर कहा था—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'

(गीता ५। ४)

तत्त्वज्ञानके महासागर सांख्य[1]को विन्दुके रूपमें प्रस्तुत करनेवाली सांख्यकारिकामें चित्तका कहीं उल्लेख नहीं है, किंतु योग-दर्शनमें वह उपासनाकी मूलभूमि बनकर पग-पगपर उपलब्ध होता है। उत्तरमीमांसा-दर्शनमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये अन्तःकरणके चार रूप देखे जाते हैं। महाभारत तथा पुराणोंमें कहीं चार और कहीं तीन रूपोंकी चर्चा मिलती है। दर्शनके व्याख्याकारोंने चित्तादिका विवरण प्रस्तुत करते हुए भी मन, बुद्धि और चित्तको पर्याय मानकर काम चलानेका प्रयत्न किया है।

ऋग्वेदमें चित्त और मन—ये दोनों शब्द मिलते हैं। प्रस्तुत मन्त्रसे ज्ञात होता है कि ऋग्वेदको मन और चित्तकी पर्यायता अभीष्ट नहीं—'समानं मनः सहचित्तमेषाम्।' (ऋ० १०। १९१। ३) 'तुमलोगोंका मन और चित्त समान हो।,' यजुर्वेदका भी यही मत है। देखिये—

'यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।'

(शुक्लयजुर्वेद ३४। ५)

'जिस (मन) में लोगोंका सर्वपदार्थविषयक चित्त ओत-प्रोत है, वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो।'

अथर्ववेदके (का० ३ सू० ८ मं० ५) में कहा गया है—

'अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।'

'मैं तुम्हारे विरोधी मनोंको अपने मनसे ग्रहण करता हूँ; मेरे चित्तका अनुसरण करनेवाले चित्तोंके साथ आओ।'

इस मन्त्रमें भी मन और चित्तका भेद प्रतीत होता है। एक दूसरा मन्त्र है, जिसमें मन और चित्तका पार्थक्य निःसंशयरूपसे उल्लिखित है—

'प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ॥ ८ ॥'

(अथर्व० ३। ६)

'हमलोग इन शत्रुओंको मन, चित्त और ब्रह्म (मन्त्र) से दूर करते हैं।'

पुष्पदन्ताचार्यके सुप्रसिद्ध महिम्नःस्तोत्रके पचीसवें श्लोकमें मन और चित्तका पृथक् अर्थोंमें एक साथ प्रयोग हुआ है। यथा—

'मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः।'

मधुसूदन सरस्वतीने अपनी टीकामें चित्तका अर्थ 'हृदयाम्बुज' किया है।

वस्तुतः व्यष्टि-प्रकृति ही चित्त है। प्राचीन सांख्यशास्त्रमें 'जितने पुरुष उतनी प्रकृतियाँ'—यह सिद्धान्त प्रचलित रहा है।

'मौलिक्यसांख्या ह्यात्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वप्येकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः।'—(गुणरत्नसूरि)

'मौलिक्यसांख्यवादी प्रत्येक आत्माके लिये पृथक् प्रकृति मानते थे। परवर्ती सांख्योंने समस्त आत्माओंके लिये एक नित्य प्रधान स्वीकार किया।

'यदुक्तं प्रतिपुरुषविमोक्षार्थमयमारम्भ इति, तदयुक्तम्, आचार्यविप्रतिपत्तेः। 'प्रतिपुरुषमन्यत्प्रधानं शरीराद्यर्थं करोति। तेषां च माहात्म्यशरीरप्रधानं यदा प्रवर्तते तदेतराण्यपि, तन्निवृत्तौ च तेषामपि निवृत्तिः—इति पौरिकः सांख्याचार्यो मन्यते।'—(युक्तिदीपिका, सां० का० ५६ टीका)।

१. सांख्यं विशालं परमं पुराणम्। (महाभारत)

'प्रत्येक पुरुषकी मुक्तिके लिये प्रकृतिद्वारा जगत्‌की रचना होती है—ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि इस विषयमें एक आचार्यका विरोध है।' 'प्रत्येक पुरुषके लिये अलग-अलग प्रधानकी रचना शरीरादिके हेतु की जाती है। माहात्म्य-शरीर-सम्बन्धी प्रकृति जब प्रवृत्त होती है, तब उससे उत्पन्न नाना व्यष्टि-प्रकृतियाँ भी अपना-अपना कार्य करने लगती हैं और माहात्म्य-शरीर-प्रधानके निवृत्त होते ही वे भी निवृत्त हो जाती हैं—ऐसा पौरिक नामक सांख्याचार्यका मत है।'

व्यष्टि-प्रकृतिकी चर्चा श्रीमद्भगवद्गीतामें सर्वत्र मिलती है, साथ ही समष्टि-प्रकृति एवं चिद्रूपा परा प्रकृतिका भी उल्लेख देखा जा सकता है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
(गीता ३। ३३)

'ज्ञानी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। समस्त प्राणिवर्ग अपनी-अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करता है। प्रकृतिके विरुद्ध किसी प्राणीको मोड़ना सम्भव नहीं।'

आचार्य शंकरने व्याख्या की है—'प्रकृतिर्नाम पूर्वकृतधर्माधर्मादिसंस्कारो वर्तमानजन्मादावभिव्यक्तः सा प्रकृतिः' यही व्यष्टि' प्रकृति या स्वभाव है। 'सचेताः प्रकृतिं गतः' 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' में भी व्यष्टि-प्रकृति द्रष्टव्य है। सरस्वतीरहस्योपनिषद्‌के—

तेन चित्प्रतिबिम्बेन त्रिविधा भाति सा पुनः।
प्रकृत्यवच्छिन्नतया पुरुषत्वं पुनश्च मे॥

'इस श्लोककी व्याख्यामें कहा गया है कि 'सरस्वती प्रकृति, आवरण और विक्षेपके भेदसे अथवा निर्विभाग-प्रकृति, समष्टि-प्रकृति और व्यष्टि-प्रकृति भेदसे त्रिधा शोभित होती है। इन प्रकृतियोंके योगसे पुरुष भी अविकल्प, ईश्वर और जीव भेदसे तीन प्रकारका हो जाता है।'

'येयं चितिर्मयि प्रतिबिम्बिता तेन चित्प्रतिबिम्बेन वपुषा सा पुनः प्रकृत्यावरणविक्षेपभेदतो निर्विभागव्यष्टिसमष्टिभेदतो वा त्रेधा विभातीत्यर्थः। तत्र निर्विभागसमष्टिव्यष्टियोगतः अविकल्पेश्वरजीवत्वमपि भवेदित्याह—प्रकृतीति। या त्रेधा प्रविभक्ता तत्कलनाविरलं निर्माय ब्रह्म निष्प्रतियोगिकमेव। निर्विभागगुणसाम्यसाक्षितया पूरणात् पुरुषत्वम्, समष्टिप्रकृतिप्राकृतावच्छिन्नान्तर्यामितया पूरणात् पुरुषत्वमीश्वरत्वम्, व्यष्टिप्रकृतिप्राकृतावच्छिन्नतया पुरुषत्वं जीवत्वं च पुन्‍स्त्वं मे न स्यत इत्यर्थः।'

परशुरामकल्पसूत्रके 'षट्‌त्रिंशत्तत्त्वानि'—इस सूत्रकी व्याख्यामें रामेश्वरसूरिने कहा है—'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यरूपा प्रकृतिश्चित्ता पर्यायश्च त्रयोदशं तत्त्वम्।' अर्थात् 'सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणकी साम्यरूपा प्रकृति जिसे चित्त भी कहते हैं, तेरहवाँ तत्त्व है।'

षट्‌त्रिंशत्तत्त्वसंदोहकी उक्ति है—

'बुद्ध्यादिसामरस्यस्वरूपचित्तात्मिका मता प्रकृतिः।'

बुद्धि, मन और अहंकारकी सामरस्यरूप चित्तात्मक प्रकृति कही गयी है।

त्रिपुरारहस्यके ज्ञानकाण्डमें कहा गया है—

सुषुप्तौ प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्ते चित्तमुच्यते।
वासनापिण्डसहिता चितिश्चित्तमुदीरितम्॥ ७१॥
अव्यक्तमेतदेवोक्तं वासनापिण्डभावतः।
पुरुषाणां विभेदेन चित्तं बहुविधं भवेत्॥ ७२॥
जीवानामविभेदेन सुषुप्तावेकधा हि तत्।
प्रकृतित्वं समायाति तदन्ते चित्ततामियात्॥ ७३॥

'सुषुप्तिमें जो प्रकृति है, वही जागरणमें चित्त कही जाती है। वासनापिण्डके समेत चितिको 'चित्त' कहते हैं। वासनापिण्डभावसे इसे ही अव्यक्तकी संज्ञा दी गयी है। पुरुषभेदसे चित्तभेद होता है और सुषुप्तिमें जब जीव अभिन्नरूपसे स्थित होते हैं, तब चित्त भी एक होकर प्रकृतित्वको प्राप्त होते हैं और सृष्टिदशामें पुनः चित्तका रूप ग्रहण करते हैं।'

चित्त मूल अन्तःकरण है, इसे ही मैंने व्यष्टि-प्रकृति कहा है। सत्त्व एवं तमोगुणको दबाकर जब रजोगुण प्रधान हो उठता है, तब इसे मनकी आख्या प्राप्त होती है। जब इस चित्तमें रज और तम अभिभूत हो जाते हैं, तब यह सत्त्वप्रधान अन्तःकरण बुद्धिके नामसे जाना जाता है। तमोगुणकी प्रधानतामें यही अहंकार है। संकल्प-विकल्पात्मक मन, निश्चयात्मिका बुद्धि तथा अभिमानात्मक अहंकार चित्तकी भूमिमें जन्म लेते हैं।'

इस चित्तमें चित्प्रतिबिम्ब घटित होकर दोनोंको एकाकार कर देता है। यही जीव-दशा है। इसीसे संसारका

व्यवहार चलता है। मूढ़लोग इसी चित्तको चेतन मान बैठते हैं और उससे अतिरिक्त चित्तत्त्वको नहीं देखते। आचार्य पञ्चशिखने इसीको दृष्टिमें रखकर कहा था—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्।' अर्थात् 'एक ही चेतन है, चित्त ही चेतन है।' कहा जाता है ईश्वर गुहा-निहित है, वह गुहा क्या है? इस सम्बन्धमें व्यासभाष्यमें कहा गया है—

न पातालं न च विवरं गिरीणां
नैवान्धकारः कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते॥

'पाताल, पर्वतोंके विवर, अन्धकार अथवा उदधिगर्भ-रूप वह गुहा नहीं है, जिसमें शाश्वत ब्रह्म निवास करता है। क्रान्तदर्शी लोग उस चित्तवृत्तिको ही गुहाके नामसे जानते हैं।' वेदान्तमें चित्तको अविद्या कहते हैं, जिससे उपहित होकर ईश्वर जीव बनता है—

'यद्यपि एक आत्मा सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमेषु गूढ-स्तथापि चित्तोपाधिविशेषतारतम्यादात्मनः कूटस्थनित्यस्यैक-रूपस्यापि उत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यम्' ऐश्वर्यशक्तिविशेषैः श्रूयते—'तस्य य आत्मानमाविस्तरां वेद' (ऐ० आ० २। ३। २। १ इत्यत्र।)—शंकराचार्य

(ब्रह्मसूत्र अ० १ पा० १ सू० ११)

'यद्यपि निरतिशयमेकमेव रूपमात्मन ऐश्वर्यं च ज्ञानं च आनन्दश्च तथापि अनाद्यविद्यातमस्समावृतं तेषु प्राणभृद्भेदेषु क्वचिदसदिव क्वचिदत्यन्तापकृष्टमिव क्वचिदपकृष्टमिव क्वचित्सत् क्वचित्प्रकर्षवत् क्वचिदत्यन्तप्रकर्ष-वदिव भासते।' —वाचस्पतिमिश्र (भामती)

'यद्यपि आत्माका एक ही निरतिशय रूप, ऐश्वर्य, ज्ञान और आनन्द है, तथापि अनादि अविद्यात्मक चित्तोपाधिसे आवृत वह आत्मरूप प्राणियोंमें कहीं असत्‌की भाँति, कहीं अत्यन्त अपकृष्टके सदृश, कहीं अपकृष्टके समान, कहीं सत्ताको प्राप्त, कहीं प्रकृष्टरूप तथा कहीं अत्यन्त प्रकृष्टके तुल्य भासित होता है।'

चित्तको सत्त्व अथवा चित्तसत्त्व भी कहते हैं। ईश्वरके भी चित्तकी चर्चा मिलती है, जिसे प्रकृष्टसत्त्वके नामसे कहा गया है। पुरुषविशेष या ईश्वरकी शिवादिक अन्य संज्ञाएँ हैं। प्रकृष्टसत्त्व उसकी शक्ति है, इसीके कारण वे सदा ईश्वर तथा मुक्त रहते हैं।

'योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः………।'

'एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोः ईश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति।

(व्यासभाष्य।)

'परमेश्वर जगदुत्पत्ति तथा ज्ञान-धर्मोपदेशके लिये इस प्रकृष्टसत्त्वको ग्रहण करते हैं। व्यासभाष्यमें कहा गया है कि 'पुरुषविशेषकी संज्ञादि विशेषका प्रतिपादन आगमोंमें देखना चाहिये।' 'तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिः आगमतः पर्यन्वेष्या।' वाचस्पति मिश्रने इसपर व्याख्या करते हुए लिखा है—

तस्मात्संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिः संज्ञाविशेषः शिवेश्वरादिः श्रुत्यादिषु प्रसिद्धः। आदिपदेन षडङ्गतादशाव्यये संगृह्यते। यथोक्तं वायुपुराणे—

सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य॥

(१२। ३३)

तथा—

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्वमेव च।
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शंकरे॥

(१०। ६५-६६)

अर्थात्—'आगमसे संज्ञादि विशेषकी प्रतिपत्ति होती है। शिव, ईश्वर आदि संज्ञाविशेष श्रुत्यादिमें प्रसिद्ध है। आदि पदसे षडङ्गता और दस अव्ययोंका संग्रह किया गया है। जैसा वायुपुराणमें कहा गया है—सर्वज्ञता, पूर्णकामता, अनादि ज्ञान, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्तशक्ति तथा अनन्तशक्ति—ये विभु महेश्वरके छः अङ्ग विधिज्ञोंने बताये हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञानादि दस अव्यय भी शंकरमें नित्य वर्तमान रहते हैं।'

उपर्युक्त अङ्गों तथा अव्ययोंको एक ही शब्द प्रकृष्ट-सत्त्वमें समेटा जा सकता है। यह प्रकृष्टसत्त्व ही निर्माण-चित्त है, जिसके सम्बन्धमें आचार्य पञ्चशिखने कहा था—

'आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।'

पीछे युक्तिदीपिकाके उद्धरणमें जिस 'माहात्म्य-शरीर' का उल्लेख हुआ है, उसे भी प्रकृष्ट सत्त्व समझना चाहिये। इस प्रकृष्टसत्त्वको वेदान्तमें शुद्धसत्त्व कहा गया है। यह ईश्वरकी उपाधि है। इसीसे मलिनसत्त्व जन्म लेता है, जो जीवकी उपाधि है। यह मलिनसत्त्व या अविद्या अनन्त रूपोंद्वारा अनन्त जीवोंका निर्माण करती है। यह मलिनसत्त्व या अविद्या ही चित्त है। भोजराजने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' की व्याख्यामें लिखा है—

'चित्तस्य निर्मलसत्त्वपरिणामरूपस्य।'

यह निर्मल सत्त्व प्रकृष्टसत्त्वके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? परमेश्वरके देहके सम्बन्धमें विचार करते हुए आचार्योंने उसे शुद्धसत्त्वमय माना है। यह देह भी प्रकृष्ट-सत्त्व या शक्तिरूप ही है। शक्ति परमेश्वरका देह है, जिसके बिना वह कुछ नहीं कर सकता।

शक्तिः शरीरमधिदैवतमन्तरात्मा
ज्ञानं क्रियाकरणमासनजालमिच्छा।
ऐश्वर्यमायतनमावरणानि च त्वं
किं तन्न यद्भवसि देवि शशाङ्कमौलेः॥
(पञ्चस्तवी)

'हे देवि! तुम शशाङ्कमौलि शिवकी शक्ति, शरीर, अधि-देवता, अन्तरात्मा, ज्ञान, क्रिया, आसनसमूह, इच्छा, ऐश्वर्य, आयतन और आवरण हो। इसके अतिरिक्त क्या है, जो तुम नहीं हो।'

चित्त त्रिगुणात्मक है; अतः वह प्रकाश या ज्ञान-प्रवृत्ति या चेष्टा तथा स्थितिशील है। यह असंख्य वासनाओंसे विजडित रहता है।

'चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्।'
(व्यासभाष्य)

इस चित्त या व्यष्टि-प्रकृतिके साथ पुरुषका तादात्म्य हो गया है। अतः प्राकृत धर्मोंसे आक्रान्त होकर वह सुखी, दुखी या मुग्ध हो जाता है। इस ग्रन्थि-बन्धनसे मुक्तिके लिये योगदर्शनमें दो विधियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—एक तो चित्तका स्वकारणमें लीन होनेसे पुरुष या चिति-तत्त्वका स्वरूपप्रतिष्ठ होना,[1] दूसरे सत्त्व और पुरुषकी बराबर शुद्धि[2]। वासनादिसे रहित चित्त शुद्ध होकर आत्माके सदृश वर्तमान होता है। अन्य शास्त्रोंमें कहा गया है 'संकुचित चिति ही चित्त है।'[3] चित्तका शोधन होते-होते वह स्वरूपको प्राप्त होता है। व्यासभाष्यमें भी इस बातका संकेत मिलता है—

'तदेवम्भूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छति। (प्रथम पाद सू० ५ का भाष्य।)

'भोग और अपवर्गरूप अधिकार जिसका निवृत्त हो गया है, ऐसा चित्त, या तो आत्मसदृश स्थित रहता है अथवा प्रलीन हो जाता है।'

उपासनामें चित्तशुद्धिकी परम आवश्यकता होती है, यह उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है। योगदर्शनमें चित्तकी स्थिरता या परिकर्म (शोधन) के लिये मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार उपायोंकी चर्चा की गयी है[4] जो विशेषतः द्रष्टव्य है—

१. **मैत्री**—सुखी एवं सम्पन्न प्राणियोंमें मैत्री या सौहार्दकी भावनासे चित्तका ईर्ष्या-कालुष्य दूर हो जाता है।

२. **करुणा**—प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसे कभी दुःख न हो। अपने ही सदृश दूसरेके दुःखको दूर करनेकी यदि इच्छा किसीमें देखी जाती हो तो समझना चाहिये कि उसमें करुणाका उद्भव हो रहा है। इस करुणाकी भावनासे दूसरेके प्रति अपकार करनेकी इच्छारूप कलुष चित्तसे निवृत्त होता है।

३. **मुदिता**—पुण्यशाली जनोंको देखकर हर्षकी भावना करनेसे चित्तका असूया (दूसरेके गुणोंमें भी दोष का दर्शन करना) नामक कलुष दूर हो जाता है।

४. **उपेक्षा**—पापियोंके प्रति उपेक्षा—तटस्थताकी भावना करनेसे अमर्ष (क्रोध) की निवृत्ति होती है।

इस प्रकार भावनाद्वारा चित्तमें सत्त्वका उत्कर्ष होता है; फलस्वरूप चित्त निर्मल होकर एकाग्र होने लगता है और समाधिके योग्य हो जाता है।

---

१. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः। (यो० द० ४। ३४।)

२. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (पा० ३ सू० ५५)

३. चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसङ्कोचिनी चित्तम्। ५। (प्रत्यभिज्ञाहृदय)

४. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (योगदर्शन १। ३३)

चित्तशुद्धिके सरल उपाय वस्तुतः नाम-जप, ध्यान एवं स्तुतिपाठ आदि भी हैं। श्रीशंकराचार्यने लिखा है—

'आ पादादा च शीर्ष्णो वपुरिदमनघं वैष्णवं यः स चित्ते धत्ते नित्यं निरस्ताखिलकलिकलुषे संततान्तः प्रमोदः। जुह्वज्जिह्वाकृशानौ हरिचरितहविः स्तोत्रमन्त्रानुपाठै-स्तत्पादाम्भोरुहाभ्यां सततमपि नमस्कुर्महे निर्मलाभ्याम्॥

'चरणोंसे लेकर सिर पर्यन्त सुन्दर वैष्णवदेहको जो व्यक्ति अपने कलिकलुषरहित चित्तमें नित्य धारण करता है, उसका हृदय सदा प्रमुदित रहता है। स्तोत्र तथा मन्त्रोंके पाठपूर्वक हरिकथारूपी हविको जो जिह्वारूपी अग्निमें हवन करता है, उसके निर्मल चरण-कमलोंमें मेरा सतत नमस्कार है।'



मेरी दृष्टिमें प्रार्थना

(लेखक—प्रो० श्रीफिरोज कावसजी दावर, एम्० ए०)

प्रार्थनाके निम्न और श्रेष्ठ अनेक स्वरूप और स्तर हैं। निम्नतम स्तर वह है जब कि व्यक्ति अपने शत्रुके विनाश या उसकी मृत्युके लिये अथवा किसीके अनिष्टके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है; इतना ही नहीं, वह अपनी मलिन कामनाकी पूर्तिके लिये तामसिक तान्त्रिक साधनाओंको भी अपनाता है। प्रार्थनाके इस निम्नतम स्तरके विवेचन करनेका अर्थ है—समयको व्यर्थ ही नष्ट करना। श्रेष्ठतम स्तरकी प्रार्थना पूर्णतः निष्काम और स्वार्थपूर्ण चेष्टाओंसे विरहित होती है और ऐसी प्रार्थनामें प्रभुसे अखण्ड सम्पर्क रहता है। जागतिक विषयोंमें मनका बहकना प्रार्थनाकी प्रभावोत्पादकताको विनष्ट कर देता है; क्योंकि प्रार्थनामें मनका उपास्यमें पूर्णतः केन्द्रित होना आवश्यक है। सच्ची प्रार्थना, भले ही दिनमें एक बारसे अधिक की जाय, अवश्य 'संक्षिप्त होनी चाहिये; क्योंकि सुदीर्घ प्रार्थनामें मनके भटकनेकी सम्भावना बनी रहती है। श्रीमद्भगवद्गीता (१२। ८—१२) में मनको भगवान्में स्थिर करनेका प्रतिपादन किया गया है। किंतु इसकी प्राप्तिमें साधारण मानवकी कठिनाइयोंको समझकर ऐसा विधान किया गया कि इसके स्थानपर मनुष्यको लगनके साथ गम्भीर स्वाध्यायका अभ्यास करना चाहिये। यदि स्वाध्यायसे भी उद्देश्यकी पूर्ति न हो तो प्रभुप्रीत्यर्थ कर्मोंका आचरण करना चाहिये। अन्तमें सर्वकर्मफलके त्यागका उपदेश दिया गया है; क्योंकि 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'।

प्रार्थनाके कई शुचितम उद्देश्योंमेंसे एक उद्देश्य है—आत्मोन्नति। इसके पहले साधक अपने द्वारा कृत पापोंके लिये पश्चात्ताप करता है और पापाचरणके पुनः आचरण न करनेका दृढ़ संकल्प करता है। दिनमें पाँच बार की जानेवाली प्रार्थना मानो एक कर्तव्यपरायण और नियमित प्रहरी है, जो रात्रिमें प्रत्येक घंटेपर आवाज लगाकर अपनी उपस्थितिका ज्ञान कराता है और चोरों तथा समाजविरोधी तत्त्वोंको घरके पास फटकनेसे रोक देता है। दिनमें बार-बार प्रार्थना करनेसे उपासकको पुनः-पुनः आत्मनिरीक्षणका अवसर मिलता है, जिससे वह दो प्रार्थनाओंकी मध्यावधिमें मन, वचन और कर्मसे होनेवाले स्खलनोंको जान सके। ऐसे स्खलनोंके ध्यानमें बैठ जानेपर प्रार्थनाका स्थान पश्चात्ताप ले लेता है और उपासक पुनः अपराध न करनेका निश्चय करता है। जिस प्रकार स्नान और रेचक ओषधियाँ हमारे शरीरको बाहर-भीतरसे शुद्ध करती हैं, उसी प्रकार प्रार्थना भी आत्मशोधनका साधन है और मन तथा मस्तिष्कका संशोधन कर अशुद्ध और अशुचि विचारोंको दूर करती है, जो बिना पता लगे और बिना संदेह जगाये प्रविष्ट हो जाते हैं।

'प्रार्थना'का शाब्दिक अर्थ है—प्रभुके प्रति आत्मनिवेदन या सच्ची विनय। प्रायः इसका लक्ष्य होता है—जागतिक लाभ, जैसे कंचन या कीर्तिकी प्राप्ति। कभी इसमें घातक रोगसे ग्रस्त प्रियके प्राणोंकी रक्षाके लिये प्रभुसे याचना होती है। ऐसी प्रार्थनाएँ निर्दोष और स्वाभाविक भी कही जा सकती हैं, परंतु सकाम होनेसे श्रेष्ठतम नहीं कही जा सकती। सच्ची प्रार्थनामें क्षुद्र अहंका शमन किया जाता है, जिससे वास्तविक अहंका विकास हो सके और उपासक उससे अपना सम्पर्क स्थापित कर सके। पारसी अपनी प्रार्थनाका आरम्भ करते हुए कहते हैं—'क्षनोथ्र अहुरेमज़्दाओं' अर्थात् अहुरमज़्दा प्रसन्न हों; अथवा मेरी इच्छा नहीं, ईश्वरी इच्छा प्रतिफलित हो। ईसाइयोंकी ईश-प्रार्थनामें भी अपने आपको मिटा देनेवाले भव्य

भावोंके दर्शन होते हैं—'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो' (मैथ्यू ६ । १०) यह एक आश्चर्यकी बात है कि उसीके दूसरे छन्दमें यह पढ़नेको मिलता है—'हमें आजका भोजन दो।' इन विपरीत भावोंके दो छन्दोंका एक साथ होना यह प्रदर्शित करता है कि आत्मा और प्रकृति—दोनोंकी विरोधी माँगोंका समन्वय करना कितना दुष्कर है। जागतिकताकी अपेक्षा आध्यात्मिकता श्रेष्ठतर होनेसे 'तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो।'—इस भावमें प्रार्थनाका उदात्त स्वरूप संनिहित है, फिर भी इतना अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये कि दोनों उक्तियाँ समुचित हैं। मानवमें क्षुद्र अहं होता है। यह सम्भव नहीं कि क्षुद्र अहंकी न्यायपूर्ण माँगकी उपेक्षा की जा सकती हो। अतः उचित सीमातक उसका महत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा। अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि श्रेष्ठतम स्तरकी प्रार्थनामें क्षुद्र अहंका, यदि इसका अस्तित्व बना रहता है तो न्यूनतम अंशतक अवश्य शमन कर देना चाहिये।

प्रार्थना न केवल संशुद्धि करती है, अपितु हमें आध्यात्मिक सामर्थ्य प्रदान करती है। मानव-मन, भले किसी संतका क्यों न हो, असावधानीके क्षणोंमें स्खलित होकर पापमें प्रवृत्त होनेकी सम्भावनाका शिकार होते देखा गया है। बड़े-बड़े संतोंके जीवनवृत्त इस बातकी स्मृति दिलाते हैं कि आत्मापर तामसिकताकी काली रात छा जानेपर वे विचित्र प्रकारसे पथच्युत हुए हैं। यदि यह प्रसिद्ध संतोंके सम्बन्धमें सत्य है, तो फिर साधारण मानवकी चर्चा करना ही व्यर्थ है। अतः सतत प्रार्थनाके द्वारा मनका संयमन करके प्रलोभनोंसे सुदृढ़ रक्षा-कवच अवश्य बना लेना चाहिये। इसके बाद भी संतके लिये एक और खाई है। ईश्वरीय एकात्मताकी उच्चतम स्थितिके समीप पहुँचनेपर साधकमें आध्यात्मिक सफलताका गर्व जाग्रत् हो सकता है। इस स्थितिमें भी प्रार्थनाके ही द्वारा उसकी आँख खुल सकती है और संतुलन लौट सकता है।

सच्ची प्रार्थनाएँ न किसीसे निर्दिष्ट होती हैं, न किसी विधानसे बँधी होती हैं और न किसीपर लादी जा सकती हैं। वे स्वाभाविक हृदयोद्गार हैं। आत्म-संशुद्धि और अनन्तसे सम्पर्क-संस्थापनके लिये आत्माकी सच्ची अभिलाषा है। किंतु ऐसा भी प्रतिवाद प्रस्तुत किया जा सकता है कि आत्म-मुक्तिके लिये की गयी प्रार्थना भी सहैतुक और स्वार्थपर आधारित है। उस स्थितिमें उससे भी श्रेष्ठतम स्तरकी प्रार्थना ऐसी होगी, जिसमें केवल अपने देशके शुभ और शान्तिके लिये ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वके शुभ और शान्तिके लिये प्रार्थना होगी। अपने देशकी सफलताके लिये की गयी भगवत्प्रार्थनासे युद्धरत शत्रु-राज्यका अनादर और विनाश ही तो ध्वनित होता है और ऐसी प्रार्थना स्वार्थपरताके विवर्धित स्वरूपका ही द्योतन करेगी। अतः सच्ची प्रार्थना अवश्य ही विश्वके सुख और शान्तिके लिये होनी चाहिये। सम्पूर्णमें अंश समाया हुआ है और यदि सारे छोटे-छोटे अंश केवल अपने ही स्वार्थका चिन्तन करें तो सम्पूर्णका तहस-नहस हो जायगा। उच्चतम स्तरकी प्रार्थनामें साधकको मानवताके कल्याणके लिये अपना और अपने स्वार्थका बलिदान करनेके लिये तैयार रहना चाहिये।

बाल्यकाल जीवनका एक बेपरवाहीका समय है जब कि प्रार्थनाकी ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। प्रौढ़ावस्थामें मानवको अनेक व्यस्तताओं और चिन्ताओंके कारण अनन्तसे सम्पर्क स्थापित करनेके लिये समय नहीं मिलता; परंतु वृद्धावस्था एक ऐसा समय है, जब कि वासनाएँ स्वाभाविक ही शान्त और इच्छाएँ न्यून हो जाती हैं। इस अवस्थामें मनुष्य अपनी परिस्थितियोंसे समझौता कर लेता है (अन्यथा कभी नहीं करता)। प्रार्थनाके द्वारा प्रभुसे सम्पर्क स्थापित करनेका निश्चय कर लेता है और अन्तिम प्रमाणके लिये स्वयंको तैयार कर लेता है। वृद्धावस्था एक समय है, जिसमें प्रार्थनाके विरुद्ध किसी भी सही तर्कको नहीं प्रस्तुत किया जा सकता। यहाँतक कि एक वृद्ध नास्तिकको भी अपनी मान्यताके अनुसार प्रभुके स्थानापन्न किसी तत्त्वके चिन्तनके लिये अवश्य समय निकालना पड़ता ही है। प्रभुने वृद्धावस्थाका समय शायद इसीलिये निर्धारित कर रक्खा है कि साधारण सद्गुणोंसे समन्वित मानव, जिसने अपने जीवनका अधिकांश समय सम्भवतः प्रभुकी विस्मृतिमें बिता दिया हो, अपने जीवनके अन्तिम दिवसोंमें प्रभुके प्रति अपने कर्तव्योंको स्मरण करे। उम्रके ढलनेपर ज्यों-ज्यों शरीरकी शक्तिका ह्रास होता है, त्यों-त्यों अन्तरात्माकी शक्तिका विकास होता है और वह वृद्ध इस प्रकारसे सोच सकता है कि उसका मन और मस्तिष्क, उसकी आँख और कान, सारे अङ्गाङ्ग, यहाँतक कि उसका सम्पूर्ण शरीर

अपनी इच्छासे नहीं, अब ईश्वरीय इच्छाके अनुसार कार्यप्रवृत्त हो। जैसा कि कवि टैनिसनने कहा है—

'Our wills are ours we know not how,
Our wills are ours to make them Thine'.

'हमारी इच्छाएँ हमारी अपनी कैसे हैं, यह हमको विदित नहीं है। हमारी इच्छाएँ तो तभी हमारी हैं जब हम उनको आपकी इच्छाका रूप दे सकें।'

चतुर व्यक्ति यमराजका निमन्त्रण पानेतक अपने आध्यात्मिक विकासको स्थगित नहीं रखता। परंतु बहुत अधिक संख्यामें ऐसे ही व्यक्ति हैं, जो प्रभुके प्रति, और प्रार्थनाके माध्यमसे प्रभुसे सम्पर्क-संस्थापनके प्रति उदासीन हैं; किंतु वृद्धावस्थाका आगमन उनके मनको इस दिशामें बलात् लगा देता है। वृद्धावस्थामें भी, यदि मानवकी अन्तरात्मामें यह विवेक नहीं जाग्रत् होता तो यही कहा जा सकता है कि उसने इस जीवनमें स्वेच्छासे अपने इस अधिकारको ठुकरा दिया।

वृद्धावस्थामें कभी-कभी ऐसा सम्भव और व्यावहारिक भी है कि मनुष्य अपनी सभी जागतिक वस्तुओंका त्याग कर दे और ऐसा सोचे कि मनसे प्रभु-चिन्तन करना, रसनासे प्रभु-चर्चा करना, हृदयका प्रभुके इच्छानुसार स्पन्दित होना; इस प्रकार उसके शरीरका प्रत्येक अवयव प्रभुकी सेवामें संलग्न है। तब उसमें ऐसा भाव उठ सकता है कि प्रार्थना भी अनावश्यक है; क्योंकि तब उसे प्रभुकी सर्वव्यापकताकी अनुभूति होती है। तब उसे एक फारसी कविके शेरके सत्यकी उपलब्धि होती है, जिसने कहा है—

काफिरे इश्कं मुसलमानी मरा दर कार नीस्त।
हर रगे मन तार गस्तेह् हाजते ज़ुन्नार नीस्त॥

'ईश्वरीय प्रेमने मुझे काफिर बना दिया है। मुसल्मान धर्मके वाह्याचारोंकी मैं परवाह नहीं करता। मेरे शरीरका एक-एक स्नायु उस ईश्वरीय वीणाका तन्तु है। मुझे पवित्र सूत्रकी आवश्यकता नहीं।' इसमें विरोधाभास-सा लगेगा। परंतु 'प्रार्थना उस सर्वोच्च स्तरतक उठा ले जाती है, जहाँ प्रार्थनाकी आवश्यकता नहीं रहती, यह इसलिये कि उपासक अनन्तमें पूर्णतः विलीन हो चुका रहता है।

उपासनाका विश्वव्यापी स्वरूप

(लेखक—श्रीएन० कनकराज अय्यर, एम्० ए०)

परम तत्त्व या शुद्ध सत्त्वकी, जो सत्योंका भी चरम सत्य है, प्रार्थनामात्र करना उपासना नहीं है; अपितु उस सत्यके साथ सही अर्थोंमें सम्पर्क स्थापित करना 'उपासना' कहलाता है। 'सत्यं परं धीमहि' एक वैदिक विचार है। सर्वोच्च सत्ताके प्रति इस प्रकारका दृष्टिकोण स्रष्टा तथा सृष्टिके बीचके वास्तविक अन्तरको स्पष्ट करता है।

किसी भारतीय भाषाके अतिरिक्त अन्य किसी भी भाषामें 'उपासना'—इस सारगर्भित शब्दको आसानीसे अनूदित नहीं किया जा सकता। यह शब्द सब भारतीय भाषाओंकी साझी सम्पत्ति है। उसी प्रकारका दूसरा शब्द 'भक्त' है। जीवनके सभी विभागोंमें ये दोनों शब्द हाथ-में-हाथ डालकर मानवताकी सेवा करते दिखायी देते हैं।

उपासनाका प्रारम्भ मानवके लिये अक्षर आरम्भके संस्कारसे होता है और यह उसके जीवनमें पगपर पग रखकर, क्रमशः उसके जीवनकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि 'जीवन्मुक्ति'की स्थितितक उसे ले जाती है। चार या पाँच वर्षके बालकको अक्षर-जगत्‌में अष्टाक्षर या पञ्चाक्षर मन्त्रकी उपासनासे दीक्षित किया जाता है। ज्ञानके विस्तीर्ण महासमुद्रमें प्रवेश करनेके पूर्व उस बालकको इन मन्त्रोंकी सहायतासे सर्वशक्तिमान् प्रभुसे प्रार्थना करनी होती है।

कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग, सबके सम्मिलित रूपका सजीव प्रतिरूप एक उत्कृष्ट मानव यह 'जीवन्मुक्त' है। वह उस ध्यानयोग—आत्मस्थितिमें सदा निमग्न रहकर संसारमें विचरता है, जिसे शुद्धतम 'उपासना' कह सकते हैं।

अब हम यह देखेंगे कि भगवत्प्रदत्त यह उपासनाकी महती संजीवनी मनुष्यके जीवनमें किस प्रकार प्रविष्ट होती है, ताकि अपनी पूर्वस्थितिसे श्रेष्ठ स्थितिकी ओर वह आगे बढ़ सके।

एक द्विज-बालकको अपनी ब्रह्म-उपासनाके समय गायत्री-उपासनामें आवश्यक रूपसे दीक्षित होना पड़ता है। उस शुभ घड़ीमें उसकी आयु सात वर्षसे अधिक नहीं होनी चाहिये। तीन वर्षकी अवस्थामें इस संस्कारसे दीक्षित होनेके भी कुछ विरल उदाहरण हैं, जैसे कि श्रीमान् शंकराचार्यजी।

किसी ब्रह्मचारीके द्वारा किया जानेवाला संध्या-वन्दन ही वास्तविक उपासना है। 'अहरहः संध्यामुपासीत'—वेदकी आज्ञा है। इस छोटे-से वाक्यमें क्रियापद विशेष ध्यान देने योग्य है। यह स्पष्ट निर्देश करता है कि संध्याकर्ममें इस उपासनाका एक अङ्ग होम है। प्रातःकाल ही संध्यामें ब्रह्मचारी 'सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि'का उच्चारण करता है। मध्याह्नमें वह 'असतां च प्रतिग्रहं स्वाहा' कहता है और सायंकालमें उससे 'सत्ये ज्योतिषि जुहोमि'के उच्चारणकी आशा की जाती है। तीनों ही शब्द, शुद्धिके लिये होमकी आवश्यकताके प्रतिपादक हैं। उसके अपने मत ही होम-द्रव्य हैं, अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार वह संध्याकर्मसे निर्मल हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' और पुनः कहते हैं कि 'गायत्री छन्दसामहम्।' इस प्रकार एक ब्रह्मचारीका गायत्री-जप उसके जीवनके लिये एक महत्त्वपूर्ण उपासना बन जाता है।

जब वह गृहस्थ बन जाता है, तो उसे औपासन-कर्म (गार्हपत्य अग्निमें किया जानेवाला हवन) करना पड़ता है। यद्यपि यह एक बहुत ही छोटा-सा कर्म है, तो भी उसके मन्त्रका अन्तर्निहित परिणाम बहुत अधिक है। 'औपासन' शब्द स्वयं ही इसकी क्षमताको समझनेमें हमारा सहायक है। एक ब्रह्मचारीद्वारा किया गया समिदाधान-संस्कार वास्तवमें उसे महान् शिखरोंपर पहुँचा देता है। साथ ही यह अग्नि तथा अन्य देवताओंकी उपयुक्ततम उपासना भी है। अग्निहोत्र-उपासनाका विधान विशेषतया उन याज्ञिकोंके लिये है, जो कई यज्ञभागोंको श्रौत-प्रयोगकी विधिके अनुसार करनेमें तज्ज्ञ है। धार्मिक प्रवृत्तिके मनुष्यके लिये अग्नि-उपासना अनिवार्यता कर्म है। एक अग्निहोत्रीकी मृत्यु होनेपर, केवल अग्निहोत्रकी उस अग्निकी सहायतासे ही वह जलकर राख हो जाता है, जिसकी उसने जीवनभर सच्ची निष्ठा तथा प्रार्थनायुक्त मनोभावसे सेवा की है।

वानप्रस्थीकी अपनी मन्त्रोपासना है। संन्यासीके लिये प्रणव-उपासना तथा अन्य मन्त्रोपासनाएँ हैं। श्रीविद्याके उपासकको संन्यासी बन जानेके बाद भी देशकालानुसार उपासना तथा पूजा और श्रीचक्रकी आराधनाका अधिकार है। इस प्रकार एक मनुष्यसे आशा की जाती है कि वह जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त उपासना-सम्प्रदायसे परिपक्व बननेकी चेष्टा करे। परिव्राजक संन्यासीको अपने शिष्योंको मन्त्र-तन्त्र तथा यन्त्रके रहस्यका ज्ञान करानेमें सक्षम बनानेके लिये विशेष अधिकार प्राप्त हैं। इसलिये उसे पूजा, आराधना, होम-हवन तथा धार्मिक उद्देश्यसे प्रेरित अन्य क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। मठाधीश भी हर समय विभिन्न प्रकारके हवन-यज्ञ करते रहते हैं, जिनमें चण्डी, शतचण्डी, सहस्रचण्डी, एकादश रुद्र तथा महारुद्र, अतिरुद्र, पुरुषसूक्तहोम इत्यादि हवन-यज्ञके कुछ विभिन्न प्रकार हैं, जिनका किया जाना मानवताके कल्याणकी भावनासे अभिप्रेत है।

सब हवनों तथा यज्ञोंमें पवित्र अग्नि तो साक्षी तथा [illegible] निधिमात्र है। इन हवनोंमें उपास्य-देवताका स्थान ग्रहण करनेवाले वास्तविक देवता बहुत-से हैं। चण्डीहोममें उपास्य देवता श्रीपराशक्ति है। रुद्रहोममें उपास्य देवता श्रीपरमेश्वर (शिवजी) हैं। पुरुषसूक्त-होममें श्रीनारायण जो परमात्मा हैं, उपास्य देवता हैं। रुद्र-यज्ञोंमें अग्निको साक्षात् परमेश्वरका रूप तथा प्रतीक समझकर उपासना की जाती है। इस धारणाको स्पष्ट करनेके लिये एक ऐतिहासिक सत्य घटनाका उल्लेख किया जा सकता है। महान् दार्शनिक, व्याख्याकार, कवि तथा बहुत [illegible] याज्ञिक श्रीअप्पय्य दीक्षितने विरंचिपुरम्में भव्य यज्ञका आयोजन किया। उनकी प्रतिभाके सम्मानमें उन्हें एक सरदारद्वारा भेंट की गयी सब बहुमूल्य वस्तुओं—सोना, चाँदी, रेशम और कीमती शालदुशालोंको उन्होंने अग्निको भेंट कर दिया। कुछ निन्दकोंने इसे उनकी धृष्टता [illegible] धर्मविरुद्ध समझकर इस घटनाका बखान राजाके [illegible] किया। राजा पूर्णाहुतिको देखनेके लिये स्वयं उपस्थित हुआ। महान् याज्ञिक इस ऊहापोहके वास्तविक कारण [illegible] अभिज्ञ थे। उन्होंने अपने इष्टदेवसे इस यज्ञके वास्तविक महत्त्वको दिखानेकी प्रार्थना की। भगवान् परमेश्वर (शिवजी) उस यज्ञ-अग्निमेंसे प्रकट हो गये और उन्होंने महान् वैदिक अग्नि-द्वारा भस्मसात् की गयी सब वस्तुएँ पुनः उपस्थित कर दीं। इस दिव्य दृश्यको देखकर राजा आश्चर्यचकित रह गया और राजाने उस महापुरुषको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। सत्रहवीं शताब्दीकी इस ऐतिहासिक सत्य घटनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ-कर्म भी सर्वोच्च देवकी उपासनाका एक शुद्ध रूप है। इस महान् विचारकी धर्मसम्बन्धी दृष्टि बहुत व्यापक थी। इन्होंने अपने निजके स्थानमें एक शिवलिङ्गकी स्थापना तथा विष्णुमन्दिरका निर्माण किया। यद्यपि भगवान् परमेश्वर (शिवजी) के प्रति उनकी स्वर्गीय

बहुत अधिक निष्ठा थी, तो भी उन्होंने विशिष्टाद्वैतदर्शनकी कृतियोंपर भाष्य लिखे हैं। दार्शनिक भाष्यकी दृष्टिसे उनकी 'शिवार्कमणिदीपिका' एक सर्वोत्कृष्ट कृति समझी जाती है। उनका प्रत्येक कार्य भक्तिपूरित, दार्शनिकतापूर्ण तथा उच्चतम प्रकारका उपासनाकर्म था।

इसी प्रकार समाजके प्रत्येक छोटे-बड़े सब स्तरके हर व्यक्तिको जीवनमें उसकी परिस्थितियोंके अनुरूप उपासना करनी होती है। वाल्मीकि ऋषि अपनी अनोखी शैलीमें दशरथके समान महान् प्रतापी राजाके लिये आवश्यक कर्तव्योंका निरूपण करते हैं। राजमहलकी परिधिमें ही एक विशेष देवालय था। कौसल्या तथा श्रीरामको भी विशिष्ट स्थितिमें विशेष यज्ञ-हवन करने पड़ते थे। मन्त्रशास्त्र तथा वेदान्तमें श्रीरामकी दीक्षा श्रीवसिष्ठ ऋषिके द्वारा हुई थी।

शिलप्पदिकारम् नामक तमिळ भाषाके महान् काव्यमें एक धनी वैश्य इळङ्कोवडिकल्ने बहुत ललित भाषामें वर्णन किया है। इस कवितामें एक जैन-संन्यासिनीका उल्लेख है। उसके देवताओं तथा अन्य उच्चतर सत्ताके सम्बन्धमें अपने कुछ विचार हैं। वह अपनी भक्ति तथा तपस्यासे एक दम्पतिको शरारती लोगोंसे त्राण दिलवाती है। इस कविताकी नायिका कण्णकि अपने पतिव्रत-धर्म तथा सतीत्वके बलपर एक बड़े नगरको जलानेमें सफल हो जाती है। नायक कोवलन् भी अपनी मन्त्र-उपासनाकी सहायतासे एक असुरको दण्ड देता है।

आवूर् मूलङ्किलार् शुङ्गकालका एक कवि था। वह वेळ्ळाळ जातिका था। उसका एक ब्राह्मण मित्र था। दोनों ही अन्य लोगोंकी सच्ची प्रशंसा करते हुए अपना जीवन बिताते थे। कवि कहता है कि 'उसका ब्राह्मण मित्र यज्ञ तथा जलमें घीकी आहुति दिया करता था तथा यज्ञ-शालामें हजारों लोगोंको भोजन कराता था।'

आजकल भी सामान्य व्यक्तियोंके जीवनमें विभिन्न प्रकारकी भाव-भक्ति एवं उपासना दिखायी देती है। उन दिनों राजाओंद्वारा शास्त्रोंके प्रवचन, वेदपाठ, आगमोंके अध्ययन तथा भक्तिकी साधनाके लिये मन्दिरों आदिका निर्माण किया जाता था। पुजारियोंसे सदा अपेक्षा रहती थी कि 'वे अपने विशिष्ट आगमके ज्ञानके सम्बन्धमें प्रवीण हों और वे अधिष्ठात्री देवताके साथ-साथ कुलदेवताओंकी नित्य-नैमित्तिक उपासनाकी पद्धति भी भलीभाँति जानते हों।'

ज्ञानसम्बन्धने तीन वर्षकी अल्पायुमें शीरकाळीमें अत्यन्त सुन्दर संगीतमय पद्योंसे भगवान्की स्तुति की। अपने जीवनमें इतना बड़ा कार्य कर डालनेके लिये उन्होंने तैयारी क्या की थी? वे अपने पिताके साथ मन्दिरके तालाब-पर आये। उन्हें भूख लगी और दूधके लिये चिल्लाने लगे। शिव और पार्वती उनके सामने प्रकट हो गये और उन्हें दिव्य दुग्ध पिलाया। इस दूधने उन्हें दिव्य कविताकी सजीव प्रतिमा बना दिया। अपने छोटेसे जीवनकालमें वे जहाँ कहीं भी गये, अपनी आँखोंसे भगवान्को सर्वत्र देख सकते थे। उनका मन्त्र पञ्चाक्षर था और जिस किसी मन्दिरमें भी वे गये वहाँ भगवान्की स्तुति करना ही उनकी तपस्या थी। उन्होंने एक मृत व्यक्तिको जीवनदान दिया तथा एक नव-विवाहिता लड़कीकी कृतज्ञताके भाजन बन गये। उनके मइलापुर आनेके कई वर्ष पूर्वसे ही अस्थियोंके रूपमें एक घड़ेमें बंद पड़ी एक कुआँरी कन्याको जीवित कर दिखाया। उनकी पूजाके इस स्थानमें आज भी उनकी कृपाकी स्मृतिमें महान् उत्सवका आयोजन किया जाता है। उन्होंने 'कूनपाण्ड्या' राजाको जीवनकी सब शारीरिक तथा मानसिक व्याधियोंसे मुक्ति दिलाकर शैवमत स्वीकार कराया। इसके पूर्व वह राजा गत कई वर्षोंसे जैनमतावलम्बी था। इस तरुण भक्तने अपने विवाहके दिन वहाँ उपस्थित सब लोगों तथा नवोढा शर्मीली दुलहिनको भी ले जाकर इनकी मुक्तिके लिये प्रभुसे प्रार्थना की। सब-के-सब लोग उस दिव्य अग्निमें प्रवेश कर गये जो वहाँ उस दिन प्रकट हुई थी। वह तथा उसकी तरुण पत्नीने सबसे अन्तमें मुक्तिकी उस अग्निमें प्रवेश किया, जिस प्रकार श्रीरामने अपने सरयूप्रवेशके समय किया था।

जीवन्मुक्तोंको भी अपनी विशेष उपासना करनी पड़ती थी, यद्यपि उनका स्वरूप बाहरसे प्रत्येक व्यक्तिके ध्यानमें नहीं आता था। महान् संत तथा दार्शनिक सदाशिव ब्रह्मने एक ही समयमें एक साथ मदुरा, 'श्रीशैलम्', गोकर्ण तथा पशुपतिनाथमें अपनी शिवरात्रि-अर्चना की थी। वे मदुरामें ध्वजस्तम्भके पास खड़े थे और उस महान् रात्रिमें चारों शिवलिङ्गोंपर रात्रिके चारों प्रहरोंमें पुष्प गिर रहे थे।

वैष्णवभक्तोंमें अग्रगण्य नम्माळवार श्रीशठकोप अपने बचपनसे ही इमलीके वृक्षके नीचे रहे। अपने उस उपासनाके स्थानसे वे कभी हिले-डुले नहीं। यह सही अर्थमें एक आसन था, जो कुरुकापुरीके भगवान्‌के बहुत निकट था। भगवान् आदिनाथ ही उनके इस लोक और परलोकके माता-पिता, सखा तथा सगे-सम्बन्धी थे। उन्होंने अपने इस एकान्त स्थानपर ही भारतके अनेक देवस्थानोंकी अर्चा-मूर्तियोंपर बहुत ही मधुर पद्योंकी रचना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें उन स्थानोंके देवताओंके अन्तश्चक्षुसे दर्शन हुआ करते थे। उनके हृदयके उद्गार बहुत ही मर्मस्पर्शी, गहन आत्मीयता और गम्भीर धार्मिक भावोंसे परिपूर्ण तो हैं ही, साथ ही उपास्य देवतासे सीधा सम्पर्क करनेके लिये सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी शैली भी उनके मनकी तरह स्वच्छ है। उनकी वाक्सरणि उनके हृदयकी तरह पवित्र है। उनकी अनुभूति उनकी अपनी वस्तु है। उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता। इन सब कारणोंसे वे भगवान्‌के पथके प्रदर्शक बन गये। वे शुद्ध उपासना तथा सरल विश्वासके मूर्तिमान् प्रतीक थे। वे जितने महान् तथा मधुरभाषी थे, उतना ही उनका जीवनकाल अल्प था। वे हिंदूसमाजकी वर्णव्यवस्थाके अन्तर्गत चतुर्थ वर्णके थे, परंतु पुराने समयके आळवार विष्णुभक्तोंमें सर्वप्रथम थे।

एक लकड़हारा भी अपने दाहिने हाथमें कुल्हाड़ी लेकर भगवान्‌की प्रार्थना करता है। यही उसकी उपासना है। मिट्टीकी दीवाल बनानेवाला कुली भी हाथमें अपना उपकरण लिये हुए जमीनसे मिट्टीका एक भी फावड़ा उठानेके पूर्व प्रभुसे प्रार्थना करता है। इस प्रकार हमारे पूरे समाजमें सर्वत्र भगवान्‌का विचार बहुत अंदरतक ओतप्रोत है।

आर्यसमाजी लोगोंकी अपनी उपासनापद्धति है और ब्राह्मसमाजीकी अपनी प्रणाली है। एक बौद्धकी उपासनाके लिये उसके तीन मन्त्र हैं। जैनीके भी उसी उद्देश्यके लिये तीन 'शरण' हैं। मुसल्मानोंमें सूफियोंका भगवान्‌के प्रति अपना विशेष दृष्टिकोण है। अनलहक (अहं ब्रह्मास्मि) एक महान् सूफीका मन्त्र था, जिसे भगवान्‌के सम्बन्धमें अपने दार्शनिक दृष्टिकोणसे चिपके रहनेके कारण अ… जीवनतक गँवाना पड़ा। पादरी सी० एफ० एन्ड्रूज, जो … कट्टर ईसाई थे, उनका अपना विशेष उपासना… 'मानवताकी सेवा' था।

उपासनायोगके चार अङ्ग हैं—उपास्य, उपा… उपासना तथा मन्त्र। परमात्मा ही उपास्य हो सकते हैं। उपासकको यह अनुभव होना चाहिये कि वह उस सर्वव्या… की उपस्थितिमें एक तुच्छ जलबिन्दुमात्र है, जिसके … उसे बड़ी सावधानीसे क्रमशः एक-एक पग रखकर पहुँ… है। उसे अपने जीवनकी इस कलामें दीक्षित होनेके लि… गुरुकी शरण ग्रहण करनी होती है। उपासक और साधक… नाते उसमें अपने गुरुपर पूर्ण श्रद्धा होना आवश्यक है। उसे अपने हृदयमें यह अनुभव होना चाहिये कि उस… गुरु उसका अन्तिम सत्यतक मार्गदर्शन करनेमें समर्थ है। किसी भी प्रकारकी उपासनाके लिये दीक्षित होना नित… अनिवार्य है। दीक्षा देनेवाला मन्त्रसाधनाका सच्चा अनु… सिद्ध (ज्ञाता) होना चाहिये। गायत्रीमन्त्र सब मन्त्रों… अधिक समर्थ होनेपर भी उसने अपनी सारी शक्ति खो… है और उसका कारण है कि अति अनियमित ढंगसे मा… पिता अपने लड़कोंको यह मन्त्र देते हैं और आलस्य… लापरवाहीसे लड़का उस वास्तविक उपासनाको बिना कि… किये छोड़ देता है।

उपासना सरल विश्वास तथा शुद्ध हृदयसे करनी प… है। मन्त्रशास्त्र बहुत विस्तृत है। पुराने मन्त्र नवीन… मन्त्रोंको स्थान दे रहे हैं। कुछ मन्त्रोंका उद्गम वेदोंसे… कुछका तन्त्रोंसे और अन्यका पुराणोंसे। इष्टफलोत्प… होनेके लिये यह आवश्यक है कि उन महान् ऋषि… परम्पराद्वारा यह प्राप्त होना चाहिये, जो सर्वप्रथम उस मन्त्र… द्रष्टा थे। वर्तमान समयके गुरु जीवनमें कई नयी समस्या… खड़ी कर देते हैं। परंतु हमारे प्राचीन ऋषियोंके पदचिह्नों… अनुसरण करनेकी पात्रता उनमें नहीं है। हम भगवान… प्रार्थना करें कि हमारा जीवन दिव्य सेवाभाव, भक्तिभाव… तथा उपासनासे पूरित हो।

उपासना-शक्तिका रहस्य

(लेखक—श्रीजयराजजी वशिष्ठ)

उपासना शब्दका अर्थ समीप बैठना अथवा उपासन्न होना (समीप होना) है। कोई समूर्त्त अथवा अमूर्त्त ध्येयरूपी वस्तु पहले आसीन हो तो ही उस वस्तुके समीप जाने अथवा समीप बैठनेका प्रयोजन है। उपासन्न होना गतिका द्योतक है। गति शरीरकी होती है और मनकी भी होती है। बिना लक्ष्य प्रयोजन नहीं बनता। मनका लक्ष्यकी ओर बार-बार गतिशील होना (बार-बार लक्ष्यका स्मरण करना) अथवा लक्ष्यमें स्थिर होना 'उपासना' है और शरीरद्वारा गतिशील होकर लक्ष्यके समीप जाना अथवा स्थिर होकर बैठना 'कर्म' है।

२. वेदके तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। मनुष्यके भी तीन शरीर हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। मनुष्यके ये तीन शरीर मनुष्यके आत्मरूपपर आवरण हैं अथवा तीन ग्रन्थियाँ हैं। यज्ञोपवीत सूत्रकी तीन ग्रन्थियाँ मनुष्य-शरीरकी तीन ग्रन्थियोंकी द्योतक हैं। इन तीन ग्रन्थियोंके भेदन अथवा तीन आवरणोंके निवारणार्थ यज्ञोपवीतसूत्र धारण करना एक प्रकारका व्रत लेना है। इन तीन आवरणोंके निवारणार्थ वेदने तीन मार्ग बताये हैं—१. कर्म, २. उपासना और ३. ज्ञान। ये तीन वेदोक्त यज्ञ (साधनाएँ) हैं। इन यज्ञोंके अनुष्ठानके लिये यज्ञोपवीत-संस्कारसे संस्कृत होना अनिवार्य है। यह अधिकार-प्राप्ति ही यज्ञ-दीक्षा है।

३. मनुष्यके सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणमय त्रिविध शरीर प्रकृतिके (५ भूत + ५ कर्म-इन्द्रियाँ + ५ ज्ञान-इन्द्रियाँ + ५ प्राण + ४ अन्तःकरण) २४ तत्त्वोंद्वारा निर्मित हुए हैं। तीन ग्रन्थियोंका भेदन गायत्रीमन्त्रके जप-द्वारा होता है। 'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।'—यह २४ अक्षरका गायत्री-मन्त्र है। इन २४ अक्षरोंमें प्रकृतिके २४ तत्त्व निहित हैं। सारा संसार २४ तत्त्वमय है। अथवा सारा संसार गायत्रीमय है। गायत्री हमारा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन प्रकारके दुःखोंसे त्राण करती है, इस कारण इसकी गायत्री-संज्ञा सार्थक होती है। गायत्री मातासे ही वेद निकले हैं, इस कारण यह 'वेदमाता' कहलाती है। यह प्रकृतिके २४ तत्त्वोंसे मुक्त करके हमको हमारे आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित करती है, इस कारण आध्यात्मिक माता कहलाती है। वेदका यथार्थ ज्ञान इन वेदमाता गायत्रीकी कृपाके बिना प्राप्त होना असम्भव है। इनकी कृपासे साधक मन्त्रद्रष्टा बनकर वेदके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त करता है। यज्ञोपवीत-सूत्र गायत्री-मन्त्रद्वारा धारण किया जाता है। वेदमें गायत्री-मन्त्रसे बढ़कर मनुष्यका संसार-सागरसे त्राण करनेवाला कोई दूसरा मन्त्र नहीं है। गायत्री-मन्त्रमें बुद्धिको परम लक्ष्यकी ओर प्रेरित करनेकी भगवान्से प्रार्थना की गयी है। यह मन्त्र क्षर प्रकृतिसे जीवका उद्धार करके अक्षर ब्रह्ममें उसको प्रतिष्ठित करता है। यहाँ क्षर ब्रह्ममें गायत्री वेदरूप है, वहाँ अक्षर ब्रह्ममें गायत्री महावेदरूप है—वहाँ गायत्री महागायत्रीरूप है। यहाँ यह त्रिगुणात्मक रूप है, वहाँ यह सच्चिदानन्दरूप है। इसी कारण भगवान्ने अर्जुनको गीतामें 'निस्त्रैगुण्य' बननेकी प्रेरणा दी है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

(गीता २।४५)

यहाँ जीवको त्रिगुणरूपी वेदोंका अतिक्रमण करके परम वेदमें प्रतिष्ठित होनेकी प्रेरणा दी गयी है। यही जीवका परमलक्ष्य है जिसकी उपासना गायत्रीमन्त्रद्वारा संकेतसे बतायी गयी है। भगवान्का सब जीवोंको 'निस्त्रैगुण्य' रूपी परमधाममें पधारनेके लिये खुला निमन्त्रण है, परंतु हम जीवोंने आजतक भगवान्का परम अनुग्रहरूपी यह निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया है। यह हमारी कितनी बड़ी अवज्ञा है!

४. जीवके तीन शरीर इस अवज्ञाके कारण हैं। इन तीन शरीरोंमें आसक्त होकर जीव संसारमें दुःख-पर-दुःख भोग रहा है। कई प्रकारकी योनियोंमें भटकता है, जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त नहीं होता है। परंतु जीवका आत्मा इन तीन शरीरोंमें आबद्ध नहीं है, वह नित्यमुक्त है। जीवको अपने नित्य मुक्त स्वरूपका ज्ञान नहीं है। यह आत्मज्ञान ही जीवका लक्ष्य है। कर्म, उपासना, ज्ञान क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन शरीरोंसे मुक्त होनेके साधन हैं। स्थूलशरीर कर्म-प्रधान है, सूक्ष्मशरीर मनःप्रधान है और कारणशरीर अहंकार-

प्रधान है। कर्मशुद्धिद्वारा स्थूलशरीरसे उद्धार होता है, मनःशुद्धि-द्वारा सूक्ष्म-शरीरसे और अहंशुद्धि-द्वारा कारण-शरीरसे उद्धार होता है। कर्म-शुद्धिसे जीव नीचेवाली योनियोंमें जानेसे बचता है। मनःशुद्धि होनेपर काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार तथा राग-द्वेष—इन विकारोंसे जीवकी रक्षा होती है। अहं-शुद्धिसे ज्ञान प्राप्त होता है। अनात्म-अहंकार आत्म-अहंकारमें परिवर्तित हो जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अहंकारसे युक्त हो जाता है।

इस प्रकार कर्म, उपासना, ज्ञान—वेदके इन तीन काण्डों तथा यज्ञोंके प्रयोजन स्पष्ट हो गये।

५. इन तीन यज्ञोंमेंसे इस लेखका सम्बन्ध उपासना-यज्ञसे है। वेदमें उपासना-यज्ञका स्थान दूसरा है। यह वेद-की दूसरी भूमिका है। कर्म पहली भूमिका है तथा ज्ञान तीसरी भूमिका है। इन तीन भूमिकाओंकी परीक्षामें उत्तीर्ण होकर जीव चौथी 'निस्त्रैगुण्य' वाली भूमिकामें प्रतिष्ठित होता है। केवल कर्मकाण्डमें व्यस्त रहना एक प्रकारकी स्थूल उपासना ही है। यह स्थूल उपासना मनुष्यको कर्म-जड बनाती है।* कर्मकाण्डद्वारा हम केवल इन्द्रियों और शरीरके ऐहिक तथा पारलौकिक भोगोंको ही प्राप्त करते हैं। परमार्थ-प्राप्ति इन सकाम-कर्मों † द्वारा नहीं हो सकती।

उपासनाका सम्बन्ध मनसे है। उससे मनकी शुद्धि होती है। मनःशुद्धि विशेष महत्त्व रखती है। मन शुद्ध होनेपर मनुष्यका संसारसे उद्धार हो जाता है। शास्त्रोंमें कहा है कि 'मन ही संसारमें जीवके बन्ध-मोक्षका कारण है।'—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।' हमारा मन संसारिक विषयोंमें आसक्त है। यह केवल देह-सुख और इन्द्रियोंके भोगोंको चाहता है। स्थूलशरीर तथा इन्द्रियोंकी ही सेवामें लगा रहता है। इस मनको विषयोंसे मुक्त करनेके लिये उपासनाकी परम आवश्यकता है। निष्काम कर्मके अनुष्ठानसे भी मनःशुद्धि हो सकती है। मनको संसारकी ओरसे परावर्तित करके किसी एक सुन्दर कल्याणकारी अलौकिक विषयमें एकाग्र करना ही 'उपासना' है। यह उपासना वास्तवमें ध्यानयोग है। ध्यान कहते हैं मनकी एकाग्र वृत्तिको।

६. वास्तवमें सब जीवोंके मनकी वृत्ति तो प्रत्येक समय किसी-न-किसी विषय तथा पदार्थमें लगी ही रहती है। इस दृष्टिसे संसारका प्रत्येक जीव उपासक है। कोई भी जीव उपासनारहित नहीं है। मन जिस वस्तुको चाहता रहता है, अनायास ही उसे उस वस्तुका ध्यान होता रहता है और इस रूपमें उसके द्वारा उपासना होती रहती है। सब जीवोंका यह उपासक-उपास्य-भाव संसारमें चारों ओर दृष्टिगोचर हो रहा है। जीव अनन्त हैं, उनमें इच्छाएँ भी अनन्त हैं। इच्छा-पूर्तिके लिये जीव अपनेसे भिन्न जिन जीव, पदार्थ, विषय या लक्ष्यका बार-बार चिन्तन करता है, उसके प्रति उस जीवकी यह अनायास ही होनेवाली उपासना है। इस प्रकार सब जीव आपसमें एक-दूसरेकी उपासना कर रहे हैं। एक दूसरेसे आपसका प्रयोजन ही उपासनाका लक्ष्य बन जाता है। कई प्रकारके अर्थ जीवको घेरे हुए हैं। ये सब अर्थ जीवसे अपनी-अपनी उपासना करवाते हैं। भूख रोटीकी तथा प्यास जलकी उपासना करवाती है। इस प्रकार अनेक अर्थ जीवके उपास्य हैं। वे क्या यह सब उपासना है?

७. पाठक विचार करें। तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) के अनुसार भाव, श्रद्धा, ज्ञान, बुद्धि, कर्म, दान, त्याग, योनियाँ और लोक विभक्त हुए हैं। (देखें गीताका १७, १८ वाँ अध्याय) जब मन तामस भावसे युक्त होता है तो भावानुसार किसी तमोगुणी पदार्थ अथवा लक्ष्यकी इच्छा करता है और फिर बार-बार तबतक उस पदार्थ अथवा लक्ष्यका चिन्तन करता रहता है, जबतक वह हस्तगत नहीं हो जाता। यह उसके द्वारा उस पदार्थ अथवा लक्ष्यकी तामसी उपासना है। इस तमोगुणी पदार्थ अथवा लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये वह कर्म भी

---

* भगवद्गीताके अनुसार फलेच्छा, आसक्ति, अहंता-ममता आदिका परित्याग किये बिना किसी भी साधनमार्गमें सफलता नहीं मिल सकती। इनके त्यागपूर्वक किये गये कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग समानरूपसे सिद्धि, परमात्मप्राप्ति, परम पद, परम निर्वाण एवं परम शान्ति आदि शब्दोंसे अभिहित मोक्षकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होते हैं। कर्मकाण्ड या यज्ञका अनुष्ठान निष्काम भावसे या भगवत्प्रीत्यर्थ किये जायँ तो 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' के अनुसार भगवत्प्राप्ति करा सकते हैं; अतः कर्मकाण्डका अनुष्ठान स्थूल उपासना है। उससे कर्मजडता आती है—यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है। फलासक्तिसे ही उक्त दोष आ सकता है, अतः वह सर्वथा त्याज्य है ही।—सम्पादक

† कर्मोंकी सकामता ही परमार्थ-प्राप्तिमें प्रतिबन्धक है, निष्काम कर्मयोग नहीं।

तदनुरूप (तामस) ही करेगा । इस विषयमें उसकी बुद्धि, भाव, श्रद्धा और ज्ञान—सब तामस ही होंगे और फिर इस तामसी उपासनाके फलस्वरूप उसको तामस लोक एवं तामस योनिकी ही प्राप्ति होगी । इसी प्रकार राजसी उपासनासे राजसी ही योनि तथा लोक प्राप्त होंगे । इसी नियमसे सात्त्विकी उपासनाका फल भी सात्त्विक ही होगा । इससे यह स्पष्ट हुआ कि उपास्य-भेदसे ही उपासनामें भेद हो जाता है । सात्त्विक, राजस और तामस उपास्योंके लिये की जानेवाली उपासना भी सात्त्विक, राजस और तामस ही होगी—यह बात सिद्ध हुई । जैसा भाव या जैसी श्रद्धा होती है, उसी प्रकारकी उपासना बनती है और तदनुसार ही गति प्राप्त होती है । गीताके वचन हैं—

> त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
> सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ॥
> सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
> श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
> यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
> प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
> (१७ । २–४)

इनसे स्पष्ट हुआ कि भावानुरूप ही जीवकी श्रद्धा होती है । जैसी जिसकी श्रद्धा है, तदनुरूप ही वह स्वयं है ।

८. जीवका योनिपरिवर्तन इसी रहस्यपर निर्भर है । यह उपासना-भेद ही इसका कारण है । गीतामें कहा है—

> यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
> तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥
> (८ । ६)

वास्तवमें अन्त समयमें जिस किसी जीव अथवा पदार्थमें उसका सर्वाधिक राग होगा, उस समय उसका उपास्य वह जीव अथवा पदार्थ ही होगा । मनुष्य-योनिसे कुत्ते, घोड़े, बिल्ली, भैंस और गाय आदि योनियोंमें जाना रागात्मक उपासनाका फल है । बात यह होती है कि दृढ़रागात्मक उपासनासे जीव अपने मनुष्य-भावको भूल जाता है और जिस किसी योनिके जीवमें अधिक राग होता है, उस उपास्यके भावसे जीवका मन तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । यह परिवर्तन रागके आरम्भ होते ही—जीवन-कालमें ही प्रारम्भ हो जाता है । इस तामस-भावमयी उपासनासे ही जीव चौरासी लाख योनिमें भ्रमण करता है।

राजा भरत राज्य त्यागकर एकान्तमें एक नदीतटपर पर्णकुटी बनाकर वहाँ ब्रह्मचिन्तनका अभ्यास करते थे। वे नदीमें बहते मृगशावकको दयावश अपने आश्रमपर ले गये । भरतका मन धीरे-धीरे उसमें आसक्त हो गया । ब्रह्मप्राप्तिके लिये उन्होंने सब राज्य-सुख छोड़ा था। अब उनका लक्ष्य ब्रह्म न रहकर मृगशावक हो गया । ब्रह्मकी उपासना मृगशावककी उपासनामें परिणत हो गयी । अन्तमें गति भी तदनुरूप ही हुई । उनका यह योनिपरिवर्तन उनकी उस रागात्मक उपासनाका ही फल था । विचार कीजिये, कहाँ ब्रह्म और कहाँ मृगयोनि ! आकाश-पातालका अन्तर ! किंतु इतना बड़ा परिवर्तन अनायास ही हो गया । इससे हमें उपासना-शक्तिका रहस्य ज्ञात हुआ । उपासना-भेदसे अनायास योनिपरिवर्तन-विधान संसारमें सर्वत्र कार्यशील है । इस उपासना-बलके द्वारा जीव मनुष्यस्तरसे पतित होकर स्थाणुयोनितक नीचे उतर सकता है । इसी प्रकार इस उपासनाके बलसे ही मनुष्यस्तरसे ऊपर उठकर जीव ब्रह्मतक आरोहण कर सकता है । मनुष्य-स्तरसे नीचेकी योनिमें उपासना-शक्ति अज्ञात-रूपसे कार्य करती है और मनुष्य-स्तरसे ऊपर ज्ञात-रूपसे । पशु-पक्षी, वनस्पति-धातु, स्थाणु आदिमें योनिपरिवर्तन अज्ञात उपासना-शक्तिके आधारपर होता है ।

९. जब हम इस उपासनाके बलसे नीचेकी चौरासी लाख योनियोंमें जा सकते हैं, पातालोंमें आसुरी योनि प्राप्त कर सकते हैं, नरकोंमें भी पहुँच सकते हैं, तब देवलोक तथा भगवान्‌के लोकमें क्यों नहीं जा सकते ? अवश्य जा सकते हैं । अन्तर इतना ही है कि निम्न-योनियोंमें प्रवेश तो असंयमका फल है । यह असंयम तामसी-उपासना है । इसका प्रवाह अनायास ही होता है । जैसे पत्थर और पानी अनायास ही नीचेको ढुलक जाते हैं—इसी प्रकार साधारणतया मनुष्यका मन भी अनायास ही नीचेको चला जाता है । परंतु ऊर्ध्व योनियोंमें जानेके लिये प्रयत्न अनिवार्य है; क्योंकि वह आरोहण है । अवरोहण (पतन) अयत्नसाध्य होता है, किंतु आरोहण (ऊँचे चढ़ना) प्रयत्नसे ही साध्य है । यह प्रयत्नरूप उपासना मनुष्यस्तरसे आरम्भ होती है । यही वेदोक्त कर्मकाण्ड है । यह हमें न केवल निम्न स्तरकी योनियोंमें जानेसे बचाता है;

बल्कि हमारे ऊर्ध्वारोहणमें भी सहायक होता है। तामसी उपासना वेद-विहित नहीं है। यदि हमको ऊपरकी योनियोंमें जाना है और नीचेकी योनियोंमें जानेसे बचना है तो वेदोक्त मार्गका आश्रय लेना अनिवार्य है। वेदोक्त मार्गकी सफलताका क्रम—प्रथम कर्म शुद्धि, फिर मनःशुद्धि और अन्तमें अहं-शुद्धिपर निर्भर है।

१०. आधुनिक वैज्ञानिक भी मनकी एकाग्रतारूप उपासनाके बलसे ही बहुत-से आविष्कार कर रहे हैं। यह एक प्रकारकी भौतिक उपासनाका फल है। एकाग्र मनसे हम कोई भी उपासना करेंगे तो उसमें सफल होंगे। मनकी एकाग्रताके बिना की गयी उपासना अधूरा फल देती है। वैज्ञानिक लोग अपने ढंगसे चन्द्रमापर पहुँचनेकी उपासनामें लगे हुए हैं। परंतु यह वेदोक्त मार्ग या वेदोक्त उपासना नहीं है। यह आसुरी उपासना है—आसुरी ढंग है। वेदोक्त उपासनाके अनुसार हम सूर्यकी उपासना करके सूर्यलोकमें जा सकते हैं; अग्निकी उपासनासे अग्निलोकमें जा सकते हैं, चन्द्रमाकी उपासनासे चन्द्रलोक, पितरोंकी उपासनासे पितृलोक, देवोंकी उपासनासे देवलोक, शिवजीकी उपासनासे शिवलोक, ब्रह्माजीकी उपासनासे ब्रह्मलोक, भगवान् श्रीविष्णुकी उपासनासे विष्णुलोक, श्रीरामजीकी उपासनासे साकेतलोक तथा श्रीकृष्ण भगवान्‌की उपासनासे गोलोकतक जा सकते हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
(९।२५)

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(८।५)

'जो मुझे भजता है वह मुझे प्राप्त होता है। जो दूसरे देवों, पितरों या भूतोंको भजता है वह उनको ही प्राप्त होता है। अन्तकालमें जो मेरा स्मरण करता हुआ देहका त्याग करता है, वह निःसंदेह मुझे ही प्राप्त होता है।'

११. अब पाठक उपासना-शक्तिकी सीमाका पता तनिक और लगायें। अणिमा, लघिमा, महिमा आदि अष्ट-सिद्धियाँ तथा नव निधियाँ भी इस ध्यानरूपी उपासनासे प्राप्त होती हैं। पातञ्जलयोगदर्शन सारा-का-सारा उपासना-दर्शन ही है। सगुण ब्रह्मसे सम्बद्ध चार प्रकारकी मुक्तियाँ भी उपासनाके फल हैं—१ सामीप्य मुक्ति, २ सालोक्य मुक्ति, ३ सारूप्य मुक्ति और ४ सायुज्य मुक्ति। ये सब आराधना या उपासनाके फल हैं। आराधना या उपासना हृदयसे होती है। यही 'भक्तियोग' कहलाती है। ध्यानरूप उपासना मनके द्वारा होती है। यह 'राजयोग' कहलाती है। जैसे सगुणब्रह्मकी उपासना है, वैसे निर्गुणब्रह्मकी भी उपासना है। निर्गुणब्रह्मकी उपासना बुद्धिद्वारा होती है—यह 'ज्ञानयोग' कहलाती है। गीतामें कहा है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
(१२।२-३)

इस विवेचनसे स्पष्ट हुआ कि उपासनासे हम नीचे स्थाणु-योनितक भी जा सकते हैं और ऊपर ब्रह्म-सायुज्यतक प्राप्त कर सकते हैं। यह है उपासना-शक्तिकी महिमा। इस शक्तिके द्वारा हम एक परमाणुसे लेकर बड़े-से-बड़े लोकपाल तक—सब कुछ बन सकते हैं। परंतु हम कालके राज्यमें हैं—कालकी अपेक्षासे ही हम सब कुछ बन सकते हैं। भगवान् तथा भगवत्कृपाप्राप्त ऋषि-महर्षियोंके सत्य संकल्पसे तत्काल घटित होनेवाले रूप-परिवर्तनकी भाँति वह परिवर्तन तुरंत सम्भव नहीं होता। गौतमऋषिने अपनी पत्नी अहल्याको 'शिला भव' (शिला हो जा)—यह शाप दिया और वह तुरंत शिला बन गयी। यह ऋषिके सत्यसंकल्प-द्वारा भगवान्‌की योगमायाशक्तिका प्रयोग हुआ। योगमाया-शक्ति कालकी परिधिसे परे होकर कार्य करती है। सत्य-संकल्पके स्फुरित होते ही तुरंत वस्तुका निर्माण कर देती है। त्रिगुणात्मक राज्यमें संकल्पका कार्य देशकालानुसार होता है। योगमाया कालातीत है। त्रिगुणात्मक माया कालाधीन है। त्रिगुणात्मक काल-नीतिके अनुसार योनिपरिवर्तन धीरे-धीरे क्रमसे होता है। यह सब कुछ उपासना-शक्तिकी महिमा है। वैज्ञानिक यदि इस उपासना-शक्तिके आधारपर होनेवाले योनिपरिवर्तनके रहस्यको समझ जायँ तो ये अपना जड़वाद-सम्बन्धी दुराग्रह अवश्य छोड़ दें और अपने विज्ञानको आध्यात्मिक-विज्ञानका रूप देकर अपना तथा संसारका कल्याण करें।

१२. इस उपासना-रूपी डोरीके आधारपर कोई ऊपरको जा रहे हैं, कोई मध्यमें स्थित हैं तो कोई नीचेको जा रहे हैं—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥
(गीता १४ । १८)

संक्षिप्त रूपमें उपासना दो प्रकारकी रह जाती है—एक आत्म-उपासना और दूसरी अनात्म-उपासना। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और राग-द्वेष आदि भाव अनात्मपदार्थोंमें ही पाये जाते हैं—आत्माका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इन विकारोंद्वारा अनात्म-उपासना ही होती है। काम-भावसे हम स्त्रीकी उपासना करते हैं, क्रोध-भावसे हम शत्रुकी उपासना करते हैं, लोभ-भावसे हम धन-मान-ऐश्वर्यकी उपासना करते हैं, मोह-भावसे पुत्र, स्त्री, माता, पिता एवं भाई-बान्धवादिकी उपासना करते हैं—जैसे युद्धक्षेत्रमें अर्जुन मोहरूपा उपासना करने लग गये थे। अहंकाररूप उपासना हम अपने छोटे-बड़े अधिकारानुसार करते हैं। तीनों शरीरोंमें अहंकार रखना अहंकाररूप उपासना है। जिस वस्तुमें हमारा राग है, उसमें हम राग-रूप उपासना करते हैं तथा जिस वस्तुमें द्वेष है, उसमें हम द्वेष-रूप उपासना करते हैं। यदि हम काम-भावके स्थानपर निष्काम-भावसे युक्त हो जायँ, क्रोधके स्थानपर शान्तिसे युक्त हो जायँ, लोभके स्थानपर त्याग अथवा संतोषको अपनायें, मोहके स्थानपर निर्मोह और अहंकारके स्थानपर निरहंकार हो जायँ, रागके स्थानपर वैराग्य लायें और द्वेषके स्थानपर प्रेम अपनायें, तो हमारी उपासना निष्काम, शान्त, निर्मोह, निर्लोभ और निरहंकाररूप हो जाती है।

अब हम अनात्म-उपासना छोड़कर आत्म-उपासक बनें। जब हम ऐसे उपासक बनते हैं, तब भगवान्‌के धाममें जाने योग्य, ब्रह्ममें लीन होने योग्य, त्रिगुणातीत और कालातीत बनने योग्य तथा अनात्म-अहंकारका त्याग करके आत्म-अहंकारसे युक्त होने योग्य हो जाते हैं।

१३. यह है—उपासनाका पूर्ण लक्ष्य। इस लक्ष्यको प्राप्त करके सब कुछ वासुदेवरूप हो जाता है।

सगुण-ब्रह्म और निर्गुण-ब्रह्मके अभ्यासी प्रायः आपसमें विरोध भाववाले पाये जाते हैं—यह अपूर्ण समझका फल है। सारा संसार सगुण-ब्रह्मका मूर्तरूप है। समस्त प्राणी मूर्तिपूजक हैं। इस संसारमें जो आ गया, वह नाम-रूपके बिना उपासना कर ही नहीं सकता। हम नामरूपद्वारा ही सब कुछ समझनेके योग्य होते हैं—

क. कोई हमें कहानी सुनाता है तो सुनते-सुनते हमारे चित्तपटपर कहानीमें कहे गये स्थानों तथा पदार्थोंके रूप आदि साथ-साथ बनते जाते हैं। रूप बिना हम कहानीको नहीं धारण कर सकते।

ख. जो स्थान हमने पहले न देखा हो और उसके विषयमें लोगोंसे सुना हो, तो हमारे चित्तपटपर अपनी समझके अनुसार उस स्थानका बिना देखे ही एक नक्शा तैयार हुआ होता है।

ग. एकसे सौ तकके गणना-क्रममें अङ्कोंकी एक सूक्ष्म रूप-रेखा हमारे चित्तपटपर अङ्कित होती है। उस सूक्ष्म रूप-रेखामें अङ्कोंके स्थान नियत हुए होते हैं। अङ्कके बोलते ही अथवा सुनते ही अङ्कका रूप तथा अङ्कका नियत स्थान, जो अंदर चित्तपटपर सूक्ष्म रूप-रेखामें है, झलकता है। रूप-रेखाके आधारपर हम १ से १०० तककी गणितको धारण करते हैं। इस प्रकार हम अङ्कोंकी सगुण-उपासना प्रतिदिन करते हैं।

१४. इस कथनसे स्पष्ट हुआ कि हम रूपके बिना कोई भी नाम अथवा शब्द नहीं समझ सकते। नाम, रूप और अर्थका आपसमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। कोई नाम है तो उस नामका रूप भी अवश्य है और उस नाम-रूपका अर्थ भी अवश्य है। इस प्रकार हम 'ब्रह्म' शब्दको भी रूपरहित नहीं कह सकते। 'ब्रह्म' बोलते ही रूपरहित 'सूक्ष्म' आकाश-रूप व्याप्ति बुद्धिमें स्फुरित होती है। प्रत्येक पदार्थ रूप भी रखता है और साथ ही अरूप भी है। यही तो संसारमें व्यक्त-अव्यक्तका खेल हो रहा है। एक पदार्थ पहले अव्यक्त था फिर व्यक्त होता है और फिर अव्यक्त हो जाता है। व्यक्त अथवा अव्यक्त वास्तवमें एक ही परमात्माका रूप है। यह सब सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपोंकी मिश्रित लीला हो रही है। वास्तवमें व्यक्त और अव्यक्त दोनों भाव आपसमें एक दूसरेकी अपेक्षाकृत उपासना करते रहते हैं।

१५. उस परम तत्त्वमें एक आकर्षण-शक्ति है और एक विकर्षण-शक्ति। आकर्षण-शक्ति सबको अधिष्ठानकी ओर खींचती रहती है तो विकर्षण-शक्ति सबको बाहरकी ओर अभिव्यक्त करती रहती है। संसारके जितने नाम, रूप, पदार्थ और विषय हैं, सब हमको अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। यह वास्तवमें वही छिपा हुआ तत्त्व है, जो उन सबका और हमारा भी आत्मा है। यह आकर्षण उस एक ही आत्माका है, जो हमारे और उन पदार्थोंके अंदर भी बैठा है। देखिये, एक ही आकर्षण-शक्ति अथवा उपासना-शक्ति अनन्त रूपोंमें

विभक्त हो चुकी है। हम केवल आकर्षणके बाह्य रूपको ही देखकर रह जाते हैं, उस पदार्थ तथा जीवके अन्तर्यामी आत्मातक नहीं पहुँचते। ऐसा इस कारण होता है कि पदार्थके रूपके पीछे विकर्षण-शक्ति होती है जो हमारी चेतनाको आत्मातक पहुँचनेसे रोकती है। रूप-उपभोग तो हम कर पाते हैं; परंतु उस रूपके आत्माका उपभोग नहीं कर पाते। इसी कारण शीघ्र ही हम विकर्षित हो जाते हैं और उसी समय किसी दूसरे पदार्थमें आकर्षित होने लगते हैं। यह विकर्षणशक्ति किसी भी रूप-पदार्थके आत्मा तक हमें नहीं पहुँचने देती। इस प्रकार क्षणिक आकर्षण-विकर्षण करनेवाले रूपोंसे जब हम तंग आ जाते हैं और इनको जब मिथ्या समझते हैं तो उस समय हम वैराग्य धारण करते हैं और कर्मयोग, भक्ति एवं ज्ञानका आश्रय लेते हैं। फिर एक ही नाम, एक ही रूप तथा एक ही ध्येयका आश्रय लेकर क्षणभङ्गुर नाम-रूपोंसे मुक्त होनेका प्रयत्न करते हैं। चाहे हम बाहर किसी मूर्त पदार्थ अथवा ध्येयपर मनको एकाग्र करें अथवा अपने अन्तर्यामी आत्मा या भगवान्‌पर एकाग्र करें; यदि उपासना दृढ़ होगी तो हम अपने अंदर अथवा बाहर उस मूर्तिमें आत्मा अथवा भगवान्‌की खोज ही लेंगे। भगवान् बाहर पत्थरमें भी प्रकट हो जाते हैं तथा अपने हृदयमें भी प्रकट हो जाते हैं। जो जैसे उनको भजता है वे भी उसी रूपमें प्रकट हो जाते हैं। उस समय होता है—भगवान्‌का साक्षात्कार। भेदबुद्धिके स्थानपर परम-सायुज्य-बुद्धि पैदा होती है और सारा संसार वासुदेवरूप दिखायी देता है।

१६. भगवान्‌का यह सारा खेल 'एकोऽहम्' के आधार-पर 'बहु स्याम्' रूप बनकर हो रहा है। यह विकर्षण-शक्ति भेदबुद्धि पैदा करती है और 'एकोऽहम्' रूपको छिपा देती है, तभी 'एकोऽहम्' रूपमें 'बहु स्याम्' रूप बनता है। इस प्रकार एक तो अनन्त रूपोंमें 'बहु स्याम्' रूप उपासना हो रही है और एक 'एकोऽहम्' उपासना भी हो रही है। परम आकर्षण-शक्तिकी परिधिमें तो 'एकोऽहम्' उपासना हो रही है—यही राधेश्यामका परम-भाव स्तर है। दूसरी उपासना विकर्षण-शक्तिकी परिधिमें हो रही है। वास्तवमें ये दोनों प्रकारकी उपासनाएँ भगवान् ही कर रहे हैं। हम और आप तो यों ही बीचमें (निमित्त-मात्र) चौधरी बने हुए हैं। जब विकर्षण-शक्ति अथवा भेद-बुद्धि अपना कार्य बंद करती है तो सारा-का-सारा 'बहु स्याम्' रूप आकर्षण-शक्तिद्वारा 'एकोऽहम्'से अभिन्न हो जाता है। इस 'एकोऽहम्' रूपसे तादात्म्य प्राप्त करके ही हम अभेदरूप उपासक बनते हैं। यही अभेद-उपासना और यही सच्चिदानन्दरूपी उपासना है। इन रहस्योंको समझते हुए हमें सगुण-ब्रह्म, निर्गुण-ब्रह्म तथा मूर्ति-पूजापर आपत्ति नहीं करनी चाहिये। यह सब कुछ परमात्माका रूप है।

१७. अब प्रश्न यह है कि इस समय कलियुग बीत रहा है। वेदोक्त वर्णाश्रम-धर्म लुप्त होता जा रहा है। पाश्चात्त्य सभ्यता तथा आधुनिक विज्ञानका प्रभाव ९९ प्रतिशत प्रधान हो गया है और बहुत ही थोड़ी संख्यामें कुछ लोग बड़ी कठिनतासे वेदोक्त धर्मका कुछ पालन कर पा रहे हैं। शेष ९९ प्रतिशत लोगोंके लिये अब कौन-सा साधन प्रयोगमें लाया जाय, जिससे कलियुगके प्रबल होते हुए भी सब लोगोंका कल्याण हो सके ?

शास्त्रोंमें भक्तिको कलियुगका श्रेष्ठ साधन बताया गया है; परंतु आज भक्ति भी कोई विरला ही कर पा रहा है। शेष हम सब मिथ्याचारी और पाखण्डी बने हुए हैं। वैसे इस समय आध्यात्मिक-साहित्य पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक छप चुका है। परंतु हमलोगोंकी अध्यात्मकी ओर रुचि ही नहीं है। नाम-जप-कीर्तन आदि भी हो रहे हैं, परंतु कलियुग सब स्थानों, सब धर्मोंमें घुसकर भक्ति, ज्ञान, योग तथा सदाचार आदि सबको भ्रष्ट कर रहा है। मदिरा-मांस-मैथुन बहुत-सी आध्यात्मिक संस्थाओंमें भी घुस चुका है। स्थिति इस समय यह है कि प्रचारक, सुधारक, योगी, संन्यासी, महात्मा, भक्त, दार्शनिक—सब मिलकर भी सदाचार-की स्थापना नहीं कर सकते। क्योंकि इनमें भी ९० प्रतिशत लोग मिथ्याचारी और पाखण्डी हैं। हृदय हम सबका भोग-विलासकी ओर ढुलक रहा है—सब अपने हृदयको टटोलकर देख लें। यही कारण है कि इस समय हमारी भक्ति, हमारा ज्ञान, हमारी उपासना हमको श्रेयकी ओर न ले जाकर प्रेयकी ओर ले जा रही है। इस समय भक्ति, ज्ञान, योग धारण करनेवालोंके हृदय विषयोंसे शून्य नहीं हैं। स्पष्ट है कि हम सब लोग विषयोंकी उपासना कर रहे हैं और जैसी हमारी उपासना है, वैसा ही फल हम पा रहे हैं। यह है हमारी उपासनाओंका वर्तमान स्तर !

१८. ऐसी असह्य अवस्थामें हम सब क्या करें ? कौनसे साधनको अपनायें ? 'निर्बलके भगवान्'वाली बात भी

ठीक है, परंतु भगवान्से रक्षाके लिये प्रार्थना करें तो पुकारके लिये सच्चा हृदय कहाँसे लायें ? हममेंसे अधिकांश लोग प्रार्थनाको सबसे नीचेके स्तरकी उपासना समझते हैं। भक्ति-ज्ञान-योगको अधिक महत्त्व देते हैं। आपत्ति पड़नेपर न योग काम देता है, न भक्ति और न ज्ञान। ये सब चौपट हो जाते हैं। उस समय सच्चे हृदयसे की गयी विनीत प्रार्थना ही काम आती है। द्रौपदी-चीर-हरण-प्रकरण, गजेन्द्रमोक्ष-प्रकरण तथा दुर्वासा-अम्बरीष-प्रकरण स्मरण करें और विचारें कि क्या उनके पास भक्ति, सतीत्व-शक्ति, बल, योग, तप तथा ज्ञान नहीं था; परंतु विनीत होकर की गयी प्रार्थना ही काम आयी। ब्राह्मणसे चाण्डाल-तक सभी नर-नारी अपनी टूटी-फूटी भाषामें प्रार्थना कर सकते हैं। प्रार्थना हृदयकी भाषा है, जो भगवान्को अधिक प्रिय है। वे उसे अधिक रुचिसे सुनते हैं।

१९. इस समय संसारको विषम-ज्वर चढ़ा हुआ है। जब त्रिगुण (सत्त्व-रज-तम) विषम भाव ग्रहण करते हैं, तबसे संसारको विषम-ज्वर हो जाता है। भगवान् कई बार अवतार लेकर औषध देकर संसारके ज्वरको शान्त करते हैं, परंतु समय पाकर यह ज्वर फिर प्रबल हो जाता है। इस समय भी संसार विषम ज्वरसे बुरी तरह ग्रस्त है। यदि इसका इलाज नहीं किया गया, तो सन्निपात होनेवाला है, फिर तो इलाज असम्भव है। परंतु अभी कुछ आशा है कि ठीक हो जाय। इस विषम ज्वरकी दवाई न तमोगुणमें है, न रजोगुणमें और न सत्त्वगुणमें। ये गुण तो आपसमें ही विषम बने रहते हैं। ये संसारका इलाज क्या करेंगे ? इन्होंने ही तो संसारको रोगी बना रक्खा है। अवश्य ही इस विषम ज्वरकी दवा गुणोंसे अतीत स्तरमें है। अतीत स्तर अक्षर ब्रह्मका स्तर है। वहाँ इस क्षयरोगकी ओषधि अवश्य है। अतीत स्तरमें एक परम वैद्य विराजमान हैं। सुना गया है कि वे विषम ज्वर तथा क्षय-रोगके उपचारमें बड़े प्रवीण हैं। उनके पास पुकार करनी पड़ेगी। सारा संसार पुकार करेगा तो वे संसाररूपी रोगीको देखने अवश्य आयेंगे। क्षर-पुरुषके प्रादुर्भावके साथ ही विषम ज्वर और क्षय-रोगका भी प्रादुर्भाव हो जाता है। इसका इलाज अक्षर ब्रह्ममें ही है—यहाँ नहीं है। सुना है कि उन परम वैद्यजीके पास सच्चिदानन्दकी भावनासे बनी कुछ गोलियाँ हैं। केवल एक गोलीके देनेकी आवश्यकता है कि विषम ज्वर संसार-रूपी रोगीकी त्वचा, खून, मांस, मज्जा और हड्डीमें, जहाँ कहीं भी होगा, समूल नष्ट हो जायगा। यह विषम ज्वरकी परम ओषधि है।

उन अविनाशी वैद्यजीसे हम सबको अपना इलाज करवाना चाहिये। पर जबतक समस्त संसारके उपचारार्थ परम वैद्यजी यहाँ न पधारें तबतक भागवत पुराणमें बतायी हुई दवाका (FIRST AID) प्रथम चिकित्साके रूपमें यदि हम प्रयोग कर लें तो भी ये विषम ज्वर तथा क्षय-रोग बहुत कुछ शान्त हो सकते। भागवत पुराणमें वर्णित वह महान् औषध यह है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥
(श्रीमद्भा० ११। २९। १९-२०)

भगवान् कहते हैं—'मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं उनमें सबसे श्रेष्ठ साधन समस्त प्राणियों तथा पदार्थोंमें मन, वाणी और शरीरकी सब वृत्तियोंद्वारा मेरी भावना करना है। यह मेरा अपना भागवत-धर्म है। इसको आरम्भ कर देनेके बाद फिर किसी प्रकारकी विघ्न-बाधासे इसमें अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि यह धर्म निष्काम है और स्वयं मैंने इसको निर्गुण होनेके कारण सर्वोत्तम निश्चित किया है।'

२०. यह है—वह परम औषध, वह परम उपासना, वह परम भागवत-धर्म, जो भगवान्ने परम अनुग्रहपूर्वक हम जीवोंके कल्याणार्थ प्रदान किया है। हमें इस परमश्रेष्ठ भागवत-उपासनाको अपनाना चाहिये। एक दूसरेको विषम-रूपसे न देखकर भगवद्-रूपसे देखना चाहिये। यदि हम सब सेवक, प्रचारक, सुधारक, धर्मवेत्ता, योगी, संन्यासी, महात्मा, त्यागी, गृहस्थ, शासक इस परम उपासनाका अभ्यास करें तो अपना तथा समस्त संसारका कल्याण हो जाय। यहाँतकके विवेचनसे यह स्पष्ट हो गया कि इस रोगको अतीत-स्तरकी शक्ति ही दूर कर सकती है। ये त्रिगुण हमारे अन्तःकरणमें विद्यमान हैं, तभी हमारी बुद्धि विषम बनी रहती है। विषम बुद्धिसे विषम उपासना होती है और फिर संसार भी विषमरूप भासता है। यदि हमारी बुद्धि सच्चिदानन्दमयी बन जाय तो संसार भी सच्चिदानन्दरूप भासित हो। यदि हम निरन्तर भगवद्-बुद्धिसे सच्चिदानन्दमयी उपासना करें तो हमारा हृदय सच्चिदानन्द-रूप हो जाय। हमें भगवान्से सविनय

प्रार्थना करनी चाहिये कि वे हमारी विषम-बुद्धिका निवारण करके सच्चिदानन्दमयी बुद्धि प्रदान करें। इस प्रकार हमारी सब उपासनाएँ परमार्थ-उपासनाका रूप धारण कर सकती हैं। यही परमार्थ-उपासना है।

इसी कारण भगवान्‌ने अर्जुनको त्रिगुणात्मक विषम उपासनाओंसे उपरत होकर गुणातीत तत्त्वमें निष्ठ होनेकी प्रेरणा दी है और फिर इन त्रिगुणात्मक धर्मोंका परित्याग करके ऊपर वर्णित परम भागवत-धर्ममें प्रतिष्ठित होनेका आदेश दिया है—

'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' (गीता १८। ६६)

यह है उपासनाका परम रहस्य और यही है गीताका भी परम रहस्य। विशेष भगवान् जानें।

सर्वाङ्ग उपासना

(लेखक—पू० स्वामीजी श्रीबालानन्दजी परमहंस)

उपासनाके चार अङ्ग हैं—१–अर्चना, २–स्तुति, ३–जप और ४–ध्यान। तथा चारों अङ्गवाली तीन प्रकारकी उपासनाएँ हैं—१वैदिक, २–तान्त्रिक तथा ३–पौराणिक। जिसमें वैदिक उपासना प्रायः पाँच देवताओंकी की जाती है, जिन्हें हम 'पञ्चदेव' या 'पञ्चायतन' कहते हैं। वैदिक उपासना अधिकारीकी अपेक्षा रखती है। त्रैवर्णिक—ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य—जो यज्ञोपवीतादि संस्कारयुक्त हों, श्रुतिपथानुगामी हों, वे अधिकारी माने गये हैं। जो श्रुति-पथसे भ्रष्ट हो गये हैं, उनके तथा अन्य सभी अवैदिकोंके लिये तन्त्र है। सूतसंहितामें आठवें अध्यायके २५वें श्लोकमें कहा गया है—

श्रुतिपथगलितानां मानुषाणां तु तन्त्रं
गुरुगुरुरखिलेशः सर्ववित् प्राह शम्भुः।
श्रुतिपथनिरतानां नैव तन्त्रेऽस्ति किञ्चिद्
हितकरमिह सर्वं पुष्कलं सत्ययुक्तम्॥

'जिनका वेदमें अधिकार है, उनके लिये तन्त्रमें कुछ भी हितकर नहीं है; किंतु जो उपनयनादि-संस्काररहित हैं, श्रुतिपथसे भ्रष्ट हैं, उनके कल्याणके लिये गुरुओंके भी गुरु, अखिलेश्वर, सर्वज्ञ भगवान् शंकरने यह तन्त्र-शास्त्र बनाया है।' तान्त्रिक उपासना सभी देवताओंकी होती है। कभी त्रुटि रह जानेपर भयंकर परिणाम भी देखा गया है।

पौराणिक उपासना भी सभी देवताओंकी होती है। वर्तमान समयमें भारतवर्षके अधिकांश लोगोंमें पौराणिक उपासनाका दर्शन हो रहा है। इतना ही नहीं, सनातनधर्मके पूर्वाचार्योंने भी पौराणिक उपासना की है। पौराणिक उपासना अवतारोंकी भी होती है। अवतार प्रधान दस माने हैं—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की ततः स्मृतः॥

(पद्मपुराण)

और भी अनेक नाम-रूपोंके द्वारा पौराणिक उपासना यत्र-तत्र प्रचलित है।

१—अर्चना

उपासनाका पहला अङ्ग अर्चना है। इसमें बिना मूर्तिके काम नहीं चलता। अतः आठ प्रकारकी मूर्तियाँ शास्त्रोंमें मानी गयी हैं—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥

(श्रीमद्भागवत)

'पत्थर, लकड़ी, धातु, मिट्टी व चन्दनादि घोलकर दीवालपर बनायी गयी, चित्ररूप, मनमें कल्पित और मणियोंद्वारा बनी।' इनमें तीन भेद हैं—सात्त्विक वे मूर्तियाँ कही गयी हैं जिनमें उपास्य देव ध्यानस्थ बैठे हैं और अभयहस्त तथा प्रसन्न-मुद्रावाले हैं। राजसी वे मूर्तियाँ हैं जिनमें उपास्य देव खड़े या वाहनपर बैठे हैं तथा शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित हैं। तामसी वे प्रतिमाएँ हैं, जो वाहनपर सवार हो अस्त्रोंद्वारा संहार करनेमें संलग्न दिखायी गयी हैं।

२—स्तुति

स्तुतिमें नियम है कि स्पष्ट उच्चारण होना चाहिये। सस्वर एवं प्रफुल्ल मनसे होना चाहिये। स्तुतियोंके चार प्रकार हैं—वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक तथा चौथी लौकिक—सामान्य भक्तों या कवियोंके द्वारा रचित। वैदिक स्तुति करनेसे पुण्य अधिक होता है, तान्त्रिक-पौराणिकमें उससे कम, सामान्य भक्तोंकी प्रान्तीय भाषाओंमें रचित स्तुतिसे और भी कम पुण्य होता है।

३—जप

जप मन्त्रका किया जाता है। वे मन्त्र भी वैदिकादि तीन प्रकारके होते हैं। कतिपय साम्प्रदायिक नेता भी मनःकल्पित

मन्त्र बना लेते हैं। मन्त्रके आदिमें ॐ होना चाहिये। देवताका नाम चतुर्थ्यन्त होना चाहिये तथा वह नमः पदसे युक्त हो, उसे 'मन्त्र' कहा जाता है। जैसे ॐ नमो नारायणाय, ॐ नमः शिवाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय आदि। किसी पवित्र योगीके द्वारा मन्त्र लेकर उसका जप करना चाहिये। बिना आसनके जप करने न बैठे, क्योंकि—

वस्त्रासने च दारिद्र्यं पाषाणे रोगसम्भवः।
मेदिन्यां दुःखमाप्नोति काष्ठे भवति निष्फलम्॥

तो कैसा आसन चाहिये ? इसका विधान है—

कृष्णाजिने भवेन्मुक्तिर्मोक्षश्रीर्व्याघ्रचर्मणि।
कुशासने ज्ञानसिद्धिः सर्वसिद्धिस्तु कम्बले॥

अतः मृगछाला (काले मृगकी), बाघम्बर या कुशका आसन अथवा कम्बल बिछाकर बैठे। जपका नियम है—'तज्जपस्तदर्थभावनम्।' (पा० योग० १। २८) 'जो जपे, उस मन्त्रके अर्थकी भावना करे।'

४—ध्यान

अपने इष्टदेवकी रूप-माधुरीका ध्यानद्वारा पान करे। जब मन ध्यानमें ठीक-ठीक आनन्दका अनुभव करने लगे, तब मनमें उपासक यदि विष्णुके चतुर्भुजरूपका ध्यान करता है तो धीरे-धीरे आभूषणरहित रूपका ध्यान करे। तदुपरान्त केवल मुख-कमलका। और आनन्द आने लगे तब रूप-अरूपके मध्यमें अर्थात् शालग्राममें विष्णुका ध्यान करे। फिर उसमें आनन्द आनेपर उसको 'मैं ही हूँ' ऐसी भावना करे। यह भावना श्रद्धा-प्रेमसे निरन्तर करता रहे। योगदर्शन (१। १४) में लिखा है—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'

अर्थात् 'बराबर लम्बे समयतक सत्कारपूर्वक निरन्तर उपासना करनेसे भावना दृढ़ हो जायगी।' यही उपासनाकी पराकाष्ठा है। इसीके द्वारा परागति प्राप्त होती है। यही योगीका योग है। ऐसा करते-करते उपासक भगवान्‌की आत्मा ही बन जाता है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।' ज्ञानी वही है जो 'त्यजेदज्ञाननिर्मोल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्।' जो अज्ञानको त्यागकर—'यह मैं ही हूँ'—ऐसी भावनासे भगवान्‌की पूजा-उपासना करता है।

वैदिक दर्शनमें उपासना

(लेखक—आचार्य श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, दर्शनालंकार)

विश्वसंस्कृतिकी मूलभूत भारतीय संस्कृतिके प्राणस्वरूप वैदिक साहित्य और वैदिक दर्शनमें 'कर्म', 'उपासना' और 'ज्ञान' को लेकर पर्याप्त विवेचन उपलब्ध है। वेद तीनों काण्डोंको लेकर ही प्रवृत्त है 'काण्डत्रयात्मको वेदः।' श्री-दुर्गासप्तशतीमें भी महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वतीके नामसे 'कर्म', 'उपासना' तथा 'ज्ञान'की सुन्दर व्याख्या हुई है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्म, उपासना और ज्ञानके तीन षट्क प्रसिद्ध हैं। वेद एवं प्रस्थानत्रयी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीतामें इन तीनोंको मानव-जीवनकी सफलताके लिये आवश्यक बताया गया है। इनमें 'उपासना' कर्म तथा ज्ञानके मध्यवर्ती होनेसे दोनोंको बढ़ावा देनेवाली है। मानवजीवन-की दुर्लभताको सत्यरूपसे समझकर आत्मकल्याणके साधनमें सावधान साधकको उपासनाकी परम आवश्यकता है। शास्त्र-विहित सच्ची उपासनाके बिना मानवको कल्याणकी प्राप्ति बहुत कठिन है। कर्मयोगको भी उपासनासे सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। कर्मयोगकी सार्थकता भी तभी है जब मानव-मन बाह्य तथा आभ्यन्तर एषणाओं-कामनाओंसे सर्वथा मुक्त होकर भगवत्प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कारका साधन बन जाय। कर्मयोगकी शुद्धि ही उपासककी उपासनाका बीज है।

उपासना वह वस्तु है, जो मनुष्यको भगवत्सांनिध्यकी योग्यता दे देती है। 'उपासना' शब्दका भी यही भाव है। उप—आसना अर्थात् समीपमें बैठना। बाह्य वस्तुओंमें तीव्र वैराग्य होनेपर एक अद्वितीय तत्त्वमें मनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति-स्थितिकी निरन्तर भावनाको उपासना शब्दसे व्यक्त किया जा सकता है—

'सततं कीर्तयन्तो मां···नित्ययुक्ता उपासते।
'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते॥
'एकत्वेन पृथक्त्वेन' (गीता ९। १४-१५)
'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।'
'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।' (गीता १२। २-३)

—आदि स्थलोंमें उपासनाशब्दका यही अभिप्राय सर्वसम्मत है। उपासना शब्दकी सुन्दर व्याख्या करते हुए भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

'उपासनं नाम यथाशास्त्रम् उपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यम् उपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यद् आसनं तद् उपासनम् आचक्षते । (गीता शां० भा० १२ । ३)

अर्थात् 'उपास्य—उपासना की जानेवाली वस्तुको शास्त्रानुसार अपनी बुद्धिका विषय बनाकर समीप पहुँचकर, अविच्छिन्न तैलधाराके समान वृत्तियोंके प्रवाहमें दीर्घकाल-पर्यन्त जो उसमें स्थित रहना है, उसे 'उपासना' कहते हैं ।' उपनिषदोंमें उपासनाका सुन्दर निदर्शन इस प्रकार है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति । तथेतः प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वीत । मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः ।' (छां० ३ । १४ । १-२)

उससे उत्पन्न होनेसे, उसीमें लीन होनेसे तथा उसीके आश्रित रहकर चेष्टाशील होनेसे यह दृश्यवर्ग ब्रह्म है, परमात्माका स्वरूप है । अतः इसी भावनाके साथ शान्त होकर उपासना करे । संकल्पप्रधान यह पुरुष यहाँ स्थित होकर जैसा संकल्प करता है, उसके अनुसार ही वह परलोक या पुनर्जन्ममें फल पाता है । अतः मनुष्य राग-द्वेष-रहित होकर सत्यसंकल्प परमेश्वरकी उपासना करे, ध्यान करे । 'स क्रतुं कुर्वीत'—इस वाक्यसे वेद उपासनाका स्पष्ट विधान करता है । 'क्रतु' शब्द संकल्प और उपासनाका वाचक है । उपासनाके विषयको लेकर छान्दोग्यउपनिषद्-का सनत्कुमार-नारदका सप्तमाध्यायस्थ संवाद साधककी साधनामें परम सहायक है । वहाँ 'नामोपास्स्व' की व्याख्या-में श्रीशंकराचार्य कहते हैं—'यथा प्रतिमां विष्णुबुद्ध्या उपासते तद्वत्' अर्थात् जैसे उपासक विष्णुकी बुद्धिसे प्रतिमाकी उपासना करता है, वैसे ही नाममें ब्रह्मबुद्धि कर्तव्य है ।

ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके द्वितीय पादके प्रथम सूत्र 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' से लेकर सातवें सूत्र 'अर्भकौकस्त्वात्' पर्यन्त उपासनाको लेकर उपास्यका विशद विवेचन है । वहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि 'उपासनामें बोधित सत्य-काम, सत्यसंकल्प आदि गुण परमात्मामें ही प्राप्त होनेसे वही उपासनाका विषय है, उससे भिन्न नहीं । वह परमात्मा ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी उपाधिके कारण परिच्छिन्न होकर अविद्यावश अज्ञानी जीवोंके द्वारा शरीरी या शरीरधारी कहा जाता है । जैसे घटादिकी उपाधिसे अपरिच्छि[न्न] व्यापक आकाश भी परिच्छिन्न-सा, छोटा-सा प्रतीत ह[ोता] है, वैसे ही परमात्मा भी प्रतीत होता है । उपासनामें [...] भेददृष्टिको लेकर ही व्यवहार चलता है और इस औपाधि[क] सम्बन्धको लेकर ही कर्म, कर्ता आदिका व्यवहार [...] तथा उपासनामें मान्य हैं । आत्माकी एकताके पूर्व अन्[तः]करणकी शुद्धिके लिये, भगवान्‌के समीप मनकी स्थितिके [लि]ये उपासनाकी नितान्त आवश्यकता है । आत्माकी एकता [हो] लेनेपर तो कर्म और उपासना, बन्ध और मोक्ष [आदि]का व्यवहार ही समाप्त हो जायगा । एकदेशवर्ती वस्तुको सर्व[गत] नहीं कहा जा सकता । किंतु सर्वगत—सर्वव्यापी परमात्मा[का] सर्वत्र विद्यमान होनेसे उसका एकदेशवर्ती किसी मूर्तरूपमें उपास्य रूपसे कथन उचित है । सम्पूर्ण पृथिवी[के] स्वामी श्रीरामको अयोध्याका राजा कहा जाता है । उपा[सक]की उपासना ('ध्यान, दर्शन' आदि) की दृष्टिको लेकर [ही] सर्वव्यापक परमेश्वर मूर्तिमान् रूपसे परिच्छिन्न, साकार ए[वं] सगुण माननेके योग्य है ही । इस प्रकार वह ईश्वर 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' के अनुसार हृदयकमल[में] दर्शनके योग्य है । सर्वव्यापक परमात्माका साक्षात्कार हृदयकमलमें वैसे ही सम्भव है, जैसे शालग्राममें श्रीविष्णु[का] साक्षात्कार या भावना की जाती है । वहाँ शालग्राम[में] उसका बुद्धिविज्ञान उस परमात्माके स्वरूपका ग्राहक है।'

न तावत्परिच्छिन्नदेशस्य सर्वगतत्वव्यपदेशः कथमपु[...]पपद्यते । सर्वगतस्य तु सर्वदेशेषु विद्यमानत्वात्परिच्छिन्न-देशव्यपदेशोऽपि कयाचिदपेक्षया सम्भवति । यथा सम[स्त]वसुधाधिपतिरपि हि सन्नयोध्याधिपतिरिति व्यपदिश्यते । कया पुनरपेक्षया सर्वगतः सन्नीश्वरोऽर्भकौका अणीयांश्च व्यपदिश्यते ? निचाय्यत्वादेवम् इति ब्रूमः । स एवमणीयस्त्वादिगुणगणोपेत ईश्वरस्तत्र हृदयपुण्डरीके निचाय्यो द्रष्टव्य उपदिश्यते । यथा शालग्रामे हरिः । तत्रास्य बुद्धि-विज्ञानं ग्राहकम् । (ब्र० सू० १ । २ । ७ शांकरभाष्य)

सर्वत्र व्यापक होनेपर भी परमेश्वर वहाँ अपनी उपासना की जानेपर प्रसन्न होते हैं ।

'सर्वगतोऽपीश्वरस्तत्र उपास्यमानः प्रसीदति' (ब्र० सू० १ । २ । ७ शांकरभाष्य 'अर्भकौकस्त्वात् । तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न, निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च । (ब्रह्मसूत्र १ । २ । ७)

उपनिषदों और वेदोंमें तो उपासनाकाण्डके सहस्रों

मन्त्र हैं। परमात्माकी महिमाके साथ उसकी उपासनाकी शिक्षा देनेवाले कुछ मन्त्र, हम यहाँ विद्वान् पाठकोंके समक्ष उपस्थित करते हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं—'जो हम सबका पिता, पालक तथा विशेषरूपेण धारक है और जो सारे स्थानों—भूतोंको जाननेवाला है, जो अकेला ही देव आदिका नाम करनेवाला है, उस विश्वरूपी कर्म-वाले परमात्माको जिज्ञासापूर्वक सारे जीव प्राप्त होते हैं—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तꣳ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥
(शु० यजु० १७। २७)

ऋषि कहते हैं 'मनुष्यो! तुम सब उस परम पुरुषको नहीं जानते, जो सबको उत्पन्न करता और पीछे समेट लेता है। न जाननेके कारण ही तुम्हारे और उस परम पुरुषमें बड़ा भेद आ पड़ा है। पुरुष उत्पादक है, तुम सब उत्पन्न होनेवाले हो। वह घुमानेवाला यन्त्री है और तुम सब घूमनेवाले यन्त्र हो। उसे यदि सबका अन्तर्यामी मानकर उसकी उपासना करो, तो निश्चय ही बन्धनसे मुक्त हो जाओ। कुहरेके समान अज्ञानसे आवृत बहुत कुतर्क करनेवाले लोग, परमेश्वरकी उपासनाका तिरस्कार कर भोगोंके द्वारा इन्द्रियोंकी तृप्तिमें यावज्जीवन प्रयत्न-शील हैं। वे भी उस ईश्वरसे बहुत दूर जा पड़े हैं। अन्य लोग इस लोकके सुख-भोगोंसे तृप्त न होकर इहलोक-परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये ही विविध कर्मोंमें आसक्त हो विचरते हैं।'—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति॥
(शु० यजु० १७। ३१)

ईश्वरकी उपासना छोड़कर ऐहिक आमुष्मिक भोगोंमें प्रवृत्त अज्ञान—मिथ्याज्ञानके पराधीन जीवोंको तत्त्वज्ञान सुलभ नहीं है। वेदका यह मन्त्र भगवान्‌की उपासनाका स्पष्ट कथन करता है। 'हिमालय आदि पर्वत जिसकी महिमा गाते हैं; नदी, समुद्र भी जिसकी महिमाके रूपमें कथित होते हैं; पूर्व आदि दिशाएँ जिसका गौरव गा रही हैं; जिसके बाहु जगत्‌के एकमात्र रक्षक हैं, उस परम पुरुषकी हम हविर्दानद्वारा उपासना करते हैं—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳ रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(शु० यजु० २५। १२)

यह 'हविर्दान' यज्ञमें तो होता ही है। अपने उपयोगमें आनेवाले सभी पदार्थोंका भगवदर्पण भी हविर्दान है। इस हविर्दानके प्रकारमें उस परमात्माके मूर्तरूपकी उपासना ही प्रतीत होती है। जो उपासकोंको सायुज्य मोक्ष देनेवाला, सामर्थ्य देनेवाला और भोग-मोक्ष देनेवाला है; सारे देव-मनुष्य जिसके शासनकी उपासना करते हैं तथा जिसका आश्रय—ज्ञानपूर्वक उपासन मोक्षका हेतु है और जिसका अज्ञान मृत्यु अर्थात् संसारका कारण है, उस परम पुरुषकी हम सब हविर्दानद्वारा उपासना करते हैं—।'

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(शु० यजु० २५। १३)

मानव-जीवनमें कल्याण-प्राप्तिके लिये उपासनाको प्रमुख साधन माना गया है। चित्तशुद्धिके लिये उपासना एक बड़ा अस्त्र है। जडभरत राजा रहूगणसे उपदेश देते हुए कहते हैं—'राजन्! अपरिमित शक्तिशाली, उपेक्षासे बढ़नेवाले, आत्मस्वरूपको चुराने-छिपानेवाले शत्रुरूपी इस पापी मनको सावधान होकर श्रीहरि एवं श्रीगुरुके चरणोंकी उपासनाको अस्त्र बनाकर उसके द्वारा मार दो।

भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्य-
मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम्॥
(श्रीमद्भा० ५। ११। १७)

उपासनाका तत्त्व बहुत गूढ़ है। आजके संतप्त मानव-को उपासना ही शान्त एवं सुखी बना सकती है—

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' (शु० यजु० ३१। १८ तथा श्वेता० ३। ८ एवं ६। १५) अर्थात् 'उपासनाद्वारा ज्ञान-प्रकाश पाकर, उस आत्मस्वरूप परमात्माको जानकर ही मानव मृत्युको लाँघ जाता है। उसकी प्राप्तिका कोई अन्य मार्ग नहीं है।'

आचारशुद्धि, मनःशुद्धि उपासनापर निर्भर है। उसके बिना अशान्त मानव बड़े ज्ञानसे भी उस परमात्माको नहीं पा सकता। भगवान् यम कहते हैं—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठोपनिषद् १। २। २३)

हम श्रीभगवान्‌के सच्चे उपासक बनकर मानव-जीवन सफल करें।

गायत्री-उपासना और उसकी महिमा

(लेखक—याज्ञिकसम्राट, वेदवाचस्पति पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा, गौड)

'उप' उपसर्गपूर्वक 'आस् उपवेशने' धातुसे 'युच्' प्रत्यय करनेपर टाप्प्रत्ययान्त 'उपासना' शब्द बनता है।

उपासनामें 'उप' और 'आसना'—ये दो शब्द हैं। 'उप' का अर्थ समीप और 'आसना' का अर्थ स्थिति है। अर्थात् अपने उपास्य (इष्टदेव) के प्रति अनुराग होनेपर उनका श्रद्धा-भक्तिसे जो चिन्तन, अर्चन, पूजन किया जाय, उसे 'उपासना' कहते हैं।

प्रत्येक जाति और प्रत्येक सम्प्रदायमें किसी-न-किसी रूपमें 'उपासना' प्रचलित है। उपासनाके बिना कोई भी जाति और सम्प्रदाय आत्मोन्नति नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक जाति और प्रत्येक सम्प्रदायमें उपासनाकी विशेष आवश्यकता है।

विचार करनेसे सिद्ध होता है कि उपासना ही मनुष्यकी आत्माका मुख्य आहार है। उसके बिना उसकी आत्मसंतुष्टि नहीं हो सकती।

इन आत्मसंतोषदायिनी उपासनाओंमें गायत्री-उपासना प्रमुख है; क्योंकि गायत्री द्विजमात्रकी उपास्या है। अतः यहाँ गायत्री-उपासनाके विषयमें ही कुछ निवेदन किया जा रहा है।

'गै शब्दे' इस धातुसे 'शतृ' प्रत्यय करनेपर 'गायत्' शब्द बनता है। पश्चात् 'त्रैङ् पालने' धातुसे सम्बद्ध होनेपर स्त्री-प्रत्ययान्त 'गायत्री' शब्द निष्पन्न होता है।

वेदोंमें गायत्री शब्दका अर्थ इस प्रकार किया गया है।

'सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे तद् गयाँस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम।' (शतपथब्राह्मण १४। ८। १५। ७)

'गायत्रीने गयों (प्राणों) की रक्षा की थी। प्राण 'गय' कहे जाते हैं। गायत्रीने उन प्राणों (गयों) की रक्षा की थी, इसलिये इसका नाम गायत्री पड़ा।'

बृहदारण्यकोपनिषद् (५। १४। ४) में भी ठीक इसी प्रकार गायत्री शब्दका निर्वचन किया गया है।

'गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः।'
(निरुक्त ७। १२। ५)

स्तवन-क्रियारूप कर्मवाले 'गै' धातुसे 'गायत्री' शब्द निष्पन्न हुआ है।

पुराणादि स्मृतिशास्त्रोंमें 'गायत्री' शब्दकी एक अन्य निरुक्ति मिलती है। इसके अनुसार गायत्रीको 'गायत्री' इसलिये कहा जाता है कि यह अपने गान करनेवालेका त्राण (रक्षण) करती है—

प्रतिग्रहान्नदोषाच्च पातकादुपपातकात्।
गायत्री प्रोच्यते तस्माद् गायन्तं त्रायते यतः॥
(बृहद्याज्ञवल्क्यस्मृति)

'यतः यह (गान) करनेवाले द्विजका प्रतिग्रहदोष, तथा अन्नदोषसे एवं पातक तथा उपपातकसे त्राण करती है (बचाती है), इसलिये 'गायत्री' कही जाती है।'

'गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीति स्मृता बुधैः।'
(भारद्वाजस्मृति ६। १४६)

'यह गायन (जप) करनेवालेका त्राण (रक्षण) करती है, अतः विद्वानोंने इसे गायत्री कहा है।'

निम्नाङ्कित वचनोंद्वारा भी इसी अभिप्रायकी पुष्टि होती है।

'गायन्तं त्रायते यस्माद् गायत्रीति ततः स्मृता।'
(बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति ४। ३५)

'गातारं त्रायते यस्माद् गायत्री तेन गीयते।'
(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ९। ३)

गायत्री, सावित्री, ब्रह्मगायत्री, गुरुमन्त्र, वेदमाता—आदि गायत्रीके नाम हैं।

गायत्री-मन्त्रका 'गायत्री-छन्द' है, इसलिये इसको 'गायत्री-मन्त्र' कहते हैं। सविता (सूर्य) से सम्बन्ध होनेके कारण इसको 'सावित्री' कहते हैं। ब्रह्म (वेद) से सम्बन्ध रखने तथा ब्राह्मणोंकी उपास्या होनेके कारण इसको 'ब्रह्मगायत्री' कहते हैं। उपनयनके समय द्विज बालकको गुरुके द्वारा गायत्री-मन्त्रका उपदेश होनेके कारण इसको 'गुरु-मन्त्र' कहते हैं। वेदोंकी जननी होनेके कारण इसको 'वेदमाता' कहते हैं।

ध्यान

गायत्री *त्रिशक्तिस्वरूपिणी है। अतएव तीन कालकी संध्योपासनामें गायत्रीका तीन रूपोंमें ध्यान किया जाता है।

भगवान् वेदव्यासजीने कहा है—एक ही गायत्री कालभेदसे तीन रूपोंमें व्यवहृत होती है—

गायत्री नाम पूर्वाह्णे सावित्री मध्यमे दिने।
सरस्वती च सायाह्ने सैव संध्या त्रिषु स्मृता॥

'वही पूर्वाह्णमें गायत्री, मध्याह्नमें सावित्री, सायंकालमें सरस्वती तथा तीनों कालोंमें संध्या नामसे कही गयी है।'

गायत्रीका गान (जप) करनेवाले पुरुषोंके प्राणोंका रक्षण करनेके कारण गायत्री, सूर्यको प्रकाशित करने और जगत्को उत्पन्न करनेके कारण सावित्री और वाणीरूप होनेके कारण सरस्वती कही जाती है।

गायत्री, सावित्री और सरस्वती—ये तीनों नाम गायत्रीके ही वाचक हैं।

तीनों कालोंके तीन ध्यान बतलाये गये हैं—

(१) ॐ प्रातर्गायत्री रविमण्डलमध्यस्था रक्तवर्णा द्विभुजा अक्षसूत्रकमण्डलुधरा हंसासनसमारूढा ब्रह्माणी ब्रह्मदैवत्या कुमारी ऋग्वेदोदाहृता ध्येया।

(२) ॐ मध्याह्ने सावित्री रविमण्डलमध्यस्था कृष्णवर्णा चतुर्भुजा त्रिनेत्रा शङ्खचक्रगदापद्महस्ता गरुडारूढा युवती वैष्णवी विष्णुदैवत्या यजुर्वेदोदाहृता ध्येया।

(३) ॐ सायाह्ने सरस्वती रविमण्डलमध्यस्था शुक्लवर्णा चतुर्भुजा त्रिशूलडमरुपाशपात्रकरा वृषभासनसमारूढा वृद्धा रुद्राणी रुद्रदैवत्या सामवेदोदाहृता ध्येया।

'प्रातःकालमें गायत्री रविमण्डल-मध्य-स्थिता हैं। रक्तवर्णा हैं, दो भुजाएँ हैं, रुद्राक्ष, सूत्र-कमण्डलु धारण किये हुए हैं, हंसपर सवार हैं। ये ब्रह्माणी कुमारी—अवस्थासे युक्त हैं और ऋग्वेदके द्वारा प्रतिपादित हैं।'

'मध्याह्नकालमें सावित्री रविमण्डल-मध्यस्थिता हैं, कृष्णवर्णा हैं, चार भुजाधरिणी हैं, हाथोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म लिये हैं। गरुडपर आरूढ़ हैं। युवती एवं वैष्णवी हैं। ये यजुर्वेदसे उदाहृत हैं।'

* गायत्री ब्रह्मरूपा स्यात् सावित्री विष्णुरूपिणी।
सरस्वती विष्णुरूपा उपास्या मूर्तिभेदतः॥

'सायंकालमें गायत्रीका नाम सरस्वती है, ये रविमण्डल-मध्यस्थिता हैं, शुक्लवर्णा हैं, चतुर्भुजा हैं†। हाथोंमें त्रिशूल, डमरू, पाश एवं पात्र लिये हैं। वृषभपर आरूढ़ हैं; ये रुद्राणी वृद्धा हैं और सामवेदके द्वारा वर्णित हैं।'

दूसरे ध्यान

(१)

रक्तश्वेतहिरण्यनीलधवलैर्युक्तां त्रिनेत्रोज्ज्वलां
रक्तां रक्तनवस्रजं मणिगणैर्युक्तां कुमारीमिमाम्।
गायत्रीं कमलासनां करतलव्यानद्धकुण्डाम्बुजां
पद्माक्षीं च वरस्रजं च दधतीं हंसाधिरूढां भजे॥
(देवीभागवत १२।६)

'जो रक्त, श्वेत, पीत, नील और धवल वर्णोंके श्रीमुखोंसे सम्पन्न हैं, तीन नेत्रोंसे जिनका विग्रह देदीप्यमान हो रहा है, जिन्होंने अपने रक्तवर्ण शरीरको नूतन लाल कमलोंकी मालासे सजा रखा है, जो अनेक मणियोंसे अलंकृत हैं, कमलके आसनपर विराजमान हैं, जिनके दो हाथोंमें कमल और कुण्डिका एवं दो हाथोंमें वर तथा अक्षमाला सुशोभित हैं, उन हंसकी सवारी करनेवाली, कुमारी-अवस्थासे सम्पन्न, भगवती गायत्रीकी मैं उपासना करता हूँ।'

(२)

मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाः शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे॥
(देवीभागवत १२।३)

'वे मोती, मूँगा, सुवर्ण, नीलमणि तथा उज्ज्वल प्रभासे युक्त (पाँच) मुखोंसे सुशोभित हैं। तीन नेत्रोंसे उनके मुखोंकी अनुपम शोभा होती है। उनके रत्नमय मुकुटमें चन्द्रमा जड़े हुए हैं। वे वरदायिनी गायत्री अपने दस हाथोंमें अभय और वर-मुद्राएँ, अङ्कुश, पाश, शुभ्र कपाल, रस्सी, शङ्ख, चक्र और दो कमल धारण करती हैं।'

गायत्रीकी उपासना परब्रह्म परमात्माकी उपासना है। देवीभागवत (९।१।४२) में कहा है—

परब्रह्मस्वरूपा च निर्वाणपददायिनी।
ब्रह्मतेजोमयी शक्तिस्तदधिष्ठातृदेवता॥

† कहीं प्रातः कुमारी हंसारूढा, मध्याह्नमें युवती वृषभारूढा और सायंकालमें वृद्धा गरुडवाहनाके ध्यानका वर्णन भी है।

'गायत्री परब्रह्मस्वरूपा है, निर्वाणपरमपद देनेवाली है। ब्रह्मतेजोमयी शक्ति है और परब्रह्म ही उसका अधिष्ठातृदेवता है।' रुद्रगायत्रीमें लिखा है—

'गायत्री सा महेशानी परब्रह्मात्मिका मता।'

'वह गायत्री महेशानी (शिवकी शक्ति) और परब्रह्मस्वरूपा कही गयी है।' संग्रहमें कहा है—

'गायत्री परदेवतेति गदिता ब्रह्मैव चिद्रूपिणी।'

'गायत्री परादेवता कही गयी है और वह चित्स्वरूपा गायत्री साक्षात् ब्रह्म ही है।'

'गायत्रीब्रह्मैक्यस्' इस (शतपथ ब्राह्मण) के अनुसार गायत्री और ब्रह्ममें अमेद है। अतः गायत्रीके उपासकको उसी भावसे गायत्रीकी उपासना करनी चाहिये।

गायत्री-मन्त्र 'वैदिक-मन्त्र' है। उसकी उपासनाका अधिकार केवल द्विजको है और द्विजत्वकी प्राप्ति उपनयन-संस्कारसे होती है।

उपनयन-संस्काररूप जन्म ही द्विजत्वका सम्पादक है। इसलिये उसकी विशेष आवश्यकता है। यज्ञोपवीत-संस्कारमें ही द्विज गुरुके द्वारा 'गायत्री-मन्त्र' की दीक्षा प्राप्त कर 'द्विज' कहलानेका अधिकारी होता है; अतः द्विजत्वके रक्षणार्थ भी गायत्रीकी उपासना आवश्यक है।

शास्त्रोंमें लिखा है कि जिनका यज्ञोपवीत-संस्कार हो चुका है, उन्हें ही गायत्रीकी उपासना (जप) करनी चाहिये। किंतु दुःखका विषय है कि आज बहुतसे उपनयन-संस्कारविहीन मनुष्य शास्त्रोंकी अवहेलना कर गायत्रीका जप करते हैं। उपनयन-संस्कारविहीन मनुष्योंको कतिपय संत, महात्मा, विद्वान्, उपदेशक और कथावाचक लोभवश गायत्री-जप करनेका उपदेश करते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि आज अधिक संख्यामें स्त्रियाँ और शूद्र गायत्रीका जप और हवन करते हैं। बहुत-सी स्त्रियोंको तो प्रणवका जप करते हुए और शालग्राम तथा नर्मदेश्वरका पूजन करते हुए भी देखा गया है। वस्तुतः विचार किया जाय, तो सिद्ध होता है कि शास्त्र-विरुद्ध कार्य करनेसे मनुष्यका पतन ही होता है। अतः शास्त्रविरुद्ध कार्य किसीको कभी नहीं करना चाहिये।

यज्ञोपवीत-संस्कार होनेके अनन्तर प्रत्येक द्विजको, विशेषतः ब्राह्मणको गायत्रीकी उपासना अवश्य करनी चाहिये।' गायत्रीकी उपासना न करनेवाले ब्राह्मणको शूद्रसे भी अधिक अपवित्र कहा गया है।'—

गायत्रीरहितो विप्रः शूद्रादप्यशुचिर्भवेत्।

(पाराशरस्मृति ८। ३२)

जो गायत्रीकी उपासना नहीं करता, वह ब्राह्मणत्वसे च्युत हो जाता है। शास्त्रके वचन हैं—

न ब्राह्मणो वेदपाठान्न शास्त्रपठनादपि।
देव्यास्त्रिकालमभ्यासाद् ब्राह्मणः स्याद् हि नान्यथा॥

(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ९। ५७)

'वेदोंके पढ़नेसे अथवा शास्त्रोंके अध्ययनसे कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता। त्रिकालसंध्यामें गायत्री देवीके बार-बार उच्चारण (जप) से ही ब्राह्मण हो सकता है, अन्यथा नहीं।'

वेदोंमें द्विजके लिये गायत्रीकी उपासनाको नित्य कर्तव्य बतलाते हुए कहा है कि 'वह केवल गायत्रीकी उपासनासे ही 'मोक्ष' प्राप्त कर सकता है, उसे अन्य कोई उपासना करनेकी आवश्यकता नहीं है।'

गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता।
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा॥
तावता कृतकृत्यत्वं नान्यापेक्षा द्विजस्य हि।
गायत्रीमात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात्॥

(देवीभागवत १२। ८। ८९-९०)

द्विजके लिये गायत्री ही श्रेष्ठ गति है, अतः वह अन्य कर्मोंमें अशक्त हो तो भी गायत्रीकी उपासनाद्वारा श्रेष्ठ गतिको प्राप्त कर सकता है। उसके बिना किये गये अन्य कर्म निष्फल हैं। इसलिये द्विजोंको प्रतिदिन गायत्रीकी उपासना करनी चाहिये।

ब्राह्मण—द्विजके लिये गायत्रीके ज्ञान तथा गायत्रीकी उपासनाके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें वचन भरे पड़े हैं। यहाँ तो केवल उनका एक नमूना मात्र दिया गया है।

नित्य, नैमित्तिक और काम्य-कर्मकी सिद्धिके लिये गायत्री-मन्त्रसे बढ़कर और कोई मन्त्र नहीं है। वैदिक मन्त्रोंमें गायत्री-मन्त्रकी सबसे अधिक महिमा और प्रतिष्ठा है। गायत्री-मन्त्रको 'महामन्त्र' कहा गया है। यह महामन्त्र सर्वसिद्धि-प्रद है। इस महामन्त्रके प्रभावसे मनुष्य जो चाहे वह वस्तु प्राप्त कर सकता है।

हमारे पूर्वज पूज्य गौतम, वसिष्ठ, कणाद, अङ्गिरा आदि ऋषि-महर्षियोंने गायत्री-मन्त्रकी उपासनाद्वारा ही अपनेमें अद्‌भुत और अलौकिक शक्ति प्राप्त की थी। वे गायत्री-मन्त्रके प्रभावसे जिसको जो वरदान अथवा आशीर्वाद दे देते थे, वह प्रत्यक्षरूपमें घटित होता था।

गायत्रीके प्रभावसे ही महर्षि वसिष्ठने विश्वामित्रके समस्त शस्त्रास्त्रोंको नष्ट कर विजय प्राप्त की थी। गायत्रीके प्रभावसे ही राजर्षि विश्वामित्रने 'ब्रह्मर्षि' पद प्राप्त कर नूतन सृष्टि रचनेकी अपूर्व शक्ति प्राप्त कर ली थी। गायत्रीके प्रभावसे ही दुर्वासा आदि ऋषियोंने अद्‌भुत पराक्रम प्राप्त किया था। गायत्रीके प्रभावसे ही रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि आचार्योंने अलौकिक आत्मबल प्राप्त कर अनेकानेक चमत्कारपूर्ण ईश्वरीय शक्तिका प्रदर्शन कर अपना नाम अमर किया था।

गायत्रीकी उपासनासे मनुष्यमें सद्‌बुद्धि, सद्‌विचार और सद्धर्मका उदय होता है। आस्तिकता, धार्मिकता आदि सद्‌गुणोंका समावेश होता है। गायत्रीका उपासक श्रद्धा, भक्ति और ईश्वर-विश्वाससे परिपूर्ण हो जाता है। वह इहलोकमें जीवनपर्यन्त सर्वविध सुखोंको भोगता है और मरनेके बाद शाश्वत परम पदको प्राप्त करता है।

गायत्रीकी उपासनासे मनुष्यकी ज्ञानशक्ति और जीवनशक्ति बढ़ती है तथा उसके समस्त पापोंका उच्छेद हो जाता है। वह समस्त प्रकारके रोग, शोक, चिन्ता, आधि-व्याधि और दीनतासे मुक्त हो जाता है। गायत्रीके उपासकपर दैत्य, दानव, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष और राक्षसोंका वश नहीं चलता। वह क्रूर ग्रहोंकी बाधाओंसे दूर हो जाता है। गायत्रीकी उपासनासे मनुष्यकी समस्त प्रकारकी विघ्न-बाधाएँ टल जाती हैं।

गायत्रीका उपासक दीर्घायु, विपुल लक्ष्मी, सत्पुत्र, सत्कीर्ति और सत्प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन पुरुषार्थ-चतुष्टयको हस्तगत कर लेता है। उसके सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं।

गायत्रीकी उपासनासे मनुष्य **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छान्दोग्योपनिषद् ३ । १४ । १), **'अयमात्मा ब्रह्म'** (बृहदारण्यकोपनिषद् २ । ५ । १९), **'ब्रह्मैवेदम्'** (मुण्डकोपनिषद् २ । २ । ११) और **'एकमेवाद्वितीयम्'** (छान्दोग्योपनिषद् ६ । २ । १) आदि महावाक्योंका यथार्थ बोध प्राप्त करता है।

गायत्रीके उपासककी अपमृत्यु नहीं होती। कभी उसका 'हार्ट फेल' नहीं होता। हार्ट फेल रोकनेके लिये गायत्रीकी उपासना 'रामबाण' दवा है। गायत्रीका उपासक प्रायः भयंकर रोगसे ग्रस्त नहीं होता। यदि वह कभी संयोगवश रोगग्रस्त होता है, तो उसे डाक्टर और वैद्यकी शरण नहीं लेनी पड़ती, प्रत्युत वह गायत्रीकी उपासनासे ही स्वयं अपने सर्वविध रोगोंको समूल नष्ट कर देता है।

गायत्रीकी महिमासे समस्त संस्कृत वाङ्मय ओतप्रोत है। अतः गायत्रीमहिमाके सूचक कतिपय शास्त्रीय वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री, वाग्वा इदं सर्वं भूतम्, गायति च त्रायते च।'

(छान्दोग्योपनिषद् ३ । १२ । १)

'इस संसारमें स्थावर-जङ्गमात्मक जो पदार्थ हैं, वे सभी गायत्री ही हैं। वाक् ही गायत्री है। वाक् ही सब कुछ है। वाक् ही गायन करती है और वह ही सबकी (अपने उपासकोंकी) रक्षा करती है।'

नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् (४ । २) में भी **'गायत्री वा इदं सर्वम्'** आदिद्वारा गायत्रीका महत्त्व गाया गया है।

गायत्री वा इदं सर्वं ब्रह्माण्डं ब्राह्मणानि तु।
वेदोपनिषच्छाखासु ब्राह्मणानि विधानतः॥
पुराणधर्मशास्त्राणि गायत्र्याः पावनानि तु।
कीर्तितानि त्वनेकानि गायत्र्याः पावनानि च॥

(बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति ४ । ६-७)

'यह सब ब्रह्माण्ड गायत्री ही है। वेद, उपनिषद्, वेदोंकी शाखाएँ, ब्राह्मण, पुराण और धर्मशास्त्र—ये सभी गायत्रीके ही कारण पवित्र माने जाते हैं। अनेक शास्त्र-पुराणादिके कीर्तन करनेपर भी ये सभी शास्त्र गायत्रीके द्वारा ही पावन होते हैं।'

गायत्र्येव परो विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः।
गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः॥

(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ९ । ५८)

'गायत्री ही परमात्मा विष्णु है, गायत्री ही परमात्मा शिव है और गायत्री ही परमात्मा ब्रह्मा है। अतः गायत्रीसे ही तीनों वेदोंकी उत्पत्ति हुई है।'

गायत्री वेदजननी गायत्री ब्राह्मणप्रसूः।
गातारं त्रायते यस्माद् गायत्री तेन गीयते॥
(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ९। ५३)

'गायत्री वेदोंकी माता और ब्राह्मणोंकी माता है। चूँकि वह गान (जप) करनेवाले द्विजका त्राण (रक्षण) करती है, इसलिये गायत्री कही जाती है।'

गायत्री वेदजननी गायत्री लोकपावनी।
गायत्र्या न परं जप्यमेतद् विज्ञाय मुच्यते॥
(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड ५३। ५८)

'गायत्री वेदोंकी माता है, गायत्री समस्त लोकोंको पावन करनेवाली है। गायत्रीसे बढ़कर जपने योग्य और कुछ भी नहीं है, ऐसा जाननेवाला मुक्त हो जाता है।'

यही बात कूर्मपुराण (१४। ५८) में भी कही गयी है।

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्या परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्॥
(शंखसंहिता १२। २४-२५)

'गायत्री वेदोंकी माता और सर्वविध पापोंका नाश करनेवाली है। इहलोक और द्युलोकमें गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाला और कोई मन्त्र नहीं है।

गायत्रीं चैव वेदांश्च तुलया समतोलयत्।
वेदा एकत्र साङ्गास्तु गायत्री चैकतः स्मृता॥
(बृहद्योगियाज्ञवल्क्यसंहिता ४। ८०)

'ब्रह्माजीने तराजूके एक पलड़ेमें चारों वेदोंको और दूसरे पलड़ेमें गायत्रीको स्थापित किया। दोनोंको तोलनेसे गायत्रीका ही पलड़ा भारी हुआ।'

बृहत्पाराशरस्मृति ४। १६ में भी ऐसा ही वचन है—

गायत्री चैव वेदाश्च ब्रह्मणा तोलिताः पुरा।
वेदेभ्यश्च सहस्रेभ्यो गायत्र्यतिगरीयसी॥
(इसी स्मृति ५। ४ में है—)

गायत्री तु परं तत्त्वं गायत्री परमा गतिः।
गायत्री परम तत्त्व है और गायत्री परम गति है।
देवी दात्री च भोक्त्री च देवी सर्वमिदं जगत्।
देवी जयति सर्वत्र या देवी साहमेव च॥
सर्वात्मना हि सा देवी सर्वभूतेषु संस्थिता।
गायत्री मोक्षहेतुर्वै मोक्षस्थानमलक्षणम्॥
(शाण्डिल्यः)

'देवी गायत्री देनेवाली और भोगनेवाली है। यह समस्त संसार गायत्री ही है। गायत्री ही सर्वत्र श्रेष्ठरूपमें रहती है, जो गायत्री देवी है, वह मैं ही हूँ। वह गायत्री सब प्रकारसे समस्त प्राणियोंमें रहनेवाली है। गायत्री ही मोक्षका कारण है और वही मोक्षका अदृश्य स्थान है।'

'गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।'
(अग्निपुराण)

'गायत्रीसे बढ़कर पवित्र करनेवाला दूसरा कोई मन्त्र न तो इस मर्त्यलोकमें है और न स्वर्गलोकमें है।'

'गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम्।'
(संवर्तस्मृति २१४)

'गायत्रीसे बढ़कर पापकर्मोंका नाश करनेवाला और कोई मन्त्र नहीं है।'

गायत्र्या न परं जप्यं गायत्र्या न परं तपः।
गायत्र्या न परं ध्यानं गायत्र्या न परं श्रुतम्॥
(यमस्मृति)

'गायत्रीसे बढ़कर कोई जप नहीं है, कोई तप नहीं है, कोई ध्यान नहीं है और कोई शास्त्र नहीं है।'

अष्टादशसु विद्यासु मीमांसातिगरीयसी।
ततोऽपि तर्कशास्त्राणि पुराणं तेभ्य एव च॥
ततोऽपि धर्मशास्त्राणि तेभ्यो गुर्वी श्रुतिर्द्विज।
ततोऽप्युपनिषच्छ्रेष्ठा गायत्री च ततोऽधिका॥
(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ९। ४९-५०)

'अष्टादश विद्याओंमें मीमांसा शास्त्र, मीमांसासे तर्कशास्त्र, तर्कशास्त्रसे पुराणशास्त्र, पुराणसे धर्मशास्त्र, धर्मशास्त्रसे वेद, वेदसे उपनिषद् और उपनिषद्से गायत्रीका महत्त्व अधिक है।'

तदित्यृचः समो नास्ति मन्त्रो वेदचतुष्टये।
सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च दानानि च तपांसि च॥
समानि कलया प्राहुर्मुनयो न तदित्यृचः।
बहुना किमिहोक्तेन यथावत् साधुसाधिता।
द्विजन्मनामियं विद्या सिद्धिकामदुघा मता॥
(विश्वामित्र)

'चारों वेदोंमें 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि गायत्री-मन्त्रके सदृश और कोई महत्त्वपूर्ण मन्त्र नहीं है। समस्त वेद, यज्ञ, दान और तप, गायत्री-मन्त्रके सोलहवें हिस्सेके बराबर

भी नहीं कहे गये हैं। अधिक क्या कहा जाय, गायत्रीकी उपासना करनेपर यह (गायत्री) ब्राह्मणोंको सब प्रकारकी सिद्धियोंको देनेवाली है।'

दुर्लभा सर्वमन्त्रेषु गायत्री प्रणवान्विता।
गायत्र्या नाधिकं किञ्चित् त्रयीषु परिगीयते॥
(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ९। ५१)

'समस्त मन्त्रोंमें प्रणव (ॐ) से युक्त गायत्री दुर्लभ है। तीनों वेदोंमें गायत्रीसे बढ़कर और कोई मन्त्र नहीं है।'

न गायत्रीसमो मन्त्रः।
(स्कन्दपुराण, काशीखण्ड ९। ५२)

न गायत्र्याः परंपरम्। (भारद्वाजस्मृति १२। ४२)
गायत्री परमो मन्त्रः। (अग्निपुराण २८४। २)
गायत्र्यास्तु परं नास्ति। (संवर्तस्मृति २। १४)
सावित्र्यास्तु परं नास्ति। (मनुस्मृति २। ८३)
सावित्र्यास्तु परं नास्ति। (बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति २। ६३)
गायत्र्यतिगरीयसी। (बृहत्पाराशरस्मृति ४। १६)

हमारे यहाँ त्रैवर्णिकोंके लिये मानसिक और शारीरिक सुख-शान्तिके निमित्त 'गायत्री-मन्त्रकी उपासना' लिखी है। श्रद्धालु मर्मज्ञ लोगोंने गायत्री-मन्त्रकी उपासनाद्वारा मानसिक और शारीरिक सुख-शान्ति प्राप्त की है और कर रहे हैं।

अमेरिका आदि देशोंमें विविध लौकिक सुख-साधनोंकी उपलब्धि तो सम्भव है, किंतु वहाँ मनुष्यकी बुद्धिको सुसंस्कृत करनेका कोई साधन उपलब्ध नहीं है। हमारे यहाँ भारतवर्षमें मनुष्यकी बुद्धिको सुसंस्कृत करनेके लिये 'धियो यो नः प्रचोदयात्' (शु० य० ३। ३५) यह अमूल्य साधन है। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' यह गायत्री-मन्त्रका तृतीय चरण (पाद) है जो कि मनुष्यकी बुद्धिको सुसंस्कृत कर सन्मार्गमें प्रवृत्त करता है। सन्मार्गमें बुद्धिके प्रवृत्त होनेसे ही मनुष्य आत्मशान्ति और आत्मसंतोषका अनुभव करता है।

गायत्री-मन्त्रके अधिष्ठातृदेव भगवान् सूर्य हैं, जो कि अपने उपासकको सद्बुद्धि प्रदान करते हैं। अतः भगवान् सूर्यसे 'धियो यो नः प्रचोदयात्' के द्वारा सद्बुद्धिकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना की गयी है।

मनुष्य-जीवनमें सद्बुद्धिकी विशेष आवश्यकता है। सद्बुद्धिसे ही मनुष्य अपना और संसारका कल्याण कर सकता है। जिस मनुष्यमें सद्बुद्धिका अस्तित्व होता है, वह सर्वदा उचितानुचितका यथार्थ विचारकर आत्मकल्याण कर सकता है और जिस मनुष्यमें सद्बुद्धिका अभाव होता है, वह उचितानुचितको यथार्थरूपसे विचार न कर सकनेके कारण आत्मकल्याण नहीं कर सकता। अतः मनुष्यमें सद्बुद्धिका होना परमावश्यक है। सद्बुद्धिकी प्राप्ति गायत्री-की उपासनासे ही हो सकती है। अतः प्रत्येक द्विजको सद्बुद्धिकी प्राप्तिके लिये गायत्रीकी उपासना करनी चाहिये।

गायत्रीकी उपासनाके अनेक भेद हैं। उनमें गायत्रीकी जपात्मक, पाठात्मक और हवनात्मक उपासना विशेष प्रचलित है। गायत्री-मन्त्रका जप करना जपात्मक उपासना, गायत्रीके स्तोत्र आदिका पाठ करना पाठात्मक उपासना और गायत्री-मन्त्रसे हवन करना हवनात्मक उपासना कही जाती है। इनमें गायत्रीकी जपात्मक उपासना सर्वश्रेष्ठ कही गयी है। भगवान् श्रीकृष्णने जो 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (गीता १०। २५) ऐसा कहा है, वह गायत्री-जपके सम्बन्धमें ही कहा है। अतः गायत्रीका जप विशेष महत्त्व रखता है।

गायत्री-जपका महत्त्व समस्त शास्त्रोंमें पाया जाता है। सभी शास्त्रकारोंने अपने-अपने ग्रन्थमें—

गायत्र्या न परं जप्यम्। (पद्मपुराण, स्वर्ग० ५३। ५८)
न गायत्र्याः परं जप्यम्। (कूर्मपुराण, उत्तरार्ध १४। ५८)
न गायत्र्याः परं जाप्यम्। (उशनःसंहिता ३। ५४)
न गायत्र्याः समं जाप्यम्। (पद्मपुराण, पाताल० ९४। ५०)
न गायत्रीसमो जपः। (व्याघ्रपादस्मृति ३६९)

—इत्यादि कहकर गायत्री-जपकी महिमाका उल्लेख किया है।

मानव-जीवन दोषमय कहा गया है। अतः मानवसे ज्ञान और अज्ञानमें अगणित दोष होते रहते हैं। उन समस्त दोषोंका निवारण केवल गायत्रीके जपसे ही हो सकता है, दूसरेसे नहीं। इसलिये मनुष्यको अपने दैनन्दिन दोषोंकी निवृत्तिके लिये प्रतिदिन गायत्रीका जप करना चाहिये।

गायत्री-जपकी एक खास विशेषता यह है कि वह जिस प्रकार मनुष्यके किये हुए ब्रह्महत्यादि सभी प्रकारके छोटे-बड़े पापोंको नष्ट कर देता है, उस प्रकार दूसरा कोई जप मनुष्यके पापोंको नष्ट नहीं कर सकता। अतः गायत्रीसे बढ़-कर और कोई पापनाशक जप नहीं है—

ब्रह्महत्यादिपापानि गुरूणि वा लघूनि च।
नाशयत्यचिरेणैव गायत्रीजापको द्विजः॥
(पद्मपुराण)

गायत्री-जपका विशेष महत्त्व है। अतः जो द्विज विधिपूर्वक गायत्रीकी उपासना करता है, उसे गायत्री माता क्या-क्या नहीं देतीं ? सब कुछ प्रदान करती हैं।

'किं किं न दद्याद् गायत्री सम्यगेवमुपासिता।'

अतः द्विजमात्रको आत्मकल्याणार्थ सत्य-सनातन दिव्य ज्योतिःस्वरूपा वेदमाता गायत्रीकी उपासना प्रतिदिन करनी चाहिये। गायत्रीकी उपासना करना प्रत्येक द्विजका आवश्यक धर्म और कर्तव्य है।

गायत्री-गीता-उपासना

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

समस्त मानवजातिको ऐक्यबद्ध होनेके लिये आह्वान करते हुए ऋग्वेदकी समाप्ति हुई है—

ॐ समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥
ॐ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(मं० १० सू० १९१। ३, ४)

'हमारा मन्त्र हो एक; मन, प्राण और हृदय हो एक; हमारी उपासना हो एक; सारा मानवसमाज हो एक समिति, एक समाज।'—आजतक यह आह्वान कार्यमें परिणत नहीं हुआ। परंतु सहस्रों वर्षोंकी साधनाके द्वारा अनेक उत्थान-पतनके मार्गसे होते हुए आज मानव-जाति उस आदर्शपर उपनीत होनेके लिये प्रस्तुत हो गयी है। युग-युगमें, देश-देशमें मनुष्य अनेकों धर्मोंको, अनेक मार्गोंको विकसित करके अन्तमें एक लक्ष्यपर पहुँचनेके लिये प्रस्तुत हो गये हैं। अब उन सबको पीछे छोड़े हुए मार्गोंकी ओर लौटकर ताकनेकी आवश्यकता नहीं है—अब सबको एक मन्त्र, एक उपासना प्रदानकर मानवीय समिति, मानवीय समाजको संगठित करना है। वह एक मन्त्र, वह एक उपासना क्या होगी ? इसका पता वेदोंमें ही मिलता है। वह मन्त्र है—गायत्री और उस उपासनाका स्वरूप मिलता है—वेद तथा उपनिषद्में। परंतु वेद और उपनिषद्के मर्मको समझना आज भारतीय लोगोंके लिये ही अत्यन्त कठिन हो गया है, तब अन्यान्य देशोंकी तो बात ही क्या ! परंतु गीतामें वेद और उपनिषद्की शिक्षाका सार इस प्रकार संगृहीत है कि उसे केवल भारतवासी ही नहीं, प्रत्युत समस्त जगत्के निवासी सहज ही ग्रहण कर सकते हैं। वस्तुतः हो भी रहा है वही—आज फ्रान्स, अमेरिका, इंगलैंड, जर्मनी आदि प्रगतिशील पाश्चात्त्य देशवासियोंमें लाखों आदमी गीताशास्त्रको आदरपूर्वक पढ़ते हैं। यह बात पृथ्वीके अन्य किसी भी शास्त्रके विषयमें नहीं कही जा सकती। सब शास्त्रोंमें दो प्रकारके सत्य होते हैं—एक प्रकारका सत्य, सनातन सत्य होता है जो सब देश-कालमें सत्य होता है; और दूसरे प्रकारका सत्य किसी विशेष देश और कालमें उपयोगी होता है। गीतामें यह दूसरे प्रकारका सत्य बहुत ही कम है और जो कुछ है, उसकी भी ऐसी व्याख्या की जाती है जिससे वह सब देश और कालके लिये उपयोगी हो सकता है। इसी कारण गीता सर्वजनीन शास्त्र (Universal Scripture) हो गया है। दो-एक दृष्टान्तके द्वारा यह समझाया जा सकता है। गीतामें यज्ञकी बात कही गयी है। वह प्राचीन भारतका धर्मानुष्ठान था। परंतु गीतामें वह जिस रूपमें वर्णित हुआ है, उसके साथ पाश्चात्त्य मानवधर्म या Humanism का कोई भेद नहीं है। वह 'सर्वभूतहितेरताः' है। गीताका यज्ञ है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। (४। २४)

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह यज्ञ बाह्य अग्निमें घृताहुति प्रदान करनेवाला यज्ञ नहीं है।*

* यद्यपि गीताने द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञको ही श्रेष्ठ बताया है; तथापि द्रव्ययज्ञको उपेक्षणीय नहीं माना है। तीसरे अध्यायमें स्पष्ट कहा है कि 'ब्रह्माजीने यज्ञसहित प्रजाओंकी सृष्टि की और उसीको उनकी उन्नतिका साधन बनाया।' जिस यज्ञसे पर्जन्य-

दूसरी ओर पुराण, कुरान, बाइबिल आदि शास्त्रोंमें जगत्की सृष्टिका जो वर्णन है, उसका आधुनिक विज्ञानके साथ पूर्ण विरोध है। इसी कारण आधुनिक मनुष्य उन सबमें विश्वास नहीं कर पाता और श्रद्धाविहीन धर्म-कर्मसे कोई फल ही नहीं होता। आजकल यही हो रहा है। योगिराज ब्रह्मानन्द परमहंसने कहा है—'वर्तमान युगमें सभी वस्तुओंमें मिलावट आ गयी है। हमारे सुप्रसिद्ध धर्ममें भी मिलावट होते-होते वह पूर्णतः मिलावटमें परिणत हो गया है। मिलावट छोड़कर सत्यके आश्रयपर चले बिना धर्म और संस्कृतिकी रक्षा नहीं हो सकेगी।'

जो लोग आँखें मूँदकर गतानुगतिक-रूपसे धर्माचरण करते हैं, वे आँखोंमें पट्टी बाँधकर तेलीके बैलके समान घानी-के चारों ओर केवल घूमते हैं, निःश्रेयसके मार्गपर एक कदम भी अग्रसर नहीं हो पाते। उनके ऊपर किसी प्रकार-का दबाव देना ठीक न होगा। जब उनको यह ज्ञात हो जायगा, तब वे स्वयं सत्यका अनुसरण करेंगे। इस बीचमें जो लोग जाग्रत् हुए हैं, उनका कर्तव्य है कि गतानु-गतिक (भेड़ियाधसान) के धर्माचरणको छोड़कर सत्यका अनुसरण करें। ठीक इसी प्रकार गीताने भी वेदविहित सकाम क्रिया-अनुष्ठानकी तीव्र भाषामें आलोचना की है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
(गीता २। ४२-४३)

आज भी हिंदूका पूजा-पार्वण उसी वेदवादका अनुसरण करके 'क्रियाविशेषबहुल' होता है। सभी प्रकारके बाह्य अनुष्ठानोंका ही आज बाहुल्य है। इन सबके नीचे वास्तविक निःश्रेयस साधक धर्म दबा पड़ा है; ये सब केवल सामाजिक प्रथा बन गये हैं। अन्यत्र गीताने स्पष्ट ही कहा है—

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
(४। ३३)

'बाह्य द्रव्योंको लेकर याग-यज्ञ करनेकी अपेक्षा अन्तर-का यज्ञ (ज्ञान-यज्ञ) श्रेष्ठ है।'

मानस-चैतन्यमें उन्नति-साधन करके ही मनुष्य ऊर्ध्व-गतिको प्राप्त कर सकता है।

मनुष्यके चित्तको भगवान्की ओर लगा देना ही वास्तविक धर्म या अध्यात्म-साधना है।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
(गीता ६। १४)

'प्रशान्तभावसे युक्त, सब प्रकारके भयसे मुक्त, ब्रह्मचर्यव्रतका अवलम्बन करनेवाला, मनको संयत करके, सर्वदा चित्तको मेरे चिन्तनसे युक्त रखकर मुझको ही परम गति जानकर मेरे साथ ज्ञानपूर्वक युक्त होकर रहे।'

इस एक श्लोकमें ही गीताकी सारी शिक्षाका सार संगृहीत हो गया है तथा गीताने इसीको द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा श्रेष्ठ ज्ञानयज्ञ नामसे अभिहित किया है। इस साधनाके द्वारा मनुष्य-की चैतन्यताका रूपान्तर हो जाता है, मनुष्य भगवद्भावको प्राप्त कर सकता है। सब प्रकारकी साधनाका लक्ष्य है—

'मम साधर्म्यम्, मद्भावम्।'

गीता गायत्री-मन्त्रका जप करनेके लिये नहीं कहती है। परंतु वेदके इस श्रेष्ठ मन्त्रकी व्याख्या जान लेनेपर गीता-कथित ज्ञानयज्ञमें बड़ी सहायता मिल सकती है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।

गीतामें कहा गया है कि ॐ एकाक्षर ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्मका वाचक है। साधारणतः भगवान्, ईश्वर (God), अल्लाह कहनेसे जिसको समझा जाता है, उसका ठीक परिचय इनमेंसे किसी भी शब्दके द्वारा नहीं दिया जा सकता, केवल उसके एक ओर संकेतमात्र होता है और उसका बहुत कुछ शेष रह जाता है। इसी कारण एक धर्मसे दूसरे धर्ममें इतना भेद, इतना द्वन्द्व है। वेदमें उस-को ब्रह्म कहा गया है और ॐ शब्दके द्वारा उसका निर्देश किया गया है। अ, उ, म् और बिन्दु—इन चार ध्वनियोंके

की उत्पत्ति होती है, वह अग्निमें घृताहुति प्रदान करनेवाला ही है। जैसा कि मनु (३। ७६) ने कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
—सम्पादक

संयोगसे ॐ उच्चारित होता है। ब्रह्मकी भी चार अवस्थाएँ हैं, उनमेंसे प्रत्येकके लिये एक-एक ध्वनि है। ब्रह्म मन और वाणीके परे है, तथापि मनुष्य जिससे उसकी ओर मन लगा सके, उसका चिन्तन या ध्यान कर सके, वैसा ही ब्रह्मका वर्णन माण्डूक्य उपनिषद्में दिया गया है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। (मा० १)
सर्वं ह्येतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म,
सोऽयमात्मा चतुष्पाद् । (मा० २)

ॐ शब्दके द्वारा ब्रह्मका बोध होता है। भूत, भविष्य, वर्तमानका समस्त जगत्, सब ब्रह्म है। भूत, भविष्यत् सभी जगत् हमारा परिचित है। इस समस्तको ब्रह्म कहा है, इससे ब्रह्मका कुछ परिचय हमको मिला। परंतु यह ब्रह्म इतना विराट्, विशाल और अनन्त है कि मनुष्यके लिये उसकी धारणा करना दुष्कर है। इसी कारण कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्यकी जो मूल सत्ता—अन्तरात्मा है, वही ब्रह्म है। ब्रह्मको मनुष्यके इतना समीप ला देना, क्या किसी और उपदेष्टा या शास्त्रके लिये सम्भव हुआ है? हम 'मैं' कहनेसे जिसको जानते हैं, मूलतः ब्रह्म वही है। इस ब्रह्मके अस्तित्वके सम्बन्धमें क्या किसीको कोई संदेह हो सकता है? मैं सत्य हूँ, मैं हूँ—यह अनुभव इतना प्रगाढ़ है, इतना प्रत्यक्ष है कि इसके लिये किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है। 'मैं'की उपलब्धिको लेकर ब्रह्मको समझानेके लिये कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्यकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति (गम्भीर निद्रा) प्रभृति विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं, ब्रह्मकी भी इसी प्रकार विभिन्न अवस्थाएँ हैं। मनुष्यकी विभिन्न अवस्थाके अनुकरणमें ब्रह्मकी तीन अवस्थाओंका नामकरण किया गया—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। ब्रह्मकी एक और अवस्था है जिसका नाम तुरीय है। वह चतुर्थ अवस्था है, वह उच्चतम है, परमतम है। वह क्या है? कहा नहीं जा सकता। परंतु वह क्या नहीं है, यह कहकर ही उस अवस्थाका कुछ परिचय दिया गया है। याद रखनेकी बात है कि साधारण मनुष्यकी विभिन्न अवस्थाके अनुसार यद्यपि ब्रह्मकी विभिन्न अवस्थाका नामकरण हुआ है, तथापि वे एक-सी नहीं हैं; क्योंकि मनुष्यकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये सभी ब्रह्मकी जाग्रत्-अवस्थाके अन्तर्गत हैं।

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः ''स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः।
स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः '' 'प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः।
(माण्डूक्य० ३, ४)

साधारण जीवनमें मनुष्य बहिर्मुखी होता है, उसके सारे भोग इन्द्रियोंके द्वारा आस्वादित होते हैं। जब वह इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष या भोग नहीं करता, मन-ही-मन सबका चिन्तन करता है तो उसकी भित्ति होती है—इन्द्रियगत अनुभूति और उपलब्धि। बहुत लोग इन्द्रियोंके भोग्य विषयका परित्याग करके भी मन-ही-मन उसका चिन्तन करते हैं; यह त्याग वास्तविक त्याग नहीं होता—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता ३। ६)

मनुष्य जब स्वप्न देखता है तो वह भी इस बाह्य अनुभूति, उपलब्धिकी स्मृतिको लेकर रचित होता है। परंतु गम्भीर निद्राकी अवस्थामें वह भी उच्चतर चैतन्यमें ब्रह्मके उच्चतर पादमें जा सकता है। पर जाग्रत्-अवस्थामें उसकी कुछ भी स्मृति नहीं रहती। साधारण मनुष्यकी यह अवस्था ब्रह्मकी जाग्रत्-अवस्था है। वह 'बहिष्प्रज्ञ स्थूलभुक्' है। परंतु जिन मनुष्योंमें मानस-चैतन्यका उच्चतर विकास हुआ है, वे नाना प्रकारकी इन्द्रियातीत अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं। उनके द्वारा ही मनुष्यके साहित्य, काव्य, दर्शन आदि रचे जाते हैं। मन ही मूल इन्द्रिय है। अन्यान्य इन्द्रियाँ मनकी ही शक्तियाँ हैं। जिनके भीतर मानस-चैतन्यका उच्चतर विकास हुआ है, वे श्रोत्रेन्द्रियकी सहायताके विना भी दूरसे शब्द सुन सकते हैं, चक्षु-इन्द्रियकी सहायताके विना भी दूरका दृश्य देख सकते हैं। वे बाहरी भोग्य वस्तुका स्पर्श किये विना ही आभ्यन्तर आनन्दका उपभोग कर सकते हैं। यह है ब्रह्मकी स्वप्नावस्था। मनुष्यमें इस अवस्थाका श्रेष्ठ विकास है योगीकी अवस्था है—'अन्तःप्रज्ञःप्रविविक्तभुक्'। यहाँका भोग स्थूल इन्द्रियभोग नहीं होता, यह सूक्ष्म भोग है। गीताकी भाषामें—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(५। २१)

यही दो जीवकी अवस्थाएँ ब्रह्मके जीवभाव* हैं। पहला है साधारण मनुष्यका चैतन्य और दूसरा है योगीका चैतन्य। गीतामें इन दो अवस्थाओंका भेद इस प्रकार दिखलाया गया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(गीता २। ६९)

'योगीजन जिस आत्मचैतन्यमें वास करते हैं 'योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।' उस अवस्थाके भीतरसे वे ब्रह्मकी चतुर्थ—तुरीयावस्थामें जाकर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं—'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।'

साधारण मनुष्य इस चैतन्यमें प्रवेश प्राप्त नहीं कर पाये हैं। इसी कारण यह उनके पक्षमें निशा या अन्धकार-स्वरूप है और उनके पक्षमें जो जाग्रत्-अवस्था है, योगीजन देखते हैं कि वह मानो वस्तुतः एक निद्राकी अवस्था है। इसी कारण उपनिषद् साधारण मनुष्यको लक्ष्य करके कहता है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
(कठ० १। ३। १४)

'उठो, जागो। योगी-ऋषिजनकी खोज करके उनके द्वारा ज्ञानालोक प्राप्त करो।'

जाग्रत् और स्वप्न—ब्रह्मकी इन दो अवस्थाओंसे ऊपर उसकी तृतीयावस्था है सुषुप्ति-स्थान। यही ब्रह्मका ईश्वर-भाव है।

सुषुप्तिस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्। (माण्डूक्य० ५। ६)

इसके ऊपर ब्रह्मका जो चतुर्थ पाद, तुरीय है, वह सब भावोंके परे है, वचन मनके अतीत है। उसका वर्णन उपनिषद् इस प्रकार करता है—

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। (माण्डूक्य० ७)

* जीवो ब्रह्मैव नापरः।—शंकराचार्य।

ब्रह्मकी इस अवस्थामें विश्व नहीं है, सृष्टि नहीं है, देखने, जाननेकी कोई वस्तु नहीं है, आत्मा केवल आत्माकी प्रगाढ़ उपलब्धिको प्राप्त है—'एकात्मप्रत्ययसारः।'

इस आत्मचैतन्यमें जब सृष्टिकी इच्छा जागरित हुई तब ब्रह्म चतुर्थ पादसे तृतीय पादमें उतरकर सृष्टिकर्त्ता ईश्वर बन गया। सृष्टिका मूल है—आदि ब्रह्मसंकल्प। उसने कामना की—'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँगा। मैं सृष्टि करूँ।'

'सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेयेति।'

तब वह स्वयं ही बहुत रूप हो गया। (तदात्मानं स्वयमकुरुत—तैत्ति० २। ७) इसी कारण उसको सुकृत या स्वयंकर्त्ता कहते हैं। उसने स्वयं अपने आपको इस प्रकार बहुत कैसे किया? बृहदारण्यक उपनिषद्में यह बतलाया गया है—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्।...स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव........।—(१। ४। १, ३)

'पहले यह जगत् पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने सोचा कि उसके सिवा और कोई नहीं है। रति या मिलनका आनन्द अकेले-अकेले नहीं होता; वह अकेला होनेसे रममाण नहीं हुआ; अतः अब भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। इसलिये उसने अपने-आपका ही दो भागोंमें पातन या विभाजन किया। स्त्री-पुरुष जैसे यौन-क्रियामें आलिङ्गित होकर रहते हैं, वह वैसा ही हो गया। उससे पति और पत्नी हुए। इसलिये यह शरीर अर्धबृगल (दो दलवाले अन्न—चने आदिके एक दलके समान) है।' उपनिषद्में यहाँ एक भागको पति और दूसरे भागको पत्नी कहा है; क्योंकि पातन या विभाजनके द्वारा ही वह एक मानो दो हो गया है। सांख्यकी भाँति गीता इन दोनोंको पुरुष और प्रकृति नामसे अभिहित करती है और कहती है कि इन दोनोंके संयोगसे इस जगत्की सृष्टि हुई है। गीताने प्रकृतिको जगत्की योनि बतलाया है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
(१४। ३)

एकको बहुत बनना पड़ेगा, इसी कारण प्रकृतिको ग्रहण करके पुरुषने बहुत-से देहोंकी सृष्टि की और प्रत्येक देहमें स्वयं आत्मारूपमें अनुप्रविष्ट हो गया। इस प्रकार एक ही बहुत हो गया, किंतु तबसे कितने युग-युगान्त बीत गये। ब्रह्म इसके लिये पहले जड बना, उससे प्राण, प्राणसे मन—इस प्रकार क्रमशः पृथिवी बनी और उससे मनुष्य-शरीरका आविर्भाव हुआ—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥
(मुण्डक० १।१।८)

जड ही मानव-जीवनका आधार है, मनोमय प्राण शरीरका नेता है, यही मनुष्यकी संज्ञा (definition) है; परंतु मनुष्य अभीतक ब्रह्म नहीं हुआ, ब्रह्मका बहुत होना पूर्ण नहीं हुआ। मनके ऊपर जो विज्ञान-चैतन्य है, उसका जब विकास होगा, तब मनुष्यमें ब्रह्मका प्रकाश पूर्ण हो जायगा, इस पृथिवीपर ही मनुष्यका दिव्य जीवन हो जायगा। स्वप्नस्थान और सुषुप्तिस्थान—इन दोनोंके योगको विच्छिन्न कर दिया गया था; अन्यथा एक ही बहुत नहीं हो सकता था। इसीके लिये ब्रह्मचैतन्यमें अहंकारका आविर्भाव हुआ। अहंकारके वश होकर ही हम अपनेको अन्य सबसे भिन्न समझते हैं। सब कुछके भीतर एक ही आत्मा है, यह हम नहीं देख पाते। इस पार्थक्यको सुदृढ़ करनेके लिये तथा अनन्त वैचित्र्यसे पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करनेके लिये अहंसे ही मन और अन्यान्य इन्द्रियाँ तथा पञ्चभूतोंका आविर्भाव हुआ है।* इन सबका समावेश गीताकी अपरा प्रकृतिमें होता है तथा सुषुप्ति-चैतन्य जो सृष्टिका मूल है, वही गीताकी 'परा प्रकृति' है। इसी कारण गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—कि अपरा प्रकृति उनकी अपनी प्रकृति नहीं है, सात्त्विक, राजस और तामस भाव उससे उत्पन्न होते हैं, तथापि ये उनमें नहीं हैं। इस गुणमयी अपरा प्रकृतिके भीतर रहते हुए जब हमारा व्यष्टिभाव, बहुभाव, जीवभाव सुदृढ़ होगा, तब देह और प्राणके आश्रित मनके भीतर विज्ञान-चैतन्यका विकास होगा और हमको पुनः आत्म-ज्ञान प्राप्त होगा। अपरा प्रकृतिका अहंभाव लुप्त हो जायगा, तब हम 'बहु' होकर भी 'एक' हो जायँगे। तभी एकका बहु होना सुसिद्ध होगा।

वैदिक युगसे भारतमें तथा भारतका अनुसरण करके हुए जगत्‌में सर्वत्र जो नाना धर्म, नाना उपासनाका आविर्भाव हुआ है, जितने मत, जितने पथ आविर्भूत हुए हैं, उन सबके द्वारा मानवजाति एक नवीन रूपान्तरकी ओर अग्रसर हो रही है। इतने दिनोंतक मनुष्य नाना प्रकारसे भगवान्‌की और आत्माकी खोज करता आ रहा है। बहुत-से लोगोंने बड़ी-बड़ी कठोर तपस्याएँ की हैं, क्योंकि यह वैसा सहज नहीं है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति॥
(कठ० १।३।१४)

परंतु अब वह पथ उतना दुर्गम नहीं रह गया है। सुषुप्ति-स्थानसे जो ज्योति और शक्तिका अवतरण हो रहा है, उसीके द्वारा मानव-जीवनका रूपान्तर हो जायगा। इस समय मनुष्यका काम है—अपनेको उस ज्योतिकी ओर खोलकर रख देना, उस दिव्य शक्तिकी क्रियाके सामने नतमस्तक हो जाना। गायत्रीमन्त्र ही इस अध्यात्म-साधनामें विशेष सहायक हो सकता है। ब्रह्म क्या है! ब्रह्म स्वयं ही कैसे जीव-जगत् बन गया है? किस प्रकार मनुष्यके अन्तर्गत ब्रह्मका प्रकाश पूर्ण होगा?—यह सब कुछ इस वेदके श्रेष्ठ मन्त्रके भीतर अवस्थित है। ब्रह्मकी चार अवस्थाएँ एक ही साथ इसके अभ्यन्तर निहित हैं। इन सबको लेकर ही ब्रह्म होता है। ॐ अक्षर उसका ही प्रतीक है। वह एक अक्षर है, परंतु इसके चार अंग हैं जो ब्रह्मकी चार अवस्थाओं या पादोंका निर्देश करते हैं। अ—जाग्रत्, उ—स्वप्न, म्—सुषुप्ति और विन्दु तुरीय है। ॐका उच्चारण करनेसे उसी पूर्ण परम ब्रह्मका स्मरण हो जाता है। भूर्भुवः है जाग्रत्, स्वः है स्वप्न तथा इन दोनोंके सृष्टिकर्त्ता सविता हैं सुषुप्ति। गायत्रीमन्त्रमें इस सविताकी ज्योतिका आह्वान किया गया है साधकके अन्तरको आलोकित करनेके लिये। सविताका स्थूल प्रतीक है—सूर्य। सूर्यकी ज्योति जैसे पृथ्वीके अन्धकारको दूर करती है, उसी प्रकार सृष्टिकर्त्ताकी दिव्य ज्योति और शक्ति हमारे भीतर अवतीर्ण होकर हमको विज्ञानसे उद्भासित करे, दिव्य आनन्दसे पूर्ण करे।

इसके साथ कुछ बाह्य तपस्या भी आवश्यक है। वेदमें जो याग-यज्ञादि हैं, वे इसी प्रकारके बाह्य अनुष्ठान हैं। महाभारतके युगमें ही इनका लोप हो गया था, इनके बदले इनका ही अनुकरण करके नयी-नयी क्रियाएँ

* ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५।७)



सायाह्न—वृषभासनसमारूढा वृद्धा रुद्राणी



आविष्कृत हुई। फिर पुराण और तन्त्र उन सबमें परिवर्तन हुआ। श्रीचैतन्यदेवने जीव-दया और श्रीमद्भागवतका अनुसरण करके हरिनाम-संकीर्तनको ही प्रधान धर्मानुष्ठानके रूपमें प्रचार किया।

जीवे दया नामे रुचि वैष्णव सेवन।
इहा भिन्न धर्म नाइ शुन सनातन॥

वर्तमान युगका जीवन्त धर्मानुष्ठान है—मानवकी सेवा और हितसाधन (Humanism)। स्वामी विवेकानन्दने यही प्रचार किया है—

बहुरूपे सम्मुखे तोमार
छाड़ि कोथा खूँजिछ ईश्वर।
जीवे प्रेम करे, जेइ जन
सेइ जन सेविछे ईश्वर॥

अर्थात् 'नाना रूपोंमें जो तुम्हारे सामने है, उसको छोड़कर अन्यत्र कहाँ ईश्वरको खोज रहे हो। जो जीवसे प्रेम करता है वही मनुष्य, मनुष्य है और वही मनुष्य ईश्वरकी सेवा करता है।'

वर्तमान युगमें सब देशोंमें, सब धर्मोंमें आज इसीको धर्मका सार कहा जा रहा है।

गीता मानव-धर्मका जैसा शास्त्र है, वैसा शास्त्र दूसरा कोई नहीं है। गायत्री और गीताका आश्रय लेकर ही समस्त मानवजाति आज एक 'समिति' बन सकेगी।



गायत्री-साधना

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य ब्रह्म० श्रीस्वामी शंकरतीर्थजी महाराज—प्रेषक श्री'श्याम'जी)

वेदमाता गायत्रीकी महिमा अपार है। एक बार देवताओंने षडङ्गादिसहित चारों वेदोंको एक ओर रखकर तथा गायत्रीको दूसरी ओर रखकर तौला तो दोनों ही समान हुए—

गायत्रीं चैव वेदांश्च तुलया समतोलयन्।
वेदा एकत्र साङ्गास्तु गायत्री चैकतः स्थिता॥
(कूर्मपुराण)

गायत्रीजप तथा गायत्रीमाताकी उपासनासे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता। यह वैदिक मन्त्रोंमें सर्वश्रेष्ठ, वेदसार है। इसका नाम ही वेदमाता है। जिस प्रकार मातासे ही संतानकी उत्पत्ति होती है, उसी भाँति वेदमाता गायत्रीसे ही सारे वेद विस्तृत एवं उत्पन्न हुए हैं। अतः इसकी उपासना एवं जपसे सारा वैदिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

पहली बात जप तथा साधनानुष्ठानमें परमावश्यक यह है कि जितने दिन कोई विशेष साधना की जाय, उतने दिनोंतक ब्रह्मचर्यपालन, अन्तर्बहिःशुद्धि, भूमिशयन, सात्त्विक रहन-सहन, फलादि सात्त्विक आहार, एक समय भोजन, एकान्तवास, पापकर्म-परित्यागपूर्वक अहिंसा-सत्यादिका पालन, जप-निष्ठा तथा मन्त्रमें विश्वास अवश्य होना चाहिये। जिस आसनपर तथा जिस स्थानपर बैठकर जप किया जाय, वह स्थान तथा आसन बदलना नहीं चाहिये। साधनानुष्ठानके वस्त्र भी एक ही होने चाहिये, जो साधनाके समय पहनकर बादमें धोकर रख देने चाहिये और फिर साधनाके समय धारण करना चाहिये।

एकान्त स्थानमें पूर्वाभिमुख हो आसनपर बैठकर आसन-शुद्धि करे। आसनशुद्धिका मन्त्र इस प्रकार है—

पृथ्वीति मन्त्रस्य मेरुपृष्ठ ऋषिः, सुतलं छन्दः, कूर्मो देवता आसनोपवेशने विनियोगः।

ॐ पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता।
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्॥

—इस प्रकार कहकर कुशासे जल-प्रोक्षण करे। पहले आचमन करे। आचमनके पश्चात् तत्त्वमुद्रा (दाहिने हाथके अङ्गुष्ठाग्रमें अनामिकाग्रको संयोग करनेसे तत्त्वमुद्रा होती है।) से अङ्गन्यास करे। अङ्गन्यास इस प्रकार है—

ॐ हृदयाय नमः। (कहकर हृदयस्पर्श)
ॐ भूः शिरसे स्वाहा। (कहकर शिरःस्पर्श)
ॐ भुवः शिखायै वषट्। (कहकर शिखा-स्पर्श)

ॐ स्वः कवचाय हुम्। (कहकर बायें हाथको दाहिने कंधेके ऊपर और फिर दाहिने हाथको बायें कंधेके ऊपर रखकर बायें हाथकी तत्त्व-मुद्रासे दाहिने कंधेका स्पर्श तथा दाहिने हाथकी तत्त्वमुद्रासे बायें कंधेका स्पर्श करे।)

ॐ भूर्भुवः स्वः नेत्राभ्यां वौषट् । (कहकर मध्यमा तथा तर्जनीसे नेत्रोंका स्पर्श करे ।)

ॐ भूर्भुवः स्वः अस्त्राय फट् । (कहकर दाहिना हाथ सिरके चारों ओर घुमाकर बायें हाथकी हथेलीपर आघात करे ।)

इसी भाँति शरीरमें निम्न मन्त्र पढ़कर न्यास करे—

ॐ तत्पदं पातु मे पादौ जङ्घे मे सवितुः पदम् ।
वरेण्यं कटिदेशं तु नाभिं भर्गस्तथैव च ॥
देवस्य मे तु हृदयं धीमहीति गलं तथा ।
धियो मे पातु जिह्वायां यः पदं पातु लोचने ।
ललाटे नः पदं पातु मूर्द्धानं मे प्रचोदयात् ॥

इसके पश्चात् माता गायत्रीके ऋषि, देवता आदिका स्मरण करके विनियोग करे—

ॐकारस्य ब्रह्मऋषिरग्निर्देवता, गायत्रीच्छन्दो, शुक्लो वर्णः गायत्रीजपे विनियोगः ।

महाव्याहृतीनां परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः, अग्निवायुसूर्या देवताः, गायत्र्युष्णिगनुष्टुभश्छन्दांसि, गायत्रीजपे विनियोगः ।

गायत्र्या विश्वामित्रऋषिः, सविता देवता, गायत्रीच्छन्दो गायत्रीजपे विनियोगः ।

इसके पश्चात् निम्न मन्त्रके अनुसार गायत्रीका ध्यान करे —

ॐ श्वेतवर्णा समुद्दिष्टा कौशेयवसना तथा ।
श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलंकारैश्च भूषिता ॥
आदित्यमण्डलस्था च ब्रह्मलोकगताथवा ।
अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा ॥

अर्थात् 'जो श्वेतवर्णा कही गयी हैं, सफेद रेशमका वस्त्र धारण किये हुए हैं, सफेद पुष्प, चन्दन आदि अनुलेपनसे युक्त तथा श्वेत आभूषणोंसे सुशोभित हैं, हाथमें रुद्राक्षकी माला लिये पद्मासनसे बैठी हुई हैं और जो सूर्यमण्डलमें अथवा ब्रह्मलोकमें स्थित हैं, ऐसी देवीका मैं ध्यान करता हूँ ।'

इस प्रकार ध्यान करके गायत्रीका आवाहन करे । कृताञ्जलि होकर कहे—

तेजोऽसीति मन्त्रस्य देवा ऋषयो धाम देवता, गायत्रीच्छन्दो गायत्र्यावाहने विनियोगः ।

ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि, धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥ (शु० यजु० १ । ३१)

अर्थात् 'हे गायत्री ! आप ब्रह्मतेज हो, सवितृ... आप तेजोमयी हो, आप मुक्तिप्रदाता हो, आप उपासकों... ध्येय हो, आप सबके नमस्कारके योग्य हो; आप सर्वम... मयी होनेसे देवताओंकी प्रिय सर्वदा विजयी ईश्वर... उपासनाके मन्त्र हो और पूजनकी साधना हो ।' इसके पश्चा... गायत्रीका उपस्थान करे । कृताञ्जलि होकर कहे—

तुरीयपदस्य विमलऋषिः परमात्मा देवता, गायत्र्यु... पस्थाने विनियोगः ।

ॐ गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे । नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसे ।

(बृहदारण्यक० ५ । १४ । ७)

इसके पश्चात् 'ॐ भूर्भुवः स्वः । तत् सवितुर्वरे... भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ।' इस मन्त्रका जप करे । ('वरेणियम्' ऐसा उच्चारण करना चाहिये) क्योंकि कहा गया है—

'वरेण्यम् विरलं चोक्त्वा जपकाले विशेषतः ॥'

(गायत्रीकल्प)

अर्थ समझकर जप करनेसे विशेष फल तथा विशे... आनन्द रहता है; अतः अर्थ जानना चाहिये । गायत्रीमन्त्रकी व्याख्या इस प्रकार है—

(यः परमेश्वरः) ॐ (अ-उ-म्—सृष्टि-स्थिति संहारार्थं ब्रह्म-विष्णु-रुद्ररूपधारी) भूः (भूरूपः) भुवः (भुवःस्वरूपः) स्वः (स्वर्लोकरूपः) यः (परमेश्वरः) नः (अस्माकं सर्वेषां संसारिणाम्) धियः (बुद्धीः) प्रचोदयात् (धर्मार्थकाममोक्षेषु प्रेरयति) सवितुः (अनन्तब्रह्माण्डानां भूतानां च प्रसवितुः) देवस्य (दीप्तिक्रीडायुक्तस्य परमेश्वरस्य) तत् (वेदादि-निखिलसत्शास्त्रप्रसिद्धं स्वयंप्रकाशरूपं तापत्रयनाशकं जन्ममृत्युनिवारणं) वरेण्यं (वरणीयं तापत्रयपीडितैः जन्ममृत्यु-भीरुभिः तन्निरासाय उपासनीयं) भर्गः (सर्वदुःखानां सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जनसमर्थं तेजः—स्वयं-ज्योतिः परब्रह्मात्मकं तेजोमण्डलं) धीमहि (सोऽहमस्मी-त्यनेन प्रकारेण चिन्तयामः) ।

अर्थात् 'जो परमेश्वर जगत्की सृष्टि, पालन और प्रलयके लिये ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रका रूप धारण करते हैं; जो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गरूपसे विराज रहे हैं यानी त्रिभुवनके यावत् पदार्थ ही जिनकी मूर्ति है; जो हम संसारि...

की बुद्धिको धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष विषयोंमें लगाते हैं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और अनन्तकोटि प्राणियोंके स्रष्टा स्वयंप्रकाश, जगन्निर्माणादि-रूप क्रीडाशील हैं, उन परमेश्वरके, वेदादि सम्पूर्ण सत्-शास्त्रोंमें सुप्रसिद्ध नित्यप्रकाशस्वरूप, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—इन त्रिविध तापोंका नाश करनेवाले, जन्म-मृत्युरूप संसार-सागरसे पार लगानेवाले तथा दुःखपीडित संसारी जीवोंसे संसार-पार जानेके निमित्त उपासना करनेयोग्य, सारे दुःख, सारे पाप और सारे जन्म-मृत्युके चक्करोंसे छुड़ानेवाले, स्वयंज्योति, परब्रह्मरूप तेजका हम अभेदात्मक-बुद्धिसे ध्यान करते हैं।'

जप करते समय निम्नलिखित बातोंका ध्यान रखना चाहिये। गायत्रीके एक पादका अलग-अलग उच्चारण मन-ही-मन करके जप करना चाहिये। पादच्छेद करके उच्चारण की हुई गायत्री ब्रह्महत्याको भी दूर करती है तथा पादच्छेदके बिना उच्चारण करनेसे ब्रह्महत्याप्रदायिनी होती है—

भिन्नपादा तु गायत्री ब्रह्महत्याप्रणाशिनी।
अभिन्नपादा गायत्री ब्रह्महत्यां प्रयच्छति॥
(विश्वामित्रकल्प)

'गायत्रीका जप मन-ही-मन करना चाहिये, जिह्वा और ओंठ न हिलाकर, सिर और ग्रीवाको न चलाकर यानी स्थिर रखकर तथा दाँतोंको न दिखलाकर अर्थात् ओंठको बंद रखकर मन्त्र जपना चाहिये'—

ओङ्कारं व्याहृतीस्तिस्रो गायत्रीं त्रिपदां तथा।
मनसैवमनुस्मृत्य वेदादिकमुपक्रमेत्॥
(शौनकः)

जपेत्तु मनसा मन्त्रं जिह्वौष्ठौ न विचालयेत्।
न कम्पयेच्छिरो ग्रीवां दन्तान्नैव प्रकाशयेत्॥
(याज्ञवल्क्यः)

दाहिने हाथको वस्त्रसे ढककर जप करना चाहिये, तभी जप सफल होता है, इसीलिये गोमुखीका भी व्यवहार किया जाता है—

वस्त्रेणाच्छादयेद्धस्तं दक्षिणं यः सदा जपेत्।
तस्य स्यात् सफलं जाप्यं तद्धीनमफलं स्मृतम्॥
अतएव जपार्थं सा गोमुखी भ्रियते जनैः॥
(वृद्धमनुः)

जप करते समय सिरपर वस्त्र तथा हाथ नहीं रखना चाहिये। जपके समय हाँफनेसे हानि, ऊँघनेसे दुःख, बोलनेसे रोग, माला गिरनेसे नाश और मालाका सूत टूटनेसे मृत्यु (परिणामस्वरूप) होती है। इस कारण सावधान होकर मालासे जप करना चाहिये और जप करते समय मालामें तर्जनीका स्पर्श नहीं होना चाहिये तथा सुमेरुका उल्लंघन न करे। दुबारा फेरते समय सुमेरुके पाससे फिर मालाको घुमा देना चाहिये।

जपके पश्चात् विसर्जन करना चाहिये। विसर्जनका मन्त्र यह है—

ॐ उत्तरे शिखरे देवि भूम्यां पर्वतवासिनि।
ब्राह्मणैः समनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम्॥

गायत्रीजपकी महिमा अपार है। शास्त्रमें कहा गया है—

दशकृत्वः प्रजप्ता सा राज्याह्ना यत् कृतं लघु।
तत् पापं प्रणुदत्याशु नात्र कार्या विचारणा॥
शतजप्ता तु सा देवी पापोपशमनी स्मृता।
सहस्रजप्ता सा देवी महापातकनाशिनी॥
लक्षजप्येन साप्येवं सप्तजन्मोत्थपातकम्।
कोटिजप्येन विप्रर्षे यदिच्छति तदाप्नुयात्॥

अर्थात् 'दस बार जप करनेसे दिवारात्रिकृत लघु पाप, सौ बार जप करनेसे सर्वपाप, सहस्र बारसे महापातक और लक्ष बार जप करनेसे सप्तजन्मार्जित पाप नष्ट हो जाते हैं तथा कोटि बार जप करनेसे सम्पूर्ण इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं।' काम्य-अनुष्ठानमें बादमें दशांश हवन करना चाहिये। अनुष्ठानके अङ्गमें अङ्गन्यासके बाद 'गायत्रीशापविमोचन' और 'गायत्रीहृदय'का पाठ तथा गायत्री-उपस्थानके अनन्तर मुद्रा-प्रदर्शन एवं 'गायत्रीकवच'का पाठ करना भी कहा गया है। 'अधिकस्य अधिकं फलम्' के अनुसार वह कल्याणकारी ही है। कहीं-कहीं गायत्री-तर्पणका भी विधान कहा गया है।

जपके समय वार्तालाप नहीं करना चाहिये तथा आलस्य, जँभाई, छींक, थूकना, अपवित्र अङ्गोंका स्पर्श करना भी निषिद्ध है। कुछ अपवित्रता हो जानेपर आचमन तथा अङ्गन्यास करके तब माला फेरनी चाहिये। जप करते समय यदि लघुशङ्का आदिका वेग हो तो उससे निवृत्त होकर, फिर पवित्र होकर आचमनादि विधिपूर्वक जपका प्रारम्भ करना चाहिये। इस प्रकार अनुष्ठान करनेसे अभीष्टसिद्धि अवश्य होती है।

ओंकारोपासना

(लेखक—विद्यामार्तण्ड, डॉ० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, भूतपूर्व उपकुलपति, वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय)

प्राचीन वैदिक वाङ्मयमें, विशेषतः उपनिषदों और आध्यात्मिक साहित्यमें, ओंकारोपासनाका अत्यन्त महत्त्व है।

उपनिषदोंमें छान्दोग्योपनिषद्का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसका प्रारम्भ ही उद्गीथ अथवा ओंकारकी उपासनासे होता है। जैसे—

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्युद्गायति। तस्योपव्याख्यानम्।...स एष रसानाᳬरसतमः परमः परार्द्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः॥'

(छान्दोग्य० १। १। १, ३)

'ओम्-रूप इस अक्षरको उद्गीथ-रूप परमात्माका वाचक मानकर उपासना करनी चाहिये। सामवेदका गान करनेवाला उद्गाता 'ओम्' इस अक्षरके गान-पुरस्सर ही साम-गानका आरम्भ करता है। उसीकी व्याख्या यहाँ की जाती है।.........इस विश्व-सृष्टिमें जितने भी रस हैं, उन सबमें उत्कृष्टतम स्थान उद्गीथ अर्थात् ओंकारका है। अर्थात् विश्वमें उत्कृष्टतम आनन्दका स्रोत ओंकार ही है।'

आगे चलकर इस उपनिषद्में अनेक प्रकारसे ओंकारोपासनाका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

इसी प्रकार माण्डूक्योपनिषद्, कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, भगवद्गीता, मनुस्मृति आदिमें ओंकारोपासनाका उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ओंकारोपासनाका ब्रह्म-प्राप्तिमें सदासे प्रमुख स्थान रहा है।

पातञ्जलयोगसूत्रमें कहा है—

'तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्॥'

(योगसूत्र १। २७-२८)

अर्थात् 'परमात्माका मुख्य वाचक शब्द 'ओंकार' है। ओंकारका जप और उसके अर्थका चिन्तन करे।' इससे अध्यात्म-मार्गपर चलनेवाला सरलतासे एकाग्रता तथा अन्तर्मुखताको प्राप्त कर सकता है और उसके मार्गमें आनेवाले सब प्रकारके विघ्न स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

वेदादि-शास्त्रोंमें ओंकारके माहात्म्यका जो अद्भुत वर्णन किया गया है उसको अतिशयोक्ति नहीं समझना चाहिये। उसका आधार सचमुच ही ऋषि-मुनियोंका अपना अनुभव था।

वास्तवमें एक सच्चे श्रद्धालुके लिये ओंकार ऐसा चिन्तामणि है जिसके द्वारा वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है। कठोपनिषद् (१। २। १६) में इसीलिये कहा गया है—

'एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।'

अर्थात् 'ओंकारको जानकर कोई भी जिस पदार्थको चाहता है उसको पा सकता है।'

उसी ओंकारकी और उसकी उपासनाकी एक आकर्षक व्याख्या माहात्म्यके रूपमें अपने शब्दोंमें हम नीचे देते हैं। निश्चय ही, जिज्ञासुजनोंको वह प्रिय लगेगी। हमें विश्वास है कि अध्यात्म-प्रेमी श्रद्धालुलोग उससे लाभ उठावेंगे और निम्न विचारोंको अपने मनमें सजीव देखनेका यत्न करेंगे।

(१)

ओंकारका दोला या झूलेके संगीतके रूपमें वर्णन

प्रेमकारुण्ययोर्धाम तत्त्वं विश्वनियामकम्।
यत् तेन निर्मितामेतां तेनैवान्दोलितां तथा॥ १॥
श्वासप्रश्वासयोर्दोलामारूढो मोदनिर्भरम्।
गायाम्योंकारसंगीतं मधुरं मधुराक्षरम्॥ २॥

अर्थात् 'प्रेम और कारुण्यके स्थान तथा सारे विश्वके नियन्ता भगवान्ने श्वास और प्रश्वासकी दो डोरियोंवाली एक दोला (झूला) मेरे लिये बनायी है और स्वयं ही वे उस दोलाको आन्दोलित कर रहे हैं। उन्हींके द्वारा मैं उस दोलामें बिठाया हुआ आनन्द-विभोर होकर मीठे स्वरमें मधुराक्षर ओंकाररूपी संगीतको गा रहा हूँ।' ठीक उसी तरह, जैसे कोई बालक अपने पिताद्वारा झूलेमें बिठाया और झुलाया जाकर आनन्दमें मग्न होकर गीत गाता है।

(२)

माताको बुलानेके लिये बच्चेके आह्वानके रूपमें वर्णन

यासौ सर्वजगन्माता सर्वदेवनमस्कृता।
ऋषिभिर्मुनिभिर्गीता सर्वशास्त्रोपवर्णिता॥ ३॥

नानासंतापसंतप्तस्तस्या आह्वानमुत्तमम् ।
ओंकारमाश्रये नित्यं भक्तिप्रवणमानसः ॥ ४ ॥

'सब देवताओंसे नमस्कृत, ऋषियों और मुनियोंसे गायी गयी तथा सब शास्त्रोंके द्वारा वर्णन की हुई जो सारे जगत्की माता है, ओंकार उसके आह्वानका—अपनी ओर आकृष्ट करनेका श्रेष्ठ साधन है। अनेकानेक संतापोंसे त्रस्त होकर मैं मनसे भक्ति-प्रवण होता हुआ सर्वदा उसी ओंकारका आश्रय लेता हूँ।'

अभिप्राय यह है कि डरे हुए बच्चोंकी तरह मैं भी नाना संतापोंसे डरा हुआ ओंकार-द्वारा ही विश्वकी माता-को बुलाना चाहता हूँ। उनको बुलानेके लिये ओंकार ही सर्वोत्तम आह्वान है।

(३)

भगवत्पदकी प्राप्तिके लिये सोपानके रूपमें वर्णन

योगिनामपि दुर्गम्यं भक्तानामपि दुर्लभम् ।
ज्ञानिनामपि दुश्चिन्त्यं जगतः प्रभवाप्ययम् ॥ ५ ॥
कूटस्थं शाश्वतं दिव्यं विष्णोर्यत् परमं पदम् ।
ओमित्युद्गीथिनः प्राहुस्तस्य सोपानमद्भुतम् ॥ ६ ॥

ओम्का गान करनेवाले आचार्योंका कहना है कि 'ओंकार ही उस कूटस्थ शाश्वत और दिव्य भगवत्पदकी प्राप्तिके लिये एक अद्भुत सोपान (सीढ़ी) है, जो योगियोंके लिये भी दुर्गम्य है, भक्तोंके लिये भी दुर्लभ है, ज्ञानियोंके लिये भी दुश्चिन्त्य है तथा जहाँसे जगत्की उत्पत्ति होती है और जिसमें उसका प्रलय होता है।'

(४)

आत्मरक्षार्थ कवचके रूपमें वर्णन

आन्तराणामरातीनां विजयव्रतधारिणाम् ।
भवबन्धविनाशार्थं मुनीनां धर्मचारिणाम् ॥ ७ ॥
ओंकारं परमं प्राहुराश्रयं तद्विदो बुधाः ।
तमेनं सुदृढं मन्ये 'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' ॥ ८ ॥

'काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि आभ्यन्तर शत्रुओंको विजय करनेका व्रत लेनेवाले और भव-बन्ध अर्थात् सांसारिक जीवनकी त्रुटियों और अपूर्णताओंकी निवृत्तिके लिये धर्माचरणमें रत रहनेवाले मुनियोंका ओंकार ही एकमात्र उत्कृष्ट सहारा होता है; ओंकारके तत्त्वको जानने-वालोंका ऐसा मत है। उसी ओंकारको मैं ब्रह्म-रूपमें अपना सुदृढ़ आध्यात्मिक कवच मानता हूँ।'

'ब्रह्म वर्म ममान्तरम्'—यह अथर्ववेद (१ । १९ । ४) का मन्त्र है। उसीकी ओंकार-परक व्याख्या यहाँ की गयी है। अभिप्राय यह है कि ईश्वर-भक्तके लिये ओंकार एक सुदृढ़ कवचका काम करता है।

(५-९)

सुगन्धित पुष्प, परम ज्योतिः, अमृत, परमौषध तथा ब्रह्मास्त्रके रूपमें वर्णन

ज्ञानविज्ञानवृक्षस्य सुगन्धि कुसुमं शुभम् ।
ज्योतिषामपि यज्ज्योतिरमृतं भोज्यमात्मनः ॥ ९ ॥
नानासंतापतप्तानां यच्चाप्यौषधमुत्तमम् ।
पापौघं भस्मसात्कर्तुं ब्रह्मास्त्रं ब्रह्मवादिनाम् ॥ १० ॥

'ओंकार ज्ञान-विज्ञान-रूपी वृक्षका सुन्दर सुगन्धित पुष्प है। अर्थात् जैसे किसी फूलनेवाले पौधेका उत्कृष्ट सौन्दर्यमय सारांश पुष्प-रूपमें विकसित होता है, वैसे ही समस्त ज्ञान और विज्ञानका अन्तिम निचोड़ या परम ध्येय अथवा पर्यवसान ओंकार है। ओंकार समस्त प्रकाशमय पदार्थोंका भी प्रकाश है। ओंकार ही वास्तवमें आत्माका अमृतमय भोज्य है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यमात्रमें अपनेको पूर्णकी ओर ले जानेकी जो भूख है, उसकी सदाके लिये तृप्ति ओम्से ही हो सकती है। नाना प्रकारके संतापोंसे संतप्त मानवके लिये ओंकार ही सर्वोत्तम अचूक औषध है। मनुष्यके अंदर जो पापोंकी राशि घर किये हुए है उसको आमूल भस्मसात् करनेके लिये ओंकारको ही ब्रह्मज्ञानी अत्यन्त शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र समझते हैं।'

(१०)

सर्वदेवात्मक, सर्वत्र व्यापक मूल-तत्त्वके रूपमें वर्णन

सर्वदेवात्मकं शान्तं तत्त्वमेकरसायनम् ।
अथवा बहुनोक्तेन कोऽर्थ एवं विचिन्त्यताम् ॥ ११ ॥
त्रिलोक्यामपि यत्किंचिद् तदादाय समन्ततः ।
तिष्ठन्तं प्रणवं ध्यायन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १२ ॥

'समस्त देव जिसके अङ्ग हैं ऐसा, सदा एक स्वरूपमें रहनेवाला (अथवा अद्वितीय रसायन-रूप), शान्त तत्त्व ओंकार ही है। अथवा अधिक कहनेसे क्या लाभ है, यही समझना चाहिये कि तीनों लोकोंमें जो कुछ विद्यमान है, उस सबको अपनेमें लेकर जो स्थित है,

उसी ओंकारका ध्यान करता हुआ मनुष्य ब्रह्मभावको प्राप्त कर सकता है।'

उपर्युक्त ओंकारवर्णनका माहात्म्य

एतदोंकारमाहात्म्यं प्रातः प्रातः पठन्नरः।
सावधानेन मनसा शान्त एकान्तसंस्थितः॥१३॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्रव्रजन् ब्रह्मणोऽध्वनि।
प्रणवस्य जपेनार्थभावनेन च नित्यशः॥१४॥
उत्तरोत्तरमुत्कृष्टं स्थानं प्राप्य परं पदम्।
अक्षय्यममृतं दिव्यं लब्ध्वा तिष्ठत्यनामयम्॥१५॥

'उपर्युक्त ओंकार-माहात्म्यका एकान्तमें बैठकर प्रत्येक दिन प्रातःकाल, शान्तचित्त और सावधान होकर जो मनुष्य पाठ करता है, वह गुरुद्वारा बतलाये हुए मार्गसे ब्रह्म-प्राप्तिकी ओर चलता हुआ, नित्य अर्थ-विचारके साथ ओंकारके जपसे क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति क[रता] हुआ निश्चय ही अन्तमें अक्षय्य, अमृत, अना[मय] (सब पीडाओंसे रहित), आनन्दमय परमपदको प्राप्त [कर] लेता है।'

उपसंहार

स एष सरलो मार्गः सर्वकण्टकवर्जितः।
अत एव सदा सद्भिः सम्प्रदायैः समर्हितः॥

'ओंकार-उपासनाका उपरि-निर्दिष्ट मार्ग [सीधा] सादा है। इसमें किसी प्रकारके कण्टकों या विघ्न-बा[धाओं] या जटिलताओंका डर नहीं है; इसीलिये समस्त [सत्] सम्प्रदाय इस मार्गका आदर करते हैं।'

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि वैदिक मार्गकी [तरह] बौद्ध आदि सम्प्रदाय भी ओंकारके माहात्म्यको मानते [हैं]।

उपनिषदोंमें प्रणव-विवेचन तथा प्रणवोपासना

(लेखक—डा० श्रीगजाननजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

उपनिषदें भारतीय अध्यात्म-चिन्तन तथा अध्यात्म-साधनाकी उत्स है। भारतीयदर्शन तथा साधनामें प्रणवका शीर्ष स्थान है। उपनिषदोंमें मुक्त-कण्ठसे प्रणव-महिमा गायी गयी है। प्रणव ही ब्रह्म है तथा ब्रह्म-प्राप्तिका अमोघ साधन भी। प्रणवके दो रूप हैं—साकार और निराकार। विभिन्न उपनिषदोंमें विभिन्न नामोंसे इन दो रूपोंकी चर्चा आती है।

प्रणवके दो रूप

सोपाधिक	निरुपाधिक	आधार
ब्रह्म	परब्रह्म	कठ० १।२।१६
अवर ब्रह्म	परब्रह्म	मुण्डक० २।२।८
अपर ब्रह्म	परब्रह्म	प्रश्न० ५।२
मूर्तः असत्यः	अमूर्तः सत्यः	बृहदारण्यक० २।३।१
अधिमात्र	अमात्र	माण्डूक्य० ८।१२
मृत्यु-युक्त	अव्यवहार्य	प्रश्न० ५।६
	प्रपञ्चोपशम अद्वैत	माण्डूक्य० १२
शब्दब्रह्म	परब्रह्म	मैत्रायणी० ६।२३

अधिमात्र या सोपाधिक प्रणवकी तीन मात्राएँ मानी जाती हैं। अकार प्रथमा मात्रा है। व्याप्ति और आदि[मत्त्व] होनेके कारण अकार ही प्रथम मात्रामें माना जाता [है]। प्रणवकी दूसरी मात्रा है उकार। उत्कर्ष तथा उभय[त्वके] कारण उकारको द्वितीय स्थान मिला है। तीसरी मा[त्रा है] मकार। माप करनेवाला और विलीन करनेवाला [होनेके] कारण मकारको तीसरा स्थान मिला है। इन तीन मात्राओं[से युक्त] सोपाधिक अधिमात्ररूपसे परे है—प्रणवका निरुपा[धिक] चतुर्थ अमात्ररूप।

प्रणव या ओंकारकी उत्पत्ति

छान्दोग्योपनिषद्के मतानुसार प्रजापतिने स[मस्त] लोकोंमेंसे सार ग्रहण करनेकी इच्छासे ध्यानरूप तप कि[या] जिसके फलस्वरूप त्रयीविद्याकी उत्पत्ति हुई। उस अभि[तप्त] त्रयीविद्यासे 'भूः, भुवः और स्वः'—ये व्याहृति रूप अ[क्षर] उत्पन्न हुए। इनकी पुनरालोचनासे उत्पन्न हुआ ओं[कार] या प्रणव।

प्रणवका महत्त्व

(अ) रसोंमें रसतम एवं सर्वश्रेष्ठ

प्रणव ही एक मात्र सारवस्तु तथा परमात्माका सर्वो[त्तम] प्रतीक है। सम्पूर्ण भूतोंका रस पृथिवी है, पृथिवीका

जल, जलका रस ओषधियाँ, ओषधियोंका रस पुरुष, पुरुषका रस वाक्, वाक्का रस ऋक्, ऋक्का रस साम तथा सामका रस उद्गीथ है। ओम् या प्रणव ही उद्गीथ है। इस प्रकार यही रसोंमें रसतम, परम परार्ध्य अर्थात् श्रेष्ठस्थानीय या परमात्माका प्रतीक है। इसीको आठवाँ या अन्तिम रस मानना चाहिये। यह वेदरूपी रसका रस और वेदरूपी अमृतका अमृत है।

(आ) त्रयीविद्याका प्रवर्तक

मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने प्रणवको ही त्रयीविद्या या त्रयीविद्यासे विहित समस्त कर्मोंका प्रवर्तक माना है। उनका निश्चय है कि 'इस अक्षरकी पूजाके लिये ही तथा इसीकी महिमा और रसके द्वारा ही त्रयीविद्याका प्रवर्तन होता है। सभी कर्म इस अक्षरकी ही व्याख्या करते हैं।' ऋषियोंका सहज किंतु अटल विश्वास है कि 'जो व्यक्ति प्रणवके इस रहस्यको जानता है उसका कर्म प्रबलतर होता है।'

(इ) जगत्का निर्माता तथा सर्वरूप

औपनिषदिक मान्यताके अनुसार प्रणव ही नाम-रूपात्मक जगत्का प्रणेता है। उसीने अपने स्वरूपको तीन रूपोंमें बना लिया है। उसीकी तीन मात्राओंसे अखिल ब्रह्माण्ड ओत-प्रोत है। सारा दृश्य उसीमें स्थित है तथा उसीका उपाख्यान है। माण्डूक्यके अनुसार 'जो है, जो हुआ है और जो होनेवाला है तथा जो त्रिकालातीत है, वह भी ओंकार ही है। जो ब्रह्म है वही आत्मा है, वही ज्योति है, वही आदित्य है और जो आदित्य है, वही ओम् है। ओम्के माध्यमसे तैत्तिरीयमें 'इदम्, अहम् और परम्'के बीच अद्वैतकी सिद्धिका प्रयास परिलक्षित होता है—

'ओमिति ब्रह्म। ओमिति इदं सर्वम्'॥
(तैत्तिरीय० १।८।१)

(ई) प्रणवके आश्रयसे अमरता और अभयताकी प्राप्ति

उपनिषदोंमें प्रणवका महत्त्व स्पष्ट करते हुए त्रयीविद्यासे सम्बन्धित कर्मोंसे इसकी उत्कृष्टता स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार की गयी है। इस संदर्भमें छान्दोग्यमें दी गयी एक आख्यायिका उल्लेखनीय है। 'एक बार देवताओंने मृत्युसे भयभीत होकर त्रयीविद्यामें प्रविष्ट हो स्वयंको छन्दोंसे आच्छादित कर लिया; किंतु जिस प्रकार मछुआ जलमें मछलियोंको देख लेता है, उसी प्रकार ऋक्, यजुः और साम-सम्बन्धी कर्मोंमें लगे हुए उन देवताओंको मृत्युने देख लिया। यह जानकर वे त्रयीविद्यासे सम्बन्धित कर्मोंसे ऊपर उठे, उनसे निवृत्त हुए और स्वर या प्रणवमें प्रवेशकर, मृत्युकी पहुँचसे परे होकर अमर हो गये। ओंकार अन्य स्वरोंके समान स्वर है, किंतु अमृत और अभयरूप है। जो व्यक्ति इस प्रकार जानकर इस अक्षरकी स्तुति करता है, वह अमर और अभय हो जाता है, जिस प्रकार देवता अमर और अभय हो गये थे।' इस प्रकार उपनिषदोंमें सम्पूर्ण कर्मकाण्डसे प्रणवको उत्कृष्ट तथा श्रेष्ठ आश्रय माना गया है।

यमराजने भी नचिकेतासे प्रणवकी महत्ताका प्रतिपादन करते हुए कहा था कि 'सम्पूर्ण वेद जिस पदका बारंबार प्रतिपादन करते हैं, जिस पदकी इच्छासे ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है, उस पदको संक्षेपमें 'ओम्' कहते हैं। यही ब्रह्म है और यही परब्रह्म है। यही श्रेष्ठ आलम्बन है और यही परम आलम्बन है।' प्रश्नोपनिषद्की मान्यता है कि 'जो व्यक्ति इस आलम्बनको स्वीकार करता है वह शान्त, अजर, अमर, अभय और परम तत्त्वको प्राप्त कर लेता है।'

उपासनाकी दृष्टिसे प्रणवका महत्त्व

उपनिषदोंमें प्रणवको परमात्माका श्रेष्ठ प्रतीक कहा गया है। आचार्य विनोबा भावेका मत है कि "'नु' स्तुति करनेका अर्थ व्यक्त करनेवाले धातुमें 'प्र'उपसर्ग लगाकर बनाये गये प्रणव शब्दका शाब्दिक अर्थ है—उत्तम स्तुति।' उपनिषदोंमें प्रणवको परम या श्रेष्ठ आलम्बन कहा गया है। प्रश्नोपनिषद्के अनुसार श्रेष्ठ ज्ञानी जिस तत्त्वको जानते हैं, उसे बुद्धिमान् पुरुष केवल ओंकारके अवलम्बनसे प्राप्त कर लेता है। 'मैत्रायणीमें' प्रणवको ब्रह्मका शब्द-शरीर कहा गया है। इसके द्वारा ब्रह्मके रसका बोध हो जाता है।

इसीलिये उपनिषदें बार-बार 'ओम्' इस नामसे आत्माका ध्यान करनेके लिये उपदेश देती हैं। 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्।' मैत्रायणी तथा श्वेताश्वतरमें ओंकारको नौका कहा गया है, जिसके द्वारा मानव भयानक स्रोतोंको पार कर जाता है। इसके द्वारा हृदयाकाशके पार भी हो जाता है।

प्रणवोपासना

प्रणवोपासना-विधिका उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंपर रूपकोंके माध्यमसे वर्णन किया गया है। यह महास्त्र माना गया है। मुण्डकके अनुसार प्रणव धनुष है, जिसपर आत्मारूपी बाणको उपासनाके द्वारा तीक्ष्ण करके अक्षर ब्रह्मरूपी लक्ष्यपर संधान करना चाहिये। इस संधानरूप साधनामें पूर्णतः अप्रमत्त होना तथा तद्भावानुगत होना नितान्त आवश्यक है। बाणके समान तन्मयता ही लक्ष्य-वेधकी सफलताका मूल मन्त्र है। मैत्रायणी उपनिषद्में शरीरको धनुष माना गया है और ओम्‌को शर तथा मनको शिला मानकर लक्ष्यवेध करनेका आग्रह किया गया है। इसी उपनिषद्में प्रणवोपासनाका सम्बन्ध प्राणोंसे भी जोड़ा गया है। तदनुसार जिस प्रकार जलचारी मत्स्यादिकोंको मछुआ सूत्रयन्त्रके द्वारा निकालकर उदराग्निमें डाल देता है, उसी प्रकार प्राणोंको ओम्‌के द्वारा ऊपर उठाकर अनामय तप्त अग्निमें हवन कर देना चाहिये। छान्दोग्यने भी प्रणव तथा प्राणोंका सम्बन्ध जोड़ा है। तदनुसार प्राण 'ओम्' या प्रणवका उच्चारण करते हुए गमन करता है। वास्तवमें प्रणवोपासना भारतकी प्राचीनतम आध्यात्मिक उद्गीथो-पासना है—

'अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति।' 'अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतो-मिति ह्येष स्वरन्नेति॥'

(छान्दोग्य० ५। १। १, ३)

छान्दोग्यमें प्रणवोपासनाके अन्तर्गत वाणी और प्राणके ऐक्यबोधको भी आवश्यक माना गया है। जैसे जिस समय मिथुन अर्थात् स्त्री और पुरुष मिलते हैं और एक दूसरेकी कामनाकी पूर्ति करते हैं, उसी प्रकार जब वाणी और प्राणका जोड़ा ओंकारमें लगा दिया जाता है, तब मानवकी कामनाकी पूर्ति होती है।

प्रणवोपासनाका एक और रहस्य प्रश्नोपनिषद्में मिलता है। महर्षि पिप्पलादसे सत्यकामने प्रश्न किया था कि 'यदि कोई व्यक्ति मृत्युपर्यन्त ओंकारका ही भलीभाँति ध्यान करता है तो वह अपनी इस उपासनाके बलपर किस लोकको जीत लेता है?' महर्षि पिप्पलादने 'ओंकार'की तीनों मात्राओंका अलग-अलग ध्यान-फल बतलाया था। अन्तमें उपसंहारके रूपमें कहा था कि 'ओंकारकी तीनों मा[त्राएँ] मृत्युसे युक्त हैं, चाहे इनका प्रयोग संयुक्त रूपसे किया [जाय] चाहे पृथक्-पृथक् रूपमें किया जाय। इस प्रकारकी मा[त्राएँ] मनुष्यको मृत्युके अधिकारक्षेत्रसे बाहर नहीं पहुँचा सक[तीं] किंतु जब बाहरी, आन्तरिक और मध्यवर्ती क्रियाओं [अर्थात्] जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्नकी क्रियाओंमें इनका सम्यक् प्र[योग] किया जाता है, तब ज्ञाता पुरुष कभी भी विचलित नहीं हो[ता]। बुद्धिमान् पुरुष ओंकारके अवलम्बनके द्वारा ही शान्त, अ[जर,] अमर, अभय परमात्माको प्राप्त कर लेता है।' इस प्रक[रणमें] यह स्पष्ट कर दिया गया प्रतीत होता है कि 'प्रणवके आ[न्तरिक] रूपकी उपासना अधिक महत्त्वपूर्ण है। और प्रणवोपास[ना] केवल वाचिक ही नहीं होनी चाहिये, उसका जीवन[के] प्रत्येक गतिविधिसे सम्बन्ध होना आवश्यक है। सारा जी[वन] ही साधनामय हो जाना चाहिये।'

प्रणवोपासनाका फल

(अ) प्रणवोपासकके सभी कर्म प्रबलतर होते हैं। (छान्दोग्य १। १। १०)

(आ) इस उपासनामें लीन साधककी इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारकी कामनाएँ शीघ्र ही पूर्ण हो जाती हैं। (छान्दोग्य० १। २। १, ४; १। १। ७; १। ३। [१२]; कठ० १। २। १६)

(इ) प्रणवोपासकका कोई भी अहित नहीं कर सकता। [जो को]ई भी उसके अहितकी कामना करता है, वह उसी प्रकार न[ष्ट] हो जाता है, जिस प्रकार अभेद्य पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला चूर-चूर हो जाता है। (छान्दोग्य० १। २। ८)

(ई) प्रणवोपासक मृत्युसे मुक्त हो जाता है और उसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। (छान्दोग्य० १। ४। [५]; प्रश्न० ५। ७)

(उ) प्रणवोपासकको परमानन्दकी प्राप्ति होती है; क्योंकि प्रणव रसोंका रस है। (छान्दोग्य० १। १। १-३)

(ऊ) प्रणवोपासक ब्रह्मलोकको प्राप्तकर महिमासे युक्त होता है। (कठ० १। २। १७)

प्रणवका रहस्य

(लेखक—श्रीयुत काशीचरणजी पंत)

सृष्टिमात्रमें यदि श्रुतिमधुर कोई शब्द है, जिसे सहज स्वभाववश ही अपनी आनन्दातिरेककी अवस्थामें हर कोई प्राणी प्रयोग करता है, तो वह प्रणवका ही अपभ्रंश है। यथार्थमें पूर्णप्रकारेण प्रणव बाह्य-चेष्टासे अनुच्चार्य है। वह प्रणवका अपभ्रंश ही सर्वप्रथम परम सरलतासे नवजात बालकके मुखसे प्रस्फुटित होता है। वह है—'ओ' अक्षर। इसके रहस्यार्थकी खोजमें वेद सर्वोत्कृष्ट ज्ञानकोष है। इस वेदके शिरोभागमें प्रकाश डालनेवाली विद्या 'उपनिषद्' कहलाती है, जो पराविद्या अर्थात् परब्रह्मका बोध कराती है। इस सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मविद्याको वेदके ज्ञानका प्रकाश करनेवाली होनेके कारण 'वेदान्त' अथवा 'उपनिषद्' कहते हैं। यदि वास्तवमें प्रणवका रहस्य ढूँढ़ना है तो वेद, उपनिषद्, आगम आदि सभीका अवलोकन करना पड़ेगा।

सर्वप्रथम उपनिषदोंको लीजिये। तैत्तिरीयोपनिषद्में प्रणवकी व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध होती है—

'ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्'''(१ । ८)

'प्रणव (ॐ) यह ब्रह्म है। ॐकार ही यह सम्पूर्ण जगत् है।' माण्डूक्योपनिषद् प्रणवको अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) बताती है यथा—

'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा।'

(माण्डूक्य ७)

—इस मन्त्रके अनुसार 'प्रणवरूप परमात्माके चतुर्थ पादको ही शान्त, शिव, अद्वैत ब्रह्म कहा गया है।'

कठोपनिषद् (१ । २ । १५) का वाक्य, यथा—

'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि 'ओम्' इत्येतत्।

'प्रणव'को ही वेद वेद्य पद बताता है। इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद्का मन्त्र (५ । ५) प्रणवकी तीन मात्राओंका वर्णन कर इसे ब्रह्मलोककी प्राप्तिका मूल बतलाता है। वास्तवमें सारा मुण्डकोपनिषद् प्रणवकी महिमासे भरा है। इसका कथन है—

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा' इत्यादि। (२ । ४)

इस मन्त्रने प्रणवके निम्न भागको धनुषका रूप ठीक ही दिया है। ज्ञात होता है कि बौद्ध वज्रयानने यह विचार सम्भवतः इसी ऋचासे लिया हो। इसका पूरा विवरण आगे आयेगा।

श्वेताश्वतरोपनिषद्का मन्त्र (१ । १४) प्रणवको उत्तर अरणिका रूप देता है। श्रीनृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्का मन्त्र प्रणवके वाच्यार्थको परब्रह्म मानता है (खण्ड ६)। ध्यानबिन्दूपनिषद्ने प्रणवको अनाहत नाद तथा ध्यानमें ही नादित होनेवाला 'आदि शब्द' कहा है। (२ । ३) नादबिन्दूपनिषद्का वाक्य प्रणवको सप्तव्याहृतिमय बतलाता है। तेजोबिन्दूपनिषद्का वचन प्रणवको तेजोमय बिन्दुके रूपमें प्रतिष्ठित करता है और उसके ध्यानको परम सूक्ष्म तथा शिवकी शक्तिसे ही साध्य बतलाता है। इस प्रकार सारांशमें यह कहा गया कि 'प्रणव ब्रह्मरूप, तेजोमय, सप्तव्याहृतिमय तथा शिवकी शक्तिसे साध्य, ध्यानैकगम्य पूर्ण सृष्टिका रूप है।' यह वेदोंके प्रतिपाद्य प्रणवके विषयमें वेदान्त (उपनिषदों) का मत है।

अन्य मतोंका अनुशीलन संक्षेपमें नीचे दिया जाता है। यथा—

कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पन्देन सव्यापकं
सृष्टिश्चैव तथेयमाकृतिविशेषत्वादभूत्स्पन्दिनी।
शब्दश्चोमभवत्तदा प्रणव इत्योंकारवाच्यः शिवः

(योगशास्त्रे)

निश्चल प्रकृतिमें सृष्टिनिमित्त जो क्षोभकी ध्वनि हुई वही प्रणवनाद है। श्रीमद् आचार्यपाद शंकरने और श्रीगौड़पादाचार्यने इसपर विशद भाष्य लिखा है। इसीका समीपवर्ती होनेसे 'पर्वतराजतनया'का 'उमा' नाम इतना कर्णप्रिय हुआ है। इसीकी ध्वनिको वहन करनेसे शङ्ख इतना आदरणीय हुआ। पश्चिमीय कवि ब्रह्माण्डके संगीतकी कल्पना करते हैं। सम्भव है उस संगीतलहरीका इसी नादसे तात्पर्य हो। पातञ्जलयोगसूत्रमें लिखा है—

'तस्य वाचकः प्रणवः' ॥ १ । २७ ॥

अर्थात् 'उस परमात्माका वाचक शब्द 'प्रणव' है।'

वाच्य-वाचकका सम्बन्ध नित्य है; अतः प्रणव स्वयं ब्रह्म ही है। अन्य मत इसे त्र्यक्षरात्मक मानते हैं। यथा—

त्र्यक्षरात्मकतारेण परेशः प्रतिपाद्यते।
पाता हर्ता च संस्रष्टा यो देवः प्रकृतेः परः॥

'तीन अक्षरोंसे युक्त प्रणव-मन्त्रद्वारा प्रकृतिसे परवर्ती उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करनेवाले परमेश्वरका प्रतिपादन होता है।'

गीतामें प्रणवके महत्त्वको समझाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'योग-धारणाका आश्रय ले प्राणको मस्तकमें स्थापित कर प्रणव-जपपूर्वक देह-त्याग करनेसे परम मुक्ति प्राप्त होती है।' (गीता ८। १२-१३)

जैसे श्रीदेवीभागवत-पुराणमें मायाबीजका माहात्म्य विस्तारपूर्वक वर्णित है; क्योंकि उक्त पुराण श्रीभुवनेश्वरी महाविद्यासे सम्बद्ध है; इसीलिये तद्बीज (मायाबीज) की महिमासे भरा है; उसी प्रकार वेद-वेदाङ्ग तथा उपनिषद् प्रणवकी महिमासे परिपूर्ण हैं। ब्रह्मरहस्यके वचन नादस्फोट-से शक्ति, शक्तिसे विन्दु और विन्दुसे सृष्टिका उद्भव बताते हैं।' यथा—

नादो विन्दुर्महादेवि कथितोऽयं सुरेश्वरि।
नादादुत्पद्यते विन्दुस्तस्माद् ब्रह्म ततः प्रजा॥
नादादुत्पद्यते शक्तिः शक्तेर्विन्दुः प्रजायते॥
(ब्रह्मरहस्य)

तन्त्रके बीजकोष तथा मातृका-निघण्टु प्रणवको निम्न संज्ञाएँ देते हैं—

अक्षर, वेदादि बीज, सावित्री आदिबीज, वेदसार, वेदबीज, गायत्रीबीज, तार आदि। उपनिषद् भी प्रणवको बीज बताते हैं और यह बीज वेद (ज्ञान)का सार है।

तन्त्र इसका साधारण वर्णन निम्न प्रकारसे देते हैं—

'वेदत्रयात् समुद्धृत्य प्रणवं निर्ममे पुरा।'
(गन्धर्वतन्त्र)

अर्थात् 'वटवृक्षके बीजके समान वेदत्रयीसे वेदसाररूप वेदबीज प्रणव बना।'

समस्त ब्रह्माण्डोंमें शक्तितत्त्व अलक्षित ही है। कार्या-कार्यात्मक स्थूल तत्त्व उपाधिरूप शिवतत्त्व है। यही समाधि-ध्यानमें ऋषियोंने अनुभव किया। यथा—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
(श्वेता० १।३)

यही जड विज्ञानका भी सिद्धान्त है कि 'En[ergy] is in itself invisible—शक्ति अलक्षित रहती है। शिवतत्त्व विकासोन्मुख होता है तो शक्तितत्त्व [...] होता जाता है। उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि 'प्रणव म[...] तथा वेदके मूलमें है।' इस कारणसे यदि मातृका [...] उत्पन्न हुई, तो प्रणव बनानेवाली अ, उ, म्—ये [...] मात्राएँ कहाँसे आयीं? यह तो वही प्रश्न हुआ जो सा[...] प्रवर श्रीकविरञ्जन रामप्रसाद सेन अपने गीतमें 'माँ[...] पूछते हैं—

'संसार यखन छाछिल,
मुण्डमाल कोथाय पेलि!'

'माँ! जब समस्त संसार ही उत्पन्न नहीं हुआ [था] तब तुमने पहननेके लिये मुण्डोंकी माला कहाँसे पायी?'

महापूर्णाभिषेकके आदि महावाक्यानुसार श्रीमहा[...] संहितामें कथारूपसे वर्णन है—

एतस्मिन्नेव काले तु स्वबिम्बं पश्यति शिवा।
तद्बिम्बं तु भवेन्माया तत्र मानसिकं शिवम्।
विपरीतरतौ देवि विन्दुरेकोऽभवद् पुरा।
श्रीमहासुन्दरी रूपं बिभ्रती परमाः कलाः॥
(दक्षिणा[...])

मानसिक शिव, यथा—

'तदा दृष्टा तया छाया महाकालो विनिर्मितः।'
(कथा[...])

इस दिव्य मानसिक आत्मरमण—आनन्दसे, [...] परब्रह्मकी व्यञ्जना केवल 'आनन्द' शब्दमें निहित [...] विन्दुका उद्भव हुआ, जो श्रीविद्यारूपिणी है। [...] प्रणवरूप बना, यथा—

'प्रणवः सुन्दरीरूपः कलासप्तकसंयुतः।'
(शक्तिसंगम, काली[...])

अर्थात् 'षट्कलारूप षट्शिव (ब्रह्मा, विष्णु, [...] ईश्वर, परमशिव अथवा कामेश) बने और विन्दु [...] रूप हुआ।' इस विन्दुसे समस्त मातृकाएँ बनीं। यथा—

बिन्दुध्वनिसकाशात्तु प्रत्येकं वर्णजातयः ।
मातृकार्णास्ततो जाता अक्षरेति यथाभवन् ॥
(शक्तिसंगम)

—इन मातृकावर्णोंसे समस्त जगत्की उत्पत्ति हुई ।

'स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृकात् ।'
(गौरीकञ्चुकीतन्त्र)

इस तरह निखिल अनन्त ब्रह्माण्डयुक्त सृष्टिकी रचना हुई । इसी प्रकारसे अकथादि आत्मत्रिकोण भी प्रणवात्मक ही है ।

बिन्दुत्रयात्मकं स्वात्मश्रृङ्गारं विद्धि सुन्दरम् ।
मिश्रं शुक्लं च रक्तं च पुराणं प्रणवात्मकम् ॥
(रहस्याम्नाय)

सृष्टिका आदिकारण होनेसे यह बीज ही 'कामकला-बीज' कहलाता है; क्योंकि मन्त्रशास्त्र विवरण देता है कि 'सहस्रारकी कर्णिकाके अन्तर्गत द्वादशदल कमलके मध्य मणिपीठमें 'ह-स' अक्षर ही श्वास-प्रश्वासके मूलमें हैं ।' यथा—

'स्मरामि युगमादिहंसयोः' ॥ ४ ॥
(श्रीगुरुपादुकापञ्चक)

जिनसे—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ।
हकारस्य सकारस्य लोपे कामकला भवेत् ॥
(शक्तिसंगम १)

इस प्रकार बहिर्गत तथा अन्तर्गत श्वासद्वारा निर्मित पूर्व तथा उत्तर अजपा ('हंसः') ही प्रणवका मूल है और यही कामकला-बीज है ।

'हंसः, सोऽहं'में 'पञ्चद्वयत्यागात्' अर्थात् हकार-सकारके लोपसे प्रणव बना । बिन्दु एवं विसर्ग ही कामकलात्मक त्रिकोण बन गये ।

मुखं बिन्दुवदाकारं तदधः कुचयुग्मकम् ।
सोऽहमित्यत्र देवेशि प्रणवः परिनिष्ठितः ॥

अर्थात् पूर्ण वर्णमाला ही उत्पन्न हो गयी, जिसका आद्य अक्षर 'अ' है और अन्तिम 'ह' है । इसीलिये जीव अपनेको 'अहम्' नाम देता है । अब प्रणवकी सात कलाओंके विषयमें तन्त्रका कथन है—

आदौ परा विनिर्दिष्टा ततश्चैव परात्परा ।
तदतीता तृतीया स्यात् चित्परा च चतुर्थिका ॥
तत्परा पञ्चमी ज्ञेया तदतीता रसाभिधा ।
सर्वातीता सप्तमी स्यादेवं सप्तविधा कला ॥

ये परा आदि सात कलाएँ हैं । इसीको विस्ताररूपसे समझाते हुए आगम निरूपण करते हैं कि 'सप्तकला' पञ्च-कृत्यकारी शिव तथा 'बिन्दुनाद' शिवशक्ति पद है ।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
एते पञ्च महाप्रेताः प्रणवं च समाश्रिताः ॥
ब्रह्माद्यश्चतुष्पादाः फलकस्तु सदाशिवः ।
आच्छादनं तु कामेशस्तत्रस्था सुन्दरी कला ॥
(शक्तिसंगम १)

'ह' से श्वास बाहरको जाता है तथा 'स' से अन्तरको आता है । इसी समय प्रश्वास-श्वाससे उलटा अर्थात् 'सोऽहं'की उत्पत्ति ध्वन्यात्मक होती है । दोनोंके अनाहत चक्रपर संघर्षसे वायुमय प्रणवकी अनाहत ध्वनि होती है और ऊर्ध्वगति होनेसे आज्ञाचक्रपर स्थिति हो जाती है । उपर्युक्त कथनसे आगमद्वारा यह सिद्ध होता है कि 'प्रणव श्रीविद्याका बीज है और कामकलारूप है ।' इस सुन्दरी श्रीविद्यारूप बिन्दुसे नादरूप पृथक् बिन्दु बना, जो 'कामेश्वर' अथवा 'परम शिव' कहलाया । यथा—

प्रपञ्चमूला या शक्तिः प्रपञ्चेशी प्रकीर्तिता ।
तन्मायारूपधारित्वं प्रपञ्चात्मा शिवो भवेत् ॥
(शक्तिसंगम १)

इसी प्रकार इस बिन्दुध्वनिसे वर्णमालारूप पचास तत्त्वोंकी उत्पत्ति हुई जो सृष्टिनिमित्त पृथक्-पृथक् तत्त्व बने और महाप्रलयान्तमें श्रीमती आद्याकी मुण्डमालामें परिणत हुए । यथा—

बिन्दुध्वनिसकाशात्तु प्रत्येकं वर्णजातयः ।
मातृकार्णास्तदा जाता अक्षरेति तदाभवन् ॥
(महाकालसंहिता, दक्षिणखण्ड)

ये सभी वर्ण इस प्रकार प्रणवसे उत्पन्न हुए हैं और सभी शक्तियुक्त हैं । यथा—

'वर्णानां शक्तिरूपं च तद्ब्रह्म परिकीर्तितम् ।'

बिन्दुरूप श्रीविद्याने परशिवको पहले ही वर दिया था कि 'मैं तुममें प्रवेश कर तुम्हें शक्ति प्रदान करूँगी ।' यथा—

अहं विशामि त्वद्देहे शक्त्या युक्तो भव प्रभो ।
यां विना जननी कापि नैव कार्यविभाविनी ॥
(कुलचूडामणितन्त्र)

इसी प्रकार यह शुद्ध परशिवात्मक शिवतत्त्व उत्पन्न हुआ और इससे पञ्चकृत्यकारिणी पञ्च शिवाएँ उत्पन्न हुईं। यथा—

'आदौ शुद्धात्मकं तत्त्वं पञ्चधा तमसः परम्।'
(गन्धर्वतन्त्र)

इससे पञ्चमलयुक्त अन्य पाँच शिव बने। यथा—सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा। ये पञ्चमलयुक्त हैं। ब्रह्माण्डमें इनके गोल बने और पिण्डमें (मनुष्यदेहमें) मेरुदण्डस्थित कुल-पथमें इनकी स्थिति विशुद्ध, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान तथा मूलाधारमें हुई। फिर क्रमशः ये साक्षित्व, अनुग्रह, निग्रह, संहार, पालन एवं सृष्टि-कर्मसे युक्त हुए। यथा—

'क्रमेण पञ्चकं जातं परशम्भोस्तु मायया।'
(महाकालसंहिता)

इन कामेश परशिवसे क्रमशः पञ्चशिव उत्पन्न हुए। विन्दुसे उत्पन्न षट्शिवोंका निम्न प्रकारसे वर्णन मिलता है। विन्दु तथा अर्धमात्रा शुद्ध तत्त्व है; पर पञ्चशिव मलावृत हैं।

इनके पञ्चमल इस प्रकार जानने चाहिये—

१-ब्रह्मामें आणव मल—सृष्टिरूप अपूर्णाभास। (अव्यक्तता)

२-विष्णुमें कार्मण मल—पालनरूप भेदाभास। (मैत्री)

३-रुद्रमें मायामल—संहाररूप मायाभास। (काला, गौर आदि)

४-ईश्वरमें प्राकृत मल शासनरूप तथा निग्रह। (ऐश्वर्य)

५-सदाशिवमें सूक्ष्म अहंकृतिमल। (मुक्ति-प्रदानरूप अहंकार) जैसा कि कहा है—

आणव्यं ब्रह्मणस्तु स्यात्तथा विष्णोश्च कार्मणम्।
मायामलं तु रुद्रस्य प्राकृतं तु तथेश्वरे।
सदाशिवस्याहङ्कारः परशम्भोर्न किञ्चन॥
(शक्ति-संगम)

इस प्रकार पूर्ण अङ्गयुक्त प्रणवका प्रादुर्भाव हुआ। यह प्रणवोपासना पूर्वोक्त मलोंसे शुद्ध करती है तथा मोक्ष देती है। यही कामकला-बीजरूप प्रणव सृष्टिमें अथसे इति-तक पूर्णतः व्याप्त है। शिवशक्ति-विभाजन ही सृष्टि है और शिवका लय होना ही संहार है। केवलमात्र निर्जीव शिव ... कार्यमें अक्षम है। यथा—

'शिवशक्तिविभागेन जायते सृष्टिकल्पना।'
(कुलार्णवतन्त्र)

शिवकी निर्जीव-अवस्था ही पूर्ण कैवल्यकी प्राप्ति है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये तन्त्र निम्न उपाय देते हैं।

शिवादि गुरुओंसे अथवा कुलगुरुओंसे पूर्ण ... परम्परायुक्त सिद्ध गुरुमन्त्रद्वारा दीक्षा पूर्ण मोक्षदायक बतायी गयी है। यथा—

दीक्षाग्निदग्धमायादिमलो विच्छिन्नबन्धनः।
गलत्कर्ममलोऽबन्धो निर्जीवस्तु शिवो भवेत्॥
(कुलार्णव)

अर्थात् आणवादि मल ज्ञानाग्नि*में दग्ध हो, मायादि मल विच्छिन्न हों, तथा कर्ममल समाप्त हो जाय, फिर वह शिवतत्त्व पूर्णतः शान्त हो जाय। यही उस पिण्डका मोक्ष है। इसीलिये कहा है—

महामुनिमुखान्मन्त्रश्रवणाद् भुक्तिमुक्तिदम्।
जपहीनगुरोर्वक्त्रात् पुस्तकेन समं भवेत्॥
(सिद्धमतरहस्य)

सामान्य, साधनारहित मनुष्यके लिये प्रणवका ... कोटि जप एक पुरश्चरण बताया गया है (कलिकालमें चार पुरश्चरण आवश्यक हैं)। पर कवचादि तथा न्यासादिसे वज्रवत् हुए साधकद्वारा वीर-साधनसे यामगात्रमें ही सिद्धि लाभ हो सकता है। यथा—

वीरसाधनमार्गेण शिथिलोऽपि हि सिद्ध्यति।
याममात्रेण संसिद्धिर्वीरसाधनयोगतः॥
(आदिनाथ-संहिता)

प्रणव त्रिपुरारूप और त्रैपुरविषयक है, इसलिये इसमें वीर-साधन शीघ्र सहायक होता है।

युग प्रयोगोंका है। दार्शनिक दृष्टिकोणसे कोई विशेष लाभ नहीं। तन्त्रमें प्रत्यक्ष प्रयोगके अनन्तर उसकी दार्शनिक संगति मिलती है, जो प्रचलित दर्शनोंसे भिन्न तथा गुप्त है। खेचरी मुद्राका लक्षण (सिद्ध लक्षण) यों मिलता है—

चित्तं मनो यस्य वशं स्वमिन्द्रियं
स्थिरा स्वदृष्टिर्जगदीश्वरीपदे।

* दीक्षारूप ज्ञानाग्निमें।

नखेन्दुशोभे च विनावलोकनं
वायुः स्थिरो यस्य विना निरोधनम् ।
त एव मुद्रां विचरन्ति खेचरीं
निद्राविहीनाः प्रतियान्ति निद्राम् ॥
(रुद्रयामल)

वास्तवमें कुण्डलपक्षयुक्त प्रणव ही कुल-कुण्डलिनी है। इसका साधन अन्य प्रकारसे सम्भव नहीं। केवल मात्र वीर-साधन ही इसको अन्तर्मुखी बनाकर समाधि आदि दे सकता है। प्रपञ्चसार तन्त्रमें कहा है—

सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत् ।
संधिं वै पूर्णरूपाख्यं ततोऽसौ प्रणवो भवेत् ॥२१॥
(चतुर्थपटल)

यही प्रणव अथवा तार-कुण्डलिनी शक्ति है। जैसा कि प्रपञ्चसार-तन्त्रमें निरूपण किया गया है—

अव्यक्तं प्रलपति यदा कुण्डलिनी तदा ।
मूलाधारे विसरति सुषुम्नावेष्टिनी मुहुः ॥५१॥
शक्तिः कामाग्निनादात्मा गूढमूर्त्तिः प्रवर्तते ॥५३॥
तदा तां तारमित्याहुरोमात्मेति बहुश्रुताः ।
तामेव शक्तिं ब्रुवते परमात्मेति चापरे ॥५४॥
त्रिगुणा सा त्रिदोषा सा त्रिवर्णा सा त्रयी च सा ।
त्रिलोका सा त्रिमूर्तिः सा त्रिरेखा सा विशिष्यते ॥५५॥
एतेषां तारणात्तारः शक्तिस्तद्बृतिशक्तितः ।
बद्धा चतुर्द्धा गुणिता सूक्ष्मादिस्थानवाचिका ॥ ५६ ॥
(प्रपञ्चसार पटल—२)

अर्थात् मूलाधारस्थित कुण्डलिनी ही प्रणवरूप है। किस प्रकार उस प्रणवका आन्तरिक उच्चारण मोक्षदायक है, यह बताया जाता है—

बीजोच्चारो जाग्रद्बिन्दुः स्वप्नः सुषुप्तिरपि नादः ।
शक्त्यात्मकं तुरीयं शान्ते लय आत्मनस्तुरीयान्तम् ॥
(१९ पटल)

जयद्रथयामल भी कुण्डलिनीका यही वर्णन देते हैं। स्वर, स्पर्श और अन्तःस्थ—ये त्रिविध वर्णसमूह उसके तीन वलय (अकथादि त्रिगुणमय) बनाते हैं तथा शेष वर्ण अर्धवलयका निर्माण करते हैं। यथा—

अकुलं शिवमित्याहुः कुलं कुण्डलिनी मता ।
अणुमात्रशरीरा सा सार्धत्रिवलया स्मृता ॥

स्वरैः षोडशभिः पूर्वं स्पर्शैस्तत्स्याद् द्वितीयकम् ।
अन्तःस्थवर्णैर्वेष्टितं वलयं स्यात्तृतीयकम् ॥
शेषवर्णैर्भवेदर्धं सार्द्धत्रिवलयं भवेत् ।

इसी प्रकार कङ्कालमालिनीतन्त्र भी जीवात्माके युञ्जनमें प्रणवका प्रयोग बताता है। यथा—

आकृष्य प्रणवेनैव जीवात्मानं नगेन्द्रजे ।
कुण्डलिन्या सह प्राणं गन्धमादाय साधकः ।
'सोऽहं' तु मनुना देवीं स्वाधिष्ठाने प्रवेशयेत् ॥ इति ॥

प्रणव त्रिपुराका विषय है, इसलिये त्रैपुरशास्त्र अथवा तन्त्र ही इसके रहस्यके उद्घाटनमें विशेष प्रकाश डाल सकता है। तन्त्रमें सभी शब्द त्रैपुर अथवा तीन प्रकारके अर्थवाची हैं। ऊपरी अर्थ साधारण तथा घातक एवं हानिकारक सिद्ध हो सकता है। इस त्रैपुर-विषयमें अपना अनुसंधान भ्रान्तिपूर्ण हो सकता है। उदाहरणार्थ बीज-कूट आदिका उच्चारणमात्र भी केवल श्रीगुरुसे ही ज्ञात हो सकता है, अन्यथा कदापि नहीं ज्ञात हो सकता। जैसे प्रणवके लिये लिखा है—

'अर्धमात्रा स्थिता नित्या यानुचार्या विशेषतः ।'
(रात्रिसूक्त चण्डी)

इस अनुचार्यका आन्तर उच्चारण गुरुगम्य है; क्योंकि प्रणव अथवा किसी भी बीजका बाह्य उच्चारण वैखरीद्वारा असम्भव है। यदि कोई उच्चारण करेगा भी तो वह सर्वथा अशुद्ध एवं अपूर्ण होगा।

'गुरूपदेशात्तद्गम्यं नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ॥'

इसका उच्चारण केवल मध्यमाद्वारा ही किया जा सकता है। बिना चैतन्यमन्त्रके अथवा वीर-साधनके मध्यमाका उदय केवल स्वप्नवत् है। यथा—

'सिद्धमन्त्रगुरोर्दीक्षा लक्षमात्रेण सिद्धिदा ।'
(सिद्धिमत-रहस्य)

पर वीर-साधनोंसे पूर्ण निष्पाप हो जानेपर शक्तिपातादिसे कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है। जिसका लक्षण वायुका निरन्तर भक्षण है। यथा—

'वायुभक्षी यथा सर्पः कुण्डलिनी वायुभक्षिणी ।'
(रुद्रयामल)

इस प्रकार अखण्डपूरक योगसे जब मध्यमाका उदय हो तब आगेका मार्ग सहज हो जाता है। तन्त्र कल्पना एवं मनोरथोंका विषय नहीं, यह प्रत्यक्ष प्रयोगोंका विषय है। साधनों या सिद्धिसे डरानेवाले स्वयं अनधिकारी हैं। अनुभव सिद्धिमार्गके मील-सूचक पत्थरोंकी भाँति उत्साहवर्धक है और उन्हींसे प्रतीति बढ़ती है। प्राचीन कालको छोड़िये। अर्वाचीन कालमें भी श्रीब्रह्मचारी आत्मस्वरूप, श्रीमहात्मा कामराज, श्रीरामकृष्ण परमहंस, श्रीरामप्रसाद सेन, श्रीवामाचरण, श्री कमलाकान्त, श्रीसर्वानन्द ठाकुर आदि क्या ... साधनसे ही सफल नहीं हुए ? पर समयके फेरसे सभी ... प्रयोगोंसे दूर रहो' आदि उपदेश देनेवाले हैं। वास्तवमें यही कुलपथमें सान्त्वना तथा आनन्दमूलक है। नहीं तो इस परम अन्धकारमय अध्यात्म-मार्गमें कोई कैसे प्रकाश प्राप्त कर आगे उन्नति कर सकेगा !

ॐका रहस्य

(लेखक—योगाभ्यासी श्रीमदनमोहनजी वानप्रस्थी)

सृष्टि रचनेके पहले सृष्टि-उत्पत्तिके निमित्त जब ईश्वरमें इच्छा उठती है तो एक बड़ा घोर शब्द अर्थरहित गूँजके साथ निकलता है, जैसे इंजनमें होता है और वह बड़ी देरतक रहता है। उस शब्दको सुनकर जो जीवन्मुक्त ऋषि होते हैं, वे 'ॐ' अथवा 'अ,उ,म्' में उसका आरोप कर लेते हैं। और जब वह शब्द फट जाता है, तब उसमेंसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीतत्त्व सूक्ष्मरूपसे निकल आते हैं। फिर वह शब्द शान्त होकर लुप्त हो जाता है। इन आकाशादि पाँच तत्त्वोंद्वारा सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। इसलिये जो कुछ सृष्टि है, सब 'ओंकार' रूप ही है। इस कारण ॐकारकी उपासना अति श्रेष्ठ है। यह ईश्वरका प्रथम नाम है। जो इन तीन अ-उ-म् अक्षरोंके अर्थको समझकर और इन्हींमें विश्व, तैजस प्राज्ञ, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, जीव, हिरण्यगर्भ, ईश्वरका आरोप करके भजता है, वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है और आवागमनसे रहित हो जाता है। उपनिषदोंमें भी ऐसा ही वर्णन आया है, जो इस प्रकार है—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ।
ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥
(छान्दोग्य० १ । १ । १)

ॐ और उद्गीथ अक्षर एक ही है। अक्षरका अर्थ यहाँ अविनाशी है। वह ही 'ॐ' है। कोई-कोई आचार्य अक्षरके दो भाग करते हैं, अक्ष+र। अक्षका अर्थ नेत्रादि इन्द्रियाँ हैं, 'र'का अर्थ रहनेवाला है। जो इन्द्रियोंमें रहनेवाला हो, वही अक्षर है, वही अविनाशी ईश्वर है। उसीको उद्गीथ भी कहते हैं। 'उत्'का अर्थ है सबसे उत्कृष्ट और 'गी'का अर्थ है जो गाया जाता है, 'थ'का अर्थ है स्थान। अर्थात् जो स्थान सबसे बढ़कर है तथा जो सब वेदोंद्वारा गाया जाता है, उसका ध्यान करना चाहिये। जब ईश्वरने जीवोंके कर्मफलभोगार्थ सृष्टि रचनेकी इच्छा की, तो प्रथम शब्द ध्वन्यात्मक ॐ—ऐसा निकला। उसीसे उसके पश्चात् वर्णात्मक शब्द 'एकोऽहं बहु स्याम्' उत्पन्न हुआ, अर्थात् एक अद्वितीय ॐकार रूप ब्रह्ममें 'मैं बहुत प्रकारसे होऊँ'—ऐसी इच्छा होते ही चराचर सृष्टि उत्पन्न हो गयी। इसलिये जितनी सृष्टि है, चाहे प्रकटभावसे हो या अप्रकटभावसे हो, वह सब ब्रह्म ही है। अथवा 'ॐकार' रूप है। वेदोंमें ऋचाके पहले या पीछे ॐका प्रयोग किया जाता है, वह यह बताता है कि 'जो कुछ ॐ शब्दके पश्चात् कहा जाता या पीछे कहा गया है, वह सब 'ॐकार' रूप ही है, उससे पृथक् कोई वस्तु नहीं है।' ॐकारमें तीन अक्षर हैं 'अ+उ+म्।' 'अ' का अर्थ है—जाग्रत्का अभिमानी देवता विश्व, 'उ' का वाच्य है—स्वप्नका अभिमानी देवता तैजस तथा 'म्' से बोध्य है—सुषुप्तिका अभिमानी देवता प्राज्ञ। तात्पर्य यह है कि इन तीनों अवस्थाओंके जो पृथक्-पृथक् अभिमानी देवता हैं, वे ॐकाररूप ही हैं। मायाविशिष्ट ब्रह्म ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्—ये भी ॐकाररूप ही हैं। भाव यह कि ईश्वरसे लेकर तृणपर्यन्त सब ॐकाररूप ही है। यह ॐकार परमात्माका मुख्य नाम है। इस नामके उच्चारणसे परमात्मा प्रसन्न होता है। जो वैदिक कर्म ॐका उच्चारण करके योगद्वारा किया जाता है, वह सिद्धिको प्राप्त होता है।

वेदादि सच्छास्त्रप्रसिद्ध ऋषि-मुनि एवं विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध यह 'ओम्' परमात्माका सर्वोत्तम तथा ...

नाम है। उपनिषदोंमें बड़ी सुन्दर रीतिसे इसका व्याख्यान है। युक्तियुक्त बातके ग्रहण और अयुक्तके परित्यागका आदेश देनेवाले दर्शन-ग्रन्थोंमें इसके द्वारा उपासनाका विधान है और इसके ही स्मरण एवं जपकी आज्ञा वेदोंमें विद्यमान है। 'ओम्' पदवाच्य परमात्माका साक्षात्कार मनुष्यके कल्याणका निधान है। व्याकरणकी रीतिसे 'अ–उ–म्' इन तीनोंके मेलसे 'ओम्' शब्द सिद्ध होता है—यह अव्युत्पन्न प्रातिपादिक है। दूसरा मत यह है कि 'अव्' धातुसे औणादिक 'मन्' प्रत्ययका विधान होनेसे 'ओम्' बनता है; अतः यह व्युत्पन्न प्रातिपादिक है। अतएव 'अव्' धातुके जितने अर्थ हैं उन सबका यह बोधक है।' 'अव्' धातुके अर्थ ये हैं—रक्षण, गति, कान्ति, प्रीति, तृप्ति, अवगम, प्रवेश, श्रवण, स्वाम्यर्थ, याचन, क्रिया, इच्छा, दीप्ति, अवाप्ति, आलिङ्गन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि—ये १९ अर्थ हैं। व्याकरणकी रीतिसे 'ओम्' शब्द सिद्ध होकर उक्त उन्नीस अर्थोंका बोधक होता है।

गणित-विद्याके ज्ञाता इस नियमको भलीभाँति जानते हैं कि एकका जो अङ्क है, वह अपनेमें पूर्ण एवं स्वतन्त्र है। अतएव इसकी सत्ताका सद्भाव सब अङ्कोंमें समान है और सब अङ्कोंकी सत्ता इस एकमें विद्यमान है। नौ का जो अङ्क है, वह सर्वथा स्वतन्त्र तो नहीं है; परंतु पूर्ण अवश्य है। पूर्ण वह है, जो अपनेमें न्यूनताको न आने दे। यही कारण है कि संख्या एकसे आरम्भ होकर नौपर समाप्त हो जाती है; शेष इन्हीं अङ्कोंका विस्तार है। एकका अङ्क सबके आदि, मध्य और अन्तमें प्रकट हो रहा है। जैसे एक दोमें तो है किंतु दो एकमें नहीं है। इसी प्रकार छोटी संख्याओंकी सत्ता बड़ी संख्यामें पायी जाती है। एकका अङ्क सूक्ष्म है, शेष सब अङ्क स्थूल हैं। जिस प्रकार सूक्ष्मका समावेश स्थूलमें हो जाता है, उसी प्रकार स्थूलका प्रवेश सूक्ष्ममें नहीं हो सकता। नौ पूर्ण संख्या है। यही कारण है कि इसके आगे संख्याका विधान नहीं है। साधक विचार करे कि 'अव्' धातुके अर्थ उन्नीस हैं। इसमें एक और एक नव अङ्क विद्यमान हैं। एक स्वरूपसे पूर्ण स्वतन्त्र है और नौमें न्यूनता कदापि नहीं आती—यह सर्वदा पूर्णताका पक्षपाती समानरूपसे ही रहता है। संख्या एकसे आरम्भ होती है और नौपर समाप्त होती है। 'अव्' धातुसे निष्पन्न हुआ 'ओम्' शब्द पूर्ण परमात्मा और उसके समस्त गुणोंका बोधक हो रहा है।

आत्माके प्रयत्नसे जब अन्तःस्थ वायुको आघात प्राप्त होता है तो वह वायु कण्ठादि स्थानोंमें होकर पुनः जिह्वाके प्रयत्नसे अक्षर, शब्द और वाक्यके रूपमें प्रकट होती है। जिन स्थानोंसे अक्षरोंका उच्चारण होता है, उन सबमें प्रथम स्थान कण्ठ है और जिन अक्षरोंका कण्ठ स्थान है, उन सबमें प्रथम अक्षर 'अकार' है, इससे यह सिद्ध हो रहा है कि सृष्टिकालमें परमात्माके ज्ञानपूर्वक प्रयत्नसे जब अक्षर-उच्चारण-विद्याका विधान हुआ तो सबसे पूर्व 'अ' की ध्वनि प्रकट हुई। इसको ही 'नाद' कहते हैं—यह अव्यक्त स्वर सब प्रकारके उच्चारणकी आधार-भूमि है। शब्द और वाक्य-रचना इसका ही परिणाम है।

संकल्पमें आर्यलोग जिस प्रकार सृष्टिकी उत्पत्तिका इतिहास नित्य पढ़ते हैं, ठीक उसी प्रकार चतुर गायक सृष्टि-समकालमें होनेवाले 'अ' इस अव्यक्त स्वरको ही पहले आलापमें लाते हैं और फिर गाते हैं। संसारभरमें यह ही प्रकार है। वेद और नादका नित्य सम्बन्ध है। यह सर्वोत्तम स्वर है और इसका उच्चारण बहुत ही सरल है। अभिनवजात बालक अपने साथ स्वयंसिद्ध इसी भाषाको लाता है, पश्चात् अन्य भाषाओं-का चित्र इसपर ही आता है। जैसे अव्यक्त प्रकृतिसे व्यक्त संसार उत्पन्न होता है, वैसे ही अव्यक्त भाषासे व्यक्त भाषाओंका अभ्यास बलात् उत्पन्न होता है। अब आप लघु बालकके पास बैठकर यदि ध्यानसे सुनेंगे तो, वह 'अ' का ही उच्चारण करता हुआ प्रतीत होगा। अभी उसके स्थान और प्रयत्न—जिनकी सहायतासे अन्य अक्षरोंका उच्चारण होता है—दुर्बल हैं; परंतु अनायास होनेवाली ध्वनिका 'अ' से सामानाधिकरण्य हो रहा है। शयन-कालमें परमात्माके प्रबन्धसे प्रयत्नपूर्वक श्वासका जो आयात-निर्यात हो रहा है, उससे भी दीर्घ-ह्रस्व 'आ' 'अ' की प्रतिध्वनिका बोध होता है। प्राणिमात्रके जीवनका आधार प्राण है। गुप्त या प्रकटरूपसे यह व्यापार प्राणके उत्थानमें समान है। यह नियम परमात्माकी विचित्र मायाका सूचक है। शास्त्रोंमें इस परमात्माकी शक्तिको प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त, माया आदि नामोंसे स्मरण किया गया है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी गीतामें बता रहे हैं कि 'मैं वर्णोंके मध्यमें अकार हूँ' अर्थात् प्रभुकी

विभूतिको यदि वर्णोंमें देखना हो तो अकारमें देखो। इससे सब अक्षरोंमें इस अकारकी श्रेष्ठता प्रकट हो रही है। इससे सिद्ध हो चुका है कि 'ओम्' स्वतःसिद्ध है—इसके जापसे साधक परमात्माके समीप पहुँचकर आवागमनसे छूटकर मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

ओ३म् स्मर ॥ १ ॥ यह यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके १५वें मन्त्रका अंश है; जिसका यह आशय है कि परमात्मा सर्वरक्षक होनेसे सबका परम गुरु है। ... संसार-यात्रासे अपनी मनोवृत्तियोंको हटाकर, चित्तसे ... को मिटाकर, मोह-जालसे अपनेको बचाकर, सावधान होकर 'ओम्'पद-वाच्य जगदीश्वरके ध्यानमें मग्न और उसके ही ज्ञानमें संलग्न रहो।

उपनिषद्में उपासना

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०)

उप+आस्से युच् प्रत्यय, प्रत्ययके स्थानपर 'अन' आदेश तथा स्त्री-लिङ्गमें आप् प्रत्यय करनेपर 'उपासना' शब्द निष्पन्न होता है। उसका अर्थ है—उपवेशन करना, पास बैठना। ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है। उसके समीपमें या दूरमें कैसे बैठा जा सकता है? जब हम ब्रह्मके विषयमें चिन्तन करते हैं, तब ब्रह्मके समीपमें रहते हैं। जब उसका चिन्तन नहीं करते, तो दूर हो जाते हैं। खड़े होकर चिन्तन करनेसे मन विक्षिप्त हो जाता है, सोकर चिन्तन करनेसे निद्राग्रस्त होनेकी सम्भावना है। इसी कारण बैठकर चिन्तन करनेके लिये कहा गया है—

'आसीनः सम्भवात्।' (ब्रह्मसूत्र ४। १। ७)

इस सूत्रमें व्यासजी कहते हैं कि 'बैठकर उपासना करनी चाहिये।' क्योंकि बैठकर करनेसे ही उपासना होती है।

'आवृत्तिरसकृद् उपदेशात्।' (ब्रह्मसूत्र ४। १। १)

इस सूत्रमें व्यासजीने कहा है कि केवल एक बार ब्रह्मके विषयमें चिन्तन करनेसे काम नहीं चलेगा, 'असकृत्'—बार-बार चिन्तन करना पड़ेगा। उपदेशात्—क्योंकि उपनिषद्ने ऐसा ही उपदेश किया है। इस सूत्रके भाष्यमें शंकर और रामानुज दोनोंने ही यह उपनिषद्-वाक्य उद्धृत किया है—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' (बृहदारण्यक० ४। ५। ६)

इसका अर्थ यह है कि 'ब्रह्मका दर्शन करना होगा। इसके लिये पहले 'श्रोतव्यः' अर्थात् ब्रह्मके विषयमें वेद क्या कहते हैं, इसे सुनना होगा। तत्पश्चात् 'मन्तव्यः' अर्थात् ब्रह्मके विषयमें आलोचना करनी होगी, ब्रह्मके अस्तित्वके पक्ष या विपक्षमें जो युक्तियाँ दी जाती हैं, उन सबपर विचार करना होगा। तत्पश्चात् 'निदिध्यासितव्यः' अर्थात् ध्यान करना होगा। तैलधाराके समान अविच्छिन्न-भावसे चिन्तन करना होगा।' माला-जप करनेपर अविच्छिन्न-भावसे भगवान्के विषयमें चिन्तन करनेमें सुविधा होती है। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि 'किसी स्त्रीका स्वामी विदेशमें गया हुआ हो तो जैसे वह अपने स्वामीके चिन्तनमें तन्मय हो जाती है, ब्रह्मके चिन्तनमें भी वैसे ही तन्मय होना पड़ेगा।'

ब्रह्म देखा नहीं जाता, सुना नहीं जाता, तब फिर उसके विषयमें चिन्तन कैसे किया जायगा? इसके लिये उपनिषद्ने प्रतीक-उपासनाकी व्यवस्था की है।

'मनो ब्रह्म इत्युपासीत।' (छान्दोग्य० ३। १८। १)

'मनकी ब्रह्मरूपमें उपासना करे।' ब्रह्म जैसे सूक्ष्म है, मन भी उसी प्रकार सूक्ष्म है। ब्रह्म विशाल है तो मन भी विशाल है। इसी प्रकार आकाश आदि वस्तुओंकी भी ब्रह्मके रूपमें उपासना करनेकी बात आती है।

'आदित्यो ब्रह्म इति आदेशः।' (३। १९। १)

अर्थात् 'सूर्यकी ब्रह्मके रूपमें अवश्य पूजा करे।' ब्रह्म ज्योतिर्मय है, सूर्य भी ज्योतिर्मय है। ब्रह्म जगत्की उत्पत्तिका कारण है, सूर्य भी सौर-जगत्की उत्पत्तिका कारण है। यहाँ

प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मका सूर्यके रूपमें चिन्तन करें या सूर्यका ब्रह्मके रूपमें चिन्तन करें ? व्यासजी इसकी मीमांसा करके कहते हैं कि सूर्यका ब्रह्मके रूपमें चिन्तन करे—

'ब्रह्मदृष्टिः उत्कर्षात् ।' (ब्रह्मसूत्र ४ । १ । ५)

अर्थात् 'ब्रह्म सूर्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। अतएव सूर्यका ब्रह्मरूपमें चिन्तन करना चाहिये। राजकर्मचारीको राजा कहनेमें कोई हानि नहीं है, किंतु राजाको राजकर्मचारी कहनेसे राजाका अपमान हो जायगा। इसमें हानि हो सकती है।

'किस दिशामें मुँह करके बैठना चाहिये ? गुफामें या नदीके तीरपर बैठनेका प्रयोजन क्या है ?' इन प्रश्नोंके उत्तरमें व्यासजी कहते हैं—

'यत्र एकाग्रता तत्र अविशेषात् ।' (४ । १ । ११)

अर्थात् 'जहाँ बैठनेमें एकाग्रता हो उसी स्थानमें बैठना चाहिये। इसके लिये अन्य कोई नियम नहीं है।' 'यावज्जीवन ईश्वरोपासना करना कर्तव्य है।'

'आप्रयाणात् तत्रापि हि दृष्टम् ।' (ब्रह्मसूत्र ४ । १ । १२)

इस विषयमें उपनिषद्ने कहा है—

'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते ।' (छान्दोग्य ८ । १५ । १)

'उपर्युक्त प्रकारसे साधन करते रहनेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है और पुनर्जन्म नहीं होता ।' ईश्वरके उपासकको जीवनपर्यन्त वैदिक नित्यकर्मोंको चित्त लगाकर करते रहना उचित है। ईशोपनिषद् कहता है—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।' (ईश० २)

'शास्त्रविहित कर्मोंको करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे ।' निष्काम और अनासक्त-भावसे शास्त्रविहित कर्मोंको करनेसे पापका क्षय होता है, चित्त शुद्ध होता है, अतएव जितना ही दीर्घकालतक इस प्रकार कर्म किया जाय, उतना ही अच्छा है। शास्त्रविहित कर्म अर्थ न जानकर भी करनेसे फल होता है। छान्दोग्य-उपनिषद् १ । १ । १० में कहा गया है—

'यदेव हि विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ।'

अर्थात् 'जो कर्म अर्थ जानकर श्रद्धाके साथ किया जाता है, वह अधिकतर शक्तिमान् होता है ।' 'वीर्यवत्तर' शब्दके प्रयोगसे ज्ञात होता है कि 'अर्थ न जानकर मन्त्र पढ़नेपर भी वह कर्म 'वीर्यवत्' अर्थात् शक्तिमान् होता है और अर्थ जानकर पढ़नेसे अधिक शक्तिमान् होता है।' जो लोग किसी अचेतन वस्तुकी अथवा अचेतन मिश्रित चेतन वस्तुकी ब्रह्मरूपमें उपासना करते हैं, वे लोग देवयानपथसे गमन करके ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं कर सकते। छान्दोग्य-उपनिषद् ७ । १ । ५ में कहा है—

'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ।'

अर्थात् 'जो आदमी नामकी ब्रह्मरूपमें उपासना करता है, वह जहाँतक नामकी गति है वहाँतक जाता है। अन्यत्र शास्त्रमें लिखा है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥
(बृहन्नारदीयपुराण)

अर्थात् 'कलियुगमें हरिनामका ही जप करे, हरिनामके सिवा अन्य गति नहीं है ।' दोनों वाक्योंका सामञ्जस्य करके कहा जा सकता है कि 'ईश्वरके नामके सिवा अन्य कोई नाम जपनेसे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती। सदा ईश्वरका नाम-जप करनेसे तथा ईश्वरका चिन्तन करनेकी चेष्टा करते रहनेसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है।' इसी प्रकार ईश्वरके द्वारा सृष्ट किसी वस्तुकी (जैसे सूर्यकी) ईश्वरके रूपमें पूजा करनेसे, इस प्रकार प्रतीक-उपासनाके फलसे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती। परंतु ईश्वरके किसी विग्रहकी ईश्वररूपमें उपासना करनेसे ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है। अन्यथा श्रीचैतन्य पुरीके श्रीजगन्नाथविग्रहकी ईश्वरके रूपमें पूजा नहीं करते, श्रीरामानुज स्वामी आजीवन श्रीरङ्गनाथ स्वामीकी सेवा-पूजा नहीं करते।

उपनिषदोंमें उपासना

(लेखक—श्री एम्० के० वेंकटराम अय्यर)

उपासना और ध्यान—परस्पर विनिमयशील शब्द हैं। दोनों एक ही मानसिक क्रियाके पर्याय हैं। श्रीशंकराचार्य-द्वारा की गयी इन दोनोंकी समान अर्थवाली व्याख्यासे यह तथ्य स्पष्ट है। एक प्रकरणमें उन्होंने उपासनाकी व्याख्या इस प्रकार की है—'शास्त्रसम्मत किसी ऐसे उपयुक्त आलम्बनपर मनको सतत स्थिर करनेकी क्रिया, जो साध्यवस्तुसे सम्बन्ध रखनेवाले समान विचारोंके प्रवाह-को उत्पन्न करे और विरोधी विचारोंको मनमें प्रविष्ट होनेसे रोके 'उपासना' है।' * एक दूसरे संदर्भमें उन्होंने 'ध्यान' शब्दकी व्याख्या इस प्रकार की है—'शास्त्रसम्मत किसी ऐसे आलम्बन या देवताकी ओर जानेवाला निरन्तर और अपरिवर्तनीय विचारप्रवाह तथा उसके विपरीत विचारोंका कड़ाईसे 'निरोध' ध्यान है।'† इससे स्पष्ट है कि वस्तुतत्त्वकी दृष्टिसे इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। वेदोंद्वारा मान्यताप्राप्त किसी वस्तु-विशेष तथा देवताके प्रति की गयी गहरी, एकाग्र या एक ही स्थानविशेषपर केन्द्रित प्रगाढ़ चित्तवृत्तिके सूचक ये दोनों शब्द हैं।

उपनिषदोंमें वर्णित परम सत्य, पूर्णतः अचिन्तनीय और अनिर्वचनीय है। वह देश-काल तथा कार्य-कारणकी परिधिसे अपरिच्छिन्न है और यदि एक शब्दमें कहा जाय तो मनके सब रूपोंसे परे है। यह साध्य विषयसे सम्बन्धित कोई वस्तु कदापि नहीं है, इसलिये यह उपासनाका आधार नहीं बन सकता। केनोपनिषद्के प्रथम खण्डमें इस विषयको निर्भ्रान्तरूप-से स्पष्ट किया गया है। 'न तो चक्षु, न वाणी, न मन वहाँ जा सकते हैं' (निर्गुण ब्रह्म)। 'यह वह नहीं है, जिसको शब्दोंद्वारा अभिव्यक्त किया जा सके, अपितु वह है जिसके द्वारा शब्द अभिव्यक्त किये जाते हैं। यह वह नहीं है, जिसकी लोग उपासना करते हैं। यह वह भी नहीं है, जिसका मनद्वारा मनन किया जाता है; परंतु वह है जिससे मनका मनन होता है। यह वह नहीं, जिसकी लोग उपासना करते हैं। यह वह नहीं, जिसे चक्षुसे देखा जा सके; परंतु यह आँखोंका प्रकाशक है। यह वह नहीं है, जिसकी लोग उपासना करते हैं।' यह वह नहीं है, जिसकी लोग उपासना करते हैं[1]।' इस वाक्यको पाँच श्लोकोंमें दोहराया गया है (केनोपनिषद्—५—९)।

सब उपाधियोंसे रहित निर्विशेष तथा शुद्ध चेतन परमतत्त्वके साथ एक ही छलाँगमें सम्पर्क स्थापित कर पाना सर्वसाधारणके लिये सम्भव नहीं है। उन्हें एकके बाद दूसरे स्तरपर क्रमसे ही ऊपर चढ़ाना होगा। उस उच्चतम अनुभूतिकी प्राप्तिके लिये सगुण ब्रह्मकी उपासनाका सुविधा-जनक प्रथम चरणके रूपमें निर्देश किया गया है। श्रीशंकर एक स्थलपर कहते हैं—'यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है तो भी उपासनाके दृष्टिकोणसे उसे उपनिषदोंके कई प्रकरणोंमें सोपाधिक तत्त्वके रूपमें दिखलाया गया है[2]।' एक दूसरे संदर्भमें वे कहते हैं कि 'परमतत्त्वके निर्विशेष स्वरूपके बारेमें कोई समझौता न करते हुए भी उपनिषद् उपासनाके उद्देश्यसे सविशेष ब्रह्मका उल्लेख करते हैं।'

सगुण ब्रह्मकी उपासना या तो उसके अपने वास्तविक स्वरूपमें की जा सकती है या इसकी कई विभिन्न अभिव्यक्तियोंके रूपमें भी। उपनिषदोंमें उपासनाके इन विभिन्न अभ्यासोंको 'विद्या' नामसे कहा गया है और वे कई हैं। जैसे कि 'उद्गीथविद्या', 'शाण्डिल्यविद्या', 'संवर्गविद्या', 'उपकोसलविद्या', 'पञ्चाग्निविद्या', 'वैश्वानरविद्या,' 'दहरविद्या', भूमविद्या', 'मधुविद्या', 'पर्यङ्कविद्या', 'प्राणविद्या' और 'सद्विद्या'। इनमेंसे अधिकांशका

* छान्दोग्य उपनिषद्पर भाष्यकी भूमिका—

'उपासनं तु यथाशास्त्रसमर्थितं किंचिदालम्बनमुपादाय तस्मिन् समानचित्तवृत्तिसंतानकरणं तद्विलक्षणप्रत्ययानन्तरितम्।' (श्रीशंकराचार्यकी कृतियोंके वाणीविलास संस्करण खण्ड ६, भाग २, पृ० १)

† छान्दोग्यपर भाष्य ७। ६। १—'ध्यानं नाम शास्त्रोक्त-देवताद्यालम्बनेषु अचलः भिन्नजातीयैरनन्तरितः प्रत्यय-संतानः' वही; खण्ड सात, पृ० ४३१। अन्य प्रसंगोंपर भी दोनों शब्दोंकी इसी आशयकी परिभाषा की गयी है, द्रष्टव्य—खण्ड ३, पृ० ५३; खण्ड १२, पृ० १४१ और खण्ड १३, पृ० २५५।

१—वही, खण्ड एक, पृ० ११४।

२—वही, खण्ड दो, पृ० ३१६। १७।

उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद्में है। अपनी रुचि और स्वभावके अनुरूप उपासक इनमेंसे किसीको भी चुन सकता है।

यद्यपि विद्याएँ कई हैं, वे सब-की-सब सगुण ब्रह्मपर ही केन्द्रित हैं, जिनके दृढ़ अभ्याससे साधक देवयान या अर्चिमार्गके नामसे कहे जानेवाले देवताओंके मार्गसे ब्रह्मलोक पहुँचता है। वह वहाँ कुछ कालके लिये विश्राम करता है और जब उसे नयी दृष्टि प्राप्त हो जाती है, तो वह फिर नये सिरेसे चेष्टा करता है और अन्तमें अपने उच्चतम लक्ष्यको प्राप्त करता है अर्थात् परमब्रह्मके साथ एकाकार हो जाता है; क्योंकि उसे यह साक्षात्कार दो क्रमोंसे प्राप्त होता है, इसलिये इसे 'क्रममुक्ति' कहा जाता है।

उपनिषदोंमें कुछ संक्षिप्त सूत्र ऐसे हैं, जो सगुण ब्रह्मकी साधनाके लिये उपयोगी हैं। छान्दोग्य (४।१०।५) में 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' सूत्रको हम देखें। उसका शब्दार्थ है—'सुख' ब्रह्म है और अनन्त आकाश ब्रह्म है।' इसको 'उपकोसलविद्या' कहते हैं। दोनों परस्परविरोधी भाव हैं। उद्देश्य यह है कि एक दूसरेका निबन्धक है। इसलिये विषय-भोगोंसे इन्द्रियोंको प्राप्त होनेवाला सुख सुख नहीं है; परंतु अनन्त, असीम सुख ही सुख है। इसी प्रकार अनन्त आकाशका अर्थ हमारे चारों ओर दिखायी देनेवाला बुद्धिग्राह्य आकाशमात्र नहीं है, परंतु उसका अभिप्राय उस परमव्योमसे है, जो आनन्दसे भरा है। निष्क॰ यह है कि 'अनन्त, निस्सीम आनन्द ही सगुण ब्रह्मका पर्याय है।' तैत्तिरीयोपनिषद्का (२।७) एक सूत्र है—'यदि यह आकाश पुञ्जीभूत आनन्द न होता तो कौन इसमें जीवित रह सकता या श्वास ले सकता था?' यह कथन भी ब्रह्मके उसी स्वरूपका प्रतिपादन करता है।

'तज्जलान्' नामका एक और सूत्र छान्दोग्य उपनिषद्के ३।४।२ में वर्णित है। इसे 'शाण्डिल्यविद्या' कहते हैं। उसके अनुसार 'यह सब निश्चित ही ब्रह्म है।' हमें एकान्तमें 'तज्जलान्' सूत्रका ध्यान करना चाहिये। जिसका अर्थ है—'यह जगत् तत्—उस परमेश्वरसे (ज) जन्म ग्रहण करता या प्रकट होता है, (ल) अन्तमें उसीमें लीन हो जाता है और 'अन्' उसीसे प्राण धारण करता—जीवित रहता है।' अतः स्पष्टतः यह ईश्वर या सगुण ब्रह्मका उल्लेख है, जिसकी एक दूसरे उपनिषद् तैत्तिरीय ३।१ में इस प्रकार व्याख्या की गयी है कि 'जिससे सारी जीवसृष्टिकी उत्पत्ति हुई है, जिसमें यह स्थित है और जिसमें अन्ततोगत्वा यह सब लीन हो जाता है।' 'तज्जलान्' सूत्रका सतत ध्यान करनेसे उपासकका क्रमशः धीरे-धीरे एवं अगोचर रूपान्तर होकर वह अपने साध्य तत्त्वके साथ तदाकार हो जाता है। श्रीशंकराचार्य अपने 'ब्रह्मचिन्तन' नामक छोटेसे दार्शनिक काव्यमें इस तथ्यका उद्घोष करते हैं। अपने काव्यके १९वें श्लोकमें वे कहते हैं—

'जिस प्रकार एक कीड़ा (भृंगी) भ्रमरसे निरन्तर भयभीत रहने और उसीका चिन्तन करनेके कारण क्रमशः भ्रमरके आकारमें रूपान्तरित हो जाता है, उसी प्रकार साधक सगुणब्रह्मका सतत ध्यान करते-करते तदाकार हो जाता है। इसलिये सब प्रकारसे निर्भ्रान्त होकर निश्चयात्मक संकल्पके साथ साधनामें प्रवृत्त होना चाहिये।' इस रूपान्तरके परिणामस्वरूप साधकको समग्र सत्यतत्त्वका विस्तृत और ठीक-ठीक ज्ञान हो जायगा और उसमें जीवमात्रके प्रति असीम प्रेम उत्पन्न हो जायगा।

उसी छान्दोग्य उपनिषद्से हम एक और उदाहरण दे सकते हैं। वैश्वानरविद्यामें एक सूत्र है—'को नु आत्मा किम् ब्रह्म?' 'कौन आत्मा है और कौन ब्रह्म है?' इस सूत्रमें आत्मा और ब्रह्म शब्दका सांनिध्य अभिप्रायपूर्ण है। दोनोंको एक दूसरेका विशेषण समझकर ही हमें इनका अर्थ करना होगा। 'आत्मा'का जब हम ब्रह्मके सम्बन्धमें उल्लेख करेंगे तो वह सीमित, सान्त जीव कहा जानेवाला आत्मा नहीं रहेगा। उसी प्रकार जब हम 'ब्रह्म' शब्दका उल्लेख 'आत्मा'के सम्बन्धमें करेंगे तो किसी ऐसी वस्तुके समझनेकी भूल नहीं हो सकेगी, जो हमसे बाहर हो और इसीलिये शंकाका कारण उपस्थित करती हो। इस प्रकार लगातार साधनाकी प्रक्रियासे अन्तमें जिस नयी धारणाकी निष्पत्ति होगी, वह है—जीव तथा ब्रह्मकी अभिन्नता। जीव अब वह सान्त, ससीम नहीं रहा, परंतु यह वह आत्मा है, जो ब्रह्मका ही दूसरा नाम है। उसी कसौटीके अनुसार ब्रह्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो हमसे बाहर हो; अपि तु हमारी ही अन्तरतम सत्ताका या निजस्वका सार है, इसलिये इसके अस्तित्वके सम्बन्धमें सब शङ्काएँ निर्मूल हो जाती हैं। यह हमारी आत्मासे अलग और कुछ भी नहीं है।

यदि दोनों ही प्रकारकी प्रणालियोंसे साधना की जाय तो वह और भी अधिक फलदायी हो जाती है। जीवको ब्रह्म

मानकर और उसके विपरीत ब्रह्मको जीव समझकर चिन्तन करना चाहिये। ऐसा करनेमें कोई हानि नहीं है। ब्रह्मको जीव माननेसे उसके बड़प्पनको हम कम नहीं कर देते। 'ईशोपनिषद्' के १०वें श्लोकमें हमें इस द्विविध ध्यानकी प्रक्रियाका उदाहरण मिलता है। सूर्यमण्डलके अंदर स्थित पुरुष और उपासकका आत्मा एक ही तत्त्व है और उसी प्रकार उपासकका आत्मा और सूर्यमण्डलमें स्थित पुरुषको अभिन्न मानकर ध्यान किया जाता है। इस प्रकार ऐतरेय आरण्यक (११।११।४।६) 'जो मैं हूँ, वह वही है', 'जो वह है, वही मैं हूँ।' वेदान्त-सूत्र (३।३।३७) के अनुसार द्विविध प्रणालीसे की गयी साधना अत्यधिक फलदायिनी हो जाती। 'हरिस्तुति' (के श्लोक ३१) में श्रीशंकराचार्यने कहा है कि 'उपासकको उसके अन्तःकरणमें स्थित आत्मा और जो सब कर्मोंका कर्ता है, उसे तथा सूर्यमण्डलमें स्थित पुरुषको एक मानकर उपासना करनी चाहिये। उसी प्रकार सूर्यमण्डलमें स्थित पुरुष तथा अपनी आत्माको अभिन्न मानकर उपासना अभिप्रेत है।'

अबतक हमने सगुण ब्रह्मकी साधनाका उन सूत्रोंके अनुसार वर्णन किया है, जो इसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण करते हैं। अर्थात् यह सारी सृष्टिका मूलकारण है तथा शुद्ध आनन्द और शुद्ध चैतन्य इसका स्वरूप है। अब हम इसकी सदोष अभिव्यक्तिकी साधनाके सम्बन्धमें केवल उल्लेखमात्र करेंगे। राजा अजातशत्रुको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करते हुए बालाकि चन्द्रमा, विद्युत्, आकाश, वायु तथा इस प्रकार अन्य कुछ तत्त्वोंका उल्लेख करते चले जाते हैं। उनके उपदेशके अन्तमें राजा अजातशत्रु उन सबको ब्रह्मकी दोषयुक्त धारणाएँ कहकर उनका बाध कर देते हैं। महाराजा जनक वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और हृदय—इन छःका उल्लेख करते हैं। उन्होंने उनकी शिक्षा कुछ अन्य आचार्योंसे पायी है। याज्ञवल्क्य जो इस उपदेशके श्रोता हैं, उन्होंने अन्तमें इन सबको ब्रह्मविचारके प्रयोगके लिये उपाधियाँ मात्र कहकर इनका निराकरण किया है। उनका अधिकतम उपयोग यही है कि वे ब्रह्मके स्वरूपकी चपल और अधूरी झलकमात्र हैं। वे आरम्भ विन्दुका काम तो दे सकती है, परंतु शीघ्र ही उन्हें संतोषजनक धारणाओंके लिये वह स्थान रिक्त करना होगा।

'ब्रह्म' का निश्चितरूपसे अधिक संतोषजनक प्रतीक 'ॐ' अक्षर है। श्रीशंकराचार्यने दो प्रकरणोंमें 'ॐ' को परमतत्त्वका सबसे निकटका सादृश्य या तुल्य कहा है। आल्डस हक्स्ले (Aldous Haxley) ने प्रगाढ़ ध्यान में सहायकके रूपमें इसकी क्षमताकी बहुत प्रशंसा की है। 'चिरपुनीत शब्दों और वाक्यांशोंकी पुनरावृत्ति' किसी व्यक्तिद्वारा प्राप्त उन शक्तियों, जिनका वह इस सम... उद्घोष कर रहा है, से अन्य तथा अधिक बड़ी शक्तियोंकी प्राप्तिका माध्यम बन सकती है। अनुकूल परिस्थितियोंमें 'ॐ' शब्दकी सतत आवृत्ति अन्तश्चेतनापर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती है, जिससे इच्छा, शक्ति, विचार तथा भावनाकी उस निःस्वार्थ एकाग्रताको प्रेरणा प्राप्त होती है, जिसके अभावमें ईश्वरका उच्चतम अन्तर्ज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। इसके अतिरिक्त ऐसा भी हो सकता है कि ... पूरे-के-पूरे 'ॐ' शब्दकी केवल आवृत्तिमात्र की ... और विवादास्पद अनुशीलनद्वारा उसे तोड़ा या नष्ट ... किया जाय तो वह वास्तविकता, जिसका कि उक्त शब्द परिचायक है, अपने-आपको समग्र अन्तर्ज्ञानके ... आत्माके सामने प्रकट कर देगी। यह होनेपर इस शब्दके वर्णों या अक्षरोंके द्वार खुल जाते हैं और आत्मा उनसे होकर 'सत्य' तक पहुँच जाता है।

प्रश्नोपनिषद् (५) इस बातकी पुष्टि करता है कि 'ॐ' अक्षर जगत्, ब्रह्म तथा जगत्‌के सिद्धान्तको अमान्य करनेवाले ब्रह्मविचार दोनोंके लिये प्रयुक्त किया गया है और जो इसके तीन अक्षरों अ, उ तथा म् से मिलकर बने हुए ... स्वरूपका ध्यान करता है, वह देवयानसे ब्रह्मकी ओर अग्रसर होता है। माण्डूक्योपनिषद्‌में प्रणव-मन्त्रकी इस प्रकारकी साधनाका अधिक विस्तृत विवरण दिया गया है। इसके अनुसार इसके तीनों अक्षरोंको जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति-अवस्थाके बोधक मानकर ध्यान करनेके लिये कहा गया है। उस उपनिषद्‌के अनुसार इस मन्त्रका चौथा अक्षर 'अमात्रा' है जिसे तुरीयका प्रतीक मानकर उसका ध्यान करना चाहिये। इस विधिके अनुसार मन्त्रका चिन्तन करनेसे यह उपासकको सर्वोच्च आध्यात्मिक लाभ प्रदान करेगा। वह ऐसी स्थितिमें ... पहुँचेगा, जहाँसे फिर उसे सांसारिक जीवनमें लौटना नहीं पड़ेगा और वह अपने साध्यतत्त्वके साथ एकाकार हो जायगा। छान्दोग्य उपनिषद् (१।१।२) प्रतिपादन करता है कि "उद्गीथ" जो 'ॐ' का ही दूसरा नाम है, सब मन्त्रोंसे सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि यह आठवाँ निःसृत सारतत्त्व

है। सारी जीव-सृष्टिका सार पृथ्वी है, पृथ्वीका सार जल है, जड़ी-बूटियाँ या (ओषधि) जलका सार हैं, मनुष्य ओषधिका सार है, वाक्शक्ति मानवका सार है, ऋक् वाक्का सार है, साम ऋक्का सार है और उद्गीथ सामका सार है। इस प्रकार सब सार-तत्त्वोंमें यह सर्वोत्तम सारतत्त्व है।''

जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि सगुण ब्रह्मकी मान्यता ऊँची वस्तु नहीं है, फिर भी इसका प्रयोगात्मक उपयोग बहुत है; क्योंकि उपासना और प्रगाढ़ चिन्तनके लिये आलम्बनके नाते यह विशिष्ट तौरपर काम देती है। नियमित और निरन्तर ध्यानका अभ्यास करनेवालोंके लिये यह अपने साथ जुड़े हुए विशेषणोंको त्यागकर, जो कि केवल अध्यारोपमात्र है, अपने निरुपाधिक रूपमें साधकके सामने अपनेको प्रकट कर देता है। दीर्घकाल तथा निरन्तर की हुई साधनासे सविशेष ब्रह्म निर्विशेष ब्रह्ममें रूपान्तरित हो जाता है। इस स्थितिमें उपासक और उपास्यकी भेदमूलक सीमाओंका अतिक्रमण हो जाता है। व्यक्ति सर्वोच्च तत्त्वकी अभिन्नताका बोध करता है। वह ब्रह्ममें मिलकर अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त होता है। यह अमलानन्दने अपने 'कल्पतरु'में बहुत स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्॥

उपासनामें ज्ञान

(लेखक—श्रीभैरवशङ्करजी शर्मा)

श्रीसमर्थ रामदास स्वामी महाराजके साथ-साथ दक्षिण भारतमें संत ज्ञानेश्वर, संत एकनाथ महाराज, संत तुकाराम, संत नामदेव आदि अनेक महात्मा हुए, जिन्होंने अपने वाङ्मयमें 'सम्यग्ज्ञानं क्रियासहितम्' का उदाहरण प्रस्तुत करते तथा जनताको कर्म एवं उपासनाके मार्गमें लगाते हुए अद्वैतज्ञानका उपदेश किया है। उपासनामें—भगवत्-पूजनमें समस्त सामग्रीका संचय करके फिर आरती करनेका विधान है।

आरती करते हुए घड़ी-घंटा बजाते हुए जो क्रिया की जाती है, उस आरतीके शब्दोंपर विचार करें तो वेदान्तके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। श्रीरामदास स्वामीने श्रीगुरुदेवकी और श्रीरामकी आरतीमें कितने रहस्यपूर्ण ढंगसे वेदान्तका प्रतिपादन किया है, इसका नमूना नीचे लिखी मराठी आरतीमें प्रस्तुत किया जाता है—

जय देव जय देव आत्मयारामा,
निगमागम शोधितां न कळे गुणसीमा॥

'हे आत्माराम देव! आपकी जय हो, जय हो।' आप कैसे हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—'आपके गुणोंकी सीमा निगम एवं आगममें—वेदों और पुराणोंमें पूरी तरह खोज करनेपर भी नहीं पायी जा सकती है; फिर कैसे हैं आप?

नाना देहीं देव एक विराजे।
नाना नाटक लीला सुंदर रूप साजे॥
नाना तीर्थीं क्षेत्रीं अभिनव गति माजे।
अगाध महिमा पिंड ब्रह्मांडी गाजे॥१॥

'हे आत्माराम! आप इस ब्रह्माण्डके नाना रूपधारी समस्त शरीरोंमें—एक ही रूपसे अन्तर्यामी होकर विराज रहे हैं और नाना प्रकारके रूपोंमें अनेक प्रकारके सुन्दर स्वरूपोंको धारण करके इस जगन्नाटकमें अनेक लीलाएँ कर रहे हैं और आपकी ही महिमा नाना तीर्थों तथा क्षेत्रोंमें विलक्षण रूपसे प्रकट हो रही है। आपकी अगाध महिमा प्रत्यक्ष पिण्ड और ब्रह्माण्डमें प्रकट होकर गर्जना कर रही है।'

बहु रूपी बहु गुणीं बहुत काळाचा।
हरि हर ब्रह्मादिक देव सकळांचा॥
युगानयुगी आत्माराम आमुचा।
दास म्हणे महिमा न बोलवे वाचा॥२॥

'हे आत्माराम! आप इस संसारमें अनेक

रूपमें विराज रहे हैं और उन रूपोंमें नाना प्रकारके गुणोंको धारण कर रहे हैं। आप सबसे पुराने हैं अर्थात् इस जगत्‌के आरम्भसे ही इसमें ओतप्रोत होकर विराज रहे हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन सबके भी देव हैं अर्थात् इनमें भी आत्मारूप होकर विराजते हैं। (उपासक कहता है—) 'हमारे युगानुयुगसे अर्थात् जबसे हम जीवरूप होकर ब्रह्मसे पृथक् हुए, तभीसे आप हमारे साथ निरन्तर रहते हुए आत्माराम होकर विराज रहे हैं। इस प्रकार इस आत्मारामकी महिमा अवाङ्मनस-गोचर होनेसे वाणीद्वारा उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है'—ऐसा रामदास महाराज कह रहे हैं।'

उपर्युक्त आरतीसे पाठकोंको प्रतीत होगा कि श्रीभगवान् प्रभु रामचन्द्रके सामने आरती करता हुआ उपासक यदि पूर्वोक्त शब्दोंपर भी विचार करे तो उसे अपने आत्मारामका पूर्ण ज्ञान होनेके साथ ही वह ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो सकता है।

अब एक नमूना श्रीगुरुदेवकी आरतीका देखिये—

जय देव जय देव जय करुणाकरा।
आरती ओवाळूं सद्गुरु माहेरा॥

'हे करुणाके सागर! जीवमात्रपर दया करनेवाले गुरुदेव! आपकी जय हो, जय हो। मैं आपकी आरती उतारता हूँ; क्योंकि आप माहेर (माँकी गोदके समान सुखरूप) पीहर हैं।'

सुख सहिता दुःखरहिता निर्मळ एकांता।
कलिमल दहना गहना स्वामी समर्था॥
न कळे ब्रह्मादिकां अंत अनंता।
तो तू आम्हां सुलभ जय कृपावंता॥

'हे सद्गुरु देव! आप सुखके सागर हैं, आनन्दस्वरूप हैं—आपमें दुःखका लेश भी नहीं है और आप निर्मल होकर एकका भी जहाँ अन्त हो जाता है, ऐसे केवल स्वरूपानुभव-रूप हैं। आप इस कलियुगरूपी मलके दहन करनेमें समर्थ हैं और स्वयं अगाध हैं। समर्थ—कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुं सामर्थ्यवान् स्वामी हैं। आपकी महिमाका अन्त ब्रह्मादि देवोंको भी प्राप्त नहीं होता है, आप ऐसे अनन्त-स्वरूप हैं; परंतु इतने अगाध अपार अनन्त होते हुए भी हम जीवोंपर ऐसे कृपालु हैं कि प्रत्यक्ष नररूप धारण करके नरहरिरूपसे सुलभ हो गये हैं—दे रहे हैं।'

मायेविण माहेर विश्रांती ठाव।
शब्दीं अर्थ लाभ बोलणीं वाव॥
सद्गुरु प्रसादें सुलभ उपाव।
रामी रामदास फळला सद्भाव॥

'हे सद्गुरुदेव! आप माँ हैं। जैसे कन्याको ससुराल-तापसे शान्ति लेनेके लिये पीहर (अर्थात् माँका घर—माँकी गोद)में विश्राम मिलता है, परंतु वहाँ भी माँका मायामोह रहता है। किंतु आपकी गोदमें मायामोहरहित शुद्ध एकात्म आत्मानन्दरूपी विश्रान्ति प्राप्त होती है। आप मोहरहित माँ हैं और आपके शब्दमें इतनी शक्ति है कि उसके श्रवण करनेसे ही ब्रह्मात्मबोधकी प्राप्ति हो जाती है। फिर बोलना वृथा हो जाता है—बंद हो जाता है। गूँगेके गुड़की तरह रसास्वादन लेते हुए यह जीव मस्त हो जाता है। इस प्रकार सद्गुरुदेवके कृपा-प्रसादसे ही—(अन्य कोई योग-याग आदि साधना न करनेपर भी) आत्मानन्द-प्राप्तिका सहज सरल उपाय प्राप्त हो जाता है। श्रीसमर्थ रामदास महाराज कहते हैं कि इसमें केवल शिष्यका सद्भाव ही फलीभूत होता है और श्रीगुरुदेवपर पूर्ण श्रद्धा एवं प्रेमसे परब्रह्म भावसे विश्वास करनेसे ही शिष्य परब्रह्मकी प्राप्तिका आनन्द प्राप्त कर लेता है।'

अब हम श्रीपरम वैष्णव संत एकनाथ महाराजने अपने इष्टदेव श्रीगुरु दत्तात्रेय महाराजकी जो आरती की है, उसे पाठकोंके आनन्दार्थ प्रस्तुत करते हैं।

जय देव जय देव जय श्रीगुरु दत्ता।
आरतीं ओंवाळितां हरली भव चिंता॥

'हे गुरुदेव दत्त भगवान्! आपकी जय हो, जय हो। आपकी आरती उतारते ही इस संसारसे पार होनेकी चिन्ता ही नष्ट हो जाती है।'

त्रिगुणात्मक त्रैमूर्ती दत्त हा जाणा।
त्रिगुणी अवतार त्रैलोक्य राणा॥
नेति नेति शब्दें न ये अनुमाना।
सुरवर मुनीजन योगि समाधि न ये ध्याना॥

'हे गुरुदेव! आप त्रिगुणात्मक सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंके देव ब्रह्मा, विष्णु, महेशके—सम्मिलित रूप हैं, एक

रूपमें तीनों गुणों और देवोंसे समाहित होकर भी आप गुणातीत हैं। ऐसा त्रिगुणमिश्रित अवतार धारण करनेपर भी त्रैलोक्यके स्वामी हैं—और आपके लिये वेद भी नेति-नेति अर्थात् न इति—यह नहीं, यह नहीं, ऐसा कहते हुए तटस्थ हो जाते हैं। अर्थात् आपके स्वरूपका वर्णन करनेमें भी असमर्थ रहते हैं। आप देवता, मनुष्य, मुनियों और योगियोंके भी ध्यानमें नहीं आ सकते हैं। इस प्रकार आपका स्वरूप अगम्य एवं अगाध है।' फिर भी आप—

सबाह्य अभ्यंतरी तू एक दत्त।
अभाग्यासी कैंची कळे ही मात॥
पराही परतळी तेथें कैंचा हा हेत।
जन्ममरणाचा ही पुरला से अंत॥

'हे सद्गुरुदेव! (ऐसे अगम्य अगाध होते हुए भी) आप हमारे भीतर-बाहर ओतप्रोत होकर विराज रहे हैं। यह स्थिति अभागे लोगोंकी समझमें नहीं आ सकती है—क्योंकि आपके स्वरूपका वर्णन करनेमें परावाणी भी समर्थ नहीं है। वह भी स्वरूपावस्थितिका अनुभवमात्र ही कर सकती है—उसका वर्णन नहीं कर सकी। वहाँसे पलट गयी और इस प्रकार आपके स्वरूपका अनुभव होते ही जन्म-मरणका चक्कर समाप्त हो जाता है।'

दत्त येऊनियाँ उभा ठाकला।
साष्टांग नमने प्रणिपात केला।
प्रसन्न होऊनि आशीर्वाद दिधला।
जन्ममरणाचा फेरा वाँचाविला॥

'श्रीगुरुदेवकी कृपा तो देखो कि ऐसे अगम्य होते हुए भी (उन्होंने एकनाथ महाराजके सामने प्रत्यक्ष होकर दर्शन दिये थे) आप इस तुच्छके सामने प्रत्यक्ष खड़े हुए हैं। इस प्रकार दर्शन होते ही एकनाथजी साष्टाङ्ग नमस्कार करके शरणागत हुए तो श्रीगुरुदेव दत्तने प्रसन्न होकर आशीर्वाद प्रदान किया, जिससे उनका जन्म-मरणका चक्र बंद हो गया अर्थात् गुरु दत्तात्रेयने उन्हें इस चक्रसे बचा लिया—स्वरूपाकार बना दिया, जिससे फिर आवागमनका प्रश्न ही शेष नहीं रह गया।' फिर कहते हैं—

दत्त दत्त ऐसे लागले ध्यान।
हार पलें मन झालें उन्मन॥
मी तूं पणाची झाली बोळवण।
एका जनार्दनी श्रीदत्त ध्यान॥

'श्रीएकनाथ महाराज कहते हैं कि जनार्दन-स्वरूप श्रीदत्तात्रयका ध्यान लगते ही मनका मनपन (मनस्त्व) नष्ट हो गया, मन छिप गया, खो गया। उन्मनी-अवस्था प्राप्त हो गयी और फिर मैंपना तथा तूपना भी नहीं रहा, ये भी समाप्त हो गये। मैंपन और तूपनको श्रीदत्तके चरणोंमें न्यौछावर कर दिया। फिर केवल एक दत्त-ही-दत्त रह गये अर्थात् एकनाथ दत्तमें लीन—एकाकार हो गये।'

पाठक विचार करें, इस प्रकार आरती करते-करते ही एकाकार हो जानेसे कितना आनन्द प्राप्त होता है!

अब श्रीब्रह्मानन्द महाराजने अपने सद्गुरुदेव श्रीब्रह्मचैतन्य महाराज गोंदवलेकरकी आरतीमें जो उनकी महिमा गायी है, उसे प्रस्तुत करते हैं।

जय जय आरती श्रीगुरुराया सद्गुरुराया।
नमितो तव पदीं संहरि माया॥

'हे सद्गुरुदेव! आपकी जय हो, जय हो। मैं आपकी आरती करके आपके चरणोंकी वन्दना करता हूँ। आप इस महामोहरूपी मायाका संहार करके इस जीवको अपनाइये।'

मी जीव हा भ्रम द्वैत पसारा।
वारुनि दीधला अद्वय थारा॥

'हे प्रभो! मैं जीव हूँ—ऐसा मुझे भ्रम हो गया था और इस द्वैत—संसारके पसारेको, विस्तारको ही मैं सत्य समझ रहा था; परंतु आपने मेरे इस भ्रमको दूर करके सर्वत्र एक सच्चिदानन्दघन आत्माराम ही विराजमान है—ऐसा अद्वैतका निश्चय प्रत्यक्ष करा दिया है।'

परम परात्पर चिन्मय खाणी।
शतमुख श्रमविती मंदली वाणी॥

'श्रीगुरुदेव! आप परम परात्परररूप हैं। चिन्मय चैतन्य-स्वरूप हैं। चैतन्यकी खान ही हैं। सर्वत्र चैतन्यरूपसे ही परिपूर्ण हैं—आपकी महिमा गाते हुए शेषजीकी वाणी भी कुण्ठित हो जाती है। फिर आप कैसे हैं!

जगज्जीवन प्रभो मंगळधामा।
नाम रूपातीत तू अभिरामा॥

'हे सद्गुरुदेव! आप इस सारे संसारके जीवन हैं—आत्माराम हैं। हे प्रभो! आप सारे मङ्गलोंके धाम, मङ्गलमय हैं और इतना सब होते हुए भी आप इस नामरूप जगत्से अतीत हैं। कैसा आश्चर्य है कि आप ही सर्वान्तर्यामीरूपसे सारे संसारके आत्मरूप होकर भी आप ये नामरूप नहीं हैं अर्थात् इन सबसे अतीत हैं, परे हैं। 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।'

इस भगवान्की उक्तिको आप ही पूरी तरहसे चरितार्थ कर रहे हैं और सब जीवोंको पूर्ण विश्राम देनेवाले विश्रामस्वरूप हैं। इसीलिये आपकी महिमाका वर्णन करना कठिन होनेसे हम केवल नमस्कार करते हैं। उपर्युक्त विवरणसे उपासनामें सद्गुरुके माहात्म्यका पाठकोंको पता लगेगा।

अब हम एक ऐसे महात्माके पदको लिखकर इस लेखको समाप्त करेंगे, जिन्होंने मोक्षको भी ठुकराकर बार-बार जन्म-मरणको ही भगवान्से माँगा है।

जहाँ सारे शास्त्र-संत, महात्मा इस जीवको संसार-सागरसे पार करके मोक्ष-मुक्ति दिलानेका प्रयत्न करते हैं; वहाँ हमारे फक्कड़ संत तुकारामजी महाराज उसी जन्म-मरण-आवागमनको भगवान्से माँग रहे हैं, पर शर्तके साथ। इस पदको भी सुन लीजिये। श्रीतुकाराम महाराज भगवान्से प्रार्थना करके माँगते हैं—

हेचि दान देगा देवा।
तुझा विसर न व्हावा॥

'हे प्रभो! दयालु देव! अगर आप देना ही चाहें तो यह दान दीजिये कि आपका कभी विस्मरण न हो— अर्थात् मैं अखण्ड प्रवाहरूपसे निरन्तर आपका स्मरण ही करता रहूँ।' और !

गुण गाईन आवडी।
हे चि माझी सर्व जोडी॥

'हे प्रभो! मैं आपके गुणानुवादोंको एवं आपके सच्चरित्रोंको निरन्तर प्रेमसे गाता ही रहूँ। [illegible] मेरी खास पूँजी है अर्थात् मैं इसी धनको जोड़ना [illegible] हूँ।' और !

न लगे मुक्ति धन संपदा।
संत संग देई सदा॥

'हे प्रभो! मुझको आपकी मुक्ति, मोक्ष नहीं [illegible] फिर धन-सम्पदाको तो लेकर करना ही क्या है [illegible] कदापि नहीं चाहिये। मैं केवल एक धन माँगता [illegible] निरन्तर संतोंका सङ्ग दें, जिससे निरन्तर [illegible] रहते हुए भगवत्-सुखका आनन्द उठाता रहूँ।'

तुका म्हणे गर्भवासी।
सुखे घालावें आम्हांसी॥

'श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि यदि [illegible] पदार्थ—निरन्तर नाम-स्मरण, निरन्तर भगवद्-गुणानु[illegible] गायन एवं निरन्तर संतोंका सङ्ग—सत्सङ्ग मिलता [illegible] हे प्रभो! हमको सुखपूर्वक गर्भवासमें ही आप [illegible] रहें। अर्थात् आवागमनमें आने-जानेको हम तैयार [illegible] सुखपूर्वक, आनन्दपूर्वक जन्म-मरणका चक्र सहन [illegible] तैयार हैं, यदि उपर्युक्त शर्तें मंजूर हों तो।' अब [illegible] विचार करें कि इस प्रकार जन्म-मरणको माँग[illegible] संतने जिन शर्तोंको रक्खा है, उनका निरन्तर इस [illegible] जीवनसे जिसको लाभ मिलता रहे, उसे आवागमन [illegible] कैसे सकता है !

इस माँगका यह भी तात्पर्य है कि जीव मात्रको नि[illegible] भगवन्नाम-स्मरण, भगवद्गुणानुवाद-गायन एवं [illegible] करते हुए ही जीवनयापन करना चाहिये। इस नर[illegible] सार्थक करनेके लिये ये ही मात्र मुख्य एवं सरल साधन [illegible]

श्रीसच्चिदानन्दघन राम सब जीवोंको ये साधन [illegible] करानेकी कृपा करें। इस प्रार्थनाके साथ यह लेख [illegible] किया जाता है।

हरिः ॐ तत्सत्, ब्रह्मार्पणमस्तु

केवलाद्वैतमें भक्तिका स्वरूप

(लेखक—दीवानबहादुर श्रीके० एस० रामस्वामी शास्त्री)

प्रायः यह कहा जाता है कि श्रीशंकराचार्यजीका एक परमब्रह्मका अद्वैत सिद्धान्त कभी भी भक्तिके अनुरूप नहीं हो सकता; क्योंकि भक्तिमें दोकी अर्थात् भक्त और भगवान्‌की अपेक्षा है। यह तर्क दिया जाता है कि 'मैं वही हूँ' (सोऽहम् या अहं ब्रह्मास्मि या अयमात्मा ब्रह्म या तत्त्वमसि) का सिद्धान्त, 'मैं तुम्हारा हूँ' के मतके साथ कभी भी मेल नहीं खा सकता। परंतु श्रीशंकराचार्यजीके सर्वश्रेष्ठ अद्वैतदर्शनपर सर्वोत्कृष्ट शास्त्रार्थोपयोगी कृति 'अद्वैतसिद्धि'के रचयिता श्रीमधुसूदन सरस्वती उसी कोटिकी अपनी प्रसिद्ध कृति 'भक्तिरसायन'में निर्देश करते हैं कि 'मैं उसका हूँ' (तस्यैवाहं) की धारणा और 'वह मेरा है' (ममैवासौ) तथा 'वह मैं हूँ' (स ह्येवाहं)—ये सब धारणाएँ वास्तवमें आत्माके भगवान्‌के प्रति समर्पणके ही विभिन्न पक्ष हैं—

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा।
भगवच्छरणार्थित्वं साधनाभ्यासपाकतः॥

भगवान्‌में मिल जाना या यों कहा जाय कि परमात्मा तथा जीवात्माकी आत्मज्ञानयुक्त एकरूपता सायुज्यके विभिन्न रूपोंका सबसे ऊँचा शिखर है। श्रीशंकराचार्यजी इस प्रकारके सिद्धान्तमें कोई विरोधाभास नहीं देखते थे। यह तथ्य उनके काव्य—'भज गोविन्दम्' और उनके 'प्रबोधसुधाकर' तथा संक्षिप्त कविता 'आचार्य-षट्पदी'में अच्छी प्रकारसे प्रकट होता है—

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥
सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥
नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ।

'हे विष्णु! मेरे अभिमानको दूर करो। मेरे मनका दमन या निग्रह करो तथा विषयभोगोंकी मृगतृष्णाको शान्त करो। मेरी करुणाको व्यापक बनाओ और इस संसार-सागरसे मुझे पार करो। यद्यपि विभिन्नता समाप्त हो गयी है, फिर भी मैं तुम्हारा हूँ, तुम मेरे नहीं हो। लहर सदा समुद्रकी ही है, समुद्र लहरका नहीं।

हे नारायण! तुम दया और करुणाके धाम हो। मैं तुम्हारे चरणोंकी शरण लेता हूँ।'

इन पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि इस प्रकार आन्तरिक शुद्धता, बाहरी करुणा और भगवान्‌के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण साथ-साथ चलते हैं। पदकी दृष्टिसे यह अन्तिम पंक्ति वैष्णव मतके निम्नलिखित मन्त्रद्वयका पूर्वरूप है।

'श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये।'
'श्रीमन्नारायणाय नमः।'

ब्रह्मके अनन्त, सच्चिदानन्द, नाम-रूपसे अपरिच्छिन्न होनेकी धारणाका ईश्वरकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयकर्ता होनेकी अथवा उसके अनेक अनादि पवित्र नामों और रूपोंवाला होनेकी धारणासे वास्तवमें कोई संघर्ष नहीं है। ईश्वर जगत्‌का उपादान तथा निमित्तकारण दोनों ही है।

'अभिन्ननिमित्तोपादानम्'

ईश्वरका एक पक्ष यह जगत् है।

'आत्मानं स्वयमकुरुत' —(श्रुति)
'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।'
(गीता १०। ४२)

वह अन्तर्यामी रूपसे जगत्‌का नियन्ता है। साथ ही वह जगदतीत भी है।

श्रीशंकराचार्यजीके मतकी सबको समाविष्ट करनेकी गरिमाको हृदयङ्गम करनेके लिये उनके द्वारा मृत्युके उपरान्त मुक्ति (क्रममुक्ति), जीवित रहते हुए मुक्ति (जीवन्मुक्ति) तथा अभी और यहीं मुक्ति (सद्योमुक्ति)—इन सबका किया गया समन्वय पथ-प्रदर्शक बन सकता है। विशिष्टाद्वैत मतके अनुयायी जीवित रहते हुए मुक्ति तथा अभी और यहीं मुक्तिको अस्वीकार करते हैं। परंतु गीता तथा उपनिषदोंमें इन अनुभूतियोंकी पुष्टि की गयी है—

'अथ मर्त्योऽमृतो भवति। अत्र ब्रह्म समश्नुते॥'
(कठोपनिषद् २। ३। १४)

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।'

(गीता ५ । १९)

'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।'

(गीता ५ । २६)

'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ।'

'स्पष्टो ह्येकेषाम् ।'

'स्मर्यते च ॥' (ब्रह्मसूत्र ४ । २ । १२–१४)

'न तस्य प्राणा ह्युत्क्रामन्ति । अत्रैव समवलीयन्ते ॥'

'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।'

(बृह० ४ । ४ । ६ तथा नृसिंहो० ५ । २)

कर्म, ध्यान, भक्ति (सहप्रपत्ति) और ज्ञानका संगम इस प्रकार श्रीशंकराचार्यकी भक्तिके स्वरूपका सार एक है। उनका मत है कि परमब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्ममें अभिन्नता है। यद्यपि उनके मतके कुछ टीकाकार तथा व्याख्याकार इस बातपर तुले हुए दिखायी पड़ते हैं कि 'सगुण ब्रह्मको गौण और यहाँतक कि माया अथवा प्रतीति मात्र कहकर उसका वर्णन किया जाय।' परंतु वे वस्तुतः उसी प्रकार एक-दूसरेसे अलग तथा भिन्न नहीं हैं, जिस प्रकार वाष्प तथा वर्षा। यद्यपि वाष्प प्रसुत अरूप तथा व्यापक है और जलका रूप है तथा वह आकाशमें स्थान घेरता है।

इस प्रकार एक ओर तो सौन्दर्य, दया और कृपा तथा दूसरी ओर सच्चिदानन्द—इन दोनोंमें कोई अनिवार्य विरोधाभास नहीं है। कुछका मानस एक धारणाकी ओर झुकाव रखता है तो दूसरोंका दूसरी ओर। इस प्रकार एक ओर तो सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य, तथा दूसरी ओर कैवल्यमें भी कोई आवश्यक विरोध नहीं है। ये मुक्तिके विभिन्न प्रकार हैं न कि स्तर। कुछ श्रुतियाँ परम साम्यकी पुष्टि करती हैं—'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।' और कुछ जीवात्मा तथा परमात्माकी अभिन्नताका प्रतिपादन करती हैं। हमें इन दोनोंके बीचमें श्रेष्ठता और कनिष्ठताकी विचारधाराको क्यों प्रविष्ट करना चाहिये ?

श्रीशंकराचार्यजीने हमें केवल अनन्त, अनादि तथा नाम, रूप और उपाधियोंसे अपरिच्छिन्न निर्गुण ब्रह्मकी धारणाका वर्णन करनेवाले भाष्य तथा प्रकरण ग्रन्थ ही नहीं दिये हैं। उन्होंने नाम, रूप तथा सविशेष सगुण ब्रह्मकी स्तुति और लीलासे सम्बन्धित अनेक कविताओंकी रचना की है। इन विभिन्न धारणाओंमें हमें विभिन्न स्तरोंकी कल्पनाको क्यों समाविष्ट करना चाहिये ? और भी, जब शैव भगवान् शिवका, वैष्णव भगवान् विष्णुका और शाक्त शक्तिका ही गुणगान करते रहते हैं। उस समय श्रीशंकराचार्यजी उन सबकी धारणाओंके विपरीत, सगुण साकार ब्रह्मके इन सारे विभिन्न स्वरूपोंके प्रति नतमस्तक हैं। हमें सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता तथा संहारकर्ताके बीच विभिन्न स्तरोंके विचारको क्यों स्थान देना चाहिये ? दक्ष-यज्ञके प्रसंगमें श्रीमद्भागवतमें भगवान् विष्णु कहते हैं—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः॥

(श्रीमद्भागवत ४ । ७ । ५[illegible])

द्वादश स्कन्ध (१२ । १० । २२) में भगवान् [illegible] कहते हैं—

'न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते।'

हिंदूधर्ममें सृष्टिके निर्माणकर्ता ब्रह्माकी आधुनिक कालमें होनेवाली उपेक्षा निराधार है। श्रीशंकराचार्य सरस्वती, लक्ष्मी तथा उमाकी समान श्रद्धाके साथ स्तुति करते हैं और उनके बीच छोटे-बड़ेके विचारको [illegible] बढ़ावा या स्वीकृति नहीं देते। उन सबके लीला-कार्य विभिन्न हो सकते हैं; परंतु सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता तथा सर्वव्यापकता सबमें समान रूपसे है।

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम्॥

(श्रीमद्भागवत ४ । ७ । ५[illegible])

कालिदास, जो श्रीशंकराचार्यजीके थोड़े ही काल [illegible] पूर्वपुरुष हैं, कहते हैं—

'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।'

(कुमारसम्भवम् ७ । ४[illegible])

श्रीशंकराचार्यजी आगे चलकर निर्देश करते हैं कि भक्तिके भी विभिन्न प्रकार तथा पक्ष (स्तर नहीं) हैं, [illegible] कि सामीप्य, अविच्छिन्न सम्बन्ध, अपने आपको पूर्णतः भूलकर आत्मसमर्पण और नदीके समुद्रमें मिल जाने[illegible] समान सारूप्य आदि। शिवानन्दलहरीमें वे कहते हैं—

अङ्कोलं निजबीजसंततिरयस्कान्तोपलं सूचिका
साध्वी नैजविभुं लता क्षितिरुहं सिन्धुः सरिद्वल्लभम्।
प्राप्नोतीह यथा तथा पशुपतेः पादारविन्दद्वयं
चेतोवृत्तिरुपेत्य तिष्ठति सदा सा भक्तिरित्युच्यते ॥

सत्य तो यह है कि आत्मा तथा परमात्माकी एकात्मता-की अनुभूति स्वयंमें ही भगवान्‌की देन है—

तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः।
अद्वैतवासना पुंसामाविर्भवति नान्यथा ॥
(शिवार्कमणिदीपिका)

वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधिकल्पनम् ॥
(अमलानन्द-कल्पतरु)

भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीमद्भागवतमें व्यासकी शिक्षा भी यही है। यद्यपि १३वें अध्यायके २४वें तथा २५वें श्लोकमें यह कहा गया है कि कुछ लोग एक मार्गसे जाते हैं और अन्य दूसरेसे (केचित्, अन्ये, अपरे) तो भी हमें इस बातका विस्मरण नहीं करना चाहिये कि कर्मयोगमें अपने कर्मोंके फलको जहाँ श्रीकृष्ण-अर्पण करनेका उल्लेख है, साथ ही उसके परम दिव्य स्वरूपके ज्ञानका तत्त्व है और उसी प्रकार भक्ति-तत्त्वका भी समावेश है (तत्परः)।

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।'
(गीता ८। ७)

तेरहवें अध्यायके २४वें तथा २५वें श्लोकका अभिप्राय इतना ही है कि उनमें कर्म आदिकी श्रेष्ठता बतायी गयी है, न कि हर एक मार्गमें दूसरे तत्त्वोंका निषेध करना उसका उद्देश्य है। दूसरे चरम श्लोकमें प्रपत्तिकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८। ६६)

परंतु उसके पहलेके चरम श्लोकमें भक्ति तथा उपासना-का महत्त्व बताया गया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(गीता १८। ६५)

हम गीतामें प्रथमसे पाँचवें अध्यायतक कर्मयोगकी विशेषता देखते हैं, तो छठे अध्यायमें ध्यानयोगका महत्त्व देखनेमें आता है। उसी प्रकार ८ वें अध्यायसे १२ वें अध्यायतक भक्तिकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन है तो १३वेंसे १८वें तक ज्ञानयोगकी महत्ताका वर्णन दिखायी देता है। परंतु हम सब अध्यायोंमें सबका उल्लेख पाते हैं। इन सबके समन्वय, परस्पर पूरकता और एकरूपताका वर्णन १८वें अध्यायके ५१ से ५५ तकके श्लोकोंमें किया गया है। वहाँ भगवान् कहते हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(गीता १८। ५१—५५)

"विशुद्धबुद्धिसे युक्त, एकान्त और शुद्ध देशमें निवास करनेवाला, अल्पाहारी, मन-वाणी-शरीरपर विजय-प्राप्त, दृढ़ वैराग्यवान्, ध्यानयोगपरायण पुरुष सात्त्विक धारणासे अन्तःकरणको वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्याग करके तथा रागद्वेषसे छूटकर अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और संग्रहका त्यागकर, ममतारहित और शान्तहृदय होकर ब्रह्मको प्राप्त करनेके योग्य होता है। तदनन्तर वह ब्रह्मभूत (ब्रह्मरूप) होकर प्रसन्नात्मा, शोक और आकाङ्क्षासे रहित, समस्त भूतचराचरमें समभावकी स्थितिको प्राप्त होता है, तब उसे मेरी (भगवान्‌की) 'पराभक्ति' प्राप्त होती है और उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ (भगवान्) को सम्पूर्णरूपसे जानकर—पूर्ण तत्त्वज्ञानको प्राप्त होकर मुझमें प्रवेश कर जाता है अर्थात् भगवान्‌के साथ तद्रूपताको प्राप्त होता है।"

इससे यह स्पष्ट है कि निष्काम कर्ममें भक्ति तथा ज्ञान अन्तर्निहित हैं; क्योंकि हम भगवान्‌को जाने और उससे प्यार किये बिना कर्तापनकी भावना तथा कर्मफलका अर्पण

नहीं कर सकते और न हमारी भक्ति ही भगवान्‌के प्रति हो सकती है, जबतक हम उसके बच्चोंसे प्यार न करें और उनकी सेवा न करें । पवित्रता, करुणा और भक्तिको साथ-साथ चलना ही चाहिये और चलना पड़ेगा—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(गीता ६ । ३२)

इसी प्रकार हम भगवान्‌को तबतक जान नहीं सकते जबतक हमें उससे प्रेम न हो और उसकी संतानोंसे प्यार न करें, सेवा न करें ।

'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।'
(गीता ७ । १७)

तथा ज्ञानी महात्मा कौन ?

'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥'
(गीता ७ । १९)

'सब वासुदेव ही है—यों भजनेवाला महात्मा सुदुर्लभ है।'

वास्तवमें श्रीव्यास तथा श्रीशुकदेव कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, प्रपत्तियोग और ज्ञानयोगके संगमके सर्वोत्तम प्रमाण हैं ।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥
(श्रीमद्भाग० १ । ७ । १०)

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ॥'
(श्रीमद्भाग० १ । ५ । १२)

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः ।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥
(श्रीमद्भागवत २ । १ । ७)

इतना ही नहीं, श्रीशंकराचार्यका स्वयंका जीवन [illegible] महान् सत्यका द्योतक है जो हमें व्यास तथा शुकदेवके जीवनमें दिखायी देता है । उन्होंने अपान्तरतमा आदि ([illegible] बादमें व्यास बन गये) के सम्बन्धमें जो कुछ कहा है उससे वे स्वयं इस बातको बहुत स्पष्ट कर देते हैं । वे [illegible] ब्रह्मके साथ अपनी एकरूपताकी अनुभूतिको किंचित् [illegible] कम न करते हुए ईश्वरके द्वारा सेवा तथा करुणाका जीवन बितानेके लिये नियुक्त किये गये हैं—

'उपपन्ना त्वियं चिन्ता ब्रह्मविदामपि केषांचिदिति-हासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात् ।......तेषामपान्तरतमः-प्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थितिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात् स्थितेः ।...एवमपान्तरतमःप्रभृ-योऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतौ अक्षीणकर्माणो यावदधिकार-मवतिष्ठन्ते । तदवसाने चापवृज्यन्त इत्यविरुद्धम् ॥
(ब्रह्मसूत्र भाष्य ३ । ३ । ३२)

ब्रह्मसूत्रभाष्यके रचयिता श्रीशंकराचार्य ही 'भज गोविन्दम्' तथा 'आचार्य-षट्पदी'के रचनाकार हैं, जिनमें वे कहते हैं—

'नारायण करुणामय
शरणं करवाणि तावकौ चरणौ ॥'

वे ही विष्णुसहस्रनामके टीकाकार, आध्यात्मिक केन्द्रोंके संस्थापक तथा सर्वत्र भ्रमण करनेवाले आचार्य हैं, जिन्होंने नास्तिकता तथा शून्यवादको समाप्त करने तथा पवित्रता, करुणा और भक्तिका संदेश सबके पास पहुँचानेके लिये सम्पूर्ण भारतकी यात्रा की थी ।

संत-महिमा

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥
शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥

जिसका चित्त इस अपार चिदानन्दसिन्धु परब्रह्ममें लीन हो गया उसका कुल पवित्र हो गया, माता कृतार्थ हो गयी और पृथ्वी उससे पुण्यवती हो गयी इस भयंकर संसार-सागरसे स्वयं तरे हुए शान्त और महान् संतजन निःस्वार्थ बुद्धिसे दूसरे लोगोंको भी तारते हुए [इस संसारमें] वसन्तके समान लोकहित करते हुए निवास करते हैं ।



ब्रह्मविद्या-उपासना

(लेखक—राष्ट्रपति-पुरस्कृत डा० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

उपासनाका अर्थ और उसकी प्राचीनता

उप उपसर्गपूर्वक आस् धातुसे उपासना शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है—'निकट बैठना'। सेवाके लिये निकट बैठनेके भावको सूचित करनेके लिये ही पहले-पहल इस शब्दका प्रयोग हुआ होगा, किंतु अब भक्ति अर्थात् सेवाके पर्यायरूपसे इसका प्रयोग होता है। भक्तिका मुख्य अर्थ है सेवा, जैसा कि इसकी व्युत्पत्तिसे विदित होता है [भज् सेवायाम् + क्तिन्]।

श्रुतिका वचन है कि ब्रह्म विश्वके सर्ग, स्थिति और प्रलयका कारण है। अतएव जीवको उसकी उपासना करनी चाहिये—

'तज्जलानिति शान्त उपासीत।' (छा० ३। १४। १)

इस वाक्यमें, एवं ऐसे ही—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

इत्यादि अन्यान्य शास्त्रीय वचनोंमें उपासनाका विधान किया गया है। उपासनाकी यह परम्परा वैदिक कालसे ही चली आ रही है। 'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे' 'त्र्यम्बकं यजामहे' 'अग्निमीडे पुरोहितम्' 'महे शूराय विष्णवे चार्चत' 'भर्गो देवस्य धीमहि' 'भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम' तथा 'तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' में भजन, यजन, ईशन, अर्चन, ध्यान, नमस्कार और प्रपत्तिका प्रतिपादन किया गया है। ये सब उपासनाके ही प्रकारान्तर हैं।

उपासनाके सहायक

वेदके तीन काण्ड प्रसिद्ध हैं—(अ) कर्मकाण्ड, (आ) ज्ञानकाण्ड और (इ) उपासनाकाण्ड। इनमें पहले दो काण्ड अर्थात् कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड तीसरे उपासनाकाण्डकी सहायता करते हैं। यद्यपि ज्ञान और उपासना दोनोंसे ही निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, तथापि उपासनाका मार्ग साधनाकी दृष्टिसे अत्यन्त मनोरम है। अतएव भावुकजन इसी मार्गके पथिक बनते हैं और ज्ञान तथा कर्मको निःश्रेयसका साक्षात् साधन न मानकर उपासनाके सहायकके रूपमें ही स्वीकार करते हैं।

यद्यपि ज्ञानमार्गसे भी ब्रह्मप्राप्तिका निर्देश शास्त्रमें है, जैसा कि आचार्य रामानुजने लिखा है—

'पञ्चाग्निविदोऽप्यर्चिरादिना गतिश्रवणात्, अर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्तिश्रवणाच्च, अतएव तत्क्रतुन्यायात् प्रकृतिविनिर्मुक्तब्रह्मात्मकात्मानुसंधानं सिद्धम्।'
(ब्रह्मसूत्र ४। ३। १४ पर श्रीभाष्य)

तथापि आत्मानुसंधान अत्यन्त दुःखद है, जैसी कि श्रीभगवान्‌की सूक्ति है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(गीता १२। ५)

अतएव भक्तजन ज्ञान-मार्गके प्रयासको बहुमान न देकर उपासनामें ही दत्तचित्त रहते हैं।

उपासनाके अधिकारी

मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदमें उपासनाका यथास्थान विधान है, किंतु वेद-विहित उपासनामें उन्हींका अधिकार है, जिनका उपनयन-संस्कार हो चुका है। उपनयन ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका होता है, शूद्रका नहीं। इसलिये शूद्रका वैदिक उपासनामें अधिकार नहीं है, एवं उस ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका भी नहीं है, जिसका किसी कारणवश उपनयन-संस्कार न हुआ हो।

वेदके अतिरिक्त जो शास्त्र है, वह 'स्मृति' कहलाता है। इतिहास, पुराण, आगम, धर्मशास्त्रादि इसीके अन्तर्गत हैं। इनमें भी श्रीभगवान्‌की उपासनाका विधान है, जिसमें सभीका अधिकार है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी स्मृतिमें उपदिष्ट उपासना कर सकते हैं। इसके लिये उपनयन-संस्कारका नियम नहीं है।

दो स्तर

उपासनाके दो स्तर हैं—परा उपासना और परमा उपासना। दूसरे शब्दोंमें इन्हें क्रमशः साधन-भक्ति

और साध्या भक्ति कह सकते हैं। श्रीभगवान्‌के पदयुगलकी प्राप्तिके लिये उनकी सेवा ही उत्कृष्ट साधन है। यही पराभक्ति है। साधनद्वारा जब सिद्धि प्राप्त हो जाती है, जब दिव्य दम्पतीके चरण-कमलोंकी साक्षात् सेवा करनेका सौभाग्य प्राप्त हो जाता है, तब उस सेवाका नाम 'परमा' होता है; क्योंकि वही उपासकके जीवनमें साध्या है। श्रीरामानुजने भगवान्‌से प्रार्थना की है—

'परभक्ति-परज्ञान-परमभक्त्येकस्वभावं मां कुरुष्व।' (शरणागतिगद्यम्)

तीन प्रकार

समस्त प्राकृत पदार्थोंके अन्तर्यामी मानकर भगवान्‌की उपासना करना प्रथम प्रकार है, जिसका समर्थन श्रुतिके 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्' आदि वाक्योंसे होता है।

समस्त चेतनोंके अन्तर्यामी मानकर भगवान्‌की उपासना करना द्वितीय प्रकार है, जिसका समर्थन श्रुतिके 'य आत्मनि तिष्ठन्, आत्मनोऽन्तरः, यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादि वाक्योंसे होता है।

चेतनाचेतन-निरपेक्ष, सच्चिदानन्दघन, षाड्गुण्य-विग्रह, परमसुन्दर श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान करना तीसरा प्रकार है।

इस त्रिविध उपासनापर श्रीरामानुजाचार्यने ब्रह्मसूत्र १।१।३२ के श्रीभाष्यमें प्रकाश डाला है।

अपनी एक कृतिके मङ्गलाचरणमें आचार्यने लिखा है—

समस्तचिदचिद्वस्तुशरीरायाखिलात्मने ।
श्रीमते निर्मलानन्दोदन्वते विष्णवे नमः ॥

इस स्तव-पद्यमें उन्होंने भगवान्‌की त्रिविध उपासना की है। जब वे भगवान्‌को 'निर्मलानन्दोदन्वान्' अर्थात् विमल-आनन्द-सिन्धु कहते हैं, तब वे भगवान्‌के तृतीय प्रकारका चिन्तन करते हैं। जब वे उन्हें समस्त चेतन और अचेतन वस्तुओंका अन्तर्यामी कहते हैं, तब वे द्वितीय और प्रथम प्रकारका चिन्तन करते हैं।

भेद-चतुष्टय

श्रीभगवान्‌की उपासना किसी भी कारणसे की जाय मङ्गलमयी है। सभी उपासक उदार हैं—'उदाराः सर्व एवैते।' जगत्‌के कष्टोंसे त्रस्त होकर, उनसे छुटकारा पानेके लिये, जो जीव भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'आर्त' उपासक कहलाते हैं। संसारके भोगोंमें रुचि रखनेवाले जो अधिकाधिक ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी लालसासे उपासना करते हैं, वे 'अर्थार्थी' कहलाते हैं। जो प्रकृति-वियुक्त आत्मस्वरूपके लाभकी कामनासे प्रभुकी उपासना करते हैं, वे 'जिज्ञासु' उपासक हैं, एवं जो महात्मा भगवान्‌को ही परम प्राप्य मानकर उनकी उपासना करते हैं, वे 'ज्ञानी' उपासक हैं। ज्ञानी उपासकको भगवान्‌ने 'नित्ययुक्त' और 'एकभक्ति' कहकर अपना प्रिय बताया है। आचार्य रामानुजने ऐसे ज्ञानी उपासककी चर्चा करते हुए लिखा है—

'प्रियत्वस्य इयत्तारहितत्वाद् यथा ज्ञानिनामग्रेसरस्य प्रह्लादस्य—'स त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः। न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः ॥' इति। ज्ञानी तथैव मम प्रियः।' (गीता ७। १७ पर रामानुज-भाष्य)

अर्थात् 'ज्ञानियोंके शिरोमणि प्रह्लादके हृदयमें अपने उपास्य भगवान् विष्णुके प्रति जो प्रेम था, उसकी इयत्ता (सीमा या माप) नहीं बतायी जा सकती। जब हिरण्यकशिपुने उसे साँपोंसे कटवाया, तब उसे अपने शरीरका भी भान नहीं था। वह तो अपने आराध्य प्रियतमकी स्मृतिके आनन्दमें लीन था। वह भगवान्‌को जितना प्यार करता था, भगवान् भी उसे उतना ही प्यार करते थे।'

उपासनाकी आनन्दमयता

ध्यातामें ध्येयके गुणोंका संचार होता है। वैष्णव उपासनामें ध्येय हैं—परम-सुन्दर, मनोमोहन, नयनानन्द-वर्धन, शङ्खचक्रगदापद्मधारी लक्ष्मीकान्त भगवान् विष्णु। उपासकके लिये वे उपास्य प्रियतम हैं—

'परमपुरुषः स्वेनैव स्वयम् अनवधिकातिशयसुखः सन् परस्यापि सुखं भवति। ब्रह्म यस्य ज्ञानविषयो भवति स सुखी भवतीत्यर्थः।' (वेदार्थसंग्रह)

अर्थात् 'परमपुरुष श्रीमन्नारायण स्वयं अपने स्वरूपसे ही परमानन्दमय तथा दूसरेके लिये भी परमानन्दप्रदाता हैं। उनके अपने आनन्दकी कोई सीमा नहीं, उस आनन्दसे बढ़कर अन्य कोई आनन्द नहीं। ऐसे परमानन्दमूर्ति भगवान्‌को जो अपने ज्ञानका विषय बनाता है, वह आनन्दमय हो जाता है।'

उपास्यके प्रियतम होनेके कारणसे निरन्तर बना रहनेवाला प्रीतिमय स्मरण 'उपासना' कहलाता है। प्रियतम भगवान्‌के प्रेमपूर्वक ध्यानको ही विद्वज्जन 'भक्ति' कहते हैं। गीता ७। १ के भाष्यमें रामानुजने इस रहस्यको इन शब्दोंमें लिखा है—

'स्मर्यमाणविषयस्य अत्यर्थप्रियत्वेन स्वयमपि अत्यर्थप्रियरूपं स्मृतिसंतानम् एव उपासनाशब्दवाच्यम् इति हि निश्चीयते । तदेव भक्तिरित्युच्यते 'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः ।' इति वचनात् ।'

अनन्य भावना

भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि 'वासुदेवः सर्वम्' माननेवाला व्यक्ति दुर्लभ है। जो हृदयसे वासुदेवको ही सर्वस्व मानता हो, वह वस्तुतः महान् आत्मा है। ऐसा व्यक्ति सुलभ नहीं है। 'वासुदेवः सर्वम्' की व्याख्या करते हुए श्रीरामानुज कहते हैं कि—

'वासुदेव एव मम परमप्राप्यं प्रापकं चान्यदपि यन्मनोरथवर्त्ति स एव मम तत् सर्वम्। इति यो मां प्रपद्यते मामुपास्ते स महात्मा महामनाः सुदुर्लभः दुर्लभतरो लोके। वासुदेवः सर्वम् इत्यस्य अयमेवार्थः ।'

(गीता ७ । १९ रामानुजभाष्यम्)

अर्थात् 'वासुदेव मेरे जीवनके परम प्राप्य (लक्ष्य) हैं; उस लक्ष्यतक पहुँचानेवाले भी वे ही हैं; इसके अतिरिक्त जो कुछ मनकी अभिलाषा हो सकती है, वह भी वासुदेव ही हैं। इस भावनासे जो व्यक्ति मेरी शरणमें आ जाता है, मेरी उपासना करता है, ऐसा महान् आत्मा अर्थात् उदार-हृदय व्यक्ति इस संसारमें बहुत दुर्लभ है।'

धन्य है उपासकोंकी ऐसी अनन्य भावना। यह भावना कोई नूतन सिद्धान्त नहीं है, अपितु वैदिक कालसे ही चली आ रही है।

अथर्ववेदका

'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।'

(२० । १०८ । २)

ब्रह्मतन्त्रका

पिता माता सुहृद् बन्धुर्भ्राता पुत्रस्त्वमेव मे।
विद्या धनं च कामश्च नान्यद् किंचित् त्वया विना ॥

एवं पाण्डवगीताका प्रसिद्ध श्लोक—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

—इसी अनन्य निष्ठाके उदाहरण हैं। ऐसी निष्ठावालेको सांसारिक कष्टोंसे मोक्ष मिल जाता है जैसा कि महर्षि बादरायणका वचन है—

'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।' (वेदान्त-सूत्रम् १ । १ । ७)

दास्यभाव

सेवामें तीन भाव हैं-(१) बड़ेकी सेवा, (२) बराबरवालेकी सेवा और (३) छोटेकी सेवा । माता, पिता, गुरु, पति, स्वामी और सम्राट्‌की जो सेवा पुत्र, शिष्य, पत्नी, सेवक और प्रजा-जन करते हैं, यह पहला भाव है। एक मित्र दूसरेकी जो सेवा करता है, यह दूसरा भाव है। माता-पिता जो पुत्रकी सेवा करते हैं, यह तीसरा भाव है । उपासक महानुभाव ईश्वरकी सेवा इन तीनों भावोंसे ही करते हैं । पहले भावको 'दास्य', दूसरेको 'सख्य' और तीसरेको 'वात्सल्य' कहते हैं । पत्नीद्वारा पतिकी सेवाके भावको 'माधुर्य' नाम दिया जाता है। इसे पहले ही भावका रूपान्तर मानना चाहिये । भारतीय शिष्टाचारके अनुसार पति पत्नीकी सेवा नहीं करता; अतएव पत्नी-सेवाके भावका सूचक कोई नामान्तर प्राचीन ग्रन्थोंमें नहीं मिलता।

जीव अपनेको पुत्र और ईश्वरको पिता मानकर उसकी आराधना करता है । लोकमें जिस प्रकार पितासे पुत्र उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार आराध्यसे आराधकके उत्पन्न न होनेपर भी आराध्य पिता है और आराधक पुत्र है। शब्दोंका यह औपचारिक प्रयोग है। यही बात सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें भी समझनी चाहिये। मधुर भावमें जब जीव ईश्वरको पति कहता है—

'पत्यादिशब्देभ्यः ।' (ब्रह्मसूत्रम् १ । ३ । ४३) तब भी पति शब्दका प्रयोग औपचारिक ही होता है; क्योंकि जीव और ईश्वरमें लौकिक पत्नी-पतिके समान शरीर-सम्बन्धकी गन्धका भी अवसर नहीं है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' के न्यायके अनुसार किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं

परमात्माको बालक समझकर उसकी आराधना करूँ; और किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं उसे मित्र कहकर पुकारूँ और किसीको यह अच्छा लगता है कि मैं उसे पति कहकर पुकारूँ; किंतु जितनी सहज सेवा ईश्वरको माता, पिता, गुरु, स्वामी और सम्राट् मानकर हो सकती है, इतनी और भावमें नहीं। दास्य-भावमें तो सेवा-ही-सेवा है। इसमें उपासक कहता है—

जन्मप्रभृति दासोऽस्मि शिष्योऽस्मि तनयोऽस्मि ते।
त्वं च स्वामी गुरुर्माता पिता च मम माधव॥
(ब्रह्मतन्त्रम्)

अर्थात् 'हे माधव! मैं तुम्हारा दास हूँ, शिष्य हूँ और पुत्र हूँ और तुम मेरे स्वामी, गुरु और माता-पिता हो।' यह दास्य ही—यह सेवाका भाव ही—साध्या भक्तिका भी स्वरूप है। लौकिक रीतिसे न सही, अलौकिक रीतिसे तो परमात्मा विश्वके प्राणियोंके जनयिता हैं ही—

'त्वमम्बा सर्वभूतानां देवदेवो हरिः पिता।'
(अग्निपुराणम् २३७।१०)

जिस उपासककी जिस भावमें रुचि हो, वही भाव अङ्गीकार किया जा सकता है। जिस भावमें भी संवेग तीव्र होगा, उसीसे इष्टलाभ हो जायगा। भगवत्प्राप्ति किसी भावविशेषकी सापेक्ष न होकर व्यक्तिविशेषके संवेगकी ही सापेक्ष है। संवेगकी बड़ी महिमा है। इसके प्रख्यापनके लिये ही माधुर्यभावके संवेगसे भी अतृप्त भावुकोंने जार-भावकी प्रशंसा की है। व्यभिचारिणी स्त्रीके मनमें अपने उपपतिसे मिलनकी लालसामें जो तीव्रता होती है—

परव्यसनिनी नारी सक्तापि गृहकर्मणि।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसंगरसायनम्॥

वही तीव्रता जब भगवद्-दर्शन-लालसामें आ जाय, तब जार-भाव होता है। इसी संवेगको ध्यानमें रखकर गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसके अन्तमें अपनी अभिलाषा इस प्रकार प्रकट की है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥
(उत्तरकाण्ड १३० ख)

परंतु ईश्वरको पिता मानना और दास्यभावसे उ[…] उपासना ही प्राचीनतम है। चारों वेदोंके सारभूत गा[…] मन्त्रके जपके समय प्रत्येक द्विज उपासक 'सविता' [...] ही उसकी मङ्गलमयी भावना करता है। गीताका—

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥
(११।४[…])

—यह वचन भी 'दास्य'का ही सूचक है। भगवान[…] उपासकोंमें—चाहे वे किसी भावके अनुयायी हों—यह [...] सर्वसाधारण धारणा है कि योगीश्वर शिवजी वैष्णवों[…] अग्रणी हैं—परम भागवतोत्तम हैं—

'वैष्णवानां यथा शम्भुः' (श्रीमद्भागवत १२।१३।[…]) और गङ्गाधर शिवजीने अवनीतलपर हनुमान्‌जीके [...] प्रकट होकर अपने आचरणसे जगत्‌को 'दास्यभाव'[…] शिक्षा दी है। हनुमान्‌जीका यह गम्भीर घोष सुविदित[…] है कि—

'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य।' (वा० रामायणम्)

इससे दास्यभावकी उपासनाके साम्राज्यमें प्राचीन[…] प्रमाणित होती है।

श्रीसम्प्रदायके सर्वमान्य आचार्य श्रीरामानुजजी[…] अपनी कृतियोंमें अनेकत्र अपनी दास्य-भाव-परायणता प्रदर्शि[…] की है। दिग्दर्शनार्थ—

(अ) सततं मां नित्ययुक्ता नित्ययोगमाकाङ्क्षमाणा आत्मव[…] महादास्यव्यवसायिन उपासते। (गीताभाष्यम् ९।१४)

(आ) तवास्मि दास इति वक्तारं मां तारय। (शरणागतिगद्य[…])

(इ) नित्यकिङ्करो भवानि। (श्रीरङ्गगद्यम्)

(ई) नित्यदास्यैकरसात्मकस्वभावः। (वैकुण्ठगद्यम्)

उपासनाका सेवामें पर्यवसान

श्रीरामानुज भगवान्‌से याचना करते हैं कि 'हे नाथ! मुझे अपना दास बना लीजिये। मैं आपका किङ्कर हूँ[…]

दास हूँ। मुझे अपनी सेवा करनेका सौभाग्य प्रदान कीजिये। कौन-सी सेवा ? जो प्रीतिसे प्रेरित हो। कौन-सी प्रीति ? आपके सौन्दर्य और माधुर्यके अनुभवके अनन्तर जिसकी प्रतीति हो। आपके माधुर्यादि गुणोंकी प्रतीति तभी होगी जब आप दयापरवश होकर मुझे अपना दर्शन देंगे। आपकी सेवाके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं जानता—कुछ नहीं चाहता।'

ऐसा लगता है मानो आचार्यने अपनी इस विनयमयी याचनामें समस्त श्रुतियोंका सार ही निहित कर दिया है। वे चाहते हैं कि 'त्रिभुवन-मनोमोहन प्रभु अपने परमानन्दमय स्वरूपभूत दिव्य रूपका दर्शन देकर मुझे कृतार्थ कर दें। उस अलौकिक मधुर रूपका साक्षात्कार करते ही मेरे हृदयमें जागतिक वासनाओंका शमन हो जायगा। मेरा मन उस दिव्य माधुर्यमें ही आसक्त हो जायगा। जिसके प्रति आसक्ति होती है, उसमें प्रीति अवश्यम्भाविनी है। अतः मेरे विशुद्ध हृदयमें भगवत्सम्बन्धिनी प्रीतिका उदय हो जायगा। और जिसके प्रति प्रेम होता है, उसकी सर्वतोभावेन सेवा कौन नहीं करता ? सभी अपने प्रेमास्पदकी सेवामें तल्लीन रहा करते हैं। मैं भी रहा करूँगा।'

उपर्युक्त भावसे भावित आचार्यकी 'श्रीरङ्गगद्य'में अपनी पद्यमयी प्रार्थना यह है—

तवानुभूतिसम्भूतप्रीतिकारितदासताम्।
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा॥

इस प्रकारकी अनन्य भगवत्सेवाको ही आचार्यने ब्रह्मविद्या कहा है—

'इयमेव भक्तिरूपा सेवा ब्रह्मविद्या।' (वेदार्थसंग्रहः)

साधन-सप्तक

समस्त साधनोंका एकमात्र उद्देश्य है—चित्तमें सात्त्विकताका संचार; क्योंकि सत्त्वगुणविभूषित चित्तमें ही श्रीभगवान्‌का सतत स्मरण सम्भव है। श्रीभगवान्‌की उपासनामें निरत सत्पुरुषोंमें सात साधन प्रचलित हैं। वे हैं (१) विवेक, (२) विमोक, (३) अभ्यास, (४) कल्याण, (५) क्रिया, (६) अनवसाद और (७) अनुद्धर्ष।

'विवेक'का अर्थ है—खान-पानमें शुद्धि। मानव-जीवनमें आहारके संयमका बड़ा महत्त्व है। भोजनमें दो वर्ग हैं—सामिष और निरामिष। आमिषके तामस होनेके कारण सात्त्विक साधनामें उसका कोई स्थान नहीं। निरामिष खाद्य-सामग्रीमें भी कारणवश तामसभाव आ सकता है, अतएव वह भी त्याज्य है। जो भोजनद्रव्य स्वभावहीसे भोक्ताके चित्तमें राजस और तामस भावोंको जागरित कर देता है, उसमें 'जातिदोष' माना जाता है। ऐसे भोजनके उदाहरण हैं—लहसुन, शलगम और प्याज। पतित, नास्तिक आदि तामस वृत्तिवाले लोगोंके भोजनमें 'आश्रय-दोष' है। ऐसे व्यक्ति अपने उपार्जित द्रव्यसे मोल लेकर फल-दुग्ध आदि पदार्थ भी यदि किसीको खिलायेंगे, तो खानेवालेके मनमें बुरे भावोंका उदय हो जायगा। 'इस अन्नको कौन खायगा ?' ऐसा कहकर जिसका वितरण हुआ हो, जिसे किसी अपवित्र व्यक्तिने छू दिया हो, अथवा पवित्र व्यक्तिने भी जान-बूझकर जिसमें पैर लगा दिया हो, बुरे लोगोंकी जिसपर दृष्टि पड़ गयी हो, कुत्ते-कौए आदिने जिसे जूठा कर दिया हो, ऐसे भोजनमें 'निमित्त-दोष' माना जाता है। उपर्युक्त जाति-दोष, आश्रय-दोष और निमित्त-दोषसे रहित खाद्य-सामग्रीका भोजन करना 'विवेक'-नामक साधन है।

'विमोक'का अर्थ है—परित्याग। कामको—विषयोंकी वासनाको—त्याग देना, उसमें आसक्ति न रखना ही 'विमोक' नामका दूसरा साधन है।

'अभ्यास' नामका तीसरा वह साधन है, जिसमें मन, वाणी और शरीरमें बार-बार ऐसी प्रवृत्ति रहे, जिससे साधकका हृदय-भवन सदैव श्रीभगवान्‌की भक्ति-भावोद्भाविनी भावनासे भावित रहे।

'कल्याण'का तात्पर्य है—मङ्गलमयी मानसिक वृत्तियोंसे। ये वृत्तियाँ मानो कुसुमावलियाँ हैं, जिनसे कि हृदय-भवन सुसज्जित हो जाता है। इस प्रकार परिष्कृत मनोमन्दिरमें ही भगवद्भक्तिका उदय हुआ करता है। यह चौथा साधन है।

यज्ञ, दान और तपका यथाविधि और यथाशक्ति अनुष्ठान 'क्रिया' नामका पाँचवाँ साधन है।

इष्ट-दर्शनके लिये साधन करते-करते साधनजन्य कष्टोंमें विषाद न होना ही 'अनवसाद' नामका छठा साधन है।

साधनाके क्रमिक विकासमें तज्जन्य सुखद चमत्कारोंकी प्राप्तिमें हर्ष प्रकट न करना 'अनुद्धर्ष' नामका सातवाँ साधन है।

समयका पञ्चधा सदुपयोग

जो उपासक जागरणसे शयन-पर्यन्त भगवदाराधनामें ही दत्तचित्त हैं, वे अपनी आराधनाके समयको पाँच भागों-में विभक्त कर लेते हैं। प्रथम भागमें 'अभिगमन', द्वितीय-में 'उपादान', तृतीयमें 'इज्या', चतुर्थमें 'स्वाध्याय' और पञ्चममें 'योग'।

गृहैकदेशमें, नगरैकदेशमें अथवा तीर्थस्थानमें विराजमान श्रीभगवान्के श्रीविग्रहकी सेवामें उपस्थित होना 'अभिगमन' कहलाता है। 'उपादान'का अर्थ है—भगवदाराधनाके लिये चन्दन, माला, धूप, दीप, नैवेद्य प्रभृति सामग्रीका आयोजन। 'इज्या'का अर्थ है—पूजा। मन्त्रजपका नाम 'स्वाध्याय' है। 'योग'का तात्पर्य है ध्यानसे।

अष्टप्रहरात्मक समयको भगवदाराधनामें व्यतीत न कर सकनेवाला भक्त यदि एक समयमें ही अभिगमनादि पाँचों कर्तव्योंको कर लिया करे तो भी वह 'पाञ्चकालिक' कहलाता है—

'एवं विद्वानेकदापि कुर्वन् सन् पाञ्चकालिकः।'

इनमेंसे अभिगमन, उपादान और इज्या—ये तीन कृत्य मध्याह्न-भोजनसे पूर्व ही सम्पादनीय हैं; स्वाध्याय तीसरे पहरमें और योग रात्रिमें शयनसे पूर्व।

भोजनसे पूर्व ही पाँचों कृत्योंके सम्पादनका भी सम्प्रदाय है जैसा कि पाञ्चरात्ररक्षामें वेंकटनाथजीका वचन है—

'एतौ च स्वाध्याययोगौ आह्निकानुयागात् पूर्वमेव केषुचित् संहिताविशेषेषु समाहृत्योपदिश्येते।'

इन पाँचोंमें भी 'इज्या' प्रधान है, क्योंकि इसके करने से पञ्चकालीन सब कृत्य हो जाता है—

'कृतं भवति वा सर्वमिज्ययैव हि केवलम्।'

(भारद्वाजसंहिता)

पूजामें सर्वप्रथम भगवद्विग्रहके सम्मुख जाना होता है, यह 'अभिगमन' है। पत्र, पुष्प, फल, जल आदिका संग्रह पूजाके लिये आवश्यक है—यह 'उपादान' है। मन्त्रोच्चारणद्वारा 'स्वाध्याय' सम्पन्न हो जाता है और ध्यानके अनन्तर आवाहन होता है। अतः पूजामें 'योग' भी हो जाता है।

श्रीभगवान्की इज्या—पूजा सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है। वह भोग और मोक्ष दोनोंको देनेवाली है। वह अभ्युदय और निःश्रेयसकी साधिका है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्रीमद्भा० २। ३। १०)

इज्याके निमित्त भगवान्के निकट बैठना ही प्रमुख उपासना है, उपासन है, निषद् है। उप-निषद् है। इज्या-की परिसमाप्तिमें उपासक अपनी दोनों भुजाओंसे अपने उपास्यके कमनीय चरण-नलिन-युगलको आलिङ्गन करता हुआ वहीं अपना मस्तक रख देता है और कहता है—

'प्रपन्नं पाहि मामीश।' (श्रीमद्भा० ११। २७। ४६)

अर्थात् 'मेरे नाथ! मैं आपकी शरणमें आ गया हूँ; मेरी रक्षा कीजिये।'

आचार्य रामानुजकी दृढ़ आस्था है कि प्रपन्नपारिजात श्रीमन्नारायण भक्तानुग्रहविग्रह हैं। वे भक्तके भावसे प्रसन्न होकर अपने कृपा-कटाक्षसे उसे कृतार्थ कर देते हैं और फिर भगवच्चरणविनिस्सृत आनन्द-मन्दाकिनी उपासकको सदाके लिये आप्लावित और आप्यायित कर देती है—

'श्रीमत्पादारविन्दयुगलं शिरसि कृतं ध्यात्वा अमृतसागरान्तर्निमग्नसर्वावयवः सुखमासीत।'

(वैकुण्ठगद्य)

यह 'सुखमासीत'वाली सुखासना ही उपासना है, यही ब्रह्मविद्या है।

ब्रह्म-उपासनामें सगुण तथा निर्गुणका भेद

(लेखक—श्रीयुत ब्रानदेवजी पाठक एम्० ए०, बी० एल्०)

अध्यात्म-जगत्में 'भक्ति' या 'उपासना'—इन दो शब्दोंका व्यापक महत्त्व है। 'भक्ति' शब्दसे सेवाभावकी अभिव्यक्ति होती है। भक्ति शब्दकी व्युत्पत्ति 'भज' धातुसे 'क्तिन्' प्रत्यय करनेपर होती है। वास्तवमें जीवमें व्याप्त ब्रह्मके प्रति अनुरागका भाव ही भक्ति कहलाती है। महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वरमें सर्वोत्तम अनुराग ही भक्ति है। उपनिषदोंकी भाषामें भक्तिको उपासनाकी संज्ञासे अभिहित किया गया है। भक्ति या उपासना—प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं। उपनिषद्में उपासना शब्दकी महिमाका प्रतिष्ठापन हुआ है। मुण्डकोपनिषद्की निम्न पंक्तियोंसे यह तथ्य उद्घाटित होता है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥
(२।२।३)

'उपासक उपनिषदुक्त धनुष ग्रहण करके उसपर शरको योजित करे। पहलेसे ही उपासनाके द्वारा उस शरको तेज धारवाला बना ले। ब्रह्ममें तन्मयतायुक्त अन्तःकरणके द्वारा उस धनुषको आकर्षित करे और उसका लक्ष्य अक्षर ब्रह्मको ही जाने।' यहाँपर ब्रह्मकी प्राप्तिका एकमात्र साधन उपासना ही है; क्योंकि आत्मारूपी शरपर धार चढ़ाकर तेज बनानेके लिये उपासना ही सक्षम है, जिससे वह आत्मारूपी शर तेज होकर ब्रह्मरूपी लक्ष्यका भेदन कर सके। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपासनाके माध्यमसे ही जीवका ब्रह्ममें समागम हो सकता है। इस जीव और ब्रह्मके समागमके लिये उपासकोंने भिन्न-भिन्न प्रकारकी उपासना-पद्धतियोंको व्युत्पन्न किया है। यहाँ हम केवल सगुण और निर्गुण पद्धतियोंपर विचार करेंगे।

सगुणोपासना—सगुणोपासक उस अनन्त प्रभुको अपनी साधना-शक्तिके द्वारा अपने पास अवतीर्ण करा लेते हैं, जिसे अनेक जन्मोंतक असगुणोपासक ऋषि-मुनिगण ध्यानमें भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

इस सगुणरूप ब्रह्मकी उपासना ही गीता और मानसका प्रतिपाद्य विषय है। तभी तो गीतामें हम भगवान्का यह उद्घोष सुनते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४।७-८)

धर्मप्राण भारत-भूमिकी महिमा दिखानेके लिये भगवान् गीतामें कहते हैं कि 'जब-जब साधुओंपर विपत्तियाँ आती हैं, तब-तब मैं उनके परित्राणार्थ एवं पापियोंको दण्ड देनेके हेतु तथा धर्मकी मर्यादाओंके संस्थापनार्थ सगुण साकाररूपमें अवतीर्ण होता हूँ।' गीतोक्त उपदेशोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण साधनापद्धतिके अन्तर्गत साधक अपनी साधना-शक्तिके आधारपर भगवान्को अवतार लेनेके लिये बाध्य कर देते हैं। सगुणोपासक भक्त कवि तुलसीने भी इस परम्पराका पालन अपने मानसमें किया है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
(मानस बालकाण्ड १२०।६, ८)

गीतामें भगवान्ने सगुणोपासनाकी महिमाका श्रीमुखसे बखान किया है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२।२)

भगवान् कहते हैं कि 'जो भक्त अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ दिव्य साकार सगुणस्वरूपवाले परमेश्वरको भजते हैं, उन्हें मैं योगियोंमें भी अति उत्तम योगीके रूपमें मानता हूँ।

निर्गुणोपासना—निर्गुणोपासनाके अन्तर्गत उपासक अपनी उपासना-शक्तिके द्वारा परमब्रह्म परमेश्वरके अलौकिक आनन्द (ब्रह्मानन्द) का अनुभव प्राप्त करनेकी लालसासे समाधिस्थ हो जाता है। उसे उस परमब्रह्ममें लीन हो जानेकी ही उत्कट लालसा होती है। सगुणोपासककी तरह वह उस

ब्रह्मको अवतारी नहीं बनाता है। वह कण-कणमें उस ब्रह्मकी सत्ताका अनुभव करता और उसीमें विश्वके समस्त चर-अचरको समाहित पाता है—

'ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।'

(ईशावास्य० १)

उपनिषदोंमें निर्गुणोपासनाकी पद्धतिका विशद विश्लेषण हमें मिलता है। पर उनमें जिस उपासनाका वर्णन है, वह जन-साधारणके अधिकारसे दूरकी चीज अखण्ड समाधिमें लगकर उस ब्रह्मको पानेके लिये ऋषि-मुनिगण मनको एकाग्र करते हैं; फिर भी उस निराकार, निर्गुण ब्रह्मको पानेमें असमर्थ रह जाते हैं। उपनिषद् कहता है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते
अप्राप्य मनसा सह।'

(तै० उ० २।९)

'यह वही ब्रह्म है जिसका वर्णन वाणी भी नहीं कर सकती है; तथा जो मनकी पहुँचसे भी परे है।' मुण्डकोपनिषद् कहता है—

'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।'

(३।१।८)

'वह परमब्रह्म नयन और वाणी आदि इन्द्रियों तथा तप और कर्मके द्वारा भी पकड़में नहीं आता है।'

इसके अतिरिक्त हम कठोपनिषद्में ब्रह्मके विशदरूपका वर्णन पाते हैं। नचिकेताने यमराजसे ब्रह्मविषयक जिज्ञासा करते हुए पूछा था कि 'जो धर्म और अधर्मसे, कृत और अकृतसे तथा भूत और भविष्यसे भी परे है, उसे ही बताइये—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥

(कठ० १।२।१४)

इसके उत्तरमें यमराजने समझाया था कि 'मनुष्यकी हृदयगुफामें स्थित अङ्गुष्ठमात्र (आत्मा) भूत, भविष्य और वर्तमानका नियन्त्रण करनेवाला है, वह धूमरहित तेजके समान है। वही आज है और वही कल भी रहेगा। (अर्थात् वह नित्य सनातन है) वही है यह परमात्मा परब्रह्म, जिसके विषयमें तुमने पूछा था।'—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद्वै

(कठ० २।१।१

उस परमब्रह्मके स्थान और स्वरूपका विवेचन क हुए मुण्डकोपनिषद्की श्रुति कहती है कि 'वे निर्मल-निर्लि अवयवरहित, अखण्ड, परमात्मा प्रकाशमय परम विराजमान हैं। वे सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाश पदार्थोंके भी प्रकाशक हैं तथा उन्हें आत्मज्ञानी ही जानते हैं

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥

(मुण्डक २।२।

इन दोनों (निर्गुण-सगुणकी उपासनारूप) मार्ग कौन श्रेष्ठ है? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। निर्गुण-मार्ग ज्ञानकी प्रधानता है और सगुण मार्गमें श्रद्धा-भक्ति दोनों मार्गोंके ही अनुयायी अपने-अपने मार्गको श्रेष्ठ मानते हैं।

ज्ञान-मार्गकी महिमाका प्रतिपादन करनेवाले ज्ञा मार्गको ही सर्वोपरि मानते हैं।

सर्वेषामेव भक्तानामिष्टः प्रियतमो मम।
यो हि ज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा॥

(कूर्मपु० उ० ४।२

भगवान् कहते हैं कि 'सभी भक्तोंमें वही मेरा प्रिय भक्त है; जो सर्वदा ज्ञानके द्वारा मेरी आराधना करता है अन्य प्रकारसे नहीं।' ज्ञानी भक्तोंकी महिमाका वखान स्व भगवान् शिवने दक्षप्रजापतिसे किया था। भगवान् शि कहते हैं कि 'चार प्रकारके भक्तोंमें [पहला आर्त, दूस जिज्ञासु, तीसरा अर्थार्थी और चौथा ज्ञानी है।] चौथ ज्ञानी भक्त ही मुझे अधिक प्रिय है। वह मेरा रूप माना ग है। उससे बढ़कर दूसरा कोई मुझे प्रिय नहीं है। मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।'—

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चैव चतुर्थकः।
पूर्वे त्रयश्च सामान्याश्चतुर्थो वै विशिष्यते॥
तत्र ज्ञानी प्रियतरो मम रूपं च स स्मृतः।
तस्मात्प्रियतरो नान्यः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

(शिपु० रु० सं० स० ख० ४३। ४-

इसी प्रकार ज्ञानी भक्तोंकी महिमाका प्रतिपादन

गीतामें भी पाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन चार प्रकारके भक्तोंमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य-प्रेम-भक्तियुक्त ज्ञानी भक्त अति उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ; अतः वह ज्ञानी भक्त भी मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(गीता ७। १७)

दूसरी ओर सगुण साकाररूपसे उपासना करनेवाले ज्ञानमार्गकी दुरूहताको देखकर श्रद्धा-भक्तिके आधारपर सगुणोपासनाको ही प्रधान एवं सर्वजन-सुलभ मानते हैं। ज्ञानमार्गसे निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले भक्तोंकी दुःखानुभूतिका तथा उनको प्राप्त होनेवाले वास्तविक क्लेशका आभास भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही गीतामें दिया है। भगवान् कहते हैं कि 'देहाभिमानियोंद्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है'—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(गीता १२। ५)

एक ओर जहाँ भगवान् ज्ञानमार्गके क्लेशोंका वर्णन करते हैं, वहीं दूसरी ओर सगुणरूपमें ईश्वरकी उपासना करनेवालोंको अनायास ही सुलभ होनेवाली भगवत्कृपाका भी प्रतिपादन करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो भक्त इस प्रकारसे मेरी भक्ति करता है। उसे संसार-सागरसे स्वयं प्रयास करके पार होना नहीं पड़ता है, मैं स्वयं अपने साथ ही उसे सुखमय सुदृढ़ कृपापोतपर चढ़ाकर तुरंत पार उतार देता हूँ'—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२। ८)

उपनिषदोंने भी ज्ञानमार्गकी इस दुरूहताका अवलोकन कर इस बातको स्वीकार किया है कि वास्तवमें ज्ञानका मार्ग छुरेकी धारके समान तीक्ष्ण एवं कष्टप्रद है।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।
(कठ० १। ३। १४)

उपनिषद्वर्णित ज्ञानमार्गकी दुर्गमताको भक्त कवि तुलसीदासने भी अपने मानसमें अक्षरशः अनुवादित किया है।

'ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥'
(मानस उत्तर० ११८। १)

सगुणोपासनाकी महत्ताका प्रतिपादन करते हुए भक्त कवि तुलसीने यह उद्घोष किया कि 'भक्तिके बलपर निर्गुण भी सगुण हो सकता है।'

'अगुन अरूप अलख अज जोई। गति प्रेमबस सगुन सो होई॥'

भक्तिकी धाराका प्रवाह बहाकर तुलसीने समाजमें धर्मकी मर्यादाको समुन्नत एवं आस्थावान् बनाया। मानसमें तुलसीने भक्तिके द्वारा ब्रह्म और अवतारमें एकरूपता स्थापित कर निर्गुण और सगुणके संघर्षका अन्त कर दिया।

'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्याके गोद॥'
(मानस बाल० १९८)

यद्यपि निर्गुण और सगुण-उपासनामें एकरूपता स्थापित की गयी है, फिर भी इन दोनों पद्धतियोंके अन्तरालमें एक सूक्ष्म अन्तर छिपा हुआ है। यह अन्तर उद्देश्यमें सन्निहित है। एक ओर निर्गुण उपासनापद्धति यदि 'अभेद-भक्ति' पर आधारित है तो दूसरी ओर सगुणोपासना 'भेद-भक्ति' पर स्थित है।

अभेद-भक्ति—उपनिषदोंके आधारपर 'अभेद-भक्ति' का अर्थ होता है—जीवका ब्रह्मके साथ अभिन्नताका बोध। 'अभेद-भक्ति' के अन्तर्गत जीवके ज्ञानका ज्यों-ज्यों प्रस्फुरण होता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी पृथक् सत्ताका विनाश कर देता है और स्वयं ही ब्रह्मकी सत्ता स्वीकार कर लेता है एवं उसीमें उसका पर्यवसान हो जाता है। ऐसी स्थितिमें जीव और ब्रह्मके बीच कोई भी भेद निःशेष नहीं रह जाता है और तब वह जीव बरबस गरज उठता है 'मैं ब्रह्म हूँ'—

'अहं ब्रह्मास्मि।' (बृ० उ० १। ४। १०)

मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है कि ज्ञानी पुरुष उसी प्रकार सब भेद-भाव छोड़कर ब्रह्ममें लीन हो जाता है, जिस प्रकार नदियाँ अपना नाम-रूप छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मु० उ० ३।२।८)

भेद-भक्ति—सगुणोपासनाके क्षेत्रमें 'भेद-भक्ति' को ही उपासकोंका साधन माना गया है। यहाँ 'भेद-भक्ति' का अभिप्राय होता है, ऐसी स्थिति जहाँ उपासक अपने अस्तित्वको अपने इष्टदेवसे बिल्कुल भिन्न रखता है। यहाँ उपासक अपने 'नील जलज तनु स्याम' रूप उपास्यदेवसे सर्वथा अपनेको विलग रखता है। विलगका यह अर्थ है कि यहाँ उपासक भगवान्‌में अपना पर्यवसान इस प्रकार नहीं करता है कि वह परमात्मस्वरूप स्वयं हो जाय।

सगुणोपासनाके क्षेत्रमें 'उपासक' उपासकके ही रूपमें रहता है और 'भगवान्' भगवान्‌के ही रूपमें। इसी आत्मा और परमात्माके बीच भेद-भावको बनाये रखनेके कारण इसे 'भेद-भक्ति'की संज्ञासे अभिहित किया जाता है। सगुण भक्त कवि तुलसीने इस 'भेद-भक्ति' का स्पष्टीकरण अपने 'मानस' में विलक्षण वैभवके साथ किया है। मानसमें जिस किसी स्थलमें इसका प्रयोग किया गया है, वहाँ तुलसीने इस बातको स्पष्ट कर दिया है कि भक्त अपना विलयन तो भगवान्‌में करता ही नहीं, वरं वह भगवान्‌से मोक्षके बदलेमें उनकी अनपायनी भक्ति ही चाहता है।

सर्वप्रथम तुलसीने मानसमें इस 'भेद-भक्ति' का प्रयोग शरभंगमुनिके प्रसङ्गमें किया है। भगवान् श्रीरामचन्द्र शरभंगमुनिके आश्रममें पहुँचे हुए हैं। शरभंगमुनि तरह-तरहसे भगवान् श्रीरामकी आराधना कर रहे हैं। वे कहते हैं कि 'हे कृपानिधान भगवान्! मैंने जप, तप, यज्ञ, व्रत सब कुछ देकर आपसे भक्तिका वरदान प्राप्त किया है'—

जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥
(मानस, अरण्य० ७।७)

शरभंगमुनि भगवान्‌से याचना करते हैं कि 'आप तबतक यहाँ ठहरें, जबतक मैं अपना शरीर त्यागकर आपमें मिल न जाऊँ'—

तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि मिलौं तुम्हहि तनु त्यागी॥
(मानस, अरण्य० ७।९)

यहाँ एक स्पष्ट विरोधाभास-सा दिखायी देता है। सगुणोपासक भी निर्गुणोपासककी तरह ही ब्रह्ममें [illegible] होना चाहता है; लेकिन भक्तिकी पयस्विनीमें [illegible] प्रवहमान कविने बड़े ही कौशलके साथ भावको सँवारा। कवि कहते हैं कि 'शरभंगमुनिके ऐसा करनेसे [illegible] भगवान्‌में लीन नहीं हो सके। इसका कारण [illegible] शरभंगमुनिने पहले ही भगवान्‌से 'भेद-भक्ति' [illegible] प्राप्त किया था'—

ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेदभगति बर [illegible]
(मानस, अरण्य० ८।[illegible])

दूसरे स्थलमें जहाँ इस 'भेद-भक्ति' का प्रयोग [illegible] हुआ है दशरथजीके प्रसङ्गमें। रावणपर विजय [illegible] करनेके बाद जब सभी देवता भगवान् श्रीरामचन्द्र[illegible] गुणोंका बखान कर रहे थे, उस समय वहाँ दशरथ[illegible] आये थे। यह स्पष्टरूपसे एक विलक्षण बात है कि मृ[illegible] बाद भी दशरथजी रामसे मिलने आते हैं। मृत्युके [illegible] जब जीवका ब्रह्ममें विलयन हो जाता है तो दश[illegible] फिर कैसे आते हैं? निर्गुणोपासकोंके मतानुसार मो[illegible] जानेके बाद जीव आवागमनसे मुक्त हो जाता है। [illegible] सगुणोपासक अपने मोक्षके लिये कभी भी कामना [illegible] करते हैं। उन्हें तो अपने आराध्यकी भक्ति चाहि[illegible] दशरथजीने भगवान्‌से अपने पूर्वजन्ममें ही स्वायंभुव [illegible] रूपमें 'भेद-भक्ति'का वर प्राप्त किया था। इ[illegible] दशरथजीको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हुई थी। अ[illegible] आवागमनसे मुक्त नहीं हुए थे।* इस प्रकार दशरथ[illegible] आने-जानेपर शङ्का करना उचित नहीं होगा। [illegible] भक्तोंकी वास्तवमें यही साध होती है कि 'हम इस सं[illegible] बराबर आते रहें और हर जन्ममें भगवान्‌की आरा[illegible] करते रहें। यही 'भेद-भक्ति' है, जहाँ भक्त मोक्षके [illegible] आवागमन और भगवान्‌की भक्तिकी याचना करते हैं।

ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन [illegible]
(मानस, लंका० १११।[illegible])

इसी 'भेद-भक्ति' का प्रयोग तुलसीने एक और स्थ[illegible] काकभुशुण्डिजीके प्रसङ्गमें किया है। यहाँ भ[illegible]

* अवश्य ही भक्तका संसारमें आना और जाना [illegible] जीवोंकी भाँति कर्म-फलसे प्रेरित होकर नहीं होता। वे [illegible] पुरुषोंकी भाँति भगवान्‌की आज्ञासे उन्हींकी प्रसन्नताके [illegible] इच्छासे आते-जाते हैं।—सम्पादक

महिमाका बखान करते हुए काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि 'यदि कोई ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति भी है किंतु वह भगवान् श्रीरामकी भक्तिसे विहीन है तो वह बिना पूँछ और सींगका पशु ही है।' वे आगे कहते हैं कि 'भगवान्‌के भक्तको कभी भी अविद्या नहीं व्यापती है।' उपनिषदोंके अनुसार यही अविद्यारूपी अन्धकार जीवको ब्रह्मकी प्राप्तिके मार्गमें बाधा डालकर कष्ट पहुँचाता है। पर यह अविद्यारूपी बाधा भक्तको कभी भी नहीं व्यापती है। अतः उपासकका यहाँ विनाश नहीं होता है; क्योंकि यहाँ तो भक्तके हृदयमें 'भेद-भक्ति' की वृद्धि होती जाती है।

ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर॥

(मानस, उत्तर० ७८। ३)

इस प्रकारकी विवेचनासे यह स्पष्ट होता है कि एक ओर जहाँ उपनिषदोंकी 'अभेद-भक्ति'का उद्देश्य होता है—मोक्षकी प्राप्ति, वहाँ दूसरी ओर सगुणोपासक मोक्षको त्यागकर 'भेद-भक्ति'का वरण करते हैं। सगुणोपासक आवागमनको भक्तिका साधक और मोक्षको बाधक मानते हैं।

अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥

(मानस, उत्तर० १०८। ७)

सगुणब्रह्मकी उपासना करनेवाले भक्त मोक्ष नहीं चाहते हैं। ऐसे भक्तको तो भगवान् अपनी भक्ति देते हैं।

सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥

(मानस, लंका० १११। ७)

इस प्रकारसे विश्लेषण करते हुए हम ब्रह्म-उपासनामें सगुण तथा निर्गुणके भेदको स्पष्टरूपसे समझ सकते हैं।

विज्ञानोपासनाका महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीरामगणेशजी शर्मा, अध्यापक)

अध्यात्मक्षेत्रमें विभिन्न आचार्यों एवं महापुरुषोंने स्वानुभवसे विभिन्न उपासना-पद्धतियोंका प्रतिपादन तथा निरूपण किया है। वेद, शास्त्र एवं पुराणोंमें भी उपासना-पद्धतियोंका विशद विवेचन और महत्त्व भरा पड़ा है। इसलिये यह निःसंदेह सत्य है कि 'परमात्माको प्राप्त करनेके विभिन्न उपासना-मार्ग हैं, यद्यपि लक्ष्य सबका एक ही है। यहाँ उपनिषदोंमें प्रतिपादित विज्ञानोपासनाके विषयमें प्रकाश डालनेका संक्षिप्तरूपसे प्रयास किया गया है। यह विज्ञानोपासना* शब्द परम ज्ञानके द्वारा प्रभु-साक्षात्कारका बोधक है। संसार द्वन्द्वमय है, गुण-दोषमय है तथा मृत्युका सागर है; साथ ही अज्ञानतिमिरसे आच्छादित है। ऐसी अवस्थामें साधकके मोह-तिमिरका निवारण विज्ञानरूप परम प्रकाश ही कर सकता है। तभी सत्-असत्का भेद दृष्टिगोचर होने लगता है और सत्का ग्रहण तथा असत्का त्याग करनेकी क्षमता भी तभी प्राप्त होती है।

तैत्तिरीयोपनिषद्‌में विज्ञानात्माकी महिमाका वर्णन किया गया है—

विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।
विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते॥
विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति।
शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान्कामान्समश्नुत इति॥

(वल्ली २ अनु० ५)

'विज्ञानके साथ तद्रूप हुआ जीवात्मा ही यज्ञोंका विस्तार करता है तथा लौकिक कर्मोंका भी विस्तार करता है। सम्पूर्ण इन्द्रियरूप देवता सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मके रूपमें इस विज्ञानमय जीवात्माकी ही सेवा करते हैं। यदि कोई साधक इस विज्ञानस्वरूप आत्माको ही 'ब्रह्म' समझता है और वह इस विशुद्ध धारणामें कभी प्रमाद नहीं करता तो वह अनेक जन्मोंके संचित पापसमूहको शरीरमें ही छोड़कर समस्त दिव्यभोगोंका अनुभव करता है।' इसीलिये श्रुतिवाक्य सिद्ध करता है कि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' विज्ञानी परम ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। साधक निर्मल बुद्धिके द्वारा विज्ञान-देशमें पहुँचकर नित्यानन्दस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है। क्योंकि विज्ञानात्मा और परमात्मामें निकटका

* औपनिषदिक विज्ञानका अर्थ है—अनुभवजन्य ज्ञान। वर्तमानकालमें हिंदीमें प्रचलित भौतिक विज्ञान अर्थात् सायंसके अर्थमें नहीं।

सम्बन्ध है। निम्नलिखित श्रुति इसी भावको व्यक्त करने-वाली है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद
निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान्
सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ॥
(तैत्ति० २। १)

इस श्रुति-वाक्यमें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपबोधक लक्षण बताकर यह समझाया गया है कि उनका प्राप्ति-स्थान कहाँ है तथा उस प्राप्तिका फल क्या है? भाव यह है कि वे परब्रह्म सत्यस्वरूप हैं। यह 'सत्य' शब्द 'नित्य सत्ता' का बोधक है। किसी भी कालमें उनका अभाव नहीं होता। वे विज्ञानस्वरूप हैं। उनमें अज्ञानका लेश भी नहीं है और वे अनन्त हैं अर्थात् असीम हैं। वे परमाकाशमें रहते हुए भी सबके हृदयरूप गुफामें छिपे हैं। जो साधक उन्हें तत्त्वसे जान लेता है 'वह विज्ञानस्वरूप उन परम उपास्यदेवके साथ रहता हुआ दिव्य भोगोंका सब प्रकारसे अनुभव करता है।' वे परम ब्रह्म—पुरुषोत्तम हृदयरूप गुफामें छिपे हैं, इसके विषयमें कई स्थलोंपर उपनिषदोंमें दिग्दर्शन कराया गया है। उनमेंसे कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'
(ईश० मन्त्र १)

'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।'
(कठ० १। ३। १)

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।'
(कठ० २। १। १२)

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
(श्वेता० ३। १३)

उक्त मन्त्रोंमें परमेश्वरकी सर्वव्यापकताका बोध कराया गया है। अखिल विश्वब्रह्माण्डमें समानभावसे वे सर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण हैं। मनुष्यका हृदय अङ्गुष्ठ परिमाणवाला है तथा मानव-देह ही सुकृतस्वरूप साधनधाम और मोक्षका द्वार है। इसी कारण मनुष्यके हृदय-परिमाणके अनुसार परमेश्वरको 'अङ्गुष्ठमात्र' परिमाणवाला कहा गया है—तथा ... उन्हींका वाचक है, जीवका नहीं। वे जीवात्मा और ... हृदयगुहामें स्थित हैं और सत्यका पान करनेवाले हैं। ... तीनों कालोंके नियन्ता भी हैं। इस प्रकार जो ... परम पुरुषके तत्त्वको जान लेता है, वह किसी भी ... द्वेष एवं घृणा नहीं करता। अतः विज्ञानके द्वारा ... सम्पन्न जो साधक निरन्तर प्रयास करता हुआ मन ... उनमें लगा देता है, वह उन परम उपास्यदेवको प्राप्त ... उन्हींका हो जाता है। वह क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, ... और विज्ञानमय कोशोंको प्राप्त होता हुआ अन्तमें परम ... अनुभव करता है। साधक सांसारिक द्वन्द्वों एवं वास... रहित हो जाता है, जैसा कि श्रुति भगवती—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥
(श्वेता० उप० १। ११)

अर्थात् 'जब साधक निर्मल ज्ञानसाधनाके ... नित्य निरन्तर ध्यान करते-करते उन परमदेवको जान ... है तब समस्त बन्धनोंका नाश हो जाता है। माया-... निवृत्ति हो जाती है। अविद्यादि क्लेशोंका नाश ... जन्म-मृत्युका सदाके लिये अभाव हो जाता ... शरीरका नाश होनेपर विज्ञानात्मा तृतीय लोकतक... ऐश्वर्योंका त्याग करके विशुद्ध कैवल्य परमपदको ... प्राप्त कर लेता है तथा वह पूर्णकाम हो जाता है। ... पहुँचकर फिर उसे कोई कामना नहीं रहती।' अतएव ... प्रधान मानवशरीर प्राप्त कर लेनेपर मनुष्यको उस ... ज्ञेय तत्त्व परमात्माको जाननेका नित्य प्रयास करना चा... क्योंकि इससे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कु... नहीं है।

विज्ञानात्मा विवेकबुद्धिके द्वारा उन परब्रह्मको ... प्रकार प्राप्त कर लेता है? यह बात कठोपनिषद्में रथ ... रथीके साङ्गोपाङ्ग रूपककी कल्पना करके समझायी ... तथा विज्ञानका सर्वोत्कृष्ट महत्त्व प्रतिपादित किया गया ... जैसे—

आत्मानꣳरथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(कठ० १।३।३-४)

तात्पर्य यह है कि इन मन्त्रोंमें 'जीवको मानवशरीर-रूपी रथका स्वामी तथा बुद्धिको रथका चलानेवाला सारथि माना है। मनको लगाम तथा इन्द्रियोंको घोड़े बतलाया गया है। विषय-भोगोंको उन इन्द्रियरूपी घोड़ोंका विचरनेका स्थान (मार्ग) कहा गया है। शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त जीवात्मा ही भोक्ता है।' रथको आगेकी ओर गति देनेवाले घोड़े ही होते हैं, परंतु उन घोड़ोंको मनचाहे मार्ग-पर ले जाना सारथिका काम है जो कि घोड़ोंकी लगाम हाथमें पकड़े हुए है। घोड़े उसी ओर भागते हैं जिस ओर लगामका संकेत होता है; परंतु लगामको ठीक दशामें रखना सारथिकी विवेक-बुद्धिपर निर्भर है।

यदि बुद्धिरूपी सारथि विज्ञानवान्, मार्गके ज्ञानसे सम्पन्न, स्वामिभक्त, लक्ष्यपर हर समय दृढ़ और इन्द्रिय-रूपी घोड़ोंको चलानेमें दक्ष नहीं होता, तो इन्द्रियरूपी चञ्चल घोड़े स्वेच्छासे सम्पूर्ण रथको अपने वशमें कर, रथी और सारथिसहित उस रथको इधर-उधर दौड़ाते हुए गन्तव्य स्थानपर न पहुँचकर बीचमें ही विषयोंके गड्ढेमें जा गिरते हैं। इसी कारण बुद्धिरूपी सारथिका विज्ञानवान् होना परमावश्यक है, जैसा कि अगले मन्त्रमें दर्शाया गया है—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥
(कठ० १।३।९)

अर्थात् 'जो कोई मनुष्य विज्ञान-सारथिसे सम्पन्न तथा मनरूप लगामको सदा वशमें रखनेवाला है, वह संसाररूप दुर्गम मार्गको पारकर परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌के उस सुप्रसिद्ध परमधामको प्राप्त हो जाता है' जिसके सम्बन्धमें अगले मन्त्रमें लक्ष्य कराया गया है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥
(तैत्ति० २।९)

'जहाँसे मनके सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं, उस ब्रह्मानन्दको जाननेवाला ज्ञानी महापुरुष किसीसे भय नहीं करता है अर्थात् भयरहित हो जाता है।' इस प्रकार साधक विज्ञानके द्वारा अपने परम सुहृद् एवं परम लक्ष्य परमात्मतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। सांसारिक वासनाओंसे मुक्त होकर ऊँचा उठ जाता है और वह मायिक प्रलोभनोंकी आसक्तिसे रहित हो शुद्ध-बुद्ध तथा निष्काम हो जाता है। तब वह ब्रह्मके महत्तम आनन्दका रसास्वादन करता है।

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि दृढ़संकल्प साधक विज्ञानके अनुष्ठानसे अमृतस्वरूप बन जाता है; द्वन्द्वातीत हो जाता है। उसे पापोंका भय नहीं रहता है; क्योंकि ज्ञानाग्निमें समस्त वासनाजन्य पाप भस्मीभूत हो जाते हैं; अनेक जन्मोंके संचित कर्मोंका भी नाश हो जाता है। 'तद् ब्रह्मेत्युपासीत ब्रह्मवान् भवति' के अनुसार 'जो साधक अपने हृदयस्थित उपास्यदेवको सर्वाधार ब्रह्म समझकर उन्हींकी प्राप्तिके लिये उपासना करता है, वह ब्रह्मवान् बन जाता है अर्थात् परमात्मा उसके अपने बन जाते हैं।' यदि वास्तविक रूपसे देखा जाय तो साधक किसी भी उपास्यदेवकी उपासना किसी भी रूपमें करे, वह उन्हींकी 'उपासना' है। परंतु मनुष्य अज्ञानवश इस रहस्यको न जाननेके कारण वास्तविकतासे दूर भटक जाता है और वह जीवनके परम लाभसे वञ्चित हो जाता है। अतः विज्ञानमें ही परमात्माकी प्रतिष्ठा है, शाश्वत शान्तिकी प्रतिष्ठा है। समत्वबुद्धिरूप योगके द्वारा भली प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष ही आत्मामें इसका अनुभव करता है। इसके समान संसारमें पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है। जो पुरुष संशयरहित होकर दृढ़ निश्चय एवं श्रद्धासे औपनिषदिक श्रुतियोंमें वर्णित विज्ञानोपासना करता है, वह अनिर्वचनीय आनन्दको प्राप्त करता है। इसलिये सम्पूर्ण यज्ञों एवं साधनोंसे विज्ञान-यज्ञ सबसे उत्तम कहा गया है; क्योंकि सभी कर्मोंका पर्यवसान इसीमें होता है अर्थात् विज्ञान उनकी पराकाष्ठा है।

अज्ञान और ज्ञानकी भूमिकाएँ

(लेखक—स्वामीजी श्रीसनातनदेवजी)

परमार्थतत्त्व अद्वितीय, एक और अखण्ड है। उसमें किसी प्रकारके देश, काल या वस्तुजनित भेद, विभाग या स्तरोंकी कल्पना नहीं की जा सकती। उससे भिन्न कोई सजातीय या विजातीय तत्त्व भी नहीं है और न उसमें कोई स्वगत भेद या विभाग ही है। इस निखिल प्रपञ्चके रूपमें जो कुछ भास रहा है, वह एकमात्र उस अखण्ड एकरस चिन्मात्र सत्ताका ही अविद्याजनित प्रतिभास है। यह भासता है, इसलिये इस भासभूमिकी भाषामें ही इतना कहना पड़ता है। उसकी अपनी दृष्टिमें तो न भास है और न भासकीय भाषा। जैसे रज्जुमें भासनेवाला सर्प भ्रान्तदृष्टिको ही भासता है, रज्जुकी दृष्टिमें तो न सर्पका भास है, न उसकी चर्चा ही।

यह भास अज्ञानका कार्य होनेके कारण अज्ञान ही कहा गया है। योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरणके ११७वें सर्गमें इसके सात विभाग किये गये हैं और उन्हींको अज्ञानकी सात भूमिकाएँ कहा है। उनके नाम हैं—बीजजाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् और सुषुप्त। इनके लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं—

प्रथमं चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः ॥
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ।
बीजरूपं स्थितं जाग्रद् बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥
एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जाग्रत्संस्मृतिं शृणु ।
नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम ॥
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ।
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः ॥
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुरन् ।
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम् ॥
यज्जाग्रतो मनोराज्यं जाग्रत्स्वप्नः स उच्यते ।
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः ॥
अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्त्वं स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ।
अल्पकालं मया दृष्टमेवं नो सत्यमित्यपि ॥
निद्राकालानुभूतेऽर्थे निद्रान्ते प्रत्ययो हि यः ।
स स्वप्नः कथितस्तस्य महाजाग्रत्स्थितेर्हृदि ॥
चिरसंदर्शनाभावादप्रफुल्लबृहद्वपुः ।
स्वप्नो जाग्रत्तया रूढो महाजाग्रत्पदं गतः ॥
अक्षते वा क्षते देहे स्वप्नजाग्रन्मतं हि तत् ।
षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः ॥
भविष्यद्दुःखबोधाढ्या सौषुप्ती सोच्यते गतिः ।
एते तस्यामवस्थायां तृणलोष्टशिलादयः ॥
पदार्थाः संस्थिताः सर्वे परमाणुप्रमाणिनः ।
सप्तावस्था इति प्रोक्ता मयाज्ञानस्य राघव ॥
(११-२४)

''सबसे पहले जो शुद्ध चितिकी अत्यन्त निर्मल और नाम-रूपादिसे रहित चिदाभासयुक्त चेतनता, चित्त और जीव आदि भावी नाम एवं शब्दार्थकी योग्यता धारण करके जगत्के जाग्रत् बीजरूपसे स्थित होती है, वह 'बीजजाग्रत्' कही जाती है। यह है चितिकी मूलभूता नवीन अवस्था। अब जाग्रत् सृष्टिके विषयमें सुनो। परमेश्वरसे नवीन सृष्टि उत्पन्न होनेपर जो अपने देहादिमें 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' ऐसी स्वस्थ प्रमिति उत्पन्न होती है, वह 'जाग्रत्' है; क्योंकि इससे पूर्व ऐसी भावना नहीं होती। फिर जन्म लेनेके पश्चात् 'मैं यह ब्राह्मण आदि हूँ और यह मेरा कर्तव्य है' ऐसा जो जन्मान्तरोदित दृढ़ प्रत्यय होता है, वह 'महाजाग्रत्' कहा जाता है। इसका अभ्यास किया हो अथवा न किया हो यह सर्वथा तद्रूप ही भासता है। जाग्रत् अवस्थामें जो मनोराज्य होता है, उसे 'जाग्रत्स्वप्न' कहते हैं। दो चन्द्रमा, सीपीमें चाँदीका भ्रम तथा मृगतृष्णा आदि भेदसे जो अनेक प्रकारकी भ्रान्तियाँ हैं, वे अभ्यासवश जाग्रद्भावको प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार जाग्रत्स्वप्नके अनेक भेद हैं। निद्राकालमें अनुभव किये हुए पदार्थोंमें निद्रा टूटनेके बाद जो ऐसी बुद्धि होती है कि इन्हें मैंने थोड़ी देर ही देखा है, अतः ये सत्य नहीं हैं, वह 'स्वप्न' कही जाती है। यह महाजाग्रत्-अवस्थाके भीतर ही रहती है। जब चिरकालतक न देखे जानेके कारण स्वप्न अविकसित और विस्तृत जान पड़ता है और जाग्रद्भावको प्राप्त हो महाजाग्रत्की स्थितिमें पहुँच जाता है, तब वह 'स्वप्नजाग्रत्' कहलाता है, भले ही उस समय शरीर रहे या न रहे। इन छहों अवस्थाओंको त्याग देनेपर जो जीवकी जडताकी स्थिति होती है और जो भविष्यमें होनेवाले प्रपञ्चरूप दुःखसे पूर्ण होती है, उसे 'सुषुप्त' अवस्था कहते हैं। ये तृण, ढेले,

पत्थर और परमाणुपर्यन्त सभी पदार्थ इसी अवस्थामें विद्यमान हैं। रामजी! ये मैंने तुमसे अज्ञानकी सात अवस्थाएँ कहीं।''

इस प्रकार जीवका चेत्यकी ओर उन्मुख होना बीज-जाग्रत् है। उसमें 'मैं', 'यह' इत्यादि वृत्तियोंका स्फुरण जाग्रत् है। देहाभिमानके कारण कर्तृत्व-भोक्तृत्वका दृढ़ हो जाना महाजाग्रत् है। मनोराज्य जाग्रत्स्वप्न है। निद्राकालमें प्रतीत होनेवाला प्रपञ्च स्वप्न है। उस स्वप्नका अस्फुट विस्तार स्वप्न-जाग्रत् है तथा जीवकी जरावस्था सुषुप्त है। ये हुईं अज्ञानकी सात भूमिकाएँ। अपने वास्तविक स्वरूपका आवरण हो जानेके कारण ही इनकी प्रतीति होती है।

इनका अधिष्ठानभूत जो परमतत्त्व है, उसका स्वरूप है आनन्द या रस—'रसो वै सः' और 'सत्' या 'चित्' रूपसे उसका निर्देश होता है। आनन्द अनिर्वचनीय तत्त्व है। किसी भी शब्द या भाषासे उसका परिचय नहीं दिया जा सकता। भावुक भक्त और आत्माराम मुनिजन उसका आस्वादन तो करते हैं, परंतु निर्वचन नहीं कर सकते। निर्वचनके लिये उन्हें 'सत्' या 'चित्'की प्रणालीका ही आश्रय लेना पड़ता है। पदार्थका परिचय करने या करानेके लिये हमारे पास इन्द्रिय और अन्तःकरण—दो ही साधन हैं। इन्द्रियोंके द्वारा हमें किसी भी पदार्थकी सत्ताका भान होता है और अन्तःकरणके द्वारा उसके ज्ञानका। यद्यपि इन्द्रिय और अन्तःकरणसे होनेवाले भान औपाधिक ही होते हैं, उनसे शुद्ध सत्ता या ज्ञानका परिचय नहीं होता, तथापि उन भानोंमेंसे भासमान विषयोंका निषेध करके हम शुद्ध सत्ता या ज्ञानका परिचय प्राप्त कर सकते हैं और दूसरोंको करा भी सकते हैं।

परिचय प्राप्त होनेपर जान पड़ता है कि वह परमतत्त्व वास्तवमें रसस्वरूप है। अतः उसकी रसस्वरूपताका बोध ही वास्तविक बोध है। एक स्थूल दृष्टान्तसे समझानेके लिये इसे इस प्रकार कह सकते हैं। जैसे घट एक पदार्थ है। उसकी सत्ताका भान नेत्रेन्द्रियसे होता है और घटज्ञान होता है अन्तःकरणसे। ये ज्ञान और भान औपाधिक हैं। इनकी उपाधि है घटका आकार, जो केवल प्रतीत ही होती है, वास्तवमें सत्ताशून्य है। उसका निषेध करनेपर घट मृत्तिका-मात्र ही सिद्ध होता है। अतः उसका वास्तविक स्वरूप है मृत्तिका। इसी प्रकार जिस परमतत्त्वका सन्मात्र और चिन्मात्ररूपसे निर्वचन होता है, उसका वास्तविक स्वरूप है 'रस'। किंतु इन सत्, चित् और रस या आनन्दका वास्तवमें कोई भेद नहीं है। भानदृष्टिसे जो सन्मात्र है, ज्ञानदृष्टिसे वही चिन्मात्र है और स्वदृष्टिसे वही आनन्दमात्र है। भेद केवल दृष्टियोंका है, वस्तुका नहीं। इसीसे उसे सच्चिदानन्द कहते हैं। ये सत्, चित् और आनन्द उसके गुण या धर्म नहीं, स्वरूप हैं। इन शब्दोंके द्वारा उसका उल्लेख होता है। वास्तवमें उसमें किसी भी शब्दकी गति नहीं है। शब्द और अर्थ व्यवहारमें हैं, परमार्थमें न शब्द है न अर्थ।

इस प्रकार निश्चय हुआ कि परमतत्त्व सच्चिदानन्द-स्वरूप है और वह मन-बुद्धि आदि किसी भी करणका विषय नहीं है। अतः उसे जाननेके लिये जिज्ञासुको मन एवं बुद्धि आदिसे ऊपर उठना होता है। मनुष्यका व्यक्तित्व तो अहंवृत्तिके अधीन ही है और अहंता अन्तःकरणकी ही एक वृत्ति है। जहाँ अहंता नहीं है, वहाँ व्यक्तित्वरूप सीमा भी नहीं है। वह तो स्वयं अखण्ड असीम परमतत्त्व ही है। अतः परमतत्त्व होकर ही परमतत्त्वको जाना जाता है। तब निश्चय होता है कि एक अखण्ड परमतत्त्वके सिवा और कुछ है ही नहीं। जिसे ऐसी अनुभूति होती है, उसीको लोक-व्यवहारमें 'ज्ञानी' कहते हैं। वह परमतत्त्वसे अभिन्न होता है, इसलिये श्रुतिने कहा है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् 'ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है।'

यद्यपि ज्ञानीकी दृष्टिमें ज्ञानी-अज्ञानीका भी भेद नहीं होता, वह तो केवल एक अखण्ड ज्ञानमात्रकी ही सत्ता देखता है; जिसमें किसी भी प्रकारका भेदभ्रम नहीं है तथापि सामान्य जीवोंकी दृष्टिमें तो वह भी एक व्यक्ति ही है और उसका भी अपना एक विशिष्ट स्थान है। अतः ज्ञानदृष्टिसे किसी भी प्रकारका भेद या तारतम्य न होनेपर भी ज्ञान-निष्ठाकी दृष्टिसे तो ज्ञानियोंमें भी एक-दूसरेकी अपेक्षा भेद और तारतम्य रहता ही है। ज्ञान तत्त्वदृष्टि है और तत्त्वमें किसी प्रकारका भेद नहीं है; अतः ज्ञानमें भी कोई भेद नहीं होता। किंतु ज्ञाननिष्ठा अन्तःकरणकी स्थिति है और विभिन्न व्यक्तियोंके अन्तःकरणोंमें—चाहे वे ज्ञानी हों या अज्ञानी—भेद या तारतम्य रहता ही है। अतः तत्त्वज्ञानियों-के ज्ञानमें भेद न रहनेपर भी उनकी निष्ठाओंमें तो भेद रहता ही है और निष्ठाओंके इस भेदका ही तर-तमभावसे भूमिकाओंके रूपमें वर्णन किया गया है।

ऊपर बताया गया है कि परमतत्त्व रसस्वरूप है और उसका आस्वादन आत्माराम मुनिजन एवं भावुक भक्त करते

हैं। यह रस यद्यपि एक और अद्वितीय है, तथापि इसका आस्वादन करनेवाले मुनि और भक्तोंकी दृष्टियोंमें अन्तर रहता है। मुनि इससे अपना अभेद देखते हैं। यह उनका अपना स्वरूप है और स्वयं आप ही अपना आस्वादन नहीं होता। अतः उनकी तो इसमें स्थिति होती है। और भक्तजन इसे अपना आराध्य मानते हैं। उनके हृदयमें इसके आस्वादनकी एक अतृप्त लालसा रहती है। अतः वे स्वरूपतः इससे अभिन्न होकर भी इसका आस्वादन करते हैं। यद्यपि स्वरूपदृष्टिसे वे भी इससे अभिन्न होते हैं, क्योंकि दोनों ही चिन्मय हैं; तथापि रसास्वादनके लिये उनमें प्रेमी और प्रेमास्पदका कल्पित भेद रहता ही है। उनका यह रसास्वादन ही प्रणय, स्नेह, मान, राग, अनुराग, भाव और महाभाव आदि अनेकों भूमिकाओंके रूपमें उल्लसित होता है। यह रसोल्लास प्रेमकी भूमिकाएँ ही हैं।

हमें यहाँ ज्ञानकी भूमिकाओंके विषयमें विचार करना है, जिन्हें 'ज्ञान'की न कहकर 'ज्ञानी'की कहना अधिक उपयुक्त है। इन भूमिकाओंका वर्णन मुख्यतया योगवासिष्ठमें आया है। वहाँ इनका तीन स्थानोंमें उल्लेख है—(१) उत्पत्तिप्रकरणके ११८ वें सर्गमें, (२) निर्वाणप्रकरणके १२० वें सर्गमें और (३) निर्वाणप्रकरणके १२६वें सर्गमें। इसके सिवा वराहोपनिषद्के चतुर्थ अध्यायमें भी भूमिकाओंका वर्णन है। परंतु वहाँ सर्वथा वे ही श्लोक हैं, जो योगवासिष्ठके उत्पत्तिप्रकरणमें आये हैं। इनके अतिरिक्त और किसी प्राचीन ग्रन्थमें भूमिकाओंका वर्णन हमारे देखनेमें नहीं आया। जहाँ भी भूमिकाओंका उल्लेख किया जाता है, वहाँ प्रायः उत्पत्तिप्रकरणके श्लोक ही उद्धृत किये जाते हैं। निर्वाणप्रकरणमें भी अर्थतः वही बात कही गयी है। अतः हम नीचे उन श्लोकोंको उद्धृत करते हुए विभिन्न भूमिकाओंका परिचय लिखते हैं—

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥ ८॥

'मैं अविद्याग्रस्त हुआ ही क्यों बैठा हूँ? शास्त्र और सत्पुरुषोंकी सहायतासे परमतत्त्वका साक्षात्कार करूँ। विषयोंकी ओरसे वैराग्यपूर्वक ऐसी इच्छाका जो उदय होना है, इसे ज्ञानी पुरुषोंने 'शुभेच्छा' कहा है।' यह पहली भूमिका है।

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥ ९॥

'शास्त्र और सत्पुरुषोंके सम्पर्क तथा वैराग्य के अभ्यासपूर्वक जो सदाचारमें प्रवृत्ति होती है वह 'विचारणा' नामकी दूसरी भूमिका है।'

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसा॥ १०॥

'विचारणा और शुभेच्छाके द्वारा जब इन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्ति होकर बुद्धि अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है [यहाँ तक कि उसकी विषयोंमें कोई आस्था नहीं रहती] तब उसे 'तनुमानसा' कहते हैं।' यह तीसरी भूमिका है।

ये तीनों भूमिकाएँ जिज्ञासुकी हैं। इनके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होकर परमतत्त्वको ग्रहण करनेके योग्य हो जाता है। ज्ञानकी साधनभूता होनेके कारण इन्हें गौणी वृत्तिसे 'ज्ञानकी भूमिका' कहा जाता है। ये क्रमशः ज्ञानके अन्तरङ्ग साधन श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी कहे गये हैं। इनके पश्चात्—

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥ ११॥

'इन तीनों भूमिकाओंके अभ्यासद्वारा चित्तकी पदार्थोंसे अत्यन्त विरक्ति हो जानेपर जो बुद्धिकी शुद्ध परमार्थतत्त्वमें स्थिति होती है, वह 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका कही गयी है।'

इस भूमिकामें पहुँचनेपर साधकको तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। ऊपर बताया गया है कि परमतत्त्व रसस्वरूप है। अतः अन्तःकरणकी स्थिति होनेपर वह स्वभावसे ही उत्तरोत्तर गहरी होती जाती है। यह गहराई उन महापुरुषोंके प्रारब्धानुसार न्यूनाधिक होती है। इससे उनके तत्त्वज्ञानमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती; किंतु जीवन्मुक्तिका जो विलक्षण आनन्द है, वह आगे-आगेकी भूमिकामें अधिक होता है। अतः ये जीवन्मुक्तिकी भूमिकाएँ हैं। इनका अभ्यास प्रयत्नसाध्य नहीं होता; क्योंकि उस ज्ञात-ज्ञेय, कृतकृत्य महापुरुषको कुछ पाना शेष नहीं रहता। तथापि अन्तःकरण तो परिणामी पदार्थ है। अतः जिन महापुरुषोंका निवृत्तिका प्रारब्ध होता है, उनके अन्तःकरणकी स्वतः ही अधिकाधिक अन्तर्मुखताकी ओर प्रवृत्ति होती है। वही आगेकी तीन भूमिकाओंके रूपमें परिणत होती जाती है। चतुर्थ भूमिकारूढ महापुरुषको 'ब्रह्मवित्' कहा गया है। इससे आगेकी तीन भूमिकाओं

वह क्रमशः 'ब्रह्मविद्वर', 'ब्रह्मविद्वरीयान्' और 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहा जाता है।

आगेकी भूमिकाओंका विवरण इस प्रकार है—

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥ १२ ॥

'इन चारों भूमिकाओंके अभ्यासद्वारा जब चित्तकी ऐसी स्थिति होती है कि उसका पदार्थोंसे कोई संसर्ग नहीं रहता और परमतत्त्वके साक्षात्कारका विलक्षण चमत्कार अनुभूत होता है, तब उसे 'असंसक्ति' नामकी पञ्चम भूमिका कहते हैं।'

भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥ १३ ॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभाविनी नाम्ना षष्ठी संजायते गतिः ॥ १४ ॥

'उक्त पाँचों भूमिकाओंका अभ्यास होनेपर आत्मामें ही अत्यन्त रमण होनेके कारण जब आन्तर और बाह्य पदार्थोंकी प्रतीति भी नहीं होती और बहुत देरतक दूसरोंके प्रयत्न करनेपर पदार्थोंका स्फुरण होता है, तब 'पदार्थाभाविनी' नामकी छठी भूमिका होती है।'

भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥ १५ ॥

'इन छहों भूमिकाओंका चिरकालतक अभ्यास होनेपर जब (दूसरोंके प्रयत्नसे भी) भेदकी उपलब्धि नहीं होती और एकमात्र स्वरूपमें ही स्थिति रहती है, तब 'तुर्यगा' नामकी सातवीं भूमिका जाननी चाहिये।'

एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेह विद्यते।
विदेहमुक्तिविषयस्तुर्यातीतमतः परम् ॥ १६ ॥

'इस लोकमें यह जीवन्मुक्तोंकी तुर्या अर्थात् चौथी अवस्था है। इससे आगे जो तुर्यातीत स्थिति है वह विदेह-मुक्तिमें होती है।'

यहाँ एक बात विचारणीय है। अनेक महानुभावोंका ऐसा विचार है कि सप्तम भूमिकाप्राप्त महापुरुष सर्वदा निर्विकल्प समाधिमें ही रहते हैं। उनका उत्थान कभी नहीं होता और इक्कीस दिनोंमें उनका शरीरपात हो जाता है। परंतु हमारे देखनेमें किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें ऐसी बात नहीं आयी। शास्त्रोंमें जिन सनकादि, दत्तात्रेय, ऋषभदेव, वामदेव, जडभरत और शुकदेव आदि आदर्श निवृत्तिनिष्ठ महापुरुषोंका उल्लेख हुआ है, उनका भी व्यवहार देखा ही जाता है। यदि इन सर्वमान्य महापुरुषोंको भी सप्तम भूमिका प्राप्त नहीं हुई तो किनके चरित्रमें यह चरितार्थ हुई है। यह तो सम्भव है कि किन्हीं महापुरुषको निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो और उसी स्थितिमें उनका देहपात भी हो जाय, जैसा कि योगवासिष्ठमें ही महर्षि उद्दालकके विषयमें कहा गया है। परंतु इतनेसे ही उनकी भूमिका उपर्युक्त महामानवोंसे ऊँची नहीं मानी जा सकती। देहपात तो किसी भी अवस्थामें हो सकता है और यह भी आवश्यक नहीं है कि निर्विकल्प समाधिमें इक्कीस दिनसे अधिक शरीर नहीं रहता। शास्त्रोंमें तो हजारों वर्षोंकी समाधियोंका उल्लेख है। आजकल अनेक व्यवहारी पुरुष भी केवल जलपान करते हुए दो-तीन महीनेतक जीवित रह जाते हैं। अतः यही समझना चाहिये कि इन लोगोंकी स्थिति अधिकतर देहातीत निर्विकल्प अवस्थामें ही रहती है और व्यवहारके समय भी इनकी ब्राह्मी स्थिति सर्वथा अक्षुण्ण रहती है। उसमें किसी भी निमित्तसे कोई अन्तर नहीं आता। इससे आगे इसी प्रसङ्गमें कहा है—

ये हि राम महाभागाः सप्तमीं भूमिकां गताः।
आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः ॥ १७ ॥
जीवन्मुक्ता न सज्जन्ति सुखदुःखरसस्थितौ।
प्रकृतेनार्थकार्याणि किंचित्कुर्वन्ति वा न वा ॥ १८ ॥
पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः सर्वाचारक्रमागतम्।
आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदक्षतम् ॥ १९ ॥
आत्मारामतया तांस्तु सुखयन्ति न काश्चन।
जगत्क्रियाः सुसंसुप्तान् रूपालोकाः स्त्रियो यथा ॥ २० ॥

'हे राम! जो महाभाग्यशाली महापुरुष सातवीं भूमिका-को प्राप्त हो जाते हैं, वे आत्मामें ही रमण करनेवाले और परमपदको प्राप्त होते हैं। वे जीवन्मुक्त सुख-दुःखरस-स्थितिमें आसक्त नहीं होते। प्रसङ्ग प्राप्त होनेपर वे कुछ कार्य करते भी हैं और कभी नहीं भी करते। अपने आस-पास रहनेवाले पुरुषोंद्वारा सावधान किये जानेपर वे सब प्रकारके सदाचारक्रमसे आये हुए आचरणको इस प्रकार अस्खलित-रूपसे करते हैं, जैसे सुषुप्तिसे जगा हुआ पुरुष। जिस प्रकार गहरी नींदमें सोये हुए पुरुषपर रूपसे आलोकित स्त्रियाँ

कोई प्रभाव नहीं डाल पातीं, वैसे ही निरन्तर आत्मामें रमण करनेके कारण उन्हें संसारके कोई कार्य सुख या दुःख नहीं पहुँचा सकते।'

ये हुई ज्ञानकी भूमिकाएँ। निर्वाणप्रकरणके १२०वें सर्गमें इनका संक्षेपसे इसी प्रकार वर्णन हुआ है। इसलिये उसे यहाँ उद्धृत करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। किंतु १२६ वें सर्गमें इनका प्रायः ७० श्लोकोंमें बड़ा विशद वर्णन है। यहाँ उन्हें उद्धृत करनेका स्थान नहीं है। तात्पर्य उनका भी यही है। बहुत दिन हुए हमने 'राजयोग-संहिता' नामकी एक पुस्तक देखी थी। उसमें ज्ञानकी भूमिकाओंका दूसरे ही प्रकारसे वर्णन है। उनके ज्ञानदा, संन्यासदा, योगदा, लीलोन्मुक्ति, सत्यदा, आनन्ददा और परात्परा—ये नाम लिखे हैं। उनका विवरण इस प्रकार दिया था—

१. ज्ञानदा—

यत्किंचिदासीज्ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः।
आद्याया भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः॥

२. संन्यासदा—

त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।

३. योगदा—

प्राप्ता शक्तिर्मया लब्धोऽनुभवो हि तृतीयकः॥

४. लीलोन्मुक्ति—

मायाविलसितं चैतद् दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलाषोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः॥

५. सत्यदा—

जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्तितः।

६. आनन्ददा—

ब्रह्मैवेदं जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते॥

७. परात्परा—

अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः॥
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्मसारूप्यमाप्यते।

'मुझे जो कुछ जानना था वह सब मैंने जान लिया—यह बुद्धि 'ज्ञानदा' नामकी पहली भूमिकाका अनुभव कहा गया है। मुझे जो कुछ त्यागना था वह त्याग दिया—यह 'संन्यासदा' नामकी दूसरी अनुभूति है। मैंने शक्ति प्राप्त कर ली है—यह 'योगदा' नामक तीसरी अनुभूति है। यह सब मायाका विलास ही दिखायी दे रहा है, मेरी इसमें कुछ भी अभिलाषा नहीं है—यह 'लीलोन्मुक्ति' नामका चौथा अनुभव है। जगत् ब्रह्म है—यह 'सत्यदा' नामका पाँचवाँ अनुभव कहा गया है। ब्रह्म ही यह संसार है—यह 'आनन्ददा' नामकी छठी अनुभूति कही जाती है। अद्वितीय, निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही मैं हूँ—यह 'परात्परा' नामका सातवाँ अनुभव माना गया है। इस भूमिकाको प्राप्त करते ही ब्रह्मसे सारूप्य प्राप्त हो जाता है।''

वास्तवमें ये भूमिकाएँ निर्गुण ब्रह्मकी अभेदोपासना करनेवाले साधकको उसकी साधना पूर्ण होनेपर प्राप्त होनेवाली हैं। ये उसकी कृतकृत्यताको सूचित करनेवाली एककालिक अनुभूतियाँ हैं। इनमें क्रम-विकास या तारतम्य नहीं है। योगदर्शनके 'तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा'[1] (२। २७) इस सूत्रमें भी इसी प्रकारकी सात प्रकारकी सर्वोत्कृष्ट भूमिकाकी प्रज्ञाओंका संकेत है। यथा—(१) जो कुछ जानना था वह जान लिया, अब कुछ भी जानना शेष नहीं है। (२) जिसका अभाव करना था उसका अभाव कर दिया। (३) जो प्राप्त करना था वह प्राप्त कर लिया। (४) जो कुछ करना था वह कर लिया, अब और कुछ करना शेष नहीं है। (५) चित्तने अपना अधिकार भोग और मोक्ष देना पूरा कर दिया। (६) चित्त अपने कारणरूप गुणोंमें लीन हो गया। (७) पुरुष सर्वथा गुणोंसे अतीत होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो गया।

इस प्रकार संक्षेपसे अज्ञान, ज्ञान, प्रेम और योगकी भूमिकाओंकी चर्चा की। इनमें अज्ञानकी भूमिकाएँ तो जीवको स्वभावसे ही प्राप्त हैं। उनके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये ही साधकको ज्ञान, प्रेम या योगका आश्रय लेना होता है। इनमेंसे किसी भी साधनद्वारा वह अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है। वे महानुभाव धन्य हैं जिन्हें इनमेंसे किसी भी साधनकी सर्वोच्च भूमिकाएँ प्राप्त हैं।

१- उस विवेकख्यातिप्राप्त पुरुषको सात प्रकारकी सर्वोच्च कोटिकी प्रज्ञा प्राप्त होती है।

ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

(लेखक—श्रीमदनगोपाल रामचन्द्रजी बूब)

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया च तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ५-६)

ज्ञानकी उपर्युक्त सात स्थितियाँ (भूमिकाएँ) हैं। इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है—

१–अनेक जन्मोंके बाद मनुष्यको पुण्यका परिपाक होनेसे नित्य और अनित्य वस्तुओंका ज्ञान होता है तथा मोक्षकी इच्छा उत्पन्न होती है; इस स्थितिको ही 'शुभेच्छा' कहा गया है। यह ज्ञानकी पहली स्थिति है।

२–उसके बाद साधक गुरुकी शरणमें जाकर श्रवण एवं मनन आदिकी वेदान्तकी बातोंका विचार करने लगता है। यह है—'विचारणा' नामक ज्ञानकी दूसरी स्थिति।

३–तत्पश्चात् वह निदिध्यासनसे मनको एकाग्र करके सूक्ष्म वस्तुओंको समझ लेनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। यह स्थिति 'तनुमानसा' है।

४–इसके बाद वेदान्त-महावाक्यके अनुरूप ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है। ज्ञानकी यह 'सत्त्वापत्ति' नामक चतुर्थ स्थिति है।

५–इसके पश्चात् सविकल्प समाधिके अभ्याससे निरुद्ध हुए मनको निर्विकल्प समाधि अवस्थाका प्राप्त होना पाँचवीं 'असंसक्ति' नामक स्थिति है।

६–इस प्रकार, निर्विकल्प समाधिके पूर्ण अभ्याससे प्राप्त होनेवाली जो 'पदार्थाभाविनी' अवस्था है, अर्थात् जिसमें ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थकी सत्ताका अभाव निश्चित हो जाता है, वह ज्ञानकी छठी स्थिति है।

७–छठी स्थितिकी पूर्णतासे साधक सदैव स्वयंप्रकाश, चिदानन्द एकरस ब्रह्मके स्वरूपमें निमग्न हो जाता है। उसकी स्थिति समुद्रमें डुबोये उस घटके समान हो जाती है, जो बाहर और भीतरसे जलसे व्याप्त रहता है, अर्थात् अन्तर्बाह्य दोनों रूपोंमें वह पूर्ण हो जाता है। यह ज्ञानकी 'तुर्यगा' नामक सातवीं स्थिति है।

इनमेंसे पहली तीन अवस्थाएँ (शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा) 'साधन' स्वरूप हैं, जिनकी तुलना जाग्रत्-अवस्थासे की जाती है; क्योंकि इनमें जागरण-कालकी तरह ही सारा द्वैत-जगत् वास्तविक रूपमें दिखायी देने लगता है।

चतुर्थ स्थिति (सत्त्वापत्ति) 'फलरूप' है, जिसकी तुलना स्वप्नावस्थासे की जाती है; क्योंकि इस स्थितिमें द्वैत-जगत्का बोध होता तो है, पर आभासमात्र ही। इस स्थितिमें ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। इसलिये इस स्थितिको प्राप्त योगी 'ब्रह्मविद्' कहलाते हैं।

पाँचवीं, छठी और सातवीं (असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा) स्थितियाँ जीवन्मुक्तिके अवान्तर भेद हैं। निर्विकल्प समाधि—अभ्यासजन्य विश्राम तारतम्यके अनुसार इन्हें उपर्युक्त नाम दिये गये हैं। इनमेंसे पाँचवीं स्थितिको 'सुषुप्ति' कहा जाता है; क्योंकि इसमें द्वैताभासका अभाव होता है। इस स्थितिको प्राप्त योगीका 'स्वतः उत्थान' होता है। उसे 'ब्रह्मविद्वर' कहा जाता है।

छठी स्थितिको 'प्रगाढ़ सुषुप्ति' कहा जाता है। इस स्थितिको प्राप्त योगीका उत्थान दूसरेके प्रयत्नसे होता है। उसे 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहा जाता है।

सातवीं स्थितिको 'तुर्यावस्था' कहा जाता है। इस स्थितिको प्राप्त योगीका उत्थान न तो अपने प्रयत्नसे और न दूसरोंके प्रयत्नसे होता है; क्योंकि वह जगत्-प्रतिभास-शून्यताके कारण सर्वदा ही तन्मय रहता है। इसके शरीरका रक्षण उसके प्रयत्नसे नहीं, बल्कि परमेश्वरके द्वारा निर्मित प्राणवायुसे ही होता है। जिस प्रकार पूर्वाभ्यासके कारण सिखाये हुए बैल हलवाहेके प्रयासके बिना ही आगे आनेवाले गाँवमें गाड़ी या रथ हाँक ले जाते हैं, उसी प्रकार 'असम्प्रज्ञात समाधि'के प्रतिपादक योगशास्त्रका यहीं पर्यवसान होता है। श्रीमद्भागवतके ११वें स्कन्धके १३वें अध्यायका ३६वाँ श्लोक इसी अवस्थाके अनुकूल है। इस अवस्थाके योगीको 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' की संज्ञा दी जाती है।

'तां प्राप्तस्य योगिनः स्वतः परतो वा व्युत्थानमेव

नास्ति, जगत्प्रतिभासशून्यतया सर्वदा तन्मयत्वेनैवावस्थानात्। तस्य च देहनिर्वाहो विनैव स्वप्रयत्नं परमेश्वरप्रेरितप्राणवायुनैव निष्पद्यते। यथा हि शिक्षितो बलीवर्दादिः सारथिप्रयत्नं विना स्वयमेव रथशकटादिकं पुरोवर्तिनं ग्रामं नयति तद्वत्। अत्रैवासम्प्रज्ञातसमाधिप्रतिपादिकानि योगशास्त्राणि पर्यवस्यन्ति। एनामेव चावस्थामधिकृत्य श्रीमद्भागवते (११।१३।३६) प्रतिपादितम्—

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥इति॥
तामेनामवस्थां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इति।

उपर्युक्त श्रीमद्भागवतके श्लोकपर श्रीएकनाथ महाराजजीने पैंसठ पंक्तिकी व्याख्या की है। उस स्थितिकी जानकारीके लिये उनमेंसे कुछ पंक्तियोंका अनुवाद जिज्ञासु पाठकोंके लिये अवलोकनार्थ प्रस्तुत किया जाता है—

'चैतन्यस्वरूप परमात्माका ज्ञान होनेपर सब कुछ भूल जाता है। फिर साधक उठता है या बैठता है, जागता है या सोता है, वह किस स्थानपर है और क्या कर रहा है, इसका उसे स्मरण नहीं रहता। इतना वह तन्मय हो जाता है।'

इस स्थितिपर शङ्का प्रकट करके भगवान् किस गम्भीरतासे उसका समाधान करते हैं, इसे भी देखिये—

'चैतन्यस्वरूप परमात्मामें विलीन हो गया, उसे अपने शरीरकी और संसारकी कोई सुध-बुध नहीं रहती। जैसे मदिरापान करनेवाला व्यक्ति विवेक खोकर काम करता है और सब कुछ भूल जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द-रस पीकर संतुष्ट साधककी दशा होती है।

इस प्रकार 'तुर्यगा' नामक सप्तम स्थितिमें ज्ञाताकी स्थिति होती है। उसके शरीरका भरण-पोषण अदृश्यशक्तिद्वारा अर्थात् प्रारब्धकर्मसे होता रहता है। (अज्ञानीका भी उसी शक्तिसे होता है, पर अज्ञानीको देहाभिमान होता है, जब कि ज्ञानीको नहीं होता। दोनोंमें इतना ही भेद है।) अस्तु, चतुर्थ स्थितिको स्वप्नावस्था, पञ्चम स्थितिको सुषुप्ति तथा छठी स्थितिको प्रगाढ़ सुषुप्ति और सप्तम स्थितिको तुर्यावस्था कहा जाता है। उनके उद्देश्य ऊपर दिये जा चुके हैं। इस प्रकार, जीवन्मुक्तिके ये सात भेद हैं। इसके आगे जो 'तुर्यातीत' अवस्था बतायी गयी है, उसे 'विदेहमुक्ति' कहा जाता है।

एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेह विद्यते।
विदेहमुक्तिविषयस्तुर्यातीतमतः परम् ॥
(योगवासिष्ठ)

कुछ लोग कहते हैं कि विदेहमुक्तिको पहुँचे हुए पुरुषमें ईश्वरके समान संसारकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय करनेकी 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' की सामर्थ्य होती है; और कोई उसके लिये 'जगद्व्यापारवर्जित' होनेका प्रतिपादन करते हैं। वे कैसे भी हों, इसपर हम-जैसे निम्नस्तरपर स्थित लोगोंको विचार करनेसे क्या लाभ होगा? परंतु 'स्वतः समुत्थान और परतः समुत्थानसे रहित' ऐसे पुरुषकी स्थितिको सुनकर यदि कोई देशभक्त साधक कहेगा कि 'ऐसी स्थिति किस कामकी? ऐसी समाधिकी हमें आवश्यकता नहीं है आदि' तो इसका केवल एक ही उत्तर है और वह यह कि 'ऐसे योगी पुरुष लाखोंमें ही नहीं, करोड़ोंमें भी एकाध मिलने कठिन हैं; क्योंकि यह अवस्था कोई सड़कपर पड़ी हुई चीज-जैसी नहीं है, जो सहज मिल जाय। इस तरहके एकाध पुरुषके बिना देशका कोई कार्य रुक नहीं जायगा। बल्कि ऐसे व्यक्तिके पावन अवस्थान और सारे देशके कार्यकर्ताओंको जो अदृश्य शक्तिका लाभ होगा, वह उनके इन लौकिक प्रयत्नोंसे कईगुना अधिक शक्तिसंचारक और फलप्रद सिद्ध होगा, इसका उन्हें विश्वास रखना चाहिये। उन्हें चाहिये कि व्यर्थ ही ऐसे महापुरुषका अपमान उस स्थितिका तिरस्कार करके अपनी जिह्वा अपवित्र करके पापके भागी न बनें; (खा-पीकर आनन्द मनानेवाले हजारों युवक और शक्तिसम्पन्न पुरुष आज पड़े हैं, जो देशका कोई कार्य नहीं करते। उनका विचार करके, उनको आकर्षित कर अपने क्षेत्रमें ले आनेका प्रयत्न अभीष्ट होते किया जाना चाहिये।) परंतु चतुर्थ (अथवा कहीं-कहीं पञ्चम) स्थितिको प्राप्त पुरुष समाजकल्याणके लिये अमुक और निःश्रेयस-प्राप्तिके लिये कार्य कर सकते हैं, या उससे ऊपरकी स्थितिमें पहुँचे हुए पुरुष भी 'ईश्वरीय नियमानुसार' नीचेके स्तरपर आकर ही लोकोद्धारके कार्य कर सकते हैं; पर ऐसे पुरुष बहुधा आधिकारिक कोटिके 'जीवन्मुक्त' होते हैं। सामान्य जीवन्मुक्त और आधिकारिक जीवन्मुक्त पुरुष अलग-अलग होते हैं। आधिकारिक कोटिके जीवन्मुक्त पुरुष ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार पृथ्वीतलपर बार-बार जन्म (अवतार) लेते हैं। ईश्वरके नियन्त्रणका क्षेत्र कहाँतक है और उसके बाहर कौन-से लोग गये हुए होते हैं, यह

एक अलग विषय है। उसका विचार यहाँ करना समीचीन न होगा।

चौथी स्थितिमें ब्रह्मका साक्षात्कार होकर कृतार्थता प्राप्त होती है, इसलिये साधकोंको यहाँतक पहुँचनेके लिये कठोर प्रयत्न करना चाहिये एवं इस चतुर्थ स्थितिको प्राप्त करनेके लिये श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनसे और 'तनुमानसा' नामक द्वितीय और तृतीय अवस्थाका एकाग्रताके साथ अभ्यास करना चाहिये। मनकी 'तनुता' अर्थात् कृशता यानी सत्पुरुषमुखोद्भूत सच्छास्त्र-चिन्तनके द्वारा अनात्मभावको क्षीण करना ही 'तनुमानसा' स्थिति कहलाती है। इसकी पूर्णतया प्राप्ति होनेपर आगेकी 'सत्त्वापत्ति' स्थिति अल्प प्रयत्नसे ही साध्य हो जाती है। इस स्थितिको प्राप्त साधकका चित्त जैसे दूधमें पानी घुल-मिल जाता है, वैसे ही त्रिपुटीरहित होकर मिल जाता है। यह स्थिति 'निर्विकल्प समाधि' है और इस स्थितिको प्राप्त योगी 'ब्रह्मवित्' कहलाते हैं। (इसका पहले संकेत किया जा चुका है।) इन चार स्थितियोंका अभ्यास करनेके कारण चित्तका बाह्य और आभ्यन्तर आकारोंसे संसर्ग न होना जैसे लक्षण उस समाधिकी पूर्णताके हैं। इससे चित्तमें ब्रह्मत्वभाव अत्यन्त दृढ़ हो जाता है अर्थात् 'निरतिशय आनन्द और नित्य ब्रह्म मैं ही हूँ' इसका दृढ़ विश्वास हो जाता है। इस पाँचवीं स्थितिको प्राप्त योगीको 'ब्रह्मविद्वर' कहा जाता है। इस स्थितिमें अविद्या और उसकी संसक्ति बिल्कुल नहीं रहती, इसलिये उसको 'असंसक्ति' कहा जाता है।

चतुर्थ स्थितिमें 'कोमल अपरोक्ष' और पाँचवीं स्थितिमें 'दृढ अपरोक्ष' होता है। इसलिये इन अवस्थाओंमें शीघ्र पहुँचनेके लिये ऊपर बताये गये मनके तनुकरण (तनुमानसा) की और 'तनुमानसा'तक पहुँचनेके लिये सम्यक् 'विचारणा' की आवश्यकता है। इन स्थितियोंको भलीभाँति पहुँचनेके लिये साधकोंको उपर्युक्त विचार सहायक होंगे। इसलिये पाठकोंको चाहिये कि वे इनका शान्तिपूर्वक मनन हरिस्मरणके साथ करें, जिससे परमात्माकी कृपासे उनके सारे 'बन्धन' दूर होकर उनके हृदयमें ज्ञानोदय होनेमें सहायता मिले।

शब्दब्रह्मसे परब्रह्म

(लेखक—श्रीगोविन्दजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

यह एक सुनिश्चित बात है कि व्यक्ति शक्तिका घटक है। उसे ऊर्जा ग्रहण करनी पड़ती है तो उसका विकिरण भी करना पड़ता है। सामान्य स्थितिमें वह संश्लिष्ट अवस्थामें रहता है, इसलिये वह देश-कालकी सीमामें बँधा हुआ रहता है। किंतु जब वह आत्मसाक्षात् करनेका प्रयत्न करता है तो उसे अपने-आपमें बहुत सारी विलक्षणताओंका ज्ञान होता है। यह स्थिति एक 'सिन्थीसिस स्टेट' होती है, जहाँपर दोनों ही सम्भावनाएँ रहती हैं अर्थात् या तो वह उन चमत्कारोंके चक्रमें ही उलझ जाय अथवा उस क्षितिजको भी पार करके अपने अभीष्टतक पहुँच जाय। यह स्थिति संस्कारोंपर तो निर्भर करती ही है किंतु प्रयत्न भी इसके लिये कोई सामान्य मार्ग नहीं है। 'योग' और 'मन्त्र' दोनों ही मार्ग इसके लिये प्रशस्त राजमार्ग हैं। प्रतीकोपासनाके माध्यमसे जब ब्रह्मका साक्षात्कार होता है तो उसका स्तवन इसी शब्दके द्वारा होता है। 'योग' वायु तत्त्वकी साधना है तो 'मन्त्र' आकाशतत्त्वकी। साधारणतया वायुमें दो (शब्द और स्पर्श) तन्मात्राएँ होती हैं, इसलिये वह जटिल और दुष्कर है। मन्त्रमें चूँकि आकाशतत्त्वकी उपासना होती है, इसलिये वह अपेक्षाकृत सुगम होता है; क्योंकि उसमें एक ही शब्द-तन्मात्राका भार होता है। प्राणवायुके झटकोंसे कुण्डलिनीका उद्बोधन होता है और उस उद्बोधनके बाद पिण्डमें जो ब्रह्माण्डके दर्शन होते हैं, वे ही दर्शन शब्दोपासकको भी होते हैं। इसी स्थानतक योग और मन्त्र भिन्न होते हैं। इससे आगे दोनोंका एक ही मार्ग हो जाता है। अन्तमें जिन सहस्र शिराओंके पुञ्जीभूत आकारको निर्गुणोपासक योगी देखता है, उन्हींको शेषशायी (सहस्रमुख) अथवा 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' के रूपमें अक्षर ब्रह्मका उपासक देखता है। उपलब्धिके रूपमें दोनों ही एक हैं, किंतु पथ भिन्न हैं।

शब्दमें स्फोट होता है और स्फोटका आदि और अन्त दोनों ही शक्तिसापेक्ष हैं, अर्थात् स्फोट शक्तिसे होता है और स्फोटसे शक्ति उत्पन्न होती है। जिन सामान्य स्फोटोंको हम व्यवहारमें लाते हैं, उनकी शक्ति और परिणाम हमारे सामने हैं। जिन काम-क्रोध आदिकी चर्चा और अनुभव

ह्रस करते हैं, उनका उद्भव और नियन्त्रण भी बहुत कुछ सीमातक इन स्फोटोंपर निर्भर है। भावनाएँ अव्यक्त हैं किंतु जहाँ वे झंकृत हुईं, जब वे मुखरित हुईं, स्फोटका जन्म हो गया। भावनात्मक रूपमें वे एक अलक्षित ऊर्जाका स्वरूप थीं। चेष्टाओंके माध्यमसे वे कुछ व्यक्त हुईं और शब्दोंका रूप ग्रहण करके तो वे मूर्त ही हो चुकीं। प्रश्न यह उठता है कि यह स्फोट उत्पन्न कहाँसे होता है? (यह प्रश्न व्यक्तिके शरीर-तन्त्रसे ही सम्बद्ध है) अन्यथा घनगर्जन, झरनेका कल-कल-जैसे प्राकृतिक तथा घण्टा बजाने और बर्तन गिरने-जैसे कृत्रिम शब्दोंके स्फोटका उद्गम तो हम जानते हैं। शरीरतन्त्रमें उपांशु और मानसिक जपोंकी भी एक प्रक्रिया है, जिसमें स्फोटकी कल्पना अथवा आभास मात्र ही नहीं होता, वरं यथार्थतः स्फोट होता है और यह स्फोट दूसरे द्वारा श्रव्य ध्वनिके रूपमें नहीं होता। इन स्फोटोंकी निर्दोषतापर ही हमारी साधना निर्भर रहती है। भाषाविज्ञान भौतिक विज्ञान है; अतः उसकी सीमा अतीन्द्रिय आध्यात्मिक ज्ञानतक नहीं जाती। व्याकरण और भाषाविज्ञान शब्दोंके ज्ञेय स्थान और प्रयत्नोंतक ही खोज करता है, इससे आगे नहीं; फिर भी भाष्यकारने जिन परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वृत्तियोंकी स्थापना की है, वे उस शब्दके मूल उद्गमको नापनेकी ओर विशिष्ट प्रयत्नके प्रतीक हैं। एक पक्की राग-का गायक जब गाता है तो ध्वनि उसके कण्ठसे भी गहरे किसी स्थानसे उत्पन्न होती है। यहींतक महाभाष्यकारकी पहुँच है। योगशास्त्र इस नादब्रह्मकी उपासनामें इससे दो कदम आगे है। वह शब्दकी उत्पत्तिके लिये षट्चक्रका निर्देश करके ध्वनिविशेष किंवा नादविशेषकी उपयुक्ततम स्थितिका ज्ञान कराता है। यह ज्ञान होनेके बाद शब्द स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

शब्दकी सबसे बड़ी विशेषता यह रहती है कि वह किसी भी माध्यमके द्वारा चल सकता है। किसी ठोस चीजके भी एक सिरेपर यदि ध्वनि की जाती है तो वह दूसरे सिरेपर सुनायी दे जाती है। यह उच्चतम संवहनशीलता इसकी न्यूनतम तन्मात्राके कारण है अथवा आकाश-(अवकाश) तत्त्वके कारण इसमें यह गुण आ सका है। भाषाके रूपमें यह देश और व्यक्तिकी सीमाओंमें बँध सकता है, किंतु ध्वनिके रूपमें यह विश्वरूप है। करुणाजनक संगीत चाहे किसी भी देशका हो, किसी भी वाद्यका हो, सभीको प्रभावित करेगा। इसी तरह युद्धमें प्रयाण करते समयका वाद्य भी एक शौर्यका वातावरण बनानेमें सहायता करेगा। सिंहके गर्जनसे अथवा बिजलीकी चमकसे पहले होनेवाले भीषण गर्जनसे या ऐसी ही विध्वंस-कारी अन्य ध्वनिसे प्रत्येक हृदय भयजडित हो जाता है। इसके विपरीत श्रुतिमधुर पर्वतीय झरनेंके कल-कलसे अथवा किसी वादकके वाद्यसे फूट पड़ते संगीतसे प्रत्येक हृदयमें आनन्दानुभव होता है—यह इसी शब्दकी महिमा है। ये सारे परिणाम उस शब्दके भौतिक परिणाम हैं। हर्ष-शोक, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके जनकके रूपमें यह उस नाद-ब्रह्मका मायावेष्टित प्रभुत्व है; परमार्थतः तो वह इनसे अप्रभावित और निर्मुक्त स्थिति है।

नाटकका पढ़ना और नाटक देखना जिस प्रकार दो भिन्न स्थितियाँ हैं; भिन्न इसलिये कि नाटकके पढ़नेसे सुखानुभूति होती है और देखनेसे आनन्दानुभूति सामान्य-रूपसे होती है; विशेषतया तो इनमें विपर्यय भी हो जाता है; क्योंकि यहाँ भी व्यक्तिकी संवेदनशीलताकी तीव्रता या क्षीणता प्रमुख रूपसे कारण होती है; ठीक इसी प्रकार शब्दके साथ बहनेवाली भावनाकी ऊर्जा भी सन्निहित कारण है। यद्यपि शब्दब्रह्मका जब परब्रह्ममें विलीनीकरण होता है तो उस इकाईकी सीमाएँ विराट्में अन्तर्हित होकर अस्तित्वहीन हो जाती हैं; फिर भी उस सीमातक पहुँचनेके लिये यह प्रक्रिया आवश्यक है। परब्रह्मसे एकरूप होनेके लिये ब्रह्मकी पृथक् सत्ता अपरिहार्य है; सिन्धुरूप होनेके लिये बिन्दुकी पृथकता अनिवार्य है। शब्दको 'अक्षर' कहते हैं, जिसका अर्थ होता है—अविनाशी। ठीक यही संगति ध्वनिके साथ है। जो ध्वनि एक बार हो जाती है वह कभी भी नष्ट नहीं होती। इसलिये अक्षरमें अक्षरत्व है और यह अविनाशित्व उसी ब्रह्मका गुण है।

शब्द किंवा मन्त्रकी उपासनामें प्रथमतः द्वैत रहता है भावना और शब्दका। भावनात्मक शक्तिकी तरङ्गें और शब्द-की लहरें मिलकर मन्त्र पूर्ण होता है। इन दोनोंमें जितना स्पष्ट सामञ्जस्य रहेगा, उतना ही स्पष्ट हमारा साध्य होगा। भावना और शब्दोंका समवायसम्बन्ध है। इन्हें एक दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता; फिर भी भावनाको शब्दोंकी आकाङ्क्षा रहती है। व्यक्तिगत रूपसे मैं इच्छाशक्तिको दूसरा स्थान ही देता हूँ; क्योंकि यदि ध्वनिका क्रम निर्दोष है, नादके लिये समय और स्थान उपयुक्त है तो इच्छा-

शक्ति या भावनाको देर-अबेर आना ही पड़ेगा। एक प्रश्न फिर भी शेष रह जाता है कि ध्वनि अथवा भाषा देश-काल-जनित उपलब्धियाँ हैं। उनका मोड़ प्राकृतिक अथवा व्यक्तिकी वातावरणजनित विशेषताओंसे युक्त नहीं हो सकता, जब कि भावनाके रूपमें यह सार्वभौम है, व्यापक है, एकरूप है। अतः मन्त्रमें भावनाको शीर्षस्थान मिलना चाहिये। ध्वनिके रूपमें किसी भी विकल्पकी आवश्यकता नहीं है और भावनाके व्यक्तीकरणके लिये भाषाकी अपरिहार्य आवश्यकता है; किंतु ये ध्वनिकी परिसीमाएँ भौतिक उपलब्धियोंतक ही सीमित हैं। अभिचार और वशीकरण-जैसी साधनाओंके लिये भाषा-भेद हो सकता है। निर्विकल्प समाधिके लिये न तो देशीयताकी और न वैयक्तिकताकी ही अपेक्षा है।

करनेको हम भौतिक जगत्के चमत्कारोंके लिये उस पुरातन विधिकी युगीन शब्दोंमें व्याख्या कर लें; किंतु उस शब्दातीत स्थितिके लिये तो उसी पुरातन भारतीय प्रक्रियाको अपनाना पड़ेगा। जागतिक चमत्कारोंको प्राप्त करनेके लिये किसी भी भाषाके मन्त्रोंको काममें लिया जाय, किंतु वे भी मन्त्रत्व प्राप्त करनेके लिये प्राणप्रतिष्ठा चाहते हैं और वह प्राणप्रतिष्ठा उस नादब्रह्मकी यथाविधि उपासनासे ही हो सकती है। मूल तत्त्व एक होता है। उसके मिश्रण कई हो सकते हैं। इसी नियमके अनुसार शब्दोंके विविध रूप भले ही हो जायँ, किंतु उनकी ऊर्जाका मूल केन्द्र स्फोटका उद्गम परिवर्तित नहीं होता; इसीलिये मन्त्र एक देशविशेषका अर्जन नहीं होकर अलग-अलग वर्गों और सम्प्रदायोंकी साधनाविधिके रूपमें प्रचलित हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंका जो स्थान है वही स्थान साबर-तन्त्रमें लूणा चमारी, महमदापीर और गोरखनाथका है। इसमें भावनाका चमत्कार दूसरे ही नम्बरपर है, अन्यथा मन्त्रोंके लक्षावधि जप करनेकी आवश्यकता उसी नाद-ब्रह्मकी उपासनासे सम्बन्धित नहीं होती। इसका दूसरा उदाहरण यह भी देखनेमें आता है कि कई बार मन्त्रका अर्थबोध हुए बिना भी जप करनेसे उसकी सिद्धि हो जाती है; अतः भावना या इच्छाशक्तिको मुख्य नहीं माना जा सकता।

मन्त्रके अहर्निश जपसे एक वैद्युतिक वातावरणका निर्माण होता है। उससे हमारे शरीर और मस्तिष्कसे विकीर्ण होनेवाली तरङ्गें यथेच्छ दिशामें गमन करती हैं और उनसे हमारा अभीप्सित सिद्ध हो जाता है; किंतु यह होता है स्थूल जगत्में ही। वास्तवमें मन्त्रमें भावनाशक्तिकी तरङ्गें बिजलीकी धाराकी तरह प्रतिरोधसहित गतिसे (रेजिस्टैंस) गमन करती तथा शब्द अनुदैर्घ्य तरङ्गों (︶︶︶︶) में गमन करता है। प्रयत्न करनेपर दोनोंकी अदृश्य तरङ्गें एक-सी गतिसे गमन करने लग जाती हैं और ऐसी स्थितिमें ही शक्तिशाली वातावरणका निर्माण होता है। इस वातावरणके निर्माण हो जानेके बाद कोई भी भौतिक चमत्कार अलभ्य नहीं रह पाता; किंतु इस स्थितितक ये सारी उपलब्धियाँ सिन्थीसीस स्टेट ही रह पाती हैं। यहाँपर आनेके बाद साधक उन चमत्कारों अथवा अपनी सूक्ष्म शक्तिके पीछे स्थूल जगत्पर पाये गये नियन्त्रणको देखकर उनमें ही चमत्कृत हो जाता है तो उसे अन्य कुछ भी प्राप्त नहीं हो पाता तथा वह उस अलौकिक जगत्के अनुद्घाटित द्वारपर ही मार्गभ्रष्ट होकर इधर-उधर डुलने लग जाता है। अन्यथा इन प्रेयबन्धनोंकी सीमाको लाँघकर कैवल्य पदको भी प्राप्त कर सकता है। ये सारी सिद्धियाँ त्रिगुणात्मक जगत्की ही रहती हैं। निस्त्रैगुण्य होनेके लिये उसे और गहरा उतरना पड़ता है। जबतक साधककी दृष्टिमें गुणात्मक सत्ताका ज्ञान है, तबतक वह भौतिक जगत्के बन्धनोंमें ही है और जब इस गुणात्मकताका लय हो जाता है तब वह अपने ही आपको इस विशालमें व्याप्त देखता है। यह दृष्टि पानेके बाद व्यक्तिका क्षुद्र विराट बन जाता है और इस द्वैतका विनाश हो जाता है।

मन्त्रोंको आशय-भेदसे दो प्रकारका माना जा सकता है। प्रथम वे जो हमारी सत्ताको जगाते हैं, ऐसे मन्त्र 'अहं ब्रह्मास्मि' के महावाक्यका तत्त्वार्थबोध कराते हैं। दूसरे वे हैं जो किसी माध्यमके अर्चनद्वारा हमें उस परम शक्तिसम्पन्नके सम्मुख उपस्थित कर देते हैं। कोई-सा भी प्रकार हो, परमपदके लिये वे दर्पण बनकर आते हैं। चाहे हम उसमें अपने-आपको देखें या किसी औरको, अन्ततः विराट् हमको ही होना पड़ता है। इस युगमें मन्त्रकी अपेक्षा स्तोत्रको अधिक प्रभावशाली समझा गया है। कारण स्पष्ट है कि जिस मन्त्रके साधनके लिये जिस प्रकारकी उपासना अपेक्षित है, वह आज दुरूह हो गयी है। अस्तु, कोई भी पद्धति हो, कोई भी युग हो, शब्द और शब्दकी स्फोटजनित शक्तिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

मन्त्र ही प्रतीकोपासना है

(लेखक—योगाभ्यासी श्रीमदनमोहनजी वानप्रस्थी)

मन्त्रकी उत्पत्ति

श्वेतवाराहकल्पके आदिमें क्षीरसागरमें शयन किये हुए श्रीनारायण भगवान्‌को देखकर श्रीब्रह्माजीने पूछा कि 'आप कौन हैं?' श्रीभगवान् बोले 'हे पुत्र! तुम्हारा कल्याण हो, क्या तुम मुझको नहीं जानते हो? मैं ही संसारका कर्ता-भर्ता-हर्ता हूँ,' ऐसा सुनकर ब्रह्माजीने कहा—'यह मिथ्या वचन है,' मुझको छोड़कर दूसरा कोई संसारको उत्पन्न करनेवाला नहीं है।' इस तरह जब दोनोंका आपसमें विवाद होने लगा, तब तत्क्षण एक ज्योतिर्लिङ्ग प्रकट हुआ, जिससे स्फोट होकर विन्दु और वर्णोंके संकेत उत्पन्न हुए। यह संकेत वेदरूपमें प्रकट हुआ तथा वही ऋषियोंके हृदयमें नादरूपमें उत्पन्न हुआ। फिर उससे ध्वनि तथा वर्ण प्रकट हुए। इन्हीं वर्णोंको मन्त्रकी संज्ञा दी गयी। अतः मन्त्र स्वतःसिद्ध होकर साधकोंके हृदयमें एक उपासनाके रूपमें प्रकट हो गये।

दूसरा पक्ष यह है कि एक समय भगवान् शंकर प्रसन्न होकर नृत्य कर रहे थे और डमरू बजाते हुए ताण्डव-नृत्यमें समाधिस्थ-से हो गये। उस समय उनके डमरूकी ध्वनिसे अइउण् ॠलृक् एओङ् इत्यादि चौदह सूत्रोंका प्राकट्य हुआ। इन्हीं सूत्रोंके आधारपर श्री-पाणिनि मुनिने व्याकरणशास्त्रका विस्तार किया। इन्हीं सूत्रोंसे मन्त्रोंका उद्गार हुआ। अतः सिद्ध है कि मन्त्रोंके आदि भगवान् श्रीशंकर हैं।

मन्त्रके जातिभेद

नारदपञ्चरात्रके द्वितीय रात्रमें उसके सप्तम अध्यायमें बतलाया गया है कि मन्त्र तीन प्रकारके होते हैं—१–सौराः पुंदेवताः, २–सौम्याः स्त्रीदेवताः और ३–नपुंसक। जिस मन्त्रके अन्तमें 'हुं फट्' हो, वह पुरुषमन्त्र है। जिस मन्त्रके अन्तमें 'वषट् स्वाहा' हो, वह मन्त्र स्त्रीरूप है। जिस मन्त्रके अन्तमें 'हुं नमः' हो, वह नपुंसक-मन्त्र है। जाग्रत्, सुषुप्त, मित्र, शत्रु, सौम्य, क्रूर, अतिक्रूर, छिन्न, रुद्ध, शक्तिहीन, पराङ्मुख, बधिर, नेत्रहीन, कीलित, शक्तिहीन, दग्ध, त्रस्त, मलिन, मदोन्मत्त, मूर्छित, प्रध्वस्त, बालक, कुमार, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, केकर तथा कूट—ये मन्त्रोंके भेद हैं। साधकोंको चाहिये कि दुष्ट मन्त्रोंका त्याग करें; क्योंकि वे सिद्धदायक नहीं होते हैं। मन्त्र-ग्रहण करने अथवा दीक्षा लेनेके समय काल और देशका निर्णय करना अत्यावश्यक है। इनका ज्ञान हो जानेपर साधकको मन्त्रकी सिद्धि शीघ्र प्राप्त होती है। इसके लिये मन्त्रवेत्ताओंने समयको इस प्रकार ग्रहण किया है।

मासनिर्णय

चैत्रमासमें दीक्षा ग्रहण करनेसे पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। वैशाखमें रत्नलाभ, ज्येष्ठमासमें मरण, आषाढ़-मासमें बन्धुनाश, श्रावणमासमें दीर्घायु, भाद्रपदमासमें संताननाश, आश्विनमासमें रत्नसंचय, कार्तिकमास और अगहनमासमें मन्त्रसिद्धि, पौषमासमें शत्रु-पीडा, माघ-मासमें मेधावृद्धि तथा फाल्गुनमासमें मन्त्र ग्रहण करनेसे सकल मनोरथ सिद्ध होते हैं।

वारनिर्णय

रविवारमें मन्त्र ग्रहण करनेसे वित्त-लाभ होता है। सोमवारमें शान्ति, मङ्गलवारमें आयुक्षय, बुधवारमें सौन्दर्य-लाभ, बृहस्पतिवारमें ज्ञानवृद्धि, शुक्रवारमें सौभाग्य-लाभ तथा शनिवारमें यशकी हानि होती है।

तिथिनिर्णय

प्रतिपत्-तिथिमें मन्त्र ग्रहण करनेसे ज्ञान-नाश, द्वितीयामें ज्ञानवृद्धि, तृतीयामें शुद्धता-प्राप्ति, चतुर्थीमें वित्तनाश, पञ्चमीमें बुद्धिकी वृद्धि, षष्ठीमें ज्ञानका क्षय, सप्तमीमें सुखलाभ, अष्टमीमें बुद्धिनाश, नवमीमें शरीरक्षय, दशमीमें राज-सौभाग्यकी प्राप्ति, एकादशीमें पवित्रता, द्वादशीमें सर्वकार्य-सिद्धि, त्रयोदशीमें दरिद्रता, चतुर्दशीमें तिर्यग्योनिकी प्राप्ति तथा मासके अन्त (अमावास्या) में दीक्षा ग्रहण करनेसे कार्यकी हानि होती है। पक्षके अन्त (पूर्णिमा) में दीक्षा लेनेसे धर्मकी वृद्धि हुआ करती है।

नक्षत्रनिर्णय

अश्विनी नक्षत्रमें सुखलाभ, भरणीमें मरण, कृत्तिकामें दुःख, रोहिणीमें विद्याप्राप्ति, मृगशिरामें सुख, आर्द्रामें

बन्धुनाश, पुनर्वसुमें धन-प्राप्ति, पुष्यमें शत्रुका नाश, आश्लेषामें मृत्यु, मघामें दुःखनाश, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी एवं हस्तमें सौन्दर्य, ज्ञान तथा धनकी प्राप्ति होती है।

योगनिर्णय

प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, धृति, वृद्धि, ध्रुव, सुकर्मा, साध्य, शुभ, हर्षण, वरीयान्, शिव, सिद्धि, ब्रह्म और इन्द्र—इन योगोंमें दीक्षा सफल होती है।

करणनिर्णय

बव, बालव, कौलव, तैतिल, वनिज—इन करणोंमें दीक्षा मङ्गलकारिणी होती है।

लग्ननिर्णय

वृष, सिंह, कन्या, धन और मीन—इन पाँचों लग्नोंमें और चन्द्र-ताराकी अनुकूलता देखकर दीक्षा-दान सफल होता है। मेष, वृश्चिक, सिंह और कुम्भ—स्थिर लग्न हैं। ये विष्णुमन्त्र-ग्रहणमें शुभजनक हैं। मिथुन, कन्या, धन तथा मीन शक्ति-दीक्षामें मङ्गलकारी हैं।

मेष, कर्क, तुला और मकर—ये लग्न शिवमन्त्र-ग्रहणमें मङ्गलकारी हैं।

लग्नके तीसरे, छठे और एकादश स्थानमें पापग्रह हों तथा लग्नसे चौथे, सप्तम, दशम, नवम और पञ्चम स्थानोंमें शुभग्रह हों, तो दीक्षा कल्याणकारिणी होती है।

पक्षनिर्णय

शुक्लपक्षमें दीक्षा शुभ और कृष्णपक्षकी पञ्चमी तक दीक्षा शुभ होती है। सूर्यग्रहणके समान उत्तम काल दीक्षा-ग्रहणके लिये और कोई भी नहीं हो सकता।

दीक्षास्थान

गोशालामें, गुरुके घरमें, देवमन्दिरमें, वनमें, बगीचेमें, नदीके तीर, धात्री और बिल्ववृक्षके समीपमें, पर्वतके ऊपर और गुफामें तथा गङ्गातटपर ग्रहण की हुई दीक्षा कोटि-कोटिगुणित फल प्रदान करनेवाली होती है।

मन्त्रनिर्णयविधि

ऋतम्भरा बुद्धिसे अथवा अनेक प्रकारके चक्रोंकी सहायतासे मन्त्रोंका निर्णय कराकर गुरुदेवसे शिष्यको मन्त्रका उपदेश ग्रहण करना चाहिये। मन्त्र एकाक्षर, ससेतुक तथा शाखा-पल्लवसंयुक्त आदि अनेक प्रकारके होते हैं। उन सबमेंसे विचारपूर्वक निर्णय कर लिया जाय। मन्त्र ग्रहण करनेमें कुलाकुलचक्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र, ऋणधनीचक्र आदि अनेक प्रकारके चक्र सहायक होते हैं—

कुलाकुल-चक्र

मन्त्रशास्त्रज्ञोंके लिये कुलाकुल-चक्रका वर्णन करते हैं—

वायु	अग्नि	पृथ्वी	जल	आकाश
अ आ	इ ई	उ ऊ	ऋ ॠ	ऌ ॡ
ए	ऐ	ओ	औ	अं
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	ड	ढ	ण
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ल	व	श
ष	क्ष	ळ	स	ह

साधकके नामका पहला अक्षर और मन्त्रका पहला अक्षर एक कोष्ठमें आवे तो स्वकुल जानना चाहिये। पृथिवीका जल मित्र है, अग्निका वायु मित्र है। पृथ्वीके वायु तथा अग्नि रिपु हैं। जलका अग्नि रिपु है। आकाश सबका मित्र है। रिपु होनेपर मन्त्र ग्रहण नहीं करना चाहिये। स्वकुल और मित्र होनेपर मन्त्र ग्रहण करना चाहिये। इस शास्त्रमें गुह्यातिगुह्य विषय है तथा तत्त्वज्ञान और भी गुह्यातिगुह्य है। अनुकूल मन्त्रोंका तत्त्वज्ञानसे निर्णय होता है। इसलिये कुलाकुल-चक्र सिद्धिदायी कहा गया है।

तन्त्रान्तरका कुलाकुलचक्र-विज्ञान

सृष्टि पञ्चभूतात्मक है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—इन पाँच तत्त्वोंसे सृष्टि निर्मित है। इस कारण मनुष्यके लिये पञ्चदेवोपासनाका विधान है; इसीलिये पञ्चतत्त्वरहस्य-प्रकाशक कुलाकुलचक्र परम हितकर है। उससे मन्त्रका कुलनिर्णय और देवताका कुलनिर्णय दोनों कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। यह चक्र सर्व-साधकोपयोगी है।

राशि-चक्र

	वृष — उ ऊ ऋ	मेष — अ आ इ ई	मीन — य र ल व
मिथुन — ॠ ऌ ॡ			कुम्भ — प फ ब भ म
कर्क — ए ऐ			मकर — त थ द ध न
सिंह — ओ औ			धनुष — ट ठ ड ढ ण
	कन्या — अं अः श ष स ह	तुला — क ख ग	वृश्चिक — घ ङ च छ ज झ ञ

अपनी राशिके अनुकूल मन्त्र ग्रहण करनेसे मङ्गलकी प्राप्ति हुआ करती है। इसलिये विज्ञजनोंको उचित है कि नामका आदि वर्ण और मन्त्रका आदि वर्ण लेकर अपनी राशिसे मन्त्रराशितक गणनाद्वारा राशिकी शुद्धताका विचार अवश्य करें। इस प्रकारकी गणनाद्वारा छठे, आठवें, बारहवें राशिस्थित मन्त्र त्याग करने योग्य हैं। जन्मराशिस्थित मन्त्रसे मन्त्र-सिद्धि, धनस्थानसे धन-वृद्धि, भ्रातृस्थानसे भ्रातृवृद्धि, बन्धुस्थानसे बन्धुप्रियता, पुत्रस्थानसे पुत्रलाभ होते हैं। शत्रुस्थानसे शत्रुकी वृद्धि, कलत्रस्थानसे मध्यम फल, मृत्युस्थानसे मृत्यु, नवम स्थानसे धर्मवृद्धि, कर्मस्थानसे कार्यसिद्धि, आयस्थानसे धन-आय-वृद्धि; व्ययस्थानसे संचित धनका नाश होता है।

अ क थ ह चक्र

इस चक्रद्वारा सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि मन्त्र[का] ज्ञान होता है—

सिद्ध	साध्य	सुसिद्ध	शत्रु
१ अ क थ ह	२ उ ङ प	३ आ ख द	४ ऊ च फ
५ ओ ड ब	६ ऌ झ म	७ औ ढ श	८ ॡ ञ य
९ ई घ न	१० ऋ ज भ	११ इ ग ध	१२ ॠ छ ब
१३ अः त स	१४ ऐ ठ ल	१५ अं ण ष	१६ ए ट र

सिद्धमन्त्र बान्धव, साध्यमन्त्र सेवक, सुसिद्धमन्त्र पोषक और शत्रुमन्त्र घातक होता है।

आसन

शिवगीतामें इस प्रकार वर्णन है—

कम्बलासनपर बैठकर मन्त्र जपनेसे सर्वकामना सि[द्ध] होती है। कृष्णाजिन अर्थात् काले हिरनकी खालपर बैठ[कर] जप करनेसे मुक्ति होती है। व्याघ्रचर्मपर बैठकर जप कर[नेसे] मोक्ष होता है। कुशासनपर बैठकर जप करनेसे ज्ञान प्राप्त हो[ता] है। पत्रसे बनाये हुए आसनपर बैठकर जप करनेसे दीर्[घायु] होती है। पत्थरपर बैठकर जप करनेसे दुःख होता है। काष्ठ[पर] बैठकर जप करनेसे रोग होता है। वस्त्रासनपर बैठकर जप करनेसे लक्ष्मीप्राप्ति होती है। भूमिपर बैठकर जप करनेसे मन्त्र सिद्ध न[हीं] होता, तृणासनसे यशकी हानि और वंशासनसे दरि[द्रता] होती है।

मन्त्रजपके स्थानका निर्णय

पर्वतशिखरपर, नदीके किनारे, ह्रदके समीप, [शिव]मन्दिरमें या विष्णुमन्दिरमें, अपने घरमें अथवा ...

मन लगे वहाँ बैठकर जप करे। घरपर जप करनेसे एक गुना, नदीकिनारेपर दुगुना, गङ्गाकिनारे सौ गुना, अग्निशालामें इससे भी अधिक और सिद्धक्षेत्रमें तथा विष्णुमन्दिरमें जप करनेसे कोटिगुना फल मिलता है।

मन्त्र-जप करनेकी विधि

साधक स्नानादिसे निवृत्त होकर स्वस्तिकासन लगाकर आसनपर बैठे। पश्चात् गुरुगणाधिपतिको नमस्कार करे। उसका विधान इस प्रकार है—

'ॐ स्वस्तिश्रीपरमशिवानाथपादाद्यशेषगुरुपारम्पर्यक्रमेण स्वगुरुनाथपादाम्बुजं यावत् तावत्प्रणौमि। ॐ श्रीगुरुभ्यो नमः।'—इस मन्त्रसे मूर्धाका स्पर्श करे। 'गं गुरुभ्यो नमः'—इससे दक्षिण कंधाका, 'गं गणपतये नमः'—इससे वामस्कन्धका, 'दुं दुर्गायै नमः'—इससे वाम ऊरुस्थानका, 'क्षेत्रपालाय नमः'—इससे दक्षिण ऊरुस्थानका और 'सं सरस्वत्यै नमः'—इससे मुँहका स्पर्श करे। फिर 'ॐ सहस्रार हुं फट्' इस सुदर्शन मन्त्रसे अङ्गन्यास करे। तत्पश्चात् भूतसिद्धि एवं प्राणप्रतिष्ठा करके प्राणायाम करे। मूलाधारसे कुण्डलिनी देवीको श्वासद्वारा ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाकर मूलाधारमें वापस लाकर स्थित कर दे। यह क्रिया गुरुगम्य है। बिना इस क्रियाके मन्त्र सिद्ध नहीं होता।

मन्त्रपूजा

साधक अपने अभीष्ट मन्त्रको ताम्रपात्रमें अष्टगन्धसे लिखे। चारों तरफ कादि-हादि मन्त्र लिखकर सम्पुटित कर दे। कादि और हादिविद्या क्रमशः इस प्रकार है—(१) क ए ई ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं सकल ह्रीं। (२) ह स क ल ह्रीं ह स क ह ल ह्रीं सकल ह्रीं।

मन्त्रकी षोडशोपचारविधिसे पूजा करे।

प्रत्येक मन्त्रके देवता पृथक्-पृथक् होते हैं, अतः साधकने जो मन्त्र ग्रहण किया हो, उस मन्त्रके देवताकी वह इसमें भावना करे। इसको ही देव-प्रतिमा समझकर श्रद्धा-भक्ति एवं दृढ़ भावनासे मनको इसमें तन्मय करनेसे प्रतीकोपासना सिद्ध हो जाती है। फिर पीठ-पूजा इस प्रकार करे—

ॐ मण्डूकाय नमः। ॐ कालाग्निरुद्राय नमः। ॐ मूलप्रकृत्यै नमः। ॐ आधारशक्त्यै नमः। ॐ कूर्माय नमः। ॐ अनन्ताय नमः। ॐ वराहाय नमः। ॐ पृथिव्यै नमः। ॐ सुधाम्बुधये नमः। ॐ सर्पिःसागराय नमः। ॐ मणिद्वीपाय नमः। ॐ चिन्तामणिगृहाय नमः। ॐ श्मशानाय नमः। ॐ पारिजाताय नमः। ॐ रत्नवेदिकायै नमः। ॐ मणिपीठाय नमः। ॐ नानामुनिभ्यो नमः। ॐ शिवेभ्यो नमः। ॐ शवमुण्डेभ्यो नमः। ॐ बहुमांसास्थिमोदमानशिवाभ्यो नमः। ॐ धर्माय नमः। ॐ ज्ञानाय नमः। ॐ वैराग्याय नमः। ॐ ऐश्वर्याय नमः। ॐ अधर्माय नमः। ॐ अज्ञानाय नमः। ॐ अवैराग्याय नमः। ॐ अनैश्वर्याय नमः। ॐ आनन्दकन्दाय नमः। ॐ सर्वतत्त्वात्मकपद्माय नमः। ॐ प्रकृतिमयपत्रेभ्यो नमः। ॐ विकारमयकेसरेभ्यो नमः। ॐ पञ्चाशद्वर्णाढ्यकर्णिकायै नमः। ॐ अर्कमण्डलाय नमः। ॐ सोममण्डलाय नमः। ॐ महीमण्डलाय नमः। ॐ सत्त्वाय नमः। ॐ रजसे नमः। ॐ तमसे नमः। ॐ आत्मने नमः। ॐ अन्तरात्मने नमः। ॐ परमात्मने नमः। ॐ ज्ञानात्मने नमः। ॐ क्रियायै नमः। ॐ आनन्दायै नमः। ॐ ऐं परायै नमः। ॐ परापरायै नमः।

इस पूजाके पश्चात् अभिषेक करे। ब्रह्मघटको स्थापित करे। इसको सागर एवं पवित्र नदियोंके जलसे भरे। इसमें अश्वत्थ, पञ्चपल्लव, तुलसी, बिल्वपत्र, केला तथा नारिकेलके पत्तोंसे आच्छादित करके दशोपचार पूजा करे। फिर रुद्राभिषेकद्वारा मन्त्रका अभिषेक करे। इससे मन्त्र-चैतन्य—सिद्ध हो जाता है।

पुरश्चरणकी संक्षिप्त विधि

मन्त्रको संस्कारित करके फिर मन्त्रका पुरश्चरण करे। जितने अक्षरका मन्त्र होता है, उतने ही लक्ष जप करनेसे मन्त्र सिद्ध होता है। जपका दशांश हवन और उसका दशांश तर्पण-मार्जन एवं ब्राह्मण-भोजन करानेसे पुरश्चरण पूरा होता है। बिना पुरश्चरण किये मन्त्र सिद्ध नहीं होता।

जिस दिनसे पुरश्चरण करना प्रारम्भ करे, संकल्प करे कि 'आजसे लेकर इस समयतक मन्त्र-यज्ञका आरम्भ करता हूँ।' प्रतिदिन नियमित जपका संकल्प करे। सदैव समान संख्याका जप करे। न न्यून, न अधिक। प्रातःकालसे अपराह्णकालतक। रात्रिमें जप न करे। ब्रह्मचर्यका, यम-नियमका पूरा पालन करे। भूमि-शयन करे, यवान्न तथा चावल आदि सात्त्विक आहार करे। तामसिक पदार्थका त्याग करे। जप एक निश्चित स्थानमें करे। एक समय भोजन करे। परान्नको

ग्रहण न करे। जपके पहले शताक्षरी-जप करे। इस प्रकार करनेसे मन्त्र सिद्ध होकर अभीष्ट फल प्रदान करता है। तन्त्रशास्त्रमें विस्तार बहुत है; किंतु समयानुसार स्वल्प साधनाका सूक्ष्म परिचय दिया है।* ॐ शान्तिः।

मन्त्रोंके दस संस्कार

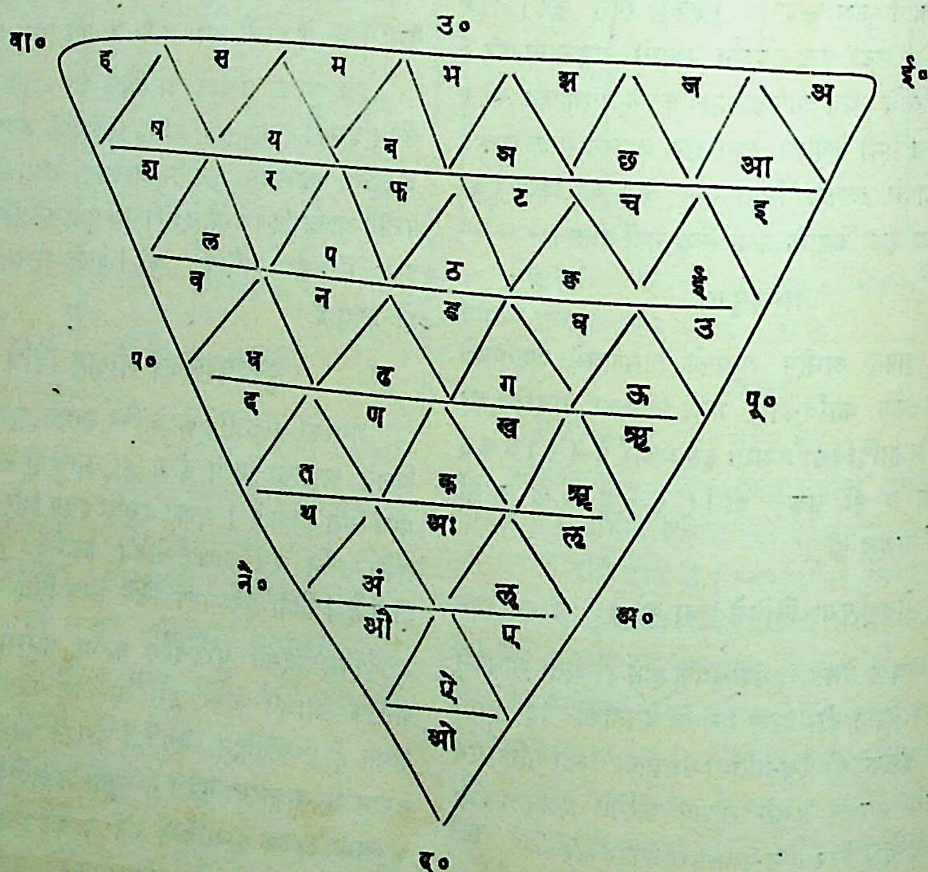
(लेखक—पं० श्रीहरिरामजी शर्मा 'मार्तण्ड' विद्वच्चूडामणि)

कोई भी मन्त्र छिन्न, रुद्ध, शक्तिहीन, पराङ्मुख आदि पचास दोषोंसे बच नहीं सकता। सप्तकोटि मन्त्र हैं, सभी इन दोषोंमें किसी-न-किसी दोषसे दुष्ट पाये जाते हैं। इन दोषोंकी निवृत्तिके लिये मन्त्रके निम्नलिखित दस संस्कार करने चाहिये—

जननं दीपनं पश्चाद् बोधनं ताडनस्तथा।
अथाभिषेको विमलीकरणाऽऽप्यायने पुनः॥
जीवनं तर्पणं गुप्तिर्दशैता मन्त्रसंस्क्रियाः॥

जनन, दीपन, बोधन, ताडन, अभिषेक, विमलीकरण, जीवन, तर्पण, गोपन और आप्यायन—ये दस संस्कार हैं।

१–भोजपत्रपर गोरोचन, कुङ्कुम, चन्दनादिसे आत्माभिमुख त्रिकोण लिखे, फिर तीनों कोणोंमें छः-छः समान रेखा खींचे। ऐसा करनेपर ४९ त्रिकोण कोष्ठ बनेंगे, उनमें ईशानकोणसे मातृकावर्ण लिखकर देवताका आवाहन, पूजन करके मन्त्रको एक-एक वर्णका उद्धार करके अन्य पत्रपर लिखे। ऐसा करनेपर 'जनन' नामका प्रथम संस्कार होगा।



* इस विषयमें विशेष जानना हो तो 'कल्याण' के 'साधनाङ्क'में पृष्ठ ३२९ पर प्रकाशित 'मन्त्र-साधन' शीर्षक लेख देखना चाहिये।



भगवान् गणेश

मन्त्रोद्धारके अनन्तर यन्त्रको धोकर शुद्ध जलमें डाल दें।

२–हंसमन्त्रका सम्पुट होनेसे एक हजार जपद्वारा मन्त्रका दूसरा 'दीपन' संस्कार होता है। यथा—

'हं सो रामाय नमः सोऽहम्।'

३–हूं बीज-सम्पुटित मन्त्रका पाँच हजार जप करनेसे 'बोधन' नामक तीसरा संस्कार होता है। यथा—

'हूं रामाय नमः हूं।'

४–फट्-सम्पुटित मन्त्रका एक हजार जप करनेसे 'ताडन' नामक चतुर्थ संस्कार होता है। यथा—

'फट् रामाय नमः फट्।'

५–भूर्जपत्रपर मन्त्र लिखकर 'रां हं सः ॐ' इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित करे और एक हजार बार जपे हुए जलसे अश्वत्थ-पत्रादिद्वारा मन्त्रका अभिषेक करे। ऐसा करनेपर 'अभिषेक' नामक पाँचवाँ संस्कार होता है।

६–'ॐ त्रों वषट्'—इन वर्णोंसे सम्पुटित मन्त्रका एक हजार जप करनेसे 'विमलीकरण' नामक छठा संस्कार होता है। यथा—'ॐ त्रों वषट् रामाय नमः वषट् त्रों ॐ।'

७–स्वधा-वषट्-सम्पुटित मूलमन्त्रका एक हजार जप करनेसे 'जीवन' नामक सातवाँ संस्कार होता है। यथा—

'स्वधा वषट् रामाय नमः वषट् स्वधा।'

८–दुग्ध, जल, घृतसे मूलमन्त्रके उच्चारणपूर्वक सौ बार तर्पण करना ही 'तर्पण' संस्कार है।

९–ह्रीं बीज-सम्पुटित मन्त्रका एक हजार जप करनेसे 'गोपन' नामक नवम संस्कार होता है। यथा—'ह्रीं रामाय नमः ह्रीं।'

१०–ह्रौं बीज-सम्पुटित मन्त्रका एक हजार जप करनेसे 'आप्यायन' नामक दसवाँ संस्कार होता है। यथा—

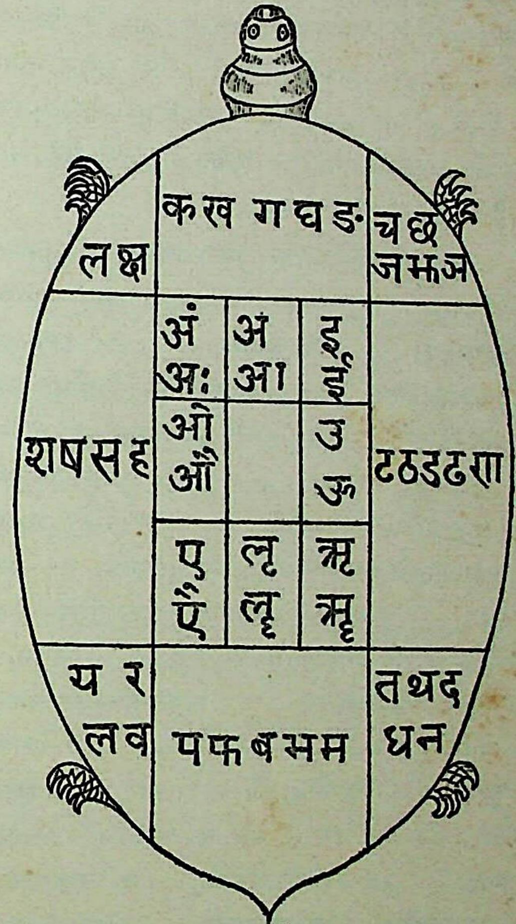
'ह्रौं रामाय नमः ह्रौं।'

इस प्रकार संस्कृत किया हुआ मन्त्र शीघ्र सिद्धिप्रद होता है।

प्रसङ्गवशात् दीपस्थान (कूर्मचक्र) का भी निर्णय लिखते हैं। ऐसा कहा गया है—

'दीपस्थानं समाश्रित्य कृतं कर्म फलप्रदम्।'

जिस स्थानमें, क्षेत्रमें, नगरमें या गृहमें पुरश्चरण करना हो उसके नौ समान भागोंकी कल्पना करके मध्यभागमें स्वर लिखे और पूर्वादि क्रमसे कवर्गादि लिखे, ईशानकोणमें ल, क्ष लिखे। यथा—



जिस कोष्ठमें क्षेत्रका पहला अक्षर हो, उस कोष्ठको मुख समझना चाहिये। उसके दोनों ओरके दो कोष्ठ भुजा, फिर दोनों ओरके दो कोष्ठ कुक्षि, फिर दोनों ओरके दो कोष्ठ पैर, शेष कोष्ठ पुच्छ समझने चाहिये। मुखस्थानमें जप करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है, भुजामें स्वल्पजीवन, कुक्षिमें उदासीनता, पैरोंमें दुःख और पुच्छमें वध-बन्धनादि पीड़ा होती है।

पूजाके विविध उपचार

संक्षेप और विस्तारके भेदसे अनेकों प्रकारके उपचार हैं—चौंसठ, अठारह, सोलह, दस और पाँच।

चौंसठ उपचार

देवीकी पूजाके चौंसठ उपचार यहाँ लिखे जाते हैं। इष्टमन्त्रसे इनका समर्पण होता है। मानस-पूजामें इनकी भावना होती है। वाग्बीज, मायाबीज और लक्ष्मीबीजके साथ भी इनका समर्पण होता है। जैसे पाद्यके समय 'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं पाद्यं कल्पयामि नमः।' प्रत्येक उपचारका नाम जोड़कर यही मन्त्र बोल सकते हैं। उपचारोंके नाम ये हैं—

१–पाद्यम्, २–अर्घ्यम्, ३–आचमनम्, ४–सुगन्धितैलाभ्यङ्गम्, ५–मज्जनशालाप्रवेशनम्, ६–मज्जनमणिपीठोपवेशनम्, ७–दिव्यस्नानीयम्, ८–उद्वर्तनम्, ९–उष्णोदकस्नानम्, १०–कनककलशस्थितसर्वतीर्थाभिषेचनम्, ११–धौतवस्त्रपरिमार्जनम्, १२–अरुणदुकूलपरिधानम्, १३–अरुणदुकूलोत्तरीयम्, १४–आलेपमण्डपप्रवेशनम्, १५–आलेपमणिपीठोपवेशनम्, १६–चन्दनागुरुकुङ्कुममृगमदकर्पूरकस्तूरीरोचनादिव्यगन्धसर्वाङ्गानुलेपनम्, १७–केशभारस्य कालागुरुधूपमल्लिकामालतीजातीचम्पकाशोकशतपत्रपूगकुहरीपुन्नागकह्लारयूथीसर्वर्तुकुसुममालाभूषणम्, १८–भूषणमण्डपप्रवेशनम्, १९–भूषणमणिपीठोपवेशनम्, २०–नवरत्नमुकुटम्, २१–चन्द्रशकलम्, २२–सीमन्तसिन्दूरम्, २३–तिलकरत्नम्, २४–कालाञ्जनम्, २५–कर्णपालीयुगलम्, २६–नासाभरणम्, २७–अधरयावकम्, २८–ग्रथनभूषणम्, २९–कनकचित्रपदकम्, ३०–महापदकम्, ३१–मुक्तावली, ३२–एकावली, ३३–देवच्छन्दकम्, ३४–केयूरयुगलचतुष्कम्, ३५–वलयावली, ३६–ऊर्मिकावली, ३७–काञ्चीदामकटिसूत्रम्, ३८–शोभाख्याभरणम्, ३९–पादकटकयुगलम्, ४०–रत्ननूपुरम्, ४१–पादाङ्गुलीयकम्, ४२–एककरे पाशः, ४३–अन्यकरे अङ्कुशः, ४४–इतरकरेषु पुण्ड्रेक्षुचापम्, ४५–अपरकरे पुष्पबाणाः, ४६–श्रीमन्माणिक्यपादुका, ४७–स्वसमानवेशाभ्यावरणदेवताभिः सह सिंहासनारोहणम्, ४८–कामेश्वरपर्यङ्कोपवेशनम्, ४९–अमृतासनम्, ५०–आचमनीयम्, ५१–कर्पूरवीटिका, ५२–आनन्दोल्लासविलासहासः, ५३–मङ्गलारात्रिकम्, ५४–श्वेतच्छत्रम्, ५५–चामरयुगलम्, ५६–दर्पणम्, ५७–तालवृन्तम्, ५८–गन्धः, ५९–पुष्पम्, ६०–धूपम्, ६१–दीपः, ६२–नैवेद्यम्, ६३–पानम्, ६४–पुनराचमनीयम्।

इसके पश्चात् ताम्बूलम्, नमस्कारम्—इत्यादि। इन सबके साथ पूर्वोक्त बीज पहले जोड़कर पीछे 'कल्पयामि नमः' कहना चाहिये। मानस-पूजामें तो ये उपचार ही पूरा ध्यान करा देते हैं। बाह्यपूजामें उपचारोंका अभाव होनेपर भी स्थिरभावसे इन मन्त्रोंका पाठ कर लेनेसे पूजाका ही फल मिलता है।

अठारह उपचार

अष्टादशोपचार ये हैं—१–आसन, २–स्वागत, ३–पाद्य, ४–अर्घ्य, ५–आचमनीय, ६–स्नानीय, ७–वस्त्र, ८–यज्ञोपवीत, ९–भूषण, १०–गन्ध, ११–पुष्प, १२–धूप, १३–दीप, १४–नैवेद्य, १५–दर्पण, १६–माल्य, १७–अनुलेपन और १८–नमस्कार।

सोलह उपचार

षोडशोपचार ये हैं—१–पाद्य, २–अर्घ्य, ३–आचमनीय, ४–स्नानीय, ५–वस्त्र, ६–आभूषण, ७–गन्ध, ८–पुष्प, ९–धूप, १०–दीप, ११–नैवेद्य, १२–आचमनीय, १३–ताम्बूल, १४–स्तवपाठ, १५–तर्पण और १६–नमस्कार।

दस उपचार

दशोपचार ये हैं—१–पाद्य, २–अर्घ्य, ३–आचमनीय, ४–मधुपर्क, ५–आचमनीय, ६–गन्ध, ७–पुष्प, ८–धूप, ९–दीप और १०–नैवेद्य।

पाँच उपचार

पञ्चोपचार ये हैं—१–गन्ध, २–पुष्प, ३–धूप, ४–दीप और ५–नैवेद्य।

आवश्यक बातें

आसन-समर्पणमें आसनके ऊपर पाँच पुष्प भी रख लेने चाहिये। छः पुष्पोंसे स्वागत करना चाहिये। पाद्यमें चार पल जल और उसमें श्यामा घास, दूब, कमल और अपराजिता देनी चाहिये। अर्घ्यमें चार पल जल और

गन्ध, पुष्प, अक्षत, यव, दूब, तिल, कुशाका अग्रभाग तथा श्वेत सरसों देने चाहिये। आचमनीयमें छः पल जल और उसमें जायफल, लवङ्ग और कङ्कोलका चूर्ण देना चाहिये। मधुपर्कमें कांस्यपात्रस्थित घृत, मधु और दधि देना चाहिये। मधुपर्कके पश्चात्वाले आचमनमें केवल एक पल विशुद्ध जल ही आवश्यक होता है। स्नानके लिये पचास पल जलका विधान है। वस्त्र बारह अङ्गुलसे ज्यादा, नवीन और जोड़ा होना चाहिये। आभरण स्वर्णनिर्मित हों और उनमें मोती आदि जड़े हों। गन्ध-द्रव्यमें चन्दन, अगर, कर्पूर आदि एकमें मिला दिये गये हों। एक पलके लगभग उनका परिमाण कहा गया है। पुष्प पचाससे अधिक हों, अनेक रंगके हों। धूप गुग्गुलका हो और कांस्यपात्रमें निवेदन किया जाय। नैवेद्यमें एक पुरुषके भोजनयोग्य वस्तु होनी चाहिये। चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय—चारों प्रकारकी सामग्री हो। दीप कपासकी बत्तीसे कर्पूर आदि मिलाकर बनाया जाय। बत्तीकी लंबाई चार अङ्गुलके लगभग हो और दृढ़ हो। दीपकके साथ शिलापिष्टका भी उपयोग करना चाहिये। इसीको श्री अथवा आक कहते हैं, जो आरतीके समय सात बार घुमाया जाता है। दूर्वा और अक्षतकी संख्या सौसे अधिक समझनी चाहिये। एक-एक सामग्री अलग-अलग पात्रमें रक्खी जाय। वे पात्र सोने, चाँदी, ताँबे, पीतल या मिट्टीके हों। अपनी शक्तिके अनुसार ही करना चाहिये। जो वस्तु अपने पास नहीं हो, उसके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं और अपनी शक्ति-सामर्थ्यके अनुसार जो मिल सकती हों, उनके प्रयोगमें आलस्य, प्रमाद और संकीर्णता नहीं करनी चाहिये।

पूजाके मन्त्र

भगवान् विष्णु, श्रीकृष्ण आदिकी पूजामें जिन मन्त्रोंका उपयोग होता है, वे लिखे जाते हैं—

सर्वान्तर्यामिणे देव सर्वबीजमयं ततः।
आत्मस्थाय परं शुद्धमासनं कल्पयाम्यहम्॥

'हे देव! आप सबके अन्तर्यामी और आत्मरूपसे स्थित हैं, इसलिये आपको मैं सर्वबीजस्वरूप उत्तम और शुद्ध आसन समर्पित कर रहा हूँ।'

स्वागत

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवा ब्रह्महरादयः।
कृपया देवदेवेश मदग्रे सन्निधौ भव॥
तस्य ते परमेशान स्वागतं स्वागतं प्रभो।

'ब्रह्मा, शिव आदि जिसके दर्शनके लिये लालायित रहते हैं, हे देवदेवेश! वे ही सबके आराध्य आप दया करके मेरे सम्मुख आवें। परमेश्वर! प्रभो! आपका स्वागत है, स्वागत है।'

आवाहन

कृतार्थोऽनुगृहीतोऽस्मि सफलं जीवितं तु मे।
यदागतोऽसि देवेश चिदानन्दमयाव्यय॥
अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा वैकल्यात् साधनस्य च।
यदपूर्णं भवेत् कृत्यं तथाप्यभिमुखो भव॥

'हे विज्ञानानन्दघन! हे अविनाशी! हे देवेश! आपने जो पदार्पण किया, इससे मैं कृतार्थ हो गया। बड़ा अनुग्रह किया आपने। निश्चय ही मेरा जीवन सफल हो गया। अज्ञान, असावधानी अथवा साधनोंकी कमीके कारण मैं आपकी पूजा पूर्णतः नहीं कर सकता, तथापि आप कृपा करके मेरे सामने रहें।'

पाद्य

यद्भक्तिलेशसम्पर्कात् परमानन्दसम्भवः।
तस्मै ते परमेशान पाद्यं शुद्धाय कल्पये॥

'जिनकी विन्दुमात्र भक्तिका संस्पर्श हो जानेसे हृदय परमानन्द-धाराका उद्गम बन जाता है, हे परमेश्वर! आपके उसी विशुद्ध स्वरूपको मैं पाद्य समर्पित कर रहा हूँ।'

आचमनीय

देवानामपि देवाय देवानां देवतात्मने।
आचामं कल्पयामीश सुधायाः स्रुतिहेतवे॥

'हे ईश! आप समस्त देवताओंके भी देवता—आराध्यदेव हैं। और तो क्या, स्वयं आप ही देवताओंमें देवत्वरूपसे प्रकट हैं। आप सुधाके मूलस्रोत हैं; अतः आपसे सुधाक्षरणके लिये मैं आचमनीय समर्पित कर रहा हूँ।'

अर्घ्य

तापत्रयहरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम्।
तापत्रयविमोक्षाय तवार्घ्यं कल्पयाम्यहम्॥

'हे प्रभो! आपका अर्घ्य तीनों तापोंको हरनेवाला, दिव्य एवं परमानन्दस्वरूप है, इसलिये तीनों तापोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये मैं आपको अर्घ्य समर्पित करता हूँ।'

मधुपर्क

सर्वकल्मषहीनाय परिपूर्णसुधात्मकम्।
मधुपर्कमिमं देव कल्पयामि प्रसीद मे॥

'हे देव! आप समस्त पापों और उनके कारणोंसे मुक्त हैं। आपके लिये मैं यह परिपूर्णसुधात्मक मधुपर्क समर्पित करता हूँ। आप अनुग्रह करके इसे स्वीकार करें।'

पुनराचमनीय

उच्छिष्टोऽप्यशुचिर्वापि यस्य स्मरणमात्रतः।
शुद्धिमाप्नोति तस्मै ते पुनराचमनीयकम्॥

'जिसके स्मरण करनेमात्रसे उच्छिष्ट अथवा अपवित्र भी पवित्र हो जाता है, वही आप हैं। आपके लिये मैं आचमनीय जल पुनः समर्पित करता हूँ।'

स्नान

परमानन्दबोधाब्धिनिमग्ननिजमूर्तये।
साङ्गोपाङ्गमिदं स्नानं कल्पयाम्यहमीश ते॥

'हे ईश! आप अपने परमानन्दस्वरूप ज्ञान-समुद्रमें स्वयं निमग्न हैं। आपके लिये यह साङ्गोपाङ्ग स्नानार्थ जल मैं समर्पित करता हूँ।'

वस्त्र

मायाचित्रपटाच्छन्ननिजगुह्योरुतेजसे।
निरावरणविज्ञान वासस्ते कल्पयाम्यहम्॥

'आपने अपना परमज्योतिर्मय एवं गुह्यस्वरूप मायाके विचित्र वस्त्रसे ढक रक्खा है, वास्तवमें आप आवरणरहित विज्ञानस्वरूप हैं। ऐसे आपके लिये, मैं वस्त्र समर्पित कर रहा हूँ।'

उत्तरीय

यमाश्रित्य महामाया जगत्सम्मोहिनी सदा।
तस्मै ते परमेशाय कल्पयाम्युत्तरीयकम्॥

'जिनका आश्रय लेकर महामाया सदा जगत्को मोहित करती है, आप वे ही परमेश्वर हैं। आपके लिये मैं उत्तरीय समर्पित करता हूँ।'

यज्ञोपवीत

यस्य शक्तित्रयेणेदं सम्प्रोतमखिलं जगत्।
यज्ञसूत्राय तस्मै ते यज्ञसूत्रं प्रकल्पये॥

'जिनकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप तीन शक्तियोंके द्वारा यह जगत् गुँथा हुआ है; जो स्वयं यज्ञसूत्र हैं; उन्हींके लिये मैं यज्ञोपवीत समर्पित कर रहा हूँ।'

आभूषण

स्वभावसुन्दराङ्गाय नानाशक्त्याश्रयाय ते।
भूषणानि विचित्राणि कल्पयामि सुरार्चित॥

'हे सुरपूजित! आपका एक-एक अङ्ग स्वभावसे ही परम सुन्दर, परम मनोहर है। आप स्वयं समस्त शक्तियोंके आश्रय हैं। आपके लिये मैं विचित्र भूषण प्रस्तुत करता हूँ।'

जल

समस्तदेवदेवेश सर्वतृप्तिकरं परम्।
अखण्डानन्दसम्पूर्णं गृहाण जलमुत्तमम्॥

'हे समस्तदेवदेवेश्वर! हे अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण! आपके लिये मैं सबको परम तृप्ति देनेवाला यह उत्तम जल समर्पित करता हूँ। कृपया इसे स्वीकार करें।'

गन्ध

परमानन्दसौरभ्यपरिपूर्णदिगन्तरम्।
गृहाण परमं गन्धं कृपया परमेश्वर॥

'हे परमेश्वर! जिसकी परमानन्दमय सुरभिसे दिग्-दिगन्त परिपूर्ण हो रहे हैं—आपके लिये वही परम गन्ध मैं समर्पित करता हूँ। आप कृपा करके स्वीकार करें।'

पुष्प

तुरीयं गुणसम्पन्नं नानागुणमनोहरम्।
आनन्दसौरभं पुष्पं गृह्यतामिदमुत्तमम्॥

'त्रिगुणातीत, गुणयुक्त, अनेक गुणोंसे मनोहर, आनन्द-सौरभ-सम्पन्न, यह उत्तम पुष्प मैं आपको समर्पित करता हूँ। इसे स्वीकार करें।'

धूप

वनस्पतिरसो दिव्यो गन्धाढ्यः सुमनोहरः।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

'वनस्पतियोंके रससे संगृहीत, दिव्य, सुगन्धपूर्ण, निखिल देवताओंके आघ्राण करने योग्य यह सुमनोहर धूप मैं आपको समर्पित करता हूँ। कृपया स्वीकार करें।'

दीप

सुप्रकाशो महादीपः सर्वतस्तिमिरापहः ।
सबाह्याभ्यन्तरं ज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ॥

'परम तेजसे सम्पन्न, भीतर और बाहरसे भी ज्योतिर्मय, सब ओरसे अन्धकारको दूर करनेवाला जो उत्तम आलोकमय महान् दीपक है, वह आप स्वीकार करें ।'

नैवेद्य

सत्पात्रसिद्धं सुहविर्विविधानेकभक्षणम् ।
निवेदयामि देवेश सानुगाय गृहाण तत् ॥

'हे देवेश ! पवित्र पात्रमें बनाये हुए, अनेक एवं विविध प्रकारकी खाद्य-सामग्रियोंसे युक्त यह उत्तम नैवेद्य अनुचरोंके सहित आपकी सेवामें समर्पित करता हूँ। आप कृपा करके इसे स्वीकार करें ।'

भोजनके पश्चात् जल आदि पूर्वोक्त मन्त्रोंसे ही देने चाहिये । तत्पश्चात् ताम्बूल, फल, दक्षिणा आदि समर्पित करके आरती करनी चाहिये ।

पूजाके पाँच प्रकार

शास्त्रोंमें पूजाके पाँच प्रकार बताये गये हैं—अभिगमन, उपादान, योग, स्वाध्याय और इज्या । देवताके स्थानको साफ करना, लीपना, निर्माल्य हटाना—ये सब कर्म 'अभिगमन'के अन्तर्गत हैं। गन्ध, पुष्प आदि पूजा-सामग्रीका संग्रह 'उपादान' है । इष्टदेवकी आत्मरूपसे भावना करना 'योग' है । मन्त्रार्थका अनुसंधान करते हुए जप करना, सूक्त, स्तोत्र आदिका पाठ करना, गुण, नाम, लीला आदिका कीर्तन करना, वेदान्तशास्त्र आदिका अभ्यास करना—ये सब 'स्वाध्याय' हैं । उपचारोंके द्वारा अपने आराध्यदेवकी पूजा 'इज्या' है । ये पाँच प्रकारकी पूजाएँ क्रमशः सार्ष्टि, सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य और सारूप्य मुक्तिको देनेवाली हैं ।

मन्त्रसिद्धि

(लेखक—पं० श्रीदेवकीनन्दनजी खेडवाल)

उपासनामें प्रधानता मन्त्रकी है । किसी भी देवताके नामाक्षरोंके पहले 'ॐ' और पीछे 'नमः' लगा देनेसे उस देवताका मन्त्र बन जाता है; जैसे—'ॐ गणपतये नमः', 'ॐ विष्णवे नमः' इत्यादि । इन्हीं नाम-मन्त्रोंसे इन देवोंकी पूजा होती है; जैसे—अमुकदेवाय नमः, गन्धं समर्पयामि आदि-आदि । इन्हीं देवताओंके नाम-मन्त्रोंका जप करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है । नाम-मन्त्रकी महिमा गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें विस्तारपूर्वक बतायी है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'मन्त्र दीखनेमें बहुत छोटा दिखायी देता है, किंतु प्रभावमें बहुत बड़ा होता है ।' मन्त्रोंसे देवता प्रसन्न होते हैं, रोगनाश होता है और सभी प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । हमारे पूर्वज ऋषि-महर्षियोंने मन्त्रके बलपर ही इतनी बड़ी ख्याति प्राप्त की है । मन्त्रसिद्धिके कारण ही बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट् उनके चरणोंमें सिर झुकाते थे। उनके मुखसे निकले हुए वचनका सत्य होना और अष्टसिद्धि-नवनिधिको प्राप्त करना आदि-आदि मन्त्र-सिद्धिका ही चमत्कार था । वर्तमान समयमें भी मन्त्रोंका जप करनेवाले सर्प या बिच्छूके काटे हुए स्थानका विष झाड़कर दूर करते हैं । स्तोत्रपाठ, मन्त्र-अनुष्ठान आदिसे लोग रोग-मुक्ति तथा अन्य कार्य साधते हैं । किंतु पश्चिमीय शिक्षासे दीक्षित लोग मन्त्रपर विश्वास नहीं करते । उनका कहना है कि 'मन्त्र-विद्या अब केवल कथा मात्र है ।' वस्तुतः आजकल मन्त्र-विद्याके पूरे जानकार अनुभवी पुरुष बहुत ही कम मिलते हैं; यदि कोई हैं तो वे किसी दूसरेको बताते नहीं । अतः मन्त्र-विद्या धीरे-धीरे भारतमें समाप्त होती जा रही है । यदि मन्त्र-विद्याको जीवित—स्थिर रखना है तो मन्त्रशास्त्रके विषयमें जो भी गुप्त रहस्य किन्हींके पास हो, उन्हें उसको प्रकाशमें लाना चाहिये । अस्तु ।

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भैषजे गुरौ ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ॥

'मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषध तथा गुरुमें जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है ।'

मन्त्र तीन प्रकारके हैं—वैदिक, तान्त्रिक और साबरी। इनका अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार श्रद्धापूर्वक जप आदि करनेसे कार्य सिद्ध होता है ।

प्रथम, जिस देवताकी उपासना करनी हो, अपनेको उसका अधिकारी बनाना चाहिये। फिर वैष्णव, शैव और शाक्त आदि जिस देवताका मन्त्र सिद्ध करना हो, वैसे ही गुरुसे श्रेष्ठ मुहूर्तमें दीक्षा लेनी चाहिये।

सूर्य-चन्द्रमाके ग्रहण, तीर्थ, सिद्धक्षेत्र, शिवालय आदिमें और मन्त्रमात्रके उपदेशमें दीक्षा तथा मुहूर्तकी भी आवश्यकता नहीं है।

मन्त्रके अक्षरोंके अनुसार पाँच भेद

एक अक्षरवाले मन्त्रको 'पिण्ड', दो अक्षरवालेको 'कर्तरी', तीन अक्षरसे लेकर नौ अक्षरतकके मन्त्रको 'बीज', दस अक्षरसे बीस अक्षरतकके जपनीय वाक्यको 'मन्त्र' और बीससे अधिक अक्षरवालोंको 'मालामन्त्र' कहते हैं।

मन्त्रके पुरुष, स्त्री और नपुंसक—तीन भेद

जिस मन्त्रके अन्तमें 'वषट्' और 'फट्' आता हो, उसको पुँल्लिङ्ग, जिसके अन्तमें 'वौषट्' और 'स्वाहा' आवे उसको 'स्त्रीलिङ्ग' और जिसके अन्तमें 'नमः' आवे उस मन्त्रको 'नपुंसकलिङ्ग' कहते हैं। इसी प्रकार जिसका अधिष्ठाता देवता पुरुष हो उसको 'मन्त्र' और जिस मन्त्रकी अधिष्ठाता देवता स्त्री हो, उस मन्त्रको 'विद्या' कहते हैं।

'गुरुमें मनुष्य, मन्त्रमें अक्षर और प्रतिमामें प्रस्तर-बुद्धि रखनेवाला नरकगामी होता है।'

गुरौ मनुष्यबुद्धिं च मन्त्रे चाक्षरवाचिताम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत्॥

मन्त्रको अपने नामाक्षरोंसे ऋणी-धनी देखकर जपका आरम्भ करना चाहिये।

स्त्री और शूद्रोंके लिये ॐकाररहित आठ अक्षरोंवाला मन्त्र सिद्धि देनेवाला होता है। जैसे—

अष्टाक्षरश्च यो मन्त्रः प्रशस्तः शूद्रयोषितोः।
प्रणवादिश्च यो मन्त्रो न स्त्रीशूद्रेषु शस्यते॥

सकाम और निष्काम तथा नैतिक और नैमित्तिक भेदसे मन्त्रोंके दो प्रकारके पुरश्चरण होते हैं।

मन्त्रका पहले षट्चक्रसे शोधन करके 'अकडम' आदि चक्रसे देखना चाहिये कि वह सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और शत्रु आदिमेंसे क्या है? इतना होनेके पश्चात् मन्त्रका दशविध संस्कार करना चाहिये। जैसे—

(१) जनन, (२) जीवन, (३) ताड़... (४) बोधन, (५) अभिषेक, (६) विमलीकर... (७) आप्यायन, (८) तर्पण, (९) दीपन और (१०) गोपन। ये दस संस्कार हैं।

मन्त्रमें ५० दोष होते हैं। जैसे—

(१) छिन्न, (२) रुद्ध, (३) शक्तिहीन, (४) पराङ्मुख, (५) बधिर, (६) नेत्रहीन, (७) कीलित, (८) स्तम्भित, (९) दग्ध, (१०) [illegible] (११) भीत, (१२) मलिन, (१३) तिरस्कृ... (१४) भेदित, (१५) सुषुप्त, (१६) मदोन्म... (१७) मूर्छित, (१८) हृतवीर्य, (१९) ही... (२०) प्रध्वस्त, (२१) बाल, (२२) कुमार, (२३) युवा, (२४) प्रौढ़, (२५) वृद्ध, (२६) निर्वि... (२७) निर्बीज, (२८) सिद्धिहीन, (२९) मन्द... (३०) कूट, (३१) निरशङ्क, (३२) सत्त्वहीन, (३३) केकर, (३४) बीजहीन, (३५) धूमि... (३६) आलिङ्गित, (३७) मोहित, (३८) क्षुधार्त... (३९) अतिहस, (४०) अङ्गहीन, (४१) अतिक्रुद्ध... (४२) अतिक्रूर, (४३) सव्रीड, (४४) शान्तमानस... (४५) स्थानभ्रष्ट, (४६) विकल, (४७) निःस्नेह... (४८) अतिवृद्ध, (४९) पीडित और (५०) दण्ड। जो इन ५० दोषोंको न जानते हुए जप करता है, वह सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है। जैसे—

दोषानिमानविज्ञाय यो मन्त्रान् भजते जडः।
सिद्धिर्न जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि॥

मन्त्रजपके अङ्ग

मन्त्र-शिखा, मन्त्र-चैतन्य, मन्त्रार्थ, मन्त्र-भावना, गुरुका ध्यान, इष्टदेवका ध्यान, कुल्लुका सेतु, महासेतु, कवचसेतु, निर्वाण, बन्धन, योनि-मुद्रा, करन्यास, अङ्गन्यास, प्राणायाम, मुखशुद्धि, प्राणयोग, दीपन, सूतकद्वयमोक्षण, दोनों भ्रुवोंके मध्य दृष्टि, मूल मन्त्रका जप, अकारादिसे लेकर क्षकारपर्यन्त विन्दुमातृकाक्षरसे अनुलोम-विलोम-कल्पित वर्णमाला, पुनः सेतु-जप, प्राणायाम आदि मन्त्रजपके अङ्ग हैं।

एक सहस्रसे अधिक अक्षरोंवाला मन्त्र 'स्तोत्र'रूप हो जाता है।

उपर्युक्त दोषोंसे युक्त मन्त्र यदि सिद्ध न हो तो उन दोषोंके शमनके लिये योनि-मुद्रा, वर्णमाला और कुछ बीज-युक्त जप करनेसे अवश्य सिद्ध होता है।

सम्पूर्ण मन्त्रोंकी संख्या सात करोड़ कही गयी है, ये सभी शिवके द्वारा कीलित हैं। अतः सर्वयन्त्रमन्त्रतन्त्रोत्कीलनके पठनसे ये उत्कीलित होते हैं। पाठकोंके लाभार्थ उत्कीलन यहाँ दिया जाता है। जैसा प्राचीन पत्रोंमें लिखा हुआ मिला, वैसा-का-वैसा लिखा जा रहा है। पाठक इसपर अवश्य विचार करेंगे।

अथ सर्वयन्त्रमन्त्रतन्त्रोत्कीलनप्रारम्भः

पार्वत्युवाच

देवेश परमानन्द भक्तानामभयप्रद।
आगमा निगमाश्चैव बीजं बीजोदयस्तथा॥ १॥
समुदायेन बीजानां मन्त्रो मन्त्रस्य संहिता।
ऋषिच्छन्दादिकं भेदो वैदिकं यामलादिकम्॥ २॥
धर्मोऽधर्मस्तथा ज्ञानं विज्ञान च विकल्पनम्।
निर्विकल्पविभागेन तथा षट्कर्मसिद्धये॥ ३॥
भुक्तिमुक्तिप्रकारश्च सर्वं प्राप्तं प्रसादतः।
कीलनं सर्वमन्त्राणां शंस यद् हृदये वचः॥ ४॥
इति श्रुत्वा शिवानाथः पार्वत्या वचनं शुभम्।
उवाच परया प्रीत्या मन्त्रोत्कीलनकं शिवाम्॥ ५॥

शिव उवाच

वरानने हि सर्वस्य व्यक्ताव्यक्तस्य वस्तुनः।
साक्षीभूय त्वमेवासि जगतस्तु मनोस्तथा॥ ६॥
त्वया पृष्टं वरारोहे तद्वक्ष्याम्युत्कीलनम्।
उद्दीपनं हि मन्त्रस्य सर्वस्योत्कीलनं भवेत्॥ ७॥
पुरा तव मया भद्रे समाकर्षणवश्यजा।
मन्त्राणां कीलिता सिद्धिः सर्वे ते सप्तकोटयः॥ ८॥
तवानुग्रहप्रीतत्वात्सिद्धिस्तेषां फलप्रदा।
येनोपायेन भवति तं स्तोत्रं कथयाम्यहम्॥ ९॥
शृणु भद्रेऽत्र सततमावाभ्यामखिलं जगत्।
तस्य सिद्धिर्भवेत्तिष्ठ मया येषां प्रभावकम्॥ १०॥
अन्नं पानं हि सौभाग्यं दत्तं तुभ्यं मया शिवे।
संजीवनं च मन्त्राणां तथा दत्तुं पुनर्ध्रुवम्॥ ११॥
यस्य स्मरणमात्रेण पाठेन जपतोऽपि वा।
अकीला अखिला मन्त्राः सत्यं सत्यं न संशयः॥ १२॥

ॐ अस्य श्रीसर्वयन्त्रमन्त्रतन्त्राणाम् उत्कीलनमन्त्रस्तोत्रस्य मूलप्रकृतिर्ऋषिर्जगतीच्छन्दः, निरञ्जनो देवता क्लीं बीजं ह्रीं शक्तिः, ह्रः लौं कीलकं सप्तकोटिमन्त्रयन्त्रतन्त्रकीलकानां संजीवनसिध्यर्थे जपे विनियोगः।

अथाङ्गन्यासः

ॐ मूलप्रकृतिऋषये नमः शिरसि।
ॐ जगतीच्छन्दसे नमः मुखे।
ॐ निरञ्जनदेवतायै नमः हृदि।
ॐ क्लीं बीजाय नमः गुह्ये।
ॐ ह्रीं शक्तये नमः पादयोः।
ॐ ह्रः लौं कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

अथ करन्यासः

ॐ ह्रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः। ॐ ह्रूं मध्यमाभ्यां नमः। ॐ ह्रैं अनामिकाभ्यां नमः। ॐ ह्रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ ह्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। एवं हृदयादिन्यासः।

अथ ध्यानम्

ॐ ब्रह्मस्वरूपममलं च निरञ्जनं तं
ज्योतिःप्रकाशमनिशं महतो महान्तम्।
कारुण्यरूपमतिबोधकरं प्रसन्नं
दिव्यं स्मरामि सततं मनुजावनाय॥ १॥
एवं ध्यात्वा स्मरेन्नित्यं तस्य सिद्धिस्तु सर्वदा।
वाञ्छितं फलमाप्नोति मन्त्रसंजीवनं ध्रुवम्॥२॥

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं सर्वमन्त्रयन्त्रतन्त्रादीनाम् उत्कीलनं कुरु कुरु स्वाहा॥

॥ मूलमन्त्रः॥

ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं षट्पञ्चाक्षराणामुत्कीलय उत्कीलय स्वाहा॥

ॐ जूं सर्वमन्त्रयन्त्रतन्त्राणां सञ्जीवनं कुरु कुरु स्वाहा।

ॐ ह्रीं जूं अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः कं खं गं घं ङं चं छं जं झं ञं टं ठं डं ढं णं तं थं दं धं नं पं फं बं भं मं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं मात्राक्षराणां सर्वम् उत्कीलनं कुरु स्वाहा। ॐ सोहं हं सो हं ११ ॐ जूं सों हं हंसः ॐ ॐ ११ हं जूं हं सं गं ११ सोहं हं सो यं ११ लं ११ ॐ ११ यँ ११ ॐ ह्रीं जूं सर्वमन्त्रयन्त्रतन्त्रस्तोत्रकवचादीनां संजीवय

संजीवनं कुरु कुरु स्वाहा ॥ ॐ सोहं हं सः जूं संजीवनं स्वाहा ॥

ॐ ह्रीं मन्त्राक्षराणाम् उत्कीलय उत्कीलनं कुरु कुरु स्वाहा ।

ॐ ॐ प्रणवरूपाय अं आं परमरूपिणे ।
इं ईं शक्तिस्वरूपाय उं ऊं तेजोमयाय च ॥ १ ॥
ऋं ॠं रंजितदीप्ताय लृं लॄं स्थूलस्वरूपिणे ।
एं ऐं वाचां विलासाय ओं औं अं अः शिवाय च ॥ २ ॥
कं खं कमलनेत्राय गं घं गरुडगामिने ।
ङं चं श्रीचन्द्रभालाय छं जं जयकराय ते ॥ ३ ॥
झं ञं टं ठं जयकर्त्रे डं ढं णं तं पराय च ।
थं दं धं नं नमस्तस्मै पं फं यन्त्रमयाय च ॥ ४ ॥
बं भं मं बलवीर्याय यं रं लं यशसे नमः ।
वं शं षं बहुवादाय सं हं ळं क्षं स्वरूपिणे ॥ ५ ॥
दिशामादित्यरूपाय तेजसे रूपधारिणे ।
अनन्ताय अनन्ताय नमस्तस्मै नमो नमः ॥ ६ ॥
मातृकायाः प्रकाशायै तुभ्यं तस्यै नमो नमः ।
प्राणेशायै क्षीणदायै संसंजीव नमो नमः ॥ ७ ॥
निरञ्जनस्य देवस्य नामकर्मविधानतः ।
त्वया ध्यातं च शक्त्या च तेन संजायते जगत् ॥ ८ ॥
स्तुताहमचिरं ध्यात्वा मायाया ध्वंसहेतवे ।
संतुष्टा भार्गवायाहं यशस्वी जायते हि सः ॥ ९ ॥
ब्रह्माणं चेतयन्ती विविधसुरनरांस्तर्पयन्ती प्रमोदाद्
ध्यानेनोद्दीपयन्ती निगमजपमनुं षट्पदं प्रेरयन्ती ।
सर्वान् देवान् जयन्ती दितिसुतदमनी साप्यहंकारमूर्ति-
स्तुभ्यं तस्मै च जाप्यं स्मररचितमनुं मोचये शापजालात् ॥ १० ॥
इदं श्रीत्रिपुरास्तोत्रं पठेद्भक्त्या तु यो नरः ।
सर्वान् कामानवाप्नोति सर्वशापाद् विमुच्यते ॥ ११ ॥
इति सर्वयन्त्रमन्त्रतन्त्रोत्कीलनं सम्पूर्णम् ।

अथ शान्तिस्तोत्रम्

नश्यन्तु प्रेतकूष्माण्डा नश्यन्तु दूषका नराः ।
साधकानां शिवाः सन्तु आम्नायपरिपालिनाम् ॥ १ ॥
जयन्ति मातरः सर्वा जयन्ति योगिनीगणाः ।
जयन्ति सिद्धडाकिन्यो जयन्ति गुरुपङ्क्तयः ॥ २ ॥
जयन्ति साधकाः सर्वे विशुद्धाः साधकाश्च ये ।
समयाचारसम्पन्ना जयन्ति पूजका नराः ॥ ३ ॥
नन्दन्तु चाणिमासिद्धा नन्दन्तु कुलपालकाः ।
इन्द्राद्या देवताः सर्वे तृप्यन्तु वास्तुदेवताः ॥ ४ ॥
चन्द्रसूर्यादयो देवास्तृप्यन्तु मम भक्तितः ।
नक्षत्राणि ग्रहा योगाः करणा राशयश्च ये ॥ ५ ॥
सर्वे ते सुखिनो यान्तु सर्पा नश्यन्तु पक्षिणः ।
पशवस्तुरगाश्चैव पर्वताः कन्दरा गुहाः ॥ ६ ॥
ऋषयो ब्राह्मणाः सर्वे शान्तिं कुर्वन्तु सर्वदा ।
स्तुता मे विदिताः सन्तु सिद्धास्तिष्ठन्तु पूजकाः ॥ ७ ॥
ये ये पापधियस्सुदूषणरता मन्निन्दकाः पूजने
वेदाचारविमर्दनेष्टहृदया भ्रष्टाश्च ये साधकाः ।
दृष्ट्वा चक्रमपूर्वमन्दहृदया ये कौलिका दूषका-
स्ते ते यान्तु विनाशमत्र समये श्रीभैरवस्याज्ञया ॥ ८ ॥
द्वेष्टारः साधकानां च सदैवाम्नायदूषकाः ।
डाकिनीनां मुखे यान्तु तृप्तास्तत्पिशितैः स्तुताः ॥ ९ ॥
ये वा शक्तिपरायणाः शिवपरा ये वैष्णवाः साधवः
सर्वस्मादखिले सुराधिपमजं सेव्यं सुरैः सन्ततम् ।
शक्तिं विष्णुधिया शिवं च सुधिया श्रीकृष्णबुद्ध्या च ये
सेवन्ते त्रिपुरं त्वभेदमतयो गच्छन्तु मोक्षन्तु ते ॥ १० ॥
शत्रवो नाशमायान्तु मम निन्दाकराश्च ये ।
द्वेष्टारः साधकानां च ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥ ११ ॥
ततः परं पठेत् स्तोत्रमानन्दस्तोत्रमुत्तमम् ।

इति शान्तिस्तोत्रम्

अनुष्ठानमें किसी भी प्रकारका विघ्न आ पड़े या कोई गड़बड़ हो जाय तो उपर्युक्त शान्तिस्तोत्रका, जैसी आवश्यकता हो, एक या ग्यारह पाठ करनेसे विघ्न-नाश होकर शान्ति हो जाती है ।

पाठकोंकी जानकारीके लिये कुछ विशेष बातें

योनिमुद्रा

सव्यपार्ष्णिं गुदे स्थाप्य दक्षिणं च ध्वजोपरि ।
योनिमुद्राबन्ध एवं भवेदासनमुत्तमम् ॥

बायें पैरकी एड़ीको गुदापर एवं दाहिने पैरको जननेन्द्रियपर रखनेसे 'योनिमुद्राबन्ध' नामक उत्तम आसन होता है ।

मन्त्रे सूतकद्वयम्

जातसूतकमादौ स्यादन्ते च मृतसूतकम् ।
सूतकद्वयसंयुक्तो यो मन्त्रः स न सिद्ध्यति ॥

'आदिमें जात-सूतक एवं अन्तमें मृतसूतक होता है। जो दो सूतकोंसे युक्त हो उस मन्त्रके जपसे सिद्धि नहीं मिलती है ।'

सूतक-द्वय-शमनोपाय

तस्माद्देवि प्रयत्नेन ध्रुवेण पुटितं ध्रुवम् ।
अष्टोत्तरशतं वापि सप्तवारं जपादितः ॥
जपान्ते च ततो जप्त्वा चतुर्वर्गफलाप्तये ॥

'अतः हे देवि ! जप आरम्भ करनेसे पूर्व एक सौ आठ बार या सात बार प्रणवसे सम्पुटित प्रणवका (ॐ ॐ ॐका) जप करे । फिर मुख्य मन्त्रका जप पूरा करके अन्तमें भी पूर्ववत् प्रणवपुटित प्रणवका जप करे । इससे सूतकद्वयकी निवृत्ति होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों फलोंकी प्राप्ति होती है ।'

प्रणव कहाँ लगाना है

प्रणवाद्यं गृहस्थानां तच्छून्यं निष्फलं भवेत् ।
आद्यन्तयोर्वनस्थानां यतीनां महतामपि ॥

गृहस्थोंको चाहिये कि मन्त्रके आदिमें प्रणव ॐकार लगावें, उसके बिना उनका जप निष्फल होता है । वानप्रस्थी तथा संन्यासी महापुरुषोंको जपनीय मन्त्रके आदि और अन्तमें भी प्रणव अर्थात् ॐकार लगाना चाहिये ।

किन बीजोंके पहले ॐकार नहीं लगाया जाता है

वाक् चैव कामः शक्तिश्च प्रणवः श्रीश्च कथ्यते ।
तदाद्येषु च मन्त्रेषु प्रणवं नैव योजयेत् ॥

वाग्बीज (ऐं), कामबीज (क्लीं), शक्तिबीज (ह्रीं) एवं श्रीबीज (श्रीं)को 'प्रणव' कहते हैं । इसलिये जिन मन्त्रोंके आदिमें ये बीज हों, उनमें प्रणव नहीं लगाना चाहिये ।

किस देवताके ॐकार लगाना

वैष्णवे प्रणवं दद्याच्छैवे शक्तिं नियोजयेत् ।
शाक्तौ कामं गणेशे च रमाबीजं न्यसेत्पुरः ॥
सूर्ये चैव तदान्येषां तार्तीयं विनियोजयेत् ॥

वैष्णव-मन्त्रोंमें पहले प्रणव, शिव-मन्त्रोंमें शक्तिबीज, शक्तिमन्त्रोंमें कामबीज एवं गणेशजीके मन्त्रोंमें रमाबीज लगाना चाहिये । सूर्य तथा अन्य देवताओंके मन्त्रोंमें तीसरा अर्थात् शक्तिबीज लगाना चाहिये ।

किस कर्ममें क्या जोड़ना

वश्याकर्षणसंतापे होमे स्वाहां प्रयोजयेत् ।
क्रोधोपशमने शान्तौ पूजने च नमो वदेत् ॥
वौषट् सम्मोहनोद्दीपपुष्टिमृत्युजयेषु च ।
हुँकारं प्रीतिनाशे च छेदने मारणे तथा ॥
उच्चाटने च विद्वेषे तथाऽऽधिविकृतौ च फट् ।
विघ्नग्रहविनाशे च हुंफट्कारं प्रयोजयेत् ॥
मन्त्रोद्दीपनकार्ये च लाभालाभे वषट् स्मृतः ।
एवं कर्मानुरूपेण तत्तन्मन्त्रं प्रयोजयेत् ॥
नमोऽन्तमन्त्रे देवेशि न नमो योजयेद्बुधः ।
स्वाहान्तेऽपि तथा मन्त्रे न दद्याद् वह्निवल्लभाम् ॥

वशीकरण, आकर्षण, संतापकरण कर्म एवं होममें 'स्वाहा' शब्दका प्रयोग करना चाहिये । क्रोध-शमन, शान्तिकर्म एवं पूजनमें 'नमः' शब्दका उच्चारण करे ।

सम्मोहन, उद्दीपन, पुष्टि एवं मृत्यु-जयके लिये किये जानेवाले कर्ममें 'वौषट्' तथा पारस्परिक प्रीतिभेदन, छेदन, मारणके प्रयोगमें 'हुंकार' का प्रयोग करना चाहिये ।

उच्चाटन, विद्वेष तथा मानसिक विकारोंके लिये किये जानेवाले कर्ममें 'फट्' एवं विघ्नविनाश तथा ग्रहकृत पीड़ाशमनके लिये 'हुं फट्' का प्रयोग करना चाहिये ।

मन्त्रोद्दीपन एवं लाभ-हानिके कार्यमें 'वषट्' ऐसा उच्चारण करनेका विधान है । इस प्रकार कर्मानुसार तत्तन्मन्त्रोंमें उपर्युक्त शब्दोंके प्रयोगका विधान जानना चाहिये ।

हे देवेशि ! जिस मन्त्रके अन्तमें 'नमः' हो, उसके अन्तमें नमः शब्द नहीं जोड़े तथा जिस मन्त्रके अन्तमें 'स्वाहा' हो उसके अन्तमें स्वाहा शब्द नहीं लगाना चाहिये ।

मानसिक जपमें कोई नियम नहीं

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि ।
मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैव समभ्यसेत् ॥
न दोषो मानसे जापे सर्वदेशेऽपि सर्वदा ।
जपनिष्ठो द्विजश्रेष्ठोऽखिलं यज्ञफलं लभेत् ॥

जो विद्वान् निरन्तर मन्त्रोंके जप करनेका व्रत ग्रहण कर चुके हैं, उनके लिये सोते-जागते, चलते-फिरते, पवित्र तथा अपवित्र किसी अवस्थामें, किसी देश या कालमें मानसिक जप करनेमें कोई दोष नहीं है; वे अपने मानसिक जपका अभ्यास चालू रख सकते हैं । इस प्रकार निरन्तर जपपरायण श्रेष्ठ द्विज समस्त यज्ञोंके फलके भागी होते हैं ।

पूजाके बिना जप नहीं करना चाहिये

एकदा वा भवेत्पूजा न जपेत् पूजनं बिना।
जपान्ते वा भवेत्पूजा पूजान्ते वा जपेन्मनुम्॥

जपके अनुष्ठानमें प्रतिदिन एक बार देवताका पूजन अवश्य होना चाहिये। बिना पूजनके जप कदापि न करे। जपके अन्तमें पूजन हो या पूजनके अन्तमें जप किया जाय—यह साधककी इच्छापर निर्भर है।

पञ्चशुद्धि अवश्य होनी चाहिये

आत्मशुद्धि, स्थानशुद्धि, मन्त्रशुद्धि, द्रव्यशुद्धि और देवशुद्धि—ये पाँच शुद्धियाँ आवश्यक हैं।

पूजा-जपमें पवित्रीधारण

जपे होमे तथा दाने स्वाध्याये पितृतर्पणे।
अशून्यं तु करं कुर्यात्सुवर्णरजतैः कुशैः॥

जप, होम, दान, स्वाध्याय और पितृतर्पणके समय सुवर्ण, रजत और कुश—ये तीनों अथवा इनमेंसे अन्यतम किसी एकको हाथमें अवश्य धारण करें। हाथको इनसे सूना न रक्खें।

जप-संख्या किससे

नाक्षतैः हस्तपर्वैर्वा न धान्यैर्न च पुष्पकैः।
न चन्दनैर्मृत्तिकया जपसंख्यां तु कारयेत्॥

हाथोंकी अंगुलियोंके पर्व, अक्षत, धान्य, पुष्प, चन्दन अथवा मृत्तिकासे जपकी गणना नहीं करे।

आसन लोमरहित हो

लोम्नि चैव यदासीनस्तदा सर्वं विनश्यति।
लोमसंस्पर्शमात्रेण सिद्धिहानिः प्रजायते॥

लोमयुक्त आसनपर बैठनेसे सारा अनुष्ठान नष्ट हो जाता है; क्योंकि लोमके स्पर्शमात्रसे सिद्धिकी हानि होती है।

स्तोत्र-पाठके नियम

न मानसं पठेत्स्तोत्रं वाचिकं तु प्रशस्यते।
कण्ठतः पाठाभावे तु पुस्तकोपरि वाचयेत्॥
न स्वयं लिखितं स्तोत्रं नाब्राह्मणलिपिं पठेत्।

स्तोत्रोंका मानसिक पाठ न करे। मुखसे उच्चारणकर सुमधुरस्वरसे पाठ करना प्रशस्त है। स्तोत्र कण्ठस्थ न हो तो पुस्तकके ऊपर पाठ करना चाहिये। अपने हाथसे लिखे एवं ब्राह्मणेतर शूद्रादिके लिखे स्तोत्रोंका पाठ न करे।

देवस्पर्शका अधिकार

स्त्रीणामनुपनीतानां शूद्राणां च नराधिप।
स्पर्शने नाधिकारोऽस्ति विष्णोर्वा शंकरस्य च॥

राजन्! स्त्रियाँ, अनुपनीत अर्थात् बिना यज्ञोपवीतके द्विजाति एवं शूद्र भगवान् शंकर तथा विष्णुभगवान्की मूर्ति के स्पर्श करनेके अधिकारी नहीं हैं।

घरमें मूर्ति-पूजा

अङ्गुष्ठपर्वादारभ्य वितस्तिं यावदेव तु।
गृहेषु प्रतिमा कार्या नाधिका शस्यते बुधैः॥ १॥
एका मूर्तिर्न पूज्येत गृहिणा स्वेष्टमिच्छता।
अनेकमूर्तिसम्पन्नः सर्वान् कामानवाप्नुयात्॥ २॥
गृहे लिङ्गद्वयं नार्च्यं गणेशत्रितयं तथा।
शङ्खद्वयं तथा सूर्यौ नार्च्यौ शक्तित्रयं तथा॥ ३॥
द्वे चक्रे द्वारकायाश्च शालग्रामशिलाद्वयम्।
तेषां तु पूजनेनैव उद्वेगं प्राप्नुयाद् गृही॥ ४॥
खण्डितं स्फुटितं व्यङ्गं संस्पृष्टं कुष्ठरोगिणा।
पतितं दुष्टभूम्यादौ न देवं पूजयेद् बुधः॥ ५॥

विद्वान् अपने घरोंमें अँगूठेके पर्वसे लेकर एक वितस्ति (बित्ता) प्रमाण ही प्रतिमा बनवावें। इससे बड़ी प्रतिमा घरमें प्रशस्त नहीं है। कल्याण चाहनेवाले गृहस्थी घरमें एक ही मूर्तिकी पूजा न करें। अनेक मूर्तियोंकी पूजा करनेसे सब प्रकारकी कामनाओंकी पूर्ति होती है। घरमें दो लिङ्ग, दो शङ्ख, दो सूर्य, दो शालग्रामशिला, द्वारकाके दो चक्र, तीन गणेश, तीन शक्तिकी पूजा नहीं करनी चाहिये। इनके पूजनसे गृहस्वामीको उद्वेगकी प्राप्ति होती है। विद्वान् टूटे-फूटे, विकलाङ्ग, कुष्ठरोगियोंसे संस्पृष्ट, दूषित भूमिपर पड़े देवताओंका पूजन न करें।

पुष्प-छिन्न-पत्र

बिल्वस्य खदिरस्यैव तथा धात्रीदलस्य च।
तमालस्य च पत्रस्य छिन्नभिन्ने न दुष्यतः॥
तुलसी सर्वदा शुद्धा तथा बिल्वदलानि च।
बिल्वपत्रं च मामाध्यं तमालामलकीदलम्॥

कह्लारं तुलसीं चैव पद्मं च मुनिपुष्पकम् ।
एतत्पर्युषितं न स्याद् यच्चान्यत्कलिकात्मकम् ॥

बिल्व, खदिर, आँवला तथा तमालके पत्ते टूटने-फटनेपर भी दूषित नहीं होते हैं । तुलसीदल एवं बिल्वदल सदा-सर्वदा शुद्ध ही रहते हैं । बिल्वपत्र, कुन्द, तमाल एवं आमलकी (आँवले) के पत्ते, श्वेतकमल (कह्लार), तुलसी, कमल, अगस्त्यपुष्प और जो कलिकास्वरूप हैं, ये सब पुष्प पर्युषित (बासी) नहीं होते हैं ।

जपकालमें

आलस्यं जृम्भणं निद्रां क्षुतं निष्ठीवनं भयम् ।
नीचाङ्गस्पर्शनं कोपं जपकाले विवर्जयेत् ॥
व्यग्रताऽऽलस्यनिष्ठीवक्रोधपादप्रसारणम् ।
अन्यभाषां मृषा चैव जपकाले त्यजेत्सुधीः ॥

विद्वान्को चाहिये कि जपकालमें आलस्य, जँभाई, निद्रा, छींकना, थूकना, भय, गुह्याङ्गका स्पर्श करना, क्रोध करना, पाँव फैलाना, दूसरोंसे बात करना, मिथ्या बोलना आदिका विशेषरूपसे परित्याग कर दे ।

मन्त्र-शास्त्र और उपासना

(लेखक—डॉ० श्रीगोपालप्रसादजी 'वंशी')

आजकलके नयी रोशनीवाले पढ़े-लिखे भारतीयोंका मान्त्रिक विषयोंपर विश्वास प्रायः नहीं है और वे उन्हें उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं । इधर आस्तिक और भावुकवर्ग उनपर विश्वास तो अवश्य करता है, किंतु वह तद्विषयक साधारण सिद्धान्तोंको समझ लेनेकी परवा नहीं करता । ऐसी अवस्थामें इस वर्गके लोगोंको कभी किसी मायावी या धूर्तके जालमें फँस जानेका भी प्रसङ्ग आ जाता है ।* उस समय मन्त्र-तन्त्रके विरोधियोंको कुत्सित टीका-टिप्पणी करनेको मनचाहा अवसर मिल जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि श्रद्धालुवर्गकी भी तन्त्र-मन्त्रपर अश्रद्धा हो जाना स्वाभाविक ही है ।

मन्त्र-शास्त्रका विषय गहन और जटिल है । उसे समझ लेना साधारण बात नहीं । उसके सम्बन्धमें यहाँतक लिखा है कि—'एतद् गोप्यं महागोप्यं न देयं यस्य कस्यचित् ।' तथापि इस विषयका जो विवेचन शास्त्रमें किया गया है, वह अत्यन्त सुन्दर, बुद्धिपुरस्सर और मननीय है । उसे प्रकट कर देनेमें कोई आपत्ति नहीं । इसलिये इस लेखद्वारा शास्त्र-सम्मत विचार प्रकट करनेका कुछ प्रयास किया जा रहा है ।

भारतीय वाङ्मयमें मन्त्र-विद्याका आसन बहुत ऊँचा माना गया है । वैदिक-साहित्य, जैन-साहित्य और बौद्ध-साहित्यमें इस विषयपर स्वतन्त्र चर्चा की गयी है । जैसे काव्य, कोश, अलङ्कार, व्याकरण, न्याय और छन्द आदि विषयोंके स्वतन्त्र ग्रन्थ अलग-अलग हैं, वैसे ही मन्त्र-विद्याके सैकड़ों स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं । जैन-साहित्यमें नमस्कार मन्त्र-कल्प, प्रतिष्ठा-कल्प, चक्रेश्वरी-कल्प, ज्वालामालिनी-कल्प, पद्मावती-कल्प, सूरिमन्त्रकल्प, वाग्वादिनीकल्प, श्रीविद्याकल्प, वर्द्धमान-विद्या-कल्प, रोगापहारिणी-कल्प आदि अनेक कल्प-ग्रन्थ विद्यमान हैं । इसी प्रकार बौद्ध-साहित्यमें तारा-कल्प, वसुधारा-कल्प, घण्टाकर्ण-कल्प आदि अनेक ग्रन्थ मौजूद हैं । वैदिक-साहित्यमें तो इस शास्त्रका एक अलग भण्डार ही है; उसमें कात्यायनी, निर्वाण, कुलार्णव आदि अनेक और अपरिमित तन्त्र-ग्रन्थ मौजूद हैं । उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थोंमें कुछ छप भी गये हैं, पर इस विषयके अधिकांश महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अभीतक अप्रकाशित हैं और दिन-प्रतिदिन दुर्लभ होते जा रहे हैं । पर इन तीनों साहित्योंके मन्त्र-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थोंकी नामावली-मात्रसे ही यह बात प्रकट हो जाती है कि किसी समय इस विषयकी भारतमें बड़ी उन्नति थी ।

कल्प-ग्रन्थ—जिन ग्रन्थोंमें मन्त्र-विधान, यन्त्र-विधान, मन्त्र-यन्त्रोद्धार, बलिदान, दीपदान, आवाहन, पूजन,

* आजकल मन्त्र-तन्त्र आदिके ज्ञाता और सिद्ध कहलानेवाले या अपनेको ऐसा कहनेवाले लोगोंमें छल-कपटसे श्रद्धालु जनोंको ठगनेवाले धूर्तोंकी संख्या बढ़ गयी है । वे शब्दजाल और बाहरी आडम्बरसे कामनावाले लोगोंको फँसाकर उनका तन-धन लूटते हैं । हमारे पास ऐसे बहुत लोगोंके पत्र आते रहते हैं जो इस प्रकारके लोगोंके द्वारा ठगे गये हैं । अतः इस विषयमें बहुत सावधान रहना आवश्यक है—सम्पादक

विसर्जन और साधन आदि विषयोंका वर्णन किया गया हो, वे ग्रन्थ 'कल्प-ग्रन्थ' कहलाते हैं।

तन्त्र-ग्रन्थ—जिनमें गुरु-शिष्यके संवादरूपसे तथा शिव-पार्वतीके संवादरूपसे मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र और ओषधि-वल्ली आदि द्रव्योंका वर्णन होता है, वे 'तन्त्र-ग्रन्थ' हैं।

पटल-ग्रन्थ—किसी एक देवताको आराध्य मानकर उसी देवतासे सम्बन्ध रखनेवाली मन्त्र, यन्त्र आदिकी साधन-विधियाँ जिनमें लिखी हों तथा मान्त्रिक भूमिकाओंका वर्णन भी हो, अनेक काम्यकर्मोंमें निष्णात होनेकी बातें वर्णित हों, वे 'पटल-ग्रन्थ' कहलाते हैं।

पद्धति-ग्रन्थ—जिन ग्रन्थोंमें अनेक देवी-देवोंकी साधना-का प्रकार बताया गया हो, उन्हें 'पद्धति-ग्रन्थ' कहते हैं।

बीज-कोश—मन्त्रोंके पारिभाषिक शब्दोंको समझनेकी तथा एक-एक अक्षर तथा बीजकी अनेक व्याख्याएँ जिन ग्रन्थोंमें लिखी हों, उन्हें 'मन्त्र-कोश' या 'बीज-कोश' कहते हैं।

इस प्रकार कल्प, तन्त्र, पटल, पद्धति और बीज-कोश प्रभृति ग्रन्थोंमें मन्त्र-शास्त्रका साहित्य विभक्त है और इसका यह क्रम वैदिक, जैन और बौद्ध—तीनों प्रकारके साहित्योंमें विद्यमान है।

मन्त्र-साधन किस मार्गद्वारा करना चाहिये अर्थात् मन्त्र किस मार्गद्वारा सिद्ध हो सकता है, यह पहले जान लेना चाहिये। इस सम्बन्धमें मन्त्र-शास्त्रमें तीन मार्गोंका उल्लेख है, जो 'दक्षिण', 'वाम' और 'मिश्र' कहलाते हैं। सात्त्विक देवताकी सात्त्विक उपासना, सात्त्विक मन्त्र और सात्त्विक सामग्रीद्वारा करनेका जो मार्ग है उसे 'दक्षिणमार्ग' या 'सात्त्विक मार्ग' कहते हैं। मदिरा, मांस, मीन, माख और महिला आदि पाँच वस्तुओंसे युक्त भैरव-भैरवी आदि तामस प्रकृतिके देवी-देवताओंकी साधना और उपासना जिस मार्ग-द्वारा हो, वह 'वाममार्ग' कहलाता है। इसी प्रकार जिस मार्गमें मीन, मांस, मदिरा आदि पदार्थोंको प्रत्यक्षरूपमें न ग्रहण कर उनके प्रतिनिधियोंसे इष्टकी साधना करते हैं, उसे 'मिश्र-मार्ग' कहते हैं। पर वास्तवमें दक्षिण और वाम यही दो मार्ग हैं। वाममार्ग प्रायः तन्त्र-शास्त्रका विषय है। कल्प-ग्रन्थोंमें इसका वर्णन नहीं है। वाममार्गी प्रायः भैरव और काली आदि देवी-देवोंके उपासक होते हैं। नौ नाथोंको गुरु मानते हैं, गुरु-चरण-पादुका, श्रीचक्र तथा भैरवी-चक्रकी पूजा करते हैं। परंतु मन्त्र-शास्त्रके विषयमें इतना कहना आवश्यक है कि वाममार्गका प्रभाव मिश्रमार्गपर तो पड़ा ही है, दक्षिणमार्गपर भी इसका कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य है। इसीसे दक्षिणमार्गवाले भी तामस प्रकृतिके देवताओंकी आराधना करने लग गये। पुरुषाकृतिकी आत्म-शक्ति ही सच्ची शक्ति है। अतः आत्म-वस्तुपर विश्वास रखकर, इसके प्रभावको जानकर, मन्त्र-साधना करनेवाला दक्षिण-मार्गका भी साधक 'शाक्त' कहा जा सकता है। इसीलिये शाक्त कहलानेमें वह सङ्कोच नहीं करता। परंतु वाममार्गी तथा कौल अपनेको वाममार्गी या कौल कहलानेमें गर्व करते हैं। दक्षिणमार्ग सात्त्विक होनेसे प्रकट मार्ग है और वाममार्ग असात्त्विक होनेसे गुप्त मार्ग है। 'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः'की शिक्षा वे प्रथमसे ही देते हैं। जो हो, वाममार्गका बल अधिक बढ़ जानेसे ही सात्त्विक मन्त्रों और सात्त्विक देवताओंका भारतीयोंके द्वारा सिद्ध होना दुःसाध्य हो गया, जिससे कितनोंका स्वयं मन्त्र-शास्त्रसे विश्वास उठ गया।

मन्त्र-शास्त्रोंमें केरल, काश्मीर और गौड़ नामक तीन सम्प्रदाय प्रचलित हैं। वैदिक धर्मावलम्बी मान्त्रिकोंमें प्रायः केरल-सम्प्रदाय है, बौद्धोंमें गौड़ और जैनियोंमें काश्मीर-सम्प्रदाय है। काश्मीर-सम्प्रदाय सरस्वती प्रभृति सात्त्विक देवताओंके उपासक और दक्षिणमार्गी होते हैं। गौड़-सम्प्रदायवाले तारा तथा काली आदि तामस प्रकृतिके देवोंके उपासक और वाममार्गी होते हैं। केरल-सम्प्रदाय मिश्रमार्गी सम्प्रदाय है। इसमें प्रकट-रूपसे दक्षिण और गुप्त-रीतिसे वाममार्गका अवलम्बन किया जाता है। इस सम्प्रदायके साधक महालक्ष्मी प्रभृति रजस् प्रकृतिके देवताओंके उपासक होते हैं। सम्प्रदायके सम्बन्धमें लिखा है कि—

> संसारसारभूतत्वात् प्रकाशानन्ददानतः।
> यशःसौभाग्यकरणात् सम्प्रदाय इतीरितः॥
> (कुलार्णव)

> गुरुहीनात् क्रमत्यागात् सम्प्रदायवियोगतः।
> दारिद्र्यं प्रथमं भूयान्नात्र कार्या विचारणा॥
> (शक्ति-संगम)

ये दोनों श्लोक अत्यन्त विचारणीय हैं। किसी सम्प्रदायकी दीक्षा लिये बिना मन्त्र सिद्ध नहीं होता। इसलिये सम्प्रदायका अवलम्बन लेना साधकके लिये परमावश्यक है।

वेदागम, बौद्धागम और जैनागम—इस प्रकार मन्त्र-शास्त्रके भीतर तीन आगम हैं। जैनागम दक्षिणमार्गावलम्बी और काश्मीर-सम्प्रदायप्रधान है, बौद्धागम वाममार्गावलम्बी और गौड़-सम्प्रदायप्रधान है तथा वेदागम मिश्र-मार्गावलम्बी और केरल-सम्प्रदायप्रधान है। वैदिक मतावलम्बी मान्त्रिकवर्ग वेदागमको 'शैवागम' भी कहते हैं। इसका कारण यह बतलाते हैं कि मन्त्र-शास्त्रकी उत्पत्ति शिवजीसे हुई है। इसीलिये तन्त्र-शास्त्रोंमें शिव-पार्वतीके संवादरूपसे मन्त्र-यन्त्र-तन्त्रोंका वर्णन किया गया है।

मन्त्रशास्त्रके सम्प्रदायोंको चक्र-पूजा भी मान्य है। जैनोंके काश्मीर-सम्प्रदायमें 'सिद्धचक्र' (नवपदमण्डल-चक्र) की सात्त्विक पूजाका वर्णन है। केरल-सम्प्रदायमें 'श्रीचक्र' की पूजाकी विधि है और गौड़-सम्प्रदायमें 'भैरवी-चक्र'की पूजाका उल्लेख है। भैरवी-चक्रका पूजन करने-वालोंका यह सिद्धान्त है कि 'प्राप्ते तु भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजोत्तमाः।' चक्र-पूजाकी कल्पना ब्रह्माण्डपूजा या विश्व-पूजा, विश्वप्रेम और विश्व-सेवा-धर्मकी सूचक है।

मन्त्र दीक्षा—गुरुके समीप यथाविधि मन्त्रोपदेश लेनेको 'दीक्षा' कहते हैं। जिस सम्प्रदायकी विधिके अनुसार मन्त्र-दीक्षा ली हो, उसीके प्रकारसे साधना करनेसे मन्त्र सिद्ध होता है, अर्थात् मन्त्र-दीक्षा शिष्यकी योग्यताको सूचित करती है।

मन्त्र-पीठिका—मन्त्र-शास्त्रमें चार पीठिकाओंका वर्णन है। बिना पीठिकाके मन्त्र नहीं सिद्ध हो सकता। श्मशान-पीठ, शव-पीठ, अरण्य-पीठ और श्यामा-पीठ—ये चार पीठिकाएँ हैं।

श्मशान-पीठ—उसे कहते हैं, जिसमें प्रतिदिन रात्रिमें श्मशान-भूमिमें जाकर यथाशक्ति विधिसे मन्त्रका जप किया जाता है। जितने दिनका प्रयोग होता है, उतने दिनतक मन्त्रका साधन यथाविधि किया जाता है। जैन-ग्रन्थोंमें लिखा है कि श्रीकृष्ण वासुदेवके लघुभ्राता गज सुकुमाल मुनीश्वर इसी पीठिकामें परमेष्ठी महामन्त्रका साधन करते हुए आत्म-ज्ञानको प्राप्तकर सिद्धि और मुक्तिको पहुँचे थे। इसे 'प्रथम पीठिका' भी कहते हैं।

शव-पीठ—किसी मृतक कलेवरके ऊपर बैठकर या उसके भीतर घुसकर मन्त्रानुष्ठान करना शव-पीठिका है। यह पीठिका वाममार्गियोंकी प्रधान पीठिका है। कर्ण-पिशाचिनी, उच्छिष्ट-गणपति, कर्णेश्वरी, उच्छिष्ट चाण्डालिनी आदि देवताओंकी साधना तथा अघोर पन्थवालोंकी साधनाएँ इसी पीठिकाके द्वारा होती हैं।

अरण्य-पीठिका—मनुष्य-जातिका जहाँ संचार न हो, सिंह, श्वापद, सर्प आदि हिंस्र पशु-प्राणियोंकी जहाँ बहुलता हो, ऐसे निर्जन वन-स्थानमें किसी वृक्ष या शून्य मंदिर आदिका आश्रय लेकर मन्त्र-साधन करना और निर्भयतापूर्वक मनको एकाग्र रखकर तल्लीन हो जाना अरण्य-पीठिका है। निर्वाण-मन्त्रकी विधिमें लिखा है कि 'निर्वाणमन्त्रं यदि साधको जपेदरण्यभूमौ शिवसन्निधौ स्थितः।' अर्थात् 'अरण्यमें जाकर शिव-मन्दिरमें निर्वाण-मन्त्रका जप करनेसे शीघ्र सिद्धि होती है।' इतिहाससे पता चलता है कि प्रथमके ग्रन्थोंमें आत्मसिद्धि करनेके लिये निर्जन वनमें ही रहनेकी प्रथा थी। वे नगर, ग्राम आदिमें या उनके समीप नहीं रहते थे, सदा एकान्त वनमें ही रहकर आत्मध्यान किया करते थे। तब उनको अनेक सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती थीं। जबसे त्यागीवर्ग वनवास त्यागकर नगर, ग्राम आदिका आश्रय लेकर रहने लगा, तभीसे ये सिद्धियाँ नष्ट हो गयीं और वे माया-मोहमें फँसकर मारे-मारे फिरने लगे अर्थात् त्यागी जीवनके लिये एकान्तवास ही श्रेष्ठ है।

श्यामा-पीठिका—यह कठिन-से-कठिनतर है। विरला ही कोई महापुरुष इस पीठिकासे उत्तीर्ण हो सकता है। एकान्त स्थानमें षोडशवर्षीया, नवयौवना, सुन्दरी स्त्रीको वस्त्ररहित कर, सम्मुख बैठाकर साधक मन्त्र-साधनेमें तत्पर हो और मनको कभी भी यत्किञ्चित् भी विचलित न होने दे और कठोर ब्रह्मचर्यमें स्थिर रहकर मन्त्रका साधन करे। इसे 'श्यामा-पीठिका' कहते हैं। जैन-ग्रन्थोंमें लिखा है कि द्वैपायन-पुत्र मुनीश्वर शुकदेव, स्थूलीभद्राचार्य और हेमचन्द्राचार्यने इस पीठिकाका अवलम्बन किया था और मन्त्र-साधना करके वे विजेता हुए थे।*

---

* वैदिक, पौराणिक और वैष्णव आदि सात्त्विक मन्त्रोंके साधनमें इन पीठोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। एकान्त निरापद पवित्र अरण्य तो सभीके लिये उत्तम है। पर सात्त्विक मन्त्रोंके अनुष्ठान-जप तीर्थ-स्थानोंमें, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तटपर, देवमन्दिरोंमें और घरोंमें भी भली-भाँति किये जा सकते हैं। श्रद्धा, विधि और संयम-नियमका पालन तो आवश्यक है ही।

यहाँतक मन्त्रशास्त्रकी बहिरङ्ग आलोचना हुई, अर्थात् मन्त्रके साधनमें क्या-क्या बाहरी बातें होती हैं, यह हम संक्षेपमें बता चुके। अब यहाँ उसकी अन्तरङ्ग आलोचना करते हैं।

मन्त्र किसे कहते हैं? मन्त्र क्या वस्तु है? इससे क्या लाभ है? किस प्रकार लाभ हो सकता है? ऐसा होनेका क्या कारण है? ऐसे प्रश्नोंका होना स्वाभाविक है। इन प्रश्नोंके समाधानके लिये 'मन्त्र'-शब्दकी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। यह विषय व्यावहारिक नहीं है, इसका सम्बन्ध मानसशास्त्रसे है। मनकी एकाग्रतापर इसकी नींव है। इन्द्रियोंके विषयोंकी ओरसे लक्ष्य हटाकर मनको एकाग्रकर मन्त्रसाधन करनेसे मन्त्र सिद्ध होता है। मनकी चञ्चलता जितनी जल्दी हटेगी, उतनी ही जल्दी मन्त्र सिद्ध होगा। मन्त्र शब्दका शब्दार्थ भी महर्षियोंने यही किया है कि 'मननात् त्रायते यस्मात्तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः' (श० क० ६१७) अर्थात् 'म'कारसे मनन और 'त्र'कारसे रक्षण यानी जिन विचारोंसे हमारे कार्य सिद्ध हों वह 'मन्त्र' है। मन्त्र-विद्या योगका उच्चकोटिका विषय है। यह मनकी बे-तारकी तारवर्की है। हीप्रोटिज्म, मेस्मेरिज्म आदि इस विद्याके सम्मुख अत्यन्त तुच्छ हैं। मनसे वर्णोच्चारोंका घर्षण होनेसे एक दिव्य ज्योति प्रकट होती है। उन्हीं वर्णोंके समुदायका नाम मन्त्र है। इस विषयका ज्ञाता सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। इसलिये शास्त्रकारोंने मन्त्र-शब्दका अर्थ 'विचार' किया है। राजनीति-शास्त्रमें इसीसे लिखा गया है कि जिन विचारोंको गुप्त रखकर राज्य-तन्त्र चलाया जाता है, वे मन्त्र हैं। इसीलिये राज्य-तन्त्रके प्रधान संचालकको 'महामन्त्री' और उसके साथ काम करनेवालोंके समूहको 'मन्त्रिमण्डल' कहते हैं। प्रसिद्ध विद्वान् हेमचन्द्राचार्यने लिखा है—

तन्मन्त्राद्यषडक्षीणं यत्तृतीयाद्यगोचरम्।
रहस्यालोचनं मन्त्रो रहश्छन्नमुपह्वरम्॥
(श० क० ६१६)

मन्त्र साधकके योग्यतानुसार ही सिद्ध होता है। इसलिये मान्त्रिक कहा करते हैं कि 'जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिः' जपते ही चले जाओ! अवश्य सिद्धि होगी!

मनकी शुद्धिपर मन्त्र-शास्त्रकी नींव है। जबतक मनुष्यको विषय-लालसा रहती है, तबतक बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती। मन तल्लीन नहीं होता। वह विषयवासनासे क... रहता है। इसलिये कहा है कि यदि किसी कार्यको सि... करना हो तो वासनारहित होकर कार्यमें तल्लीन हो ज... चाहिये। तब वह शीघ्रतर सिद्ध हो जाता है। मन्त्रका ... तल्लीन होकर करनेसे मन्त्र शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है... पर मन्त्र-साधनके समय साधनीय कार्यकी ओर ही ल... रहनेसे मन्त्रमें तल्लीनता नहीं हो सकती। बार-बार उ... कार्यका स्मरण होता है। और बिना एकाग्रताके मन्त्र न... सिद्ध होता। यही मन्त्रशास्त्रका रहस्य है और वासनार... होकर एकाग्रता—तल्लीनता प्राप्त कर लेना सहज ... नहीं है। यह बड़ा ही कठिन है।

अब यन्त्र-साधनकी बात लीजिये। अष्टगन्ध, कुं... द्रव्य आदिकी स्याही बनाकर भोजपत्र, कागज या सु... रजत, ताम्र आदि धातुपत्रपर षड्दल, अष्टदल, शत... सहस्रदल तथा त्रिकोण, चतुष्कोण या वर्तुल रेखा... भीतर अक्षर या अङ्कोंको लिखना और उसका यथा... पूजन आदि कर साधन करना 'यन्त्र-साधना' कहलाती है। सिद्धचक्र-यन्त्र, श्रीचक्र-यन्त्र, भैरवीचक्र-यन्त्र, ऋषिम... यन्त्र, विजय-यन्त्र आदि हजारों यन्त्र हैं। किसी-कि... स्थलपर मन्त्र-यन्त्र दोनों साथ-साथ करने पड़ते हैं... किसी-किसी स्थलपर ऐसा नहीं भी है। किंतु यह ... विद्या भी मन्त्र-शास्त्रका ही एक अङ्ग है। वर्णों या अङ्कों... एकाग्रतापूर्वक लिखना ही इस साधनाकी मुख्य क्रिया है।

ओषधि-द्रव्योंके द्वारा कार्य सिद्ध करना 'तन्त्र-साध... है। कितने तन्त्रोंमें ओषधि-द्रव्योंके मिश्रणके साथ ... यन्त्रका भी उपयोग होता है। जड और चेतन-... संयोगद्वारा कार्य-साधन करना ही तन्त्र-साधनाका ... है और मन्त्र, यन्त्र तथा तन्त्रका एक दूसरेके साथ ... सर्वत्र उपयोग होता है, अतः तन्त्र-साधन भी मन्त्रशा... एक अङ्ग है।

मन्त्र, यन्त्र और तन्त्रसे क्या काम लिये जाते हैं, इसके लिये काम्य कर्मोंके प्रयोगोंका मान्त्रिकोंने वर्गी... किया है। वह 'वर्गीकरण' इस प्रकार किया है—

स्तम्भनं मोहमुच्चाटं वश्याकर्षणजृम्भणम्।
विद्वेषणं मारणं च शान्तिकं पौष्टिकं तथा।

विद्याप्रवादपूर्वस्य तृतीयप्राभृतादयम्।
उद्धृतः कर्मघाताय श्रीवैरस्वामिसूरिभिः॥
(मन्त्रद्वात्रिंशिका)

अर्थात्—'स्तम्भन, मोहन, उच्चाटन, वश्याकर्षण, जृम्भण, विद्वेषण, मारण, शान्तिक और पौष्टिक—इस प्रकार नौ प्रकारसे मन्त्रके प्रयोग हैं। यह श्रीवैरस्वामिसूरिजीने कर्मोंके घात करनेके लिये विद्याप्रवादपूर्वके तृतीय प्राभृतसे उद्धृत किया है।' किसी-किसीके मतसे सान्तानिक दसवाँ प्रयोग भी माना जाता है।

जिस मन्त्र, यन्त्र और तन्त्रके करनेसे चोर, डाकू, सर्प, श्वापद और परचक्र (शत्रुसेना) के आक्रमणका भय मिटकर वह जहाँका तहाँ अटक जाय, स्थगित रह जाय, उसे 'स्तम्भन' प्रयोग कहते हैं। जिस प्रयोगके करनेसे साधक किसीको भी अपने वशीभूत कर ले उसे 'मोहन'प्रयोग कहते हैं। राज-मोहन, सभा-मोहन और स्त्री-पुरुष-मोहन आदि मोहन-प्रयोगके तीन प्रकार हैं। इन तीनोंकी साधनाएँ भी पृथक्-पृथक् हैं। जिस प्रयोगके करनेसे विद्वेषी रोगाक्रान्त हो जाता है, उसका मन अस्थिर, उल्लासरहित तथा निरुत्साह हो जाता है, वह स्थान और पदसे भ्रष्ट हो जाता है, उस प्रयोगको 'उच्चाटन' कहते हैं। जिस प्रयोगके करनेसे इच्छित पदार्थ साधकके पास स्वयं चला आये, यदि चेतन प्राणी हो तो उसका विपरीत मन भी अनुकूल होकर साधककी शरणमें आ जाय, उसे 'वश्याकर्षण' कहते हैं।

जिस प्रयोगके करनेसे शत्रु आदि साधकसे डरने लग जायँ—भयभीत हो जायँ, काँपने लग जायँ, वही 'जृम्भण' प्रयोग है। जिस प्रयोग-बलसे देश, कुटुम्ब, जाति या समाजमें परस्पर विद्वेष-फूट-कलह होने लगे, उसे 'विद्वेषण' कहते हैं। आततायी, अन्यायियोंको आत्मशक्तिपूर्वक जिस मन्त्र-प्रयोग-द्वारा साधक प्राणदण्ड दे सके, उस प्रयोगका नाम 'मारण' है।

जिस प्रयोगके करनेसे महामारी, राजभय, परचक्र आदि भय, रोग और विप्लवोंकी शान्ति हो जाय, उसे 'शान्तिक' प्रयोग कहते हैं। वैद्यक-शास्त्रोंने भी लिखा है कि 'सिद्धवैद्यस्तु मान्त्रिकः' अर्थात् बिना औषधके मन्त्र-प्रयोग करके रोगोंको हटानेवाले जो वैद्य हैं। वे चारों प्रकारके वैद्योंमें श्रेष्ठ और 'सिद्ध वैद्य' कहलाते हैं।

जिस प्रयोगके करनेसे ऐश्वर्य बढ़े, सुख-प्राप्ति हो, देवदर्शन हो, शुभाशुभ भविष्य प्रतीत हो, सब कामनाएँ सिद्ध हों, उसे 'पौष्टिक' प्रयोग कहते हैं।

जिस प्रयोगके करनेसे वन्ध्याको भी पुत्रका लाभ हो जाय, वंशकी वृद्धि हो, उसे 'सान्तानिक' प्रयोग कहते हैं। मृत-वत्सा रोग आदिका उपाय इसी प्रयोगमें है।

[इनमें 'मोहन', 'उच्चाटन', 'जृम्भण', 'विद्वेषण' और 'मारण' तामसी प्रयोग हैं। इन्हें श्रेयसाधकको कभी नहीं करना चाहिये।]

इस वर्गीकरणमें १० प्रयोग बताये गये हैं, किंतु कितने ही तान्त्रिक-सम्प्रदायवाले केवल छः प्रयोग ही मानते हैं और उपर्युक्त दसों प्रयोगोंका छः प्रयोगोंमें ही अन्तर्भाव कर लेते हैं।

असल बात यह है कि पहले भारतमें इस विद्याका अधिक प्रचार था। परंतु जबसे इस देशमें मानसिक दुर्बलता बढ़ने लगी, यह विद्या भी कम होती गयी।

मन्त्र-विद्या-जैसी उपयोगी विद्याका पूर्ण ज्ञाता आज दृष्टिगत क्यों नहीं होता? भारतीय सम्प्रदायोंमें जितने सम्प्रदाय हैं, उन सबमें धर्मगुरु-द्वारा मन्त्र-दीक्षा लेनेकी प्रणाली अभीतक मौजूद है। पर उन धर्मगुरुओंमें और उनके दिये हुए मन्त्रोंमें 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' की सामर्थ्य नहीं है। बात यह है कि मन्त्रदाता गुरु और मन्त्र-दीक्षा लेनेवाला शिष्य कैसे होने चाहिये। साधना किस प्रकार करनी चाहिये, आदि बातोंको समझकर दीक्षा आदि होनेसे उसमें शक्ति आती है। केवल बाहरी दिखावेसे कुछ नहीं होता।

मन्त्रदाता गुरु और दीक्षा लेनेवाला शिष्य कैसा हो, इस सम्बन्धमें मन्त्र-शास्त्र यह कहता है—

पूर्वमात्महितं ज्ञात्वा सूरिणा गुणसूरिणा।
शिष्यस्यापि हितं चिन्त्यं दातुकामेन काञ्चनम्॥
(भद्रगुप्ताचार्य)

अर्थात् गुरु अपने हितका विचार कर, शिष्यके हितको भी जानकर निःस्पृहभावसे मन्त्रदान करे, किंतु काञ्चन आदिके लोभसे न करे।

मन्त्राधिकारीके लिये लिखा है—

दक्षो जितेन्द्रियो धीमान् कोपानलजलोपमः ।
सत्यवादी विलोभश्च मायामदविवर्जितः ॥
मानत्यागी दयायुक्तः परनारीसहोदरः ।
जितेन्द्रो गुरुभक्तश्च मन्त्रग्राही भवेन्नरः ॥

(भद्रगुप्ताचार्य)

अर्थात् 'जो चतुर, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, शान्त, अक्रोधी, सत्यवादी, निर्लोभी, कपट, अहंकार और अभिमानसे रहित, दयायुक्त, परस्त्रीत्यागी, जितेन्द्रिय और गुरुका भक्त हो, वही मन्त्र लेनेयोग्य शिष्य हो सकता है।' इसी प्रकार और भी कई महत्त्वपूर्ण बातें हैं, जिनकी उपेक्षासे आज मन्त्रशास्त्रकी अवनति हो रही है ।

तन्त्र-ग्रन्थोंके कर्त्ता मान्त्रिकोंने शिवजीसे इस शास्त्रकी उत्पत्ति बतलायी है । पर कल्प-ग्रन्थोंके कर्त्ता मान्त्रिकोंने 'पूर्वधरों'से इसका विकास हुआ माना और इस विद्याका अधिकारी 'त्यागीवर्ग'को ही कहा गया है । मन्त्र-शास्त्रकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेक मत हैं । तथापि यह निर्विवाद सिद्ध है कि भारतकी उन्नतिके पूर्ण विकासके समय यह विद्या प्रचलित थी; फिर बादको यह विद्याधर आदि कुलोंमें भी पहुँची । तदनन्तर इसके अनेक रूपान्तर हुए और आज तो यह छिन्न-भिन्न दशामें बहुत ही कम अवशिष्ट रह गयी है ।

आज मान्त्रिक कहलानेवाले मन्त्राधिष्ठायक देवताके दास बनकर पूजा-स्तुति-भक्ति करते हैं और देवताको प्रसन्न करना चाहते हैं । (वरं आज तो ऐसे लोग अधिक बढ़ रहे हैं जो या तो मन्त्रशास्त्रपर विश्वास ही नहीं करते । या अपनेको मन्त्रशास्त्रके ज्ञाता बताकर भोले श्रद्धालु नर-नारियोंका तन-धन अपहरण करते हैं ।) पर 'त्यागीवर्ग' ऐसा नहीं करता था । त्यागी मन्त्राक्षरोंको जपते थे अवश्य, परंतु मन्त्राक्षरोंके सभी वर्णोंको लोम-विलोम-सन्निपात करके वे स्वयं मन्त्ररूप हो जाते थे और तब उनकी तपश्चर्या तथा एकाग्रतासे, आत्मिक स्वरूप प्रकट हो जानेसे, मन्त्रा-धिष्ठायक देवता स्वयं आकर उनकी सेवा-भक्ति करने लग जाता था और उनके अधीन बना रहता था । जिस कार्यके लिये उनकी इच्छा देखता था, वह कार्य उनके बिना कहे ही देवता स्वयं करने लग जाता था । इसे वह अपना सौभाग्य समझता था कि आज मैं इस महात्माकी सेवा कर कृतकृत्य हुआ । यह विषय अत्यन्त उच्च कोटिका है । ऐसे महात्माके लिये लिखा भी है कि— 'देवाऽपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मः सहायकः ।' इसी प्रकार तन्त्रोंमें भी लिखा है—

देवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः ।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवताः ॥

इसका मतलब भी यही है कि मन्त्रके अधीन मन्त्रा-धिष्ठायक देवता हैं और वे मन्त्र ब्रह्मज्ञानी (आत्मज्ञानी) महापुरुषोंके अधीन हैं, इसलिये आत्मज्ञानी महापुरुष स्वयमेव साक्षात् देव-स्वरूप है । उसको दूसरे देवताकी उपासना करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं रहता । उपर्युक्त श्लोकमें जो 'ब्राह्मण' शब्द आया है, वह हमारी धारणामें जातिवाचक नहीं है, गुण-वाचक है । इसलिये यहाँ 'ब्राह्मण' शब्दका आत्मनिष्ठ अर्थ करनेसे ही अर्थकी संगति लगती है । अतएव मन्त्र वही सिद्ध कर सकता है जो अध्यात्म-विद्याका ज्ञाता होता है । काश्मीर-सम्प्रदायके मान्त्रिक सरस्वतीके उपासक होते हैं । 'मुखे प्रसरणं यस्याः सा सरस्वती' यह 'सरस्वती' शब्दकी व्युत्पत्ति है । अर्हन्मुखपद्ममें वास करनेवाली वाणी भगवद्-वाणीका नाम ही सरस्वती है । यह सात्त्विक उपासना है । यह सिद्धि और मुक्तिकी दाता है । राजस और तामस उपासना करनेसे लौकिक कार्य हो भी जायँ तो भी परलोकसिद्धि नहीं होती । इसलिये ऐसी उपासनाएँ हेय तथा त्याज्य हैं । परंतु कलिकालकी महिमा अगम और अपार है । भारतीय सम्प्रदायोंके आचार्योंने भी मोहमें फँसकर ऐसी उपासना करनी प्रारम्भ कर दी थी । सर्व-गृह-परित्यागी संन्यासियोंके आचार्यगण भी माया-देवीकी पूजा करने लग गये हैं । भारतीय जनतामें मन्त्र-शास्त्रका सच्चा स्वरूप जाननेवाले लोग बहुत ही घट गये हैं और ऐहिक कामनाओंके अभिलाषीवर्गकी वृद्धि हो गयी है । मान्त्रिक स्वयं मन्त्रस्वरूप बनकर देवताओंको अपना आज्ञाकारी बनाना भूल गये हैं और स्वयं आज्ञाकारी बन बैठे हैं । वरं आज तो दम्भियों और अश्रद्धालुओंकी ही संख्या बढ़ी है । यह दुर्भाग्य है ।

मन्त्र-उपासनाके प्रभावसे भय, विपत्ति तथा विषूचिकाका निवारण

(लेखक—श्रीनारायणजी पुरुषोत्तम सांगाणी)

वेद-शास्त्र-पुराण आदि हिंदूधर्म-ग्रन्थोंमें मन्त्र-उपासनाके द्वारा इस लोक और परलोकके सुख-अभ्युदय प्राप्त करनेके प्रसङ्ग पद-पदपर आये हैं। वीर विक्रमादित्यके समयतक जब लोगोंपर किसी प्रकारकी संकट-भय-विपत्ति आती अथवा सुख-उन्नति-स्वर्ग या मोक्षकी अभिलाषा पूर्ण करनेकी उत्सुकता होती, तो लोग मन्त्र, उपासना, योग, तप अथवा भक्तिका ही आश्रय ग्रहण करके संकट-विपत्तिसे छूटते और महान् सत्कार्योंमें सफलता प्राप्तकर कृतार्थ होते थे।

साधारण मनुष्यकी बात छोड़ दीजिये, साक्षात् मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-जैसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भी जब राक्षसराज रावणको दण्ड देनेके लिये लङ्कापर चढ़ाई कर रहे थे, उस समय कार्यकी शीघ्र सिद्धिके लिये महर्षि अगस्त्यने उनको 'आदित्य-हृदय'का उपदेश किया और उसकी उपासनासे भगवान् रामचन्द्रजी रावणका संहार करके विजयी बने।

दुर्योधनके छल-कपटके शिकार होकर धर्मराज युधिष्ठिर जब वनवास करने लगे, तब धर्मराजके रोकनेपर भी हजारों धर्मात्मा तपस्वी ब्राह्मण उनके साथ वनमें निवास करने लगे; परंतु वनके उस दुःखप्रद कालमें ब्राह्मणोंके भोजन-पोषण आदिके लिये युधिष्ठिरके पास कुछ भी नहीं था। तब वे बड़े संकोचमें पड़कर चिन्ता करने लगे। उस समय उनके पुरोहित धौम्य ऋषिने विषादग्रस्त धर्मराजको सूर्यनारायणका मन्त्र बताकर उसका अनुष्ठान करनेकी विधि बतलायी। सूर्यमन्त्रकी उपासनासे तत्काल भगवान् सूर्यनारायण प्रसन्न होकर प्रकट हुए और उन्होंने महाराज युधिष्ठिरको एक 'अक्षय पात्र' दिया। उस अक्षय पात्रमेंसे सती द्रौपदी हजारों ब्राह्मणों तथा अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन करवाकर अन्तमें स्वयं भोजन करती और अक्षय पात्रको धोकर रख देती। जबतक वह ऐसा नहीं करती, उस पात्रका अन्न कभी समाप्त नहीं होता।

अपनी माता कैकेयीके अपराधसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको बिना ही अपराध वनमें जाना पड़ा। 'यह अत्यन्त अनुचित बात हुई और केवल मेरे ही कारण हुई'—ऐसा मानकर भरतजी श्रीरामचन्द्रजीको मनाकर और उनसे क्षमा-प्रार्थना करके वापस लौटानेको वनमें गये। अयोध्याकी सारी प्रजा प्रभु श्रीरामचन्द्रजीको अपना सर्वस्व मानती थी; अतः भरतजीके साथ हो गयी। रास्तेमें प्रयाग पहुँचते-पहुँचते रात्रि हो गयी। अतएव त्रिवेणीके तटपर आश्रम बनाकर भगवत्-आराधन करनेवाले मुनि भरद्वाजने भरतजीका आतिथ्य-सत्कार किया; साथ ही भरतजीके साथ आये हुए हजारों अयोध्यावासियोंको भी सुविधाके साथ अपने आश्रममें ठहराकर, तपोबलके प्रभावसे कामधेनुके द्वारा अलौकिक स्वादिष्ट मनोवाञ्छित पदार्थ उत्पन्न करके सबका सत्कार किया।

कौरवोंके पास विपुल धन-जन तथा भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और कर्ण-जैसे प्रचण्ड पराक्रमी योद्धाओंका बल देखकर युधिष्ठिर-अर्जुन-भीमके मनमें भी ऐसी भावना प्रकट हुई कि 'हमलोगोंके पास भी कुछ दिव्य शक्ति होनी चाहिये और उसके होनेपर ही हम विजय प्राप्त कर सकेंगे।'—अतएव भाइयोंकी सम्मति लेकर अर्जुनने तत्काल हिमालयकी ओर प्रयाण किया और सर्वप्रथम भोलानाथ भगवान् शंकरका आराधन-तप करके उनकी प्रसन्नता प्राप्त की तथा उनसे मन्त्रके साथ पाशुपतास्त्र नामक दिव्य अस्त्र प्राप्त किया। तदनन्तर इन्द्र, वरुण, वायु, यम, अग्नि, चन्द्र आदि देवताओंका स्मरण किया। वहीं इन्द्रका भेजा हुआ देवसारथि मातलि रथ लेकर आ गया और नरपुङ्गव अर्जुन उसमें बैठकर सदेह स्वर्ग गये। वहाँ संयम-नियमका पालन करते हुए पाँच वर्ष रहकर देवताओंके अस्त्र-शस्त्रका ज्ञान मन्त्रोंके साथ ग्रहण किया। तदनन्तर जब देवताओंको गुरुदक्षिणा देनेकी बात अर्जुनने की, तब इन्द्रादि देवताओंने समुद्रमें निवास करनेवाले निवातकवच और पौलोम नामक साठ हजार अत्यन्त बलवान् भयानक राक्षसोंसे, जिनके भयसे स्वर्गके देवता रात-दिन नींद-भूख भूलकर काँपते रहते थे, रक्षा करनेकी माँग की। अकेले अर्जुनने वहाँ जाकर राक्षसोंको ललकारा और युद्धमें उनका संहार करके देवताओंको प्रसन्न किया एवं पृथ्वीपर आकर

भाइयोंसे मिले तथा कौरवोंके साथ अठारह दिन युद्ध करके नरवीर अर्जुनने अपनी साधनासे प्राप्त दिव्य अस्त्रोंका अनुपम अमित पराक्रम दिखाया और सारी कौरव-सेनाका संहार करके 'न भूतो न भविष्यति'—जैसी अलौकिक विजय प्राप्त की।

मगध देशके नन्दराजाने विना किसी अपराधके धर्मात्मा विद्वान् ब्राह्मण कौटिल्यको, जिनका दूसरा नाम चाणक्य था, अच्छी सलाह देनेपर भी उल्टा अपमान करके निकाल दिया। इससे उस उन्मत्त राजाके अन्यायपूर्ण अस्तित्वका नाश करनेके लिये चाणक्यने एकान्त निवास कर अथर्व-वेदके मारण-तारण-उच्चाटन आदि मन्त्रोंका विधिवत् प्रयोग किया, जिससे नन्दराजाका वंशसहित जड़-मूलसे नाश हो गया और उसके स्थानपर चाणक्यने चन्द्रगुप्त मौर्यका राज्य स्थापित किया।

तात्पर्य यह है कि भय-विपत्तिके समय भगवान्‌की शरणागति स्वीकार करके मन्त्र-उपासना करनेपर ही उद्धारका मार्ग मिल सकता है।

आज भारत और उसके चालीस करोड़ हिंदुओंपर, दो-चार-दस नहीं, सैकड़ों प्रकारके आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक भय, विपत्ति और संकटोंके पहाड़ दसों दिशाओंसे टूट पड़े हैं। सारा देश अन्तर और बाहरके शत्रुओंसे घिर गया है। जहाँ अन्न-वस्त्रके अटूट भण्डार भरे रहते थे और बल, बुद्धि, वीर्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, वैभव स्वर्गको भी लज्जित कर दें, ऐसा अतुलनीय था, वहाँ आज मुट्ठीभर सड़े गेहूँ, चावल, तेल, चीनी, गुड़ आदिके लिये लोगोंको पंद्रह गुने अधिक दैसे देनेपर भी निराश होना पड़ रहा है। समाजवादके नामपर अधर्मकी ऐसी ज्वाला भड़क उठी है कि प्रतिदिन तीस हजार जगत्-जननी गायोंका वध हो रहा है! हिंदू अपने वेद-शास्त्र, वर्णाश्रम-धर्म, जाति-पाँति, आचार-विचार, स्पृश्यास्पृश्य, विवाह-मर्यादा, पवित्र खान-पान, भाषा-भाव, रहनी-करनी, वस्त्राभूषण, तौल-नापके बाट, रुपया-पैसा अपने इच्छानुसार नहीं रख सकता और जहाँ हिंदू तथा हिंदुत्वको प्रायः देशनिकाला हो गया है, वहाँ ऐसे भीषण भयावह कालमें जगन्नियन्ता श्रीहरिका आश्रय और मन्त्र-उपासना, योग-तप तथा भक्तिका अवलम्ब किये विना छुटकारा ही नहीं है।

अब अपने प्रत्यक्ष अनुभवकी बात प्रमाणरूपमें लि[illegible] जा रही है। हमने कई बार जिन दो मन्त्रोंका आश्रय लिया और जिसमें पूरी-पूरी सफलता प्राप्त की है, उन्हींको यहाँ लि[illegible] रहा हूँ। एक मन्त्र है—श्रीमद्भागवतका 'नारा[illegible] कवच'। धूप-दीप करके, एकाग्रचित्तसे, श्रद्धा-भक्तिपूर्व[illegible] एकान्तमें स्नानादिसे शुद्ध हो आसनपर बैठकर पाँच [illegible] 'नारायण-कवच'का पाठ किया जाय और उसके [illegible] विष्णुसहस्रनामका एक पाठ किया जाय तो महान्‌से महान् भय टल जाता है और मरणासन्न मनुष्य भी मृत्युके मुँहसे लौट आता है। 'नारायण-कवच' गीताप्रेस तथा [illegible] बहुत जगह साधारण मूल्यमें मिल सकता है। इसलिये यहाँ उद्धृत नहीं किया गया।

दूसरा प्रयोग हैजा या विशूचिका-जैसे प्राणघातक रोगको हटानेका है। हमने स्वयं एक छः वर्षके बालक[illegible] जिसको पचीस-तीस बार उल्टी-दस्त हो चुके थे और जिसके जीवनकी आशा बिल्कुल नहीं रह गयी थी तथा जो बेहोश पड़ा था, एवं जिसकी बोली बंद हो गयी थी, इसका प्रयोग किया। हमने स्नानादिसे शुद्ध होकर धूप-दीप करवाकर एक कटोरेमें गङ्गाजल लिया और कटोरेको बायें हाथमें रखकर, दाहिने हाथसे रोगीपर निम्नलिखित योगवासिष्ठका मन्त्र बोलते हुए उस जलसे बालकका मार्जन किया—

ॐ ह्रीं ह्रां रीं रां विष्णुशक्तये नमः। ॐ नमो भगवति विष्णुशक्ति मेनां ॐ हर हर नय नय पच प[illegible] मथ मथ उत्सादय दूरे कुरु स्वाहा। हिमवन्तं गच्छ जी[illegible] सः सः सः चन्द्रमण्डल गतोऽसि स्वाहा॥

इस प्रकार मन्त्रोपासना करनेपर आधे घंटेमें ही बालकको नींद आ गयी और सबेरे वह बिल्कुल अच्छी स्वस्थ हालतमें उठकर खेलने लगा। जब यूरोप-अमेरिकाके वैज्ञानिक अपनी तरङ्गके अनुसार वस्तुके लिये प्रयोग करते हैं और जड़ होनेपर भी सफलता प्राप्त करते हैं, तब यदि अपने हिंदू विद्वान् विचारकगण साक्षात् ईश्वरस्वरूप वेद-शास्त्रके मन्त्रोंकी उपासना करें, तो प्रातःस्मरणीय ऋषि-मुनियोंकी भाँति वे सफलता क्यों नहीं प्राप्त कर सकेंगे! अवश्य कर सकेंगे। इति ॐतत्सत् शान्तिः।

जप-माला

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी चतुर्वेदी, शास्त्री, धर्माधिकारी)

उपासनाके क्षेत्रमें जपका बड़ा महत्त्व है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' (१० । २५) 'यज्ञोंमें मैं जप-यज्ञ हूँ।' अतः स्पष्ट है कि जपके द्वारा इहलौकिक सुख एवं पारलौकिक सद्गतिकी प्राप्ति ही नहीं, भगवत्प्राप्ति तक हो जाती है।

व्याकरणके अनुसार 'जप' धातुके 'जप व्यक्तायां वाचि' तथा 'जप मानसे च' दो अर्थ हैं। अर्थात् स्पष्ट बोलना और मनसे कहना जप कहलाता है; परंतु उपासना-ग्रन्थोंमें 'जप मानसे' का महत्त्व विशेष बताया गया है।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(मनु० २ । ८५)

अर्थात् 'विधियज्ञसे (पूर्णिमा, अमावास्या आदिपर किये गये उत्तम यज्ञ-यागादिसे) जपयज्ञ दशगुणा, उपांशु (जिस जपको कोई सुन न सके) सौ गुणा एवं मानस जप हजार-गुणा पुण्यप्रद है।' परंतु इस विशेष पुण्यकी प्राप्ति तभी होगी जब जप विधिवत् हो। इसके लिये कुछ नियम हैं और उनके पालन न होनेपर जपकी सिद्धि नहीं होती। जप-सिद्धि-हेतु निम्नलिखित नियम आवश्यक हैं, जिनमें सर्वप्रथम 'शिखा-बन्धन' कहा गया है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्॥

अर्थात् '(द्विजमात्रको) सदा जनेऊ पहिनना चाहिये तथा सदा ही (धार्मिक कार्योंमें) शिखामें ग्रन्थि लगाये रहना चाहिये। इनके बिना जो कार्य किया जाता है, वह सफल नहीं होता।' अतः स्नान करके जपके पूर्व शिखामें गाँठ लगावे। शिखाके साथ ही आसनका भी जपमें बड़ा महत्त्व है। बिना आसनके जप नहीं करना चाहिये और दूसरेके बैठनेके आसनपर भी बैठकर जप नहीं करना चाहिये। भूमिपर बैठकर जप करनेसे दुःख, बाँसके आसनपर दरिद्रता, पत्थरपर बैठकर जप करनेसे व्याधि, छिद्रयुक्त काष्ठपर दुर्भाग्य, तृणपर धन एवं यशका नाश तथा पत्तोंपर बैठकर जप करनेसे चित्तमें भ्रम होता है। ब्रह्माण्डपुराणके निम्नाङ्कित वचनके अनुसार—

काम्यार्थं कम्बलं चैव श्रेष्ठं च रक्तकम्बलम्।
कुशासने मन्त्रसिद्धिर्नात्र कार्या विचारणा॥

'काम्यकर्ममें कम्बलका आसन और वह भी लाल हो तो श्रेष्ठ है। तथा कुशासनपर बैठकर जप करनेसे अवश्य सिद्धिकी प्राप्ति होती है।'

इस प्रकार जिस निमित्तसे जप किया जाय, उसके अनुसार उपयुक्त आसनपर बैठकर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके जप करना चाहिये। उड्डीशतन्त्रमें इसका भी नियम है—

जपेत्पूर्वमुखो वश्ये.....................
पश्चिमां धनदां विद्यादुत्तरे शान्तिकं भवेत्।
आयुष्यरक्षाशान्तिं च पुष्टिं चापि करिष्यति॥
(११४ उड्डीशतन्त्र)

अर्थात् 'वशीकरणमें पूर्वमुख, धन-प्राप्तिहेतु प्रयोगमें पश्चिमको मुख, आयुरक्षार्थ शान्ति एवं पुष्टिकर्ममें उत्तरको मुख करके जप करे।'

जप करते समय पैर फैलाकर बैठना, बीच-बीचमें बातें करते-करते जप करना, नख काटना, रस्सी-तिनका या डोरा तोड़ना, शरीर कँपाना, बालोंको बाँधना आदि कार्य निषिद्ध हैं। ऐसा भारद्वाजस्मृति १ । २ । ८ में लिखा है। उपर्युक्त नियमोंका पालन करते हुए जपकी संख्या (गिनती) रखते हुए जप करना चाहिये। इसके लिये माला आवश्यक है। अङ्गिरा-स्मृतिमें लिखा है—

बिना दर्भैश्च यत्कृत्यं यच्च दानं विनोदकम्।
असंख्यया तु यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत्॥

अर्थात् बिना कुशके धर्मकार्य, बिना जलके दिया गया दान तथा संख्याहीन जप निष्फल हो जाता है। संख्या (गिनती) के लिये माला आवश्यक है। अतः

मालासे जप करना चाहिये; चाहे वह मणियोंकी हो, रुद्राक्षकी हो या कर-माला ही क्यों न हो। मणियों (गुरियों) की मालाओंमें रुद्राक्ष मालाका बड़ा महत्त्व है। इसके सम्बन्धमें उड्डीशतन्त्रमें लिखा है—

'रुद्राक्षमालया जप्तो मन्त्रः सर्वफलप्रदः।'
(२६। १०६)

—रुद्राक्षकी मालाद्वारा जप करनेसे सब फलोंकी प्राप्ति हो जाती है। शिव-रहस्यके अनुसार रुद्राक्ष १ से लेकर १४ मुखवाला तक होता है। जो—

एकवक्त्रः शिवः साक्षाद् ब्रह्महत्यां व्यपोहति।
चतुर्दशास्यः श्रीकण्ठो वंशोद्धारकरः परः॥

इस श्लोकके अनुसार उत्तरोत्तर अधिकाधिक फलदायक है। रुद्राक्षकी मालाके विषयमें कहा गया है—

अष्टोत्तरशतं कार्या चतुष्पञ्चाशदेव वा।
सप्तविंशतिमाना वा ततो हीनाधमा स्मृता॥

'रुद्राक्षकी माला १०८ दानोंकी, ५४ दानोंकी अथवा २७ दानोंकी हो तो श्रेष्ठ है। इससे हीन अधम कही गयी है।'

यद्यपि जपके लिये रुद्राक्षमाला श्रेष्ठ कही गयी है, तथापि कामना-विशेषकी सिद्धिके लिये कुछ विशेष वस्तुओंकी मालाएँ भी उत्तम कही गयी हैं। जैसे विद्याप्राप्ति या सिद्धिके लिये किया जानेवाला जप स्फटिक या मोतियोंकी मालासे सद्यः सिद्धिप्रद है। शङ्ख एवं मणियोंकी माला धर्म-सिद्धिप्रद है। तान्त्रिक प्रयोगोंमें तथा पुष्टिकर्ममें मूँगा, हीरा या मणियोंकी माला सिद्धिप्रद है। आकर्षणमें मदमाते हाथीके दाँतकी माला सिद्धिदायक है। कमलगट्टोंकी माला भी सब कार्योंमें सिद्धिदायक है। वैष्णवोंके लिये तुलसीकी माला बड़ी ही उत्तम कही गयी है तथा जपमें कुशग्रन्थिकी माला भी श्रेष्ठ मानी गयी है। मालाके प्रत्येक मणिके बीचमें ग्रन्थि होनी चाहिये। शान्ति तथा पुष्टिके लिये जपमें अंगूठेके अग्रभागसे मालाका चालन करना चाहिये। १०८ दानोंसे अधिक मालाके जपमें सुमेरुका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये तथा मालाको गोमुखीमें डालकर अथवा कपड़ेसे ही ढककर जपना चाहिये। यदि माला उपलब्ध न हो,तो करमालासे भी जप किया जाता है। इस जपमें अनामिकाके बीचके पोरवे अनुक्रमसे अनामिकाके नीचेके पोरवासे तर्जनीके मूल पोरवा तक दस संख्या मानी गयी है और करमालामें मध्यमा के बीच एवं मूलके पोरवाको सुमेरु माना गया है। दूसरी बार जपते समय अँगूठेको उसके नीचेसे ले जाते हैं। प्रातःकाल जप करते समय हथेली सीधी रखकर, अँगुलियाँ ऊपरकी ओर करके, मध्याह्नमें हृदयके समीप हाथ टेढ़ा करके तथा सायंकाल हाथको उलटा करके जप करना चाहिये।

प्रातःकालमें नाभि, मध्याह्नमें हृदय और संध्याकालमें नासिकाके समीप हाथ रखकर जप करना चाहिये।

जपका फल घरमें बैठकर करनेसे एकगुणा, गायोंके पास जपनेसे सौ गुणा, उद्यान, वन या तीर्थमें हजारगुणा, पर्वतपर दस हजारगुणा, नदीतटपर लक्षगुणा, देवालयमें कोटिगुणा तथा शिवके समीपमें अनन्तगुणा (फलप्रद) होता है।

इन सब नियमोंके साथ संकल्प करके तथा न्यास-ध्यानके साथ जपारम्भ करना चाहिये और अन्तमें भी न्यासादि करके आसनके नीचे जल छोड़कर मृत्तिकासहित उस जलको मस्तकसे लगाना चाहिये। अन्यथा जपके फलको इन्द्र ले लेते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विधिसे किये गये जपसे निश्चित सिद्धि होती है; परंतु सिद्धिके लिये यह भी अत्यावश्यक है कि मन्त्र गुरुके द्वारा दिया हुआ हो; क्योंकि शिवजीका वचन है—

पुस्तके लिखिता विद्या नैव सिद्धिप्रदा नृणाम्।
गुरुं विनापि शास्त्रेऽस्मिन्नाधिकारः कथंचन॥
(उड्डीशतन्त्र)

अर्थात् 'पुस्तकमें लिखी विद्या मनुष्योंको सिद्धि नहीं देती। तन्त्र-शास्त्रमें बिना गुरुके उपदेशके किसी प्रकारके कार्यका अधिकार नहीं है।'

अतः जब उपासनाकी इच्छा जाग्रत् हो, तब किसी सद्गुरुसे विधिवत् मन्त्रकी दीक्षा लेकर जप करना चाहिये।

सुखका साधन जप

[ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाई व्यासका पत्र]

(प्रेषक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

काल बलवान् है। उसके हाथके सब खिलौने हैं। इस विषम स्थितिको भी काल खा जायगा। ईश्वरकी शरणमें जानेसे सब विपत्तियोंसे रक्षा होती है। तुमने गत पत्रमें ईश्वरके नामके जपके विषयमें लिखा था। इस जपमें ही सब सिद्धियाँ हैं। परंतु मनुष्य धैर्य रखकर इसका सेवन नहीं करता। श्रीरामदास स्वामी 'श्रीराम जय राम जय जय राम'—इस मन्त्रका जाप करते थे। वे सबेरे उठकर नहा-धोकर जलाशयमें खड़े होकर सबेरे चार बजेसे संध्या चार बजेतक जप करते थे। चौदह वर्षतक यह जप चला। श्रीविद्यारण्य स्वामीने गायत्रीका जप किया। उन्होंने चौबीस पुरश्चरण किये। चौबीस लाख मन्त्र-जपका एक पुरश्चरण होता है। इन दोनों महात्माओंकी जप-सिद्धि जगत्-प्रसिद्ध है। यह सबके लिये है। ईश्वरके नामका जप करनेवालेको धैर्यपूर्वक बराबर जप करते रहना चाहिये। अपने उद्यम-धंधेसे बचे फुरसतके समयका जितना सदुपयोग करोगे, उतनी ही अधिक फुरसत मिलेगी। उद्यम-धंधेमें ईश्वर अनुकूलताकी चाबी स्वयं प्रदान करेंगे। विचार करनेकी बात यह है कि कितना समय उद्यम-धंधेमें बीतता है, कितना ईश्वर-स्मरणमें जाता है। फलके लिये आतुर न होकर सतत जपमें लगा रहे।

शिथिलता, प्रमाद, मोह, क्रोध, आलस्य, निद्रा—ये पापके फल हैं। जिस समय ये उपस्थित होते हैं, मानो महाजन बनकर कर्जा वसूल करने आते हैं। उस समय खूब उत्साहपूर्वक ईश्वरका स्मरण करे, इसीसे इनका शमन होगा। ईश्वर-स्मरणके विघ्न ईश्वरके स्मरणसे ही नाशको प्राप्त होते हैं। ईश्वर-स्मरणका फल बहुत है; परंतु उसको मार्गमें आनेवाले काम, क्रोध और लोभादि खा जाते हैं। अतएव ईश्वर-स्मरण करनेवालेको भोगके लिये सहज प्राप्त होनेवाले पदार्थोंके सिवा अन्यकी इच्छा नहीं करनी चाहिये और प्राप्त भोगको भी उसी प्रकार अल्प मात्रामें भोगना चाहिये, जैसे रोगनिवारणके लिये ओषधि लेते हैं। अर्थात् भोगमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

दूसरे, क्रोध न करे। महान् तपस्वियोंके तपको क्रोध क्षण भरमें खा जाता है। शरीरमें रहनेवाला क्रोध राक्षसके समान अपने मांसके खूनको चूसता है। इतना ही नहीं, बल्कि मस्तिष्कको भी चट कर जाता है, मोहको उत्पन्न करता है। ईश्वरके मार्गसे साधकोंको काम और क्रोध, इन दोनोंने बहुतोंको भ्रष्ट किया है। क्रोधके दमनका उपाय 'मौन है।'

अन्तःकरणकी वृत्तिको इस जगत्के पदार्थोंसे हटाकर ईश्वरकी ओर दौड़ावे। इसीका नाम 'योग' है। इसके करनेका उपाय है—ईश्वरका स्मरण। अभ्यास और वैराग्यसे इसकी साधना होती है। ईश्वरके नामका जप 'अभ्यास' है। इस जगत्के पदार्थोंके भोगसे धीरे-धीरे उपरामताकी वृत्तिका नाम 'वैराग्य' है।

संसारमें तीन वस्तुएँ हैं—आत्मा, परमात्मा और अनात्मा। आत्मा हम हैं और अनात्मा जगत्के पदार्थ। हम मानते हैं कि अनात्म पदार्थ अपने अनुकूल होते हैं, तो वे सुख देते हैं। परंतु इसकी कभी आशा न करो। हम बदल सकते हैं, पर जगत् बदलनेवाला नहीं है। ग्रीष्म बदलेगा नहीं, वह सहज ही गरमी (उष्णता) प्रदान करेगा, पर हम शीत—ठण्डे उपचारसे गरमीका निवारण कर सकते हैं। यह संसार नाशवान् है, स्थिर नहीं है। नाशवान् वस्तुसे सुख कैसे मिल सकेगा? नाशवान्के साथ-साथ चञ्चल है, परिणामी है, विभिन्न स्वभाववाला है। तथापि उसका जो निश्चित स्वभाव है, वह बदलनेवाला नहीं है। अर्थात् इस जगत्के सारे पदार्थ, जैसा हम चाहते हैं वैसे ही बन जायँ,—ऐसा सोचना ही व्यर्थ है। यह जगत् अपने स्वभावके अनुसार बरतेगा। हमारे और इस जगत्के बीच साम्य नहीं है, वैषम्य है। हम नित्य हैं और यह अनित्य है, हम चेतन हैं, यह जड है। दोका समान सम्बन्ध ही सुखद होता है, विषमका सम्बन्ध दुःखदायी होता है। हमारे और परमात्माके बीच साम्य है। अतएव जगत्के पदार्थोंके प्रति अपनी रुचि हटाकर परमात्माकी ओर अपनी वृत्ति लगाओ और उसे

प्राप्त करो। जगत्के पदार्थोंसे अपनी रुचि हटा लो। इसीका नाम 'वैराग्य' है। परमात्मामें वृत्ति जोड़नेका (लगा लेनेका) नाम 'अभ्यास' है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्यसे धीरे-धीरे प्रभुकी प्राप्ति होती है। काम, क्रोध और लोभ आदि ईश्वर-स्मरणसे नष्ट हो जाते हैं। अतएव मनुष्यको दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिये कि अमुक समयमें अमुक संख्याका मालाजप करेंगे ही। अमुक मन्त्रका सबेरे इतना जप कर लेनेके बाद ही भोजन करेंगे। इसके अनुसार उतना जप अवश्य करे, उसमें कमी न आने पावे, हो सके तो उसे बढ़ावे। इससे काम, क्रोध और लोभमें कमी होती है। अन्तःकरणकी वृत्तियोंके दो भोक्ता हैं। एक ओर हैं—काम, क्रोध और लोभ; तथा दूसरी ओर है—ईश्वर-स्मरण। एक समयमें एक ही पक्ष वृत्तियोंको भोग सकता है।

जगह खाली हो तो दूसरा उम्मेदवार वहाँ दाखिल हो सकता है। दूसरा वहाँ बैठे तो जान लो कि जगह खाली पड़ी है। अर्थात् सतत स्मरण हो तो काम, क्रोध और लोभका प्रवेश नहीं हो सकेगा। यदि उनका प्रवेश हो गया है तो ईश्वर-स्मरणके लिये जगह खाली करनी होगी, यानी उनको निकाल बाहर करना पड़ेगा। यह अन्तःकरण कुरुक्षेत्र है। इसमें कौरवोंका अधिक जोर है, परंतु दूसरी ओर ईश्वरका तीव्र स्मरण बड़ा बलवान् है। श्रद्धा, भक्ति और चिन्तन करनेवाला मनुष्य सतत अभ्यासके द्वारा समयानुसार सबको पराजित करके ईश्वरको प्राप्त करता है। इस जन्ममें या लाखों जन्मोंमें भी ईश्वरको प्राप्त किये बिना मनुष्यको इस जगत्में सुख मिलनेवाला नहीं है। इसलिये आजसे ही जपके पीछे लग जाओ, परमात्माको प्राप्त करनेके लिये जुट जाओ।



जप-विज्ञान

(लेखक—स्वामीजी श्रीअसंगानन्दजी)

भगवद्दर्शन, मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण अथवा निर्विकल्प-समाधिकी प्राप्तिके पूर्व सभी विख्यात संतों, महात्माओं, ऋषियों, मुनियों और यहाँतक कि धर्ममतोंके महान् प्रवर्तकों-तकको आध्यात्मिक अभ्यास या साधनाकी कई क्रियाओंमेंसे होकर गुजरना पड़ा है। इस मार्गपर अग्रसर होनेकी चाह रखनेवालोंके द्वारा भगवत्-प्राप्तिके लिये अपनाये जानेवाले साधनोंमेंसे—प्रार्थना, ध्यान, निदिध्यासन, प्रेम और भक्ति, भगवान्के पवित्र नामका जप, पूजा इत्यादि कुछ प्रभावशाली साधन हैं। हमारा धर्म ईश्वरप्रणीत है। संसार-सागरसे पार उतरनेकी कामना रखनेवालोंके लिये इसकी सैकड़ों धर्म-प्रणालियोंके रूपमें समर्थ शाखाएँ-प्रशाखाएँ (मार्ग) हैं।

भगवान्के तत्काल और यहीं साक्षात्कार करनेके लिये 'जप' एक सरलतम, निश्चिततम और सर्वाधिक सुरक्षित साधन है। जहाँतक भगवत्साक्षात्कारका प्रश्न है, यह साधन मनुष्य और मनुष्य, धनी और निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित, ऊँच-नीचमें कोई विभेद नहीं करता। इसलिये किसी भी आयु, पेशे, समाज-जीवनमें उसके स्थान, स्थिति, कार्यक्षेत्र आदिका विचार किये बिना कोई भी व्यक्ति जप कर सकता है तथा इस साधनके द्वारा जीवनमें सफलता प्राप्त कर सकता है। परंतु उसके लिये आवश्यक है—प्रामाणिकता, एकाग्रता, विश्वास, श्रद्धा, निष्ठा और दृढ़ अध्यवसाय। इनके बिना जप निरर्थक और निष्फल होता है।

जप क्या है? 'जप' एकान्तमें मौन रहकर भगवान् या इष्टदेवके पवित्र नामकी सतत पुनरावृत्ति करना है। नाम और नामी अर्थात् जिस देवता, भगवान् या देवीका नाम जपा जा रहा है, वह एक ही तत्त्व है अर्थात् नाम और नामी एक ही हैं। नाम निरर्थक ध्वनिमात्र नहीं है। जब हम देवता या अपने इष्टदेवके नामका बार-बार स्मरण या उच्चारण करते हैं तो उस नाम धारण करनेवाले देवताके विशेष गुणोंका—शक्ति, महानता और देदीप्यमान स्वरूपका चित्र हमारे मनश्चक्षुके समक्ष उपस्थित हो जाता है। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' के अनुसार जप करते समय उसके अर्थका भी मनन करना चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि जपको इस विधिसे करनेमें प्रारम्भमें कुछ कठिनाई होगी, परंतु कुछ दिनों बाद निरन्तर अभ्याससे साधकको सफलता मिल जायगी। उसे [illegible]

या अधीर नहीं होना चाहिये। अधीरता उसकी प्रगतिके मार्गमें नये रोड़े खड़े कर देगी। मानवके अचेतन मानसमें उसके गत संचित कर्मोंके अच्छे-बुरे संस्कार बीजरूपमें भरे पड़े हैं, जो आध्यात्मिक मार्गपर आगे बढ़ते समय बड़ी कठिनाई बनकर खड़े हो जाते हैं। यदि साधक इन विरोधी शक्तियोंसे जूझनेकी सोचता है, तो स्वाभाविक है कि उसकी शक्तिका बड़ा भाग इस संघर्षमें उसे व्यय करना पड़ेगा अतएव साधकको इनकी उपेक्षा करनी चाहिये और अपनी पूरी शक्ति अपने इष्टदेवके निरन्तर स्मरणमें ही लगानी चाहिये। इस प्रकार यह पद्धति शीघ्र ही उसे भगवद्दर्शनके देवमन्दिर अथवा मोक्षतक पहुँचा देगी।

जपसे साधकका मन और शरीर पवित्र हो जाता है और यह निर्मलता उसे धीरे-धीरे अपने मनको नियन्त्रणमें रखने, शान्त रखने तथा समत्वकी स्थिति प्राप्त करनेमें सहायक होती है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (२। ४८)में 'समत्वं योग उच्यते' कहकर योगकी व्याख्या की है। मनकी यह समता ही योग है। भगवान्के पवित्र नामका जप करनेसे और अपने इष्टदेवका ध्यान करनेसे मनकी बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं और मनकी समता प्राप्त हो जाती है। उस समय मनकी प्रवृत्ति एक ही विचार-प्रवाहकी ओर चलनेकी होती है और आगे चलकर यही ध्यानका रूप ले लेती है तथा अन्ततोगत्वा इसकी परिणति समाधिमें हो जाती है। अर्थात् साधक उच्चतर चेतनाकी स्थितिपर पहुँच जाता है। यह एक धीमी प्रणाली हो सकती है, परंतु यह स्थिति सदैव ही वाञ्छित है; क्योंकि समाधि ही मानवीय जीवनका सार-तत्त्व है। भगवान् श्रीकृष्णदेवने अपने भक्तोंके सामने जपयज्ञकी प्रशंसा करते हुए उसको अपना स्वरूप बतलाया है। जपका अर्थ है 'मौन रहकर एकान्तमें भगवान्का नाम लेना।' साधकको नाम-जपके द्वारा निश्चित समय आनेपर भगवान्के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार लकड़ीका शहतीर लोहेकी साँकल (जंजीर) से बँधकर गङ्गामें डूबा रहता है, जब कि साँकलका दूसरा सिरा नदीके किनारेके खूँटेसे बँधा रहता है, लोहेकी साँकलको पकड़कर उसकी एक-एक कड़ीके सहारे व्यक्ति अन्तमें जाकर शहतीरको छू लेता है, उसी प्रकार जपसाधककी स्थिति है। वह भगवान्के पवित्र नामका जप करता चला जाता है और क्रमशः बढ़ता हुआ भगवान्के दर्शन प्राप्त कर लेता है।

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥
(रामपूर्व० १। ७)

'चिन्मय, अद्वितीय, अच्छेद्य, (अविभाज्य) और अशरीरी (अरूप) ब्रह्म अपने उपासकों और भक्तोंके लिये रूप धारण करता है।' भूतकालमें भारतवर्षकी इस पुण्यभूमिमें अन्तिम सत्यकी खोज करनेके लिये धार्मिक क्षेत्रमें अनेक प्रयास किये गये हैं और उनमें हमें सफलता भी प्राप्त हुई है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—सत्य एक है और ऋषि उसे विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं।' ईश्वरतत्त्वकी एकताकी दृष्टिसे यह एक अतुलनीय खोज है। इसके लिये अनेक पद्धतियाँ अपनायी गयीं और भगवान्की विभिन्न अभिव्यक्तियोंका साक्षात्कार किया गया। उन सबकी सफलतापूर्वक जाँच-पड़ताल और परीक्षण किया गया। एक भक्त उपासक या साधक अपनी रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार भगवान्के किसी भी स्वरूपको चुन सकता है और भगवद्दर्शन होनेतक अपनी आध्यात्मिक साधनाको चालू रख सकता है। भगवत्-प्राप्त सिद्ध महापुरुषोंने विभिन्न उपासना-विधियोंका निर्माण किया और उनके अनुरूप उपास्यदेवोंका नामकरण किया। उन पवित्र नामोंके जपसे भक्त भगवान्के दर्शन प्राप्त कर सकता है। इन महापुरुषोंके अनुसार मन्त्र देवताका सूक्ष्म शरीर है; परंतु भगवद्दर्शनकी प्राप्तिको सुलभ करनेके लिये मन्त्रको जाग्रत् करना चाहिये। यदि मार्गदर्शक या गुरुने पहले ही मन्त्रको जाग्रत् कर लिया है, तो शिष्यके लिये आध्यात्मिक पथपर तीव्र गतिसे आगे बढ़ना बहुत सुगम हो जाता है, अन्यथा सफलता-प्राप्तिके लिये काफी समय लग सकता है। यदि भाग्यवान् शिष्यको अपने गुरुसे जाग्रत्-मन्त्र प्राप्त हो जाता है, तो उसकी साधनाका पचास प्रतिशत पहले ही पूरा हो गया होता है और साधना पर्याप्त सरल हो जाती है। इसलिये सर्व-प्रथम साधकको अपने गुरुके निर्देशानुसार सुप्त मन्त्रका जागरण करना चाहिये। इससे उसके बादके स्थलोंपर शनैः-शनैः आगे बढ़ना सरल और निरापद हो जाता है और उचित समयपर वह साधनाके लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है।

परंतु बहुत बार ऐसा देखा जाता है कि लगातार मालाके मनके घुमानेके बाद भी कोई प्रगति नहीं हो पाती और यदि कदाचित् कुछ हो भी जाती है तो वह बनी नहीं रहती। इसका क्या कारण है? जैसे, नाव तो मजबूतीसे नदीके

तटपर लंगरसे बँधी रहे और उसको बिना ही खोले रातभर डाँड़ चलाते रहें तथा प्रातःकाल यह पता चले कि नाव तो जहाँ-की-तहाँ खड़ी है। बस, यही स्थिति जप-साधककी होती है। उसने दिन-रात नाम तो जपा, परंतु उसका मन जगत्‌के विषयोंसे बँधा रहा। अर्थात् उसका मन निरन्तर नाम, कीर्ति, प्रतिष्ठा, अधिकार, सम्पत्ति, मान, बड़ाई आदि जगत्‌के सुख-भोगोंमें और जगच्चर्चामें रस लेता रहता है, इसीसे यथार्थ प्रगति नहीं होती। अतः जप-साधकको यह लंगर छोड़ना ही होगा, विषयोंमें फँसे मनको उनसे छुड़ाना पड़ेगा और तीव्र जपके मार्गपर आगे बढ़ना होगा। यही नाम-जप-साधनामें सफलताका रहस्य है। अधिकतर देखा जाता है कि मशीनकी तरह किये गये जपसे—बिना इष्टदेवमें मन लगाये माला घुमाते जानेसे साधकको सफलता नहीं मिलती। पवित्र नामको जपते समय भी उसका मन बाजार, खेलके मैदान अथवा आफिसमें ही घूमता रहता है। इस तरह शक्तिका अपव्यय होता है और साधकको असफलता-ही-असफलता हाथ लगती है। प्रारम्भिक अवस्थामें जपका साधक प्रातःकाल, सायं अथवा रात्रिमें माला या हाथकी अँगुलियोंपर निश्चित अवधिके लिये मन लगाकर नाम-जप करे और बादमें वह मानस-जपकी ओर बढ़े। इस तरह करनेपर वह आध्यात्मिक मार्गपर आगे प्रगति करता जाता है और जब उसका आन्तरिक जप दिन-रात होने लगता है तब अन्ततोगत्वा वह उस परम वस्तुको प्राप्त कर लेता है, जिसकी तलाशमें वह युगोंसे भटक रहा था।

आध्यात्मिक चिन्तनके महान् पथ-प्रदर्शकोंने यही पाया कि भगवान्‌के साक्षात्कारके लिये अनेक सरलतम और निश्चिततम मार्गोंमें जप अपना विशेष स्थान रखता है। यह कोई मनगढ़ंत कल्पना अथवा किसी उर्वर मस्तिष्ककी उपज नहीं है, जिसका वास्तविकतासे कोई सम्बन्ध नहीं; अपितु यह परम सत्य है कि सच्ची भावना और श्रद्धासे किये गये जपसे भक्त या साधकको अभी और यहीं ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है। इन महान् आध्यात्मिक अनुभूतियोंके कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं; जिनमेंसे एक चित्ताकर्षक अनुभव श्रीमती अघोरमनी-देवीका है, जो 'गोपालेर माँ' (गोपालकी माँ) के नामसे प्रसिद्ध हैं। वे कमारहट्टी (२४ परगना, पश्चिम बंगाल) के एक गरीब धार्मिक ब्राह्मण परिवारकी थीं। उनका विवाह ९ वर्षकी अवस्थामें हो गया था और वे पाँच वर्ष बाद ही विधवा हो गयी थीं। अपने पतिकी मृत्युके बाद वे कमारहट्टी लौट आयीं और कलकत्ताके स्वर्गीय श्री गोविन्ददत्तके बगीचेवाले मकानमें रहने लगीं। वहाँ श्रीराधाकृष्णका एक मन्दिर था, जिसका पुजारी उनका भाई था। पश्चात् श्रीमती दत्त अपनी सम्पत्ति और मन्दिरकी देख-रेखके लिये कमारहट्टीमें ही आकर रहने लगीं। वहाँ उनमें और गोपालकी माँमें घनिष्ठ मैत्री हो गयी और वे काफी वर्षोंतक वहाँ रहीं। यहाँ गोपालकी माँ दिन-रात आध्यात्मिक साधनाओंमें लगी रहती थीं, जिनमें जप और ध्यान प्रमुख थे। जप तो उनका जीवन-प्राण ही बन गया था। उन्हें अपने गुरुसे गोपाल-मन्त्रकी दीक्षा प्राप्त हुई थी। कठोर साधना और असामान्य एवं अनन्य श्रीकृष्णभक्तिके परिणामस्वरूप उन्हें स्वयं भगवान्‌ने अपने दीप्तिमान् और भव्य बाल-गोपालरूपके दर्शन दिये। उनके जीवनका सम्पूर्ण रूप ही बदल गया और वे भगवान् श्रीकृष्णको अपना दिव्य बालक समझने लगीं। जब वे श्रीरामकृष्णदेवसे मिलनेके लिये दक्षिणेश्वर पधारीं और उनको अपनी अनुभूतियोंसे अवगत कराया तो वे बहुत प्रभावित हुए एवं उनके अनुभवका उन्होंने समर्थन किया तथा उन्हें प्रामाणिक बतलाया। उनका जीवन श्रेष्ठताकी एक उत्तम एवं दिव्य गाथा है।

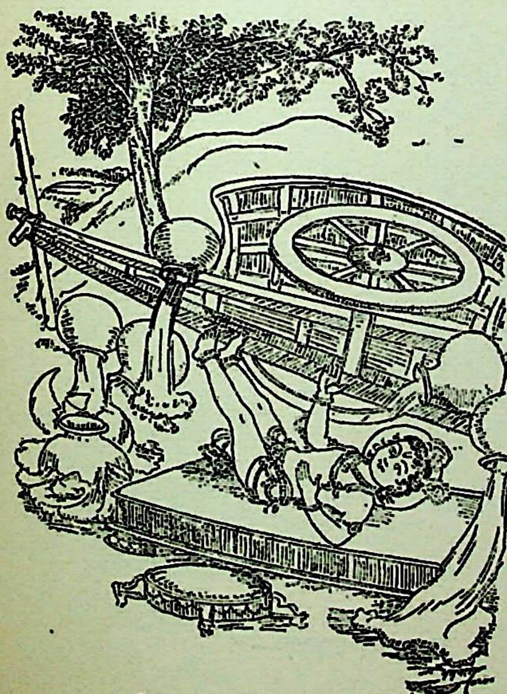
कणाद ऋषिने विज्ञानकी परिभाषा की है—अपूर्णतारहित ज्ञान। प्राथमिक अवस्थामें किसी तथ्यको कल्पना या अनुमानके रूपमें स्वीकार किया जाता है। फिर निरीक्षण, तुलना, विश्लेषण तथा परीक्षणकी प्रक्रियाओंद्वारा उस अनुमानके औचित्य और सत्यताका निश्चय किया जाता है। इस प्रकार यदि अनुमान खरा उतरा तो वह सिद्धान्त अथवा नियम बन जाता है। यही स्थिति आध्यात्मिक क्षेत्रमें जपकी है। मनीषियोंने साधनाके द्वारा जपकी महिमाके सत्यकी उपलब्धि की है। इसीलिये जप-विज्ञान या जपके विधानको भगवद्दर्शनकी प्राप्ति और आत्मोन्नतिके मार्गमें एक सशक्त साधनके रूपमें स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त हुई है।



श्रीकृष्ण-ध्यान—१



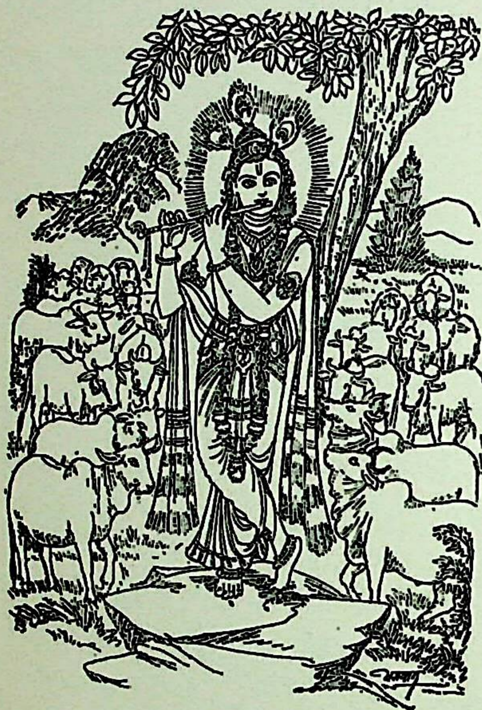
श्रीकृष्ण-ध्यान—२



श्रीकृष्ण-ध्यान—३



श्रीकृष्ण-ध्यान—४



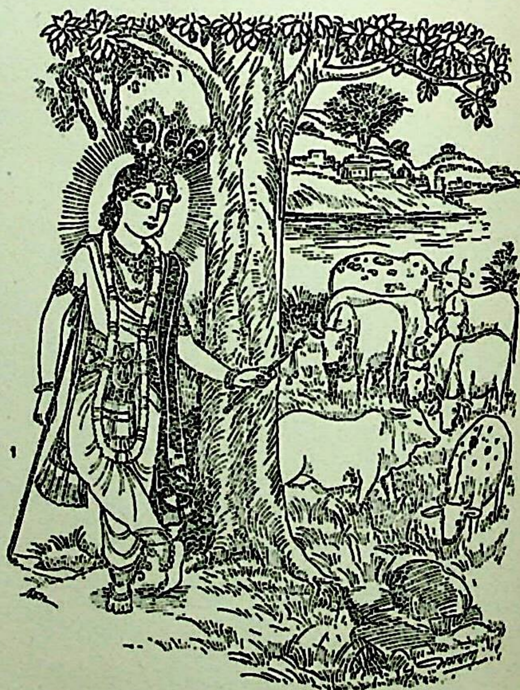
श्रीकृष्ण-ध्यान—५



श्रीकृष्ण-ध्यान—६



श्रीकृष्ण-ध्यान—७



श्रीकृष्ण-ध्यान—८

उपासनामें प्रधान—भक्ति

(लेखक—श्री डी० कृष्ण आयंगर, एम्० ए०)

वैदिक धर्मका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग 'भक्ति' है। प्रेमका पथ ही भगवत्साक्षात्कार तक पहुँचाता है। प्रेमी और प्रेष्ठको मिला देनेका सामर्थ्य इसीमें है। वैदिक सूक्त भगवत्प्रेम और भगवान्‌के प्रति श्रद्धाके भावोंसे ओत-प्रोत हैं। उनकी व्याख्याके अनुसार पूर्णता प्राप्तिका निर्भ्रान्त मार्ग प्रेमका ही है। (ऋग्वेद १० । १३३ । ६)

'वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमारभामहे ।
ऋतस्य नः पथा नयाऽति विश्वानि दुरिता...'

भगवान्‌का यशोगान करते समय उनको मनुष्यका पिता, माता, भ्राता सभी कुछ बताया गया है—

'अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित् सखायम् ।'
(ऋ० १० । ७ । ३)

'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।'

हमारे प्राचीन ऋषियोंकी भगवान्‌में अपार श्रद्धा थी और वे उन्हींसे मार्गप्रदर्शनके लिये प्रार्थना करते थे। ऋग्वेदसंहिताके कथनानुसार प्रेमका सम्यग्बोध और भगवत्-श्रद्धा ही ऊर्ध्वगतिका एकमात्र पथ है। उपनिषदोंकी शिक्षा भी यही है कि 'भगवान्‌के प्रति साधककी अपरिमित और अलौकिक रतिरूपी भक्ति ही मुक्ति-लाभका अमोघ मार्ग है।' इसी प्रकार इतिहास और पुराण भी भक्ति-दर्शनकी व्याख्या बड़े महत्त्वपूर्ण शब्दोंमें करते हैं।

सर्वशक्तिमान्‌के करुणासे छलछलाते हुए स्वाभाविक स्पष्ट वर्णन, प्रेममूर्ति आळवार संतोंके नाना भक्तिमय उद्गारोंमें प्राप्त होते हैं। उन्होंने अपने पदोंमें मुक्तिपथका अद्भुत निदर्शन किया है। इस प्रकार महान् आचार्यों, आळवारों एवं अन्य महान् गुरुओंने भी मुक्तिकी प्राप्तिमें भक्तिकी अन्यतम महत्ताको स्वीकार किया है। नाथमुनि, यामुनमुनि, रामानुजमुनि जैसे प्राचीन गुरुओं एवं वेदान्तदेशिक आदि महानुभावोंने, सबने भक्तिकी परिभाषा की है, व्याख्या की है, उसके अर्थको खोला है तथा सम्पूर्ण भारतीय दर्शन और विशेषकर विशिष्टाद्वैतमतमें भक्तिकी अद्वितीय गरिमाका विवेचन किया गया है।

भगवद्गीतामें भक्तिका अर्थ स्पष्ट करते हुए उसको 'समस्त शुभ गुणोंके स्रोत परमात्माके प्रति अनवरत सानुराग ध्यान बताया गया है' (९ । ३४)। अपने गीताभाष्यमें श्रीरामानुजने 'परमात्माके स्वरूप एवं गुणोंके तैलधारावत् अनवरत चिन्तनको ही 'भक्ति' बताया है' (गीताभाष्य ४ । १ । १)। यह अनुचिन्तन ही भगवत्प्रेम है और साधक अपने भगवत्प्रेमके महाप्लावनमें डूब जाता है। वह तन-मनसे भगवान्‌की शाश्वत सेवामें अपनेको अर्पित कर देता है।

नारदीय सूत्रमें 'परमात्माके प्रति निरन्तर प्रेम और ध्यानको ही भक्तिका नाम दिया गया है। यह अमृतस्वरूपा है और इसको प्राप्त करनेवाला व्यक्ति तृप्त, अमृत और सिद्ध हो जाता है' (ना० सूत्र २–४)। उपासना, वेदना अथवा ध्यान और भक्ति सब एक ही वस्तु है। अपने अनन्य प्रेमीको भगवान् भी प्यार करते हैं। यह भी कहा जाता है कि भगवान् अपनेको उसीके सामने व्यक्त करते हैं, जिसको वे चाहते हैं।

भक्ति नित्य एवं अत्यन्त सूक्ष्म है। पराभक्तिका एकमात्र लक्ष्य है—भगवान्‌को रिझाना। यह हृदयको सुख प्रदान करती एवं अमित आनन्दसे भर देती है। इसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है और भक्तके हृदयमें भगवान्‌को विराजित कराकर उनकी प्रीतियुक्त अर्चना-उपासना तथा भगवत्प्रेमके दिव्य आनन्दका उसको अधिकारी बना देती है। न्याय-सिद्धाञ्जनमें श्रीवेदान्तदेशिकने भक्तिको एक प्रकारसे ज्ञानका ही परिवर्धित रूप माना है (न्यायसि० पृ० २१६)।

श्रीवेदान्तदेशिकके अनुसार भक्तिके प्रमुख अङ्ग हैं—विवेक, निर्वेद, विरक्ति एवं भीति; और इन सबका महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। 'विवेक' प्रतिकूल प्रवृत्तियोंसे दूर रखता है, 'निर्वेद' पापोत्पादक निषिद्ध कर्मोंके करनेसे रोकता है और 'विरक्ति' साधकको अन्ततोगत्वा बन्धनकारक, प्रतिबन्धक एवं काम्यकर्मोंके आचरणसे तथा विषयासक्तिसे विरत रहनेकी योग्यता प्रदान करती है। घोर तथा भयंकर परिस्थितियोंसे साधककी रक्षा करनेके लिये 'भीति'की पहलेसे ही आवश्यकता है। इस प्रकार श्रीवेदान्तदेशिकने यह दिखा

दिया है कि विवेक, निर्वेद, विरक्ति एवं भीति भक्तिके आवश्यक अङ्ग हैं (वेदान्तदेशिकका 'परमपद सोपान')।

ऐसा कहा जाता है कि भक्तियोगकी साधना सबसे नहीं बन सकती। केवल वैदिक आचार एवं वेदाध्ययनके अधिकारी ही भक्तियोगकी साधना करनेके उपयुक्त पात्र हैं। किंतु भजन अर्थात् अपरिसीम प्रेमसे भगवदुपासना भी एक प्रकारकी भक्ति है। यह विना जात-पाँत एवं मत-मतान्तरके विचारके सार्वभौमरूपसे सबके लिये विहित है। भजनके द्वारा व्यक्ति पूरा-पूरा भक्त बन जाता है। भगवान्के भक्त सर्वोत्तम गतिको प्राप्त होते हैं और भगवान् स्वयं उनकी सँभाल करते हैं। इसलिये भगवान्के शरणापन्न होनेका सबको समानरूपसे अधिकार है। इस प्रसङ्गमें धर्म-व्याधकी कथा याद की जा सकती है। पराभक्तिके विकासमें तीन क्रमबद्ध स्तरोंका विशदरूपसे प्रस्तुतीकरण ही भक्ति-दर्शनको श्रीरामानुजकी सबसे बड़ी देन है। उनके नाम हैं—पराभक्ति, पर-ज्ञान और परमाभक्ति या प्रेमाभक्ति। कुछ महानुभावोंने भक्तिकी दो ही श्रेणियाँ मानी हैं—सामान्याभक्ति तथा पराभक्ति। सारे साधनोंके मूलमें सामान्या भक्तिका स्थान है। समस्त आध्यात्मिक अनुशासनका यह आवश्यक अङ्ग है। पवित्र ग्रन्थोंके अध्ययन एवं संतोंके सङ्गसे उसका विकास होता है। यह पराभक्तिकी जननी भी है। आध्यात्मिक पूर्णताकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली भक्तिका नाम है—'पराभक्ति'। यह मुक्ति प्राप्त करनेका साधन है। पराभक्ति भक्तके चित्तमें भगवद्दर्शनकी आतुर एवं प्रबल आकाङ्क्षा तथा संकल्प उत्पन्न कर देती है। इससे साधक भक्त भगवत्कृपा प्राप्त कर लेता है। सहज करुणा-कर भगवान् साधककी तीव्र इच्छासे प्रसन्न होकर उसको अपने व्यापक रूपका दर्शन करा देते हैं और यह अनुभूति ही 'पर-ज्ञान' है। यह स्थिति कुछ ही समयतक रहती है (रहस्यत्रयसार पृ० १०७)। भगवान्का एक बार सम्पूर्ण दर्शन प्राप्त करनेके पश्चात् साधकके मनमें अनवरतरूपसे उस दर्शनको प्राप्त करते रहनेकी लालसा जगती है। भगवान्की अनवरत झाँकीकी इस तीव्र लालसाका ही नाम है—'परमा भक्ति' या 'प्रेमाभक्ति'। तत्पश्चात् उसका भगवान्के साथ संयोग हो जाता है। प्रेमाभक्ति ही भगवत्प्रेमका उच्चतम स्तर है।

श्रीमद्भागवतमें नौ प्रकारकी भक्ति बतलायी गयी है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७।५।२३)

'श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यही नवधा भक्ति है।' भगवान्की दिव्य लीलाकथाओंका, उनके नामगुणोंका श्रद्धा-प्रेमके साथ सुनना 'श्रवण' भक्ति है। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्की मङ्गलमयी आनन्दसुधा-प्रवाहिनी लीलाओंका, उनके आदर्श चरित्रोंका, उनके गुणोंका पाठ करना, दूसरोंको सुनाना, भगवान्के नामोंका कीर्तन और जप करना 'कीर्तन' भक्ति है। भगवान्के परम प्रभावशाली मङ्गलमय नाम, रूप, गुण और लीला आदिके श्रवण और कीर्तनका श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मनन-चिन्तन करना और उनकी लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्य-लावण्यमयी श्रीमूर्तिका ध्यान करना 'स्मरण' भक्ति है। श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्की साक्षात् चरणसेवा करना अथवा उनके परमदिव्य भयानक भयोंका हरण करनेवाले पादपद्मोंका भजन करना 'पादसेवन' भक्ति है। बाह्य सामग्रियोंसे या मनके द्वारा कल्पित पञ्चोपचार, षोडशो-पचार, शतोपचार सामग्रियोंसे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक भगवान्का पूजन करना 'अर्चन' भक्ति है। भगवान्के साक्षात् श्री-चरणोंमें या उनके श्रीविग्रहके चरणोंमें, अनन्यभावसे प्रणाम करना या समस्त जीवोंको भगवान्का शरीर समझकर सभीको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक अनन्यभावसे प्रणाम करना 'वन्दन' भक्ति है। श्रद्धाप्रेमपूर्वक भगवान्को ही एकमात्र आराध्य परम सेव्य स्वामी मानकर दास्यभावसे उनकी सेवा करना या अखिल विश्वब्रह्माण्डके समस्त चराचर जीवोंको प्रभुका रूप समझकर उनकी यथायोग्य सेवा करना 'दास्य' भक्ति है। अत्यन्त भावपूर्वक भगवान्में मित्रभावसे प्रेम करना 'सख्य'भक्ति है या जीवमात्रमें प्रभुकी अभिव्यक्ति समझकर सबके साथ मैत्रीभावना रखना भी 'सख्य' भक्ति है और अहंकाररहित अपने तन-मन-धन-परिजनसहित अपने आपको, सर्वस्वको, लोक-परलोकको श्रद्धा-प्रेमपूर्वक श्री-भगवान्के समर्पण कर देना 'आत्मनिवेदन'भक्ति है। इनमें प्रथम तीनका सम्बन्ध भगवान्के चिन्तनसे है, बीचके तीनका दिव्य आचरणोंसे और शेष तीनका समर्पण-वृत्तिसे है।

इस प्रकार संक्षेपतः भगवान्के प्रति प्रगाढ प्रेमका ही नाम है—'भक्त्युपासना' और यह वही वस्तु है जिसे

उपनिषदोंमें वेदना, ध्यान अथवा उपासना कहा गया है। कर्म और ज्ञानके द्वारा उपलब्ध आत्मदर्शनकी आवश्यकता भक्ति-उपासनाके क्षेत्रमें उतरनेके पहले ही पड़ती है। भक्तको अपने वर्णाश्रमधर्मका पालन करना पड़ता है। भक्तको भगवान्का ध्यान तबतक करते जाना चाहिये, जबतक कि उनकी स्पष्ट झाँकी न दीखने लगे। भक्त्युपासनाके प्रारम्भ और पूर्णताकी अवस्थामें भी भगवच्चरणोंमें प्रपत्ति परमावश्यक है।

उपासनामें भक्ति

(लेखक—आचार्य श्रीशुकरत्नजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य, शिक्षाशास्त्री)

मनुष्यमात्रका चरम लक्ष्य आनन्दकी उपलब्धि है। निरतिशय आनन्दकी नित्यस्थिति प्राप्त करना मानवीय जीवनका नैसर्गिक अधिकार है। यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दसे ओतप्रोत है। आनन्द ही इसका उद्गम-स्थान है, आनन्दकी ही महिमासे यह जीवन धारण करता है और अन्तमें लौटकर आनन्दमें ही बसेरा करता है। 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तैत्ति० ३। ६। १) किंतु बन्धनोंसे जकड़नेवाला सांसारिक प्रेयमार्ग अथवा वैषयिक आनन्द आपेक्षिक और सीमित आनन्द ही प्रदान कर सकता है; शाश्वत, चिरन्तन और निरतिशय आनन्द नहीं। विषयोंके लिये द्रवित चित्तमें आनन्दका स्थायित्व नहीं होता; क्योंकि उन विषयोंमें ही स्थैर्य कहाँ है, जिनके लिये चित्त द्रवित हुआ है ! इसलिये चित्त वहाँ अभावका अनुभव करके फिर दूसरे-दूसरे विषयोंके लिये द्रवित होता है, किंतु इस निरन्तर परिवर्तनसे भी वह आनन्दकी अन्तिम सीमाका स्पर्श नहीं कर पाता; इसलिये अपने सांसारिक जीवनके उद्देश्यको पूर्ण करनेके लिये यह आवश्यक है कि मानवीय आत्मा अपनेको अज्ञान और अहंकारसे, इच्छाओं और वासनाओंसे मुक्त करने, निरतिशय आनन्द, अविचल शान्ति और कल्मषहीन पवित्र जीवनकी प्राप्तिके लिये जीवमात्रके शाश्वत सखा, इस अनन्त विश्वके परम उपास्य परमेश्वरसे उपासनाद्वारा निकटतम सम्बन्ध स्थापित करे।

जिन साधनोंसे परमात्मासे विलग एवं अनाथ हुआ जीव उनके निकटतम पहुँचकर सनाथ बन जाता है, उसीको 'उपासना' कहते हैं। 'उप समीपे, आस्यते' परमात्माके निकट प्राप्त होता है, 'अनया' इस साधन-पद्धतिके द्वारा; इति उपासना। इसलिये यह साधन-पद्धति 'उपासना' है। उपासनाके माध्यमसे जीव उस परम-प्रभुके अङ्कमें जा बैठता है, जहाँसे किसी सांसारिक बापकी गोदमें बैठनेके लिये उसे वापिस नहीं लौटना पड़ता। वेदके सोलह हजार मन्त्रोंमें केवल उपासनाका ही वर्णन है। वेदकी व्याख्याके रूपमें ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, धर्मशास्त्र और पुराणोंमें इसी उपासना-तत्त्वका विविध दृष्टियोंसे सूक्ष्मतम, गहन और सुस्पष्ट विवेचन किया गया है। उपासना व्यक्ति-हृदयकी विश्राम-भूमि है, संतप्त हृदयकी शीतल छाया है। उपासनासे ही आत्मा संतोष, तृप्ति और परम शान्ति प्राप्त करता है।

अनन्त शक्तियोंके एकमात्र अधीश्वर परम प्रभुसे जीव पद-पदपर अपनी कामनाओं और शक्तियोंकी भीख माँगकर ही जीवन-निर्वाह कर सकता है; क्योंकि हमारी प्राण-क्रियाका संचालक समस्त साधन-जगत् और इस विश्वका प्रत्येक कण उन्हींके संकेतपर नृत्य कर रहा है तथा निरन्तर अपने लक्ष्यकी ओर चला जा रहा है; किंतु अनन्त सरोवरमेंसे भरे गये जल-कलशकी तरह जीव अपने स्तर, योग्यता, श्रद्धा और क्षमताओंके अनुसार ही निखिल शक्तियोंके उस अपरिसमाप्य अनन्त खजानेसे लाभ पानेमें समर्थ होता है। इस त्रिगुणमय जगत्में प्रत्येक व्यक्तिकी योग्यतामें भी महान् भेद है। इसलिये आध्यात्मिक पथ या उपासना-प्रणालीमें अपने योग्यतानुसार ही प्रवेश वाञ्छितसिद्धि प्रदान करने या प्रभुके समीप पहुँचानेमें सहायक हो सकता है; क्योंकि साधन-राज्यमें सब लोग सब कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते। महर्षियोंने इसी आधारपर प्राणियोंके कल्याण-साधनके लिये, विश्वसे विश्वनाथतककी यात्राके लिये या जगत्से जगन्नाथके निकटतक पहुँचनेके लिये अथवा इस लोकमें रहकर ही उस लोकोत्तर परमपुरुषको पकड़नेके लिये, मुख्यतः तीन पद्धतियोंकी चर्चा की है—कर्म, ज्ञान और भक्ति। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
(११।२०।६)

देवीभागवतमें इन्हींको कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग कहा है—

मार्गास्त्रयो मे विख्याता मोक्षप्राप्तौ नगाधिप।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम॥
(७।३७।३)

ये मनुष्यमात्रकी सनातनी वृत्तियाँ हैं। वैदिक-परम्परा और साधनोंमें भी मल, विक्षेप और आवरणकी निवृत्तिके लिये तीनोंको आवश्यक माना है। शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर तीनोंकी तुलनात्मक समीक्षा की गयी है और हर युगमें बार-बार एक दूसरेकी प्रमुखताका भी प्रश्न उठाया गया है।

कर्मयोगके समर्थकोंके अनुसार लौकिक और वैदिक कर्म करता हुआ जीव परमेश्वरके निकट पहुँच सकता है; किंतु इस कर्म-साधनामें सर्वत्र 'अहम्' के द्वारा संकल्प-पूर्वक ही कर्म करनेका विधान है, जो व्यक्तिमें 'अहंवृत्ति' को उद्वेलित और पोषित कर जीवको लौहश्रृङ्खला या स्वर्ण-श्रृङ्खलामें जकड़नेका ही जाल प्रतीत होता है। इसीसे व्यक्तिमें—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।
(गीता १६।१४-१५)

—जैसी अवाञ्छनीय मनोवृत्तिके पैदा होनेका डर बना रहता है, जो उसकी उदात्त, पवित्र और उज्ज्वल भावनाको ही नष्ट कर डालती है। अब यह प्रश्न उठता है कि जीवनकी अनिवार्य कर्म-प्रवृत्तिको विकर्म बननेके स्थानपर कैसे हित-साधक और मङ्गलमय बनाया जा सकता है? यह किस प्रकार आत्मबन्धक बननेके स्थानपर आत्म-विकासक बन जाय? क्योंकि जीवमात्र कर्म किये बिना तो एक क्षण भी नहीं रह सकता। प्रतिपल शरीर, वाणी या मनका कोई कर्म अवश्य होता ही रहता है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(गीता ३।५)

कोई हजार बार चाहते हुए भी कर्मोंको सम्पूर्ण नहीं छोड़ सकता—

'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।'
(गीता १८।११)

जीवमात्र परवश होकर कर्मके प्रवाहमें बहता रहता है। उसके हित-अहित, जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख सभी कर्मपर आधारित हैं।

अब रहा ज्ञान, शास्त्रोंमें ज्ञानकी अत्यन्त महिमाका वर्णन किया गया है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' (४।३८) वेदोंमें भी 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'—कहकर ज्ञानके असाधारण महत्त्वका उद्घोष किया गया है। महात्मा तुलसीदासने भी वेदकी दुहाई देकर ज्ञानको ही मोक्षका साधन स्वीकार किया है—'ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना' (३।१५।१) किंतु अनुभवी साधकोंने वायुको बाँधने या भाद्रपदके उमड़ते अनन्त सिंधुप्रवाहको रोकनेके सदृश ज्ञान-मार्गको अत्यन्त कठिन बताया है और नीरस भी, जिसमें हर व्यक्तिका प्रवेश सम्भव नहीं है; क्योंकि प्रपञ्चोन्मुख चित्त-वृत्तिकी धाराको परब्रह्मकी ओर मोड़ना कोई सरल कार्य नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासने तो बड़ा लंबा रूपक बाँधकर ज्ञान-दीपकके प्रकाशको अनेक उलझनोंसे भरा बताकर, अन्तमें विषय-वायुके एक झोंकेसे ही बुझ जानेकी सूचना देकर, सारे परिश्रमको ही निरर्थक करार दे दिया है। यहाँतक कह दिया है कि 'भक्तिके बिना जो ज्ञानको ढूँढ़ते फिरते हैं, वे मन्दभाग्य हैं। ऐसे व्यक्ति कामधेनुको छोड़कर दूधके लिये आकके समीप जाना चाहते हैं।'

जे असि भगति जानि परिहरहीं।
केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड कामधेनु गृहँ त्यागी।
खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
(मानस० उत्तर०)

अनेक व्यावहारिक कारणोंसे भी ज्ञान-मार्ग विविध उपद्रवोंसे व्याप्त है। कभी पथिक अहंभावके कारण नीचे गिर सकता है, कभी ज्ञान उपासकमें सर्वज्ञताका दम्भ पैदा कर पतनकी ओर ले जा सकता है, तथा कभी ज्ञान-मार्गी अन्तिम स्थितिपर पहुँचते-पहुँचते यदि चेतनापर मायाके

आवरण पड़ गया तो साधना खण्डित हो सकती है और लक्ष्य अलक्षित। कर्म और ज्ञानकी साधनामें अधिकारि-भेदकी भी जटिल समस्या है, जब कि भक्ति-पथ सभीके लिये उन्मुक्त है। जैसा कि पद्मपुराण आदि ग्रन्थोंमें लिखा है—

'सर्वेऽधिकारिणो ह्यत्र हरिभक्तौ यथा नृप।'*

काशीखण्डमें भी कहा है—

अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शङ्खचक्राङ्कधारिणः।
सम्प्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव सम्बभुः॥†

यह स्मरणीय है कि 'ज्ञान' शब्दका तात्पर्य यहाँ निर्भेद ब्रह्मानुसंधान ही है। भजनीय वस्तुका अनुसंधान रूप ज्ञान (बोध) नहीं है। इसीलिये भक्तिमें बाधक होनेके कारण ब्रह्मानुसंधानात्मक ज्ञान उपेक्षणीय है। अन्यथा ज्ञानी भक्तको तो भगवान्ने अपनी आत्मा ही स्वीकार किया है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
(गीता ७। १७-१८)

इन विविध हेतुओंसे कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों ही अधूरे प्रतीत होते हैं। अब यह प्रश्न बचता है कि कर्म और ज्ञानमें संतुलन स्थापित कर, इस जीवन-तरङ्गिणीके प्रवाहको कैसे अविच्छिन्न बनाया जाय, जिससे जीव स्वलक्ष्य-प्राप्तिमें समर्थ हो सके।

ऐसी स्थितिमें कर्म और ज्ञानकी सार्थकता तथा समन्वयके लिये भक्तिकी उपासनाको अधिक सरस, व्यावहारिक, प्रिय तथा सर्वजन-सुलभ बताया गया है और आत्म-प्रसादनके लिये इसीको जीवका परम धर्म स्वीकार किया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥
(भागवत १। २। ६)

क्योंकि रागके द्वारा मनुष्यका मन जितना शीघ्र प्रभावित होता है, उतना अन्य कारणोंसे नहीं। यह मनुष्यकी स्वाभाविक मनोवृत्ति है। जब इस संसारमें जरा-सा भी जहाँ आकर्षण हो, उससे सम्पर्क करनेके लिये प्रत्येकका मन मचलता है, फिर अनन्त आकर्षणोंके खजाने उस परम प्रभुसे रागद्वारा बँध जानेके लिये तो आत्माराम निर्ग्रन्थ मुनि भी अहैतुकी प्रीति करते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(भागवत १। ७। १०)

निर्मलात्मा, परमहंस मुनियोंका शरीर और चित्त भी उनके चरणोंमें समर्पित तुलसी-गन्धके आघ्राण-मात्रसे ही क्षुब्ध हो जाता है—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥
(भागवत ३। १५। ४३)

फिर सामान्य मनुष्यकी तो बात ही क्या है? संसारका तो प्रत्येक मनुष्य ही किसी-न-किसी रूपसे प्रेमका भिखारी है। ऋग्वेदमें कहा है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥
(ऋ० १०। १२९ खिलकाण्ड)

'हे भगवन्! मुझे देवताओंमें प्रिय करो, राजाओंमें मुझे प्रिय करो, प्रत्येक द्रष्टाका, चाहे वह आर्य हो या शूद्र, मुझे प्रिय बनाओ। यह भेद-भाव-रहित सभीके प्रति प्रेम-भावना उस विराट्की ही उपासना है।

इसके लिये तुलसीदासजीने लिखा है—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥
(मानस० उत्तर०)

श्रीमद्भागवतमें भी—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
(११। २। ४५)

—कहकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है।

अनन्त-कालसे, युग-युगसे मनुष्य-मनमें एक जलन है, एक प्यास है, एक तड़पन है, जिसके कारण वह प्राणोंके प्राण,

* राजन्! जैसे हरिभक्तिमें सबका अधिकार है, उसी तरह इस प्राकृत धर्मके भी सब अधिकारी हैं।

† उस राजाके राज्यमें चाण्डाल भी शङ्ख-चक्रके चिह्न धारण करके वैष्णवी-दीक्षाको पाकर दीक्षित हुए-से जान पड़ते थे।

प्रेमके एकमात्र आस्पद, परम प्रभुसे मिलनेके लिये सर्वदा छटपटाता रहता है; इसलिये प्राणिमात्रको वह प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है—

'अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं॥'
(मानस० अयोध्या० १८१। ६)

जिसके भजनके बिना जियकी जलन कभी शान्त नहीं होती—

'जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं।' (मानस अयोध्या० ३। ७)

इसलिये भागवतादि भक्ति-ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर, भक्ति-रहित ज्ञान और परमात्माके लिये असमर्पित कर्मको निरर्थक बताया है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥
(भागवत १। ५। १२)

श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥
(भागवत १०। १४। ४)

गोस्वामी तुलसीदासने तो प्रभु-प्रेमके बिना योगको कुयोग और ज्ञानको अज्ञान कहा है—

'जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥'
(मानस० अयोध्या०)

उन्होंने हरि-पद-रतिको ज्ञान-फलका रस बताया है—
'सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद रति रस बेद बखाना॥'
(मानस० बाल० ३६। १४)

एक स्थानपर तो उन्होंने भक्तिको ही साधन और साध्य अथवा मूल और फल कहा है—

'सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥'
(मानस० अरण्य० १५। ३)

श्रीमद्भागवतमें भी जो धर्म प्रभुचरित्रोंमें प्रीति नहीं जगाता, उस सम्यक् अनुष्ठित धर्मको भी श्रममात्र कहा है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥
(भागवत १। २। ८)

एक स्थानपर यह भी कहा है कि 'उच्चपदपर पहुँचे हुए ज्ञानके प्रभावसे स्वयंको मुक्त माननेवाले व्यक्ति भी प्रभु-प्रेमके बिना, उस कष्टसे प्राप्त स्थानसे नीचे गिर पड़ते हैं'—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥
(भागवत १०। २। ३२)

तुलसीदासजी भी यही लिखते हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
(मानस० उत्तर० ७। ३)

गीतामें तो भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं यथार्थमें भक्तिके द्वारा ही जाना जा सकता हूँ—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८। ५५)

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११। ५३-५४)

अब प्रश्न उठता है कि इतनी महामहिमशालिनी वह भक्ति क्या है? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? उसके द्वारा कैसे परमात्माकी उपासना की जाती है और उसका इतना महत्त्व क्यों है? जहाँतक भक्तिकी परिभाषाका सम्बन्ध है, भक्ति-शास्त्रके उपदेष्टाओं और आचार्योंने विविध प्रकारसे उसकी परिभाषा की है। साधन और साध्य, वैधी और रागानुगा अथवा मर्यादा और पुष्टि-भक्ति आदि भेदोंके आधारपर, इन विविध परिभाषाओंकी सङ्गति बिठायी जा सकती है। 'नारद-पञ्चरात्र' में साधन-भक्तिकी परिभाषा इस प्रकार की है—

सुरर्षे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया ।
सैव भक्तिरिति प्रोक्ता तथा भक्तिः परा भवेत् ॥

इसमें प्रभु-आराधनाके उद्देश्यसे निर्दिष्ट क्रियाको 'भक्ति' कहा है। उसीसे परा-भक्ति अर्थात् उत्कृष्टतर साध्यरूपा भक्ति प्राप्त होती है। नारद-भक्ति-सूत्रमें इसीको सिद्धावस्थामें 'परम प्रेमरूपा' और 'अमृतस्वरूपा' कहा है—

'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा च ।' (१।२, ३)

'जिसमें इतर सभी साधनोंका अवलम्ब छोड़कर, चञ्चल मनकी सभी चाहोंको मिटाकर, चित्त-वृत्ति अनन्य-भावसे परमात्मामें लग जाती है; प्रेमास्पद प्रभुके विना जिसमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता; जिसे प्राप्त कर जीव सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और सभी प्रकारसे तृप्त हो जाता है'—

'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति ।' (नारद भ० १।४)

'जिसे प्राप्त कर न तो कुछ चाहता है, न शोक करता है, न किसीसे द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न सांसारिक भोगादिकी प्राप्तिसे उसे उत्साह होता है'—

'यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ।' (नारद भ० १।५)

महर्षि शाण्डिल्यने सर्वैश्वर्यवान् परमात्मामें सर्वातिशायिनी सभी लौकिक और अलौकिक विषयोंसे उत्कृष्टतमा अनुरक्तिको भक्ति कहा है—

'सा परानुरक्तिरीश्वरे ।' (शाण्डिल्य० १।२)

और उसीसे वह अमृत-स्वरूपताको प्राप्त करता है—

'तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ।' (शाण्डिल्य० १।३)

श्रीकृष्ण-प्रेममें डूबे हुए परमहंसशिरोमणि आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने भगवद्धर्म अर्थात् भगवद्गुण-श्रवणादिसे द्रवीभूत हुए चित्तकी सर्वेश्वर भगवान्‌के विषयमें धारावाहिकताको प्राप्त हुई (तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे भगवदाकार हुई) वृत्तिको 'भक्ति' कहा है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता ।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते ॥
(भक्ति० रसा० १।३)

चित्तवृत्तिकी धारावाहिकताके समर्थनके लिये उन्होंने श्रीमद्भागवतका प्रमाण दिया है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
(श्रीमद्भागवत ३।२९।११-१२)

यहाँ अविच्छिन्नतासे धारावाहिकताका ही निर्देश है। श्रीमद्भागवत भक्तिशास्त्रका आकर ग्रन्थ है और कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदायके सभी आचार्य उसे भक्तिका सर्वस्व स्वीकार करते हैं। चैतन्यसम्प्रदाय तो भागवतको ब्रह्मसूत्र-के अकृत्रिम भाष्यके रूपमें स्वीकार कर उसीको परम-प्रमाण स्वीकार करता है—'श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलम्' मधुसूदन सरस्वती और रूपगोस्वामी आदि आचार्योंने भक्तिके विविध रूपोंके समर्थनमें उसीसे सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। मधुसूदन सरस्वतीने भक्ति-रसायनके आरम्भमें भी ग्रन्थकी अवतारणा करते समय एक अतिरमणीय पद्यमें भक्तिकी व्याख्या की है—

नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति ।
निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं
तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि ॥
(भक्ति० रसा० १।१)

रूपगोस्वामीका हरिभक्तिरसामृत सिन्धु तो भक्तिकी सर्वाङ्गीण व्याख्या और उसे रसरूपमें प्रतिष्ठित करनेवाला एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। उनकी भक्ति-व्याख्या नितान्त मननीय है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥
(हरिभक्तिरसामृतसिंधु १।१।११)

'(सभी प्रकारकी) अन्य कामनाओंसे रहित (निर्विशेष ब्रह्मके स्वरूपानुसंधान आदि रूप) ज्ञान और (श्रुत्यादि प्रतिपादित यज्ञादिरूप) कर्मों आदि (अर्थात् आदिशब्द-से ग्राह्य सांख्य-योग आदिके विधानोंके सम्बन्धों) से

अनाच्छादित, अनुकूल भावनासे कृष्णका सेवन 'उत्तम भक्ति' कहलाता है। यहाँ 'कृष्ण'शब्दसे परमात्माका ग्रहण करके इस लक्षणको और व्यापक बनाया जा सकता है।

यहाँ प्रसिद्ध ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्गसे भक्ति-मार्गकी भिन्नता दिखलानेके लिये भक्तिको उन दोनोंसे अनावृत कहा है। भक्तिकी प्रशंसामें उनके द्वारा प्रदत्त छः विशेषण उसके महत्त्वका अधिक स्पष्टीकरण करते हैं—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(हरिभक्तिरसामृतसिंधु पू० १। १३)

इन विशेषणोंसे भक्तिके लोकोत्तर और सर्वथा निरुपम स्वरूपका पता चलता है। इस लघु लेखमें उनकी विस्तृत व्याख्या नहीं की जा सकती।[1] उन्होंने साहित्य-शास्त्रकी प्रक्रियाके अनुसार अनेक प्रबल और पुष्ट प्रमाणोंके आधार-पर भक्तिकी रसरूपताकी सिद्धि की है और उसे ही एकमात्र प्रकृत-रस स्वीकार किया है, जिसकी रमणीयता सहृदयों और भावुकोंके द्वारा वहीं द्रष्टव्य है। विविध आचार्योंकी इन परिभाषाओंसे भक्तिके असाधारण गौरव और उसके साक्षात् पुरुषार्थ होनेकी 'प्रेमा पुमर्थो महान्' इस तथ्यकी कुछ झलक प्राप्त होती है। इन विविध परिभाषाओंमें सर्वत्र परमात्मामें परानुरक्ति, इतर-रागविस्मारण और अनन्य-प्रेम-निष्ठाकी सूचना दी गयी है। कुछ लोग भक्तिका साधन और साध्य-भेद स्वीकार करते हैं। आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने इसका सुन्दर समाधान किया है—

"अत्रोच्यते—फलसाधनभेदेन भक्तिद्वैविध्योपपत्तेरदोषः। तथा हि भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन फलमभिधीयते, तस्य च निरतिशयपुमर्थत्वात् पूर्वोक्तवादानां प्रामाण्यमव्याहतम्। तथा 'भज्यते=सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति' करणव्युत्पत्त्या भक्तिशब्देन श्रवणकीर्तनादि साधनमभिधीयते, तस्य च स्वयं पुरुषार्थत्वाभावात् साधनत्ववादानामपि प्रामाण्यमविरुद्धम्। यथा 'विज्ञप्तिर्विज्ञानमिति' भावव्युत्पत्त्या 'विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म।' (बृ० आ० उ० ३। ९। २८) इत्यत्र विज्ञानशब्दो ब्रह्मणि वर्तते, 'विज्ञायतेऽनेन' इति करणव्युत्पत्त्या 'विज्ञानं यज्ञं तनुते।' (तै० उ० २। ५। १) इत्यादावन्तःकरणे वर्तते, तद्वत्। एतच्च स्पष्टीकृतं प्रबुद्धे-

स्मरन्तस्स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्।
भक्त्या सञ्जातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम्॥"

(श्रीमद्भागवत ११। ३। ३१)

अत्र करणव्युत्पत्त्या प्रथमभक्तिशब्दो भागवतधर्मेषु प्रयुक्तः, द्वितीयस्तु भावव्युत्पत्त्या फले।" (भक्तिरसायन०)

अर्थात् फल और साधन-भेदसे भक्तिके दो प्रकारोंका होना युक्तिसंगत है, अतः इस मान्यतामें कोई दोष नहीं है। जैसे कि 'भजनम्' अर्थात् 'अन्तःकरणका भगवदाकार होना ही भक्ति है।'—इस प्रकार भावमें प्रत्यय करके 'भक्ति' शब्दकी व्युत्पत्ति करें तो भक्तिका अर्थ होता है—फल। इस फलके निरतिशय पुरुषार्थरूप होनेसे पूर्वोक्त कथनोंकी प्रामाणिकता बनी रहती है और 'भज्यते=सेव्यते—अन्तःकरणको भगवदाकार किया जाता है, जिसके द्वारा, वही भक्ति है' इस प्रकार करणमें प्रत्यय करके व्युत्पत्ति करें तो 'भक्ति' शब्दसे श्रवण-कीर्तनादिका बोध होता है और भक्ति स्वयं पुरुषार्थ न होकर परमका उसका साधन हो जाती है। इससे साधन माननेवाले वचन भी प्रमाणरूप ही ठहरते हैं। जैसे 'विज्ञप्ति ही विज्ञान है' ऐसा भावमें प्रत्यय करके विग्रह करनेसे 'विज्ञानं ब्रह्म'—इस वाक्यमें विज्ञान शब्दका प्रयोग ब्रह्मके अर्थमें होता है और 'विज्ञायते अनेन' जाना जाता है जिससे' इस प्रकार करणमें प्रत्यय करनेपर 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादि वाक्योंमें 'विज्ञान' शब्द अन्तःकरण-अर्थमें आता है। इसी प्रकार भक्तिके भी दोनों प्रकार माने जा सकते हैं। इसे योगेश्वर प्रबुद्धने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'पापसमूहका नाश करनेवाले भगवान्को स्मरण करते हुए और परस्पर एक दूसरेको स्मरण कराते हुए (साधन-रूप) भक्तिसे उत्पन्न जो (फलरूप) भक्ति है, उससे उनका शरीर रोमाञ्चित हो जाता है।' यहाँपर करणमें प्रत्ययसे प्रथम 'भक्ति' शब्दका भागवतधर्मोंके अर्थमें प्रयोग किया गया है और द्वितीय 'भक्ति' शब्दका भाव-व्युत्पत्तिसे फल-अर्थमें। उक्त विवेचनके आधारपर ही निम्नाङ्कित प्रमाण स्मरणीय हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

(श्रीमद्भागवत १। २। ७)

[1] द्रष्टव्य लेखकका अप्रकाशित ग्रन्थ 'भक्ति-रहस्य'।

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥
(श्रीमद्भागवत २।३।१०)

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(गीता १८।५५)

'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यत इत्यर्थः।'
(सिद्धान्तकौमुदी)

इन सभी प्रमाणोंमें भक्तिका साधनरूप ही अभिव्यक्त होता है। रूपगोस्वामीने 'साधन-भक्तिके वैधी और रागानुगा'—ये दो भेद किये हैं।

'वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।'
(हरिभक्तिरसामृतसिंधु पू० २।३)

चित्त-शुद्धि और रागकी स्वाभाविक प्राप्तितक साधन-भक्ति नितान्त उपकर्त्री है। कुछ महानुभाव केवल भक्तिको ही साधन और साध्य स्वीकार करते हैं—

'स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः' (नारद० भ० ३०)

गोस्वामी तुलसीदास भी भक्तिको परम स्वतन्त्र स्वीकार करते हैं—

'सो सुतन्त्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥'
(मानस० अरण्य०)

भागवतमें लिखा है कि भगवान्के चरणोंकी भक्तिका निरन्तर अभ्यास करनेसे ज्ञान, वैराग्य आदि तो अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं—

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥
(श्रीमद्भागवत ११।२।४३)

मुक्ति, ज्ञान और वैराग्य—ये तो सदैव भक्तिकी सेवामें उपस्थित रहते हैं—

'मुक्तिं ज्ञानं विरक्तिं च सह कृत्वा गता भुवि।'
(भागवत, मा० २।९)

स्वयं भक्तिने ज्ञान और वैराग्यको अपना पुत्र बतलाया है—

'अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।'
(भागवत, मा० १।४५)

भक्तिका यह असाधारण गौरव इसलिये है, 'क्योंकि द्रवीभूत चित्तद्वारा विभु, नित्य, पूर्ण, ज्ञान और सुख-स्वरूप भगवान्को ग्रहण कर लेनेपर कुछ भी शेष नहीं रह जाता।' उस स्थितिमें इस ब्रह्माण्डके सभी स्पृहणीय प्राप्तव्योंकी समुपलब्धि सम्भव है—

भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥
(भक्तिरसायन १।२८)

इस सम्बन्धमें रूपगोस्वामीका 'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' विशेषण भी मननीय है, जिसका स्पष्ट तात्पर्य है कि ब्रह्मानन्दको परार्द्धकी संख्यासे गुणित करनेपर भी वह इस भक्ति-सुख-सागरके एक परमाणुकी भी तुलनामें नहीं आ सकता। किंतु भक्ति-जगत्की यह निरुपम परमानन्दमयी स्थिति प्रभु-प्रसादसे ही सम्भव है। परमेश्वरकी अकारण करुणाके बिना जीव स्वपुरुषार्थसे इस स्तरतक नहीं पहुँच सकता। उपनिषद्के इस मन्त्रमें भी यही सिद्धान्त ध्वनित हो रहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(मुण्डक उ० ३।२।३)

अतः जबतक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, साधकको इसके उदय होनेतक वैधी-भक्तिका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। रूपगोस्वामीने इसे 'भावोत्थ' और 'अतिप्रसादोत्थ'—इन दो भेदोंसे सङ्केतित किया है—

'भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः श्रीहरेरिति स द्विधा।'
(हरिभक्तिरसामृत० पू० ४।३)

और इस प्रेमकी उत्पत्तिकी प्रक्रियाका क्रम इस प्रकार बताया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥
धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणिभिरप्यस्य मुद्रा सुष्ठु सुदुर्लभा॥
(हरिभक्तिरसामृत० पू० ४।६-८)

'सबसे पहले १–श्रद्धा (की उत्पत्ति होती है), उसके बाद २–साधुसङ्ग, तदनन्तर ३–भजन-क्रिया, ४–अनर्थ-निवृत्ति, ५–निष्ठा, विश्वास, ६–रुचि, तदनन्तर ७–आसक्ति फिर ८–भाव, उसके बाद ९–प्रेमका उदय होता है। जिस सौभाग्यशालीके चित्तमें यह अपूर्व प्रेम उत्पन्न होता है, उसकी मुद्राको अन्तर्वाणि (विद्वान्) लोग भी भली प्रकार समझनेमें असमर्थ रहते हैं।' इसीलिये नारद-पञ्चरात्रमें लिखा है–

भावोन्मत्तो हरेः किञ्चिन्न वेद सुखमात्मनः।
दुःखं चेति महेशानि परमानन्दमाप्लुतः॥

साध्य-भक्तिमें प्रेमसे भी परे स्नेह, मान, प्रणय आदि महाभावकी अनेक अवस्थाओं तक अनेक भेद हैं, किन्तु वे सब प्रेमके ही विलासमात्र हैं।

(शेष आगे)

सेवापराध और नामापराध

सेवापराध

१–सवारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्के मन्दिरमें जाना।

२–रथ-यात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना।

३–श्रीमूर्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना।

४–अशौच-अवस्थामें दर्शन करना।

५–एक हाथसे प्रणाम करना।

६–परिक्रमा करते समय भगवान्के सामने आकर कुछ न घूमकर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना।

७–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना।

८–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दोनों घुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लपेटकर बैठ जाना।

९–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने सोना।

१०–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना।

११–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने झूठ बोलना।

१२–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने जोरसे बोलना।

१३–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने आपसमें बातचीत करना।

१४–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने चिल्लाना।

१५–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने कलह करना।

१६–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना।

१७–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना।

१८–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर वचन बोलना।

१९–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने कम्बलसे सारा शरीर ढक लेना।

२०–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना।

२१–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना।

२२–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने अश्लील शब्द बोलना।

२३–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना।

२४–शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारोंसे भगवान्की सेवा-पूजा करना।

२५–श्रीभगवान्को निवेदन किये बिना किसी भी वस्तुका खाना-पीना।

२६–जिस ऋतुमें जो फल हो, उसे सबसे पहले श्रीभगवान्को न चढ़ाना।

२७–किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्के व्यञ्जनादिके लिये देना।

२८–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना।

२९–श्रीभगवान्के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना।

३०–गुरुदेवकी अभ्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्तवन न करना।

३१–अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना।

३२–किसी भी देवताकी निन्दा करना।

श्रीवाराह-पुराणमें ३२ सेवापराधोंका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है–

१–राजाके अन्नका भक्षण करना।

२–अँधेरेमें श्रीविग्रहका स्पर्श करना ।

३–नियमोंको न मानकर श्रीविग्रहका स्पर्श करना ।

४–बाजा या ताली बजाये बिना ही श्रीमन्दिरके द्वारको खोलना ।

५–अभक्ष्य वस्तुएँ निवेदन करना ।

६–पादुकासहित भगवान्‌के मन्दिरमें जाना ।

७–कुत्तेकी जूँठनका स्पर्श करना ।

८–पूजा करते समय बोलना ।

९–पूजा करते समय मलत्यागके लिये जाना ।

१०–श्राद्धादि किये बिना नया अन्न खाना ।

११–गन्ध और पुष्प चढ़ानेके पहले धूप देना ।

१२–निषिद्ध पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा करना ।

१३–दँतुवन किये बिना भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना ।

१४–स्त्री-सम्भोग करके भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना ।

१५–रजस्वला स्त्रीका स्पर्श करके श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

१६–दीपका स्पर्श करके श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

१७–मुर्देका स्पर्श करके श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

१८–लाल वस्त्र पहनकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

१९–नीला वस्त्र पहनकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२०–बिना धोया हुआ वस्त्र पहनकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२१–दूसरेका वस्त्र पहनकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२२–मैला वस्त्र पहनकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२३–शवको देखकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२४–अधोवायुका त्याग करके श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२५–क्रोध करके श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२६–श्मशानमें जाकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२७–खाया हुआ अन्न पचनेसे पहले खाकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२८–पशुओंका मांस खाकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२९–पक्षियोंका मांस खाकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

३०–गाँजा आदि मादक द्रव्योंका सेवन करके श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

३१–कुसुंब साग खाकर श्रीभगवान्‌की पूजा या उनका स्पर्श करना ।

३२–शरीरमें तैल मलकर भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना ।

गङ्गास्नान करनेसे, यमुनास्नान करनेसे, भगवान्‌की सेवा करनेसे, प्रतिदिन गीताका पाठ करनेसे, तुलसीके द्वारा श्रीशालग्रामजीकी पूजा करनेसे, द्वादशीके दिन जागरण करके तुलसीका स्तवन करनेसे, भगवान्‌की पूजा करनेसे और भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नाम-कीर्तन करनेसे सेवापराध छूट जाता है। भगवान्‌के नामसे सारे अपराधोंकी क्षमा हो जाती है। श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

मम नामानि लोकेऽस्मिन् श्रद्धया यस्तु कीर्तयेत् ।
तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाम्येव न संशयः ॥

'इस संसारमें जो पुरुष श्रद्धापूर्वक मेरे नामोंका कीर्तन करता है, मैं उसके करोड़ों अपराधोंको क्षमा कर देता हूँ, इसमें कोई संदेह नहीं है।'

नामापराध

१–सत्पुरुषोंकी निन्दा करना ।

२–शिव और विष्णुके नामोंमें ऊँच-नीचकी कल्पना करना ।

३–गुरुका अपमान करना ।

४–वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना ।

५–'भगवान्‌के नामकी जो इतनी महिमा कही गयी है, यह केवल स्तुतिमात्र है, असलमें इतनी महिमा नहीं है।' इस प्रकार भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी कल्पना करना ।

६–'भगवान्‌के नामसे पापोंका नाश होता ही है, पाप

करके नाम लेनेसे पाप नष्ट हो ही जायँगे, पाप हमारा क्या कर सकते हैं ?' इस प्रकार भगवान्के नामका आश्रय लेकर नामके बलपर पाप करना ।

७–यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभ कर्मोंको नामके समान मानना ।

८–श्रद्धारहित और सुनना न चाहनेवाले व्यक्तिको उपदेश करना ।

९–नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न करना और

१०–'मैं' और 'मेरे'के फेरमें पड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त होना । इन दस नामापराधोंसे भी छुटकारा नामके जप-कीर्तनसे ही मिलता है ।

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् ।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥

'नामापराधयुक्त पुरुषोंका पाप नाम ही हरण करता है और निरन्तर कीर्तन किये जानेपर वह सारे मनोरथोंको पूरा करता है ।'

श्रीमद्भागवत और भक्त्युपासनाके मुख्य तत्त्व

(लेखक–श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरंगनाथानन्दजी महाराज)

श्रीमद्भागवतका आरम्भ ही होता है—शौनक एवं अन्यान्य ऋषियोंके द्वारा सूतसे पूछे हुए इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नसे—

तत्र तत्राञ्जसाऽऽयुष्मन् भवता यद्विनिश्चितम् ।
पुंसामेकान्ततः श्रेयस्तन्नः शंसितुमर्हसि ॥
(१ । १ । ९)

'आयुष्मन् ! आप कृपा करके यह बतलाइये कि उन सब शास्त्रों, पुराणों और गुरुजनोंके उपदेशोंमें कलियुगी जीवोंके परम कल्याणका सहज साधन आपने क्या निश्चय किया है ?'

मनुष्य क्या है ? निम्नतम स्तरपर हम उसे दुर्बल, इन्द्रियाधीन एवं एक असहाय व्यक्तिके रूपमें पाते हैं तथा उच्चतम स्तरपर अनन्त ज्ञान, प्रेम, करुणा और अभयकी किरणमाला बिखेरते हुए भगवदवतारके रूपमें उसका दर्शन करते हैं । समस्त प्राणियोंके भीतर उनके आत्मारूपसे निवास करनेवाला भगवान् मनुष्यको सीमाओं एवं भयसे मुक्त करनेके लिये मनुष्यके रूपमें अवतरित होता है । श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि 'नाम और नामी अर्थात् भगवान्के नाम और भगवान्में कोई अन्तर नहीं है ।' नामकी शरण लेनेवाला भगवान्की ही शरणमें जाता है । सांसारिक प्रपञ्चों, भोगों एवं चिन्ताओंमें लीन व्यक्तिको जब यह ज्ञात हो जाता है कि भगवान् प्रेमके समुद्र हैं और अवतारके रूपमें हमारे सामने अभिव्यक्त होते हैं, तब वह संसारी न रहकर भक्त बन जाता है और उसके आध्यात्मिक जीवनका आरम्भ हो जाता है । इसीका नाम 'उपासना' है, जिसके द्वारा उपासक बनकर वह अपने जीवनका एक नया अध्याय खोलता है । श्रीमद्भागवतका कथन है—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् ।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥
(१ । १ । १४)

'यह जीव जन्म-मृत्युके घोर चक्रमें पड़ा हुआ है । इस स्थितिमें भी यदि वह कभी भगवान्के मङ्गलमय नामका उच्चारण कर ले तो उसी क्षण उससे मुक्त हो जाय; क्योंकि स्वयं भय भी भगवान्से डरता रहता है ।'

जो प्रेमके सागर तथा हमारे आत्माओंके भी आत्मा हैं, ऐसे सगुण भगवान्के प्रति प्रेमपूरित भक्ति, सगुणरूपमें की गयी उनकी लीलाओंका रसास्वादन, उनका निरन्तर चिन्तन और उनके पावन नामका अनुसरण, सब कर्मोंको उनकी पूजा मानकर करना, उनकी ही सेवा मानकर सभी प्राणियोंकी सेवा करना—इन सभी रूपोंको उपासना उस समय धारण करती है, जब व्यक्ति सांसारिक जीवनको लात मारकर आध्यात्मिक जीवनकी ओर कदम उठाता है । जिसने भगवान्का थोड़ा भी स्वाद पा लिया है, उस आध्यात्मिक साधकके लिये भगवान् एक शक्तिशाली चुम्बककी भाँति बन जाते हैं । इस चुम्बकका आकर्षण साधकके अपने मनोमल मिटानेकी मात्रापर निर्भर करता है । साधकके सांसारिकतामिश्रित प्रारम्भिक भगवत्प्रेमकी शुद्धिके लिये श्रीमद्भागवत भगवत्स्मृति और भगवन्नामजपकी महिमापर जोर देता है । शौनकके प्रश्नपर सूतने जो उत्तर दिया, उसमें भी पूर्णतया शुद्ध भक्तिकी महिमा गायी गयी है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ॥
(१।२।६)

'मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है, जिससे भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति हो। भक्ति भी ऐसी, जिसमें किसी प्रकारकी कामना न हो और जो नित्य-निरन्तर बनी रहे। ऐसी भक्तिसे हृदय आनन्दस्वरूप परमात्माकी उपलब्धि करके कृतकृत्य हो जाता है।'

इस शुद्ध प्रेमके उपार्जनका ही नाम 'उपासना' है। श्रीमद्भागवतमें इसका शक्तिशाली साधन इस प्रकार बताया गया है—

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥
(१।२।१६)

'शौनकादि ऋषियो! पवित्र तीर्थोंका सेवन करनेसे महत्सेवा, तदनन्तर श्रवणकी इच्छा, फिर श्रद्धा, तत्पश्चात् भगवत्कथामें रुचि होती है।'

आगेके श्लोकमें भागवत कहता है कि इस रुचिको पुष्ट करनेसे भक्तका हृदय अद्भुत रीतिसे शुद्ध हो जाता है—

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥
(१।२।१७)

'भगवान् श्रीकृष्णके यशका श्रवण और कीर्तन दोनों पवित्र करनेवाले हैं। वे अपनी कथा सुननेवालोंके हृदयमें आकर स्थित हो जाते हैं और उनकी अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं; क्योंकि वे संतोंके नित्य सुहृद् हैं।'

आगेके चार महत्त्वपूर्ण श्लोकोंमें (१८–२१) श्रीमद्भागवत मनुष्यके आध्यात्मिक विकासकी उन तीन सीढ़ियोंका उल्लेख करता है, जिनपर चढ़ जानेके बाद मोक्ष और आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है—

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥
(१।२।१८)

'जब श्रीमद्भागवत अथवा भगवद्भक्तोंके निरन्तर सेवनसे अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, तब पवित्रकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णके प्रति स्थायी प्रेमकी प्राप्ति होती है।'

आध्यात्मिक जीवनके प्रारम्भिक स्तरोंपर हमारा भगवत्प्रेम दुर्बल और मन्द रहता है तथा सांसारिक मोहजालके बीचसे उसकी झलक केवल यदा-कदा ही दिखायी पड़ती है। किंतु ज्यों-ज्यों हृदय शुद्ध होता जाता है, त्यों-त्यों भगवत्प्रेम दृढ़तर होता जाता है। अखण्ड दृढ़ता और पूर्णतम शुद्धि भगवत्साक्षात्कारके बाद ही सम्भव है। तीसरे श्लोकमें इसी विषयका वर्णन है। बीचमें दूसरे श्लोकमें नैष्ठिकी भक्तिके उदय होनेसे अन्तःकरणमें जो परिवर्तन होता है, उसका निरूपण किया गया है—

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥
(१।२।१९)

'तब रजोगुण और तमोगुणके भाव—काम और लोभादि शान्त हो जाते हैं और चित्त उनसे रहित होकर सत्त्वगुणमें स्थित एवं निर्मल हो जाता है।'

अब हृदय मङ्गलमय भगवान्के पधारनेके उपयुक्त हो जाता है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥
(१।२।२०)

'इस प्रकार भगवान्की प्रेममयी भक्तिसे जब संसारकी समस्त आसक्तियाँ मिट जाती हैं, हृदय आनन्दसे भर जाता है, तब भगवान्के तत्त्वका अनुभव अपने-आप हो जाता है।'

अगला श्लोक, जो मुण्डक-उपनिषद्के एक प्रसिद्ध मन्त्र (२।२।९) का रूपान्तर है, यह बताता है कि इस प्रकारके साक्षात्कारके पश्चात् मनुष्यकी क्या स्थिति होती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥
(१।२।२१)

'हृदयमें आत्मास्वरूप भगवान्का साक्षात्कार होते ही हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे संदेह मिट जाते हैं और कर्मबन्धन क्षीण हो जाता है।'

यहाँ स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त शब्दोंमें आध्यात्मिक जीवनका वह विज्ञान और वह कला बतायी गयी है, जो वेदान्तके निर्गुण तथा सगुण ब्रह्मके सगुणरूपकी भक्तिके अनुकूल है। भगवान् एक हैं, परंतु उनके पास पहुँचनेके मार्ग अनेक हैं। इन मार्गोंको वेदान्तने दो श्रेणियोंमें रक्खा है—निवृत्ति एवं प्रवृत्ति। ज्ञानयोग और राजयोग पहली श्रेणीमें हैं तथा भक्तियोग और कर्मयोग दूसरी श्रेणीमें। किंतु श्रीमद्भागवत-की भक्ति—ज्ञान और भक्ति दोनोंका आनन्द लेती है तथा

राजयोग और कर्मयोगके मुख्य-मुख्य तत्त्वोंको भी अपने स्वादका विषय बनाती है। श्रीमद्भागवतकी रसमयी भक्तिका वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि 'यह दूधके छानेसे बने हुए उस पानतुआ (एक बंगाली मिठाई) नामक मिष्ठान्नके समान है जो कि ज्ञानरूपी घीमें तला गया है और भक्तिकी चाशनीसे तर है।' अध्यात्मविद्याके इस महान् ग्रन्थमें यह वाक्य बार-बार आता है—'ज्ञानवैराग्ययुक्तया भक्त्या।' सगुण एवं निर्गुण भगवान् एवं ज्ञानी और भक्तके भगवान्‌की एकताका संदेश इस ग्रन्थके इस निम्नलिखित श्लोकमें चमक रहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(१।२।११)

"तत्त्ववेत्ता लोग ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड, अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानको ही 'तत्त्व' कहते हैं। उसीको कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान्‌के नामसे पुकारते हैं।"

अन्तर केवल नामोंमें है—'शब्द्यते'। पहुँचनेके मार्गोंसे उनका जन्म होता है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, 'अनेक हैं, किंतु लक्ष्य एक ही है।'

भक्ति-उपासनापर इस छोटेसे लेखका अन्तमें मैं एक अन्य महान् श्लोकको उद्धृत किये बिना नहीं सकता। इस श्लोकमें मनुष्यके दुःखसे छूटकर सुखमें करनेका वर्णन है—

पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां
कथामृतं श्रवणपुटेषु सम्भृतम्।
पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं
व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकम्॥
(२।२।३७)

'राजन्! संत पुरुष आत्मस्वरूप भगवान्‌की कथा मधुर अमृत बाँटते ही रहते हैं। जो अपने कानके दोने भर-भरकर उसका पान करते हैं, उनके हृदयसे विषयोंका विषैला प्रभाव जाता रहता है। वह शुद्ध हो जाता है और वे भगवान् श्रीकृष्णके चरण-कमलोंकी संनिधि प्राप्त कर लेते हैं।'

चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

'भाव' जब चित्त-प्रदेशमें निश्चल हो जाता है, तब वह 'स्थायिभाव' कहलाता है। वैष्णवशास्त्रोंके अनुसार 'कृष्णरति' या 'भगवद्रति' ही 'स्थायिभाव' है। भगवद्रतिका प्रत्येक स्तर 'स्थायिभाव' ही है, परंतु वह एक ही भाव चित्तवृत्तिके भेदसे विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित होता है। आचार्य भरतने रसके आठ विभाग किये हैं—शृंगार, वीर, भयानक, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण और हास्य। किसी-किसीने 'शान्त' रसको नवाँ भाव माना है। वैष्णव महात्माओंने भगवद्रसके रूपमें रसोंका विभाजन करते हुए रति या स्थायिभावके पाँच भेद किये हैं—'शान्ति', 'प्रीति', 'सख्य', 'वात्सल्य' और 'माधुर्य' (प्रियत्व)। इन पाँच स्थायिभावोंके विकासमें पाँच रसोंका उदय होता है। वे हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। यह अनिवार्य नहीं है कि इनका क्रमविकास ही हो, पर यह निर्विवाद है कि अगले-अगले रसमें पिछले-पिछले रसकी निष्ठा अवश्य रहती है। जैसे आकाशादि पञ्चभूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें वर्तमान रहते हैं, वैसे ही इस क्षेत्रमें भी रसोंकी स्थिति होती है। जैसे पृथ्वीमें पाँचों गुणोंकी स्थिति है, वैसे ही माधुर्यमें शान्त-दास्यादिके समस्त गुणोंकी विद्यमानता है। नीचेके उदाहरणसे समझिये—

आकाश या व्योममें—शब्द एक गुण है।

वायु या मरुत्‌में—शब्द, स्पर्श—दो गुण हैं।

अग्नि या तेजमें—शब्द, स्पर्श, रूप—तीन गुण।

अप् या जलमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस—चार गुण।

क्षिति या पृथ्वीमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच गुण हैं। इसी प्रकार शान्तादि रसोंको समझना चाहिये।

शान्तरस—निष्ठामय है।

दास्यरस—निष्ठा और सेवामय है।

सख्यरस—निष्ठा, सेवा और विश्रम्भ(संकोच-शून्यता-) मय है।

वात्सल्यरस—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ और ममतामय है।

माधुर्य—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ, ममता और आत्मसमर्पणमय है।

इनमें सर्वप्रथम है—शान्त रस! इसकी आधार है—स्थायिभावकी शान्ति-रति। शान्तिका अर्थ 'शम' है। श्रीमद्भागवतके अनुसार 'भगवान् श्रीकृष्णमें निरन्तर बुद्धि

होना ही 'शम' है और ऐसा अनुराग जहाँ होता है, वहाँ लौकिक-पारलौकिक भोग-विषयोंमें विराग होता ही है। भगवान्‌में एक ऐसी निष्ठा होती है, जिससे विषय-भोगोंमें विरति स्वयमेव हो जाती है। ऐसे शान्तरसके भक्तके जीवनद्वारा भगवान्‌की भक्तिकी आनन्ददायिनी धारा बहती रहती है। शान्तरसके भक्तमें भगवान्‌में निर्बाध निष्ठा, समस्त दैवी सम्पदाके गुणोंका समावेश, इन्द्रिय और मनपर विजय, दोष-दुर्गुणोंका अभाव, तितिक्षा, श्रद्धा, निष्कामभाव, दृढ़ निश्चय आदि गुण स्वभावगत होते हैं। यहाँ भोगवासना और भोगासक्तिका अभाव होता है। इसी शान्तरसकी मूल भित्तिपर 'विशुद्ध भगवत्प्रेम'का महान् प्रासाद निर्मित होता है।

पर इस शान्तरसमें भगवान्‌के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता। इसीलिये रसके आरोहण-क्रमकी दृष्टिसे वैष्णव महानुभावोंने शान्तरसको सबसे नीचा स्थान दिया है। इसका विकास होनेपर एक प्रीतिरसका उदय होता है, जो इसके ऊपरकी अवस्था है। उसे 'दास्यरस' कहते हैं। 'प्रेम' की यह आरम्भिक अवस्था है।

इस भावके भक्तकी निरन्तर यह भावना रहती है कि मैं भगवान्‌का अनुग्राह्य हूँ—अनुग्रहका पात्र हूँ। अनुग्रह-पात्र 'दास'भी हो सकता है अथवा 'लाल्य' भी। अतः इस रसमें दो प्रकारके भाव हो सकते हैं—'सम्भ्रमप्रीति' और 'गौरव-प्रीति'।

इनमें 'दास'भक्त अनुग्रहका पात्र होनेके कारण अपनेको भगवान्‌से बहुत ही नीचा समझता है और भगवान्‌की कृपा-प्राप्तिके लिये उनको प्रसन्न करना अपना कर्तव्य समझता है। इसीसे 'सम्भ्रम'का भाव उत्पन्न होता है। 'सम्भ्रम'में भगवान्‌के प्रति भक्तका पराया भाव होता है। वह सदा ही अपने-आपको अत्यन्त हीन समझकर भगवान्‌की सेवा करनेको समुत्सुक रहता है। कभी संकोचरहित नहीं हो सकता और सदा उनके अनुग्रहकी इच्छा करता है। यही 'सम्भ्रम-प्रीति' है।

'गौरव-प्रीति'युक्त भक्त अपनेको सदा भगवान्‌के द्वारा रक्षित और लालित-पालित होकर रहनेकी सतत कामना करता है। यह तो परम सत्य है ही कि परम पुरुष अखिल-विश्व-ब्रह्माण्डनायक भगवान् ही चराचर प्राणि-पदार्थ मात्रके रक्षक और पालक हैं। परंतु धर्मके क्षेत्रमें उपास्य और उपासकमें प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना आवश्यक है। धर्मक्षेत्रमें व्यक्तिगत भावना और कामनाका एक विशिष्ट स्थान है। ये भावना-कामनाएँ प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हैं—पर वे प्रायः सुप्त रहती हैं। अनुकूल सङ्गादिके द्वारा उनकी अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है। तब वह भक्त इस भावनामें निमग्न हो जाता है कि भगवान् मेरे रक्षक, पालक तथा विधाता हैं। एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु और रक्षक हैं। इसीको शास्त्रोंमें 'गौरव' कहा है। इस भावमें जिस विचारसे सुख मिलता है, उसे 'गौरव-प्रीति' कहते हैं। यही 'अनन्यभाक् भजन' है।

'दास' भक्तोंके चार प्रकार माने गये हैं—१–अभिकृत, २–आश्रित, ३–पारिषद् और ४–अनुग। 'अभिकृत' दासभक्तोंमें ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर, वरुण आदि मुख्य माने जाते हैं। 'आश्रित' दासभक्तोंके तीन भेद हैं—(१) शरणागत, (२) ज्ञाननिष्ठ और (३) सेवानिष्ठ। विभीषण, सुग्रीव, जरासन्धके कारागारमें बन्दी राजागण, और कालिय नाग आदि 'शरणागत' हैं। भगवान्‌के दिव्य समग्र स्वरूप तथा लीलातत्त्वको जानकर, जिन महानुभावोंने मोक्षकी इच्छाका सर्वथा परित्याग कर केवल भगवान्‌का ही परमाश्रय लेकर उनके भजन-रसके आस्वादनमें ही अपनेको लगा रक्खा है—ऐसे सनत्कुमार, शौनक, नारद और शुकदेव आदि 'ज्ञाननिष्ठ' हैं। और जिन्होंने भुक्ति-मुक्तिकी सारी स्पृहासे अतीत होकर केवल भगवत्सेवामें ही अपनेको लगा रक्खा है और दिये जानेपर भी मुक्तियोंका स्वीकार न करके जो सदा सेवापरायण ही हो रहे हैं, ऐसे श्रीहनूमान्, चन्द्रध्वज, बहुलाश्व, इक्ष्वाकु, पुण्डरीक आदि 'सेवानिष्ठ' दासभक्त हैं। 'पारिषद' भक्त वे हैं जो सारथि आदि कार्योंके द्वारा सेवा करते हैं तथा सेवाके लिये साथ रहते हुए समय-समयपर सलाह आदि भी दिया करते हैं—जैसे उद्धव, विदुर, संजय, भीष्म, शक्रजित् आदि। अब रहे 'अनुग' दासभक्त, जो सदा प्रभुकी सेवामें ही लगे रहते हैं। ये दो प्रकारके हैं—'पुरस्थ' और 'व्रजस्थ'। सुचन्द्र, मण्डल, स्तम्ब और सुतम्बादि 'पुरस्थ' हैं; और रक्तक, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, पत्रक, पत्री, प्रेमकन्द, आनन्द, चन्द्रहास, पयोद, शारद और रसद आदि 'व्रजस्थ' भक्त हैं। इतना स्मरण रहे कि भगवान्‌का दास न किसी दूसरेका 'दास' होता है न किसी दूसरेको 'दास' बनाता है।

परंतु इस दास्यरसमें एक कमी है, जो दासके द्वारा ऐसे कर्म-आचरण नहीं होने देती, जिनसे भगवान् श्रीकृष्णको विशेष आनन्द प्राप्त हो। वह है—अपनेमें हीनता, दीनता और मर्यादाका भाव, जो सदा ही जाग्रत् रहता है और सदा ही सम्भ्रम-संकोचका उदय कराता रहता है। अतएव इससे भी आगे 'सख्य भाव' में पहुँचना है। सख्यका स्थायिभाव 'सख्य रति' है। सख्य होता है—दो समान गुणधर्मा मनुष्योंमें। उसमें समानताके भावकी प्रीति होती है, इससे भक्त अपनेको दीन-हीन नहीं समझता और परस्पर गुप्त-से-गुप्त रहस्यकी बात भी छिपायी नहीं जाती। दास्यरसके मर्यादा—संकोच-सम्भ्रमका प्रतिबन्ध इसमें नहीं है, न उतना मान-सम्मान है।

सख्यरसके भक्तोंके भी दो भेद हैं—'पुरसम्बन्धी' (ऐश्वर्यज्ञानयुक्त) और 'व्रजसम्बन्धी' (विशुद्ध भक्तिमय)। अर्जुन, भीम, द्रौपदी, उद्धव, सुदामा ब्राह्मण आदि 'पुरसम्बन्धी' भक्त हैं। व्रजसम्बन्धी सख्य भक्तोंमें ऐश्वर्यज्ञान नहीं है, पर उनकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) सुहृत् सखा, (२) सखा, (३) प्रिय सखा और (४) प्रियनर्मसखा। भगवान् श्रीकृष्णसे कुछ अधिक उम्रके वात्सल्यभावसे युक्त, सदा-सर्वदा श्रीकृष्णकी देख-रेख रखनेवाले सुभद्र, मद्रवर्द्धन, मंडलीभद्र, गोभट, यक्षेन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, बलभद्र, महागुण और विजय आदि 'सुहृत् सखा' हैं। जो श्रीकृष्णसे कुछ कम उम्रके और श्रीकृष्णकी सेवा-सुखके ही अभिलाषी हैं—वे देवप्रस्थ, भानु, कुसुमपीड, मणिबन्ध, वरूथप, विशाल, वृषभ और ओजस्वी आदि 'सखा' हैं। जो श्रीकृष्णके समान उम्रके हैं, जिनमें वात्सल्य और दास्य-रसका सम्मिश्रण सर्वथा नहीं है। अपनेको श्रीकृष्णकी बराबरीका मानते हैं तथा जो श्रीकृष्णके साथ सदा निस्संकोच खेला करते हैं, कंधोंपर चढ़ा लेते हैं, स्वयं चढ़ जाते हैं, कभी मान करके रूठ जाते हैं तथा श्रीकृष्ण जिनको मनाते हैं; कभी श्रीकृष्णका जरा-सा भी मुख उदास देखते हैं तो रो-रो मरते हैं और अपने प्राण देकर भी उन्हें सुखी देखना चाहते हैं—वे श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, किंकणी, स्तोककृष्ण, भद्रसेन, पुण्डरीक, अंशु, विटंक और विलासी आदि 'प्रियसखा' हैं। और इन लोगोंसे भी अधिक भावयुक्त अत्यन्त अन्तरङ्ग, गोपनीय लीलाओंके सहचर सुबल, अर्जुनगोप, वसन्त, गन्धर्व और उज्ज्वल आदि 'प्रियनर्मसखा' हैं। इस सख्यरसके भक्तमें जगत्के सभी प्राणियोंके प्रति 'मैत्री भावना' हो जाती है।

सख्यरसमें कोई संकोच-सम्भ्रम न होकर विश्र[म्भ] भाव होनेपर भी एक कमी है। इसमें देश-काल-परि[स्थि]... कुछ ऐसी बाधाएँ रहती हैं, जिनसे भक्तका सा[रा] ... और ध्यान केवल इसी भावमें नहीं लगा रहता। ये ... बहुत अंशमें वात्सल्य-रसमें पहुँच जानेपर हट जाती हैं।

वात्सल्य-रसका स्थायिभाव 'वात्सल्य-रति' है। ... एक विचित्र ममताका उदय होता है। श्रीकृष्ण मेरा ... है, मेरा दुलारा बच्चा है। यहाँ भगवान् उस भक्तके ... होकर रहते हैं। श्रीकृष्ण यशोदामैयाका स्तन्यपान ... तथा नन्दबाबाकी गोदमें बैठकर जो सुख-लाभ ... हैं और जो सुख-सौभाग्य उनको देते हैं, उसकी ... कोई तुलना नहीं है। इस वात्सल्य-रसकी ऐसी विल[क्षणता] है कि यह भगवान्की भगवत्ताको सर्वथा छिपा-सी ... है। नन्द-यशोदा, वसुदेव-देवकी भगवान्के आनन्द... सम्भूत देव-देवी ही हैं। वे भगवान्के स्वरूपका ज्ञा[न] रखते हों—यह सम्भव नहीं है, तथापि वात्सल्य-र[स] आस्वादनके लिये इनके सामने भगवान् ही अपने सर्वे[श्वर] महेश्वरत्वको, अनन्त ऐश्वर्यज्ञान-स्वरूपको नन्हे-से नन्दकुमा[र] रूपमें छिपा लेते हैं। लीलाके लिये अपने उस ऐश्व[र्य] स्वरूपकी कभी-कभी झाँकी भी करा देते हैं। भगवा[न्ने] मिट्टी खानेके समय, दूध पीते समय, दामोदर-ली[ला] ... ऐश्वर्य दिखाया, पर यशोदामैयाके उमड़ते मातृभा[व]के सामने उसका कोई भी प्रभाव नहीं रह गया।

इस वात्सल्य-रसमें स्नेहका महान् रस-समुद्र उमड़[ते] रहनेपर भी यही सर्वोच्च रस नहीं है। रसकी सर्वोच्च परि[णति] है—कान्त या मधुरभाव अथवा माधुर्य-रसमें। ... मधुर या परमोच्च उज्ज्वल रस शृंगाररसका अतीन्द्रि[य] दिव्य स्वरूप है। यहाँ इस बातको सदा स्मरण रख[ना] चाहिये कि इस माधुर्य-रसकी लौकिक नर-नारियोंके दाम्प[त्य] प्रेमसे कहीं भी, कोई भी समानता नहीं है। हम मनुष्यों[के] प्रेम और स्नेहके जितने भी सम्बन्ध हैं, सभी स्वार्थमूल[क] हैं। अपने सुखकी कामनासे संयुक्त हैं। पर यह भगवद्रे... रस, जिसकी आस्वादनलीला व्रजमें हुई थी, केव[ल] ... और केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही हैं। लौकिक-... अहंसे युक्त 'स्वार्थमूलक' है और यह माधुर्य-प्रेम त्याग...

'प्रियतम-सुखमूलक' है। इसीसे वह 'काम' है और यह 'प्रेम' है। दोनोंमें उतना ही अन्तर है, जितना घोर अन्धकार और परमोज्ज्वल प्रकाशमें है। लौकिक प्रेम कितना ही श्रेष्ठ तथा पूर्ण हो—वह इस दिव्य भाव तक पहुँचनेकी कदापि सामर्थ्य नहीं रखता। लौकिक मलिन विषयकामकी तो बात ही क्या है, मुक्तिकी कामना भी यहाँ सहज ही कलङ्क-सी त्याज्य है।

श्रीरुक्मिणीजी आदि महिषीगण, श्रीलक्ष्मीजी आदि नित्य-देवीगण और महाभाव-स्वरूपा श्रीराधिका आदि गोपाङ्गनागण इस माधुर्य-रसकी आदर्श हैं। गाढ़ता और मृदुताके अनुसार इस माधुर्य-रतिके तीन भेद माने गये हैं—साधारणी, समञ्जसा और समर्था।

भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकालीलामें 'साधारणी', मथुरामें 'समञ्जसा' और वृन्दावनमें 'समर्था' रति है। यद्यपि द्वारकाकी महाभाग्यवती महिषियोंका प्रेम बहुत ही ऊँचा है और उनकी मन-बुद्धि सदा ही प्रियतम भगवान्‌के प्रति समर्पित है, पर उनका प्रेम-समर्पण वेद-विधिके अनुगत है। उनमें गृहस्थधर्मानुसार पुत्र-कन्यादिके लालन-पालनकी आशा और अपने स्वामीके द्वारा आत्म-सुख-प्राप्तिकी आकांक्षा भी है। यह 'साधारणी रति' है। जिसमें पुत्र-कन्याके लालन-पालनादिकी तथा अपने रक्षणावेक्षणकी अपेक्षा नहीं है। प्रियतम श्रीकृष्णको सुख देना और उनसे सुख पाना—'आत्म-सुख' और 'प्रियतम-सुख' का मिश्रण यों 'समरस-विलास' है, वह 'समञ्जसा-रति' है। परस्पर गुणजनित सुखप्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे यह भी 'समर्था-रति' नहीं है। 'समर्था-रति' तो केवल श्रीगोपाङ्गनाओंमें ही है, जहाँ स्व-सुख-वासनाके लेशगन्धकी भी कल्पना नहीं है। रसराज आनन्दस्वरूप भगवान् इस शुद्ध प्रेमरसके आस्वादनमें ही परमसुख प्राप्त करते हैं। इन श्रीगोपीजनोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं—श्रीराधाजी। वे परम निर्मल, परम उज्ज्वल, दिव्यातिदिव्य रसकी अनन्त अगाध सागर हैं। श्रीराधारानी महाभावस्वरूपा हैं, श्रीलक्ष्मीजी, महिषीगण और व्रजसुन्दरियाँ आदि सभी श्रीकृष्णप्रेयसियाँ इन श्रीराधाकी ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। श्रीराधा ही अनन्त श्रीकृष्ण कान्तागणकी बीजरूपा मूलशक्ति हैं। लक्ष्मीगण इनकी 'अंशविभूति' महिषीगण 'वैभवविलास' और व्रजाङ्गनाएँ 'कायव्यूहरूपा' हैं।

श्रीराधाका यह प्रेम पूर्ण और असीम है। यह सदा बढ़ता ही रहता है। यह सर्वश्रेष्ठ विशुद्ध, सरल, निर्मल और श्रीकृष्ण-सुखैकतात्पर्यमय एकमात्र श्रीकृष्ण-सुखरूप है। यही परमोज्ज्वल, परमोत्कृष्ट नित्यानन्तरूप सर्वोच्च प्रेम परम पुरुषार्थ है। यही सर्वश्रेष्ठ चरम तथा परम उपासनाका सर्वोपरि सुधा-मधुर दिव्य फल है, जो श्रीराधाकी कृपासे प्राप्त हो सकता है।

श्रीगोपीजनके परम पवित्र त्यागभावका अनुकरण करके उनकी भाँति सर्वसमर्पणकी साधना (जिसे 'रागानुगाभक्ति' कहते हैं) करनेसे श्रीराधाका कृपालाभ सम्भव है।

प्रेमराज्यका मङ्गलमय आदर्श

नित्य सर्वकारण कारण हरि सर्वशक्तिमत् सर्वाधार।
सर्वाकर्षक घनीभूत चिन्मय आनन्दरूप अविकार॥
अखिलरसामृतमूर्ति, रसिक, रसराज मधुर-रस-पारावार।
महाभावरूपा राधा ह्लादिनि प्रत्यक्ष प्रेम-अवतार॥
दिव्य नित्य सौन्दर्यसुधानिधि शुचि माधुर्यरसाब्धि अपार।
स्व-सुखवासनारहित परस्पर नित्य मधुर सुखके दातार॥
बनकर आस्वादक आस्वाद्याऽऽस्वादन करते रस-विस्तार।
स्थापित करते प्रेमराज्यका मङ्गलमय आदर्श उदार॥

रागात्मिका और रागानुगा भक्ति

(लेखक—श्रीबङ्किमचन्द्र सेन, भक्ति-भारती-भागीरथी)

श्रीकृष्ण भगवान् हैं। वे परतत्त्व हैं; पुरुषोत्तम हैं। पुरुषोत्तम कहनेका अभिप्राय क्या है ? पुरुषोत्तमका स्वरूप क्या है ? गीतामें उन्होंने स्वयं इस प्रश्नका उत्तर दिया है। वे कहते हैं—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(१५। १८)

'मैं क्षर प्रकृतिके परिणामस्वरूप विनाशशील इस जगत्से अतीत वस्तु हूँ; तथा अक्षर या अविनाशी, मरणरहित जीवात्मासे भी अतीत हूँ। इस कारण श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणमें मैं 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

क्षर—विश्वप्रकृति और अक्षर—जीवप्रकृतिसे अतीत तत्त्व हैं—'पुरुषोत्तम'। तो क्या जगत् और जीवके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है। सम्बन्ध तो है ही। सम्बन्ध न होता तो सनातनधर्मका कोई आधार ही नहीं रहता। श्रुति-स्मृति, पुराण और इतिहासमें उपदिष्ट सारे साधन-भजन व्यर्थ हो जाते—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।'
(गीता १५। १५)

—यह गीतोक्त भगवदुक्ति व्यर्थताको प्राप्त हो जाती। श्रुतिने अनेक मन्त्रोंमें और अनेक प्रकारसे इस सम्बन्धको व्यक्त किया है। श्वेताश्वतर-श्रुतिके प्रथम अध्यायके ८, ९ और १०वें मन्त्र इस विषयमें विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ ८॥

'क्षर अर्थात् विनाशशील प्रकृति तथा अक्षरस्वरूप जीव संयुक्त होकर विश्व जगत्में विद्यमान हैं। व्यक्ताव्यक्त-मय अर्थात् कार्य-कारणरूप इस विश्वको परमेश्वर धारण या पोषण करते रहते हैं। अनीश आत्मा अथवा जीवात्मा भोक्तृभावके कारण आबद्ध होता है तथा परमेश्वर या ब्रह्मको जानकर समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है।'

अगले मन्त्रमें यह तत्त्व और भी स्पष्ट हो जाता है। यथा—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥ ९॥

'ज्ञ' अर्थात् ईश्वर जो सर्वज्ञ है; 'अज्ञ' अर्थात् जीव जो अल्पज्ञ है—दोनों ही अज अर्थात् जन्मरहित हैं। ब्रह्म सबका ईश, प्रभु या नियन्ता है। जीव अनीश है। उसका अपने ऊपर भी प्रभुत्व नहीं है। केवल 'अजा' अर्थात् प्रकृति या माया जीवको भोग-सम्पादन करनेमें लगाती है। आत्मा या ब्रह्म अनन्त है। वह विश्वरूप होकर भी अकर्ता है, अर्थात् जीवके समान भोगादि कर्तृत्वसे रहित है। जीव जब इन तीनोंको अर्थात् जीव, ईश्वर और अजा प्रकृतिको ब्रह्मरूपमें उपलब्ध करनेमें समर्थ होता है, तब वह वीतशोक हो जाता है।'

तृतीय मन्त्र इस प्रकार है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥ १०॥

'प्रकृतिका परिणामस्वरूप जगत् है—क्षर अथवा विनाशशील; और जीव है—अक्षर या अविनाशी। संसारके बीजरूप अविद्या आदि दोषोंको हरनेवाले हर-स्वरूप, एक, अद्वितीय प्रकाशमय ब्रह्म क्षर जगत्को और अक्षर जीवात्माको नियमित करते हैं। उस नियामक ब्रह्मके अभिध्यान तथा उसमें चित्तके संयोजनके द्वारा उसके तत्त्व-भावापन्न होनेपर जीव मायासे मुक्त हो जाता है। सुख-दुःखमय विश्वप्रपञ्चसे वह निवृत्त हो जाता है।'

उपर्युक्त मन्त्रोंसे परमेश्वरके क्षर तथा अक्षरके नियामक स्वरूपको हमने जान लिया। क्षर प्रकृतिके वशीभूत होकर जीव मायाके बन्धनमें पड़ता है। ब्रह्मको जान लेनेपर मायाके बन्धनसे जीव मुक्त हो जाता है।

विष्णुपुराणमें परब्रह्मस्वरूप श्रीभगवान्‌की उपर्युक्त शक्तियोंका स्वरूप सुस्पष्ट वर्णित है। यथा—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

अर्थात् ''विष्णुकी तीन शक्तियाँ हैं। उनकी अन्तरङ्गा शक्तिका नाम है 'परा'। जीवशक्ति 'अपरा' है तथा तृतीया शक्ति 'अविद्या' अर्थात् जीवको कर्मबन्धनमें बाँधनेवाली माया है।''

यहाँ प्रश्न होता है कि जीवके लिये इस मायाके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय क्या है? उत्तर यह है कि उपाय वे भगवान् स्वयं हैं। जीवका उद्धार करना ईश्वरका स्वभाव है; क्योंकि जीव सनातन स्वरूपमें उन्हींका अंश है। मुण्डक श्रुतिमें हमको श्रीभगवान्‌के इस स्वभावका परिचय मिलता है। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डक० ३। १। १)

'सर्वदा सम्मिलित और समधर्मी दो पक्षी एक ही वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनोंमें एक तो स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा फल न खाकर उस पक्षीको देखता रहता है।' जीव ब्रह्मके साथ एक ही वृक्षपर बैठा है, तथापि फलभोगमें आसक्त होनेके कारण वह ब्रह्मको देख नहीं पाता; इसी कारण दुश्चिन्तामें पड़कर संताप भोगता है। सखारूप सम्बन्धसे जीव जब ईश्वरको सबके प्रिय स्वरूपमें जानकर उसकी ओर देखता है, तब वह वीतशोक हो जाता है।

ऊपर जो मन्त्र उद्धृत किया गया है, उपलब्धिकी सुविधाके लिये उसके परवर्ती मन्त्रका तात्पर्य भी उसके साथ ही दे दिया गया है। मन्त्रका मर्म यह है कि जीव भगवान्‌को छोड़कर रह नहीं सकता। भगवान् तो जीवको अपना बनाकर प्राप्त करनेके लिये सदा अतन्द्रितभावसे अवस्थित हैं। वे जाग्रत् भगवान् हैं। वे पुरुषोत्तम हैं। वे ही श्रीकृष्ण हैं।

श्रीकृष्णके साथ साक्षात् सम्पर्कमें मायाका कोई संयोग नहीं है। वे मायातीत पुरुष हैं। माया त्रिगुणात्मिका है, अतएव श्रीकृष्णतत्त्व भी गुणातीत है। जीव-प्रकृति मायाके द्वारा आच्छन्न है। प्रकृतिसे समुत्पन्न यह विश्व त्रिगुणात्मक है। विश्वके आश्रयस्वरूप श्रीकृष्णमें विश्व किस प्रकार संस्थित है तथा वह संस्थिति चिति या ज्ञानात्मक संवेदनमें किस प्रकार जीवको उज्जीवित कर रही है, यह सुस्पष्ट हुए बिना जीवके साथ श्रीभगवान्‌के सम्बन्धको हम उपलब्ध नहीं कर सकते। इसके लिये संक्षेपमें तथा यथासम्भव पारिभाषिक जटिलतासे बचते हुए हम विषयको स्पष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे।

परतत्त्व श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान् हैं। श्रुति कहती है—

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'
(श्वेता० ६। ८)

पराशक्ति या अन्तरङ्गा शक्ति उनकी स्वरूपा-शक्ति है। स्वरूपाशक्तिसे शक्तिमान् श्रीकृष्णका एक व्यक्तित्व भी है। इस व्यक्तित्वमें वे रसमय हैं, आनन्दमय हैं। अन्तरङ्गा चित्-शक्तिमें विलसित तथा विक्रीडित उनका एक धाम भी है। गीता (८। १६, १५। ६) में श्रीभगवान्‌ने कहा है—'अर्जुन! ब्रह्मलोकतक त्रिभुवनमें जितने लोक हैं, सब लोकोंसे पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है। परंतु जिस धामको प्राप्त करनेपर जीवको फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता, वही मेरा परम धाम है।' पृथ्वीपर हमारी दृष्टि सीमित रहती है, परंतु पृथ्वीके ऊपर भी अन्यान्य धाम या लोक हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके सर्वश्रेष्ठ पार्षद श्रीसनातन गोस्वामीने अपने 'बृहद्भागवतामृत' नामक ग्रन्थमें इन सब लोकों तथा वहाँके निवासियों और उनके उपास्य देवताओंके सम्बन्धमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। श्रीमन्महाप्रभुने स्वयं भी बतलाया है कि श्रवण-कीर्तन आदि साधनाके फलस्वरूप साधक ब्रह्माण्ड भेद करके किस प्रकार परव्योमको प्राप्त होता है तथा वहाँसे पुनः गोलोकधाम वृन्दावनमें जाता है। श्रीअरविन्दप्रणीत Life Divine या 'दिव्य-जीवन' नामक ग्रन्थमें भी इस सम्बन्धमें विवेचना की गयी है। रवीन्द्रनाथने भी 'शान्तिनिकेतन' नामक प्रबन्धमालामें

इन सब लोकोंका निर्देश करके मनुष्यके जीवनकी व्याप्त चेतनाकी गति और रीतिके विषयमें उपनिषद्‌की दृष्टिसे विचार किया है। गायत्री मन्त्रकी व्याहृतिमें श्रुतिने हमारे मनको तत्सम्बन्धमें सम्प्रसारित किया है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—इनमें प्रथम तीन यथाक्रम पृथिवी, पितृलोक तथा देवलोक हैं। महः, जनः, तपः और सत्यम्—ये चार और उनके ऊपर ब्रह्मलोक है तथा इसके ऊपर भी ज्योतिषालोकसे उद्भासित दिव्यलोक हैं। शीर्षरूपमें, अप्, ज्योति, रस तथा अमृतके समान दिव्यलोकोंमें हमारी शुद्ध बुद्धिको प्रतिष्ठित करनेके लिये ही गायत्री छन्दमें प्रार्थना उद्गीत हुई है। श्रुतिने हमको आश्वासनकी वाणी सुनायी है। 'सुनो, सुनो, तुम अमृतकी संतान हो। तुम्हारा सम्पूर्ण स्वरूप दिव्य लोकोंमें अवस्थित है। तुम उन सब दिव्यलोकोंके अधिकारी हो।'

परब्रह्म परतत्त्व श्रीकृष्णका धाम है—'वृन्दावन'। यह वृन्दावन तथा गोकुल गोलोकके अभ्यन्तर भागमें एक दूसरे-से ऊर्ध्वस्थानमें अवस्थित हैं। गोलोकमें श्रीकृष्णका वैभव और पराक्रम तथा वृन्दावनमें उनकी माधुर्यलीलाका चातुर्य है। यहाँ योगपीठ अवस्थित है। यह पीठ राधागोविन्दकी लीलाभूमि है। पीठ-भूमिमें प्रकृष्टरूपमें द्युतिमान् अष्टकमल-दलमें ललिता आदि अष्ट सखियाँ अपने-अपने स्वभावके अनुरूप श्रीकृष्णसेवामें चिन्मयरूपका प्रभाव विस्तृत कर रही हैं। वृन्दावनधाममें दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये चार प्रकारके श्रीकृष्णके नित्यसिद्ध परिकर निवास करते हैं। इन सबके भाव स्नेह-सम्पर्कसे घनिष्ठ प्रीतिके सूत्रमें श्रीकृष्णसम्बन्धी मधुरभावके द्वारा न्यूनाधिक अंशमें प्रभावित हैं।

गोलोक-धामके नीचे परव्योम-मण्डलमें वैकुण्ठधाम अवस्थित है। इसे नीचे न कहकर अधिकतर बाह्यांशमें कहना ही ठीक होगा। इस धामके अधिवासी सभी मुक्त पुरुष हैं। यहाँके साधकोंके ऐश्वर्यनिष्ठ भाव हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—उनकी ये पाँच अवस्थाएँ हैं। वैकुण्ठधाम योगियोंकी भी अधिष्ठान-भूमि है। योगीगण शान्त भक्तोंके अन्तर्गत है। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन—ये चार परमहंस शान्त भक्तके उदाहरण हैं। इस वैकुण्ठके एक ओर श्रीभगवान्‌के विभिन्न अवतारोंके नित्य-धाम हैं तथा सिद्ध, नित्यमुक्त भक्त और परिकर-वृन्द यहीं रहते हैं। वैकुण्ठधामके बाहर ज्योतिका परिमण्डल है। यह सिद्धलोकके नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ कैवल्यके अधिकारीवृन्द लयको प्राप्त होकर रहते हैं। इसके परे विरजानदी चारों ओरसे घेरे हुए है। विरजानदीके उस पार मायाका राज्य है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि श्रीभगवान्‌की सारी लीलाएँ नित्य हैं। गोकुल-वृन्दावनकी लीलाएँ भी नित्य हैं। वैकुण्ठधामकी लीला भी नित्य है। अधिकारी-भेदसे जीवको परमकी या परम गतिकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु ये सभी लीलाएँ अप्राकृत हैं। अप्राकृत तत्त्व प्राकृतिक इन्द्रियों-के गोचर नहीं हो सकता। इसी कारण वैकुण्ठ और वृन्दावन-लीलाके साथ, विरजाके दूसरे पारमें, मायाभूमिमें अवस्थित प्राकृत जीवका साक्षात् सम्बन्ध घटित नहीं होता।

महाप्रलयके बाद जगत् परब्रह्ममें लय हो जाता है। परंतु इस लयमें भी मायाबद्ध जीव ब्रह्मको प्राप्त नहीं कर सकता। कर्मजनित संस्कारके कारण वे जीव इस अवस्थामें भी सनातन स्वरूपको प्राप्त करनेमें असमर्थ रहते हैं। उनको स्वधर्मनिष्ठ सनातन स्वरूपमें प्रतिष्ठित करनेके लिये श्रीभगवान्-का कारुण्यधर्म गुणमयी सृष्टिकी ओर उन्मुख होता है। सृष्टिकी ओर भगवत्-कृपाशक्तिके इस झुकावसे पुरुषावतार-स्वरूपमें कारणार्णवशायीके कलांशमें श्रीभगवान्‌का कार्य प्रारम्भ होता है।

जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कर्ता परब्रह्म हैं। किंतु परब्रह्मरूपमें वे सृष्टि आदि कार्य नहीं करते। उनके अंशावतार-स्वरूपमें कारणार्णवशायी, गर्भोदशायी तथा क्षीरोदशायी तथा गुणावतार-स्वरूपमें ब्रह्मा, विष्णु (क्षीरोद-शायी) तथा शिवके द्वारा सृष्टिकार्य सम्पन्न होता है। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं—'परब्रह्मके द्वारा नियुक्त होकर मैं सृष्टि करता हूँ। उनके वशवर्ती होकर शिव विश्वका संहार करते हैं। वह त्रिशक्तिधारी भगवान् क्षीरोद-शायी तृतीय पुरुषरूपमें विश्वका परिपालन करते हैं।'

सृष्टिके आरम्भके पूर्व नाम-रूपविशिष्ट यह दृश्यमान जगत् न था। जीवसमूह भी उस समय सूक्ष्मरूपमें भगवान्-में लीन थे। महाप्रलयमें सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण साम्यावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं; अतएव उनकी कोई क्रिया नहीं रहती। यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति जीवको कर्म-संस्कारमें आवद्ध रखती है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।'

(९ । १०)

अर्थात् 'श्रीभगवान्‌की अध्यक्षतामें प्रकृति या माया चराचर जगत्‌की सृष्टि करती है।' सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको क्षुब्ध करके सृष्टि अव्यक्तसे व्यक्तभावको प्राप्त होती है।

काल-प्रभावसे जब प्रकृति इस प्रकार विक्षुब्ध होती है तब पुरुषावतार उसमें जीवरूप वीर्य-आधान करते हैं। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(१४ । ३)

यह वीर्याधान स्वयं परब्रह्म नहीं करते। उनके अंशस्वरूपमें उनके आत्मभूत पुरुषावतार करते हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, अतएव महत्तत्त्वमें सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण रहते हैं। प्रकृतिके क्षोभसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार-तत्त्व, पञ्चमहाभूतोंकी सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ और उनके विषयसमूह उत्पन्न होते हैं। सृष्टि जब व्यक्तरूपमें आती है, तब जीव अपने पूर्वजन्मोंके कर्मोंके संस्कारानुसार इस संसारचक्रमें जड़ित होकर भटकने लगते हैं। गीता (७ । ५-६) में श्रीभगवान् कहते हैं कि "भूमि, जल, अनल, वायु, आकाश और मन, बुद्धि, अहंकार—ये आठ मेरी 'अपरा' प्रकृति हैं। इसके सिवा जीवरूपमें मेरी एक 'परा' या प्रकृष्ट प्रकृति और है। इनके द्वारा ही जगत् विधृत होता है।" यह जीवशक्ति कारणार्णवके बाहर अवस्थान करती है, जिससे कारण-समुद्रको माया स्पर्श नहीं कर सकती। अतएव प्रथम पुरुषावतार कारणार्णवशायीके ईक्षणसे—महद्ब्रह्मसे गुणसमूह विक्षुब्ध होते हैं और अन्तर्यामी स्वरूपमें उनके द्वारा अनन्त ब्रह्माण्ड नियन्त्रित होते हैं। गर्भोदशायी अर्थात् एक ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी तथा क्षीरोदशायी अर्थात् व्यष्टिजीवके अन्तर्यामी भी कारणार्णवशायीके द्वारा नियन्त्रित होते हैं। वस्तुतः गर्भोद और क्षीरोद समुद्र कारणार्णवके विस्ताररूप हैं। गर्भोदकशायी तथा क्षीरोदशायी कारणार्णवशायीके साथ तदात्मक और सदात्मक हैं। इसके परे व्यक्त मायाके राज्यमें मायातीत महिमाशाली श्रीभगवान्‌के अवतार होते हैं। लीलावतार, मन्वन्तरावतार तथा शक्त्यावेशावतारके रूपमें श्रीभगवान् धर्मकी प्रतिष्ठा और अधर्मका नाश करनेके लिये पृथिवीपर अवतीर्ण होते हैं। मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन आदि लीलावतार हैं। यज्ञ, विभु, सत्यसेन, हरि आदि चौदह मन्वन्तरोंके चौदह मन्वन्तरावतार हैं तथा सनक, नारद, पृथु, परशुराम—ये शक्त्यावेशावतार हैं। 'सम्भवामि युगे युगे।' (गीता ४ । ८) में कथित युगावतारका तत्त्व ही हमारा आलोच्य विषय है।

श्रीकृष्ण द्वापर-युगके अवतार हैं। अनेक युग, अनेक कल्प तथा अनेक मन्वन्तरके बाद एक बार इस प्रकारके द्वापर-युगका सुयोग विश्वको प्राप्त होता है। अन्यान्य अवतारोंके साथ कृष्णावतारकी विशेषता है। श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। श्रीकृष्ण जब अवतीर्ण होते हैं, तब उनके अन्य अवतारस्वरूप अंशसमूह उनके साथ मिलित होकर अवतीर्ण होते हैं। विशिष्ट युगके युगावतार, मन्वन्तरावतार तथा लीलावतारोंके विशिष्ट धर्म इस क्षेत्रमें सर्वात्मक प्रभावद्वारा जीवका परम कल्याण-साधन करनेके लिये पर्याप्त शक्ति लेकर कृष्णलीलामें माधुर्यका विस्तार करते हैं। अप्राकृत नित्यधाम वृन्दावन ही भौम वृन्दावन है। यह धाम भूमातत्त्वमें श्रीभगवान्‌की अन्तरङ्गा आनन्दमयी ह्लादिनी शक्तिके उत्तुङ्ग तरङ्गमें विभावित और विभङ्गित होता रहता है। जिस द्वापरमें श्रीकृष्ण युगावतार-स्वरूपमें अवतीर्ण होते हैं, नित्यधाम वृन्दावन भी उनके साथ पृथिवीपर अवतीर्ण होता है। इस भौम वृन्दावनमें मर्त्यजीवनमें आस्वादन-योग्य भावमें श्रीभगवान्‌का सर्वात्मक माधुर्य सम्प्रसारित होता है। उनकी स्वरूपा-शक्ति-स्वरूपिणी राधारानी तथा उनकी नित्यप्रिया सहेलियाँ तो इस लीलामें योग देती ही हैं; रक्तक-पत्रक आदि दास्यभक्त सेवकवृन्द, श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम आदि सख्य भक्तोंके नित्य परिकरवृन्द तथा श्रीनन्द, यशोदा, रोहिणीदेवी आदि वात्सल्यभावके स्वरूप पृथ्वीपर अवतरित होते हैं। युगावतार श्रीकृष्णकी सेवाके विभिन्न अधिकारी भक्तोंमें नाना प्रकारके जीव भी रहते हैं। श्रुतिचरी, ऋषिचरी, देवीपूर्वा, नित्यसिद्धा तथा साधनसिद्धा आदि रूपोंमें इनमें अनेक भेद हैं। दण्डकारण्यवासी मुनिगण, उपनिषद् या श्रुतिकी अभिमानिनीगणने गोपियोंके अनुपम सौभाग्यको देखकर विस्मित होकर तपस्या की थी। उन्होंने व्रजधाममें गोपीरूपमें जन्म लिया था। श्रीकृष्णकी नित्यप्रियावृन्दके अनुग्रहसे बहुत-सी देवियोंने भी व्रजधाममें अवतीर्ण होकर श्रीकृष्णकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त किया। पृथ्वीके अन्यान्य युगोंके साधक भी साधन-सिद्ध स्वरूपमें व्रजधाममें जन्म ग्रहण

करके परम पुरुषार्थको प्राप्त हुए हैं। इन सबके साध्य व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं; और इन सभीकी साधना रागमार्ग-की है। वस्तुतः विधिमार्गकी साधना व्रजधाममें नहीं है। इस धाममें सबको ही गोपियोंका अनुगमन करना पड़ता है।

विधिमार्गकी साधना और रागमार्गकी साधनामें यहाँ पार्थक्य है। भगवद्भक्ति जब शास्त्रीय विधानके द्वारा शासित होती है, तो वह 'वैधी-भक्ति' कहलाती है। इस भक्तिको 'मर्यादा-भक्ति' भी कहते हैं। वही भक्ति श्रीभगवान्में यदि विधिमूलक न होकर, इष्टमें स्वारसिकी रतिसे प्रेरित होकर, परम आविष्टता—आसक्तिसे युक्त होती है अर्थात् इष्ट-सेवाके लिये चित्तमें तृष्णा या लोभ जाग उठता है, तब वह 'रागानुगा भक्ति'के नामसे पुकारी जाती है। इस भक्तिको 'पुष्टि-भक्ति'के नामसे भी अभिहित करते हैं। रागानुगा भक्ति और वैधी भक्ति दोनों ही साधनाके अङ्गस्वरूप होती हैं। किंतु वैधी भक्ति तथा रागानुगा भक्तिके विषय या आश्रयमें भेद होता है। वैधी भक्तिके साधक शास्त्रयुक्तिद्वारा श्रीकृष्णको प्राधान्य दिया करते हैं; परंतु रागानुगा मार्गके साधक व्रजधामके अन्तरङ्ग, स्वरूप-शक्तिके सम्पर्कसे युक्त किसी परिकरका अनुवर्तन करते हैं। इस अनुवर्तनको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं। वस्तुतः रागानुगा भक्ति रागात्मिका भक्तिके इस अनुवर्तनपर ही निर्भर करती है। रागात्मिका भक्तिके स्वाभाविक अधिकारी व्रजवासी अथवा व्रजाङ्गनाओंके अनुगमनके बिना रागानुगा भक्तिकी प्राप्ति असम्भव है; क्योंकि इष्टमें स्वारसिकी रति केवल व्रजवासियोंमें है तथा अनादिसिद्ध देहसे वे श्रीकृष्णमें उसी रतिका सम्भोग करते हैं। अतएव इस क्षेत्रके साधन-मार्गमें रागानुगा भक्तिके मूर्त्त विग्रह-स्वरूप व्रजवासी अथवा व्रजाङ्गनाओंका अनुगमन करना ही पड़ेगा। साधनाके क्षेत्रमें दास्यभावके साधकके लिये नन्दके तथा वृषभानुराजके सेवक रक्तक-पत्रक आदिको, सख्यभावके साधकके लिये श्रीदाम, सुदाम, सुबल आदि सखावृन्दको, वात्सल्यभावके साधकके लिये यशोदा, रोहिणी आदि देवियोंको तथा मधुरभावके साधकके लिये श्रीराधिका आदि व्रजपरिकर-वृन्दको उपास्यरूपमें ग्रहण करना पड़ेगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्रजपरिकरोंमें परिगणित, साधनसिद्ध, ऋषिचरी, श्रुतिचरी आदिके लिये व्रजमें वास करना स्वाभाविक नहीं है, वे स्वभावसिद्ध व्रजवासी नहीं हैं। अतएव उनका अनुगमन स्वीकार करनेपर रागा... भक्तिका साधन नहीं चलता।

श्रीकृष्णके नित्य व्रजपरिकरोंकी यह भक्ति दो प्रकार... होती है—सम्बन्धरूपा और कामरूपा। दास्य, सख्य ... वात्सल्यभावके परिकरोंकी रति श्रीकृष्णमें उनके सम्ब...नुसार होती है। जिस प्रकारकी सेवासे उनकी मर्याद... रक्षा नहीं होती है, वैसी सेवा वे लोग नहीं करते। ... रागात्मिका भक्ति 'सम्बन्धरूपा' कहलाती है। श्रीकृष्ण... व्रजसुन्दरियोंकी रागात्मिका भक्ति सम्बन्धकी अपेक्षा ही न... रखती। श्रीकृष्णके प्रीत्यर्थ व्रजसुन्दरियाँ वेदधर्म, कुल... स्वजन तथा आर्यपथ आदिका भी त्याग कर सकती हैं।

सम्बन्धकी सीमागत कोई बाधा इसमें नहीं है; इस कारण मधुरभावमें रागात्मिका भक्तिका पूर्णतम वि... होता है। किंतु जीवके चित्तमें श्रीकृष्णके प्रति इस प्रकार... स्वारसिकी भावकी रसाविष्टताका उन्मेष या ... कृतसाध्य वस्तु नहीं है। पुष्टिमार्गकी साधनामें सर्वोत्तम ... या प्रीति केवल गोपीजनकी कृपाके फलस्वरूप ही ... प्राप्त हो सकती है। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'—श्रीकृ... प्रपन्न होकर जो भजन करते हैं, वे ह्लादिनी शक्तिस्वरू... गोपियोंका आश्रय लेते हैं और श्रीकृष्ण उनका पोषण ... पुष्टि-विधान करते हैं। बल्कि कह सकते हैं कि पुष्टि-वि... करनेको बाध्य हो जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है— 'पोषणस्तदनुग्रहः।'

इस पोषण या अनुग्रहकी प्राप्ति ही रागानुगा या पु...मार्गका मुख्य तथ्य है। मोक्षकी प्राप्तिके लिये भगवा... भजनका अनुसरण करना मर्यादाका पथ या 'विधिमार्ग' है। रागानुगा मार्ग या पुष्टिमार्गके साधक मर्यादामार्गी साध... काम्य सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य मुक्ति... उपेक्षा करते हैं। ज्ञानीकी ब्रह्मसाधनाको वे साध्यवस्तु ... मानते। ज्ञानी 'अक्षर ब्रह्म'में लय हो जाते हैं। उनको ... सत्ताकी अनुभूति नहीं होती। गीताके पुरुषोत्तम... श्रीभगवान्की पूर्णतम सत्ताका सम्बन्ध इस प्रका... ज्ञानियोंको प्राप्त नहीं होता। ब्रह्मलीन अवस्थामें ... इच्छाका अथवा ज्ञानका विकास नहीं रहता। ... तत्त्वस्वरूपमें अभेदत्व उनके लिये उपभोग्य नहीं है... ज्ञानी श्रीभगवान्के लीला-रसका आस्वादन करना नहीं चाह... श्रीकृष्णभगवान् ज्ञानीको यह वस्तु दान भी नहीं क...

भक्त भगवान्‌के विशेष अनुग्रहका पात्र होता है। श्रीचैतन्य-चरितामृतकार कविराज कृष्णदास गोस्वामीकी उक्ति यहाँ उल्लेखनीय है। वे कहते हैं—

ह्लादिनी कराय कृष्णे रस आस्वादन।
ह्लादिनीर द्वारा करे भक्तेर पोषण॥

श्रीकृष्णकी अन्तरङ्ग ह्लादिनीशक्ति-स्वरूपिणी श्रीराधारानी अपनी सहेलियोंसे परिवृत होकर जीवको अनादिकाल-ग्रथित अविद्यामय कर्मग्रन्थिसे मुक्त करनेके लिये निज प्रेमामृत आस्वादनके द्वारा श्रीकृष्णको प्रेरित करती हैं। श्रीकृष्ण भी गोपीजन-वल्लभ हैं; वे गोपियोंके भावको अङ्गीकार करके, अयाचितरूपमें जीवको वरण करके अपना प्रेम-माधुर्य वितरण करते हैं। इस प्रकार श्रीधाम वृन्दावनकी अधीश्वरीकी अनुकम्पासे रागानुगा-मार्गावलम्बी सभी भावोंके साधकोंकी साधनामें जीवकी श्रीभगवान्‌में प्रेमभक्तिकी परम परिपूर्ति होती है और मर्त्यजीवनमें ही गोपीजन-वल्लभकी लीलाके श्रवण, कीर्तन, स्मरण और मनन आदि, विशेषतः प्रपत्ति या शरणागतिका अवलम्बन करके गुरुकृपासे भावयोग्य या लिङ्गदेहमें उन्हें भगवत्सम्बन्धमें प्रीतिकी अनुभूति प्राप्त होती है। यह प्रीति प्रगाढ़ होनेपर 'परमा भक्ति'में परिणत होती है। परंतु परमाभक्तिका अनुभव भौतिक देहका अभिमान रहते सम्भव नहीं है। यह अनुभव केवल भावदेहमें ही होता है। भावदेहमें ही भगवद्-दर्शन सम्भव है, किंतु भगवत्साक्षात्कारके साथ-साथ लिङ्गदेहकी निवृत्ति नहीं होती। परमाभक्तिके अनुशीलनके मार्गमें साधक क्रमशः स्वरूप-देहकी प्राप्तिका अधिकारी बनता है। तब लिङ्गदेहके आवरणसे मुक्त होकर वह वृन्दावनमें श्रीकृष्ण-सेवामें परम पुरुषार्थ प्राप्त करता है। इस प्रकार रागात्मिका भक्तिके पथके साधकके लिये रागानुगा-मार्गकी चरम परिपूर्ति सार्थक होती है।

भक्ति

(लेखक—श्रीश्रीविद्याशंकर भारती स्वामी, गायत्रीपीठाधिपति, आंध्र)

इस लेखमें तीन स्तम्भोंके अन्तर्गत भक्तिके सम्बन्धमें प्रकाश डाला गया है।

१—भक्तिकी व्याख्या

'भक्ति' शब्दकी उत्पत्ति 'भज् सेवायाम्' धातुसे हुई है। इसलिये इसका अर्थ है—सेवा। यद्यपि 'भक्ति' शब्दका अर्थ सेवा है, तथापि सभी प्रकारकी सेवा भक्ति नहीं कहलाती। नौकरद्वारा की गयी अपने मालिककी 'सेवा' भक्ति नहीं है; क्योंकि वह तो धन-प्राप्तिके उद्देश्यसे की गयी है। जबतक उसे वेतन दिया जाता है, वह सेवा करता रहेगा और यदि उसे वेतन न दिया जाय तो वह सेवा नहीं करेगा। अतः फलकी अपेक्षा न रखकर भगवान्‌की जो सेवा की जाती है, उसे 'भक्ति' कहते हैं। माताके द्वारा अपने बच्चेके प्रति की गयी सेवा-शुश्रूषा भी निरपेक्ष सेवा ही है। वृन्दावनवासी लोकविख्यात गोपियोंद्वारा श्रीकृष्णचन्द्रकी सेवा भी उसी प्रकारकी है। यही कारण है कि भक्तशिरोमणि नारदजीने अपने भक्तिसूत्र (२) में 'परमप्रेमरूपा' कहकर भक्तिका वर्णन किया है। उन्होंने अपने कथनके स्पष्टीकरणके लिये व्रजगोपिकाओं-का उदाहरण प्रस्तुत किया है (यथा व्रजगोपिकानाम् २१)। श्रीमद्भागवतमें सेवाके बदले कुछ चाहनेवालेको व्यापारी ('न स भृत्यो स वै वणिक्') कहा गया है और इस प्रकारकी भक्तिकी आलोचना की गयी है। गोपियोंके अतिरिक्त प्रसिद्ध पंढरीभक्त, मीराँबाई और तुलसीदास एवं इसी तरह अन्य कई भक्तोंको भी इस व्याख्याके अनुसार हम सच्चे भक्त कहेंगे। ऐसे भक्त भगवान्‌की सेवा, बदलेमें कुछ प्राप्त करनेकी इच्छासे नहीं करते, अपितु स्वभावतः करते हैं। वे इसके बिना रह ही नहीं सकते।

२—सगुण भक्ति

भगवान् सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं। सगुण भगवान्‌के प्रति की गयी भक्ति 'सगुण भक्ति' और निर्गुण भगवान्‌की भक्ति 'निर्गुण भक्ति' कहलाती है। यद्यपि निष्काम सेवाको ही भक्ति कहा गया है, पर यह एक उच्च आदर्श है। इसके अनुसार चलना सब लोगोंके लिये कठिन है। इसलिये सर्वसाधारणको उससे सुगम एवं निचले स्तरकी भक्ति करनेका भी अधिकार दिया गया है। इसीलिये गीताके सातवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें आर्त और अर्थार्थी भक्तको स्वीकृति प्रदान की गयी है। ये सारे भक्ति-प्रकार सगुण भगवान्‌के प्रति होनेके कारण 'सगुण भक्ति' के नामसे कहे जाते हैं। इस 'सगुण भक्ति'को आचार्य शंकरने अपनी 'शिवानन्दलहरी'में पाँच भागोंमें विभक्त किया है। सम्बन्धित श्लोकका प्रथम शब्द 'अंकोल' है। शंकरने भक्तिकी पाँचों श्रेणियोंको स्तरके अनुसार और स्पष्ट करनेके लिये उसी श्लोकमें क्रमशः पाँच उदाहरण भी दिये हैं।

प्रथम प्रकारकी भक्तिका उदाहरण 'अंकोल' वृक्षके बीजोंसे दिया गया है, जो तूफानकी गड़गड़ाहटमें वृक्षसे चिपट जाते हैं, अन्यथा नहीं। यहाँ बीज भक्तके लिये और वृक्ष भगवान्‌के लिये प्रयुक्त है। इस प्रकारकी भक्ति नैमित्तिक होनेके कारण 'सनिमित्त भक्ति' कहलाती है और ऐसा भक्त कठिनाइयाँ उपस्थित होनेपर या आर्त होनेपर भगवद्-भजन करने लगता है। इसी प्रकार जागतिक समृद्धिके लिये अर्थार्थी-भावसे वह भजन करता है। इसके पश्चात् दूसरी भक्तिका उदाहरण चुम्बकद्वारा आकर्षित सूचिका (सूई) से दिया गया है। दूसरे प्रकारके भक्त सूचिकाके समान हैं और चुम्बक भगवान्‌का परिचायक है। यह भक्ति प्रथम भक्तिसे कुछ उच्च है; क्योंकि सूचिकाको आकर्षित होनेके लिये किसी कारणकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये इस प्रकारका भक्त प्रथम प्रकारसे श्रेष्ठ है; क्योंकि भजनके लिये कोई कारण उपस्थित न होनेपर भी वह भगवद्भजन करता है। परंतु इस प्रकारमें भी एक त्रुटि है; क्योंकि चुम्बकद्वारा यह सूचिका केवल 'चुम्बकीय क्षेत्र'की सीमाके अंदर ही आकर्षित होती है, उसके बाहर नहीं। अर्थात् इस प्रकारके भक्त भगवान्‌की उपासना-पूजा तभी करते हैं, जब पासमें ही भगवान्‌का मन्दिर हो; दूर होनेपर नहीं। इस त्रुटि या परिमितितासे छुटकारा पानेके लिये तीसरा उदाहरण एक पतिपरायणा सती स्त्रीका दिया गया है। एक सती स्त्री अपने पतिका भजन बिना किसी कारणके करती है, चाहे उसका पति उससे बहुत दूर ही क्यों न हो। अतः भगवान्‌से बहुत दूर होनेपर भी तीसरे प्रकारका भक्त बिना किसी निमित्तके भगवान्‌की पूजा-अर्चना करता है। परंतु इस तीसरे प्रकारमें भी एक त्रुटि है; क्योंकि इसके अनुसार ऐसी स्त्री भी पतिके मर जानेके बाद वैधव्यका जीवन बिताते हुए पतिके वियोगको सहन करती रहती है और पतिके साथ मर नहीं जाती। इस कमीकी पूर्तिके लिये चौथा उदाहरण वृक्षसे लिपटी हुई लताका दिया गया है। वृक्षसे लिपटी हुई लता वियोगको सहन नहीं करती। बल्कि वृक्षसे वियोग सहनेकी अपेक्षा मर जाना अधिक पसंद करती है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकारकी भक्ति अन्य प्रकारोंसे कहीं श्रेष्ठ है, फिर भी इसमें एक त्रुटि है ही; क्योंकि वृक्ष और लता दोनों ही अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व (अस्तित्व) बनाये रखते हैं और एक रूप नहीं हो पाते। इसलिये पाँचवाँ उदाहरण समुद्रमें मिल जानेवाली नदियोंका दिया गया है। नदियाँ अपना अस्तित्व, नाम और रूप खोकर समुद्रके साथ एक... जाती हैं। इसलिये पाँचवें प्रकारका भक्त वह है, जो ... व्यक्तित्व खोकर भगवान्‌में विलीन हो जाता है— ... प्राप्त कर लेता है और इस कारण वह सबसे श्रेष्ठ ... का भक्त कहलाता है। ये पाँचों श्रेणियाँ सगुण ... अन्तर्गत आती हैं। निर्गुण भक्तिकी सीमाको छूती हुई ... अन्तिम प्रकारकी भक्ति सगुण भक्तिका सर्वश्रेष्ठ रूप है।

३—निर्गुण भक्ति या अद्वैत भक्ति

निर्गुण ब्रह्मके प्रति की जानेवाली भक्ति 'निर्गुण ...' है। निर्गुण ब्रह्मके प्रति की जानेवाली भक्तिके सम्बन्धमें ... यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है। साधारणतया ... तभी सम्भव है, जब उपास्यदेव उपासक या भक्तसे भिन्न ... हो। ऐसा द्वैतमें ही सम्भव है। परंतु अद्वैतमें जहाँ ... निर्गुण ब्रह्म है, ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसीकी कोई ... नहीं है, वहाँ अलगसे कोई भक्त नहीं है तो ... उपासनाका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म अनन्त है। ... उससे भिन्न कोई जीव अथवा सृष्टि नहीं है; सृष्टिकी ... निराधार प्रतीतिमात्र है। अतः यह मिथ्या है। इसी ... जीव अथवा मनुष्य जो ब्रह्म या ईश्वरसे भिन्न प्रतीत ... रहे हैं, वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। परंतु पानीमें प्रतिबिम्बित ... सूर्यकी छायाकी तरह उसकी यह भिन्नता आभासमात्र ... पानीमें सूर्यका प्रतिबिम्ब भिन्न प्रतीत होता है, ... वास्तवमें वह पृथक् नहीं है; क्योंकि पानीके ... प्रतिबिम्ब नामकी कोई स्पर्श करनेयोग्य वस्तु नहीं ... इस प्रकार जीवका वस्तुतः कोई अस्तित्व न होनेपर ... मनके अंदर ब्रह्मकी प्रतिच्छाया ही 'जीव' है। पानीके ... ही प्रतिबिम्बित छायाका भी लोप हो जाता है। ... तरह मनके अदृश्य होते ही जीव भी अदृश्य हो जाता ... अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार जीव या मनुष्यकी ... स्थिति है और निर्गुण ब्रह्म अद्वितीय है (एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म)। इन परिस्थितियोंमें अद्वैतके अन्तर्गत भक्ति... क्या स्वरूप है ? शंकराचार्यने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेक-चूडामणि'में 'स्वरूपमनुसंधानम्' कहकर इस प्रकार... भक्तिकी व्याख्या की है। इस भक्तिको ... प्रकार समझाया जा सकता है। उपर्युक्त कथनके अनुसार ... जीव केवल प्रतिच्छायामात्र है, परंतु भ्रमवश जीव यह ... बैठता है कि उसका अपना स्वत्व है। वही कर्ता और भोक्ता ... है। वह ईश्वरसे भिन्न है, इसलिये वह स्वयं ही ...

संसार तथा बन्धनोंका कारण है। यदि उसके इस भ्रमका निराकरण हो जाता है तो ईश्वरसे उसके भिन्न होनेका आभास मिट जाता है और वह अनुभव करने लगता है कि वह तो सदैव ही ब्रह्म था। वह वास्तवमें ईश्वरसे भिन्न जीव नहीं है। उसके भ्रम तथा भिन्नत्वकी प्रतीतिका निवारण करनेवाली और उसे अपने सत्यस्वरूपका अनुभव करानेवाली प्रक्रियाको ही अद्वैतके अनुसार 'निर्गुण भक्ति' कहते हैं।

उपर्युक्त तथ्य गीताके सातवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकके अनुसार ज्ञानभक्तिके अनुरूप है। सगुण भक्तिके अन्तिम उदाहरण नदियोंके समुद्रमें मिलनेका दिया जाता है। यद्यपि मिलनेके बाद उनकी एकरूपता हो जाती है; परंतु समुद्रमें मिलनेसे पूर्व नदियोंका स्वतन्त्र अस्तित्व समुद्रसे भिन्न होता है। नदियाँ समुद्रसे सदा अलग हैं, इसलिये वहाँ मिलन होनेतक द्वैत है। पानीमें प्रतिबिम्बित सूर्यकी छायाके उदाहरणसे स्पष्ट होता है कि वस्तुतः ये दोनों कभी दो वस्तु नहीं थे। केवल सूर्यका अस्तित्व है और प्रतिबिम्ब केवल निराधार आभासमात्र है और वह सूर्यसे वस्तुतः अलग नहीं है, परंतु अलग प्रतीत होता है। इसलिये प्रतिबिम्बित छायाका यह उदाहरण समुद्रमें मिलनेवाली नदियोंसे श्रेष्ठ है और सर्वोत्तम है। नारदके द्वारा 'परमप्रेमरूपा' कहकर भक्तिकी जो व्याख्या की गयी है, वह इसी प्रकारकी निर्गुण भक्तिके अनुसार ही खरी उतरती है; क्योंकि किसी मनुष्यमें परम प्रेमका अस्तित्व स्वयंकी आत्मामें ही होता है न कि ईश्वरमें, यदि वह ईश्वर उससे भिन्न हो। इस सिद्धान्तको बृहदारण्यकोपनिषद्में याज्ञवल्क्यने मत्रेयीको 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' कहकर समझाया है। आगे चलकर उस उपनिषद्में कहा है कि यदि वह ईश्वर तुमसे भिन्न है तो न तो भय-निवृत्ति और न परमप्रेमके लिये कोई हेतु ही है (द्वितीयाद्वै भयं भवति)।

अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्।' (बृह० उ० १। ४। १०)

इसलिये भक्ति प्रथमतः अद्वैतसिद्धान्तके साथ मेल खाती है और बादमें द्वैतके साथ।

उपासनाके अन्तर्गत भक्ति-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०द्वय (अंग्रेजी और हिंदी), डिप० एड०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

भगवान्से मिलनेका सर्वोत्तम साधन 'भक्ति' है। भक्तिका अर्थ है—भगवान्की उपासना, भगवान्की सेवा और भगवान्की शरणागति। वेदके पूर्वभागमें कर्मका वर्णन है, वेदके उत्तर-भाग (उपनिषद् अथवा वेदान्त)में ज्ञानका। भक्तिमें कर्म और ज्ञान दोनोंका समन्वय है। अतः सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य भक्तिमें निहित है। कर्म तथा ज्ञान, एक दूसरेसे पृथक् रहकर, एकाङ्गी रहता है। ज्ञानहीन कर्म कृत्रिम, अर्थहीन (mechanical) तथा शक्तिहीन हो जाता है। यह अध्यात्म-मार्गमें सहायक नहीं हो सकता। इसी ज्ञानहीन कर्मके विरुद्ध बुद्धदेवने आवाज उठायी थी; पर कर्महीन ज्ञानका भी अधिक महत्त्व नहीं। कर्महीन ज्ञान भी सामर्थ्यहीन होता है और वाक्यज्ञानके रूपमें केवल शास्त्रार्थ और वक्तृताका विषय रह जाता है। हमारी क्रिया ज्ञानानुवर्त्तिनी होनी चाहिये। यदि हमारे कर्म हमारे ज्ञानके विपरीत हों तो इसका अर्थ है कि अपने ज्ञानमें हमारा विश्वास नहीं है। उपासनाका मार्ग कर्म और ज्ञान दोनोंसे सुलभ और आनन्दप्रद है; क्योंकि इसमें दोनोंकी एकता है। उपासनाको न कर्मसे विरोध है, न ज्ञानसे। कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों भक्तियोगके सहकारी हैं। स्वतन्त्ररूपसे कर्म स्वर्गकी ओर संकेत करता है, ज्ञान कैवल्यकी ओर। किंतु भक्तियोगका आश्रय पाकर कर्म और ज्ञान मोक्ष-पथके सहायक और प्रकाशक बन जाते हैं। जहाँ कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग एक दूसरेका स्पर्श करता है, वहीं भक्तिकी मधुर रश्मिसे ओतप्रोत होकर एक दूसरेका पूरक बन जाता है।

उपासनामें भक्तितत्त्व लानेवाले आचार्योंमें श्रीरामानुज स्वामीका एक अग्रगण्य स्थान है। सत्यके अन्वेषणमें संसारमें बहुत-से दीपक जले हैं, किंतु जो ज्ञान-दीप श्रीरामानुज स्वामीने जलाया था, उसकी मधुमय स्वर्ण-रश्मियाँ सम्पूर्ण भारतवर्षको उद्भासित-कर पाश्चात्त्य देशोंमें भी अपनी किरणें विकीर्ण कर रही हैं। आजका संसार भौतिक विज्ञानकी ओर दौड़ा जा रहा है। प्रकृतिके अन्तरालमें जो शक्तियाँ अन्तर्हित और सुषुप्त हैं, आजका मानव उन्हें जगाकर अपने अधिकारमें करना चाहता है; पर उसके अन्तस्तलमें विराट् पिपासा और विकराल ज्वाला वर्तमान है।

है बहुत बरसी धरित्रीपर अमृतकी धार।
पर नहीं अब तक सुशीतल हो सका संसार॥

मोगलिप्सा आज भी लहरा रही उद्दाम।
बह रही असहाय नरकी भावना निष्काम॥
दग्धकर परको स्वयं भी भोगता दुख-दाह।
जा रहा मानव चला संतत पतनकी राह॥

इसी विकराल ज्वालाकी शान्तिके लिये श्रीरामानुज स्वामीने श्रीवैष्णवधर्मका संदेशा विश्वको दिया है।

आजके युगमें लोगोंका ध्यान राजनीति, अर्थशास्त्र और विज्ञानके अध्ययनकी ओर लगा हुआ है। लोग धर्म और नीतिसे उदासीन हो चले हैं। नवीन आविष्कारोंकी चकाचौंधमें हमारी आँखें झुक जाती हैं।

चीरता तमको सँभाले बुद्धिकी पतवार।
आ गया है ज्योतिकी नवभूमिमें संसार॥
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धिका त्योहार।
प्राणमें करते दुखी हो देवता चीत्कार॥

और यह चीत्कार तबतक शान्त नहीं हो सकती, जबतक मानवता उपासनाके मार्गपर चलना नहीं सीख लेती।

वासनाकी यामिनी जिसके तिमिरसे हार।
हो रहा नर भ्रान्त अपना आप ही आहार॥

तिमिरमयी रजनीमें मानवता पिच्छल पथपर जा रही है। दोनों ओर खाइयाँ हैं।

पथ पिच्छल है, अन्धकारमें, खाईमें गिरनेका भय है।
अन्तस्तलमें छिपी वासनाका अभिनय मादक मधुमय है॥

दूर अन्तरिक्षमें उपासनाका मार्गप्रदर्शक तारा चमक रहा है और पूर्वाचार्य हाथ उठाकर इस मधुमय ज्योतिकी ओर संकेत करते हुए कह रहे हैं—

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

वस्तुतः उपासनाको छोड़कर और उस ज्योतितक पहुँचनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। विज्ञान तो हमारे हाथमें केवल एक शक्ति देता है, पर उस शक्तिके अभिमानमें हमें भगवान्‌को नहीं भूल जाना चाहिये।

सावधान मनुष्य, यदि विज्ञान है तलवार।
तो इसे दे फेंक, तजकर मोह, स्मृतिके पार॥
खेल सकता तू नहीं ले हाथमें तलवार।
काट लेगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार॥

आज मानव-जीवन अशान्त है। अनवरत संघर्षके बीच वह कुछ टटोल रहा है। वह शाश्वत शान्ति चाहता है। पर वह शान्ति मिलेगी कैसे? पाश्चात्य संसार एक ओर तो विज्ञानके द्वारा प्रकृतिपर विजय प्राप्त करना चाहता है और दूसरी ओर भोग-वासनाकी चकाचौंधमें आनन्दकी प्राप्तिका असफल प्रयास भी कर रहा है। आज जितने पण्डित और शास्त्रज्ञ हैं, सभी उपासनाके भक्तितत्त्वकी सत्यताको स्वीकार करते हैं, पर व्यावहारिक जीवनमें न जाने क्यों वे सत्यसे इतनी दूर चले जाते हैं। सभी विद्वानोंके हाथमें ज्ञानका दीपक है; वे देख सकते हैं कि संसारमें बुद्धदेव, शंकर, रामानुज तथा अन्य जितने पथ-प्रदर्शक महापुरुष आये हैं, सबोंमें किनका मार्ग सबसे सुगम और सर्वोत्तम है। मुक्तकण्ठसे सभी विद्वानोंको स्वीकार करना पड़ेगा कि उपासनाका मार्ग सबसे श्रेष्ठ और सबसे सुगम है। इसी मार्गकी ओर संकेत करके शास्त्र कह रहा है—'एष धर्मः सनातनः।' इसी मार्गके विषयमें श्रुति कहती है—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' आज उपासनाके भक्तितत्त्वपर काले-काले बादल मँडरा रहे हैं। क्या हमारा यह कर्तव्य है कि हम चुप और उदासीन हो जायँ और सत्यको अन्धकारके गर्भमें विलीन होने दें।

मानव-जीवनका लक्ष्य क्या है? दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति। पर यह होगी कैसे? तिमिरमयी रजनीमें मानवता भटक रही है। उसे प्रकाशकी आवश्यकता है। वह संकीर्ण पिच्छल पथपर जा रही है। उसे गिरनेकी आशंका है। उसे बलकी आवश्यकता है। असंख्य दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, कवि, कलाकार आये और मानवताके पथपर दीपक जलाकर चले गये। असंख्य दीपोंकी चकाचौंधमें दुर्बल त्रस्त मानवता किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गयी। वह क्या करे, किधर जाय! भिन्न-भिन्न दीपक भिन्न-भिन्न मार्गोंकी ओर संकेत कर रहे हैं। मानवता किस निश्चित पथका अवलम्बन करे? हमारे पूर्वाचार्योंने इसी भयभीत, बद्ध, व्याकुल मानवताके पथ-प्रदर्शनके लिये उपासनाका एक सुन्दर दीपक जलाया है।

मानव-जीवनमें दुःखकी समस्याका समाधान करनेके लिये असंख्य महामानव इस भूतलपर अवतीर्ण हुए

और उन्होंने जीवनको सुखी, समुन्नत और परिष्कृत बनानेकी भरपूर चेष्टा की। सृष्टिके प्रारम्भमें ही लोगोंने देखा कि जीवनकी सबसे बड़ी यातना मृत्यु है। अतः जीवनको सुखी बनानेके लिये मृत्युपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। विद्वान् लोग अमरत्वके अन्वेषणमें लग गये। त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका मन्थन हुआ। इस विराट् विश्वमें विषके रूपमें तम, मदिराके रूपमें रज तथा अमृतके रूपमें सत्त्व दृष्टिगोचर हुआ। भव-सागरके मन्थनसे अनेक रत्न निकले। अमृतका घड़ा भी निकला। भौतिकवादी और अध्यात्मवादी दोनोंके सहयोगसे अमृतका पता लगा था। दोनोंके दो दृष्टिकोण थे। एक अपने इसी भौतिक शरीरको अमर करना चाहते थे। दूसरेने देखा कि मानव जड और चेतन दोनोंका समन्वय है। जड तो विकारी और परिणामवादी है। प्रत्येक क्षण वह बदलता रहता है। उसके रूपमें आमूल परिवर्तनका ही नाम तो मृत्यु है। चेतनको जडके सम्पर्कसे सर्वथा अलग कर देना ही अमरत्वकी प्राप्ति है। प्रथम दलने स्थूल शरीरको दीर्घायु रखनेकी भरपूर चेष्टा की। इन्होंने देखा कि मानव-शरीरके भिन्न-भिन्न अवयवोंके जीर्ण होनेसे, समुचित भोजन और व्यायाम नहीं मिलनेसे, रोग-कीटाणुओंके आक्रमणसे शरीर-यन्त्र बिगड़ जाता है और मनुष्य मर जाता है। रसायन-शास्त्रने रसोंका, आयुर्वेदने ओषधियोंका और हठयोगने आसनों एवं व्यायामोंका आविष्कार किया, जिनसे मनुष्य सैकड़ों वर्षोंतक जीवित रह सकते थे तथा अपने सौन्दर्य एवं यौवनको अक्षुण्ण रख सकते थे। सोमरसके सेवनसे वृद्धोंमें भी कान्ति और यौवन आ जाता था। प्राणायाम और ब्रह्मचर्यसे शरीरके विकासमें पर्याप्त सहायता मिलती थी।

बहुत दिनोंतक भौतिक विज्ञानवादियों और अध्यात्म-वादियोंमें संघर्ष चला कि शरीर और आत्मा—दोनोंमें किसकी प्रधानता है। इसके बाद बौद्ध-धर्म आया और महात्मा बुद्धने देखा कि दुःखका एकमात्र कारण तृष्णा है—तृष्णाके त्यागसे ही दुःखका नाश हो सकता है। जैन-धर्मने अहिंसा और तपस्यापर जोर दिया। बौद्धोंकी माध्यमिक शाखाने शून्यवादकी ओर संकेत किया। वज्रयान और भैरवी-तन्त्रके सम्मिश्रणसे देशमें घोर अनाचार फैल गया। आचार्य शंकरने आकर अनाचारोंको दूर किया और शून्यवादके स्थानपर निर्गुण ब्रह्मवादकी स्थापना की। पर कालान्तरमें मायावाद केवल शास्त्रार्थका विषय रह गया। जीवनसे धर्मका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। इसी समय आचार्य रामानुज, मध्व तथा निम्बार्कका प्रादुर्भाव हुआ। इन आचार्योंने सत्यकी पूरी झलक देखी और उपासनाके मार्गसे ये हमें मृत्युसे अमृतकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर एवं असत्से सत्की ओर ले चले। जीवनकी यातनाओंसे पीड़ित, अन्धकारमें संकीर्ण पिच्छल पथपर लड़खड़ाती हुई मानवताको बल मिला एवं पथप्रदर्शनके लिये नील गगन-मण्डलमें एक शुभ्र मधुमय आलोक भी। आज फिर हमारी संस्कृतिपर पाश्चात्त्य देशका एक धूमिल वातावरण आ गया है। यवनिकाके उस पारमें स्वार्थ और भोगका विशाल नर्त्तन है। ऐसे समयमें उपासनाकी सबसे बड़ी आवश्यकता है।

उपासनामें कर्मयोग और ज्ञानयोगका भी स्थान है; पर उसमें भक्तियोगकी प्रधानता है। बिना भक्तिका सहारा लिये कर्म और ज्ञान, दोनोंकी सफलता संदिग्ध है। भक्त कर्मकाण्डी नहीं होते, कर्मयोगी होते हैं। कर्मकाण्ड सकाम है, कर्मयोग निष्काम। जिस कर्ममें कामना, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान है, वह कर्म मोक्ष-पथमें बाधक हो जाता है। भक्त अनासक्त और निर्लिप्त होकर जीवनके सारे कर्म केवल कर्तव्यकी प्रेरणासे भगवत्-सेवा समझकर किया करते हैं। उनमें स्वार्थ-बुद्धि और भोग-बुद्धि नहीं रहती। वस्तुतः भाग-वतोंका सम्पूर्ण जीवन ही भगवत्कैङ्कर्य है। उनके कर्म प्रवृत्ति और वासनासे प्रेरित नहीं होते, पर विवेक, कर्तव्य और कैङ्कर्यकी भावनासे प्रेरित होते हैं। भक्तियोगका आधार भगवत्कृपा है। कर्म-संस्कार जीवात्माका बन्धन है। यह अविद्याके रूपमें कारण-शरीरका निर्माण करता है; पर कर्मका हम स्वरूपतः त्याग नहीं कर सकते। जीवन धारण करनेमें पग-पगपर कर्मकी आवश्यकता होती है। कर्म स्वतः न तो अच्छा है, न बुरा। कर्म जिस मन्तव्यसे, जिस बुद्धिसे किया जाता है और कर्म करनेसे अन्तःकरणमें जो एक तरङ्ग उठती है, एक विकार उत्पन्न होता है, उसीपर कर्मकी अच्छाई या बुराई निर्भर करती है। कर्म तो हम स्थूल शरीरसे करते हैं, पर उसकी प्रेरणा मनसे आती है। इसीलिये लिखा है—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

(ब्रह्मबिन्दूपनिषद् २)

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण। प्रत्येक क्रियमाण कर्म समाप्त होनेपर संचितके कोषमें चला जाता है और जब वही फल देना प्रारम्भ करता है, तो

प्रारब्ध बन जाता है। प्रारब्धका भोग अवश्यम्भावी है। प्रारब्धका भोग किये बिना छुटकारा नहीं। प्रारब्ध हमारी वासनाका निर्माण करता है और वासना प्रवृत्तिका। प्रवृत्ति पुनः क्रियमाण कर्मोंका पथ-प्रदर्शन करती है। अतः हमारा वर्तमान जीवन व्यतीत जीवनका फल और भविष्य जीवनका बीज है। स्थूल शरीरके नष्ट होनेपर भी स्थूल शरीरसे किया हुआ कर्म नष्ट नहीं होता। कर्म करनेपर मानसिक जगत्‌में एक हलचल मच जाती है, अन्तःकरणमें सुख या दुःखकी लहर दौड़ जाती है और सूक्ष्म शरीरपर एक छाप पड़ जाती है। कर्म चला जाता है, पर सूक्ष्म शरीरमें कर्मका प्रतिबिम्ब रह जाता है। सूक्ष्म शरीर बीजरूपसे कर्म-संस्कार लिये हुए एक स्थूल शरीरसे दूसरे स्थूल शरीरमें प्रवेश करता है। यही कर्म-संस्कार वासना तथा प्रवृत्तिको जन्म देता है। अच्छे कर्मोंके संस्कारसे प्रवृत्ति भी परिमार्जित हो जाती है और गंदे कर्मोंके संस्कारसे प्रवृत्ति भी कलुषित हो जाती है। सूक्ष्म शरीर अपनी प्रवृत्तिके अनुसार अनुकूल योनि चुन लेता है। जिस प्रकार चनेका बीज धानके खेतमें विकसित नहीं होता, उसी प्रकार यदि संयोगसे सूक्ष्म शरीर अपनी प्रवृत्तिके प्रतिकूल किसी योनिमें चला जाय, तो वहाँ वह विकसित नहीं होता। माताके गर्भमें या वीर्य-कीटके रूपमें ही नष्ट हो जाता है। तो फिर कर्मोंसे छुटकारा किस प्रकार मिले? अच्छे और बुरे दोनों कर्म तो आत्माके लिये बन्धन ही हैं। अच्छा कर्म सोनेकी हथकड़ीमें बाँधकर स्वर्ग ले जाता है, बुरा कर्म लोहेकी हथकड़ीमें नरक। कर्मयोग हमें एक उपाय बतलाता है। यदि हम अनासक्त और निर्लिप्त होकर कर्म करें, मनको निर्विकार रक्खें तथा अन्तःकरणमें कोई कामनाकी लहर उत्पन्न न हो, तो उस क्रियमाण कर्मसे न तो प्रारब्धका निर्माण होता है, न सूक्ष्म शरीरका विकास। वह कर्म जीवात्माका बन्धन नहीं होता।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८। १७)

अनासक्त, निष्काम और निर्लिप्त कर्म करनेहीका नाम 'कर्मयोग' है। पर अनासक्त, निष्काम और निर्लिप्त हम होंगे कैसे? उपदेश देनेके लिये तो हम कह देते हैं कि 'वासनाका हनन करो, प्रवृत्तिको कुचलो, अनासक्त और निष्काम होकर कर्म करो।' पर इन उपदेशोंसे कर्मयोगकी समस्या हल नहीं होती। वासना असंख्य जन्मोंके प्रारब्ध कर्मोंका परिणाम है। उसको हम केवल उपदेशों और वाक्यज्ञानसे नष्ट नहीं कर सकते। प्रवृत्ति प्रकृतिका सूक्ष्म रूप है। उसको कुचलनेकी चेष्टा प्रकृतिके साथ एक भीषण संग्राम है। यह सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म करनेसे कर्म आत्माका स्पर्श नहीं कर सकता, पर अनासक्त होना ही तो जीवनकी सबसे बड़ी समस्या है। यहींपर भक्ति-योग आकर कर्मयोगकी सहायता करता है। कर्मयोग जिस समस्याका समाधान नहीं कर सका था, भक्ति आकर उसे सहल कर देती है। भक्ति कहती है कि 'जीवनके सारे कर्मोंको करो, पर उन्हें भगवदर्पित करो, भगवत्कैङ्कर्य समझकर करो।' हमें भोग-वासनासे प्रेरित होकर कर्म नहीं करना चाहिये; पर कर्तव्यकी प्रेरणासे भगवत्कैङ्कर्य समझकर कर्म करना चाहिये। सारे कर्मोंको यदि हम भगवान्‌को समर्पित कर दें, तो फिर आत्माको बाँधनेके लिये हमारे पास कर्म बच ही कहाँ जाता है? जबतक हमारे अन्तःकरणमें भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं होता, जबतक हमारे मन-मन्दिरमें प्रेमसिंहासनपर श्रीमन्नारायण भगवान् विराजमान नहीं होते, तबतक लाख चेष्टाएँ करनेपर भी मोह-पाश नहीं टूटता।

माधव! मोह पाश क्यों टूटै।
बाहर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै।
घृत पूरन कराह अन्तरगत ससि प्रतिबिम्ब दिखावै।
ईंधन अनल लगाय कलपसत औटत नास न पावै।'
(विनयपत्रिका ११५)

इन्द्रियोंको बरजोरी विषय-भोगसे रोकनेसे तथा निराहार रखनेसे आसक्ति नहीं मिटती। आसक्ति तो तब मिटती है जब हृदयमें परब्रह्मकी झलक आ जाती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
(गीता २। ५९)

भगवान्‌के ध्यानसे, चिन्तनसे, स्मरणसे हृदयके सारे विकार अपने आप नष्ट हो जाते हैं—

तब लगि हृदयँ बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा॥
(मानस, सुन्दरकाण्ड)

भगवान्‌के चिन्मय, ज्ञानमय, आनन्दमय रूपका प्रकाश हृदयमें आते ही अन्तःकरणका अन्धकार अपने आप मिट जाता है—

ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥
(मानस, सुन्दरकाण्ड)

ज्ञानयोगकी सफलता भी भक्तियोगपर ही निर्भर करती है। वाक्य-ज्ञान तो केवल शास्त्रार्थका विषय होता है—

वाक्य ग्यान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई।
जिमि गृहमध्य दीपकी बातन्हि तम निवृत्त नहिं होई॥

ज्ञानयोगकी सफलताके लिये वासनाका शमन आवश्यक है, पर असंख्य जन्मोंका जीवन-रस पीकर वासना-सर्पिणी मानव-अन्तःकरणमें फुफकार मारती रहती है। ज्ञानयोगके लिये स्थितप्रज्ञ होना आवश्यक है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
(गीता २।५५)

पर हृदयका निष्काम होना एक जटिल समस्या है। लेकिन भक्तियोगका आश्रय पाकर हृदय अपने-आप शान्त हो जाता है। परमात्माके साक्षात्कारसे अपने-आप मायाका बन्धन टूट जाता है, हृदयकी गाँठ खुल जाती है और कर्मसंस्कार नष्ट हो जाते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
(मुण्डक० २।२।८)

भक्तिसे पृथक् ज्ञानका मार्ग दुर्गम और कठिन है पर भक्ति-पथ अत्यन्त सुलभ है।

भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अबिद्या नासा॥
(मानस, उत्तर०)

भक्तिके दो रूप हैं—उपासना और कैङ्कर्य। सदैव भगवान्‌का चिन्तन, स्मरण और ध्यान करना, भगवान्‌में अखण्ड विश्वास, अनवरत उनकी दिव्य स्मृतिका ही नाम 'उपासना' है। जिस प्रकार तेलकी धारा कभी टूटने नहीं पाती, उसी प्रकार जब परमात्माके अनवरत ध्यानसे परमात्मा प्रत्यक्षके समान हो जायँ, परमात्माके साथ मानव-हृदय एकाकार हो जाय, तब उसका नाम 'उपासना' है।

बच ते कर्म करहु बिधि नाना। मन राखहु जहँ कृपानिधाना॥
मन ते सकल बासना भागी। केवल राम चरन लय लागी॥
(मानस, उत्तर०)

उपासनाकी सफलताके लिये भगवान्‌के प्रति अत्यधिक प्रेम होना आवश्यक है।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

ऐसा अनुराग हो कि हमारी सारी ममता सब जगहसे निकलकर एक भगवान्‌के चरणोंमें ही केन्द्रित हो जाय।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥
(मानस, सुन्दर०)

उपासनामें वस्तुतः सबसे अधिक आवश्यकता है—भगवत्प्रेमकी; क्योंकि हम जिसको सबसे अधिक प्यार करते हैं, दिन-रात उसीको सोचते रहते हैं, उसके स्मरण और चिन्तनमें एक आनन्दकी अनुभूति होती है। भगवान्‌को यदि हम हृदयसे प्यार करेंगे तो उनका चिन्तन सदैव हमें होता रहेगा। उनके स्मरण और चिन्तनमें आनन्दकी अनुभूति होगी। उनके प्रेममें हम मस्त और मतवाले बने रहेंगे और एक क्षण भी बिना उनके स्मरणके हृदय बेचैन हो उठेगा। '…तद्विस्मरणे परम व्याकुलता' (नारद-भक्तिसूत्र १९) अन्तःकरणका सबसे बड़ा आकर्षण प्रेम ही है। बिना प्रेमके यदि बरजोरी मनको भगवान्‌में लगाया भी जाय तो वहाँ वह अधिक देरतक नहीं टिक सकता; क्योंकि मन चञ्चल है और हठात् विषयोंकी ओर चला जाता है। भोग-रस पान करनेवाले चञ्चल मनको प्रथम-प्रथम भगवान्‌में लगानेके लिये दो साधनोंकी आवश्यकता है—'अभ्यास' और 'वैराग्य'-की। अभ्यासके द्वारा मनको भगवान्‌में टिकनेकी तथा भगवान्‌से प्रेम करनेकी आदत पड़ जाती है। वैराग्यके द्वारा भ्रमकी निवृत्ति, संसारसे विरक्ति और परमात्मामें अनुरक्ति उत्पन्न होती है।

होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥

भगवान्‌से अविचल प्रेमका ही नाम 'पराभक्ति' है।

'सा परानुरक्तिरीश्वरे।' (शाण्डिल्य सूत्र २)

भक्तिका दूसरा रूप कैङ्कर्य है। जीव शाश्वत भगवद्दास है और भगवान्‌की सेवा करना ही जीवका धर्म है। भक्ति चाहे माधुर्यभावकी हो या दास्यभावकी, पर भगवत्कैङ्कर्य प्रत्येक दशामें आवश्यक है। भगवान्‌के पाँच

रूप हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार। प्रत्येक रूपका कैङ्कर्य आवश्यक है। साधारणतः लोग यही समझते हैं कि तुलसी-फूल तोड़ना, पूजा, धूप, दीप, नैवेद्य, आरती—इतना ही भगवत्कैङ्कर्य है। पर यह तो केवल अर्चावतार-रूपका कैङ्कर्य है। परब्रह्म मायामण्डलसे परे त्रिपाद्विभूतिके स्वामी श्रीमन्नारायण भगवान् हैं। उनका कैङ्कर्य शरीर और वाणीसे नहीं हो सकता। मन-मन्दिरसे वासनाकी धूल झाड़कर, भक्तिजलसे प्रक्षालितकर, ज्ञान-रश्मिसे दीप्त प्रेम-सिंहासनपर श्रीमन्नारायण भगवान्की मूर्ति स्थापित करना ही परब्रह्मका कैङ्कर्य है। अन्तःकरण परब्रह्मके आलोकसे आलोकित हो जाय, हृदय परमात्माके चरणोंमें एकाकार हो जाय, शाश्वत प्रेम और अनवरत ध्यानके कारण भगवान् प्रत्यक्षके समान हो जायँ, तब परब्रह्मका कैङ्कर्य सम्पन्न हुआ। प्रपत्तिकी भावना इस कैङ्कर्यकी पोषक तथा पूरक है।

व्यूह-रूप भगवान् सृष्टि तथा मायामण्डलके संचालक हैं। उनके चार रूप हैं—शेषशायी वासुदेव भगवान्, जो असंख्य ब्रह्माण्डोंके तथा लीला-विभूतिके स्वामी हैं एवं और तीन रूप, जिन्हें पाञ्चरात्रकी भाषामें 'संकर्षण' 'प्रद्युम्न' तथा 'अनिरुद्ध' एवं पुराणोंकी भाषामें ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहा गया है। व्यूह-रूप भगवान्का कैङ्कर्य है—आचार्यनिष्ठ होना, शुद्ध-सात्त्विक आहार, शुद्ध-सात्त्विक आचरण, शारीरिक और मानसिक पवित्रता, मृत्युसे अमृतकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर तथा असत्से सत्की ओर जानेकी सतत चेष्टा।

श्रीराम-कृष्णादि अवतारोंको 'विभव'रूप कहा गया है। इस रूपका कैङ्कर्य है—कथा-पुराणोंको कहना और सुनना, प्रार्थना, जप, स्तोत्र-पाठ, नाम-संकीर्तन।

अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र एवं सभी प्राणियोंमें वर्तमान हैं। यह रूप सूक्ष्म, व्यापक एवं घट-घटवासी है। इसका कैङ्कर्य तीन प्रकारका होता है—

(१) किसी भी स्थानमें कभी छिपकर कोई पाप नहीं करना। ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ सर्वव्यापी, सर्वतश्चक्षु भगवान् न हों। अतः छिपकर पाप करनेके लिये कोई भी एकान्त स्थल कभी किसीको मिल ही नहीं सकता।

(२) अन्तर्यामी भगवान् सभी प्राणियोंमें वर्तमान हैं; अतः प्रत्येक नर-नारीका शरीर परमात्माका मन्दिर है। अतः किसीके साथ ईर्ष्या-द्वेष रखना, किसीका बुरा सोचना, किसीको दुखी करनेकी चेष्टा करना, मनसे, वचनसे और शरीरसे किसीकी बुराई करना—यह अन्तर्यामी भगवान्की अवहेलनामात्र है। गरीब और दुखियोंकी सेवा, सत्य, अहिंसा, न्याय, प्रत्येक नर-नारीका कल्याण और प्रत्येक प्राणीको सुखी बनानेकी चेष्टा ही अन्तर्यामी भगवान्का कैङ्कर्य है।

(३) अपना शरीर भी अन्तर्यामी भगवान्का मन्दिर है। अतः भगवान्के मन्दिरको स्वच्छ और पवित्र रखना जीवका परम कर्तव्य है। अन्तःकरणरूपी मन्दिरमें अविद्याका अन्धकार, वासनाकी गंदगी और अभिमानकी बदबू नहीं रहनी चाहिये। हृदयमें काम, क्रोध, मद, मोह, दम्भ, वैर, ईर्ष्या, हिंसा, लोभ आदिके गंदे विचारों और कलुषित इच्छाओंके रहनेसे अन्तर्यामी भगवान्की अवहेलना होती है। परिवार, राष्ट्र तथा देशके लिये त्याग और सेवाकी भावना कैङ्कर्य है।

संध्या, गायत्री-जप, पूजा, रसोई, फूल, तुलसी, भोग, आरती—यह अर्चावतारका कैङ्कर्य है।

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
> (गीता ९। २७)

जब अपना भोजन, कर्म, पूजा, दान, तपस्या सब कुछ भगवान्को अर्पण ही कर देना है, तब अनुचित और अपवित्र आहार और आचरण हम कैसे करें; क्योंकि वे तो भगवान्को अर्पित नहीं हो सकते। वस्तुतः भक्तोंका सम्पूर्ण जीवन ही भगवत्कैङ्कर्य है।

भक्त चार प्रकारके होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। आर्तके ऊपर कोई विपत्ति आ पड़ी है, इसलिये वे कष्ट-निवारणके लिये भगवान्को भजते हैं। जिज्ञासु भगवान्को जाननेकी इच्छासे तथा अर्थार्थी किसी इच्छा तथा प्रयोजनकी सिद्धिके लिये भगवान्को भजते हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी—तीनोंकी भक्ति सकाम है। अतः वह सद्योमोक्षप्रद नहीं है। ज्ञानी कर्तव्य और विवेककी प्रेरणासे भगवान्को भजते हैं। भगवान् स्वामी हैं और जीव दास है। अतः जीवका स्वरूप है—भगवान्की भक्ति करना। ज्ञानीकी भक्ति निष्काम है—अतः वह सद्योमोक्षप्रद है।

श्रीमद्भागवतमें नवधा-भक्तिका वर्णन आया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७।५।२३)

'भगवान्‌की कथा सुनना, नाम-कीर्तन, स्मरण, चरण-कमलका ध्यान—सेवा, पूजा, प्रणाम, कैङ्कर्य, सखाभावसे प्रेम करना और आत्मसमर्पण—यह नवधा भक्ति है।' भक्तोंको पाखण्ड (आडम्बर), अभिमान तथा निन्दाका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

भक्तिका ही एक सुगमरूप 'प्रपत्ति' है। भगवान्‌से मिलनेकी व्यग्रता प्रपत्तिका प्रधान अङ्ग है। भक्त समझते हैं कि 'भगवान् मेरे हैं' (ममैवासौ); अतः उनकी सेवाका भार मेरे ऊपर है। प्रपन्न समझते हैं कि 'मैं भगवान्‌का हूँ (तस्यैवाहम्); अतः मेरी रक्षाका भार उनके ऊपर है। भक्तोंकी उपमा बंदरके बच्चेसे दी जाती है, प्रपन्नोंकी उपमा बिल्लीके बच्चेसे। बंदरके बच्चे खुद बंदरीको पकड़े रहते हैं, माँको कोई चिन्ता नहीं रहती; पर बिल्ली खुद अपने बच्चेको पकड़ती है, बच्चेको कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती। बच्चेसे भूल होना सम्भव है, पर माँसे भूल नहीं हो सकती। मृत्युकालकी अचेतन अवस्थामें भगवान्‌का ध्यान आना अत्यन्त कठिन है, पर प्रपन्नोंका यह कार्य भगवान् स्वयं सम्पन्न कर देते हैं।

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसंनिभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

प्रपत्तिके दो भेद हैं—शरणागति और आत्मसमर्पण। प्रपत्तिका होना केवल भगवत्कृपापर निर्भर करता है। विवाहिता पत्नीकी तरह प्रपन्नोंका केवल एक कर्तव्य रहता है—

'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।'

'स्वामीके अनुकूल कार्य करना तथा स्वामीके प्रतिकूल कार्योंका सर्वथा त्याग।' पत्नीकी प्रतिष्ठा तथा रक्षाका भार तो पतिपर है ही, पर पत्नीका भी कर्तव्य है कि जो काम पतिको रुचे, वही करे और जो नहीं रुचे, वह नहीं करे। उसी प्रकार प्रपन्नोंको भी भगवान्‌की इच्छाके अनुकूल ही आहार, विहार तथा अन्य सभी कर्मोंको करना चाहिये। भगवान्‌की इच्छाके विरुद्ध कोई भी शारीरिक या मानसिक कर्म नहीं करना चाहिये। जिस कामसे अपना, समाजका तथा संसारका कल्याण हो, वह भगवान्‌की आज्ञाके अनुकूल है तथा जिस कामसे अपना तथा किसी दूसरेका अनिष्ट होता है, वह प्रतिकूल है।

शरणागतिकी झलक प्रथम-प्रथम उपनिषद्‌में मिलती है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेताश्वतर० ६।१८)

भगवान्‌की प्रतिज्ञा है कि जो एक भी बार शरणागत हो जाता है और हृदयसे कह उठता है कि 'नाथ! मैं आपका हूँ।' भगवान् उसे अभय देते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वाल्मीकि० रामा० ६।१८।३३)

सभी धर्मों—सभी उपायोंको छोड़कर संसारका सारा आशा-भरोसा त्यागकर निश्छल हृदय तथा अनन्य भावसे केवल भगवान्‌की शरणमें जानेसे ही भगवान् पापोंसे मुक्त कर देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

शरणागतिमें अनन्य तथा अकिंचन भावका होना आवश्यक है।

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥
सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
(मानस, सुन्दर०)

प्रपत्तिका दूसरा अङ्ग है—आत्मसमर्पण—अपने आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप देना। जिस प्रकार पत्नी अपने-आपको विवाहके समय स्वामीके चरणोंमें सौंप देती है। शरीर, मन, आत्मा—सब कुछ परमात्माको दे देना। यह श्रीवैष्णवोंका पाँचवाँ संस्कार है। इसके बाद जीवको यह अधिकार नहीं रह जाता है कि दी हुई वस्तुको वापस ले ले। जो शरीर, मन, आत्मा परमात्माको अर्पित हो गया है, उसे भगवत्कैङ्कर्यके अतिरिक्त अन्य किसी कार्यमें नहीं लगा सकते। आत्मसमर्पणके बाद यदि हम शरीर और मनको किसी अपवित्र कार्यमें लगायेंगे तो हम आत्मापहारी (चोर) हो जायँगे। शरीर और मन हमारा रहा ही

नहीं; वह भगवान्‌की वस्तु हो गया। अतः उसे वासनासे प्रेरित होकर हम प्रवृत्तिके अनुसार किसी भोगकार्यमें नहीं लगा सकते; पर भगवान्‌की आज्ञा और इच्छाके अनुसार उसे किसी सत्कार्य अथवा भगवत्कैङ्कर्यमें ही लगा सकते हैं। प्रपन्नके लिये समय, शक्ति और धनका अपव्यय तथा दुरुपयोग अत्यन्त वर्जनीय है। विलासितामें, निरर्थक गप-शपमें—ऐसे कार्योंमें जिनसे अपना या पराया, किसीका उपकार नहीं होता हो तथा व्यसनमें अपने समय, शक्ति और धनको लगाना अपव्यय है। इसमें रजोगुणकी प्रधानता है। पर ऐसे कार्योंमें—जिनसे संसारका, समाजका, मानवता का अनिष्ट होता हो, अपने समय, शक्ति और धनको लगाना तो इनका सर्वथा दुरुपयोग है, इसमें तमोगुणकी प्रधानता है। भक्तोंको एक क्षण भी भगवत्कैङ्कर्यसे विमुख नहीं रहना चाहिये। कर्तव्यकी प्रेरणासे किये गये भगवान्‌की आज्ञाके अनुकूल जीवनके सारे कर्म भगवत्कैङ्कर्यके अन्तर्गत हैं। विश्राम और मनोविनोद भी भगवत्कैङ्कर्यके अन्तर्गत आ जाता है; क्योंकि इससे जीवनमें नयी स्फूर्ति, नया उत्साह आ जाता है।

भक्तोंको भगवान्‌से भी अधिक अन्य भक्तोंका आदर करना चाहिये; क्योंकि भक्त भगवान्‌के जीवित स्वरूप हैं। भक्तोंको नीचानुसंधान भी आवश्यक है। प्रसिद्ध स्वामी यामुनाचार्यने कहा है—

> अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
> अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवलमात्मसात्कुरु॥
>
> (आलवन्दार० ५१)

श्रीवैष्णव-सम्प्रदायमें अष्टाङ्गयोग और उपासना

(लेखक—डॉ० श्री के० सी० वरदाचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, दर्शनदिवाकर)

विशिष्टाद्वैत सम्प्रदायके आचार्योंके मतानुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधियुक्त अष्टाङ्गयोग 'भक्तियोग'का एक अङ्ग है। भक्तियोग (उपासना) का निश्चित लक्ष्य है—भगवान्‌से युक्त हो जाना। इस बातको ध्यानमें रखनेपर योगकी उन क्रियाओंके अर्थमें कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा। योग-सूत्रोंका कथन है कि योगका अर्थ केवल 'चित्तवृत्तिका निरोध'—(मन, बुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियगणपर नियन्त्रण प्राप्त) करना है।

विशिष्टाद्वैत मतमें भगवान्‌से युक्त होनेकी प्रक्रियामें भी यम, नियम आदिका स्थान है। यमका अर्थ है—नियन्त्रण और यहाँपर मूलरूपसे कर्मेन्द्रियोंपर नियन्त्रणसे अभिप्राय है। सच बोलना वागिन्द्रियका नियन्त्रण है। अहिंसा, अपरिग्रह और अस्तेयसे हाथों, पैरों और मुखका नियन्त्रण अभिप्रेत है और ब्रह्मचर्यसे जननेन्द्रियका। इस प्रकार सबसे पहले वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थके नियन्त्रणकी बात कही गयी है।

दूसरी सीढ़ी नियमकी है, जिसमें इन्द्रियोंपर और अधिक नियन्त्रण होता है। यहाँ ऐसे विधान हैं, जिनकी सहायतासे शरीर एवं कर्मेन्द्रियोंके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों-की भी शुद्धि हो जाती है। इनमें तन, मन और वाणीका शौच सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यको उन्हीं वस्तुओंका संग्रह करना चाहिये, जिनपर असत्य, स्तेय, परिग्रह आदिका दाग नहीं लगा है। शारीरिक शौच प्रक्षालन अथवा स्वच्छ पवित्र जलमें स्नान करनेसे, मानसिक शौच दिव्य विचारोंसे और वाणीका शौच केवल दिव्य वचनोंके बोलने या भगवन्नामका उच्चारण अथवा भक्तिके पदोंका गान करनेसे प्राप्त होता है। भक्तोंकी पूजा-अर्चाको ग्रहण करनेके लिये तथा उनपर कृपा करनेके लिये परम पुरुष भगवान्, जो ईश्वरके रूपमें अभिव्यक्त हैं, उनके चरणोंमें भक्तको समर्पित होना पड़ेगा। किंतु यह काम उन्हींकी सहायता-के द्वारा हो सकता है, जो उस विषयमें सबसे श्रेष्ठ अनुभवी हैं और जिन्होंने स्वयं संसारको पार करके अध्यात्मके परमोच्च स्थानको प्राप्त कर लिया है। भगवान्‌के साथ निरन्तर संयोगको प्राप्त—ऐसे पुरुष ही गुरु अथवा आचार्य हैं। ऐसे गुरुके प्रति केवल जन्म-मृत्युमय संसारसे पार उतरनेके लिये ही नहीं, वरं संसारके दोनों छोरोंसे मुक्त होकर आध्यात्मिक रूपान्तरणके लिये सम्पूर्ण रूपसे—अपने तन-मनसे समर्पित हो जाना चाहिये। यही है—ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् भगवान्‌से जोड़ देनेवाले तथा मुक्तिके पथपर आगे-आगे चलनेवाले गुरुके द्वारा भगवच्चरणोंमें आत्मसमर्पण।

तीसरी सीढ़ी है—आसनकी। इसका अर्थ है—भगवान्‌के ध्यानके लिये सिद्धासन अथवा पद्मासन-जैसे किसी सुखद

आसनसे बैठना। आसन स्थिर और सरल होना चाहिये, जटिल नहीं। इस विषयपर लिखनेवालोंने बहुत-से आसनोंका उल्लेख किया है, किंतु वे शारीरिक व्यायाममात्र हैं, ध्यानके लिये उनकी उपयोगिता बहुत कम है। भगवान्‌की पूजा करते समय पैरोंको समेटकर कूर्मासनसे बैठनेका आदेश है। यह उपदेश बड़ा सारगर्भित है; क्योंकि योगीको कछुवेकी भाँति इन्द्रियोंको अपने भीतर समेट लेनेकी शिक्षा दी गयी है (गीता २। ५८)। आजकल लोग कछुवेके आकारका आसन बनाकर उसपर बैठ जाते हैं। किंतु ब्रह्म-संयोगके लिये जिस आसनकी नियमित रूपसे आवश्यकता है, उसका केवल बाह्य आकारसे सम्बन्ध नहीं है। उससे पर्याप्त कालतक बैठनेपर भी वास्तविक स्थिरता बनी रहनी चाहिये। कुछ लोग इसका अभ्यास करके घंटों बैठनेमें समर्थ हो जाते हैं। वास्तविक एकाग्रीकरणकी सिद्धिके लिये आसनकी स्थिरता प्राप्त करना परमावश्यक है। अस्थिर और चञ्चल शरीरसे मनपर नियन्त्रण पानेकी आशा बहुत कम है।

प्राणके नियन्त्रणको 'प्राणायाम' कहते हैं। इसके साधनके लिये श्वास-प्रश्वासमें एकलयता स्थापित करनी पड़ती है। श्वास-प्रश्वाससे क्या होता है अथवा इसका क्या अर्थ है, इसकी जिज्ञासामें उतरे बिना ही श्वास-प्रश्वासके नियन्त्रणकी आवश्यकता बतायी गयी है। इससे श्वासक्रियाको स्थिरता प्राप्त होती है। प्राणायाममें पूरक, कुम्भक और रेचक तीनोंका ही समावेश है। वस्तुतः यह बात तो कोई भी देख सकता है कि किसी एक समय, किसी एक ही नासिकासे श्वास चलता है। घंटे-डेढ़-घंटे बाद दूसरी नासिकासे श्वास चलने लगता है। (श्वासोंके आने-जानेपर भविष्य-कथनके विज्ञानकी रचना हुई है और उसे 'स्वर-विज्ञान' कहते हैं।) एक नासिकासे दूसरी नासिकामें श्वास-परिवर्तन होनेके कालमें व्यतिक्रम होनेपर मनुष्यके स्वास्थ्यका निर्णय किया जा सकता है। पूरक, कुम्भक और रेचकको निश्चित विधिसे और समयके एक निश्चित अनुपातमें करना चाहिये। सामान्यतया पूरक, कुम्भक और रेचकके अनुपातका क्रम १, २, १ होना चाहिये। कुम्भकको बढ़ाया जा सकता है किंतु तब पूरक और रेचकको भी बढ़ाना पड़ेगा। जो कुछ भी हो, यम, नियमकी भाँति श्वासपर नियन्त्रण अथवा श्वासोच्छ्वास-का नियमन भी एक अत्यन्त आवश्यक साधन है। स्वास्थ्यका अर्थ है—संयम। विलयन या विनाश नहीं। किसी पूजापाठ, धार्मिक कृत्य या संध्यावन्दन आदिके करनेके पूर्व प्राणायाम किया जाता है।

इतना सब कर चुकनेके पश्चात् उपासक देवता अथवा गुरुके सम्मुख अथवा उनकी वास्तविक या कल्पित प्रतिमाके सम्मुख बैठकर भगवान्‌से संयोग प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करना चाहता है। भगवान्‌का ही चिन्तन और उन्हींकी उपासना होनी चाहिये। परंतु बहिर्मुखी इन्द्रियाँ विषयोंकी खोजमें घूमती रहती हैं। अतः संयमाधीन इन्द्रियोंके लिये उचित आहारकी व्यवस्था होनी चाहिये। संतोंने भगवान्‌से मिलनेकी कामनावाले योगियोंके लिये उचित आहार-विहार-का विस्तारसे वर्णन किया है। मुखसे भगवान्‌की स्तुति करनी चाहिये। वही उसका आहार है। हाथोंसे भगवान्‌का शृङ्गार करना चाहिये। आँखोंसे भगवान्‌के सौन्दर्यका दर्शन करना चाहिये। कानोंको भगवद्भजन या उनकी लीलाका श्रवण करनेमें लगाना चाहिये। वास्तवमें सभी इन्द्रियोंको ऐसे आहारकी आवश्यकता है और ऐसा ही आहार उन्हें देना चाहिये। इन्द्रियोंका निराहार नहीं, प्रत्याहार उचित है। प्रत्याहारका अर्थ है—'भगवद्विरोधी विषयोंके विपरीत आहार प्रदान करना।' भगवान्‌की प्रकृति इतनी असीम है कि वह इन्द्रियों तथा मनको भी अथक रूपसे सतत विषयदान कर सकती है। बहुधा कहा जाता है कि प्रत्याहारका अर्थ है—मन और इन्द्रियोंपर बलपूर्वक नियन्त्रण। किंतु पतञ्जलिने स्वयं कहा है कि जब मन और इन्द्रियाँ बहिर्मुख होकर विषयभोगोंकी ओर भागने लगें, तब उनको ऐसे यथोचित और पावन विषय प्रदान करने चाहिये जो उनकी बहिर्मुखताको शान्त कर दें।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्। (योगसूत्र २। ३३)

यहाँ प्रतिपक्षका अर्थ है, 'प्रत्याहार' जो बिगड़े हुए स्वादके कारण मसालोंसे भरे हुए निकृष्ट भोजनकी अपेक्षा कहीं अधिक मीठा और स्वास्थ्यप्रद है। इस प्रकार ध्यानके द्वारा भगवान्‌के अद्भुत गुणोंका चिन्तन करना चाहिये। आराधनाके समय भगवान्‌को जो धूप, दीप, चन्दन, पुष्प, पत्र, फल और जल समर्पित किया जाता है, यही वास्तविक 'प्रत्याहार' है। उपासक निर्मल और प्रपन्न-हृदयसे निवेदित किये हुए धूपादिको सूँघता, देखता आदि है। यह व्याख्या नयी लग सकती है, किंतु प्राचीन कालमें लोगोंकी इस प्रकारकी पूजा-पद्धतिसे प्रकट होता है कि वे

यह अनुभव करते थे कि दिव्य वस्तुएँ ही किसी व्यक्तिके लिये आध्यात्मिक आहार होनी चाहिये और सच पूछा जाय तो इनसे ही समस्त भौतिक प्रकृतिको भी पूर्णतम संतोष प्राप्त होता है।

'धारणा'का अर्थ है—चिन्तनीय वस्तुको मनमें धारण किये रहना। उपासनामें इसका तात्पर्य है—'तैलधारावत् (अविच्छिन्न) निरन्तर स्मृति।' इसका अर्थ हुआ चिन्तन और आकाङ्क्षाके साथ निरन्तर जप। जब स्मृति निरन्तर और अनवरत हो जाती है, तब साधक भगवान्में स्थित हो जाता है। एक अर्थमें यही स्मरण या मनन है। जब व्यक्ति भगवान्की निरन्तर स्मृतिका अभ्यास कर लेता है, तब फिर उसके और ऊपर चढ़नेकी बात आती है। फिर वह ध्यानकी सीढ़ीपर पहुँचता है। यहाँ यह देखना चाहिये कि केवल बुद्धि अथवा विवेकमें स्थित होना ही पर्याप्त नहीं है। ध्यानको अधिक ऊँचे प्रकाशका पथ कहा जा सकता है। गायत्रीमन्त्रमें आये हुए 'धी'का अभिप्राय है—भगवत्संयोगके पथपर आगे बढ़ना। कुछ लोग इसे ध्यानयोगका पर्यायवाची कह सकते हैं और यह भी ठीक ही है। तदनन्तर अधिक ऊँची झाँकी खुलने लगती है और साधक समाधिकी ओर बढ़ता है। अर्थात् ध्यान समाधिकी दिशामें ले चलता है। 'समाधि'का अर्थ है—उस उच्चतम प्रकाशमें निवास, जो मनका रूपान्तरण करके उसको वास्तविक दृष्टि-उपनयन अर्थात् सत्यका दर्शन करनेकी क्षमतावाली दृष्टि प्रदान करता है।

'समाधि' प्रायः प्रज्ञाकी वह स्थिति है जिसको उपनिषदोंने सुषुप्ति बताया है, जब मन और इन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं। समाधिकी इस स्थितिको 'सम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। 'असम्प्रज्ञात समाधि' वह स्थिति है जो तुरीयावस्थामें ले जाती है, जहाँ समाधिसे ऊपर साक्षात्कार प्राप्त होता है तथा साधककी निरन्तर सहज आध्यात्मिक उपलब्धिकी स्थिति रहती है।

जो लोग 'सम्प्रज्ञात' एवं 'असम्प्रज्ञात'को 'सविकल्प' तथा 'निर्विकल्प' या परब्रह्मके सरूप और निरूपका पर्याय मानते हैं, उनको यह व्याख्या विचित्र लगेगी। ध्यानजन्य समाधि 'सहज समाधि' अथवा तुरीयावस्थासे नीचेकी वस्तु है। वह तो जाग्रत् अवस्थामें भी तन्मयताकी स्थिति है। पर यह स्थिति है उन मुक्तपुरुषोंकी अथवा उनकी, जिनमें किसी-न-किसी रूपमें भगवत्ताका अवतरण हुआ है। वास्तवमें ऐसे ही पुरुषमें भगवान् वास करते हैं और उसीको 'भागवतजन' कहा जाता है।

इस प्रकार भक्ति यह दर्शाती है कि योग-सूत्रके अष्टाङ्गोंका भगवत्साक्षात्कारकी साधनामें उपयोग किया जा सकता है। इसीलिये श्रीरामानुज यह कह सके कि पतञ्जलिका राजयोग 'भक्तियोग' ही है, यदि प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिमें हम ईश्वर-प्रणिधानके वास्तविक स्वरूपको पुष्ट कर सकें। अन्यतम ज्ञानके रूपमें भगवान्से एकीभूत होनेकी आकाङ्क्षा रखनेवाले ज्ञानयोगकी पूर्णता या परिपक्वताका नाम है—'भक्तियोग'। इसी ज्ञानको शेमुषी कहते हैं जो विकसित होकर भक्ति-प्रवाहका रूप धारण कर लेती है। यह भक्ति अथवा ध्यानकी धारा अन्य प्रभावोंसे अबाधित बहती हुई विशुद्ध आनन्दार्णवमें जाकर मिल जाती है।

इस प्रकार प्राप्त हुई श्रद्धाभक्ति विरह या विश्लेष-भयसे रहित ब्रह्मगुरु ईश्वरसे एकात्मताजनित आनन्दकी उपलब्धि करा देती है।

स्मरणपरायण श्रेष्ठ भक्त

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २। ५३)

त्रिभुवनकी सम्पत्तिके लोभसे भी जिसके स्मरणमें किञ्चित् बाधा नहीं पड़ती और अजितात्मा देवगणोंसे खोजे जानेवाले भगवच्चरणारविन्दोंसे जिसका चित्त आधे क्षणके लिये भी चञ्चल नहीं होता, वही भगवद्भक्तोंमें उत्तम है।

सगुणोपासनामें अपेक्षित साधन

(लेखक—श्रीरेवानन्दजी गौड, एम्० ए०, आचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ)

पाश्चात्य शिक्षा-संस्कृतिका प्रेमी मनुष्य आज ईश्वरकी सत्तामें विश्वास नहीं करता। आपत्ति पड़नेपर, जीवनके चारों पथ रुक जानेपर भी संदेहात्मक प्रकृतिके वशीभूत होकर दबी वाणीमें उसपर विचार करता है। नाना सम्प्रदाय, मत-मतान्तरका प्रबल तूफान उसे और भी पीछे ढकेल देता है।

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना
नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।

ऐसी विषम परिस्थितिमें नास्तिक तो क्या आस्तिक तक संशय-दोलामें झूलने लगते हैं। ईश्वरोपासनाकी विधि-विधानकी सत्तामें यदि संशय है तो लक्ष्यसिद्धि कहाँ! 'संशयात्मा विनश्यति।' (गीता ४। ४०) का भय दिखाकर श्रीकृष्णभगवान्ने अपने उपासक अर्जुनको लक्ष्यसिद्धिकी ओर प्रेरित किया।

इस दृश्यमान चराचर जगत्में ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। उसकी सत्ता इस संसारमें कहीं स्फुट और कहीं गुप्त है। यह समस्त स्थूल जगत् तो उस विराट् भगवान्का बाह्य आवरणमात्र है। वर्तमान ब्रह्माण्डमें आपातरम्य विषयोंमें अदृश्यरूपेण आनन्दमय अखण्ड चैतन्य व्याप्त है। जीवात्मा परमात्माकी ओर स्वतः प्रवृत्त होता है। जीव उपासक और ब्रह्म उपास्य है। उपासना इन दोनोंके बीचकी एक कड़ी है, जिसके माध्यमसे इन दोनोंका झूठा भेद मिटकर तादात्म्य हो जाता है। सारूप्यमोक्ष होनेपर पुनरावृत्ति नहीं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(गीता ८। १६)

मानवका कल्याण तभी सम्भव है जब कि वह ज्ञानात्मक, भावात्मक और आध्यात्मिक उपासनाद्वारा सर्वशक्तिमान्के साथ तद्रूप हो जाय। उपासकको सर्वप्रथम उपास्यकी निश्चयात्मक धारणा करनी चाहिये। ईश्वरके सगुण और निर्गुण दोनों रूपोंमें उसे कौन ग्राह्य है। निर्गुण ब्रह्मकी उपासना कटु सत्य मानो कटु भैषज है। मानवजीवनका सुखान्तःपरिलक्षण है। आजका मानव लघुता और सरलताका पुजारी है। वह निर्गुणके चक्करमें कहाँ पड़ने लगा! वह तो बड़ा प्रसन्न है, सूरकी इस वाणीको पढ़कर—

अविगत गति कछु कहत न आवत।
ज्यों गूँगा मीठे फलको रस अन्तरगत ही भावत॥

ॐ प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ (यजुर्वेद ३१। १४)

'प्रजापति ईश्वर एक होकर भी बहुरूपेण भासमान है। उसके सगुण रूपका विद्वज्जन ही निश्चय करते हैं।'
'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'
(श्वेताश्वतर उ० ३। ८)

'उसी रूपको जानकर मृत्युका अतिक्रमण होता है। मानवजीवनके मोक्षका अन्य कोई साधन है ही नहीं।' 'तद्देवमयो भूत्वा तद्देवमुपासीत।' जिस देवका उपासक हो, उसीका स्वरूप बनाकर उपासना करनी चाहिये। किसी भी भगवदुपासकके लिये आत्मशुद्धि अनिवार्य है। महाराज मनुने शुद्धिका उल्लेख करते हुए लिखा है—

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥
(मनुस्मृति ५। १०९)

'शरीरकी पवित्रता जलसे होती है। स्नानादि क्रिया, विलेपनादि विधि तो शरीरकी बाह्यशुद्धिके आधायक हैं। मनकी शुद्धि सत्यभाषण अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा वेदविहित कर्म करनेसे होती है। विद्या और तपसे आत्माकी और बुद्धिकी शुद्धि वेदविहित ज्ञानसे होती है।'

उपासकके सम्मुख सबसे बड़ी बाधा है—मनकी चञ्चलता। मन स्ववश नहीं। उपासनाकालमें मन कहीं-का-कहीं पड़ा रहता है। उसपर विजय पाना हँसी-खेल नहीं। मानसिक स्थितिपर ही हार-जीत निर्भर है। मनके भयंकर झंझावातसे विकल होकर अर्जुन कह ही बैठा—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(गीता ६। ३४)

'दुर्जनः तुष्यतु' न्यायसे वायुका क्षणिक स्ववशीकरण हो जाय; परंतु मनका वशीकरण असम्भव है। मन केवल चञ्चल ही नहीं है, बल्कि उसका प्रमाथि और बलवद् होना नितान्त घातक है। अभ्यास और वैराग्य उसको वश करनेके साधन हैं। इनके द्वारा एकदम तो नहीं, हाँ, धीरे-धीरे उपासकका मन उपास्यदेवमें रमने लगता है। मनके लगनेसे साधकको उपासनामें आनन्द आने लगता है।

आजके मानवका साधारण प्रश्न है—उपासना-कालमें यदि मन एकाग्र नहीं, अपने उपास्यमें तल्लीन नहीं, तो उपासनाकी सार्थकता ही क्या है? परंतु इस प्रश्नसे साधकको भयभीत नहीं होना चाहिये। मैं कहता हूँ यह प्रश्न केवल उपासकके लिये ही क्यों है? यह समस्या तो प्रत्येक कर्मचारीके लिये है। शिक्षक, सैनिक, अधिकारी या अधिकृतमें ऐसा कौन है, जिसका मन हर समय अपने काममें लगा है? पर मन न लगनेपर भी वे स्वकार्यमें रत हैं और फलभागी हैं। जब साधकमें अभ्यास-वैराग्यसे निष्कामकर्म करनेकी प्रवृत्ति सजग हो जाय अर्थात् लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा दूर हो जाय, तो समझ लेना चाहिये कि मन पवित्र है। मन निर्मल है, नियन्त्रित है, तो वह मानव संसारका बादशाह है। रहीमने लिखा है—

जो रहीम मन हाथ है, मनसा कहो न जाय।
ज्यों जरुमें छाया परत, काया भीजत नाँय॥

उपासकके लिये इन्द्रियसंयम सर्वोपरि है। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। कभी-कभी तो ये बलवान् पुरुषके मनको भी कुपथपर ले जाती हैं।

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।'

(मनुस्मृति २। २१५)

उपनिषत्कार अलंकृत भाषामें इनके स्वरूपका वर्णन करता है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

(कठ० १। ३। ३)

इस संदर्भमें लिखा है कि 'शरीररूपी एक रथ है। रथका स्वामी आत्मा है। बुद्धि इसका नियन्ता (सारथि) है और मन लगाम है। इन्द्रियाँ रथके घोड़े हैं। सांसारिक विषय-वासनाओंमें वे विचरते हैं। इन्द्रिय और मनकी आपातरम्य विषयोंमें आसक्ति उपासना-मार्गमें बड़ी अड़चन है। इन्द्रियोंकी सूक्ष्मता तथा बलवत्ता महान् है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(गीता २। ६०, ६१)

साधकके लिये जहाँ संयम सर्वोपरि है, वहाँ उपासकके लिये अन्तर्मुखता भी आवश्यक है। जबतक उसकी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी रहेंगी, तबतक साधककी उपासना एक ढोंगमात्र बनकर रह जायगी। अन्तर्मुखी वृत्तियोंके बिना ईश्वरका स्वरूप आत्मगत नहीं हो पाता। अन्तर्मुखता ही आत्म-चिन्तनकी कसौटी है। अन्तर्मुखी व्यक्ति संसारमें रहकर भी संसारसे विरत है। वह हर समय साधनामें रत है। अन्तर्मुखी साधककी भावना है—

'यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।'

'जिस प्रकार परिपूर्ण, अचल समुद्रमें नाना नदियाँ समा जाती हैं, तब भी समुद्र चलायमान नहीं होता वैसे ही अन्तर्मुख साधकके लिये सांसारिक भोग कोई विकृति उत्पन्न नहीं करते।' भगवान् कहते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(गीता २। ७०)

अतर्मुखी साधक ज्ञानी और ऊर्ध्वरेता होता है।

विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २। ७१)

उपासकके लिये देश-कालकी अनुकूलता आवश्यक है। उसका अन्तःसाक्ष्य श्रद्धा और विश्वासपर निर्भर होता है। कहते हैं—श्रद्धा अन्धी होती है और विश्वास लँगड़ा होता है। इनके पारस्परिक सहयोगसे उपासक चरम लक्ष्यतक पहुँचता है। जब श्रद्धा सत्यको धारती है, तभी विश्वास फलता है। नीतिकार चाणक्यने लिखा है—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

न्यास-विज्ञान

(लेखक—श्रीरामशंकरजी अग्रवाल)

न्यासका अर्थ—

न्यासका अर्थ है—'समर्पण'। यह समर्पण जीवात्माका परमात्माके प्रति होता है। इसमें जीवके कुल सामर्थ्यका पूर्ण समर्पण हो जाता है। इस 'न्यास'को आत्मसमर्पण, शरणागति, प्रपत्ति, प्रपदन, तप अथवा आत्मयज्ञ आदि शब्दोंसे भी जाना जाता है। विज्ञानका अर्थ है—विशेष ज्ञान। अतः न्यासविज्ञानका सरलार्थ हुआ 'परमात्मामें जीवात्माके समर्पणका ज्ञान-विशेष।'

यह ज्ञान-विशेष अथवा विज्ञान क्यों ?

भगवान्‌की प्राप्तिका यह आत्मसमर्पणसे पूर्ण शरणागति-मार्ग सचमुच विज्ञान ही है। गीताके अन्तिम अध्यायमें भगवान्‌ने इस शरणागतिकी बात कहनेसे पूर्व इसे 'सर्वगुह्यतम' कहा है। अतः यह निश्चित हो जाता है कि न्यास विज्ञान ही है।

मोक्षप्राप्ति या भगवत्प्राप्तिके लिये जो दहरविद्या, मधुविद्या, संवर्गविद्या, उपकोसलविद्या आदि अनेकानेक मार्ग हैं, वे बड़े ही दुर्विज्ञेय, नियम-गहन और विलम्बसे भगवान्‌की प्राप्ति कराते हैं। ऐसी दशामें दयामय, अन्तर्यामी भगवान्‌ने हम सर्वसाधारणके लिये जिस सरल मार्गका विधान किया है—वह शरणागति ही है। इस प्रकार भी यह 'न्यास'—विज्ञान अथवा विशेष ज्ञान हुआ।

भगवान्‌के शरणागत जन बड़े ही विरले और उच्चकोटिके होते हैं। वे भीतर-ही-भीतर परम ज्ञानमय, भक्तिमय और योगी होते हुए भी भगवान्‌के चरणोंमें इतने न्यस्त हो जाते हैं कि उन्हें देखकर कोई यही कहेगा—'देखो तो, ये इतने महिमावान् और तेजस्वी होकर भी कितने शान्त, निरभिमान, नम्र और दीन-हीन-से हैं।' यह उपर्युक्त कथन ही 'न्यास'की विशेषताको व्यक्त कर इसे 'विज्ञान' सिद्ध करता है।

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यजीके अनुसार 'जिसमें दीनता और अभिमानशून्यता आदि सद्गुण होते हैं, ऐसे जीवपर भगवान्‌की विशेष कृपा होती है, जिससे उसके हृदयमें उन सर्वेश्वर परमात्माके चरणोंके प्रति प्रेमलक्षणा भक्तिका उदय होता है। वही उत्तम एवं साध्य भक्ति है। इससे भिन्न जो भक्तिके अन्य प्रकार हैं, वे सब साधन भक्तिके अन्तर्गत हैं।' अतः सिद्ध हुआ कि न्यास विज्ञान ही है।

लक्षण—

न्यास-विज्ञानकी समस्त आत्मा श्रीमद्भगवद्गीताके निम्नलिखित श्लोकमें समाहित है। इस श्लोकके सम्बन्धमें आचार्य श्रीवेंकटनाथजीका मत है—'जैसे समुद्रका सार कौस्तुभमणि है, वैसे ही व्यासाम्नाय (महाभारत) रूप समुद्रका सार गीताका यह श्लोक है'—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

इसका सरलार्थ हुआ—'सब धर्मोंको छोड़कर, तू एकमात्र मुझ परम पुरुषोत्तम परमेश्वरकी शरणमें आ जा। मैं तुझे सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा; तू शोक मत कर।' यहाँ 'धर्म' शब्द बहुत व्यापक है, जिसमें व्यक्तिका सम्पूर्ण व्यक्तित्व (विचार, कर्म और सभी कुछ) समाहित है, तथा ऐसे ही सब धर्मोंको छोड़ना या त्यागना समर्पणको ही व्यक्त करता है। समर्पणका अर्थ है—'सब कुछ भगवान्‌का समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरमें तथा उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलरूप समस्त भोगोंमें ममता, आसक्ति, अभिमान और कामनाका सर्वथा त्याग कर देना तथा केवल भगवान्‌के ही लिये भगवान्‌की आज्ञा और प्रेरणानुसार, जैसे वे करवावें वैसे, कठपुतलीकी भाँति उनको करते रहना—यही समस्त धर्मोंका त्याग अथवा समर्पण (न्यास) है।' इस प्रकार समस्त धर्मोंको त्यागकर, 'भगवान्‌को ही अपना परमप्राप्य, परमगति, परमाधार, परमप्रिय, परमहितैषी, परम सुहृद्, परम आत्मीय तथा भर्ता, स्वामी, संरक्षक समझकर उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हरएक प्रकारसे उनकी आज्ञाओंका पालन करते समय परम श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर उनका चिन्तन करते रहना और

उनके प्रत्येक विधानमें सदा संतुष्ट रहना एवं सब प्रकारसे केवल-मात्र एक भगवान्‌पर ही निर्भर रहना ही, एकमात्र परमेश्वरकी शरणमें चले जाना है।'

कहनेका तात्पर्य यह कि जब व्यष्टिरूपी नदी मिल जाय और बस, समष्टिरूपी समुद्र रह जाय—तब जानो यह न्यासभक्ति उदित हुई। जब व्यक्तिको अपना व्यक्तित्व, भगवान्‌की कृपा और लीलाका ही एक निमित्त साधन और क्षेत्र जान पड़े; जब उसे यह अनुभव और स्मरण सतत बना रहे कि 'मैं तो बस, यन्त्रीके हाथका एक यन्त्र हूँ' तब जानो यह न्यास-विज्ञान उदित हुआ। जब जीव न तो विचारक रहे, न कर्ता, न भोक्ता और मौन द्रष्टा-सा, भगवत्कृपाके वशीभूत, एक विडाल-शिशु (बिल्लीके बच्चे) के समान हो जाय, तब जानो यह न्यासोदय हुआ। बंदरके बच्चेको तो यहाँसे वहाँ आने-जानेमें माँके साथ-साथ अपना भी सहारा रहता है, किंतु विडालशिशुको तो बस माँ ही एक सहारा है।

स्वरूप—

'अहिर्बुध्न्यसंहिता'में न्यासका स्वरूप यह है—'हे भगवन्! मैं अपराधोंका आलय हूँ, अकिञ्चन हूँ, (भगवत्प्राप्तिके लिये यत्किञ्चित् भी साधनसे रहित हूँ) अगति हूँ; इसलिये हे परमात्मन्! आपकी प्राप्तिके लिये आप ही उपाय हो जायँ।' यह प्रार्थनारूप बुद्धि ही न्यास (शरणागति) है। प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण, सुकर्म, विकर्म आदि अपने समस्त कर्म ईश्वरको अर्पणकर यह प्रार्थना करे कि—'हे पुरुषोत्तम! मैं और मेरा इहलोक और परलोकमें जो कुछ है, इस जन्म और जन्मान्तरमें मेरा जो कुछ भी मैंपन या अहंकार है, उस सबके साथ आज मैं अपनेको आपके चरणोंमें अर्पित करता हूँ'—न्यास है।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यके अनुसार—'भगवान्‌के चरणोंमें अटूट अनुरागकी इच्छा सभी लोग कर सकते हैं—चाहे वे समर्थ हों या असमर्थ। भगवच्छरणागतिके सभी अधिकारी हैं। भगवच्छरणागतिके लिये न तो श्रेष्ठ कुलकी आवश्यकता है, न किसी प्रकारके बलकी ही। वहाँ न उत्तम कालकी आवश्यकता है और न किसी प्रकारकी शुद्धि ही अपेक्षित है। सब समय और शुचि-अशुचि सभी अवस्थाओंमें जीव भगवान्‌की शरण ग्रहण कर सकता है।'

भगवान् तो स्वभावसे ही शरणदाता और प्रपन्नपालक हैं, अतः वे शरण आये हुए जनको अवश्य अपनाते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्यजीके मतमें—'श्रीकृष्ण अपने आश्रित पुरुषको अपनी ओर वैसे ही खींचते हैं, जैसे सामने आये हुए जड़ लोहेको चुम्बक अपनी ओर खींचता है। कृपा करते समय भगवान् यह नहीं विचारते कि जाति, रूप, धन और आयुसे यह उत्तम है या अधम, स्तुत्य है या निन्द्य।'

विवेचना—

अहिर्बुध्न्यसंहितामें न्यासाख्य तप अथवा शरणागतिके छः अङ्गोंका निर्देश है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

(१) आनुकूल्यसंकल्प—भगवदाज्ञा (शास्त्र) अथवा प्राणियोंके अनुकूल चलनेका संकल्प। शरणागतोंके लिये शास्त्र माता-पिताके समान हैं। समर्पित भावसे संसारमें रहते हुए शरणागतको धर्मराज युधिष्ठिरके ये वचन सदैव याद रहते हैं कि 'कर्मठ ही (शास्त्राज्ञाके अनुसार कार्य करनेवाला ही) श्रेष्ठ है।'

(२) प्रातिकूल्यवर्जन—भगवदाज्ञा (शास्त्र) अथवा प्राणियोंके प्रति प्रतिकूलताका वर्जन। शरणागतके हृदयमें यह भावना सदैव विद्यमान रहती है कि भगवान् सब प्राणियोंमें विद्यमान हैं, वे अन्तर्यामी हैं और उनकी दृष्टिके समक्ष ही सब कुछ हो रहा है। अतः वे शास्त्र इन वचनोंका सदैव ध्यान रखते हैं कि 'जो चीजें अपने प्रतिकूल हों, उन्हें दूसरोंके प्रति कभी न करो। धर्मका यही मूल है—'

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

(३) रक्षिष्यतीति विश्वास—शरणागतकी भगवान् रक्षा करेंगे—यह प्रह्लादीय विश्वास। शरणागतके कर्णोंमें भक्त कवि रसखानकी ये पंक्तियाँ सदैव गूँजती रहती हैं कि—

'कौन सी संक परी है जु माखन चाखन हारो है राखन हारो।'

शरणागतको तो बस, एक रामका ही भरोसा है, बल है, आशा और विश्वास है—

'एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।'

(४) गोप्तृत्व-वरण—भगवान्‌को गोप्ता (रक्षक) रूपसे स्वीकार करना। शरणागतजन भगवान्‌को भक्त-

भयहारी, अशरणशरण, दीनबन्धु, प्रपन्नपाल, शरणागत-वत्सल, क्षेमकर्ता, प्रणतार्तिविनाशन, अभयप्रदाता आदि मानते हुए सदैव इस मनोबलसे भरपूर रहते हैं कि—

'त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि।'

अर्थात् 'जब तुम मेरे रक्षक हो तो मुझपर सारी विपत्तियाँ टूट पड़ें, तो भी भय नहीं है।'

(५) कार्पण्य—भगवत्प्राप्तिके लिये भगवत्कृपाके बिना अन्य साधन नहीं है—यह दैन्यभाव सदैव शरणागतके हृदयमें रहता है। गीताके अन्तमें अर्जुनद्वारा कहे गये निम्नलिखित श्लोकमें मानो 'न्यास'का कार्पण्य-अङ्ग साकार हो उठा है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव॥
(गीता १८। ७३)

'हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है; अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ। अतः आपके वचनोंका पालन करूँगा।' अर्जुनके इस कथनमें शरणागतिके कार्पण्य-अङ्गकी स्पष्ट स्वीकृति है। वे कहते हैं कि 'मेरे मोहका नाश हो गया। मैं जो अहंकारवश कह रहा था—'मैं युद्ध नहीं करूँगा' यह मेरा मोह था, अब मुझे स्मरण हो आया कि मैं तो आप यन्त्रीके हाथका यन्त्र हूँ, आपकी स्वच्छन्द इच्छाके अनुसार चलनेवाला। पर यह मोहनाश तथा स्मृतिकी प्राप्ति मेरे पुरुषार्थ या किसी साधनविशेषसे नहीं हुई है। यह तो केवल आप शरणागतवत्सलकी कृपासे हुई है। आपकी इस कृपाकी भी मैंने अपने साधन-से उपलब्धि नहीं की। आप अपने शरणागत-भयहारी विरदसे कभी च्युत नहीं होते; अतः स्वाभाविक ही कृपा-वर्षा करते हैं। अब मैं यन्त्ररूपी स्वरूपमें स्थित हो गया हूँ। मेरे सारे संदेह नष्ट हो गये हैं। अतः आप जो कुछ मुझसे कहेंगे, बिना ननु-नचके वही करूँगा।'

कुछ भी नहीं मैं कर सकूँ, करता सभी विश्वेश है।
ऐसी समझ उत्तम महा, सच्चा यही आदेश है॥
(स्वामी भोलेबाबा)

वही तुम्हें जाने प्यारे, जिसको तुम आप ही बतलाओ।
देखे वही बस जिसे तुम खुद अपनेको दिखलाओ॥
(भारतेंदु हरिश्चंद्र)

'सो जानइ जेहि देउ जनाई।' (मानस, अयोध्या०)

इस प्रकार जो—

साध्य साधन युगल ही—भगवान्‌को समझें सदा।
रक्षा करे उनकी युगल-सरकारकी कौमुद गदा॥

(६) आत्मनिक्षेप—भगवान्‌के श्रीचरणोंमें अपनी रक्षाका भार सौंपना। न्यस्त-जन सदैव इस भावनासे भावित रहते हैं कि इस अपार भवसागरमें डूबते हुए मुझे प्रभु तट-रूप होकर मिलते रहें! शरणागत सदैव जगद्गुरु रामानुजाचार्यजीकी यह विनय अपनाये रहता है कि—'हे प्रभु! मैं आपकी शरणमें हूँ; क्योंकि उसके सिवा मेरे लिये कहीं कोई भी शरण (उपाय) नहीं है।' शरणागत श्रीयामुनाचार्यजीके शब्दोंमें—'हे नाथ! मेरे लिये कोई भी दुःख नया नहीं है; सब कुछ भोग चुका हूँ। जो होगा, सब सह लूँगा; दुःख तो मेरे साथ ही उत्पन्न हुआ है। परंतु आपकी शरणमें आये हुएका आपके सामने ही अपमान हो, यह आपको शोभा नहीं देता—अतः मेरे उद्धारमें देर न लगाइये।'

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।
किंतु त्वदग्रे शरणागतानां
पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः॥
(आलवन्दार स्तोत्र २८)

शरणागत श्रीमद्विठ्ठलनाथजी कहते हैं—

यदि तुष्टोऽसि रुष्टो वा त्वमेव शरणं मम।
मारणे धारणे वापि दीनानां नः प्रभुर्गतिः॥

'आप चाहे संतुष्ट हों या रुष्ट, मेरे तो आश्रय—रक्षक आप ही हैं। हम दीनोंको मारने या स्वीकार करनेमें आप ही समर्थ हैं एवं आप ही प्रभु हमारी गति हैं।'

ब्रूहि त्वमेव भगवन् करुणार्णवेन
त्यक्तास्त्वया कमपरं शरणं व्रजामः॥
(जगद्धर भट्ट)

'आप ही कहिये भगवन्! यदि आपके सदृश करुणा-सागरने भी मेरी रक्षा न की तो फिर मैं और किसकी शरण जाऊँगा!' क्या आपसे बढ़कर भी कोई ऐसा है जो मुझ-सदृश पापीको पार लगा सके! अब मैंने आपके चरणोंको दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है, आप ही मेरे माता-पिता हैं। आपके सिवा मेरा कोई रक्षक नहीं।

महत्त्व

'न्यास' सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है। मूलतः एक तत्त्वमें अन्य तत्त्वोंका आधान ही यज्ञ है। 'न्यास'में जीवात्माका परमात्मामें आधान होकर एक महायज्ञ सम्पन्न होता है। न्यास इसलिये भी उत्कृष्ट यज्ञ है; क्योंकि जिन यज्ञोंमें समिधा आदिका उपयोग होता है, उनकी अपेक्षा नमस्कार-साधनसे जिसने देवमें आत्मन्यास कर दिया है, वह स्वध्वर है अर्थात् श्रेष्ठ यज्ञका कर्ता है। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' कहती है—

यज्ञरूपधरं देवं यजते स्वात्मनैव यः।
तेन सर्वे कृता यज्ञा भवन्तीह महात्मना॥

'यज्ञरूपधर परमात्माका अपने आत्मारूप हविसे जिस महात्माने यज्ञ (सम्बन्ध) किया है, वह सब यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुका।' 'न्यास'-यज्ञमें यज्ञाङ्गोंकी भी पूर्णता है। यज्ञके समस्त अङ्ग न्यास-यज्ञमें भी ठीक उसी प्रकार निहित हैं, जिस प्रकार किसी पवित्र, भव्य और महायज्ञानुष्ठानमें!

न्यासमें सगुणोपासनाके माध्यमसे भक्तिका विकास होता है और अन्तमें भगवान्‌के साथ अभेद भक्ति स्थापित होती है। उपासक उपास्यका ही आत्मा (स्वरूप) बन जाता है। कहा भी है—

'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव*स देवानाम्।'

(बृहदारण्यक० १।४।१०)

अर्थात् 'जो अपने इष्टदेवसे अपनेको भिन्न मानता है, पशु-तुल्य है, अपने इष्टदेवके लिये केवल एक भारवाही पशुके समान है।' न्यासमें जीव जिन प्रभुके चरणोंमें अपने-आपको सर्वतोभावेन, दीन-हीन, अनुरागयुक्त होकर समर्पण करता है, उन प्रभुके साथ उसकी निकटता प्रगाढ़तर होती चली जाती है और अन्तमें उपासक और इष्टमें, न्यस्त और धारकमें अभेद हो जाता है। केवल प्रभु और प्रभुके निमित्त वह रह जाता है।

न्यास अथवा प्रपत्ति महोपनिषद् (उत्कृष्टरहस्य) है। देवताओंके लिये भी गुह्यातिगुह्य है। यह तत्क्षण ही सब पापोंका प्रणाशक एवं सकल अभीष्टार्थका दाता है। इसकी विशेषता, श्रेष्ठता और गुह्यताका गुणगान करती हुई 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' कहती है—

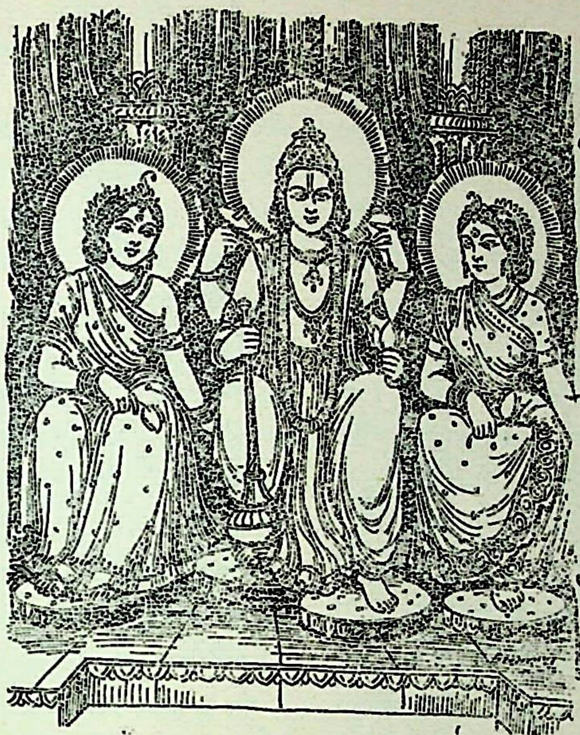
यत्नेन कामकामेन नासाद्यं साधनान्तरैः।
मुमुक्षुणा यत् सांख्येन योगेन न च भक्तितः॥
प्राप्यते परमं धाम यतो नावर्तते पुनः।
तेन तेनाप्यते तत्तत् न्यासेनैव महामुने॥
परमात्मा च तेनैव साध्यते पुरुषोत्तमः।

'कामनायुक्त मानवोंको साधनान्तरोंसे जिस-जिस कामनाकी प्राप्ति न होती हो, अथवा मुमुक्षुओंको सांख्य, योग और भक्तिसे पुनरावृत्तिरहित जिस परमधामकी प्राप्ति न होती हो, उन सब कामनाओं तथा परमात्माकी प्राप्ति केवल 'न्यासाख्य तप' (शरणागति) से ही हो जाती है।'

ध्यान रहे कि—

(१) समर्पण पूर्ण हो—शरण्य एक हो। जबतक समर्पण अपूर्ण होगा या शरणदाता अनेक होंगे, तबतक यह 'न्यास' कोसों दूर रहेगा। 'लङ्कामें हनुमान्‌जीको ब्रह्मास्त्रद्वारा बाँधा गया। इतनेपर भी कुछ राक्षसोंने यह सोचकर कि कहीं यह महाबली वानर छूट न जाय, उन्हें रस्सों आदिसे भी बाँध दिया। तब तो ब्रह्मास्त्र उन्हें छोड़ चला।' इस उदाहरणसे पूर्ण समर्पण और एक शरण्यकी बात समझमें आ जाती है।

(२) इसका अभक्तजन दुरुपयोग न करें। यद्यपि यह शरणागति (न्यास) पथ सरल मालूम पड़ता है और सर्वसाधारणके लिये इसका विधान भी है, तथापि शरणागत बनकर भगवान्‌की कृपा प्राप्त कर लेना, उस सूत्रधारकी कठपुतली बन जाना, साधारण बात नहीं है। शरणागत मीराँ और गोपियोंकी-सी स्थिति पा लेना सरल नहीं। इसमें अनन्य विश्वासकी आवश्यकता है। इस तथ्यके अनुसार कि 'शेरनीका दूध सुवर्ण पात्रमें ही ठहरेगा' हमें इस घोर कलिग्रस्त युगमें अपात्रोंसे इस न्यास-विज्ञानकी रक्षा करना आवश्यक है।



भूदेवी और श्रीदेवीके साथ भगवान् विष्णु [पृष्ठ २९०



गरुड़पर विराजित भगवान् विष्णु [पृष्ठ २९२



सखाओंके साथ श्रीकृष्ण [पृष्ठ ३४२



आँगनमें दौड़ते हुए बालगोपाल [पृष्ठ ३४२



गौओंको पुकारते हुए गोपाल [पृष्ठ ३४२



माधवीलता-मण्डपमें श्रीकृष्ण-बलराम [पृष्ठ ३४२

श्रीमहाविष्णुकी उपासनाके कुछ मन्त्र और संक्षिप्त अनुष्ठानविधि

सनत्कुमारजी कहते हैं—नारद ! अब मैं महाविष्णुके मन्त्रोंका वर्णन करता हूँ, जो लोकमें अत्यन्त दुर्लभ हैं। जिन्हें पाकर मनुष्य शीघ्र ही अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेते हैं। जिनके उच्चारणमात्रसे ही राशि-राशि पाप नष्ट हो जाते हैं। ब्रह्मा आदि भी जिन मन्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके ही संसारकी सृष्टि करनेमें समर्थ होते हैं। प्रणव और नमः पूर्वक विभक्त्यन्त 'नारायण' पद हो तो 'ॐ नमो नारायणाय' यह अष्टाक्षर मन्त्र होता है। साध्य नारायण इसके ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, अविनाशी भगवान् विष्णु देवता हैं, ॐ बीज है, नमः शक्ति है तथा सम्पूर्ण मनोरथोंकी प्राप्तिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। इसका पञ्चाङ्ग-न्यास इस प्रकार है—क्रुद्धोल्काय हृदयाय नमः, महोल्काय शिरसे स्वाहा, वीरोल्काय शिखायै वषट्, द्युल्काय कवचाय हुम्, सहस्रोल्काय अस्त्राय फट्। इस प्रकार पञ्चाङ्गकी कल्पना करनी चाहिये। फिर मन्त्रके छः वर्णोंसे षडङ्ग-न्यास करके शेष दो मन्त्राक्षरोंका कुक्षि तथा पृष्ठभागमें न्यास करे। इसके बाद सुदर्शनमन्त्रसे दिग्बन्ध करना चाहिये। 'ॐ नमः सुदर्शनाय अस्त्राय फट्' यह बारह अक्षरोंका मन्त्र 'सुदर्शन' कहा गया है।

अब मैं 'विभूतिपञ्जर' नामक दशावृत्तिमय न्यासका वर्णन करता हूँ। मूल मन्त्रके अक्षरोंका अपने शरीरके मूलाधार हृदय, मुख, दोनों भुजा तथा दोनों चरणोंके मूलभाग तथा नासिकामें न्यास करे। यह प्रथम आवृत्ति कही गयी है। कण्ठ, नाभि, हृदय, दोनों स्तन, दोनों पार्श्वभाग तथा पृष्ठभागमें पुनः मन्त्राक्षरोंका न्यास करे। यह द्वितीय आवृत्ति बतायी गयी है। मूर्धा, मुख, दोनों नेत्र, दोनों श्रवण तथा नासिका-छिद्रोंमें मन्त्राक्षरोंका न्यास करे। यह तृतीय आवृत्ति है। दोनों भुजाओं और दोनों पैरोंकी सटी हुई अंगुलियोंमें चौथी आवृत्तिका न्यास करे। धातु, प्राण और हृदयमें पाँचवीं आवृत्तिका न्यास करे। सिर, नेत्र, मुख और हृदय, कुक्षि, ऊरु, जङ्घा तथा दोनों पैरोंमें विद्वान् पुरुष एक-एक करके क्रमशः मन्त्र-वर्णोंका न्यास करे। (यह छठी, सातवीं, आठवीं आवृत्ति है) हृदय, कंधा, ऊरु तथा चरणोंमें मन्त्रके चार वर्णोंका न्यास करे। शेष वर्णोंका चक्र, शङ्ख, गदा और कमलकी मुद्रा दिखाकर उनमें न्यास करे (यह नवम, दशम आवृत्ति है)। यह सर्वश्रेष्ठ न्यास 'विभूति-पञ्जर' नामसे विख्यात है। मूलके एक-एक अक्षरको अनुस्वारसे युक्त करके उसके दोनों ओर प्रणवका सम्पुट लगाकर न्यास करे अथवा आदिमें 'ॐ' और अन्तमें 'नमः' लगाकर मन्त्राक्षरोंका न्यास करे। ऐसा दूसरे विद्वानोंका कथन है।

तत्पश्चात् बारह आदित्योंसहित द्वादश मूर्तियोंका न्यास करे। ये बारह मूर्तियाँ आदिमें द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय)के एक-एक मन्त्रसे युक्त होती हैं और इनके साथ बारह आदित्योंका संयोग होता है। यह अष्टाक्षर-मन्त्र अष्टप्रकृतिरूप बताया गया है। इनके साथ चार[1] आत्माका योग होनेसे द्वादशाक्षर होता है। ललाट, कुक्षि, हृदय, कण्ठ, दक्षिण पार्श्व, दक्षिण अंस, गल दक्षिणभाग, वाम पार्श्व, वाम अंस, गल वामभाग, पृष्ठभाग तथा ककुद्—इन बारह अङ्गोंमें मन्त्र-साधक क्रमशः बारह मूर्तियोंका न्यास करे। केशवका धाताके साथ ललाटमें न्यास करके, नारायणका अर्यमाके साथ कुक्षिमें, माधवका मित्रके साथ हृदयमें तथा गोविन्दका वरुणके साथ कण्ठकूपमें न्यास करे। विष्णुका अंशुके साथ, मधुसूदनका भगके साथ, त्रिविक्रमका विवस्वान्के साथ, वामनका इन्द्रके साथ, श्रीधरका पूषाके साथ और हृषीकेशका पर्जन्यके साथ न्यास करे। पद्मनाभका त्वष्टाके साथ तथा दामोदरका विष्णुके साथ न्यास करे *। तत्पश्चात् द्वादशाक्षर

१—आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तथा ज्ञानात्मा—ये चार आत्मा हैं।

* यह मूर्तिपञ्जर-न्यास कहलाता है। इसका प्रयोग इस प्रकार है—

ललाटे—ॐ अम् केशवाय धात्रे नमः।
कुक्षौ—ॐ नम् आम् नारायणाय अर्यम्णे नमः।
हृदि—ॐ मोम् इम् माधवाय मित्राय नमः।
कण्ठकूपे—ॐ भम् ईम् गोविन्दाय वरुणाय नमः।
दक्षिणपार्श्वे—ॐ गम् उम् विष्णवे अंशवे नमः।
दक्षिणांसे—ॐ वम् ऊम् मधुसूदनाय भगाय नमः।
गलदक्षिणभागे—ॐ तेम् एम् त्रिविक्रमाय विवस्वते नमः।
वामपार्श्वे—ॐ वाम् ऐम् वामनाय इन्द्राय नमः।
वामांसे—ॐ सुम् ओम् श्रीधराय पूष्णे नमः।
गलवामभागे—ॐ देम् औम् हृषीकेशाय पर्जन्याय नमः।
पृष्ठे—ॐ वाम् अम् पद्मनाभाय त्वष्ट्रे नमः।
ककुदि—ॐ यम् अः दामोदराय विष्णवे नमः।

मन्त्रका सम्पूर्ण सिरमें न्यास करे। इसके बाद विद्वान् पुरुष किरीट मन्त्रके द्वारा 'व्यापक-न्यास' करे। किरीट मन्त्र प्रणवके अतिरिक्त पैंसठ अक्षरका बताया गया है—'ॐ किरीटकेयूरहारमकरकुण्डलशङ्खचक्रगदाम्भोजहस्तपीताम्बरधर-श्रीवत्साङ्कितवक्षःस्थलश्रीभूमिसहितस्वात्मज्योतिर्मयदीप्तकराय-सहस्रादित्यतेजसे नमः।' इस प्रकार न्यासविधि करके सर्वव्यापी भगवान् नारायणका ध्यान करे।

उद्यत्कोट्यर्कसदृशं शङ्खं चक्रं गदाम्बुजम्।
दधतं च करैर्भूमिश्रीभ्यां पार्श्वद्वयाञ्चितम्॥
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम्।
हारकेयूरवलयाङ्गदं पीताम्बरं स्मरेत्॥
(नारद० पू० तृ० ७०। ३२-३३)

'जिनकी दिव्य कान्ति उदय-कालके कोटि-कोटि सूर्योंके सदृश है, जो अपने चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और कमल धारण करते हैं, भूदेवी तथा श्रीदेवी जिनके उभय पार्श्वकी शोभा बढ़ा रही हैं, जिनका वक्षःस्थल श्रीवत्स-चिह्नसे सुशोभित है, जो अपने गलेमें चमकीली कौस्तुभमणि धारण करते हैं और हार, केयूर, वलय तथा अङ्गद आदि दिव्य आभूषण जिनके श्रीअङ्गोंमें सजकर धन्य हो रहे हैं, उन पीताम्बरधारी भगवान् विष्णुका चिन्तन करना चाहिये।'

इन्द्रियोंको वशमें रखकर मन्त्रमें जितने वर्ण हैं, उतने लाख मन्त्रका विधिवत् जप करे। प्रथम लाख मन्त्रके जपसे निश्चय ही आत्मशुद्धि होती है। दो लाख जप पूर्ण होनेपर साधकको मन्त्र-शुद्धि प्राप्त होती है। तीन लाखके जपसे साधक स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है। चार लाखके जपसे मनुष्य भगवान् विष्णुके समीप जाता है। पाँच लाखके जपसे निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। छः लाखके जपसे मन्त्र-साधककी बुद्धि भगवान् विष्णुमें स्थिर हो जाती है। सात लाखके जपसे मन्त्रोपासक श्रीविष्णुका सारूप्य प्राप्त कर लेता है। आठ लाखका जप पूर्ण कर लेनेपर मन्त्र-जप करनेवाला पुरुष निर्वाण (परम शान्ति एवं मोक्ष) को प्राप्त होता है। इस प्रकार जप करके विद्वान् पुरुष मधुरक्त कमलोंद्वारा मन्त्रसंस्कृत अग्निमें दशांश होम करे। मण्डूकसे लेकर परतत्त्वपर्यन्त सबका पीठपर यत्नपूर्वक पूजन करे। विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना तथा नवीं अनुग्रहा—ये नौ पीठशक्तियाँ हैं। (इन सबका पूजन करना चाहिये।)

इसके बाद 'ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगयोगपद्म-पीठाय नमः।'—यह छत्तीस अक्षरका पीठमन्त्र है। इससे भगवान्‌को आसन देना चाहिये। मूलमन्त्रसे मूर्ति-निर्माण कराकर उसमें भगवान्‌का आवाहन करके पूजा करे। पहले कमलके केसरोंमें मन्त्रसम्बन्धी छः अङ्गोंका पूजन करना चाहिये। इसके बाद अष्टदल कमलके पूर्व आदि दलोंमें क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धका और आग्नेय आदि कोणोंमें क्रमशः उनकी शक्तियोंका पूजन करे। उनके नाम इस प्रकार हैं—शान्ति, श्री, रति तथा सरस्वती। इनकी क्रमशः पूजा करनी चाहिये। वासुदेवकी अङ्गकान्ति सुवर्णके समान है। संकर्षण पीत वर्णके हैं। प्रद्युम्न तमालके समान श्याम और अनिरुद्ध इन्द्रनील मणिके सदृश हैं। ये सब-के-सब पीताम्बर धारण करते हैं। इनके चार भुजाएँ हैं। ये शङ्ख, चक्र, गदा और कमल धारण करनेवाले हैं। शान्तिका वर्ण श्वेत, श्रीका वर्ण सुवर्ण-गौर, सरस्वतीका रंग गोदुग्धके समान उज्ज्वल तथा रतिका वर्ण दूर्वादलके समान श्याम है। इस प्रकार ये सब शक्तियाँ हैं। कमलदलोंके अग्रभागमें चक्र, शङ्ख, गदा, कमल, कौस्तुभमणि, मुसल, खड्ग और वनमालाका क्रमशः पूजन करे। चक्रका रंग लाल, शङ्खका रंग चन्द्रमाके समान श्वेत, गदाका पीला, कमलका सुवर्णके समान, कौस्तुभका श्याम, मुसलका काला, तलवारका श्वेत और वनमालाका उज्ज्वल है। इनके बाह्यभागमें भगवान्‌के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हुए कुङ्कुम वर्णवाले पक्षिराज गरुड़का पूजन करे। तत्पश्चात् क्रमशः दक्षिण पार्श्वमें शङ्खनिधि और वाम पार्श्वमें पद्मनिधिकी पूजा करे। इनका वर्ण क्रमशः मोती और माणिक्यके समान है। पश्चिममें ध्वजकी पूजा करे। अग्निकोणमें रक्तवर्णके विघ्न (गणेश)का, नैर्ऋत्य-कोणमें श्याम वर्णवाले आर्यका, वायव्यकोणमें श्यामवर्णा दुर्गाका तथा ईशानकोणमें पीतवर्णके सेनानीका पूजन करना चाहिये। इनके बाह्यभागमें विद्वान् पुरुष इन्द्र आदि लोकपालोंका उनके आयुधोंसहित पूजन करे। जो इस प्रकार आवरणोंसहित अविनाशी भगवान् विष्णुका पूजन करता है, वह इस लोकमें सम्पूर्ण भोगोंका उपभोग करके अन्तमें भगवान् विष्णुके धामको जाता है। खेत, धान्य और

सुवर्णकी प्राप्तिके लिये धरणीदेवीका चिन्तन करे। उनकी कान्ति दूर्वादलके समान श्याम है और वे अपने हाथोंमें धानकी बाल लिये रहती हैं। देवाधिदेव भगवान्‌के दक्षिणभागमें पूर्ण चन्द्रमाके समान मुखवाली वीणा-पुस्तक-धारिणी सरस्वतीदेवीका चिन्तन करे। वे क्षीरसागरके फेन-पुञ्जकी भाँति उज्ज्वल दो वस्त्र धारण करती हैं। जो सरस्वतीदेवीके साथ परात्पर भगवान् विष्णुका ध्यान करता है, वह वेद और वेदाङ्गोंका तत्त्वज्ञ तथा सर्वज्ञोंमें श्रेष्ठ होता है।

जो प्रतिदिन प्रातःकाल पचीस बार (ॐ नमो नारायणाय) इस अष्टाक्षर मन्त्रका जप करके जल पीता है, वह सब पापोंसे मुक्त, ज्ञानवान् तथा नीरोग होता है। चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहणके समय उपवासपूर्वक ब्राह्मी घृतका स्पर्श करके उक्त मन्त्रका आठ हजार जप करनेके पश्चात् ग्रहण शुद्ध होनेपर श्रेष्ठ साधक उस घृतको पी ले। ऐसा करनेसे वह मेधा (धारणशक्ति), कवित्वशक्ति तथा वाक्सिद्धि प्राप्त कर लेता है। यह नारायणमन्त्र सब मन्त्रोंमें उत्तम-से-उत्तम है। नारद! यह सम्पूर्ण सिद्धियोंका घर है। अतः मैंने तुम्हें इसका उपदेश किया है। 'नारायणाय' पदके अन्तमें 'विद्महे' पदका उच्चारण करे। फिर 'ङे' विभक्त्यन्त 'वासुदेव' पद (वासुदेवाय) का उच्चारण करे, उसके बाद 'धीमहि'—यह पद बोले। अन्तमें 'तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' इन अक्षरोंका उच्चारण करे। यह (ॐ नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।) विष्णुगायत्री बतायी गयी है, जो सब पापोंका नाश करनेवाली है।

तार (ॐ), हृदय (नमः) भगवत् शब्दका चतुर्थी विभक्तिमें एकवचनान्त रूप (भगवते) तथा 'वासुदेवाय' यह द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) महामन्त्र कहा गया है, जो भोग और मोक्ष देनेवाला है। स्त्री और शूद्रोंको बिना प्रणवके यह मन्त्र जपना चाहिये और द्विजातियोंके लिये प्रणवसहित इसके जपका विधान है। इस मन्त्रके प्रजापति ऋषि, गायत्री छन्द, वासुदेव देवता, ॐ बीज और नमः शक्ति है। इस मन्त्रके एक, दो, चार और पाँच अक्षरों तथा सम्पूर्ण मन्त्रद्वारा पञ्चाङ्ग-न्यास करना चाहिये।

यहाँ भी पूर्वोक्तरूपसे ही ध्यान करना चाहिये। इस मन्त्रके बारह लाख जपका विधान है। घीसे सने हुए तिलसे जपके दशांशका हवन करना चाहिये। पूर्वोक्त पीठपर मूल-मन्त्रसे मूर्तिकी कल्पना करके मन्त्र-साधक उस मूर्तिमें देवेश्वर वासुदेवका आवाहन और पूजन करे। पहले अङ्गोंकी पूजा करके वासुदेव आदि व्यूहोंकी पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर शान्ति आदि शक्तियोंका पूजन करना उचित है। वासुदेव आदिका पूर्व आदि दिशाओंमें और शान्ति आदि शक्तियोंका अग्नि आदि कोणोंमें पूजन करना चाहिये। तृतीय आवरणमें केशवादि द्वादश मूर्तियोंकी पूजा बतायी गयी है। चतुर्थ और पञ्चम आवरणमें इन्द्रादि दिक्पालों और उनके आयुधोंकी पूजा करे। इनकी पूजाका स्थान भूपुर है। इस प्रकार पाँच आवरणोंसहित अविनाशी भगवान् विष्णुकी पूजा करके मनुष्य सम्पूर्ण मनोरथोंको पाता और अन्तमें भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है।

'क्लीं हृषीकेशाय नमः।'—यह अष्टाक्षर मन्त्र है। इसके ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द और हृषीकेश देवता हैं। सम्पूर्ण मनोरथोंकी प्राप्तिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। 'क्लीं' बीज है तथा 'आय' शक्ति कही गयी है। बीजमन्त्रसे ही षडङ्ग-न्यास करके ध्यान करे। अथवा पुरुषोत्तम मन्त्रके लिये कही हुई बातें इसके लिये भी समझनी चाहिये। इसका एक लाख जप तथा घृतसे दस हजार होम करे। सम्मोहिनी कुसुमोंसे तर्पण करना सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेवाला कहा गया है।

'श्रीं श्रीधराय त्रैलोक्यमोहनाय नमः'—यह चौदह अक्षरोंका मन्त्र है। इसके ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द, श्रीधर देवता, 'श्रीं' बीज और 'आय' शक्ति है। बीजसे ही षडङ्ग-न्यास करे। इसमें भी पुरुषोत्तम-मन्त्रकी ही भाँति ध्यान-पूजन आदि कहे गये हैं। एक लाख जप और घीसे ही दशांश होमका विधान है। सुगन्धित श्वेत पुष्पोंसे पूजा और होम आदि करे। विप्रेन्द्र! ऐसा करनेपर वह साक्षात् श्रीधर-स्वरूप हो जाता है।

'अच्युतानन्त गोविन्दाय नमः।' यह एक मन्त्र है और 'अच्युताय नमः', 'अनन्ताय नमः', 'गोविन्दाय नमः,' ये पृथक्-पृथक् तीन मन्त्र भी हैं। प्रथमके शौनक ऋषि और विराट् छन्द है। शेष तीन मन्त्रोंके क्रमशः पराशर, व्यास और नारद ऋषि हैं। छन्द इनका भी विराट् ही है। परब्रह्मस्वरूप श्रीहरि इन सब मन्त्रोंके देवता हैं। साधक इनके बीज और शक्ति भी पूर्वोक्त ही समझें।

ध्यान

शङ्खचक्रधरं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥
सर्वैरप्यायुधैर्युक्तं गरुडोपरि संस्थितम् ।
सनकादिमुनीन्द्रैस्तु सर्वदेवैरुपासितम् ॥
श्रीभूमिसहितं देवमुदयादित्यसंनिभम् ।
प्रातरुद्यत्सहस्रांशुमण्डलोपमकुण्डलम् ॥
सर्वलोकस्य रक्षार्थमनन्तं नित्यमेव हि ।
अभयं वरदं देवं प्रयच्छन्तं मुदान्वितम् ॥
(ना० पूर्व० ८१ । १२०–१२३)

'भगवान् अच्युत शङ्ख और चक्र धारण करते हैं। वे द्युतिमान् होनेसे 'देव' कहे गये हैं। उनके चार भुजाएँ हैं। वे किरीटसे सुशोभित हैं। उनके हाथोंमें सब प्रकारके आयुध हैं। वे गरुड़की पीठपर बैठे हैं। सनक आदि मुनीश्वर तथा सम्पूर्ण देवता उनकी उपासना करते हैं। उनके उभय पार्श्वमें श्रीदेवी तथा भूदेवी हैं। वे उदयकालीन सूर्यके समान तेजस्वी हैं। उनके कानोंके कमनीय कुण्डल प्रातःकाल उगते हुए सूर्यदेवके मण्डलके समान अरुण प्रकाशसे सुशोभित हैं। वे वरदायक देवता हैं, सदा परमानन्दसे परिपूर्ण रहते हैं और सम्पूर्ण विश्वकी रक्षाके लिये सदा ही सबको अभय प्रदान करते हैं। उनका कहीं किसी कालमें भी अन्त नहीं होता।'

इस प्रकार ध्यान करके एकाग्रचित्त हो वैष्णवपीठपर भगवान्‌की पूर्ववत् पूजा करे। इनका प्रथम आवरण अङ्गोंद्वारा सम्पन्न होता है। चक्र, शङ्ख, गदा, खड्ग, मुसल, धनुष, पाश तथा अङ्कुश इनसे द्वितीय आवरण बनता है। सनकादि चार महात्मा तथा पराशर, व्यास, नारद और शौनकसे तृतीय आवरण होता है। लोकपालोंद्वारा चौथा आवरण पूरा होता है। पाँचवें आवरणमें वज्र आदि आयुधोंकी पूजा होती है। इस मन्त्रका एक लाख जप और घृतसे दशांश हवन किया जाता है। इस प्रकार मन्त्र सिद्ध हो जानेपर मन्त्रोपासक कामनापूर्तिके लिये मन्त्रके प्रयोग भी कर सकता है। बेलके पेड़के नीचे उसकी जड़के समीप बैठकर देवेश्वर भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए रोगीका स्मरण करे और उसका स्पर्श करके दस हजार मन्त्र जपे। ब्रह्मन्! वह स्पर्श करके, जप करके अथवा साध्यका मन-ही-मन स्मरण करके या मण्डल बनाकर रोगियोंको रोगसे मुक्त कर सकता है।

भगवान् विष्णुके द्वादशाक्षर मन्त्रोपासनाकी एक विशेष विधि

(लेखक—पं० श्रीरमणलाल कृष्णराम शास्त्री, भागवतभूषण, साहित्यतीर्थ)

मन्त्रोंके अनुष्ठानमें प्रथम तत्तन्मन्त्रोंके विनियोगको पढ़कर भूमिपर जल गिराया जाता है। फिर उन-उन मन्त्रोंके न्यास-वाक्योंमेंसे एक-एकका उच्चारण कर, दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे क्रमशः उन-उन अङ्गोंका स्पर्श कर उनमें मन्त्रों (मन्त्रमय देवताओं) का न्यास किया जाता है; जिससे अनुष्ठान करनेवाला बाहर-भीतर शुद्ध एवं तत्तन्मन्त्रमय बनकर उन मन्त्रमय देवताओंद्वारा सर्वथा सुरक्षित हो जाता है; क्योंकि मन्त्र मूर्त एवं चेतन माने गये हैं। ऐसा करनेसे अनुष्ठान करनेवालोंको दिव्य शक्तिकी प्राप्ति होती है और उनका अनुष्ठान निर्विघ्न पूर्ण एवं सफल होता है।

अब द्वादशाक्षर विष्णुमन्त्रकी अनुष्ठान-विधि नीचे लिखी जाती है—

मन्त्र-स्वरूप—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।' यह द्वादशाक्षर मन्त्र है।

विनियोग—

अस्य श्रीद्वादशाक्षरमन्त्रस्य प्रजापतिर्ऋषिः, गायत्री छन्दः, वासुदेवः परमात्मा देवता, सर्वेष्टसिद्धये जपे विनियोगः।' इसे पढ़कर भूमिपर जल गिरा दे।

ऋष्यादि-न्यास—

ॐ प्रजापतिऋषये नमः, शिरसि। (इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे सिरका स्पर्श करे)

गायत्रीछन्दसे नमः, मुखे। (इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे मुखका स्पर्श करे)

वासुदेवः परमात्मा देवतायै नमः, हृदि। (पूर्ववत् हृदयका स्पर्श करे)

विनियोगाय नमः, सर्वाङ्गे। (दोनों हाथोंसे सिरसे लेकर पैरतक सर्वाङ्गोंका स्पर्श करे)

करन्यास—ॐ अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। (दोनों हाथोंकी तर्जनी अँगुलियोंसे दोनों अँगूठोंका स्पर्श)

नमः तर्जनीभ्यां नमः। (दोनों अँगूठोंसे दोनों तर्जनी अँगुलियोंका स्पर्श)

भगवते मध्यमाभ्यां नमः । (दोनों मध्यमा अँगुलियोंका स्पर्श)
वासुदेवाय अनामिकाभ्यां नमः । (दोनों अनामिका अँगुलियों-का स्पर्श)
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । (दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंका स्पर्श)

हृदयादि-पञ्चाङ्गन्यास—

ॐ हृदयाय नमः । (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे हृदयका स्पर्श)
नमः शिरसे स्वाहा । (,, ,, सिरका ,,)
भगवते शिखायै वषट् । (,, ,, शिखा ,,)
वासुदेवाय कवचाय हुम् । (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे बायें कंधेका एवं बायें हाथकी अँगुलियोंसे दाहिने कंधेका स्पर्श)

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय अस्त्राय फट् ।—(इस वाक्यको पढ़कर दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर ले आये और तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजा दे।)

मन्त्रवर्ण-न्यास—

इसमें क्रमशः मन्त्रके वर्णोंको पढ़कर उन-उन अङ्गोंका दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे स्पर्श करे।

ॐ ॐ नमः, मूर्ध्नि । ॐ नं नमः, भाले । ॐ मों नमः, नेत्रयोः । ॐ भं नमः, मुखे । ॐ गं नमः, गले । ॐ वं नमः, बाह्वोः । ॐ तें नमः, हृदये । ॐ वां नमः, कुक्षौ । ॐ सुं नमः, नाभौ । ॐ दें नमः, लिङ्गे । (हस्त प्रक्षालन कर) ॐ वां नमः, जान्वोः । ॐ यं नमः, पादयोः ।

अथ ध्यानम्—

विष्णुं शारदचन्द्रकोटिसदृशं शङ्खं रथाङ्गं गदा-
मम्भोजं दधतं सिताब्जनिलयं कान्त्या जगन्मोहनम् ।
आबद्धाङ्गदहारकुण्डलमहामौलिं स्फुरत्कङ्कणं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं वन्दे मुनीन्द्रैः स्तुतम् ॥

भावार्थ—हाथोंमें कोटिशरच्चन्द्रधवल शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म लिये, सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल, गलेमें हार एवं उदार कौस्तुभमणि, बाँहोंपर केयूर एवं कलाईपर चमचमाते करभूषण कङ्कण धारण किये, अपनी कमनीय कान्तिसे विश्वविमोहन करनेवाले, ऋषि-मुनि-अभिवन्दित, श्रीवत्साङ्क (परम महत्त्वद्योतक वक्षःस्थलपर श्वेत वामावर्त चिह्न-विशेष) श्वेत कमलनिवासी मुनीन्द्रोंके द्वारा संस्तुत भगवान् विष्णुका हम वन्दन करते हैं।)

इस प्रकार ध्यान कर सर्वतोभद्रमण्डलमें—**'मं मण्डूकादि-परतत्त्वान्तपीठदेवताभ्यो नमः'**—इस मन्त्रसे पीठस्थ देवताओंकी अच्छी तरह पूजा करके पीठस्थ शक्तियोंकी पूजा करे।

पूर्वादि दिशाओंके क्रमसे—

१–ॐ विमलायै नमः । २–ॐ उत्कर्षिण्यै नमः । ३–ॐ ज्ञानायै नमः । ४–ॐ क्रियायै नमः । ५–ॐ योगायै नमः । ६–ॐ प्रह्वयै नमः । ७–ॐ सत्यायै नमः । ८–ॐ ईशानायै नमः । मध्यमें ९–ॐ अनुग्रहायै नमः ।

इस तरह नौ पीठशक्ति देवताओंकी पूजा करे।

तदनन्तर सुवर्ण आदिसे निर्मित यन्त्रको अग्निपर चढ़ा और उतारकर **'ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगपीठात्मने नमः'**—इस मन्त्रसे पुष्प आदि आसन देकर पीठके मध्यमें संस्थापन कर पुनः ध्यान कर **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ।'**—इस मन्त्रसे मूर्तिकी भावना कर पाद्यसे लेकर पुष्पाञ्जलिपर्यन्त उपचारसे पूजन कर आवरण-पूजाके लिये उनसे आज्ञा प्राप्त करे। जैसे—

अञ्जलिमें पुष्प लेकर—

ॐ संविन्मय परो देव परामृतरसप्रिय ।
अनुज्ञां देहि मे विष्णो परिवारार्चनाय ते ॥

इस मन्त्रसे आज्ञा प्रदानके लिये प्रार्थना करते हुए पुष्पाञ्जलि दे। फिर आवरण-पूजा प्रारम्भ करे।

प्रथमावरण–१–(षट्कोणकेसरस्थ अग्निकोणमें) ॐ हृदयाय नमः । २–(नैर्ऋत्यमें) ॐ नमः शिरसे स्वाहा । ३–(वायव्यमें) भगवते शिखायै वषट् । ४–(ऐशान्यमें) ॐ वासुदेवाय कवचाय हुम् । ५–(देवताके पश्चिम भागमें) ॐ नमो भगवते वासुदेवाय अस्त्राय फट् । अञ्जलिमें पुष्प लेकर ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल । भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम् ॥ पूजिताः तर्पिताः सन्तु ।—ऐसा उच्चारण कर पुष्पाञ्जलि चढ़ाये। यह प्रथमावरणकी पूजा हुई।

द्वितीयावरण–पूज्य और पूजकके मध्य पूर्वदिशाकी भावना कर अष्टदलके पूर्वभागमें ६–वासुदेवाय नमः वासुदेव-

श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः। इस प्रकार सब जगह उच्चारण करे। ७–दक्षिणमें ॐ संकर्षणाय नमः। संकर्षणश्री०, ८–पश्चिममें प्रद्युम्नाय नमः, प्रद्युम्नश्री० ......९–उत्तरमें ॐ अनिरुद्धाय नमः। अनिरुद्धश्री० ......१०–अग्निकोणमें श्रीशान्त्यै नमः। शान्तिश्री० ....११–नैर्ऋत्यमें ॐ श्रियै नमः। श्रीश्री०...... १२–वायव्यमें ॐ सरस्वत्यै नमः। सरस्वतिश्री०........ १३–ऐशान्यमें ॐ रत्यै नमः। रतिश्री.............।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम्॥

पूजिताः तर्पिताः सन्तु। यह द्वितीयावरणकी पूजा है।

तृतीयावरण–पूर्वादि दिक् क्रमसे–

१४–ॐ ॐ केशवाय नमः। केशवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१५–ॐ नं नारायणाय नमः। नारायणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१६–ॐ मों माधवाय नमः। माधवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१७–ॐ भं गोविन्दाय नमः। गोविन्दश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१८–ॐ गं विष्णवे नमः। विष्णुश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१९–ॐ वं मधुसूदनाय नमः। मधुसूदनश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२०–ॐ तें त्रिविक्रमाय नमः। त्रिविक्रमश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२१–ॐ वां वामनाय नमः। वामनश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२२–ॐ सुं श्रीधराय नमः। श्रीधरश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२३–ॐ दें हृषीकेशाय नमः। हृषीकेशश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२४–ॐ वां पद्मनाभाय नमः। पद्मनाभश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२५–ॐ यं दामोदराय नमः। दामोदरश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं तृतीयावरणार्चनम्॥

पूजिताः तर्पिताः सन्तु–कहकर तृतीयावरणकी पूजा पूरी करे।

चतुर्थावरण–भूपुरमें पूर्वादि दिक् क्रमसे—(यन्त्रके प्रवेशद्वारको भूपुर कहते हैं)

२६–ॐ लं इन्द्राय नमः। इन्द्रश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२७–ॐ रं अग्नये नमः। अग्निश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२८–ॐ मं यमाय नमः। यमश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२९–ॐ क्षं निर्ऋतये नमः। निर्ऋतिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३०–ॐ वं वरुणाय नमः। वरुणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३१–ॐ यं वायवे नमः। वायुश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३२–ॐ कुं कुबेराय नमः। कुबेरश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३३–ॐ हं ईशानाय नमः। ईशानश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३४–इन्द्र और ईशानके मध्य—ॐ आं ब्रह्मणे नमः। ब्रह्मश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३५–वरुण और निर्ऋतिके बीच—ॐ ह्रीं अनन्ताय नमः। अनन्तश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं चतुर्थावरणार्चनम्॥

पूजिताः तर्पिताः सन्तु—यह कहकर चतुर्थावरणकी पूजा पूर्ण करे।

पञ्चमावरण–यन्त्रप्रवेशद्वार भूपुरसे बाहर पूर्वादि दिक् क्रमसे—

३६–ॐ वं वज्राय नमः। ३७–ॐ शं शक्तये नमः। ३८–ॐ दं दण्डाय नमः। ३९–ॐ खं खड्गाय नमः। ४०–ॐ पं पाशाय नमः। ४१–ॐ अं अङ्कुशाय नमः। ४२–ॐ गं गदायै नमः। ४३–ॐ त्रिं त्रिशूलाय नमः। ४४–ॐ पं पद्माय नमः। ४५–ॐ चं चक्राय नमः।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं पञ्चमावरणार्चनम्॥

पूजिताः तर्पिताः सन्तु—यह कहकर पञ्चमावरणकी पूजा समाप्त करे।

इस प्रकार आवरण-पूजा करके धूप आदिसे लेकर नमस्कारान्त भलीभाँति पूजन कर जप करना चाहिये। जप-संख्या बारह लाख है। (शतांश) बारह हजार होम एवं तत्तद् दशांशसे तर्पण-मार्जन, ब्राह्मणभोजन करना-कराना चाहिये। इस विधिसे मन्त्र-सिद्धि होती है।

वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं दीक्षितो विजितेन्द्रियः।
तत्सहस्रं प्रजुहुयात् तिलैराज्यपरिप्लुतैः॥
एवं सम्पूजितो विष्णुः प्रदद्यादिष्टमात्मनः।
पायसेन घृताक्तेन मन्त्रवर्णसहस्रकम्॥
जुहुयान्मानवः सिद्ध्यै समिद्भिः क्षीरभूरुहाम्।
तत्संख्यया पयोक्ताभिः सर्वपापविमुक्तये॥

भगवान् विष्णुकी मन्त्रदीक्षासे दीक्षित साधक समस्त इन्द्रियोंको वशमें करके मन्त्राक्षर (१२) समसंख्याकलक्ष अर्थात् बारह लाख मन्त्रोंका जप करे और घृतपरिप्लुत तिलसे बारह हजार हवन करे। इस प्रकार जप-हवन-पूजनसे प्रसन्न भगवान् विष्णु साधकको मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं। सिद्धि चाहनेवाला मानव घृत-मिश्रित-पायससे १२ हजार हवन करे तो सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है और पापसे छुटकारा चाहनेवाला दूधवाले वृक्षोंकी समिधाओंसे १२ हजार हवन कर सब प्रकारके पाप-तापसे विमुक्त हो जाता है।'



श्रीरामोपासना

(लेखक—श्रीजयनारायणलालजी, ऐडवोकेट)

'रामान्नास्ति परो देवः।'

'मङ्गलाचरण'

आपदामपहन्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

'सर्वविपत्तियोंके हरनेवाले, समग्र सम्पत्तियोंके देनेवाले, लोकको सुख देनेवाले श्रीरामजीको मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ।'

उपोद्घात

श्रीरामोपासनाका तात्त्विक तात्पर्य;—मार्मिक रहस्य युगलप्रिया-प्रीतम युगल-सरकार प्रकृति-पुरुष एवं शक्ति-शक्तिमान् श्रीसीतारामजीकी युगलोपासना है। उनकी उपलब्धि ही मानव-जीवनका चरम ध्येय है। रामनाम महामन्त्र है। राम परब्रह्म परमात्मा हैं। सगुण लीलाभेदसे राम दशरथके पुत्र हैं। श्रीसीताजी (भू देवी+लीलादेवी+श्री-देवी) उनकी आह्लादिनी शक्तिरूपा हैं। दोनोंमें अभेद है। दोनों एक तत्त्व हैं, लीलारूप दो हैं। उनकी युगल-उपासनाका विधान है। उपासनाकी पद्धति है। उनमें प्रीति-प्रतीति-सामर्थ्य उनके नामोंका महत्त्व और अर्थ सर्वप्रथम ज्ञेय वस्तु है।

श्रीरामोपासनाके दो प्रकार हैं—एक निर्गुण, द्वितीय सगुण। सगुणके दो भाव हैं—एक माधुर्य, दूसरा ऐश्वर्य। जो निर्गुण है, प्रेमवश वही सगुण होता है।

श्रीरामनाम महामन्त्र है, जिसको शंकरजी जपते हैं। 'राम' का अर्थ (महारामायणे)—

(१) 'रकारोऽनलबीजं स्याद् ये सर्वे वाडवादयः।'

'रकार अग्निका (जठराग्नि, बडवानल, दावानल) का मूल है। रकारसे मोहादि एवं शुभाशुभ कर्म भस्म होते हैं। अज्ञानता-पापादिका नाश होता है।'

(२) 'अकारो भानुबीजं स्याद् वेदशास्त्रप्रकाशकः।'

'अकार वेद-शास्त्रादिका प्रकाश करके अविद्याका नाश करता है।'

(३) 'मकारश्चन्द्रबीजं च सदम्बुपरिपूरणम्।'

'मकार त्रिताप हरकर शीतलता-शान्ति देता है।

पुनश्च—

रकारहेतुवैराग्यं परमं यच्च कथ्यते।
अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥

'रकार वैराग्यका कारण है, अकार ज्ञानका और मकार भक्तिका है अर्थात् रकार दिव्य रूपसे शब्दादि विषयोंसे

मनको हटाकर शुद्ध करता है।' भाव यह है कि रकार वैराग्य-द्वारा परलोकमें और अग्निद्वारा लोकमें पोषण करता है और अकार ज्ञानद्वारा परलोकमें और सूर्य प्रकाशद्वारा लोकको पालता है। उसी तरह मकार भी भक्तिद्वारा परलोकमें और चन्द्रमाद्वारा लोकमें पालन करता है। इस प्रकार श्रीरामनामसे लोकमें लाभ और परलोकमें निर्वाह होता है। 'लोक लाहु परलोक निबाहू।' (मानस) श्रीरामानुज स्वामीकृत अर्थ भी स्पष्ट है—

रकारार्थो रामः सगुणपरमैश्वर्यजलधि-
र्मकारार्थो जीवः सकलविधिकैङ्कर्यनिपुणः।
तयोर्मध्याकारो युगलमथ सम्बन्धमनयोः
....॥

'रकारका अर्थ सगुण राम है, जो ऐश्वर्यके समुद्र हैं। मकारका अर्थ जीव है, जो सब प्रकारकी सेवा करनेमें दक्ष है। दोनोंके बीचमें अकारसे सीताजी हैं जो दोनोंमें सम्बन्ध जोड़ती हैं।' शंकर भगवान् कहते हैं—

राम एवाभिजानाति कृत्स्नं रामार्थमद्भुतम्।
ईषद्वेद्मि च नामार्थं देवि तस्यानुकम्पया॥

'हे देवि! रामके अद्भुत अर्थको श्रीरामजी ही पूर्णरूपसे जानते हैं। कुछ-कुछ मैं उनकी कृपासे ही जानता हूँ।'

'जप'

रामनामका जप परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाणीद्वारा होता है। श्वासद्वारा तथा नाड़ीद्वारा भी जप होता है। नामाक्षरोंको मनमें कल्पना करके बार-बार पढ़ना और मूर्तिकल्पना करके उनपर नामाक्षरोंको गहनेकी तरह कल्पना कर उनकी आवृत्ति करना भी मानस-जपका एक प्रकार है। नाम-जपमें सबका अधिकार है। शुद्ध या अशुद्ध अवस्थामें बिना किसी विधि-विधानके भी नाम-जप हो सकता है।

राममन्त्रार्थ

रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च।
अन्तरात्मस्वरूपेण यच्च रामेति कथ्यते॥*

रामतारक रामषडक्षर मन्त्र छः अक्षरका होता है।

'रां रामाय नमः।'—षडक्षर मन्त्रराज मूलमन्त्र है।
'श्रीरामः शरणं मम।'—अष्टाक्षर शरणागति-मन्त्र है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

चरम मन्त्र है।

शरणं मम=श्रीरामजी मेरे उपाय, रक्षक हैं।

चरम मन्त्र रामवाक्य विभीषण-शरणागतिका है। इसका अर्थ है—

"जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं आपका हूँ' ऐसी याचना करता है, उसको मैं सबसे (जीवोंसे, ऋषि, पितृ-देवऋणाधिकारियोंसे, यमराजसे, ईश्वरसे भी) निर्भय कर देता हूँ, यही मेरी प्रतिज्ञा है।'

'राममन्त्रे स्थिता सीता सीतामन्त्रे रघूत्तमः'।

'राममन्त्रमें सीताजी हैं और सीतामन्त्रमें रामजी हैं।' 'श्रीं सीतायै स्वाहा।' सीतामन्त्रको राममन्त्रके साथ गुरुसे विनियोगादि जानकर प्रतिदिन कम-से-कम ६००० जप करे।

'श्रीराम जय राम जय जय राम।'

श्रियं रामं जय रामं द्विर्जयं राममीरयेत्।
त्रयोदशाक्षरो मन्त्रः सर्वसिद्धिकरः स्थितः॥

यह तेरह अक्षरका श्रीसीतारामजीका प्रसिद्ध सिद्ध मन्त्र है जिसको हनुमान्जी जपते हैं। श्रीसमर्थ रामदासजीने गोदावरीके तटपर जपकर इसे सिद्ध किया था। जप गुप्त होना चाहिये; किंतु संकीर्तन गगनभेदी उच्चस्वरमें हो।

श्रीरामजीका तत्त्वस्वरूप

श्रीरामजी परमात्मा परात्पर ब्रह्म हैं। प्रमाण—

१. राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्मतारकम्॥

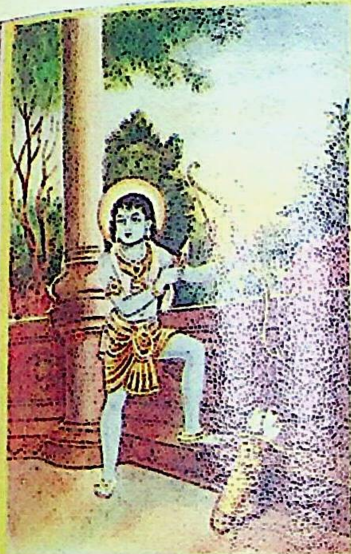
'राम ही परब्रह्म हैं, राम ही श्रेष्ठ तपस्या हैं, राम ही परतत्त्व हैं तथा श्रीराम ही ब्रह्मतारक हैं।'

२. रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥

'जिस अनन्त सत्+चित्+आनन्द परमात्मामें योगी लोग रमण करते हैं, जिसका ध्यान धरते हैं, वही परब्रह्म परमात्मा रामनामसे विख्यात है।'

* जो सब जीवोंमें चल-अचलमें अन्तर्यामीरूपसे व्याप्त है उसको राम कहते हैं।

भगवान् श्रीरामके तीन लीला-रूप



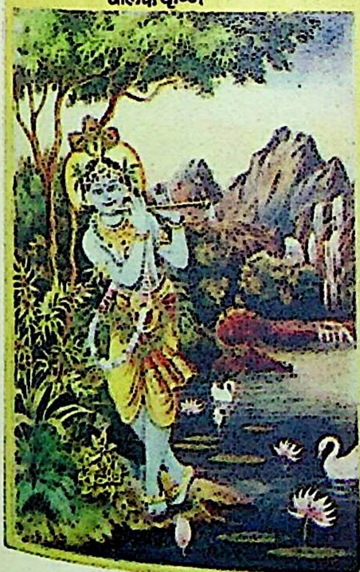




बालक राम
बालक कृष्ण

तरुण राम
तरुण कृष्ण

वीर राम
वीर कृष्ण







भगवान् श्रीकृष्णके तीन लीला-रूप

३. 'राम त्वं परमात्मासि सच्चिदानन्दविग्रहः ।'

(अद्भुतरामायणे)

'राम ! आप परमात्मा सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं ।'

४. 'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना ।' (मानस)

'संसार जानता है कि व्यापक ब्रह्म राम हैं ।'

५. 'परमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव ।' (अथर्वणोत्तरार्ध)

'परमात्मा परब्रह्म दशरथ राजाके पुत्र राम हुए ।'

६. 'परमात्मा श्रीरामो दाशरथिः स्वराट् ।'

'परमात्मा ही राजा दशरथके पुत्र राम चक्रवर्ती हुए ।'

७. 'अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघवः' । (वाल्मीकि)

८. 'परमातमा ब्रह्म नर रूपा । होइहिं रघुकुलभूषन भूपा ॥'

'परमात्मा परब्रह्म मनुष्यरूप धारण करके रघुकुलभूषण राजा होंगे ।'

९. 'इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः ।'

'इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राम जिनका नाम है; वही वेद-वेदान्तवेद्य पुरुषोत्तम तत्त्व हैं ।'

उपर्युक्त रामो नाम जनैः श्रुतः-का भाव है—परतत्त्वका नाम श्रीराम है । इक्ष्वाकुवंशसे 'माधुर्य' और 'जनैः श्रुतः' से ऐश्वर्यका बोध है । अहल्योद्धार, यज्ञरक्षण, धनुर्भङ्ग आदि ऐश्वर्य हैं ।

उपासना

'उपासना'का शाब्दिक अर्थ—ईश्वरकी संनिधिमें बैठना है ।

'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म स्वरूपा ।'

ब्रह्मके दो रूप हैं । रामजीके दो रूप हैं । जो निर्गुणरूप है—वह अव्यक्त, अमूर्त्त, अन्तर्यामीस्वरूप है और गुणोंसे रहित निर्गुण है । प्राकृत गुणोंसे रहित होना ही निर्गुणत्व है । निराकारसे प्राकृत आकारका निषेध है । सगुणरूप व्यक्त, मूर्त्त (पर, व्यूह, विभव, अर्चास्वरूप), अनन्त परम श्रेष्ठ गुणोंसे अलंकृत है । यथा सौलभ्य, वात्सल्य, सौजन्य, सौशील्य, औदार्य, आर्जव, कारुण्य, सौन्दर्य, माधुर्य, शौर्य, दया, क्षमा इत्यादि-इत्यादि ।

अगुन अरूप अलख अज जोई ।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई ॥

(मानस, बाल०)

'जो ब्रह्म गुणरहित, रूपरहित, दृश्यरहित, जन्मरहित है—वही भक्तोंके प्रेमवश होकर सगुण होता है । अगुण-सगुणमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है ।

'अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा ॥' (मानस, बाल०)

सगुणोपासना

'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ।'

(राम० पूर्व० १ । ७)

जो ब्रह्म अगुण, अगोचर, निरवयव, निष्क्रिय, अजन्मा, अरूप है और वही भक्तोंके भजनके लिये ही स्वयं सगुण, गोचर, स्वरूपतः सावयव, क्रियावान्, जायमान और रूपवान् हो जाता है । जो ब्रह्माण्ड ईश्वरके उदरमें स्थित है, उसीमें अवतार लेकर वह ऐसी सरस, दिव्य सगुण लीलाएँ करता है, जिनका भक्तोंको अनुभव होता है और जिनको गा-गाकर भक्त भगवत्प्राप्ति करते हैं ।

उभयविभूति-नायक, अखिल अनन्त ब्रह्माण्डाधिपति, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ, षडैश्वर्यसम्पन्न, सर्वोपासित, सकल-कल्याण-गुणगणोपेत, ऐश्वर्य-माधुर्य-लावण्य-सौन्दर्य-सुधा-सिन्धु, निखिल कल्याणाकर, लीला-वपुधारी, साकेतविहारी, भक्तभयहारी, धनुर्धारी, मर्यादापुरुषोत्तम राजराजेश्वर महाराजाधिराज राघवेन्द्र रामभद्रजूका सगुण लीलाचरित्र श्रवणीय और अनुकरणीय दोनों है । उनकी उपासनामें ही अन्य सभी उपासनाएँ अन्तर्हित हैं । कठोर कराल कलिकालका करणीय कर्तव्य एकमात्र श्रीरामोपासना ही है । श्रीरामजी सुलभ, सुगमतम उपास्यदेव हैं । उनकी अनन्योपासना सर्वतः वाञ्छनीय, उपादेय, उपयुक्त तथा आवश्यक है । अनन्योपासक रामभक्त मुक्तिका निरादर करके भक्तिको ही सर्वथा अपनाते हैं ।

'मुकुति निरादरि भगति लुभाने ।' 'दसरथ भेद भगति बर मागा ।'

(मानस०)

सेवक-सेव्य-भाव उनकी सगुणोपासनाका परम स्वरूप है । सेवक भक्त कभी भी 'विलयरूप' सायुज्य-मुक्ति देनेपर भी नहीं लेते, नहीं चाहते हैं—

'दीयमानं न गृह्णन्ति ।' (भागवत)

सगुण उपासनाकी विधियाँ

(१) श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, धाम—चारोंकी उपासना विधेय है । चारों रामजीकी मूर्त्ति ही हैं—

'रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम् ।'

नाम

श्रीरामजीके नामका अर्थ, रूपका ध्यान, चरितका चिन्तन, धामका मानस-चिन्तन करते हुए नामका रटन, नाममें रमण, नामका जप करना चाहिये । नाम-जपमें रोमाञ्च हो जाना, कण्ठ रुँध जाना और प्रेमाश्रुपात होना शुभ लक्षण हैं—

'गद्‌गद गिरा नयन बह नीरू। नाम जीह जप पुलक सरीरू॥

यह है भरतलालजीकी अवस्था। श्रीहनुमान्‌जी तो रोम-रोमसे सदा नाम-जप-स्मरण करते रहते हैं। नौ करोड़, नौ लाख, नौ हजार, नौ सौ, नौका एक 'नौका जप' होता है। नाभिकी परवाणीसे योगियोंका अजपा परा जप, हृदयसे अपरा, कण्ठसे मध्यमा और जिह्वा, दाँत, ओठसे वैखरी जपकी रीति है।

स्वास स्वासमें नाम जपु, खाली स्वास न जाय।
ना जाने यहि स्वासका, आवन कब रुक जाय॥

'प्रत्येक श्वासमें नाम-जप हो। पता नहीं, इस श्वासका आना कब रुक जाय यानी कब मृत्यु हो जाय।'

रूप

कोटि-कोटि कंदर्प-दर्प-दमनीय, परम कमनीय किशोर-मूर्त्ति, षोडशवर्षीय, द्विभुज, धनुर्बाणधारी, नवकञ्जलोचन-कञ्जमुख-करकञ्ज-पदकञ्जारुण, कञ्जवदन भगवान् रामका सीताजीसहित ध्यान करे। रामविग्रहमें पाँच कमल-स्थानोंकी उपमा देकर जनाया गया कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उनको विषयोंसे हटाकर रामजीको ही उनका विषय बना ले तो पाँचों प्रकारके वैषयिक उपद्रवोंसे रक्षा हो जाती है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दसे कोई बाधा नहीं होती।

लीला

रामयश-लीला सुधा-सलिल-सरिता है। उनकी कथाका श्रवण तथा कथनके अतिरिक्त दूसरी वार्ता ही न हो।

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं॥

—की व्यवस्था रहनी चाहिये।

धाम

अयोध्या, मिथिला, चित्रकूटादि दिव्य भगवद्धामोंमें निवास सर्वतः श्रेयस्कर है।

(२) पञ्च-संस्कारकी प्राप्ति—मन्त्रसंस्कार, नाम-संस्कार, माला-संस्कार, ऊर्ध्व-संस्कार और मुद्रा-संस्कार। अर्थात् मन्त्रदीक्षा लेना, नवीन भगवत्सम्बन्धी नामग्रहण करना, कण्ठमें माला (भागवती) धारण करना, वैष्णव तिलक धारण करना, धनुष-बाणका छाप लेना और गुरुसे सम्बन्ध-प्राप्ति करना।

(३) सम्बन्ध—रामजीसे नाता जोड़ना—इसके पाँच प्रकार हैं—

क. शान्तभाव—ऋषियों-मुनियोंकी भाँति शम-दमपूर्वक भगवान्‌का आराधन करना।

ख. दास्यभाव—रामजीका अनन्य सेवक होकर अष्टयाम सेवा-पूजा करना।

ग. सख्यभाव—मित्रभाव—सुग्रीव, उद्धव, अर्जुनादि इसके आदर्श हैं।

घ. वात्सल्यभाव—रामजीके साथ पुत्र या शिष्य भावना रखना। कौसल्या-दशरथ, वसिष्ठ-विश्वामित्रकी भाँति।

ङ. शृंगारभाव—रामजीको पति मानना—गोपिकाओंकी भाँति।

(४) मानसिक-ध्यान—ध्यान मानस-पूजा दासभावमें नखसे शिख, वात्सल्यमें सिरसे पैर, शृङ्गारमें मुखसे कटि और सख्यमें कटिसे मुखतक ध्यान करना। दोमें पूर्णतया तथा दोमें अर्द्ध-अङ्गका ध्यान है।

(क) अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यगे।
ध्यायेत् कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनं शुभम्॥
तस्योपरि समासीनं रघुराजं मनोहरम्।
ध्यायेत् कमलपत्राक्षं जानकीसहितं हरिम्॥

'सुन्दर अयोध्या-नगरमें रत्नमण्डपके बीच कल्पवृक्षके नीचे रत्नसिंहासनपर सुन्दर कमलनयन श्रीरघुनाथजी श्रीजानकीजी-के साथ विराजमान हैं। ऐसा भगवान्‌का ध्यान करे।'

(ख) वामे भूमिसुता पुरस्तु हनुमान् पश्चात् सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वग्निकोणादिषु।
सुग्रीवश्च बिभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम्॥

'जिनके बायीं ओर सीताजी, आगे हनुमान्‌जी, पीछे लक्ष्मणजी, दोनों पार्श्वमें भरत-शत्रुघ्न, चारों कोणोंपर चार पार्षद-

सुग्रीव, विभीषण, अंगद और जाम्बवन्तजी सुशोभित हैं। ऐसे नीलकमल-कोमल श्याममूर्ति रामजी बीचमें विराजमान हैं। यों ध्यान करे।'

(५) जीव-सेवा-संत-सेवा—दीनजनकी सहायता, सत्संग, स्वाध्याय–रामचरितमानसका नित्यप्रति पाठ, रामरक्षा-स्तोत्र, रामस्तवराज, हनुमानचालीसा आदिका पाठ, नवधा-भक्ति, प्रेमलक्षणा भक्ति तथा पराभक्तिका अभ्यास, उनमें संलग्न हो जाना समभाव तथा समदृष्टि रखना है।

(६) अर्थपञ्चकका ज्ञान—परस्वरूप, स्वस्वरूप, विरोधीस्वरूप, उपायस्वरूप तथा फलस्वरूपका अनुसंधान करना।

युगलोपासना

वस्तुतः श्रीरामोपासनाका तात्त्विक अभिप्राय श्रीयुगलप्रिया-प्रियतमकी उपासनासे है। एकके बिना दूसरेकी नहीं।

१. 'द्वौ च नित्यं द्विधारूपं तत्त्वतो नित्यमेकता।'
'दोनों नित्य दो रूप हैं, किंतु तत्त्वतः नित्य एक ही हैं।'

२. 'श्रीसीतारामनाम्नस्तु सदैक्यं नास्ति संशयम्।
इति ज्ञात्वा जपते यः स धन्यो भावनां नरः॥'

'श्रीसीतारामके नाममें सदा ही एकता है, इसमें कोई संदेह नहीं, यह जानकर इस भावनासे भजनेवाला मनुष्य धन्य है।'

३. श्रीसीतां विना भजेद् रामं सीतां रामं विना भजेत्।
कल्पकोटिसहस्रैस्तु लभते न प्रसन्नताम्॥

'बिना सीताके रामको भजनेसे और बिना रामके सीताको भजनेसे करोड़ों कल्पतक उनकी प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती।'

४. सीतया सहितं यत्र रामनामप्रकीर्तनम्।
न तत्र नामदोषाणां प्रवृत्तिः स्यात् कथंचन॥

'सीताके साथ जहाँपर रामका कीर्तन होता है, वहाँ नामके दस अपराधोंसे रक्षा हो जाती है—कभी अपराध नहीं लगता।'

५. वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने संस्थितम्।

'कल्पवृक्षके नीचे, सुवर्णमण्डपमें पुष्पोंपर, मणिमय आसन-पर वीरासनमें बैठे श्रीसीताजीके साथ ध्यान करे।'

६. आदौ सीतापदं पुण्यं परमानन्ददायकम्।
पश्चात् श्रीरामनाम्नस्तु कथनं सम्प्रशस्यते॥

'आरम्भमें सीता शब्द आनन्ददाता पुण्यमय है, पीछे रामका नाम कथन प्रशस्त है।'

७. जनकललीके पद बिना, जो सुमिरत रघुबीर।
राम भ्रमर आवत नहीं, कबहूँ वाके तीर॥

८. गिरा अरथ जल बीचि सम, कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

'श्रीजानकीजीके बिना जो श्रीरामजीका स्मरण करता है, वहाँ श्रीरामरूपी भ्रमरका आगमन नहीं होता।'

'शब्द और उसका अर्थ, जल और उसकी तरङ्ग देखनेमें पृथक् प्रतीत होते हैं किंतु पृथक् हैं नहीं, इसी प्रकारसे सीता और राम दोनों अभिन्न हैं। उनको दीनजन प्रिय हैं, मैं उन्हें वन्दना करता हूँ।'

निर्गुणोपासना

राम सोपाधि निर्गुण ब्रह्म हैं। प्रह्लादने नामजपसे निर्गुणको सगुण किया और अनेकानेक कष्टोपरान्त पितासे कहा—

रामनाम जपतां कुतो भयं
सर्वपापशमनैकमेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसंनिधौ
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

'रामनाम जपनेवालेको कहीं डर नहीं है। रामनाम सब पापोंके नाशके लिये एक अचूक दवा है। देखिये पिताजी! मेरे शरीरके समीप अग्नि भी इस समय जल हो गयी है।' यह है रामनाम-जपका महत्त्व। गुरु नानकदेवने मसजिदका दरवाजा फेर दिया और कबीरने तो कमाल किया, हर जगह बाजी मारी। वास्तवमें कबीरके राम निर्गुण-सगुणकी संधि हैं। कबीरका भाव त्रिविध है—शृङ्गारभाव, दास्यभाव और सख्यभाव तीनोंका सम्मिश्रण है।

(१) दास्यभाव—साईंसे सब होत हैं, बंदासे कछु नाहिं।
राईसे पर्वत करै, पर्वत राई माँहिं॥

(२) शृङ्गार—हरि मेरा पीव, मैं रामकी बहुरिया।

उपसंहार

१—युधिष्ठिरके प्रश्नपर व्यासजीने उत्तर दिया।

प्र०—किं तत्त्वं किं वरं जाप्यं किं ध्यानं मुक्तिसाधनम्।

उ०—श्रीरामेति वरं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।
ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदो विदुः॥

'श्रीरामजी सबसे अधिक जपनीय ब्रह्मतारक हैं। ब्रह्म-हत्यादिके नाशक हैं, ऐसा वेदज्ञ पण्डित जानते हैं।'

२–अपवादरूपमें रामदासोंकी प्रारब्ध-बाधासे रक्षा होती है।

यद्धात्रा लिखितं भाले तन्मृषो नैव जायते।
ऋते श्रीरामदासानां प्रेमनिर्भरचेतसाम्॥

३–लोकाभिरामं रणरङ्गधीरं राजीवनेत्रं रघुवंशनाथम्।
कारुण्यरूपं करुणाकरं तं श्रीरामचन्द्रं शरणं प्रपद्ये॥
(श्रीरामरक्षास्तोत्र)

'मैं लोकसुखदाता सुन्दर, रणरङ्गधीर, कमलनेत्र, रघुवंशशिरोमणि, करुणास्वरूप, करुणाकी खान श्रीरामजीकी शरण हूँ।'

भगवान् श्रीराम-सम्बन्धी कुछ मन्त्र और संक्षिप्त अनुष्ठान-विधि

सनत्कुमारजी कहते हैं—नारद! अब भगवान् श्रीरामके मन्त्र बताये जाते हैं, जो सिद्धि प्रदान करनेवाले हैं और जिनकी उपासनासे मनुष्य भवसागरके पार हो जाते हैं। सब उत्तम मन्त्रोंमें वैष्णव-मन्त्र श्रेष्ठ बताया जाता है। गणेश, सूर्य, दुर्गा और शिव-सम्बन्धी मन्त्रोंकी अपेक्षा वैष्णव-मन्त्र शीघ्र अभीष्ट सिद्ध करनेवाला है। वैष्णव-मन्त्रोंमें भी राम-मन्त्रोंके फल अधिक हैं। गणपति आदि मन्त्रोंकी अपेक्षा राममन्त्र कोटि-कोटि गुने अधिक महत्त्व रखते हैं। विष्णु-शय्या (आ) के ऊपर विराजमान अग्नि (र) का मस्तक यदि चन्द्रमा (अनुस्वार) से विभूषित हो और उसके आगे 'रामाय नमः'–ये दो पद हों तो यह 'रां रामाय नमः'—मन्त्र महान् पापोंकी राशिका नाश करनेवाला है। श्रीराम-सम्बन्धी सम्पूर्ण मन्त्रोंमें यह षडक्षर मन्त्र अत्यन्त श्रेष्ठ है। जानकर और बिना जाने किये हुए महापातक एवं उपपातक सब इस मन्त्रके उच्चारणमात्रसे तत्काल नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है। इस मन्त्रके ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द, श्रीराम देवता, रां बीज और नमः शक्ति है। सम्पूर्ण मनोरथोंकी प्राप्तिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। छः दीर्घस्वरोंसे युक्त बीजमन्त्रद्वारा षडङ्गन्यास करे। फिर पीठन्यास आदि करके हृदयमें श्रीरघुनाथजीका इस प्रकार ध्यान करे—

ध्यान

कालाम्भोधरकान्तं च वीरासनसमास्थितम्।
ज्ञानमुद्रां दक्षहस्ते दधतं जानुनीतरम्॥
सरोरुहकरां सीतां विद्युदाभां च पार्श्वगाम्।
पश्यन्तीं रामवक्त्राब्जं विविधाकल्पभूषिताम्॥
(ना० पूर्व० ७३। १०–१२)

'भगवान् श्रीरामकी अङ्गकान्ति मेघकी काली घटाके समान श्याम है। वे वीरासन लगाकर बैठे हैं। दाहिने हाथमें ज्ञानमुद्रा धारण करके उन्होंने अपने बायें हाथको बायें घुटनेपर रख छोड़ा है। उनके वामपार्श्वमें विद्युत्के समान कान्तिमती और नाना प्रकारके वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सीतादेवी विराजमान हैं। उनके हाथमें कमल है और वे अपने प्राणवल्लभ श्रीरामचन्द्रजीका मुखारविन्द निहार रही हैं।'

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रोपासक छः लाख जप करे और कमलोंद्वारा प्रज्वलित अग्निमें दशांश होम करे। तत्पश्चात् ब्राह्मण-भोजन करावे। मूलमन्त्रसे इष्टदेवकी मूर्ति बनाकर, उसमें भगवान्का आवाहन और प्रतिष्ठा करके साधक विमलादि शक्तियोंसे संयुक्त वैष्णवपीठपर उनकी पूजा करे। भगवान् श्रीरामके वामभागमें बैठी हुई सीतादेवीकी उन्हींके मन्त्रसे पूजा करनी चाहिये। 'श्रीसीतायै स्वाहा।'—यह जानकी-मन्त्र है। भगवान् श्रीरामके अग्रभागमें शार्ङ्ग-धनुषकी पूजा करके दोनों पार्श्वभागोंमें बाणोंकी अर्चना करे। केसरोंमें छः अङ्गोंकी पूजा करके दलोंमें हनुमान् आदिकी अर्चना करे। हनुमान्, सुग्रीव, भरत, विभीषण, लक्ष्मण, अङ्गद, शत्रुघ्न तथा जाम्बवान्—इनका क्रमशः पूजन करना चाहिये। हनुमान्जी भगवान्के आगे पुस्तक लेकर बाँच रहे हैं। श्रीरामके दोनों पार्श्वमें भरत और शत्रुघ्न चँवर लेकर खड़े हैं। लक्ष्मणजी पीछे खड़े होकर दोनों हाथोंसे भगवान्के ऊपर छत्र लगाये हुए हैं। इस प्रकार ध्यानपूर्वक उन सबकी पूजा करनी चाहिये। तदनन्तर अष्टदलोंके अग्रभागमें सृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रपाल (अथवा राष्ट्रवर्धन), अकोप, धर्मपाल तथा सुमन्त्रकी पूजा करके उनके बाह्यभागमें इन्द्र आदि देवताओंका आयुधोंसहित पूजन करे। इस प्रकार भगवान् श्रीरामकी आराधना करके मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। घृताक्त शतपर्वोंसे आहुति करनेवाला पुरुष दीर्घायु तथा नीरोग होता है। लाल कमलोंके होमसे मनोवाञ्छित धन प्राप्त होता है। पलाशके फूलोंसे

हवन करके मनुष्य मेधावी होता है। जो प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्वोक्त षडक्षरमन्त्रसे अभिमन्त्रित जल पीता है, वह एक वर्षमें कविसम्राट् हो जाता है। श्रीराममन्त्रसे अभिमन्त्रित अन्न भोजन करे। इससे बड़े-बड़े रोग शान्त हो जाते हैं। रोगके लिये बतायी हुई ओषधिका उक्त मन्त्रद्वारा हवन करनेसे मनुष्य क्षणभरमें रोगमुक्त हो जाता है। प्रतिदिन दूध पीकर नदीके तटपर या गोशालामें एक लाख जप करे और घृतयुक्त खीरसे आहुति दे तो मनुष्य विद्यानिधि होता है। जिसका आधिपत्य (प्रभुत्व) नष्ट हो गया है, ऐसा मनुष्य यदि शाकाहारी होकर जलके भीतर एक लाख जप करे और बेलके फूलोंकी दशांश आहुति दे तो उसी समय वह अपनी खोयी हुई प्रभुता पुनः प्राप्त कर लेता है; इसमें संशय नहीं है। गङ्गातटके समीप उपवासपूर्वक रहकर मनुष्य यदि एक लाख जप करे और त्रिमधुयुक्त कमलों अथवा बेलके फूलोंसे दशांश आहुति दें, तो राज्यलक्ष्मी प्राप्त कर लेता है। मार्गशीर्षमासमें कन्द-मूल-फलके आहारपर रहकर जलमें खड़ा हो एक लाख जप करे और प्रज्वलित अग्निमें खीरसे दशांश होम करे, तो उस मनुष्यको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान पुत्र एवं पौत्र प्राप्त होता है।

इस मन्त्रराजके और भी बहुतसे प्रयोग हैं। पहले षट्कोण बनावे। उसके बाह्यभागमें अष्टदल कमल अङ्कित करे। उसके भी बाह्यभागमें द्वादशदल कमल लिखे। छः कोणोंमें विद्वान् पुरुष मन्त्रके छः अक्षरोंका उल्लेख करे। अष्टदल कमलमें भी प्रणवसम्पुटित उक्त मन्त्रके आठ अक्षरोंका उल्लेख करे। द्वादशदल कमलमें कामबीज (क्लीं) लिखे। मध्यभागमें मन्त्रसे आवृत नामका उल्लेख करे। बाह्यभागमें सुदर्शनमन्त्रसे और दिशाओंमें युग्मबीज (रां श्रीं) से यन्त्रको आवृत करे। उसका भूपुर वज्रसे सुशोभित हो। कोण कन्दर्प, अङ्कुश, पाश और भूमिसे सुशोभित हो। यह यन्त्रराज माना गया है। भोजपत्रपर अष्टगन्धसे ऊपर बताये अनुसार यन्त्र लिखकर छः कोणोंके ऊपर दलोंका आवेष्टन रहे। अष्टदलकमलके केसरोंमें विद्वान् पुरुष युग्म-बीजसे आवृत दो-दो स्वरोंका उल्लेख करे। यन्त्र-के बाह्य भागमें मातृकावर्णोंका उल्लेख करे। साथ ही प्राण-प्रतिष्ठाका मन्त्र भी लिखे। मन्त्रोपासक किसी शुभ दिनको कण्ठमें, दाहिनी भुजामें अथवा मस्तकपर इस यन्त्रको धारण करे। इससे वह सम्पूर्ण पातकोंसे मुक्त हो जाता है। स्व-बीज (रां), काम (क्लीं), सत्य (ह्रीं), वाक् (ऐं), लक्ष्मी (श्रीं), तार (ॐ)—इन छः प्रकारके बीजोंसे पृथक्-पृथक् जुड़नेपर पाँच वर्णोंका 'रामाय नमः' मन्त्र छः भेदोंसे युक्त षडक्षर होता है। (यथा—'रां रामाय नमः, 'क्लीं रामाय नमः' 'ह्रीं रामाय नमः' 'ऐं रामाय नमः', 'श्रीं रामाय नमः' और 'ॐ रामाय नमः') यह छः प्रकारका षडक्षर मन्त्र धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों फलोंको देनेवाला है। इन छहोंके क्रमशः ब्रह्मा, सम्मोहन, सत्य, दक्षिणामूर्ति, अगस्त्य तथा श्रीशिव—ये ऋषि बताये गये हैं अथवा क्लीं आदिके विश्वामित्र मुनि माने गये हैं। इनका छन्द गायत्री है। देवता श्रीरामचन्द्रजी हैं। आदिमें लगे हुए रां, क्लीं आदि बीज हैं और अन्तिम 'नमः' पद शक्ति है। मन्त्रके छः अक्षरोंसे षडङ्गन्यास करना चाहिये अथवा छः दीर्घ स्वरोंसे युक्त बीजाक्षरोंद्वारा न्यास करे। मन्त्रके अक्षरोंका पूर्ववत् न्यास करना चाहिये।

ध्यान

ध्यायेत्कल्पतरोर्मूले सुवर्णमयमण्डपे।
पुष्पकाख्यविमानान्तः सिंहासनपरिच्छदे॥
पद्मे वसुदले देवमिन्द्रनीलसमप्रभम्।
वीरासनसमासीनं ज्ञानमुद्रोपशोभितम्॥
वामोरुन्यस्ततद्धस्तं सीतालक्ष्मणसेवितम्।
रत्नाकल्पं विभुं ध्यात्वा वर्णलक्षं जपेन्मनुम्॥
यद्वा स्मरादिमन्त्राणां जयाभं च हरिं स्मरेत्।

(ना० पू० ७३। ५९-६२)

भगवान्‌का इस प्रकार ध्यान करे—'कल्पवृक्षके नीचे एक सुवर्णका विशाल मण्डप बना हुआ है। उसके भीतर पुष्पक विमान है। उस विमानमें एक दिव्य सिंहासन बिछा हुआ है। उसपर अष्टदल कमलका आसन है, जिसके ऊपर इन्द्रनीलमणिके समान श्याम कान्तिवाले भगवान् श्रीरामचन्द्र वीरासनसे बैठे हुए हैं। उनका दाहिना हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है और बायें हाथको उन्होंने बायीं जाँघपर रख छोड़ा है। भगवती सीता तथा सेवाव्रती लक्ष्मण उनकी सेवामें जुटे हुए हैं। वे सर्वव्यापी भगवान् रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित हैं। इस प्रकार ध्यान करके छः अक्षरोंकी संख्याके अनुसार छः लाख मन्त्र-जप करे अथवा 'क्लीं' आदिसे युक्त मन्त्रोंके साधनमें जयाभ श्रीहरिका चिन्तन करे।'

पूजन तथा लौकिक प्रयोग सब पूर्वोक्त षडक्षर मन्त्रके

ही समान करने चाहिये। 'ॐ रामचन्द्राय नमः।' 'ॐ रामभद्राय नमः।'—ये दो अष्टाक्षर मन्त्र हैं। इनके अन्तमें भी 'ॐ' जोड़ दिया जाय तो ये नवाक्षर हो जाते हैं। इनका सब पूजनादि कर्म मन्त्रोपासक षडक्षर मन्त्रकी ही भाँति करे। 'हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा।' यह दस अक्षरोंवाला महामन्त्र है। इसके वसिष्ठ ऋषि, स्वराट् छन्द, सीतापति देवता, 'हुं' बीज तथा 'स्वाहा' शक्ति है। (इन सबका यथास्थान न्यास करना चाहिये।) 'क्लीं' बीजसे क्रमशः षडङ्गन्यास करे। मन्त्रके दस अक्षरोंका क्रमशः मस्तक, ललाट, भ्रूमध्य, तालु, कण्ठ, हृदय, नाभि, ऊरु, जानु और चरण—इन दस अङ्गोंमें न्यास करे।

ध्यान

अयोध्यानगरे रत्नचित्रसौवर्णमण्डपे।
मन्दारपुष्पैराबद्धविताने तोरणान्विते॥
सिंहासनसमासीनं पुष्पकोपरि राघवम्।
रक्षोभिर्हरिभिर्देवैः सुविमानगतैः शुभैः॥
संस्तूयमानं मुनिभिः प्रह्वैश्च परिसेवितम्।
सीतालंकृतवामाङ्गं लक्ष्मणेनोपशोभितम्॥
श्यामं प्रसन्नवदनं सर्वाभरणभूषितम्।

(६८-७१)

'दिव्य अयोध्या-नगरमें रत्नोंसे चित्रित एक सुवर्णमय मण्डप है, जिसमें मन्दारके फूलोंसे चँदोवा बनाया गया है। उसमें तोरण लगे हुए हैं। उसके भीतर पुष्पकविमानपर एक दिव्य सिंहासनके ऊपर राघवेन्द्र श्रीराम विराजित हैं। उस सुन्दर विमानमें एकत्र हो शुभस्वरूप देवता, वानर, राक्षस और विनीत महर्षिगण भगवान्‌की स्तुति और परिचर्या करते हैं। श्रीराघवेन्द्रके वामभागमें भगवती सीता विराजमान हो उस वामाङ्गकी शोभा बढ़ाती हैं। भगवान्‌का दाहिना भाग लक्ष्मणजीसे सुशोभित है। श्रीरघुनाथजीकी कान्ति श्याम है। उनका मुख प्रसन्न है तथा वे समस्त आभूषणोंसे विभूषित हैं।'

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रोपासक एकाग्रचित्त हो दस लाख जप करे। कमल-पुष्पोंद्वारा दशांश होम और पूजन षडक्षर मन्त्रके समान है। 'रामाय धनुष्पाणये स्वाहा।'—यह दशाक्षर मन्त्र है। इसके ब्रह्मा ऋषि हैं, विराट् छन्द है तथा राक्षसमर्दन श्रीरामचन्द्रजी देवता कहे गये हैं। मन्त्रका आदि अक्षर अर्थात् 'रां'—यह बीज है और 'स्वाहा' शक्ति है। बीजके द्वारा षडङ्ग-न्यास करे। वर्णन्यास, ध्यान, पुरश्चरण तथा पूजन आदि कार्य दशाक्षर मन्त्रके लिये पहले बताये अनुसार करे। इसके जपमें धनुष-बाण धारण करनेवाले भगवान् श्रीरामका ध्यान करना चाहिये। तार (ॐ) के पश्चात् 'नमो भगवते रामचन्द्राय' अथवा 'रामभद्राय'—ये दो प्रकारके द्वादशाक्षर मन्त्र हैं। इनके ऋषि और ध्यान आदि पूर्ववत् हैं। श्रीपूर्वक, जयपूर्वक तथा जय-जयपूर्वक 'राम' नाम हो*। यह—'श्रीराम जय राम जय जय राम।'—तेरह अक्षरोंका मन्त्र है। इसके ब्रह्मा ऋषि, विराट् छन्द तथा पाप-राशिका नाश करनेवाले भगवान् श्रीराम देवता कहे गये हैं। इसके तीन पदोंकी दो-दो आवृत्ति करके षडङ्ग-न्यास करे†। ध्यान-पूजन आदि सब कार्य दशाक्षर मन्त्रके समान करे।

'ॐ नमो भगवते रामाय महापुरुषाय नमः।'—यह अठारह अक्षरोंका मन्त्र है। इसके विश्वामित्र ऋषि, धृति छन्द, श्रीराम देवता, ॐ बीज और नमः शक्ति है। मन्त्रके एक, दो, चार, तीन, छः और दो अक्षरोंवाले पदोंद्वारा एकाग्रचित्त हो षडङ्ग-न्यास करे।

ध्यान

निःशाणभेरीपटहशङ्खतुर्यादिनिःस्वनैः॥
प्रवृत्तनृत्ये परितो जयमङ्गलभाषिते।
चन्दनागुरुकस्तूरीकर्पूरादिसुवासिते॥
सिंहासने समासीनं पुष्पकोपरि राघवम्।
सौमित्रिसीतासहितं जटामुकुटशोभितम्॥
चापबाणधरं श्यामं ससुग्रीवविभीषणम्।
हत्वा रावणमायान्तं कृतत्रैलोक्यरक्षणम्॥

'भगवान् राघवेन्द्र रावणको मारकर त्रिलोकीकी रक्षा करके लौट रहे हैं। वे सीता और लक्ष्मणके साथ पुष्पक

---

* श्रीपूर्वं जयपूर्वं च तद्द्विधा राम नाम च॥
त्रयोदशाक्षरो मन्त्रो मुनिर्ब्रह्मा विराट् स्मृतम्।
छन्दस्तु देवता प्रोक्तो रामः पापौघनाशनः॥
(नारद० पू० ७३। ७६-७७)

† यथा—'श्रीराम' हृदयाय नमः। 'श्रीराम' शिरसे स्वाहा। 'जय राम' शिखायै वषट्। 'जय राम' कवचाय हुम्। 'जय जय राम' नेत्राभ्यां वौषट्। 'जय जय राम' अस्त्राय फट्। पुराणमें इसका प्रमापक मूल श्लोक इस प्रकार है—

'षडङ्गानि प्रकुर्वीत द्विरावृत्त्या पदत्रयैः।'

विमानमें सिंहासनपर विराजमान हैं। उनका मस्तक जटाओंके मुकुटसे सुशोभित है। उनका वर्ण श्याम है और उन्होंने धनुष-बाण धारण कर रक्खा है। उनके साथ सुग्रीव तथा विभीषण विराजित हैं। उनकी विजयके उपलक्ष्में निशान, भेरी, पटह, शङ्ख और तुरही आदिकी ध्वनियोंके साथ-साथ नृत्य आरम्भ हो गया है। चारों ओर जय-जयकार तथा मङ्गलपाठ हो रहा है। चन्दन, अगुरु, कस्तूरी और कपूर आदिकी मधुर गन्ध छा रही है।'

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रोपासक मन्त्रकी अक्षर-संख्याके अनुसार अठारह लाख जप करे और घृतमिश्रित खीरकी दशांश आहुति करके पूर्ववत् पूजन करे।

ॐ रां श्रीं रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
दशास्यान्तक मां रक्ष देहि मे परमां श्रियम्॥*

यह पैंतीस अक्षरोंका मन्त्र है। बीजाक्षरोंसे विलग होनेपर बत्तीस अक्षरोंका मन्त्र होता है। यह अभीष्ट फल देनेवाला है। इसके विश्वामित्र ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, रामभद्र देवता, 'रां' बीज और 'श्रीं' शक्ति है। मन्त्रके चार पादोंके आदिमें तीनों बीज लगाकर उन पादों तथा सम्पूर्ण मन्त्रके द्वारा मन्त्रज्ञ पुरुष पञ्चाङ्ग-न्यास करके मन्त्रके एक-एक अक्षरका क्रमशः समस्त अङ्गोंमें न्यास करे। इसके ध्यान और पूजन आदि सब कार्य पूर्ववत् करे। इस मन्त्रका पुरश्चरण तीन लाखका है। इसमें खीरसे हवन करनेका विधान है। पीतवर्णवाले श्रीरामका ध्यान करके एकाग्रचित्त हो एक लाख जप करे। फिर कमलके फूलोंसे दशांश हवन करके मनुष्य धन पाकर अत्यन्त धनवान् हो जाता है।

'ॐ ह्रीं श्रीं श्रीं दाशरथाय नमः।'—यह ग्यारह अक्षरोंका मन्त्र है। इसके ऋषि आदि तथा पूजन आदि पूर्ववत् हैं। 'त्रैलोक्यनाथाय नमः।'—यह आठ अक्षरोंका मन्त्र है। इसके भी न्यास, ध्यान और पूजन आदि सब कार्य पूर्ववत् हैं। 'रामाय नमः।'—यह पञ्चाक्षर मन्त्र है। इसके ऋषि, ध्यान और पूजन आदि सब कार्य षडक्षर मन्त्रकी ही भाँति होते हैं। 'रामचन्द्राय स्वाहा।' 'रामभद्राय स्वाहा।'—ये दो मन्त्र कहे गये हैं।

इनके ऋषि और पूजन आदि पूर्ववत् हैं। अग्नि (र्) शेष (आ) से युक्त हो और उसका मस्तक चन्द्रमा (ं) से विभूषित हो तो वह रघुनाथजीका एकाक्षर मन्त्र (रां) है, जो द्वितीय कल्पवृक्षके समान है। इसके ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द और श्रीराम देवता हैं। छः दीर्घस्वरोंसे युक्त मन्त्रद्वारा षडङ्ग-न्यास करे।

ध्यान

सरयूतीरमन्दारवेदिकापङ्कजासने ॥
श्यामं वीरासनासीनं ज्ञानमुद्रोपशोभितम्।
वामोरुन्यस्ततद्धस्तं सीतालक्ष्मणसंयुतम्॥
अवेक्षमाणमात्मानं मन्मथामिततेजसम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं केवलं मोक्षकाङ्क्षया॥
चिन्तयेत् परमात्मानमृतुलक्षं जपेन्मनुम्।
(नारद० पू० ३। १०५-१०८)

'सरयूके तटपर मन्दार (कल्पवृक्ष) के नीचे एक वेदिका बनी हुई है और उसके ऊपर एक कमलका आसन बिछा हुआ है, जिसपर श्यामवर्णवाले भगवान् श्रीराम वीरासनसे बैठे हैं। उनका दाहिना हाथ ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है। उन्होंने अपने बायें ऊरुपर बायाँ हाथ रख छोड़ा है। उनके वामभागमें सीता और दाहिने भागमें लक्ष्मणजी हैं। भगवान् श्रीरामका अमित तेज कामदेवसे भी अत्यधिक सुन्दर है। वे शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल तथा अद्वितीय आत्माका ध्यानद्वारा साक्षात्कार कर रहे हैं। ऐसे परमात्मा श्रीरामका केवल मोक्षकी इच्छासे चिन्तन करे और छः लाख मन्त्रका जप करे।'

इसके होम और नित्य-पूजन आदि सब कार्य षडक्षर मन्त्रकी ही भाँति हैं। वह्नि (र्), शेष (आ) के आसनपर विराजमान हो और उसके बाद मान्त (म) हो तो केवल दो अक्षरका मन्त्र (राम) होता है। इसके ऋषि, ध्यान और पूजन आदि सब कार्य एकाक्षर मन्त्रकी ही भाँति जानने चाहिये। तार (ॐ), माया (ह्रीं), रमा (श्रीं), अनङ्ग (क्लीं), अस्त्र (फट्) तथा स्वबीज (रां) इनके साथ पृथक्-पृथक् जुड़ा हुआ द्वयक्षर मन्त्र (राम) छः भेदोंसे युक्त अक्षर मन्त्रराज होता है। यह सम्पूर्ण अभीष्ट पदार्थोंको देनेवाला है। द्वयक्षर मन्त्रके अन्तमें 'चन्द्र' और 'भद्र' शब्द जोड़ा जाय तो दो प्रकारका चतुरक्षर मन्त्र होता है। इन सबके

* श्रीरामतापनीयोपनिषद्में यही मन्त्र इस प्रकार है—
रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते॥

ऋषि, ध्यान और पूजन आदि एकाक्षरमन्त्रमें बताये अनुसार हैं। तार (ॐ), चतुर्थ्यन्त राम शब्द (रामाय), वर्म (हुं), अस्त्र (फट्), वह्निवल्लभा (स्वाहा) यह (ॐ रामाय हुं फट् स्वाहा) आठ अक्षरोंका महामन्त्र है। इसके ऋषि और पूजन आदि षडक्षर मन्त्रके समान हैं। 'तार (ॐ) हृत् (नमः) ब्रह्मण्यसेव्याय रामायाकुण्ठतेजसे । उत्तमश्लोकधुर्याय स्व (न्य) भृगु (स्) कामिका (त) दण्डार्पिताङ्घ्रये ।'—यह ('ॐ नमः ब्रह्मण्यसेव्याय रामायाकुण्ठतेजसे । उत्तमश्लोकधुर्याय न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये ॥') तैंतीस अक्षरोंका मन्त्र कहा गया है। इसके शुक्र ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और श्रीराम देवता हैं। इस मन्त्रके चारों पादों तथा सम्पूर्ण मन्त्रसे पञ्चाङ्गन्यास करना चाहिये। शेष सब कार्य षडक्षर मन्त्रकी भाँति करे। जो साधक मन्त्र सिद्ध कर लेता है, उसे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं। उसके सब पापोंका नाश हो जाता है। 'दाशरथाय विद्महे । सीतावल्लभाय धीमहि। तन्नो रामः प्रचोदयात् ।' यह रामगायत्री कही गयी है, जो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाली है।

श्रीराममन्त्रोपासनाकी एक विशेष विधि

(लेखक—पं० श्रीरमणलाल कृष्णराम शास्त्री भागवतभूषण, साहित्यरत्न)

मन्त्रस्वरूप

रां रामाय नमः। यह छः अक्षरका मन्त्र है।

विनियोग

अस्य श्रीषडक्षरश्रीराममन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्री छन्दः, श्रीरामो देवता, रां बीजम्, नमः शक्तिः, चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धये जपे विनियोगः।

इसे पढ़कर भूमिपर जल छोड़ दे।

ऋष्यादिन्यास

ॐ ब्रह्मऋषये नमः, शिरसि। इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे सिरका स्पर्श करे।

ॐ गायत्रीछन्दसे नमः, मुखे। इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे मुखका स्पर्श करे।

ॐ श्रीरामदेवतायै नमः, हृदि। इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे हृदयका स्पर्श करे।

ॐ श्रीरां बीजाय नमः, गुह्ये। इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे गुदाका स्पर्श करे। (हाथ धो ले)

ॐ नमः शक्तये नमः, पादयोः। इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे पैरोंका स्पर्श करे।

ॐ विनियोगाय नमः, सर्वाङ्गे। इसे पढ़कर दोनों हाथोंसे सिरसे लेकर पैरतक सारे अङ्गोंका स्पर्श करे।

करन्यास

ॐ रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। दोनों हाथोंकी तर्जनी अँगुलियोंसे दोनों अँगूठोंका स्पर्श करे

ॐ रीं तर्जनीभ्यां नमः। दोनों अँगूठोंसे दोनों तर्जनी अँगुलियोंका स्पर्श करे।

ॐ रूं मध्यमाभ्यां नमः। दोनों अँगूठोंसे दोनों मध्यमा अँगुलियोंका स्पर्श करे।

ॐ रैं अनामिकाभ्यां नमः। दोनों अँगूठोंसे दोनों अनामिका अँगुलियोंका स्पर्श करे।

ॐ रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः। दोनों अँगूठोंसे दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंका स्पर्श करे।

ॐ रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। दोनों हाथोंकी हथेलियों एवं उनके पृष्ठ भागोंका परस्पर स्पर्श करे।

हृदयादिन्यास

ॐ रां हृदयाय नमः। (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे हृदयका स्पर्श)

ॐ रीं शिरसे स्वाहा (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे सिरका स्पर्श)

ॐ रूं शिखायै वषट्। (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे शिखाका स्पर्श)

ॐ रैं कवचाय हुम्। (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे बायें कंधेका स्पर्श, बायें हाथकी अँगुलियोंसे दाहिने कंधेका स्पर्श)

ॐ रौं नेत्रत्रयाय वौषट् (दाहिने हाथकी अँगुलियोंके अग्रभागसे दोनों नेत्रों एवं ललाटके मध्य भागका स्पर्श)

कल्पवृक्षके नीचे विमानपर भगवान् श्रीराम [पृष्ठ ३०१



सुवर्णमण्डपमें भगवान् सीता-राम-लक्ष्मण

[पृष्ठ ३०



श्रीरामके ध्यानमें हनुमान्‌जी [पृष्ठ ३६०



रावणको ललकारते हुए हनुमान् [पृष्ठ ३६१

ॐ रः अस्त्राय फट् (इसे पढ़कर दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर ले आये और तर्जनी तथा मध्यमा अँगुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजा दे ।)

मन्त्रवर्णन्यास

ॐ रां नमः ब्रह्मरन्ध्रे । कपालका स्पर्श करे ।
ॐ रां नमः भ्रुवोर्मध्ये । दोनों भौंहोंके बीचका स्पर्श ।
ॐ मां नमः हृदि । हृदयका स्पर्श ।
ॐ यं नमः नाभौ । नाभिका स्पर्श ।
ॐ नं नमः लिङ्गे । लिङ्गका स्पर्श । (हाथ धो ले) ।
ॐ यं नमः पादयोः । पैरोंका स्पर्श ।

इस प्रकार मन्त्राक्षर-न्यास करके भगवान् राघवेन्द्र श्रीराम एवं भगवती सीताजीका ध्यान करे ।

यथा—

नीलाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासिनं
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि ।
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तीं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे ॥

भावार्थ—बायें करकमलको घुटनेपर रखकर दाहिनेसे ज्ञानमयी मुद्रा धारण किये, अविरत वीरासनसे विराजमान, श्यामल बादलके समान मञ्जुलकान्ति, मुकुट-अङ्गद आदि विविध वेश-भूषाविभूषित, देदीप्यमान, दिव्याङ्गधारी भगवान् राघवेन्द्र श्रीराम एवं उनके पार्श्वमें समासीन हो निर्निमेष नेत्रोंसे उन्हींको निहारती हुई बिजलीके समान द्युतिवाली, करकमलधारिणी, धरानन्दिनी भगवती श्रीसीताका हम भजन करते हैं ।

इस प्रकार ध्यान करके सर्वतोभद्रमण्डलमें 'ॐ मं मण्डूकादिपरतत्त्वान्तपीठदेवताभ्यो नमः ।'—इस मन्त्रसे पीठदेवताओंकी पूजा कर नौ पीठशक्तियोंकी पूजा करे ।

पूर्वादि दिक्-क्रमसे जैसे—ॐ विमलायै नमः । ॐ उत्कर्षिण्यै नमः । ॐ ज्ञानायै नमः । ॐ क्रियायै नमः । ॐ योगायै नमः । ॐ प्रह्व्यै नमः । ॐ सत्यायै नमः । ॐ ईशानायै नमः । मध्यमें ॐ अनुग्रहायै नमः ।

इस तरह पीठ-शक्तियोंकी पूजा कर (स्वर्ण आदि निर्मित यन्त्र या मूर्तिको अग्निपर चढ़ाकर पुनः उतारकर) 'ॐ नमो भगवते रामाय सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्म-संयोगपद्मपीठात्मने नमः ।'—इस मन्त्रसे पुष्प आदि आसन देकर पीठके मध्यभागमें संस्थापित करे; फिर प्राणप्रतिष्ठा करके ध्यान-आवाहन आदि पुष्पाञ्जलिपर्यन्त सर्वोपचारसे पूजन कर आवरण-पूजाके लिये अनुज्ञा प्राप्त कर आवरण-पूजा प्रारम्भ करे ।

अञ्जलिमें पुष्प लेकर इसे पढ़े—

ॐ संविन्मयः परो देवः परामृतरसप्रिय ।
अनुज्ञां देहि मे राम परिवारार्चनाय ते ॥

यह पढ़कर पुष्पाञ्जलि चढ़ा दे और अनुज्ञा प्राप्तकर आवरण-पूजा प्रारम्भ करे ।

प्रथमावरणपूजन—

देवके वाम भागमें—

१. सीतायै नमः । सीताश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
२. अग्निकोणमें—शार्ङ्गाय नमः । शार्ङ्गश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
३. दक्षिण भागमें—शराय नमः । शरश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।
४. वाम भागमें—चापाय नमः । चापश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः ।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं प्रथमावरणार्चनम् ॥

द्वितीयावरणपूजन—

षट्कोण-केसरोंमें—

५. अग्निकोणमें ॐ रां हृदयाय नमः ।
६. नैर्ऋत्य " ॐ रीं शिरसे स्वाहा ।
७. वायव्य " ॐ रूं शिखायै वषट् ।
८. ऐशान्य " ॐ रैं कवचाय हुम् ।
९. पूज्य-पूजकके मध्यमें ॐ रौं नेत्रत्रयाय वौषट् ।
१०. देवपश्चिमभागमें ॐ रः अस्त्राय फट् ।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं द्वितीयावरणार्चनम् ॥

तृतीयावरणपूजन—

षट्कोण-केसरोंसे बाहर अष्टदलमें पूज्य-पूजकके मध्य पूर्व दिशाकी कल्पना कर पूर्वादि दिक्-क्रमसे—

११. ॐ हनुमते नमः। हनुमच्छ्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१२. ॐ सुग्रीवाय नमः। सुग्रीवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१३. ॐ भरताय नमः। भरतश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१४. ॐ विभीषणाय नमः। विभीषणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१५. ॐ लक्ष्मणाय नमः। लक्ष्मणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१६. ॐ अङ्गदाय नमः। अङ्गदश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१७. ॐ शत्रुघ्नाय नमः। शत्रुघ्नश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१८. ॐ जाम्बवते नमः। जाम्बवच्छ्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं तृतीयावरणार्चनम्॥

चतुर्थावरणपूजन अष्टदलके आगे—

१९. ॐ धृष्टये नमः। धृष्टिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२०. ॐ जयन्ताय नमः। जयन्तश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२१. ॐ विजयाय नमः। विजयश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२२. ॐ सुराष्ट्राय नमः। सुराष्ट्रश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२३. ॐ राष्ट्रवर्धनाय नमः। राष्ट्रवर्धनश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२४. ॐ अकोपाय नमः। अकोपश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२५. ॐ धर्मपालाय नमः। धर्मपालश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२६. ॐ सुमन्ताय नमः। सुमन्तश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं चतुर्थावरणार्चनम्॥

पञ्चमावरणपूजन—

भूपुर-यन्त्र प्रवेशद्वारमें पूर्वादि दिक्-क्रमसे—

२७. ॐ लं इन्द्राय नमः। इन्द्रश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२८. ॐ रं अग्नये नमः। अग्निश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२९. ॐ मं यमाय नमः। यमश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३०. ॐ क्षं निर्ऋतये नमः। निर्ऋतिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३१. ॐ वं वरुणाय नमः। वरुणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३२. ॐ यं वायवे नमः। वायुश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३३. ॐ कुं कुबेराय नमः। कुबेरश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३४. ॐ हं ईशानाय नमः। ईशानश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

इन्द्र-ईशानके मध्यमें—

३५. ॐ आं ब्रह्मणे नमः। ब्रह्मश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

वरुण-निर्ऋतिके मध्यमें—

३६. ॐ ह्रीं अनन्ताय नमः। अनन्तश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं पञ्चमावरणार्चनम्॥

षष्ठावरणपूजन—

यन्त्र-प्रवेशद्वारसे बाहर पूर्वादि दिक्-क्रमसे—

३७. ॐ वं वज्राय नमः।

३८. ॐ शं शक्तये नमः।

३९. ॐ दं दण्डाय नमः।

४०. ॐ खं खड्गाय नमः।

४१. ॐ पं पाशाय नमः।

४२. ॐ अं अङ्कुशाय नमः।

४३. ॐ गं गदायै नमः।

४४. ॐ त्रिं त्रिशूलाय नमः।

४५. ॐ पं पद्माय नमः ।
४६. ॐ चं चक्राय नमः ।
ॐ अभीष्टसिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल ।
भक्त्या समर्पये तुभ्यं षष्ठावरणपूजनम् ॥

इस तरह आवरण-पूजा कर निम्नलिखित प्रार्थना करे—

प्रार्थना

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥
श्रीराम राम रघुनन्दन राम राम
श्रीराम राम भरताग्रज राम राम ।
श्रीराम राम रणकर्कश राम राम
श्रीराम राम शरणं भव राम राम ॥
श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि ।
श्रीरामचन्द्रचरणौ शिरसा नमामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥

मन्त्रका पुरश्चरण छः लाख मन्त्रोंका जप एवं उन-उनके दशांशसे होम, तर्पण, मार्जन, ब्राह्मण-भोजन करना-कराना है। इस विधिसे मन्त्र सिद्ध होता है।

वर्णलक्षं जपेन्मन्त्रं तद्दशांशं सरोरुहैः ।
जुहुयादर्चिते वह्नौ ब्राह्मणान् भोजयेत्ततः ॥
एवं पूजादिभिः सिद्धे मनौ कर्माणि साधयेत् ।
जातीप्रसूनैर्जुहुयाच्चन्दनाम्भःसमुक्षितैः ॥
राजवश्याय कमलैः धनधान्यादिसम्पदे ।
नीलोत्पलानां होमेन वशयेदखिलं जगत् ॥
बिल्वप्रमाणैर्जुहुयादिन्दिरावाप्तये नरः ।
दूर्वाहोमेन दीर्घायुर्भवेन्मन्त्री निरामयः ॥
मेधाकामेन होतव्यं पालाशकुसुमैर्नवैः ।
तज्जलसमम्भः प्रपिबन् कविर्भवति वत्सरात् ।
तन्मन्त्रितान्नं भुञ्जीत महदारोग्यमाप्नुयात् ॥

(मं० म० कारिका)

'मन्त्राक्षर-संख्या ६ के बराबर अर्थात् छः लाख मन्त्रोंका जप, उसके दशांश ६० हजार (अभावमें शतांश छः हजार) समर्चित एवं समिद्धतम वह्निमें कमल-पुष्पोंसे हवन, तद्दशांश ६ हजार तर्पण, तद्दशांश ६ सौ मार्जनकर, उसके दशांश ६० ब्राह्मणोंको भोजन करावे। इस प्रकार मन्त्र सिद्ध होनेपर कर्म-साधना करे।

'राजाको वशमें करना हो तो चन्दन-जलसे तर चमेली-पुष्पोंसे, धन-धान्यादि सम्पत्तिकी चाह हो तो कमलोंसे, अखिल विश्व-वशीकरणकी इच्छा हो तो नीले कमलोंसे, लक्ष्मी-प्राप्तिकी कामना हो तो बिल्वोंसे, दीर्घायु एवं आरोग्य-लाभकी अभिलाषा हो तो दूर्वादलोंसे, स्मृति-शक्तिकी अभिवृद्धि-भावना हो तो नवीन पालाश-पुष्पोंसे हवन करे।

'इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित जल निरन्तर एक वर्षतक पान करनेसे कवि बन जाता है और अभिमन्त्रित अन्न भोजन करनेसे निरवच्छिन्न आरोग्य लाभ होता है।'

प्रभु-प्रभाव

दिनपति-रघुपतिकी कृपा, सपदि विपति-तम नास।
घटा घिरी घन सघन नभ, वायु बहायो त्रास ॥
युगल-मूर्ति सियरामकी, कीन्हों हृदय निवास।
चन्द्र प्रकास अकासमें, अंधकार निशि नास ॥
लक्ष्मीनारायन अयन, करते जहाँ निवास।
क्षीरसिन्धु वैकुंठ तजि, कीन्हो विशद विकास ॥
जा घर रघुवर-सिय बसत, विकसत विमल विलास।
विहरत विहँग बसंत वन, सुमन-सुगंध सुबास ॥
भक्त-भूमि पै राम-घन, भक्ति-बारि बरसाव।
गिरि-सरि-सर-घर-गली-मग, कलकल करत सुहाव ॥
सियवर-वर-बरसत-विशद, धरत धरत थकि जात।
वाके सम त्रयलोकका, कम ऐश्वर्य दिखात ॥
पथदर्शक-पथ-राम जहँ, होत सहज जग-राह।
नाम-प्रतापी पार कर, भव-सागर-अवगाह ॥
को बरनन करि सकै नर, राम-प्रताप-प्रभाव।
नभ-अनंतका अंत कब, कौन आजतक पाव ॥

—सिरस

श्रीसीता-तत्त्व और उपासना

एक बार देवताओंने प्रजापति ब्रह्माजीसे पूछा कि 'श्रीसीताजी कौन हैं ?' तब उन प्रजापतिने बतलाया कि ''वे शक्तिरूपा ही श्रीसीताजी हैं । मूल प्रकृति-स्वरूपा होनेके कारण वे सीताजी ही 'प्रकृति' कहलाती हैं। वे श्रीसीताजी प्रणवकी प्रकृतिस्वरूपा होनेसे भी 'प्रकृति' कही जाती हैं। 'सीता' यह उनका नामात्मक रूप तीन वर्णोंका है और वे साक्षात् योगमायास्वरूपा हैं । सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्चके भगवान् विष्णु 'बीज' हैं और उनकी योगमाया 'ईकार' रूपा हैं। 'सकार' सत्य 'अमृत'-प्राप्ति * नामक ऐश्वर्य अथवा सिद्धि एवं चन्द्रका वाचक कहा गया है। दीर्घरूप मात्रायुक्त 'तकार' महालक्ष्मीका स्वरूप, प्रकाशमय एवं विस्तारकारी (जगत्स्रष्टा) कहा गया है। वे 'ईकार'रूपिणी -अव्यक्तरूपा महामाया अपने चन्द्रसंनिभ अमृतमय अवयवों एवं दिव्य अलंकार, माला, मुक्तामालादि आभूषणोंसे अलंकृत स्वरूपमें व्यक्त होती हैं। उनके तीन स्वरूप हैं, जिनमें अपने प्रथम स्वरूपसे वे 'शब्दब्रह्ममयी' हैं। वे बुद्धिस्वरूपा स्वाध्यायकालमें प्रसन्न होनेपर बोधको प्रकट करती हैं। अपने दूसरे स्वरूपमें वे 'पृथ्वीपर महाराज सीरध्वज जनककी यज्ञभूमिमें हलाग्रसे उत्पन्न हुईं ।' अपने तीसरे स्वरूपमें वे 'ईकार'रूपिणी 'अव्यक्तस्वरूपा' रहती हैं। इन्हीं तीनों रूपोंको 'सीता' कहा जाता है ।'' शौनकीय तन्त्रमें निम्नलिखित भावके श्लोक मिलते हैं—

''श्रीसीताजी श्रीरामकी नित्य संनिधिके कारण जगदानन्दकारिणी हैं । समस्त शरीरधारियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाली हैं। श्रीसीताजीको 'मूलप्रकृति' कही जानेवाली 'षडैश्वर्यसम्पन्ना भगवती' जानना चाहिये। प्रणवस्वरूपा होनेके कारण ब्रह्मवादी उन्हें 'प्रकृति' बतलाते हैं। ब्रह्मसूत्रके 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें उन्हींका प्रतिपादन है । वे श्रीसीताजी सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्वकीर्तिमयी, सर्वधर्ममयी, सबकी आधारभूता, कार्य एवं कारणरूपा, चेतन एवं जड दोनोंकी स्वरूपभूता, ब्रह्माजीसे लेकर जड पदार्थोंतककी आत्मभूता—इन सबके गुण एवं कर्मके भेदसे सबकी शरीररूपा; देवता, ऋषि, मनुष्य एवं गन्धर्वोंकी स्वरूपभूता; असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच प्रभृति प्राणियोंकी शरीररूपा; पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ, मन एवं प्राणरूपा अर्थात् समस्त विश्वरूपा महालक्ष्मी; देवताओंके भी स्वामी भगवान्से भिन्न एवं अभिन्नस्वरूपा जानी जाती हैं।

''वे श्रीसीता शक्त्यासना—शक्तिस्वरूपा होकर इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति एवं साक्षात् शक्ति—इन तीन रूपोंमें प्रकट होती हैं। इच्छाशक्तिमय उनका स्वरूप भी त्रिविध होता है—श्रीदेवी, भूमिदेवी एवं नीलादेवीके रूपमें कल्याणरूपा, प्रभावरूपा तथा चन्द्र, सूर्य एवं अग्निरूपा वे होती हैं। चन्द्रस्वरूपमें वे ओषधियोंका पोषण करती हैं। कल्पवृक्ष, पुष्प, फल, लता एवं गुल्मों (झाड़ियों), ओषधियों एवं दिव्य ओषधियोंकी स्वरूपभूता होती हैं तथा उसी चन्द्रके अमृतस्वरूपमें देवताओंके लिये 'महस्तोम' नामक यज्ञके फलको देनेवाली होती हैं । अमृतके द्वारा देवताओंको, अन्नके द्वारा पशुओं (प्राणियों) को तथा तृणके द्वारा उसपर अवलम्बित रहनेवाले जीवोंको—इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंको वे तृप्त करती हैं ।

''वे सूर्यादि समस्त भुवनोंको—लोकोंको प्रकाशित करनेवाली हैं। दिन-रात्रि, निमेषसे लेकर घड़ी प्रभृति कालकी कलाएँ, आठ पहरोंसे युक्त दिन-रात्रिके भेदसे पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा संवत्सरके भेदसे मनुष्योंकी सौ वर्षकी आयुकी कल्पनाके द्वारा वे स्वयं ही प्रकाशित होती हैं। विलम्ब तथा शीघ्रतासे उपलक्षित निमेषसे लेकर परार्धपर्यन्त कालचक्र तथा जगच्चक्रादि प्रकारसे चक्रके समान घूमनेवाले कालके सभी विशेष-विशेष विभाग उन्हींके स्वरूप हैं, जो प्रकाशरूपा एवं कालरूपा हैं ।

''वे अग्निरूपा होकर प्राणियोंके लिये अन्न एवं जलादि पानके लिये क्षुधा एवं पिपासारूपसे, देवताओंके लिये मुखरूपसे (देवता अग्निमें होमे हुए पदार्थ ही पाते हैं), वनौषधियोंके लिये शीतोष्णरूपसे तथा काष्ठोंके बाहर एवं भीतर नित्य एवं अनित्य दोनों प्रकारसे (नित्यरूपमें व्यापक अग्नितत्त्व एवं अनित्यरूपमें प्रज्वलिताग्नि प्रभृति रूपोंमें) स्थित हैं ।

''वे श्रीसीताजी अपने श्रीदेवीरूपमें तीन प्रकारका रूप धारण करके श्रीभगवान्‌के संकल्पानुसार सम्पूर्ण लोकोंकी

* अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्यमें 'प्राप्ति' नामक सिद्धिका भी वर्णन आता है । प्राप्ति कहते हैं सर्वत्र गमनकी शक्तिको ।

रक्षाके लिये व्यक्त होती हैं। वे लोकरक्षणार्थ 'श्री' तथा 'लक्ष्मी'रूपमें लक्षित होती हैं, यों जाना जाता है। 'भूदेवी' सम्पूर्ण जलमय समुद्रोंसहित सातों द्वीपवाली पृथ्वीके रूपमें भूः-भुवः आदि चौदहों भुवनोंकी आधार एवं आधेयभूता प्रणवस्वरूपा होकर व्यक्त होती हैं। विद्युन्मालाके समान मुखवाली 'नीलादेवी' भी सम्पूर्ण ओषधियों एवं समस्त प्राणियोंके पोषणके लिये सर्वरूपा हो जाती हैं। समस्त भुवनोंके अधोभागमें जलाकार-स्वरूप, मण्डूकमयी तथा भुवनोंकी आधाररूपा वही आदिशक्ति जानी जाती हैं।

''उन श्रीसीताजीका क्रियाशक्ति-रूप श्रीहरिके मुखसे नादके रूपमें व्यक्त हुआ। उस नादसे बिन्दु प्रकट हुआ। बिन्दुसे ॐकारका आविर्भाव हुआ। ॐकारसे परे राम-वैखानस नामका पर्वत है। उस पर्वतकी कर्म एवं ज्ञानात्मिका अनेक शाखाएँ व्यक्त हैं। उसी पर्वतपर वेदत्रयीस्वरूप सर्वार्थको प्रकट करनेवाला आदिशास्त्र है। तात्पर्य यह है कि 'श्रीराम-वैखानस' पर्वत ही नित्य वेदस्वरूप है और लोकमें वह वेदोंके रूपमें व्यक्त होता है। उस आदिशास्त्रको ऋक्, यजुः एवं सामात्मक होनेसे 'त्रयी' कहा जाता है। कार्य-सिद्धिके लिये चार नामोंसे उसका वर्णन होता है।

''अर्थात् देवस्वरूप वर्णनके मन्त्र, यज्ञ-विधि-निर्देशक मन्त्र तथा यज्ञमें गानके मन्त्र—ये ही तीन प्रकारके मन्त्र होनेसे वेदोंको 'त्रयी' कहते हैं; किंतु यज्ञमें ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु एवं उद्गाताके कार्यकी दृष्टिसे वेदोंको चार नामोंसे सम्बोधित किया जाता है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्वाङ्गिरसवेद। यज्ञकर्ममें चातुर्होत्र प्रधान है और उसमें देवस्वरूपादि तीनका ही उपयोग होनेसे वेदोंको 'त्रयी' कहते हैं। अथर्वाङ्गिरसवेद साम, ऋक् एवं यजुःस्वरूप ही है। आभिचारिक कर्मोंकी समानतासे इन चारोंका पृथक्-पृथक् निर्देश होता है।

''ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ कही गयी हैं। यजुर्वेदीयोंकी एक सौ नौ शाखाएँ हैं। सामवेदकी एक सहस्र शाखाएँ और अथर्ववेदकी पाँच शाखाएँ हैं। इन वेदोंमें प्रथम (सर्वश्रेष्ठ) 'वैखानसमत' है, जो प्रत्यक्ष दर्शन है। इसलिये मुनियोंद्वारा नित्य परम वैखानस (श्रीरामरूप) का स्मरण किया जाता है। कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष तथा छन्द—ये छः 'वेदाङ्ग' हैं। न्याय, मीमांसा और न्यायशास्त्रका विस्तार—ये वेदोंके उपाङ्ग हैं। धर्मज्ञ पुरुषोंके सेवनके लिये चारों वेद तथा वेदोंसे अधिक ये अङ्ग-उपाङ्गादि हैं। सभी वैदिक शाखाओंमें उनके समयाचार (साम्प्रदायिक आचरण) की शास्त्रके साथ संगति लगानेके लिये 'निबन्ध' हैं। धर्मशास्त्रों (स्मृतियों) को महर्षियोंने अपने अन्तःकरणके दिव्य ज्ञानसे पूर्ण किया है। मुनियोंने इतिहास-पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा आयुर्वेद—ये पाँच 'उपवेद' बताये हैं। इन सबके साथ दण्ड, नीति और व्यापार-विद्या तथा पर-तत्त्वमें प्राणजय करके स्थिति—इस प्रकार इक्कीस भेदयुक्त यह स्वतःप्रकाश—स्वयं प्रकटित शास्त्र है।

''पूर्वकालमें वैखानस ऋषिके हृदयमें भगवान् विष्णुकी वाणी प्रकट हुई। उसी वाणीको वेदत्रयीके रूपमें इस प्रकार कल्पित करके देहधारी अपनी उन्नति करता है। वैखानस ऋषिने अपने हृदयमें प्रकट उस भगवद्वाणीको संख्यारूपमें संकल्प करके पहले जिस प्रकार प्रकट किया, उसी प्रकार वह सब मैं बतलाता हूँ; सुनो। जो सनातन ब्रह्ममय रूपधारिणी क्रियाशक्ति कही गयी है, वह भगवान्की साक्षात् शक्ति है। भगवान्के स्मरणमात्र (संकल्पमात्र) से वे जगत्के रूपोंको प्रकट करती तथा दृश्य जगत्में स्वयं व्यक्त होती हैं। वे शासन एवं कृपास्वरूपा, शान्ति तथा तेजोरूपा व्यक्त (प्राणियों) की, अव्यक्त (देवादि) की कारणभूता एवं उनके चरणादि समस्त अवयव तथा मुख एवं वर्ण (रूपादि) भेदस्वरूपा, भगवान्के साथ चलनेवाली (उनके संकल्पसे ही गति करनेवाली), भगवान्से कभी विलग न होनेवाली एवं अविनाशिनी निरन्तर भगवान्के साथका ही आश्रय करनेवाली, कहे हुए और न कहे हुए सभी स्वरूपोंवाली, निमेष-उन्मेषसे लेकर सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, अनुग्रह आदि समस्त सामर्थ्योंसे युक्त होनेके कारण साक्षात् शक्तिरूपमें वर्णित होती हैं।

''श्रीसीताजीका इच्छाशक्ति-रूप भी तीन प्रकारका है। प्रलयके समय विश्रामके लिये भगवान्के दाहिने वक्षःस्थलपर श्रीवत्सकी आकृति धारण करके जो विश्राम करती हैं, वे 'योगशक्ति' हैं। 'भोगशक्ति' भोगरूपा है। वे कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि तथा शङ्ख, पद्म (तथा मकर, कच्छप) आदि नौ निधियोंमें निवास करती हैं और भगवद्भक्तोंकी कामनाके अनुसार अथवा उनकी कामनाके

बिना भी नित्य-नैमित्तिक कर्मके द्वारा, अग्निहोत्रादिसे अथवा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिसे—किसी भी निमित्तसे भगवान्‌की उपासना करनेवालोंके उपभोगके लिये बड़े-बड़े भोगोंसे, विशाल द्वार एवं प्राकारवाले भवनोंसे, विमानोंसे अथवा भगवद्विग्रहके अर्चन-पूजनादिकी सामग्रियोंसे अर्चनरूपमें, स्नानादि (तीर्थस्नानादि) रूपमें, पितृपूजा आदिके रूपमें, अन्न (भोज्यपदार्थ) एवं पीने योग्य रस आदिसे, यह भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये है—यों कहकर वे सब उपभोग-सामग्रियोंका सम्पादन करती हैं।

"श्रीसीताजीकी 'वीरशक्ति' चतुर्भुजा हैं। उनके हाथोंमें अभय एवं वरदानकी मुद्राएँ तथा दो कमल हैं। किरीट एवं आभूषणोंसे वे भूषिता हैं। सम्पूर्ण देवताओंसे घिरी हुई, कल्पवृक्षके मूलमें चार श्वेत हाथियोंद्वारा रत्नजटित कलशोंके अमृत-जलसे अभिषिक्त होती हुई वे आसीन हैं। ब्रह्मादि समस्त देवता उनकी वन्दना करते हैं। वे अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यसे युक्त हैं और उनके सम्मुख खड़ी होकर कामधेनु उनकी स्तुति करती हैं। वेद और शास्त्र आदि भी मूर्तिमान् होकर उनकी स्तुति करते हैं। जया आदि अप्सराएँ एवं देवनारियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। सूर्य एवं चन्द्र दीपक बनकर वहाँ प्रकाश कर रहे हैं। राका और सिनीवाली नामकी देवियाँ उनपर छत्र लगाये हैं। ह्लादिनी एवं माया उनके दोनों ओर चँवर डुला रही हैं। स्वाहा एवं स्वधा उनपर पंखे झलती हैं। भृगु और पुण्य आदि महात्मा उनकी पूजा कर रहे हैं। दिव्य सिंहासनपर अष्टदलपद्मके ऊपर आसीन वे महादेवी समस्त कारणों एवं कार्योंको निर्मित करनेवाली हैं। इस प्रकार भगवती लक्ष्मीके भगवान्‌से पृथक् निवासका ध्यान करना चाहिये। उन्होंने अपनेको अनुरूप दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत किया है। वे स्थिर होकर प्रसन्न नेत्रोंसे समस्त देवताओंद्वारा पूजित 'वीरलक्ष्मी' कही जाती हैं।"

('सीतोपनिषद्'से)

श्रीसीताजीकी उपासनाके मन्त्र

(नारदपुराणसे)

पद्मा (श्रीं) के विभक्त्यन्त सीता शब्द (सीतायै) और अन्तमें उद्वय (स्वाहा) यह (श्रीं सीतायै स्वाहा) षडक्षर सीता-मन्त्र है। इसके वाल्मीकि ऋषि, गायत्री छन्द, भगवती सीता देवता, 'श्रीं' बीज तथा 'स्वाहा' शक्ति है। छः दीर्घस्वरोंसे युक्त बीजाक्षरद्वारा षडङ्ग-न्यास करे।

ततो ध्यायेन्महादेवीं सीतां त्रैलोक्यपूजिताम्।
तप्तहाटकवर्णाभां पद्मयुग्मं करद्वये॥
सद्रत्नभूषणस्फूर्जद्दिव्यदेहां शुभात्मिकाम्।
नानावस्त्रां शशिमुखीं पद्माक्षीं मुदितान्तराम्।
पश्यन्तीं राघवं पुण्यं शय्यायां षड्गुणेश्वरीम्॥

(नारद० पू० ७३। १३३—१३५)

'तदनन्तर त्रिभुवनपूजित महादेवी सीताका ध्यान करे। तपाये हुए स्वर्णके समान उनकी कान्ति है। उनके दोनों हाथोंमें दो कमलपुष्प शोभा पा रहे हैं। उनका दिव्य शरीर उत्तम रत्नमय आभूषणोंसे प्रकाशित हो रहा है। वे मङ्गलमयी सीता भाँति-भाँतिके वस्त्रोंसे सुशोभित हैं। उनका मुख चन्द्रमाको लज्जित कर रहा है। नेत्र कमलोंकी शोभा धारण करते हैं। अन्तःकरण आनन्दसे उल्लसित है। वे ऐश्वर्य आदि छः गुणोंकी अधीश्वरी हैं और शय्यापर अपने प्राणवल्लभ पुण्यमय श्रीराघवेन्द्रको अनुरागपूर्ण दृष्टिसे निहार रही हैं।'

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रोपासक छः लाख मन्त्रका जप करे और खिले हुए कमलोंद्वारा दशांश आहुति दे। पूर्वोक्त पीठपर उनकी पूजा करनी चाहिये। मूलमन्त्रसे मूर्ति-निर्माण करके उसमें जनकनन्दिनी किशोरीजीका आवाहन और स्थापन करे। फिर विधिवत् पूजन करके उनके दक्षिण भागमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अर्चना करे। तत्पश्चात् अग्रभागमें हनुमान्‌जीकी और पृष्ठभागमें लक्ष्मणजीकी पूजा करके छः कोणोंमें हृदयादि अङ्गोंका पूजन करे। फिर आठ दलोंमें मुख्य मन्त्रियोंका, उनके बाह्यभागमें इन्द्र आदि लोकेश्वरोंका और उनके भी बाह्यभागमें वज्र आदि आयुधोंका पूजन करके मनुष्य सम्पूर्ण सिद्धियोंका स्वामी हो जाता है। अधिक कहनेसे क्या लाभ? श्रीकिशोरीजीकी आराधनासे मनुष्य सौभाग्य, पुत्र-पौत्र, परम सुख, धन-धान्य तथा मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

श्रीराधामाधव-युगलोपासना

भारतीय सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् एक ही हैं। (ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते) विभिन्न उपासक-सम्प्रदाय उस एक ही परम तत्त्वकी विभिन्न नाम-रूपोंमें विभिन्न उपासना-पद्धतियोंसे उपासना करते हैं। वह ब्रह्मतत्त्व नित्य स्वरूपभूत शक्तिसे समन्वित है। यह अवश्य है कि सभी लोग उस शक्तिको स्वीकार नहीं करते। शक्ति न माननेवाले लोग ब्रह्मको 'निर्विशेष' या 'निर्गुण' कहते हैं और शक्ति माननेवाले 'सविशेष' या 'सगुण'। इनमें भी दो भेद हैं—एक 'निराकारवादी', दूसरे 'साकारवादी'। निराकारवादी भगवान्को सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक बतलाते हैं और साकारवादी उपासक उन्हें अपने-अपने भावानुसार लक्ष्मी-नारायण, उमा-महेश्वर, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि दिव्य युगल-स्वरूपोंमें भजते हैं। वस्तुतः नारायण, विष्णु, महेश्वर, राम, कृष्ण—सब एक ही तत्त्वके विभिन्न स्वरूप हैं। इसी प्रकार इनकी शक्तियाँ—श्रीलक्ष्मी, उमा, सीता, राधा आदि भी एक ही भगवत्स्वरूपा महाशक्तिके विभिन्न लीलास्वरूप हैं। शक्ति नित्य शक्तिमान्के साथ है, इसीसे वह शक्तिमान् है और इसीसे वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह नित्य युगल-स्वरूप संसारके पृथक्-पृथक् दो स्वतन्त्र व्यक्तियों या पदार्थोंके समान नहीं है। जो हैं तो सर्वथा परस्पर निरपेक्ष भिन्न-भिन्न, पर एक समय एक साथ मिल जानेपर उन्हें 'जोड़ी' या 'युगल' कहते हैं। भगवान् वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् दो प्रतीत होते हैं। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है। शक्ति है तो शक्तिमान् है और शक्तिमान् है तो उसमें शक्ति रहती है। सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति, चन्द्रमा और उसकी चाँदनी, जल और उसकी शीतलता, पद और उसका अर्थ—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी नित्य अविनाभाव-युगलभाव है। वस्तुतः 'शक्तिसमन्वित' और 'शक्तिविरहित' कहना भी नहीं बनता। शक्ति ब्रह्मका अभिन्न स्वरूप ही है। जिस समय वह शक्ति अभिव्यक्त होकर लीलायमान नहीं होती, उस समय 'शक्तिविरहित' और जिस समय अभिव्यक्त होकर लीला करती है, उस समय उसे 'शक्तिसमन्वित' कहते हैं। शक्तियुक्त भगवत्स्वरूपके दो प्रकार हैं—'सगुण निराकार' और 'सगुण साकार'। वस्तुतः शक्ति उनके स्वरूपगत होनेसे 'समन्वित' और 'विरहित'का स्वास कोई अर्थ नहीं रह जाता।

वेदमूलक उपनिषद्में परमतत्त्वके दो स्वरूप बताये गये हैं—एक 'सर्वातीत' दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। 'सर्वकारणात्मक' स्वरूपके द्वारा ही 'सर्वातीत' का पता लगता है और 'सर्वातीत' स्वरूप ही 'सर्वकारणात्मक' स्वरूपका आश्रय है। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। उपनिषद्के दिव्यदृष्टिप्राप्त ऋषियोंने ब्रह्मके एक अद्वितीय देश-काल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अतीत, सच्चिदानन्द-तत्त्वकी उपलब्धि की और किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करनेयोग्य और धारणामें लानेयोग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य न पाकर यह कहा कि 'वह कभी न देख सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न वर्ण है, न उसके आँख-कान और हाथ-पैर आदि हैं।'—

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।'

(मुण्डक० १।१।६)

—वहाँ, उसी समय उसी देशकालातीत, अवस्थापरिणाम-शून्य, इन्द्रियमन-बुद्धिके अगोचर, शान्त, शिव एकमात्र अनन्त सत्तास्वरूप परमात्माको ही सर्वकाल और सम्पूर्ण देशोंमें नित्य विराजित देखा। यहाँतक कि ध्यानयोगमें उन्होंने उसी परमदेव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूता शक्तिको भी प्रत्यक्ष देखा जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निश्चय किया कि कालसे लेकर आत्मापर्यन्त सम्पूर्ण कारणोंका स्वामी और प्रेरक, सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है'—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥

(श्वेताश्व० १।३)

इस प्रकार एक ही ब्रह्म परमात्मा या भगवान् 'सर्वातीत' भी है और 'सर्वरूप' भी है। वह 'सर्वातीत' परमात्मा ही सर्वकारणकारण, सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेद-परिणामशून्य, अद्वय परमात्मा ही चराचर भूतमात्रकी योनि है और अनन्त विचित्र सृष्टिका एकमात्र अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है। 'नित्य सर्वातीत' और 'नित्य सर्वगत' स्वरूप ही उसकी महनीय भगवत्ता है।

वस्तुतः भगवान्‌का नित्य एक रहना और नित्य अनन्त रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करके सम्भोग करना सब भगवान्‌के उस एकमात्र नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत है। उनका एक रहना और फिर अनन्त रूपोंमें प्रकट हो जाना न तो अद्वैतसे द्वैत स्थितिमें आना है और न एकत्वसे बहुतकी अवस्थामें बदल जाना ही है। उनकी नित्य स्वरूप-सत्तामें किसी कालका प्रभाव नहीं है, न कोई अवस्था या स्थितिका भेद है। वे एकमात्र सच्चिदानन्दघन भगवान् नित्य अभेदभूमिमें ही परस्परविरोधी गुण-धर्मोंको आलिङ्गन किये हुए हैं। वे अपने सर्वातीत विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी अनन्ताश्चर्यमयी अनन्तवैचित्र्य-प्रसविनी शक्तिके द्वारा अपने-आपमें ही अनन्त विश्वका सृजन करके अपने-आप ही उसका सम्भोग करते हैं। उन्होंने रमणके लिये दूसरेकी इच्छा की, अपनेको ही एकसे दो कर दिया'........'पति-पत्नी हो गये'.....।

'...स द्वितीयमैच्छत् स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।' (बृहदारण्यक उप० १।४।३)

इस मन्त्रका यह अभिप्राय नहीं है कि वे पहले अकेले थे, फिर वे मिथुन (दो—युगल) हो गये; क्योंकि उनके लिये कालपरम्परासे अवस्था-भेदको प्राप्त होना सम्भव नहीं है। वे नित्य मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य युगल स्वरूपमें ही उनका नित्य-पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनादि अनन्त अनवरत आस्वादन—नित्य रमण चल रहा है। इस नित्य युगल-स्वरूपमें ही वे दिव्य चिन्मय 'रस' और 'भाव' रूपमें व्यक्त और अव्यक्त भावसे नित्य लीलायमान हैं। अवश्य ही उनकी इस लीलामें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश न तो भौतिक देहेन्द्रिय-भेद है, न कोई अनित्य लौकिक जड-सम्बन्ध ही है। इसलिये वे न 'रमण' हैं, न 'रमणी' हैं। पुरुषरूपमें भगवान्‌का निर्विकार निष्क्रिय भाव है। वे नित्य सर्वातीत सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-रूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीलामयी स्वरूपाशक्तिका सक्रिय भाव है। वे नित्य अनन्तरूपा लीला-विलासिनीके रूपमें अभिव्यक्त हैं। इस नारीभावकी लीला-भिव्यक्तिमें ही उनके अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है। इसी मधुरतम लीलामें 'रस' और 'भाव' का माधुर्य प्रकट होता है और उसीका पूर्णतम स्वरूप हैं—श्रीकृष्ण और श्रीराधा। वे दोनों नित्य अभिन्न हैं और नित्य दिव्य चिन्मय रसविग्रह और नित्य दिव्य चिन्मय भावविग्रहके रूपमें अपने स्वरूपभूत परमानन्दमय लीलारसके आस्वादनमें संलग्न हैं। श्रीकृष्ण 'रसराज' हैं और श्रीराधा 'महाभाव' हैं। वस्तुतः इनके लीला-रसास्वादनमें आस्वाद्य, आस्वादन और आस्वादक तीनों वे स्वयं ही हैं—उनके नित्य-स्वरूपका ही यह लीलाविलास है। भगवान् श्रीकृष्णने राधाजीसे कहा है—

यथा त्वं च तथाहं च भेदो हि नावयोर्ध्रुवम्।
यथा क्षीरे च धावल्यं यथाग्नौ दाहिका सति।
यथा पृथिव्यां गन्धश्च तथाहं त्वयि संततम्॥

'जो तुम हो, वही मैं हूँ; हम दोनोंमें कदापि किञ्चित् भी भेद नहीं है। जैसे दूधमें सफेदी, अग्निमें दाहिकाशक्ति और पृथ्वीमें गन्ध है, वैसे ही मैं निरन्तर तुममें हूँ।'

मधुर भक्तिरसके पाँच भाव मुख्यतया माने गये हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें सर्वात्म-निवेदन पूर्ण होनेके कारण 'मधुर' भाव ही परिपूर्णतया सर्वश्रेष्ठ है। शान्तभाव तो मधुर भक्तिरसकी भूमिका है; क्योंकि उसमें मन-इन्द्रियोंका पूर्णसंयम होकर भगवान्‌में ही उनकी नित्य संलग्नता हो जाती है। पर भगवान्‌के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये उसे मधुरभावके अन्तर्गत नहीं माना जाता। दास्य, सख्य, वात्सल्यमें सम्बन्धयुक्त प्रीति होती है। मधुरमें उसका पूर्ण पर्यवसान है। यह मधुरभाव जहाँ पूर्णरूपसे लीलायमान तथा आत्यन्तिकरूपसे अभिव्यक्त होता है, वही 'महाभाव' है और वही श्रीराधाजीका रूप है। रस-साम्राज्यमें प्रेमका विकास होते-होते 'महाभाव' तक पहुँचना होता है। उसके आठ स्तर माने गये हैं—प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। विषयी लोगोंके मनमें निज-सुखकी नित्य कामना रहती है। वे दूसरोंके साथ जो सद्भाव, सद्व्यवहार, त्याग, संयम आदि करते हैं, सब इस सुख-कामनाको लेकर ही करते हैं। अतएव वहाँ वास्तविक पवित्र त्यागका सर्वथा अभाव है, इसलिये वह प्रेम नहीं है। वह तो काम है, जो प्रेम-साम्राज्यमें सर्वथा हेय तथा त्याज्य है।

संसारमें इस समय ऐसे बहुत तामस भावसे समाच्छन्न मूढ नराधम मनुष्य हैं, जो अपना अनिष्ट करके भी दूसरोंका अनिष्ट करते हैं। वे कहा करते हैं—'हमारा चाहे जितना

नुकसान हो जाय पर उनका नाश करके छोड़ेंगे।' परंतु विषयासक्त तथा विषयकामी पुरुष ऐसा नहीं करते। वे अपना अनिष्ट करके दूसरोंका अनिष्ट करना नहीं चाहते; पर अपने लाभके लिये—अपने सुख-स्वार्थकी सिद्धिके लिये दूसरोंके हितोंका नाश करके उन्हें दुःख पहुँचाया करते हैं। यद्यपि उनको परिणाममें लाभ नहीं होता; क्योंकि जिस कार्यसे दूसरोंका अनिष्ट होता है, वह पापकार्य है और पाप सदा ही दुःखपरिणामी होता है। यह पशुभाव है। जैसे पशु प्रायः न तो दूसरेके दुःख-कष्टकी अनुभूति करता है और न किसीके द्वारा उपकार प्राप्त होनेपर उसके प्रति कृतज्ञताकी ही वृत्ति रखता है, इसी प्रकार विषयासक्त मनुष्य प्रायः अपने ही स्वार्थ और सुख-लाभकी बात सोचता है। दूसरे जीवोंके भी हृदय हैं, प्राण हैं, उन्हें भी सुख-दुःख होता है, इसकी ओर वह ध्यान नहीं देता। यही असुरभाव भी है। जहाँ मानवता जाग्रत् होती है, वहाँ ऐसा नहीं हुआ करता। इसीसे मनुष्यके लिये तीन ऋण या पाँच ऋण चुकानेके लिये त्यागका विधान है। त्यागवृत्तिसे ही मानवताका विकास होता है। अतः जो मनुष्य कुछ विवेकशील होता है, वह विषयकामी अविवेकी मनुष्यकी भाँति दूसरोंके अनिष्टके द्वारा अपना लाभ नहीं करना चाहता; पर वह अपने लाभमें यदि दूसरे किसीका अनिष्ट होता हो तो उसकी परवा नहीं करता। उससे आगे बढ़ा हुआ मनुष्य यह देखता है कि मुझे जिसमें लाभ होता है, इससे किसी दूसरेको अनिष्ट या हानि तो नहीं होती। यदि दूसरेका अनिष्ट होता है तो वह अपने लाभके लिये उस कार्यको नहीं करता। इससे आगे बढ़ा हुआ वह है जो अपने लाभका भी वही काम करता है, जिससे दूसरोंको भी लाभ होता हो, इससे आगे चलकर बुद्धिमान् साधुहृदय मनुष्य वही काम करता है, जिससे केवल दूसरोंका लाभ होता हो। अपने लाभकी बात ही नहीं सोचता। इससे आगे बढ़ा हुआ सर्वश्रेष्ठ मनुष्य वह है, जो अपनी हानि करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाता है। यद्यपि परिणाममें उसकी हानि होती नहीं; क्योंकि जिसमें दूसरोंका हित होता है—वह पुण्यकर्म है और पुण्यकर्म परिणाममें सदा ही लाभप्रद होता है, यह निश्चित है। यों छः प्रकारके मनुष्य होते हैं, जो उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होते हैं—

(१) अपना अनिष्ट करके भी दूसरोंका अनिष्ट करते हैं। वे महापापी हैं।

(२) अपना लाभ चाहते हैं; दूसरोंके अनिष्टकी परवा नहीं करते।

(३) अपने लाभके लिये भी ऐसा काम नहीं करते, जिससे दूसरोंका अनिष्ट होता हो।

(४) अपने लाभके लिये ऐसा ही काम करते हैं जिससे दूसरोंको भी लाभ हो।

(५) दूसरोंके लाभका ही काम करते हैं। अपने लाभकी बात नहीं सोचते।

(६) अपना अनिष्ट करके भी दूसरोंको लाभ पहुँचाते हैं। ये सर्वश्रेष्ठ साधु हैं।

इनमें उत्तरोत्तर अशुभ कामनाका नाश तथा शुभ कामनाका विकास होता है। यही प्रेमके विकासका क्रम है। 'निज-सुख-साधन'की वृत्ति—'काम' है और 'पर-सुख-साधन' की वृत्ति—'प्रेम' है। काममें 'स्व' अत्यन्त संकुचित है; अतएव उसमें त्यागका अभाव है। प्रेममें 'स्व' अत्यन्त विस्तृत है; अतएव वह त्यागमय है। आज जगत्में जो व्यष्टि तथा समष्टिमें सर्वत्र कलहकी आग भड़क रही है, इसका प्रधान कारण 'स्व-सुख-कामनाका विस्तार' तथा 'पर-सुख-कामनाका अभाव' है। आजका जगत् कामविषकलुषित है; प्रेम-पीयूष-परिभावित नहीं है। मधुर भक्तिभावके सर्वप्रथम 'शान्तभाव'में ही काम-कलुषका अभाव हो जाता है। तदनन्तर आगे बढ़कर इसका विकास होते-होते जब सर्वत्यागमय सर्वात्मनिवेदनपूर्ण मधुर भावका प्रादुर्भाव होता है, तब तो स्व-सुख-कामनाकी कल्पनाका लेश-गन्ध भी नहीं रहता; केवल 'प्रियतमसुखमय जीवन' होता है। यही यथार्थ प्रेम है।

इस प्रेमके विकासके उपर्युक्त आठ स्तर हैं—

विषयभोगोंके त्यागी भगवज्जनके मनमें शुद्ध सात्त्विकी प्रियतम श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी जिस पवित्र अनुपम अनन्य वृत्तिका उदय होता है, वह 'प्रेम' है।

वह प्रेम अपने विषय (प्रियतम श्रीकृष्ण) को पाकर जब चित्तको द्रवित कर देता है, तब प्रेमीजनके उस धनको 'स्नेह' कहा जाता है। दीपक जब घृतसे भरा होता है, तब उसमें जैसे उष्णता और ज्योति बढ़ती है, वैसे ही स्नेहके उदयसे हृदयमें श्रीकृष्णदर्शनकी पवित्र लालसा बढ़ती है।

जिसमें सर्वथा नवीन अत्यन्त माधुर्यका अनुभव होता

है, स्नेहके इस प्रकारके उत्कर्षको 'मान' कहते हैं। श्रीकृष्ण प्रियतमको अधिक सुख देनेके लिये हृदयके भावको छिपाकर, जिसमें वक्रता और वामताका उदय होता है, मनकी उस मधुर स्थितिका नाम 'मान' है।

ममताकी अत्यन्त वृद्धिसे जब मान उत्कर्षको प्राप्त होता है, तब प्रियतमसे अभिन्नता बढ़ जाती है और हृदयमें महान् हर्ष छा जाता है। इस अवस्थामें प्राण, मन, बुद्धि, शरीर, खान-पान तथा वस्त्राभूषण आदि सभीमें प्रियतमसे कुछ भी पृथक्ता नहीं रह जाती, तब उसको 'प्रणय' कहते हैं।

प्रियतम श्रीकृष्णसे मिलनेकी आशामें जब दुःख भी परम सुख हो जाता है और अमिलनमें सभी सुख अपार दुःखमय प्रतीत होते हैं, यों 'प्रणय' जब उत्कर्षको प्राप्तकर इस स्थितिपर पहुँच जाता है, तब उस पावन प्रेमका नाम 'राग' होता है।

जब नित्य अनुभूत प्रियतम श्रीकृष्ण प्रतिपल नये-से-नये दिखायी देते हैं, प्रतिपल वे अधिक-अधिक अत्यन्त महान्, अनुपम पवित्र, सरल, सुन्दर और मधुर दिखायी देते हैं; राग जब उत्कर्षको प्राप्त होकर सीमातीत रूपसे बढ़ जाता है, तब जो ऐसे लक्षण प्रकट होते हैं, वे 'अनुराग'के नामसे कहे जाते हैं।

जब प्राणत्यागसे भी अधिक अत्यन्त घोर तथा कठिन दुःख सर्वथा तुच्छ हो जाता है; वरं प्रियतम श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये जब वह परम मधुर तथा परम सुखमय एवं नित्य वाञ्छनीय हो जाता है और श्रीकृष्ण-मिलन एवं एकमात्र उनके सुखके लिये मनमें अपरिमित चाव बढ़ जाता है; तब वह बढ़ा हुआ 'अनुराग' ही मङ्गलमय मधुरतामय 'भाव' नाम धारण करता है।

यह भाव जब उच्चस्तरपर पहुँच जाता है, तब उस परम मधुरतम, परम निर्मल, परम विशुद्ध, सर्वदिक्-पवित्र 'भाव'को 'महाभाव' कहते हैं। इस महाभावके परमोज्ज्वल, नितान्त पवित्र, निर्मल दिव्य स्वर्णसदृश 'मोदन' और 'मादन' दो सर्वोच्च स्तर हैं, जो प्रेमके पूर्ण प्राकट्यका परिचय देते हैं। इनमें 'मादन' नामक 'महाभाव' परम दुर्लभ तथा स्वाभाविक ही स्वतन्त्र है। इसका प्रकाश केवल श्रीराधाजीमें ही है। स्नेहसे मोदनतक सभी स्तर श्रीकृष्णमें तथा समस्त व्रजाङ्गनाओंमें—मधुर भावमयी रागात्मिका प्रीतिसे संयुक्त गोपरमणियोंमें हैं। व्रजसुन्दरियाँ इन्हीं विभिन्न स्तरोंके प्रेमसे श्रीकृष्ण-सुखार्थ जो श्रीकृष्णकी नित्य-नवोत्साहपूर्वक सहज सेवा—उपासना करती हैं, श्रीराधाजी उनमें मुख्य तथा सर्वप्रधान श्रीकृष्ण-सेविका या श्रीकृष्णाराधिका हैं। अतएव श्रीकृष्ण इस प्रेमके 'विषय' हैं। साथ ही इस प्रेमके समस्त स्तर श्रीकृष्णमें भी हैं। अतएव वे इस प्रेमके 'आश्रय' भी हैं अर्थात् वे भी व्रजसुन्दरियोंको सुख पहुँचाना चाहते हैं। गोपरमणियोंमें श्रीराधा 'मादनाख्य महाभाव'रूपा हैं। इसलिये वे परम आश्रयरूपा हैं और वे श्रीकृष्णको सुखी देखकर उनसे अनन्तगुना सुखलाभ करती हैं। श्रीराधाजीके इस सुखकी स्थितिपर विचार करके श्रीकृष्ण इस प्रेमके आश्रय बनते हैं और वे नित्य श्रीराधाको आराध्या मानकर उनकी सेवा-उपासना करके उन्हें सुख पहुँचाना चाहते हैं। यह उनका परस्पर आश्रय-विषयसम्बन्ध नित्य है। यही प्रेमका वह सर्वोच्च स्तर है, जहाँतक मानवबुद्धि अनुमान लगा सकती है। यों तो वास्तविक प्रेम उत्तरोत्तर प्रतिक्षण वर्धनशील है और वह सर्वथा अनिर्वचनीय ही नहीं, अचिन्त्य भी है। इस प्रेमके मूर्तिमान् दिव्य चिन्मय विग्रह श्रीराधा-कृष्ण-युगल हैं। यही इनका युगल-स्वरूप है। प्रेमी साधक इन्हीं श्रीराधामाधव-युगलकी उपासना किया करते हैं।

साधक अपनी रुचि तथा स्थितिके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णके या श्रीराधाके एक रूपकी भी उपासना कर सकते हैं; क्योंकि श्रीकृष्ण और श्रीराधा नित्य एक हैं और वे एक दूसरेमें सदा समाये हुए हैं; अतएव एककी उपासनासे दोनोंकी उपासना हो जाती है। तथापि साधक चाहें तो एक साथ 'युगल-स्वरूप'की उपासना कर सकते हैं। पर स्मरण रखना चाहिये कि युगल-स्वरूपकी उपासना साधक अपनी-अपनी रुचिके अनुसार श्रीलक्ष्मीनारायण, श्रीगौरी-शंकर, श्रीसीताराम, श्रीराधामाधव आदि किसी भी युगल-स्वरूपकी कर सकते हैं। भगवान् तथा भगवती-जैसे शक्तिमान् तथा शक्तिके रूपमें सदा एक हैं, वैसे ही भगवान्‌के सभी लीलारूप तथा भगवतीके सभी लीलारूप भी एक ही परमतत्त्वके विभिन्न स्वरूप हैं।

श्रीराधा-माधव दोनों मङ्गलस्वरूपोंके पृथक्-पृथक् विग्रहकी चित्रपट, मूर्ति अथवा मानस—किसी भी रूपमें उपासना की

जा सकती है। पर उसमें श्रीराधामाधवकी धारणात्मक मूर्तियाँ अनन्य असमोर्द्ध्व सौन्दर्य-माधुर्यमयी होनी चाहिये। श्रीराधामाधव अनन्त दिव्य रस-समुद्र हैं।

कोटि-कोटि शत मदन-रति सहज विनिन्दक रूप।
श्रीराधा-माधव अतुल शुचि सौन्दर्य अनूप॥
मुनि-मन-मोहन, विश्वजन-मोहन मधुर अपार।
अनिर्वाच्य, मोहन-स्वमन, चिन्मय सुख रस-सार॥
शक्ति, भूति, लावण्य शुचि, रस, माधुर्य अनन्त।
चिदानन्द-सौन्दर्य-रस-सुधा-सिन्धु, श्रीमन्त॥

श्रीमाधव नित्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय नीलकान्तिमय परमोज्ज्वल मरकतमणि हैं और श्रीराधा नित्य निरुपम निरुपाधि चिन्मय स्वर्णकेतकी-सुमन हैं। दोनों ही अपने-अपने सौन्दर्य-माधुर्यसे परस्पर नित्य आकर्षणशील हैं। दोनों ही दोनोंके गुणोंपर नित्य मुग्ध हैं। एक ही परमतत्त्व दो रूपोंमें अपने-अपने अन्तरके मधुरतम भावोंसे एक दूसरेके प्रति लोलुप होकर निरुपम निरुपाधि अनिर्वचनीय सुषमासे सम्पन्न और परस्परके मधुरतम सुखविधानमें संलग्न हैं।

इन श्रीराधा-माधवके सर्वविध सात्त्विक शृङ्गारयुक्त दिव्य चिन्मय युगल-विग्रहकी उपासना साधक अपने-अपने भावानुसार कर सकते हैं।

युगल-स्वरूपके उपासकको उपासनासे पूर्व गौणरूपसे कायिक, वाचिक, मानस—तीन व्रतोंसे युक्त होना चाहिये।

एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्।
इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर॥
वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्।
अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता।
एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये॥

देवर्षि नारदजीने राजा अम्बरीषसे कहा है—

'राजन्! दिन भरमें एक बार अपने-आप जो कुछ मिल जाय, उसे खा लेना और रातको उपवास करना—(अर्थात् जीभको वशमें रखना) यह 'कायिक व्रत' कहलाता है। वेदका (वेदमूलक शास्त्रोंका, संत-वाक्योंका) अध्ययन, भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन-कथन, सत्य (अनुद्वेगकारक, प्रिय-मधुर और हितकारक) भाषण और किसीकी भी निन्दा-चुगली न करना—यह 'वाचिक व्रत' कहलाता है। और अहिंसा (किसीका भी अनिष्ट-चिन्तन तक न करना), किसीकी वस्तुपर मन न चलाना, मनसे भी ब्रह्मचर्यका पालन करना तथा कपट, दम्भ न करना—'मानस व्रत' है।'

साधकको शरीरसे या मनसे ही श्रीराधामाधव-तत्त्वके ज्ञाता प्रेमस्वरूप सद्गुरुकी सेवामें रहकर उनसे दीक्षा लेनी चाहिये। कान फूँकनेवाले तथा मान-द्रव्यादिकी आशासे गुरु-पदका ग्रहण करनेवाले यथार्थ गुरु नहीं होते। यहाँ श्रीकृष्ण-प्रेममय पुरुष ही गुरु हैं। उनके संक्षेपमें ये लक्षण हैं—

शान्तो विमत्सरः कृष्णे भक्तोऽनन्यप्रयोजनः।
अनन्यसाधनो धीमान् कामक्रोधविवर्जितः॥
श्रीकृष्णरसतत्त्वज्ञः कृष्णमन्त्रविदांवरः।
कृष्णमन्त्राश्रयो नित्यं लोभहीनः सदा शुचिः॥
सद्धर्मशासको नित्यं सदाचारनियोजकः।
सम्प्रदायी कृपापूर्णो विरागी गुरुरुच्यते॥

'गुरु उन्हें कहते हैं जो शान्त (-चित्त) हों, किसीसे डाह न करते हों, श्रीकृष्णके भक्त हों, श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके सिवा जिनको दूसरा कोई भी प्रयोजन न हो, काम-क्रोधसे सर्वथा रहित हों, श्रीकृष्णके रस-तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले हों, श्रीकृष्णके मन्त्र जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ हों, श्रीकृष्णके मन्त्रका ही सदा आश्रय रखते हों, लोभसे सर्वथा रहित हों, अंदर और बाहरसे, मनमें तथा व्यवहारमें पवित्र हों, सच्चे धर्मका उपदेश करनेवाले हों, सदाचारमें लगानेवाले हों, श्रीराधामाधव-तत्त्व जाननेवाले सम्प्रदायमें हों और जिनका हृदय कृपासे पूर्ण हो एवं जो भुक्ति-मुक्ति दोनोंमें ही राग न रखते हों।'

साधकको कृतज्ञता, निरभिमानिता, नियमानुवर्तिता, विनय, सरलता, श्रद्धा और सेवा आदि गुणोंसे युक्त होकर गुरुदेवसे रहस्य जानना तथा तदनुसार आचरण करना चाहिये। शास्त्रमें कहा गया है कि 'गुरुदेव' ऐसे साधकको ही यह परम रहस्यमय विषय बतलावें 'जो श्रीकृष्णका अनन्य भक्त हो और दम्भ, लोभ, काम-क्रोधसे सर्वथा रहित हो'—

श्रीकृष्णेऽनन्यभक्ताय दम्भलोभविवर्जिने।
कामक्रोधविमुक्ताय देयमेतत् प्रयत्नतः॥

साधकको तन-मन-वचनका संयम रखते हुए चातककी एक निष्ठाकी भाँति श्रीराधामाधव-युगलका ही अनन्य आश्रय रखना और उन्हींसे प्रेम-याचना करनी चाहिये। तथा—

सुचिरं प्रोषिते कान्ते यथा पतिपरायणा।
प्रियानुरागिणी दीना तस्य सङ्गैककाङ्क्षिणी॥
तद्गुणान् भावयेन्नित्यं गायत्यभिश्रृणोति च।
श्रीकृष्णगुणलीलादेः स्मरणादि तथाऽऽचरेत्॥

'जैसे बहुत समयसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा स्त्री केवल उस पतिपर ही प्रेम करती हुई तथा एकमात्र उसीके सङ्गकी आकाङ्क्षा करती हुई, दीन होकर, सदा पतिके गुणोंका स्मरण करती है, पतिके ही गुणोंको गाती-सुनती है; वैसे ही अधिकारी साधकको एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णमें आसक्त होकर उनके गुणों और लीलाओंको सुनना, गाना और स्मरण करना चाहिये।'

साधकको सर्वथा 'कामविजयी' होना चाहिये। कामी मनुष्य दिव्य श्रीराधा-माधव-युगलकी मधुर उपासनाका कदापि अधिकारी नहीं है। साथ ही, उसे दम्भ, द्रोह, द्वेष, कामना, लोभ तथा विषयासक्ति—इन छः दोषोंसे सर्वथा मुक्त होना चाहिये। असत्सङ्ग (धन, स्त्री, मान, विषय-वासना बढ़ानेवाले दृश्य, साहित्य, पदार्थ, व्यक्ति एवं वातावरण तथा इनके सङ्गियों) का परित्याग, इन्द्रियसुखकी वासनाका त्याग, जनसंसर्गमें अरति, श्रीकृष्णके नाम-गुण-चरित्र-लीलादिके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयके श्रवण-कथन-मननसे चित्तकी सर्वथा विरक्ति तथा उपरति और निजसुख (इहलोक-परलोकके समस्त भोग तथा मोक्ष) की इच्छाका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

इस प्रकार करनेवाला श्रद्धालु साधक ही श्रीराधामाधव-युगलकी उपासनाका और उनके प्रेमका अधिकारी है।

अब यहाँ श्रीराधा माधव-युगलकी पूजाकी संक्षिप्त विधि लिखी जाती है। मानस या श्रीविग्रहकी स्थापनाकर साधक पूजा कर सकते हैं।

श्रीवृन्दावनमें यमुनाके तीरपर अनेक प्रकारके वृक्ष-लताओंका एक बृहत् वन-कुञ्ज है। भाँति-भाँतिके पुष्प खिले हुए हैं और उनपर मधुपान-मत्त भ्रमरोंके समुदाय गुञ्जार कर रहे हैं। यमुनाजीमें वायुके झोंकोंसे सुन्दर मन्द-मन्द तरङ्गें नाच रही हैं; भाँति-भाँतिके कमल खिल रहे हैं। वहीं श्रीराधामाधव एक कदम्ब वृक्षके नीचे विराजित हैं। श्रीकृष्णके वाम पार्श्वमें श्रीराधिकाजी हैं। इस प्रकार ध्यान करके वृन्दावनकी कल्पना करे। तदनन्तर निम्नलिखित रूपमें श्रीराधामाधवका स्मरण तथा ध्यान करे—

गोविन्दका ध्यान

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसङ्घावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे॥

'प्रफुल्ल नील कमलके समान जिनकी श्याम मनोहर कान्ति है, मुखमण्डलकी चारुता चन्द्रबिम्बको भी विलज्जित करती है, मोरपंखका मुकुट जिन्हें अधिक प्रिय है, जिनका वक्ष स्वर्णमयी श्रीवत्सरेखासे समलंकृत है, जो अत्यन्त तेजस्विनी कौस्तुभमणि धारण करते हैं और रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं, गोपसुन्दरियोंके नयनारविन्द जिनके श्रीअङ्गोंकी सतत अर्चना करते हैं, गौओं तथा गोपकिशोरोंके संघ जिन्हें घेरकर खड़े हैं तथा जो दिव्य अङ्गभूषासे विभूषित हो मधुरातिमधुर वेणुवादनमें संलग्न हैं, उन परम सुन्दर गोविन्दका मैं भजन करता हूँ।'

श्रीराधिकाका ध्यान

हेमाभां द्विभुजां वराभयकरां नीलाम्बरेणावृतां
श्यामक्रोडविलासिनीं भगवतीं सिन्दूरपुञ्जोज्ज्वलाम्।
लीलाक्षीं नवयौवनां स्मितमुखीं बिम्बाधरां राधिकां
नित्यानन्दमयीं विलासनिलयां दिव्याङ्गभूषां भजे॥

'जिनके गोरे-गोरे अङ्गोंकी हेममयी आभा है, जो दो ही भुजाओंसे युक्त हैं और दोनों हाथोंमें क्रमशः वर एवं अभयकी मुद्रा धारण करती हैं, नीले रंगकी रेशमी साड़ी जिनके श्रीअङ्गोंका आवरण बनी हुई है, जो श्यामसुन्दरके अङ्कमें विलास करती हैं, सीमन्तगत सिन्दूरपुञ्जसे जिनकी सौन्दर्यश्री और भी उद्भासित हो उठी है; चपल नयन, नित्य नूतन यौवन, मुखपर मन्दहासकी छटा तथा बिम्बफल-की अरुणिमाको भी तिरस्कृत करनेवाला अधर-राग जिनका अनन्यसाधारण वैशिष्ट्य है, जो नित्य आनन्दमयी तथा विलासकी आवासभूमि हैं, जिनके अङ्गोंके आभूषण दिव्य (अलौकिक) हैं, उन भगवती श्रीराधिकाका मैं चिन्तन करता हूँ।'

तत्पश्चात् मन-ही-मन श्रीराधामाधवका आवाहन करके निम्नलिखित श्लोकोंसे श्रीराधा-माधवको प्रणाम करे—

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते॥

तप्तकाञ्चनगौराङ्गि राधे वृन्दावनेश्वरि ।
वृषभानुसुते देवि त्वां नमामि हरिप्रिये ॥

तदनन्तर श्रीराधामाधवके चरणोंका विशुद्ध प्रेम प्राप्त करनेके उद्देश्यसे पूजनका संकल्प करे और पूजा आरम्भ कर दे—

आसन—

इदमासनं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।
'श्रीकृष्ण ! प्रभो ! इदमासनं सुखमास्यताम्'
इदमासनं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।
'श्रीराधे ! भगवति ! इदमासनं सुखमास्यताम् ।'

इस मन्त्रके द्वारा सुमनोहर आसन प्रदान करे । अभावमें पुष्प अर्पण करे ।

स्वागत—निम्नलिखित वाक्यके द्वारा सादर अभ्यर्थना करके कुशल-प्रश्न करे—

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये ।
तस्य ते परमेशान ! सुस्वागतमिदं वपुः ॥
'भो भगवन् श्रीकृष्ण ! स्वागतं सुस्वागतम् ।
हे श्रीकृष्ण ! प्रभो ! स्वागतं करोषि ॥'

यस्य दर्शनमिच्छन्ति देवाः सर्वार्थसिद्धये ।
तस्य ते राधिके देवि ! सुस्वागतमिदं वपुः ॥
'भो भगवति श्रीराधिके ! स्वागतं सुस्वागतम् ।
हे राधिके ! परमेश्वरि ! स्वागतं करोषि ॥'

पाद्य—किसी चाँदी, ताम्र या पीतलके पात्रमें चन्दन-सहित पुष्प और तुलसीदल डालकर जल भर ले और—'एतत् पाद्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।'—कहकर श्रीकृष्णके चरणोंमें जल अर्पण करे । इसी प्रकार—'एतत् पाद्यं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।'—बोलकर श्रीराधाके चरणोंमें जल अर्पण करे ।

अर्घ्य—शङ्खमें जल लेकर—'इदमर्घ्यं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।'—बोलकर श्रीकृष्णके मस्तकपर अर्घ्यजल प्रदान करे । 'इदमर्घ्यं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।'—बोलकर श्रीराधाके मस्तकपर अर्घ्यजल अर्पण करे ।

आचमनीय—दूसरे पात्रमें जल लेकर—'इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।'—बोलकर श्रीकृष्णके हाथोंमें आचमनीय जल अर्पण करे । 'इदमाचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।'—कहकर श्रीराधाके हाथोंमें आचमनीय जल अर्पण करे ।

मधुपर्क—काँसी अथवा चाँदीके पात्रमें (ताँबेका पात्र न हो) मधुपर्क (मधु, घृत, शर्करा, दधि और जल—अभावमें पुष्प, तुलसी और जल) लेकर—'इदं मधुपर्कं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः'—कहकर मधुपर्क-सामग्रीको श्रीकृष्णके मुखमें अर्पण करे । 'इदं मधुपर्कं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।'—कहकर मधुपर्क-सामग्रीको श्रीराधाके मुखमें अर्पण करे ।

पुनराचमनीय—एक पात्रमें जल लेकर 'इ. पुनराचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।'—बोलकर श्रीकृष्णके मुखमें अर्पण करे । इसी प्रकार 'इदं पुनराचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।'—बोलकर श्रीराधाके मुखमें अर्पण करे ।

स्नान—किसी शुद्ध ताम्रपात्र या शङ्खमें कर्पूर, चन्दन, सुवासित शुद्ध जल लेकर—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु ॥

—यह मन्त्र बोलकर जलपर अङ्कुशमुद्रा दिखाकर तीर्थोंका आवाहन करे । तदनन्तर—

वृन्दावनविहारेण श्रान्ते विश्रान्तिकारकम् ।
चन्द्रपुष्करपानीयं गृहाण पुरुषोत्तम ॥

—बोलकर श्रीकृष्णको स्नान करावे—इसी प्रकार श्रीराधाको स्नान करावे ।

वस्त्र—'इदं परिधेयवस्त्रम् इदमुत्तरीयवासश्च श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।'—यह मन्त्र बोलकर बहुत बढ़िया महीन पीला वस्त्र तथा उत्तरीय वस्त्र भगवान्‌को पहना दे । इसी प्रकार—

'इदं परिधेयवस्त्रम् कञ्चुकीम् उत्तरीयवासश्च श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः ।'—यह मन्त्र बोलकर बढ़िया नीले रंगकी साड़ी, कञ्चुकी और किनारीदार ओढ़नी श्रीराधिकाजीके अर्पण करे ।

भूषण—'इमानि भूषणानि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः ।' बोलकर रत्न-स्वर्ण आदि निर्मित अलंकार (हार, मुकुटमणि, कड़े आदि गहने) भगवान्‌को पहना दे ।

इसी प्रकार—

'इमानि भूषणानि श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'—बोलकर राजरानियोंके पहनने-योग्य रत्न-स्वर्णादिके गहने श्रीराधाके अर्पण करे।

गन्ध—केसर-कर्पूर-मिश्रित चन्दन लेकर 'इमं गन्धं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'—कहकर चन्दनको श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंपर लेपन करे या उन्हें अर्पण करे। 'इमं गन्धं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'—कहकर चन्दनको श्रीराधाके श्रीअङ्गोंपर लेपन करे या उन्हें अर्पण करे।

पुष्प—सुगन्धित नाना प्रकारके पुष्प लेकर 'इमानि पुष्पाणि श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'—बोलकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंपर अर्पण करे। 'इमानि पुष्पाणि श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'—बोलकर पुष्प श्रीराधाके श्रीचरणोंपर अर्पण करे।

तुलसीदल—इसके अनन्तर चन्दनसहित तुलसीदल लेकर 'इदं सचन्दनं तुलसीदलं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'—कहकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें आठ बार अर्पण करे।

श्रीराधाजीके तुलसीदल अर्पण नहीं किया जाता।

तदनन्तर श्रीकृष्णके आठ नामोंका उच्चारण करते हुए आठ पुष्पाञ्जलियाँ श्रीकृष्णको अर्पण करे—

श्रीकृष्णाय नमः। श्रीवासुदेवाय नमः। श्रीनारायणाय नमः। श्रीदेवकीनन्दनाय नमः। श्रीयदुश्रेष्ठाय नमः। श्रीवार्ष्णेयाय नमः। श्रीअसुराक्रान्तभूभारहारिणे नमः। श्रीधर्मसंस्थापनार्थाय नमः।

श्रीराधाके आठ नामोंका उच्चारण करते हुए आठ पुष्पाञ्जलियाँ श्रीराधाको अर्पण करे—

श्रीराधिकायै नमः। श्रीरासेश्वर्यै नमः। श्रीकृष्णकान्तायै नमः। नित्यनिकुञ्जेश्वर्यै नमः। वृषभानुसुतायै नमः। गान्धर्विकायै नमः। वृन्दावनमहेश्वर्यै नमः। श्रीकृष्णप्राणाधिकादेव्यै नमः।

धूप—पीतल या चाँदीकी धूपदानीमें धूप रखकर—'इमं धूपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः,'—कहकर श्रीकृष्णको धूप अर्पण करे। 'इमं धूपं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'—कहकर श्रीराधाको धूप अर्पण करे।

दीप—गोघृत या सुगन्धित तैलके द्वारा जलाये हुए दीपकको 'इमं दीपं श्रीकृष्णाय निवेदयामि नमः।'—बोलकर बायें हाथसे घंटी बजाते हुए एवं दायें हाथमें दीपकको लेकर आरतीकी भाँति घुमाते हुए श्रीकृष्णको अर्पण कर दे। 'इमं दीपं श्रीराधिकायै निवेदयामि नमः।'—कहकर दीपकको श्रीराधाको अर्पण कर दे।

नैवेद्य—पवित्र थाली एवं कटोरीमें भोज्य पदार्थ सजाकर धुली हुई चौकी या पाटेपर रख दे और पीनेके लिये एक दूसरे पात्रमें सुवासित जल भरकर रख दे। फिर 'अस्त्राय फट्' मन्त्र बोलकर चक्रमुद्रा दिखलाते हुए नैवेद्यका संरक्षण करे। तदनन्तर किसी शुद्ध पात्रमें स्थापित जलमें 'यं' वायु बीजका १२ बार जप करके उस जलके द्वारा नैवेद्यका प्रोक्षण करे और दाहिने हाथमें 'रं' बीजका स्मरण करते हुए दाहिने हाथकी पीठपर बायाँ हाथ रखकर वह्नि-बीजका उच्चारण करे। इसके द्वारा नैवेद्यकी शुष्कताका दोष दूर होता है। फिर बायें हाथकी हथेलीपर अमृत बीज 'ठं' का स्मरण करके बाएँ हाथकी पीठपर दायाँ हाथ रखकर नैवेद्यको अमृत-धारासे सिक्त करे। पीछे चन्दन और पुष्प लेकर—'एते गन्धपुष्पे श्रीकृष्णाय नमः।'—एवं 'एते गन्धपुष्पे श्रीराधिकायै नमः।'—बोलकर नैवेद्य, श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाका क्रमशः अर्चन करे। फिर बायें हाथसे नैवेद्यके पात्रका स्पर्श करके दाहिने हाथसे गन्ध, पुष्प और जल लेकर 'ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।'—इस मन्त्रका उच्चारण करके—'इदं नैवेद्यं श्रीकृष्णाय कल्पयामि।' 'इदं नैवेद्यं श्रीराधिकायै कल्पयामि।'—बोलकर जलको भूमिपर छोड़ दे। तदनन्तर प्रत्येक नैवेद्यके पात्रमें तुलसीदल रक्खे। फिर दोनों हाथोंद्वारा नैवेद्यपात्रको उठाकर भक्ति और दैन्यके साथ 'निवेदयामि भवते जुषाणेदं हविर्हरे।'—इस मन्त्रका उच्चारण करके दोनोंको नैवेद्य अर्पण करे। पीछे 'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा।'—बोलकर श्रीराधामाधवके हाथोंमें जल देकर बायें हाथके द्वारा 'ग्रास-मुद्रा' दिखावे। तदनन्तर 'प्राणाय स्वाहा।' 'अपानाय स्वाहा।' 'व्यानाय स्वाहा।' 'उदानाय स्वाहा।' 'समानाय स्वाहा।'—इन पाँच मन्त्रोंका क्रमशः उच्चारण करके प्राणादि पाँच मुद्राएँ दिखावे।

पानीयोदक—फिर तुलसीपत्रसे समन्वित सुवासित निर्मल जलसे पूर्णपात्र 'एतत् पानीयोदकं श्रीकृष्णाय निवेदयामि।' एवं 'एतत् पानीयोदकं श्रीराधिकायै निवेदयामि।' बोलकर श्रीकृष्ण एवं श्रीराधाको अर्पण करे। तदनन्तर

नैवेद्यपर दस बार उपर्युक्त अष्टादशाक्षर मन्त्रका जप करके घंटी बजाये और पर्दा लगाकर घरसे बाहर आ जाय और १०८ बार उसी मन्त्रका जप करे तथा मन-ही-मन यह भावना करे कि श्रीराधा-माधव भोजन कर रहे हैं। इसके पश्चात् भोजन-समाप्तिके बाद द्वार खोलकर या पर्दा हटाकर—

आचमन—जलके द्वारा 'इदमाचमनीयं श्रीकृष्णाय निवेदयामि ।' 'इदमाचमनीयं श्रीराधिकायै निवेदयामि ।' कहकर आचमनके लिये जल प्रदान करे ।

ताम्बूल-अर्पण—इसी प्रकार 'एतत् ताम्बूलं श्रीकृष्णाय निवेदयामि ।' 'एतत् ताम्बूलं श्रीराधिकायै निवेदयामि ।'—कहकर श्रीकृष्ण-राधाको ताम्बूल अर्पण करे । बादमें माला-चन्दन आदि अर्पण करे ।

आरती—आसनपर बैठकर कर्पूर मिले हुए गोघृतमें रुईकी बत्तियाँ भिगोकर पाँच दीपककी आरती बनावे और तर्जनी तथा अँगूठेसे उसे पकड़कर दाहिनी ओरसे बायीं ओर और बायीं ओरसे दाहिनी ओर तीन बार या सात बार ले जाये। गात्रमार्जनीय वस्त्र और तुलसीके द्वारा भी इसी प्रकार आरती करे ।

पुष्पाञ्जलि—फिर मूल-मन्त्रका स्मरण करते हुए दीपकपर धेनुमुद्रा दिखाकर श्रीराधामाधवको पुष्पाञ्जलि अर्पण करे। अन्तमें तीन बार या पाँच बार शङ्खध्वनि करके पूजा समाप्त करे। आरतीके समय इस आरतीका गान करे—

राधामाधव-युगलकी आरती

आरति राधा-राधावर की ।
महाभाव रसराज-प्रवर की ॥
स्याम बरन पीतांबरधारी ।
हेम बरन तन नीली सारी ।
सदा परस्पर सुख-संचारी ।
नील कमल कर मुरलीधर की ।
आरति राधा-राधावर की ॥ १ ॥
चारु चन्द्रिका मन-धन-हारी ।
मोर-पिच्छ सुन्दर सिरधारी ।
कुंजेश्वरि नित कुंजबिहारी ।
अधरनि मृदु मुसुकान मधुर की ॥
आरति राधा-राधावर की ॥ २ ॥
प्रेम दिनेस कामतम-हारी ।
रहित सुखेच्छा निज, अविकारी ।
आश्रय-विषय परस्पर-चारी ।
पावन परम मधुर रसधर की ।
आरति राधा-राधावर की ॥ ३ ॥
निज-जन-नेह अमित विस्तारी ।
उर पावन रस-संग्रहकारी ।
दिव्य सुखद: दुख-दैन्य-विदारी ।
भक्त-कमल हित हिय-सरवर की ॥
आरति राधा-राधावर की ॥

आरतीके समय मृदङ्ग, ढोल, झाँझ, करताल आदि बजाने चाहिये । आरती करनेके पश्चात् उपस्थित व्यक्तियोंको आरती दिखावे और आरतीके जलके छींटे उनपर डाले । तत्पश्चात् प्रसाद-वितरण करे । अन्तमें निम्नलिखित श्लोकोंके द्वारा स्तुति करे—

कातर-प्रार्थना

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन !
यत्पूजितं मया देव ! परिपूर्णं तदस्तु मे ॥
यद्दत्तं भक्तिमात्रेण पत्रं पुष्पं फलं जलम् ।
आवेदितं निवेद्यान्तं तद् गृहाणानुकम्पया ॥
त्राहि मां पापिनं घोरं धर्माचारविवर्जितम् ।
नमस्कारेण देवेश ! दुस्तराद्भवसागरात् ॥
दैन्यार्णवे निमग्नोऽस्मि मन्तुग्राव भरार्दितः ।
दुष्टे कारुण्यपारीण ! मयि कृष्ण ! कृपां कुरु ॥
अज्ञानादथवा ज्ञानादशुभं यन्मया कृतम् ।
क्षन्तुमर्हसि तत्सर्वं दास्येनैव गृहाण माम् ॥
आधारोऽप्यपराधानामविवेकहतोऽप्यहम् ।
त्वत्कारुण्यप्रतीक्ष्योऽस्मि प्रसीद मयि माधव ॥
युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवती यथा ।
मनोऽभिरमते तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि ॥
नाथ ! योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि ॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥
न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

श्रीराधा-माधव युगलसे कृपाभिक्षा

राधे ! वृन्दावनाधीशे ! करुणामृतवाहिनि ।
कृपया निजपादाब्जे दास्यं मह्यं प्रदीयताम् ॥
तवास्मि राधिकानाथ ! कर्मणा मनसा गिरा ।
कृष्णकान्ते ! तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम ॥
योऽहं ममास्ति यत् किंचिदिहलोके परत्र च ।
तत् सर्वं भवतोरद्य चरणेषु मयार्पितम् ॥
संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रग्रहाकुलात् ।
गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ ॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि ॥

अपराध-क्षमापन

अपराधसहस्राणि क्रियन्तेऽहर्निशं मया ।
दासोऽयमिति मां मत्वा तत्सर्वं क्षन्तुमर्हसि ॥

तदनन्तर इच्छा हो तो निम्नलिखित स्तोत्रका पाठ करे—

नवजलधरविद्युद्द्योतवर्णौ प्रसन्नौ
वदननयनपद्मौ चारुचन्द्रावतंसौ ।
अलकतिलकभालौ केशवेशप्रफुल्लौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
वसनहरितनीलौ चन्दनालेपनाङ्गौ
मणिमरकतदीप्तौ स्वर्णमालाप्रयुक्तौ ।
कनकवलयहस्तौ रासनाट्यप्रसक्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अतिमधुरसुवेशौ रङ्गभङ्गीत्रिभङ्गौ
मधुरमृदुलहास्यौ कुण्डलाकीर्णकर्णौ ।
नटवरवररम्यौ नृत्यगीतानुरक्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
विविधगुणविदग्धौ वन्दनीयौ सुवेशौ
मणिमयमकराद्यैः शोभिताङ्गौ स्फुरन्तौ ।
स्मितनमितकटाक्षौ धर्मकर्मप्रदत्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
कनकमुकुटचूडौ पुष्पितोद्भूषिताङ्गौ
सकलवननिविष्टौ सुन्दरानन्दपुञ्जौ ।
चरणकमलदिव्यौ देवदेवादिसेव्यौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अतिसुवलितगात्रौ गन्धमाल्यैर्विराजौ
कतिकतिरमणीनां सेव्यमानौ सुवेशौ ।
मुनिसुरगणभाव्यौ वेदशास्त्रादिविज्ञौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अतिसुमधुरमूर्तौ दुष्टदर्पप्रशान्तौ
सुरवरवरदौ द्वौ सर्वसिद्धिप्रदानौ ।
अतिरसवशमग्नौ गीतवाद्यप्रतानौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
अगमनिगमसारौ सृष्टिसंहारकारौ
वयसि नवकिशोरौ नित्यवृन्दावनस्थौ ।
शमनभयविनाशौ पापिनस्तारयन्तौ
भज भजतु मनो रे राधिकाकृष्णचन्द्रौ ॥
इदं मनोहरं स्तोत्रं श्रद्धया यः पठेन्नरः ।
राधिकाकृष्णचन्द्रौ च सिद्धिदौ नात्र संशयः ॥

पूजाके पश्चात् अपने इच्छानुसार नियमितरूपसे भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीराधाके मन्त्रका जप करे ।

श्रीकृष्ण-मन्त्र

१—अष्टादशाक्षर मन्त्र

ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा ।

२—दशाक्षर मन्त्र ।

ॐ क्लीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा ।

३—गोपाल-गायत्री

ॐ कृष्णाय विद्महे दामोदराय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात् ।

श्रीराधा-मन्त्र

(१) ॐ ह्रीं श्रीराधिकायै नमः ।

श्रीराधा-गायत्री—

(२) ॐ ह्रीं राधिकायै विद्महे गान्धर्विकायै धीमहि तन्नो राधा प्रचोदयात् ।

श्रीराधामाधव-युगल महाभाव-रसराज ।
करुना करियो दीन पै रहियो हृदयँ बिराज ॥
दीजौ निज पद कमल की प्रीति पवित्र अनन्य ।
प्रभु-सुख-हित सेवा बनै सुचि जीवन हो धन्य ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाका प्रधान साधन—भक्ति

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे)

अविनाशी, विज्ञानानन्दघन, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, सर्वलोकमहेश्वर विचित्र दिव्य लीलामय श्रीभगवान्‌की प्राप्तिका सरलतम साधन 'भक्ति' बतलाया गया है। महर्षि शाण्डिल्यके कथनानुसार—'सा परानुरक्तिरीश्वरे।'—ईश्वरमें परमानुराग, अर्थात् परम प्रीतिका नाम ही 'भक्ति' है। नारदभक्तिसूत्र (२)में आता है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।'—उस परमात्मामें अतिशय प्रेमरूपता ही 'भक्ति' है।' 'अमृतस्वरूपा च।' (ना० ३) और वह अमृतरूप है।

आबाल-वृद्ध सभीका भक्तिमें अधिकार है। सभी वर्णों एवं सभी श्रेणीके व्यक्तियोंका समान अधिकार है भक्तिमें। किंतु भक्ति प्राप्त होनेमें कठिनता भी है। भगवान्‌से सांसारिक सुखोंकी याचना करके मनुष्य उन्हींमें उलझ जाता है। भगवान् भी शीघ्र भक्तिका दान नहीं करते।

'मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्।'

(भागवत ५।६।१८)

'भगवान् मुक्ति तो दे देते हैं, किंतु भक्ति सरलतासे नहीं देते हैं।' क्योंकि उनको भगवच्चरणोंमें भक्ति करनेवाले, प्रीति रखनेवाले भक्तके वशमें हो जाना पड़ता है। धरतीपर मनुष्यके रूपमें अवतरित होना, नंगे पाँव गो-गोवत्सोंके पीछे दौड़ना—सबकुछ करना पड़ता है। अपनी भगवदीय शक्तिको विसारकर भक्तके पीछे-पीछे डोलना पड़ता है। उन गोलोकविहारी प्रभुको भक्तका मुँह निहारते रहना पड़ता है। वे सर्वथा परवश हो जाते हैं—अपने भक्तके।

'भक्त्या संजातया भक्त्या' (भागवत ११।३।३१)—भक्तिका फल भक्ति ही है। हो भी क्यों नहीं? सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—ये सब मुक्ति भक्त चाहें तब न! उन्हें तो बस, परम प्रियतम प्रभुके स्मरण, मनन, चिन्तनादिमें ही अतिशय आनन्दकी उपलब्धि होती है। यही भक्तिकी विशेषता है।

'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।'

(हरिभक्तिरसायन ५।१।२१)

'श्रीकृष्णके अनुकूल होकर उनका चिन्तन करना उत्तम भक्ति है।' भुक्ति-मुक्तिकी कामना भगवद्भक्तिमें बाधक है। वह प्राणीको कमलनयन श्रीकृष्णसे दूर हटाती जाती है। इसी कारण 'भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा'को पिशाची कहा गया है। यह राक्षसी श्रीकृष्णके सम्मुख नहीं होने देती। सब कुछ छोड़कर, सर्वथा अनाश्रित, अनाथ, असहाय और अनुपाय होकर उस नटवरकी ओर जो देखने लगते हैं, उनकी ओर वह सदय दृष्टिसे निहारने लगता है। अतः इस पिशाचीसे प्राण बचानेमें ही परम कल्याण है। सकल-कल्याण-गुणगणैक-सिन्धुके समीप जानेमें सुगमता है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेद्॥

'जबतक भोग-प्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्तिकी कामनारूपी पिशाची हृदयमें बैठी है, तबतक हृदयमें प्रेमके आनन्दका अभ्युदय कैसे हो?'

इस भक्तिके श्रीप्रह्लादजीने नौ भेद बतलाये हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥*

(श्रीमद्भागवत ७।५।२३)

'भगवान्‌के गुण-लीला-नाम आदिका श्रवण, उन्हींका कीर्तन, उनके रूप-नाम आदिका स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा-अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—भगवान्‌की उपासनाके, उन्हें प्रसन्न करनेके लिये यह नौ प्रकारकी भक्ति है, सुमनमय पथ है।'

जगद्वन्द्य भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्राणप्रिय सखाको अपने ही मुखारविन्दसे अपनी प्रसन्नताका, अपना प्रेम प्राप्त करने और स्वयं पराधीन हो जानेका साधन बतलाया है। वे अपने सखा श्रीकृष्णके साथ निरन्तर रह रहे थे। गीतावक्ता श्रीकृष्णके स्वरूप-ध्यानके सम्बन्धमें गीताध्यानमें आया है—

---

* प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

(रामचरितमानस अरण्य०)

प्रपन्नपारिजाताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥

'जो शरणागतके लिये कल्पवृक्षरूप हैं, जिनके एक हाथमें घोड़ोंकी लगाम और चाबुक है, दूसरा ज्ञानमुद्रासे सुशोभित है, ऐसे गीतामृतको दूहनेवाले श्रीकृष्णको प्रणाम है ।'

अर्जुनके सखा श्रीकृष्णके वीरवेषका ध्यान करते हुए शरशय्यापर पड़े वीरवर पितामहने कहा था—

त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं
रविकरगौरवराम्बरं दधाने ।
वपुरलककुलावृताननाब्जं
विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥
युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक-
कचलुलितश्रमवार्यलंकृतास्ये ।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा ॥
(श्रीमद्भागवत १ । ९ । ३३-३४)

'जिनका शरीर त्रिभुवनसुन्दर एवं श्याम तमालके समान साँवला है, जिसपर सूर्यरश्मियोंके समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता रहता है और कमलसदृश मुखपर घुँघुराली अलकें लटकती रहती हैं, उन अर्जुन-सखा श्रीकृष्णमें मेरी निष्कपट प्रीति हो ।'

'मुझे युद्धके समय उनकी यह विलक्षण छवि याद आती है । उनके मुखपर लहराते हुए घुँघुराले बाल घोड़ोंकी टापकी धूलसे मटमैले हो गये थे और पसीनेकी छोटी-छोटी बूँदें मुखपर शोभायमान हो रही थीं । मैं अपने तीखे बाणोंसे उनकी त्वचाको बींध रहा था । उन सुन्दर कवचमण्डित भगवान् श्रीकृष्णके प्रति मेरा शरीर, अन्तःकरण और आत्मा समर्पित हो जाय ।'

और जिन गीतागायक श्रीकृष्णने अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले एवं बहुतसे दिव्य भूषणोंसे युक्त, बहुतसे दिव्य शस्त्रोंको हाथमें उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए, दिव्य गन्धका अनुलेपन किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, असीम, विराट्स्वरूप अपने प्रिय सखा पार्थको दिखलाया, उन्होंने ही अपने श्रीमुखसे अपनी उपासनाका मार्ग बतलाया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(गीता १८ । ६५)

'हे अर्जुन ! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर । ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है ।'

यहाँ श्रीकृष्ण-प्राप्तिके लिये श्रीकृष्णने ही अपने ही श्रीमुखसे चार साधन बतलाये हैं। १. भगवान्में मन लगाना, २. भगवान्का भक्त बनना, ३. भगवान्की पूजा करना और ४. भगवान्को ही नमस्कार करना ।

(१)

'मन्मना भव'—तू 'मुझमें मनवाला हो' । विश्वके अणु-परमाणुमें व्याप्त वे प्रभु तो हमारे अपने हैं ही, हमारे पास ही हैं । हमसे मिलनेके लिये वे बार-बार आते हैं, द्वार खट-खटाते हैं; पर हम उनकी परवा ही नहीं करते, उपेक्षा कर देते हैं । वे निराश, उदास मुँह लटकाये लौट जाते हैं।

वे प्रेममय श्रीकृष्ण हमें चाहते हैं, हमारा मन अपने मनमें मिलाना चाहते हैं, हमारे प्राणसे अपना प्राण मिलाकर एक कर देना चाहते हैं, हमें 'हम' रहने ही नहीं देना चाहते, पर हम हैं कि उधर भूलकर भी नहीं देखते; धन, यश, स्त्री-पुत्र तथा इन्द्रियोंकी आसक्तिमें पड़े रहते हैं । हमें यहीं सुखकी अनुभूति होती है और सम्पूर्ण सुखोंकी खानि श्रीकृष्णको हम छोड़ देते हैं । हम कितने अभागे हैं ! संसारके सभी पदार्थोंसे ममता और आसक्ति त्यागकर उनके बनें। बस, हमारी पूजा तुरंत स्वीकार होगी ।

श्रीकृष्णसे प्रीति करनेवालोंकी, उनमें ही आसक्ति रखनेवालोंकी कई श्रेणियाँ हैं । वे अपनी भावनाके अनुसार श्रीकृष्णकी लीलाओंमें मन लगाकर प्रेमके रूपमें उनकी उपासना ही करते हैं । वे उन्हें सर्वथा अपना मानते हैं और अपने उनके बने रहते हैं । वे अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल उनका ध्यान करते रहते हैं, उनकी लीलाओंका स्मरण-चिन्तनकर पवित्र हो जाते हैं तथा अपने कुलको पावन बना देते हैं । उनके अनेक भेद होनेपर भी मुख्यतः पाँच प्रकारके भक्त देखे जाते हैं । (१) 'सख्यासक्ति'—इसमें ग्वालबाल आते हैं । वे श्रीकृष्णको अपना परम सखा समझते हैं । उनके साथ खेलते हैं, कूदते हैं । उनकी पीठपर चढ़ते

हैं। झगड़ा भी कर बैठते हैं; पर श्रीकृष्णके विना रह नहीं पाते। (२) 'वात्सल्यासक्ति'—नन्द-यशोदाकी आसक्ति इसी कोटिकी है। अपने पुत्रकी भावनासे वे रात-दिन श्रीकृष्ण-सुखके लिये चिन्तित रहते हैं। श्रीकृष्णको कुछ हो न जाय, इस भयसे वे भयभीत रहते हैं। मैया यशोदा श्रीकृष्णके लिये अपने ही हाथों नवनीत तैयार करती हैं। उनकी एक-एक लीला देखकर मुग्ध होती रहती हैं। नन्द-यशोदाके प्राण पुत्रभावसे सदा-सर्वदा श्रीकृष्णपर अर्पित रहते हैं। (३) 'कान्तासक्ति'—यह आसक्ति गोपाङ्गनागणमें है। उनका तन, मन, धन, प्राण, रोम-रोम, यहाँतक कि प्रत्येक श्वास श्रीकृष्णके प्रति अर्पित हैं। श्रीकृष्ण ही उनके सर्वस्व—उनके प्राणधन हैं। सर्वगुणातीत, सर्वलोकमहेश्वर, अनन्त महिमामण्डित श्रीकृष्णको तो वे जानती ही नहीं। वे तो नवनीतोपम सुकोमल मयूरपिच्छधारी, पीताम्बर पहने श्रीकृष्णको अपना प्रियतम मानकर उनमें मन लगाये रहती हैं। व्रजमें इन्हीं तीनों आसक्तियोंका प्रकाश हुआ है और जब जीवका मन भगवान् ले लेते हैं, तब दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। (४) 'शान्तासक्ति' और (५) 'दास्यासक्ति'में इतर भक्त आते हैं। इनमें किसी प्रकारसे भी उन व्रजेन्द्रनन्दनमें अपना मन लग जाय, यही मनुष्य-जीवनकी सफलताका साधन है।

(२)

फिर भगवान् कहते हैं—'मद्भक्त'—'तू मेरा भक्त बन।' निखिल सृष्टि-नियामक परमेश्वर—श्रीकृष्ण ही हमारे सब कुछ हैं, उनके अतिरिक्त किंचिन्मात्र भी दूसरी ओर आशा-विश्वास न हो। अपने आराध्य, स्वामी, संरक्षक और परमगति उनके अतिरिक्त और कोई नहीं। इस प्रकार उनकी ओर आँख लगी रहे, मन उनकी बाट देखता रहे, यह उनकी भक्ति है। इस प्रकारकी भक्ति करना श्रीकृष्णका भक्त बनना है।

भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६५)

'जो भक्त स्त्री, पुत्र, घर, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक और परलोक—सबको छोड़कर केवल मेरी शरणमें आ गये हैं, उन्हें छोड़नेका विचार ही मैं कैसे कर सकता हूँ!'*

इस प्रकार भगवान्‌का भक्त बन जानेपर, अपना सर्वस्व उन्हें समझ लेनेपर सम्पूर्णतया उन्हींका आश्रय ले लेनेपर—उनकी शरण हो जानेपर—भगवान् भी अपने बन जाते हैं। सर्वथा निश्छल भावसे, मन, वाणी और क्रियासे जो उन सर्वलोक-विधायककी शरण हो जाते हैं, उनको पवित्र करनेकी तथा उनके लोक-परलोकका सारा दायित्व लेनेकी वे सुस्पष्ट घोषणा कर चुके हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(गीता १२।७)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

'अर्जुन! मुझमें चित्तको प्रविष्ट करा देनेवाले उन भक्तोंको मृत्युरूप संसार-सागरसे बहुत ही शीघ्र मैं पार कर देता हूँ। इसलिये सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा; तू शोक मत कर।'

अपने भक्तोंके लिये जगदाधार, जगदात्मा, जगत्त्राता-का यह आश्वासन कितनी आशा एवं विश्वासका द्योतक है। कितना बड़ा आसरा है यह उनपर निर्भर रहनेवाले उनके स्वजनोंके लिये। किंतु इतना ही नहीं, वे करुणा-वरुणालय भक्तवत्सल श्रीकृष्ण भक्तके परवश होकर अर्जुन-के सारथि बन गये। वे भक्तके वशमें हो जाते हैं। उनके अधीन हो जाते हैं। उन्होंने अपने श्रीमुखसे दुर्वासाजीसे कहा भी है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ। मुझमें

* जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥
(मानस, सुन्दर०)

तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे सीधे-सादे सरल भक्तोंने मेरे हृदयको अपने वशमें कर रक्खा है। भक्तजन मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे।'

और भक्त क्षणार्द्धके लिये भी भगवान्‌से विमुख नहीं होना चाहता। वह अच्छी तरह जानता है कि हम अपने प्रभुकी धरतीपर खड़े हैं, अपने प्रभुके अन्न-जलसे ही हमारा पोषण हो रहा है, उनकी वायुमें ही हमारी श्वास-क्रिया चल रही है, उनकी सत्तासे ही हमारी सत्ता है, उनके बिना हम कुछ हैं ही नहीं;—इस प्रकारके विचारोंसे श्रीकृष्णमें उसकी वृत्ति उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती चली जाती है। वह अपने प्राणवल्लभमें विलीन होता चला जाता है। उनके बिना, उनके स्मरणके बिना, उसका जीवन सर्वथा शून्य-सा हो जाता है। प्रियतम प्रभुका विस्मरण उसके लिये महापाप बन जाता है।

(३)

फिर भगवान् कहते हैं, 'मद्याजी'—'तू मेरा पूजन करनेवाला बन।' सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी और समस्त ऐश्वर्य आदिके समुद्र श्रीकृष्ण ही पूज्य हैं। वे जगदाधार जगत्पूज्य हैं।

श्रीकृष्णका मानसिक या षोडशोपचार-पूजन—उनकी पूजा है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९। २६)

'जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।'

पत्र, पुष्प, फल और जल—ये वस्तुएँ बड़ी सरलतासे प्राप्त हो जाती हैं। भगवान्‌को कपटशून्य, सरल मनसे प्रेमपूर्वक जो कुछ अर्पित किया जाता है, वे उसे बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेते हैं और तृप्त हो जाते हैं। विदुरके घर केला, सुदामाके तन्दुल, द्रौपदीका साग, गजराजका पुष्प, शबरीके बेर और रन्तिदेवका प्रेमपूर्वक दिया हुआ जल—भगवान्‌को तृप्त कर चुका है। भगवान्‌ने कहा है—'श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि।' (श्रीमद्भागवत ११। २७। १७) 'श्रद्धापूर्वक यदि जल भी अर्पण किया जाय, तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है।'

भगवान् श्रीकृष्णके अमृतमय उपदेशोंका श्रवण, मनन एवं तदनुकूल आचरण करना उनकी पूजा है। उनकी पवित्र लीलाओंका गान करना तथा दूसरोंको वह अमृतमयी लीला सुनाना उनकी पूजा है। उनकी लीलाभूमिका श्रद्धा तथा विश्वासके साथ सेवन भी उनकी पूजाके ही अन्तर्गत है। श्रीकृष्ण जल, थल तथा नभमें और इन तीनोंमें रहनेवाले प्राणियोंमें तथा अखिल सृष्टिके कण-कण, तरु-लता-वल्लरियों, पर्वत आदि प्रत्येक वस्तुमें व्याप्त हैं—उनके रूपमें वे ही अभिव्यक्त हैं; उन-उन रूपोंमें हमारे मुरलीमनोहर मयूरमुकुटी श्यामसुन्दर ही विराजित हैं।—इस भावसे सबका संरक्षण और सबकी सेवा सर्वव्यापक श्रीकृष्णकी ही पूजा है। जो अनाश्रितोंके आश्रय, असहायोंके सहायक, दीन-दुखियोंके दुःखोंको—भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा समझकर दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। वे अपनी इस उपासनासे भगवान् श्रीकृष्णको शीघ्र संतुष्ट कर लेते हैं। राजा रन्तिदेव तो सम्पूर्ण प्राणियोंको सुखी करनेके लिये उनका दुःख स्वयं स्वीकार करना चाहते हैं। उन्हींके शब्दोंमें—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥
(श्रीमद्भा० ९। २१। १२)

'मैं भगवान्‌से आठों सिद्धियोंसे युक्त परम गति नहीं चाहता। और तो क्या मैं मोक्षकी भी कामना नहीं करता। मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे और किसी भी प्राणीको दुःख न हो।'

मेरे सिवा नजर आये न कोई दोजख में,
किसीका जुर्म हो, मालिक मुझे सजा देना।

इस प्रकारकी भावनासे भगवान् निश्चय ही संतुष्ट होते हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

ब्रह्म सत्यं दमः शौचं धर्मो ह्रीः श्रीर्धृतिः क्षमा।
यत्र यत्र रमे नित्यमहं सत्येन ते शपे॥
(महाभारत, द्रोणपर्व)

'मैं यह शपथ खाकर कहता हूँ कि जहाँ ब्रह्मभाव, सत्य, इन्द्रियदमन, शौच, धर्म, (बुरे कर्मोंमें) लज्जा, श्री, धैर्य और क्षमा हैं, वहाँ मैं नित्य निवास करता हूँ।'

श्रीभगवान्‌की पूजाके ये आठ पुष्प कहे गये हैं—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानं ज्ञानं विशेषतः।
सत्यं चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः॥
एतैरेवाष्टभिः पुष्पैस्तुष्यते चार्चितो हरिः।

'अहिंसा, इन्द्रियसंयम, जीवदया, क्षमा, मनका संयम, ध्यान, ज्ञान और सत्य—इन आठ पुष्पोंसे पूजित होनेपर श्रीहरि संतुष्ट होते हैं।'

श्रीकृष्णकी पूजा करनेवाले, उनके भक्तमें स्वाभाविक दैवीसम्पत्तियाँ भरी होती हैं। वह अपने प्रत्येक कार्यसे, प्रत्येक धर्मसे, सृष्टिके भगवत्स्वरूप सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवा करता रहता है। उससे विश्वमें कभी किसीका अहित सम्भव नहीं। उसे सबमें अपने इष्ट, अपने परमाराध्य वंशीविभूषित, पीताम्बरधारी, मयूरमुकुटी, कमलनयन, श्रीकृष्णके ही दर्शन होते हैं। अतएव वह सबका सम्मान करता है, सबसे प्यार करता है, सबको अपना समझता है और वह सबका अपना होता है। व्यापक श्रीकृष्णकी आराधना उससे स्वाभाविक ही होती रहती है।

उस श्रीकृष्ण-भक्तको श्रीकृष्णके श्रीविग्रहकी सेवा-पूजामें भी अमित सुख मिलता है। तुलसी-चयन, चन्दन-घर्षण आदि सभी कार्योंमें उसे अपरिमित आनन्दकी उपलब्धि होती है। श्रद्धा और विश्वास उसके हृदयमें भरे रहते हैं। वह श्रीकृष्णके ध्यानमें तन्मय रहता है।

'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।'

और उनके ध्यानसे सारी विपत्तियाँ स्वयं शमन हो जाती हैं।

श्रीकृष्णकी पूजाके पञ्चोपचार, दशोपचार, द्वादशोपचार, षोडशोपचार, अष्टादशोपचार और अष्टत्रिंशदुपचार हैं। इनमें प्रचलित पूजोपचार केवल पञ्चोपचार और षोडशोपचार हैं। 'गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य'—ये पूजाके पञ्चोपचार हैं। और—

आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्।
मधुपर्काचमनस्नानवसनाभरणानि च॥
गन्धः सुमनसो धूपो दीपो नैवेद्यवन्दने।
प्रयोजयेदर्चनायामुपचारांस्तु षोडश॥
(तन्त्रसार, मत्स्यसूक्त)

'आसन, स्वागत, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क, पुनराचमनीय, स्नान, वसन, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य और स्तुति-पाठ—ये पूजाके षोडशोपचार हैं।'

अपनी रुचि तथा सुविधाके अनुसार प्राप्त उपचारोंसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिये।

यहाँ कुछ ध्यान लिखे जाते हैं

ध्यान

१

मुरदिमदमुदारं मर्दयन्नङ्गकान्त्या
वसनरुचिनिरस्ताम्भोजकिञ्जल्कशोभः।
तरुणिमतरणीक्षाविक्लवद्बाल्यचन्द्रो
व्रजनवयुवराजः काङ्क्षितं मे कृषीष्ट॥
(स्तवपुष्पाञ्जलि)

'जो अपनी अङ्गशोभाके द्वारा नवीन मेघका मद-गर्व खर्व कर रहे हैं, जो अपने वस्त्रकी कान्तिद्वारा किञ्जल्क-शोभाका तिरस्कार कर रहे हैं और जिनके नवयौवनरूपी सूर्यके दर्शनसे बाल्यावस्थारूपी चन्द्रमा क्षीणकान्ति हो रहा है, वे व्रजनवयुवराज श्रीकृष्ण हमारी आकाङ्क्षा पूर्ण करें।'

२

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः॥
(श्रीमद्भागवत १०। २१। ५)

'भगवान् श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनि सुनते ही गोपबालाएँ ध्यानस्थ हो गयीं। उन्होंने देखा—मोरकी पाँखोंका मुकुट पहने, कानोंमें कनेरके फूल धारण किये, स्वर्णके समान सुन्दर पीतपट और वैजयन्ती मालासे सुशोभित गोपगणोंके द्वारा गायी हुई अपनी कीर्तिको सुनते हुए उनके साथ श्यामसुन्दर नटवरवेषमें अपने चरणोंकी विहारभूमि

वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं। आप बाँसुरीमें अपने अधरकी सुधा भरते हुए उसके छिद्रोंपर अँगुली धरकर विविध स्वर निकाल रहे हैं।'

३

'बर्हापीडाभिरामं मृगमदतिलकं कुण्डलाक्रान्तगण्डं
कञ्जाक्षं कम्बुकण्ठं स्मितसुभगमुखं स्वाधरे न्यस्तवेणुम्।
श्यामं शान्तं त्रिभङ्गं रविकरवसनं भूषितं वैजयन्त्या
वन्दे वृन्दावनस्थं युवतिशतवृतं ब्रह्म गोपालवेषम्॥

'मैं वृन्दावनविहारी गोपवेषधारी ब्रह्मकी वन्दना करता हूँ, जो मोरमुकुटसे अत्यन्त कमनीय लगते हैं, कस्तूरी-का तिलक लगाये हैं, जिनके गण्डस्थलके सामने कुण्डल सुशोभित हैं, कमलके-से नेत्र हैं, शङ्खके समान उतार-चढ़ाव-वाली ग्रीवा है, मुस्कानयुक्त मुखारविन्द अत्यन्त भला मालूम होता है; अधरपर वेणु सुशोभित है, जिनका श्यामसुन्दर-विग्रह अत्यन्त शान्त एवं त्रिभङ्गललित है, सूर्यरश्मियोंके समान चमकते पीताम्बरसे आच्छादित एवं वैजयन्तीसे अलंकृत है।'

४

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत्पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपत् क्रोडमारोढुकामम्॥

नारदजीने कहा—'अरी यशोदे! तुझसे हम क्या कहें, अकेली तूने ही न जाने कितने पुण्यक्षेत्रोंमें जाकर किन-किन विधियों-द्वारा कितने-कितने पुण्यकर्म किये हैं? अरी! जिसकी कृपा-कटाक्षको इन्द्र, ब्रह्मा और महादेव कोई भी नहीं प्राप्त कर सके, वह पूर्णब्रह्म (श्रीकृष्ण) तेरी गोदमें चढ़नेके लिये रोता हुआ पृथ्वीपर लोट रहा है।'

नाम-कीर्तन-जप-महिमा—गद्गद होकर नाम-जप या नाम-कीर्तन करनेकी बड़ी महिमा है। नाम-संकीर्तन करनेवाला पुरुष स्वयं तो पवित्र होता ही है, धरित्रीको पावन बना देता है।

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
(श्रीमद्भागवत ११। १४। २४)

श्रीभगवान् कहते हैं कि 'जिस भक्तकी वाणी (नाम-कीर्तन करते-करते) गद्गद हो जाती है, जिसका चित्त नाम-स्मरणसे द्रवित हो जाता है, जो भावावेशमें क्षण-क्षणमें रोता है और कभी-कभी हँसता भी है एवं लज्जा छोड़कर उच्च स्वरसे मेरा नाम-संकीर्तन करता है तथा नृत्य भी करता है, ऐसा मेरा भक्त समस्त विश्वको पवित्र कर देता है।'

बृहन्नारदीयपुराणमें कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

कलियुगमें केवल श्रीभगवान्‌का नाम ही भगवान्‌की प्राप्ति करा सकता है। श्रीचैतन्यचरितामृत (आदिलीला, परिच्छेद १७) में श्रीमन्महाप्रभु इस श्लोककी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

कलिकाले नामरूपे कृष्ण-अवतार।
नाम हैते हय सर्व जगत् निस्तार॥

'कलिमें नामके रूपमें श्रीकृष्णका अवतार है। नामसे सम्पूर्ण चराचरका निस्तार होता है।'

सर्वथा सरल मनसे, निरभिमानी होकर श्रीकृष्णका नाम-जप या नाम-कीर्तन करना चाहिये। 'नाम' और 'मान' परस्पर उल्टे शब्द पड़ते हैं। जहाँ नाम है वहाँ मान नहीं और जहाँ मान है वहाँ नाम नहीं टिक सकता। अहंकारशून्य चित्तसे नाम-जप शीघ्र फलद होता है।

(४)

अन्तमें श्रीकृष्णने कहा—'**मां नमस्कुरु**'—'मुझे ही प्रणाम कर।' वस्तुतः श्रीकृष्ण ही प्रणम्य हैं। उन्हें प्रणाम करने-मात्रका बड़ा माहात्म्य है। गोपाङ्गनागणने उन्हें 'प्रणतकामदं' कहा। वे कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। निश्चय ही उन्हें प्रणाम करनेसे वाञ्छासिद्धि होती है; किंतु वाञ्छा वह जो प्रणाम करनेवालेकी मङ्गलकारिणी हो। जैसे प्रज्वलित अग्निकी लाल-लाल लपटोंको बालक पकड़ना चाहता है, रोता है, पर माता उसे उक्त ज्वालासे दूर ले जाती है, इसी प्रकार श्रीकृष्ण परिणाममें मङ्गलकारिणी वाञ्छा अवश्य सिद्ध करते हैं। श्रीकृष्णके चरणोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्ण हृदयसे प्रणाम निवेदन करके ही मनुष्य लोक-परलोकका लाभ उठा सकता है, जीवन-मृत्युके बन्धनसे मुक्त हो सकता है। श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें भक्तिपूर्ण

प्रणाम-निवेदनसे जीवनमें परम पवित्रता आती है, पातकोंका नाश होता है, भगवान्‌के लिये हृदयमें प्रेम उत्पन्न होता है और पद-पदपर उन्नति होती है।

'क कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरस्त्वय्यवनतिः।'

'भगवान्‌के चरणोंमें सिर झुकानेसे भला किसकी उन्नति नहीं हुई है।'

दूसरे, श्रीकृष्ण अणु-अणुमें व्याप्त हैं। यह समस्त विश्व उन्हींका पसारा है। इन अनन्त वस्तुओं, अनन्त जीवों एवं अनन्त प्राणि-पदार्थोंके रूपमें वे ही तो हैं। उनके सिवा और कुछ है ही नहीं। यह समझकर जड-चेतन, पशु-पक्षी सबमें अपने इष्टदेव श्रीश्यामसुन्दरका दर्शन करता हुआ सबको प्रणाम करें। इस प्रकार करनेसे अहंकारका नाश होता है, द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है, मोह मिटता है और श्रीकृष्ण-चरणोंमें अनुरागकी वृद्धि होती है।

इन पंक्तियोंके लेखककी दृष्टिमें एक संत हैं। सरल चित्त, निश्छल मन एवं श्रीराधाकृष्णके अनन्य भक्त। वे अपने समीप आनेवाले प्रेमी भक्तोंको यही साधन बताते—"इस पौधेमें, इस वृक्षमें, इस भंगीमें, इस बालकमें, इस स्त्रीमें, इस युवा और वृद्धमें, इस वस्त्रमें, इस पात्रमें—तात्पर्य यह कि जहाँ भी आपकी दृष्टि जाय, वहीं आप पीताम्बर फहराते, मयूरमुकुट झुकाये, वंशी बजाते श्रीश्यामसुन्दरकी झाँकीके दर्शन कर मन-ही-मन प्रणाम कीजिये। बस, इसी साधनसे आपको श्रीकृष्ण-चरणोंकी उपलब्धि हो जायगी। आप विश्वास कीजिये, इस प्रकारके चिन्तनसे कुछ ही दिनोंमें आपका मल ध्वंस होने लगेगा, विक्षेप मिट जायगा, आवरण दूर हो जायगा और निरन्तर श्रीकृष्ण-चिन्तन होने लगेगा। आप श्रीकृष्णमय होने लगेंगे। आपका 'स्व' और 'पर' का भाव सदा-सर्वदाके लिये श्रीकृष्ण-चरणोंमें विलीन हो जायगा। रह जायँगे 'आप' और आपके श्रीकृष्ण।······'और इस प्रकारके साधनसे कुछ समयके अनन्तर आपके 'मम' का भी अस्तित्व लुप्त हो जायगा और फिर रह जायँगे—वही केवल, वही श्रीकृष्ण, वही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर श्रीकृष्ण।'

निश्चय ही श्रीकृष्ण-पद-पद्मोंकी प्राप्तिका यह साधन सरल और सुगम है। इतना तो प्रत्यक्ष देखनेमें आया है कि इस साधन (सर्वत्र, सबमें श्रीकृष्ण-दर्शनकी भावना) के प्रभावसे अत्यन्त अश्लील एवं तीक्ष्णतर कटूक्तियोंका भी उक्त संतपर कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे हँसते रहे और वैसी विषाक्त वाणीका प्रयोग करनेवाले सज्जनोंको उक्त संतके चरणोंमें श्रद्धापूर्वक बार-बार प्रणाम करनेके लिये विवश होना पड़ा। संतके मनमें आदिसे अन्ततक उक्त सज्जनोंके वेषमें श्रीकृष्णके स्वरूप एवं उनकी घृणित क्रियामें श्रीकृष्णकी मधुर, मनोहर, मङ्गलमयी लीलाकी भावना विद्यमान थी।

इस भावनाकी प्रगाढ़ताका इससे कहीं अधिक चमत्कार तब दीख पड़ा, जब वे नित्यकर्मके लिये पगडंडी पकड़े आगे बढ़ रहे थे। ठीक पगडंडीपर बीचमें भयानक विषधर फन फैलाये बैठा था। संतके मनमें भयका लेश नहीं था। विषधरके पास जाकर बोले—'देखिये प्रभु! छल किसी औरसे कीजियेगा। मैंने आपको दूरसे देखते ही पहचान लिया है। आपका झिलमिलाता पीताम्बर, आपकी पीयूष-वर्षिणी मुरली और मयूरपिच्छ मुझे स्पष्ट दीख रहा है। आपने मुझे डरानेके लिये यह स्वाँग किया है, सो मैं तो डरनेवाला नहीं। यदि आप मुझे डँसनेकी लीला करने आये हैं तो डँस लीजिये। यह रहा पैर।'

संतने पादुका रख अपना पैर विषधरके फनसे सटा दिया। अत्यन्त आश्चर्य! विषधरने फन घुमा लिया। संतने अनेक बार अपना पैर उसके फनसे सटाकर कहा—'डँसिये, देर मत कीजिये।' पर वह फन घुमा लेता।

'तो पधारिये।' संतने अन्तमें कहा—'मुझे नित्यकर्मकी त्वरा है। आप यहाँसे नहीं हटेंगे तो दूसरे लोग डंडा लेकर दौड़ पड़ेंगे। मैं उन्हें आपको मारने तो नहीं दूँगा, पर व्यर्थ ही हल्ला मचानेसे क्या लाभ?'

विषधरने फन समेटा और वह रेंगता हुआ बगीचेकी झाड़ियोंमें घुस गया।

वे संत अब भी हैं। उनकी अपनी सर्वत्र श्रीकृष्ण-दर्शनकी प्रगाढ़तम भावनाका अभूतपूर्व चमत्कार प्रत्यक्ष देखनेमें आया। श्रीकृष्णके बताये किसी साधनसे या उनके प्राणप्रिय भक्तोंके बताये पथसे—जिसे जो प्रिय लगे, जिस प्रकार श्रीकृष्णकी प्रीति प्राप्त हो, प्रयत्न करना मनुष्यका परम पुनीत कर्तव्य है। श्रीमद्भागवतमें आया है—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत पुरुषं परम् ॥
(२ । ३ । १०)

'परब्रह्म परमात्माका अनुराग एवं श्रद्धापूर्वक भजन, मोक्ष, काम, सकाम और निष्काम—सभीके द्वारा अनुष्ठेय है।'

'तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।'
(भागवत १ । ५ । १८)

'बुद्धिमान्‌को उसीके लिये प्रयत्न करना चाहिये, जिससे जन्म-मरणके बन्धनका पाश टूट जाय।'

श्रीकृष्ण-प्राप्तिके लिये मन्त्रद्वारा उपासना

(अष्टादशाक्षर मन्त्र)

(१)

(गोपालतापनीय उपनिषद्के अनुसार)

उक्त मन्त्रके विषयमें कुछ मुनिगण यों कहते हैं—'जिसके प्रथम पद (क्लीं) से पृथ्वी, द्वितीय पद (कृष्णाय) से जल, तृतीय पद (गोविन्दाय) से तेज, चतुर्थ पद (गोपीजनवल्लभाय) से वायु तथा अन्तिम पाँचवें पद (स्वाहा) से आकाशकी उत्पत्ति हुई है, वह वैष्णव पञ्चमहाव्याहृतियोंवाला 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' अष्टादशाक्षरमन्त्र श्रीकृष्णके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला है। उसका मोक्ष-प्राप्तिके लिये सदा ही जप करते रहना चाहिये।

इस विषयमें यह गाथा प्रसिद्ध है—

'जिस मन्त्रके प्रथम पदसे पृथ्वी प्रकट हुई, द्वितीय पदसे जलका प्रादुर्भाव हुआ, तृतीय पदसे तेजस्तत्त्वका प्राकट्य हुआ, चतुर्थ पदसे अग्नितत्त्व आविर्भूत हुआ तथा पञ्चम पदसे आकाशकी उत्पत्ति हुई, एकमात्र उसी अष्टादशाक्षर मन्त्रका निरन्तर अभ्यास (जप) करे। उसीके जपसे राजर्षि चन्द्रध्वज भगवान् श्रीकृष्णके अविनाशी परमधाम गोलोकको प्राप्त हो गये॥

'अतः वह जो परम विशुद्ध, विमल, शोकरहित, लोभ आदिसे शून्य, सब प्रकारकी आसक्ति एवं वासनासे वर्जित गोलोकधाम है, वह उक्त पाँच पदोंवाले मन्त्रसे अभिन्न है; तथा वह मन्त्र साक्षात् वासुदेवस्वरूप ही है, जिस वासुदेवसे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है। वे एकमात्र भगवान् गोविन्द पञ्चपद-मन्त्रस्वरूप हैं। उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नमय सिंहासनपर सदा विराजमान रहते हैं। मैं मरुद्गणोंके साथ रहकर उत्तम स्तुतियोंद्वारा उन भगवान्‌को संतुष्ट करता हूँ।

'सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, जो विश्वके पालन और संहारके एकमात्र कारण हैं तथा जो स्वयं ही विश्वरूप और इस विश्वके अधीश्वर हैं, उन भगवान् गोविन्दको बारंबार नमस्कार है। जो विज्ञानस्वरूप और परमानन्दमयविग्रह हैं तथा जो जीवमात्रको अपनी ओर आकृष्ट कर लेनेवाले हैं, गोपसुन्दरियोंके प्राणनाथ उन भगवान् गोविन्दको प्रणाम है, प्रणाम है। जो नेत्रोंमें कमलकी शोभा धारण करते और कण्ठमें कमलपुष्पोंकी माला पहनते हैं, जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है तथा जो कमला—लक्ष्मी, लक्ष्मीस्वरूपा गोपाङ्गनाओंके तथा श्रीराधाके प्राणेश्वर हैं, उन भगवान् श्यामसुन्दरको नमस्कार है, नमस्कार है। मस्तकपर मोरपंखका मुकुट धारण करके जो परम सुन्दर दिखायी देते हैं, जिनमें सबका मन रमण करता है, जिनकी बुद्धि एवं स्मरणशक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती, तथा जो लक्ष्मी, गोपसुन्दरीगण तथा श्रीराधाके मानसमें विहार करनेवाले राजहंस हैं, उन भगवान् गोविन्दको बारंबार प्रणाम है। जो कंसके वंशका विध्वंस करनेवाले तथा केशी और चाणूरके विनाशक हैं, भगवान् शंकरके भी जो वन्दनीय हैं, उन पार्थ-सारथि भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। अधरोंपर बाँसुरी रखकर उसे बजाते रहना जिनका स्वाभाविक गुण है, जो गौओंके पालक तथा कालियनागका मान-मर्दन करनेवाले हैं, कालिन्दीके रमणीय तटपर कालियह्रदमें नागके फणोंपर चञ्चलगतिसे जिनकी अविराम लास्य-लीला हो रही है, अतएव जिनके कानोंमें धारण किये हुए कुण्डल हिलते हुए झलमला रहे हैं, सहस्रों गोपसुन्दरियोंके निर्निमेष नेत्र जिनके श्रीअङ्गोंमें प्रतिबिम्बित होकर विकसित कमल-पुष्पोंकी माला-सदृश शोभा पा रहे हैं तथा जो नृत्यमें संलग्न होकर अतिशय

शोभायमान दिखायी देते हैं, उन शरणागत-जनोंके प्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम है, प्रणाम है। जो पाप और पापात्मा असुरोंके विनाशक हैं, व्रजवासियोंकी रक्षाके लिये हाथपर गोवर्धन धारण करते हैं, पूतनाके प्राणान्तकारक तथा तृणावर्त असुरके प्राण-संहारक हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। जो कला (अवयव) से रहित हैं, जिनमें मोहका सर्वथा अभाव है, जो स्वरूपसे ही परम विशुद्ध हैं, अशुद्ध (स्वभाव तथा आचरणवाले) असुरोंके शत्रु हैं तथा जिनसे बढ़कर या जिनके समान भी दूसरा कोई नहीं है, उन सर्वमहान् परमात्मा श्रीकृष्णको बारंबार नमस्कार है। परमानन्दमय परमेश्वर! मुझपर प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये। प्रभो! मुझे आधि (मानसिक व्यथा) और व्याधि (शारीरिक व्यथा) रूपी सर्पोंने डस लिया है, कृपया मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण! हे रुक्मिणीवल्लभ! हे गोपसुन्दरियोंका चित्त चुरानेवाले श्यामसुन्दर! मैं संसार-समुद्रमें डूब रहा हूँ। जगद्‌गुरो! मेरा उद्धार कीजिये। हे केशव! क्लेशहारी नारायण! जनार्दन! परमानन्दमय गोविन्द! माधव! मेरा उद्धार कीजिये।

'मुनिवरो! जिस प्रकार मैं इन प्रसिद्ध स्तुतियोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करता हूँ, उसी प्रकार तुमलोग भी पाँच पदोंवाले पूर्वोक्त मन्त्रका जप और श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए उनकी आराधनामें लगे रहो। इसके द्वारा संसार-समुद्रसे तर जाओगे।' इस प्रकार ब्रह्माजीने उन सनकादि मुनियोंको उपदेश दिया।

जो इस पूर्वोक्त पञ्चपद-मन्त्रका सदा जप करता है, वह अनायास ही भगवान्‌के उस अद्वितीय परमपदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌का वह परमपद गतिशील नहीं, नित्य स्थिर है, फिर भी वह मनसे भी अधिक वेगवाला है। भगवत्स्वरूप होनेके कारण ही वह एक अद्वितीय है। देवता अर्थात् वाणी आदि इन्द्रियाँ वहाँतक कभी नहीं पहुँच सकी हैं। इन्द्रियोंकी जहाँ-जहाँ गति है, वहाँ-वहाँ वह पहलेसे ही पहुँचा हुआ है। तात्पर्य यह कि भगवान्‌का परमपद नित्य, स्थिर, एक और सर्वव्यापी है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं। उनका ध्यान करे, मन्त्रजपद्वारा उनके नामामृतका रसास्वादन करे तथा उन्हींका सदा भजन करे, उन्हींका सदा भजन करे।

(२)

अष्टादशाक्षर महामन्त्रका प्रेममूलक अर्थ, प्रयोग और श्रीयोगपीठोपासना

यह अष्टादशाक्षर मन्त्र श्रीराधामाधवके प्रेमका प्रतीक है। इस मन्त्रसे वृन्दावनमें कल्पतरुमूलमें योगपीठस्थ सहस्रदल कमलपर रत्नसिंहासनपर समासीन, सहस्र-सहस्र श्रीकृष्ण-सुखैकजीवना गोपियोंके द्वारा सुशोभित, अनन्त असीम माधुर्यमय श्रीराधामाधवयुगलके श्रीचरणकमलोंके प्रेमकी तथा युगलस्वरूपकी प्रेम-सेवाकी प्राप्ति होती है।

यह अष्टादशाक्षर-मन्त्रराज पाँच पदोंमें विभक्त है— (१) क्लीं, (२) कृष्णाय, (३) गोविन्दाय, (४) गोपीजनवल्लभाय और (५) स्वाहा। इन पदोंके अर्थपर कुछ विचार करें।

(१) क्लीं—

'क्लीं' बीजको कामबीज या प्रेमबीज कहते हैं। 'क्'कारका अर्थ है—सच्चिदानन्दविग्रह परमपुरुष श्रीकृष्ण।

'ल'कारका अर्थ है—उन श्रीकृष्ण राधाकृष्णका प्रेमजनित परमानन्दमय सुखरस-समुद्र।

'ई'कारका अर्थ है—नित्य वृन्दावनेश्वरी ह्लादिनी परमा प्रकृति श्रीराधा।

'नाद और विन्दु अर्थात् 'चन्द्रविन्दु'का अर्थ है— श्रीराधाकृष्णका मिलन-जनित परमानन्द-रसमय माधुर्य।

श्रीसनत्कुमारसंहितामें कहा गया है कि 'क्लीं'—यह कामबीज केवल अक्षरमय ही नहीं है, यह श्रीकृष्णका मूर्तिमान् श्रीविग्रह-स्वरूप है; क्योंकि इसके अक्षर श्रीकृष्णके श्री-अङ्गसे अभिन्न हैं। उनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है—

'क्'कारको श्रीकृष्णका सिर, ललाट, भ्रू-युगल, नासिका, दो नेत्र और दो कान जानना चाहिये। 'ल'कार है— भगवान्‌के गाल, हनु, चिबुक, गला, कण्ठ और पीठ। 'ई'कार है उनके स्कन्ध, बाहू, कोहिनी, हाथोंकी अँगुली और नखसमूह। 'अर्धचन्द्र' है—उनका वक्षःस्थल, उदर, पार्श्वदेश, नाभि और कटि। 'विन्दु'—उनकी ऊरु, घुटने, जंघा, टखने, पैर, टखनोंके नीचेका स्थान, पैरोंकी अँगुली और नखसमूह है। इस प्रकार श्रीकृष्ण ही कामबीज-मय श्रीविग्रह हैं।

कामबीजके अन्तर्गत जो पाँच अक्षर हैं, वे यथाक्रम 'पञ्चपुष्पबाण' हैं। 'क'कार है—आम्रमुकुल, 'ल'कार है—अशोकपुष्प, 'ई'कार–मल्लिकापुष्प, अर्धचन्द्र है–माधवी-पुष्प और बिन्दु है बकुलपुष्प—यही पञ्चपुष्पबाण माने जाते हैं।

(२) कृष्णाय–'पापकर्षणः कृष्णः' (श्रीगोपाल-तापनीयोपनिषद्)। 'जो सारे पापोंका कर्षण करते हैं अर्थात् भलीभाँति ध्वंस कर देते हैं वे हैं–कृष्ण।' यहाँ पापका अर्थ है—सभीके सभी प्रकारके पाप और अपराध। यहाँतक कि असुरोंके अपराध भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं; क्योंकि 'कर्षति सर्वापराधान्' अर्थात् 'श्रीकृष्ण सभीके सभी प्रकारके अपराधोंका नाश करते हैं।' यही श्री'कृष्ण' शब्दकी निरुक्ति है। वे श्रीकृष्ण हैं—परब्रह्म और सच्चिदानन्दविग्रह।

'कृष्ण एव परं ब्रह्म सच्चिदानन्दविग्रहः।' (श्रीबृहद्-गौतमीयतन्त्र) श्रीकृष्ण नित्यानन्दमय परब्रह्म हैं, इस विषयमें महाभारतका कथन है—

कृषिर्भूवाचको शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

अर्थात् 'कृषि' धातुका अर्थ है 'भू' यानी सत्ता; 'सत्' शब्दके साथ 'ता' प्रत्यय करनेपर सत्ता पद बनता है; सत्-शब्दका अर्थ है नित्य; अतः सत्ता शब्दसे नित्यताका बोध होता है। 'ण' कारका अर्थ है–निर्वृति यानी आनन्द। अतएव इन दोनोंके मिलनसे हुआ नित्यानन्द। नित्यानन्द परब्रह्म ही है। अतएव 'कृष्ण' शब्दकी उपर्युक्त व्याख्याके अनुसार उसका अर्थ होता है—नित्यानन्दमय परब्रह्म।

श्रीकृष्ण अपने वेणु, रूप, सौन्दर्य तथा लीलादिके अतुलनीय माधुर्यके प्रभावसे अखिल भुवनोंके समस्त स्थावर-जङ्गमादिके चित्तका आकर्षण करते रहते हैं। वे श्रीकृष्ण ही एकमात्र परमाराध्य हैं।

(३) गोविन्दाय–(गोभूमिवेदविदितो वेदिता गोविन्दः।' (गोपालतापनीयोपनिषद्) 'जो गो, भूमि और वेदोंमें प्रसिद्ध हैं तथा इन सबको प्राप्त हैं, वे गोविन्द हैं।' 'गो' शब्दके बहुत-से अर्थ होते हैं, पर यहाँ केवल तीन अर्थ दिये गये हैं—१—प्रसिद्ध पशुजाति-विशेष (गाय), २—भूमि (भुवन), ३ वेद। फिर, पशुजातिविशेष-का अर्थ है—श्रीमान् नन्दगोकुलकी गौएँ। जो अतुलनीय ऐश्वर्य-माधुर्यसे परिपूर्ण होकर भी गौओंसे घिरे हुए खेल करते हैं और इसी अवस्थामें समस्त भुवनोंमें और वेदोंमें प्रसिद्ध हैं। अभिप्राय यह कि जो श्रीमान् नन्दके गोकुलमें अपने व्रजजन-मनोहर नव-नील-नीरद श्यामसुन्दररूपमें विराजित होकर सुमधुर लीला करते हैं एवं अखिल भुवन तथा वेद जिनकी इस लीलामाधुरीका उच्चस्वरसे गान करते हैं—ऐसे जो भुवनोंमें तथा वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, वे 'गोपाल-वेशधारी गोकुलचन्द्र श्रीकृष्ण ही 'गोविन्द' पदके वाच्य हैं।

(४) गोपीजनवल्लभाय—'गोपीजनाविद्याकला'(गोपाल-तापनीयोपनिषद्) 'गोपीजन'का अर्थ होता है—गोपाजनरूप आविद्या-कला। आविद्या शब्दका अर्थ है–सम्यक् विद्या–सर्वापेक्षा श्रेष्ठ विद्या। इस विद्याके द्वारा 'श्रीकृष्णाकर्षिणी शक्तिका बोध होता है। 'कला' शब्दका अर्थ है–'प्रेमभक्तिकी मूर्तिविशेष। अतएव 'गोपीजन' शब्दका अर्थ होता है—जो श्रीकृष्णाकर्षिणी-शक्तिस्वरूपा प्रेमभक्तिकी मूर्ति-विशेष हैं—वे 'गोपीजन'। एकमात्र इस जातिकी प्रेमभक्तिके द्वारा ही श्रीकृष्ण सम्यक्रूपसे वशीभूत होते हैं। यही मधुररसमय प्रेम है, जो दास्य, सख्य और वात्सल्यरसके प्रेमको पराभूत करके सर्वोपरि विराजमान है।

'गोपीजन' शब्दका एक अर्थ और भी है। 'गोपी' शब्द 'गुप्' धातुसे बना है। 'गुप्' धातुका अर्थ है—रक्षा करना, पालन करना। श्रीकृष्णकी जो विशिष्ट शक्ति प्रेम देकर भक्तोंका पालन करती है, वह शक्ति 'गोपी' है। इस शक्तिका नाम ह्लादिनी शक्ति है। श्रीमती राधिका ही ह्लादिनीशक्तिस्वरूपा हैं, अतएव 'गोपी' शब्दसे ह्लादिनी-शक्तिरूपा, प्रकृतिकुलललामरूपा वृषभानुराजनन्दिनी श्रीमती राधाजी ही अभिप्रेत हैं—

'गोपी तु प्रकृती राधा जनस्तदंशमण्डलः।'

और 'जन' शब्दसे राधाजीका अंशमण्डल यानी उनकी कायव्यूहरूपा गोपीसमूह अभिप्रेत हैं। अतएव 'गोपीजन' शब्दका अर्थ है—श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा श्रीललिता-विशाखादिसहित समस्त गोपाङ्गनाएँ। 'वल्लभ' शब्दका अर्थ है प्रेरक, प्रवर्तक, प्रवर्तनकर्त्ता या रमण। जो अपनी माधुर्यमयी लीलाओंसे गोपियोंके प्रवर्तनकर्त्ता या रमण हैं, अर्थात् जो नायकरूपसे गोपसुन्दरियोंके साथ परम मधुर लीला-विलासादि करते हैं—वे ही गोपीजनवल्लभ, गोपियोंके पति अर्थात् श्रीललिता-विशाखादि सखीसमन्विता श्रीराधाजीके प्राणपति हैं। वे हैं—नन्दनन्दन गोकुलानन्दवर्धन रसराज, रसिकराज-

शिरोमणि श्रीकृष्ण, जो श्रीवृन्दावनमें 'गोपी' अर्थात् पङ्कज-नयनी नवीना व्रजसुन्दरियोंसे परिवृता श्रीराधिकाजीके साथ विराजित श्रीमदनमोहन। परंतु वास्तविक 'मदनमोहन' तो तभी हैं—जब वे गोपीकुलमुकुटमणि श्रीराधाजीके साथ सुशोभित हैं।

'राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।'

किंतु भगवान् श्रीकृष्ण सदा-सर्वदा ही गोपीमण्डल-परिवृता श्रीराधाके साथ विराजित रहते हैं; अतएव वे सदा ही 'मदनमोहन' हैं। 'गोविन्द'रूप श्रीकृष्णकी जो नित्यनव-किशोर मदनमोहन मूर्ति है, वही 'गोपीजनवल्लभ' है। 'गोपीजनवल्लभ'का अभिप्राय है—श्रीकृष्णका वह मदन-मोहनस्वरूप जो नित्य ही राधालिङ्गितविग्रह है। अतएव 'गोपीजनवल्लभ' शब्दसे स्वतः श्रीराधाकृष्ण-युगलका ही बोध होता है। अतएव अष्टादशाक्षर (क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा) और दशाक्षर (गोपीजन-वल्लभाय स्वाहा) दोनों ही 'युगलमन्त्र' हैं।

(५) स्वाहा—'तन्माया च' (गोपालतापनीयोपनिषद्)। 'स्वाहा' शब्दसे श्रीकृष्णकी माया—योगमायाका अभिप्राय है। गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता चित्-शक्ति ही योगमाया हैं। ये ही भक्तोंको श्रीकृष्णके चरणकमलमें समर्पण कराती हैं। अतएव 'स्वाहा' पदका 'स्वाहा चात्मसमर्पणमिति'—ऐसा अर्थ अन्यत्र किया गया है। जिसकी सहायतासे आत्मसमर्पण किया जाता है, उसको 'स्वाहा' कहते हैं। इस 'स्वाहा' पदके उच्चारण या स्मरणके द्वारा भगवान् गोपीजनवल्लभके श्रीपदारविन्दमें भक्तोंका सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण किया या कराया जाता है। अतएव इस प्रकारका विचार तथा निश्चय करके ही 'स्वाहा' पदका उच्चारण या स्मरण करना चाहिये कि मैं श्रीगोपीजनवल्लभके श्रीचरणकमलोंमें सर्वतोभावसे आत्मसमर्पण करके उनके दासत्वमें नियुक्त हो रहा हूँ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो गयी तो बस, भक्तोंकी मनःकामना पूर्ण हो गयी, फिर इस अष्टा-दशाक्षर मन्त्रमें 'कृष्ण', 'गोविन्द' और गोपीजनवल्लभ'—इन शब्दोंकी क्या आवश्यकता है? इसपर जरा गहराईसे विचार करनेपर पता लगता है कि गोपीप्रेम-रसके पिपासु रसिक भक्तोंका हृदय केवल 'कृष्ण' रूपमें 'कृष्ण'को प्राप्त करके ही तृप्त नहीं होता; क्योंकि कृष्णके तो लीलाभेदसे बहुत स्वरूप हैं; पर 'गोविन्द'रूपमें भी कृष्णको पाकर तृप्ति नहीं होती; क्योंकि 'गोविन्द' व्रजराजनन्दन श्रीकृष्णकी 'गोपाल'मूर्तिका नाम है। इस गोपालमूर्तिकी उपासनामें वात्सल्य-रसकी प्रधानता होती है। किंतु शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—सभी रस अत्युत्कृष्ट होनेपर भी सूक्ष्म विचारसे उनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठताका भाव आता है।

पाँच रस हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इनमें शान्तमें एक गुण है—'कृष्णनिष्ठा' (श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्यत्र तृष्णात्याग है)। दास्यमें दो गुण हैं—'कृष्णनिष्ठा' और 'सेवा'। सख्यमें तीन गुण हैं—कृष्णनिष्ठा, सेवा और विश्रम्भ (असङ्कोच)। वात्सल्यमें चार गुण हैं—'कृष्णनिष्ठा', 'सेवा,' (पालनरूपमें सेवा) 'असंकोच भाव' और 'स्नेहवश पाल्य-पालक ज्ञान।' एवं मधुररसमें पाँच गुण हैं—'कृष्णनिष्ठा', 'सेवा', 'असंकोच भाव', 'लालनमें ममताकी अधिकता' और निजाङ्गके द्वारा सेवा। अतएव मधुर-रस सर्वश्रेष्ठ है। 'मधुर-रस'के भक्तगण इस तारतम्यकी भलीभाँति उपलब्धि करते हैं। उल्लिखित कारणोंसे इस अष्टादशाक्षर मन्त्रसे केवल 'कृष्णाय' या 'कृष्णाय गोविन्दाय' ही न बोलकर 'कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय' कहते हैं। 'मधुरातिमधुर' गोपीजनवल्लभ हैं। वे मधुररसके द्वारा ही उपास्य और लभ्य हैं।

वास्तविक बात यह है कि श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो गयी तो निश्चय ही मानव-जीवन कृतार्थ हो गया। भगवत्प्राप्ति ही मनुष्यका चरम और परम पुरुषार्थ है। परंतु द्वारकाधीश आदि रूपभेदोंसे श्रीकृष्णके बहुत-से स्वरूप हैं। भक्तगण प्रथमतः साधारण भावसे आत्मसमर्पण करते हैं, तदनन्तर भक्तका प्रेमरस जितना ही गाढ़ होता जाता है, उतना ही उसका चित्त श्रीकृष्णको अपेक्षाकृत और भी मधुर स्वरूपमें प्राप्त करनेके लिये ललचा उठता है। तब वह 'गोविन्द'—व्रजराजनन्दन और महाभाग नन्द एवं वात्सल्यप्रेममयी यशोदा मैयाके प्राणधन 'गोपाल'रूप श्रीकृष्णके प्रति आत्मसमर्पण करता है। पर भक्तका प्रेमरस जब पूर्णरूपसे परिपक्व हो उठता है, तब उस प्रेम-सुधा-रस-सागर-निमग्न रसिक भक्तको गोविन्दरूपसे भी तृप्ति नहीं होती; अतः फिर वह नलिन-नयनी व्रजललनाओंसे घिरे हुए अनन्त प्रेम-पारावार श्रीकृष्णके उस परम सुन्दर सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-रस-सार-सागर नित्य नवकिशोर नटवर श्यामसुन्दर मदनमोहनको प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो उठता है और उस सर्वोपरि

अनुत्तम गोपी-प्रेम-रसमें निमग्न होकर 'गोपीजनवल्लभ' स्वरूप श्रीकृष्णको सम्पूर्ण आत्मसमर्पण करता है। इसीसे वह प्राण भरकर उस समय 'कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' अथवा केवल 'गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' बोलकर अपने प्राणोंकी अनन्य आकाङ्क्षाको पूर्ण करता है। इसीसे मधुर-रस-पिपासु भक्त अनन्ताचिन्त्य माधुर्यमयी व्रजसुन्दरियोंसे परिवृत श्रीराधामाधव-युगलकी प्रेमसेवा प्राप्त करनेके लिये प्रधान साधनरूपमें उपर्युक्त अष्टादशाक्षर या दशाक्षर मन्त्रका आश्रय ग्रहण करते हैं।

इस अष्टादशाक्षर (या दशाक्षर) मन्त्रके द्वारा श्रीराधा-माधव-युगलकी प्रेमोपासना होती है। इसके लिये महानुभाव भक्त प्रेमी साधकोंने एक 'श्रीयोगपीठ'का निर्माण किया है। उस योगपीठके अनुसार ध्यान करके और सम्भव हो तो उसका एक ताम्रका यन्त्र बनवाकर यथायोग्य निर्दिष्ट स्थानों-पर सबकी पूजा करके श्रद्धा-प्रेमपूर्वक, मन्त्रका जप करना चाहिये।

परम पवित्र सुरम्य दिव्यातिदिव्य वृन्दावनमें भगवान् श्रीराधामाधवका लीला-विलास चलता है। वहाँ एक लीलाक्षेत्र है, जिसे साधनाकी दृष्टिसे 'श्रीयोगपीठ' कहते हैं। वह सहस्रदल कमल है। उसके केन्द्र-मध्यमें श्रीराधामाधव-युगल विराजित हैं। उस सहस्रदल कमलमें उत्तरकी ओर श्रीललिताजी, ईशानमें श्रीविशाखाजी, पूर्वमें श्रीचित्रा, अग्निकोणमें श्रीइन्दुरेखा, दक्षिणमें श्रीचम्पकलता, नैर्ऋत्यमें श्रीरङ्गदेवी, पश्चिममें श्रीतुंगविद्या और वायुकोणमें श्रीसुदेवी-जी सुशोभित हैं। इनके वर्ण, वस्त्र, सेवा, भाव आदि निम्नलिखित रूपसे माने गये हैं—

श्री 'ललिता' लावन्य ललित सखि गोरोचन-आभा जुत अंग।
बिजली बरन निकुंज निवासिनि, बसन रुचिर सिखिपुच्छ सुरंग॥
इन्द्रजाल-निपुना, नित करती परम स्वादु तम्बूल प्रदान।
कुसुम-कला-कुसला रचती कल कुसुम-निकेतन कुसुम-बितान॥

सखी 'बिसाखा' बिद्युत बरनी, रहती बादल-बरनी कुंज।
तारा-प्रभा सुबसन सुसोभित, मन नित मगन स्याम-पद-कंज॥
कर्पूरादि सुगंधि-द्रव्य जुत लेपन करती सुंदर अंग।
बूटे-बेल बनाती, रचती चित्र बिबिध रुचि अँग-प्रत्यंग॥

'चित्रा' अंग-कांति केसर-सी, काँच-प्रभा-से बसन ललाम।
कुंज-रंग किंजल्क कलित अति, सोमाभ्र सब अंग सुठाम॥
बिबिध बिचित्र बसन-आभूषन सों करती सुंदर सिंगार।
करती सांकेतिक अनेक देसन की भाषा कौ ब्यौहार॥

सखी 'इंदुलेखा' रुचि करती सुभ्र-बरन सुभ कुंज निवास।
अंग-कांति हरताल सरिस रँग दाडिम कुसुम बसन सुखरास॥
करती नृत्य विचित्र भंगिमा संजुत नित नूतन अभिराम।
गायन-विद्या-निपुना, ब्रजकी ख्यात गोपसुंदरी ललाम॥

'चंपकलता' कांति चंपा-सी, कुंज तपे सोने के रंग।
नीलकंठ-पच्छीके रँगके रुचिर बसन धारे सुचि अंग॥
चाव भरे चित चँवर डुलाती अबिरत निजकर-कमल उदार।
द्यूत-पंडिता, बिबिध कलाओंसे करती सुंदर सिंगार॥

सखी 'रंगदेवी' बसती अति रुचिर निकुंज, बरन जो स्याम।
कान्ति कमल-केसर-सी सोभित जवा-कुसुम-रँग बसन ललाम॥
नित्य लगाती रुचि कर-चरनोंमें जावक अतिसय अभिराम।
आस्था अति त्यौहार-व्रतनिमें, कला-कुसल सुचि सोभाधाम॥

सखी 'तुंगविद्या' अति सोभित कांति चन्द्र, कुंकुम-सी देह।
बसन सुसोभित पीत बरन बर, अरुन निकुंज, भरी नव नेह॥
गीत-बाद्य सौं सेवा करती अतिसय सरस समुद अविराम।
नीति-नाट्य-गांधर्व-सास्त्र-निपुना रस-आचार्या अभिराम॥

सखी 'सुदेवी' सुबरन-बरनी, बसन सुसोभित मूँगा-रंग।
कुंज हरिद्रा-रंग मनोहर करती सकल वासना भंग॥
जल निरमल पावन सुरभित सौं करती सुभ सेवा अभिराम।
ललित लाड़िली की जो करती बेनी-रचना परम ललाम॥

ये अष्टसखी प्रधान अष्ट दलमें हैं। इन्हींके अनुगत प्रधान अष्टमञ्जरी हैं। वे अष्ट उपदलमें स्थित हैं। उनके क्रमशः नाम हैं—श्रीअनङ्गमञ्जरी, श्रीमधुमतीमञ्जरी, श्रीविमलामञ्जरी, श्रीश्यामलामञ्जरी, श्रीपालिकामञ्जरी, श्रीमङ्गलामञ्जरी, श्रीधन्यामञ्जरी और श्रीतारकामञ्जरी।

इन प्रधान अष्टमञ्जरियोंके प्रत्येकके अनुगत और किञ्जल्क पार्श्वमें अवस्थित दो-दोके हिसाबसे सोलह (१६) प्रियनर्म-सखी हैं। उनके नाम ये हैं—

१-२ लवङ्ग-मञ्जरी और रूपमञ्जरी
३-४ रसमञ्जरी और गुणमञ्जरी
५-६ रतिमञ्जरी और भद्रमञ्जरी
७-८ लीलामञ्जरी और विलासमञ्जरी (१)
९-१० विलासमञ्जरी (२) और केलिमञ्जरी

११-१२ कुन्दमञ्जरी और मदनमञ्जरी
१३-१४ अशोकमञ्जरी और मञ्जुललीमञ्जरी
१५-१६ सुधामुखीमञ्जरी और पद्ममञ्जरी

प्रधान अष्टसखी श्रीललिता आदि प्रत्येकके पृथक्-पृथक् यूथमें आठ-आठ सखियाँ हैं, जो सब मिलाकर ६४ होती हैं। उनके नाम ये हैं—

श्रीललिताके यूथमें—रत्नप्रभा, रतिकला, सुभद्रा, भद्ररेखिका, सुमुखी, धनिष्ठा, कलहंसी और कलापिनी।

श्रीविशाखाके यूथमें—माधवी, मालती, चन्द्ररेखिका, कुञ्जरी, हरिणी, चपला, सुरभी और शुभानना।

श्रीचित्राके यूथमें—रसालिका, तिलकिनी, शौरसेनी, सुगन्धिका, रमिला, कामनागरी, नागरी और नागवेलिका।

श्रीइन्दुरेखाके यूथमें—तुङ्गभद्रा, रसतुङ्गा, रङ्गवाटी, सुमङ्गला, चित्रलेखा, विचित्राङ्गी, मोदनी और मदनालसा।

श्रीचम्पकलताके यूथमें—कुरङ्गाक्षी, सुचरिता, मण्डली, मणिकुण्डला, चन्द्रिका, चन्द्रलतिका, कुन्दकाक्षी और सुमन्दिरा।

श्रीरङ्गदेवीके यूथमें—कलकण्ठी, शशिकला, कमला, मधुरा, इन्दिरा, कन्दर्पसुन्दरी, कामलतिका और प्रेममञ्जरी।

श्रीतुङ्गविद्याके यूथमें—मञ्जुमेधा, सुमधुरा, सुमध्या, मधुरेक्षणा, तनुमध्या, मधुस्यन्दा, गुणचूड़ा और वराङ्गदा।

श्रीसुदेवीके यूथमें—कावेरी, चारुकवरा, सुकेशी, मञ्जुकेशिका, हारहीरा, महाहीरा, हारकण्ठी और मनोहरा।

श्रीयोगपीठका यन्त्र इसके साथ प्रकाशित किया जा रहा है। साधक उससे लाभ उठावें।

भगवान् श्रीकृष्णकी उपासनाके विविध मन्त्र तथा संक्षिप्त अनुष्ठान-विधि

सनत्कुमारजी देवर्षि नारदजीसे कहते हैं—नारद! 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।'—यह अठारह अक्षरोंका मन्त्र है, जिसकी अधिष्ठात्री देवी दुर्गाजी हैं। इस मन्त्रके नारद ऋषि, गायत्री छन्द, परमात्मा श्रीकृष्ण देवता, क्लीं बीज और स्वाहा शक्ति है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। श्रेष्ठ साधक ऋषिका सिरमें, छन्दका मुखमें, देवताका हृदयमें, बीजका गुह्यमें और शक्तिका चरणोंमें न्यास करें *। मन्त्रके चार-चार, चार-चार और दो अक्षरोंसे पञ्चाङ्ग-न्यास करके फिर तत्त्व-न्यास करे। तत्पश्चात् हृदयकमलमें क्रमशः द्वादशकला-व्याप्त सूर्यमण्डल, षोडशकलाव्याप्त चन्द्रमण्डल तथा दशकलाव्याप्त अग्निमण्डलका न्यास करे। साथ ही मन्त्रके पदोंमें स्थित आठ-आठ और दो अक्षरोंका भी क्रमशः उन मण्डलोंके साथ योग करके उन सबका हृदयमें न्यास करे (यथा—क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय अं द्वादशकलाव्याप्तसूर्यमण्डलात्मने नमः। गोपीजनवल्लभाय उं षोडशकलाव्याप्तचन्द्रमण्डलात्मने नमः स्वाहा। मं दशकलाव्याप्तवह्निमण्डलात्मने नमः—हृत्पुण्डरीके)। तत्पश्चात् आकाशादिके स्थलोंमें अर्थात् मूर्द्धा, मुख, हृदय, गुह्य तथा चरणोंमें क्रमशः वासुदेव आदिका न्यास करे। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा नारायण—ये 'वासुदेव' आदि कहलाते हैं। ये क्रमशः परमेष्ठी आदिसे युक्त हैं। परमेष्ठिपुरुष, शौच, विश्व, निवृत्ति तथा सर्व—ये परमेष्ठ्यादि कहे गये हैं। परमेष्ठिपुरुष आदि क्रमशः श्वेतवर्ण, अनिलवर्ण, अग्निवर्ण, अम्बुवर्ण तथा भूमिवर्णके हैं। इन सबका पूर्ववत् न्यास करे। यथा—श्वेतवर्णपरमेष्ठिपुरुषात्मने वासुदेवाय नमः, मूर्द्धनि। अनिलवर्णशौचात्मने संकर्षणाय नमः, मुखे। अग्निवर्णविश्वात्मने प्रद्युम्नाय नमः, हृदये। अम्बुवर्णनिवृत्त्यात्मनेऽनिरुद्धाय नमः, गुह्ये। भूमिवर्णसर्वात्मने नारायणाय नमः पादयोः। ॐ क्ष्रौं कोपतत्त्वात्मने नृसिंहाय नमः, इति सर्वाङ्गे। इस प्रकार सम्पूर्ण अङ्गमें न्यास करे। यह तत्त्व-न्यास कहा गया है। इसी प्रकार श्रेष्ठ साधकोंको यह जानना चाहिये कि वासुदेव आदि नामोंका ङे विभक्त्यन्त रूप ही न्यासमें ग्राह्य है।

तदनन्तर मन्त्रज्ञ पुरुष मूलमन्त्रको चार बार पढ़कर पूरक, छः बार पढ़कर कुम्भक और दो बार पढ़कर रेचक करते हुए प्राणायाम सम्पन्न करे। कुछ

* नारदर्षये नमः, शिरसि। गायत्रीच्छन्दसे नमः मुखे। श्रीकृष्णपरमात्मदेवतायै नमः, हृदि। क्लीं बीजाय नमः, गुह्ये। स्वाहाशक्तये नमः, पादयोः।—यह ऋष्यादि-न्यास है।

पञ्चाङ्ग-न्यास इस प्रकार है—'क्लीं कृष्णाय' हृदयाय नमः। 'गोविन्दाय' शिरसे स्वाहा। 'गोपीजन' शिखायै वषट्, 'वल्लभाय' कवचाय हुं, 'स्वाहा' अस्त्राय फट्।

आचार्योंका यहाँ यह कथन है कि प्राणायामके पश्चात् पीठन्यास करके दूसरे न्यासोंका अनुष्ठान करे। आगे बतायी जानेवाली विधिके अनुसार दशतत्त्वादि न्यास करके विद्वान् पुरुष मूर्तिपञ्जर नामक न्यास करे। फिर किरीटमन्त्रद्वारा बुद्धिमान् साधक सर्वाङ्गमें व्यापक-न्यास करके प्रणवसम्पुटित मन्त्रको तीन बार दोनों हाथोंकी पाँचों अँगुलियोंमें व्याप्त (विन्यस्त) करे। उसके बाद तीन बार पञ्चाङ्ग-न्यास करे। तदनन्तर मूलमन्त्रको पढ़कर सिरसे लेकर पैरतक व्यापक-न्यास करे। फिर केवल प्रणवद्वारा एक बार व्यापक-न्यास करके मन्त्र-न्यास करे। इसके बाद पुनः नेत्र, मुख, हृदय, गुह्य और चरणद्वय—इनमें क्रमशः मन्त्रके पाँच पदों का अन्तमें 'नमः' लगाकर न्यास करे। यथा—(क्लीं नमः, नेत्रद्वये। कृष्णाय नमः, मुखे। गोविन्दाय नमः, हृदये। गोपीजनवल्लभाय नमः, गुह्ये। स्वाहा नमः, पादयोः)। पुनः ऋषि आदि न्यास करके पूर्वोक्त पञ्चाङ्ग-न्यास करे।

अब मैं सब न्यासोंमें उत्तमोत्तम परमगुह्य न्यासका वर्णन करता हूँ, जिसके विज्ञानमात्रसे मनुष्य जीवन्मुक्त तथा अणिमा आदि आठों सिद्धियोंका अधीश्वर हो जाता है, जिसकी आराधनासे मन्त्रोपासक श्रीकृष्णका सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। प्रणवादि व्याहृतियोंसे सम्पुटित मन्त्रका और मन्त्रसे सम्पुटित प्रणवादिका तथा गायत्रीसे सम्पुटित मन्त्रका और मन्त्रसे सम्पुटित गायत्रीका मातृकास्थलमें न्यास करे। मातृका-सम्पुटित मूलका और मूलसे सम्पुटित मातृका वर्णोंका श्रेष्ठ साधक क्रमशः न्यास करे। विद्वान् पुरुष पहले मातृका वर्णोंका नियत-स्थलमें न्यास कर ले। उसके बाद पूर्वोक्त न्यास करने चाहिये। इस तरह उपर्युक्त छः प्रकारके न्यास करे। यह 'षोढा-न्यास' कहा गया है। इस श्रेष्ठ न्यास-अनुष्ठानसे साधक साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके समान हो जाता है। न्यासंसे सम्पुटित पुरुषको देखकर सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर और देवता भी उसे नमस्कार करते हैं। फिर इस भूतलपर मनुष्योंके लिये तो कहना ही क्या है? तत्पश्चात् 'ॐ नमः सुदर्शनाय अस्त्राय फट्।' इस मन्त्रसे दिग्बन्ध करे। इसके बाद अपने हृदयमें सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको देनेवाले इष्टदेवका इस प्रकार ध्यान करे—

'मन्त्रोपासक एकाग्रचित्त होकर श्रीवृन्दावनका चिन्तन करे, जो शुभ एवं सुन्दर हरे-भरे वृक्षोंसे परिपूर्ण तथा शीतल है। उन वृक्षोंकी शाखाएँ खिले हुए कुसुम-समूहोंके भारसे झुकी हुई हैं। उनपर प्रफुल्ल मंजरियोंसे युक्त विकसित लता-वल्लरियाँ फैली हुई हैं। वे वृक्ष झड़ते हुए पुष्पपराग-धूलिकणोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको सुवासित करते रहते हैं, खिलते हुए नूतन कमल-वनोंसे निकलती मधुधाराओंके संचयसे लुब्ध अन्तःकरणवाले भ्रमरोंका समुदाय मनोहर गुंजार करता रहता है। हंस, कोकिल, शुक और पारावत आदि पक्षियोंका समूह बारंबार कलरव करते हुए वृन्दावनको कोलाहलपूर्ण किये रहता है। चारों ओर नृत्य करते मोरोंके झुंडसे वह वन अत्यन्त मनोरम जान पड़ता है। कालिन्दीकी चञ्चल लहरोंसे नीर-बिन्दुओंको लेकर मन्द-मन्द गतिसे प्रवाहित होनेवाली शीतल सुखद वायु प्रफुल्ल पङ्कजोंके पराग-पुञ्जसे धूसर हो रही है। व्रजसुन्दरियोंके मृदुल वस्त्राञ्चलोंको वह चञ्चल किये देती है और इस प्रकार उनके प्रेमोन्मादका उद्दीपन करती हुई वह मन्द वायु वृन्दावनका निरन्तर सेवन करती रहती है। उस वनके भीतर एक अत्यन्त मनोहर कल्पवृक्षका चिन्तन करे, जिसके नीचे सुवर्ण-मयी वेदीपर परम उत्तम रत्नमय पीठ शोभा पाता है। वहाँकी प्राङ्गणभूमि भी रत्नोंसे आबद्ध है। उस रत्नमय पीठपर लाल रंगके अष्टदलकमलकी भावना करे, जिसके मध्यभागमें श्रीमुकुन्द विराजमान हैं। उनके स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करे—उनकी अङ्ग-कान्ति विकसित नील कमलके समान श्याम है। वे मोर-पंखका मुकुट पहने हुए हैं, कटिभागमें पीताम्बर शोभा पा रहा है, उनका मुख चन्द्रमाको लज्जित कर रहा है, नेत्र खिले हुए कमलोंकी शोभा छीने लेते हैं। उनका सम्पूर्ण अङ्ग कौस्तुभमणिकी प्रभासे उद्भासित हो रहा है। वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न सुशोभित है। वे परम सुन्दर दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं। व्रजसुन्दरियाँ मानो अपने नेत्रकमलोंके उपहारसे उनकी पूजा करती हैं। गौएँ उन्हें सब ओरसे घेर कर खड़ी हैं। गोपवृन्द उनके साथ हैं और वे वंशी बजा रहे हैं। विद्वान् पुरुष इस प्रकार भगवान्का चिन्तन करे।' (नारद० पू० ८०। ४०-५०)

बुद्धिमान् साधक इस तरह ध्यान करके पहले बीस हजार मन्त्र-जप करे। फिर एकाग्रचित्त हो अरुण कमल-कुसुमोंसे दशांश आहुति दे। तत्पश्चात् समाहित होकर मन्त्रसिद्धिके लिये पाँच लाख जप करे। लाल कमलोंकी आहुति देनेसे साधक सम्पूर्ण सिद्धियोंका स्वामी हो जाता है। पूर्वोक्त वैष्णव-पीठपर मूलमन्त्रसे मूर्ति-निर्माण करके उसमें गोपीजन-मनोहर श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका आवाहन और पूजन करे। मुखमें वेणुकी पूजा करके, वक्षःस्थलमें वनमाला, कौस्तुभ

तथा श्रीवत्सका पूजन करे। इसके बाद पुष्पाञ्जलि चढ़ावे। तत्पश्चात् बुद्धिमान् उपासक देवेश्वर श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए उनके दक्षिण भागमें श्वेतचन्दनचर्चित श्वेत तुलसीको तथा वाम भागमें रक्तचन्दनचर्चित लाल तुलसीको समर्पित करे। इसके बाद दो अश्वमार (कनेर) पुष्पोंसे उनके हृदय और मस्तककी पूजा करे। तदनन्तर शीर्षभागमें विधिपूर्वक दो कमलपुष्प समर्पित करे। तत्पश्चात् उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें दो तुलसीदल, दो कमलपुष्प और दो अश्वमार (श्वेत-रक्त कनेर) कुसुम चढ़ाकर फिर सब प्रकारके पुष्प अर्पण करे। गोपाल श्रीकृष्णके दक्षिण भागमें अविनाशी निर्मल चैतन्यस्वरूप भगवान् वासुदेवका तथा वाम भागमें रजोगुणस्वरूपा नित्य अनुरक्ता रुक्मिणी देवीका पूजन करे। इस प्रकार गोपालका भलीभाँति पूजन करके आवरण-देवताओंकी पूजा करे। दाम, सुदाम, वसुदाम और किंकिणी—इनका क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरमें पूजन करें। दाम आदि शब्दोंके आदिमें प्रणव और अन्तमें ङे विभक्ति तथा नमः पद जोड़ने चाहिये। (यथा—ॐ दामाय नमः इत्यादि। यदि दाम शब्द नान्त हो तो 'दाम्ने नमः'—यह रूप होगा) अग्नि, नैर्ऋत्य, वायव्य तथा ईशान कोणोंमें क्रमशः हृदय, शिर, शिखा तथा कवचका पूजन करके सम्पूर्ण दिशाओंमें अस्त्रोंका पूजन करे। फिर आठों दलोंमें रुक्मिणी आदि पटरानियोंकी पूजा करे। रुक्मिणी, सत्यभामा, नाग्नजिती, सुविन्दा (अथवा कालिन्दी), मित्रविन्दा, लक्ष्मणा, जाम्बवती तथा सुशीला (अथवा भद्रा)। ये सब-की-सब सुन्दर, सुरम्य एवं विचित्र वस्त्रा-भूषणोंसे विभूषित हैं। तदनन्तर अष्टदलोंके अग्रभागमें वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा, बलभद्र-सुभद्रा तथा गोप और गोपियोंका पूजन करे। इन सबके मन, बुद्धि तथा नेत्र गोविन्दमें ही लगे हुए हैं। दोनों पिता वसुदेव और नन्द क्रमशः पीत और पाण्डु वर्णके हैं। माताएँ (देवकी और यशोदा) दिव्य हार, दिव्य वस्त्र, दिव्याङ्गराग तथा दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं। दोनोंने चरु तथा खीरसे भरे हुए पात्र ले रक्खे हैं। देवकीका रंग लाल है और यशोदाका श्याम। दोनोंने सुन्दर हार और मणिमय कुण्डलोंसे अपनेको विभूषित कर रक्खा है। बलरामजी शङ्ख तथा चन्द्रमाके समान गौरवर्णके हैं। वे मूसल और हल धारण करते हैं। उनके श्रीअङ्गोंपर नीले रंगका वस्त्र सुशोभित होता है। हलधरके एक कानमें कुण्डल शोभा पाता है। भगवान्‌की जो श्यामला कही है, वही भद्रस्वरूपा सुभद्रा है। उसके आभूषण भी भद्र (मङ्गल) रूप हैं। सुभद्राजीके एक हाथमें वर और दूसरेमें अभय है। वे पीताम्बर धारण करती हैं। गोपगणोंके हाथमें वेणु, वीणा, सोनेकी छड़ी, शङ्ख और सींग आदि हैं। गोपियोंके करकमलोंमें नाना प्रकारके खाद्य-पदार्थ हैं। इन सबके बाह्यभागमें मन्दार आदि कल्पवृक्षोंकी पूजा करे। मन्दार, सन्तान, पारिजात, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन (ये ही उन वृक्षोंके नाम हैं)। उक्त पाँच वृक्षोंसे चारकी चारों दिशाओंमें और एककी मध्यभागमें पूजा करके उनके बाह्यभागमें इन्द्र आदि दिक्पालों और उनके वज्र आदि अस्त्रोंकी पूजा करे। तत्पश्चात् श्रीकृष्णके आठ नामोंद्वारा उनका यजन करना चाहिये। ये नाम इस प्रकार हैं—कृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नारायण, यदुश्रेष्ठ, वार्ष्णेय, धर्मपालक तथा असुराक्रान्तभूमिभारहारी। विद्वान् पुरुषोंको सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्तिके लिये तथा संसार-सागरसे पार होनेके लिये इन आवरणोंसहित असुरारि श्रीकृष्णकी आराधना करनी चाहिये।

अब मैं भगवान् श्रीकृष्णके त्रिकाल पूजनका वर्णन करता हूँ, जो समस्त मनोरथोंकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है।

प्रातःकालिक ध्यान

'एक सुन्दर उद्यानसे घिरी हुई सुवर्णमयी भूमिपर रत्नमय मण्डप बना हुआ है। वहाँ शोभायमान कल्पवृक्षके नीचे स्थित रत्ननिर्मित कमलयुक्त पीठपर एक सुन्दर शिशु विराजमान है, जिसकी अङ्गकान्ति इन्द्रनीलमणिके समान श्याम है। उसके काले-काले केश चिकने और घुँघराले हैं। उसके मनोहर कपोल हिलते हुए स्वर्णमय कुण्डलोंसे अत्यन्त सुन्दर लगते हैं। उसकी नासिका बड़ी सुघड़ है। उस सुन्दर बालकके मुखारविन्दपर मन्द मुसकानकी अद्भुत छटा छा रही है। वह सोनेके तारमें गुँथा और सोनेसे ही मढ़ा हुआ सुन्दर बघनखा धारण किये है, जिसमें परम उज्ज्वल चमकीले रत्न जड़े हुए हैं। गोधूलिसे धूसर वक्षःस्थलपर धारण किये हुए स्वर्णमय आभूषणोंसे उसकी दीप्ति बहुत बढ़ी हुई है। उसका एक-एक अङ्ग अत्यन्त पुष्ट है। उसकी दोनों पिण्डलियोंका अन्तिम भाग अत्यन्त मनोहर है। उसने अपने कटिभागमें घुँघुरुदार करधनीकी लड़ बाँध रक्खी है, जिससे मधुर झनकार होती रहती है। खिले हुए बन्धुजीव (दुपहरिया) के फूलकी अरुण प्रभासे युक्त करारविन्द और चरणारविन्दोंकी उदार कान्तिसे सुशोभित वह शिशु मन्द-

मन्द हँस रहा है। उसने दाहिने हाथमें खीर और बायें हाथमें तुरंतका निकाला हुआ माखन ले रक्खा है। ग्वालों, गोपसुन्दरियों और गौओंकी मण्डलीमें स्थित होकर वह बड़ी शोभा पा रहा है। इन्द्र आदि देवता उसके चरणोंकी समाराधना करते हैं। वह पृथ्वीके भारभूत दैत्यसमुदाय पूतना आदिका संहार करनेमें लगा है।'

(नारद० पूर्व० ८०। ७५—८०)

इस प्रकार ध्यान करके पूर्ववत् एकाग्रचित्त हो भगवान्का पूजन करे। दही और गुड़का नैवेद्य लगाकर एक हजार मन्त्र-जप करे। इसी प्रकार मध्याह्नकालमें नारदादि मुनिगणों और देवताओंसे पूजित विशिष्टरूपधारी भगवान् श्रीकृष्णका पूजन करे।

मध्याह्नकालिक ध्यान

'जो सुन्दर गोप, गोपाङ्गनाओं तथा गौओंके मध्य विराजमान हैं, स्निग्ध मेघके समान जिनकी श्याम छवि है, जिनका एक-एक अङ्ग बहुत सुन्दर है, जो मयूरपिच्छका मुकुट धारण करते हैं, जिनके नेत्र कमलदलके समान विशाल हैं, भौंहोंका मध्यभाग शोभासम्पन्न है और मुख पूर्ण चन्द्रमाको भी लज्जित कर रहा है, हिलते और झलमलाते हुए कमनीय कुण्डलोंसे उल्लसित कपोलोंपर जो शोभाकी राशि धारण करते हैं, जिनकी नासिका मनोहर है, जो मन्द-मन्द हँसते हुए बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं, जिनका वस्त्र तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् और आभूषण दिव्य हैं, कटिभागमें धारण की हुई जिनकी क्षुद्र घण्टिकाओंसे मधुर झनकार हो रहा है, जिन्होंने दिव्य अङ्गराग धारण किया है, जो अपने हाथमें लेकर मुरली बजा रहे हैं, जिनके बायें हाथमें शङ्ख और दाहिने हाथमें छड़ी है, जिनकी वेष-भूषासे उदारता टपक रही है, जो मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेमें दक्ष हैं, उन नन्दनन्दन श्रीकृष्णका ध्यान करके लक्ष्मीप्राप्तिके लिये उनका पूजन करे।'

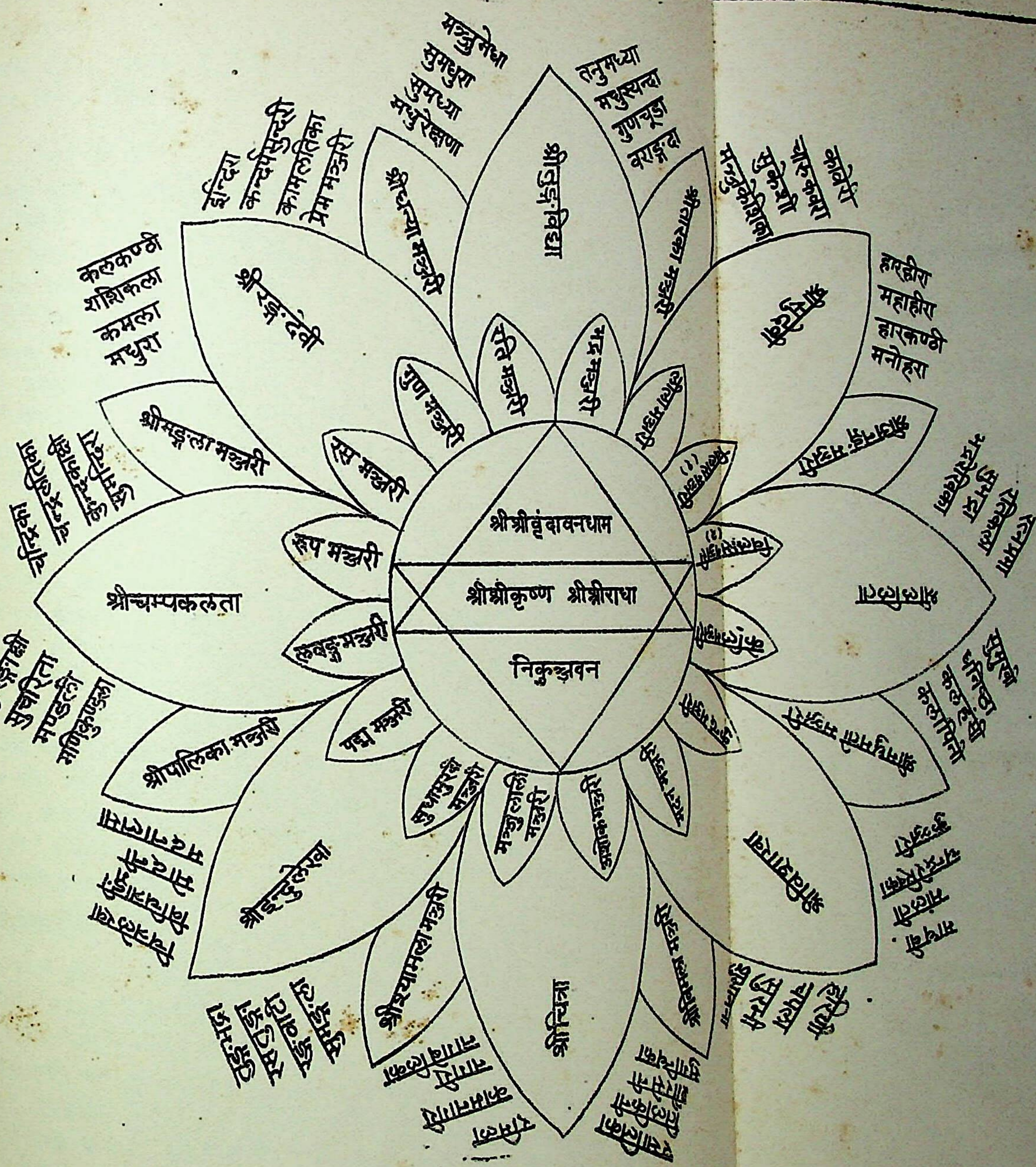
(नारदपु० पूर्व० ८०। ८३—८५)

इस प्रकार ध्यान करके श्रेष्ठ वैष्णव पुरुष पूर्ववत् भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करे। पूआ, खीर तथा अन्य भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंका नैवेद्य अर्पण करे। घृतयुक्त खीरकी एक सौ आठ आहुति देकर प्रत्येक दिशामें उसीसे बलि अर्पण करे। तत्पश्चात् आचमन करे। इसके बाद एक हजार आठ बार उत्तम मन्त्र-जप करे। जो उत्तम वैष्णव मध्याह्नकालमें इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका पूजन करता है, उसे सब देवता प्रणाम करते हैं और वह मनुष्य सब लोगोंका प्रिय होता है। वह मेधा, आयु, लक्ष्मी तथा सुन्दर कान्तिसे सुशोभित होकर पुत्र-पौत्रोंके साथ अभ्युदयको प्राप्त होता है।

तीसरे समयकी पूजामें कौन-सा काल है, इस विषयमें मतभेद है। कुछ विद्वान् इस पूजाको सायंकालमें करनेयोग्य बताते हैं और कुछ रात्रिमें। दशाक्षर मन्त्रसे पूजा करनी हो तो रातमें करे। अष्टादशाक्षरसे करनी हो तो सायंकालमें करे। कुछ दूसरे विद्वान् ऐसा भी कहते हैं कि दोनों प्रकारके मन्त्रोंसे दोनों ही समय पूजा करनी चाहिये।

सायंकालिक ध्यान

'सायंकालमें भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकापुरीमें एक सुन्दर भवनके भीतर विराजमान हैं, जो विचित्र उद्यानसे सुशोभित है। वह श्रेष्ठ भवन आठ हजार गृहोंसे अलंकृत है। उसके चारों ओर निर्मल जलवाले सरोवर सुशोभित हैं। हंस, सारस आदि पक्षियोंसे व्याप्त कमल और उत्पल आदि पुष्प उन सरोवरोंकी शोभा बढ़ाते हैं। उक्त भवनमें एक शोभा-सम्पन्न मणिमय मण्डप है, जो उदयकालीन सूर्यदेवके समान अरुण प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। उस मण्डपके भीतर सुवर्णमय कमलकी आकृतिका सुन्दर सिंहासन है, जिसपर त्रिभुवनमोहन श्रीकृष्ण बैठे हैं। उनसे आत्मतत्त्वका निर्णय करानेके लिये मुनियोंके समुदायने उन्हें सब ओरसे घेर रक्खा है। भगवान् श्यामसुन्दर उन मुनियोंको अपने अविनाशी परम धामका उपदेश दे रहे हैं। उनकी अङ्गकान्ति विकसित नीलकमलके समान श्याम है। दोनों नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल हैं। सिरपर स्निग्ध अलकावलियोंसे संयुक्त सुन्दर किरीट सुशोभित है। गलेमें वनमाला शोभा पा रही है। प्रसन्न मुखारविन्द मनको मोहे लेता है। कपोलोंपर मकराकृति कुण्डल झलमला रहे हैं। वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। वहीं कौस्तुभमणि अपनी प्रभा बिखेर रही है। उनका स्वरूप अत्यन्त मनोहर है। उनका वक्षःस्थल केसरके अनुलेपसे सुनहली प्रभा धारण करता है। वे रेशमी पीताम्बर पहने हुए हैं। विभिन्न अङ्गोंमें हार, बाजूबंद, कड़े और करधनी आदि आभूषण उन्हें अलंकृत कर रहे हैं। उन्होंने पृथ्वीका भारी भार



श्रीश्रीयोगपीठ

[पृष्ठ ३२९-३३०

उतार दिया। उनका हृदय परमानन्दसे परिपूर्ण है तथा उनके चारों हाथ शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मसे सुशोभित हैं।'

(नारदपु० पूर्व० ८० । ९२—९९)

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रोपासक भगवान्‌की पूजा करे। हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्र और अस्त्र—इनके द्वारा प्रथम आवरण बनता है। रुक्मिणी आदि पटरानियों-द्वारा द्वितीय आवरण सम्पन्न होता है। तृतीय आवरणमें नारद, पर्वत, विष्णु, निशठ, उद्धव, दारुक, विष्वक्सेन तथा सात्यकि हैं। इनका आठ दिशाओंमें और विनतानन्दन गरुड़का भगवान्‌के सम्मुख पूजन करे। चौथे आवरणमें लोकपालोंके साथ और पाँचवें आवरणमें वज्र आदि आयुधोंके साथ उत्तम वैष्णव भगवत्पूजनका कार्य सम्पन्न करे। इस प्रकार विधिपूर्वक पूजा करके खीरका नैवेद्य अर्पण करे। फिर जलमें खाँड़मिश्रित दूधकी भावना करके उस जलद्वारा तर्पण करे। उसके बाद मन्त्रोपासक पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए मूलमन्त्रका एक सौ आठ बार जाप करे। तीनों कालकी पूजाओंमें अथवा केवल मध्याह्नकालमें ही होम करे। आसनसे लेकर विशेषार्घ्य पर्यन्त सम्पूर्ण पूजा पूरी करके विद्वान् पुरुष भगवान्‌की स्तुति और नमस्कार करे। फिर भगवान्‌को आत्मसमर्पण करके उनका विसर्जन करनेके पश्चात् अपने हृदयकमलमें उनकी स्थापना करे और तन्मय होकर पुनः आत्मस्वरूप भगवान्‌की पूजा करे। जो प्रतिदिन इस प्रकार सायंकालमें भगवान् वासुदेवकी पूजा करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको पाकर अन्तमें परम गतिको प्राप्त होता है।

रात्रिकालिक ध्यान

रात्रिमें पूजन करना हो तो भगवान्‌का ध्यान इस प्रकार करे—'भगवान् नन्दनन्दनने अपने हृदयमें प्रेमको आश्रय दे रक्खा है। वे रासक्रीड़ामें संलग्न हो मानो थक गये हैं और गोपाङ्गनाओंकी मण्डलीके मध्यभागमें विराज रहे हैं। उस समय यमुनाजीका पुलिन-प्राङ्गण अमृतमय किरणोंवाले चन्द्रदेवकी धवल ज्योत्स्नासे उद्भासित हो रहा है। वहाँका प्रान्त अत्यन्त हरा-भरा एवं भगवत्प्रेमका उद्दीपक हो रहा है। खिले हुए कुन्द, कह्लार और मल्लिका आदि कुसुमोंके परागपुञ्जसे धूसरित मन्द-मन्द वायु प्रवाहित होकर उस पुलिन-प्राङ्गणको शीतल बना रही है। खिले हुए नूतन कुमुदोंके मादक मकरन्दका पान करके उन्मत्त हृदयवाले भ्रमर इधर-उधर भ्रमण करते हुए मधुर गुंजा-रव फैला रहे हैं, जिससे वह वनप्रान्त अत्यन्त मनोहर प्रतीत होता है। वहाँ सब ओर सुन्दर चमेलीकी सुगन्ध फैल रही है। ऐसे मनोहर कालिन्दीतटपर श्यामसुन्दर मुखसे मन्द-मन्द मुसकानकी प्रभा बिखेरते हुए बारंबार मुरली बजा रहे हैं। उनकी अङ्गकान्ति भीतर जलसे भरे हुए नूतन मेघोंकी श्याम घटासे टक्कर ले रही है। भौंहोंका मध्यभाग कुछ चञ्चल हो उठा है। दोनों नेत्र विकसित कमलदलके समान विशाल हैं। लाल-लाल अधर बिम्बफलको लजा रहे हैं। भगवान्‌की वह झाँकी बड़ी ही सुन्दर है। माथेपर मोरपंखका मुकुट है, जिससे उनके बँधे केशोंकी चोटी बड़ी सुहावनी लग रही है। उनके दोनों कपोल हिलते हुए चमकीले कुण्डलोंमें जटिल रत्नोंकी किरणोंसे उद्भासित हो रहे हैं और उन कपोलोंसे श्यामसुन्दरका सौन्दर्य और भी बढ़ गया है। वे करधनी, नूपुर, हार, कंगन और सुन्दर भुजबंद आदि आभूषणोंसे विभूषित हो प्रत्येक दो गोपीके बीचमें खड़े होकर अपनी मनमोहिनी झाँकी दिखा रहे हैं। गलेमें वन्यपुष्पोंका हार सुशोभित है। एक दूसरीसे अपनी बाँहोंको मिलाये हुए नृत्य करनेवाली गोपाङ्गनाओंकी बाहु-वल्लरियोंसे वे घिरे हुए हैं। इस प्रकार परम सुन्दर शोभामयी दिव्य रासलीलाके लिये सदा उत्सुक रहनेवाले प्रेमके आश्रयभूत भगवान् मुकुन्दका भजन करे। वे नाना प्रकारकी श्रुतियोंके भेदसे युक्त परम मनोहर सात स्वरोंकी मूर्च्छना और तानोंके साथ-साथ गोपाङ्गनाओंसहित थिरक रहे हैं। सुन्दर मणिमय स्वच्छ आभूषणोंके मधुर शिञ्जनसे भगवान्‌का सम्पूर्ण मनोहर अङ्ग ही झनकारमय हो उठा है। एक दूसरीसे हाथ बाँधकर मण्डलाकार खड़ी हुई गोपाङ्गनाओंके समूहसे कल्पित रासलीलामण्डलकी रचनामें यद्यपि भगवान् श्यामसुन्दर बीचमें मणिमय मेषकी भाँति स्थित हैं, तथापि इसी शरीरसे उन्होंने अपने बहुत-से दिव्य स्वरूप प्रकट कर लिये हैं (और उन स्वरूपोंसे प्रत्येक दो गोपीके बीचमें स्थित हैं)।'

(नारदपु० पूर्व० ८० । १०७–११३)

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रोपासक भगवान्‌की पूजा करे। हृदयादि अङ्गोंद्वारा प्रथम आवरणकी पूजा होती है। धन-सम्पत्तिकी इच्छा रखनेवाला श्रेष्ठ वैष्णव पूर्वोक्त केशव-कीर्ति आदि सोलह जोड़ोंकी कमलपुष्पोंद्वारा पूजा करे। उन सबके नामके आदिमें क्रमशः सोलह स्वरोंको संकेत करे।* तदनन्तर

* केशव-कीर्ति, नारायण-कान्ति, माधव-तुष्टि, गोविन्द-पुष्टि,

इन्द्र आदि दिक्पालों और वज्र आदि आयुधोंकी पूजा करे। एक मोटा, गोल और चिकना खूँटा, जिसकी ऊँचाई एक वित्तेकी हो, पृथ्वीमें गाड़ दे और उसे पैरोंसे दबाकर एक दूसरेसे हाथ मिलाकर उसके चारों ओर चक्कर देना 'रासगोष्ठी' कही गयी है। इस प्रकार पूजा करके दूध, घी और मिश्री मिलाकर भगवान्‌को नैवेद्य अर्पण करे और सोलह प्याले लेकर उनमें मिश्री मिलायी हुई खीर परोसे और पूर्वोक्त जोड़ोंको क्रमशः अर्पण करे। फिर शेष कार्य पूर्ववत् करके मन्त्रोपासक एक हजार मन्त्र-जप करे। तत्पश्चात् स्तुति, नमस्कार और प्रार्थना करके पूजनका शेष कार्य भी समाप्त करे। इस प्रकार जो उपासक भगवान् श्रीकृष्णका पूजन करता है, वह समृद्धिका आश्रय होता है तथा अणिमा आदि आठ सिद्धियोंका स्वामी हो जाता है। इसमें संशय नहीं है। इहलोकमें वह विविध भोगोंका उपभोग करके अन्तमें भगवान् विष्णुके धाममें जाता है। इस तरह पूजा आदिके द्वारा मन्त्रकी सिद्धि होनेपर अभीष्ट मनोरथोंकी सिद्धि करे। अथवा विद्वान् पुरुष अट्ठाईस बार मन्त्र-जपपूर्वक तीनों समय भगवान्‌की पूजा करे। उस-उस कालमें कथित परिवारों (आवरण-देवताओं) का भी तर्पण करे। प्रातःकाल गुड़-मिश्रित दहीसे, मध्याह्नकालमें मक्खनयुक्त दूधसे और सायंकालमें मिश्री मिलाये हुए दूधसे श्रेष्ठ वैष्णव तर्पण करे। मन्त्रके अन्तमें तर्पणीय देवताओंके नामोंमें द्वितीया विभक्ति जोड़कर अन्तमें 'तर्पयामि' पदका प्रयोग करे। तत्पश्चात् शेष पूजा पूरी करे। भगवत्प्रसाद-स्वरूप जलसे अपने-आपको सींचकर उस जलको पीये। उससे तृप्त होकर देवताका विसर्जन करके तन्मय हो मन्त्र-जप करे।

अब मैं एक उत्तम रहस्यका वर्णन करता हूँ, जो मनुष्योंको मोक्ष प्रदान करनेवाला है। साधक अपने हृदय-कमलमें भगवान् देवकीनन्दनका इस प्रकार ध्यान करे—

'जो कुन्द और चन्द्रमाके समान सुन्दर गौरवर्णके हैं, जिनके नेत्र कमलकी शोभाको लज्जित कर रहे हैं, जो अपने करारविन्दोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण करते हैं, नूतन कमलोंकी सुन्दर मालासे सुशोभित हैं, छोटी-छोटी मणियोंसे जटित सुन्दर दिव्य आभूषण जिनके अनुपम सौन्दर्य-माधुर्यको और बढ़ा रहे हैं तथा जिनके श्रीअङ्गोंमें दिव्य अङ्गराग शोभा पा रहा है, उन मुनीन्द्रवेद्य, सकल भयहारी, पीताम्बरधारी मुरारिकी मैं वन्दना करता हूँ।'

(नारदपु० पूर्व० ८०। १५०)

इस प्रकार ध्यान करके आदिपुरुष श्रीकृष्णको अपने विकसित हृदयकमलके आसनपर विराजमान देखे और यह भावना करे कि 'वे घनीभूत मेघोंकी श्याम घटा तथा अद्भुत सुवर्णकी-सी नील एवं पीत प्रभा धारण करते हैं। इस चिन्तनके साथ साधक बारह लाख मन्त्रका जप करे। दो प्रकारके मन्त्रोंमेंसे एकका, जो प्रणवसम्पुटित है, जप करना चाहिये। फिर दूधवाले वृक्षोंकी समिधाओंसे बारह हजार आहुति दे अथवा मधु-घृत एवं मिश्रीमिश्रित खीरसे होम करे। इस प्रकार मन्त्रोपासक अपने हृदयकमलमें लोकेश्वरोंके भी आराध्यदेव भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए प्रतिदिन तीन हजार मन्त्रका जप करे। फिर सायंकालके लिये बतायी हुई विधिसे भलीभाँति पूजा करके साधक भगवत्-चिन्तनमें संलग्न हो पुनः पूर्वोक्त रीतिसे हवन करे। जो विद्वान् इस तरह गोपालनन्दन श्रीकृष्णका नित्य भजन करता है, वह भवसागरसे पार हो परमपदको प्राप्त होता है।

सिद्ध गोपाल-यन्त्र

पहले दो त्रिभुज अङ्कित करे; जिसमें एक ऊर्ध्वमुख और दूसरा अधोमुख हो। एकके ऊपर दूसरा त्रिकोण होना चाहिये। इस प्रकार छः कोण हो जायँगे। कोण बाह्य भागमें होंगे। उनके बीचमें जो षट्कोण चक्र होगा, उसे अग्निपुर कहते हैं। उस अग्निपुरकी कर्णिका (मध्यभाग) में 'क्लीं' यह बीजमन्त्र अङ्कित करे। उसके साथ साध्य-पुरुष एवं कार्यका भी उल्लेख करे। बहिर्गत कोणोंके विवरमें षडक्षर मन्त्र लिखे। छः कोणोंके ऊपर एक गोलाकार रेखा खींचकर उसके बाह्यभागमें दशदल-कमल अङ्कित करे। उन दस दलोंके केसरोंमें एक-एकमें दो-दो अक्षरके क्रमसे 'ह्रीं' और 'श्रीं' पूर्वक अष्टादशाक्षर मन्त्रके अक्षरोंका उल्लेख करे। तदनन्तर दलोंके मध्यभागमें दशाक्षर मन्त्रके एक-एक अक्षरको लिखे। इस प्रकार लिखे हुए दश-दल चक्रको भूपुरसे (चौकोर रेखासे) आवृत करे। भूपुरमें

विष्णु-धृति, मधुसूदन-शान्ति, त्रिविक्रम-क्रिया, वामन-दया, श्रीधर-मेधा, हृषीकेश-हर्षा, पद्मनाभ-श्रद्धा, दामोदर-लज्जा, वासुदेव-लक्ष्मी, संकर्षण-सरस्वती, प्रद्युम्न-प्रीति और अनिरुद्ध-रति—ये सोलह जोड़े हैं। इनके आदिमें क्रमशः 'अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः'—इन सोलह स्वरोंको अनुस्वारयुक्त करके जोड़ना चाहिये। यथा—'अं केशवकीर्तिभ्यां नमः, आं नारायणकान्तिभ्यां नमः' इत्यादि। इन्हीं मन्त्रोंसे इनकी पूजा करनी चाहिये।

अस्त्रोंके स्थानमें कामबीज (क्लीं) का उल्लेख करे। इस यन्त्रको सोनेके पत्रपर सोनेकी ही शलाकासे गोरोचनद्वारा लिखकर उसकी गुटिका बना ले। यही गोपाल-यन्त्र है। यह सम्पूर्ण मनोरथोंको देनेवाला कहा गया है। जो रक्षा, यश, पुत्र, पृथ्वी, धन-धान्य, लक्ष्मी और सौभाग्यकी इच्छा रखनेवाले हों, उन श्रेष्ठ पुरुषोंको निरन्तर यह यन्त्र धारण करना चाहिये। इसका अभिषेक करके मन्त्रजपपूर्वक इसे धारण करना उचित है। यह तीनों लोकोंको वशमें करनेके लिये एकमात्र कुशल (अमोघ) उपाय है। इसकी महती शक्ति अवर्णनीय है।

'ह्रीं श्रीं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।' यों बीस अक्षरोंका मन्त्र हो जाता है। शालग्राममें, मणिमें, यन्त्रमें, मण्डलमें तथा प्रतिमाओंमें ही सदा श्रीहरिकी पूजा करनी चाहिये, केवल भूमिपर नहीं। जो इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है। बीस अक्षरवाले मन्त्रके ब्रह्मा ऋषि हैं। छन्दका नाम गायत्री है। श्रीकृष्ण देवता हैं, 'क्लीं' बीज है और विद्वान् पुरुषोंने स्वाहाको शक्ति कहा है। तीन, तीन, चार, चार, चार तथा दो मन्त्राक्षरोंद्वारा षडङ्ग-न्यास करे। मूलमन्त्रसे व्यापक-न्यास करके मन्त्रसे सम्पुटित मातृकावर्णोंका उनके नियत स्थानोंमें एकाग्रतापूर्वक न्यास करे। फिर दस तत्त्वोंका न्यास करके मूलमन्त्रद्वारा व्यापक न्यास करे। तदनन्तर देवभावकी सिद्धि (इष्टदेवके साथ तन्मयता) प्राप्त करनेके लिये मन्त्र-न्यास करे। मूर्तिपञ्जर नामक न्यास पूर्ववत् करे। फिर षडङ्ग-न्यास करके हृदयकमलमें भगवान् श्रीकृष्णका इस प्रकार ध्यान करे।

ध्यान

'द्वारकापुरीमें सहस्रों सूर्योंके समान प्रकाशमान सुन्दर महलों और बहुतेरे कल्पवृक्षोंसे घिरा हुआ एक मणिमय मण्डप है, जिसके खंभे अग्निके समान जाज्वल्यमान रत्नोंके बने हुए हैं। उसके द्वार, तोरण और दीवारें सभी प्रकाशमान मणियोंद्वारा निर्मित हैं। वहाँ खिले हुए सुन्दर पुष्पोंके चित्रोंसे सुशोभित चँदोवोंमें मोतियोंकी झालरें लटक रही हैं। मण्डपका मध्यभाग अनेक प्रकारके रत्नोंसे निर्मित हुआ है, जो पद्मराग मणिमयी भूमिसे सुशोभित है। वहाँ एक कल्पवृक्ष है, जिससे निरन्तर दिव्य रत्नोंकी धारावाहिक वृष्टि होती रहती है। उस वृक्षके नीचे प्रज्वलित रत्नमय प्रदीपोंकी पङ्क्तियोंसे चारों ओर दिव्य प्रकाश छाया रहता है। वहीं मणिमय सिंहासनपर दिव्य कमलका आसन है, जो उदयकालीन सूर्यके समान अरुण प्रभासे उद्भासित हो रहा है। उस आसनपर विराजमान भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करे, जो तपाये हुए सुवर्णके समान तेजस्वी हैं। उनका प्रकाश समानरूपसे सदा उदित रहनेवाले कोटि-कोटि चन्द्रमा, सूर्य और विद्युत्के समान है। वे सर्वाङ्गसुन्दर, सौम्य तथा समस्त आभूषणोंसे विभूषित हैं। उनके श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पाता है। उनके चार हाथ—क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा, और पद्मसे सुशोभित हैं। वे पल्लवकी छबिको छीन लेनेवाले अपने बायें चरणारविन्दके अग्रभागसे कलशका स्पर्श कर रहे हैं, जिससे बिना किसी आघातके रत्नमयी धाराएँ उछलकर गिर रही हैं। उनके दाहिने भागमें रुक्मिणी और वाम भागमें सत्यभामा खड़ी होकर अपने हाथोंमें दिव्य कलश ले उनसे निकलती हुई रत्नराशिमयी जलधाराओंसे उन (भगवान् श्रीकृष्ण) के मस्तकपर अभिषेक कर रही हैं। नाग्नजिती (सत्या) और सुनन्दा—ये उक्त देवियोंके समीप खड़ी हो उन्हें एकके बाद दूसरा कलश अर्पण कर रही हैं। इन दोनोंको क्रमशः दायें और वामभागमें खड़ी हुई मित्रविन्दा और लक्ष्मणा कलश दे रही हैं और इनके भी दक्षिण वामभागमें खड़ी जाम्बवती और सुशीला रत्नमयी नदीसे रत्नपूर्ण कलश भरकर उनके हाथोंमें दे रही हैं। इनके बाह्यभागमें चारों ओर खड़ी हुई सोलह सहस्र श्रीकृष्णवल्लभाओंका ध्यान करे, जो सुवर्ण एवं रत्नमयी धाराओंसे युक्त कलशोंसे सुशोभित हो रही हैं। उनके बाह्यभागमें आठ निधियाँ हैं, जो धनसे वहाँ वसुधाको भरपूर किये देती हैं। उनके बाह्यभागमें सब वृष्णिवंशी विद्यमान हैं और पहलेकी भाँति स्वर आदि भी हैं।' (नारदपु० पू० ८०। १७४-१८६)

इस प्रकार ध्यान करके पाँच लाख जप करे और लाल कमलोंद्वारा दशांश होम करके पूर्वोक्त वैष्णवपीठपर भगवान्का पूजन करे।

पूर्ववत् पीठकी पूजा करनेके पश्चात् मूलमन्त्रसे मूर्तिकी कल्पना करके उसमें भक्तिपूर्वक भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन करे और उसमें पूर्णताकी भावनासे पूजा करे। आसनसे लेकर आभूषणतक भगवान्को अर्पण करके फिर न्यासक्रमसे आराधना करे। सृष्टि, स्थिति, षडङ्ग, किरीट, कुण्डलद्वय, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वनमाला, श्रीवत्स तथा कौस्तुभ—

इन सबका गन्ध-पुष्पसे पूजन करके श्रेष्ठ वैष्णव मूलमन्त्रद्वारा छः कोणोंमें छः अङ्गोंका और पूर्वादि दलोंमें क्रमशः वासुदेव आदि तथा कोणोंमें शान्ति आदिका क्रमशः पूजन करे। तत्पश्चात् श्रेष्ठ दलोंके अग्रभागमें आठों पटरानियोंका पूजन करे। तदनन्तर सोलह हजार श्रीकृष्णपत्नियोंकी एक ही साथ पूजा करे। इसके बाद इन्द्र, नील, मुकुन्द, कराल, आनन्द, कच्छप, शङ्ख और पद्म—इन आठ निधियोंका क्रमशः पूजन करे। उनके बाह्यभागमें इन्द्र आदि लोकपालों तथा वज्र आदि आयुधोंकी पूजा करे। इस प्रकार सात आवरणोंसे घिरे हुए श्रीकृष्णका आदरपूर्वक पूजन करके दही, खाँड़ और घी मिले हुए दुग्धमिश्रित अन्नका नैवेद्य लगाकर उन्हें तृप्त करे। तदनन्तर दिव्योपचार समर्पित करके स्तुति और नमस्कारके पश्चात् परिवारगणों (आवरण-देवताओं) के साथ भगवान् केशवका अपने हृदयमें विसर्जन करे। भगवान्‌को अपनेमें बिठाकर भगवत्स्वरूप आत्माका पूजन करके विद्वान् पुरुष तन्मय होकर विचरे। रत्नाभिषेकयुक्त ध्यानमें वर्णित भगवत्स्वरूपकी पूजा बीस अक्षरवाले मन्त्रके आश्रित है। इस प्रकार जो मन्त्रकी आराधना करता है, वह समृद्धिका आश्रय होता है। जो जप, होम, पूजन और ध्यान करते हुए उक्त मन्त्रका जप करता है, उसका घर रत्नों, सुवर्णों तथा धन-धान्योंसे निरन्तर परिपूर्ण होता रहता है। यह विशाल पृथ्वी उसके हाथमें आ जाती है और वह सब प्रकारके शस्योंसे सम्पन्न होती है। साधक पुत्रों और मित्रोंसे भरा-पूरा रहता है और अन्तमें परमगतिको प्राप्त होता है। उक्त मन्त्रसे साधक इस प्रकारके अनेक प्रयोगोंका साधन कर सकता है। अब मैं सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाले मन्त्रराज दशाक्षरका वर्णन करता हूँ।

'गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।' यह दशाक्षर मन्त्र कहा गया है। इसके नारद ऋषि, विराट् छन्द, श्रीकृष्ण देवता, क्लीं बीज और स्वाहा शक्ति है। यह बात मनीषी पुरुषोंने बतायी है। आचक्र, विचक्र, सुचक्र, त्रैलोक्यरक्षणचक्र तथा असुरान्तकचक्र—इन शब्दोंके अन्तमें 'ङे' विभक्ति और स्वाहा पद जोड़कर इन पञ्चविध चक्रोंद्वारा पञ्चाङ्ग-न्यास करे।* तदनन्तर प्रणव-सम्पुटित मन्त्र पढ़कर तीन बार दोनों हाथोंमें व्यापक-न्यास करे। तत्पश्चात् मन्त्रके प्रत्येक अक्षरको अनुस्वारयुक्त करके उनके आदिमें प्रणव और अन्तमें नमः जोड़कर उनका दाहिने अंगूठेसे लेकर बायें अंगूठेतक अंगुलि-पर्वोंमें न्यास करे।† यह सृष्टि-न्यास बताया गया है। अब स्थिति-न्यास कहा जाता है। विद्वान् पुरुष स्थिति-न्यासमें बायीं कनिष्ठासे लेकर दाहिनी कनिष्ठातक पूर्वोक्तरूपसे मन्त्राक्षरोंका न्यास करे। संहार-न्यासमें बायें अंगूठेसे दाहिने अंगूठेतक उक्त मन्त्राक्षरोंका न्यास करना चाहिये। यह संहार-न्यास दोष-समुदायका नाश करनेवाला कहा गया है। शुद्धचेता ब्रह्मचारियोंको चाहिये कि वे स्थिति और संहार-न्यास पहले करके अन्तमें सृष्टिन्यास करें; क्योंकि वह विद्या प्रदान करनेवाला है। गृहस्थोंके लिये अन्तमें स्थितिन्यास करना उचित है। (उन्हें सृष्टि और संहार-न्यास पहले कर देना चाहिये।) क्योंकि स्थिति-न्यास काम्यादिस्वरूप (कामना-पूरक) है। विरक्त मुनीश्वरोंको सर्वदा अन्तमें संहार-न्यास करना चाहिये। तदनन्तर साधक पुनः स्थितिक्रमसे मन्त्राक्षरोंका अंगुलियोंमें न्यास करे। तत्पश्चात् पुनः पूर्वोक्त चक्रोंद्वारा हाथोंमें पञ्चाङ्ग-न्यास करे। (यथा—ॐ आचक्राय स्वाहा अंगुष्ठाभ्यां नमः। ॐ विचक्राय स्वाहा तर्जनीभ्यां नमः। ॐ सुचक्राय स्वाहा मध्यमाभ्यां नमः। ॐ त्रैलोक्यरक्षणचक्राय स्वाहा अनामिकाभ्यां नमः। ॐ असुरान्तकचक्राय स्वाहा कनिष्ठिकाभ्यां नमः) तदनन्तर विद्वान् पुरुष मूल-मन्त्रसे सम्पुटित अनुस्वारयुक्त मातृका-वर्णोंका मातृकान्यासके स्थलोंमें विनीतभावसे न्यास करे। उसके बाद प्रणवसम्पुटित मूल-मन्त्रका उच्चारण करके व्यापक-न्यास करे। तत्पश्चात् पूर्वोक्त मूर्तिपञ्जर नामक न्यास करे।

---

* न्यास-वाक्यका प्रयोग इस प्रकार है—

ॐ आचक्राय स्वाहा हृदयाय नमः।
ॐ विचक्राय स्वाहा शिरसे स्वाहा।
ॐ सुचक्राय स्वाहा शिखायै वषट्।
ॐ त्रैलोक्यरक्षणचक्राय स्वाहा कवचाय हुम्।
ॐ असुरान्तकचक्राय स्वाहा अस्त्राय फट्।

† यथा—ॐ गों नमः, दक्षिणांगुष्ठपर्वसु। ॐ पीं नमः, दक्षिणतर्जनीपर्वसु। ॐ जं नमः, दक्षिणमध्यमापर्वसु। ॐ नं नमः, दक्षिणानामिकापर्वसु। ॐ वं नमः, दक्षिणकनिष्ठिकापर्वसु। ॐ ल्लं नमः, वामकनिष्ठिकापर्वसु। ॐ भां नमः, वामानामिका-पर्वसु। ॐ यं नमः, वाममध्यमापर्वसु। ॐ स्वां नमः, वामतर्जनी-पर्वसु। ॐ हां नमः, वामाङ्गुष्ठपर्वसु।

श्रीसनत्कुमारजी कहते हैं—मुनीश्वर ! अब मैं श्रीकृष्ण-सम्बन्धी मन्त्रोंके भेद बतलाता हूँ, जिनकी आराधना करके मनुष्य अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेते हैं। दशाक्षर मन्त्रके तीन नूतन भेद हैं—(१) 'ह्रीं श्रीं क्लीं' गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।' (२) 'श्रीं ह्रीं क्लीं' और (३) 'क्लीं ह्रीं श्रीं'—इनके नारद ऋषि और गायत्री छन्द हैं तथा मनुष्योंकी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाले गोविन्द श्रीकृष्ण इसके देवता हैं। इन तीनों मन्त्रोंका अङ्ग-न्यास पूर्ववत् चक्रों-द्वारा करना चाहिये। तत्पश्चात् किरीटमन्त्रसे व्यापक-न्यास करे। फिर सुदर्शन-मन्त्रसे दिग्बन्ध करे। आदि-मन्त्रमें बीस अक्षरवाले मन्त्रकी ही भाँति ध्यान-पूजन आदि करे। द्वितीय मन्त्रमें दशाक्षर-मन्त्रके लिये कहे हुए ध्यान-पूजन आदिका आश्रय ले। तृतीय मन्त्रमें विद्वान् पुरुष एकाग्रचित होकर श्रीहरिका इस प्रकार ध्यान करे—भगवान् अपनी छः भुजाओंमें क्रमशः शङ्ख, चक्र, धनुष, बाण, पाश तथा अङ्कुश धारण करते हैं और शेष दो भुजाओंमें वेणु लेकर बजा रहे हैं। उनका वर्ण लाल है। वे श्रीकृष्ण साक्षात् सूर्यरूपसे प्रकाशित होते हैं।' (ना० पू० ८१ । ७) इस प्रकार ध्यान करके बुद्धिमान् पुरुष पाँच लाख जप करे और घृतयुक्त खीरसे दशांश आहुति दे। इस प्रकार मन्त्र सिद्ध हो जानेपर मन्त्रोपासक पुरुष उसके द्वारा पूर्ववत् सकाम प्रयोग कर सकता है। 'श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय स्वाहा' यह बारह अक्षरोंका मन्त्र है। इसके ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द और श्रीकृष्ण देवता हैं। पृथक्-पृथक् तीन बीजों तथा तीन, चार एवं दो मन्त्राक्षरोंसे षडङ्ग-न्यास करे। बीस अक्षरवाले मन्त्रकी भाँति इसके भी ध्यान, होम और पूजन आदि करने चाहिये। यह मन्त्र सम्पूर्ण अभीष्ट फलोंको देनेवाला है।

दशाक्षर-मन्त्र (गोपीजनवल्लभाय स्वाहा) के आदिमें श्रीं ह्रीं क्लीं तथा अन्तमें क्लीं ह्रीं श्रीं जोड़नेसे षोडशाक्षर मन्त्र बनता है। इसी प्रकार केवल आदिमें ह्रीं श्रीं जोड़नेसे बारह अक्षरोंका मन्त्र होता है। पूर्वोक्त चक्रोंद्वारा इनका अङ्ग-न्यास करे, फिर भगवान्‌का ध्यान करके दस लाख जप करे और घीसे दशांश होम करे। इससे ये दोनों मन्त्रराज सिद्ध हो जाते हैं। सिद्ध होनेपर ये मनुष्योंके लिये सम्पूर्ण कामनाओं, समस्त सम्पदाओं तथा सौभाग्यको देनेवाले हैं। अष्टादशाक्षर-मन्त्रके अन्तमें 'क्लीं' जोड़ दिया जाय तो वह पुत्र तथा धन देनेवाला होता है। इस मन्त्रके नारद ऋषि, गायत्री छन्द और श्रीकृष्ण देवता हैं। क्लीं बीज कहा गया है और स्वाहा शक्ति मानी गयी है। छः दीर्घ स्वरोंसे युक्त बीजमन्त्रद्वारा षडङ्ग-न्यास करे। 'दायें हाथमें खीर और बायें हाथमें मक्खन लिये हुए दिगम्बर गोपीपुत्र श्रीकृष्ण मेरी रक्षा करें।' (ना० पू० ८१ । १८)—इस प्रकार ध्यान करके बत्तीस लाख मन्त्र जपे और प्रज्वलित अग्निमें मिश्री मिलायी हुई खीरसे दशांश आहुति दे। तत्पश्चात् पूर्वोक्त वैष्णवपीठपर अष्टादशाक्षर-मन्त्रकी भाँति पूजन करे। कमलके आसनपर विराजमान श्रीकृष्णकी पूजा करके उनके मुखारविन्दमें खीर, पके केले, दही और तुरंतका निकाला हुआ माखन देकर तर्पण करे। पुत्रकी इच्छा रखनेवाला पुरुष यदि इस प्रकार तर्पण करे तो वह वर्षभरमें पुत्र प्राप्त कर लेता है। वह जिस-जिस वस्तुकी इच्छा करता है, वह सब उसे तर्पणसे ही प्राप्त हो जाती है।

'ऐं क्लीं कृष्णाय ह्रीं गोविन्दाय श्रीं गोपीजनवल्लभाय स्वाहा ह्सौं।'—यह बाईस अक्षरका मन्त्र होता है, जो वागीशत्व प्रदान करनेवाला है। इसके नारद ऋषि, गायत्री छन्द, विद्यादाता गोपाल देवता, क्लीं बीज और ऐं शक्ति है। विद्याप्राप्तिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। इसका ध्यान इस प्रकार है—'जो वाम भागके ऊपरवाले हाथमें उत्तम विद्या-पुस्तक और दाहिने भागके ऊपरवाले हाथमें स्फटिक मणिकी मातृकामयी अक्षमाला धारण करते हैं। इसी प्रकार नीचेके दोनों हाथोंमें शब्दब्रह्ममयी मुरली लेकर बजाते हैं, जिनके श्रीअङ्गोंमें गायत्रीछन्दमय पीताम्बर सुशोभित है, जो श्यामवर्ण कोमल कान्तिमान् मयूर-पिच्छमय मुकुट धारण करनेवाले, सर्वज्ञ तथा मुनिवरोंद्वारा सेवित हैं, उन श्रीकृष्णका चिन्तन करे।' (ना० पू० ८१ । २६—२९) इस प्रकार लीला करनेवाले भुवनेश्वर श्रीकृष्णका ध्यान करके चार लाख मन्त्र-जप करे और पलासके फूलोंसे दशांश आहुति देकर मन्त्रोपासक बीस अक्षरवाले मन्त्रके लिये कहे हुए विधानके अनुसार पूजन करे। इस प्रकार जो मन्त्रकी उपासना करता है, वह वागीश्वर हो जाता है। उसके बिना देखे हुए शास्त्र भी गङ्गाकी लहरोंके समान स्वतः प्रस्तुत हो जाते हैं।

'ॐ कृष्ण कृष्ण महाकृष्ण सर्वज्ञ त्वं प्रसीद मे। रमारमण विद्येश विद्यामाशु प्रयच्छ मे॥' (हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाकृष्ण ! आप सर्वज्ञ हैं। मुझपर प्रसन्न होइये। हे रमारमण ! हे विद्येश्वर ! मुझे शीघ्र विद्या दीजिये।) यह तैंतीस अक्षरोंवाला महाविद्याप्रद मन्त्र है। इसके नारद ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और श्रीकृष्ण देवता हैं। मन्त्रके

चारों चरणों और सम्पूर्ण मन्त्रसे पञ्चाङ्ग-न्यास करके श्रीहरिका ध्यान करे।

ध्यान

'एक दिव्य उद्यान है। उसके भीतर सूर्यके समान प्रकाशमान मणिमय मण्डप है, जहाँ सर्ववेदान्तमय कल्पवृक्षके नीचे योगपीठ नामक दिव्य सिंहासन है, जिसके मध्यभागमें भगवान् मुकुन्द विराजमान हैं। कल्पवृक्षरूपी चार वेद जिसके कोष सौ पर्वतोंको सहारा देनेवाले हैं, उन्हें घेरकर स्थित हैं। छत्र, चँवर आदिके रूपमें सुशोभित न्याय, तर्क, पुराण तथा स्मृतियोंसे भगवान् आवृत हैं। वे अपने हाथोंके अग्रभागमें शङ्ख, मुरली, पुष्पमय बाण और ईखके धनुष धारण करते हैं। अक्षमाला और भरे हुए दो कलश उन्होंने ले रक्खे हैं, उनका दिव्य विग्रह कामदेवसे भी अधिक मनोहर है। वे दिव्य आभूषण तथा दिव्य अङ्गराग धारण करते हैं। शब्दब्रह्मसे प्रकट हुई तथा बायें हाथमें ली हुई वेणुद्वारा स्पष्ट एवं रुचिर पदका उच्चारण करते हुए विश्वमात्रमें विशद व्याख्याका विस्तार करते हैं। उनकी अङ्ग-कान्ति अरुण वर्णकी है, ऐसे गोपीवल्लभ श्रीकृष्ण हमें लक्ष्मी प्रदान करें।'

(नारदपु० पूर्व० ८१। ३४-३५)

इस प्रकार ध्यान करके एक लाख जप करे और खीरसे दशांश आहुति दे। मन्त्रज्ञ पुरुष इसका पूजन आदि अष्टादशाक्षर मन्त्रकी भाँति करे।

'ॐ नमो भगवते नन्दपुत्राय आनन्दवपुषे गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।'—'यह अट्ठाईस अक्षरोंका मन्त्र है। जो सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको देनेवाला है।

'नन्दपुत्राय श्यामलाङ्गाय बालवपुषे कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।—'यह बत्तीस अक्षरोंका मन्त्र है। इन दोनों मन्त्रोंके नारद ऋषि हैं, पहलेका उष्णिक्, दूसरेका अनुष्टुप् छन्द है। देवता नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हैं। समस्त कामनाओंकी प्राप्तिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। चक्रोंद्वारा पञ्चाङ्ग-न्यास करे तथा हृदयादि अङ्गों, इन्द्रादि दिक्पालों और उनके वज्र आदि आयुधोंसहित भगवान्की पूजा करनी चाहिये। फिर ध्यान करके एक लाख मन्त्र-जप और खीरसे दशांश हवन करे। इन सिद्ध मन्त्रोंद्वारा मन्त्रोपासक अपने अभीष्टकी सिद्धि कर सकता है।

'लीलादण्ड गोपीजनसंसक्तदोर्दण्ड बालरूप मेघश्याम भगवान् विष्णो स्वाहा।'—यह उन्तीस अक्षरोंका मन्त्र है। इसके नारद ऋषि, अनुष्टुप् छन्द और 'लीलादण्ड हरि' देवता कहे गये हैं। चौदह, चार, चार, तीन तथा चार मन्त्राक्षरोंद्वारा क्रमशः पञ्चाङ्गन्यास करे।

ध्यान

'जो अपने बायें हाथमें लिये हुए लीलादण्डसे भाँति-भाँतिके खेल दिखाकर परमसुन्दरी गोपाङ्गनाओंका मन मोहे लेते हैं, जिनका दाहिना हाथ अपने प्रिय सखाके कंधेपर है, वे कंसविनाशक महापराक्रमी भगवान् श्रीकृष्ण हमें लक्ष्मी प्रदान करें।'

(नारदपु० पूर्व० ८१। ५५)

इस प्रकार ध्यान करके एक लाख जप और चीनी तथा मधुमें सने हुए तिल और चावलोंसे दशांश होम करे। तत्पश्चात् पूर्वोक्त पीठपर अङ्ग, दिक्पाल तथा आयुधोंसहित श्रीहरिका पूजन करे। जो प्रतिदिन आदरपूर्वक 'लीलादण्डहरि'की आराधना करता है, वह सम्पूर्ण लोकोंद्वारा पूजित होता है और उसके घरमें लक्ष्मीका स्थिर निवास होता है। 'गोवल्लभाय स्वाहा' यह मन्त्र सात अक्षरोंका है और सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाला है। इसके नारद ऋषि, उष्णिक् छन्द तथा गोवल्लभ श्रीकृष्ण देवता हैं। पूर्ववत् चक्र-मन्त्रोंद्वारा पञ्चाङ्ग-न्यास करे।

ध्यान

'जो कपिला गायोंके बीचमें खड़े हो उनको पुकारते हैं, बायें हाथमें मुरली और दायें हाथमें रस्सी और लाठी लिये हुए हैं, जिनकी अङ्गकान्ति मेघके समान श्याम है, जो पीतवस्त्र और मोर-पंखका मुकुट धारण करते हैं, उन श्यामसुन्दर श्रीहरिका ध्यान करना चाहिये।'

(नारदपु० पूर्व० ८१। ६०)

ध्यानके बाद, सात लाख मन्त्र-जप और गोदुग्धसे दशांश हवन करे। पूर्वोक्त वैष्णवपीठपर पूजन करे। अङ्गोंद्वारा प्रथम आवरण होता है। द्वितीय आवरणमें सुवर्ण-पिङ्गला, गौर-पिङ्गला, रक्त-पिङ्गला, गुड-पिङ्गला, बभ्रु-वर्णा, उत्तमा कपिला, चतुष्कपिङ्गला तथा शुभ एवं उत्तम पीत-पिङ्गला—इन आठ गायोंके समुदायकी पूजा करके तीसरे और चौथे आवरणोंमें इन्द्रादि लोकेशों तथा वज्र आदि आयुधोंका पूजन करे।

इस प्रकार पूजन करके मन्त्र सिद्ध कर लेनेपर मन्त्रज्ञ पुरुष उसके द्वारा कामना-पूर्तिके लिये प्रयोग करे। जो प्रतिदिन गोदुग्धसे एक सौ आठ आहुति देता है, वह पंद्रह दिनमें ही गोसमुदायसहित मुक्त हो जाता है। दशाक्षर मन्त्रमें भी यह विधि है।

'ॐ नमो भगवते श्रीगोविन्दाय।'—यह द्वादशाक्षर मन्त्र कहा गया है। इसके नारद ऋषि माने गये हैं। छन्द गायत्री है और गोविन्द देवता कहे गये हैं। एक, दो, चार और पाँच अक्षरों तथा सम्पूर्ण मन्त्रसे पञ्चाङ्ग-न्यास करे।

ध्यान

'दिव्य कल्पवृक्षके नीचे मूलभागके समीप नाना प्रकारकी मणियोंसे सुशोभित दिव्य सिंहासनपर भगवान् श्रीकृष्ण विराज रहे हैं। उनकी अङ्गकान्ति मेघके समान श्याम है। वे पीताम्बर धारण किये अत्यन्त सुन्दर लग रहे हैं। अपने दोनों हाथोंमें उन्होंने शङ्ख और बेंत ले रखे हैं। सहस्रों गायें उन्हें घेरकर खड़ी हैं। वे सम्पूर्ण देवताओंके प्रतिपालक हैं। एक प्रौढ़ व्यक्तिके हाथोंमें एक कलश है, उससे अमृतकी धारा झर रही है और उसीसे भगवान् स्नान कर रहे हैं। उनके नेत्र नूतन विकसित कमल-दलके समान विशाल एवं सुन्दर हैं। ऐसे श्रीहरिका ध्यान करना चाहिये।' (नारदपु० पू० ८१। ६७-६८)

तत्पश्चात् बारह लाख मन्त्र जपे। फिर गोदुग्धसे दशांश होम करके पूर्ववत् गोशालामें स्थित भगवान्का पूजन करे। अथवा प्रतिमा आदिमें भी पूजा कर सकते हैं। पूर्वोक्त वैष्णवपीठपर मूलमन्त्रसे मूर्ति निर्माण करके उसमें भगवान्का आवाहन और प्रतिष्ठा करे। तत्पश्चात् पहले गुरुदेवकी पूजा करके भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करे। भगवान्के पार्श्वभागमें रुक्मिणी और सत्यभामाका, सामने इन्द्रका तथा पृष्ठभागमें सुरभिदेवीका पूजन करके केसरोंमें अङ्गपूजा करे। फिर आठ दलोंमें कालिन्दी आदि आठ पटरानियोंकी पूजा करके पीठके कोणोंमें किङ्किणी और दाम* (रस्सी) की अर्चना करे। पृष्ठभागोंमें वेणुकी तथा सम्मुख श्रीवत्स एवं कौस्तुभकी पूजा करे। आगेकी ओर वनमाला आदि अलंकारोंका पूजन करे। आठ दिशाओंमें स्थित पाञ्चजन्य, गदा, चक्र, वसुदेव, देवकी, नन्दगोप, यशोदा तथा गौओं और ग्वालोंसहित गोपिका—इन सबकी पूजा करे। उनके बाह्यभागमें इन्द्र आदि दिक्पाल तथा उनके भी बाह्यभागमें वज्र आदि आयुध हैं। फिर पूर्व आदि दिशाओंमें क्रमशः कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शङ्कुकर्ण, सर्वनेत्र, सुमुख तथा सुप्रतिष्ठित—इन दिग्गजोंका पूजन करके विष्वक्सेन तथा आत्माका पूजन करना चाहिये। जो मनुष्य एक या तीनों समय श्रीगोविन्दका पूजन करता है, वह चिरायु, निर्भय तथा धन-धान्यका स्वामी होता है।

'गोकुलनाथाय नमः।'—यह महामन्त्र आठ अक्षरोंका है। इसके ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द तथा श्रीकृष्ण देवता हैं। इसके दो-दो अक्षरों तथा सम्पूर्ण मन्त्रसे पञ्चाङ्ग-न्यास करे।

ध्यान

'बाल-गोपालकी पाँच वर्षकी अवस्था है, वे अत्यन्त चपल गतिसे आँगनमें दौड़ रहे हैं। उनके नेत्र भी बड़े चञ्चल हैं। किङ्किणी, वलय, हार और नूपुर आदि आभूषण विभिन्न अङ्गोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं। ऐसे सुन्दर गोपबालकको नमस्कार करो।' (नारदपु० पू० ८१। ८०)

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रोपासक आठ लाख जप और पलाशकी समिधाओं अथवा खीरसे दशांश हवन करे। पूर्वोक्त वैष्णवपीठपर मूलमन्त्रसे मूर्तिका संकल्प करके उसमें मन्त्रसाधक स्थिरचित्त हो भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन और पूजन करे। चारों दिशा-विदिशाओंमें जो केसर हैं, उनमें अङ्गोंकी पूजा करे। फिर दिशाओंमें वासुदेव, बलभद्र, प्रद्युम्न और अनिरुद्धका तथा कोणोंमें रुक्मिणी, सत्यभामा, लक्ष्मणा और जाम्बवतीका पूजन करे। इनके बाह्यभागोंमें लोकेशों और आयुधोंकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा करनेसे मन्त्र सिद्ध हो जाता है।

ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं श्रीकृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय श्रीं श्रीं श्रीं—यह तेईस अक्षरोंका मन्त्र है। इसके ऋषि आदि भी पूर्वोक्त ही हैं। सिद्ध गोपालका स्मरण करना चाहिये।

ध्यान

'जो माधवीलतामय मण्डपमें बैठकर दिव्य क्रीडाओंमें

* यशोदामैयाने रस्सीसे उन्हें बाँधा था इसीसे कमरमें किङ्किणीके साथ दाम (रस्सी) की पूजाका विधान है।

तत्पर हैं; श्रीगरुड़जी जिनकी रक्षा कर रहे हैं; उन श्रीबलराम तथा श्रीकृष्णका चिन्तन करते हुए मन्त्र-जप करना चाहिये।'

(नारदपु० पू० ८१ । ८७)

'कृः' यह एकाक्षर मन्त्र होता है । 'कृष्ण' यह दो अक्षरोंका मन्त्र है । 'क्लीं कृष्ण' तीन अक्षरोंका मन्त्र है । 'क्लीं कृष्णाय' चार अक्षरोंका मन्त्र है । 'कृष्णाय नमः।' यह पञ्चाक्षर मन्त्र है । 'क्लीं कृष्णाय क्लीं।' यह भी पञ्चाक्षर मन्त्र है। 'गोपालाय स्वाहा।' यह षडक्षर मन्त्र है । 'क्लीं कृष्णाय स्वाहा'—यह भी दूसरा षडक्षर मन्त्र है । 'कृष्णाय गोविन्दाय' यह सप्ताक्षर मन्त्र सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाला है । 'श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय क्लीं'—यह दूसरा सप्ताक्षर मन्त्र है । 'कृष्णाय गोविन्दाय नमः।' यह दूसरा नवाक्षर मन्त्र है। 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय क्लीं ।' यह भी इतर नवाक्षर मन्त्र है। 'क्लीं ग्लौं क्लीं श्यामलाङ्गाय नमः ।' यह दशाक्षर मन्त्र सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाला है । 'बालवपुषे कृष्णाय स्वाहा' यह दूसरा दशाक्षर मन्त्र है। 'बालवपुषे क्लीं कृष्णाय स्वाहा ।' यह एकादशाक्षर मन्त्र है । तदनन्तर गोपीजनमनोहर श्रीकृष्णका इस प्रकार ध्यान करे—

ध्यान

'श्रीवृन्दावनकी गलियोंमें झुकी और फूली हुई लता-बेलोंकी पंक्तियाँ फैली हुई हैं । उनके भीतर घुसकर लोट-पोट करनेसे शीतल-मन्द वायु सुगन्धसे भर गयी है। वह सुगन्धित वायु उस यमुना-पुलिनको सब ओरसे सुवासित कर रही है, जहाँ श्रीराधारानीके एकमात्र जीवनधन नागर नन्दकिशोर विचरण कर रहे हैं। उनका मुख चन्द्रमासे भी अधिक मनोहर है और उनकी अङ्गकान्ति स्निग्ध मेघोंकी श्याम मनोहर छविको छीने लेती है। मैं उन्हीं नटवर नन्दकिशोरकी वन्दना करता हूँ ।' (नारद० पूर्व० ८१ । ९६)

मुनीश्वर ! इन मन्त्रोंकी पूजा पूर्वोक्त पद्धतिसे ही होती है, यह जानना चाहिये ।

देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते ।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥*

(ना० पूर्व० ८१ । ९७-९८)

यह बत्तीस अक्षरोंका मन्त्र है । इसके नारद ऋषि, गायत्री और अनुष्टुप् छन्द तथा पुत्रप्रदाता श्रीकृष्ण देवता हैं । चारों पादों तथा सम्पूर्ण मन्त्रसे इसका अङ्गन्यास करे।

ध्यान

'जो अर्जुनके साथ रथपर बैठे हैं और क्षीरसागरसे लाकर ब्राह्मणके मरे पुत्रको उन्हें वापस दे रहे हैं, उन वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका चिन्तन करना चाहिये ।'

(नारदपु० पू० ८१ । १००)

इसका एक लाख जप और घी, चीनी तथा मधुमेवा आदि मधुर पदार्थोंमें सने हुए तिलोंसे दस हजार होम करे। पूर्वोक्त वैष्णवपीठपर अङ्ग, दिक्पाल तथा आयुधोंसहित श्रीकृष्णकी पूजा करनी चाहिये । इस प्रकार मन्त्र सिद्ध हो लेनेपर वन्ध्या स्त्रीके भी पुत्र उत्पन्न हो सकता है। 'ॐ ह्रीं हंसः सोऽहं स्वाहा।' यह दूसरा अष्टाक्षर मन्त्र है। इस पञ्चब्रह्मात्मक मन्त्रके ब्रह्मा ऋषि, परमा गायत्री छन्द तथा परम ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म देवता कहे गये हैं । प्रणव बीज है और स्वाहा शक्ति कही गयी है । 'स्वाहा' हृदयाय नमः। सोऽहं शिरसे स्वाहा । हंसः शिखायै वषट् । हृल्लेखा कवचाय हुम्। ॐ नेत्राभ्यां वौषट् । 'हरिहर' अस्त्राय फट्। इस प्रकार अङ्गन्यास करे ।

स ब्रह्मा स शिवो विप्र स हरिः सैव देवराट्।
स सर्वरूपः सर्वाख्यः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥

(नारद पूर्व० ८१ । १०७)

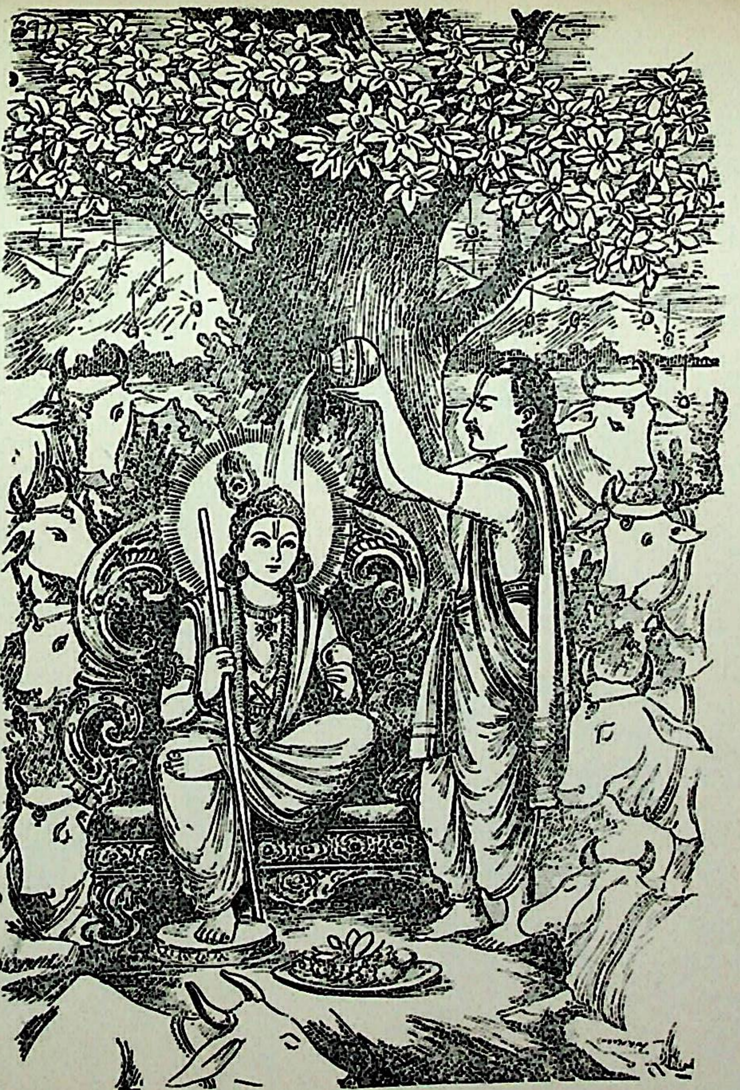
'विप्रवर ! वे श्रीकृष्ण ही ब्रह्मा हैं, वे ही शिव हैं, वे ही विष्णु और वे ही देवराज इन्द्र हैं। वे ही सब रूपोंमें हैं तथा सब नाम उन्हींके हैं। वे ही स्वयं प्रकाशमान अविनाशी परमात्मा हैं ।'

इस प्रकार ध्यान करके आठ लाख जप और दशांश होम करे। इनकी पूजा प्रणवात्मक पीठपर अङ्ग और आवरण-देवताओंके साथ करनी चाहिये। नारद ! इस प्रकार मन्त्र सिद्ध हो जानेपर साधक-शिरोमणि पुरुषको 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका विकल्परहित ज्ञान प्राप्त होता है ।

* 'देवकीपुत्र ! गोविन्द ! वासुदेव ! जगदीश्वर ! श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हारी शरणमें आया हूँ, मुझे पुत्र प्रदान करो ।'



दिव्य उद्यानमें अष्टभुजाधारी श्रीकृष्ण [पृष्ठ ३४२



गोविन्दपर अमृतधारा [पृष्ठ ३४१



वृन्दावनकी गलियोंमें नन्दकिशोर [पृष्ठ ३४४



रथपर अर्जुनके साथ विराजित श्रीकृष्ण ब्राह्मणके मरे पुत्रको लौटा रहे हैं। [पृष्ठ ३४४

श्रीकृष्णप्राप्तिके लिये व्रजकुमारियोंकी कात्यायनी-उपासना

(लेखक—ब्रह्मलीन आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय)

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः ।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥
आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे ।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥
गन्धमाल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः ।
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ॥
कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि ।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥
इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ।
एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः ॥
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः ।

(श्रीमद्भागवत १० । २२ । १—५)

हेमन्त ऋतुका प्रथम मास मार्गशीर्ष (अगहन) आ उपस्थित हुआ । इस पवित्र मासमें श्रीकृष्णैकप्राणा व्रजकुमारियोंने श्रीकृष्णप्राप्तिकी कामनासे कात्यायनीपूजाका व्रत ग्रहण किया । इस व्रतके विधानके अनुसार वे संयमपरायणा तपस्विनी ब्रह्मचारिणीके समान एक समय केवल हविष्यान्नका भोजन करतीं, ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर विश्वपावनी यमुनामें स्नान करतीं और अरुणोदयके साथ-साथ यमुनाके पुलिनपर बालुका-द्वारा कात्यायनीदेवीकी मूर्तिका निर्माण करके सुरभि, पुष्प, गन्ध-माल्य, धूप-दीप, नैवेद्य, प्रवाल, फल, तण्डुल और नाना प्रकारके उपहार सजाकर देवीकी अर्चना करती थीं। उनका मन्त्र यही था—'हे कात्यायनि ! हे महामाये ! हे महायोगिनि ! हे अधीश्वरि ! हे देवि ! तुम नन्दगोपसुतको मेरा पति बना दो, तुम्हें नमस्कार है ।' इस मन्त्रका वे सदा-सर्वदा मन-ही-मन जप करतीं एवं इसी मन्त्रके द्वारा देवीकी पूजा करती थीं। श्रीकृष्णगतप्राणा अनन्यमानसा कुमारियाँ इस प्रकार पूरे मार्गशीर्षमासपर्यन्त नियत व्रतचारिणी रहती थीं। वे विश्वजननी कल्याणविधायिनी श्रीकृष्ण-प्रदानसमर्था देवी भद्रकालीकी यथाविधि अर्चना करतीं एवं नन्दनन्दन हमारे पति हों—सर्वदा इसी प्रार्थनाका हृदयमें आकुल आग्रहके साथ पोषण करती थीं।'

श्रीमद्भागवतमें वर्णित व्रजगोपाङ्गनाएँ हैं—प्रेम-भक्तिकी आदर्श, भागवत धर्मकी आदर्श। उनमें मानवताका चरम विकास हुआ है। श्रीमन्महाप्रभुने इसी आदर्शका विशेषरूपसे मानव-समाजमें प्रचार किया है। इन व्रज-देवियोंका देह, मन, प्राण भगवत्प्रेमद्वारा ही गठित है। भगवान्‌को उन्होंने नितान्त अपना मानकर—अपना सर्वस्व मानकर उपलब्ध किया है, भगवत्सेवामें उन्होंने देह-मन-प्राणका उत्सर्ग कर दिया है; भगवान्‌ने उनके बीच प्रेमघन-मूर्तिमें आविर्भूत होकर उनकी सर्वाङ्गीण सेवा ग्रहण की, एवं उनके साथ विचित्र लीलाएँ कर भक्तसमाजमें अपनी भगवत्ताको परिपूर्ण स्वरूपमें प्रकट किया है। उनका भगवत्प्रेममय जीवन मानवजीवनका चरम आदर्शस्थानीय है। इसी जीवनमें भगवान्‌की रसराजमूर्ति—प्रेमानन्दघनस्वरूप सम्यक् रूपसे भलीभाँति अनुभूत और आस्वाद्य हो गया। उनकी इस स्वभावसिद्ध भगवत्प्रेमोपासनाका एक विशेष अङ्ग है—विश्वजननी महामाया व्रजाधिष्ठात्री कात्यायनी देवीकी उपासना।

भक्तप्रवर प्रह्लाद दैत्यबालकोंको उपदेश देते हैं—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥

(श्रीमद्भागवत ७ । ६ । १)

'इस संसारमें दुर्लभ मानवजन्म ग्रहण करके कौमारावस्थासे ही—जीवनके प्रभातसे ही भागवत धर्मका अवलम्बन करना उचित है, भगवान्‌को ऐकान्तिक भावसे प्रेम करनेका अनुशीलन करना कर्त्तव्य है। यही प्राज्ञका लक्षण है। कौमारावस्थामें भगवान्‌से प्रेम करना सीखनेसे ही मानव-जीवनकी सार्थकता सम्भव है; क्योंकि यह मानव-जन्म बड़ा दुर्लभ है। लाखों-लाखों योनियोंमें असंख्य प्रकारकी अभिज्ञताको प्राप्त करते हुए क्रमशः उत्कर्ष प्राप्त करते-करते मानवदेह प्राप्त करनेका अधिकार मिलता है। विश्वसृष्टिमें एकमात्र मानवदेहसे ही तत्त्वज्ञान और पराभक्तिका अनुशीलन एवं उसके द्वारा परम पुरुषार्थकी प्राप्ति सम्भव है। पर इतना महत्त्वपूर्ण यह परमार्थप्रद देह है नितान्त ही क्षणभङ्गुर। कब इस देहसे वञ्चित होना होगा, इसकी कोई स्थिरता नहीं है। इस अवस्थामें जो लोग इसी देहसे

होनेवाली परमार्थ-साधनाको भविष्यके लिये रख देते हैं, वे सर्वथा मूर्ख हैं। मानव-जीवनमें ज्ञान-विकासके साथ-साथ परमार्थ-साधनाका अवलम्बन करना ही प्राज्ञोचित कार्य है। सुतरां कौमारावस्थामें ही देह, मन और प्राणको भगवद्भावभावित करनेके लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर देना चाहिये।

इस सुमहती नीतिकी समुज्ज्वल दृष्टान्त है—महाभाग्यवती ये व्रजकुमारियाँ। कौमारावस्थामें ही उन्होंने सब प्रकारकी सांसारिक वासना-कामना, आशा-आकाङ्क्षा, अभिमान-ममताका परित्याग करके एकमात्र भगवान्‌को ही परम काम्य, परम आकाङ्क्षणीय, परम ममतास्पद मानकर वरण किया। सम्पूर्ण मन-प्राण देकर भगवान्‌में ही प्रेम किया। और भगवान्‌के चरणोंमें अपनेको सम्पूर्णरूपसे विलीन कर देनेके लिये ही वे ब्रह्मचारिणी और तपस्विनी बन गयीं।

भगवान्‌को उन्होंने चाहा 'पति' रूपमें। पतिरूपमें वरण करना प्रेम-भक्तिका सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। उन्होंने भगवान्‌को अभीष्ट फलदाताके रूपमें नहीं चाहा, उन्होंने उनको चाहा—एकमात्र वाञ्छित परम प्रियतमरूपमें। परमप्रेष्ठ भगवान्‌के अतिरिक्त उनका और कुछ भी अभीष्ट या वाञ्छित नहीं था और न उन्हें मुक्तिकी ही आकाङ्क्षा थी। उनके समर्पित जीवनमें भगवान्‌को देनेके लिये तो कुछ रहा ही नहीं था। उन्होंने केवल सम्पूर्ण अन्तःकरणसे उन्हें चाहा था और वह चाह थी केवल और केवल उन्हींके लिये। इसीका नाम–है 'यथार्थ भक्ति'। यह अन्याभिलाषावर्जित प्रेम ही वस्तुतः 'भक्ति' पदवाच्य है। यह भक्ति व्रजकुमारियोंमें स्वभावतः ही उत्पन्न हुई थी। उन्होंने भगवान्‌का नाम सुना था गुरुजनोंके मुखसे। उनका गुणगान सुना था। भगवान् ही मानवमात्रके चरम और परम आराध्य हैं एवं उनके साथ अविच्छेद्य भावसे सम्मिलित हो पानेमें ही मानवजीवनकी सम्यक् सार्थकता है, यह तत्त्व भी उनके कानोंमें प्रवेश कर चुका था। श्रवणके साथ ही उनका विशुद्ध चित्त उनके नामसे आकर्षित हो गया। अपने-आप उनके मन और वाणीमें उनका गुणगान स्फुरित होने लगा। उनका सम्पूर्ण हृदय प्रेमसे द्रवीभूत होकर अविच्छिन्न धारामें उन्हींकी ओर प्रवाहित होने लगा—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
(श्रीमद्भागवत ३। २९। ११-१२)

जब मानवचित्त विशुद्ध, निर्मल, प्रशान्त और विशुद्ध वासनारहित हो जाता है, तब मानवजीवनके परमलक्ष्यका परिचय प्राप्त करनेपर मनुष्य इस प्रकारकी निर्गुण भक्तिका अधिकारी होता है। व्रजकुमारियोंने तो इस अधिकारको साथ ही लेकर जन्म ग्रहण किया था। वे भगवद्भावभावित होकर सम्पूर्ण रूपसे भगवान्‌की ही स्वकीया हो जाना चाहती थीं। इसीका नाम है—'पतिरूपमें वरण'। वे भगवान्‌से कोई प्रत्याशा नहीं करती थीं। और तो क्या, भगवान्‌का भी सम्भोग करना नहीं चाहती थीं। वे तो चाहती थीं भगवान्‌की सम्भोग्या होना। भगवान् उनको निजस्व मानकर ग्रहण करें; उनका जीवन, यौवन, सौन्दर्य, माधुर्य, शक्ति, सम्पत्ति—जो कुछ भी है, सभी भगवान्‌की हैं एवं भगवान् ही उन सबका सम्भोग करें; उनके सम्भोगसे भगवान्‌का आनन्दविलास हो, आनन्दमयकी आनन्द-तरङ्गें उछलने लगें और रसस्वरूपकी रसमाधुरी नव-नव रूपमें विकीर्ण हो उठे। यही है उनका काम्य; इसीमें होता है उनको कृतार्थताका बोध। वे अपना सब कुछ देकर, निजस्व या स्वभोग्य मानने योग्य कुछ भी न रखकर भगवान्‌की सेवाधिकारिणी होंगी। इसी सेवासे उनको आनन्द होगा। भगवत्सेवामें आत्मविलयके साधनसे ही उनके जीवनकी सार्थकता होगी। उनकी सर्वाङ्गीण सेवासे भगवान्‌की जो आनन्दधारा प्रवाहित होगी, उसीसे अभिषिक्त होकर उनका जीवन धन्य होगा। यही है पतिरूपमें वरण करनेका रहस्य। साधारण अविद्यासे आवृत-आच्छन्न, आत्मविस्मृत, संसारवशीकृत जनके समान संसारका वे पतिरूपमें वरण करनेको राजी नहीं हुईं। इन्द्रियभोग्य या मनोभोग्य अथवा बुद्धिभोग्य सांसारिक विषयोंकी सेवामें आत्मनियोग करनेके लिये वे प्रस्तुत नहीं हुईं। परिवार, समाज और जातिके सामने आत्मबलिदान करना उन्होंने स्वीकार नहीं किया। जो विश्वचराचरके चरम सेव्य हैं, जो स्वरूपतः निखिल विश्वके एकमात्र अद्वितीय पति हैं, जो सभीके 'गतिभर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥—(गीता ९। १८) हैं, जो अखिलरसामृतसिन्धु हैं, जिनके भजनेपर और किसीको भी भजनेकी आकाङ्क्षा या आवश्यकता ही नहीं रह जाती, उन्हींको भजनेसे, उन्हींकी सेवामें आत्मोत्सर्ग करनेसे, सम्भोग्यरूपसे जीवनके समस्त अङ्ग-

प्रत्यङ्गोंका गठन करनेसे ही मानव-जीवनकी चरम सार्थकता है। व्रज-कुमारियोंने कौमारावस्थामें अपने देह और प्राणको किसी प्रकार भी संसारका उच्छिष्ट न होने देकर उसी परम सेव्यकी सेवामें ही समर्पित कर दिया, एकमात्र परम सर्वस्व उन्हींका पतिरूपमें वरण किया यही उनकी 'उपासना' है।

उन परम सेव्य, विश्वाराध्य, अखिल चराचर अनन्त विश्वब्रह्माण्डके पतिको प्रेममयी व्रजगोपियोंने केवल प्रेमवृत्तिके द्वारा ही उपलब्ध किया था। विशुद्ध प्रेमकी दृष्टिसे ही वे उनकी भावना करतीं, ध्यान करतीं और आराधना-उपासना करती थीं। निराविल प्रेमके विषय एवं आश्रयरूपमें वे उनको उपलब्ध करने और उनके चरणोंमें आत्मनिवेदन करनेके लिये व्याकुल हो उठी थीं। अपने प्रेमाभिषिक्त हृदयदेवताके रूपमें ही उन्होंने उनकी अर्चना-उपासना करनेका व्रत ग्रहण किया था। यही विशुद्ध प्रेमाभक्तिका लक्षण है। इसीलिये वे भगवान्‌का कर्मवृत्ति या ज्ञानवृत्तिकी दृष्टिसे चिन्तन भी नहीं करती थीं, आकाङ्क्षा भी नहीं रखती थीं। कर्म और ज्ञान उनके लिये प्रेमके विलासके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थे। उनकी दृष्टिमें प्रेम ही कर्मरूपमें और ज्ञानरूपमें अपने अन्तर्निहित माधुर्यका नाना भावोंमें आस्वादन करता रहता है। ये प्रेमके ही धर्म हैं। अतएव वहाँ प्रेमके क्षेत्रमें कर्म और ज्ञानका कोई स्वतन्त्र मूल्य या मर्यादा नहीं है। कर्मकी दृष्टिसे ही 'भगवान् सृष्टि-स्थिति-लयकर्ता, पापपुण्यनियन्ता, कर्मफलविधाता, सर्वशक्तिमान्, न्याय-दण्डधारी असीम बलवीर्यैश्वर्यसम्पन्न सर्वलोकमहेश्वर हैं।' ज्ञानकी दृष्टिसे ही वे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् एकमेवाद्वितीयम्'* परब्रह्म परमात्मा हैं।' कर्म और ज्ञानकी स्वतन्त्र मर्यादाको विशुद्ध प्रेमी-हृदय स्वीकार नहीं करता, इसीलिये परमाराध्यके ये सब भाव, ये सब महिमामण्डित विशेषण उसको आकर्षित नहीं करते। समग्र वीर्य और ऐश्वर्यका आडम्बर, समग्र विज्ञत्व और प्रभुत्वका प्रभाव, समग्र धर्म-विधातृत्व और निग्रहानुग्रहका सामर्थ्य प्रेमी-हृदयकी दृष्टिमें अकिञ्चित्कर है। ये सब उसकी अनुभूतिमें प्रेमास्पदके खेलमात्र, रसस्वरूपके रसविलासमात्र, आनन्दस्वरूपके आत्मास्वादनकी तरङ्गभङ्गिमामात्र हैं। और इन सब खेलोंसे विरत होकर, निर्विकार, निष्पन्द, स्वस्वरूपमें अवस्थिति किंवा खेलके बीचमें ही खेलके ऊर्ध्वस्तरपर निर्लिप्त भावसे स्थित होकर अपने ज्ञान-स्वरूपका आस्वादन करना—यह भी उनका एक भाव-विशेषमात्र है। प्रेमानन्दघन रसमाधुर्यसिन्धु लीलामय श्रीभगवान्‌में सभी सम्भव हैं। उनमें सभी भावोंका अपूर्व समावेश है। सभी उनके आत्मास्वादनकी विचित्र भङ्गिमा है, सभी उनकी लीला-क्रीड़ा है। अतएव प्रेमी भक्त भगवान्‌की असीम कर्मशक्ति, अनन्त ज्ञान, अप्रमेय ऐश्वर्य, अभावनीय औदासीन्य और सर्वभावातीत स्वरूपकी बात जानकर और सुनकर भी वे प्रधानतः एकमात्र प्रेमानन्दघन सौन्दर्य-माधुर्यनिलय नित्यलीलाविहारी रसराजस्वरूपमें ही उनका चिन्तन करते हैं, उपासना करते हैं, आस्वादन करते हैं। श्रीनन्दनन्दन श्रीकृष्णके स्वरूपमें व्रजकुमारियोंने इन्हीं प्रेमके देवता रसराज भगवान्‌की उपलब्धि की थी। वृन्दावनमें श्रीकृष्णके वीर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान और गौरवका नानाविध परिचय पाकर भी वे उनसे मुग्ध नहीं हुईं। वे तो उनको रसिकशिरोमणि, प्रेमिकचूडामणि, नित्यलीलाविहारी आनन्दमय परम प्रियतमरूपमें ही अनुभव करती थीं। एवं दैत्यदलन, देव-मोहन, गोवर्धनधारण आदि सभी व्यापारोंमें वे उनकी लीला-क्रीडाका ही दर्शन करती थीं। उनकी सभी प्रकारकी शक्ति, ऐश्वर्य, विज्ञत्व आदिको प्लावित करके उनका प्रेमानन्दस्वरूप ही उनके चित्तमें सर्वदा भासमान रहता था। इन्हीं प्रेमानन्दघन नन्दनन्दन श्रीकृष्णका उन्होंने पतिरूपमें वरण किया था। किंतु महामाया महेश्वरी कात्यायनी देवीके आनुकूल्यके बिना जीवके प्रेमानन्दघन भगवान्‌के साथ मिलन होनेकी सम्भावना नहीं है। कात्यायनी देवी हैं—भगवान्‌की ही अघटनघटना-पटीयसी महाशक्ति। ये भागवती महाशक्ति ही हैं—विश्वप्रसविनी, विश्वनियन्त्री और विश्वसंहर्त्री। इस महाशक्तिके अवलम्बनसे ही भगवान्‌का विश्वव्यापार, उनका सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्तृत्व, उनका बन्ध-मोक्षविधातृत्व, उनका असुरदलन और भक्तानुग्रह, उनकी सभी प्रकारकी लीला-क्रीडा प्रकट होती हैं। शक्तिको छोड़कर शक्तिमान्‌का किसी रूपमें प्रकाश सम्भव नहीं है। ये भगवती महाशक्ति ही जीव और भगवान्‌के बीचमें विराजमान हैं। इन महाशक्तिका आश्रय ग्रहण किये विना विश्वके जीव भी विश्वातीत भगवान्‌के साथ कोई सम्बन्ध प्रतिष्ठित नहीं कर सकते और विश्वातीत भगवान् भी विश्वके अन्तर्मुक्त जीवके सम्मुख आत्मप्रकाश नहीं कर सकते।

* श्वेताश्वतर उपनिषद् ६। १९।

ये महाशक्ति ही अपने आश्रय और अधिष्ठाता भगवान्‌के विश्वातीत पारमार्थिक स्वरूपको आच्छादित करके जीवके सम्मुख विराट् मूर्तिमें अवस्थित हैं और ये महाशक्ति ही प्रसन्न और अनुकूल होनेपर जीवके सम्मुख भगवान्‌का स्व-स्वरूप प्रकाशित कर सकती हैं और जीवका भगवान्‌के साथ मिलन करा सकती हैं।

भगवान्‌की लीलासहचरी अघटनघटनापटीयसी अचिन्त्य-महिमा-मण्डिता महामायाकी दो मूर्तियाँ हैं। एक मूर्ति है—आवरण-विक्षेपमयी और दूसरी मूर्ति है—प्रकाशानन्दमयी। पहली है—उनकी अपरा-मूर्ति और दूसरी है—परामूर्ति। दोनों मूर्तियाँ ही नित्य हैं। आवरण-विक्षेपमयी मूर्तिके द्वारा वे भगवान्‌को आवृत करके स्थित हैं। भगवान्‌के सच्चिद्प्रेमानन्दघन-स्वरूपको आवृत करके, उनको देशकालावच्छिन्न राग-द्वेष-दुःख-जाड्यादियुक्त विचित्र विकारशील रूपमें जीवके सम्मुख उपस्थापित करके, जीवकी दृष्टिको तत्त्वविमुख और विषयलोलुप बनाकर भगवत्स्वरूपके साथ जीवके मिलनमें नाना प्रकार बाधाओंकी सृष्टि करती हैं। यह मूर्ति जीवके लिये बन्धनविधायिनी है। महामायाकी इस मूर्तिके प्रभावसे जीव स्वरूपतः भगवान्‌से अभिन्न होनेपर भी वह असत्यको सत्य समझता है। सच्चिदानन्द-स्वरूपके विषयमें सुनकर भी यथार्थतः समझ नहीं पाता; विचारसे समझ जानेपर भी उसके प्रति आकृष्ट नहीं होता, प्राणोंमें एक आकर्षणका अनुभव करनेपर भी विषयाभिमुखी विचित्र मनोवृत्तिके प्रभावका अतिक्रमण नहीं कर पाता, उसके निमित्त सुनियत अभ्यासके नियोजित होनेपर भी पारिपार्श्विक अवस्था-समूह और जन्म-जन्मान्तरीय संस्कार-समूह नाना प्रकारसे विद्रोह करते रहते हैं एवं उसके फलस्वरूप उसे संसार-चक्रमें ही भ्रमण करते रहना पड़ता है। इस प्रकार अविद्या मूर्तिके द्वारा महामाया भगवान्‌की सृष्टि-लीलाका पोषण करती रहती है।

भगवती महाशक्तिकी परामूर्ति है—विशुद्ध सत्त्वस्वरूपिणी प्रकाशानन्दमयी। महामायाकी यही विद्यामूर्ति भगवत्स्वरूपका प्रकाश करती है, जीवको भगवान्‌की ओर आकर्षित करती है। भगवान्‌के साथ जीवके नित्य अविच्छेद्य सम्बन्धका निगूढ-तत्त्व उसको उपलब्ध कराके संसारके प्रति उसके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न करती है। भगवान् और जीवका मिलन कराके जीवको भगवत्प्रेमानन्द एवं भगवान्‌को भक्तानन्दजनित लीलारसके आनन्दका सम्भोग कराती है। स्वकीया स्वाभिन्ना नित्य महाशक्तिकी अविद्यामूर्तिमें विलसित होकर भगवान् सृष्टि-स्थिति-प्रलय-विधाता, धर्माधर्मनियन्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर होते हैं—और उन्हीं महाशक्तिकी विद्यामूर्तिमें विलसित होकर भगवान् ज्ञानमय, प्रेममय, करुणामय, सौन्दर्य-माधुर्य-निलय परमानन्दघन रसराज होते हैं।

महामायाकी विद्यामूर्तिके द्वारा ही भगवान्‌का ज्ञान, प्रेम, करुणा, आनन्द और सौन्दर्यमाधुर्य प्रकाशित होता है एवं भगवान् जीवके निकट अवतरण करते हैं और जीवको अपने निकट आकर्षित कर लेते हैं।

जीवजगज्जननी महामाया जबतक अपनी आवरण-विक्षेपस्वरूपिणी अविद्यामूर्तिके विराट् ऐश्वर्यद्वारा जीवकी दृष्टिको विमोहित किये रखती हैं, तबतक जीव और भगवान्‌के बीच बड़ा भारी व्यवधान रहता है, तबतक इस अनन्त वैचित्र्यमय वैषम्य संघर्ष-समाकुल विश्व-ब्रह्माण्डके एक प्रान्तमें जीव रहता है और दूसरे प्रान्तमें भगवान् रहते हैं; तबतक विश्व-वैचित्र्यके वैषम्य-कोलाहलकी उत्ताल तरङ्गोंको भेद कर सम-स्वरूप प्रेमानन्दस्वरूप विश्वातीत भगवान्‌की आकर्षिणी वंशीध्वनि जीवके कर्ण-कुहरोंमें कभी-कभी प्रवेश प्राप्त करनेपर भी जीव केवल आर्तनाद ही करता रहता है, उनके साथ मिलन होनेका कोई पथ नहीं पाता। अविद्याधीन जीव अपनी शक्तिसे अहमिकाश्रित पुरुषकारके द्वारा इस व्यवधानका अतिक्रमण करनेमें समर्थ नहीं होता। महामाया जब अपनी विद्यामूर्ति प्रकट करके जीवको गोदमें उठा लेती हैं तब जीव उपलब्धि करता है कि भगवान् और उसके बीचमें कोई व्यवधान ही नहीं है, तब विश्व-वैचित्र्य लीला-वैचित्र्यके रूपमें उपलब्ध होकर भगवान्‌के सांनिध्यका ही नाना भावोंमें आस्वादन कराता है। विश्वके प्रत्येक व्यापारमें जीव जब अपने परमाराध्यके प्रेम, करुणा एवं सौन्दर्य-माधुर्यकी प्रकाश-भङ्गिमाका सम्भोग करने लगता है, तब महामायाकी विद्यामूर्तिके आश्रयसे ही उनकी अविद्या-मूर्तिके प्रभावका अतिक्रमण सम्भव होता है।

साध्य-साधन-तत्त्वज्ञ व्रजकुमारिकाएँ अपने परमाराध्य प्रेमानन्दघन रसराज श्रीकृष्णके साथ ऐकान्तिकभावसे मिलित होनेके उद्देश्यसे महामायाके शरणापन्न हुईं। उन्होंने उनका वालुकामय विग्रह अपने सम्मुख स्थापित करके शास्त्रीय विधिके अनुसार उनकी उपासना, अर्चना,

उनको बारंबार साष्टाङ्ग-प्रणाम करने लगीं एवं प्रार्थना करने लगीं कि 'मा ! तुम विश्वकी जननी, विश्वकी अधीश्वरी, अघटनघटनापटीयसी महायोगिनी योगेश्वरी हो। मा! हमारे अभीष्टतम नन्दनन्दन श्रीकृष्ण सदासे तुम्हारे ही हैं। तुम चाहो, तो सदाके लिये उनको हमारी दृष्टिसे छिपाकर रख सकती हो, सदाके लिये हमलोगोंको अपूर्ण-वासनाकी ज्वालामें जला सकती हो, सदाके लिये हम-लोगोंको अपनी अविद्यामूर्तिके द्वारा समाच्छन्न करके श्रीकृष्ण-सेवासे वञ्चित रखकर सांसारिक त्रितापोंकी आगमें जलाती रह सकती हो और तुम यदि दया कर दो, तुम यदि अपनी स्नेहमयी, कल्याणमयी, माधुर्यमयी—विद्यामूर्तिको प्रकाशित करके हमलोगोंको गोदमें उठा लो, तुम अपने स्पर्शसे हमारे देह, इन्द्रिय-मन-बुद्धिका समस्त मालिन्य विदूरित करके यदि हमलोगोंको सम्यक्‌रूपेण विशुद्ध प्रेममय और श्रीकृष्ण-सेवाके योग्य बना दो तो इसी क्षण हमारे परम प्रेमास्पदको हमारे सम्मुख समुपस्थित कर सकती हो; इसी क्षण उनके साथ हमारा मिलन करा सकती हो। मा महामाये ! भगवान् श्रीकृष्णको छिपाकर रखना या सामने लाना, उनको हमारे पाससे अलग रखना अथवा उनके साथ हमको नित्ययुक्त कर देना—सब कुछ तुम्हारे ही हाथमें है । हम तुमसे और कुछ भी नहीं चाहतीं। धन-जन, यश-मान, स्वर्ग-अपवर्ग कुछ भी नहीं माँगती । तुम अपने श्रीकृष्णको हमारा पति बना दो, हमको उनकी अनन्य किङ्करी बनाकर नित्य-सर्वाङ्गीण सेवाका अधिकार दे दो।

हम तुम्हारी शरणमें आयी हैं, तुमपर अनन्य भावसे आश्रित हैं।



श्रीराधा-वन्दना

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम,' साहित्याचार्य)

(१)

वन्दे राधां वन्दे राधाम्
हृतविनताश्रितजनभवबाधाम् ॥वन्दे०॥
जय-वृषभानुनरेश्वर नन्दिनि !
जय हे अच्युतचेतश्चन्दिनि !
वृन्दावनभुवि रासविलासिनि !
संततप्रियतमहृदयोल्लासिनि !
त्वामिह करुणासिन्धुमगाधां
वन्दे राधां वन्दे राधाम् ॥१॥
निभृतनिकुञ्जनिकेतनशायिनि !
दयिताधरमधुरामृतपायिनि !
लावण्यामृतनिर्झरझारिणि !
जय हृदयेश्वरहृदयविहारिणि !
साधनकोटिभिरपि दुःसाधां
वन्दे राधां वन्दे राधाम् ॥२॥
माधवसहितां माधवमहिता-
माराधयितुं दयितमवहिताम् ।
गौराङ्गे धृतनीलावरणां
ललितादिभिरनुलालितचरणाम् ॥
सहजस्वीयकृपैकसुसाधां
वन्दे राधां वन्दे राधाम् ॥३॥
गिरिधारिणि निजरमणेऽभिरते !
तदितरसकलजगद्भ्यो विरते !
जय गोविन्दगुणावलिगर्धिनि !
नन्दतनूजमनोजविवर्धिनि !
दूषितचित्तैः सुदुराराधां
वन्दे राधां वन्दे राधाम् ॥४॥
देवि दयामयि दुरितं हर मे,
भक्तिमनन्यां हृदये भर मे !
परमेश्वरि परमेश्वरसङ्गिनि !
माधवमोदतरङ्गतरङ्गिणि !
पदयोस्तेऽपनयार्चनबाधां
वन्दे राधां वन्दे राधाम् ॥५॥

(२)

निजनवसकलदिगन्तविलसितसित-
कीर्तिकीर्तनेन कलिकलुषनिकन्दिनीम्,
माधवगुणानां वीणानादमनुगानरतां
श्रवणपुटेषु सदा मधुररसस्यन्दिनीम् ।
कोटिचन्द्रचारुमन्दहासभासिताननेन
दृग्विलासतश्च चेतसोऽच्युतस्य चन्दिनीम्,
वन्दनीयतां हरेर्गतां नुतां विरञ्चिनापि
वन्दे वन्दनीयगोपवृषभानुनन्दिनीम् ॥

श्रीराधा-उपासना

(१)

श्रीराधाके स्वरूप और नामोंका वर्णन

ॐ एक बार ऊर्ध्वरेता सनकादि महर्षियोंने भगवान् श्रीब्रह्माजीकी स्तुति करके पूछा—'देव ! सर्वप्रधान देवता कौन हैं और उनकी कौन-कौन-सी शक्तियाँ हैं तथा उन शक्तियोंमें सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ कारण कौन-सी शक्ति है ?' यह सुनकर श्रीब्रह्माजी बोले—'पुत्रो ! सुनो, किंतु इस अति गोपनीय रहस्यको तुम किसीसे प्रकट न करना—तुम इसे किसी ऐरे-गैरेको मत दे डालना। हाँ, जो स्नेही हों, ब्रह्मवादी हों, गुरुभक्त हों, उन्हें अवश्य देना। उनके अतिरिक्त और किसीको देनेसे महान् पाप लगेगा। भगवान् हरि श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं। वे छहों ऐश्वर्योंसे पूर्ण भगवान्, गोप और गोपियोंके सेव्य, श्रीवृन्दा (तुलसी) देवीसे आराधित और श्रीवृन्दावनके अधीश्वर हैं। वे ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं। उन्हीं श्रीहरिके एक रूप नारायण भी हैं जो कि अखिल ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं। ये श्रीकृष्ण प्रकृतिसे भी पुरातन और नित्य हैं। उनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत-सी शक्तियाँ हैं। उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान हैं। ये ही परम अन्तरङ्गभूता श्रीराधा हैं। श्रीकृष्ण इनकी आराधना करते हैं, इसलिये ये 'राधा' हैं। अथवा ये सर्वदा श्रीकृष्णकी आराधना करती हैं, इसलिये 'राधिका' कहलाती हैं। श्रीराधाको 'गान्धर्वा' भी कहते हैं। व्रजकी गोपाङ्गनाएँ, द्वारकाकी समस्त श्रीकृष्ण-महिषियों और श्रीलक्ष्मीजी इन्हीं श्रीराधिकाजीकी कायव्यूह (अंश-रूपा) हैं। ये राधा और श्रीकृष्ण रस-सागर एक होते हुए ही शरीरसे क्रीड़ाके लिये दो हो गये हैं। ये श्रीराधिकाजी भगवान् हरिकी सर्वेश्वरी, सम्पूर्ण सनातनी विद्या हैं और श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं। वेद एकान्तमें इनकी ऐसी ही स्तुति किया करते हैं। इनकी महिमाका मैं अपनी सम्पूर्ण आयुमें भी वर्णन नहीं कर सकता। जिसपर इनकी कृपा होती है, परम धाम उसके हाथमें आ जाता है। इन श्रीराधिकाजीको न जानकर जो श्रीकृष्णकी आराधना करना चाहता है, वह महामूर्ख है, मूढतम है। श्रुतियाँ इनके इन नामोंका गान करती हैं—

राधा रासेश्वरी रम्या कृष्णमन्त्राधिदेवता।
सर्वाद्या सर्ववन्द्या च वृन्दावनविहारिणी॥
वृन्दाराध्या रमाशेषगोपीमण्डलपूजिता।
सत्या सत्यपरा सत्यभामा श्रीकृष्णवल्लभा॥
वृषभानुसुता गोपी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
गान्धर्वा राधिकाऽऽरम्या रुक्मिणी परमेश्वरी॥
परात्परतरा पूर्णा पूर्णचन्द्रनिभानना।
भुक्तिमुक्तिप्रदा नित्यं भवव्याधिविनाशिनी॥

१ राधा, २ रासेश्वरी, ३ रम्या, ४ कृष्णमन्त्राधिदेवता, ५ सर्वाद्या, ६ सर्ववन्द्या, ७ वृन्दावनविहारिणी, ८ वृन्दाराध्या, ९ रमा, १० अशेषगोपीमण्डलपूजिता, ११ सत्या, १२ सत्यपरा, १३ सत्यभामा, १४ श्रीकृष्णवल्लभा, १५ वृषभानुसुता, १६ गोपी, १७ मूलप्रकृति, १८ ईश्वरी, १९ गान्धर्वा, २० राधिका, २१ आरम्या, २२ रुक्मिणी, २३ परमेश्वरी, २४ परात्परतरा, २५ पूर्णा, २६ पूर्णचन्द्रनिभानना, २७ भुक्ति-मुक्तिप्रदा तथा २८ भवव्याधिविनाशिनी। इन अट्ठाईस नामोंका जो पाठ करते हैं, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं। यों भगवान् श्रीब्रह्माजीने कहा है।

('श्रीराधोपनिषद्' से)

(२)

श्रुतियोंद्वारा श्रीराधाकी उपासना और स्तुति

किसी समय उपासनाओंके स्वरूप एवं लक्ष्यका विचार करते समय ब्रह्मवेत्ताओं (वेदज्ञों) ने परस्पर यह विचार करना प्रारम्भ किया कि श्रीराधिकाजीकी उपासना किस लिये होती है। इस विचारमें प्रवृत्त होनेपर उनपर भगवान् आदित्य (वेदोंके अधिष्ठाता प्रकाशमय ज्ञानके रूपमें) अत्यन्त कृपालु हुए। अर्थात् प्रकाशस्वरूप वैदिक ज्ञान उनमें प्रकट हुआ। (उन्होंने श्रीराधिकाजीकी उपासनाके सम्बन्धमें श्रुतियोंको इस प्रकार संलग्न पाया—)

श्रुतियाँ कहती हैं—'सम्पूर्ण देवताओंमें जो देवत्व (शक्ति) है, वह श्रीराधिकाजीकी ही है। समस्त प्राणी श्रीराधिकाजीके द्वारा ही अवस्थित हैं। अर्थात् देवताले लेकर क्षुद्र प्राणियोंतक सभी जीव श्रीराधिकाजीकी शक्तिसे स्थित एवं चेष्टायुक्त हैं और उन्हींसे अभिव्यक्त हुए

हैं। इसलिये हम सब श्रुतियाँ उन श्रीराधिकाजीको नमस्कार करती हैं।

'देवताओंके निवास पञ्चभूत, इन्द्रियों आदिमें श्रीराधिकाजीकी प्रेरणासे ही कम्पन (चेष्टा) होती है तथा उन्हींकी प्रेरणासे वे हँसते (उल्लास प्राप्त करते) और नाचते (क्रियाशील होते) हैं। सबकी अधिदेवता श्रीराधिकाजी ही हैं (सब उनके वशमें हैं)। अतएव अपने सम्पूर्ण पापोंके नाशके लिये व्याहृतियों (भूः-भुवः-स्वः या श्रीं-क्लीं-ह्रीं) द्वारा हवन करके फिर श्रीराधिकाजीको हम प्रणाम करती हैं। (तात्पर्य यह कि विशुद्ध हृदयसे ही श्रीराधिकाजीकी उपासना सम्भव है। अतः यजनसे आत्मशुद्धि करके तब प्रणाम करती हैं।)

'जिनके दिव्य शरीरकी कान्तिके पड़नेसे (जिन योगमायारूपके आश्रयसे) इन्द्रनीलमणिके समान वर्णवाला (इन्द्रियातीत नीलिमाव्यञ्जक) देवाधिदेव श्रीकृष्णचन्द्रका शरीर भी गौर जान पड़ने लगता है (घनसत्त्व होकर आविर्भूत होता है) तथा जिनकी कान्ति पड़नेसे भौंरे, कौए और कोयल (विषयरस-लोलुप, कटुभाषी, पापी एवं मधुरभाषी, पर स्वरूपसे काले अर्थात् योग-ज्ञानादि साधक, जिनका बाह्यरूप नीरस एवं अनाकर्षक है) भी (रास-मण्डलमें) गौरवर्णके (सत्त्वगुणी एवं भक्तियुक्त) हो जाते हैं, उन विश्वकी पालिका श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं।

'हम सब श्रुतियाँ, सांख्य-योग-शास्त्र तथा उपनिषद् जिन परब्रह्मकी अभिन्न शक्तिकी अगम्यताका प्रतिपादन करती हैं, जिनको स्वरूपतः भलीप्रकार पुराण भी नहीं जानते, उन देवताओंकी पालिका श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं।

'सम्पूर्ण संसारके अधीश्वर त्रिभुवनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र जिन्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते हैं, वृन्दावनमें स्थित अपनी (श्रुतियोंकी) इष्ट—आराध्यदेवी उन श्रीवृन्दावनकी पालिका—अधिष्ठात्री देवी श्रीराधिकाजीको हम नित्य नमस्कार करती हैं।

'विश्वभर्ता श्रीकृष्णचन्द्र एकान्तमें अत्यन्त प्रेमार्द्र होकर जिनकी पदधूलि अपने मस्तकपर धारण करते हैं और जिनके प्रेममें निमग्न होनेपर हाथसे गिरी वंशी एवं बिखरी अलकोंका भी स्मरण उन्हें नहीं रहता तथा वे क्रीत (खरीदे हुए) की भाँति जिनके वशमें रहते हैं, उन श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं।

'श्रीरासमण्डलमें जिनकी रासक्रीडा देखकर चन्द्रमा एवं विवसना देवपत्नियोंको अपने शरीरका भी भान नहीं रह जाता और श्रीवृन्दावनके समस्त जड एवं जङ्गम भी अपने स्वरूपको भूल जाते हैं अर्थात् जड पाषाण, तरु प्रभृति स्रवित होने लगते हैं और जङ्गम (चर) प्राणी विमुग्ध—स्थिर हो जाते हैं, श्रीरासमण्डलमें भावावेश-युक्ता उन श्रीराधिकाजीको हम नमन करती हैं।

'जिनके अङ्कमें लेटे हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपने शाश्वत विहारस्थान गोलोकका (या अपने ब्रह्मस्वरूप परम-धामका) स्मरणतक नहीं करते, कमलोद्भवा लक्ष्मी और श्रीपार्वतीजी जिनकी अंशरूपा हैं, उन समस्त शक्तियोंकी अधिष्ठात्री श्रीराधिकाजीको हम प्रणाम करती हैं।

'(श्रीललितादि) सखियोंके साथ (ऋषभ, गान्धारादि) स्वरोंसे (तार, मध्य और मन्द्र—इन) तीनों ग्रामोंसे तथा (अनेक) मूर्च्छनाओं (स्वरके चढ़ाव-उतारों) से गाते हुए, प्रेमविवश होकर जिन्होंने (श्रीरासक्रीडाके समय) श्रीवृन्दावनमें एकमात्र अपनी ही शक्तिसे ब्राह्मी-निशा (एक मास या छः मासपर्यन्त दीर्घरात्रि) का विस्तार (प्रादुर्भाव) किया, उन श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं।

'किसी समय दो भुजाओंवाली (चतुर्भुजी नहीं) श्रीकृष्णकी मूर्ति बनकर अर्थात् स्वयं द्विभुज श्रीकृष्ण-वेश धारण करके वंशीके छिद्रोंको श्रीराधिकाजीने स्वरसे भर दिया। (तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण-वेश धारण करके किसी दिन श्रीराधिकाजीने वेणुवादनका प्रयत्न किया और वे केवल वंशी-छिद्रोंसे (गायनरहित) ध्वनि निकाल पायीं)। इसीसे अत्यन्त उल्लसित होकर देव-देव श्रीकृष्ण-चन्द्रने कुन्द एवं कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला बनाकर उनका शृङ्गार करके उन्हें प्रसन्न किया।

'जिनका इस उपनिषद्में वर्णन हुआ है, वे श्रीराधिका-जी और आनन्द-सिन्धु श्रीकृष्णचन्द्र वस्तुतः एक ही शरीर एवं परस्पर नित्य अभिन्न हैं। केवल लीलाके लिये वे दो स्वरूपोंमें व्यक्त हुए हैं। अतएव जिस लीलाके लिये उन परम रससिन्धुका श्रीविग्रह दो रूपोंमें शोभित

हुआ, उस लीलाको जो सुनता या पढ़ता है, वह उन परम प्रभुके विशुद्ध धाम (गोलोक) में जाता है।'

इस उपनिषद्को पूर्वकालमें वसिष्ठजीने मधुरभाषी बृहस्पतिजीको पढ़ाया। बृहस्पतिजीने अपने यजमान इन्द्रको उपदेश किया और तभीसे यह उपनिषद् बार्हस्पत्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

प्रणवस्वरूप परमपुरुषको नमस्कार ! प्रणवके स्मरणके साथ आद्या परमपालिका शक्तिको नमस्कार !! नमस्कार !!!

('श्रीराधिकातापनीयोपनिषद्' से)

(३)

श्रीश्रीराधा-मन्त्र और उपासना

भगवान् नारायण कहते हैं—नारद ! सुनो, यह वेदवर्णित रहस्य तुम्हें बताता हूँ। यह सर्वोत्तम एवं परात्पर सार-रहस्य जिस-किसीके सम्मुख नहीं कहना चाहिये। इस रहस्यको सुनकर दूसरोंसे कहना उचित नहीं है; क्योंकि यह अत्यन्त गुह्य रहस्य है। मूलप्रकृतिस्वरूपिणी भगवती भुवनेश्वरीके सकाशसे जगत्की उत्पत्तिके समय दो शक्तियाँ प्रकट हुईं—श्रीराधा और श्रीदुर्गा। श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं और श्रीदुर्गा उनकी बुद्धिकी अधिष्ठात्री। ये ही दोनों देवियाँ सम्पूर्ण जगत्को नियन्त्रणमें रखती और प्रेरणा प्रदान करती हैं। विराट् आदि चराचरसहित सम्पूर्ण जगत् इन्हींके अधीन है। अतः इन भगवती श्रीराधा और दुर्गाको प्रसन्न करनेके लिये निरन्तर उनकी उपासना करनी चाहिये।

नारद ! पहले मैं श्रीराधाका मन्त्र बतलाता हूँ; तुम भक्तिपूर्वक सुनो। इस श्रेष्ठ मन्त्रका ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओंने सदा सेवन किया है। 'श्रीराधा'—इस शब्दके अन्तमें चतुर्थी विभक्ति लगाकर उसके आगे वह्निजाया अर्थात् 'स्वाहा' शब्द जोड़ देना चाहिये। (श्रीराधायै स्वाहा) यह भगवती श्रीराधाका षडक्षर मन्त्र धर्म और अर्थका प्रकाशक है। इसीके आदिमें मायाबीज (ह्रीं) का प्रयोग करे तो यह भगवती श्रीराधाका वाञ्छाचिन्तामणि मन्त्र कहा जाता है (मन्त्र इस प्रकार है—ह्रीं श्रीराधायै स्वाहा।) असंख्य मुख और जिह्वावाले भी इस मन्त्रके माहात्म्यका वर्णन नहीं कर सकते। सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्णने भक्तिपूर्वक इस मन्त्रका जप किया था। उस समय भगवान् गोलोकमें थे, रासका प्रारम्भ था, मूलप्रकृति श्रीराधादेवीके आदेशसे इस मन्त्रके जपमें भगवान्की प्रवृत्ति हुई थी। फिर भगवान् श्रीकृष्णने विष्णुको, विष्णुने विराट् ब्रह्माको, ब्रह्माने धर्मदेवको और धर्मदेवने मुझे इसका उपदेश किया। इस प्रकार परम्परा चली आयी। मैं निरन्तर इस मन्त्रका जप करता हूँ, इसीसे ऋषि मेरा सम्मान करते हैं। ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता नित्य प्रसन्न होकर उन भगवती राधाका ध्यान करते हैं; क्योंकि यदि श्रीराधाकी पूजा न की जाय तो पुरुष भगवान् श्रीकृष्णकी पूजाका अनधिकारी समझा जाता है। इसलिये सम्पूर्ण वैष्णवोंको चाहिये कि भगवती श्रीराधाकी उपासना अवश्य करें। ये देवी भगवान् श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री हैं; अतएव भगवान् इनके अधीन रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके रासकी ये नित्यस्वामिनी हैं। इन श्रीराधाके बिना भगवान् श्रीकृष्ण क्षणभर भी नहीं ठहर सकते। सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करनेके कारण इन देवीका नाम 'श्रीराधा' हुआ है*। यहाँ जितने मन्त्र उद्धृत हैं, उनमें यह जो श्रीराधाका मन्त्र है, इसका ऋषि मैं नारायण हूँ, गायत्री छन्द है, श्रीराधा इस मन्त्रकी देवता हैं। ताराबीज और शक्तिबीजको इनकी शक्ति कहा गया है।

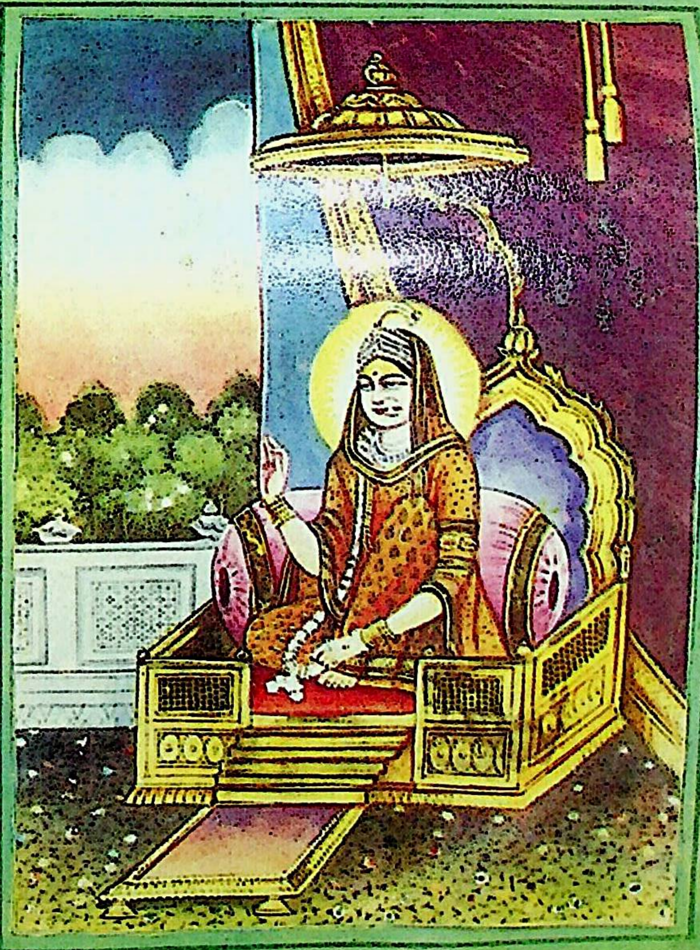
मुने ! इसके बाद रासेश्वरी भगवती श्रीराधाका सामवेदोक्त पूर्ववर्णित विधिके अनुसार ही ध्यान करना चाहिये। भगवती श्रीराधाका वर्ण श्वेतचम्पकके समान है। इनका मुख ऐसा प्रतीत होता है, मानो शरदृतुका चन्द्रमा हो। इनका श्रीविग्रह असंख्य चन्द्रमाके समान चमचमा रहा है। आँखें शरदृतुके विकसित कमलकी तुलना कर रही हैं। इनके अधर बिम्बाफलके समान, श्रोणी स्थूल और नितम्ब करधनीसे अलंकृत है। कुन्दपुष्पके सदृश इनकी स्वच्छ दन्तपङ्क्तिसे इनकी विचित्र शोभा होती है। पवित्र चिन्मय दिव्य रेशमी वस्त्र इन्होंने पहन रक्खे हैं। इनके प्रसन्न मुखपर मुसकान छायी हुई है।

* कृष्णार्चायां नाधिकारो यतो राधार्चनं विना।
वैष्णवैः सकलैस्तस्मात् कर्तव्यं राधिकार्चनम्॥
कृष्णप्राणाधिदेवी सा तदधीनो विभुर्यतः।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति॥
राध्नोति सकलान् कामांस्तस्मात् राधेति कीर्तिता।

(देवीभागवत ९।५०।१६-१८)



श्रीराधा



श्रीसीता

इनके विशाल उरोज हैं। रत्नमय भूषणोंसे विभूषित ये देवी सदा बारह वर्षकी अवस्थाकी ही प्रतीत होती हैं। शृङ्गारकी मानो ये समुद्र हैं। भक्तोंपर कृपा करनेके लिये इनमें समय-समयपर चिन्ता उठा करती है। इन्होंने अपने केशोंमें मल्लिका और मालतीकी मालाओंको धारण कर रखा है, जिससे इनकी शोभा विचित्र हो रही है। इनके सभी अङ्ग अत्यन्त सुकुमार हैं। रासमण्डलमें विराजमान होकर ये देवी सबको अभय प्रदान करती हैं। ये शान्तस्वरूपा देवी सदा शाश्वतयौवना बनी रहती हैं। गोपियोंकी स्वामिनी बनकर ये रत्नमय सिंहासनपर विराजमान हैं। ये परमेश्वरी देवी भगवान् श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिदेवता हैं। वेदोंने इनकी महिमाका वर्णन किया है।*

इस प्रकार हृदयमें ध्यान करके बाहर शालग्रामकी मूर्ति, कलश अथवा आठ दलवाले यन्त्रपर श्रीराधादेवीका आवाहन करके विधिपूर्वक पूजन करना चाहिये। क्रम यह है—पहले देवीका आवाहन करे। तत्पश्चात् आसन आदि समर्पण करे। मूलमन्त्रका उच्चारण करके ये आसन आदि पदार्थ भगवतीके सम्मुख उपस्थित करने चाहिये। उनके चरणोंमें पाद्य देनेका विधान है। अर्घ्य मस्तकपर देना चाहिये। मुखके सम्मुख जल ले जाकर मूल-मन्त्रसे तीन बार आचमन कराना चाहिये। इसके अनन्तर मधुपर्क निवेदन करके श्रीराधाके लिये एक पयस्विनी गौ देनी चाहिये। तत्पश्चात् उन्हें स्नानगृहमें पधराकर वहीं इनकी पूजा सम्पन्न करे। तैल आदि सुगन्धित वस्तु लगाकर सविधि स्नान करानेके पश्चात् दो वस्त्र अर्पण करे। अनेक प्रकारके अलंकारोंसे अलंकृत करके चन्दन अर्पण करे। अनेक प्रकारके पुष्पोंकी मालाएँ तथा तुलसी निवेदन करे। पारिजात और कमल आदि नाना प्रकारके पुष्प चढ़ावे।

तत्पश्चात् परमेश्वरी श्रीराधाके पवित्र परिवारका अर्चन करना चाहिये। पूर्व, अग्निकोण और वायव्य दिशाके मध्यमें श्रीराधाके दिक्सम्बन्धी अङ्गकी पूजा होती है। इसके बाद अष्टदल-यन्त्रको आगे करके उसके अग्रभागमें मालावती, अग्निकोणमें माधवी, दक्षिणमें रत्नमाला, नैर्ऋत्यकोणमें सुशीला, पश्चिममें शशिकला, वायव्यकोणमें पारिजाता, उत्तरमें परावती तथा ईशानकोणमें सुन्दरी प्रियकारिणी—इन-इन दिशाओंके दलोंमें बुद्धिमान् पुरुष उपर्युक्त देवियोंकी पूजा करे। यन्त्रपर ही दलके बाहर ब्रह्मा आदि देवताओं, सामने भूमिपर दिक्पाली एवं वज्र आदि आयुधोंकी अर्चा करे। इस प्रकार भगवती श्रीराधाकी पूजा करनी चाहिये। ये पूर्वकथित देवता-देवीके आवरण हैं। इनके साथ गन्ध आदि उत्तम उपचारोंसे बुद्धिमान् पुरुष भगवती श्रीराधाकी अर्चना करे। तदनन्तर इनके सहस्र-नामका पाठ करके स्तुति करनी चाहिये। यत्नपूर्वक इन देवीके मन्त्रका नित्य एक हजार जप करनेका विधान है। इस प्रकार जो पुरुष रासेश्वरी परमपूज्या श्रीराधा देवीकी अर्चना करते हैं, वे भगवान् विष्णुके समान हो सदा गोलोकमें निवास करते हैं। जो बुद्धिमान् पुरुष शुभ अवसरपर भगवती श्रीराधाका जन्मोत्सव मनाता है, उसे रासेश्वरी श्रीराधा अपना सांनिध्य प्रदान कर देती हैं। गोलोकमें सदा निवास करनेवाली भगवती श्रीराधा किसी कारणसे वृन्दावनमें पधारीं। यहाँ कहे हुए सम्पूर्ण मन्त्रोंकी वर्ण-संख्या विधानके अनुसार होनी चाहिये। इसे पुरश्चरण कहा गया है। इसमें मन्त्रका दशांश हवन करना चाहिये। दूध, मधु और घृत आदि स्वादिष्ट पदार्थोंसे युक्त तिलोंद्वारा भक्तिसे सम्पन्न होकर हवन करे।

नारदजीने कहा—मुने ! अब आप सम्यक् प्रकारसे स्तोत्र सुनानेकी कृपा करें, जिससे भगवती श्रीराधा प्रसन्न हो जाती हैं।

भगवान् नारायण कहते हैं—भगवती परमेशानि !

* श्वेतचम्पकवर्णाभां शरदिन्दुसमाननाम्।
कोटिचन्द्रप्रतीकाशां शरदम्भोजलोचनाम्॥
बिम्बाधरां पृथुश्रोणीं काञ्चीयुतनितम्बिनीम्॥
कुन्दपङ्क्तिसमानाभदन्तपङ्क्तिविराजिताम्।
क्षौमाम्बरपरीधानां वह्निशुद्धांशुकान्विताम्॥
ईषद्धास्यप्रसन्नास्यां करिकुम्भयुगस्तनीम्।
सदा द्वादशवर्षीयां रत्नभूषणभूषिताम्॥
शृङ्गारसिन्धुलहरीं भक्तानुग्रहकातराम्।
मल्लिकामालतीमालाकेशपाशविराजिताम्॥
सुकुमाराङ्गलतिकां रासमण्डलमध्यगाम्।
वराभयकरां शान्तां शश्वत्सुस्थिरयौवनाम्॥
रत्नसिंहासनासीनां गोपीमण्डलनायिकाम्।
कृष्णप्राणाधिकां वेदबोधितां परमेश्वरीम्॥
(देवीभागवत ९। ५०। २१—२७)

तुम रासमण्डलमें विराजमान रहती हो । तुम्हें नमस्कार है । रासेश्वरि ! भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते हैं, तुम्हें नमस्कार है । करुणार्णवे ! तुम त्रिलोककी जननी हो, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ । तुम मुझपर प्रसन्न होनेकी कृपा करो । ब्रह्मा, विष्णु आदि समस्त देवता तुम्हारे चरणकमलोंकी उपासना करते हैं । जगदम्बे ! तुम सरस्वती, सावित्री, शंकरी, गङ्गा, पद्मावती और षष्ठी, मङ्गलचण्डिका—इन रूपोंसे विराजती हो; तुम्हें नमस्कार है । तुलसीरूपे ! तुम्हें नमस्कार है । लक्ष्मीस्वरूपिणी ! तुम्हें नमस्कार है । भगवती दुर्गे ! तुम्हें नमस्कार है । सर्वरूपिणी ! तुम्हें नमस्कार है । जननी ! तुम मूलप्रकृतिस्वरूपा एवं करुणाकी सागर हो । हम तुम्हारी उपासना करते हैं; अतः तुम इस संसार-सागरसे हमारा उद्धार करनेकी कृपा करो ।

जो पुरुष त्रिकाल संध्याके समय भगवती श्रीराधाका स्मरण करते हुए उनके इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसके लिये कभी कोई भी वस्तु किञ्चिन्मात्र भी दुर्लभ नहीं हो सकती । आयु समाप्त होनेपर शरीरको त्यागकर वह बड़भागी पुरुष गोलोकमें जा रासमण्डलमें नित्य स्थान पाता है । यह परम रहस्य जिस-किसीके सामने नहीं कहना चाहिये* ।

(४)

श्रीराधाका एक दूसरा मन्त्र तथा गायत्री इस प्रकार हैं—

मन्त्र—ॐ ह्रीं राधिकायै नमः ।

गायत्री—ॐ ह्रीं राधिकायै विद्महे गान्धर्विकायै धीमहि तन्नो राधा प्रचोदयात् ।

श्रीराधा-षडक्षरी महाविद्याकी उपासना

(लेखक—श्रीरामलालजी)

षडक्षरी महाविद्या-उपासनाके अन्तर्गत श्रीराधासम्बन्धी मन्त्र, ध्यान, पूजा-विधान और कवच आदिका यथाक्रम विवरण नारदपञ्चरात्रके द्वितीय रात्रिमें तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्यायमें उपलब्ध होता है । श्रीराधाकी महिमा अकथनीय है ।

'रा'शब्दोच्चारणाद् भक्तो भक्तिं मुक्तिं च राति सः ।
'धा'शब्दोच्चारणेनैव धावत्येव हरेः पदम् ॥
(नारदपञ्चरात्र २ । ३ । ३८)

''भक्त 'रा' शब्दका उच्चारण करते ही भक्ति और मुक्ति तथा 'धा' शब्दके उच्चारणसे हरिपद—दास्यरतिकी प्राप्ति करता है ।'' श्रीराधाका आख्यान वेद, पुराण, वेदाङ्ग और इतिहासमें दुर्लभ है । वे श्रीकृष्णकी प्राणाधिक प्रियतमा हैं । उनका चिन्तन भगवान् कृष्णका ही चिन्तन है, उनकी उपासना श्रीकृष्णकी ही उपासना है । उनका आख्यान अपूर्व, सुदुर्लभ और गोपनीय है, इससे अविलम्ब मुक्ति मिलती है । यह पुण्यप्रद और वेदका सार है । जिस तरह श्रीकृष्ण ब्रह्मस्वरूप हैं, प्रकृतिसे परे हैं, उसी तरह श्रीराधा ब्रह्मस्वरूपा हैं, प्रकृतिसे परे हैं, नित्य सत्स्वरूपा हैं ।

अपूर्वं राधिकाख्यानं गोपनीयं सुदुर्लभम् ।
सद्यो मुक्तिप्रदं शुद्धं वेदसारं सुपुण्यदम् ॥

* नारायण उवाच
नमस्ते परमेशानि रासमण्डलवासिनी । रासेश्वरि नमस्तेऽस्तु कृष्णप्राणाधिकप्रिये ॥
नमस्त्रैलोक्यजननि प्रसीद करुणार्णवे । ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्देवैर्वन्द्यमानपदाम्बुजे ॥
नमः सरस्वतीरूपे नमः सावित्रि शंकरि । गङ्गापद्मावतीरूपे षष्ठि मङ्गलचण्डिके ॥
नमस्ते तुलसीरूपे नमो लक्ष्मीस्वरूपिणि । नमो दुर्गे भगवति नमस्ते सर्वरूपिणि ॥
मूलप्रकृतिरूपां त्वां भजामः करुणार्णवाम् । संसारसागरादस्मानुद्धराम्ब दयां कुरु ॥
इदं स्तोत्रं त्रिसंध्यं यः पठेद् राधां स्मरन्नरः । न तस्य दुर्लभं किंचित्कदाचिच्च भविष्यति ॥
देहान्ते च वसेन्नित्यं गोलोके रासमण्डले । इदं रहस्यं परमं न चाख्येयं तु कस्यचित् ॥
(देवीभाग० ९ । ५० । ४६-५२)

यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः।
तथा ब्रह्मस्वरूपा च निर्लिप्ता प्रकृतेः परा॥
(नारदपञ्चरात्र २। ३। ५०-५१)

श्रीशंकरजीका नारदके प्रति कथन है कि 'श्रीराधा प्राणकी अधिष्ठात्री देवी हैं।'

'प्राणाधिष्ठात्री या देवी राधारूपा च सा मुने।'
(नारदपञ्चरात्र २। ३। ५५)

श्रीराधा विशेष पूज्य, उपास्य, गरीयसी और वन्द्य हैं। श्रीकृष्ण जगत्‌के पिता और श्रीराधा माता हैं। माता पितासे शतगुण वन्द्य, पूज्य और गरीयसी होती है। श्रीराधा इस दृष्टिसे विशेष पूज्य हैं। जो कार्य बहुत कालतक श्रीकृष्णकी आराधना करनेके बाद सिद्ध होता है, वह श्रीराधाकी उपासनासे स्वल्प कालमें ही सम्पन्न हो जाता है।

श्रीनारदने शंकरजीसे पूछा कि 'षडक्षरी महाविद्याकी उपासना किन-किनने की थी?' शंकरजीने कहा कि 'यह षडक्षरी महाविद्या वेदोंमें भी सुदुर्लभ है; इसके सम्बन्धमें कुछ भी कहनेका हरिद्वारा निषेध किया गया है। पार्वतीके भी पूछनेपर मैंने कुछ नहीं कहा; मेरे और परमात्मा श्रीकृष्णके लिये यह प्राणतुल्य है; सर्वसिद्धिप्रद और भक्ति-मुक्ति देनेवाली है। किसीके माँगनेपर उसे राज्य, प्राण, सिर, सुदुर्लभ धर्म, पुत्र, स्त्री, मृत्युञ्जय ज्ञान आदि—सब कुछ दे देने चाहिये, परंतु यह विद्या नहीं बतानी चाहिये। यह परम गोपनीय है।

षडक्षरी महाविद्या वेदेषु च सुदुर्लभा।
निषिद्धा हरिणा पूर्वं वक्तुमेव हि नारद॥
पार्वत्या परिपृष्टेन मया नोक्ता पुरा मुने।
अस्माकं प्राणतुल्या च कृष्णस्य परमात्मनः॥
× × × ×
राज्यं देयं शिरो देयं प्राणा देयाश्च नारद।
पुत्रो देयः प्रिया देया धर्मं देयं सुदुर्लभम्॥
ज्ञानं मृत्युञ्जयं नाम यदि देयं महामुने।
तथापि गोपनीया च न देया सा षडक्षरी॥
(नारदपञ्चरात्र २। ३। ७६-७७, ८१-८२)

'श्रीकृष्ण इस षडक्षरी महाविद्याका नित्य भक्तिपूर्वक जप करते हैं।' यह परम दुर्लभ मन्त्र है—

'षडक्षरीं महाविद्यां नित्यं भक्त्या जपेद्धरिः।'
(नारदपञ्चरात्र २। ५। ४)

षडक्षरी महाविद्या कामधेनुस्वरूपिणी है। इसकी उपासनासे बल, पुत्र, लक्ष्मी तथा दास्यभक्ति और गोलोकमें ईप्सित स्थानकी प्राप्ति होती है। इसके ग्रहणमात्रसे नर नारायण हो जाता है, निस्संदेह वह करोड़ों जन्मके पापसे मुक्त हो जाता है'—

मन्त्रग्रहणमात्रेण नरो नारायणो भवेत्।
कोटिजन्मार्जितात् पापान्मुच्यते नात्र संशयः॥
(नारदपञ्चरात्र २। ३। ८६)

'रां ओं आं यं स्वाहा'—यही षडक्षरी महाविद्याका बीजमन्त्र है। यह राधाशक्तिकी पूर्णतम जागृतिका द्योतक है; मूलाधार चक्रसे जाग्रत् होकर कुण्डलिनी महाशक्ति सहस्रारचक्रमें अवस्थित हो जाती है।

भूतवर्गोत्परो वर्णो द्वितीयो दीर्घवान्मुने।
चतुर्वर्गतुरीयश्च दीर्घवांश्च फलप्रदः॥
भूतवर्गोत्परो वर्णो वाणीवान् सर्वसिद्धिदः।
सर्वशुद्धप्रियान्ता च तस्या बीजादिका स्मृता॥
(नारदपञ्चरात्र २। ३। ९१-९२)

उपर्युक्त श्लोकका अभिप्राय यह है कि 'भूतवर्गोत्पर-वर्णो द्वितीयो—'र' है। भूतका अर्थ है—पाँच; इनके कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्गके बाद 'य' अक्षरके बाद दूसरा अक्षर 'र' है। 'दीर्घवान्' शब्दका तात्पर्य है 'आं'। 'र' और 'आं' के मिलानेपर 'रां' बना। 'चतुर्वर्गतुरीयः का तात्पर्य है 'मोक्षदः'। इसका अभिप्राय 'ओम्' है। 'दीर्घवान्' का अभिप्राय 'आं' है। 'भूतवर्गोत्परो वर्णः' का तात्पर्य 'य' से है। 'वाणीवान्' 'यं'का द्योतक है। 'सर्वशुद्धप्रियान्ता' का तात्पर्य 'स्वाहा' है। इस तरह षडक्षरी महाविद्यामन्त्रका रूप 'रां ओं आं यं स्वाहा।' सिद्ध हुआ।

शंकरजीने नारदसे कहा कि इस मन्त्रकी उपासना श्रीकृष्ण करते हैं। यह षडक्षरी महाविद्यामन्त्र सर्वतन्त्रोंका तथा मन्त्रोंका सार है। इससे श्रीकृष्णके प्रति दास्यभक्तिकी प्राप्ति होती है—

षडक्षरी महाविद्या श्रीकृष्णेनैव सेविता।
सारभूता च मन्त्रेषु दास्यभक्तिप्रदा हरेः॥
(नारदपञ्चरात्र २। ३। ७२)

षडक्षरी महाविद्याका मन्त्रोपयुक्त ध्यान, पूजाविधान, स्तवन तथा कवच आदि सब-के-सब पूर्ण फलप्रद हैं। इस

मन्त्रके अनुष्ठानमें श्रीकृष्णकी प्राणप्रियतमा रासेश्वरी राधाका देवतारूपमें ध्यान इस प्रकार किया जाता है—

"भगवती श्रीराधाका वर्ण श्वेत चम्पाकी आभाके समान है। वे करोड़ों चन्द्रमाकी प्रभासे संयुक्त हैं; उनकी कबरी—काले-काले केशोंका जूड़ा मालतीकी मालासे विभूषित है। उन्होंने वह्निपरिशुद्ध—अग्निके तपाये हुए पवित्र रेशमी वस्त्रोंको धारण किया है। वे रत्नभूषणोंसे अलंकृत हैं। मन्द-मन्द मुसकरा रही हैं और उनकी मुखमुद्रा प्रसन्न है। वे भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाली हैं। वे ब्रह्मस्वरूपिणी हैं, परमेश्वरी हैं, श्रीकृष्णकी रमणी हैं, परम सुन्दरी हैं। वे श्रीकृष्णके लिये प्राणसे भी अधिक प्रिय हैं। वे देवी हैं, श्रीकृष्णवक्षोविलासिनी हैं। श्रीकृष्ण सदा उनकी स्तुति करते हैं। वे श्रीकृष्णकी कान्ता हैं, शान्त हैं, सब कुछ प्रदान करनेवाली हैं, सती हैं, सर्वथा निर्लिप्त हैं, निर्गुण, नित्य, सत्यस्वरूप, शुद्ध और शाश्वत सनातन हैं। वे गोलोकमें निवास करती हैं। वे गोप्त्री—रक्षिका हैं, विधाताकी सृष्टि करनेवाली हैं, वृन्दा हैं, वृन्दावन-में विचरण करती हैं, वृन्दावनमें केलि करती रहती हैं। वे तुलसीकी अधिष्ठात्री देवी हैं। श्रीगङ्गा उनके चरणकमलकी अर्चना करती हैं, वे समस्त सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं, सिद्ध हैं, सिद्धेश्वरी हैं, सिद्धयोगिनी हैं। वे सुयज्ञके यज्ञकी अधिष्ठात्री देवी हैं, सुयज्ञको वरदान देनेवाली हैं। वे वरदात्री हैं और सज्जनोंको समस्त सम्पत्ति देती हैं। श्वेत चँवरके द्वारा प्रिय गोपियाँ उनकी सेवामें लगी रहती हैं। वे रत्न-सिंहासनपर स्थित हैं, अपने हाथमें रत्नदर्पण धारण करती हैं, अपने दोनों हाथोंमें क्रीड़ाके लिये कमल धारण करती हैं। ऐसी कृष्णप्रिया परमेश्वरी राधाका मैं ध्यान करता हूँ।"

(नारदपञ्चरात्र २। ४। ३—११)

ध्यानके पश्चात् हाथ धोकर पुष्प समर्पण करना चाहिये। स्तोत्र पढ़ना चाहिये—

नारायणि महामाये विष्णुमाये सनातनि।
प्राणाधिदेवि कृष्णस्य मामुद्धर भवार्णवात्॥
संसारसागरे घोरे भीतं मां शरणागतम्॥
प्रपन्नं पतितं मातर्मामुद्धर हरिप्रिये।
असंख्ययोनिभ्रमणादज्ञानान्धतमोऽन्वितम्॥
ज्वलद्भिर्ज्ञानदीपैश्च मां सुवर्त्म प्रदर्शय।
सर्वेभ्योऽपि विनिर्मुक्तं कुरु राधे सुरेश्वरि॥
मां भक्तमनुरक्तञ्च कातरं यमताडनात्।
त्वत्पादपद्मयुगले पादपद्मालयार्चिते॥
देहि मह्यं परां भक्तिं कृष्णेन परिसेविते।
स्निग्धदूर्वाङ्कुरैः शुक्लपुष्पैः कुसुमचन्दनैः॥

(नारदपञ्चरात्र २। ४। १५—२०)

'हे नारायणि! विष्णुमाये! महामाये! सनातनि! श्रीकृष्णके लिये प्राणसे भी अधिक प्रिय देवि! संसारसागरसे मेरा उद्धार कीजिये। मैं इस घोर संसारसागरमें पतित होकर भयभीत हो गया हूँ, मैं शरणागत हूँ। हे माँ! श्रीकृष्णकी प्राण-प्रियतमे! आप मेरा उद्धार कीजिये। असंख्य योनियोंमें जन्म लेकर भ्रमण करते-करते अज्ञान-अन्धकारसे मैं युक्त हूँ। आप देदीप्यमान ज्ञानदीपके आलोकमें मेरा पथ-प्रदर्शन कीजिये। मैं यमकी ताड़नासे दुखी हूँ। मैं आपका भक्त हूँ। आपके चरणकमलमें अनुरक्त हूँ। मुझे सारे विघ्नोंसे मुक्त कर दीजिये। लक्ष्मी आपके चरण-कमलोंकी अर्चना करती हैं। कोमल दूर्वादल और श्वेतपुष्प तथा चन्दन आदिसे श्रीकृष्ण उनकी पूजा करते हैं, आप इन चरणोंमें मुझे परा—उत्तम भक्ति प्रदान कीजिये।'

पुष्पाञ्जलि-प्रणाम

यथोपलब्ध सामग्रीसे षोडशोपचार पूजन करना चाहिये।

इसके बाद तीन पुष्पाञ्जलि समर्पित करनी चाहिये। तत्पश्चात् दासीवर्ग—मालती, माधवी, रत्नमालावती, चम्पावती, मधुमती, सुशीला, वनमालिका, चन्द्रावली, चन्द्रमुखी, पद्मा, पद्ममुखी, कमला, कालिका, कृष्णप्रिया, विद्याधरी तथा वटुवर्ग—सानन्द, परमानन्द, सुमित्र, सन्तनु आदिकी यथाक्रम पाद्यादि उपचारोंसे पूजा कर प्रणाम करना चाहिये।

इसके बाद षडक्षरी महाविद्या मन्त्र—'रां ओं आं यं स्वाहा।' का जप करना चाहिये। जप पूर्ण कर लेनेके बाद स्तोत्र और राधा-कवचका पाठ करना चाहिये।

स्तोत्र

राधा रासेश्वरी रम्या रामा च परमात्मनः॥
रासोद्भवा कृष्णकान्ता कृष्णवक्षःस्थलस्थिता।
कृष्णप्राणाधिदेवी च महाविष्णोः प्रसूरपि॥
सर्वाद्या विष्णुमाया च सत्या नित्या सनातनी।
ब्रह्मस्वरूपा परमा निर्लिप्ता निर्गुणा परा॥

वृन्दा वृन्दावने सा च विरजातटवासिनी।
गोलोकवासिनी गोपी गोपीशा गोपमातृका॥
सानन्दा परमानन्दा नन्दनन्दनकामिनी।
वृषभानुसुता शान्ता कान्ता पूर्णतमा च सा॥
काम्या कलावती कन्या तीर्थपूता सती शुभा।

(नारदपञ्चरात्र २। ४। ४८—५३)

श्रीराधाके इन सैंतीस नामोंसे युक्त स्तोत्रका पाठ करनेवाला इस लोकमें अचल लक्ष्मी और परलोकमें हरिके चरणमें भक्ति प्राप्त करता है।

कवच

स्तोत्र-पाठके पश्चात् कवचका पाठ करना चाहिये। यह राधा-कवच है। इसका दूसरा नाम 'परमानन्दसंदोह कवच' है।

कण्ठे दधार भगवान् भक्त्या रत्नपुटेन यत्॥
परमानन्दसंदोहकवचं च सुदुर्लभम्।
षडक्षरीं महाविद्यां नित्यं भक्त्या जपेद्धरिः॥

(नारदपञ्च० २। ५। ३-४)

'भगवान् श्रीकृष्णने इस 'परमानन्दसंदोह कवचको रत्नपुटमें रखकर कण्ठमें धारण किया है। वे नित्य षडक्षरी महाविद्या मन्त्रका जप करते हैं।' इस कवचके ऋषि नारायण हैं, श्रीकृष्णकी दास्यभक्तिमें इसका विनियोग होता है—

सर्वाद्या मे शिरः पातु केशं केशवकामिनी।
भालं भगवती पातु लोला लोचनयुग्मकम्॥
नासां नारायणी पातु सानन्दा चाधरोष्ठकम्।
जिह्वां पातु जगन्माता दन्तं दामोदरप्रिया॥
कपोलयुग्मं कृष्णेशा कण्ठं कृष्णप्रियाऽवतु।
कर्णयुग्मं सदा पातु कालिन्दीकूलवासिनी॥
वसुन्धरेशा वक्षो मे परमा सा पयोधरम्।
पद्मनाभप्रिया नाभिं जठरं जाह्नवीश्वरी॥
नित्या नितम्बयुग्मं मे कङ्कालं कृष्णसेविता।
परात्परा पातु पृष्ठं सुश्रोणी श्रोणिकायुगम्॥
परमाद्या पादयुग्मं नखरांश्च नरोत्तमा।
सर्वाङ्गं मे सदा पातु सर्वेशा सर्वमङ्गला॥
पातु रासेश्वरी राधा स्वप्ने जागरणे च माम्।
जले स्थले चान्तरिक्षे सेविता जलशायिनी॥
प्राच्यां मे सततं पातु परिपूर्णतमप्रिया।
वह्नीश्वरी वह्निकोणे दक्षिणे दुःखनाशिनी॥
नैर्ऋत्ये सततं पातु नरकार्णवतारिणी।
वारुणे वनमालीशा वायव्यां वायुपूजिता॥
कौबेरे मां सदा पातु कूर्मेण परिसेविता।
ईशान्यामीश्वरी पातु शतशृङ्गनिवासिनी॥
वने वनचरी पातु वृन्दावनविनोदिनी।
सर्वत्र सततं पातु सर्वेशा विरजेश्वरी॥
प्रथमे पूजिता या च कृष्णेन परमात्मना।
षडक्षर्यां विद्यया च सा मां रक्षतु कातरम्॥

(नारदपञ्चरात्र २। ५। २४—३५)

षडक्षरी विद्याकी उपासना परम सिद्धिप्रदा और अमोघ फलदा है। इसके द्वारा भगवती श्रीराधाका पुण्यचिन्तन होता है।

त्रैलोक्यपावनीं राधां सन्तोऽसेवन्त नित्यशः।
यत्पादपद्मे भक्त्यार्घ्यं नित्यं कृष्णो ददाति च॥

(नारदपञ्चरात्र २। ६। ११)

'श्रीराधाके चिन्तनसे तीनों लोक पावन होते हैं। श्रीकृष्ण भक्तिपूर्वक उनके चरण-कमलमें अर्घ्य समर्पित करते हैं।' संत उनका निर्मल मनसे भजन करते हैं।

राधा नाम भजिये

भजौ नित राधा नाम उदार।
जाहि स्याम नित रटत रहत हिय भरि उल्लास अपार॥
चौदह भुवन-लोकत्रय-स्वामी अखिल जगत आधार।
सोइ नित जाके हाथ बिकानो, करत रहत मनुहार॥
जाके दरस हेतु मुनि तरसत जानि सार को सार।
सुमिरौ सोइ राधा-पद-पंकज निसिदिन बारंबार॥

श्रीलक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्नकी उपासनाके मन्त्र

इन्दु (ॱअनुस्वार) युक्त शक्र (ल) तथा 'लक्ष्मणाय नमः।' यह (लं लक्ष्मणाय नमः ।) सात अक्षरोंका मन्त्र है। इसके अगस्त्य ऋषि, गायत्री छन्द, महावीर लक्ष्मण देवता, 'लं' बीज और 'नमः' शक्ति है। छः दीर्घ स्वरोंसे युक्त बीजद्वारा षडङ्ग-न्यास करे।

ध्यान

द्विभुजं स्वर्णरुचिरतनुं पद्मनिभेक्षणम्।
धनुर्बाणकरं रामसेवासंसक्तमानसम्॥

'जिनके दो भुजाएँ हैं। जिनकी अङ्गकान्ति सुवर्णके समान सुन्दर है। नेत्र कमलदलके सदृश हैं। हाथोंमें धनुष-बाण हैं तथा श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें जिनका मन सदा संलग्न रहता है (उन श्रीलक्ष्मणजीकी मैं आराधना करता हूँ)।'

इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रोपासक सात लाख जप करे और मधुसे सींची हुई खीरसे आहुति देकर श्रीराम-पीठपर श्रीलक्ष्मणजीका पूजन करे। श्रीरामजीकी ही भाँति श्रीलक्ष्मणजीका भी पूजन किया जाता है। यदि श्रीरामचन्द्रजीके पूजनका सम्पूर्ण फल प्राप्त करनेकी निश्चित इच्छा हो तो यत्नपूर्वक श्रीलक्ष्मणजीका आदरसहित पूजन करना चाहिये। श्रीरामचन्द्रजीके बहुत-से भिन्न-भिन्न मन्त्र हैं, जो सिद्धि देनेवाले हैं। अतः उनके साधकोंको सदा श्रीलक्ष्मणजीकी शुभ आराधना करनी चाहिये। मुक्तिकी इच्छावाले मनुष्यको एकाग्रचित्त होकर आलस्यरहित हो, लक्ष्मणजीके मन्त्रका एक हजार आठ या एक सौ आठ बार नित्य जप करना चाहिये। जो नित्य एकान्तमें बैठकर लक्ष्मणजीके मन्त्रका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है और सम्पूर्ण कामनाओं-को प्राप्त कर लेता है। यह लक्ष्मण-मन्त्र जप-प्रधान है। राज्यकी प्राप्तिका एकमात्र साधन है। जो नित्यकर्म करके शुद्धभावसे तीनों समय लक्ष्मणजीके मन्त्रका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके परमपदको प्राप्त होता है। जो विधिपूर्वक मन्त्रकी दीक्षा लेकर, सद्गुणोंसे युक्त और पापरहित हो अपने आचारका नियमपूर्वक पालन करता, मनको वशमें रखता और घरमें रहते हुए भी जितेन्द्रिय होता है; इहलोकके भोगोंकी इच्छा न रखकर निष्कामभावसे भगवान् लक्ष्मणका पूजन करता है; वह समस्त पुण्य-पापके समुदायको दग्ध करके शुद्ध चित्त हो पुनः-गमनके चक्करमें न पड़कर सनातनपदको प्राप्त होता है। सकाम भाववाला पुरुष मनोवाञ्छित वस्तुओंको पाकर और मनके अनुरूप भोगोंका उपभोग करके, दीर्घकालतक पूर्व-जन्मोंकी स्मृतिसे युक्त रहकर भगवान् विष्णुके परम धाममें जाता है।

निद्रा (भ) चन्द्र (अनुस्वार) से युक्त हो और उसके बाद 'भरताय नमः।'—ये दो पद हों तो सात अक्षरका मन्त्र होता है। इस 'भं भरताय नमः।' मन्त्रके ऋषि और पूजन आदि पूर्ववत् हैं। वक (श) इन्दु (अनुस्वार) से युक्त हो उसके बाद ङे विभक्त्यन्त शत्रुघ्न शब्द हो और अन्तमें हृदय (नमः) हो तो 'शं शत्रुघ्नाय नमः।' यह सात अक्षरोंका शत्रुघ्न-मन्त्र होता है, जो सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि प्रदान करनेवाला है।

(नारद० पूर्व० अध्याय ७२)

राम-प्रीति बिना जीवन-व्यर्थ

जो पै रहनि राम सों नाहीं।
तौ नर खर कूकर सूकर सम बृथा जियत जग माहीं॥
काम, क्रोध, मद, लोभ, नींद, भय, भूख, प्यास सबहीके।
मनुज-देह सुर-साधु सराहत, सो सनेह सिय-पीके॥
सूर, सुजान, सुपूत सुलच्छन गनियत गुन गरुआई।
बिनु हरि भजन इंदारुनके फल तजत नहीं करुआई॥
कीरति, कुल, करतूति, भूति भलि सील सरूप सलोने।
तुलसी प्रभु-अनुराग-रहित जस सालन साग अलोने॥

(गो० तुलसीदासजी)

श्रीहनुमान्‌जीकी उपासनाके कुछ मन्त्र और संक्षिप्त अनुष्ठान-विधि

सनत्कुमारजी कहते हैं—विप्रवर ! अब हनुमान्‌जीके मन्त्रोंका वर्णन किया जाता है, जो समस्त अभीष्ट वस्तुओंको देनेवाले हैं और जिनकी आराधना करके मनुष्य हनुमान्‌जीके ही समान आचरणवाले हो जाते हैं। '**ह्रौं ह्स्फ्रें ख्फ्रें ह्स्रौं ह्स्ख्फ्रें ह्सौं हनुमते नमः** ।' यह बारह अक्षरोंवाला महामन्त्रराज कहा गया है। इस मन्त्रके श्रीरामचन्द्रजी ऋषि हैं और जगती छन्द कहा गया है। इसके देवता हनुमान्‌जी हैं। 'ह्सौं' बीज है, 'ह्स्फ्रें' शक्ति है। छः बीजोंसे षडङ्ग-न्यास करना चाहिये। मस्तक, ललाट, दोनों नेत्र, मुख, कण्ठ, दोनों बाहु, हृदय, कुक्षि, नाभि, लिङ्ग, दोनों जानु, दोनों चरण—इनमें क्रमशः मन्त्रके बारह अक्षरोंका न्यास करे। छः बीज और दो पद—इन आठोंका क्रमशः मस्तक, ललाट, मुख, हृदय, नाभि, ऊरु, जङ्घा और चरणोंमें न्यास करे। तदनन्तर अञ्जनीनन्दन कपीश्वर हनुमान्‌जीका इस प्रकार ध्यान करे—

उद्यत्कोट्यर्कसंकाशं जगत्प्रक्षोभकारकम् ।
श्रीरामाङ्घ्रिध्याननिष्ठं सुग्रीवप्रमुखार्चितम् ॥
वित्रासयन्तं नादेन राक्षसान् मारुतिं भजेत् ।

'उदयकालीन करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी हनुमान्‌जी सम्पूर्ण जगत्‌को क्षोभमें डालनेकी शक्ति रखते हैं। सुग्रीव आदि प्रमुख वानर वीर उनका समादर करते हैं। वे राघवेन्द्र श्रीरामके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें निरन्तर संलग्न हैं और अपने सिंहनादसे सम्पूर्ण राक्षसोंको भयभीत कर रहे हैं। ऐसे पवनकुमार हनुमान्‌जीका भजन करना चाहिये।'

इस प्रकार ध्यान करके जितेन्द्रिय पुरुष बारह हजार मन्त्र-जप करे। फिर दही, दूध और घी मिलाये हुए धानकी दशांश आहुति दे। फिर वैष्णवपीठपर मूलमन्त्रसे मूर्तिकी कल्पना करके उसमें हनुमान्‌जीका आवाहन-स्थापनपूर्वक पाद्यादि उपचारोंसे पूजन करे। केसरोंमें हृदयादि अङ्गोंकी पूजा करके अष्टदल कमलके आठ दलोंमें हनुमान्‌जीके निम्नाङ्कित आठ नामोंकी पूजा करे—रामभक्त, महातेजा, कपिराज, महाबल, द्रोणाद्रिहारक, मेरुपीठार्चनकारक, दक्षिणाशाभास्कर तथा सर्वविघ्नविनाशक। (**रामभक्ताय नमः, महातेजसे नमः, कपिराजाय नमः, महाबलाय नमः, द्रोणाद्रिहारकाय नमः, मेरुपीठार्चनकारकाय नमः, दक्षिणाशाभास्कराय नमः, सर्वविघ्नविनाशकाय नमः**) इस प्रकार नामोंकी पूजा करके दलोंके अग्रभागमें क्रमशः सुग्रीव, अङ्गद, नील, जाम्बवान्, नल, सुषेण, द्विविद तथा मैन्दकी पूजा करे। लोकपालों तथा उनके वज्र आदि आयुधोंकी पूजा करे। ऐसा करनेसे मन्त्र सिद्ध हो जाता है। जो मानव लगातार दस दिनोंतक रातमें नौ सौ मन्त्र-जप करता है, उसके राजभय और शत्रुभय नष्ट हो जाते हैं। एक सौ आठ बार मन्त्रसे अभिमन्त्रित किया हुआ जल विषका नाश करनेवाला होता है। भूत, अपस्मार (मिरगी) और कृत्या (मारण आदिके प्रयोग) से ज्वर उत्पन्न हो तो उक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित भस्म अथवा जलसे क्रोधपूर्वक ज्वरग्रस्त पुरुषपर प्रहार करे। ऐसा करनेपर वह मनुष्य तीन दिनमें ज्वरसे छूट जाता है और सुख पाता है। हनुमान्‌जीके उक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित औषध या जल खा-पीकर मनुष्य सब रोगोंको मार भगाता और तत्क्षण सुखी हो जाता है। उक्त मन्त्रसे अभिमन्त्रित भस्मको अपने अङ्गोंमें लगाकर अथवा उससे अभिमन्त्रित जलको पीकर जो मन्त्रोपासक युद्धके लिये जाता है, वह शस्त्रोंके समुदायसे पीड़ित नहीं होता। किसी शस्त्रसे कटकर घाव हुआ हो, या फोड़ा फूटकर बहता हो, लूता (मकरी) रोग फूटा हो तो तीन बार मन्त्र जपकर अभिमन्त्रित किये हुए भस्मसे उनपर स्पर्श कराते ही वे सभी घाव सूख जाते हैं, इसमें संशय नहीं है। ईशानकोणमें स्थित करंज नामक वृक्षकी जड़को ले आकर उसके द्वारा हनुमान्‌जीकी अँगूठे बराबर प्रतिमा बनावे। फिर उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करके सिन्दूर आदिसे उसकी पूजा करे। तत्पश्चात् उस प्रतिमाका मुख घरकी ओर करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक उसे दरवाजेपर गाड़ दे तो उससे ग्रह, अभिचार, रोग, अग्नि, विष, चोर तथा राजा आदिके उपद्रव कभी उस घरमें नहीं आते और वह घर दीर्घकालतक प्रतिदिन धन, पुत्र आदिसे अभ्युदयको प्राप्त होता रहता है।

विशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष अष्टमी या चतुर्दशीको मंगलवार या रविवारके दिन किसी तख्तेपर तैलयुक्त उड़दके बेसनसे हनुमान्‌जीकी सुन्दर तथा समस्त शुभलक्षणोंसे सुशोभित एक प्रतिमा बनावे। वामभागमें तेलका और दाहिने भागमें घीका दीपक जलाकर रक्खे। फिर मन्त्रज्ञ पुरुष मूलमन्त्रसे उक्त प्रतिमामें हनुमान्‌जीका आवाहन करे। आवाहनके पश्चात्

प्राण-प्रतिष्ठा करके उन्हें पाद्य, अर्घ्य आदि अर्पण करे। लाल चन्दन, लाल फूल तथा सिन्दूर आदिसे उनकी पूजा करे। धूप और दीप देकर नैवेद्य निवेदन करे। मन्त्र-वेत्ता उपासक मूलमन्त्रसे पूआ, भात, साग, मिठाई, बड़े, पकौड़ी आदि भोज्य पदार्थोंको घृतसहित समर्पित करके फिर सत्ताईस पानके पत्तोंको तीन-तीन आवृत्ति मोड़कर उनके भीतर सुपारी आदि रखकर मुख-शुद्धिके लिये मूलमन्त्रसे ही अर्पण करे। मन्त्रज्ञ साधक इस प्रकार भलीभाँति पूजा करके एक हजार मन्त्रका जप करे। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष कपूरकी आरती करके नाना प्रकारसे हनुमान्‌जीकी स्तुति करे और अपना अभीष्ट मनोरथ उनसे निवेदन करके विधिपूर्वक उनका विसर्जन करे। इसके बाद नैवेद्य लगाये हुए अन्नद्वारा सात ब्राह्मणोंको भोजन करावे और चढ़ाये हुए पानके पत्ते उन्हींको बाँटकर दे दे। विद्वान् पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार उन ब्राह्मणोंको दक्षिणा देकर विदा करे। तत्पश्चात् इष्ट-बन्धुजनोंके साथ स्वयं भी मौन होकर भोजन करे। उस दिन पृथ्वीपर शयन और ब्रह्मचर्यका पालन करे। जो मानव इस प्रकार आराधना करता है, वह कपीश्वर हनुमान्‌जीके प्रसादसे शीघ्र ही सम्पूर्ण कामनाओंको अवश्य प्राप्त कर लेता है।

भूमिपर हनुमान्‌जीका चित्र अङ्कित करे और उनके अग्रभागमें मन्त्रका उल्लेख करे। साथ ही साध्यवस्तु या व्यक्तिका द्वितीयान्त नाम लिखकर उसके आगे 'विमोचय' 'विमोचय' लिखे। लिखकर उसे बायें हाथसे मिटा दे। उसके बाद फिर लिखे। इस प्रकार एक सौ आठ बार लिख-लिखकर उसे पुनः मिटाता रहे। ऐसा करनेपर महान् कारागारसे वह शीघ्र मुक्त हो जाता है। ज्वरमें दूर्वा, गुरुचि, दही, दूध अथवा घृतसे होम करे। शूल रोग होनेपर करंज या वातारि (एरंड) की समिधाओंको तैलमें डुबोकर उनके द्वारा होम करे अथवा शेफालिका (हरसिंगार) की तैलसिक्त समिधाओंसे प्रयत्न-पूर्वक होम करना चाहिये। सौभाग्यसिद्धिके लिये चन्दन, कपूर, रोचना, इलायची और लवंगकी आहुति दे। वस्त्रकी प्राप्तिके लिये सुगन्धित पुष्पोंसे हवन करे। विभिन्न धान्योंकी प्राप्तिके लिये उन्हीं धान्योंसे होम करना चाहिये। धान्यके होमसे धान्य प्राप्त होता है और अन्नके होमसे अन्नकी वृद्धि होती है। तिल, घी, दूध और मधुकी आहुति देनेसे गाय-भैंसकी वृद्धि होती है। अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है? विष और व्याधिके निवारणमें, शान्तिकर्ममें, भूतजनित भय और संकटमें, युद्धमें, दैवी क्षति प्राप्त होनेपर, बन्धनसे छूटनेमें और महान् वनमें पड़ जाने आदि सभीमें यह सिद्ध किया हुआ मन्त्र मनुष्योंको निश्चय ही कल्याण प्रदान करता है।

द्वादशाक्षर मन्त्रमें जो अन्तिम छः अक्षर (हनुमते नमः) हैं इनको, और आदि बीज (हौं) को छोड़कर शेष रहे हुए पाँच बीजोंका 'ह्स्फ्रें ह्ख्फ्रें ह्स्रौं ह्स्ख्फ्रें ह्सौं'—जो पञ्चाक्षर मन्त्र बनता है, वह सम्पूर्ण मनोरथोंको देनेवाला है। इसके श्रीरामचन्द्रजी ऋषि, गायत्री छन्द और हनुमान् देवता कहे गये हैं। सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्तिके लिये इसका विनियोग किया जाता है। इसके पाँच बीजों तथा सम्पूर्ण मन्त्रसे षडङ्ग-न्यास करे। 'रामदूत', 'लक्ष्मण-प्राणदाता', 'अञ्जनी-सुत', 'सीताशोक-विनाशन' तथा 'लङ्काप्रासादभञ्जन'—ये पाँच नाम हैं। इनके पहले 'हनुमत्' यह नाम और है। हनुमत् आदि पाँच नामोंके आदिमें पाँच बीज और अन्तमें डे विभक्ति लगायी जाती है। अन्तिम नामके साथ उक्त पाँचों बीज जुड़ते हैं। ये ही षडङ्ग-न्यासके छः मन्त्र हैं *। इनके ध्यान-पूजन आदि कार्य पूर्वोक्त द्वादशाक्षर मन्त्रके समान ही हैं।

यह ग्यारह अक्षरोंका (ॐ ऐं श्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्स्फ्रें ह्ख्फ्रें ह्स्रौं ह्स्ख्फ्रें ह्सौं) मन्त्र सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाला है। इसके भी ध्यान-पूजन आदि सब कार्य पूर्ववत् होते हैं। इस मन्त्रकी आराधना की जाय तो यह समस्त अभीष्ट मनोरथोंको देनेवाला है। 'नमो भगवते आञ्जनेयाय महाबलाय स्वाहा' यह अठारह अक्षरोंका मन्त्र है। इसके ईश्वर ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, पवनकुमार हनुमान् देवता, हं बीज और स्वाहा शक्ति है—ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है। 'आञ्जनेयाय नमः'का हृदयमें, 'रुद्रमूर्तये नमः'का सिरमें, 'वायुपुत्राय नमः'का शिखामें, 'अग्निगर्भाय नमः'का कवचमें, 'रामदूताय नमः'का नेत्रोंमें तथा 'ब्रह्मास्त्राय नमः'का अस्त्रस्थानमें न्यास करे। इस प्रकार न्यास-विधि कही गयी है।

ध्यान

तप्तचामीकरनिभं भीघ्नं संविहिताञ्जलिम्।
चलत्कुण्डलदीप्तास्यं पद्माक्षं मारुतिं स्मरेत्॥

* यथा 'ह्स्फ्रें हनुमते नमः, हृदयाय नमः। ह्ख्फ्रें रामदूताय नमः, शिरसे स्वाहा। ह्स्रौं लक्ष्मणप्राणदात्रे नमः, शिखायै वषट्। ह्स्ख्फ्रें अञ्जनीसुताय नमः, कवचाय हुम्। 'ह्सौं सीताशोकविनाशाय नमः, नेत्रत्रयाय वौषट्। ह्स्फ्रें ह्ख्फ्रें ह्स्रौं ह्सौं ह्स्ख्फ्रें लङ्काप्रासादभञ्जनाय नमः, अस्त्राय फट्।

'जिनकी दिव्य कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान है, जो भयका नाश करनेवाले हैं, जिन्होंने अपने प्रभु (श्रीराम) का चिन्तन करके उनके लिये अञ्जलि बाँध रक्खी है, जिनका सुन्दर मुख हिलते हुए कुण्डलोंसे उद्भासित हो रहा है तथा जिनके नेत्र कमलके समान शोभायमान हैं, उन पवनकुमार हनुमान्‌जीका ध्यान करे।'

इस प्रकार ध्यान करके दस हजार मन्त्र-जप करे। तत्पश्चात् घृतमिश्रित तिलसे दशांश होम करे। पूर्वोक्त रीतिसे वैष्णव-पीठपर पूजन करे। प्रतिदिन केवल रातमें भोजनका नियम लेकर जितेन्द्रिय-भावसे एक सौ आठ बार जप करे तो मनुष्य छोटे-मोटे रोगोंसे छूट जाता है, इसमें संशय नहीं है। बड़े भारी रोगोंसे मुक्त होनेके लिये तो प्रतिदिन एक हजार जप करना चाहिये। सुग्रीवके साथ श्रीरामकी मित्रता कराते हुए हनुमान्‌जीका ध्यान करके जो दस हजार मन्त्र-जप करता है, वह परस्पर द्वेष रखनेवाले दो विरोधियोंमें सन्धि करा सकता है। जो यात्राके समय हनुमान्‌जीका स्मरण करते हुए मन्त्र-जप करता है, उसके बाद यात्रा करता है, वह शीघ्र ही अपना अभीष्ट साधन करके घर लौट आता है। जो अपने घरमें मन्त्र-जप करते हुए सदा हनुमान्‌जीकी आराधना करता है, वह आरोग्य, लक्ष्मी तथा कान्ति पाता है और किसी प्रकारके उपद्रवमें नहीं पड़ता। वनमें यदि इस मन्त्रका स्मरण किया जाय तो यह व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओं तथा चोर-डाकुओंसे रक्षा करता है। सोते समय शय्यापर एकाग्र-चित्त होकर इस मन्त्रका स्मरण करना चाहिये। जो ऐसा करता है, उसे दुःस्वप्न और चोर आदिका भय कभी नहीं होता।

वियत् (ह) इन्दु (अनुस्वार) से युक्त हो, उसके बाद 'हनुमते रुद्रात्मकाय' ये दो पद हों, फिर वर्म (हुं) और अस्त्र (फट्) हो तो 'हं हनुमते रुद्रात्मकाय हुं फट्।' यह बारह अक्षरोंका महामन्त्र होता है, जो अणिमा आदि अष्ट सिद्धियोंको देनेवाला है। इसके श्रीरामचन्द्रजी ऋषि, जगती छन्द, श्रीहनुमान्‌जी देवता, 'ह्रं' बीज और 'हुम्' शक्ति कही गयी है। छः दीर्घस्वरोंसे युक्त बीज (हां हीं हूं हैं हौं हः) के द्वारा षडङ्ग-न्यास करे।

ध्यान

महाशैलं समुत्पाट्य धावन्तं रावणं प्रति ॥
लाक्षारसारुणं रौद्रं कालान्तकयमोपमम्।
ज्वलदग्निसमं जैत्रं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥
अङ्गदाद्यैर्महावीरैर्वेष्टितं रुद्ररूपिणम्।
तिष्ठ तिष्ठ रणे दुष्ट सृजन्तं घोरनिःस्वनम् ॥
शैवरूपिणमभ्यर्च्य ध्यात्वा लक्षं जपेन्मनुम्।

(नारद० पू० ७४। १२२—१२५)

"हनुमान्‌जी एक बहुत बड़ा पर्वत उखाड़कर रावणकी ओर दौड़ रहे हैं। वे लाक्षा (महावर) के रंगके समान अरुणवर्ण हैं। काल, अन्तक तथा यमके समान भयंकर जान पड़ते हैं। उनका तेज प्रज्वलित अग्निके समान है। ये विजयशील तथा करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी हैं। अङ्गद आदि महावीर उन्हें चारों ओरसे घेरकर चलते हैं। वे साक्षात् रुद्रस्वरूप हैं। भयंकर सिंहनाद करते हुए वे रावणसे कहते हैं—'अरे ओ दुष्ट! युद्धमें खड़ा रह, खड़ा तो रह!' इस प्रकार शिवावतार भगवान् हनुमान्‌जीका ध्यान और पूजन करके एक लाख मन्त्रका जप करे।"

तदनन्तर दूध, दही, घी मिलाये चावलसे दशांश होम करे। विमलादि शक्तियोंसे युक्त पूर्वोक्त वैष्णवपीठपर मूल मन्त्रसे मूर्ति-कल्पना करके हनुमान्‌जीकी पूजा करनी चाहिये। एकमात्र ध्यान करनेसे भी मनुष्योंको सिद्धि प्राप्त होती है। इसमें संशय नहीं है।

अब मैं लोकहितकी इच्छासे इस मन्त्रका साधन बतलाता हूँ। हनुमान्‌जीका साधन पुण्यमय है। वह बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है। यह लोकमें अत्यन्त गुह्यतम रहस्य है और शीघ्र उत्तम सिद्धि प्रदान करनेवाला है। इसके प्रसादसे मन्त्र-साधक पुरुष तीनों लोकोंमें विजयी होता है। प्रातःकाल स्नान करके नदीके तटपर कुशासनपर बैठे और मूल-मन्त्रसे प्राणायाम तथा षडङ्ग-न्यास सब कार्य करे। फिर सीतासहित भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करके उन्हें आठ बार पुष्पाञ्जलि अर्पित करे। तत्पश्चात् त्रिसे हुए लाल चन्दनसे उसीकी शलाकाद्वारा ताम्रपात्रमें अष्टदल कमल लिखे। कमलकी कर्णिकामें मन्त्र लिखे। उसमें कपीश्वर हनुमान्‌जीका आवाहन करे। मूल-मन्त्रसे मूर्ति निर्माण करके ध्यान तथा आवाहनपूर्वक पाद्य आदि उपचार अर्पण करे। गन्ध, पुष्प आदि सब सामग्री मूल-मन्त्रसे ही निवेदन करके कमलके केसरोंमें छः अङ्गों (हृदय, सिर, शिखा, कवच, नेत्र तथा अस्त्र) का पूजन करके आठ दलोंमें सुग्रीव आदि-का पूजन करे। सुग्रीव, लक्ष्मण, अङ्गद, नल, नील, जाम्बवान्, कुमुद और केसरीका एक-एक दलमें पूजन करना चाहिये। तदनन्तर इन्द्र आदि दिक्पालों तथा वज्र आदि

आयुधोंका पूजन करे। इस प्रकार मन्त्र सिद्ध होनेपर मन्त्रोपासक पुरुष अपनी अभीष्ट कामनाओंको सिद्ध कर सकता है।

नदीके तटपर, किसी वनमें, पर्वतपर अथवा कहीं भी एकान्त प्रदेशमें श्रेष्ठ साधक भूमि-ग्रहणपूर्वक साधन प्रारम्भ करे। आहार, श्वास, वाणी और इन्द्रियोंपर संयम रक्खे। दिग्बन्ध आदि करके न्यास और ध्यान आदिका सम्यक् सम्पादन करनेके पश्चात् पूर्ववत् पूजन करके उक्त मन्त्रराजका एक लाख जप करे। एक लाख जप पूर्ण हो जानेपर दूसरे दिन सबेरे साधक महान् पूजन करे। उस दिन एकाग्र चित्तसे पवननन्दन हनुमान्‌जीका सम्यक् ध्यान करके दिन-रात जपमें लगा रहे। तबतक जप करता रहे, जबतक दर्शन न हो जाय। साधकको सुदृढ़ जानकर, आधी रातके समय पवननन्दन हनुमान्‌जी अत्यन्त प्रसन्न हो उसके सामने जाते हैं। कपीश्वर हनुमान्‌जी उस साधकको इच्छानुसार वर देते हैं; वर पाकर वह श्रेष्ठ साधक अपनी मौजसे इधर-उधर विचरता रहता है। यह पुण्यमय साधन देवताओंके लिये भी दुर्लभ है; क्योंकि गूढ़ रहस्यरूप है। मैंने सम्पूर्ण लोकोंके हितकी इच्छासे इसे यहाँ प्रकाशित किया है।

इसी प्रकार साधक अपने लिये हितकर अन्यान्य प्रयोगोंका भी अनुष्ठान करे। इन्दु (अनुस्वार) युक्त वियत् (ह) अर्थात् 'हं' के पश्चात् ङे विभक्त्यन्त पवननन्दन शब्द हो और अन्तमें वह्निप्रिया (स्वाहा) हो तो (हं पवननन्दनाय स्वाहा।)—यह दस अक्षरका मन्त्र होता है, जो सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है। इसके ऋषि आदि भी पहले बताये अनुसार हैं। षडङ्ग-न्यास भी पूर्ववत् करने चाहिये।

ध्यान

ध्यायेद्रणे हनूमन्तं सूर्यकोटिसमप्रभम्।
धावन्तं रावणं जेतुं दृष्ट्वा सत्वरमुत्थितम्॥
लक्ष्मणं च महावीरं पतितं रणभूतले।
गुरुं च क्रोधमुत्पाद्य ग्रहीतुं गुरुपर्वतम्॥
हाहाकारैः सदर्पैश्च कम्पयन्तं जगत्त्रयम्।
आब्रह्माण्डं समाव्याप्य कृत्वा भीमं कलेवरम्॥
(नारद० पू० ७४। १४५—१४७)

'लङ्काकी रणभूमिमें महावीर लक्ष्मणको गिरा देख हनुमान्‌जी तुरंत उठ खड़े हुए हैं। वे हृदयमें महान् क्रोध भरकर एक विशाल एवं भारी पर्वतको उठाने तथा रावणको मार गिरानेके लिये वेगसे दौड़ पड़े हैं। उनका तेज करोड़ों सूर्योंकी प्रभाको लज्जित कर रहा है। वे ब्रह्माण्डव्यापी भयंकर एवं विराट् शरीर धारण करके दर्पपूर्ण हुंकारसे तीनों लोकोंको कम्पित किये देते हैं। इस प्रकार युद्ध-भूमिमें हनुमान्‌जीका चिन्तन करना चाहिये।'

ध्यानके पश्चात् विद्वान् साधक एक लाख जप और पूर्ववत् दशांश हवन करे। इस मन्त्रका भी विधिवत् पूजन पहले-जैसा ही बताया गया है। इस प्रकार मन्त्र सिद्ध होनेपर मन्त्रोपासक अपना हित-साधन कर सकता है। इस श्रेष्ठ मन्त्रका साधन भी गोपनीय रहस्य ही है। सब तन्त्रोंमें इसे अत्यन्त गोप्य बताया गया है। इसका उपदेश हर एकको नहीं देना चाहिये। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर, शौचादि नित्यकर्म करके पवित्र हो, नदीके तटपर जाकर तीर्थके आवाहनपूर्वक स्नान करे। स्नानके समय आठ बार मूल मन्त्रकी आवृत्ति करे। तत्पश्चात् बारह बार मन्त्र पढ़कर अपने ऊपर जल छिड़के। इस प्रकार स्नान, संध्या, तर्पण आदि करके गङ्गाजीके तटपर, पर्वतपर अथवा वनमें भूमि-ग्रहणपूर्वक अकारादि स्वरवर्णोंका उच्चारण करके पूरक, 'क' से लेकर 'म' तकके पाँच वर्गके अक्षरोंसे कुम्भक तथा 'य' से लेकर अवशेष वर्णोंका उच्चारण करके रेचक करना चाहिये। इस प्रकार प्राणायाम करके भूत-शुद्धिसे लेकर पीठन्यास तकके सब कार्य करे। फिर पूर्वोक्त रीतिसे कपीश्वर हनुमान्‌जीका ध्यान और पूजन करके उनके आगे बैठकर साधक प्रतिदिन आदरपूर्वक दस हजार मन्त्र-जप करे। सातवें दिन विशेषरूपसे पूजन करे। उस दिन मन्त्रसाधक एकाग्रचित्तसे दिन-रात जप करे। रातके तीन पहर बीत जानेपर चौथे पहरमें महान् भय दिखाकर कपीश्वर पवननन्दन हनुमान्‌जी अवश्य साधकके सम्मुख पधारते हैं और उसे अभीष्ट वर देते हैं। साधक अपनी रुचिके अनुसार विद्या, धन, राज्य अथवा विजय तत्काल प्राप्त कर लेता है। यह सर्वथा सत्य है। इसमें संशयका लेश भी नहीं है। वह इहलोकमें सम्पूर्ण कामनाओंका उपभोग करके अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सद्योजात (ॐ) सहित दो वायु (यू यू=यो यो) 'हनूमन्त' का उच्चारण करे। फिर 'फल'के अन्तमें 'फ' तथा नेत्र (इ) युक्त किया (ल) एवं कामिका (त) का उच्चारण करे। तत्पश्चात् 'धगगधगित' बोलकर 'आयुराष' पदका उच्चारण करे, तदनन्तर लोहित (प)

तथा 'रुडाह' का उच्चारण करना चाहिये। (पूरा मन्त्र इस प्रकार है—'ॐ यो यो हनूमन्त फलफलित धगधगित आयुराष परुडाह।') यह पचीस अक्षरका मन्त्र है। इसके भी ऋषि आदि पूर्वोक्त ही हैं। 'प्लीहा' रोग दूर करनेवाले वानरराज हनुमान्‌जी इसके देवता कहे गये हैं। 'प्लीहा' रोगसे युक्त पेटपर पानका पत्ता रक्खे। उसके ऊपर आठ पर्त लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसे ढक दे। तत्पश्चात् श्रेष्ठ साधक हनुमान्‌जीका स्मरण करके उस वस्त्रके ऊपर एक बाँसका टुकड़ा डाल दे। इसके बाद बेरके वृक्षकी लकड़ीसे बनी हुई छड़ी लेकर उसे जंगली पत्थरसे प्रकट हुई आगमें उक्त मन्त्रसे सात बार तपावे। फिर उस छड़ीसे पेटपर रक्खे हुए बाँसके टुकड़ेपर सात बार प्रहार करे। इससे मनुष्योंका प्लीहा रोग अवश्य ही नष्ट हो जाता है।

'ॐ नमो भगवते आञ्जनेयाय अमुकस्य शृङ्खलां त्रोटय त्रोटय बन्धमोक्षं कुरु कुरु स्वाहा।'

—यह एक मन्त्र है। इसके ईश्वर ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, शृङ्खलामोचक पवनपुत्र श्रीमान् हनुमान् देवता, 'हुं' बीज और 'स्वाहा' शक्ति है। बन्धनसे छूटनेके लिये इसका विनियोग किया जाता है। छः दीर्घ स्वर तथा रेफयुक्त बीजमन्त्रसे षडङ्ग-न्यास करे (यथा—ह्रां हृदयाय नमः, ह्रीं शिरसे स्वाहा इत्यादि)।

ध्यान

वामे शैलं वैरिभिदं विशुद्धं टङ्कमन्यतः।
दधानं स्वर्णवर्णं च ध्यायेत् कुण्डलिनं हरिम्॥

(नारद० पू० ७४। १६९-१७०)

'बायें हाथमें वैरियोंको विदीर्ण करनेवाला पर्वत तथा दायें हाथमें विशुद्ध टंक धारण करनेवाले, सुवर्णके समान कान्तिमान्, कुण्डल-मण्डित वानरराज हनूमान्‌जीका ध्यान करे।'

इस प्रकार ध्यान करके एक लाख मन्त्रका जप तथा आम्रपल्लवसे दशांश हवन करे। विद्वानोंने इसके पूजन आदिकी विधि पूर्ववत् बतायी है। महान् कारागारमें पड़ा हुआ मनुष्य दस हजार जप करे। इससे वह कारागारसे मुक्त हो अवश्य सुखका भागी होता है।

अब मैं बन्धनसे छुड़ानेवाले शुभ हनुमत्-मन्त्रका वर्णन करता हूँ। अष्टदल कमलके भीतर षट्कोण बनावे। उसकी कर्णिकामें साध्य पुरुषका नाम लिखे। छः कोणोंमें 'ॐ आञ्जनेयाय'का उल्लेख करे। आठों दलोंमें 'ॐ वातु-वातु' लिखे। गोरोचन और कुङ्कुमसे यह उत्तम मन्त्र लिखकर मस्तकपर धारण करके बन्धनसे छूटनेके लिये उक्त मन्त्रका दस हजार जप करे। इस मन्त्रको प्रतिदिन मिट्टीपर लिखकर मन्त्रज्ञ पुरुष दाहिने हाथसे मिटावे। बारह बार लिखने और मिटानेसे मन्त्राराधक महान् कारागारसे छुटकारा पा जाता है। गगन (ह) नेत्र (इ) युक्त ज्वलन (र) अर्थात् 'हरि' पदके पश्चात् दो बार 'मर्कट' शब्द बोलकर शेष (आ) सहित तोय (व) अर्थात् 'वा' का उच्चारण करके 'मकरे' पद बोले। फिर 'परिमुञ्चति मुञ्चति शृङ्खलिकाम्' का उच्चारण करे। (पूरा मन्त्र इस प्रकार है—**हरि मर्कट मर्कट वामकरे परिमुञ्चति मुञ्चति शृङ्खलिकाम्।**) यह चौबीस अक्षरोंका मन्त्र है। विद्वान् पुरुष इस मन्त्रको दायें हाथमें बायें हाथसे लिखकर मिटा दे और एक सौ आठ बार इसका जप करे। ऐसा करनेपर कैदमें पड़ा हुआ मनुष्य तीन सप्ताहमें छूट जाता है। इसमें संशय नहीं है। इसके ऋषि आदि पूर्ववत् हैं। पूजन आदि कार्य भी पूर्ववत् करे। इसका एक लाख जप और शुभ द्रव्योंसे दशांश हवन करना चाहिये। जो मन्त्रसाधक पुरुष इस प्रकार कपीश्वर वायुपुत्र हनुमान्‌जीकी आराधना करता है, वह उन सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है, जो देवताओंके लिये दुर्लभ हैं। अञ्जनीनन्दन हनुमान्‌जीकी उपासना की जाय तो वे धन, धान्य, पुत्र, पौत्र, अतुल सौभाग्य, यश, मेधा, विद्या, प्रभा, राज्य तथा विवादमें विजय प्रदान करते हैं। सिद्धि तथा विजय देते हैं।

अन्तमें सम्पुटित पाठके कुछ मन्त्र सूचित कर देना प्रसंगके अनुकूल प्रतीत होता है। (१) वाल्मीकि आदि किसी भी रामायणके पाठमें 'ॐ रामाय नमः।'का सम्पुट लगानेसे हनूमान्‌जी प्रसन्न होते हैं। (२) 'ॐ हनुमते नमः।' लगानेसे कार्यसिद्धि होती है।

(३) **अंजनीगर्भसम्भूत कपीन्द्र सचिवोत्तम।**
रामप्रिय नमस्तुभ्यं हनूमन् रक्ष सर्वदा॥

—से रक्षा और अभीष्ट-लाभ होता है।

(४) **मर्कटेश महोत्साह सर्वशोकविनाशन।**
शत्रून् संहर मां रक्ष श्रियं दापय मे प्रभो॥

—से शत्रुनिवारण, आत्मसंरक्षण और सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है।

(५) **आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्।**
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

—से सर्वापत्तियोंका निवारण, सर्वसम्पत्तियोंका पुनरागमन और सर्वप्रकारके अभीष्टोंकी सिद्धि होती है।

(६) जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमान् शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥
(वा० रा०, सुन्दर० ४२। ३३—३५)

—से राष्ट्रविप्लव, मारीभय, महाशत्रुके आक्रमण, अनेक प्रकारकी असह्य आपत्तियाँ और देशोपद्रवादि शान्त होते हैं।

और—

(७) स देवि नित्यं परितप्यमान-
स्त्वामेव सीतेत्यभिभाषमाणः।
दृढव्रतो राजसुतो महात्मा
तवैव लाभाय कृतप्रयत्नः॥
(वा० रा०, सुन्दर० ३६। ४६)

—से उद्वाह या स्त्रीप्राप्ति होती है। उक्त मन्त्र विशेषकर वाल्मीकिरामायण, 'सुन्दरकाण्ड' और 'मूलरामायण'के लिये उपयोगी हैं। सम्पुटित पाठके प्रयोगमें पहले सम्पुट मन्त्र, पीछे मूल, फिर मन्त्र, फिर मन्त्र अर्थात् दो बार सम्पुट मन्त्रोंके पीछे मूल और फिर मन्त्र इस क्रमसे पाठ किया जाय। पाठारम्भके पहले हनुमान्‌जीका पूजन, प्रार्थना और ध्यानादि किये जायँ। इस प्रकार प्रीति, उदारता और शान्तिके साथ करनेसे सब प्रकारके अभीष्ट सिद्ध होते हैं।

इसके अतिरिक्त हनुमान्‌जीकी उपासनाके लिये श्रीरामचरितमानस सुन्दरकाण्डका पाठ तथा हनुमानचालीसाका पाठ भी बहुत उपयोगी हैं। इनके पाठसे बहुत लोग लाभ उठा चुके हैं।

श्रीरामोपासनाके पूर्व श्रीहनुमत्-उपासनाकी अनिवार्यता

(लेखक—वैद्य पं० भैरवानन्दजी शर्मा 'व्यापक' रामायणी, मानसतत्त्वान्वेषी)

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥
दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा।
पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम्॥

भारतमें कहीं भी कोई ऐसा भगवान्‌का मन्दिर नहीं होगा, जहाँ श्रीहनुमान्‌जीकी प्रतिमा न हो। भगवान् श्रीरामकी आवरण-पूजा भी हनुमान्‌जीको बिना पूजे सम्पूर्ण नहीं मानी जाती। वैसे पृथक् (स्वतन्त्र) रूपसे भी मन्दिरोंमें एकमात्र इन्हींकी पूजा होती है। हमारे देशमें तो सम्भवतः प्रत्येक कूप (कुआँ) खननके समय सर्वप्रथम हनुमान्‌जीकी स्थापना करके तथा बजरंगबलीकी जयका उच्चारण करके ही कार्यारम्भ किया जाता है। किसकी शक्ति है जो इनके मन्दिरों, मूर्तियोंकी संख्या बता सके। यदि वास्तविकरूपसे सच कहा जाय तो श्रीराम भगवान्‌से भी अधिकरूपमें प्रत्यक्ष देव श्रीहनुमान्‌जीकी पूजा-उपासना होती है। जो घोर नास्तिक हैं, वे भी हनुमान्‌जीके अस्तित्वको अस्वीकार करते घबराते हैं।

वैसे तो ये साक्षात् रुद्रावतार होनेके नाते श्रीरामोपासनाके परमाचार्य हैं। इनकी कृपा बिना श्रीरामकी उपासनामें किसीको अन्तरङ्गता प्राप्त नहीं हो सकती। रामभक्तिके तो ये भण्डारी एवं संरक्षक ठहरे। यथा—

होइ अकाम जो छल तजि सेइहि। भगति मोरि तेहि संकर देइहि॥
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥
(मानस, लंका० बाल०)

राम दुआरे तुम रखवारे। होत न आज्ञा बिनु पैसारे॥
(हनु० चा० २१)

दूसरे, गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजके कथनानुसार इनकी सेवामें कोई विशेष प्रयास करना नहीं पड़ता। ये गुणगान करने, नमस्कार करने, स्मरण करने तथा नाम जपने मात्रसे प्रसन्न होकर सेवकोंका अभीष्ट हितसाधन सम्पन्न करनेको सदैव तत्पर रहते हैं। यथा—

कह तुलसिदास सेवत सुलभ, सेवक हित संतत निकट।
गुन गनत, नमत सुमिरत, जपत, समन-सकल संकट बिकट॥
(हनु० बाहुक १)

'जिसके हृदयमें इनकी विकराल मूर्ति निवास कर लेती है, स्वप्नमें भी उसकी छायाके पास भी संताप-पाप निकट नहीं आ सकते।' यथा—

कह तुलसिदास बस जासु उर, मारुत सुत मूरति बिकट।
संताप पाप तेहि पुरुष पहि, सपनेहुँ नहिं आवत निकट॥
(हनु० बा० २)

वैसे इनमें त्रिदेवोंका सामर्थ्य विद्यमान है। यथा—

रचिबेको बिधि जैसे, पालिबे को हरि, हर
मीच मारिबे को, ज्याइबे को सुधापान भो॥
(हनुमानबाहुक ११)

यदि हमारे चरित्रनायक पवनपूत अंजनिकुमार, केसरीकिशोरमें ऐसी सामर्थ्य न होती तो भगवान् श्रीरामके सम्पूर्ण कार्योंको सम्पन्न कौन करता? यथा—

तेरे बल रामराज किये सब सुरकाज
सकल समाज साज साजे रघुबर के॥
(हनु० बा० ३३)

सब पर राम तपस्वी राजा। तिनके काज सकल तुम साजा॥
(हनु० चा०)

जिसको एकमात्र हनुमान्‌जीकी गति (भरोसा) है उसके ऊपर शिव-पार्वती तथा राम, लक्ष्मण, जानकीजी सभी सदैव अनुकूल रहते हैं। यथा—

जाके गति है हनुमान की।
ताकी पैज पूजि आई यह रेखा कुलिस पषान की॥
× × ×
तापर सानुकूल गिरिजा हर लखन राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा बिलोकनि खानि सकल कल्यान की॥
(विनय० ३०)

जिसको सब प्रकारसे श्रीहनुमंतलालका ही भरोसा है, उसकी ओर क्रूर दृष्टिसे देखनेका किसमें सामर्थ्य है? उनके उथले (बिगाड़े हुए) को बनानेमें महेश भी समर्थ नहीं हैं। स्वर्गका स्वामी देवराज इन्द्र भी इनके चरणोंमें माथा रगड़ता फिरता है। यथा—

ताकिहै तमकि ताकी ओर को?
जाके है सब भाँति भरोसो, कपि केसरी किसोर को॥
(विनय० ३१)

तेरे थपे उथपै न महेस, थपै थिर को कपि जे घर घाले॥
(हनु० बा० १७)

सानुकूल सूल पानि, नवै नाथ नाक को,
देवी देव दानव दयावने ह्वै जोड़ै हाथ।
बापुरे बराक कहा राजा और राँक को?
(हनु० बा० १२)

राक्षसराज लंकाधिपति त्रिलोकविजयी रावणने बालिकुमार श्रीअंगदजीके सामने राजदरबारमें भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण, सुग्रीव, स्वयं अंगद, जाम्बवन्त, विभीषण, नल, नील किसी भी योद्धाको अपनेसे भिड़नेमें समर्थ नहीं मानकर भी स्वयं अपने मुखसे कहा था—

'है कपि एक महा बल सीला।' 'आवा प्रथम नगरु जेहिं जारा॥'
(मानस, लंका०)

इन्द्रजीत मेघनाद भी इनका मुकाबला करनेसे डर खाता था। यथा—

'बार बार पचार हनुमाना। निकट न आव मरमु सो जाना॥'
(मानस, लंका०)

एक स्थानपर तो भगवान्‌की प्रतिष्ठा भी इन्हींके कारण हुई थी—

'है दससीस मनुज रघुनायक। जाके हनूमान से पायक॥'
(मानस, लंका०)

इन्होंने भगवान् श्रीरामकी इतनी सेवा की थी कि जिसकी कोई सीमा नहीं बतायी जा सकती। स्वयं भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु कपि तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
(मानस, सुन्दर०)

इसी प्रकार भगवती जानकीजी एवं भरतजी भी इनके ऋणी ही रह गये—

अति हरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।
का देउँ तोहि त्रैलोक महुँ कपि किमपि नहिं बानी समा॥
(मानस, लंका० १०७)

बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥

नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही ॥
(मानस, उत्तर०)

अस्तु, आज भी प्रत्यक्ष है कि शासन-अधिकारीवर्ग, एवं राजा-महाराजा तथा सम्पन्न लोगोंके पास, द्वारपाल या मन्त्री-सलाहकारकी अनुमतिके बिना न तो कोई जा ही सकता है और न अपना अभीष्ट कार्य सम्पन्न करा सकता है। आप तो श्रीराम भगवान्‌के सभी कुछ हैं। अतः इनकी कृपा बिना श्रीराम-दर्शन प्राप्त करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? श्रीसुग्रीवजी, विभीषणजी तथा गोस्वामी तुलसीदासजीको भी इन्हींकी कृपा, सलाहके कारण श्रीरामजीकी प्राप्ति हो सकी थी। यथा—

तुम उपकार सुग्रीवहि कीन्हा। राम मिलाय राज पद दीन्हा॥
तुम्हरो मंत्र बिभीषन माना। लंकेस्वर भए सब जग जाना॥
(हनुमानचालीसा)

अतः श्रीरामोपासकोंको सर्वप्रथम अनुष्ठानप्रकाश, मन्त्रमहोदधि, मन्त्र-महार्णव, मन्त्र-संग्रह तथा श्रीहनुमदुपासनाकल्पद्रुम आदिके अनुसार योग्य अधिकारी गुरुद्वारा मन्त्र-पूजा-विधान जानकर भगवत्प्राप्ति-हेतु श्रीहनुमत्-उपासना करना अनिवार्य है ।

'जै जै जै हनुमान गोसाँईं। कृपा करहु गुरु देव की नाईं॥'
(हनुमानचालीसा)

नया संसार

(रचयिता—प्राचार्य श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)

एक नया संसार बसा ले, एक नया सुन्दर संसार।

(१)

जहाँ न ईर्ष्या-राग-द्वेष हो, जहाँ न मायाका अभिसार।
अहंकार-पाखंड-स्वार्थका जहाँ न हो कुछ भी संचार॥
जहाँ न उठता यौवन-सरितामें पशुताका विषमय ज्वार।
जहाँ न दानवता करती है छिपकर मानवता-संहार॥
जहाँ न जीवन कलुषित हो, मादक हृद्वीणाकी झंकार।
वहीं बना ले ज्ञान-रश्मिसे एक नया मधुमय संसार॥

(२)

जहाँ प्रेमका अटल राज है इस अज्ञात सिन्धुके पार।
कर्म-ज्ञान-सुरभित-सुमनोंका स्वर्ण-सूत्रमें गूँथा हार॥
भक्ति-प्रपत्ति-त्याग-सेवाका लहराता है उज्ज्वल धार।
जहाँ विषय-वासना सर्पिणी करती नहीं विषम फुफकार॥
जहाँ समझते मानवको मानव अपना बान्धव-परिवार।
वहीं बना ले मनमोहनके निकट एक नूतन संसार॥

(३)

श्रीदेवीकी स्वर्ण-रश्मिसे आलोकित मणि-मण्डप-द्वार।
मानवताकी विजय जहाँ है, भाष्यकारकी जय-जयकार॥
उपनिषदोंका, ब्रह्म-सूत्रका, गीताका होता गुंजार।
जहाँ न घर है रोग-गरीबीका कंटकमय कारागार॥
शरणागत-वत्सल चरणोंकी अमर ज्योतिकी झलक अपार।
प्रियतम-पद-जलसे प्रक्षालित एक बना अनुपम संसार॥

(४)

श्रीभागवत-धर्मका झंडा जहाँ सदा फहराता है।
सत्य-अहिंसा-सदाचारका उदधि जहाँ लहराता है॥
जहाँ न जीवनमें दानवताकी छाया दिखलाती है।
जहाँ अविद्या जीवन-रसका पान नहीं कर पाती है।
आर्य, सनातन, वैदिक, पावन मोक्ष-धर्मका है आधार।
एक नया संसार बना ले भगवत्सेवाका आगार।

(५)

शरणागत हैं सब नर-नारी, सब करते भगवद्गुण-गान।
करते हैं कैंकर्य सभी, रखते हैं श्रीचरणोंका ध्यान।
दिव्य प्रबन्धोंका चिन्तन ही नरका है उद्देश्य महान।
प्रतिदिन होता गायत्रीका, पुरुष-सूक्तका अनुसंधान।
रंगनाथके पद-परागसे सुरभित चलती मधुर बयार।
भगवत्सेवासे धवलीकृत एक बना अभिनव संसार।

(६)

जहाँ समझते सभी नागरिक, गगन बरसता मंगल-नीर।
हरि-मन्दिर है नर-नारीका पावन सेवा-योग्य शरीर।
ईश्वर-अंश जीव हैं जिनमें, वे सब हैं ईश्वरके रूप।
उनकी सेवा ही भगवत्सेवाका है आधार अनूप॥
'सीय राममय सब जग जानी,' सबको सब करते हैं प्यार।
करना है निर्माण वहींपर एक नया अद्भुत संसार॥

(७)

जहाँ न करता मतवाला हो जालिम सबल असुर चीत्कार।
अबला नारी और गरीबोंपर, दुर्बलपर अत्याचार॥
नव संवत्‌के नव प्रभातमें नव किरणोंका ले उपहार।
उपासनाके रजत-तारमें नव प्रसूनका रस-संचार॥
श्रीमन्नारायण-चरणोंसे ज्योति निकलती बारंबार।
वहीं बना ले मधुमय सुन्दर एक नया सुरभित संसार॥

श्रीमद्भगवद्गीता-अनुष्ठान

(अयोध्याधामके प्रसिद्ध साकेतवासी संत पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराजके द्वारा लिखित—संशोधनके साथ)

श्रीमद्भगवद्गीता सुप्रसिद्ध धार्मिक—आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यह साक्षात् भगवान्‌की दिव्य वाणी है। भगवान् श्रीशंकराचार्यजी, स्वामी श्रीरामानुजाचार्यजी, स्वामी श्रीनिम्बार्काचार्यजी तथा स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी प्रभृति सभी आचार्य महानुभावोंने इसको वेदान्तकी प्रस्थानत्रयीमें माना है और अपनी-अपनी अनुभूतिके अनुसार इसपर व्याख्या-टीका आदि प्रस्तुत की है। गीता मन्त्रमयी है। इसके दिव्य श्लोकोंके अनुष्ठान अमोघ फलप्रद हैं। मेरा स्वयं अनुभव है। उन अनुष्ठानके मन्त्रोंमेंसे कुछ सविधि नीचे लिखे जा रहे हैं। किन्हीं महानुभावने कहा है—

'यंत्र मंत्र सगुनौती जेती। गीता महँ जानौ सब तेती॥'

नीचे जो मन्त्र लिखे जाते हैं, उनमेंसे जिसका अनुष्ठान करना हो, उसके पहले तीन हजार जप कर ले—इससे वह सदाके लिये सिद्ध हो जाता है। फिर चाहे जब, चाहे जितनी बार उसका अनुष्ठान किया जा सकता है। अनुष्ठानमें साधककी धारणा, श्रद्धा और पवित्रता अपेक्षित है। साधक जितना ही अधिक श्रद्धावान् और पवित्र धारणायुक्त होगा, उतना ही शीघ्र या विलम्बसे उसे अनुभव होगा।

इसके साथ एक गीता-यन्त्र दिया जाता है, उसका पूजन करके मन्त्रसिद्ध और मन्त्र-जप करनेसे विशेष फल-लाभ होता है। यन्त्रका अलग भी अनुष्ठान किया जाता है। इसपर अन्तमें लिखा जायगा।

मन्त्र

(१) कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
(गीता २। ७)

मनमें किसी विषयका कोई प्रश्न हो या किसी सद्वस्तुको प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा हो, तो उपर्युक्त श्लोकका—देवशयनी (आषाढ़ शुक्ल ११) एकादशीसे प्रारम्भकर देवोत्थानी (कार्तिक शुक्ल ११) एकादशी तक प्रत्येक एकादशीको रात्रिके समय पवित्र वस्त्र धारणकर तथा पवित्र शय्यापर बैठकर मनमें श्रद्धायुक्त गुरुभावसे भगवान्‌का स्मरण करते हुए १०८ बार पाठ करे। ऐसा करनेपर किसी भी एकादशीको स्वप्नमें भगवान् प्रकट होकर उसके प्रश्नका उत्तर देंगे, साधन बतायेंगे या किसी ऐसे व्यक्तिका नाम बतायेंगे—जिसके पास जानेसे प्रश्नका उत्तर मिले या अभीष्टकी सिद्धि हो।

(२) स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥
(गीता ११। ३६)

इस श्लोकके द्वारा जलको या विभूतिको अभिमन्त्रित करके पिला देनेसे भूत-प्रेत-बाधाका निवारण होता है। रोगीको देनेसे रोगनाश होता है। गौ आदि पशु किसी रोगसे पीड़ित हो तो एक लोटा जल इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित करके सानीके साथ मिलाकर या ऐसे ही पिला देनेसे पशु रोगमुक्त हो जाता है।

(३) त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥
(गीता ११। ३८)

इस श्लोकसे झाड़ देनेपर भी प्रेत-बाधाका निवारण होता है। कुशसे या नीमकी डालीसे झाड़ना चाहिये।

(४) वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥
(गीता ११। ३९)

इस श्लोकके प्रतिदिन कम-से-कम १०८ बार जप करनेसे दरिद्रता दूर होती है।

(५) नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥
(गीता ११। ४०)

इस श्लोकके प्रतिदिन कम-से-कम १०८ बार जप करनेसे लक्ष्मीकी वृद्धि और कार्यकी सिद्धि होती है।

(६) यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।

एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥
(गीता ११ । ४२)

इसके अनुष्ठानसे नाराज हुए पुरुष प्रसन्न हो जाते हैं।

(७) पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥
(गीता ११ । ४३)

इसके अनुष्ठानसे ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है।

(८) तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥
(गीता ११ । ४४, ४६)

इन दो श्लोकोंके अनुष्ठानसे बड़े-से-बड़ा अपराध क्षमा हो जाता है।

(९) अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देवरूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥
(गीता ११ । ४५)

इस श्लोकके अनुष्ठानसे भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

(१०) न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपंघोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥
(११ । ४८—५०)

इन तीन श्लोकोंके अनुष्ठानसे भगवान्की प्रसन्नता और उनके दर्शन प्राप्त होते हैं।

(११) नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
(११ । ५३)

इसके अनुष्ठानसे भगवान्की परम प्रसन्नता होती है।

ऊपर तीन हजार जप करके मन्त्र सिद्ध करनेकी बात लिखी गयी है। तीन हजार जापके आदि-अन्तमें समग्र गीताका पाठ और मध्यमें ११वें अध्यायके ११ पाठ ९ दिनोंतक कर लेनेसे विशेष सिद्धि होती है।

कुछ और प्रयोग

गीताके पंद्रहवें अध्यायका भोजन करनेसे पूर्व पूरा पाठ कर लिया जाय, उसके बाद भोजन किया जाय तो दारिद्र्यका नाश और सर्वसमृद्धिका लाभ होता है।

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥
(६ । २५-२६)

इन दोनों श्लोकोंके अनुष्ठानसे सर्वकार्य सिद्ध होते हैं।

परमार्थनिष्ठ साधकोंके लिये तो गीता परम अक्षय अनुपम धन है ही, सकाम भावसे अनुष्ठान करनेवालोंके लिये भी वह दिव्य कल्पवृक्षके समान है।

ताम्र (ताँबे) के पतरेपर एक षट्कोण यन्त्र खुदवा लिया जाय अथवा काष्ठपीठपर चन्दनसे प्रतिदिन लिखकर पूजा किया जाय। षट्कोण-यन्त्रके बीचमें 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'—यह द्वादशाक्षर मन्त्र लिखे और षट्कोणके एक कोनेमें 'अर्जुनाय नमः', दूसरेमें 'भीष्माय नमः', तीसरेमें 'युधिष्ठिराय नमः', चौथेमें 'द्रोणाचार्याय नमः', पाँचवेंमें 'व्यासाय नमः', और छठेमें 'संजयाय नमः' लिखा जाय। इस चक्रके बाहरी भागको बारह ॐकार लिखकर घेर दिया जाय। तदनन्तर अर्घ्य, पाद्य, आचमन, स्नान, चन्दन, तुलसी, पुष्पादि; धूप, दीप, नैवेद्य, शुद्धाचमन तथा ताम्बूलादि अर्पण करके नौ दिनोंतक गीताका पाठ भक्ति-श्रद्धापूर्वक किया जाय। इससे सर्व कार्योंकी सिद्धि होती है।

॥ द्वादशाक्षरात्मक श्रीविष्णुमन्त्रयन्त्रम् ॥

वज्र इन्द्र

पद्म ब्रह्मा

त्रिशूल ईशान

शक्ति अग्नि

त्रिविक्रम

वामन

मधुसूदन

प्रद्युम्न

सरस्वती

श्रीधर

विष्णु

श्री

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

गोविन्द

संकर्षण

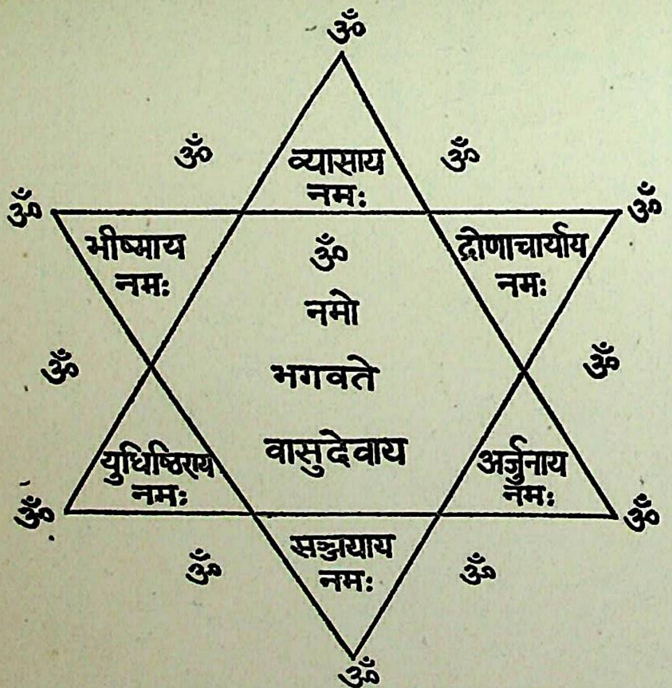
अनिरुद्ध

हृषीकेश

गदा कुबेर

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

[पृष्ठ २९३-२९४



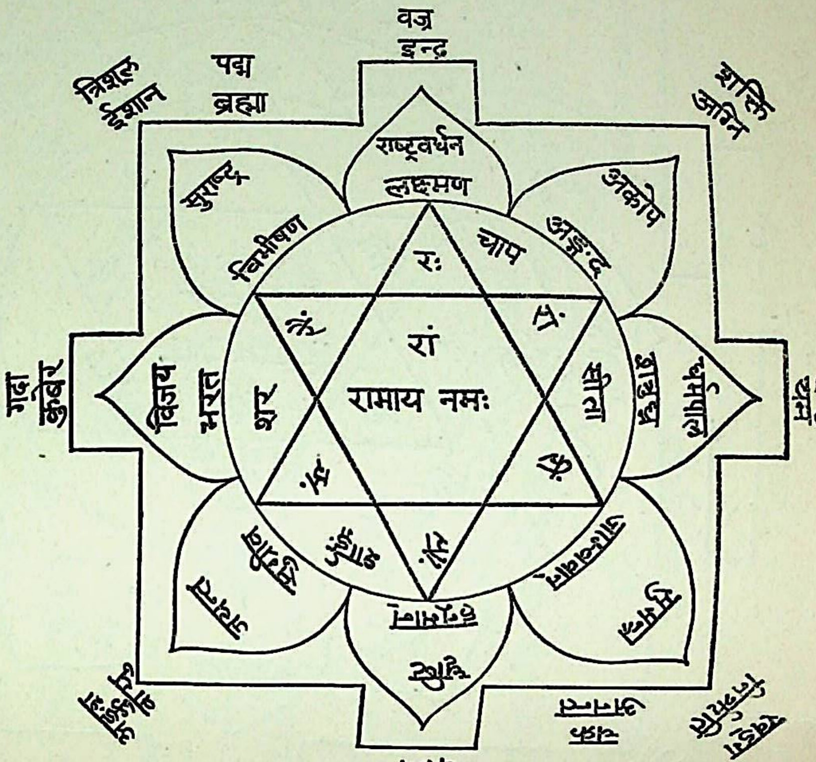
गीता-यन्त्र [पृष्ठ ३६८

क्लीं

गो ह्रीं श्रीं

मम
अमुकं कार्यं
क्लीं
साधय साधय

अथ
॥ षड्वर्णात्मकश्रीराममन्त्रयन्त्रम् ॥



ज्ञान-यज्ञ

श्रीमद्भगवद्गीता-पाठ-विधि

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः । ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ (१८।७०) (भगवान् श्रीकृष्ण)

अध्याय	विषय	श्लोक-संख्या	साप्ताहिक क्रम	त्र्यहिक क्रम	द्व्यहिक क्रम	नैत्यिक क्रम
१	अर्जुनविषादयोग	४७	प्रथम दिन	प्रथम दिन २३३	प्रथम दिन ३७२	नित्य तन्मय होकर भलीभाँति उच्चारण करके पाठ करनेसे सम्पूर्ण गीताके ७०० श्लोकोंका पाठ लगभग २ घंटेमें पूरा होता है ।
२	सांख्ययोग	७२	११९			
३	कर्मयोग	४३	द्वितीय दिन			
४	ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	४२	११४			
५	कर्मसंन्यासयोग	२९				
६	आत्मसंयमयोग	४७	तृतीय दिन	द्वितीय दिन २३६		
७	ज्ञानविज्ञानयोग	३०	१०५			
८	अक्षरब्रह्मयोग	२८				
९	राजविद्याराजगुह्ययोग	३४	चतुर्थ दिन			
१०	विभूतियोग	४२	७६		द्वितीय दिन ३२८	
११	विश्वरूपदर्शनयोग	५५	पञ्चम दिन	तृतीय दिन २३१		
१२	भक्तियोग	२०	१०९			
१३	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग	३४				
१४	गुणत्रयविभागयोग	२७	षष्ठ दिन			
१५	पुरुषोत्तमयोग	२०	७१			
१६	दैवासुरसम्पद्विभागयोग	२४				
१७	श्रद्धात्रयविभागयोग	२८	सप्तम दिन			
१८	मोक्षसंन्यासयोग	७८	१०६			
		७००	७००	७००	७००	७००

उक्त चारों क्रमोंमेंसे यथावकाश किसी भी क्रमको लेकर प्रत्येक गीताप्रेमीको नित्य गीतापाठ अवश्य करना चाहिये

शिवोपासनाके विभिन्न स्तर

(लेखक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी)

उपासनामें उपासक और उपास्य—दो मुख्य अङ्ग होते हैं; परंतु उपास्यको जाने बिना उपासना नहीं हो सकती। अतएव गुरुकी आवश्यकता पड़ती है, जो उपास्यका परिचय प्रदान करता है। इसी कारण उपासकके जीवनमें गुरुका स्थान सर्वोच्च है। संत कबीरदासजीने ठीक ही लिखा है—

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दिया बताय॥

'गुरु' शब्दकी व्युत्पत्तिसे गुरुतत्त्वके विषयमें मौलिक जानकारी प्राप्त होती है। 'गॄ' धातुसे 'कु' और 'उत्' प्रत्यय लगनेसे 'गुरु' शब्द निष्पन्न होता है। अतएव गिरत्यज्ञानमिति गुरुः अथवा गृणाति उपदिशति धर्मं वा गुरुः—अर्थात् जो अज्ञानको नष्ट कर देता है, अथवा ज्ञानका प्रकाश प्रदान करता है; वह गुरु है, तथा जो धर्मका उपदेश करता है, धर्मकी बातें करता है। वह गुरु है। अतएव गोसाँईजीने मानसमें जिन गुरुओंको लक्ष्य करके लिखा है—

हरे सिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महुँ परई॥

जो गुरु शिष्यसे दान-दक्षिणा, गुरुपूजा आदिके बहाने धन तो लेते हैं, पर उसके शोकको, मोह-अज्ञानको नष्ट नहीं करते, वे घोर नरकमें पड़ते हैं। ऐसे लोगोंको गुरु कहना ही अपराध है। उनके फेरमें पड़कर शिष्य तो ठगा जाता है और वे नरकगामी होते हैं। उपासकको तो संत कबीरदासने जैसे गुरुके विषयमें लिखा है—वैसा गुरु चाहिये जो गोविन्दको बता दे। वस्तुतः—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

ब्रह्माजी गुरु हैं; क्योंकि उन्होंने चारों वेदोंकी सृष्टि करके मानवके अज्ञानके नाशके लिये अक्षय ज्ञानका प्रकाश किया है। विष्णु भगवान् गुरु हैं, जो प्राणीमात्रके हृदयमें वास करके उसे निरन्तर सत्-असत्का ज्ञान दे रहे हैं, धर्माचरण करने और अधर्मसे बचनेकी चेतावनी दे रहे हैं। महेश्वर शंकरजी गुरु हैं—

'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।'

(योगसूत्र १। २६)

वे सारे तन्त्रशास्त्र, सब प्रकारकी उपासना-पद्धतिके उपदेष्टा हैं। काशीमें अन्तकालमें प्राणीके कानमें तारक मन्त्रका उपदेश देते हैं। परब्रह्म साक्षात् गुरु हैं, जो एक होकर अनेक हो रहे हैं। जो सर्वरूप हैं, वही साक्षात् गुरु हैं। अर्थात् इन महान् तत्त्व-स्वरूपोंको अपनी रुचिके अनुसार परम गुरु मानकर अथवा अखिल विश्वमें सर्वत्र जहाँ जो ज्ञानी, साधक, सिद्ध, महात्मा मिलें, उनको गुरु मानकर उनकी वाणीसे उपदेश ग्रहण कर जीवनको उपासनामय बनाना उपासकका लक्ष्य होना चाहिये।

शिवोपासनाके विषयमें भी यही बात है। वेदादि शास्त्रोंमें, शैव-पुराणोंमें, काव्यादि ग्रन्थोंमें शिव-तत्त्व या शिव-लीलाका अध्ययन करके या श्रवण करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। अन्तःकरणमें विराजमान होकर विष्णु भगवान् जो धर्माधर्मका संकेत देकर अधर्मसे दूर रहने और धर्मपर आरूढ़ होनेका संकेत करते हैं, उसपर ध्यान देकर तदनुसार आचरण करना चाहिये। तब शिवोपासनाके लिये मनुष्य अधिकारी बन सकता है। अन्तःकरणकी शुद्धि उपासनाका मुख्य आधार होना चाहिये। बाहरसे उपासनाका क्रियाकलाप और अन्तःकरणमें दोषचिन्तन, यह उपासना नहीं, केवल विडम्बना है। भगवान् श्रीकृष्णने इसको मिथ्याचार कहा है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३। ६)

अतएव उपासकको बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। उपासकको तपस्वी बनना पड़ेगा, तभी उसका जीवन सार्थक होगा। उपासनामें ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—इन तीनोंका एकत्र समावेश होता है। निरन्तर उपास्यतत्त्वके ज्ञानार्जनमें लगे रहना, उपास्यतत्त्वका भजन, गुण-कीर्तन करते रहना और उपास्यकी सेवामें अपने कर्ममय जीवनको लगाये रखना, यही उपासकका जीवनालोक है। वह इसी आलोकमें विचरण करके अपने उपासनामय जीवनको कृतार्थ करता है।

उपासनामें ज्ञानयोग उपासकको क्रमशः ऊँची भूमिकामें आरोहण करनेमें सहायता करता है। प्रारम्भमें शिवोपासक आर्त्तभावसे ही शिव-मन्दिरमें जाता है; व्याकुल चित्तसे अपना दुखड़ा रोता है। तत्पश्चात् उसे यह देखकर आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता कि करुणासिन्धु शिवजीने उसकी प्रार्थनाके पहलेसे ही उसके अभावकी पूर्तिका प्रबन्ध कर दिया है। यहींसे वह भगवान् शिवकी करुणामें श्रद्धावान् होता है। वह जान जाता है कि भगवान् सचमुच 'आशुतोष' हैं। वे हमारे सब अभावको दूर कर देंगे, इस अगम भवसागरसे पार लगा देंगे।

भालमें जाके कलाधर हैं सोइ साहेब ताप हमारो हरैगो।
अंगमें जाके विभूति भरे रहै भौनमें संपति भूरि भरैगो॥
घातक जो है मनोभवको मन पातक वाहींक जारै जरैगो।
दास जु सीस पै गंग धरे रहै वाकी कृपा कहु को न तरैगो॥

यही है आर्त्तभावके उपासकके जीवनका संबल। इसमें उपासक उपास्यके सामने दासभावसे उपस्थित होता है। 'दासोऽस्मि' ही शिवोपासनाका प्रथम स्तर है। इसमें भाव प्रमुखरूपसे यह होता है कि भगवान् शिव कल्याण करनेवाले हैं, आशुतोष हैं, उनके समान दानी कोई नहीं है। उनके दरबारसे खाली हाथ लौटना नहीं पड़ता। गोसाईंजीने इसीलिये विनयपत्रिका (४) में कहा है—

दानी कहुँ संकर सम नाहीं।
दीन दयालु दिबोई भावै जाचक सदा सोहाहीं॥

इस दास्यभावकी उपासनामें शिवलिङ्ग ही मुख्य आधार होता है। साधारण अक्षत, बेलपत्र, गङ्गाजलके द्वारा ही अर्चना करनेसे भगवान् आशुतोष प्रसन्न हो जाते हैं। एक उपासक कविने तो यहाँतक कह दिया है—

मूर्त्तिर्मृदा बिल्वदलेन पूजा-
प्रयाससाध्यं वदनं च वाद्यम्।
फलं तु तद्यन्मनसाभिकाङ्क्ष्यं
निःश्वस्य विश्वेश्वर एव देवे॥

'मृत्तिकाका शिवलिङ्ग बना लें, बेलपत्रसे पूजा कर लें, ये दोनों सामग्री बिना प्रयासके ही मिल जायगी। पूजा करनेके बाद मुँहसे बाजा बजा लीजिये; किसी दूसरे वाद्यकी आवश्यकता नहीं है। और इसका फल? आपकी मनःकामना पूर्ण हो जायगी। निश्चय ही देवता हो तो ऐसा हो।' किंतु परम शिवभक्त श्रीनीलकण्ठ दीक्षित कहते हैं—

अर्चामीति धिया यदेव कुसुमं क्षिप्त्वा जनो मुच्यते
विध्यामीति धिया तदेव विकिरन् भस्मीकृतो मन्मथः।
इत्याभ्यन्तरवृत्तिमात्ररसिको बाह्यानपेक्षश्च यः
स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नापि नाम्नायते॥

उपासक शिवजीको पुष्प जब इस बुद्धिसे अर्पित करता है कि 'मैं भगवान्‌की पूजा करता हूँ' तो उसको भगवान् मोक्ष प्रदान करते हैं। परंतु कामदेवने उसी पुष्पको बाण बनाकर शिवजीको बींधना चाहा और फल यह हुआ कि वह भस्म हो गया—भगवान्‌की कोपाग्निसे। स्पष्ट है कि भगवान् बाह्य आडम्बर नहीं देखते, वे तो आभ्यन्तर वृत्तिके ही रसिक हैं।' अतएव उपासनाके इस स्तरमें आभ्यन्तर वृत्तिकी प्रधानता है। इसको ठीक रखकर ही उपास्यके सम्मुख होना चाहिये।

उपासनाके दूसरे स्तरमें जिज्ञासा होती है—यह शिवलिङ्ग है क्या? जिसकी पूजासे मनोवाञ्छित फल प्राप्त होता है। सत्सङ्गके द्वारा अथवा शास्त्रोंके द्वारा ज्ञात होता है कि शिवलिङ्गमें शिवकी प्रतीकोपासना होती है। प्रकृति और पुरुषकी शिवलिङ्गके द्वारा अभिव्यक्ति होती है। विश्व और उसकी सारी लीला प्रकृतिका कार्य है। पुरुष इससे ऊर्ध्व देशमें स्थित है, वह कूटस्थ है, द्रष्टामात्र है। श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में लिखा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
(४। १०)

'माया प्रकृति है, मायी शंकरजी हैं। इन्हीं दोनोंके अवयवरूपमें अखिल विश्व व्याप्त है' सारांश यह है कि यही दो तत्त्व सर्व हैं। शर्व शिवजीका एक नाम है। अर्थात् शिवजीके अतिरिक्त कुछ नहीं है, वही ब्रह्म हैं और प्रकृति-पुरुष अर्थात् अर्द्धनारीश्वररूपमें अभिव्यक्त हैं।

प्रकृतिकी यह लीला क्यों हो रही है? इस प्रश्नका उत्तर सांख्यशास्त्र देता है—

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
(सांख्यकारिका ५९)

'जिस प्रकार दर्शकोंको अभिनय दिखलाकर नर्तकी रङ्गभूमिसे तिरोहित हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृति अपने-

आपको पुरुषके सामने व्यक्त करके तिरोहित हो जाती है। तब केवल पुरुष रह जाता है। यही पुरुषका कैवल्य है। इस प्रकार पुरुषके चरम कल्याण-साधनमें प्रकृति ही प्रधान है। इसी कारण प्रकृतिका 'प्रधान' नाम भी । यही प्रकृति देवी, जिनकी सारी रासलीला पुरुषके लिये, श्रीकृष्णको रिझानेके लिये है, श्रीकृष्णको रिझानेके सिवा जिनको और कोई कार्य, और कोई जीवनका उद्देश्य है ही नहीं, सर्वाराध्या हैं। यही भवानी हैं। यही राधा । शिवतत्त्वके ज्ञानके लिये अथवा आत्मज्ञानके लिये इनके शरणापन्न हुए विना कल्याण नहीं।'

अर्द्धनारीश्वर-तत्त्वकी अभिव्यक्ति शिवलिङ्गके द्वारा होती है। तब उपासक समझता है—'तवैवाहं' अर्थात् 'हे प्रभु! मैं तुम्हारा हूँ।'

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥
(शिवमानसपूजा)

जब आत्माके अतिरिक्त जो कुछ है, वह प्रकृतिकी लीला है और वह आत्माकी आराधनाके लिये है तो 'हे प्रभु! तुम आत्मा हो। यह बुद्धि गिरिजा है, मेरे प्राण तुम्हारे सहचर हैं, गण । यह शरीर तुम्हारा मन्दिर है। ये नाना प्रकारके विषयोंके उपभोग पूजा हैं। इस पूजासे प्रभो! प्रसन्न हो जाओ, यह निद्रा आत्म-समाधि है। जो-जो कर्म मेरे जीवनमें हो रहे हैं, हे शम्भो! ये सब-के-सब तुम्हारी आराधनाके लिये हैं।'

यह स्पष्ट है कि इस दूसरे स्तरमें उपासना बहिर्मुख न रहकर अन्त' हो जाती है। इसी उपासनामें मानसिक पूजा होती है—

रत्नैः कल्पितमासनं हिमजलैः स्नानं च दिव्याम्बरं
नानारत्नविभूषितं मृगमदामोदाङ्कितं चन्दनम्।
जातीचम्पकबिल्वपत्ररचितं पुष्पं च धूपं तथा
दीपं देव दयानिधे पशुपते हृत्कल्पितं गृह्यताम्॥
(शिवमानस० १)

प्रकृति जब अव्यक्तसे व्यक्तावस्थामें आती है तो वह महान् अर्थात् बुद्धिरूपमें परिणमित होती है। अतएव बुद्धिके द्वारा की जानेवाली इस उपासनाकी महान् महिमा है। 'हे देव! हे दयानिधे! हे पशुपते! रत्नजटित आसन मैंने लगा दिया; इसपर आप पधारिये। यह हिमजल (गङ्गोत्रीका जल) है— स्नान कीजिये। ये नाना रत्नोंसे विभूषित दिव्य वस्त्र हैं—धारण कीजिये। कस्तूरीके आमोदसे युक्त यह चन्दनलेप स्वीकार कीजिये। इन जाती-चम्पकादि पुष्प तथा बिल्वदलसे सुसज्जित होइये। यह धूप-दीपादि ग्रहणकर प्रसन्न होइये—ये सब हृत्कल्पित हैं। यह मेरी मानसिक पूजा है।'

मानस-पूजामें हृदयमें ज्योतिर्लिङ्गका ध्यान करके यह पूजा की जाती है। सबके हृदयमें ज्योतिरूपसे वे प्रभु नित्य स्थित हैं; उनकी स्थितिसे ही सब कुछ प्रकाशित हो रहा है। उस प्रकाशमें ही प्रकृतिकी लीला हो रही है, यह सारा जीवन-व्यवहार चल रहा है। इसी आत्मज्योतिके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६१-६२)

'हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं। वह माया (प्रकृति) के द्वारा सब प्राणियोंको यन्त्रारूढ़ (शरीरस्थ) करके घुमा रहा है। हे भारत! सर्वतोभावेन तुम उसी महेश्वरके शरणापन्न हो जाओ, उसकी कृपासे परमशान्ति और शाश्वत स्थानको प्राप्त करोगे।' भगवान्ने आत्मज्योतिके सम्मुख प्रपन्न होनेका ही उपदेश दिया है। 'तवैवाहं' 'मैं तुम्हारा ही हूँ'—यह शरणागति ही उपासनाका दूसरा स्तर है। इसमें केवल बुद्धिके द्वारा ही उपासना होती है। क्षुद्र अहंकारका त्याग किये विना इस उपासनाका अधिकार नहीं प्राप्त होता। अतएव विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने प्रपन्नताके हेतु भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहा है-

आमार माथा नत करे दाओ हे
तोमार चरण धूलार तले।
सकल अहंकार हे आमार
डुबाओ चोखेर जले॥
निजेरे करिते गौरव दान,
निजेरे केवलि करि अपमान,
आपनार शुधु घेरिया घेरिया
घूरे मरि पले पले।

सकल अहंकार हे आमार
डुवाओ चोखेर जले ॥
आमारे येन ना करि प्रचार
आमार आपन काजे;
तोमारि इच्छा करो हे पूर्ण
आमार जीवन माझे।
याचि हे तोमार परम कान्ति,
पराणे तोमार परम शान्ति,
आमारे आड़ाल करिया दाँड़ाओ
हृदयपद्म दले।
सकल अहंकार हे आमार
डुवाओ चोखेर जले ॥

'प्रभो! अपनी चरणधूलिके नीचे मेरे सिरको झुका दो। मेरी आँखोंके आँसुओंमें मेरे सारे अहंकारको डुबा दो। मैं अपनेको गौरव प्रदान करके केवल अपना ही अपमान करता हूँ। केवल अपनेको ही घेर-घेरकर घूमता हुआ मैं कोल्हूके बैलके समान मरता रहता हूँ। हे प्रभु! मेरे सारे अहंकारको मेरी आँखोंके आँसुओंमें डुबा दो। मैं अपने लिये अपना प्रचार न करूँ। हे प्रभु! मेरे जीवनमें तुम अपनी इच्छा पूर्ण करो। मैं तुम्हारी परम कान्तिकी याचना करता हूँ। मेरे प्राणोंको तुम्हारी परम शान्ति मिले। हे प्रभो! मेरे हृदयकमलमें तुम प्रकट होकर मुझे दर्शन दो। मेरी आँखोंके आँसुओंमें मेरे सारे अहंकारको डुबा दो।'

विश्वकविकी यह प्रार्थना उपासनाके दूसरे स्तरकी झाँकी देती है। शरणागतिके मार्गमें अहंकार बारंबार पहाड़ बनकर खड़ा हो जाता है। उपासक प्रसन्न होनेके लिये लालायित है और अहंकार उसको पथभ्रष्ट करके उसके जीवनको बुरी तरह झकझोर देता है। वह व्याकुल और निरुपाय होकर इस अहंकारको नष्ट करनेके लिये प्रभुको पुकारता है। विश्व-कविकी प्रार्थनामें वही पुकार है। आश्वस्त होनेपर उपासक बारंबार प्रभुको आत्मसमर्पण करते हुए कहता है—

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

'जाने-अनजाने जो कुछ शुभाशुभ कर्म मैं कर रहा हूँ, वे सब तुम्हारे द्वारा प्रयुक्त होकर ही करता हूँ, अतएव वे सब तुमको समर्पण है।' वस्तुतः आत्मचैतन्यके प्रकाश-के बिना प्रकृति कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है।

तीसरे स्तरकी उपासना है 'त्वमेवाहम्' अर्थात् मैं तुम ही हूँ। इस स्तरमें उपासक अपनेको उपास्यदेवसे पृथक् नहीं समझता। पुष्पदन्तने महिम्नःस्तोत्रमें लिखा है—

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रतु गिरः
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥
(शिवमहिम्नःस्तोत्र २६)

'तुम्हीं सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, वायु हो, अग्नि हो, जल हो, आकाश हो, पृथ्वी हो और तुम्हीं आत्मा हो। इस प्रकार मेरी वाक्शक्ति तुममें परिच्छिन्न हो जाती है, मैं ऐसा कोई तत्त्व नहीं देखता जो तुम नहीं हो। पञ्चतत्त्व, सूर्य, चन्द्र और आत्मा—यही शिवकी अष्टमूर्ति है। इनमें सबका समावेश हो जाता है, मैं (शरीर-आत्मा सब कुछ) इस अष्टमूर्त्तिसे परिच्छिन्न क्षुद्रातिक्षुद्र अंश अथवा नगण्य, पानीके बुलबुलेके समान पृथक् कोई अस्तित्व नहीं रखता। गोसाईंजीने भी (मानस, उत्तर०में) कहा है—

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी ॥'

वस्तुतः अंशीसे अंश पृथक् नहीं होता। जैसे ईश्वर अविनाशी, चैतन्य, शुद्धस्वरूप, सहजसुखराशि हैं; वैसे ही जीवमें भी स्वभावतः ये गुण हैं। जीव शिव ही है, प्रकृतिके साथ उसकी लीलामें रत होनेके कारण जीव-संज्ञाको प्राप्त होता है।

अतएव शिवकी अष्टमूर्त्तिका चिन्तन करते हुए उपासक जब देखता है कि इस पाञ्चभौतिक शरीरके प्रत्येक अङ्ग (पाँचों तत्त्व), इडा-पिङ्गला (चन्द्र-सूर्य) और आत्मा, यह अष्टमूर्त्ति शिवकी अष्टमूर्त्तिका ही क्षुद्रतम अंश है, तब वह आनन्दातिरेकमें कह उठता है—

महादेव शम्भो गिरीश त्रिशूलिं-
स्त्वदीयं समस्तं विभातीति यस्मात्।
शिवादन्यथा दैवतं नैव जाने
शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

'हे महादेव! हे शम्भो! हे गिरीश! हे त्रिशूली! सब कुछ तो तुम्हारा ही स्वरूप दिखलायी देता है। तुम्हारे सिवा और कुछ मैं नहीं देखता, नहीं जानता। मैं शिव हूँ, शिव मैं हूँ, मैं शिव हूँ, शिव मैं हूँ।' इस प्रकार अहंको लेकर चलनेवाली यह उपासना 'अहंग्रह' उपासना कहलात

है। इस उपासनामें लगा हुआ उपासक न कोई कामना करता है, न कोई स्वप्न देखता है, नितरां सुषुप्ति-स्थानमें स्थित रहता ।

प्रथम स्तरकी उपासनामें शिवलिङ्गमें 'बहिःप्रज्ञ' होकर उपासक स्थित रहता है। द्वितीय स्तरकी उपासनामें 'अन्तः-प्रज्ञ' हो जाता है और तृतीय स्तरकी उपासनामें 'प्रज्ञानघन' हो जाता है। चतुर्थ स्तरकी उपासनाके विषयमें कुछ कहा नहीं जा सकता; क्योंकि उसमें उपासक, उपास्य और उपासनाकी त्रिपुटी नहीं रहती। उपासक उपास्यरूप हो जाता है। शाम्भवी मुद्रामें बैठा हुआ उपासक आँखें खुली रहने-पर भी कुछ देखता नहीं, कानोंसे कुछ सुनता नहीं। वह इन्द्रियातीत अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। उसे कैवल्य-प्राप्ति हो जाती है। वह शिवत्वको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है।

इस लघु निबन्धमें शिवोपासनाको चार स्तरमें विभाजित करनेकी अनधिकार चेष्टा की गयी है। पाठक कृपया क्षमा करेंगे। वस्तुतः शिव अनन्त हैं। उनकी उपासनाके प्रकार अनन्त हैं। उसके स्तर अनन्त हैं। अल्पज्ञ जीवके लिये उसका वर्णन करना सम्भव नहीं। पुष्पदन्तने इसीका संकेत करते हुए कहा है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥
(शिवमहिम्न० ७)

'जिस प्रकार असंख्य नदियाँ समुद्राभिमुख बहती हुई समुद्रमें जाकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार वेदत्रयी, सांख्य, योग, पाशुपतमत, वैष्णव आदि-आदि जितने मत-सम्प्रदाय संसारमें हैं, सब अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सीधे-टेढ़े रास्तेसे शिवकी ही उपासना करते हैं; क्योंकि शिव सर्वमय है, सर्व है, एकमेवाद्वितीय है।'

अन्तमें 'गुरूणां गुरु' श्रीदक्षिणामूर्त्तिकी वन्दना करते हुए इस लेखको समाप्त करते हैं।

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षी कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्त्तये॥
(दक्षिणामूर्तिस्तोत्र १)

शिवतत्त्व और शैवोपासना

तावत्प्रसीद कुरु नः करुणाममन्द-
माक्रन्दमिन्दुधर मर्षय मा विहासीः।
ब्रूहि त्वमेव भगवन् करुणार्णवेन
त्यक्तास्त्वया कमपरं शरणं व्रजामः॥
(स्तुतिकुसुमाञ्जलि)

भगवान् एक ही हैं। लीलाभेदसे उन्हींके अनेकों दिव्य नाम-रूप हैं। साधक अपनी-अपनी प्रकृति और रुचिके अनुसार किसी भी नाम-रूपकी उपासना करके भगवान्को प्राप्त कर सकता है। भारतवर्षके ऋषि-मुनियोंने जैसे भगवान् विष्णुकी आराधना की है, वैसे ही भगवान् शिवकी की है और यह सिद्ध कर दिया है कि एक ही परम तत्त्व इन दो रूपोंमें प्रकाशित है। जिस प्रकार भगवान् विष्णु परब्रह्म, सर्वव्यापी, सृष्टिकर्ता, साकार, सगुण भगवान् हैं, वैसे ही भगवान् शिव हैं। कल्पभेदसे कभी विष्णुस्वरूपकी प्रधानता होती है—कभी शिवस्वरूपकी। वे आप ही एक स्वरूपसे स्रष्टा बनते हैं, दूसरेसे सृष्टि, एक स्वरूपसे उपासक बनते हैं, दूसरेसे उपास्य। आप पूजते हैं और आप ही पुजवाते हैं। यह सारी लीला उनकी महान् रहस्यमयी है।

यजुर्वेदकी माध्यन्दिनीय शाखाके १६वें अध्यायमें शिवजीके निराकार-साकार स्वरूपका स्पष्ट वर्णन है। कैवल्योपनिषद् (७) में कहा है—

तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्॥

'वे आदि, मध्य और अन्तहीन हैं, निराकार हैं, एक हैं, विभु हैं, चिदानन्द हैं, अद्भुत हैं, स्वामी हैं, उमाके साथ रहनेवाले हैं, त्रिनेत्र और नीलकण्ठ हैं, परम शान्त हैं।' इस मन्त्रमें भी भगवान् शिवके निर्गुण-सगुण दोनों स्वरूपोंका वर्णन है।

श्वेताश्वतरमें कहा है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ता-
द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ (६।७)

'वे ईश्वरोंके भी परम महेश्वर, देवताओंके भी परम देवता, पतियोंके भी परम पति, परात्पर, परम पूज्य और भुवनेश्वर हैं।'

शिवपुराणमें कहा गया है—

सत्यं ज्ञानमनन्तश्च चिदानन्द उदाहृतः।
निर्गुणो निरुपाधिश्च निरञ्जनोऽव्ययस्तथा॥
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
तदेव प्रथमं प्रोक्तं ब्रह्मैव शिवसंज्ञितम्॥
(ज्ञान० अ० ७६)

"वे सत्य, ज्ञान और अनन्त हैं, चिदानन्दस्वरूप हैं, निर्गुण, निरुपाधि, निरञ्जन और अविनाशी हैं। मनके सहित वाणी जिनको न पाकर लौट आती है अर्थात् जो मनवाणीकी सीमासे परे हैं, वह ब्रह्म 'शिव' नामसे पहले कहे गये हैं।"

यही शिव—

रुद्रो नाम स विज्ञातो लोकानुग्रहकारकः।
ध्यानार्थं चैव सर्वेषामरूपो रूपवानभूत्॥
स एव च शिवः साक्षाद् भक्तवात्सल्यकारकः।
(शिव० ज्ञान० अ० ७७)

"संसारपर अनुग्रह करनेके लिये 'रुद्र' नामसे जाने जाते हैं। सबके ध्यानमें आनेके लिये इन्होंने अरूप होनेपर भी दिव्यरूप धारण किया। ये भक्तवत्सलरूपधारी (साकार) रुद्र साक्षात् शिव ही हैं।"

इन्हींकी शक्ति माया प्रकृति हैं और ये मायाके अधिपति मायी महेश्वर हैं। इनकी मायाशक्तिके द्वारा इन्हींके अंशभूत जीवोंसे यह अखिल जगत् व्याप्त हो रहा है।

इन महेश्वर और इनकी मायासे ही ये अखिल विश्व है। वे ही उसके परम आधार, स्रष्टा और अभिन्ननिमित्तोपादानकारण हैं। इन्हीं परमपुरुष भगवान्का नाम बहिर्मुखी होनेपर 'अनादि लिङ्ग' है और इन परम शिवको आधार देनेवाली इन्हींकी अनादिशक्ति देवीका नाम 'योनि' है। ये ही दोनों अखिल ब्रह्माण्ड चराचरके परम कारण हैं।

इनके साकार रूप लीलाभेदसे अनेकों प्रकारके हैं और सभी अधिकारिभेदसे पूज्य और उपास्य हैं। इनका पञ्चमुख स्वरूप प्रसिद्ध है। पाँच मुख हैं—ईशान, घोर, तत्पुरुष, वामदेव और सद्योजात। इसी प्रकार अनेकों रूप हैं। यहाँ चार स्वरूपोंके ध्यान और उपासनाके मन्त्र लिखे जाते हैं। अच्छी तरह विधि जानकर विधिपूर्वक ही इनका अनुष्ठान करना उचित है। परंतु एक मन्त्र ऐसा है जिसका अनुष्ठान सब लोग सब अवस्थाओंमें कर सकते हैं और वह मन्त्र बड़ा ही कल्याणकारी है। वह है—'नमः शिवाय।'

(१)

बालार्कायुततेजसं धृतजटाजूटेन्दुखण्डोज्ज्वलं
नागेन्द्रैः कृतशेखर जपवटीं शूलं कपालं करैः।
खट्वाङ्गं दधतं त्रिनेत्रविलसत्पञ्चाननं सुन्दरं
व्याघ्रत्वक्परिधानमब्जनिलयं श्रीनीलकण्ठं भजे॥

'भगवान् श्रीनीलकण्ठ दस हजार बालसूर्योंके समान तेजस्वी हैं। सिरपर जटाजूट, ललाटपर अर्धचन्द्र और मस्तकपर साँपोंका मुकुट धारण किये हैं। चारों हाथोंमें जपमाला, शूल, नरकपाल और खट्वाङ्ग मुद्रा हैं। तीन नेत्र हैं। पाँच मुख हैं। अति सुन्दर विग्रह है। बाघम्बर पहने हुए हैं और सुन्दर पद्मपर विराजित हैं। इन श्रीनीलकण्ठदेवका भजन करना चाहिये।'

इनका मन्त्र है—प्रौं ह्रीं ठः।

(२)

नीलप्रवालरुचिरं विलसत्त्रिनेत्रं
पाशारुणोत्पलकपालकशूलहस्तम्।
अर्धाम्बिकेशमनिशं प्रविभक्तभूषं
बालेन्दुबद्धमुकुटं प्रणमामि रूपम्॥

'श्रीशंकरजीका शरीर नीलमणि और प्रवालके समान सुन्दर (नीललोहित) है। तीन नेत्र हैं। चारों हाथोंमें पाश, लाल कमल, कपाल और शूल हैं। आधे अङ्गमें अम्बिकाजी और आधेमें महादेवजी हैं। दोनों अलग-अलग शृङ्गारोंसे सज्जित हैं। ललाटपर अर्धचन्द्र है और मस्तकपर मुकुट सुशोभित है। ऐसे स्वरूपको नमस्कार है।'

इनका मन्त्र है—

रं क्षं मं यं औं ऊं।

(३)

स्वच्छं स्वच्छारविन्दस्थितमुभयकरे संस्थितौ पूर्णकुम्भौ
द्वाभ्यामेणाक्षमाले निजकरकमले द्वौ घटौ नित्यपूर्णौ।
द्वाभ्यां तौ च स्रवन्तौ शिरसि शशिकलां चामृतैः प्लावयन्तं
देहं देवो दधानः प्रदिशतु विशदाकल्पजालः श्रियं वः॥

'त्र्यम्बक भगवान्‌का शरीर अत्यन्त निर्मल है। वे सुन्दर स्वच्छ कमलपर विराजित हैं। आठ हाथ हैं। दो हाथोंमें दो अमृतके घड़े हैं, दो हाथोंमें क्रमशः मृगमुद्रा और अक्षमाला हैं, दो हाथोंमें दो अमृतसे भरे घड़े और हैं और दो हाथोंसे उन घड़ोंके अमृतको अपने सिरमें स्थित चन्द्रकलापर उँडेल रहे हैं। ऐसे निर्मल वेशसे सुसज्जित भगवान् त्र्यम्बकदेव तुमलोगोंका मङ्गल करें।'

इनका मन्त्र है—

'ॐ हौं जूँ सः। ॐ भूर्भुवः स्वः। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। हौं ॐ जूँ सः ॐ भूर्भुवः स्वः।'

(४)

वटवृक्षं महोच्छ्रायं पद्मरागफलोज्ज्वलम्।
गारुत्मतमयैः पत्रैर्विचित्रैरुपशोभितम्॥
नवरत्नमहाकल्पैर्लम्बमानैरलंकृतम्।
विचिन्त्य वटमूलस्थं चिन्तयेल्लोकनायकम्॥
स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
मसृतकलशविद्याज्ञानमुद्राः कराब्जैः।
दधतमुरगकक्षं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे॥

'एक ऊँचा वट वृक्ष है, उसके पद्मरागमणिके फल हैं। जिनकी आभासे वृक्ष उद्भासित हो रहा है। उसके मरकत मणिके पत्ते हैं। उस वृक्षमें नौ रत्न लटक रहे हैं। ऐसे वटवृक्षके मूलदेशमें भगवान् शिव समासीन हैं। उनके शरीरका वर्ण स्फटिक तथा चाँदीके समान शुभ्र है। वे मोतियोंकी तथा रुद्राक्षकी माला धारण किये हैं। हाथोंमें अमृत-कलश और विद्या तथा ज्ञान मुद्रा हैं। हृदयपर नागोंका यज्ञोपवीत लटक रहा है। ललाटमें चन्द्रमा है। तीन नेत्र हैं और विविध आभूषणोंसे विभूषित—ऐसे श्रीदक्षिणामूर्तिकी हम वन्दना करते हैं।' इनका मन्त्र है—

ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रयच्छ स्वाहा।
(द्वाविंशत्यक्षरमन्त्र)

शिवगायत्री यह है—

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

भगवान् शिव बहुत शीघ्र प्रसन्न होते हैं। श्रीतुलसीदासजीने ब्रह्माजीके द्वारा आशुतोष भगवान् शिवजीकी अतुलनीय उदारताके सम्बन्धमें श्रीपार्वतीजीके प्रति एक बड़ा सुन्दर व्यङ्गकी भाषामें महिमासूचक निवेदन करवाया है, उससे भगवान् शंकरके आशुतोष और औढर-दानीपनका बड़ा अच्छा आभास मिलता है। पद यह है—

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी॥
निज घर की बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिव की दई संपदा देखत, श्री-सारदा सिहानी॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहिं निसानी।
तिन रंकन कौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी॥
दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी॥
प्रेम-प्रसंसा-बिनय-ब्यंगजुत, सुनि बिधि की बर बानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत-मातु मुसुकानी॥
(विनयपत्रिका ५)

(ब्रह्माजी लोगोंका भाग्य बदलते-बदलते हैरान होकर पार्वतीजीके पास जाकर कहने लगे—) 'हे भवानी! आपके नाथ (शिवजी) पागल हैं। सदा देते ही रहते हैं। जिन लोगोंने कभी किसीको दान देकर बदलेमें पानेका कुछ भी अधिकार नहीं प्राप्त किया, ऐसे लोगोंको भी वे दे डालते हैं। जिससे वेदकी मर्यादा टूटती है। आप बड़ी सयानी हैं, अपने घरकी भलाई तो देखिये (यों देते-देते घर खाली होने लगा है, अनधिकारियोंको) शिवजीकी दी हुई अपार सम्पत्ति देख-देखकर लक्ष्मी और सरस्वती भी (व्यंगसे) आपकी बड़ाई कर रही हैं। जिन लोगोंके मस्तकपर मैंने सुखका नाम-निशान भी नहीं लिखा था, आपके पति शिवजीके पागलपनके कारण उन कंगालोंके लिये स्वर्ग सजाते-सजाते मेरे नाकों दम आ गया। कहीं भी रहनेकी जगह न पाकर दीनता और दुखियोंके दुःख भी दुखी हो रहे हैं और याचकता तो व्याकुल हो उठी है। लोगोंकी भाग्यलिपि बनानेका यह अधिकार कृपाकर आप किसी दूसरेको सौंपिये। मैं तो इस अधिकारकी अपेक्षा भीख माँगकर खाना अच्छा समझता हूँ।' इस प्रकार ब्रह्माजीकी प्रेम, प्रशंसा, विनय और व्यंगसे भरी हुई सुन्दर वाणी सुनकर महादेवजी मन-ही-मन मुदित हुए और जगज्जननी पार्वती मुस्कराने लगीं!'

परमोपास्य भगवान् महादेव

(लेखक—कविरत्न पण्डित श्रीदेवीप्रसादजी शास्त्री 'पाराशर')

मानवको लौकिक-पारलौकिक कल्याणकी प्राप्तिके लिये महापुरुषोंने, वेदादि शास्त्रोंने कर्म, उपासना एवं ज्ञान—इन तीन साधनोंका उल्लेख किया है। इनमें उपासनाका स्थान सर्वजनसुलभ, परम श्रेयस्कर और अतिशय आनन्दमय है। सृष्टिके आरम्भसे आजतक उपासनाका सर्वाधिक वर्णन शास्त्रोंमें तथा प्रत्यक्ष देखनेमें पाया जाता है। प्राणीमात्र सुख-शान्तिकी आकाङ्क्षा करता है और उसका साधन है—उपासना। इस उपासनासे दूर रहकर सुख-शान्तिकी इच्छा करना निरर्थक है। वैदिक कालसे ही आप्तपुरुषोंने पञ्चदेवोपासनमें ध्यान लगाकर परमार्थको प्राप्त किया, सनातन धर्मावलम्बियोंके लिये पञ्चदेवोपासना श्रेयस्कर है, परंतु सर्वोत्कृष्ट स्थान भगवान् महादेवके पूजनको ही अनादिकालसे मिला है, यह बात प्रसिद्ध ही है। श्रुतियोंका भी यही कथन है—

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १२)

उपर्युक्त मन्त्रमें भगवान् शिवजीको ही शाश्वत सुखका प्रदायक बताया गया है एवं इसी उपनिषद्में शिवोपासनाको ही अत्यन्त शान्ति-सुखदायी कहा है—'ज्ञात्वा शिवं शान्ति-मत्यन्तमेति।'—ऐसी अनेक श्रुतियाँ शिवपूजनको परम कर्तव्य बताती हैं।

चतुर्वेदोंमें शिवोपासनाका सर्वोच्च प्रभाव वर्णित है। यजुर्वेदका सोलहवाँ अध्याय तो 'रुद्र-महिमा' का प्रत्यक्ष प्रमाण है—

'नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।'
(यजुर्वेद १६। ४१)

इस मन्त्रमें महादेवकी परम पावन महिमाका परिपूर्ण रस भरा हुआ है। महाभारत, रामायण, अष्टादश पुराणादिमें विविध देवता-मानवादि सभी रुद्र-अर्चा करते पाये जाते हैं। इसी स्मृतिमें भगवान् श्रीशंकराचार्यजी कहते हैं—'त्वदन्यो शरण्यो न मान्यो न गण्यः।'—आपसे बढ़कर किसीकी श्रेष्ठता नहीं है।

महाभारतमें युग-युगमें श्रीकृष्णके द्वारा शिवपूजनकी बात कही गयी है—'युगे युगे तु कृष्णेन तोषितो वै महेश्वरः' (महा० अनु० १४। १३) एवं रामायण, पद्मपुराण आदिमें श्रीरामके द्वारा शिवोपासनाका पथप्रदर्शन मानव-मात्रके लिये आदर्श है। देवीभागवतमें शिवार्चाकी प्राचीनता बड़े विवेचनात्मक ढंगसे बतायी गयी है। भगवान् महादेवको सुषुप्ति-स्थानके नाथ कहकर महान् बताया है—'सुषुप्तस्थाननाथः स विष्णुना च प्रपूजितः।' (स्क० ५ अध्याय १ श्लोक २१) पद्मपुराणोक्त शिवगीता रुद्रोपासनाका अति विशद ग्रन्थरत्न है। श्रीमद्भागवतमें भी स्कन्ध-स्कन्धमें 'रुद्रमहत्त्व' लिखा हुआ है। भगवान् रुद्रको जगदीश्वर तथा शिवपूजकको ही श्रेष्ठ बताया गया है—

त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः।
तं त्वामर्चन्ति कुशलाः प्रपन्नार्तिहरं गुरुम्॥
(८। ७। २२)

विद्याओंकी आकाङ्क्षा करनेवालेको शिवपूजन आवश्यक है—'विद्याकामस्तु गिरिशं।' पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्ति रुद्राराधनसे ही सम्भव है, यह सभी शास्त्रोंका निष्कर्ष है। ब्रह्मवैवर्त, विष्णु आदि पुराण साररूपसे शिवमहिमा-प्रदर्शक हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें भगवान् श्रीकृष्ण राधाजीको शिव-महत्त्व बतलाते हुए कहते हैं—'जो महादेवका नाम लेता है, मैं उसके पीछे नाम-श्रवणके प्रलोभनसे चलता रहता हूँ'—

महादेव महादेव महादेवेतिवादिनः।
पश्चाद्यामि भयत्रस्तो नामश्रवणलोभतः॥
(ब्र० वै० पुराण जन्मखण्ड)

पद्मपुराणमें श्रीरामचन्द्रजी भ्राता शत्रुघ्नसे कहते हैं, 'मैं श्रीमहेशकी चरणरजको धारण करता हूँ'—

शिवे विष्णौ न वा भेदो न च ब्रह्ममहेशयोः।
तेषां पादरजःपूतं वहाम्यघविनाशनम्॥
(४। २५०)

इसी पावन पुराणमें भगवान् श्रीकृष्णके पावन उद्गार स्मरणीय हैं। आप शिवपूजाहीनको पापी मानते हैं—

'भूतेश्वरं यो न नमेन्न पूजयेद्वा स्मरेद्दुश्चरितो मनुष्यः।'
(४२। ५०)

स्कन्द, शिव, लिङ्गादि पुराण तो शिवभक्तिके भण्डार ही हैं। अतः इनका अवलोकन-श्रवणादि भक्तोंके लिये अत्यन्त लाभप्रद है। शिवोपासना-सम्बन्धी जानकारीके लिये शिवपुराण पर्याप्त है। मानवका परम कर्तव्य है—लिङ्गार्चन, जैसा कि भगवान् रामके कर्तव्योंसे ज्ञात होता है—

लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहि न दूजा॥
तब मज्जनु करि रघुकुल नाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥
(रा० च० मा०)

सर्वप्रथम विष्णुभगवान्‌ने लक्ष्मीके सहित शिव-पूजन कर अत्यन्त तेजको प्राप्त किया था—

शिवलिङ्गार्चनाद् योगी जगद्रक्षणदीक्षितः।
श्रीविष्णुस्तपश्चक्रे तस्यैव सहचारिणा॥
(स्कन्दपुराण)

ब्रह्मादि देवता शिवभक्तिप्रचारक हैं। यह बात शिवपुराणसे प्रकट है—

'तत्कृतं हि जगत् सर्वं ब्रह्माद्यास्तस्य किङ्कराः।'
(शि० पु०, वा० सं० अ० ३४ श्लोक ३८)

भारतवर्षके प्रत्येक स्थानमें शिवलिङ्ग तथा शिवमूर्तियाँ पायी जाती हैं। प्रतिष्ठित शिवलिङ्गोंके नाम भी उन्हीं देव-मानव आदिसे सम्बन्धित हैं जिन्होंने उनकी प्रतिष्ठा की थी। अतः रुद्रोपासनाकी प्राचीनता, प्रचुरता तथा सर्वमान्यताका यह ज्वलन्त प्रमाण है। शास्त्रोंका कथन है—

शक्तिश्च शक्तिमांश्चेति पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तिरेतज्जगत् सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वरः॥

'ईश' शब्दकी व्याख्या करते विद्वानोंने **'ईकारः परमाशक्तिः शकारः परमः शिवः।'** इस प्रकार निश्चय किया है। वेद-वाणी भी पूर्णरूपेण इसीका समर्थन करती है—**'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'** (कृष्णयजुर्वेद) भगवान् महादेवकी महिमा अपार है, उसे लिखना ब्रह्माके लिये भी असम्भव है। मानवका परम धर्म है—शिवोपासनामें ध्यान लगाकर परमार्थको प्राप्त करे। उपासकके लिये बड़ा सुगम तथा कल्याणप्रद साधन है।

सकामोपासकके लिये भी यही एक फलदायी सत्कर्म है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—'इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। मिलइ न कोटि जोग जप साधे॥' भगवान् महादेवसे जगन्मङ्गलकी प्रार्थनापूर्वक मैं भी इस लघु लेखसे विराम लेता हूँ।

वीरशैवसिद्धान्त (सम्प्रदाय) की साधना

(लेखक—श्रीशान्तजी शर्मा हिरेमठ, काव्यतीर्थ, वेदान्तशास्त्री)

इस संसारमें उत्तम विचारका मनुष्य अपने जीवनमें यथार्थ सुख-शान्तिकी प्राप्तिके लिये किसी एक अनिर्वाच्य तथा अविदित स्थलको ढूँढ़ता है। वस्तुतः वह स्थान मोक्ष ही है। वीरशैवमतावलम्बी साधकोंने अपने अङ्ग (जीव) के विश्रामके लिये ऐसा ही एक स्थल ढूँढ़ रक्खा है, जो 'लिङ्गस्थल' के नामसे प्रख्यात है।

वीरशैवमत और कश्मीरी शिवाद्वैतमें कुछ अन्तर प्रतीत होता है। शिवाद्वैती लोग शिवसायुज्यस्थलकी प्राप्तिके लिये अहिंसादि गुण-धर्मके मार्गका आचरण करते हैं। बाहरकी इन्द्रियोंको वशीभूत करके साधनचतुष्टयसे युक्त हो केवल अद्वैत-स्थलके सप्त-सोपानोंको पारकर मुक्ति प्राप्त करते हैं। शक्तिविशिष्टाद्वैती लोग अष्टावरणोंमें निष्ठा रखकर और उनका आचरण करते हुए पञ्चाचारोंके मार्गको पार करते हुए भक्तादि स्थलोंको प्राप्तकर महालिङ्गके मुक्तिस्थलको प्राप्त करते हैं। यही 'लिङ्गाङ्ग-सामरस्य' है।

वीरशैवलोग परशिव ब्रह्मको 'स्थल' संज्ञासे पुकारते हैं।

स्थीयते लीयते यत्तज्जगदेतच्चराचरम्।
तद् ब्रह्मस्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः॥

इस सिद्धान्तके अनुसार 'स्थल' रूपी परशिव ब्रह्म लीलावश 'अङ्गस्थल' तथा 'लिङ्गस्थल' दो भागोंमें विभक्त रहता है। चिच्छक्तिविशिष्ट जीव 'अङ्ग'पदवाच्य है और चिच्छक्तिविशिष्ट परशिव ब्रह्म ही 'लिङ्ग' पदवाच्य है। लिङ्ग भक्तोंके अनुग्रहके लिये स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण नामक शरीरोंके भेदसे इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग एवं भावलिङ्ग—यों तीन प्रकारका माना गया है। एवं जीवरूप अङ्ग भी त्यागाङ्ग, भोगाङ्ग एवं योगाङ्ग—यों तीन प्रकारका है।

इष्टलिङ्गके आचारलिङ्ग और गुरुलिङ्ग, प्राणलिङ्गके शिवलिङ्ग और जङ्गमलिङ्ग तथा भावलिङ्गके प्रसादलिङ्ग और महालिङ्ग—यों छः प्रकार हुए। त्यागाङ्गके भक्त

एवं महेश, भोगाङ्गके प्रसादी एवं प्राणलिङ्गी, योगाङ्गके शरण एवं ऐक्य—ऐसे छः प्रकार हैं। अङ्गस्थल अवान्तर भेदोंसे चौवालीस और लिङ्गस्थल भी अवान्तर भेदोंसे सत्तावन प्रकारका हो जाता है। ये सब मिलकर एक सौ एक स्थल प्रसिद्ध हैं।

वीरशैव-सम्प्रदायमें गुरुजन शिष्योंको वेधादीक्षासे कारण-शरीरपर भावलिङ्ग, मन्त्रदीक्षासे सूक्ष्मशरीरपर प्राणलिङ्ग तथा क्रियादीक्षासे स्थूलशरीरपर इष्टलिङ्गका सम्बन्ध कराते हैं। वीरशैवगण उसी इष्टलिङ्गको सदा हृदयमें धारण करते हैं। जैसे निराकार वस्तुकी प्राप्तिके लिये साकार वस्तु चाहिये, वैसे ही परशिव ब्रह्मको जाननेके लिये इष्टलिङ्गके धारण करने एवं उसीकी पूजा करनेकी आवश्यकता है; इस सिद्धान्तमें प्रधानतया इष्टलिङ्गकी उपासना ही प्रसिद्ध है।

इस सम्प्रदायमें गुरु, 'लिङ्ग', जङ्गम, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, पादोदक और प्रसाद—ये अष्टावरण हैं। आवरणका अर्थ है—आच्छादन। अष्टावरण अर्थात् गुरु आदि आठ आच्छादन—ये वीरशैव-सम्प्रदायके लिये मुख्य साधन हैं।

गुरु—आदिकालसे लेकर आजतकके व्यक्तियोंद्वारा गुरुमहिमाका वर्णन किया गया है। शास्त्रोंमें गुरुको ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं साक्षात् ब्रह्म कहा गया है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

सच्चा गुरु वही है, जो शिष्यके मोहरूपी अन्धकारको दूर करे। अन्यथा—

'हरइ सिष्य धन सोक न हरई।
सो गुर घोर नरक महुँ परई॥'

गुरु शब्दकी रचना 'गु' तथा 'रु' के संयोगसे हुई है। 'गु' का अर्थ है—अन्धकार तथा 'रु' का है—प्रकाश।

गुशब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारविरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥

मानव-जीवनके लक्ष्यके प्रति शान्ति तथा आनन्दका आस्वादन और अनुकूल मार्गका अनुसरण आदि गुरुके द्वारा ही सम्भव है। यथा—

'बिनु गुर भव निधि तरइ न कोई।
जौं बिरंचि संकर सम होई॥'

जिसकी गुरुके प्रति वैसी ही श्रद्धा हो, जैसी भगवान्के प्रति, उसीको तत्त्वका अधिकारी कहा गया है। गुरुको सच्चिदानन्द, ज्ञानमूर्ति तथा नित्य कहा गया है—

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलवचनं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

अष्टावरणोंमें 'गुरु' का स्थान प्रथम है। 'न गुरोरधिकम्' गुरुके समान विश्वमें दूसरी कोई वस्तु नहीं है। 'यः शिवः स गुरुः स्मृतः' 'जो शिव है, वही गुरु है।'

वीरशैव-शास्त्रमें शिष्यगण गुरुसे संस्कार पाकर परिशुद्ध हो जाते हैं। गुरु शिष्योंको तीनों लिङ्गोंका ज्ञान कराते हैं, अतः गुरुको श्रेष्ठ माना गया है।

लिङ्ग—जो पदार्थ अङ्गका मूलाधार है, जो पदार्थ इस प्रपञ्चकी उत्पत्तिका मूल कारण है, वही लिङ्ग है। ऐसी लिङ्गोपासना वीरशैव जीवके लिये मुख्य है। इष्टफलोंको देनेवाला इष्टलिङ्ग है। गुरुके द्वारा प्राप्त हुए लिङ्गको इष्टलिङ्ग कहते हैं। इष्टलिङ्गोपासना ही इस सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है।

जङ्गम—जानन्त्यतिशया ये तु शिवं विश्वप्रकाशकम्।
स्वस्वरूपतया ते तु जङ्गमा इति कीर्तिताः॥

जो लोग जगत्प्रकाशक ईश्वरको स्वस्वरूप-मात्रसे जानते हैं, वे ही 'जङ्गम' कहलाते हैं, जो लोग सर्वसङ्ग-परित्याग करके भिक्षावृत्ति करते हुए भक्तोंको ज्ञानोपदेश देते हैं, वे भी 'जङ्गम' कहलाते हैं।

लोकमें माहेश्वर जातिमें उत्पन्न हुए लोगोंको भी 'जङ्गम' कहते हैं। अष्टावरणोंमें गुरु, लिङ्ग, जङ्गम परस्पर उपास्य-उपासक कहलाते हैं। नीचे बतलाये गये विभूति आदि उपासनाके द्रव्य हैं।

विभूति—भस्मज्योतिभवत्येवं
शिवाख्यं नहि संशयः॥

'जो शिवाभिधान ज्योति वस्तु है, वही विभूति है।' विभूति, भस्म, भसित, क्षार एवं रक्षा—ये विभूतिके विभिन्न नाम हैं।

न विभूतिर्यस्य भाले न च रुद्राक्षधारणम्।
तं चाण्डालसमं ज्ञात्वा दूरादेव परित्यजेत्॥

वीरशैवलोग सिर आदि पंद्रह स्थानोंमें भस्म लगाते हैं।

रुद्राक्ष—जिस वनस्पतिका फलबीज रुद्र-दृष्टिके नामका द्योतक है, वही 'रुद्राक्ष' है। वीरशैवलोग 'रुद्राक्ष' को अन्तर्बाह्य शरीरपर धारण करते हैं। 'रुद्राक्ष' शब्द मनुष्यको रुद्रका ज्ञान दिलाता है। रुद्राक्षको धारण करनेसे मनुष्य रुद्र बन जाता है। इस सम्बन्धमें एक श्लोक प्रमाण मिलता है—

रुद्राक्षधारणादेव स रुद्रो नात्र संशयः।
सर्वपापविनिर्मुक्तः प्रयाति परमां गतिम्॥
(सिद्धान्तशिखामणि)

पादोदक—पवित्र शिवपदस्थल अथवा गुरुपादस्थलसे गिरनेवाले जलको 'पादोदक' कहते हैं। वीरशैवलोग गुरुपाद-पूजा करते समय गुरुचरणोंपर जल छोड़ते हैं, उस चरणामृतको अपने इष्टलिङ्गके ऊपर प्रवाहित करके स्वीकार करते हैं—उसका पान करते हैं।

सप्तसागरपर्यन्तं तीर्थस्नानफलं सदा।
गुरोरङ्घ्रिपयोबिन्दुसहस्रांशं न पूरयेत्॥

'सप्तसमुद्र-तीर्थस्नान भी गुरुपादोदकके एक बिन्दुके समान नहीं है।'

प्रसाद—जो पदार्थ देहपोषण तथा प्राणपोषणके आधार हैं—वे ही प्रसाद हैं। 'प्रसादं प्राणिनामन्नम्'। अन्न और प्रसादमें बहुत अन्तर है; अन्न प्राणियोंकी पूरी इन्द्रियोंको पोषण करनेवाला है, परंतु प्रसाद देह एवं मन इत्यादि इन्द्रियोंको पोषण करनेवाला अमूल्य पदार्थ है। वीरशैवलोग अपने उपास्य गुरुको पहले अन्न समर्पण करते हैं, फिर उनसे निरूप (आज्ञा) पाकर उसका अंश ग्रहण करके पुनश्च उस प्रसादको इष्टलिङ्गको दिखाकर स्वीकार करते हैं।

मन्त्र—जो अक्षर मनुष्यके मनको मनन प्रदान करता है, जो प्रपञ्चके समस्त नामोंको अपने अंदर छिपाकर रख लेता है, जो शिवज्ञान प्रदान करता है, जो नित्यानन्द-सुख प्रदान करता है और जो हमारा मङ्गल करता है, वह 'मन्त्र' कहलाता है—'मननात् त्रायते इति मन्त्रः।' जो नकारादि पाँच अक्षरोंमें पृथिव्यादि पञ्चभूतोंको, ब्रह्मादि पाँच अधिदेवताओंको, विद्यादि पाँच तत्त्वोंको ग्रहण करके विशिष्ट ज्ञानको देता है, वह 'महामन्त्र' कहलाता है। वह महामन्त्र 'नमः शिवाय' है। 'नमः शब्दं वदेत् पूर्वं शिवाये... त्वनन्तरम्।' (सिद्धान्तशिखामणि)। प्रथम 'नमः' शब्दका उच्चारण करना चाहिये, अनन्तर 'शिवाय' शब्दका ... करना शास्त्रसम्मत है। वीरशैवलोग ॐकारसहित ... महामन्त्रको गुरुमुखसे प्राप्त करते हैं एवं इस मन्त्रके ... के प्रभावसे अपनी इष्टसिद्धि लिङ्गाङ्ग-सामरस्यको पा जाते हैं।

इस प्रकार वीरशैवगण अष्टावरणोंमें श्रद्धा रखकर उनका आचरण करते हुए भृत्याचार, सदाचार, गणाचार, शिवाचार एवं लिङ्गाचारोंके मार्गोंमें पहुँच जाते हैं। तदनन्तर ऐक्यस्थलमें स्थित महालिङ्गमें लीन हो जाते हैं।

षट्स्थल

इसका अर्थ है—'विरामस्थान।' ये छः हैं, इन्हींको समष्टिरूपसे स्थल कहते हैं। यथा—

भक्तस्थल

भक्त—जो जीव शिवको अपनेसे भिन्न समझकर ... पूजता है, वही 'भक्त' है और वह भक्तस्थलमें निवास करता है।

माहेश्वरस्थल

महेश—जो जीव शिवके समान 'मैं' हूँ ... मानकर उनका परिपूर्ण रूप अपनेमें देखता है, वही माहेश्वर है और वह माहेश्वरस्थलमें निवास करता है।

प्रसादस्थल

प्रसादी—जो जीव अपनी भोग्यवस्तु अन्न, वस्त्र, जल, धन-धान्य इत्यादिको शिवका प्रसाद जानकर सेवन करता है, वह 'प्रसादी' है तथा उसका वह निवास प्रसादस्थल है।

प्राणलिङ्गस्थल

प्राणलिङ्गी—जो जीव शिवके प्रसादरूप प्राण ही लिङ्ग है, ऐसा जानकर भी न जानता हुआ-सा आचरण करता है, वह 'प्राणलिङ्गी' है और वही उसका प्राणलिङ्गस्थल है।

शरणस्थल

शरण—जो जीव लिङ्ग ही हमारा शरण्य है, लिङ्गरूप परब्रह्मसे उत्पन्न वस्तुएँ उन्हींकी हैं, अतः उन्हें परमात्माको ...

अर्पण किये बिना ग्रहण करना चोरी है—ऐसा समझकर सदैव बुद्धियोगमें लीन होकर व्यवहार करता है, वही 'शरण' है तथा वही शरणस्थल है।

ऐक्यस्थल

ऐक्य—जो जीव अपने आत्मदीपके प्रभावसे सर्वाङ्ग-का, जगत्-व्यवहारका, समस्त कर्मोंका परित्याग कर अपने निजस्थलमें सुप्त हो जाता है, वही 'ऐक्य' है और उसका ऐक्यस्थल निवासस्थान है। यही वीरशैवोंका सायुज्यस्थल है, यही उन लोगोंका मुक्तिस्थल है। जगद्गुरु रेणुकाचार्यने अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्तशिखामणि'में कहा है—

जले जलमिव न्यस्तं वह्नौ वह्निरिवार्पितः।
परे ब्रह्मणि लीनात्मा विभागेन न दृश्यते॥

इस प्रकार वीरशैवगण गुरुसे प्राप्त इष्टलिङ्गकी उपासनाके लिये अष्टावरणोंका आचरण करते हुए पञ्चाचारों-के मार्गोंसे भक्तादि स्थलोंको प्राप्त कर लेते हैं। इसीको इस सिद्धान्तमें 'लिङ्गाङ्गसामरस्य' कहते हैं।

इस सिद्धान्तके संस्थापक जगद्गुरु रेणुकादि पञ्चाचार्य हैं। एवं प्रचारक हैं—भक्तिभण्डारी बसवेश्वर आदि।

लिङ्ग-रहस्य

(लेखक—महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

जिज्ञासु—पाश्चात्त्य पण्डित तथा पाश्चात्त्य विचारोंसे प्रभावित आजकलके कोई-कोई नवशिक्षित भारत-संतान भारतवर्षीय उपासनाकी बात चलनेपर कहते हैं कि यद्यपि दर्शन और धर्मतत्त्वके सम्बन्धमें भारतवर्षमें ऐसे गम्भीर तत्त्वोंका आविष्कार हुआ था, जो समस्त जगत्के लिये विस्मयजनक है; परंतु उपासनाके सम्बन्धमें सब समय वैसी प्रशंसा नहीं की जा सकती। वे कहते हैं कि लिङ्ग-उपासना भारतवर्षका एक कलङ्क है। उनके विचारसे 'वर्तमान सभ्य युगमें इस प्रकारकी अश्लील और असभ्यकालोचित आदिम उपासनाका प्रचलित रहना उचित नहीं है।' उनकी इस आलोचनापर धीरतापूर्वक विचार करनेसे लिङ्गोपासनाके सम्बन्धमें स्वभावतः हृदयमें कुछ-कुछ संशय उत्पन्न होता है। हम बाल्यकालसे ही लिङ्गरूप शिवकी उपासना देखते आ रहे हैं। इसी संस्कारकी दृढ़तासे इसकी अश्लीलता हमारे मनको वैसी अश्लील नहीं लगती। परंतु पूर्वसंस्कारोंको त्यागकर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि विदेशीय समालोचक स्वाभाविक प्रेरणावश ही इस प्रकारकी उपासनाकी निन्दा करते हैं। इस विषयमें मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। यदि कृपाकर आप लिङ्ग-रहस्यकी यथासम्भव संक्षेपमें व्याख्या करें तो मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा। सम्भवतः आपकी व्याख्यासे मेरे सब संशय दूर हो जायँगे। यदि कोई नया संशय उठेगा तो उसे स्पष्ट कर उसकी भी मीमांसा करा सकूँगा।

वक्ता—तुम्हारे संशयको मिटानेके लिये मैं अवश्य ही तुमसे यथाशक्ति कुछ कहूँगा। परंतु कहनेके पूर्व मैं दो-एक बातें तुमसे पूछ लेना चाहता हूँ। तुमने तो प्राचीन इतिहासकी आलोचना की है। क्या तुम नहीं जानते कि पृथ्वीकी अधिकांश अति प्राचीन सभ्य जातियोंमें लिङ्ग-उपासना किसी-न-किसी रूपमें प्रचलित थी? भारतवर्षमें भी प्राग्-ऐतिहासिक युगसे लिङ्ग-उपासना प्रचलित है। 'मोहन-जो-दड़ो' में प्राप्त प्राचीन निदर्शनोंका अवलोकन करनेसे स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है कि उस समय भी लोग ठीक आजकलके समान ही विशेष आकारके शिव-लिङ्गकी पूजा करते थे। जो उपासना या साधना एक समय जगद्व्यापक थी तथा परवर्ती युगमें भी भारतवर्षमें जो भगवत्कल्प श्री-शंकराचार्य प्रभृति असंख्य ज्ञानी और योगैश्वर्यसम्पन्न मनीषियोंके द्वारा अनुष्ठित होती आ रही है, वह अज्ञजनोचित उपहास-वचनोंका विषय होने योग्य कदापि नहीं है। बिना तीव्र साधनाके किसी भी तत्त्वका सम्यक् रूपसे ज्ञान होना सम्भव नहीं है। किंतु इसीलिये उसकी निन्दा करने लगना धृष्टताके सिवा और क्या हो सकता है?

जिज्ञासु—मैंने जिज्ञासुभावसे ही आपसे प्रश्न किया है, निन्दाके उद्देश्यसे नहीं। लिङ्गोपासनाके मूलमें जो एक अश्लील भाव है, उसे क्या आप अस्वीकार करना चाहते हैं? और यदि न कर सकते हों तो फिर सभ्य-समाजमें इसका किस प्रकार समर्थन किया जा सकता है?

वक्ता—वत्स! श्लील और अश्लीलका विचार नव्य रुचिसम्पन्न युवकोंकी विकृत दृष्टिके निर्णयके अनुसार नहीं

हो सकता। व्यक्तिगत संस्कार तथा सामाजिक मनोभावोंसे संवेष्टित प्रकृतिके अनुसार आपेक्षितरूपसे श्लील और अश्लीलका निर्धारण हो सकता है। नग्नकाय पवित्रचित्त छोटे-से शिशुकी दृष्टिमें संसारमें कहीं कुछ भी अश्लील नहीं देखा जाता है। यही बात ज्ञानसम्पन्न परमहंसकी दृष्टिमें भी समझनी चाहिये। अन्यत्र जिसका जिस प्रकार संस्कार होता है, वस्तुसत्ता उसके निकट उसी प्रकार प्रतिभात हुआ करती है। भगवान्‌की सृष्टिमें अपवित्र कहलानेवाली कोई भी वस्तु नहीं है। परंतु कलुषित-हृदय द्रष्टा अपने अंदरकी कालिमाका आरोपण कर वस्तुविशेषको अपवित्र समझ लेता है। शुद्धचित्तसे जिस ओर देखो, उसी ओर सत्यकी उज्ज्वल मूर्ति देखकर आनन्द प्राप्त कर सकते हो। फिर किसी भी स्थानमें संकोचका कारण नहीं प्रतीत होगा। देखो, लिङ्ग और योनि—ये दो ही सृष्टिके मूलरहस्य हैं। पुरुष और स्त्रीके पारस्परिक संयोगके विना सृष्टि प्रभृति कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते। शिव और शक्ति, ईश्वर और माया, पुरुष और प्रकृति—प्रस्थान-भेदसे चाहे जिस नामको लिया जाय—सर्वत्र ही दो मूल-शक्तियोंके पारस्परिक संघर्षसे सृष्टि प्रभृति कार्य सम्पन्न होते हैं।

जिज्ञासु—यह जो दो शक्तियोंकी बात आपने कही, क्या ये ही वास्तविक मूल-शक्तियाँ हैं अथवा इनके पीछे कोई अद्वितीय शक्ति और भी है?

वक्ता—जबतक द्वैत जगत्‌का अतिक्रमण नहीं किया जाता, तबतक इन दो शक्तियोंको ही मूल-शक्ति मानना पड़ता है। कार्यक्षेत्रमें भी मूलतः यही प्रतीत होता है और युक्तिसे भी यही बात सिद्ध होती है। ईरानी, यहूदी तथा अन्य किसी भी प्राचीन धर्ममें यही मौलिक द्वैत स्वीकृत हुआ है। परंतु याद रखना कि वस्तुतः इस द्वैतके मूलमें नित्य अनुस्यूत-भावसे अद्वैत-सत्ता ही है। सृष्टिके प्रारम्भमें यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों पृथक् रूपमें उपलब्ध होते हैं, तथापि यह जान लेना चाहिये कि सृष्टिकी आदिभूत बीजावस्थामें ये दोनों ही शक्तियाँ अभिन्नरूपमें ही विराजमान रहती हैं। इसे चाहे ईश्वर कहें या महाशक्ति, उसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता। उस अवस्थामें एक ओर जैसे प्रकृति और पुरुष परस्पर भेदरहित और एकाकार हैं, वैसे ही दूसरी ओर वह अद्वैत ईश्वर-सत्ता भी निरञ्जन निष्कल सत्ताके साथ एकीभूत है। यह अव्यक्त-अवस्था है; इसको एक ओर सृष्टिका बीज कहा जानेपर भी दूसरी ओर यह नित्य सृष्टिसे अतीत, प्रपञ्चहीन, शान्त और निःस्पन्द चिन्मात्र है। इसीकी स्वतन्त्रताके उन्मेषवश इस अक्षोभ्य चित्-सत्ताके ऊपर वाक् और अर्थके समान नित्य-सम्पृक्त, परंतु भेदयुक्त, पुरुष और प्रकृतिरूप तत्त्वद्वयका आविर्भाव होता है। ये पुरुष और प्रकृति एक होते हुए भी भिन्न हैं और भिन्न होते हुए भी एक हैं; क्योंकि इनमेंसे एकको छोड़कर दूसरा अपनी सत्ताका संरक्षण नहीं कर सकता। पारमार्थिक दृष्टिसे वह अव्यक्त-अवस्था न होनेपर भी, सांसारिक दृष्टिसे सृष्टिकी अभिव्यक्ति न होनेके कारण इसको एक प्रकारसे अव्यक्त कहा जा सकता है। शास्त्रके मतसे यह अलिङ्ग-अवस्था है; किंतु पारमार्थिक दृष्टिसे निष्कल-अवस्था अलिङ्ग है; अतः इसको महालिङ्ग-अवस्था कहा जा सकता है। लिङ्ग और अलिङ्ग—इन दो शब्दोंका तात्पर्य आपेक्षिकभावसे ही समझना पड़ेगा। परिचायक चिह्नको 'लिङ्ग' कहते हैं। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं है, उसका कोई भी निदर्शन नहीं दिखलाया जा सकता। किंतु इस अव्यक्त सत्तासे जो तेजोमय और ज्योतिर्मय तत्त्व आविर्भूत होता है, वह स्वयं आविर्भूत होता है; इसलिये उसे 'स्वयम्भू' कहा जाता है। यही अव्यक्त अवस्थाका परिचायक है। इसीलिये यह लिङ्ग-पद-वाच्य है।

जिज्ञासु—आपने जो स्वयम्भूरूप लिङ्गका परिचय दिया, उसे सुनकर मुझे तृप्ति हुई। इस लिङ्गके अतीत अलिङ्ग-अवस्थाके सम्बन्धमें अभी मुझे कुछ कहना नहीं है। मेरा कहना यही है कि लिङ्ग और योनि परस्पर संश्लिष्ट होकर सांसारिक कार्योंका सम्पादन करते हैं। उसका एकांश यह लिङ्ग-तत्त्व है; किंतु द्वितीय अंश या योनितत्त्वकी कुछ धारणा न होनेसे लिङ्गरहस्य सम्यक् प्रकारसे नहीं जाना जा सकता है। अतः मेरी प्रार्थना है कि प्रसङ्गतः संक्षेपमें योनिरहस्यके सम्बन्धमें भी दो-चार बातें बतलाइये, जिससे प्रस्तावित विषयको मैं अच्छी तरह समझ सकूँ।

वक्ता—तुम्हारा प्रश्न बहुत ही उचित है। योनितत्त्वकी धारणा न होनेसे लिङ्ग-रहस्यका सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। यद्यपि यह विषय अत्यन्त जटिल है एवं सिवा अन्तःप्रविष्ट साधकके दूसरेके लिये नितान्त दुर्बोध्य है तथापि आलोचना-का विषय होनेके कारण संक्षेपमें दो-चार बातें कह देना आवश्यक समझता हूँ।

जिस प्रकार आधार और आधेय परस्पर सम्बन्ध-विशिष्ट हैं, उसी प्रकार एक प्रकारसे लिङ्ग एवं योनिको भी समझना चाहिये। परंतु ध्यान रहे कि यह सादृश्य

सर्वाङ्गीण नहीं है। जब आद्याशक्ति या श्रीभगवान् परम साम्यावस्थामें रहते हैं, उस समय उनमें लिङ्ग या योनि किसी प्रकारके भी द्वैत-भावकी कल्पना सम्भव नहीं है। परंतु जहाँ अनादि द्वैतभाव प्रकाशित है, वहाँ एकके बिना दूसरेकी उपलब्धि नहीं की जा सकती। तन्त्रशास्त्रमें योनिको त्रिकोणरूपसे एवं लिङ्गको उसके केन्द्रस्वरूप या मध्यबिन्दुरूप बतलाया गया है। सृष्टिकी अतीत अवस्थामें जहाँ सर्वशक्ति नित्य प्रकाशमान अथवा नित्य अवगुण्ठित है, वहाँ बिन्दु, मण्डल और बिन्दुसे मण्डलपर्यन्त निःसृत किरणधारा—ये तीनों ही अभिन्नरूपसे प्रकाशित होती हैं। इस अभेदात्मक सत्तामें मण्डलको योनिके एवं बिन्दुको लिङ्गके पूर्वरूप होनेकी कल्पना की जा सकती है। परंतु सृष्टिकी आदिम अवस्थाके समय—यद्यपि यह आदिम अवस्था भी अनादिकालसे ही वर्तमान है—बिन्दु एवं उसके आवरण—इन दोनोंमें एक भेदाभास जाग उठता है। इसके फलस्वरूप जो आवरणरूप मण्डल बिन्दुके साथ अभिन्नरूपसे वर्तमान था, वह भेद-सृष्टिसे पहले त्रिरेखाङ्कित त्रिकोणसमन्वित क्षेत्ररूपसे प्रकट होता है। यद्यपि बिन्दुसे अनन्त किरणमालाएँ विकीर्ण होती हैं, तथापि संकुचित अवस्थाके समय सृष्टिके आरम्भकालमें तीन किरणें ही प्रधानतः ग्रहण करने योग्य हैं। ये तीनों रश्मियाँ सरल रेखाओंके रूपमें परस्पर समान दूरीपर रहकर तीन ओर बढ़ती हैं। महाशून्यके वक्षःस्थलपर यह विकिरण-लीला सम्पन्न होती है, इसलिये यह सर्वत्र समानभावसे ही होती है; क्योंकि उस समय आकर्षण या विकर्षण करनेकी कोई भी शक्ति वर्तमान नहीं है। इसलिये ये तीनों रेखाएँ परस्पर समभावापन्न ही होती हैं। एक ही मूलस्थानसे निर्गत होनेके कारण जब ये तीनों रेखाएँ प्राथमिक गतिके निरोधके समय स्थिरता प्राप्त करती हैं, तब इनके अग्रभाग परस्पर मिलनेके लिये पुनः गतिविशिष्ट हो जाते हैं। फलतः तीन बाह्य रेखाओंका विकास होता है एवं एक समबाहु और समकोण त्रिभुजका आविर्भाव होता है। उस समय ये तीन बाह्य रेखाएँ ही केन्द्रस्वरूप बिन्दुका आवरण मानी जाती हैं। कहना नहीं होगा कि यही प्रथम आवरण है। कम-से-कम बिना तीन सरल रेखाओंके किसी भी वस्तुका वेष्टन नहीं किया जा सकता। तन्त्रशास्त्रमें इसी त्रिकोण या त्रिभुजको 'मूल त्रिकोण' कहा गया है। बिन्दुके स्पन्दनके तारतम्यके कारण इस त्रिकोणके रूप भी भिन्न-भिन्न प्रकारके हो सकते हैं; क्योंकि बाहु या कोणका परस्पर असंख्य प्रकारका वैषम्य संघटित हो सकता है; किंतु मूल त्रिकोण साम्यभावापन्न होनेसे सर्वदा एक ही प्रकारका रहता है। यह मूल त्रिकोण ही विश्वकी उत्पत्तिका कारण महायोनिस्वरूप है। जब इसका मध्यवर्ती बिन्दु विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगतिशील ज्योतिर्मय रेखाके रूपमें परिणत होता है, तब इसको उज्ज्वल प्रकाश-पुञ्जके स्तम्भरूपमें प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। कहना नहीं होगा कि यही वह पूर्ववर्णित 'स्वयम्भू' नामक ज्योतिर्लिङ्ग है। अन्तर्दृष्टि खुल जानेपर भीतर और बाहर सभी जगह यह लीला प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ती है। बाइबिल और अन्यान्य धर्म-ग्रन्थोंमें जिस अग्नि-स्तम्भ (Pillar of fire) का वर्णन मिलता है, वह भी इस लिङ्ग-ज्योतिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जिज्ञासु—आपने जिस प्रकार वर्णन किया, उससे तो यही समझमें आता है कि योनिसे ही लिङ्गका विकास होता है। क्या यह आंशिक सत्य नहीं है?

वक्ता—तुम्हारी धारणा निर्मूल नहीं है, परंतु अभीतक लिङ्ग और योनिके पारस्परिक सम्बन्धको तुम भलीभाँति हृदयङ्गम नहीं कर सके हो। इसीलिये सूक्ष्म तत्त्वको अब भी तुम ग्रहण नहीं कर पाते हो। तुम्हारे सरलतापूर्वक समझनेके लिये मैं विषयको और भी कुछ स्पष्ट करनेकी चेष्टा करता हूँ। देखो, मैंने जिस योनिके सम्बन्धमें तुमसे कहा है, उसके मूलतः एक होनेपर भी द्वैत-जगत्में उसे द्विविध जानना चाहिये। एक 'ब्रह्मयोनि' और दूसरी 'मातृयोनि'। इसीलिये त्रिकोण भी ऊर्ध्वमुख और अधोमुख-भेदसे दो प्रकारका है। दोनोंके ही केन्द्रस्थलमें बिन्दु वर्तमान है। बिन्दु विक्षुब्ध होकर जब रेखारूपमें गतिशील होता है, तब वह भी ऊर्ध्व और अधोभेदसे दो प्रकारका हो जाता है। इनमें एकका नाम 'ऊर्ध्वलिङ्ग' और दूसरेका नाम 'अधोलिङ्ग' है।

साधारण अवस्थामें जगत्के यावतीय जीव-जन्तु 'अधोलिङ्ग'विशिष्ट ही हैं, परंतु साधनाके द्वारा कुण्डलिनी शक्तिके प्रबुद्ध होनेपर ये 'ऊर्ध्वलिङ्ग'के रूपमें आ सकते हैं।

देखो, बिन्दु जब विसर्गके रूपमें परिणत होता है अर्थात् जब द्वैतजगत्का मूलभूत द्वन्द्व आविर्भूत होता है, तब एक बिन्दु ऊपर एवं दूसरा नीचे गिरजाता

है। इन दोनों बिन्दुओंकी संयोजक रेखा ही अक्षरेखा या ब्रह्मसूत्र है। ऊपरका बिन्दु एक त्रिकोणका मध्यबिन्दु है, इसी प्रकार नीचेका बिन्दु भी एक दूसरे त्रिकोणका मध्यबिन्दु है। जब ऊर्ध्व त्रिकोण एवं तन्मध्यस्थ बिन्दु विक्षुब्ध होता है, तब उस बिन्दुसे अधोमुखी (नीचेकी ओर) शक्ति-धारा निकलती है। यही सृष्टि-अवस्थाकी सूचना है। इसी प्रकार जब अधःस्थित बिन्दु और त्रिकोण विक्षुब्ध होता है, तब उस बिन्दुसे ऊर्ध्वमुखी शक्ति-धारा निःसृत होती है। यह संहारकी अवस्था है। जो शक्ति-धारा सृष्टिके समय ऊर्ध्वबिन्दुसे नीचेकी ओर उतर जाती है, एक त्रिकोण क्षेत्ररूपसे उसे अपने वक्षःस्थलपर धारण कर लेता है। इसीके फलस्वरूप प्राकृतिक देह निर्मित होते हैं एवं अज्ञानमय प्रपञ्चका आविर्भाव होता है। दूसरी ओर, जब अधोबिन्दु ऊर्ध्वलिङ्ग-अवस्थाको प्राप्त होकर ऊर्ध्वमुखी शक्तिका संचार करता है, तब दूसरा त्रिकोण क्षेत्रस्वरूप होकर उसको बीजरूपसे धारण करता है। इसीके फलस्वरूप अप्राकृतिक या दिव्य प्रपञ्चका आविर्भाव होता है। देवताका देह-निर्माण या साधकको दिव्यभावकी प्राप्ति इसीसे हुआ करती है। दिव्य सृष्टिके मूलमें प्राकृत सृष्टिके संहारकी आवश्यकता है एवं प्राकृत सृष्टिके मूलमें दिव्य सृष्टिका तिरोभाव आवश्यक है। अतएव सृष्टि और संहार—ये दोनों ही क्रियाएँ परस्पर अनुस्यूत हो रही हैं और दोनोंके ही मूलमें लिङ्ग एवं योनिका परस्पर संयोग विद्यमान है।

तन्त्रशास्त्रमें जिस मध्यबिन्दुविशिष्ट षट्कोणका वर्णन मिलता है, उसे इस ऊर्ध्वमुख और अधोमुख त्रिकोणके परस्पर संयोगसे ही उत्पन्न समझना चाहिये। मध्यबिन्दु दोनों त्रिकोणोंके लिये ही समान है। यह षट्कोण ही शिवशक्तिका मिलित रूप है। हिंदू, बौद्ध और जैन—सभी सम्प्रदायोंके उपासकगण किसी-न-किसी रूपमें इसको स्वीकार कर चुके हैं।

देखो, मैंने यहाँ जिस योनि और लिङ्गकी बात कही है, वैदिक साधनामें इसीने 'यज्ञकुण्ड' और 'यज्ञाग्नि'का स्थान प्राप्त किया है। आचार्योंने अनेकों जगह यह स्पष्ट निर्देश किया है कि कुण्ड ही प्रकृति या योनि है एवं अग्नि ही रुद्र या शिवज्योति है। देहतत्त्वविद् योगियोंद्वारा वर्णित आधारचक्र भी यह कुण्ड या योनिस्वरूप ही है। तन्मध्यस्थ ज्योति जब प्रकाशित होकर ब्रह्म-मार्गपर संचार करती है, तब उसीको लिङ्ग कहते हैं।

जिज्ञासु—लिङ्ग कितने प्रकारके हैं और योनि कितने प्रकारकी हैं एवं उनके मौलिक भेद क्या-क्या हैं?

वक्ता—लिङ्ग एक होते हुए भी योनि या आधार-भेदसे असंख्य रूपोंमें आविष्कृत होता है। स्वयम्भूलिङ्ग, बाण-लिङ्ग, इतरलिङ्ग प्रभृति सारे भेद केवल एक ही लिङ्गके विभिन्न प्रकारके विकास हैं। उसी प्रकार यह भी सत्य है कि मूल योनि भी एक ही है, पर लिङ्गकी विचित्रताके कारण वह भी खण्ड-खण्ड योनियोंके रूपमें आविर्भूत होती है। शास्त्रोंमें चौरासी लाख योनियोंका जो वर्णन तुमने पढ़ा है, उसका यही एकमात्र कारण है। अतएव एक दृष्टिसे लिङ्ग ही एक है और योनि भी एक ही है; परंतु दूसरी दृष्टिसे देखनेपर दोनोंका ही वैचित्र्य अनन्त प्रकारका है। जीव-देहमें जिन मूलाधारादि षट्संख्यक आधार-कमलोंका वर्णन आता है, वह भी वस्तुतः योनिका ही प्रकार-भेदमात्र है। सर्वत्र ही बिन्दुरूप-में लिङ्ग अनुस्यूत है। इसकी अतीत अवस्थामें बिन्दु निराधार होकर अव्यक्त हो जाता है, लिङ्गका अलिङ्गमें पर्यवसान हो जाता है एवं द्वैतभाव शान्त होकर अद्वैत-भाव आविर्भूत हो जाता है। उस समय लिङ्ग और योनिमें किसी प्रकारके पार्थक्यका अनुभव नहीं किया जा सकता। यही निरालम्ब या निर्विकार अवस्था है। वेदान्त-सूत्रकारने कहा है—'योनेः शरीरम्।' यह बिल्कुल सत्य है; क्योंकि लिङ्ग-ज्योति योनिमें प्रविष्ट होकर यदि पुनरुत्थित न हो तो किसी प्रकार देहका निर्माणकार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। हम जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके सहयोगसे दर्शन-श्रवणादि भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादन करते हैं, यह भी सृष्टि-कार्यका ही एक अङ्ग है। अतः इसके मूलमें भी लिङ्ग-योनिका सम्बन्ध वर्तमान है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। इसलिये जगत्के स्वरूपका भलीभाँति विश्लेषण करनेपर यह लिङ्ग और योनितत्त्व क्षुद्रतम परमाणुके गठनसे लेकर बृहत्तम ब्रह्माण्डके संस्थानतक सर्वत्र दिखलायी पड़ेगा। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—ये तीन प्रकारके शब्द ही त्रिकोणकी तीन रेखाओंके रूपमें कल्पित हैं।

इन्हींका दूसरा नाम 'इच्छाशक्ति' 'ज्ञानशक्ति', और 'क्रियाशक्ति' है अथवा निम्नस्तरमें सत्त्व, रज और तम है। मध्यस्थ बिन्दु परा-वाक् या शब्दकी तुरीय-अवस्थाका

निदर्शन है। अतः बिन्दुयुक्त त्रिकोण मायासहित ईश्वर अथवा शक्तियुक्त शिवका ही नामान्तर है। यही सम्मिलित-रूपसे चतुर्विध वाक्तत्त्वकी समष्टि है अर्थात् शब्दब्रह्म-स्वरूप है। इसपर यथार्थ अधिकार होनेसे शब्दातीत, वेदके अगोचर, अप्रमेय, निष्कल और निरञ्जन, तत्त्वातीत सत्ताका साक्षात्कार होता है। जिसको ॐकार या प्रणव कहा जाता है, वह अर्द्धमात्रायुक्त इस त्रिकोणका ही नामान्तर है। यही योगशास्त्रकी कुण्डलिनी या शब्दमातृका है। इस त्रिकोणात्मक योनिकी तीनों रेखाएँ जब एक सरल समरेखामें परिणत होंगी, जब वह रेखा अर्धमात्रामें पर्यवसित हो जायगी और जब अर्धमात्रा बिन्दुमें विलीन होकर अव्यक्त हो जायगी, तब मध्यस्थ बिन्दु आवरणमुक्त होकर बिन्दुभावसे अतीत, सर्व-विकल्परहित अद्वैत-सत्तामें विलीन हो जायगा।

लिङ्ग-रहस्यके सम्बन्धमें मैंने अभी संक्षेपसे तुमको दो-चार बातें बतलायी हैं। इस समय इसकी विस्तृत आलोचना सम्भव नहीं है; परंतु यह तुम निश्चय समझो कि गौरी-पीठपर शिवलिङ्ग-उपासनामें अश्लीलता रत्तीमात्र भी नहीं है। इसके असली तत्त्वसे अनभिज्ञ लोग ही इस प्रकार अश्लीलताकी कल्पना कर दिल्लगी उड़ाया करते हैं। मैंने जो कुछ कहा है, उससे लिङ्गके तत्त्वका बहुत थोड़ा-सा विवेचन हुआ है। यह लिङ्गोपासना स्थूल जगत्में किस प्रकार एवं किन-किन प्राकृतिक नियमोंसे चली, इस विषयकी आलोचना यहाँ नहीं की गयी है। लिङ्गोपासनामें मृत्तिका, सुवर्ण एवं रजतादि धातु प्रभृति उपादानोंके भेदमें क्या रहस्य है और इसकी अन्यान्य आनुषङ्गिक क्रियाओंका क्या रहस्य है एवं देव-जगत्में विष्णुप्रभृति देवताओंकी अपेक्षा शिव-तत्त्वसे इसका अधिकतर घनिष्ठ सम्बन्ध क्यों है—ये सब बातें इस लेखमें नहीं उठायी गयी हैं। लिङ्ग-रहस्य यथार्थरूपसे बुद्धिगोचर होनेपर ये सब स्थूल विषय और भी सहज ही समझमें आ सकेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है।

शक्ति-उपासनाकी आवश्यकता और उसका आध्यात्मिक रहस्य

(लेखक—श्रीस्वामीजी श्रीदिव्यानन्दजी सरस्वती)

भगवान् शंकर पार्वतीको तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हुए कहते हैं—'हे देवी! प्राणिमात्रके हितार्थ तथा विशेषकर कलियुगके जीवोंके लिये वेद-शास्त्र (निगमों) के समान ही मैंने आगम-शास्त्रकी रचना पहलेसे ही कर दी है, जिसमें वेदोंका ही सार है, किंतु इसमें एक विशेषता यह है कि जहाँ वैदिक मार्गद्वारा मोक्ष चाहनेवाले व्यक्तिको लौकिक विषय-भोगोंका त्याग करना पड़ता है, वहाँ इस आगम-शास्त्रके अनुयायीके लिये इस शास्त्रमें प्रेय (भोग) और श्रेय (मोक्ष) दोनोंको साथ-साथ प्राप्त करनेका सुगम मार्ग बतलाया गया है। कहा है—

यत्रास्ति भोगो नहि तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो नहि तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

यह आगम-शास्त्र एक अनूठा शास्त्र है, जिसमें तुच्छ-से-तुच्छ वस्तुसे लेकर उत्तम-से-उत्तम वस्तुका तथा निकृष्ट-से-निकृष्ट कार्यसे लेकर उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट कार्यका सुन्दर वर्णन किया गया है। इसके द्वारा चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मका अनुसरण करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति करनेमें पूर्ण सफल हो सकते हैं। इसमें बताये हुए अनुष्ठान ऐसे सुगम एवं सरल हैं कि मनुष्य सात्त्विक, राजसिक या तामसिक किसी भी प्रकृतिका क्यों न हो, वह इससे यथेच्छ लाभ प्राप्त कर सकता है। अन्य शास्त्रोंके अनुसरणसे ऐसा कर सकना अतीव दुष्कर है। इन कारणोंसे यदि इसे पूर्ण विधि-शास्त्र नाम दिया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस आगम-शास्त्रको मन्त्र-शास्त्र एवं शक्ति-शास्त्र भी कहते हैं।

गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णके कथन 'योगः कर्मसु कौशलम्' के अनुसार 'कर्मोंमें कुशलता ही योग' है। प्रकृति माताद्वारा रचित कोई भी पदार्थ अच्छा या बुरा नहीं है। उनकी अच्छाई या बुराई तो उनके व्यवहारपर निर्भर है। दूधको ही लीजिये—यह एक उत्तम पदार्थ है; परंतु यदि वह नमक मिलाकर अथवा अपनी पाचन-शक्तिसे अधिक मात्रामें पिया जाय तो क्या वह हानिकर नहीं होगा? संखिया विष है, यदि उसका एक कण भी खा लिया जाय तो उसका परिणाम प्राणघातक ही होगा। परंतु यदि कोई चतुर वैद्य इसी संखियाको संशोधन कर उसे किसी पौष्टिक पदार्थके साथ खिलाता है तो वही पुष्टिवर्धक और

शक्तिदायक सिद्ध होता है। दूध वही है और संखिया वही है, पर व्यवहारके भेदके कारण दूध जो अच्छा है वह बुरा और संखिया जो बुरा है, वह अच्छा बन जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें समझना चाहिये। विधिवत् प्रत्येक वस्तु ग्राह्य और विधिविहीन प्रत्येक वस्तु त्याज्य है। क्रोध बुरा है, पर यदि शिक्षक या माता-पिता अपने शिष्य एवं पुत्रको कुमार्गसे सुमार्गमें लानेके हेतु क्रोधका विवेकपूर्वक प्रयोग करें तो क्या वह बुरा कहा जा सकता है? वह क्रोध तो बच्चेके हितके लिये है; अतः उसे बुरा नहीं कहा जा सकता। राम-नाम तीनों कालोंमें सत्य है, पर यदि कोई मनुष्य किसी व्यक्तिकी बरातमें जाकर या विवाह-मण्डपमें 'रामनाम सत्य है' बोले तो सत्य होनेपर भी क्या उसका फल अच्छा होगा? वहाँ तो रामनामकी सत्यता प्रकट करनेवालेकी अच्छी मरम्मत की जायगी; कारण कि इस लोकोक्तिका प्रयोग केवल उसी समय किया जाता है जब किसी मृतक प्राणीकी अर्थी ले जायी जाती है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक समयमें देश, काल, व्यवस्था एवं परिस्थिति देखनेकी आवश्यकता है। जैसी परिस्थिति हो, उसीके अनुसार वैधरूपमें अपनेमें सुचारुरूपसे परिवर्तन कर लेना चाहिये। यही कार्यमें कुशलता है। यही भगवान् श्रीकृष्णद्वारा कहे गये बुद्धियोगका रहस्य है। 'महाभारत' ऐसे अनेकानेक उदाहरणोंसे भरा पड़ा है।

शक्तिके बिना कोई भी पुरुषार्थ सफल नहीं हो सकता। प्रत्येक अणु-परमाणुमें अधिदैवत शक्ति है; वही उसका संचालन करती है और उस वस्तुका धर्म कहलाती है। उदाहरणार्थ—अग्निमें उष्णता, प्रकाश और दाहकता एवं पुरुषमें पुंस्त्व उसका धर्म है। इस शक्तिके बिना अग्निको अग्नि और पुरुषको पुरुष नहीं कह सकते।

सारा संसार किसी-न-किसी रूपमें शक्तिका उपासक है। आजका वैज्ञानिक भी इसे इनर्जी, नेचर, पावर आदि नामोंसे स्वीकार करता है। शक्तिकी उपासना बहिर्मुखी हो सकती है और अन्तर्मुखी भी। साधनाके बाह्य रूप अनेक हो सकते हैं, पर साध्य वस्तु (शक्ति) एक ही है। सारी शक्तियाँ आत्मामें केन्द्रित हैं। इस आत्मशक्तिको जाग्रत् करनेपर ही लौकिक और पारलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। शक्ति-तत्त्वकी कैसी महत्त्वपूर्ण व्याख्या की गयी है। कहा है—

एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य
विविधा वदन्ति व्यवहारकाले।
भोगे भवानी पुरुषेषु लक्ष्मीः
कोपे तु दुर्गा प्रलये तु काली॥

शक्ति-उपासनाका आध्यात्मिक रहस्य

शक्ति (देवी)की उपासनासे लौकिक वैभवके अतिरिक्त ज्ञानकी भी प्राप्ति होती है। लोक-व्यवहारमें भी यह देखनेमें आता है कि बच्चा पिताकी अपेक्षा माताको अधिक चाहता है; क्योंकि माता स्वभावतः सहृदय और वात्सल्यमयी होती है तथा अपने बच्चेकी आवश्यकताओंका पूरा ध्यान रखती है। आध्यात्मिक मार्गमें भी साधकका पिता शिवकी अपेक्षा माता दुर्गाके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

परम्परासे प्राप्त हमारे धार्मिक कृत्यों—पूजा, व्रतादिके अनेक अभिप्राय हैं। साधारण अर्चा-पूजाके अतिरिक्त इनमें आध्यात्मिक गुप्त रहस्य भी भरे रहते हैं। उदाहरणार्थ—शक्तिपूजाके महान् पर्व नवरात्र-महोत्सवको ही लीजिये। बाहरी रूपसे तो यह नवरात्र-महोत्सव एक प्रकारका विजयोत्सव है, जो देवीके राक्षसोंको मारकर उनपर विजय प्राप्त करनेके उपलक्षमें मनाया जाता है, परंतु आध्यात्मिक साधन-मार्गमें प्रत्येक तीन-तीन दिनोंमें क्रमशः महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वतीका पूजन करना अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। इसमें मनुष्यके लिये क्रमोन्नति कर जीवत्वसे शिवत्व प्राप्त करनेका संकेत है।

मानव-जीवनका लक्ष्य है—'अपने जीव-भावको हटाकर शिवभावको प्राप्त करना।' इसके लिये साधकको सर्वप्रथम अपने अन्तःकरणसे दुर्गुणों, अपवित्रताओं तथा आसुरी भावोंको हटाकर उनके स्थानमें सद्गुणों एवं शुद्ध शान्त सात्त्विक भावोंको भरना पड़ेगा। इस प्रकार तमोगुणके निष्कासन तथा सत्त्वगुणकी अभिवृद्धिसे साधकके शुद्ध हृदयमें शनैः-शनैः ज्ञानोदय होता है। इसके लिये दृढ़ इच्छा और अथक प्रयासकी अपरिहार्य आवश्यकता है।

अब यह देखना है कि नवरात्रके पहले तीन दिनोंमें मातृशक्तिकी उपासना दुर्गा या कालीके रूपमें किस प्रकार की जाती है। हम दुर्गादेवीसे अपनी मलिनता, दुर्गुणों और दोषोंको नष्ट करनेकी प्रार्थना करते हैं। इसपर दुर्गादेवी हमारे भीतर आसुरी वृत्तिरूप जो असुरगण हैं, उनसे संग्राम कर उन्हें समूल नष्ट कर डालती हैं और हमें भयंकर अन्धकूप और आपत्तियोंसे बचाती हैं। इस प्रकार नवरात्रके प्रथम

तीन दिनोंमें जो महाकालीके पूजनका विधान है, वह हमारे कुसंस्कारों, हमारी दुर्वासनाओं तथा आसुरी वृत्तियोंके साथ संग्राम कर उन्हें नष्ट कर डालनेकी प्रथम स्थितिका ही द्योतक है।

अब जब एक बार हमारी आसुरी वृत्तियोंकी इतिश्री हो चुकी तो हमें उसके स्थानमें दैवी सम्पत्तिको—श्रीमद्भगवद्गीताके १६वें अध्यायमें वर्णित सात्त्विक गुणोंको भरना पड़ेगा। यदि इन सद्‌गुणोंकी वृद्धि यथार्थरूपसे न हुई तो सम्भव है कि हमारी पुरानी आसुरी वृत्तियाँ फिरसे हमपर आक्रमण करनेमें समर्थ हो जायँ। अतः सद्‌गुणोंकी वृद्धि बहुत ही सावधानीके साथ करनी चाहिये। नवरात्रके मध्यके तीन दिनोंमें जो श्रीमहालक्ष्मीका पूजन किया जाता है, वह इसी साधनास्थितिका द्योतक है। वह महालक्ष्मी अपने भक्तोंको दैवी सम्पद्‌रूप अक्षुण्ण द्रव्य प्रदान करती हैं। वह सात्त्विक शक्ति है, वह तुष्टि है, वह पुष्टि है। साधकमें जब आसुरी वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं तथा सात्त्विक गुणोंकी वृद्धि होती है, तो वह ज्ञान प्राप्त करनेके पूर्णतः योग्य बन जाता है। इसी स्थितिसे ब्रह्मज्ञानस्वरूपिणी श्रीमहासरस्वतीका पूजन प्रारम्भ होता है। उसकी दिव्य वीणा मधुर ध्वनि करती है। मातृश्रीका श्वेत वस्त्रालंकार आत्मज्ञानका द्योतक है। नवरात्रके अन्तिम तीन दिनोंमें जो महासरस्वतीका पूजन किया जाता है, वह नादब्रह्म तथा आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रशस्त है। भगवती श्रीसरस्वतीकी कृपासे विशुद्ध ज्ञानके द्वारा जीव अपने जीव-भावको त्यागकर जीवन्मुक्ति प्राप्त करता है। वह सत्-चित्-आनन्दरूप हो जाता है। वह सोऽहं-भावमें लीन हो जाता है। यही मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य है। यही जीवकी विजय है। यही नवरात्रके अन्तिम दसवें दिनकी विजय-दशमीके महोत्सवका रहस्य है। आध्यात्मिक मार्गमें उपर्युक्त तीनों स्थितियोंको पार करनेपर ही पूर्ण सफलता मिल सकती है, अन्यथा नहीं।

नवरात्रके तीन-तीन दिनोंमें क्रमशः महाकाली, महालक्ष्मी तथा महासरस्वतीकी उपर्युक्त पूजन-पद्धति भारतके दक्षिण प्रदेशमें प्रचलित है। सम्भवतः अन्य प्रदेशोंमें भी कहीं प्रचलित हो।

माताकी उपासना

(लेखक—पं० श्रीमूलनारायणजी मालवीय)

ध्यानादिद्वारा अपने इष्टदेवताका चिन्तन, सेवा, पूजा, भजन, कीर्तन और आराधनाको ही 'उपासना' कहा जाता है। अधिकतर यह देखा गया है कि संसारमें जो भी महान् पुरुष हुए हैं वे सभी ईश्वरके उपासक थे। वास्तवमें मनुष्यके लिये सुख और शान्ति प्राप्त करनेका सरल-सिद्ध मार्ग केवल भगवान्‌की उपासना ही है। परमहंस श्रीरामकृष्णजीका कहना है कि 'ईश्वरके नाम और भजनके भाव अनन्त हैं, उनमेंसे जिस मनुष्यको जो नाम तथा भाव पसंद है, वह उसीसे उसको पुकारता तथा उसका ध्यान करता है और वह उसीसे ईश्वरको पाता है।'

कुछ वर्षोंकी बात है। रात्रिके शान्त वातावरणमें त्रिवेणीतटपर मेरे पूज्यपाद गुरुदेवने माताकी उपासनाके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट किये थे। उसीके आधारपर कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ। यद्यपि माताके अनेक नाम और रूप हैं; किंतु महालक्ष्मी, महासरस्वती और महाकालीका ध्यान भक्त इस प्रकारसे किया करते हैं—

लक्ष्मीप्रदानसमये नवविद्रुमाभां
विद्याप्रदानसमये शरदिन्दुशुभ्राम्।
विद्वेषिवर्गविजये हरिनीलवर्णां
मस्त्वां त्रिलोकजननीं प्रजनीं प्रपद्ये॥

जगज्जननी त्रिगुणमयी माताके राजसीरूपमें महालक्ष्मी, सात्त्विकीरूपमें महासरस्वती और तामसीरूपमें महाकालीके दर्शन होते हैं। महालक्ष्मी सत्-रूपा, महासरस्वती चित्-रूपा और महाकाली आनन्दरूपा मानी गयी हैं।

माता भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी हैं, इसीलिये श्रीसुन्दरीदेवीका भक्त कहता है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

उपासना हर दृष्टियोंसे लाभकारी सिद्ध हुई है, चाहे निष्काम हो या सकाम। दुखी द्रौपदीका कहना था—

'महदापत्तिसम्प्राप्तौ स्मर्तव्यो भगवान् हरिः ।'

अर्थात् 'भारी विपत्ति पड़नेपर भगवान् हरिका स्मरण करना चाहिये।' शंकराचार्यजी महाराज माताकी प्रार्थना इस प्रकारसे करते हैं कि आपत्तिमें मग्न रहनेपर यदि आपका स्मरण किया जाता है तो यह मेरी कोई शठता नहीं है; क्योंकि जब बालक भूखा और प्यासा होता है, उस समय वह माताका ही स्मरण करता है।

आपत्सु मग्नः स्मरणं त्वदीयं
करोमि दुर्गे करुणार्णवे शिवे ।
नैतच्छठत्वं मम भावयेथाः
क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरन्ति ॥
(देव्यपराधक्षमापन० १०)

उशना कवि बड़ी नम्रतासे मातासे कहते हैं—

यदि स्यां तव पुत्रोऽहं माता त्वं यदि मामकी ।
दयापयोधरस्तन्यसुधाभिरभिषिञ्च माम् ॥

आधुनिक युगके संस्कृतके महान् विद्वान् काशीके पं० शिवकुमार शास्त्रीने माता अन्नपूर्णाके सामने खड़े होकर स्पष्ट शब्दोंमें प्रार्थना की कि 'भले ही दूसरे देवता मेरी अवहेलना करें, किंतु माता तू मेरी उपेक्षा न करना।'

चित्तं ममातितमसाऽऽवृतमीशहृद्ये
चेतोऽतिकुत्सितचिताञ्चितमाद्यविद्ये ।
भावाः स्पृशन्ति घृणयन्ति सुराः शरण्ये
नोपेक्ष्यमत्रनटनं तव दक्षकन्ये ॥

महामना मालवीयजीकी 'ईश्वर'नाम्नी पुस्तिकामें आया है कि 'घट-घटव्यापक उस परमात्माकी विमल भक्तिके साथ उपासना करनी चाहिये।' विश्वरूपसे माताकी उपासनाका उपदेश नीचे लिखी हुई इन पंक्तियोंमें इस प्रकारसे होता है—

सर्वदेवमयी देवी सर्वदेवीमयं जगत् ।
अतोऽहं विश्वरूपां त्वां नमामि परमेश्वरीम् ॥

ऐसे माताके सुन्दर स्वरूपोंका ध्यान अनेक प्रकारसे किया जाता है और उनकी मंजुल मूर्तिके दर्शन कर हृदय आह्लादित हो उठता है, किंतु जिस समय हम शंकराचार्यजीकी आनन्दलहरी (३) का यह श्लोक पढ़कर माताकी उपासना करते हैं, उस समय मनमें अनिर्वचनीय सुखका अनुभव होता है—

मुखे ते ताम्बूलं नयनयुगले कज्जलकला
ललाटे काश्मीरं विलसति गले मौक्तिकलता ।
स्फुरत्काञ्ची शाटी पृथुकटितटे हाटकमयी
भजामि त्वां गौरीं नगपतिकिशोरीमविरतम् ॥

माता दुर्गाजीका उपासक इस प्रकारसे धारणा करता है कि ''सब मन्त्रोंमें 'मातृका' मूलाक्षररूपसे रहनेवाली, शब्दोंमें अर्थरूपसे रहनेवाली, ज्ञानोंमें चिन्मयातीता, शून्योंमें शून्यसाक्षिणी तथा जिनसे परे और कुछ नहीं है, वहीं दुर्गा हैं''—

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी ।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी ॥
यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता ।

'ऐसी ही दुर्विज्ञेय, दुर्गम, दुराचारविनाशिनी, संसार-सागरसे तारनेवाली भगवती दुर्गाको मैं भवभीतजन प्रणाम करता हूँ'—

तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम् ।
नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम् ॥

मैं तो प्रातः नित्यप्रति नीचे लिखी हुई इस कविताका पाठ करता हूँ—

मातः ! भव्य भावना भर दे ।
काम, क्रोध, मद, लोभ, ईर्ष्या, द्वेष हृदयसे हर दे ॥
चित चंचल चहुँ ओर फिरत है चरण-कमलमें कर दे ।
मुखसे निकसे मधुर वचन 'माँ' ऐसा सुन्दर स्वर दे ॥
नित प्रति तेरी दया-दृष्टि हो, यही एक अब वर दे ।
मैया मेरी नत-मस्तक हूँ, वरद हस्त सिर धर दे ॥

शाक्त-सम्प्रदाय

(लेखक—पं० श्रीरामप्यारेजी मिश्र, एम्० ए० (संस्कृत तथा हिंदी) व्याकरण-शास्त्राचार्य, साहित्यरत्न)

भारतीय 'मोक्ष'को परम साध्य मानते हैं। त्रिवर्गसार 'धर्म' उसका सहायक होनेके कारण अतीव उपकारक है। न्यायोपार्जित सदाचार संचित 'अर्थ' एवं धर्मसम्मत 'काम' लोकयात्रा-सञ्चालनमात्रके लिये सेवनीय हैं; किंतु शाश्वत शान्तिके लिये तो ज्ञान, कर्म, उपासना, योग, तप तथा त्याग ही सहायक हैं। तत्त्वचिन्तनकी यह उपलब्धि भारतीय पुनीत मनीषाकी अमृतधारा है। इन पावन पथोंका पथिक पारलौकिक, लौकिक तथा नित्यके व्यावहारिक जीवनमें भी आनन्द प्राप्त करके जीवनको धन्य बना लेता है। उसका व्यक्तित्व सबल, सशक्त, निर्मल एवं उज्ज्वल कीर्तिसे सुरभित हो जाता है। स्वस्थ समाज तथा सबल राष्ट्रकी भी प्रतिष्ठा शक्तिपर ही आधारित है। इन्हीं परमार्थोंकी प्राप्तिके लिये अध्यात्मप्रधान भारतके तत्त्वदर्शियों, ऋषियों, योगियों, महात्मा पुरुषों एवं साधकोंने जीवन-संघर्षमें मानवशक्ति तथा प्रतिमाको अपूर्ण, असमर्थ, असहाय देखकर स्थूलसे सूक्ष्म, दृश्यसे अदृश्य तथा मानवशक्तियोंसे परे दैवी-शक्तियोंसे सम्बन्ध स्थापितकर आपत्तिनिवारण, मुक्ति तथा भुक्ति प्राप्त करनेका प्रयास किया है। अलौकिक सत्ता मन-वाणीसे अगोचर, सर्वशक्तिसम्पन्न, निराकार तथा निर्विकार है। योगियोंने उसे सकल विशेषणविशिष्ट या विशेषतारहित अनिर्वचनीय स्वानुभूत्येकमान माना है। उसीकी विभिन्न नाम-रूपोंसे उपासना कर हम सदा शक्ति, वैभव तथा ज्ञान प्राप्त करते हैं। वेदोंमें इन्द्र-इन्द्राणी, अग्नि-आग्नेयी, द्यावा-पृथ्वी, पूषन्-उषा, अदिति-ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदोंमें ॐकार, ब्रह्म, आत्मा, प्रकृति, ज्योति, प्राण तथा गायत्री; पुराण-शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य तथा गणपति आदिके रूपमें उपासनाका विशेष महत्त्व बतलाया गया है।

साधनक्षेत्रमें ज्ञान, कर्मकी अपेक्षा उत्तरोत्तर भक्तिका लोकजीवनपर प्रभाव बढ़ता गया। श्वेताश्वतर, मुण्डक, कठ तथा स्वयं ऋग्वेदके 'यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।' (१० । १२५ । ५) 'जिसे मैं चाहता हूँ उसे तेजस्वी, ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण ऋषि तथा निर्मल मेधाशक्तिसे युक्त कर देता हूँ।'—वचनोंसे अगम ज्ञान तथा विषम कर्मकी अपेक्षा सरस भक्तिको विशेष महत्त्व दिया गया है।

व्यापकता, प्रभाव एवं सुगमताके कारण देवोंकी अपेक्षा शक्तिकी उपासना लोकमें विशेष फलवती मानी गयी। शक्तिमान् देव भी स्व-स्व-शक्तिसे संचालित तथा सामर्थ्ययुक्त होते हैं। अङ्कुरमें बीज, अग्निमें ज्वाला, तरलत्वमें जल, आकाशमें अवकाश, धृति, कीर्ति, बुद्धि, श्री, स्मृति, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा, क्षमा, कान्ति, ह्री, वाक्— सभी नारियाँ हैं तथा प्रकारान्तरसे चराचरमें सर्वत्र शक्ति व्याप्त है। उस शक्तिको जानकर उसकी उपासनासे सर्वस्व प्राप्त किया जा सकता है। 'मातृदेवो भव'के प्रथम संकेत, 'न मातुः परं दैवतम्' में मातृभक्ति तथा देवीके सर्वश्रेष्ठ देवता होनेका निर्देश भी किया गया है। इसी धारणाके कारण सच्चिदानन्द परब्रह्मकी स्वाभाविक पराशक्तिको शाक्त-सम्प्रदायमें उपास्य परम देवता माना जाता है। परमतत्त्वका पुँल्लिंग, नपुंसकलिंगके साथ ही स्त्रीलिंगमें भी निर्देश प्राप्त है। यथा—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।'
(श्वे० उप० ४ । ५)

'आदिशक्ति अजा एक है। उसके लोहित, शुक्ल, कृष्ण-रूपोंसे ही विविध प्रकारकी सृष्टि हुई थी।'

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत। एतद्वै तत्।
(कठ० २ । १ । ७)

'जो देवतामयी अदिति प्राणरूपसे प्रकट होती है तथा जो बुद्धिरूप गुहामें प्रविष्ट होकर रहनेवाली और भूतोंके साथ प्रकट हुई है, उसे देखो। निश्चय ही यही वह तत्त्व है।'

इसी महाशक्तिकी स्तुति ब्रह्मादि सभी देवता करते हैं। उसीको माया परमेश्वरी कहा गया है—

परमात्मा शिवः प्रोक्तः शिवा मायेति कथ्यते।
पुरुषः परमेशानः प्रकृतिः परमेश्वरी॥
(शिवपुराण)

'परमात्माको शिव तथा मायाको पार्वती कहा गया है। शिव ही पुरुष हैं तथा परमेश्वरी पार्वती प्रकृति हैं।'

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥
(सौन्दर्यलहरी)

'शिव शक्तिसे युक्त होकर ही सृजन-पालन-संहारमें समर्थ होते हैं। यदि वे शक्ति-विरहित हों तो स्पन्दन भी नहीं कर सकते । इसीलिये विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा भी उनकी आराधना करते हैं। पुण्यात्मा ही कोई देवीको प्रणाम तथा उनकी स्तुति कर सकता है ।

ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, राम और कृष्णकी सभी गति-विधियों, क्रियाओं, सफलताओंमें माया, सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, सीता तथा राधा ही कारण हैं । सांख्यशास्त्रमें यही प्रकृति अमृता कला है—

'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम् ।'

महाशक्ति ही शारीरिक विकार, मोह, अहंकार, आलस्य, राग-द्वेष तथा वासनाके प्रतीक मधुकैटभ, महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ, धूम्रलोचन, चण्ड, मुण्ड तथा रक्तबीजका सामर्थ्य या धर्म-सिंहपर आरूढ़ होकर प्रभुत्व स्थापित करनेवाले विविध अस्त्र-शस्त्रोंसे लक्ष-लक्ष दुष्प्रवृत्तिरूप असुरोंके साथ ही लीला-लीलामें ही विनाश कर देती हैं। यही देवी तृतीय नेत्रसे ज्ञानकी वर्षा कर ज्ञानियोंको अमृत प्रदान करती हैं। देवी तथा ब्रह्ममें वास्तविक भेद नहीं है। इसका प्रतिपादन इस प्रकार है—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च ।
योऽसौ साहमहं यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात् ॥
(देवी० ३ । ६ । २)

'मैं और ब्रह्म एक ही हैं, मुझमें और ब्रह्ममें किञ्चिन्मात्र भेद नहीं है। जो वे हैं वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही वे हैं। भेदकी प्रतीति बुद्धिभ्रमके कारण होती है।' सांसारिक रागी पुरुष सगुण शक्ति तथा विरागी 'निर्गुण'के पूजक हैं।* शक्ति एक ही है। आराधकोंके गुण-कार्य-भेदसे उसके महाकाली, महा-लक्ष्मी, महासरस्वती—शिव, विष्णु, ब्रह्माके समानधर्मारूप हो जाते हैं। कहीं-कहीं आद्यादेवी महालक्ष्मीको मानकर, उन्हींसे काली, सरस्वतीका प्रादुर्भाव माना गया है।

गणेशजननी दुर्गा राधा लक्ष्मीः सरस्वती।
सावित्री च सृष्टिविधौ प्रकृतिः पञ्चधा स्मृता॥
(देवी० ४ । १ । १)

भगवान् नारायणने नारदको बताया कि—'नारद! गणेशजननी दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती और सावित्री—ये देवियाँ सृष्टिकी पाँच प्रकृति कही जाती हैं।' यही देवियाँ दुष्टदलन तथा धर्मस्थापनके लिये अवतीर्ण होती हैं। देवीने स्वयं कहा है—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥
(मा० पु० ९१ । ५१)

'इस प्रकार जब-जब संसारमें दानवी बाधा उपस्थित होगी, तब-तब अवतार लेकर मैं शत्रुओंका संहार करूँगी।'

वस्तुतः एक देवीके ही लीलावशात् विभिन्न रूप हैं। कुछ मनीषियोंकी धारणा है कि "तात्त्विक पाँच विवर्ग—प्राण, भूति, ध्वनि, तेज और प्रमा ही कालान्तरमें पौराणिक तान्त्रिक—राधा, लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा और सावित्रीके नामसे विख्यात हो गये। इसी प्रकार दिव्य 'पवित्र शक्ति' 'गङ्गा'का एवं 'रक्षिका शक्ति' 'तुलसी'का स्थान पा गयी।" शाक्तमतमें यह भी माना जाता है कि देवीके दक्षिणाङ्गुष्ठके नखसे मत्स्य, तर्जनीसे कूर्म, मध्यमासे वाराह, अनामिकासे नृसिंह, कनिष्ठिकासे वामन, वामकराङ्गुष्ठसे परशुराम, तर्जनीसे राम, मध्यमासे कृष्ण और अनामिकासे बौद्धमतके प्रवर्तक बुद्धने अवतार लिया था एवं भविष्यमें कल्कि अवतार वाम करकी कनिष्ठिकासे होगा। इस प्रकार शङ्खासुर, हिरण्याक्ष, हिरण्य-कशिपु, रावण तथा कंसवध देवीकी कृपाके ही परिणाम हैं।

आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व तथा शिवतत्त्वकी प्राप्तिके लिये महाशक्तिकी उपासना वैदिक, तान्त्रिक तथा मिश्र विधियोंमेंसे किसी एकके द्वारा गुरु-उपदेशसे की जाती है। देवीभागवतको भगवतीका स्वरूप ही माना जाता है। उसमें तत्त्वनिरूपक, स्तोत्रात्मक अनुष्ठान-पद्धति एवं कथानिरूपक समीका पूर्ण सामञ्जस्य है। तन्त्रानुसारी एवं पौराणिक दोनोंका इसपर समान सम्मानभाव है। शिवसाधनोपासी, लतासाधनोपासी तथा वामाचार-भेदसे देवीकी उपासनाका प्रसार हो गया। वाममार्गके भी पाँच प्रकार हो गये। यथा—

* सगुणा निर्गुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः ।
सगुणा रागिभिः प्रोक्ता निर्गुणा तु विरागिभिः ॥
(देवीभागवत)

कौलिकोऽङ्गुष्ठतां प्राप्तो वामः स्यात्तर्जनीसमः।
चीनक्रमो मध्यमः स्यात् सिद्धान्ती योऽवरो भवेत्॥
कनिष्ठः शाबरो मार्ग इति वामस्तु पञ्चधा।

'वाममार्ग पाँच प्रकारका हो गया—'कौलिक' अंगुष्ठ, 'वाम' तर्जनी, 'चीन' मध्यमा, 'सिद्धान्ती' अनामिका तथा 'शाबर' कनिष्ठिका स्थानीय माने जाते हैं।'

शाक्तमतकी उपासनामें बाह्य तथा आभ्यन्तर आचारोंके पालनपर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रातःकालसे सायंतककी विधियोंका पूर्ण पालन, षट्चक्रभेदन तथा कुण्डलिनी-जागरणके अनन्तर ही शक्तिकी उपासना फलवती होती है। इसीलिये इसे अत्यन्त 'रहस्यपूर्ण' माना गया है।

अन्यास्तु सकला विद्याः प्रकटा गणिका इव।
इयं तु शाम्भवी विद्या गुप्ता कुलवधूरिव॥

'अन्य सभी विद्याएँ गणिकाकी भाँति प्रकट हैं—सर्वसुलभ हैं; किंतु यह शाम्भवी विद्या कुलवधूकी भाँति गुप्त है।' अधिकारीको ही इसकी दीक्षा दी जाती है। कौलिक ही वास्तविक अधिकारी है। कुलकी भी अनेक परिभाषाएँ हैं, किंतु तथ्य इस प्रकार है—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥

'कुलको 'शक्ति', अकुलको 'शिव' तथा कुलमें अकुलके सम्बन्धको 'कौल' कहते हैं।' कौल पञ्चमकारोंका भी प्रयोग करते हैं—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम्॥

'योगियोंको मद्य, मांस, मीन, मुद्रा तथा मैथुनका सेवन मुक्तिदायक है।'

किंतु इन पञ्चमकारोंका तत्त्वार्थ-ज्ञान वाच्यार्थसे सर्वथा भिन्न प्रतीकात्मक है। उसे भलीभाँति तन्त्र-ग्रन्थों तथा गुरुमुखसे जान लेना ही उचित है। जैसे मद्यका अर्थ है—

'ब्रह्मरन्ध्र-सहस्रदलसे शिवशक्ति-सामरस्यसे निःसृत स्वरूप अमृत, जिसे योगीजन खेचरीमुद्रासे पान करते हैं।' इसी प्रकार मांस आदिके भी अर्थ साधारण प्रचलित अर्थोंसे सर्वथा भिन्न हैं।

शाक्तमतकी आराध्यादेवी शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायोंमें भी पार्वती, सीता, राधा आदि रूपोंमें पूजी जाती हैं। वेदमाता गायत्रीकी उपासना सभी द्विज करते हैं—

सर्वे शाक्ता द्विजाः प्रोक्ता न शैवा न च वैष्णवाः।
आदिशक्तिमुपासन्ते गायत्रीं वेदमातरम्॥

'आदिशक्ति वेदमाता गायत्रीकी उपासना करते हैं इसलिये सभी द्विज शाक्त हैं—शैव-वैष्णव नहीं।'

ऐश्वर्य, पराक्रम तथा ज्ञान प्रदान करनेके साथ ही महाशक्ति अपने भक्तोंके बाहरी तथा भीतरी शत्रुओंका नाशकर उन्हें आपत्तियोंसे विमुक्त कर देती है। इसीलिये भारतमें सर्वत्र देवीकी उपासना की जाती है। इस देशके बाहर भी अनेक देशोंमें, भारतीय पद्धतिसे तो नहीं, प्रकारान्तर तथा नामान्तरोंसे शक्ति-उपासना प्रचलित है। मिश्र, फिनीशिया और यूनानमें देवीकी पूजाके प्रमाण मिलते हैं। इस अनास्थाके भौतिक एवं अर्थ-कामलोलुप युगमें भी भारतके प्रत्येक भागमें बिखरे हुए प्रख्यात एक सौ आठ 'देवीधाम' तथा इक्यावन 'शक्तिपीठ' ऐसे हैं, जहाँ शाक्तगण नित्य देवीकी आराधना करते हैं।

ऐसी पौराणिक ख्याति है कि दक्षयज्ञमें सतीके देह-त्यागके अनन्तर भगवान् शिवने उन्हें स्कन्धपर धारणकर विमन होकर इधर-उधर भ्रमण करना आरम्भ कर दिया। विश्वमें एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी। विष्णुभगवान्ने सतीके शरीरको काट-काटकर चक्रसे जिस-जिस स्थानपर भूमिपर गिराया, वहाँ-वहाँ शाक्तसम्प्रदायके अतिपूज्य सिद्धस्थल शक्तिपीठ हो गये। सतीके शरीरके कटिभागसे ऊपरके भाग जहाँ गिरे, वे स्थान दक्षिणमार्गकी उपासनाके लिये और जहाँ कटिसे नीचेके भाग गिरे, वे स्थल वाममार्गकी उपासनामें विशेष फलप्रद माने जाते हैं।

इनके अतिरिक्त काञ्ची, मलयगिरि, मलाबार, गुजरात, कोल्हापुर, मालवा, प्रयाग, वाराणसी, विन्ध्याचल, गया, बंगाल तथा नैपालमें देवीकी बारह शक्तियाँ—कामाक्षा, भ्रामरी, कन्याकुमारी, अम्बा, महालक्ष्मी, कालिका, ललिता, विशालाक्षी, विन्ध्यवासिनी, मङ्गलावती, सुन्दरी तथा गुह्यकेश्वरी स्थित हैं। इनके दर्शनमात्रसे सभी पाप छूट जाते हैं। मानवकी सभी आकाङ्क्षाएँ पूर्ण होती हैं। काशीमें नवदुर्गा—(१) शैलपुत्री, (२) ब्रह्मचारिणी, (३) चन्द्रघण्टा, (४) कूष्माण्डा, (५) स्कन्दमाता, (६) कात्यायनी, (७) कालरात्रि, (८) महागौरी

तथा (९) सिद्धिदात्रीके दोनों नवरात्रों—आश्विन तथा चैत्रमें दर्शन-पूजनको अतीव महत्त्वपूर्ण माना जाता है। ऐसा शाक्तोंका दृढ़ विश्वास है कि मातृत्व तथा रक्षकत्वकी इन शक्तियोंकी उपासना, इनके माहात्म्यपाठ, कवच, यन्त्र, तन्त्र तथा कथाश्रवणसे अग्निभय, महामारी और ग्रहपीड़ाजनित कष्टोंसे रक्षा होती है। दुःस्वप्न सुस्वप्न हो जाते हैं। बच्चोंकी पीड़ाएँ शान्त हो जाती हैं। दावाग्नि, सिंह, वनगज, राजदण्ड, कारागार, समुद्रमें पोतभङ्ग, भीषण संग्राम सभी संकटोंमें देवी रक्षा करती हैं।

ऋग्वेदमें सरस्वतीको वाक्-शक्ति एवं लक्ष्मीको सौभाग्यकी देवी एवं पूजनीय माना गया है। शतपथ, बृहदारण्यक तथा आचार्य शंकरतक सभीने देवीको पूज्य माना है। माया-ब्रह्म, प्रकृति-पुरुषकी भावना ही अर्द्धनारीश्वरके रूपमें विद्यमान है। लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्णकी उपासनामें महत्त्वके कारण ही शक्तियोंका प्रथम प्रयोग किया गया। पाणिनिके संकेतानुसार 'मातापितरौ' 'श्रद्धामेधे' 'ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः।' जैसे समस्त पदोंमें जिनको विशेष पूज्य माना गया है, उनका प्रथम प्रयोग किया गया है।

शाक्त-सम्प्रदायमें वाममार्ग एवं तन्त्रोंके प्रयोगसे एक विचित्र परिवर्तन हो गया। शैवोंकी काली-उपासना रहस्यपूर्ण हो गयी। शिवसे पार्वतीको विशेष महत्त्व मिल गया। बंगाल तथा आसामकी उपासना एवं नित्यके आचार सभी तन्त्रानुगामी हो गये। तान्त्रिक उपासनासे प्रभावित होनेके कारण ही शैव तथा वैष्णव सम्प्रदाय भी दक्षिण तथा वाममार्गोंमें विभक्त हो गये। पौराणिक आधारपर दक्षिण-पन्थ तथा कौलिकोंके तन्त्रशास्त्रके आधारको लेकर वाममार्गकी उपासना चल पड़ी। शाक्तोंकी अभिवृद्धिके कारण देवोंकी पूजा अप्रधान हो गयी। शक्तियोंमें भी काली, दुर्गा, जगदम्बिकाकी उपासनाका महत्त्व बढ़ गया। ममता-मोहसे विरक्त होकर महर्षि मेधाके उपदेशसे समाधिने देवीकी आराधना कर, ज्ञान प्राप्तकर मुक्ति प्राप्त की थी। साधारणजन इस मार्गको भूल गये। राजा सुरथकी भाँति सभी लोग राज्य तथा सावर्णिमनु-जैसे ऐश्वर्यविशिष्ट बननेके लिये शक्ति-उपासना विशेषरूपसे करने लगे।

शिवके शुक्लवर्णके अनुरूप उमा, गौरी, सरस्वती तथा लक्ष्मी-जैसी गौरवर्णकी देवियाँ पूजा पाने लगीं। प्रायः सात्त्विक प्रकृतिके लोगोंद्वारा इन देवियोंका पूजन किया जाता है। शिवके कालरूपके कारण, जो कृष्णवर्णका है, काली, चण्डी, दुर्गा तथा चामुण्डा कृष्णा या श्यामलाकृति की पूजा प्रचलित हो गयी। शिवके १००८ नामोंके सदृश, रूप-गुणोंमें भी सदृश देवीके १००८ नाम ख्यात हो गये।

शक्ति-उपासनामें (१) काली, (२) तारा, (३) त्रिपुरा या षोडशी, (४) भुवनेश्वरी, (५) भैरवी, (६) छिन्नमस्ता, (७) धूमावती, (८) मातङ्गी, (९) कमला या कमलात्मिका और (१०) बगलामुखी—इन दस महाविद्याओंका अत्यन्त महत्त्व है। वैष्णव-धर्मके दशावतारोंकी भाँति ही इनमेंसे प्रत्येकके उपासक पृथक्-पृथक् हैं। इनकी भी पूजा गोप्य मानी गयी है।

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा॥
मातङ्गी सिद्धविद्या च कथिता बगलामुखी।
एता दश महाविद्याः सर्वतन्त्रेषु गोपिताः॥

इनमें कुछके नाम भिन्न हैं; किंतु संख्या सर्वत्र दस ही है। इनमें प्रथम दो 'महाविद्या', पाँच 'विद्या' तथा अन्तके तीन 'सिद्धविद्या'के नामसे ख्यात हैं। श्रीविद्या षोडशीको मानते हैं। ललिता, राजराजेश्वरी, महात्रिपुरसुन्दरी, बालापञ्चदशी आदि उनके अनेक नाम हैं। इन्हें आत्म-शक्ति माना जाता है। इनकी उपासनासे भोग-मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति होती है। अन्यकी उपासनासे दोनोंमेंसे एक भोग या मुक्ति ही मिल सकती है। इनके स्थूल, सूक्ष्म, पर तथा तुरीय चार रूप हैं। इनके प्रमुख उपासक हैं—

मनुश्चन्द्रः कुबेरश्च लोपामुद्रा च मन्मथः।
अगस्तिरग्निः सूर्यश्च इन्द्रः स्कन्दः शिवस्तथा॥
क्रोधभट्टारको देव्या द्वादशामी उपासकाः॥

द्रव्य, भाव, स्थान, मन्त्रशुद्धिपर दृष्टि रखकर आणवी, शाक्तेयी अथवा शाम्भवी (ज्ञानवती, क्रियावती, कलावती, वर्णमयी या बोधमयी) किसी भी प्रकारकी दीक्षा ग्रहणकर गुरु, देवता तथा मन्त्रमें एकात्म-भाव रखते हुए तथा बीज, कवच, न्यास, मुद्रा सभीका पालन करते हुए साङ्ग-कुमारीपूजन, नित्य-संध्यातर्पण, [illegible] विधियोंसे आत्म-समर्पणकर आराधना करनेपर इनमेंसे किसीकी उपासना अभीष्ट फल प्रदान करती है। इनमेंसे

प्रत्येकके गुण, स्वभाव, उपासना-प्रकार, अधिकारी एवं फल विभिन्न हैं।

देवी-उपासनामें 'मातृका-पूजन' विशेषतः उत्सवों एवं संस्कारोंके अवसरपर आवश्यक माना जाता है। वैष्णवी, ब्रह्माणी, कार्तिकेयी अथवा मायूरी, इन्द्राणी, यमी, वाराही तथा ईशानी आदि प्रधान तथा नारसिंही, चामुण्डा, वारुणी, कालापी, कुरुकुल्या, नारायणी, कौमारी, पराजिता तथा अपराजिताकी पूजा कुलदेवियोंके रूपमें की जाती है। इनकी संख्या नव या षोडश मानी जाती है।

इसी प्रकार वालिनी, कामेश्वरी, विमला, अरुणा, मेदिनी, जयन्ती, सर्वेश्वरी तथा कौलेशी—इन अष्टनायिकाओं-की उपासना इस सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है।

कुछ अभारतीय भावनाओंके देशी-विदेशी तत्त्वज्ञान-रहित आलोचकोंकी दृष्टिमें देशमें इस प्रकारकी उपासनाओंसे कामुक भावनाओंको प्रश्रय मिला। किंतु सच तो यह है कि 'स्त्रियः समस्ताःसकला जगत्सु।' (दुर्गा० ११।६) 'हे देवि! सभी स्त्रियाँ देवीस्वरूप हैं।'—इस शाक्त-उद्घोषसे अधिक कहीं भी नारीको विश्वमें स्थान नहीं दिया गया और न मार्कण्डेय-पुराणकी 'दुर्गा'से अधिक तेजोमयी देवी (नारी) के अन्यत्र कहीं दर्शन ही प्राप्त हैं। शाक्तमतमें कहा गया है—

स्त्रीणां निन्दा प्रहारं च कौटिल्यं चाप्रियं वचः।
आत्मनो हितमन्विच्छन् देवीभक्तो विवर्जयेत्॥

'आत्महितैषी देवीभक्तको स्त्रीनिन्दा, प्रहार, कुटिलता तथा उसके प्रति अप्रिय वचनका प्रयोग नहीं करना चाहिये।'

कालीकी उपासना अवश्य ही शव, पञ्चमुण्डोपासना रक्तपान एवं बलि विशेषतः सिंह-नर-बलिके कारण अत्यन्त भयानक हो गयी है। आसाम एवं बंगाल मातृप्रधान देश हैं। वहाँ आज भी कालीकी उपासनामें कुछ ऐसी विधियाँ चलती हैं; पर अति अमानवीय होनेके कारण इन्हें सर्वसम्मति प्राप्त नहीं है। इसी प्रकार पीड़ादायक शक्तियों—डाकिनी-शाकिनीकी उपासना भी निम्नस्तरतक ही सीमित रह गयी है।

शाक्त-सम्प्रदायमें आश्विन, चैत्र, पौष और आषाढ़के नवरात्रों, कृष्णजन्माष्टमी (कालरात्रि), आश्विनशुक्ल चतुर्दशी (मोहरात्रि), शिवरात्रि तथा दारुणरात्रिके पावन अवसरोंपर देवीकी विशेष पूजा की जाती है। बंगीय सरस्वतीपूजा विशेष आकर्षक होती है। वाक्, काम, माया बीजमन्त्र, नवार्णजप, साङ्ग कवच, अर्गला, कीलक, रात्रिसूक्त, देवीसूक्त, ऋग्वेदोक्त देवीसूक्त, देव्यथर्वशीर्ष, रहस्यत्रय, कुञ्जिकास्तोत्रसहित दुर्गासप्तशतीके सम्पुटित या साधारण पाठ करनेवाले भी शाक्त ही हैं, जो सहज मातृ-भावसे 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।' देवीकी आराधनाकर अपार पुण्यके भागी होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि देवों, असुरों, विश्वामित्र, भृगु, वसिष्ठ, कश्यप आदि ऋषियों, दशरथ, वसुदेव, सुदर्शन, सुद्युम्न, सुरथ, समाधि ही नहीं, भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्णने भी भगवतीकी आराधना कर, असुर-संहार कर लोकमें धर्म-संस्थापन किया था। महिषासुर, मधु-कैटभ, शुम्भ-निशुम्भके साथ ही लक्ष-लक्ष असुरोंके संहारकी कथाएँ उनके ऐश्वर्य एवं कृपा दोनोंको व्यक्त करती हैं। सभी देवोंके तेज आयुधोंसे युक्त होनेके कारण एक देवी-उपासनासे ही सभी देवोंकी उपासना स्वतः हो जाती है। देवीभक्त वटुक-साधना भी करते हैं। वस्तुतः—

'सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्।'
(देवी० १।१५।५२)

'यह सारा जगत् मैं ही हूँ। मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा अविनाशी तत्त्व नहीं।' वेदोंमें देवीको ॐकारकी अर्धमात्रा तथा गायत्रीमें प्रणव माना है। देवीने स्वय हिमालयसे कहा था—'अहमेवास पूर्वं नान्यत् किंचन्नगाधिप।' 'सर्वप्रथम मैं ही थी, दूसरा कोई न था।' यही आदिशक्ति शाक्त-सम्प्रदायकी आराध्या हैं। 'इच्छाधिक-मपि समर्था वितरणे।' मनुष्यकी इच्छासे भी अधिक फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं। इनसे साधारण ऐश्वर्य, शक्ति, बल, राज्य, रिपुनाश या आपत्ति-निवारण, पुत्रादिकी कामना करना उचित नहीं—'परम आनन्दोपलब्धि' के लिये ही इन 'कल्पवल्लीस्वरूपा' महाशक्तिकी आराधना शाक्तको करनी चाहिये।

वर्तमान कालदोष, संस्कारहीनता तथा विभिन्न संस्कृतियोंके अपवित्र संक्रमणके कारण भारतकी प्राचीन स्थापनाएँ, परम्पराएँ तथा मान्यताएँ आज विकृत हो रही हैं, किंतु अघटितघटनासंघटनपटीयसी महाशक्तिकी

कृपामात्रसे सहस्र-सहस्र वर्षोंका तम क्षणमात्रमें विनष्ट हो जायगा । असीम काल है—कुछ वर्षों, शताब्दियोंकी विकृतिको सुधरते क्या देर लगेगी ? उनकी करुणामात्रसे विश्वका अज्ञान, दारिद्रय तथा अनाचार समाप्त हो जायगा । अखिल जगत् ज्ञानके आलोक, समृद्धि एवं सदाचारसे परिपूर्ण हो सकेगा । इसी आस्थासे शाक्तको शक्तिकी आराधना कर अपने एवं लोकके हितकर 'शाक्त-सम्प्रदाय'के गौरवको पुनः प्रतिष्ठापित करना ही श्रेयस्कर है ।

तन्त्रका शक्तिसिद्धान्त—प्राचीनता एवं प्रामाणिकता

(लेखक—डा० श्रीराममूर्तिजी शर्मा एम्० ए०, डी० लिट्०)

शक्त्यद्वैतवाद तन्त्रशास्त्रके ही अङ्गभूत शाक्त-तन्त्रका दार्शनिक सिद्धान्त है । 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्'के आधारपर, जिसके द्वारा ज्ञानका विस्तार किया जाता है, उसे 'तन्त्र' कहते हैं । उपर्युक्त कथनके अन्तर्गत 'तन्त्र' शब्दकी व्युत्पत्ति विस्तारार्थक 'तनु' धातुसे औणादिक 'ष्ट्रन्' प्रत्ययके योगसे सिद्ध हुई है । इसके अतिरिक्त शैव-सिद्धान्तके 'क्रमिक आगम'के अन्तर्गत प्रदत्त तन्त्रकी परिभाषाके आधारपर 'जो तत्त्व एवं मन्त्रोंसे समन्वित विविध विषयोंका विस्तारसे वर्णन करता है और साधकोंकी रक्षा करता है, उसे तन्त्र कहते हैं[1] ।' क्रमिक आगमकी उक्त परिभाषाके अन्तर्गत ज्ञानके साथ साधनापक्षको भी सम्मिलित किया गया है । सामान्यतया 'तन्त्र' शब्दका प्रयोग सांख्य, योग, न्याय और धर्मशास्त्र आदिके लिये भी मिलता है[3] । परंतु उसका साधनामूलक तन्त्र-शास्त्रसे कोई सम्बन्ध नहीं सिद्ध किया जा सकता । व्युत्पत्तिमूलक अर्थ विकासशील सिद्धान्तोंके आशयका साथ नहीं देते । इसका फल यह होता है कि व्युत्पत्ति पीछे रह जाती है और सिद्धान्त विकसित होता जाता है । आगे चलकर तो सिद्धान्तसे व्युत्पत्तिका सम्बन्ध कभी-कभी गवेषणा करनेपर भी नहीं मिलता । अतः विस्तारार्थक 'तनु' धातुके आधारपर 'तन्त्र' शब्दकी व्युत्पत्ति वर्तमान तन्त्र-शास्त्रके सम्बन्धमें कोई संकेत नहीं करती । मेरे विचारसे जिस शास्त्रके अन्तर्गत साधनाविशेषके द्वारा भोग एवं मोक्ष-प्राप्तिकी चर्चा मिलती है, उसे 'तन्त्र' कहते हैं और संक्षेपमें साधनाविशेषको 'तन्त्र' कहा जा सकता है । इस प्रकार तन्त्रके अन्तर्गत साधनापक्ष एवं दर्शनपक्ष या अध्यात्मपक्ष दोनोंका योग है । यह बात दूसरी है कि तन्त्रशास्त्रके अन्तर्गत प्राधान्य साधना पक्षका ही है । यही विशेषता तन्त्र और अद्वैत-वेदान्तादि दर्शन-पद्धतियोंको पृथक् करती है । वैसे, कतिपय तन्त्र-ग्रन्थ और अद्वैत-वेदान्त दोनोंका ही मूल एवं चरम लक्ष्य एक ही हैं । दोनोंका मूल वैदिक-दर्शन एवं चरम लक्ष्य 'मोक्ष' है । इस प्रकार तन्त्र और अद्वैत-वेदान्त दोनों ही शास्त्रोंके अन्तर्गत वैदिक एवं औपनिषद सिद्धान्तोंका ही विकास किया गया है । परंतु तन्त्र और अद्वैत-वेदान्तका यह भेद द्रष्टव्य है कि जहाँ तन्त्रमें योग और भोगकी योजना है, वहाँ वेदान्तिक योगके अन्तर्गत जीवकी जगत्से निवृत्तिके विचारका बलपूर्वक समर्थन किया गया है[1] । यहाँ यह कहना और समीचीन होगा कि जहाँ तन्त्रकी वैदिकताके अनेक प्रमाण मिलते हैं, वहाँ कुछ तन्त्र-सम्प्रदाय ऐसे भी हैं, जो वेद-बाह्य हैं । इन वेदबाह्य तन्त्र-पद्धतियोंमें प्रायः साधकके लिये मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुनके प्रयोगका समर्थन करनेवाले कुलाचारका विशेषरूपसे उल्लेख किया जाता है[3], परंतु तन्त्रग्रन्थोंका सूक्ष्म अध्ययन करनेपर यह

---

१. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥ (क्रमिक आगम)

२. स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीताम् ।
(ब्र० सू० शां० भा० २ । १ । १)

३. न्यायतन्त्राण्यनेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः ।
पतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति द्विजातयः ॥ (महाभारत)

१. P. C. Chakravarti's article—'Philosophy of the Tantras'

२. शुद्धानन्द भारतीका प्राक्कथन, तन्त्रराजतन्त्र (गणेश एण्ड क०, मद्रास)

३. 'कुलार्णव' और 'गन्धर्व-तन्त्र'के अनुसार मद्यका अर्थ बाह्य मदिरा न होकर ब्रह्मरन्ध्रमें स्थित सहस्रदलकमलसे क्षरित सुधा है, जिसका पान साधक खेचरीमुद्राके द्वारा करता है । 'कुलार्णव-तन्त्र'के अनुसार जो पुरुष पुण्य और पाप-

सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रादिकी स्थिति बाह्य-स्थूल न होकर सूक्ष्म है । परंतु यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि तन्त्रगत कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्डका मूलाधार बहुत कुछ वैदिक-दर्शन है ।

प्रायः बड़े-बड़े विद्वान् समालोचक तन्त्रसे केवल शाक्त-सम्प्रदायका ही अर्थ ग्रहण करते हैं, जो नितान्त अनुचित है । तन्त्रशास्त्रके 'ब्राह्मण-तन्त्र', 'बौद्ध तन्त्र' और 'जैन-तन्त्र' के रूपमें तीन प्रधान भेद हैं । ब्राह्मण-तन्त्रोंके भी 'पाञ्चरात्र', 'शैवागम' और 'शाक्तागम' रूपसे तीन भेद हैं ।

शक्त्यद्वैतवादके मूल तत्त्व शक्तिकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकताके विषयमें यह कहना उचित ही होगा कि शक्तिका सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितनी ऋग्वेदसंहिता । ऋग्वेदसंहिताके 'वागाम्भृणी सूक्त'के अन्तर्गत वाग् देवीका जो उल्लेख किया गया है, उसे शाक्ततन्त्रोंके 'महान् प्रासादकी भित्ति' कहा जा सकता है । प्राचीन उपनिषदोंमें शक्तिको सर्वोच्च तथा संसारकी पालनकर्त्री कहा गया है ।[२] पुराणोंमें शक्तिका वर्णन चण्डी एवं अन्य विविध देवियोंके रूपमें प्रचुर मात्रामें मिलता है । मार्कण्डेयपुराणोक्त सप्तशतीके अन्तर्गत समस्त विद्याओं एवं स्त्रियोंको भी देवीके ही भेदोंके रूपमें चित्रित किया गया है ।

शक्तिका यह मातृ-उपासनाका रूप भी अत्यन्त प्राचीन है । आरम्भमें यह उपासना अर्द्धनारीश्वरके रूपमें होती थी ।[४] इसके अतिरिक्त शबर एवं पुलिन्द भी शक्तिके उपासक थे । कतिपय विद्वानोंका मत तो यह भी है कि शक्ति-पूजाका विकास बौद्धधर्मके माध्यमसे ही सम्पन्न हुआ था । बौद्धधर्मके अन्तर्गत धर्मकी पूजा स्त्रीदेवताके रूपमें होती थी । बौद्धोंके द्वारा आदिमाता एवं बुद्धमाताके रूपमें स्त्रीदेवताकी पूजा की जाती थी । आदिमाता समस्त तथागतोंकी माता समझी जाती थीं । इसके अतिरिक्त नैपाली बौद्धधर्मके अन्तर्गत हमें शाक्त-तन्त्रकी तरह देवीके कुमारी एवं माता आदि अनेक रूप मिलते हैं । हमारे शक्ति-उपासक वैदिक विद्वान् तो मानते हैं कि भगवान्‌का यह 'शक्ति'रूप भी अनादि है और अनादिकालसे ही शक्तिकी उपासना प्रचलित है । भगवान् शक्तिमान्, अनादिकालीन तथा नित्य हैं, तो शक्ति भी अनादिकालीन तथा नित्य होनी चाहिये ।

क्या अच्छा है ?

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम् ।
वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम् ॥

चुप रहना अच्छा है पर मिथ्या वचन कहना अच्छा नहीं; पुरुषका नपुंसक हो जाना अच्छा है, परंतु पर-स्त्री-गमन अच्छा नहीं । प्राणोंका त्याग कर देना अच्छा है, परंतु चुगुलोंकी बातोंमें रुचि रखना अच्छा नहीं; और भिक्षा माँगकर खा लेना अच्छा है, परंतु दूसरोंके धनके उपभोगका सुख अच्छा नहीं है ।

रूपी पशुओंको ज्ञानरूपी खड्गके द्वारा मारकर अपने मनको ब्रह्ममें लीन करता है वह 'मांसभोजी' है । 'आगमसार'के अनुसार, जो साधक प्राणायामके द्वारा श्वास-प्रश्वासको बंद करके कुम्भकके द्वारा प्राणवायुको सुषुम्नाके भीतर ले जाता है, वही यथार्थ रूपसे 'मत्स्य-साधना' करनेवाला है । शरीरस्थ इडा तथा पिङ्गला (गङ्गा-यमुना) में प्रवाहित होनेवाले श्वास और प्रश्वास ही दो मत्स्य हैं । 'विजयतन्त्र'के अनुसार 'असत् सङ्गके त्यागका नाम 'मुद्रा' है । 'मैथुन' सहस्रारमें स्थित शिव तथा कुण्डलिनी या सुषुम्ना तथा प्राणके मिलनका नाम है ।

१. The Commemoration Volume P. 96
२. छान्दोग्योपनिषद् ३ । १२ तथा बृहदारण्यक उप० ५ । १४
३. दुर्गासप्तशती ११ । ६
४. D. C. Sen 'History of Bengali Language and Literature Page 231

शाक्ततन्त्रोंमें उपासना

(लेखक—पं० श्रीकालीचरणजी पन्त)

शाक्त-उपासना अर्थात् शक्तिमें सांनिध्यस्थिति या पूर्ण लयत्व ही इसका चरम ध्येय है। शक्ति-उपासनाके मूलमें आगम हैं, जिसकी परिभाषा ही इस कथनकी पुष्टि करती है कि शाक्त-उपासना पूर्णप्रकारेण मोक्षमूलक है। यथा—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे।
मलत्रयविनाशित्वादागमः परिकीर्तितः॥

यद्यपि इस आगमशास्त्रके अन्तर्गत सुविशाल साहित्य है, जिसके क्रमपूर्वक अङ्ग ये हैं—तन्त्र, उपतन्त्र, संहिता, चूडामणि, अर्णव, डामर, सूक्ति, पुराण, उपवेद, कक्षपुटी, विमर्षिणी, कल्पाष्टक, कल्पलता, राव और चिन्तामणि। इनके प्रत्येक शब्द, मन्त्र, कूट और क्रिया केवल श्रीगुरु-मुखसे ही ज्ञातव्य हैं। प्रत्येक श्लोकके स्पष्टतया त्रैपुर अर्थात् तीन अर्थ होते हैं। इसी प्रकार 'शक्ति'शब्दके तीन स्पष्ट अर्थ हैं। प्रथम मन्त्रशक्ति, दूसरी कुण्डलिनीशक्ति, तीसरी महाकुण्डलिनी अर्थात् श्रीदक्षिणा। वास्तवमें 'शक्ति' शब्दका विशुद्ध अर्थ ही 'श्रीदक्षिणा' है; क्योंकि विद्याराज्ञी श्रीदक्षिणा ही मूलतः शुद्धातिशुद्ध शक्ति है। जैसा कि तन्त्र वर्णन करते हैं—

'शक्तेः प्राधान्यं काल्या च सर्वदा परिकीर्तितम्।'

यह शुद्ध शक्तितत्त्व अपने ही गुणोंमें अन्तर्हित रहता है। शुद्धशक्तिका पञ्चेन्द्रियोंसे प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता; पर यदि वहाँ आधाररूप शिवतत्त्व हो तो शक्तितत्त्व समाधि-द्वारा अनुभवमें आ सकता है। 'प्रतिव्यक्ति अधिष्ठानम्'—'सुधाधारा'में उल्लिखित है। एवं 'सिद्धेश्वरतन्त्र'में वर्णित है—

सर्वसिद्धिप्रदा देवी हेलयापि च चिन्तिता।
ततः सा दक्षिणा नाम्ना त्रिषु लोकेषु गीयते॥

आगमशास्त्र शाक्त-उपासनामें अर्थात् शक्तिमें लयत्व-प्राप्तिके लिये संहारक्रम नियोजित करते हैं तथा आगमके सभी अङ्ग एक स्वरसे ऊर्ध्वरेतारूप ऊर्ध्वाम्नायकी मोक्षमूलक होनेसे सर्वाधिक प्रशंसा करते हैं। तत्त्वतः सृष्टिक्रम तथा गुरुक्रम जिस प्रकार आगममें वर्णित है, उसके संक्षेपरूपमें मनन किये बिना आगमोक्त शक्ति-उपासनाका स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। साधारणतः सृष्टिका वर्णन सभी धर्मोंने भिन्न-भिन्न रूपमें दिया है; पर इसका समाधान नहीं मिलता कि जिन कर्मोंके वश जीव जन्म-मरणके बन्धनमें भ्रमणशील होते हैं, वे सर्वप्रथम सृष्टिमें कहाँसे अवतरित हुए, जिन कर्मोंसे जीवकी सृष्टि हुई। यदि जीव या जगत् अनित्य है, तो धारणा बनती है कि सत्पदार्थरूप परमात्माका यह असत्कार्य कैसे हुआ ? इसका उत्तर आगमोक्त सृष्टि-वर्णन निम्न प्रकारसे देता है—

महानिर्गुणरूपा च वाच्यातीता परा कला।
सृष्टेरारम्भकाले तु दृष्टा छाया तया यदा॥
(ककारादि)

इस प्रकार छायारूप आदिनाथ महाकाल उत्पन्न हुए। उनसे प्रपञ्चेश्वरी श्रीविद्या एवं प्रपञ्चात्मक सृष्टि हुई। इनसे मणिद्वीपनिवासिनी श्रीभुवनेश्वरी आदि विद्याएँ भी उत्पन्न हुईं। मणिद्वीपका वर्णन देवीभागवतपुराणमें विशद-रूपसे परिकीर्तित है। उसी प्रकार श्रीविद्या प्रपञ्चेश्वरीके रत्नद्वीपका वर्णन 'ललितासहस्रनाम' आदिमें मिलता है। पर श्रीमदाद्याके नित्यस्थानका वर्णन 'आदिनाथ-संहिता' देती है। यथा—

शून्ये ब्रह्माण्डगोळे तु पञ्चाशच्छून्यमण्डले।
पञ्चशून्ये स्थिता तारा सर्वान्ते कालिका स्थिता॥

इस पञ्चाशत्-शून्यपरक स्थानका स्पष्टतम विवरण शक्ति-सङ्गम-तन्त्र निम्नरूपसे देता है—

श्रीदक्षिणा श्मशानं च श्मशानाष्टकमध्यगे।
परितो देवदेवेशि शतद्वारसमन्वितम्॥
महाप्रलयमासाद्य कोटिब्रह्माण्डनायिका।
सप्तप्रेतकपर्यङ्कं राजते शवहृच्छिवा।
शवरूपमहाकालहृदयाम्भोजवासिनी॥

इससे स्पष्ट हुआ कि छायाविनिर्मित स्वयं महाकाल ही जब मानसिक शिव हैं तो उस शिवतत्त्वसे उत्पन्न समस्त सृष्टि ही काल्पनिक है। एवं मूलभूत केवल शुद्ध शक्तितत्त्व ही सर्वत्र स्वयं ही विराजमान है। जैसे सप्तशती वर्णन करती है—

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमो नमः॥
(दुर्गा० ५। ७७)

समस्त जीवोंमें कुण्डलिनीरूपसे प्रविष्ट हो समस्त व्यापार-को निर्बाधरूपसे चलानेके लिये शक्ति स्वयं ही वर्तमान है।

महाकाल-उत्पत्तिके समय उन्हींमें जो सर्वप्रथम शक्तिपात-रूप शक्ति प्रदान हुई, वही गुरुतत्त्वका आदिमूल है। यथा—

अहं विशामि त्वद्देहे शक्त्या युक्तोऽभवत् प्रभुः।
तस्माद् भव गुरुर्नाथ शिष्योऽहं परमेश्वर॥
(कुलचूडामणिः)

इस प्रथम शक्तिपातके कारण गुरुतत्त्वकी स्थितिका वर्णन 'कुलसद्भाव' ग्रन्थमें इस प्रकार है—

आदौ सर्वत्र देवेश मन्त्रदः परमो गुरुः।
परात्परो गुरुस्त्वं हि परमेष्ठिरहं ततः॥

जिन आदिनाथसे काल्पनिक सृष्टि चली, वे ही मोक्षके मूलमें परात्पर गुरुरूप हैं।

इस कथनकी पुष्टिमें 'कौलोपनिषद्', जो तन्त्रशास्त्रका परम मान्य उपनिषद् है, वर्णन करता है—'गुरुरेकः।' जिसका तन्त्रान्तर भाष्य देता है। यथा—

आदिनाथो महादेवि महाकालो हि यः स्मृतः।
गुरुः स एव देवेशि सर्वमन्त्रेषु नापरः॥

अर्थात् मुमुक्षुको मननसे त्राण दिलानेवाले अर्थात् मन्त्रका उपदेश देनेवाले गुरुमें स्वयं महाकाल ही उपदेशके समय आविर्भूत होते हैं। यही शक्तिपातका रहस्य है। यही महाकवि कालिदासने अपने 'रघुवंश' महाकाव्यमें 'प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्।' कहकर कुमार अजको पिता रघुका ही प्रति-रूप बताया है। इन आदिनाथसे कादि-कुलगुरु-परम्पराक्रम तथा हादि-शिवादि-शाम्भव-षडन्वयगुरुक्रम (विद्यावतारगुरुक्रम) आदि चले और पूर्वोक्त शक्तिपात, दीपसे दीप प्रज्वलित करनेके अनुसार गुरु-शिष्य-परम्परामें प्रचलित हुआ। इस शक्तिपातसे युक्त व्यक्ति 'दीक्षित' कहलाया। सृष्टिके उपाधिमूलक शिव-तत्त्वकी पूर्ण निर्जीवावस्थाकी प्राप्ति ही दीक्षाका उद्देश्य है। यथा—

दीक्षाग्निकर्मदग्धासौ मायाविच्छिन्नबन्धनैः।
गतस्तस्य कर्मबन्धः निर्जीवस्तु शिवो भवेत्॥

अर्थात् 'आणव मायात्मक तथा कर्ममल ध्वंस होनेपर जो शिवतत्त्वको पूर्ण शवावस्थामें परिणत करती है तथा जिससे शिवत्व प्राप्त हो सकता है, वही 'दीक्षा' है।' इस दीक्षारूप शक्तिपातकी नवसंचारिणी शक्तिका पुनः-पुनः शुद्धि-करण तथा परिमार्जन आवश्यकीय है। यथा—

रसेन्द्रेण यथा विद्धमयः सौवर्णतां व्रजेत्।
दीक्षान्वितस्तथैवात्मा शिवत्वं लभते प्रिये॥
(कुलार्णवे १४। ८९)

इस स्वर्णके संस्कारादिक शाक्ताभिषेक तथा क्रमदीक्षा आदि हैं। उपासना-विषयमें सर्वप्रथम कुण्डली-उत्थापन है। उसके लिये मन्त्र-शासनमें 'पीताम्बरा विद्या'की दीक्षा है, जिससे वायु (प्राण) स्तम्भित हो छिन्नाविद्या दीक्षासे सुषुम्नान्तर प्रवेशयोग्य होता है। शास्त्र वर्णन करते हैं। यथा—

'प्रकाशमाना प्रथमे प्रयाणे प्रतिप्रयाणेऽप्यमृतायमाना।'

अर्थात् 'आरोहमें प्रकाशमान, अवरोहमें अमृतयुक्त, यह कुलकुण्डलिनीका कृत्य है।' एतदर्थ पूर्णिमारूप श्रीविद्याकी दीक्षा तथा अष्टमीरूप श्रीद्वितीयाकी दीक्षा तथा अमारूप अमृतरूपिणी श्रीआद्याकी दीक्षा क्रमदीक्षा पूर्णकर शिष्यको पूर्ण दीक्षाके योग्य बनाती है। पूर्ण दीक्षा तथा पूर्णाभिषेक-युक्त व्यक्ति ही साधनाका अधिकारी बन सकता है। यथा—

कृताभिषेको विद्यायां न्यासपुरश्चर्यान्वितः।
मूद्रासने वसेत् सोऽहि अन्यथा नरकं व्रजेत्॥

साधनामें आसनादि सर्वप्रथम सामग्री है। यदि ये चैतन्य हैं तो अन्य कार्य स्वयं होते जाते हैं। वास्तवमें जब-तक कुण्डलिनी चिरनिद्रामें है, तबतक जीव बहिर्मुखी है। इसके अन्तर्मुखी होनेका केवलमात्र उपाय कुण्डलिनीका जागरण है, जिससे अन्तर्मुखी वृत्ति उत्पन्न हो। तन्त्रशास्त्र क्रियात्मक है। इसमें प्रत्यक्ष प्रयोगोंका वर्णन है। शक्तिपातसे कुण्डलिनीका चैतन्य तथा साधनोंसे ऊर्ध्वगमन तथा ग्रन्थिभेद सम्भव है। वस्तुतः मूलाधारमें कुण्डलिनीका जागरण अर्थात् शक्तिपात एवं सहस्रारमें महाशव महाकालपर स्थित होना ही शाक्त-उपासनाका सार है।

मणिद्वीप आदिके वर्णनमें मणि-स्वर्ण आदिका वर्णन है; किंतु श्रीदक्षिणाकी स्थिति श्मशानमें वर्णित है। कारण, वैराग्य ही उपासनाकी पृष्ठभूमि है। वह शव तथा श्मशानके नामसे ही स्वयं आविर्भूत होता है। 'कुलार्णव' आदेश देता है—

'अनित्यकर्मसंत्यागी नित्यानुष्ठानतत्परः।'

यह नित्य-कर्म आत्मसाक्षात्कार करता है। इसीलिये तन्त्र सर्वत्र संहारक्रमका अवलम्बन करते हैं। स्थूलसे सूक्ष्म, सूक्ष्मसे कारण, कारणसे तुरीय तत्त्वोंको अधिकाधिक महत्त्व दिया गया है। यथा—

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः।
जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः॥
(कुलार्णवे ९ । ३७)

इसी प्रकार कहा गया है—

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
जपपूजाधमा प्रोक्ता बाह्यपूजाधमाधमा॥
(कुलार्णवे)

किंतु यहाँ अधिकारका विषय मुख्य है। जिस कारण निम्नातिनिम्न स्थितिसे, जो कि साधारणतया अति उच्च स्थिति है, चलकर सहजावस्थाकी प्राप्ति की जाय। वैसे तो अधमसे अधमरूप बाह्यपूजन, जिसके लिये तन्त्र कोई भी प्रतिबन्ध नहीं देता, एक प्रकारसे अति उच्च भूमिकाका विषय है; क्योंकि तन्त्रके कोई भी पूजनादि कुण्डलिनीके चैतन्य हुए बिना सम्भव नहीं है। इसलिये बहिरङ्ग पूजनमें भी संहारक्रम तथा मूर्तिको छोड़कर यन्त्रपूजा की जाती है, जिसमें रश्मिरूप आवरण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका चित्ररूप है तथा कुम्भकरूप कुम्भ नवचक्ररूप पात्रोंसे पूजित होता है। यह सूक्ष्मताका श्रीगणेश है। इसी प्रकार मन्त्र भी शब्द, स्पन्दन, अक्षर और बीज एवं यन्त्र, बिन्दु, त्रिकोण, वृत्त तथा भूपुर चारों अवस्थाओं—अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तुरीयके द्योतक हैं और लयावस्थाको इङ्गित करते हैं। भूपुरसे बिन्दुप्राप्ति, बीजसे अनुच्चार्य बिन्दुलय तथा न्यासोदिता षट्-चक्र-व्यास आवरणदेवताका बिन्दुमें लयत्व यही 'बाह्य अधमाधम' पूजाकी तन्त्रोदित क्रियाएँ हैं। बिन्दुमें यथासाध्य समयतक स्थिति ही अन्तर्याग तथा बहिर्यागका उद्देश्य है। पर साधक-अवस्था प्राप्त करनेके लिये दो बातें अतीव आवश्यक हैं। प्रथम तो शरीरका दृढ़ होना, जिसे देवताके सांनिध्यसहनकी योग्यता आ जाय; क्योंकि परम शुद्धतत्त्वके सम्मुख अरक्षित वस्तुएँ स्वयं भस्मसात् हो जाती हैं। दूसरा, जन्मजन्मान्तरजनित मलकी निवृत्ति है। यदि मल पूर्णतया निवृत्त हो जायँ तो साधक स्वयं अपने स्थूल देहसे भी विशुद्ध पद्मगन्धका अनुभव करता रहता है, जिससे अनुभव होता है कि अहंता-ममतामय जीवभावका तिरोधान हो रहा है। इनकी उपमा शास्त्र देता है—

मन्त्रराजपुरश्चर्या राज्यसम्पत्तिरीरिता।
कवचं कवचरूपं स्यात् स्तोत्रं सहचरो भवेत्॥
सहस्रनामस्तोत्रं तु सेनास्थाने प्रकीर्तितम्।
षोढान्यासादिकं सर्वं देवता राज्यदायिका॥
मन्त्रं तु वज्रदुर्गं तु बीजयन्त्रं त्वभेदकम्॥

अर्थात् न्यास, मुख्यतया महाषोढा, महाशक्ति-न्यास, महाचक्र-न्यास आदि शरीरको वज्रवत् बनाते हैं तथा कवच (शरीरकवच), हृदय (मित्र), स्तोत्र (सहचर), अङ्ग (अङ्गरक्षक दल) तथा सहस्रनाम (सेना), हवन (पताका), तर्पण (पर्जन्यास्त्र) आदि-आदिसे शरीर साक्षात्कार एवं अध्यात्म-स्फोटादिके समय स्थित रह सकता है। एवं मूल-मन्त्रका पुरश्चरण निर्मलत्व प्रदानकर साधनके योग्य बनाता है। किंतु सर्वथा ही यह अत्यन्त आवश्यक है कि सभी आवश्यकीय नियमोंका पूर्णरूपेण प्रतिपालन हो। नितान्त त्याज्य हैं—परान्न, प्रतिग्रह और पर-स्त्री आदि। यथा—

जिह्वा दग्धा परान्नेन हस्तौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं परस्त्रीभिः कार्यसिद्धिः कथं भवेत्॥
(कुलार्णव १५ । ८४)

'पराये अन्नसे जीभ जल चुकी, प्रतिग्रह-ग्रहणसे हाथ जल गये, परस्त्रीसे मन दग्ध हो गया, तब कार्यसिद्धि कहाँसे हो?'

'शक्तिसङ्गम-तन्त्र' अतीव कठिन स्थितिसे सावधान करते हैं। यथा—

छिन्नशिरः शिरस्तस्य द्वेषं पश्येन्निन्दा तपेत्।
प्रार्थनामपि कुर्वाणो न लभेदन्नमुष्टिकाम्॥
नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
अहं हि जगतां धात्री जननी जन्मकारणात्॥

इतिहास-महाकाव्योंके अवलोकनसे परिज्ञात होता है कि समस्त महाभारत द्रौपदीके अपमानसे तथा समस्त रामायण सीताके कारण रचित है। इतिहास उदाहरणोंसे पूर्ण है कि तन्त्र मनुष्ययोनि ही नहीं, वर पशुयोनिको आपन्न स्त्री-जातिका भी समुचित आदर करता है। यद्यपि तन्त्रके विरुद्ध जिसने जैसा चाहा वैसा अपवाद आरोपित किया, पर तन्त्र इन अपवादोंका खण्डन करनेमें मौन रहा। कारण कि 'कौलोपनिषद्'की उक्ति है। यथा—

अन्यायोन्यायो न गणयेत्कथमपि।... 'कौलप्रतिष्ठां न कुर्यात्।

अर्थात् तर्कशास्त्र-पारङ्गत होते हुए भी अन्यायारोपणका प्रतिकार न कर उसे सहन करे और स्वधर्मका प्रतिपादन कर उसे महत्त्व न दे। इस कारण तन्त्रके किसी भी आचार्यने आजतक अपवाद सहनकर वस्तुस्थिति समझानेका प्रयत्न नहीं किया। सप्तशतीमें भी उल्लिखित है—

'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।' (११।६)

यथार्थमें साधककी सफलता उसके 'जिह्वोपस्थ-परित्यागी' होनेमें है। 'कुलार्णव' इङ्गित करते हैं—

'एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते।'

व्यवहारमें भी तन्त्रके सभी कर्म मन्त्रयुक्त तथा तादात्म्यभाव-प्राप्तिके लिये व्यवहृत हैं। वदन-प्रक्षालनके लिये भी निम्न विधान है—

श्रीविद्यां ब्रह्मरन्ध्रे तु विचिन्त्य च ततः परम्।
चतुर्लक्ष्मीं महामन्त्रैर्मुखप्रक्षालनमाचरेत्॥
(विद्यार्णवे)

यहाँ कीट-भृङ्ग-न्यायसे विचार किया जा सकता है कि सहज स्वभावमें ही देवताभावका स्फुरण स्थायी होने लगता है। पूर्ववर्णित क्रमदीक्षा उपासनाका अधिकार प्राप्त करनेके लिये सोपानरूप है। शास्त्रनिर्देश है कि मुखशुद्ध्यर्थ बाला षोडशाधार, शरीरशुद्ध्यर्थ पञ्चदशी तथा बिना श्रीविद्या-दीक्षाके मनुष्य अदीक्षित ही माना जाता है। कारण कि श्रीविद्यान्तर्गत सभी विषय भूतशुद्धि, न्यासजाल, तत्त्व-शुद्धि, अन्तर्याग, अन्तर्बहिर्यजनके पूर्ण विस्तारयुक्त पूजनमें मनुष्यको दक्ष होना चाहिये। शास्त्र लिखते हैं—

हादौ हि नियमाः प्रोक्ताः यमसंयमनादयः।
कादौ तु नियमो नास्ति स्वेच्छया धर्ममाचरेत्॥
(दक्षिणासर्वस्वे)

जिसकी पुष्टि 'कौलोपनिषद्' भी करता है। यथा—

नियमान्नातिष्ठेत्, नियमान्न मोक्षः।

इस प्रकार पूर्ण क्रमको समाप्त करनेपर पूर्णाभिषेचन और पूर्ण दीक्षा सम्पन्न होती है, जहाँ कि तन्त्रके चार महावाक्य प्रदान होते हैं। ये ही आधारभूत महावाक्य समस्त क्रिया-कलाप, कर्मकाण्ड, अन्तर्याग या ज्ञानकाण्डमें सर्वसंशयछेत्ता हैं तथा अन्तक्रियामें तर्पित-पूजित होते हैं। ये साधकको पूर्ण शिशुत्व-अवस्था प्रदान करते हैं, जिससे वह श्रीमदाद्याके दिव्य-स्थानका अधिकारी बनता है। वयस्क बालकोंके सम्मुख माँ वस्त्राभरणसे सज्जित रहती हैं। पूर्ण अबोध शिशु संसारके ज्ञानसे परे (भेदबुद्धिरहित) है, उसके समक्ष केवल करकाञ्ची ही पहिने है। वहाँके आभूषण विचित्र ही हैं और चिद्-विश्रान्तिके द्योतक हैं। यथा—

शवद्वन्द्वकर्णावतंसां सुकेशीं
लसत्प्रेतपाणिं प्रयुक्तैककाञ्चीम्।
शवाकारमञ्चाधिरूढां शिवाभि-
श्चतुर्दिक्षु शब्दायमाना विरेजे॥

उपासनाका दैनिक कार्यक्रम निद्रात्यागसे पुनः शयनतक मुख्यरूपमें निम्न है—प्रातः-वन्दन—जो अधिकारीभेदसे गुरु, देवता, आत्मासे प्रारम्भ होते हैं, वे भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। इसी प्रकार स्नान भी अधिकारीभेदसे अनेक प्रकारके हैं। यथा—

मानसं बिन्दुतीर्थं च कालीकुण्डं कलात्मकम्।
आज्ञाचक्रं सदा ध्यात्वा स्नाति निर्वाणसिद्धये॥
(रुद्रयामले)

इसके उपरान्त यन्त्रपूजन करना चाहिये, जिसके विषयमें शास्त्र इङ्गित करता है—

'यन्त्रं मन्त्रमयं प्रोक्तं देवता मन्त्ररूपिणी।'

ऐसे यन्त्रपूजनके पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक है कि उपासक निम्न विषयोंमें पूर्णप्रकारेण दक्ष हो। यथा—द्वार-यजनके उपरान्त विघ्नशान्ति निम्न अस्त्रोंद्वारा सम्भव है। यथा—

दुर्गां विघ्नं च शरभमघोरं च सुदर्शनम्।
एताः समयविद्यास्तु जपेत् प्रत्यूहशान्तये॥
(ज्ञानार्णवे)

अनन्तर भूतशुद्धि, न्यासजाल, तन्मुद्रा तथा जीवनाश-विद्या, कामधेनुविद्या, अन्तर्याग आदिमें पूर्णरूपसे निष्णात व्यक्ति ही 'समय' प्राप्त कर सकता है जिससे कि वह अन्तर्यागरूप जपमें गुरुदर्शित मार्गसे ध्यानस्थ तन्मयता प्राप्त कर सके। पञ्चाङ्ग, सप्ताङ्ग, एकादशाङ्ग पुरश्चरणोंमें अनुभव प्राप्त कर उन अनुभवोंके फलस्वरूप अपना स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर, अहंता-ममताभाव भी देवपर पूर्ण बलिदानरूपसे न्यौछावर कर तादात्म्यभावयुक्त अवस्था प्राप्त होती है। उपासकके अनुभव उसे स्वयं प्रतीति दिलाते हैं कि वह अब साधकपदके योग्य हुआ। सिद्धों, जाग्रत्स्थानों अथवा विशेष पर्व या विशेष रात्रिके

लिये उसे पूछना नहीं पड़ेगा। षट्चक्रस्थ स्पन्दन उसे स्वयं सम्मुख उपस्थित पदार्थकी वस्तुस्थितिका परिचय दे देगा। उपासना-पद्धतिके लिये निम्न पुस्तकें जैसे—उदयाकरपद्धति, सौभाग्यरत्नाकर, रत्नमाला, अष्टादशचीन अथवा राघवभट्टप्रणीत पद्धति आदि इनका पर्याप्त वर्णन देते हैं। वास्तवमें अनुशीलन किया जाय तो ज्ञात होता है कि शाक्त-उपासनामें बहिरङ्ग तथा अन्तःपूजनमें किञ्चिन्मात्र भी भिन्नता नहीं है। प्रायः समस्त क्रियाएँ एक-सी ही हैं।

इस प्रकार मनुष्य साधक-सोपानमें आरोहण करनेपर साधनाका अधिकारी बनता है। जिसके लिये शास्त्र लिखते हैं—

सर्वावयवसम्पन्नः सर्वशास्त्रविशारदः।
निग्रहानुग्रहे शक्तश्चतुर्वर्गविनोदकः॥
अशक्तः कुरुते यस्तु तस्य पातो भविष्यति॥

(शक्तिसङ्गम)

साधनावस्थाके सात कक्ष हैं।—१. मृदु, २. कोमल, ३. चूड़क-अचूड़क, ४. श्मशान, ५. चिता, ६. पञ्चमुण्ड, ७. मुण्डदुर्ग अथवा शव। मुण्डदुर्गसे यहाँ १००८ मुण्ड गृहीत हैं। शास्त्रोंमें निर्दिष्ट है। यथा—

'वैराग्यभावमासाद्य मुक्तिभावी भवेद् ध्रुवम्।'

साधनाका मुख्य उद्देश्य प्रत्यक्ष दर्शन है। जैसा कि 'सिद्धमतरहस्य' वर्णन करता है—

नीलसाधनकं कर्म परमसात्त्विक ईरितः।
शवोपरि समारुह्य देवीदर्शनकामुकः॥

इसमें प्रत्यूह-शान्ति मन्त्र निम्न है—

वीरार्गला घोरमन्त्रश्चक्रपाशुपतास्त्रकैः।
खङ्गवारणमन्त्रैश्च जयदुर्गाख्य ईर्यते॥

(आदिनाथसंहिता)

यदि पूर्णप्रकारेण देखा जाय तो कारणशरीर अथवा मेरुदण्डान्तर सुषुम्नान्तरमें स्थित शक्ति क्या बाह्यबल (आसन-प्राणायामादि) से जाग्रत् हो सकती है? कदापि नहीं। गोस्वामीकृत रामायण(बाल०)में जिसके लिये लिखा है—'भव भव बिभव पराभव कारिनि। बिस्व बिमोहिनि स्वबस बिहारिनि॥'

ऐसी कारणशरीररूप तिमंजलमें रहनेवाली त्रिपुराको क्या बलप्रयोग या बाह्यशरीरके तोड़मोड़से उठाया जा सकता है? कुण्डलिनीका विषय केवल त्रैपुर अर्थात् तन्त्रका विषय है। तन्त्रशास्त्र, जिसके लिये कुलार्णवमें कहा गया है—'गुप्ता कुलवधूरिव।' कहते हैं—

असिकाबन्धनं नास्ति नासिकाबन्धनं नहि।
न पद्मासनगतो योगी न नासाग्रनिरीक्षणम्॥

(कुलार्णव ९। २९-३०)

तन्त्रका परम रहस्य यही है कि किसी भी आन्तरिक गूढ़ विषयपर पूर्ण प्रकाश नहीं डाला गया है। कुंजी केवल श्रीगुरुकृपा ही है और श्रीगुरु इसका उपाय केवल मात्र वीर-साधन ही बताते हैं। 'कुल' शब्दका अर्थ 'शक्ति' अथवा 'कुण्डलिनी' है। 'अकुल' शब्दका अर्थ शिव, अर्थात् आदिनाथ महाकाल है। इस कुलाकुल-मार्गमें विहारशील साधककी पदवी 'कौल' है; पर केवलमात्र इसका पथ वीर-साधन ही है; अन्य प्रकारसे यह कदापि सम्भव नहीं। प्रसङ्गवश लिखना पड़ता है कि जो अत्यन्त कायर हैं, वृकोदर हैं, उनसे यह कार्य असम्भव है। जिह्वोपस्थ-त्यागसे ही तीव्रातितीव्र संवेग साधनामें सहायक होता है। वीरसम्पत्ति आसन, माला, कङ्कण और पात्र कहलाते हैं। ये भी उसीके अनुरूप होने चाहिये। यथा—

'अकस्मात् सिद्धिदा माला महाशङ्खविनिर्मिता।'

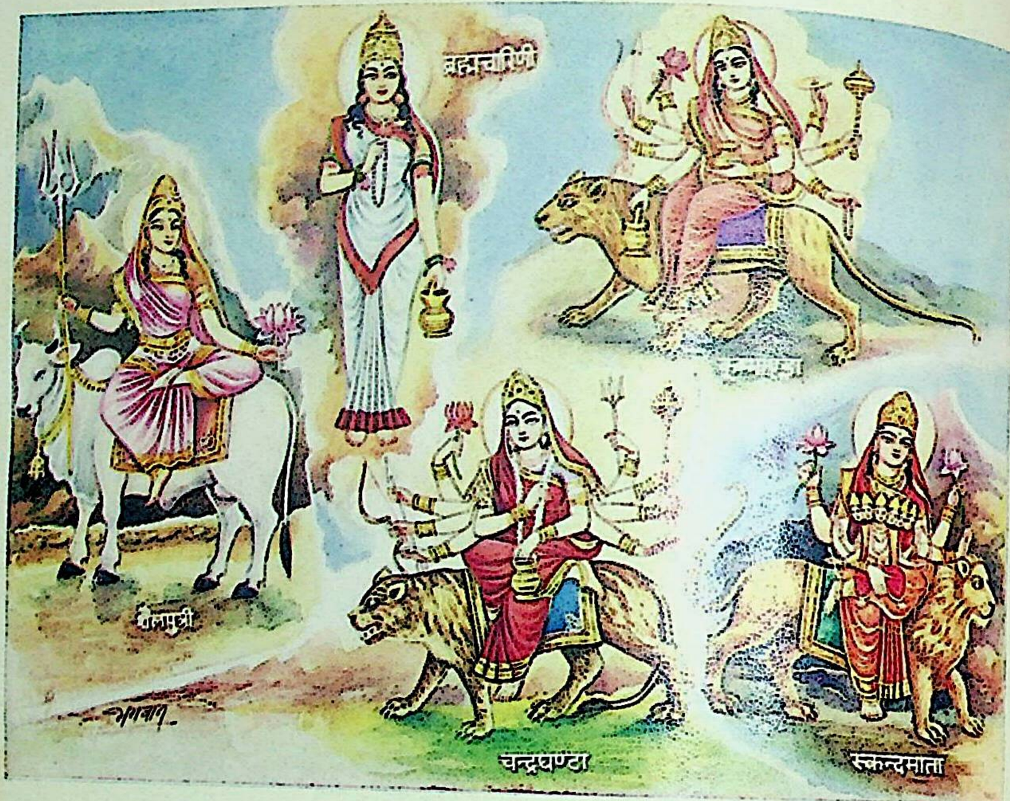
आसनके लिये तो स्पष्ट ही है—

मृतासनं विना देवि यो जपेद् घोरदक्षिणाम्।
पच्यते नरके घोरे यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

इस प्रकार अन्तिम तीसरी अवस्था, जिसे सिद्धावस्था कहा गया है, अथवा दिव्यभावसे भी जिसका निर्देश किया गया है, उसके लिये वर्णन है—

'क्वचिदपि न तेषां परिभवः।'

अर्थात् फिर पुनर्जन्मका प्रश्न नहीं उठता। वह निष्पाप शरीर अन्नादिके दूषित आहारसे निवृत्त हो, केवल उत्तम तत्त्व-शुद्धि जल अथवा प्राण आदिपर ही टिक सकता है। जिस प्रकार रसायनशास्त्रमें यह पूर्णरूपेण प्रकट नहीं किया जा सकता कि किस प्रकार रासायनिक क्रियासे नयी वस्तु उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार वीर-साधनसे किस प्रकार कुल-कुण्डलिनी प्रबुद्ध हो कुलपथारोहणपूर्वक ग्रन्थिभेद सम्पन्न करती है, इस आधार-क्रियाका पदविच्छेदन सम्भव नहीं है; पर फल अवश्यम्भावी हैं। संक्षेपमें मृदु, चूड़क शक्ति-संचालन, श्मशानप्रबुद्ध बनानेमें तथा चिता-चैतन्य,



नवदुर्गा—१. शैलपुत्री, २. ब्रह्मचारिणी, ३. चन्द्रघण्टा, ४. कूष्माण्डा, ५. स्कन्दमाता।

कात्यायनी
सिद्धिदात्री
कालरात्रि
महागौरी

नवदुर्गा

मुण्ड-ऊर्ध्वचालन, पञ्चमुण्डी ग्रन्थिभेदपूर्वक आज्ञा-चक्रकी प्राप्ति कराती है। ग्रन्थोंमें लिखा है—

'भोगमोक्षौ करे तस्य शवेन्द्रस्यापि साधना।'

(रुद्रयामल)

साधन-कार्यकी पूर्तिपर शेष विदेह-जीवन रसास्वादनमें यापन किया जा सकता है। यथा—

वीरभावो दिव्यभावो यस्य चित्ते व्यवस्थिते।
जीवन्मुक्तः स एवात्मा भोगार्थमटते महीम्॥

(भावचूडामणि)

शाक्तोपासनाके विभिन्न तीन स्तरों (निम्न, साधक, सिद्ध) का किञ्चित् दिग्दर्शनमात्र करानेका प्रयास किया गया है। इसमें प्रत्येक विषय विस्तृत विवेचनाकी अपेक्षा रखता है। वस्तुतः इन विषयोंमें प्रयोगात्मक कार्य ही वाञ्छित है। समयके प्रभावसे नैष्कर्म्यरूप उपदेश सर्वत्र लभ्य हैं कि उग्र साधन एवं सिद्धियोंसे दूर रहो, किंतु यथार्थतः स्वानुभवरूप सिद्धि ही कुलपथके निर्देशकरूप मणिके पत्थर हैं। अपना सर्वस्व भी बलिदान कर आगे बढ़नेवाले साधकका नाम ही वीरसाधक है। यदि वह यथोक्त प्रकारसे आगे बढ़ रहा हो तो क्या वह सिद्धि प्राप्त कर नित्य-लीलामें सम्मिलित हो जीवनको धन्य नहीं कर सकता? ज्ञात होता है और शास्त्र भी कहते हैं—

उपविद्याश्रयासाध्यं जपिष्यन्ति नराधमाः।
यथोक्तं न हि कुर्वन्ति देवदूषणतत्पराः॥

इस प्रकारके मनुष्योंद्वारा ही इस सिद्धिमार्गका अवरोध हुआ। सिद्ध-अवस्थाके संकेत-वाक्य निम्न हैं—सुमेरु ऊर्ध्वाम्नाय, पद-विज्ञान, सम्प्रदाय काश्मीर, क्षेत्र कैलाश, देवता निरञ्जन, तीर्थ मानसरस, महाविद्या श्रीदक्षिणा, महावाक्य-मन्त्रिणां चतुर्महावाक्यम्, पारवेत्ता स्वयं महाकाल श्रीआदिनाथ शिव हैं। यह शक्ति-उपासना 'शक्तियोग' शब्दसे व्यवहृत है। तन्त्रवचन है—

शक्तियोगः परो योगः शक्तियोगः परं तपः।
शक्तियोगः परं धाम शक्तियोगः परा कला॥

(शक्तिसङ्गम)

शक्तितत्त्व और शक्ति-साधन

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम्॥

(दुर्गा० ४।५)

जिस प्रकार विष्णु और शिव एक हैं, उसी प्रकार शक्ति भी उनसे अभिन्न है। एक ही परम तत्त्वके विभिन्न नाम हैं। शास्त्रमें कहा है—

यथा शिवस्तथा दुर्गा या दुर्गा विष्णुरेव सः।
अत्र यः कुरुते भेदं स नरो मूढदुर्मतिः॥
देवीविष्णुशिवादीनामेकत्वं परिचिन्तयेत्।
भेदकृन्नरकं याति रौरवं नात्र संशयः॥

(मुण्डमालातन्त्र)

'जैसे शिव हैं, वैसे ही दुर्गा हैं; और जो दुर्गा हैं, वही विष्णु हैं। इनमें जो भेद मानता है, वह दुर्बुद्धि मनुष्य मूर्ख है। देवी, विष्णु और शिव आदिमें एकत्व ही देखना चाहिये। जो इनमें भेद करता है, वह निःसंदेह रौरव नरकमें जाता है।'

जिस प्रकार शिव और विष्णुको विभिन्न शास्त्रोंमें परब्रह्म, परमात्मा, सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी बतलाया है, इसी प्रकारसे शक्तिको भी बतलाया है। देवताओंने एक बार जाकर भगवतीसे पूछा—

'कासि त्वं महादेवि?'

(देव्यथर्वशीर्ष १)

'हे महादेवि! आप कौन हैं?' भगवतीने उत्तर दिया—

'अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत्।'

(देव्यथर्वशीर्ष २)

'मैं ब्रह्मरूपिणी हूँ, प्रकृति-पुरुषात्मक जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है।' श्रीदेवीभागवतमें कहा है—

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव ममास्य च।
योऽसौ साहमहं यासौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात्॥

'मैं और परमात्मा शिव दोनोंमें सदा एकत्व है, भेद कभी नहीं है, जो वह है सो मैं हूँ और जो मैं हूँ सो वह है। भेद भ्रान्तिसे कल्पित है, वस्तुतः नहीं है।'

इसी प्रकार असंख्य प्रमाण हैं, जिनसे भगवतीका निर्गुण परब्रह्मस्वरूप और उनका सगुण निराकार सृष्टिकर्ता-स्वरूप सिद्ध है। ये ही भगवती विभिन्न साकार रूपोंमें लीला करती हैं। भगवतीके असंख्य रूप हैं। इनमें नौ दुर्गा, दश महाविद्या आदि प्रसिद्ध हैं।

नौ दुर्गा हैं—शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री।

दश महाविद्या हैं—काली, तारा, षोडशी (त्रिपुरसुन्दरी); भुवनेश्वरी (राजराजेश्वरी, श्रीविद्या, ललिता); छिन्नमस्ता, भैरवी (त्रिपुरभैरवी); धूमावती (अलक्ष्मी), बगला (बगलामुखी), मातङ्गी और कमला (लक्ष्मी)। इनमें कालीके शिव हैं—महाकाल, ताराके अक्षोभ्य, षोडशीके पञ्चवक्त्र, भुवनेश्वरीके त्र्यम्बक, छिन्नमस्ताके कबन्ध, भैरवीके दक्षिणामूर्ति, बगलाके एकमुख महारुद्र, मातङ्गीके मतङ्ग और कमलाके सदाशिव श्रीविष्णु। धूमावती विधवा मानी गयी हैं।

इन सबके अलग-अलग ध्यान, मन्त्र, यन्त्र, कवच आदि हैं।

तीन प्रधान महादेवियाँ हैं—

महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती।

इनके ध्यान क्रमशः इस प्रकार हैं—

महाकाली

खड्गं चक्रगदेषुचापपरिघाञ्छूलं भुशुण्डीं शिरः
शङ्खं संदधतीं करैस्त्रिनयनां सर्वाङ्गभूषावृताम्।
नीलाश्मद्युतिमास्यपाददशकां सेवे महाकालिकां
यामस्तौत्स्वपिते हरौ कमलजो हन्तुं मधुं कैटभम्॥

(दुर्गा० अध्याय १, ध्यान)

'विष्णु भगवान्‌की योगनिद्राकी स्थितिमें ब्रह्माजीने जिनकी स्तुति की थी, उन खड्ग, चक्र, गदा, धनुष, बाण, परिघ, शूल, भुशुण्डी, कपाल और शङ्खको धारण करनेवाली, सम्पूर्ण आभूषणोंसे विभूषित, नीलमणिके समान कान्तियुक्त, दस मुख और दस चरणवाली महाकालीका मैं ध्यान करता हूँ।'

महालक्ष्मी

अक्षस्रक्परशुं गदेषुकुलिशं पद्मं धनुष्कुण्डिकां
दण्डं शक्तिमसिं च चर्म जलजं घण्टां सुधाभाजनम्।
शूलं पाशसुदर्शने च दधतीं हस्तैः प्रसन्नाननां
सेवे सैरिभमर्दिनीमिह महालक्ष्मीं सरोजस्थिताम्॥

(दुर्गा० अध्याय २, ध्यान)

'अपने करकमलोंमें अक्षमाला, परशु, गदा, बाण, वज्र, कमल, धनुष, कुण्डिका, दण्ड, शक्ति, खड्ग, चर्म (ढाल), शङ्ख, घण्टा, सुधापात्र, शूल, पाश और सुदर्शन-चक्र धारण करनेवाली कमलपर स्थित महिषासुरमर्दिनी प्रसन्नवदना श्रीमहालक्ष्मीका हम ध्यान करते हैं।'

महासरस्वती

घण्टाशूलहलानि शङ्खमुसले चक्रं धनुः सायकं
हस्ताब्जैर्दधतीं घनान्तविलसच्छीतांशुतुल्यप्रभाम्।
गौरीदेहसमुद्भवां त्रिजगतामाधारभूतां महा-
पूर्वामत्र सरस्वतीमनुभजे शुम्भादिदैत्यार्दिनीम्॥

(दुर्गा० अध्याय ५, ध्यान)

'अपने करारविन्दोंमें घण्टा, त्रिशूल, हल, शङ्ख, मूसल, चक्र, धनुष और बाण धारण करनेवाली, गौरीदेहसे उत्पन्न, शरत्कालके अत्यन्त प्रकाशमान चन्द्रमाके समान प्रभावाली, तीनों लोककी आधारभूता, शुम्भादि दैत्योंका दलन करनेवाली महासरस्वतीको हम नमस्कार करते हैं।'

अष्टादशभुजा महिषमर्दिनी

देवताओंके द्वारा तेज, शक्ति, आयुध आदि लेकर सर्वशक्तिमती महिषासुरमर्दिनी महाशक्ति दुर्गा भगवतीको इस रूपमें देखा गया था। यह बड़ा सुन्दर ध्यान है।

सर्वाङ्गभूषणा देवी सर्वरत्नोपशोभिता।
न मानुषी नासुरी सा दिव्यरूपा मनोहरा॥
सिंहारूढाऽऽयुधधरा चाष्टादशकरा वरा।
सा नादं कुरुते देवी लक्ष्यते मदगर्विता॥

(देवीभागवत ५। ९। ४९-५०)

'देवीके सम्पूर्ण अङ्ग आभूषणोंसे सुशोभित हैं, समस्त रत्नसमूह उनके शरीरकी शोभा बढ़ा रहे हैं। उनका दिव्यरूप बड़ा ही चित्ताकर्षक है। वे न मानवी जान पड़ती हैं, न आसुरी ही। उन श्रेष्ठ देवीके अठारह भुजाएँ हैं।

हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये वे विशाल सिंहपर सवार हैं। उनके अङ्ग-अङ्गसे अभिमान टपक रहा है और वे गर्जना करती हुई दिखायी देती हैं।'

देवीका सिद्ध मन्त्र है—

ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।

यही प्रसिद्ध नवार्णमन्त्र है। मार्कण्डेयपुराणके तेरह अध्यायमें श्रीदुर्गासप्तशती है। इसमें भगवती शक्तिके स्वरूप, चरित्र, उपासना और साधनाओंका बड़ा सुन्दर वर्णन है। विधिपूर्वक दुर्गासप्तशतीका पाठ, नवार्णमन्त्रका जप, पञ्चाङ्ग-पुरश्चरणसहित करनेसे सारे मनोरथ सिद्ध होते हैं। श्रीभगवतीकी कृपासे अचला भक्ति और परमा शान्तिकी प्राप्ति होती है।

भगवतीकी आराधना किसी अनुभवी पुरुषसे जानकर करनी चाहिये।

श्रीशतचण्डी-विधि और सप्तशती-महायन्त्र

किसी शिवालय अथवा दुर्गा-मन्दिरके निकट एक सुन्दर मण्डप बनावे, जिसमें दरवाजा और वेदी भी बनी हो। उसके चारों ओर तोरण (बन्दनवारें) लगावे और ध्वजारोपण भी करे। मण्डपके अन्तर्गत पश्चिम भाग या मध्य भागमें होमकुण्ड बनावे। स्नान और नित्य-क्रियासे निवृत्त हो दस उत्तम ब्राह्मणोंका वरण करे। वे ब्राह्मण जितेन्द्रिय, सदाचारी, कुलीन, सत्यवादी तथा बोधयुक्त हों। साथ ही सलज्ज (अवैध कर्म करनेमें सदा ही लजानेवाले) दयालु और प्रतिदिन दुर्गासप्तशतीका पाठ करनेवाले हों। उन्हें विधिपूर्वक (पाद्य, अर्घ्य, आचमनीयके अनन्तर) मधुपर्क निवेदन करके सुवर्ण-वस्त्रादि दानपूर्वक जपके लिये आसन और माला दे तथा हविष्य भोजन अर्पण करे। वे विचारशील ब्राह्मण हविष्यान्न भोजन तथा भूमिपर ही शयन करें और मन्त्रार्थ-चिन्तनमें चित्त लगाये हुए पृथक्-पृथक् मार्कण्डेयपुराणोक्त चण्डिकास्तवका दस-दस बार पाठ करें। इसके अतिरिक्त प्रत्येकको एक-एक हजार नवार्णमन्त्रका जप करना चाहिये।

यह जप सम्पुट-पाठसे* पृथक् करना उचित है। एक सहस्र जप प्रत्येक ब्राह्मणके लिये अनिवार्य है। शक्ति-सम्प्रदायवालोंका कथन है कि शतचण्डीका आरम्भ ऐसे समयसे करना चाहिये, जिससे कि कुल सौ पाठ अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी अथवा पूर्णिमा—इन्हीं तिथियोंमें समाप्त हों।

इस अनुष्ठानमें यजमानको नौ कुमारियोंका पूजन करना चाहिये, जो कि दो वर्षसे लेकर दस वर्षतककी उम्रवाली हों। उनके नाम क्रमशः निम्न प्रकारसे हैं—(१) कुमारी, (२) त्रिमूर्ति, (३) कल्याणी, (४) रोहिणी, (५) कालिका, (६) शाम्भवी, (७) दुर्गा, (८) चण्डिका और (९) सुभद्रा।

इन्हीं नाम-मन्त्रोंसे इनकी पूजा करनी चाहिये। इनमें हीनाङ्गी, अधिकाङ्गी, कुष्ठ और फोड़ोंवाली, अन्धी, कानी, कुरूपा, केकरी (ऐंचातानी), कुबड़ी, अधिक रोमवाली, दासीसे उत्पन्न हुई तथा रोगिणी—ये कन्याएँ वर्जित हैं।

अपने सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धिके लिये ब्राह्मण-कन्याका, यशके लिये क्षत्रिय-कन्याका, धनके लिये वैश्य-कन्याका और पुत्रके लिये शूद्र-कन्याका पूजन करना चाहिये।

गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, भक्ष्य, भोज्य तथा वस्त्राभरणोंसे अपनी शक्तिके अनुसार कन्याओंका पूजन करे। दो वर्षकी उम्रवाली कन्या कुमारी कही गयी है, तीन वर्षवाली त्रिमूर्ति, चार वर्षवाली कल्याणी, पाँच वर्षवाली रोहिणी, छः वर्षवाली काली, सात वर्षवाली चण्डिका, आठ वर्षवाली शाम्भवी, नौ वर्षवाली दुर्गा और दस वर्षकी उम्रवाली सुभद्रा कहलाती है। नाम-मन्त्रोंसे ही इनकी पूजा करनी चाहिये।†

इसका आवाहन करनेके निमित्त शंकरजीका कहा हुआ मन्त्र बतलाया जा रहा है—'मैं मन्त्राक्षरमयी, लक्ष्मीरूपिणी, मातृरूपधारिणी तथा साक्षात् नव-दुर्गास्वरूपिणी कन्याका आवाहन करता हूँ।' इस समय कुमारी आदि कन्याओंके पूजनका मन्त्र बतलाता हूँ—'हे कौमारि! हे जगदम्ब! तुम

* प्रत्येक मन्त्रके आदि-अन्तमें किसी बीज अथवा अन्य मन्त्रका उच्चारण करनेसे वह मन्त्र सम्पुटित होता है।

† जैसे कुमारीकी पूजा 'कुमार्यै नमः' इस मन्त्रसे करनी उचित है, इसी प्रकार अन्य कन्याओंके नामसे ही पूजन विहित है।

जगत्की पूजनीया, वन्दनीया और सर्वशक्तिस्वरूपिणी हो; मेरी की हुई पूजाको अङ्गीकार करो। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। मैं त्रिपुररूपिणी, त्रिपुरकी आधारभूता, तीन वर्षकी अवस्थावाली, ज्ञानमयी, त्रिभुवनवन्दिता भगवती त्रिमूर्तिकी पूजा करता हूँ। जो कलारूपिणी होनेपर भी कलातीत है, उस करुणाभरे हृदयवाली शिवारूपा कल्याणजननी भगवती कल्याणीका मैं पूजन करता हूँ। अणिमा आदि गुणोंकी आश्रयभूता, अकारादि अक्षरमयी, अनन्तशक्तिसम्पन्ना, लक्ष्मीरूपा रोहिणीकी मैं आराधना करता हूँ। जो इच्छानुसार विचरण करनेवाली, सुन्दरी, कान्तिमती, कालचक्रमयी, कामदायिनी और करुणा करनेमें उदार है, उस कालिका भवानीकी मैं पूजा करता हूँ। जो अत्यन्त कुपित, वीरभावसे युक्त, चण्ड, मायाविनी तथा चण्ड-मुण्ड नामक दैत्योंका नाश करनेवाली है, उस प्रचण्ड पराक्रमवाली चण्डिका देवीकी मैं अर्चना करता हूँ। सदा आनन्द देनेवाली, शान्तिमयी, सर्वदेववन्दिता, सर्वभूतमयी, लक्ष्मीरूपा शाम्भवीकी मैं आराधना कर रहा हूँ। दुर्गम और दुस्तर कार्यमें सांसारिक कष्टोंको नष्ट करनेवाली, दुर्गतिनाशिनी दुर्गाकी मैं भक्तिपूर्वक पूजा करता हूँ। जिसकी सोनेकी-सी आभा है, जो परम सुन्दरी तथा सुख-सौभाग्यको देनेवाली है, उस कल्याणजननी सुभद्रा देवीकी मैं पूजा करता हूँ।' इन पुराणोक्त मन्त्रोंद्वारा कन्याओंका पूजन करना चाहिये। (इति कुमारी-पूजा।)

अथ महायन्त्रादि-पूजन प्रकार

वेदीपर सुन्दर सर्वतोभद्रमण्डल बनाकर उसपर विधिपूर्वक कलश-स्थापन करे और कलशके ऊपर भगवती पार्वतीजीका आवाहन करे। उनके समक्षमें नाना उपचारोंद्वारा कन्याओं, ब्राह्मणों तथा नवार्णमन्त्रद्वारा आवरण-देवताओंका पूजन करे। फिर सम्प्रदायके अनुसार ॐकारपीठ, पूर्णपीठ और कामपीठका अर्चन करे। पीठकी पूर्वादि दिशाओंमें गणेश आदि चारकी स्थापना करे। उनके नाम ये हैं—गणेश, क्षेत्रपाल, दो पादुकाएँ और तीन वटुक। आग्नेय आदि चारों कोणोंमें जया, विजया, जयन्ती और अपराजिता—इन चार देवियोंकी आराधना करे।

उपर्युक्त यन्त्रमें पूर्वकोणमें सरस्वतीसहित ब्रह्मा, नैर्ऋत्यमें श्रीसहित विष्णु और वायव्यमें उमासहित शिवकी स्थापना करे। षट्कोणचक्रके मध्यवर्ती मध्यबीजमें 'श्रीं महालक्ष्मी' और दायीं-बायीं ओर क्रमशः 'ह्रीं महाकाली' तथा 'ऐं महालक्ष्मी'का आवाहन करे। उत्तर दिशामें सिंह और दक्षिणमें महिषका स्थापन करे। छहों कोणोंमें पूर्वादि क्रमसे नन्दजा, रक्तदन्तिका, शाकम्भरी, दुर्गा, भीमा और भ्रामरीको स्थापित करे। इनकी पूजा आदि कार्योंमें इनके नामोंके अनुस्वारसहित प्रथम वर्ण और प्रणवविशिष्ट नाम-मन्त्रोंको ग्रहण करना चाहिये। जैसे—भ्रामरीकी पूजामें 'ॐ भ्रां भ्रामर्यै नमः।' इत्यादि रूपसे सर्वत्र समझ लेना चाहिये। फिर अष्टदलोंमें क्रमशः ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही, ऐन्द्री और चामुण्डाकी पूजा भी पूर्वोक्त रीतिसे नाम-मन्त्रोंद्वारा ही करे।

तदनन्तर अष्टदलकमलके किञ्जल्कोंमें पूर्वादि क्रमसे विष्णुमाया आदि चौबीस देवियोंकी आराधना करे। प्रत्येक दलमें तीन किञ्जल्क समझे। १—विष्णुमाया, २—चेतना, ३—बुद्धि, ४—निद्रा, ५—क्षुधा, ६—छाया, ७—शक्ति, ८—तृष्णा, ९—क्षान्ति, १०—जाति, ११—लज्जा, १२—शान्ति, १३—श्रद्धा, १४—कान्ति, १५—लक्ष्मी, १६—धृति, १७—वृत्ति, १८—स्मृति, १९—दया, २०—तुष्टि, २१—पुष्टि, २२—माता, २३—भ्रान्ति, २४—चिति—ये ही चौबीस देवियाँ हैं।

सप्तशती-स्तोत्रके पाँचवें अध्यायमें इन चौबीस देवियोंका पाठ नहीं है—ऐसा समझनेकी भूल नहीं करनी चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे कात्यायिनी-तन्त्रसे विरोध पड़ता है। कमलनालके मूलमें माधव आदि चारकी पूजा करके आधार, कूर्म, शेष और पृथिवीकी भी पूजा करे। गृहकोणोंमें गणेश, क्षेत्रपाल, वटुक तथा योगियोंकी और पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। इसी प्रकार चार दिनोंतक करे। उनमें भी प्रथम दिन सप्तशतीस्तोत्रका एक पाठ, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन और चौथे दिन चार पाठ प्रत्येक ब्राह्मण करे। पाँचवें दिन हवन होना चाहिये।

होम-द्रव्य

विधिपूर्वक स्थापित हुए अग्निमें तीन बार मधुसे भिगोये हुए हविष्य, द्राक्षा, केला, मातुलिङ्ग, ईख, नारियल, तिल, जातीफल, आम तथा अन्य मधुर द्रव्योंसे दस आवृत्ति सप्तशतीके प्रत्येक मन्त्रपर हवन करे और एक सहस्र नवार्ण मन्त्रसे भी हवन करे। फिर आवरण-देवताओंके लिये उनके नाम-मन्त्रोंद्वारा हवन करके यथोचितरूपसे पूर्णाहुति दे। तत्पश्चात् ब्राह्मणवृन्द देवताओंसहित अग्निका विसर्जन करके

यजमानको कलशके जलसे अभिषिक्त करें। यजमान प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक अशर्फी अथवा सुवर्ण यथाशक्ति दक्षिणारूपमें दान करे। फिर नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्योंद्वारा सौ ब्राह्मणोंको भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा देकर आशीर्वाद ले। इस प्रकार करनेपर जगत् अपने वशमें होता है और सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। (इति शतचण्डीविधिः।)

'कल्याण' के पाठकों और अधिकारी साधकोंके समक्ष 'श्रीसप्तशती-महायन्त्र' का शुद्ध स्वरूप निवेदन करनेके प्रयोजनसे साथमें विधानरूपसे 'शतचण्डीविधि' का प्रयोग ऊपर दे दिया गया है। बात यह है कि ऋग्वेदीय 'ब्रह्मकर्मसमुच्चय' नामक ग्रन्थ (निर्णयसागर यन्त्रालय) को देखते हुए हमारी दृष्टिमें मुद्रित 'दुर्गासप्तशतीमहायन्त्रम्' का चित्र आया और पूरी तरह देखनेपर उसमें कई दोष अवगत हुए; क्योंकि 'शतचण्डीविधि' के वर्णन तथा अन्य तन्त्रसिद्ध महापुरुषोंके दीप्त अनुभवसे उस मुद्रित यन्त्रमें कुछ दोषपूर्ण भेद था। जैसे—सबसे अंदरके छोटे त्रिकोणमें महाकाली आदि तीन महाशक्तियोंके जो तीन बीज कोणोंमें रखे हुए हैं, वे अलग-अलग निज शक्तिके कोणके अन्तर्गत न होकर एक ही पंक्तिमें उस मुद्रित यन्त्रमें थे और इसपर भी 'श्रीं' के स्थानपर 'क्लीं' बीज अप्रासङ्गिक-रूपसे था। इसके अतिरिक्त कुछ और भी अशुद्धि थी। 'तन्त्र' में किसी भी बातका इधर-से-उधर हेरफेर होना अथवा जरा-सा भी अन्यथारूपसे प्रयुक्त होना महान् दोष माना गया है। सब किया-कराया एकदम व्यर्थ हो जाता है। इन भावोंकी प्रेरणासे 'सप्तशती-महायन्त्र' का शुद्धरूप 'कल्याण'-पाठकोंके सामने उपस्थित किया गया है। इसकी अनिवार्यता 'शतचण्डी'के अनुष्ठानमें होती है, जिसकी शास्त्रीय विधि ऊपर अङ्कित है। 'शतचण्डी' श्रीदुर्गासप्तशतीका परम अस्त्र है और उसकी शक्ति तथा प्रयोग संनिहित हैं इस महायन्त्रमें। साधनसिद्ध ग्रहीताके पास इस महायन्त्रका होना अखिल ब्रह्माण्डको अपने हस्तगत करना है। इस महायन्त्रने ब्रह्माण्डकी प्रत्येक बातको पूर्णताके साथ अपने अन्तर्गत रख छोड़ा है और इस प्रकार उस साधकका जीवन दिव्य और पूर्ण हो जाता है। पूर्ण इसलिये कि इस छविमें समस्त भागवत-शक्तियोंका समावेश है। माँकी समस्त शक्तियोंमें भगवती दुर्गाका स्वरूप प्रत्येक भावसे पूर्ण है। किसी एक दिशा अथवा स्तरके भावमें माँ दुर्गा सीमित नहीं हैं। केवल ज्ञान, केवल बल अथवा केवल प्रेमसे वे बँधी हुई नहीं हैं। वे हैं अखण्डरूपमें समस्त भावोंको धारण किये हुए। इसीसे वे दुर्गा हैं—दुर्गमनीया। पूर्णा हैं, समस्त संख्याओंकी परम शिरोमणि अखण्ड नौ रूपसे अपनेको यत्र-तत्र विस्तृत किये हुए हैं—'नवदुर्गाः प्रकीर्तिताः।' माँकी ही करुणा एवं कृपाका बल—अपने अहंकारका नहीं; साधककी उचित अग्रगति करता है।

उपर्युक्त यन्त्रको साफ कागजपर अन्तरस्थ छोटे समत्रिकोणसे बनाना आरम्भ करे। पूर्वदिशा अपने सामने रहे। उसके बाद बाह्य षट्समकोण बनाकर (रक्तवर्ण), चारों ओर कृष्णवर्णका घेरा खींचकर उसके बाहर अष्ट कमलदल लाल रंगसे बनावे और तदनन्तर घेरेके बाहर २४ कमलदल बनाकर और प्रतिकोण तथा कमलदलके अंदर लिखित शक्तियोंको साथ-ही-साथ भरकर बाहर चारों द्वारयुक्त पीले रंगके चतुरस्रसे वेष्टित कर दे।

ऋष्यादिन्यास, करन्यासादि, जिनका पूरा विधान तन्त्र-ग्रन्थोंमें है, करके अनुष्ठानको आरम्भ करना चाहिये।

भोजपत्रपर यदि अङ्कित करना हो तो केसरयुक्त चन्दनसे बिल्व-लेखनीद्वारा अङ्कित करना चाहिये।

(माता-सेवक)

जगदम्बाको नमस्कार

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या निश्शेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या।
तामम्बिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः॥

(दुर्गा० ४। ३)

सम्पूर्ण देवताओंकी शक्तिका समुदाय ही जिनका स्वरूप है तथा जिन देवीने अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है, समस्त देवताओं और महर्षियोंकी पूजनीया उन जगदम्बाको हम भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं। वे हम लोगोंका कल्याण करें।

श्रीचक्रकी उपासना

(लेखक—पं॰ श्रीकृष्णप्रसादजी भट्टराई, साधारण दर्शनाचार्य, काठमांडू, नेपाल)

(१)

श्रीचक्र

श्रीविद्याके यन्त्रको 'श्रीचक्र' कहते हैं। इसमें जो 'श्री' शब्द आया है वह 'श्रीविद्या'का वाचक है और 'चक्र' शब्द चक्रस्वरूप यन्त्रका। केवल वही एक ऐसा चक्र है जो समस्त ब्रह्माण्डका प्रतीक है। यह प्रणवस्वरूप शब्दब्रह्मका भी प्रतीक है। यह परब्रह्मस्वरूपिणी आदिप्रकृतिमयी श्रीविद्यारूप महात्रिपुरसुन्दरीका आराधनास्थान है। यह उनका दिव्य धाम है, दिव्य रथ है। इसका संनिवेश मनोहर है। इसमें समस्त देवताओंकी आराधना और सभी प्रकारकी उपासनाएँ होती हैं। इसमें सभी आम्नायोंका, सभी क्रमोंका, सभी आचारोंका, सभी विद्याओंका एवं सभी तत्त्वोंका समावेश होता है। इसमें सभी वर्णोंके, सभी आश्रमोंके, सभी सम्प्रदायोंके सभी प्रकारके अधिकारी उपासकरूपमें प्रविष्ट हो सकते हैं। इसमें सभीके लिये अवकाश है।

संनिवेश और विन्यास—

श्रीचक्रका संनिवेश मनोहर है और इसका विन्यास विचित्र है। इसके बीचोबीचमें बिन्दु और सबसे बाहर भूपुर हैं। भूपुरके चारों ओर चार द्वार हैं। बिन्दुसे लेकर भूपुरपर्यन्तके इसके कुल दस प्रकारके अवयव होते हैं। जो क्रमशः इस प्रकार हैं—बिन्दु, त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल, षोडशदल, तीन वृत्त और तीन भूपुर। पूजाके अवसरपर बिन्दु भी तीन माने जाते हैं, जिससे कि इसके कुल सोलह अवयव हो जाते हैं। इनमें त्रिकोणसे लेकर चतुर्दशारपर्यन्त जो पाँच अवयव हैं, वे एकके बाद एक—इस तरह परस्पर अनुस्यूत होते हैं कि जिससे इनके अन्य कई अवान्तर कोण एवं रेखाएँ बन जाती हैं। फिर चतुर्दशारके जो कोण होते हैं, उनकी भी नोकें बाहरवाले अष्टदलके साथ मिली होती हैं और इसी तरह अष्टदलकी नोकें षोडशदलके साथ और षोडशदलकी नोकें प्रथम वृत्तके साथ मिली होती हैं, जिनके कारण और भी कई कोष्ठ और कोण बन जाते हैं, जिनको यहाँ 'स्पन्दीचक्र' भी कहते हैं। इनमें बिन्दु, अष्टदल, षोडशदल, त्रिवृत्त और चतुरस्रको शिवका अंश और त्रिकोण, अष्टकोण, दो दशकोण और चतुर्दशारको शक्तिका अंश माना गया है। इस प्रकार पाँच शिवत्रिकोण और चार शक्तित्रिकोणके मिलनेसे परस्पर कटकर कुल तैंतालीस कोण बन जाते हैं। बाहर जो भूपुर हैं, वे एक प्रकारके प्राकार या दुर्ग-से दीखते हैं। इस तरह इसका विन्यास अतीव मनोहर होता है और मनोहर होते हुए ही जटिल भी है। इसीलिये यह श्रीपुर अर्थात् श्रीविद्याका पुर भी कहा जाता है।

आगमोंमें इस चक्रका एक दिव्य द्वीपके रूपमें वर्णन किया गया है। दिव्यनगरके रूपमें इसका निरूपण हुआ है; क्योंकि कोशकारोंने चक्र शब्दका अर्थ नगर भी बताया है। रक्तवर्ण सुधासमुद्रसे घिरा हुआ वह 'रत्नद्वीप' है। इसमें कल्पवृक्ष पारिजातसे लेकर सभी प्रकारके फल-फूल और लता-वनस्पतियोंसे हरे-भरे दिव्य नन्दन-उद्यानके बीचमें अनन्त योजनविस्तीर्ण रत्नप्राकारके भीतर अवस्थित इस पुरके मध्यमें रत्नसिंहासनपर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायिका श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी विराजमान हैं। यह पुर चक्राकार है। इसीका प्रतीक श्रीचक्र है। इसी चक्राकार रथमें बैठकर, सम्पूर्ण देव-देवी, योगिनी आदि अपनी विभूतियोंके चक्र अर्थात् समूहसे परिवृत होकर देवीने भण्डासुरका संहार किया था। इस कथासे भी श्रीचक्रका चक्राकार द्वीप, पुर अथवा सर्वतः स्वविभूतिपरिवृत्त आदिशक्तिका ही प्रतीक होना सिद्ध होता है। इस चक्रका मध्यवर्ती बिन्दु शिवका और त्रिकोण शक्तिका स्थान है तथा रूप भी। फिर इन दोनोंका समन्वय होनेपर समरसीभावसे स्थित शिवशक्तिरूप साक्षात् परब्रह्म एवं उनकी चिद्रूपा आदिशक्तिके एकीभावका प्रतीक यही बिन्दु होता है। इस तरह यह बिन्दु श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीका केन्द्रबिन्दु होता है और श्रीचक्ररूप पुर सभी देवताओंका आवास। कहनेका तात्पर्य यह है कि वही महात्रिपुरसुन्दरी विभिन्न देवतारूप अपनी विभूतियोंसे इस पुरको व्याप्तकर इसके बीचमें बैठती हैं; इसलिये यह श्रीचक्र उनका भी प्रतीक है। फिर मेरुपृष्ठके आकारमें यह चक्र जब ऊपरको उठा हुआ ऊँचे आकारका होता है, तब यह समस्त ब्रह्माण्डको सँभाले हुए सुमेरु पर्वतके प्रतीक

रूपमें खड़ा होता है और पुराणोंमें वर्णित सुमेरुपर अवस्थित सभी लोकोंका इसमें समन्वय होता है। शास्त्रमें 'मेरु'को नवार्णरूपमें कहा है और श्रीचक्रको 'मेरु'रूप माना है। यथा—

'श्रीचक्रमपि देवेशि मेरुरूपं न संशयः॥'

(ज्ञानार्णव)

लकाराद् पृथिवी देवी सशैलवनकानना।
सकाराच्चन्द्रतारादिग्रहराशिस्वरूपिणी ॥

(इत्यादि)

सम्प्रदायगत विशेषता—

श्रीचक्रके मुख्य तीन सम्प्रदाय हैं। हयग्रीव-सम्प्रदाय, आनन्दभैरव-सम्प्रदाय और दक्षिणामूर्ति-सम्प्रदाय—इनमें हयग्रीव-सम्प्रदायमें त्रिवृत्त नहीं होता, आनन्दभैरव-सम्प्रदायमें त्रिवृत्त तो होता है, किंतु उसमें पूजा नहीं होती एवं दक्षिणामूर्ति-सम्प्रदायमें श्रीचक्रमें त्रिवृत्त भी होता है और उसमें पूजा भी होती है।

प्रकार और प्रस्तार—

बनावटकी दृष्टिसे श्रीचक्रके कुल तीन प्रकार होते हैं—भूपृष्ठ, कच्छपपृष्ठ और मेरुपृष्ठ। इनमें जो समतल होता है, उसको 'भूपृष्ठ', जो कछुएकी पीठकी तरह कुछ उठा हुआ होता है उसको 'कच्छपपृष्ठ' और जो सुमेरुपर्वतकी तरह अपने अनुपातमें पूरा ऊपर तक उठा हुआ होता है उसको 'मेरुपृष्ठ' कहते हैं।

उपासनाकी दृष्टिसे शास्त्रमें इसके तीन प्रस्तार माने गये हैं—मेरुप्रस्तार, कैलासप्रस्तार और भूप्रस्तार। इनका उपयोग एक तो यथाक्रम कामेश्वरी आदि नित्याओं और वशिन्यादि वाग्देवताओंके, संक्षोभणी आदि मुद्राओंके तथा अणिमादि सिद्धियोंके तादात्म्यमें होता है। दूसरा, सृष्ट्यादि-क्रममूलक पूजाके लिये एवं भिन्न-भिन्न आश्रमोंके लिये होता है; क्योंकि शास्त्रमें मेरुप्रस्तारमें संहारक्रमसे पूजा न करके सृष्टिक्रमसे करनेको कहा है एवं संहारक्रमसे पूजा कैलास-प्रस्तारमें और स्थितिक्रमसे पूजा भूप्रस्तारमें बतायी गयी है। यथा—

मेरुचक्रे तु संहारक्रमपूजा न विद्यते।
सृष्टिक्रमेण देवेशि पूजनीयं प्रयत्नतः॥
संहारपूजा कैलासप्रस्तारेऽत्र विधीयते।
भूप्रस्तारे महेशानि स्थितिपूजा सदोत्तमा॥

(श्रीविद्यार्णव)

इसी तरह गृहस्थको स्थितिक्रमसे, वानप्रस्थ और यतिको संहारक्रमसे, ब्रह्मचारीको सृष्टिक्रमसे और स्त्री तथा शूद्रको इष्टदेवतास्वरूप गुरुकी आज्ञाके अनुसार पूजा करनेको कहा गया है। यथा—

स्थितिक्रमो गृहस्थस्य संहारो वनिनो यतेः।
ब्रह्मचारिण उत्पत्तिः स्त्रियः शूद्रस्य चेष्टतः॥

तथा इसकी परिभाषा—

सृष्टिक्रमं मेरुचक्रं कैलासं चार्धमेरुकम्।
संहाराख्यं महेशानि भूप्रस्तारं स्थितिक्रमम्॥

निर्माण या रचना—

श्रीचक्र स्फटिक आदि शिला, मरकत आदि मणि, सुवर्ण आदि धातु प्रभृतिमें बारीकीसे काटकर, खोदकर समतल अथवा उभरा हुआ दोनों प्रकारका बनाया जा सकता है। फिर ऐसे ही समतल मणि, शिला, धातु आदिमें चन्दन, कुङ्कुम, रोचना आदिसे लिखकर भी बनाया जा सकता है। गहरा-उभरा, जो भी हो, पूजाके अवसरपर इसके ऊपर चन्दनादिद्वारा फिरसे अपने सम्प्रदाय और क्रमके अनुसार रेखा भरनी चाहिये। यन्त्र लिखते समय उपासकको चाहिये कि वह अपने सम्प्रदाय-क्रम या कामनाके अनुसार पूजा, जिस स्थलसे आरम्भ करना हो, ठीक उसी स्थलसे रेखाका उपक्रम करे और जहाँपर जाकर पूजाका पर्यवसान करना हो, वहींपर उसका उपसंहार करे; यदि चक्रकी रेखाएँ खोदकर बनायी गयी और गहरी हों तो ऊपर कहे अनुसार उनमें चन्दनादि भरकर ही पूजा करनी चाहिये। यहाँपर और एक बात ध्यान देने योग्य है कि पट, फलक, भित्ति आदिमें श्रीचक्र लिखकर पूजा करना वर्जित है।

स्वरूप—

बिन्दुसे लेकर भूपुरपर्यन्त श्रीचक्रको तीन रूपमें विभक्त किया है; इनमें भूपुरसे अष्टदलतकको सृष्टिचक्र, चतुर्दशारसे अन्तर्दशारतकको स्थितिचक्र और अष्टारसे बिन्दुतकको संहारचक्र माना है। फिर इन तीनों चक्रोंको 'त्रिपुर' भी कहते हैं। इसी त्रिपुरस्वरूप श्रीचक्रकी प्रधान नायिका होनेके कारण इसकी अधिष्ठात्री भगवती आदिशक्ति 'श्रीमहात्रिपुर-

सुन्दरी' नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनका मुख्यस्थान बिन्दु है। बिन्दु इनका प्रतीक भी है, इनके स्वरूपका द्योतक भी है। जैसे अन्यत्र बिन्दुसे ही सभी प्रकारकी रेखाएँ और कोण आदि बनते हैं, इसी तरह यहाँ भी बिन्दुसे ही श्रीचक्रकी समस्त रेखाएँ और कोण बनते हैं, जो वास्तवमें सर्वदेवता-स्वरूप हैं और केन्द्रवर्ती प्रधानदेवताके विविध विभूतिस्वरूप हैं। इस चक्रमें जो भूपुर, वृत्त, त्रिकोण आदि हैं, वे सब तीन-तीनके समूहरूपमें हैं और सब यथायोग्य तीन गुण, तीन-काल, तीन अवस्थाएँ, तीन लोक तथा तीन देवता आदिके स्वरूपके द्योतक हैं जहाँ त्रिकोणके तीन कोण जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप तीन अवस्थाएँ होती हैं, वहाँ बिन्दु तुरीय अवस्था-स्वरूप हो जाता है। और यही बिन्दु फिर तुरीयातीत होकर एकरूपमें आ जाता है। इस प्रकार यही वास्तविक तत्त्वस्वरूप है और इसी तत्त्वसे समस्त ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होते हैं, जैसा कि कहा है—

तत्त्वाद् ब्रह्माण्डमुत्पन्नं तत्त्वेन परिवर्धते।
तत्त्वे विलीयते देवि तत्त्वाद् ब्रह्माण्डनिर्णयः॥

(आगमकल्पद्रुम)

इस 'तत्त्व'का वही परब्रह्मस्वरूपिणी अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-नायिका महात्रिपुरसुन्दरीसे तात्पर्य है। श्रीचक्रमें जब इनका स्थान बिन्दु है और यह बिन्दु उनका प्रतीक भी है और स्वरूप भी, तब यह श्रीचक्र उन्हींसे उत्पन्न विशाल ब्रह्माण्ड-स्वरूप भी हो जाता है; अतएव श्रीचक्रमें उपासना करते समय यह भावना की जाती है कि बिन्दुरूपमें अवस्थित वही अद्वितीय चिच्छक्ति ही श्रीचक्रके समस्त आवरण-देवताओंके रूपमें अभिव्यक्त हुई हैं।

ब्रह्माण्डके प्रतीकरूपमें श्रीचक्र—

जैसे पिण्डरूप इस व्यष्टि-शरीरको, जिसे पिण्ड-ब्रह्माण्ड भी कहते हैं, (स्थूल) ब्रह्माण्डका प्रतीक माना है; इसी तरह श्रीचक्रको समस्त ब्रह्माण्डका प्रतीक माना है। जैसे ब्रह्माण्ड सृष्टि-स्थिति-संहाररूप अवस्थात्रयात्मक है, वैसे ही यह देहरूप पिण्डब्रह्माण्ड भी उक्त अवस्था-त्रयात्मक है; अतएव यह पिण्ड-शरीर ब्रह्माण्डका प्रतीक होता है, इसी तरह सृष्टि-स्थिति-संहार तीनों चक्रोंसे युक्त होनेके कारण यह श्रीचक्र समस्त ब्रह्माण्डका प्रतीक है। जैसे ब्रह्माण्डमें तीनों लोक हैं, तीनों गुण हैं और महत्तत्त्वादि सभी तत्त्व विद्यमान हैं, उसी तरह पिण्ड-ब्रह्माण्डमें मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त उक्त सभी लोक, सभी तत्त्व, सभी गुण और सभी अवस्थाएँ विद्यमान हैं। इसी तरह श्रीचक्रमें भी भूपुरसे लेकर बिन्दुपर्यन्तके अवयवोंमें यथायोग्य सभी लोक, सभी अवस्थाएँ, सभी तत्त्व और शरीरके सभी चक्रोंका और सभी धातुओंका समन्वय होनेसे यह पिण्ड-ब्रह्माण्डका भी प्रतीक माना गया है।

आगमोंके अनुसार सौ ब्रह्माण्डका एक 'विष्ण्वण्ड' होता है। इसी तरह सौ विष्ण्वण्डका एक 'प्रकृत्यण्ड', सौ प्रकृत्यण्डका एक 'मायाण्ड' और सौ मायाण्डका एक 'शक्त्यण्ड' माना गया है। इस प्रकार हमने ऊपर श्रीचक्रको जो ब्रह्माण्डका प्रतीक-स्वरूप कहा है, उसमें ब्रह्माण्डका इसी 'शक्ति-अण्ड'से अभिप्राय है; अब इस प्रकार यह श्रीचक्र समस्त ब्रह्माण्डका भी प्रतीक होता है और साथ ही अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-नायिका श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीका भी।

इसी प्रकार यह प्रणवस्वरूप शब्दब्रह्मका भी प्रतीक होता है। प्रणवमें जो पाँच मुख्य अवयव हैं—अ, उ, म, नाद और बिन्दु और जो चार अवस्था या रूप हैं—वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा—इन सबका श्रीचक्रके सृष्टि-स्थिति-संहार अनाख्याओं और भासारूप पाँच क्रमोंमें यथायोग्य समन्वय हो जाता है, जिस प्रकार इनका शरीरके स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा एवं मूलाधारमें होता है। भेद इतना ही है कि प्रणवगत बिन्दुकी अव्यक्त अवस्थाका मूलाधारमें और व्यक्त अवस्थाका आज्ञा-चक्रमें समन्वय होता है। इसी प्रकार प्रणवमें जो छत्तीस कलाएँ या मात्राएँ हैं, उनमेंसे जो उनतीस हैं, वे त्रिवृत्तमें हैं और वे ही त्रिवृत्तकी कालरात्रिसे लेकर हंसवती तककी मातृकाएँ होती हैं और वे ही पिण्ड-शरीरकी गर्भावस्था, बाल्यावस्था आदिसे लेकर निधन तककी एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा तुरीयातीत तककी अवस्थाएँ होती हैं। इस तरह ब्रह्माण्ड, पिण्ड-ब्रह्माण्ड एवं प्रणव आदिके प्रतीकरूपमें श्रीचक्रको लिया जाता है, जिसका विस्तृत वर्णन आगमों तथा उपनिषदोंमें पाया जाता है।

ऊपर हमने भूपुरसे बिन्दुतकको सृष्टि आदि तीन चक्रोंमें विभाजित कर उसमें ब्रह्माण्डके सृष्टि, स्थिति, संहाररूप तीन अवस्थाओंका समन्वय होना बताया था; अब शरीरगत षट्चक्रके साथ समन्वय करनेके लिये और श्रीविद्याकी उपासनाके लिये इसमें कुल पाँच क्रमकी कल्पना की जाती है। जैसे कि सृष्टिचक्र, स्थितिचक्र, संहारचक्र, अनाख्याचक्र और

आज्ञाचक्र, जिनमें भूपुरत्रिवृत्त, षोडशदल और अष्टदल मिलकर 'सृष्टिचक्र'; चतुर्दशार, बहिर्दशार और अन्तर्दशार मिलकर 'स्थितिचक्र'; अष्टार, त्रिकोण और बिन्दु मिलकर 'संहारचक्र' तथा इनकी समष्टिमें द्वितीय बिन्दुतकमें 'अनाख्या' और तृतीय बिन्दुतकमें 'भासा' होते हैं। इस प्रकार सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा—इन पाँचोंको क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा—इन पाँचमें अन्तर्भूत मानते हैं। यह प्रक्रिया है, जिसको श्रीमतमें 'श्रीकल्प' और 'श्रीक्रम' भी कहते हैं। पर कालीकल्पमें सृष्टिचक्र मूलाधारमें माना जाता है। ऐसे तो श्रीचक्रमें मुख्य तीन कल्प हैं, पर इनमें तारांकल्पको दक्षिणाम्नायमें कालीक्रमसे मिला देते हैं। ऐसा करनेपर यहाँ मुख्य दो ही कल्प या क्रम रह जाते हैं, जो 'श्रीक्रम' और 'कालीक्रम' कहे गये हैं। इनमें भी कालीको प्रधान माननेवाले श्री (सुन्दरी) को नीचे रखते हैं और श्री (सुन्दरी) को प्रधान माननेवाले कालीको नीचे रखते हैं। इस प्रकार जब श्रीको ऊपर रक्खा जाता है तो सामान्यतः मूलाधारसे विशुद्धतक 'कालीकल्प' होता है और आज्ञाचक्रसे ब्रह्मरन्ध्रतक 'श्रीकल्प' होता है तथा जो स्वाधिष्ठानमें सृष्टि मानते हैं, वे मूलाधारमें विश्रान्ति मानते हैं। कभी-कभी मूलाधारसे विशुद्धतक सृष्ट्यादि पाँच क्रम और आज्ञासे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त फिर केवल भासा माना जाता है। इस प्रकार यहाँ नीचेके मूलाधारसे वा स्वाधिष्ठानसे सृष्टि आदिको मानकर ऊपरके ब्रह्मरन्ध्रस्थानीय बिन्दुमें जाकर संहार मानते हैं। यहाँका जो यह 'संहार' शब्द है वह 'लय' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, न कि 'ध्वंस' या 'नाश'के अर्थमें। इस प्रकार किसी मतमें जहाँसे सृष्टि होती है, वहीं आकर संहार अर्थात् लय होता है। इसी प्रकार कोई-कोई बिन्दुमें ही सृष्टि मानकर मूलाधारतक आकर फिर बिन्दुमें ही पहुँचकर उसका उपसंहार करते हैं।

श्रीचक्र श्रीविद्याके यन्त्रको कहते हैं, यह हमने पहले ही कहा है। अब यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि यह 'श्रीविद्या' क्या है ? और इसका अर्थ क्या होता है ? 'श्रीविद्या' शब्दकी अनेक व्युत्पत्तियाँ हो सकती हैं, जैसे कि—श्रीरूपा विद्या, श्री और विद्या, श्रीकी अर्थात् श्रीविद्याकी विद्या, श्रीप्रदात्री विद्या और श्रीप्राप्तिकी विद्या इत्यादि।

यह तो यहाँ स्पष्ट ही है कि इस 'श्रीविद्या' शब्दमें दो भाग हैं—'श्री' और 'विद्या'। 'श्री'शब्दका अर्थ भिन्न-भिन्न स्थलोंमें प्रसङ्गानुसार लक्ष्मी, सरस्वती, सम्पद्, शोभा आदि भिन्न-भिन्न होनेपर भी यहाँ इसका प्रमुख अर्थ होता है वही परम प्रकृतिरूप आदिशक्ति; क्योंकि शास्त्रमें इन्हींको 'श्री' कहा है—

'त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी'

(दुर्गा० १ । ७९)

'तुम्हीं श्री हो, तुम्हीं ईश्वरी हो।'

फिर, 'श्री'शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी यही अर्थ निकलता है, जैसा कि 'श्रियते सर्वैरिति श्रीः।' क्योंकि 'श्री'शब्द 'श्रि'धातुसे बनता है और 'श्रि'धातुका अर्थ होता है—'सेवा करना।' इसी तरह 'आङ्' उपसर्गके योगमें इसका अर्थ होता है—'आश्रय करना'। कभी-कभी बिना उपसर्गके केवल धातुमात्र भी सामर्थ्यसे उपसर्गयुक्त अर्थका बोध कराते हैं। जैसा कि—'श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि' अर्थात् 'लक्ष्मी निरन्तर यहाँ (व्रजमें) आश्रय ग्रहण करती हैं।' (श्रीमद्भागवत १० । ३१ । १) इस प्रकार सभीसे सेवित और सभीका आश्रय होनेसे भी 'श्री'शब्दसे यहाँपर वही 'आदिशक्ति' कही गयी हैं और यही आदिशक्ति सम्पूर्ण जगत्का आधार तथा आश्रय भी हैं। जैसा कि कहा है—

'आधारभूता जगतस्त्वमेका'

'सर्वाश्रयाखिलमिदं जगद्'

(दुर्गा० ११ । ४, ४ । ७)

'जगत्का आधारस्वरूप एक तुम्हीं हो। सबका आश्रय होकर (तुम्हीं) इस सारे जगत्को'—

और शास्त्रमें इन्हींको परम प्रकृति, आदिप्रकृति आदि कहा है—

'प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य।'

'परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या।'

इत्यादि। (दुर्गा० १ । ७८, ४ । ७)

अब प्रसिद्धिके आधारपर 'श्री'शब्दका अर्थ लक्ष्मी ही मानें तो भी इसका तात्पर्य यहाँ उसी आदिशक्तिसे होता है; क्योंकि तन्त्र-पुराण आदिमें जिस प्रकार उनको 'श्री' कहा है, उसी प्रकार 'लक्ष्मी' भी कहा है। जैसा कि—

'या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेष्वलक्ष्मीः'

(दुर्गा० ४ । ५)

'जो तुम पुण्यात्माओंके घरोंमें स्वयं श्रीरूप हो।'

'सा श्री रुक्माम्बुजासना।'

'सुवर्णकमलमें विराजमान श्री अर्थात् लक्ष्मी वही आदि-शक्ति हैं'।

'श्रीः कैटभारिहृदयैककृताधिवासा ।'

'भगवान् विष्णुके हृदयकमलमें निवास करनेवाली लक्ष्मी तुम्हीं हो।'

'या देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता ।'

'जो देवी (आदिशक्ति) सब प्राणियोंमें लक्ष्मीरूपसे स्थित है', इत्यादि—(मा० पु०)। इसी प्रकार आदि-शक्तिको ही सम्बोधन करके कहा है—

'लक्ष्मि लज्जे महाविद्ये ।'

'हे लक्ष्मी! हे लज्जारूपिणी! हे महाविद्यास्वरूपिणी! (मा० पु०)

इस प्रकार ऊपरके उद्धरणोंसे भी 'श्री'शब्दका अर्थ यहाँ-पर वही 'आदिशक्ति' है।

इसी प्रकार 'विद्या' शब्दके भी अनेक अर्थ होते हैं। 'विद्या' शब्द, 'विद्'धातुसे बनता है और विद्का अर्थ होता है—जानना। इसलिये विद्या शब्दका मुख्य अर्थ होता है ज्ञान; इसके अतिरिक्त विद्याकी अधिष्ठात्री देवता सरस्वती, विद्याके साधनस्वरूप शास्त्र आदिमें भी 'विद्या' शब्द प्रयुक्त होता है और इसके साथ-साथ वेद, पुराण और आगम-शास्त्रोंमें विशेषरूपसे 'मन्त्रवर्णात्मक' देवताको और उनकी उपासना-विधिको भी 'विद्या' कहा है। प्रसङ्ग और अवस्थाके अनुसार 'श्रीविद्या'में जो विद्या शब्द है, उसमें भी क्रमशः प्रायः सभी लागू हो सकते हैं।

श्रीस्वरूपा विद्या—

अब यहाँपर हम 'श्रीविद्या'से प्रथमतः 'श्रीस्वरूपा विद्या' को ही लेते हैं। यहाँपर 'श्री'शब्द और 'विद्या'शब्दका परस्पर सामानाधिकरण्य होनेसे इन दोनोंका आपसमें अभेद सम्बन्ध है। अर्थात् श्री और विद्याका यहाँपर कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं—कि 'श्री' हैं परमप्रकृतिस्वरूप आदिशक्ति और यही आदिशक्ति यहाँ 'विद्या'रूपमें अभिप्रेत है। जब 'विद्या'शब्दका अर्थ है ज्ञान और ज्ञान है परब्रह्म—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' इत्यादि (उपनिषद्)

—तब 'श्री'शब्दवाच्य जो आदिशक्ति हैं, वही 'विद्या'पद-वाच्य ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है; क्योंकि परब्रह्म और परम प्रकृतिस्वरूप आदिशक्तिमें भेद नहीं है। जो परमप्रकृति है, वह परब्रह्मका ही स्वरूप है।

अब इससे यह सिद्ध होता है कि उस चैतन्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न जो साक्षात् परब्रह्मस्वरूपिणी चिन्मयी आदिप्रकृति हैं, वही 'श्री' है और यही मन्त्र-वर्णात्मक देवतारूपमें अभिव्यक्त हो 'श्रीविद्या'के नामसे उपास्य हैं; क्योंकि हमने पहले ही कहा है कि 'विद्या' का अर्थ 'मन्त्रवर्णात्मक देवता' भी होता है।

श्री और विद्या—

वास्तवमें कहें तो 'श्रीविद्या'का अर्थ है 'श्री' और 'विद्या' श्री हैं—'श्रीसुन्दरी' और विद्या है—'विद्याराज्ञी' दक्षिणकाली। जैसा कि कहा है—

सा काली द्विविधा प्रोक्ता श्यामारक्ताप्रभेदतः।
श्यामा तु दक्षिणा प्रोक्ता रक्ता श्रीसुन्दरी मता ॥

अर्थात् 'वह काली श्यामा और रक्ताके भेदसे दो प्रकार-की कही गयी है। श्यामा 'दक्षिणकाली' हैं और रक्ता 'श्रीसुन्दरी' हैं।' यहाँ 'कालयति जगत् सर्वम्' इति काली—इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'काली'शब्दका 'श्री'विद्यासे तात्पर्य होता है। इस तरह जिनकी श्रीसुन्दरी और विद्याराज्ञी अर्थात् त्रिपुरसुन्दरी और दक्षिणकाली दोनों रूपमें उपासना होती है, वह है—'श्रीविद्या,' क्योंकि श्रीविद्याकी उपासनामें जो तीन क्रम या कल्प माने गये हैं, उनमें ताराकल्पको दक्षिणाम्नायमें कालीकल्पके साथ मिला देनेपर केवल दो क्रम मुख्यरूपमें उपस्थित होते हैं। * अब इन दोमें भी कोई कालीको प्रधान मानते हैं और कोई सुन्दरीको और जो भी जिसको प्रधान मानता है, वह उसीके क्रमको अपनाता है। जो भी हो, बात एक ही है; क्योंकि पीछे जाकर निर्वाण और सर्वाधिकारके पश्चात् पूर्णमहाक्रम होनेके बाद श्रीसुन्दरी और विद्याराज्ञी दोनों एक हो जाती हैं, और फिर साक्षात् परब्रह्मस्वरूपिणी रह जाती हैं। इसीलिये 'बृहद्वडवानल' तन्त्रमें कहा है कि 'श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी और कालीमें कोई

* यहाँपर यह एक समझनेकी बात है कि यहाँकी परम्परामें ताराक्रमसे पृथक् उपासना न करके उसको दक्षिणाम्नायमें समावेश करनेका क्रम प्रचलित है। —लेखक

भेद नहीं है और जो इन दोनोंको भेददृष्टिसे देखता है, वह अधोलोकको जाता है।' यथा—

महात्रिपुरसुन्दर्याश्चण्डयोगेश्वरी परा।
न तयोर्विद्यते भेदो भेदकृन्नरकं व्रजेत्॥

यहाँ 'चण्डयोगेश्वरी'से काली ही अभिप्रेत है। अब इसका अभिप्राय यह होता है कि एक ही आदिशक्ति उपासनाक्रमसे अनेक रूपोंमें अभिव्यञ्जित होकर, उपासना परिपूर्ण होनेपर फिर एक ही रूपमें अर्थात् निजस्वरूपमें अवस्थित हो जाती हैं—यह उपासनाकी चरम अवस्था है। इसी अवस्थामें उपासक भी तद्रूप होकर एक हो जाता है और मोक्षरूप परमपुरुषार्थका भागी हो जाता है। यही श्रीविद्याका रहस्यार्थ है और यहीं आकर श्रीविद्याके उपर्युक्त दोनों अर्थ—'श्रीस्वरूपा विद्या' तथा 'श्री और विद्या'का सुन्दर समन्वय होता है और मन्त्रवर्ण, देवता, गुरु तथा साधक या उपासक सब एकरूप हो जाते हैं। जैसा कि कहा है—

मन्त्ररूपा भवेद् देवी देवरूपो गुरुर्भवेत्।
गुरुरूपो भवेदात्मा आत्मरूपी मनुर्भवेत्॥

अर्थात् 'देवी मन्त्ररूप हो जाती हैं, गुरु देवीरूप बन जाता है, आत्मा अर्थात् उपासक गुरुरूप हो जाता है और मन्त्र आत्मरूप बन जाता है।' अर्थात् साधककी आत्मासे एकाकार हो जाता है। और इसी आत्मसंवित्तिरूप एकाकार अनुभवको विद्वानोंने 'विद्या' कहा है। जैसा कि—

'आत्माकारेण संवित्तिर्बुधैर्विद्येति गीयते॥'
(लिङ्गपुराण)

—इस वचनसे सूचित होता है। और यही सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित होनेके कारण परम तत्त्व कहा जाता है; क्योंकि जो विकल्परहित तत्त्व है, वही परम तत्त्व है। कहा भी है—

'विकल्परहितं तत्त्वं परमित्यभिधीयते।' (लिं० पु०)

इस तरह श्रीविद्याका 'श्री और विद्या' रूप अर्थ लेनेपर भी अन्ततोगत्वा यह एक रूपमें परिणत होकर एक ही विद्या बन जाती है। यह 'श्रीविद्या'का दूसरा अर्थ है।

'श्री' की अर्थात् श्रीविद्याकी विद्या—

'श्रीविद्या'को 'श्री'की अर्थात् 'श्रीविद्याकी विद्या'के रूपमें लेनेपर भी पूर्वोक्त रीतिसे 'श्री' शब्दका उपर्युक्त 'श्री-विद्या' रूप ही अर्थ होता है और 'विद्या'का अर्थ उनका मन्त्रवर्ण या उपासनाक्रम होता है। इस प्रकार यहाँपर 'श्रीविद्या'के अर्थ, उनके मन्त्र या उपासनाविधि या तो दोनों हो जाते हैं, जो वास्तवमें तदाकार वृत्तिरूप है और जिससे उस परम तत्त्व-रूप श्रीविद्याका उदय हो सकता है।

श्रीप्रदात्री विद्या—

अब श्रीविद्याको 'श्रीप्रदात्री विद्या'के रूपमें लेनेपर 'श्री'शब्दका अर्थ पूर्वोक्त अनादि चिच्छक्तिरूप श्रीविद्याके साथ-साथ हम सामान्य लक्ष्मी, सरस्वती, शोभा, सम्पद्, विभूति आदि भी कर सकते हैं और विद्याका अर्थ तो पहलेकी ही तरह करना होता है। जिससे 'श्रीविद्या'का अर्थ प्रसन्न या परिपूर्ण होनेपर उपासकको लक्ष्मी, सम्पद्, विद्या, विभूति, शोभा आदि सभी प्रकारकी 'श्री' देनेवाली विद्या हो जाता है। इस तरह यहाँपर भी 'श्रीविद्या'का अर्थ मन्त्रवर्णात्मक देवता और उपासना दोनों हो सकता है; क्योंकि यही विद्या केवल त्रिवर्गरूप 'श्री' ही नहीं अपितु अपवर्गरूप 'श्री' भी प्रदान करती है, जैसा कि कहा है—

'आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा।'
(दुर्गा० १३। ५)

अर्थात् 'आराधना की जानेपर वही आदिशक्ति मनुष्यों-को सुखभोग, स्वर्ग और अपवर्ग देनेवाली होती है।'—

श्रीप्राप्तिकी विद्या—

यहाँपर भी 'श्री'शब्दके और 'विद्या'के भी उपर्युक्त दोनों प्रकारके अर्थ लिये जा सकते हैं। इस प्रकार परब्रह्म-स्वरूपिणी आदिशक्तिरूप 'श्री'को अर्थात् परमपुरुषार्थको प्राप्त करानेवाली तथा लक्ष्मी-शोभा-सम्पद् आदिरूप 'श्री'को अर्थात् त्रिवर्गको प्राप्त करानेवाली विद्या होनेसे भी इनको 'श्रीविद्या' कहा है; क्योंकि उपासना सिद्ध होनेपर इससे सभी प्रकारकी श्री अर्थात् चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है, इसलिये 'श्रीविद्या'को 'श्रीप्राप्तिकी विद्या' भी कह सकते हैं।

'श्रीप्राप्तिकी विद्या' और 'श्रीप्रदात्री विद्या'—ये दोनों अर्थ वास्तवमें एक ही अभिप्रायके द्योतक हैं, परंतु प्रदान और प्राप्तिरूप भिन्नाधिकरण अर्थद्वयके गुण प्रधानभावको लेकर ही हमने इन दोनोंका पृथक्रूपमें उल्लेख किया है।

इस प्रकार हमने जो 'श्रीविद्या' शब्दके कतिपय अर्थ यहाँ प्रस्तुत किये, उन सभीका समन्वयस्थल है—'श्रीविद्या' और यही श्रीविद्या श्रीचक्रकी अधिष्ठात्री श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी हैं तथा इन्हींको शास्त्रोंमें 'विद्या', 'महाविद्या', 'परमाविद्या' आदि नामसे पुकारा गया है। जैसा कि—

'या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता।'
(मा० पु०)

'जो देवी विद्यारूपसे सब प्राणियोंमें अवस्थित हैं।'

'सर्वदेवमयी विद्या'—'सर्वदेवतामयी विद्या।'
(वामकेश्वरतन्त्र)

'सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।'
(दुर्गा० १।५७)

'मुक्तिका कारणस्वरूप वही सनातनी देवी परमाविद्या है।'

'विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि।'
(दुर्गा० ४।९)

'हे देवि! तुम ही भगवती परमा विद्या हो।'

श्रीविद्याके पञ्चदशी, षोडशी आदि एवं दीपनी कामराज आदि अनेक भेद हैं। जिनमें कोई मन्त्रवर्णमूलक हैं और कोई भिन्न-भिन्न उपासकोंके उपासनामूलक। इनमें षोडशाक्षरी होनेके कारण एक भेदको 'षोडशी' कहते हैं, जो दशमहाविद्याकी षोडशीसे भिन्न ही है, पर यहाँ केवल श्रीविद्यामात्रको भी 'षोडशी' कहते हैं। जैसा कि—

कामराजाख्यमन्त्रान्ते श्रीबीजेन समन्विता।
षोडशाक्षरविद्येयं श्रीविद्येति प्रकीर्तिता॥
(ज्ञानार्णवतन्त्र)

फिर वहींपर इनको भुक्ति-मुक्ति देनेवाली 'ब्रह्मविद्या' भी कहा है। यथा—

(वर्णितुं नैव शक्येयं) श्रीविद्या षोडशाक्षरी।
ब्रह्मविद्यास्वरूपा हि भुक्तिमुक्तिफलप्रदा॥

(२)
षोडशार्णमहाविद्या

इसीलिये यह परब्रह्मस्वरूपिणी हैं। यथा—

'परब्रह्मस्वरूपा च।'—(वामकेश्वरतन्त्र)

अतएव यही समस्त जगत्की कारण हैं, सबकी प्रकृति हैं, जगत्की प्रतिष्ठा हैं, सम्पूर्ण विश्वकी ईश्वरी हैं तथा समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त हो रही हैं। यही जगन्मयी हैं, जगद्धात्री हैं, सर्वेश्वरी हैं, सर्वशक्तिमयी हैं और सर्वलक्ष्मीमयी हैं। जैसा कि कहा है—

....जगत्कारणरूपिणीम्॥
सर्वलक्ष्मीमयीं नित्यां सर्वशक्तिमयीं भजे॥
(महाकालसंहिता)

'हेतुः समस्तजगताम्', 'प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य', 'परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या', 'नमः प्रकृत्यै भद्रायै' 'नमो जगत्प्रतिष्ठायै', 'विश्वेश्वरीं जगद्धात्रीम्', 'सैव सर्वेश्वरेश्वरी', 'विश्वेश्वरि त्वम्',

'व्याप्तं तयैतत् सकलं ब्रह्माण्डं मनुजेश्वर।'

'त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्', 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिः', 'त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य', 'सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते।'

इत्यादि-इत्यादि—(ये सब उद्धरण मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशतीके हैं।)

इस सारे जगत्का इसीने विस्तार किया है—

'तया सर्वमिदं ततम्।', 'तया ततमिदं सर्वं जगत्'।

सारे जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहार इन्हींसे होता है और यही सबकी शक्तिस्वरूपा हैं, यही विश्वमातृका हैं। जैसा कि कहा है—

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्।
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा॥
सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
'या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।'
'विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये।'
'या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।'
इत्यादि (मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती)

अतएव विश्वमें जितनी विद्याएँ और महाविद्याएँ हैं, सब इन्हींके भेद हैं। जितनी स्त्रियाँ हैं, सब इन्हींके भेद हैं। जैसा कि कहा गया है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।
(दुर्गा० ११।६)

और यही समस्त स्त्रियाँ एवं ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि सकल पुरुषोंके रूपमें भी प्रस्फुरित होती हैं। जैसा कि कहा है—

'योषित्पुरुषरूपेण स्फुरन्ती विश्वमातृका ।'
(दक्षिणामूर्तिसंहिता)

और अग्निकी विशाल राशिसे चिनगारियोंकी तरह इन्हींसे सारे मन्त्रवर्ण अभिव्यक्त होते हैं । जैसे कि वहींपर कहा है—

'निःसरन्ति महामन्त्रा महाग्नेर्विस्फुलिङ्गवत् ।'

इसीलिये इनको 'महामाया', 'महाविद्या', 'महामोहा', 'महादेवी' आदि कहा गया है—

महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ॥
महामोहा च भवती महादेवी महेश्वरी ।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ॥
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ।
(दुर्गा० १ । ७७-७८, १ । ५५-५६)

अर्थात् 'ज्ञानियोंकी चित्तवृत्तिको भी जबर्दस्ती खींचकर महामाया भगवती मोहमें डाल देती हैं ।'

'महामायेति सम्प्रोक्ता तेन सा जगदीश्वरी ।'
(कालिकापु०)

विष्णुपुराणमें भी इनका नाना प्रकारकी विद्याके रूपमें वर्णन किया गया है । जैसा कि—

यज्ञविद्या महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने ।
आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी ॥

इतना होते हुए भी ये न स्त्री हैं, न पुरुष हैं, न तृतीय लिङ्ग हैं । ये केवल निष्कल और निरञ्जन हैं । जैसा कि कहा है—

'न स्त्री त्वं न पुमाँल्लोके'
'न स्त्री न षण्ढो न पुमानजेशितुः ।'
(इत्यादि)

इसीलिये कहा है —'श्रीविद्यैव हि मन्त्राणाम्' मन्त्रोंमें श्रीविद्या ही (श्रेष्ठ) है । (कुलार्णव आदि तन्त्र)

(३)

श्रीविद्याका उपासनाक्रम

श्रीविद्याकी उपासनाके मुख्य तीन क्रम हैं—'कालीक्रम', 'सुन्दरीक्रम' और 'ताराक्रम' । इनमें कालीक्रमको 'कुण्डलिनी-क्रम' भी कहते हैं और 'कादि विद्या' भी । यह सत्त्वगुण-प्रधान है । सुन्दरीक्रमको 'हंसक्रम' भी कहते हैं और 'हादि विद्या' भी, यह रजोगुणप्रधान है । ताराक्रमको 'समवरोधिनीक्रम' भी कहते हैं और 'सादि विद्या भी, यह तमोगुणप्रधान है । और यही तीन क्रम 'दीक्षा'के नामसे प्रसिद्ध हैं तथा इनके पूर्ण होनेपर साधक शिवस्वरूप बन जाता है—

सुन्दरी तारिणी काली क्रमद्दीक्षाभिगामिनी ।
क्रमपूर्णो महेशानि क्रमाच्छम्भुर्भविष्यति ॥

यह क्रम सभी आम्नायोंमें है और इनमें प्रत्येककी पञ्चक्रमसे उपासना होती है । यह उपासना प्रातःकालसे लेकर आधी राततक क्रमशः पञ्च-सन्ध्यारूपमें होती है । इनमें प्रत्येक क्रममें विद्या भिन्न-भिन्न समयपर भिन्न-भिन्न रूपमें उपास्य होती हैं । कादि-विद्यारूपा जो काली हैं, उनके क्रमसे प्रातः 'कामकलाकाली', मध्याह्नमें 'भुवनेश्वरी', सायं-कालमें 'चामुण्डा', रात्रिमें 'समयकुब्जिका' तथा मध्यरात्रिमें 'कादि-पञ्चदशी'की उपासना होती है ।* हादि-विद्यारूपा जो महात्रिपुरसुन्दरी हैं उनके क्रममें प्रातः 'आद्याकाली', मध्याह्नमें 'तारा', सायंकालमें 'छिन्नमस्ता', रात्रिमें 'बगला' तथा आधी रातको 'हादि-पञ्चदशी'की उपासना होती है । इसी प्रकार सादि-विद्यारूपा जो तारा हैं, उनके क्रममें प्रातः अनिरुद्धसरस्वतीके रूपमें 'दक्षिणकाली', मध्याह्नमें 'तारा', सायंकालमें 'बाला', रात्रिमें 'ज्ञानसरस्वती' और आधी रातको 'सादि-पञ्चदशी'की उपासना होती है । इनके अतिरिक्त भी श्रीविद्याके बहुतसे क्रमभेद हैं, जिनमें लघुक्रमसे लेकर महाक्रम एवं पूर्णमहाक्रम-पर्यन्त उपासना होती है ।† इस प्रकार जबतक क्रमदीक्षासे पुरश्चरण करते हुए आगे नहीं बढ़ेंगे, तबतक उपासनाका यथार्थ फल, जो शास्त्रोंमें वर्णित है, प्राप्त नहीं होगा और उपासना करते समय यदि विलोमक्रमसे किया जाय तो वह सद्यःफलदायक भी होता है । इसके ऐसे और भी धार्मिक एवं वैज्ञानिक अनेक रहस्य हैं, जो समय और लेख-विस्तारको ध्यानमें रखते हुए यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं ।

आम्नायभेद—

श्रीविद्याके प्रधान छः आम्नाय हैं, जो पूर्व आदि चार

* इसको गृहस्थलोग नहीं करते । † जो ताराक्रमसे पृथक् पूजा नहीं करते, वे कहादि (कादि+हादि) विद्यासे ही काम लेते हैं ।

दिशा और ऊर्ध्व तथा अधः—यों छः दिशाओंके नामसे प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त ईशान आदि चार उपदिशाओंके नामसे प्रसिद्ध और भी आम्नाय हैं, जिनको चार उपाम्नाय कहते हैं तथा ये चारों चार दिशाओंके अपने मुख्य आम्नायोंके साथ यथायोग्य मिले होते हैं। इसलिये आम्नाय मुख्यतया छः ही गिने जाते हैं। जैसे पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय एवं ऊर्ध्वाम्नाय तथा अधराम्नाय—गणनाक्रममें अधराम्नाय यद्यपि यहाँ सबके अन्तमें आया है, तथापि उपासना-क्रममें हम इसको सबसे पहले रखते हैं। इन छः आम्नायोंमें प्रत्येकके सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा—ये पाँच क्रम होते हैं, जिनका मूलाधारसे लेकर आज्ञा-चक्रतकमें (मतान्तरमें ब्रह्मरन्ध्रतकमें) समन्वय हो जाता है। इनमेंसे प्रत्येककी आम्नायनायिका होती है। जैसे कि–अधराम्नायकी 'तारा', पूर्वाम्नायकी 'भुवनेश्वरी', दक्षिणाम्नायकी 'दक्षिणकाली', पश्चिमाम्नायकी 'कुब्जिका', उत्तराम्नायकी 'गुह्यकाली' और ऊर्ध्वाम्नायकी 'बाला महात्रिपुरसुन्दरी'। ये आम्नायनायिका प्रत्येक उपाम्नायकी भी होती हैं। इनमें सप्तशतीमें वर्णित महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती और चामुण्डा–ये क्रमशः ईशान, आग्नेय, वायव्य और नैर्ऋत्यकी नायिकाएँ हैं। फिर इन छः आम्नायोंमेंसे पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय और पश्चिमाम्नायके पञ्चक्रमके अन्तर्गत जो सृष्टि, स्थिति और संहारक्रम हैं, उनमें प्रत्येकके भिन्न-भिन्न चक्र, मुद्रा, दर्शन, योगिनी, सिद्धि तथा चक्रनायिका होते हैं, जिनको हमने आगे जाकर संक्षिप्तरूपमें सब दिखा दिया है। इनमें अनाख्या और भासाकी अपने-अपने आम्नायक्रमके समष्टि-चक्रमें पूजा होनेके कारण इनके अपने पृथक् चक्र, मुद्रा आदि नहीं होते। इसी प्रकार अधराम्नाय, उत्तराम्नाय और ऊर्ध्वाम्नायके भी समष्टिमें (बिन्दुसे भूपुरपर्यन्तमें) पूजा होनेके कारण उनके अपने पृथक् मुद्रा, दर्शन आदि नहीं होते; किंतु निर्वाणविद्या, शाम्भव, पाशुपत आदि छहों आम्नायोंके पृथक्-पृथक् होते हैं। फिर सबसे अन्तमें जाकर बिन्दुसे ब्रह्मरन्ध्रतकमें पञ्चदशी, षोडशी, महाषोडशी, सप्तदशी, अष्टादशी आदि और 'निर्वाणसुन्दरी', 'सर्वाधिकार शाम्भवी', 'महापादुका,' 'अनुत्तरवादिनी', 'सर्वाम्नाय-सर्वाधिकार, एवं 'पमयाविद्या,' 'षोडशचक्रेश्वरी', 'समया-नित्या', 'दश महाविद्या', 'पञ्चसिंहासन', 'पञ्चपञ्चिका', 'षडाम्नायसमया' 'नवरत्नकुब्जिका', 'नवरत्नसुन्दरी' तथा 'अलेखनी' आदि सब आ जाती हैं।

इसी प्रकार सभी आम्नायोंमें प्रत्येक देवताका मूल (मन्त्र), न्यास, ध्यान तथा पञ्चाङ्ग (स्तोत्र) आदि होते हैं। इनमें उपर्युक्त जो अलेखनी विद्या है, वह सुन्दरी और काली दोनोंकी एक ही है। आचार्योंने केवल समझानेके लिये एकको अनुलोम और दूसरेको विलोम मानकर पृथक् दर्शाया है। अर्थात् श्रीक्रमकी अलेखनीको विलोम कर कालीक्रममें जपा जाता है। इसी प्रकार पञ्चदशी आदि विद्यामें जब पञ्चदशी (लघुषोडशी) मूल देवता होगी, तब बाला-महात्रिपुरसुन्दरी चक्रनायिका होगी। जब षोडशी (महात्रिपुरसुन्दरी) मूलविद्या होती है, तब पञ्चदशी चक्रनायिका होती है। जब सप्तदशी मूलविद्या होगी, तब षोडशी चक्रनायिका होगी और जब अष्टादशी मूलविद्या होगी, तब सप्तदशी चक्रनायिका होगी।

अब यहाँपर आम्नायक्रमको समष्टिमें समन्वय कर अपनी-अपनी दीक्षाके अनुसार पूर्णाभिषेकसे लेकर दिव्य साम्राज्य-मेधातक क्रमशः पुष्पाञ्जलि देकर पञ्चदशी, षोडशी आदि सभी विद्याओंकी पूजा बिन्दुमें ही की जाती है।

फिर, ऊपर जो 'समया विद्या', 'समया नित्या' आदि विद्याएँ हैं, वे सब निर्वाणोपासनामें जाकर निर्वाणविद्याके रूपमें परिणत हो जाती हैं और यथाक्रम एक दूसरेमें लीन होकर अन्ततः एक निर्वाण-विद्या बन जाती हैं। यह सब क्रमोपासनासे ही होता है।

उपासना-क्रममें ब्राह्ममुहूर्त्तसे लेकर मध्यरात्रितक अनेक क्रियाकलाप होते हैं। इनमें सबसे पहले की जानेवाली क्रिया प्रातःकृत्य है। यह प्रातःकृत्य आम्नायभेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारका होता है। पर सर्वाम्नायात्मक प्रातःकृत्य एक और भी होता है, जिसकी तालिका देखनेसे ठीक-ठीक पता चलेगा। प्रातःकृत्यमें सबसे पहला चिन्तन है। चिन्तनमें भी गुरु-पादुकाका चिन्तन सबसे पहले होता है। उसके बाद यथा-क्रम चक्र, देवता आदिका चिन्तन किया जाता है। सर्वोच्च क्रममें प्रातःकृत्यमें चक्रोंके चिन्तनके साथ आम्नायनायिकाओं-का भी चिन्तन होता है और इसमें आश्रम-भेदसे भी भेद होता है। प्रस्तुत क्रममें मूलविद्या चिंतनके समय मूलाधारमें 'वाग्भवकूट' एवं 'वागधीश्वरी'का, हृदयमें 'कामराजकूट' एवं 'कामेशी'का और आज्ञाचक्रमें 'शक्तिकूट' एवं 'आदि-शक्ति'का चिन्तन होता है। तब उसके बाद ब्रह्मरन्ध्रमें मूलविद्या 'श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी'का ध्यान किया जाता है।

साथ ही शरीरके षट्चक्रोंमें छहों आम्नायनायिकाओंका भी चिन्तन किया जाता है। अभेद-चिन्तनमें मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त ही ब्रह्मविद्याकी भावना की जाती है।

इसी प्रकार इस उपासनामें मातृका, मालिनी, लघुषोढा, महाषोढा आदि कई प्रकारके न्यास बताये गये हैं, जिनके प्रयोगसे साधक देवतास्वरूप और उसका शरीर मन्त्रमय बन जाता है। पर इनमेंसे मूलन्यास और षोढान्यास पृथक्-पृथक् आम्नायक्रमकी उपासनामें पृथक्-पृथक् ही होते हैं।

उपासनाके दो रूप—

उपासनाके भी मुख्य दो रूप हैं—एक 'बाह्य', दूसरा 'आभ्यन्तर', जिनको क्रमशः 'बहिर्याग' और 'अन्तर्याग' भी कहते हैं। आध्यात्मिक तत्त्वोंको ही उपकरण मानकर मानसपूजाके रूपमें ध्यान, धारणा आदिके द्वारा जो आराधना की जाती है, उसको 'अन्तर्याग' कहते हैं। यह भावनात्मक होता है और इसके साधार एवं निराधार दो भेद होते हैं। बाहरके भौतिक उपकरण आदिसे जो पूजा-आराधना की जाती है, उसको 'बहिर्याग' कहते हैं। यह क्रियात्मक होता है और इसके भी वैदिक एवं तान्त्रिक दो मुख्य भेद होते हैं। इसका सविस्तर वर्णन सूतसंहिता आदि ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है।

इस प्रकार श्रीचक्रमें नित्य, नैमित्तिक, काम्य एवं बहिर्याग, अन्तर्याग आदिके रूपमें नाना प्रकारसे श्रीविद्याकी उपासना होती है। परंतु इनमेंसे जब ध्यानयोगात्मक आभ्यन्तर उपासना करनी होती है, तब वह शरीरमें ही श्रीचक्रकी भावना कर, श्रीचक्रके सम्पूर्ण क्रमको शरीरगत चक्रोंमें समन्वय कर ऐकात्म्यभावसे की जाती है। इसमें मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त अधरादि आम्नायोंकी तारा, भुवनेश्वरी आदिको यथाक्रम एकको दूसरेमें उत्तरोत्तर लीन करके बालारूपमें लाकर, बालाको भी सर्वाम्नायेश्वरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीमें लीन करके तब एकरूप हो जाता है। यहींपर आकर अन्तमें दीक्षाका चौसठका क्रम पूरा हो जाता है।*

इस प्रकार श्रीविद्याके उपासनाक्रममें अधराम्नायसे लेकर ऊर्ध्वाम्नायतककी क्रमोपासनासे उत्तरोत्तर शब्दयोग, मन्त्रयोग, भक्तियोग, कर्मयोग एवं ज्ञानयोग प्राप्त होकर अन्तमें कैवल्य-मोक्षरूप परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है। इनमें मन्त्रयोग आदि सिद्ध होनेपर अन्तराय-निवृत्ति, ऐहिक सुख-प्राप्ति† आदि भी अनायास ही होने लगते हैं और साधना निर्बाध आगे बढ़ने लगती है और क्रमशः आगे बढ़कर परम पुरुषार्थ प्राप्त करा देती है। यही इस उपासनाका मुख्य फल है। अन्य जितनी भी सिद्धियाँ इस उपासना-क्रममें प्राप्त होती हैं, वे एक प्रकारसे सभी गौण फल हैं और केवल निर्वाण-साधनाके मार्गमें सहयोगीके रूपमें उपस्थित होते हैं; क्योंकि सच्चा उपासक यदि बीचमें स्वतः उपस्थित होनेवाली सिद्धियों-को ही मुख्य फल समझने लगा तो वह अपने रास्तेसे भटक जायगा और चरम सिद्धिकी प्राप्तिसे वञ्चित ही रह जायगा।

उपसंहार—

इस प्रकार श्रीविद्याकी उपासना अत्यन्त रहस्यमय एवं निगूढ विषय है, जिसका वर्णन उन्हीं परब्रह्मस्वरूपिणी परमेश्वरीके सच्चे उपासक और कृपापात्र बड़े-बड़े सिद्ध भी नहीं कर पाते हैं, फिर हम-जैसे नगण्य जीवकी तो बात ही क्या है। यह जानते हुए भी इस लेखके लेखकने इसमें जो धृष्टता दिखायी है, वह केवल उन्हींकी प्रेरणासे शिलोञ्छ-रूपमें इधर-उधरसे बटोरे गये, उन्हींके ज्योतिःप्रकाशके लेशके बिखरे हुए सूक्ष्म कणरूप तिल-चावलकी बीरबली खिचड़ी तैयार कर, सभीके कल्याणार्थ अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायिका उन्हीं जगदम्बाकी सेवामें नैवेद्य परोसनेका दुःसाहसमात्र है। इसमें नमक-मिर्चका पानी या घी-शहद छिड़कनेका काम जिज्ञासु भक्तोंका है।

अन्तमें हमारा मन्तव्य यह है कि जैसे नाना तत्त्वोंसे निर्मित इस पाञ्चभौतिक शरीरका कहीं कोई अङ्ग यदि अपूर्ण हो, विकृत हो या विकल हो तो वह शरीर पूरा काम नहीं दे सकता, या किसी यन्त्र या मशीनका कोई पुर्जा न हो या बिगड़ गया हो तो उससे फलोत्पादन तो दूर ही रहे, स्वयं मशीन ही कभी-कभी तो पूर्णतया नाकाम किंवा निश्चेष्ट ही हो जाती है, इसी प्रकार सभी क्रियाकलाप विशेषतः उपासनामें कोई अङ्ग या क्रिया छूट जाय तो वह

---

* इसके आगे छपनेवाले संक्षिप्त विवरणमें इन चौंसठ दीक्षाकी रेखाओंका नाम १, २ अङ्क लगाकर दिये गये हैं।

† जो अन्य देवताओंके उपासक हैं, उनके लिये भी श्रीचक्र उपयुक्त होता है। ऐसे उपासक श्रीचक्रमें अपनी इष्टदेवताकी श्रीविद्यारूपमें आराधना करते हैं। जैसे कोई रामभक्त हो तो वह 'रामसुन्दरी'के नामसे, श्रीकृष्णभक्त हो तो 'गोपालसुन्दरी'के नामसे, श्रीविद्याकी पूजा करेगा, इसी तरह 'नृसिंहसुन्दरी', 'वराहसुन्दरी' आदिकी भी श्रीचक्रमें उनके उपासक पूजा करते हैं।

अपूर्ण ही रह जाती है और इस तरहकी अपूर्ण उपासनासे पूर्ण सिद्धि कभी प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिये श्रीचक्रमें जो कतिपय आम्नाय, कतिपय क्रम और कतिपय क्रियाकलाप आदिद्वारा श्रीविद्याकी उपासना होती है, उसमें केवल लेशमात्र भी यदि खण्डित हो जाय तो सम्पूर्ण उपासना ही अपूर्ण रह जाती है। अतः जिस प्रकार भी हो, सभी अङ्गोंको ठीक-ठीक क्रमसे पूरा करके उपासना करें, तभी उपासना पूर्ण होती है और उससे सिद्धिलाभ होता है। सामीप्यार्थक 'उप' उपसर्ग और उपवेशनार्थक 'आस्' धातु मिलकर बना इस 'उपासना' शब्दका अर्थ होता है समीप बैठानेवाला या समीप बैठना, अर्थात् जिसके परिपूर्ण होनेसे इष्टदेवताका 'सान्निध्य' प्राप्त हो, 'इष्टसिद्धि' हो, वही 'उपासना' है। इसलिये हमने इस लेखके साथ श्रीचक्रमें श्रीविद्याकी उपासना-सम्बन्धी कुछ प्रमुख अङ्गोंसे युक्त 'संक्षिप्ततालिका' का एक विवरण भी प्रस्तुत किया है, इससे पाठकोंको यदि थोड़ा भी लाभ हो सका तो यह लेखनी अपनेको सचमुच ही कृतकृत्य समझेगी। उस श्रीचक्रकी तालिकाका विवरण पृथक् लेखके रूपमें आगे पढ़िये।

श्रीचक्रका संक्षिप्त विवरण

[दक्षिणामूर्तिसम्प्रदायानुसारी]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णप्रसादजी भट्टराई)

संहारक्रम

(१) अधराम्नाय—*

मूलाधार—गणपति, शाकिनी, वर्णमातृका व–स, अस्थिधातु, गुह्यस्थान।

विश्रान्तिचक्र—नायिका तारा, निर्वाणविद्या-उग्रतारा, नवात्मकेश्वरशाम्भव, अक्षोभ्यभैरव।

आम्नायनायिका—सृष्टि-तारिणी, स्थिति-एकजटा, संहार-नीलसरस्वती, अनाख्या-महोग्रतारा, भासा-उग्रतारा, पादुका, महापोढा।

शब्दयोगसिद्धि

(२) पूर्वाम्नाय—

स्वाधिष्ठान—ब्रह्मा, काकिनी, वर्णमातृका ब-ल, मेद धातु, लिङ्गमूल।

सृष्टिचक्र—नायिका भुवनेश्वरी, निर्वाणविद्या भुवनेश्वरी, द्वीपेश्वर-शाम्भव, सृष्टि-पाशुपत, सदाशिव-भैरव, पूर्वाम्नाय-पादुका, पूर्वाम्नाय-सर्वाधिकार, कामेश्वरी समया नित्या, संकेत-अङ्क २४।

भूपुर—सृष्टिसृष्ट्यात्मकचक्र, त्रैलोक्यमोहनचक्र, सर्वसंक्षोभणीमुद्रा, चार्वाकदर्शन, ईदित्वादि प्रकटयोगिनी, अणिमा सिद्धि, त्रिपुरा-चक्रनायिका, आम्नायनायिका उन्मनी, प्रथम भूपुरमें अणिमादि दशसिद्धि, द्वितीय भूपुरमें ब्राह्मी आदि अष्टमातृका, तृतीय भूपुरमें संक्षोभणी आदि दशमुद्रा।

त्रिवृत्त†—सृष्टि-सृष्टिचक्र, त्रिवर्गसाधनचक्र, महायोनि-मुद्रा, स्मार्तदर्शन, कालरात्रि आदि मातृकायोगिनी, गरिमा-सिद्धि, चक्रनायिका त्रिपुरेशिनी, आम्नायनायिका उन्मनी‡, प्रथमवृत्त—कालरात्रि आदि २९ मातृका, द्वितीयवृत्त—अमृतादि १६ मातृका, तृतीयवृत्त—कामेश्वरी आदि १६ नित्या।

षोडशदल—सृष्टि-स्थित्यात्मकचक्र, सर्वाशापरिपूरक-चक्र, सर्वविद्राविणीमुद्रा, बौद्धदर्शन, कामाकर्षिणी आदि गुप्तयोगिनी, लघिमासिद्धि, चक्रनायिका त्रिपुरेशी, आम्नाय-नायिका अन्नपूर्णा या पूर्णेश्वरी, षोडशदल-कामाकर्षिणी आदि १६ कला।

अष्टदल—सृष्टि-संहारात्मकचक्र, सर्वसंक्षोभणचक्र, सर्वाकर्षिणी मुद्रा, गाणपतदर्शन, अनङ्गकुसुमादि गुप्ततर-योगिनी,

* अधराम्नायका दक्षिणाम्नायसमष्टिमें समन्वय होता है।

† हयग्रीव-सम्प्रदायमें त्रिवृत्त नहीं होता, आनन्दभैरव-सम्प्रदायमें इसका पूजन नहीं होता।

‡ यह उन्मनी भूपुरकी उन्मनीसे कुछ भिन्न है। अनाख्या और तथा भासाकी जो आम्नायनायिकाएँ हैं, उनकी पूजा योगिनीके साथ होती है, योगिनियाँ चक्रनायिकाकी दाहिनी ओर मुद्राएँ बायीं ओर रहती हैं।

महिमासिद्धि, चक्रनायिका त्रिपुरसुन्दरी, आम्नायनायिका भुवना[10], अष्टदल-अनङ्गकुसुमादि आठ देवी ।

समष्टिचक्र—भूपुरसे अष्टदलपर्यन्त—सृष्टि-अनाख्या-चक्र चक्रनायिका भुवनेशी[11], आम्नायनायिका भुवनेशी ।

समष्टिचक्र—भूपुरसे अष्टदलपर्यन्त—सृष्टिभासाचक्र, चक्रनायिका भुवनेश्वरी[12], आम्नायनायिका भुवनेश्वरी । पादुका, महाषोढा ।

मन्त्रयोगसिद्धि

(३) दक्षिणाम्नाय—

मणिपूर—विष्णु, लाकिनी, वर्णमातृका ड—फ, मांस-धातु, नाभिस्थान ।

स्थितिचक्र—नायिका विद्याराज्ञी दक्षिणकाली, निर्वाण-विद्या दक्षिणकाली[27], संवर्त्तेश्वर शाम्भव[21], स्थिति पाशुपत, महा-कालभैरव, दक्षिणाम्नायपादुका, दक्षिणाम्नाय सर्वाधिकार, भग-मालिनी समयानित्या, संकेत-अङ्क २५ ।

चतुर्दशार—स्थितिसृष्ट्यात्मकचक्र, सर्वसौभाग्यदायक-चक्र, सर्ववशंकरी मुद्रा, सांख्यदर्शन, संक्षोभणी आदि सम्प्रदाययोगिनी, ईशित्वसिद्धि, चक्रनायिका त्रिपुरवासिनी, आम्नायनायिका आद्याकाली[15], संक्षोभणी आदि शक्ति ।

बहिर्दशार—स्थितिस्थित्यात्मक सर्वार्थसाधकचक्र, सर्वो-न्मादिनीमुद्रा, वैदिकदर्शन, सर्वसिद्धिप्रदा आदि कुलकौल-योगिनी, वशित्वसिद्धि, चक्रनायिका त्रिपुराश्री, आम्नाय-नायिका परमाद्याकाली[16], सर्वसिद्धिप्रदा आदि दस ।

अन्तर्दशार—स्थितिसंहारात्मक सर्वरक्षाकरचक्र, महां-कुशमुद्रा, सौरदर्शन, सर्वज्ञानिगर्भयोगिनी, प्राकाम्यसिद्धि, चक्रनायिका त्रिपुरमालिनी, आम्नायनायिका सिद्धिकाली; सर्वज्ञा आदि दस ।

समष्टिचक्र—चतुर्दशारतः अन्तर्दशारपर्यन्त—स्थिति अनाख्याचक्र, चक्रनायिका श्यामाकाली, आम्नाय नायिका श्यामाकाली ।

समष्टिचक्र—चतुर्दशारसे अन्तर्दशारपर्यन्त—स्थिति-भासाचक्र, चक्रनायिका विद्याराज्ञी दक्षिणकाली, आम्नाय-नायिका विद्याराज्ञी दक्षिणकाली, पादुका, महाषोढा ।

भक्तियोगसिद्धि

(४) पश्चिमाम्नाय—

अनाहत—शिव, राकिनी, वर्णमातृका क—ठ, असृग्-धातु, हृदयस्थान ।

संहारचक्र—नायिका कुब्जिका, निर्वाणविद्या कुब्जिका[27], हंसेश्वरशाम्भव[28], संहारपाशुपत, शिखास्वच्छन्द (कुब्जिकेश्वर) भैरव, पश्चिमाम्नायपादुका, पश्चिमाम्नाय सर्वाधिकार, वज्रेश्वरी-समयानित्या, संकेत अङ्क ३२ ।

अष्टार—संहारसृष्ट्यात्मक सर्वरोगहरचक्र, खेचरीमुद्रा, वैष्णवदर्शन, वशिनी आदि रहस्ययोगिनी, भुक्तिसिद्धि, चक्रनायिका त्रिपुरासिद्धा, आम्नायनायिका समय[32] कुब्जिका, वशिनी आदि वाग्देवता ।

त्रिकोण—संहारस्थित्यात्मक सर्वसिद्धिप्रदचक्र, बीज-मुद्रा, शाक्तदर्शन, कामेश्वरी आदि अतिरहस्ययोगिनी, इच्छासिद्धि, चक्रनायिका त्रिपुराम्बा, आम्नायनायिका घोर-कुब्जि[33]का । कामेश्वरी आदि देवतात्रय एवं परौघ तथा नित्या (त्रिवृत्तकी नित्यासे भिन्न), अष्टार और त्रिकोणके अन्तरालमें गुरुपंक्ति—दिव्यौघ, सिद्धौघ, मह्रौघ ।

बिन्दु—संहारसंहारात्मक सर्वानन्दमयचक्र, सर्वयोनि-मुद्रा, शैवदर्शन, पञ्चदशी आदि परापररहस्ययोगिनी, प्राप्ति-सिद्धि, चक्रनायिका त्रिपुरभैरवी, आम्नायनायिका वीर[34]-कुब्जिका, बिन्दु—महात्रिपुरसुन्दरी ।

समष्टिचक्र—अष्टारसे बिन्दुपर्यन्त—संहारअनाख्या-चक्र, चक्रनायिका वज्रकुब्जिका, आम्नायनायिका वज्र[35]-कुब्जिका ।

समष्टिचक्र—अष्टारसे बिन्दुपर्यन्त—संहारभासाचक्र, चक्रनायिका अघोरकुब्जिका, आम्नायनायिका अघोर[36]-कुब्जिका, पादुका, महाषोढा ।

कर्मयोगसिद्धि

कर्मयोगकी सिद्धिके निमित्त कर्मकुब्जिकाकी भी पूजा की जाती है ।

(५) उत्तराम्नाय

विशुद्ध—जीवात्मा, डाकिनी, वर्णमातृका अ—अः, त्वग्धातु, कण्ठस्थान ।

अनाख्याचक्र—बिन्द्वादि-भूपुरपर्यन्तसमष्टि, नायिका गुह्यकाली, निर्वाणविद्या गुह्य[34] काली, विश्वेश्वरशाम्भव[35],

अनाख्यापाशुपत, नृसिंहभैरव, उत्तराम्नायपादुका, उत्तराम्नाय सर्वाधिकार, बालमहात्रिपुरसुन्दरी समयानित्या। संकेताङ्क २६

अनाख्यासृष्टिचक्र–चक्रनायिका भुवनेशी, आम्नायनायिका तुम्बेश्वरी[२९]।

अनाख्यास्थितिचक्र–चक्रनायिका श्यामाकाली, आम्नायनायिका सिद्धि-लक्ष्मी[३०]।

अनाख्यासंहारचक्र–चक्रनायिका वक्रकुब्जिका, आम्नायनायिका भरतोपासिता गुह्यकाली[३१]।

अनाख्या अनाख्याचक्र–चक्रनायिका गुह्यकाली, आम्नायनायिका रामोपासिता[३२] गुह्यकाली।

अनाख्याभासाचक्र–चक्रनायिका-कामकला, आम्नायनायिका कामकला[३३] काली, निर्वाणगुह्यकाली[३४] पादुका, महाषोढा, शामाव-विश्वेश्वरानन्द[३५]।

ज्ञानयोगसिद्धि

चार उपाम्नाय

ईशानाम्नाय–आम्नायनायिका महाकाली, दीक्षा संकेत अङ्क ३६।

आग्नेयाम्नाय–आम्नायनायिका महालक्ष्मी, दीक्षा संकेत अङ्क ३७।

नैर्ऋत्याम्नाय–आम्नायनायिका महासरस्वती, दीक्षा संकेत अङ्क ३८।

वायव्याम्नाय–आम्नायनायिका चामुण्डा, दीक्षा संकेत अङ्क ३९।

(६) ऊर्ध्वाम्नाय

आज्ञाचक्र–परमात्मा या गुरु, हाकिनी, वर्णमातृका ह–क्ष, मज्जाधातु, स्थान भ्रूमध्य।

भासाचक्र–विन्दु आदि भूपुरपर्यन्त समष्टि, नायिका बाला, निर्वाणविद्या निर्वाणबाला, पद्मेश्वरशाम्भव, भासापाशुपत, त्रिपुरभैरव, ऊर्ध्वाम्नायपादुका, ऊर्ध्वाम्नाय सर्वाधिकार, बालामहात्रिपुरसुन्दरी समया नित्या, संकेत अङ्क ११७।

भासासृष्टिचक्र–चक्रनायिका भुवनेश्वरी, आम्नायनायिका बालात्रिपुरा, ४०।

भासास्थितिचक्र–चक्रनायिका दक्षिणकाली, बाला-सुन्दरी ४१।

भासासंहारचक्र–चक्रनायिका कुब्जिका, बाला भैरवी ४२।

भासाअनाख्याचक्र–चक्रनायिका, आम्नायनायिका बालात्रिपुरभैरवी[४३]।

भासाभासाचक्र–चक्रनायिका बालामहात्रिपुरसुन्दरी, पादुका, महाषोढा।

मोक्षयोगसिद्धि

बिन्दुसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तकी विद्या

बिन्दु–पञ्चदशी[४६], अर्धचन्द्र-षोडशी[४७], रोधिनी-महाषोडशी[४८], नाद-सप्तदशी[४२], नादान्त–महासप्तदशी[४९], शक्ति-महाअष्टादशी[५०], व्यापिका-निर्वाणसुन्दरी, समना-सर्वाधिकार महाशाम्भवी[५५], उन्मना-महापादुका, गुरुपद्म*–अनुत्तर-वादिनी, ब्रह्मरन्ध्र†–सर्वाम्नाय-सर्वाधिकार[५४]। महापादुका, महाषोढा।

चतुःसमया विद्या

कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भगमालिनी, त्रिपुरभैरवी।

पञ्चसमया विद्या

श्रीविद्या (दशकूटात्मिका निर्वाणसुन्दरी[६१]), बाला[५७], कालरात्री[५८], जयदुर्गा[५९], छिन्नमस्ता[६०]।

पञ्चाम्नायसमया विद्या

भुवनेश्वरी, दक्षिणकाली, कुब्जिका, गुह्यकाली, बालामहात्रिपुरसुन्दरी।

षडाम्नायसमया विद्या

उन्मनी, भोगिनी, कुब्जिका, चण्डयोगेश्वरी, बाला-महात्रिपुरसुन्दरी, महात्रिपुरसुन्दरी।

दश महाविद्या

काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, त्रिपुरभैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी, कमला।

पञ्चसिंहासन[६२] देवता

पूर्वसिंहासन–बालाभैरवी, सम्पत्प्रदाभैरवी, चैतन्यभैरवी, चैतन्यभैरवी (द्वितीया), कामेश्वरीभैरवी।

दक्षिणसिंहासन–अघोरभैरवी, महाभैरवी, ललिताभैरवी, कामेशीभैरवी, रक्तनेत्राभैरवी।

पश्चिमसिंहासन–षट्कूटाभैरवी, नित्यभैरवी, मृतसंजीवनीभैरवी, मृत्युञ्जयपराभैरवी, वज्रप्रसारिणीभैरवी।

उत्तरसिंहासन–भुवनेशीभैरवी, कमलेशीभैरवी, सिद्धकौलेशीभैरवी, डामरभैरवी, कामिनीभैरवी।

ऊर्ध्वसिंहासन–प्रथमासुन्दरी, द्वितीयासुन्दरी, तृतीयासुन्दरी, चतुर्थीसुन्दरी, पञ्चमीसुन्दरी।

* गुरुपद्मको कोई नहीं भी गिनते।

† ब्रह्मरन्ध्र–सहस्रदल–महाबिन्दु एक तरहसे पर्याय हैं।

६३ पञ्चपञ्चिका

पञ्चलक्ष्मी—श्रीविद्यालक्ष्मी, एकाक्षरीलक्ष्मी, महालक्ष्मी, त्रिशक्तिलक्ष्मी, सर्वसाम्राज्यलक्ष्मी।

पञ्चकोशेश्वरी—श्रीविद्याकोशेश्वरी, परंज्योतिःकोशेश्वरी, परिनिष्कलशाम्भवी, अजपा, मातृका।

पञ्चकल्पलता—श्रीविद्याकल्पलता, पारिजातेश्वरी, पञ्चबाणेशी, पञ्चकामेश्वरी, त्रिकूटाकुमारी।

पञ्चकामदुघा—श्रीविद्याकामदुघा, अमृतपीठेशी, सुधासू, अमृतेश्वरी, अन्नपूर्णा।

पञ्चरत्नेश्वरी—श्रीविद्यारत्नेश्वरी, सिद्धिलक्ष्मी, मातङ्गी, भुवनेश्वरी, वाराही।

नवरत्नसुन्दरी

कामसुन्दरी, तारासुन्दरी, रमासुन्दरी, मायासुन्दरी, वाक्सुन्दरी, दिव्यसुन्दरी, परासुन्दरी, निर्वाणसुन्दरी, मोक्षसुन्दरी।

नवरत्नकुब्जिका

अघोरकुब्जिका, वज्रकुब्जिका, समयकुब्जिका, घोरकुब्जिका, वीरकुब्जिका, जयकुब्जिका, सिद्धकुब्जिका, भोगकुब्जिका, मोक्षकुब्जिका।

षोडशचक्रेश्वरी

१ तारा, २ त्रिपुरा, ३ त्रिपुरेशिनी, ४ त्रिपुरेशी, ५ त्रिपुरसुन्दरी, ६ भुवनेश्वरी, ७ त्रिपुरवासिनी, ८ त्रिपुराश्री, ९ त्रिपुरमालिनी, १० दक्षिणकाली, ११ त्रिपुरासिद्धा, १२ त्रिपुराम्बा, १३ त्रिपुरभैरवी, १४ कुब्जिका, १५ गुह्यकाली, १६ बाला पञ्चदशी॥

(सर्वसन्त्रेश्वरी)—५६ सर्वमन्त्रेश्वरी परदेवता—

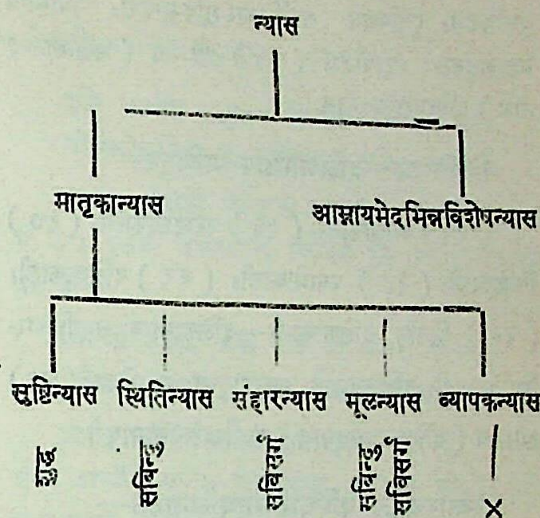
अलेखनी

सप्तपाशुपत

५१ सृष्टिपाशुपत, ५२ स्थितिपाशुपत, ५३ संहारपाशुपत, अनाख्यापाशुपत, भासापाशुपत, निर्वाणपाशुपत, गुरुपाशुपत।

सप्तशाम्भव विद्या ५५	प्रतिविद्यासामान्य
शाम्भव	मूल (मन्त्र)
महाशाम्भव	न्यास
तुरीया	ध्यान
महातुरीया	कवच
निर्वाण	हृदय वा उपनिषद्
महानिर्वाण	स्तोत्र
सर्वाम्नायसर्वाधिकार	शतनाम
	सहस्रनाम

अलेखनी—६४



क्रमदीक्षाकी तालिका

६४ क्रमदीक्षाकी एक तालिका नीचे दी जा रही है। सरलतासे समझनेके लिये इसमें संख्या लगा दी गयी है।

अधराम्नाय-मूलाधार—

(१) तारिणी, (२) एकजटा, (३) नीलसरस्वती, (४) महोग्रतारा, (५) उग्रतारा, (६) निर्वाण तारा, अधराम्नाय-निर्वाण-सर्वाधिकार, महापादुका, महापोढा, (७) शाम्भवनवात्मकेश्वरानन्दनाथ।

सृष्टिचक्र-पूर्वाम्नाय—'स्वाधिष्ठान'—

(८) उन्मनी, (९) पूर्णेश्वरी, (१०) भुवना,

---

* दक्षिणामूर्ति-मतानुसार सृष्टिक्रम बिन्दुसे भूपुरपर्यन्त, स्थितिक्रम भूपुरसे अधरपर्यन्त, पुनः बिन्दुसे लेकर चतुर्दशारपर्यन्त और संहारक्रम भूपुरसे बिन्दुपर्यन्त होता है।

हयग्रीव और आनन्दभैरव सम्प्रदायमें थोड़ा मतभेद है। स्थितिक्रममें पहले बिन्दु त्रिकोण कामेश्वरी आदि नित्या और गुरुपंक्तिका पूजनकर पुनः भूपुरसे लेकर क्रमशः अष्टार और त्रिकोणतक पहुँचते हैं। पञ्चपञ्चिका, पञ्चसिंहासन आदिकी पूजा सबकी एक-सी होती है।

इस लेखमें क्रमदीक्षाका साम्राज्यमेधा एवं दिव्य साम्राज्यमेधा तकका संक्षिप्त दिग्दर्शन किया गया है।

(११) भुवनेशी, (१२) भुवनेश्वरी, (१३) निर्वाण भुवनेश्वरी, पूर्वाम्नाय सर्वाधिकार-सृष्टि-सुन्दरी, पूर्वाम्नाय महापादुका, महाषोढा, (१४) शाम्भव (नवात्मानन्द नाथ) दीपेश्वरानन्दनाथ ।

स्थितिचक्र—दक्षिणाम्नाय-'मणिपुर'

(१५) आद्याकाली, (१६) परमाद्याकाली, (१७) सिद्धिकाली, (१८) श्यामाकाली, (१९) दक्षिणाकाली, (२०) निर्वाण दक्षिणाकाली—दक्षिणाम्नाय सर्वाधिकार-स्थितिसुन्दरी, दक्षिणाम्नाय महापादुका, महाषोढा, (२१) शाम्भव (दीपेश्वरानन्दनाथ) संवर्तेश्वरानन्दनाथ ।

संहारचक्र—पश्चिमाम्नाय-अनाहत—

(२२) समयकुब्जिका, (२३) घोरकुब्जिका, (२४) वीरकुब्जिका, (२५) वज्रकुब्जिका, (२६) अघोर कुब्जिका, (२७) निर्वाण कुब्जिका, पश्चिमाम्नाय सर्वाधिकार, संहार-सुन्दरी, पश्चिमाम्नाय महापादुका, महाषोढा,(२८) शाम्भव (संवर्तेश्वरानन्दनाथ) हंसेश्वरानन्दनाथ ।

अनाख्याचक्र—उत्तराम्नाय-विशुद्ध

(२९) तुम्बेश्वरी, (३०) सिद्धिलक्ष्मी, (३१) सिद्धि कराली (भरतोपासिता गुह्यकाली), (३२) सिद्धि करालिका (रामोपासिता गुह्यकाली), (३३) कामकला गुह्यकाली, (३४) निर्वाण गुह्यकाली, उत्तराम्नाय सर्वाधिकार, अनाख्या-सुन्दरी, उत्तराम्नाय महापादुका, महाषोढा, (३५) शाम्भवविश्वेश्वरानन्दनाथ ।

(३६) ईशानाम्नाय–महाकाली

(३७) आग्नेयाम्नाय–महालक्ष्मी

(३८) वायव्याम्नाय–महासरस्वती

(३९) उपाम्नाय–चामुण्डा

ऊर्ध्वाम्नाय—

(४०) बाला-त्रिपुरा, (४१) बाला-सुन्दरी, (४२) बाला भैरवी, (४३) बाला त्रिपुरभैरवी, (४४) बाला-त्रिपुरसुन्दरी, (४५) निर्वाण बाला, बाला सर्वाधिकार, (४६) पञ्चदशी, (४७) षोडशी, (४८) महाषोडशी, (४९) महासप्तदशी, (५०) महाष्टदशी, सर्वाधिकार, महापादुका, महाषोढा, (५१) लघुपाशुपत, (५२) मध्य-पाशुपत, (५३) महापाशुपत, (५४) निर्वाणसुन्दरी, ऊर्ध्वाम्नाय सर्वाधिकार, भासा-सुन्दरी, (५५) महाशाम्भव-षडाम्नायेश्वरानन्दनाथ ।

(५६) सर्वमन्त्रेश्वरी परदेवता, (५७) बगला-समय-विद्या, (५८) कालरात्रि-समय-विद्या, (५९) जयदुर्गा-समय-विद्या, (६०) छिन्नमस्ता-समय-विद्या, (६१) दशकूटात्मिका-निर्वाणसुन्दरी, (६२) पञ्चसिंहासन देवता, (६३) पञ्चपञ्चिका, (६४) अलेखनी अनुत्तरवादिनी।

श्रीविद्याके बहुतसे क्रम होते हैं । कादि, हादि और सादि एवं पञ्चपञ्चिका, पञ्चसिंहासन आदि ये भिन्न-भिन्न साधकोंके क्रम है ।

सप्तशतीवर्णित दुर्गाके दो क्रम हैं—पहले क्रममें (१) एकाक्षरी दुर्गा, (२) अष्टाक्षरी दुर्गा, (३) जयदुर्गा, (४) नवार्ण और (५) पञ्चदशी । तथा दूसरे क्रममें (१) महाकाली, (२) महालक्ष्मी, (३) महासरस्वती, (४) उग्रचण्डा और (५) पञ्चदशी । यह सभी मिलकर महापूर्णक्रम हो जाता है ।

साधक इतने लंबे क्रमको देखकर घबरायें नहीं। इन सभीको ठीक तरहसे जान लेनेपर ही सिद्धि होती है। परंतु जानना उसी तरह है, जिस तरह एक मशीन तैयार करना । मशीन तैयार हो जानेपर जैसा काम लेना चाहें, ले सकते हैं ।

श्रीश्रीविद्या

(लेखक—कुलमार्तण्ड राजगुरु पण्डित श्रीयोगीन्द्रकृष्ण दौर्गादत्ति शास्त्रीजी, विद्याभूषण, साहित्यरत्न)

कामेशी ललिता बाला महात्रिपुरसुन्दरी।
त्रिपुरा भैरवी ह्येता ऊर्ध्वाम्नायं समाश्रिताः॥
(वडवानल-तन्त्र)

अर्थात् कामेश्वरी, ललिता, बाला—बालासे बाला-त्रिपुरा, त्रिपुराबाला, बाला-सुन्दरी, बाला-त्रिपुरसुन्दरी तथा महात्रिपुर-सुन्दरी, त्रिपुरा, त्रिपुरासे त्रिपुरभैरवी, वाक्-त्रिपुरा, महालक्ष्मी-त्रिपुरा, त्रैलोक्यस्वामिनी-त्रिपुरा इत्यादि अन्य त्रिपुराएँ; और भैरवी, भैरवीसे रवीके भेद—बाला-भैरवी, सम्पद्प्रदा-भैरवी, चैतन्य-भैरवी, कामेश्वरी-भैरवी, अघोरभैरवी आदि अन्य भैरवीके भेद; तथा महात्रिपुरसुन्दरीसे श्रीललिता-महात्रिपुरसुन्दरी, श्रीललिता-राजराजेश्वरी, षोडशी, महाषोडशी, सप्तदशी तथा षोडशीके अन्य भेद—सब श्रीविद्याके नामसे पुकारे जाते हैं और इन सब विद्याओंकी उपासना ऊर्ध्वाम्नायसे होती है।

दश महाविद्याओंकी गणनामें षोडशीका नाम तीसरा है। यथा—

काली तारा षोडशी च बगला भुवनेश्वरी।
धूमा छिन्ना च मातङ्गी भैरवी कमलात्मिका॥

यद्यपि—

कामराजाख्यमन्त्रान्ते श्रीबीजेन समन्विता।
षोडशाक्षरविद्येयं श्रीविद्येति प्रकीर्तिता॥
(सौभाग्यभास्कर-व्याख्या)

अर्थात् "कामराजोपासिता पञ्चदशी मन्त्रके अन्तमें 'श्रीं'बीज लगा देनेसे 'श्रीविद्या' कही जाती है, ऐसा लिखा है।" तथापि ऊर्ध्वाम्नायसे उपासिता उपरिलिखित सभी विद्याएँ श्रीविद्याके नामसे व्यवहृत होती हैं। 'श्री' स्वयं ही महात्रिपुरसुन्दरी हैं। अवस्था-भेदसे उनके भिन्न-भिन्न नाम कल्पित किये गये हैं।

सामान्यतया प्रत्येक उपासक अपने इष्टदेवताको सर्वश्रेष्ठ तथा परब्रह्मस्वरूप मानता है और यह ठीक भी है, किंतु श्रीविद्याकी महत्ता वास्तविकी है, इसीको ब्रह्मविद्या तथा 'ब्रह्ममयी' भी कहते हैं। अतएव ब्रह्माण्डपुराणके ललितोपाख्यानमें लिखा है—

इति मन्त्रेषु बहुधा विद्याया महिमोच्यते।
मोक्षैकहेतुर्विद्या तु श्रीविद्या नात्र संशयः॥

अर्थात् मोक्षको देनेवाली एकमात्र विद्या श्रीविद्या ही है। इसकी उपासनाके विषयमें भी वहींपर दर्शाया गया है—

यस्य नो पश्चिमं जन्म यदि वा शंकरः स्वयम्।
तेनैव लभ्यते विद्या श्रीमत्पञ्चदशाक्षरी॥

अर्थात् 'श्रीविद्योपासक स्वयं शंकर होता है। जिसने अनेक जन्मोंमें अनेक विद्याओंकी उपासना की है, वही चरम जन्ममें श्रीविद्याका उपासक बनता है।'

बहुतसे कलिकाल-कलुषित-मानस मानवोंकी भावना है कि शक्ति-उपासना वेदविहित नहीं है; अतएव श्रीविद्याकी वैदिकता संक्षेपरूपमें दिखाते हैं। ऋग्वेदके सबसे प्रथम 'अग्नि-मीळे पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्रसे 'अ' लिया गया है और यजुर्वेदके 'इषेत्वोर्जेत्वा' इत्यादि सर्वप्रथम मन्त्रसे 'इ'कार (इ) लिया गया। इन दोनों ('अ' और 'इ') के मिलानेसे अर्थात् गुणसन्धि करनेसे 'एकार' (ए) बनाया गया है। इसके अनन्तर सामवेदके 'अग्ने आयाहि वीतये' इत्यादि सर्वप्रथम मन्त्रसे अकार लेकर और एकार पूर्व रखकर 'अ' से 'ए' के परे रहनेपर वृद्धि की गयी है, जिससे अ+ए मिलकर 'ऐ' बना। यही बिन्दुरहित 'वाग्भव बीज' श्रीविद्याके मन्त्रोंमें सर्वश्रेष्ठ कादिविद्याके प्रथम कूट पञ्चाक्षरी-कूटका मूल है। अतएव श्रीदुर्वासा मुनिविरचित त्रिपुरा-महिम्नस्तोत्र (५) में इसकी महिमा निम्न प्रकारसे वर्णित है—

वन्दे वाग्भवमैन्दवात्मसदृशं वेदादिविद्या गिरो
भाषा देशसमुद्भवाः पशुगताश्छन्दांसि सप्तस्वरान्।
तालान् पञ्च महाध्वनीन् प्रकटयत्यात्मप्रसारेण यत्
तद्बीजं पदवाक्यमानजनकं श्रीमातृके ते परम्॥

अर्थात् 'हे मातृकाक्षरस्वरूपिणी (वर्णमालाके अक्षरोंके स्वरूपवाली) जगदम्बिके त्रिपुरसुन्दरी! मैं तुम्हारे वाग्भव-बीजकी वन्दना करता हूँ, जो अमृतमय है; अतएव जो आत्मप्रसारसे अर्थात् अमृत-प्रस्रवणसे षडङ्ग वेद, स्मृति, शास्त्र, पुराण, आगम (मन्त्र-शास्त्र) आदि सब शास्त्रोंका

तथा संस्कृत, प्राकृत, पैशाच एवं तत्तद्देशोंमें बोली जानेवाली सब देशोंकी भाषाओंका तथा अनुष्टुप् आदि छन्दों, निषाद-गान्धार आदि सप्तस्वरों और ध्रुव आदि ४९ तालोंकी तथा भेरी आदि पाँच प्रकारकी महाध्वनियोंकी (शब्दोंकी), पद (अक्षरोंके समुदाय), वाक्य (पदोंके समूह) तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द-प्रमाणकी उत्पत्ति करनेवाला है। अर्थात् संसारमें जो कुछ शास्त्रजाल और शब्दजाल है, वह सब वाग्भव-बीजसे ही उत्पन्न हुआ है।'

श्रीविद्याकी वैदिकता दूसरे प्रकारसे भी प्रसिद्ध है—

'यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सं रराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचतेस षोडशी। (यजुर्वेद ३२। ५)

इस मन्त्रमें (त्रीणि ज्योतींषि) से तीन ज्योतियों अर्थात् बाला, पञ्चदशी और षोडशीका समुदाय ही परा श्रीविद्या है। षोडशीपात्र, षोडशीभाग और षोडशीविद्यामें षोडशी शब्द समानरूपसे व्यवहृत होता है।

त्रिपुरोपनिषद्के—

कामो योनिः कमला वज्रपाणि-
गुहाहसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च
पुरूच्येषा विश्वमातादिविद्या॥ ८॥

—इत्यादि मन्त्रमें काम 'क', योनिः 'ए', कमला वज्रपाणि—'ल', गुहा 'ह्रीं' इत्यादि संकेतोंद्वारा पञ्चदशीके मन्त्रका उद्धार किया गया है, जो गुरुमुखगम्य है। हमने दिग्दर्शनमात्र करा दिया है। विद्या (मन्त्र) का निरूपण सर्वत्र संकेतद्वारा किया गया है। अतएव लिखा है—

'संकेतविद्या गुरुवक्त्रगम्या।'

पञ्चदशी विद्याको निम्नलिखित श्लोकमें गुह्यतमा लिखा गया है—

त्रिकलाढ्यां त्रिहृल्लेखां त्रिहसस्वरभूषिताम्।
यो जपत्यम्ब ते विद्यां सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥

"अर्थात् तीन 'क', तीन 'ल', तीन 'ह्रींकार', दो हकार और दो सकार तथा ईकारयुक्त तुम्हारी पञ्चदशी विद्या (मन्त्र) को जो जपता है वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप है।"

यह लेख श्रीविद्याविषयक है। अतः श्रीविद्याका ही निरूपण वेदद्वारा दिया गया है। वास्तवमें सभी विद्याओंकी उपासना वैदिकी है; अतएव वेदविहित है।*

मतान्तरसे बालात्रिपुराकी उपासना पश्चिमाम्नायसे भी होती है। महाषोडशीके दो भेद हैं—एक शिवोपासित रमादि महाषोडशी, दूसरी विष्णूपासिता तारादि महाषोडशी।

श्रीविद्या महात्रिपुरसुन्दरीकी त्रिकूटात्मिका पञ्चदशी-विद्या उपासना-भेदसे बहुत प्रकारकी है। उनमेंसे कामराजोपासिता पञ्चदशी, लोपामुद्रोपासिता पञ्चदशी और नन्द्युपासिता पञ्चदशी मुख्य हैं। इनको क्रमसे—कादि-विद्या, हादि-विद्या और सादि-विद्या कहते हैं। कादि-विद्या जो 'क' से प्रारम्भ होती है, हादि-विद्या 'ह' से और सादि-विद्या 'स' से प्रारम्भ होती है। इनमेंसे कादि-विद्याका प्रचार सर्वाधिक है;† इसकी अपेक्षा हादि-विद्याका प्रचार कम है और हादि-विद्याकी अपेक्षा सादि-विद्याका प्रचार बहुत कम है।

श्रीविद्याकी उपासना वैदिकी है। इसके प्रमाणमें पहले जो यजुर्वेदका मन्त्र दिया गया है, उसका अर्थ इस प्रकार है—'वही श्रीविद्या सम्पूर्ण भुवनोंका रूप किये हुए है। प्रजापतिने अपनी प्रजाके द्वारा उसे जाना। तीन ज्योतियोंका समुदाय ही षोडशी है।' षोडशीविद्याका श्रेष्ठत्व तन्त्र-प्रसिद्ध है। वेद-मन्त्रोंमें निरूपित वह षोडशी ही आगम (तन्त्र) प्रसिद्ध 'षोडशी' है।

पञ्चदशाक्षरी-विद्या (मन्त्र) के बीजाक्षरोंकी संज्ञा जानना श्रीविद्योपासकके लिये अत्यन्त आवश्यक है, अतएव उसका उल्लेख यहाँपर किया जाता है—

कत्रयं हद्वयं चैव शैवो भागः प्रकीर्तितः।
शक्त्यक्षराणि शेषाणि ह्रींकार उभयात्मकः॥
एवं विभागमज्ञात्वा ये विद्याजपशालिनः।
न तेषां सिद्धिदा विद्या कल्पकोटिशतैरपि॥
(ब्रह्माण्डपुराण)

* इसके लिये दतियामें श्रीपीताम्बरा पीठके संस्थापक श्री १००८ राष्ट्रगुरु श्रीस्वामीजीका 'वेदमें शक्तितत्त्व' नामक लेख 'चण्डी' के सं० २००४ के चैत्र-वैशाखके अंकमें देखना चाहिये।

† श्रीललितात्रिशतीमें इसी कादि-विद्या पञ्चदशीके मन्त्राक्षरोंसे तीन सौ नाम बने हैं। एक अक्षरसे २० नाम बने हैं; अतः १५ से तीन सौ हुए।

अर्थात् 'पञ्चदशी-मन्त्रमें तीन ककार (क) और दो हकार (ह) शिववर्ण हैं। ये बीजाक्षर शिवजीके हैं। इनके अतिरिक्त शेष बीजाक्षर शक्ति-वर्ण हैं, अर्थात् शक्तिके हैं। और जो मन्त्रमें तीन ह्रींकार आते हैं वे शिवशक्त्यात्मक हैं, अर्थात् शिव और शक्ति दोनोंके हैं। जो साधक इस प्रकार मन्त्राक्षरोंके विभागको नहीं जानता, उसको सिद्धि प्राप्त नहीं होती है।'

सर्वप्रथम 'कामेशी ललिता बाला' इत्यादिमें कामेशी पदसे कामेश्वरी आदि षोडश नित्या कला, जिनको परातन्त्रमें 'नित्या' कहते हैं, कामेश्वरी आदि अतिरहस्य योगिनियाँ, जिनको परातन्त्र 'सर्वचक्रेश्वरी' कहता है और स्वयं महात्रिपुरसुन्दरी, जिसको परातन्त्र 'पञ्चब्रह्मेश्वरी' पदसे सूचित करता है—ये तीन प्रकारकी विद्याएँ समझी जाती हैं। अतः कामेशी अथवा कामेश्वरी नामके तीन भेद हैं। कामेश्वरी-नित्या, कामेश्वरी-अतिरहस्य योगिनी और कामेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी।

कामेश्वरीका अर्थ इस प्रकार है—

'काम्यते योगिभिरिति कामः।'

'परशिव' जिसकी योगी लोग कामना करते हैं और ईश्वरी, अर्थात् कामेश्वर शिवकी स्त्री कामेश्वरी, षोडशी विद्यामें 'महाकामेश्वर' और 'महाकामेश्वरी' कहे जाते हैं।

श्रीचक्र अथवा श्रीयन्त्र

बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्म-
मन्वस्रनागदलसंयुतषोडशारम्।
वृत्तत्रयञ्च धरणीसदनत्रयञ्च
श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः॥

अर्थात् 'श्रीयन्त्र बिन्दु-त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल, षोडशदल, उसके बाहर तीन वृत्त और त्रिरेखात्मक (तीन रेखाओंवाला) भूपुरसे बना हुआ है।' इस यन्त्रमें ४३ त्रिकोण, २८ मर्म-स्थान और २४ सन्धियाँ होती हैं। तीन रेखाओंके मिलनेके स्थानको 'मर्म' और दो रेखाओंके मिलनेके स्थानको 'सन्धि' कहते हैं।

इस श्रीयन्त्रमें चार ऊर्ध्वमुख त्रिकोण होते हैं, जिनको श्रीकण्ठ अथवा शिवत्व या शिव-त्रिकोण कहते हैं तथा पाँच अधोमुख त्रिकोण होते हैं, जिनको शिव-युवती अथवा शक्तितत्त्व या शक्तित्रिकोण कहते हैं। अतएव भगवान् शंकराचार्यने सौन्दर्यलहरी ११में—'चतुर्भिः श्रीकण्ठैः शिवयुवतिभिः पञ्चभिरपि'—ऐसा लिखा है। श्रीयन्त्र नौ चक्रोंसे बना है, जिनमेंसे चार 'शिवचक्र' हैं और पाँच 'शक्तिचक्र' हैं। अतएव लिखा है—

चतुर्भिः शिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।
नवचक्रैश्च संसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥

इन नौ शिव-शक्ति चक्रोंमेंसे त्रिकोण, अष्टकोण, दशारद्वय (दो दशार) और चतुर्दशार—ये पाँच शक्तिचक्र कहलाते हैं। बिन्दु-चक्र, अष्टदल कमल, षोडशदल कमल और चतुरस्र—ये चार 'शिवचक्र' कहे जाते हैं। बिन्दुचक्र त्रिकोणके साथ, अष्टदल कमल अष्टार (अष्टकोण) के साथ, षोडशदल कमल अन्तर्दशार और बहिर्दशारके साथ तथा भूपुर चतुर्दशार (चतुर्दशकोण) के साथ श्लिष्ट हैं। अतएव उपरिपरिगणित शिव और शक्तिचक्रोंका परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है, अर्थात् एक दूसरेके बिना ये नहीं होते हैं। इसी प्रकार त्रिकोण-शक्तिरूप और त्रिकोणके भीतरका बिन्दु 'पर-शिव' है। अतएव बिन्दुचक्रके बिन्दु और त्रिकोणका अर्थात् महाकामेश्वर और महाकामेश्वरीका (शिव और शक्तिका) परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है, अर्थात् वे परस्पर मिले हुए हैं। श्रीविद्योपासकोंके लिये इन शिव और शक्तिचक्रोंका विभाग अवश्यमेव ज्ञातव्य है। इस विभागके ज्ञानके बिना श्रीयन्त्र-की पूजा करना निष्फल है। अतएव लिखा है—

एवं विभागमज्ञात्वा श्रीचक्रं यः समर्चयेत्।
न तत्फलमवाप्नोति ललिताम्बा न तुष्यति॥

(ब्रह्मपुराण)

श्रीयन्त्रमें परस्परान्तर्गत जो नौ त्रिकोण (४ ऊर्ध्व-मुख और ५ अधोमुख) हैं, वे शिवबिन्दुकी मूल-प्रकृतिद्वारा बने हैं। नवम त्रिकोण मूल प्रकृति है और आठ त्रिकोण विकृतियाँ हैं, जो अपनी उत्पत्तिसे प्रकृति हैं।

नव चक्र

श्रीयन्त्रमें जो १ चतुरस्र, २ षोडशदल, ३ अष्टदल, ४ चतुर्दशार, ५ बहिर्दशार, ६ अन्तर्दशार, ७ अष्टार, ८ त्रिकोण और ९ बिन्दु हैं—इनके नाम क्रमशः—

१ त्रैलोक्यमोहन, २ सर्वाशापरिपूरक, ३ सर्वसंक्षोभण, ४ सर्वसौभाग्यदायक, ५ सर्वार्थसाधक, ६ सर्वरक्षाकर, ७ सर्वरोगहर, ८ सर्वसिद्धिप्रद और ९ सर्वानन्दमय हैं।

नवचक्रेश्वरी

इन नौ चक्रोंकी नव चक्रेश्वरी ये हैं—यथाक्रम—१ त्रिपुरा, २ त्रिपुरेशी, ३ त्रिपुरसुन्दरी, ४ त्रिपुरवासिनी, ५ त्रिपुराश्री, ६ त्रिपुरमालिनी, ७ त्रिपुरासिद्धा, ८ त्रिपुराम्बा और ९ महात्रिपुरसुन्दरी।

त्रैलोक्यमोहनचक्रकी प्रथम रेखामें अर्थात् चतुरस्रकी प्रथम रेखामें—अणिमादि अष्टसिद्धियोंका पूजन होता है। ये सिद्धियाँ रक्तवर्णा हैं तथा चन्द्रकलासे विभूषित हैं। इनके दो हाथ हैं, दक्षिण हस्तमें भक्ताभिलाषपूर्तिके लिये चिन्तामणियोंका समूह है और वामहस्तमें अभय-मुद्रा है। तथाहि—

चिन्तामणिप्रचयदक्षिणपाण्यभीति-
दानोल्लसत्कमलकोमलवामपाणेः।
रक्तद्युतीः शशिधराः प्रकटाणिमाद्या-
स्त्रैलोक्यमोहनगताः परिपूजयामि॥
(कामकल्पतरुस्तव० १२)

त्रैलोक्यमोहनचक्रकी शक्तियाँ 'प्रकटयोगिनी' कहलाती हैं। चतुरस्रकी मध्यरेखामें ब्राह्मी आदि शक्तियाँ अर्चित की जाती हैं। ये शक्तियाँ तमालके समान श्यामला हैं और रक्तवस्त्रोंसे सुसज्जित हैं। लाल कमल और अमृत-पूर्ण पान-पात्र करोंमें धारण करती हैं तथा सुन्दर आभूषण धारण करनेवाली हैं। यथा—

रक्तोत्पलामृतकपालधराः कराभ्या-
मष्टौ तमालदलकोमलनीलदेहाः।
ब्राह्म्यादिका रुचिरभूषणरक्तवस्त्रा
मातृर्द्वितीयचतुरस्रगता भजामि॥
(काम० १३)

चतुरस्रकी तृतीय रेखामें सर्वसंक्षोभिणी आदि मुद्रा शक्तियोंकी पूजा होती है। ये शक्तियाँ अपने दोनों हाथोंमें पाश और अङ्कुश धारण करती हैं और तरुण तरणिके समान कान्तिमती हैं; यथा—

पाशाङ्कुशाङ्कितयथायथबन्धबद्ध-
मुद्राविमुद्रितकरं तरुणारुणाभम्।
श्रीमत्तृतीयचतुरस्रगसर्वपूर्व-
संक्षोभपूर्वदशदैवतमर्चयामि॥
(काम० १४)

दूसरे आवरणमें 'सर्वाशापरिपूरकचक्र'में अमृता-कर्षिणी आदि नित्या कलाशक्तियोंका पूजन होता है। ये शक्तियाँ 'गुप्तयोगिनी' कहलाती हैं। ये रक्तवर्णा हैं और पाश तथा अङ्कुश अपने हाथोंमें धारण करती हैं।

शोणाः सपाशसृणिपाणियुगाभिरामाः
कामादिकर्षणमुखाः स्वरगाश्च नित्याः।
गुप्ताः कलानिधिकलाः खलु सर्ववाञ्छा-
सम्पूर्णषोडशदले परिपूजयामि॥
(काम० १५)

सर्वसौभाग्यदायकचक्रमें (चतुर्दशार चौदह त्रिकोणोंमें) सर्वसंक्षोभिणी आदि शक्तियोंका समर्चन किया जाता है। ये शक्तियाँ 'सम्प्रदाययोगिनी' कहलाती हैं। ये देवियाँ रक्तवर्णा हैं तथा इनके हाथोंमें धनुष और बाण विद्यमान हैं। तथाहि—

शोणाः सबाणधनुषः खलु सर्वपूर्व-
संक्षोभणादिकचतुर्दशदेवतास्ताः।
सत्सम्प्रदायविधिगाः प्रयजामि सर्व-
सौभाग्यदायकचतुर्दशकोणचक्रे॥
(काम० १७)

सर्वार्थसाधकचक्र (दशावतारवाले विष्णुस्वरूप) बहिर्दशारचक्रमें सर्वसिद्धिप्रदा आदि देवियोंकी पूजा होती है। ये देवियाँ 'कुलोत्तीर्ण योगिनियाँ' नामसे पुकारी जाती हैं। ये शक्तियाँ शुभ्र वस्त्र पहने हुए हैं और अपने करोंसे वर और अभय मुद्रा दिखाती हैं।

तथाहि—

शुभ्रा वराभयकराः खलु सर्वपूर्व-
सिद्धिप्रदाद्यदशकाद्भुतशक्तिपंक्तीः।
सर्वार्थसाधकबहिर्दशकोणचक्रे
सम्पूजयामि कुलकौलिनिगर्भिणीस्ताः।
(काम० १८)

सर्वरक्षाकरचक्रमें (अग्निस्वरूप अन्तर्दशारमें) सर्वज्ञा आदि शक्तियोंका पूजन करते हैं। इन शक्तियोंको 'निगर्भयोगिनी' कहते हैं। ये कर्पूरके समान रुचिर (गौर) वर्ण हैं और इनके करोंमें अक्षमाला (जपमाला) और पुस्तक सुशोभित हैं। तथा हि—

कर्पूरपूररुचिरा रुचिराक्षमालाः
श्रीज्ञानपुस्तकभृतोऽतिनिगर्भदेवीः ।
सर्वार्थरक्षणकरीशकोणचक्रे
सर्वज्ञकादिप्रमुखा दश पूजयामि ॥
(काम० १९)

सर्वरोगहरचक्र अष्टमूर्त्यात्मक 'शिवस्वरूप' अष्टत्रिकोणमें (अष्टारमें) वशिनी, कामेश्वरी आदि वाग्देवताओंकी पूजाका उल्लेख है । ये शक्तियाँ 'रहस्ययोगिनियाँ' कही जाती हैं । वे देवियाँ चतुर्भुज हैं और इनके चारों करोंमें धनुष, बाण, पुस्तक और स्फटिककी माला है तथा इनका रङ्ग प्रवाल (मूँगा) के समान है । यथा—

चापेषुपुस्तकलसत्स्फटिकाक्षमालं
बालप्रवालरुचिरं वशिनीप्रधानम् ।
सर्वादिरोगहरचक्रवरेऽष्टकोणे
वाग्देवताष्टकमहं सरहस्यमीडे ॥
(काम० २०)

तदनन्तर अष्टमावरणमें महात्रिकोणके बाहर आयुध (अस्त्र) देवताओंकी अर्चा होती है । ये रक्तवस्त्रावृता हैं और इनके कर वर और अभय मुद्रासे सुशोभित हैं तथा पाश, अङ्कुश, धनुष और बाणोंको अपने-अपने सिरमें चिह्नस्वरूप धारण करती हैं । यथा—

रक्ता वराभयकराः शिरसा दधानाः
पाशाङ्कुशेषुधनुरायुधभूषणानि ।
श्रीमत्त्रिकोणबहिरायुधदेवता मां
रक्षन्तु संततमनन्तगुणाश्चतस्रः ॥
(काम० २१)

इसके अनन्तर सर्वसिद्धिप्रदचक्र महात्रिकोणोंकी सपर्या होती है । इसके अग्र, दक्ष और वाम कोणमें कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनीकी यथाक्रम पूजा होती है और बिन्दुमें महाकामेश्वरीका अर्चन किया जाता है । त्रिकोणके तीन कोणोंमें कामरूप, पूर्णगिरि और जालन्धर पीठोंका पूजन होता है और मध्यमें उड्यानपीठकी सपर्या होती है । इस चक्रकी देवियोंको 'अतिरहस्य योगिनी' कहते हैं । कामेश्वरी आदि देवियोंके ध्यान निम्नलिखित हैं—

कामेश्वरीका ध्यान

श्रीमत्त्रिकोणपुरतः स्फुरतीं त्रिनेत्रां
बालातपारुणतनुं तरुणेन्दुमौलिम् ।
पीयूषभाजनवराङ्कुशपाशहस्तां
कामेश्वरीं भगवतीं परिपूजयामि ॥
(काम० २४)

वज्रेश्वरीका ध्यान

पाशाङ्कुशामृतकपालकमातुलुङ्ग-
चापेषुसंगतकरामरुणां त्रिनेत्राम् ।
श्रीमत्त्रिकोणपरदैवतदक्षिणस्थां
वज्रेश्वरीं भगवतीं परिपूजयामि ॥
(काम० २५)

भगमालिनीका ध्यान

चन्द्राननां त्रिनयनां तरुणेन्दुचूडां
पाशाङ्कुशाक्षगुणपुस्तकशस्त्रहस्ताम् ।
श्रीमत्त्रिकोणपरदैवतवामभागे
शुभ्रां भजे भगवतीं भगमालिनीं ताम् ॥
(काम० २६)

यहाँपर ध्यान देनेकी बात है कि उक्त कामेश्वरी महाकामेश्वरी और नित्याकामेश्वरीसे भिन्न हैं ।

महात्रिकोणके बिन्दुको 'बिन्दुचक्र' कहते हैं । उसका नाम 'सर्वानन्दमय-चक्र' है । परब्रह्मस्वरूप बिन्दुचक्रमें महात्रिपुरसुन्दरी पराभट्टारिकाकी सपर्या होती है । महात्रिपुरसुन्दरी ही परापराऽतिरहस्ययोगिनी हैं ।

श्रीयन्त्रके बिन्दुमें देवीके अङ्गोंमें षडङ्ग युवतियोंका तथा इसी त्रिकोण-बिन्दुमें महानित्याका एवं इसके अनन्तर मध्यम त्रिकोणकी दक्षिण, पूर्व और उत्तरकी रेखाओंमें नित्याओंका और तदनन्तर दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवी गुरुजनोंका यजन किया जाता है । इनका स्थान भगवतीके पीछे मूल त्रिकोणकी पूर्व रेखाके पास, विमला और जयिनी-के बीचमें, अरुणा वाग्देवताके निकट है । यहाँपर दक्षिणसे उत्तरकी ओर तीन पंक्तियोंका ध्यान कर प्रथम पंक्तिमें सात दिव्य-गुरुओंका, द्वितीय पंक्तिमें चार सिद्ध-गुरुओंका और तृतीय पंक्तिमें आठ मानव-गुरुओंका यजन होता है । तदनन्तर प्रथम रेखामें परमेष्ठि गुरुमन्त्रसे, दूसरी रेखामें परम गुरुमन्त्रसे और तीसरी रेखामें स्वगुरुदेवके मन्त्रसे तीनों गुरुदेवोंका यजन किया जाता है । इसके अनन्तर आवरणार्चन प्रारम्भ होता है ।

सृष्टि, स्थिति और संहारचक्र

श्रीयन्त्रके उक्त नवचक्र सृष्टि, स्थिति और संहारके द्योतक हैं। इनमेंसे बिन्दु, त्रिकोण और अष्टकोण—ये तीन चक्र 'संहारचक्र' हैं। अन्तर्दशार, बहिर्दशार और चतुर्दशार—ये तीन 'स्थितिचक्र' और अष्टदल, षोडशदल और भूपुर—ये तीन चक्र 'सृष्टिचक्र' कहलाते हैं।

अपने शरीरमें श्रीचक्रकी भावना

उच्चकोटिके साधक श्रीचक्रकी भावना अपने शरीरमें करते हैं अर्थात् साधक-शरीर स्वयं 'श्रीचक्र' है। साधकका ब्रह्मरन्ध्र बिन्दुचक्र, मस्तक त्रिकोण, ललाट अष्टकोण, भ्रूमध्य अन्तर्दशार, कण्ठ बहिर्दशार, हृदय चतुर्दशार, कुक्षि वृत्त, नाभि अष्टदलकमल, कटि अष्टदलके बाहरका वृत्त, स्वाधिष्ठान षोडशदल कमल, मूलाधार षोडशदलके बाहरका वृत्तत्रय (त्रिवृत्त); जानु भूपुरकी प्रथम रेखा, जङ्घा भूपुरकी द्वितीय रेखा, पाद (पैर) भूपुरकी तृतीय रेखा है। साधकको यह अवश्य ज्ञातव्य है। इसका जाननेवाला साधक शिव, विष्णु और ब्रह्माके समान है। 'योगिनी-हृदय' कहता है—

> त्रिपुरेशीमहायन्त्रं पिण्डाण्डात्मकमीश्वरि।
> यो जानाति स योगीन्द्रः स शम्भुः स हरिर्विधिः॥

अर्थात् 'यह श्रीयन्त्र पिण्डात्मक तथा ब्रह्माण्डात्मक है। जो साधक इस बातको जानता है, वह योगीन्द्र शिव, हरि (विष्णु) और ब्रह्माके समान है।'

श्रीचक्रकी ब्रह्माण्डात्मकता

उच्चतम कोटिके उपासक सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको (जगत्को) श्रीचक्रमय मानते हैं। अर्थात् श्रीयन्त्र अशेष ब्रह्माण्डमय है। तथाहि—बिन्दुचक्र सत्यलोक, त्रिकोण तपोलोक, अष्टकोण जनलोक, अन्तर्दशार महर्लोक, बहिर्दशार स्वर्लोक, चतुर्दशार भुवर्लोक; भूलोक प्रथम वृत्त, अष्टदल अतल, अष्टदलके बाहरका वृत्त वितल, षोडशदल कमल सुतल, वृत्तत्रय तलातल, भूपुरकी प्रथम रेखा महातल, द्वितीय रेखा रसातल और तृतीय रेखा पाताल है। ब्रह्मादि देवता, इन्द्रादि लोकपाल, सूर्यादि नवग्रह, अश्विन्यादि सत्ताईस नक्षत्र, मेष-वृष आदि बारह राशि, वासुकी आदि सर्प, यक्ष, वरुण, वैनतेय (गरुड़), मन्दार आदि वृक्ष, रम्भादि अप्सराओंका समूह, कपिल आदि सिद्ध-सङ्घ; वसिष्ठ आदि मुनीश्वर; कुबेरप्रमुख यक्ष, राक्षस; गन्धर्व, किन्नर, विश्वावसु आदि गायक; ऐरावत आदि आठ दिग्गज, उच्चैःश्रवादि हय, सब प्रकारके आयुध, हिमालय आदि पर्वत, सातों समुद्र, नदियाँ, नगर और राष्ट्र—ये सब श्रीचक्रसे उत्पन्न हुए हैं। अतः श्रीचक्र और ब्रह्माण्डकी एकता बराबर ध्यान करनेके योग्य है। इसका ध्यान करनेवाला साधक 'योगीन्द्र' कहलाता है। पिण्ड, ब्रह्माण्ड और श्रीचक्रकी एकताका ज्ञान होना महत् पुण्योंका फल है। इसका ज्ञाता शिवरूप हो जाता है। लिखा भी है—

> पिण्डब्रह्माण्डयोर्ज्ञानं श्रीचक्रस्य विशेषतः।
> ज्ञात्वा शम्भुफलावाप्तिर्नाल्पस्य तपसः फलम्॥
> (योगिनीहृदय)

'अर्थात् अपने शरीरको तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको श्रीचक्रस्वरूप जानना बड़े भारी तपका फल है। इन तीनोंकी एकताकी भावनासे शिवत्व प्राप्त होता है।'

मन्त्र और यन्त्रकी एकता

श्रीविद्या-पञ्चदशाक्षरी बीजमन्त्रोंसे ही 'श्रीयन्त्र' अथवा 'श्रीचक्र' बना है। अतः मन्त्र और यन्त्र एक ही वस्तु हैं। पञ्चदशी-मन्त्रान्तर्गत 'लकार' पृथिवी बीज है। इस बीजसे भूपुर और उसमें स्थित देवता बने हैं। 'स'कार चन्द्रबीज है, जो कि षोडश-कलात्मक है। इससे षोडशदल कमल और तदन्तर्गत देवताओंकी उत्पत्ति हुई। 'ह'कार अष्टमूर्ति शिवकी संज्ञा है; अतः इससे अष्टदल कमल और तदन्तर्गत देवियोंका प्रसार हुआ। 'ई'कार भुवनेश्वरी बीज है और भुवनेश्वरी चतुर्दश भुवनोंकी (चौदह लोकोंकी) ईश्वरी हैं; अतः इस 'ई'कारसे चतुर्दशार और उसके देवताओंकी उत्पत्ति मानी गयी है। 'ए'कारसे दशावतार विष्णुस्वरूप बहिर्दशार और तदन्तर्गत सर्वसिद्धिप्रदादि देवियोंके मण्डलका आविर्भाव हुआ। रेफ 'र'कार वह्निबीज है; इससे दश कलाओंवाले अग्निरूप सदैव अन्तर्दशारका प्रादुर्भाव हुआ। 'क'कार अष्टमूर्त्यात्मक शिवका वाचक है; इससे अष्टकोण और उसकी अधिष्ठात्री वशिनी आदि देवियोंकी उत्पत्ति हुई। अर्धचन्द्रसे त्रिकोण और उसके अन्तर्गत अर्थात् उसके कोणस्थ, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी देवियोंकी उत्पत्ति हुई। और बिन्दुसे बिन्दुचक्र तथा उसकी अधिष्ठात्री (सर्वानन्दमय

चक्राधीश्वरी) श्रीललिता महात्रिपुरसुन्दरी (श्रीविद्या) प्रकट हुईं। इस प्रकार श्रीचक्र श्रीविद्याके बीजाक्षरोंसे प्रादुर्भूत हुआ है। अतः लिखा भी है—

अर्धमात्रा गुणान् सूते नादरूपा यतस्ततः।
त्रिकोणरूपयोनिस्तु बिन्दुना बैन्दवं भवेत्॥
कामेश्वरस्वरूपं तद् विश्वाधारस्वरूपकम्।
श्रीचक्रं तु वरारोहे श्रीविद्यावीर्यसम्भवम्॥
(ज्ञानार्णव)

अर्थात् ''नादरूपिणी 'अर्धमात्रा'से त्रिकोणरूपिणी योनि उत्पन्न हुई और नादके ऊपरके बिन्दुसे बिन्दुचक्र बना। वही बिन्दुचक्र बिन्दुस्वरूप कामेश्वर हैं, जो सम्पूर्ण विश्वके आधाररूप हैं। अतः हे पार्वति! श्रीचक्र श्रीविद्या-पञ्चदशी-मन्त्रके बीजाक्षरोंसे उत्पन्न हुआ है। श्रीशिवजीके कहनेका तात्पर्य यह है कि मन्त्र और यन्त्रमें भेद नहीं है।

उपर्युक्त ज्ञानात्मिक तन्त्रके आशयानुकूल 'श्रीत्रिपुरा-महिम्नस्तोत्र'में मुनिप्रवर दुर्वासाने लिखा है—

श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोष इति ते संसारचक्रात्मकं
विख्यातं तदधिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं सर्वतः।
एतन्मन्त्रमयात्मिकाभिररुणं श्रीसुन्दरीभिर्वृतं
मध्ये बैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे॥

अर्थात् 'हे शिवे! संसारचक्रस्वरूप श्रीचक्रमें स्थित बीजाक्षररूप शक्तियोंसे प्रकाशमान तथा मूलविद्याके नौ बीजमन्त्रोंसे प्रसूत, शोभाशालिनी आवरण-शक्तियोंसे परिवेष्टित, वेदोंके मूल कारण, ओंकारके कोषरूप श्रीचक्रके मध्य त्रिकोणके बिन्दुचक्रस्वरूप सिंहासनमें विराजमान तुम परब्रह्मात्मिका हो।'

कहनेका सारांश यह है कि सिंहासनके मध्यमें श्रीललिता महात्रिपुरसुन्दरी सुशोभित हैं और सिंहासनके चारों ओर अणिमादि अष्टसिद्धियाँ, ब्राह्मी आदि अष्टमातृका, सर्वसंक्षोभिण्यादि ९ मुद्राशक्तियाँ, कामाकर्षिणी आदि १६ नित्यकलाएँ, अनङ्गकुसुमादि ८ शक्तियाँ, सर्वसंक्षोभिणी आदि १४ सम्प्रदाय-योगिनियाँ, सर्वसिद्धिप्रदा आदि १० कुलोत्तीर्ण योगिनियाँ, सर्वज्ञा आदि १० निगर्भ योगिनियाँ और वशिनी आदि रहस्ययोगिनियाँ विराजमान हैं।

श्रीविद्याके बीजाक्षरोंसे संसारकी उत्पत्ति

ऊपर दिखाया गया है कि पञ्चदशी मूल विद्याक्षरोंसे श्रीचक्रका आविर्भाव हुआ है। अब जिन लकार आदि बीजाक्षरोंसे श्रीचक्रके नौ चक्रोंकी उत्पत्ति हुई है, उन्हीं बीजाक्षरोंसे यह संसारचक्र भी बना है। यथा—'लं' पृथिवी-बीज है। उसीसे सम्पूर्ण पृथ्वी और उसपर होनेवाले वृक्ष और पर्वत उत्पन्न हुए हैं तथा भगवतीके एकपञ्चाशत् पीठ, सर्वतीर्थ, अशेष तीर्थमयी गङ्गा तथा अन्य नदियाँ और पुण्यक्षेत्र सब लकारसे ('लं') से ही उत्पन्न हुए हैं। पञ्चदशी-मन्त्र-स्थित सकार (स) से चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह-मण्डल और राशियाँ प्रादुर्भूत हुईं। अतएव 'नित्याषोड-शिकार्णव' तन्त्र-ग्रन्थमें लिखा है—

गणेशग्रहनक्षत्रयोगिनीराशिरूपिणीम्।
देवीं मन्त्रमयीं नौमि मातृकां पीठरूपिणीम्॥

मन्त्र-मध्यगत हकार 'हं' आकाश-बीज है। उससे आकाशकी और भुवनेश्वरी-बीज ईकार 'ई' से चतुर्दश भुवनोंकी उत्पत्ति (विश्वोत्पत्ति) हुई। दशावतार विष्णुस्वरूप एकार 'ए'से विश्वके पालन करनेमें समर्थ वैष्णवी शक्तिरूपा है। रकार 'रं' 'वह्निबीज' परं ज्योतिःस्वरूपिणी (प्रकाशमयी) है। ककार 'क'से कामदा अर्थात् सम्पूर्ण अभिलाषाओंकी पूर्तिकारिणी और कामरूपिणी है। अर्धचन्द्र (ँ) वह विश्वयोनि कहलाती है और बिन्दुसे अर्थात् अनुस्वारके उपरिस्थित बिन्दु (ं) से वह महाकामेश्वरी (महात्रिपुरसुन्दरी) शिवसाक्षिणी है।

श्रीचक्रके साथ कालचक्र और देशचक्रकी समानता 'तन्त्रराज' नामक तन्त्रके २८वें पटलमें श्रीभगवान् सदा-शिवने स्वयं श्रीमुखसे प्रतिपादित की है। 'कल्याण'के जिज्ञासु पाठक वहाँपर देख सकते हैं। यहाँपर लेख-विस्तार-भयसे उसे नहीं दिया गया।

'श्रीविद्या नित्यार्चन'के अनुसार बिन्दुचक्रके बिन्दुमें तीन बार यजन किया जाता है। इसका तात्पर्य तीन पृथक् ध्यानोंसे है। प्रथम प्रकाश और विमर्शके सामरस्यका ध्यान है, द्वितीय काम-कलाका ध्यान (चिन्तन) और तृतीय चित्-शक्तिका ध्यान करना है।

सृष्टि-क्रम और संहार-क्रम

पहले लिखा गया है कि श्रीचक्र नौ चक्रोंसे बना है। इन चक्रोंकी गणना सृष्टिक्रम और संहारक्रमसे की जाती है। सृष्टिक्रममें बिन्दुचक्रसे लेकर भूपुरपर्यन्त गणना

होती है। संहार-क्रममें भूपुरसे लेकर बिन्दुचक्रपर्यन्त गणना की जाती है।

श्रीचक्र परमेश्वरके बनाये हुए ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्डका निरूपण करता है, जिसका वर्णन पहले हो चुका है। पूजाके अवसरपर संहारक्रमको स्वीकार करनेकी प्रथा है। अतएव 'श्रीविद्या-नित्यार्चन' में संहारक्रमके अनुसार ही पूजा-क्रम लिखा गया है। तथा इस लेखमें भी संहार-क्रमके अनुसार ही लिखा गया है।

बिन्दुचक्रका नाम 'सर्वानन्दमय-चक्र' है; इस चक्रसे सब आनन्द और परमानन्दोंका निरूपण होता है अर्थात् सब प्रकारका आनन्द प्राप्त होता है। आनन्द क्या वस्तु है **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'** (तैत्ति० भृगु० ६) **'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'** इन उपनिषद्-वाक्योंमें आनन्दका वर्णन आया है। अतएव पद्धतिमें **'बिन्द्वभिन्नपरब्रह्मात्मके बिन्दुचक्रे।'** इस प्रकार लिखा है। अर्थात् बिन्दुचक्र परब्रह्मसे अभिन्न है। इस चक्रमें महाकामेश्वर और महाकामेश्वरी निवास करते हैं। **'तत्त्वमसि'** इस महावाक्यमें 'तत्' पदसे निरूपित निर्गुण ब्रह्म महाकामेश्वर हैं और महाकामेश्वरी 'त्वं' पदसे निरूपित कूटस्थ साक्षी संवित् है। यहाँपर **'वेदकवेद्ययोरहन्तेदंतयोः शक्तिशिवयोरभेदैक्यविमर्शभूमिरेव बिन्दुचक्रमिति ज्ञेयम्'।** यह उद्धरण भी ध्यान देनेके योग्य है। अर्थात् 'बिन्दुचक्र ज्ञाता और ज्ञेय, अहन्ता और इदन्ता, प्रकाश और विमर्श-स्वरूप शिवशक्तिके ऐक्यकी भूमि है।'

यह बिन्दुचक्र ही कामकला है। यह शब्द और विचारसे परे है। अतएव इस बिन्दुचक्रकी योगिनी 'परापर रहस्य (अत्यन्त गुप्त) योगिनी' कही जाती है। कामकलाका वर्णन 'श्रीविद्या-नित्यार्चन' के १२६ पृष्ठपर विस्तृत रूपसे दिया गया है।

इस बिन्दुचक्रकी आवरणदेवता केवल परदेवता ही है और वह सच्चिदानन्दपराऽहन्ता है। इस चक्रकी सिद्धिका नाम 'प्राप्तसिद्धि' है; क्योंकि यहाँसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। अर्थात् यह सिद्धि लौकिक सिद्धियोंके अतिरिक्त तुरीयावस्थातीत निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति कराती है। सर्वयोनिमुद्रा शिव-शक्ति-सामरस्य अथवा जीव-ब्रह्मैक्यके कारण अनुभूत ब्रह्मानन्दका निरूपण करती है।

तुरीया विद्या

षोडशी, महाषोडशी और सप्तदशी (महनाख्या सुन्दरी) निर्वाण-महात्रिपुरसुन्दरीका उपासक भी इसी सर्वानन्दमय-चक्रमें (बिन्दुचक्रमें) तुरीयाविद्या-मन्त्रसे तुरीयाम्बाका पूजन कर पुष्पाञ्जलि चढ़ाता है। इस चक्रकी सिद्धि सर्वज्ञ-सिद्धि और मुद्राका नाम 'सर्वत्रिखण्डा मुद्रा' है। तुरीयाविद्या तुरीयावस्थामें अथवा सविकल्प समाधिमें अनुभव की गयी जीव और ब्रह्मकी एकताका अथवा शिव-शक्ति-सामरस्यका निरूपण करती है। इस तुरीयाविद्याको शास्त्र 'महापूर्तिका विद्या' कहते हैं। इसीको सर्वोच्च 'प्रकाश-श्रीविद्या' कहते हैं और यह वह अवस्था है जिसमें सर्वव्यापिनी विमर्शशक्ति भी महाप्रकाशमें निमग्न हो जाती है। यही तुरीयाविद्याका वास्तविक अर्थ है।

सर्वानन्दमय-चक्र

अद्वैतताका अनुभव ही सर्वानन्दमय-चक्र है; इसीको 'महोड्यानपीठ' भी कहते हैं, अतएव श्रीललिता-सहस्रनाममें 'ओड्यानपीठनिलया, बिन्दुमण्डलवासिनी' इस प्रकारके नाम श्रीविद्या महात्रिपुरसुन्दरीके आते हैं। यह तुरीयाम्बा (तुरीया विद्या) तुरीया विद्याके अधिष्ठानका निरूपण करती है। यही परब्रह्म है, जो कि प्रकाश और विमर्शका संयोग है; यही अमृतका उच्चतम स्वरूप मोक्ष है।

श्रीविद्याकी उपासनाके तीन मत

श्रीविद्या महात्रिपुरसुन्दरीकी उपासनामें निम्न-लिखित तीन मत हैं—'हयग्रीव', 'आनन्दभैरव' और 'दक्षिणामूर्ति' मत। हयग्रीवके मतानुसार श्रीमन्त्रकी अर्चना दक्षिणाचारसे होती है, तथा इसमें (श्रीमन्त्रमें) त्रिवृत्त चक्रकी अर्चना नहीं की जाती है और त्रिवृत्त लिखा भी नहीं जाता है। इस पूजामें ललितासहस्रनाम, त्रिशती और शत नामोंसे कुङ्कुमार्चनका अधिक महत्त्व है।

'आनन्दभैरव' मतमें श्रीललिता महात्रिपुरसुन्दरीको बिन्दुचक्रकी नायिका मानकर पूजा करनेसे 'दक्षिणाचार' माना जाता है; किंतु यदि बिन्दुचक्रकी नायिका त्रिपुर-भैरवीको मानकर तथा बिन्द्वन्तर्गत चक्रान्तर भावना करके उस चक्रकी नायिका श्रीमहात्रिपुरसुन्दरीको मानकर सपर्या करनेमें 'वामाचार' माना जाता है। कौलाचारमें भी इसी

क्रमसे पूजा करनेका विधान है। आनन्दभैरव मतमें त्रिवृत्त चक्र तो लिखा जाता है, किंतु उसकी पूजा नहीं होती है।

'दक्षिणामूर्ति' मतमें त्रिवृत्त लिखा जाता है तथा उसकी पूजा भी की जाती है। यह क्रम सर्वोत्तम माना जाता है। इस क्रममें कुलाचारसे ही पूजा हो सकती है।

यह ध्यान रखनेकी बात है कि उक्त तीनों मतोंमें सृष्टिक्रममें (प्रातःसंध्यामें), स्थितिक्रममें (मध्याह्न-समयमें) तथा संहार-क्रममें (सायंकालमें) पूजा होती है।

इस दक्षिणामूर्ति-क्रमके सृष्टिक्रममें बिन्दुचक्रसे भूपुर-पर्यन्त, स्थितिक्रममें भूपुर चक्रसे अष्टदल-चक्रपर्यन्त तथा बिन्दुचक्रसे चतुर्दशार-चक्रपर्यन्त सपर्या होती है। संहार-क्रममें भूपुर-चक्रसे बिन्दु-चक्रपर्यन्त अर्चन होता है।

श्रीमन्त्रका आम्नाय-विभाजन

भूवृत्तशशिनागाढ्यं सृष्टिचक्रं वरानने।
मनुदिग्दशकैर्युक्तं स्थितिचक्रं शुभावहम्॥
वस्वानिबिन्दुसंयुक्तं चक्रं संहारकं स्मृतम्।
सर्वेशानाख्यचक्रं तु भावयेत् साधकोत्तमः॥
(तान्त्रिक-उपासना-दर्पण, द्वितीय भाग)

अर्थात् भूपुर, त्रिवृत्त, षोडशदल और अष्टदल—इन चार चक्रोंका समष्टिरूप पूर्वाम्नायात्मक सृष्टिचक्र, चतुर्दशार, बहिर्दशार और अन्तर्दशार—ये तीन चक्र दक्षिणाम्नायात्मक स्थितिचक्र, अष्टार, त्रिकोण तथा बिन्दुचक्र पश्चिमाम्नायात्मक संहारचक्र होता है।

'दक्षिणामूर्ति' मतमें श्रीचक्रावरण-पूजाकी सृष्टिक्रममें स्थितिचक्रमें, स्थितिक्रममें स्थितिचक्रमें और संहारक्रममें संहारचक्रमें पूजाकी विश्रान्ति होती है तथा बिन्दुसे भूपुरपर्यन्त सब चक्रोंका समष्टिरूप उत्तराम्नायात्मक 'अनाख्याचक्र' बनता है। तदनन्तर 'बिन्द्वन्तर्गतचक्र' षड्डाकिनी विद्या, पञ्चपञ्चिका विद्या तथा षडध्व इत्यादि सब मिलकर बिन्दु-चक्रसे भूपुर-चक्रपर्यन्तके समस्त चक्रोंका समष्टिरूप ऊर्ध्वाम्नायात्मक भासा-चक्ररूप बनता है।

दक्षिणामूर्ति मतकी श्रीचक्रावरण-पूजामें पञ्चधा आम्नाय पूजा होती है। तीन प्रकार दिखाये गये हैं। चौथा प्रकार सर्वाधिकार अर्थात् जगदम्बिका श्रीविद्याके सर्वाम्नायों-की चेतन सत्तारूप और पाँचवाँ षडन्वय शाम्भवविद्या अर्थात् मूलसमष्टिरूपिणी श्रीविद्याके षट्चक्र-स्फुरणसत्ता-रूपकी सपर्या होती है।

ब्रह्मचारियोंके लिये सृष्टिक्रमसे, गृहस्थ साधकोंके लिये स्थितिक्रमसे तथा गृहस्थाश्रमको स्वीकार न करनेवाले ब्रह्मचारियों और वानप्रस्थाश्रमियोंके लिये संहारक्रमसे अर्चन करना विहित है।

उक्त क्रमानुसार क्रमार्चन करनेवाले साधक संध्यात्रयमें सृष्टि, स्थिति और संहारक्रमसे अर्चन कर, निशीथिनीमें तुरीय संध्यारूपसे पूर्ण श्रीयन्त्रको तेजोमय तुरीया श्रीविद्याकी भावना कर, महानिर्वाणभैरव तथा निर्वाणसुन्दरीकी समर्चना किया करते हैं।

पूजायन्त्र

पूजाके लिये सोना, चाँदी और ताँबेका श्रीयन्त्र क्रमसे उत्तम, मध्यम और अधम माना गया है। पूजा करनेका फल ताम्रमें शतगुण, रौप्यमें कोटिगुण, स्वर्ण और स्फटिकयन्त्रमें अनन्तगुण माना गया है। धातुका यन्त्र एक तोलेसे सात-आठ तोले तकका बनाया जा सकता है। किंतु स्फटिक और मरकत आदि मणियोंके बने हुए यन्त्रके लिये कोई नियम नहीं है।

रुद्रयामलमें लिखा है कि मूँगा, पद्मराग, नीलम, वैदूर्य, स्फटिक तथा मरकतमणिके यन्त्रमें पूजाका फल अकथनीय गुणवाला होता है।

गौरी यामलमें श्रीयन्त्रका प्रस्तार भूपृष्ठ, कूर्मपृष्ठ, पद्मपृष्ठ और मेरुपृष्ठ—भेदसे चार प्रकारका दर्शाया है। भूप्रस्तार (भूपृष्ठ) में निम्न रेखाएँ, कूर्मपृष्ठ और पद्मपृष्ठ यन्त्र ऊर्ध्वरेखामय होते हैं। धातुमय यन्त्रोंके विषयमें लिखा है कि मनमाने तौलके न होने चाहिये, अन्यथा—'स्वेच्छातोलं नरः कृत्वा प्रत्यवायं समश्नुते।'—अर्थात् 'मनमाने तौलसे बनवाकर उपासक प्रत्यवायको प्राप्त होता है।'

यन्त्रका आवाहन और प्राणप्रतिष्ठा अचर, चर और धारणयोग्य भेदसे तीन प्रकारकी होती है। अचर प्राणप्रतिष्ठामें यन्त्र स्थापित रहता है, उठाया नहीं जाता। चर प्राणप्रतिष्ठामें पवित्रताके साथ यन्त्र अपने साथ स्थानान्तरमें ले जाया जा सकता है। धारणयोग्य प्राणप्रतिष्ठामें यन्त्र पूजाकालके अतिरिक्त सर्वदा धारण किया जाता है। केवल पूजाके समय वह उतारा जाता है। जब पुनः

देवताको अपनेमें लीन कर देते हैं, तब यन्त्रको धारण कर लेते हैं।

श्रीविद्या

श्रीविद्या-पञ्चदशाक्षरी मन्त्रके सम्बन्धमें 'चतुःशती' ग्रन्थका वचन निम्नलिखित है—

मूलध्यानं हंसबीजं सेव्यसेवकभेदकम्।
तेजःसूक्ष्ममभेदं हि सेव्यसेवकवर्जितम्॥
भावातीतं हि यद् ध्यानं सोऽहं ज्ञानात् परं शिवे।
यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदीरिता॥
सा तु सर्वेश्वरी देवी स सर्वोऽपि महेश्वरः।
व्याप्ता पञ्चदशार्णैर्या विद्या भूतगुणात्मिका॥
पञ्चभिश्च तथा षड्भिश्चतुर्भिरपि चाक्षरैः।
स्वरव्यञ्जनभेदेन सप्तविंशतिप्रभेदिनी॥
सप्तविंशप्रभेदेन षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपिणी।
तत्त्वातीतस्वभावा च विद्यैषा भाव्यते सदा॥

'अर्थात् 'हंस' बीज देवता (सेव्य) और सेवकके भावको लेकर मन्त्रके स्थूल ध्यानको बतलाता है, अर्थात् पञ्चदशी-मन्त्रका प्रथम अर्थ साधकको (हंस) जीवात्मा और श्रीविद्या (श्री) को परमात्मा समझनेके लिये सगुण ध्यानको दर्शाता है।

'सूक्ष्म ध्यानमें (तेजोध्यान) सेव्य-सेवकभाव मिट जाता है। अतः वह अभेद-रूप है। अर्थात् साधकका आत्मा और श्री एक ही वस्तु है, दो नहीं। यह निर्गुण ध्यान हुआ।

'भावातीत ध्यानमें साधक अपनेको 'सोऽहं' ज्ञानसे परे शून्य रूप अर्थात् नाहं-भावको धारण करता है अर्थात् अपने आत्माको भी भूल जाता है। केवल अनुभवगम्य ध्यानरूप होता है।

'जिस-जिस पदार्थकी जो-जो शक्ति है, वह सब सर्वेश्वरी श्रीविद्या है और जो-जो पदार्थ शक्तिवाले हैं, सब महेश्वर-स्वरूप हैं। वह सर्वेश्वरी (श्रीविद्या-पञ्चदशी) पञ्चभूत गुण-स्वरूपिणी है अर्थात् पृथ्वीके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, पाँच गुण,—जलके शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण, तेजके शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण, वायुके शब्द और स्पर्श दो गुण और आकाशका एक गुण शब्द सब जोड़कर पञ्चदश (१५) गुणात्मिका पंद्रह अक्षरवाली पञ्चदशी विद्या (पञ्चदशाक्षरी) हुई। प्रथम कूटमें पाँच अक्षर, दूसरेमें छः अक्षर और तीसरेमें चार अक्षर (पञ्चदश अक्षर) तथा इन कूटाक्षरोंके (पाँच, छः और चार अक्षरोंके) स्वर-व्यञ्जनभेदसे (अर्थात् इनके स्वर और व्यञ्जनोंको जोड़कर) सत्ताईस भेद बने। उनके भेदोंके द्वारा पुनः षट्त्रिंशत्तत्त्वस्वरूपा (छत्तीस तत्त्वोंवाली) होकर पुनः यह पञ्चदशी-विद्या तत्त्वातीत-स्वरूपिणी हुई अर्थात् इसकी भावना तत्त्वातीता की जाती है। (इसे तत्त्वोंसे परे मानी जाती है।)

इसका यथार्थ अर्थ मन्त्रको स्पष्ट करनेसे समझमें आयेगा। यथा—पञ्चदशी-विद्याके १५ अक्षरोंके तीन खण्ड हैं।

प्रथम कूटके पाँच अक्षर हैं। उसमें चार व्यञ्जन, तीन स्वर, एक नाद और एक बिन्दु है। सब मिलाकर नौ हुए। द्वितीय कूटमें छः अक्षर हैं। उसमें सात व्यञ्जन, एक स्वर, एक नाद और एक बिन्दु है। सब जोड़कर दस हुए। तीसरा कूट चार अक्षरका है, उसमें पाँच व्यञ्जन, एक स्वर, एक नाद और एक बिन्दु। जोड़कर सब आठ हुए। इस प्रकार सब सत्ताईस हुए। प्रत्येक कूटमें अक्षरोंके पृथक्-पृथक् तीन-तीन तत्त्व उत्पन्न हुए। तदनन्तर ३×३=९ नौ तत्त्व हुए। अब नौ और सत्ताईसका योग ३६ छत्तीस तत्त्व हो गये।

उपासना द्वैतवाद और अद्वैतवाद अर्थात् कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके भेदसे दो प्रकारकी है। कर्मकाण्डमें शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि भेदसे उपासना कई प्रकारकी है। शैव, शाक्त, सौर आदि दर्शनोंकी श्रीयन्त्रमें पूजा होनेके कारण कर्मकाण्डानुसार पूजा-विधान होनेसे श्रीविद्योपासना द्वैतवाद-जैसी प्रतीत होती है।

श्रीयन्त्रमें त्रिकोणचक्र चिद्रूप, बैन्दव-चक्र आनन्द-रूप तथा भावनाज्ञेय बिन्द्वन्तर्गत महाबैन्दव-चक्र सद्रूप है। अतः सच्चिदानन्दके मनन करनेसे श्रीविद्योपासना अद्वैतवाद-जैसी प्रतीत होती है। अतः 'श्रीचक्रार्चन'के अनुसार श्री-विद्योपासना द्वैताद्वैतवाद-स्वरूप ठहरती है।

श्रीविद्योपासनामें भूतशुद्ध्यादि-क्रमके अनन्तर भावनाके लिये—

अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहंमात्मानमिति भावयेत्॥

अर्थात् मैं स्वयं देवीरूप हूँ, दूसरा नहीं हूँ। मैं स्वयं ब्रह्म ही हूँ, शोक-संतप्त होनेवाला जीव नहीं हूँ। मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ। जो तुम हो वह मैं हूँ और मैं ही तुम हो, तुम्हारा शरीर संविन्मात्र है। तुममें और मुझमें जो भेद है, वह शीघ्र आज्ञाके बलसे नष्ट हो जाय। यद्यपि मैं इस भयंकर संसार-सागरसे पार हो गया हूँ और मेरा कोई कार्य शेष नहीं है, तो भी हे माता! अपने पूजनके लिये मुझे आज्ञा प्रदान करो।

पूजाके अन्तमें श्रीविद्योपासक भावना करता है कि मैं पशुजनोंसे विमुख श्रीभैरवीके आश्रित हूँ, सर्वदा गुरु-चरणोंमें रत शिव हूँ। मैं स्वयं शिव हूँ और भक्तिस्वरूप हूँ। मैं देव, दनुज, यक्ष, मनुष्य सब कुछ हूँ। पूज्य और पूजक मैं स्वयं हूँ। मैं पूजाविद् हूँ। और पूजारसमय भी मैं ही हूँ।

इस प्रकारकी भावनाद्वारा 'जीवन्मुक्ताश्च कौलिकाः' इस आगमवचनकी चरितार्थता होती है।

श्रीयन्त्रके भूपुरमें तीव्रजाग्रदवस्थाका, 'वृत्तत्रयमें मन्द-जाग्रदवस्थाका, षोडशदलमें स्वप्नावस्थाका और अष्टदलमें सुषुप्त्यवस्थाका समावेश किया जाता है। भूपुर, वृत्तत्रय, षोडशदल और अष्टदल—ये चार चक्र पूर्वाम्नायात्मक हैं। ये पूर्ण अज्ञानकी चार अवस्थाएँ साधारण प्राणी-की-सी हैं।

भीतरके चक्रोंमें ज्ञानप्राप्तिकी साधन-स्वरूपा सप्तभूमिकाओं-का समावेश होता है। तथाहि—चतुर्दशारमें शुभेच्छा, बहिर्दशारमें शुभविचारणा और अन्तर्दशारमें तनुमानसाका समावेश होता है। ये तीन चतुर्दशार, बहिर्दशार और अन्तर्दशार चक्र दक्षिणाम्नायात्मक चक्र हैं। पुनः अष्टार चक्रमें सत्त्वापत्ति, त्रिकोणचक्रमें असंशक्ति और बिन्दुचक्रमें पदार्थभाविनीका समावेश होता है। ये तीन चक्र अष्टार त्रिकोण और बिन्दुचक्र पश्चिमाम्नायात्मक चक्र हैं। इन पूर्वोक्त दश चक्रोंका समष्टिरूप ज्ञानात्मक उत्तराम्नायात्मक-चक्र होता है। तथा उत्तराम्नायात्मक-चक्रमें महाबैन्दव चक्र अर्थात् बिन्द्वन्तर्गत-चक्र मिलकर पूर्णाज्ञा नामक ऊर्ध्वाम्नायात्मक-चक्र बन जाता है और उसी महाबैन्दव चक्रमें तुर्यगाका समावेश होनेसे ज्ञानकाण्डोपासनाका विषय बन जाता है। अर्थात् ज्ञानकाण्डद्वारा श्रीचक्रो-पासना होती है।

कर्मकाण्डके विषयमें श्रीचक्रके किस-किस चक्रमें किस-किस दर्शन-शास्त्रका समावेश होता है, यह बात दिखायी जाती है। भूपुरमें चार्वाकदर्शन, वृत्तत्रयमें (त्रिवृत्तमें) स्मृति-पुराणादि-दर्शन, षोडशदलमें बौद्ध-दर्शन, अष्टदलमें गाणपत्य-दर्शन, चतुर्दशारमें सांख्य-मीमांसा, न्याय-वैशेषिक पातञ्जल-वेदान्तादि दर्शनों, बहिर्दशारमें वैदिक-दर्शन, अन्तर्दशारमें सौर-दर्शन, अष्टार (अष्टकोण) में वैष्णव-दर्शन, बिन्दुमें शैवदर्शन और महाबैन्दव-चक्रमें कौल-दर्शनका समावेश होता है।

पूर्वाम्नायमें अज्ञानावस्थाके कारण देवताको स्वामी, माता मानकर और अपनेको दास, पुत्र आदि मानकर उपासना होती है और 'पापोऽहं पापकर्माहं' 'तापत्रयाग्निसंतप्तं त्राहि मां परमेश्वरि।' अथवा परमेश्वर! कहा जाता है।

दक्षिणाम्नायमें ज्ञानभूमिकाके पूर्वार्धसे इष्टदेवताको भैरवकी शक्ति और अपनेको भैरवरूपकी भावनासे उपासना होती है।

पश्चिमाम्नायमें ज्ञानभूमिकाके उत्तरार्ध होनेसे इष्टदेवता-को तथा अपने-आपको एक ही मानकर परमशक्तिरूप बनकर 'रचितयुवतिवेशास्सद्धिया ध्यायते सः।' भावना की जाती है। 'परोऽहमपरश्चाहं परापरमयोऽप्यहम्।' अर्थात् 'पर भी मैं हूँ और अपर भी मैं ही हूँ तथा परापरमय भी मैं ही हूँ। अन्य नहीं है।'

उत्तराम्नायमें पूर्णज्ञानभूमिका होनेसे अपने-आपमें मन्त्र-भावना हो जाती है—'मन्त्रोऽहं मन्त्रकल्पोऽहं मन्त्र-जाप्यहमेव च।'—'मैं ही मन्त्र हूँ और मन्त्रजापी भी मैं ही हूँ।' मैं स्वयं मन्त्रकर्मा और मन्त्रवेत्ता भी हूँ और सबसे अन्तमें ऊर्ध्वाम्नायमें ज्ञानभूमिकाकी पराकाष्ठा हो जानेसे साधक अपने-आपको सच्चिदानन्दस्वरूप मानता है, अर्थात् अपनेमें सच्चिदानन्दकी भावना करता है। ऐसी अवस्थामें यह समझता है कि—'श्रीविद्या अखिल आगम तथा वेदान्तविदित सच्चिदानन्दस्वरूपिणी हैं और मैं तत्स्वरूप ही हूँ तथा देहान्त-समयपर्यन्त श्रुतिविहित विधिको मानकर विमुक्त होकर भी उपासना करना मेरा कर्तव्य है।'

कादि और हादि विद्याओंका स्वरूप

(लेखक—प्राध्यापक पं० काकुभाई दुर्गाशङ्कर दवे 'भानु', संस्कृतसाहित्य-व्याकरण-वेदान्त-ज्यौतिष-आयुर्वेदाचार्य, संस्कृत-काव्यपुराणकृत्यतीर्थ, पालिविशारद, जैनदर्शनशास्त्री, संस्कृत-साहित्य-धर्मशास्त्र-पुराण-आयुर्वेद उत्तमा, ज्योतिर्विशारद)

कादि, हादि (एवं सादि, कहादि) विद्याका उल्लेख अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है। ऋग्वेदीय 'बह्वृचोपनिषद्'में कहा गया है कि 'एकमात्र देवी ही सृष्टिके पूर्व थीं। उन्होंने ही ब्रह्माण्डकी सृष्टि की। वे कामकलाके नामसे विख्यात हैं। वे ही शृङ्गारकला कहलाती हैं। उन्हींसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, विष्णु प्रकट हुए, रुद्र प्रादुर्भूत हुए। ×××× वे ही अपरा शक्ति हैं, वे ही शाम्भवी विद्या, कादि-विद्या, हादि-विद्या या सादिविद्या कहलाती हैं। वे ही रहस्यरूपा हैं। वे ही प्रणववाक्य-अक्षरतत्त्व हैं। ॐ अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूपा वे वाणीमात्रमें प्रतिष्ठित हैं[1]।' उसी उपनिषद्में और भी कहा है—'ऋचाएँ एक अविनाशी परम आकाशमें प्रतिष्ठित हैं, जिसमें सारे देवता भलीभाँति निवास करते हैं। उनको जाननेका प्रयास जिसने नहीं किया है, वह ऋचाओंके अध्ययनसे क्या कर सकता है[2]?'

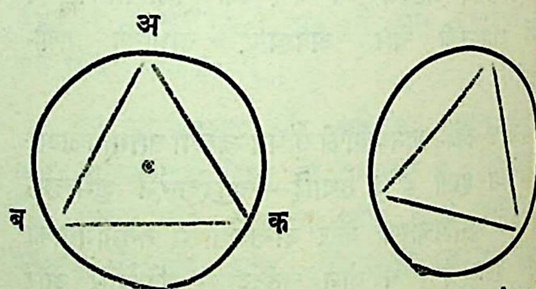
शाक्त-सम्प्रदायके कादि और हादिके आद्यस्वरूपका ज्ञान इसीसे उपलब्ध होता है। ललिता और दुर्गाका परब्रह्मके रूपमें चिन्तन उपनिषद्में किया गया है। शक्तिके मूल पञ्चदशाक्षरी-मन्त्रमें 'क' वर्ण और 'ह' वर्णके आदित्वसे इन मतोंके स्वरूप बनते हैं।

विद्याके विषयमें श्रीदेवीमाहात्म्यमें कहा गया है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ॥
(मार्कण्डेय० दुर्गा० ११। ६)

शाक्त-साधनोंमें मन्त्र प्रधान साधन समझा जाता है। मन्त्रकी वाचक-शक्ति और विमर्श-शक्ति—यह शक्तिका मूलरूप है। मन्त्रकी वाचक शक्ति 'वाच्य देवता'को प्रकाशित करती है और यही है—शाक्त-साधनाका प्रयोजन। शाक्तमतमें भोग और मोक्ष, उभयकी एकवाक्यता निरूपित की गयी है। सांख्य और वेदान्तकी तरह त्याग और वैराग्यको विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। स्त्रीजातिकी प्रतिष्ठा और वन्दनीयताके विषयमें इस सम्प्रदायमें बड़ा उच्च स्थान है। धर्म-साधनामें स्त्री सहायक है, ऐसा इन लोगोंका स्पष्ट मन्तव्य है और इसे ये व्यावहारिक स्वरूप भी देते हैं। वाचक-मन्त्र जब वाक्य देवताको स्पष्ट करे, तब वह 'विद्या'नाम धारण करता है। कहा भी है कि 'विद्या शरीरवत्ता मन्त्ररहस्यम्।' (प्रत्यभिज्ञा) अर्थात् 'विद्यामय शरीरयुक्त होना ही मन्त्रका रहस्य है।'

मूल परादेवता अर्थात् शक्तितत्त्वका स्वरूप चिन्मय और आनन्दमय है एवं उस मध्य आनन्दघन चेतनसे तीन रेखाएँ प्रकट होती हैं। मध्यकेन्द्रपर बिन्दुका प्रधान देवता कहलाता है और उसमेंसे जो तीन छोटे बिन्दु प्रकट होते हैं वे ज्ञान, क्रिया और इच्छाके तीन 'अपर बिन्दु' कहलाते हैं। इस मध्यकेन्द्रसे बल प्राप्त करके जो कोणबिन्दु होते हैं उनको जोड़नेवाली रेखाओंसे सबिन्दु त्रिकोण मुख्य चिदाकाशमें प्रकट होता है। वह विमर्श-शक्तिका आद्यसूचक यन्त्र है। यथा—शाक्त परबिन्दुका स्वरूप।



तान्त्रिक, मीमांसक, वैयाकरण एवं योगी, अर्थ शब्दके बीच अनादि प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध मानते हैं। तान्त्रिक सम्प्रदायानुसार देवताका शरीर बीजमेंसे अर्थात् बीजाक्षरोंमेंसे प्रकट होता है। परदेवता अर्थात् परशिवका शक्तिमय स्वरूप परब्रह्म या नादब्रह्मका आश्रय लेकर साधकके चित्तमें प्रकट होता है। साधकेच्छित परिणाम उस प्रकटीकरणका साक्ष्य है।

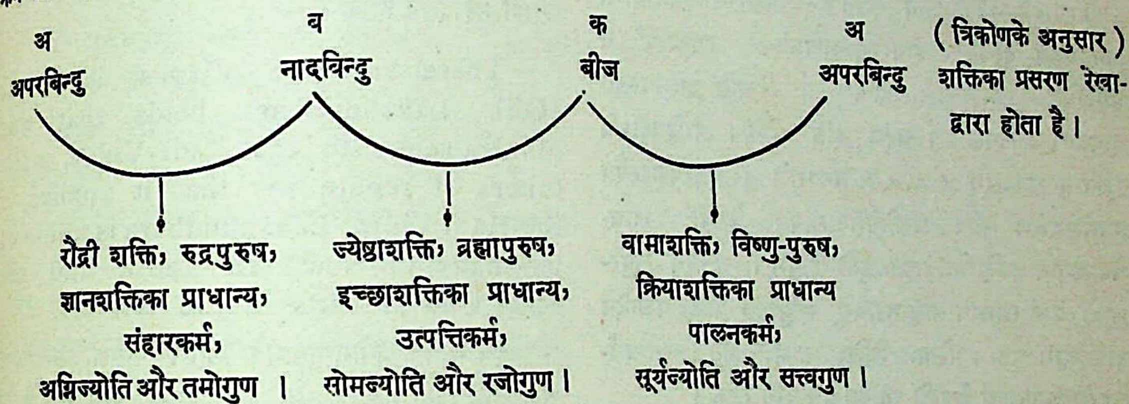
उल्लिखित त्रिकोण-यन्त्रमें परबिन्दुको शून्य संज्ञा दी जाती है; किंतु उसका अर्थ शून्य नहीं है। सच्चिदानन्दके वैभवसे युक्त मूलतत्त्व अपनी अन्तर्गता शक्तिको बाहर निकालनेमें अभी उद्युक्त नहीं हुआ है, इसीसे वह 'शून्य' है। यह शून्य 'बिन्दु' महाकालकी कलासे अर्थात् 'अहं'भावके

१. ऋग्वेदीय 'बह्वृचोपनिषद्' 'कल्याण'का उपनिषदङ्क विशेषाङ्क पृष्ठ ६४९।

२. वही।

विभिन्न होकर उदीयमान भावयुक्त होता है और अपने स्वरूपको पहचाननेवाला होता है, तब वह सविन्दु वर्तुल होता है। वही कार्यविन्दु है और वही 'स्वरूपस्य कलनात्' 'काली' कहा जाता है। उसीका अन्य नाम 'आद्या' अथवा 'विद्याराज्ञी' है; क्योंकि मन्त्रोदयमें उसके प्राकट्यका क्रम प्रथम है।

कार्यविन्दुमेंसे तीन अवान्तर परिणाम प्रकट होते हैं—(१) अपरविन्दु, (२) नाद, (३) बीज। उनमें अपरविन्दु चेतनमय है, नाद जडाजड है और बीज जड है। अपरविन्दुका दूसरा नाम 'शब्दब्रह्म' है। उल्लिखित त्रिकोणकी उत्पत्ति तीन रेखाओंसे हुई है, उसीको 'त्रिपुर-बीज'—ऐसा नाम मान्त्रिकों द्वारा दिया गया है। निम्नलिखित कोष्ठकसे उसका स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है—



इस प्रकारसे तीन अवान्तर शक्ति और पुरुषोंका आविर्भाव, तीन प्रकारके कर्म, तीन प्रकारकी ज्योति और तीन प्रकारके गुण व्यक्त होते हैं और उनपर एक ही परविन्दु, पराशक्तिका आध्यक्ष्य है; अतएव वह 'त्रिपुराम्बा'के नामसे कीर्तित है। कोणको संस्कृतमें 'योनि' कहते हैं। अपने अन्तर्गत वेगको बहिर्गामी करनेके समयकी उसकी सामर्थ्यको 'शक्तितत्त्व' कहते हैं। इस शक्तितत्त्वके बीजके साथ प्रणवके सम्बन्धसे या शिवतत्त्वात्मक नादके क्षोभसे अकारादि वर्ण और उनसे पदों और वाक्योंकी रचना सचेतन व्यक्तिके द्वारा होती है। इस शाक्त-बीजमेंसे जिन-जिन मन्त्रोंकी प्राप्तियाँ, उदयके क्रमके अनुसार, अनुभवी उपासकोंको हुई हैं, उन्हीं-को तन्त्र-सम्प्रदायमें 'दश महाविद्या' कहते हैं।

इन दसकी रचना-व्यवस्था पुनः दो कुलोंमें की जाती है—(१) कालीकुल, (२) श्रीकुल। अतएव शाक्त-सम्प्रदायकी दृष्टिसे 'श्रीयन्त्र' के दो प्रकार हैं—(१) कादि-विद्यानुसार, (२) हादि-विद्यानुसार। (एक तृतीय प्रकार भी है जो 'कहादि' विद्या कहा जाता है, इसकी योजना पीछेसे की गयी है।) 'कादि' विद्याके महामन्त्रका प्रारम्भ 'क'कारसे होता है और 'हादि'का 'ह्'कारसे। दोनों विद्याओंमें पञ्चदशाक्षर हैं। कादि-विद्याका महामन्त्र यह है—'क ए ई ल ह्रीं ह स क ल ह्रीं स क ल ह्रीं' और हादि विद्याका महामन्त्र है—'ह स क ल ह्रीं ह स क ल ह्रीं स क ल ह्रीं।

कादि विद्याके उपासक—अगस्त्य ऋषि हैं और हादि-विद्याकी उपासिका हैं—अगस्त्य मुनिकी पत्नी लोपामुद्रा। तान्त्रिक आगमोंमें 'काम ही परम शिवका नाम है'—ऐसा कहा गया है। 'कादि'-विद्याके प्रति श्रद्धान्वित होनेवाले प्रथम आचार्य हैं—श्रीपरमशिव, दुर्वासा, हयग्रीव (विष्णु) और अगस्त्य। कादि-विद्या मुख्य है और हादि गौण।

ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत 'श्रीललितासहस्रनाम'की प्रशंसा-प्रसिद्धि तन्त्र-साम्प्रदायिक उपासकोंमें उच्च कोटिकी है। उसमें उपोद्घाताख्या प्रथमा कलामें (श्लोक-संख्या १७) कहा है—

तन्त्रेषु ललितादेव्यास्तेषु मुख्यमिदं मुने।
श्रीविद्यैव तु मन्त्राणां तत्र कादिर्यथा परा॥

इसके ऊपर सर्वतन्त्रस्वतन्त्र तान्त्रिकप्रवर श्रीभास्करा-चार्यजी प्रणीत 'सौभाग्य-भास्कर' नामक भाष्यमें कहा गया है कि—'पुंदेवत्यामन्त्राः स्त्रीदेवत्या विद्या इति मन्त्र-विद्ययोर्लक्षणभेदोऽप्यस्याः शिवशक्तिसामरस्यरूपत्वादुभया-त्मतेति द्योतनाय मन्त्राणां मध्ये विद्येत्युक्तम्। एतदेव देवताध्याने ऐच्छिको विकल्पः स्मर्यते। 'पुंरूपं वा स्मरेद्देवीं स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत्।' अथवा 'निर्गुणं ध्यायेत्सच्चिदानन्द-लक्षणम्।' इति मालामन्त्रेऽपि स्त्रीपुंसभेदेन भेदः। ××× कादिः ककारः आदिर्यस्यां सा कादिः कालीशक्तिः—इति तन्त्रराजप्रसिद्धकादिनामशक्त्यभिन्ना वा। अतएव 'कादिसंज्ञा

भवद्रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये' इत्यादि। तत्रैव देवीं प्रति शिववाक्यम्। सा च 'कामो योनिः कमला वज्रपाणि-र्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः। पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्यैषा विश्वमातादिविद्योम्[3]। इत्याथर्वणैः पठ्यमान-त्रैपुरसूक्तस्थायामृच्युद्धृता। (यह मन्त्र अत्यन्त प्रसिद्ध है, इसका अर्थ नीचे टिप्पणीमें दिया गया है) आगे चलकर उसी स्थानमें भास्कराचार्य कहते हैं—'ब्रह्माण्डादिकटाहान्तं जगदद्यापि दृश्यते' इत्यादेर्गुरुमुखैकवेद्यो रहस्यार्थो न हादिविद्यासु समञ्जसः। 'चत्वार ईं बिभ्रति क्षेमयन्तः' इत्यत्रापि कादिपक्ष एव स्वरस इति लोके। हादिपक्षेऽपि तुल्यं तु रहस्यम्। × × × × तन्त्रराजे तु तृतीयकूटस्यैव प्रथममुद्धारेण तत्रैवैकाक्षरनिवेशेनान्ययोः कूटयोः लाघवेनोद्धाराय हादि विद्यैवादृता इति ज्ञेयम्। अतएव त्रैपुरसूक्ते 'षष्ठं सप्तमथ वह्निसारथिम्' इत्युक्त्वा कादेः पश्चादेव हादेरुद्धारः कृतः। 'शिवः शक्तिः कामः' इति। सौन्दर्यलहरीस्थश्लोकद्वयं द्वेधापि व्याख्यायते इति दिक्।

(ललितासहस्रनाम पृष्ठ ९-१०)

भगवान् शंकराचार्यजीने समय-मतानुसारेण शाक्त-सम्प्रदायके मन्त्रोंके स्वरूप और उनके उद्धारका दिग्दर्शन चमत्कारजनक शैलीमें किया है। उनकी सुप्रसिद्ध रचना 'सौन्दर्यलहरी'के अनुसार श्रीविद्याको 'कादि'मत कहा गया है। उल्लिखित सौभाग्यभास्करमें निर्दिष्ट श्लोकद्वयके क्रमाङ्क हैं—३२ और ३३। इनमें बत्तीसवाँ श्लोक जैसा कि ऊपर कहा है—इस प्रकार निम्नलिखितानुसार है—

शिवः शक्तिः कामः क्षितिरथ रविः शीतकिरणः
स्मरो हंसः शक्रस्तदनु च परामार हरयः।
अमी हृल्लेखाभिस्तिसृभिरवसानेषु घटिता
भजन्ते वर्णास्ते तव जननि नामावयवताम्॥

इस श्लोकके विषयमें विवेचन करते हुए आनन्दलहरीके सुप्रसिद्ध अंग्रेजी अनुवादक पं० श्री० आर० अनन्तकृष्ण शास्त्री महोदयने लिखा है—

There are two Vidyās, Kādi and Hādi. Lakshmidhara holds that this Mantra refers to the Kādi Vidyā, while others of repute say tha: it applies to the Hāli Vidyā. Lakshmidhara is followed by many in Southern India and the other view prevails in the North.[5]

इस मन्त्रके प्रयोगानुष्ठानके लिये चित्रात्मक यन्त्र उसी संस्करणमें दिया गया है और निर्देशरूपमें कहा गया है कि सुवर्णनिर्मित पत्रपर इस मन्त्रके बीजाक्षर 'ॐ यं ॐ' क्रो लिखकर ४५ दिनोंतक प्रतिदिन इस मन्त्रस्वरूप श्लोकके एक हजार जप करनेसे रससिद्धि (Alchemical Power) प्राप्त होती है। स्थानाभावसे कैवल्याश्रम, लक्ष्मीधर और अरुणामोदिनी टीकाओंके अनुसार इस श्लोकद्वारा सूचित 'कादि' और 'हादि' विद्यानुसार मन्त्रोद्धारका स्वरूप यहाँ उद्धृत नहीं किया है। जिज्ञासु पाठक उसी ग्रन्थमें देखें। शक्तिसङ्गमतन्त्रमें कादि और हादि विद्याओंके विषयमें चर्चा यथास्थान की गयी है। यथा—

कादिक्रमे महेशानि कथ्यते शृणु साम्प्रतम्॥१२३॥
सर्वव्यापकरूपं च शक्तिज्ञानं महेश्वरि।
परम्परात् परं देवि तच्च देवि द्विधा मतम्॥१२४॥
काद्यं हाद्यं महेशानि काद्यं कालीमतं भवेत्।
हाद्यं श्रीत्रिपुराख्यं च कहाख्यं तारिणीमतम्॥१२५॥

(षष्ठ पटल)

३. अथर्ववेदीय देव्युपनिषद् (देव्यथर्वशीर्षम्) में इस मन्त्रका संख्या-क्रमाङ्क १४ है। इसका अर्थ है—'काम (क), योनि (ए), कमला (ई), वज्रपाणिः-इन्द्र (ल), गुहा (ह्रीं); ह, स वर्ण, मातरिश्वा-वायु (क), अभ्र (ह) इन्द्र (ल), पुनः गुहा (ह्रीं)। स, क, ल—वर्ण और माया (ह्रीं) यह सर्वात्मिका जगन्माताकी मूल विद्या है और ब्रह्मरूपिणी है। 'शिवशक्त्यभेदरूपा, ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मिका, सरस्वती-लक्ष्मी-गौरीरूपा, अशुद्ध-मिश्र-शुद्धोपासनात्मिका, समरसीभूतशिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूपका निर्विकल्प ज्ञान देनेवाली सर्वतत्त्वात्मिका महात्रिपुरसुन्दरी'—यह इस मन्त्रका भावार्थ है। यह सब मन्त्रोंका मुकुटमणि है और पञ्चदशी 'कादि श्रीविद्या' के नामसे प्रसिद्ध है। देव्युपनिषद् 'उपनिषदङ्क' 'कल्याण' पृष्ठ ६४७।

५. सौन्दर्यलहरी (Saundarya Lahari) M/s Ganesh Co. Ltd. Madras द्वारा प्रकाशित संस्करण (सन् १९५७) पृष्ठ ६१-६२ (अंग्रेजी विभाग) पृष्ठ ४३, ४४, ४५ कैवल्याश्रम की संस्कृत टीका और पृष्ठ १४४से क्रमशः लक्ष्मीधरा और अरुणामोदिनी टीका।

इसके अनुसार काद्यको कालीमत, हाद्यको श्रीत्रिपुरामत और कहाद्यको तारिणीमत कहा गया है। इसी शक्तिसङ्गम-तन्त्रके सप्तम पटलमें इन तीनों सम्प्रदायोंकी दीक्षा और उनके उपासना-क्रमके विषयमें सविस्तर वर्णन किया गया है।[६]

प्रतिमा-निर्माणका रहस्य

(लेखक—अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य श्रीपुरुषोत्तमाचार्य रंगाचार्यजी महाराज)

इस अल्पकाय लेखमें 'प्रतिमा'निर्माणके निगूढ़तम रहस्योंका यथाशक्ति स्फुटरूपसे प्रतिपादन किया जा रहा है। मूर्ति, विग्रह, बिम्ब, प्रतिकृति, प्रतिरूप और शिल्प आदि 'प्रतिमा' शब्दके पर्याय हैं। वेदोंमें प्रायः प्रतिमाके लिये—'प्रतिमा' अथवा 'शिल्प' शब्दका प्रयोग होता है। ऐतरेय आदि वैदिक-ग्रन्थोंमें सूर्यको प्रजापतिकी प्रतिमा कहा है। इसका प्रयोग मन्त्रोंमें क्वचित् उपमा-अर्थमें भी होता है। उन स्थलोंमें **'अर्थः प्रकरणं लिङ्गम्'** न्यायसे अर्थविशेषका निर्णय करना प्रचलित है। दर्शन और पुराणोंमें 'प्रतिमा'के लिये 'लिङ्ग' शब्दका भी प्रयोग होता है। पुराणोंमें सूर्यको 'ज्योतिर्लिङ्ग' कहा है। 'सांख्य'दर्शनमें प्रकृति अथवा बुद्धिको 'लिङ्ग' कहा गया है। **'लीनमर्थं गमयति इति लिङ्गम्'** 'इस निरुक्तिसे प्रकृतिमें लीन परमात्मारूप (शिवरूप) अर्थका सूचन करनेसे वह लिङ्ग है, हेतु है।' तन्त्रोंमें बिम्ब, विग्रह आदि शब्दोंका 'प्रतिमा'के लिये प्रयोग होता है।

प्रतिमाका लक्षण

मनस्वियोंने प्रतिमाका लक्षण **'सदृशं शिल्पम्'** प्रतिमा किया है। किसी भी पदार्थके तदाकार (प्रतिरूप) शिल्प (कारीगरी) को 'प्रतिमा' कहते हैं। अश्व-सदृश शिल्प अश्वकी 'प्रतिमा' (मूर्ति) है। गज-सदृश आकार गजकी 'प्रतिमा' है। इसी प्रकार हिरण्यगर्भ (ईश्वर) सदृश शिल्प (शालग्रामशिला) भी हिरण्यगर्भकी 'प्रतिमा' है। जैसे आकाशमें हिरण्यगर्भ (प्रजापति) की स्थिति है, उसी प्रकार 'हिरण्यगर्भशिला' (शालग्रामशिला) की भी है। अतः यह शिला प्रजापतिके सौसादृश्यके कारण उसकी 'प्रतिमा' है और 'हिरण्यगर्भ' नामसे प्रसिद्ध भी।

निराकारकी प्रतिमा

प्रतिमा और प्रतिमेय-भाव इन्द्रियग्राह्य साकार और रूपवान् पदार्थतक ही सीमित हैं। अतीन्द्रिय निराकार और नीरूप पदार्थकी 'प्रतिमा' असम्भव है। परंतु अतीन्द्रिय-निराकार और नीरूप पदार्थके ज्ञान और उपासनाके निदानके शास्त्रसे **'गुण-क्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना'** के अनुसार प्रतिमाकी कल्पना की गयी है।

निदान-शास्त्र

निगम (वेद), आगम (तन्त्र-पुराण)—दोनोंमें 'निदान' विद्यासे पदे पदे व्यवहार है। इस व्यवहारके प्रवर्तकोंका

---

६. संदर्भग्रन्थसूची—(१) श्रीविद्यार्णवतन्त्र Shri Vidyarnava-Tantra Part 1. Edited by Ramchandra Kak and Hara Bhatta Shastri. Published by the gracious permission of H. H. Shri [HariSinghji Bahadur, Maharaja of Jammu and Kashmir in the year 1932. (२) हिंद-तत्त्वज्ञान नो इतिहास, उत्तरार्ध, लेखक—दिवान बहादुर श्रीनर्मदाशंकर-देवशंकर महेता, बी० ए०, प्रकाशक—गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी, अहमदाबाद (सन् १९२५)। (३) 'शाक्त सम्प्रदाय' ले० वे ही, प्रकाशक श्रीफार्बस गुजराती सभा, बम्बई। (४) 'सिद्धान्तसार' लेखक—प्रोफेसर श्रीमणिलाल-नभुभाई द्विवेदी प्रकाशन वर्ष १९१९। (५) 'कल्याण'का 'उपनिषदङ्क' विशेषाङ्क। (६) Saundarya Lahari, with three Sanskrit Commentaries and English translation and notes by Pandit R. Ananta Krishna Shastri and Shri Karra Ramamurthy Garu B. A. B. T., Publishers M/s Ganesh Co. Ltd. Madras year of Publication 1957. (७) शक्तिसङ्गमतन्त्रम्। प्रथमो भागः Published by Oriental Institute, Baroda, critically edited with a preface by Dr. B. Bhattacharya M. A., Ph. D. (८) 'ललितासहस्रनाम' सौभाग्यभास्करोपेतम् निर्णयसागर मुद्रणालय बम्बई। (९) अखण्डभूमण्डलाचार्य गोंडल-सौराष्ट्रस्थ श्रीभुवनेश्वरीपीठाधीश्वर पूज्य गुरुवर श्री १००८ श्रीचरणतीर्थजी महाराजके लेख।

'इति नैदानाः'के रूपमें 'निरुक्त' आदि ग्रन्थोंमें गौरवपूर्वक स्मरण किया गया है। दुःखके साथ कहना पड़ता है कि अनेक उपयोगी विद्या-कला-शास्त्रोंके साथ निदान-शास्त्र भी लुप्त हो गया है। इस शास्त्रके विस्मृत हो जानेसे ही परमोपयोगी अनेक पौराणिक आख्यान और उपासनाके लिये विहित प्रतिमा-विधान आज अज्ञोंके लिये असम्बद्ध और अनुपयुक्त-से प्रतीत होने लगे हैं।

कोशग्रन्थमें 'निदानं त्वादिकारणम्' से 'निदान' शब्दका आदिकारणता-रूप अर्थ प्रसिद्ध है। परंतु वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें व्यवहृत 'निदान' शब्दका अपना पारिभाषिक अर्थ है। वैदिक ग्रन्थोंमें निदान शब्दका प्रयोग 'संकेत-विद्या'में हुआ है। 'अमुक भौतिक पदार्थको अमुक तत्त्वका सूचक समझो'—यही निदान है।

तत्त्ववाद-परिशीलनपरायण विद्वानोंका आदेश है कि 'अहोरात्रवत् परस्पर असमान-धर्मा दो पदार्थोंका जिस संकेत-विद्यासे सम्बन्ध मान लिया जाता है, वही विद्या 'निदान विद्या' है। जिसे दार्शनिक भाषामें 'आहार्यारोप विद्या' कहते हैं। लोक-व्यवहारके अतिरिक्त शास्त्रीय व्यवहारोंमें विशेषतः यज्ञीय कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड एवं पौराणिक आख्यान-प्रकरणोंमें 'निदान विद्या'का विशेषतः उपयोग हुआ है।'

वेदमें निदान-विद्या

१—यजमानो वा एष निदानेन यद्यूपः। (शत०) यज्ञमें व्यवहृत काष्ठमय 'यूप' यजमानका 'निदान' है। अर्थात् संकेत-विद्यासे यूपको यजमान समझा गया है।

२—अग्निर्वा एष निदानेन यदाग्नीध्रः। 'आग्नीध्र' नामक ऋत्विक् अग्निका 'निदान' है।

३—वाग्वै सोमक्रयणी निदानेन।

सोमक्रयमें साधनभूता एक वर्षकी लाल रंगवाली बछिया वाणीका 'निदान' है।

४—'एतद्वै चतुर्होतॄणां निदानम्' इत्यादि शतशः स्थलोंमें 'निदान' शब्दके संकेत-भावात्मक आहार्यारोपात्मक अर्थका ही प्रतिपादन है। स्वयं मूलसंहितामें भी इसी अर्थमें 'निदान' शब्दका प्रयोग हुआ है।

'उदुस्रियाणामसृजन्निदानम्।' यहाँपर 'निदान' शब्दका 'संकेत-रूप' अर्थ ही ऋषिको अभिप्रेत है।

आगममें निदान-विद्या

'निदान' सम्बन्धी कतिपय निगम-शास्त्रीय उदाहरणोंका वर्णन किया गया है। अब कतिपय आगम-शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। कलाओं और विद्याओंका निदान 'शुक' पक्षी है। ज्ञानका निदान 'चन्द्रमा' है। शोक और अपकीर्तिका निदान 'काला' रंग है। क्रोधका निदान 'लाल' रंग है। कीर्ति और मोक्षका निदान 'सफेद' रंग है। लक्ष्मीका निदान 'हस्ती' है। विजयका निदान 'ध्वजा' है। राज्यका निदान 'छत्र' है। शासनका निदान 'दण्ड' है। पृथिवीका निदान 'पद्म' है। मोहका निदान 'सुरा' है तथा संहार-शक्तिका निदान 'मुण्डमाला' है।

निदान-विद्याकी व्यापकता

केवल वेद, पुराण और आगममें ही—'निदान-विद्या'का उपयोग है, अथवा हम आर्य ही 'निदान-विद्या' से व्यवहार करते हैं—ऐसी कल्पना अनुचित है। कारण कि विश्व-मानवोंके व्यवहारोंमें 'निदान-विद्या' से व्यवहारकी व्यापकता है। अमूर्तभावको समझानेके लिये मूर्तभाव (पदार्थ) का सहारा लेना अनिवार्य होता है। अमूर्त शोकभावको प्रकट करनेके लिये मूर्त 'काले' रंगके वस्त्रकी पट्टी बाँधना केतुमाल (यूरोप) देशमें भी प्रचलित है। हरा रंग शान्ति और लाल रंग आपत्तिका सूचक है। यह विश्वप्रसिद्ध है।

अमूर्तकी निदानसे मूर्तिकल्पना

अथर्ववेदके 'गोपथ' ब्राह्मणमें अमूर्त यज्ञ (विष्णु) की 'निदान-विद्या'से मूर्तिकल्पनाका उल्लेख इस रूपमें उपलब्ध है।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य॥
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यान् आविवेश॥

इस ऋचामें व्यवहृत निदान-भावोंकी व्याख्या स्वयं 'गोपथ'ने की है।

'चत्वारि शृङ्गा इति, वेदा वा एते उक्ताः त्रयो अस्य पादा इति। सवनानि एव। द्वे शीर्षे इति। ब्रह्मौदन प्रवर्ग्यावेव। सप्त हस्तासो अस्येति, छन्दांस्येव। त्रिधा बद्ध इति,

मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणम्। वृषभो रोरवीति इति, एष ह वै वृषभः एष। तद् रोरवीति। महो देवो मर्त्यान् आविवेश इति। एष ह वै महान् देवो यत् यज्ञ एष मर्त्यान् आविवेश।'

मन्त्रमें यज्ञमूर्ति अतएव नारायणमूर्ति सूर्यरूप यज्ञका वर्णन है। निगमात्मक सूर्य अग्नीषोम होनेसे 'यज्ञ' कहलाता है। यह चान्द्री नाडीके द्वारा रसवर्षण करता हुआ सम्पूर्ण प्रजाओंका पालन करता है; अतएव यह रसवर्षणात् 'वृषभ' है। इस महादेवरूप महाविष्णुके सूर्यपुरुषात्मक यज्ञपुरुषके महदुक्थ, महाव्रत पुरुष ब्रह्मरूप-तत्त्वात्मक ऋक्, साम, यजु और अथर्व ही चार सींग हैं। चार सींग चार वेदोंके निदान हैं। यज्ञीय प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और सायंसवन नामक तीन सवन ही त्रैलोक्यप्रतिष्ठात्मक तीन चरण हैं। 'ब्रह्मौदन' और 'प्रवर्ग्य' नामके दो मस्तक हैं। मन्त्र, कल्प और ब्राह्मणसे वह आवद्ध है, मर्यादित है। विष्णुकी यही दामोदरता है। गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती-नामक सात छन्दोंसे वह सात हाथवाला प्रमाणित हो रहा है। यहाँपर 'छन्दः' शब्दसे क्रान्तिवृत्तीय सप्त अश्वरूप सात अहोरात्रवृत्तोंका ग्रहण है। अहोरात्रवृत्तोंका 'छन्द' भी एक नाम है। उनको 'छन्द' इसलिये कहते हैं कि वृत्त भी वस्तुके आच्छादक (आकारसमर्पक) हैं। ऐसा यह 'यज्ञ-वृषभ' प्रचण्ड निनाद कर रहा है। यही महादेव मरणधर्मा प्राणियोंकी आत्मा है। इस प्रकार 'निदान-विद्या'से अमूर्तकी मूर्ति-कल्पनाका उद्गमस्थान वेद ही है।

मूर्ति-कल्पनामें व्यवस्था

'निदान-विद्या'से अमूर्तकी मूर्ति-कल्पना भी सहेतुक शृङ्खलासे आपाद-चूल आवद्ध है। देवताओंके विग्रह शुक्ल, नील, पीत, रक्त एवं कृष्ण आदि रंगभेदों; सौम्य मुख अथवा सौम्य दृष्टि, क्रूर-मुख अथवा क्रूर-दृष्टि आदि भावभेदों; एक-मुख, चतुर्मुख, पञ्चमुख, षण्मुख आदि मुख-संख्या-भेदों; द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज, दशभुज एवं शतभुज आदि भुजाभेदों; मुक्तामाला, अस्थिमाला, सुवर्णकुण्डल एवं सर्पकुण्डल आदि आभूषणभेदों; पीताम्बर, नीलाम्बर, शुक्लाम्बर, व्याघ्रचर्म एवं दिगम्बर आदि वस्त्रभेदों; सुपर्ण (गरुड़), हंस, वृषभ, मृग, अश्व, गज, मूषक एवं सर्प आदि वाहनभेदों; द्विनेत्र, त्रिनेत्रकी व्यवस्था आदि नेत्र-संख्याभेदों एवं शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, घण्टा, अंकुश, अग्नि, टंक, शूल, कृपाण, मृग एवं वज्र आदि आयुधभेदोंसे तथा सहेतुक और प्राकृत नियमोंसे आवद्ध हैं। इन भेदोंके सहेतुक रहस्यपूर्ण निदान-भावोंका 'तन्त्रराजतन्त्र' इस रूपमें वर्णन करता है—

क्षित्यादिभूतैः सत्त्वादिगुणैरेकैकसंहतैः।
एकद्व्यादिसमारब्धैर्वर्णाकारैस्तु शक्तयः॥
असंख्याता भवन्त्यासाम् ... ... ।
आसां मुखभुजादेहविधानं शृणु पार्वति॥

मुख-भुजा-संख्या

देवताओंके एकमुख, चतुर्मुख, पञ्चमुख एवं षण्मुख आदि मुख-संख्याभेदों; द्विभुज, चतुर्भुज, अष्टभुज एवं दशभुज आदि भुजासंख्याभेदोंका रहस्य 'तन्त्रराजतन्त्र'के टीकाकारने इस रूपमें कहा है—'भूतांशानां गुणांशानां समसंख्यागुणनात्, एकद्व्यादिदशदशांशगुणनाच्च संजातानामासां मुखभुजादिभेदः सम्भवति।'

अर्थात् 'सत्त्व, रज और तमरूप तीन गुणोंसे परस्पर पृथक्-पृथक् सम्बद्ध पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं आकाशरूप पञ्चमहाभूतोंमेंसे एक भूत अथवा दो भूतोंसे समारब्ध मूर्तियोंकी मुखसंख्या और भुजसंख्यामें नाना प्रकारके भेद हो जाते हैं।

पञ्चमुख-दशहस्त महादेव

'क्षित्यादिभूतैः' नियमके अनुसार आगममें महादेवकी पञ्चमुखी और दशहस्ता मूर्तिकी कल्पना इस रूपमें की गयी है—

मुक्तापीतपयोदमौक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
टङ्कं शूलकृपाणवज्रदहनान् नागेन्द्रघण्टाङ्कुशान्
पाशं भीतिहरं दधानममिताकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

पञ्चमुखोंके पीत, नील, शुक्ल आदि पाँच रंग, पञ्चमहाभूतोंकी शक्तियोंके उन्मेषके निदान हैं। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'का आदेश है कि 'महादेवके पाँच मुखोंमें पूर्वका मुख 'भूमि' है। भौमशक्तिके उन्मेषके कारण उसका रंग पीला है। इसका विशेष नाम 'महादेव' है। दक्षिणका मुख 'अग्नि' है। आग्नेय होनेसे इसका रंग लाल है। इसका विशेष नाम 'भैरव' है। पश्चिमका मुख 'वायु' है। वायव्यशक्तिके उन्मेषके कारण यह धूम्रवर्ण है। इसका विशेष नाम 'नन्दी' है। उत्तरका मुख 'जल' है,

आप्यशक्तिके उन्मेषके कारण यह शुक्ल है। इसका विशेष नाम 'औमेय' है। ऊर्ध्वमुख 'आकाश' है। आकाश-शक्तिके उन्मेषसे वह नीला है। उसका विशेष नाम 'सदाशिव' है। महादेवके सब मुखोंमें विद्यमान तीन नेत्र, सोम-सूर्य-अग्नि-रूप तीन प्रकाशोंके निदान हैं। पाँच मुखोंमेंसे उत्तरका 'औमेय' मुख द्विलोचन ही है। उसका नाम 'वामदेव' भी है। उसके द्विलोचन होनेका कारण यह है कि वह सौम्य है।

भुजा-संख्या

'प्रतिवक्त्रं भुजद्वयम्' नियमसे पञ्चमुख महादेवके दश-हस्त, दस प्रकारकी क्रियाशक्तियोंके निदान हैं। दश-हस्तोंमें विद्यमान दश-आयुधविशेष तत्तत्-शक्तियोंके निदान हैं। इनमें 'टंक' आग्नेय-तापका निदान है। 'शूल' वायव्य-तापका निदान है। 'वज्र' ऐन्द्र-तापका निदान है। 'पाश' वरुणसम्बन्धी रज्जुपाश (बन्धनशक्ति) का निदान है। 'खड्ग' चान्द्र हेतिका निदान है। 'अङ्कुश' दिव्य हेतिका निदान है। 'घण्टा' ध्वन्यात्मक शब्दका निदान है। 'नागेन्द्र' विषसंचारनाडीका निदान है। परम्परया संहारका निदान है। 'अग्निज्वाला' ज्योतिर्भावका निदान है। और 'अभयमुद्रा' शान्तिका निदान है।

देवताओंके भिन्न-भिन्न रंगोंका रहस्य

देवताओंके शुक्ल, नील एवं पीत आदि विभिन्न रंगोंका रहस्य 'तन्त्रराजतन्त्र'में इस रूपमें उपलब्ध है—

भौमाकाराः पीतवर्णाः सर्वाः स्तम्भनकारिकाः।
आप्याः सत्त्वगुणाः सर्वाः सिताकाराः समीरिताः॥
ताः सर्वा ज्ञानशान्तिश्रीकीर्तिसौभाग्यमुक्तिदाः।
आग्नेया राजसाः सर्वा लोहिताकारसंयुताः॥
वश्याकर्षणशान्तिश्रीसौभाग्यविजयप्रदाः।
वायुरूपा धूम्रवर्णाः सर्वा द्वेषादिकारिकाः॥
नाभसा नीलवर्णास्ता मारणोत्सादयोः स्मृताः॥

इन श्लोकोंमें देवताओंके देहगत पीत, शुक्ल, नील एवं लाल आदि रंगोंका रहस्य एवं उनके ध्यानका फल कहा गया है। पृथ्वी-तत्त्वप्रधान देवताओंका रंग पीला होता है। पीतवर्ण (पीला रंग) स्तम्भनकारक है। जलशक्तिप्रधान देवताओंका रंग शुक्ल होता है। शुक्ल रंग ज्ञान, शान्ति, श्री, कीर्ति, सौभाग्य और मुक्तिका दाता है। आग्नेय-शक्तिरूप देवताओंका रंग लाल होता है। रक्तवर्ण (लाल रंग) वश्य, आकर्षण, शान्ति, श्री, सौभाग्य और विजयका दाता है। वायुतत्त्वप्रधान देवताओंका वर्ण (रंग) धुँआ-सा होता है। धूम्ररंगके कार्य उच्चाटन आदि हैं। आकाश-तत्त्वप्रधान देवताओंका रंग नीला होता है। नीलवर्ण मारण और उत्सादन (उच्चाटन) आदि कार्य करता है।

गुणभेदसे मूर्तिभेद

एक ही देवताके गुणभेदसे होनेवाले निदान-भेदसे अनेक मूर्तिभेद और नामभेद हो जाते हैं। 'नारायणोपनिषद्'का आवेदन है कि एक ही अव्ययात्मा महादेवकी आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्रूप पाँच कलाएँ हैं। इन पाँच कलाओंके कारण एक ही महादेवकी कलाभेदसे निदान-भावोंके भेदसे पाँच मूर्तियाँ हो जाती हैं। इनमें आनन्दकलामय रूप 'मृत्युञ्जय शिव' हैं। विज्ञानकलामय रूप 'दक्षिणामूर्ति शिव' हैं। मनःकलामय रूप 'कामेश्वर शिव' हैं। प्राणकलामय रूप 'पशुपति शिव' हैं। इन्हींका नाम नीललोहित भी है। वाक्-कलामय रूप 'भूतेश' शिव हैं। इनमें 'मृत्युञ्जय शिव' और 'दक्षिणामूर्ति' शिवके ध्यान और उनके निदान-भावोंका वर्णन किया जाता है—

मृत्युञ्जयका ध्यान और उसके निदान-भाव

चन्द्रार्काग्निविलोचनं स्मितमुखं पद्मद्वयान्तःस्थितं
मुद्रापाशमृगाक्षसूत्रविलसत्पाणिं हिमांशुप्रभम्।
कोटीरेन्दुगलत्सुधाप्लुततनुं हारादिभूषोज्ज्वलं
कान्त्या विश्वविमोहनं पशुपतिं मृत्युञ्जयं भावयेत्॥
(शारदातिलक १८। १०८)

निदान-भाव—आनन्दकलाप्रधान मृत्युञ्जय भगवान् कमलपर विराजमान हैं। एक हाथमें माला है। दूसरेमें पुस्तक है। तीसरेमें अभयमुद्रा है। चौथेमें मृग (मुद्रा) है। 'कमल' आनन्दघना प्रतिष्ठात्मिका शक्तिका निदान है। 'माला' शब्द ब्रह्मात्मक स्फोटका निदान है। 'पुस्तक' ज्ञानका निदान है। 'अभयमुद्रा' परोरजा प्राणका निदान है, जो अभयरूप है। 'मृग' त्रयीविद्याका निदान है।

दक्षिणामूर्तिका ध्यान और निदान-भाव

व्याख्यामुद्राक्षमाले कलशसुलिखिते बाहुभिर्वामपादं
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहितापस्मृतिर्दुर्दमाधः।
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्टस्त्रिनेत्रः
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विबुधां शुद्धबुद्धिं शिवो नः॥

निदानभाव—त्रैलोक्यरूपी अश्वत्थ वृक्षके मूलमें ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं। मध्यमें विष्णु प्रतिष्ठित हैं। अन्तिम पर्वमें त्रिनेत्र महादेव प्रतिष्ठित हैं। 'द्युद्रुम' अश्वत्थ वृक्ष है। प्रकाशमय होनेसे वह ज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। हिरण्मय सौर-ब्रह्माण्डका निदान 'सौवर्ण योगपीठ' है। पृथिवीसे सम्बन्ध रखनेवाली वर्णलिपिमय अर्थात् व्यञ्जनात्मिका लिपिमय 'कमल' है। एकाकी शक्तिका निदान 'एक वक्त्र' है। सर्वकामसिद्धिका निदान 'वर-मुद्रा' है। 'व्याख्यामुद्रा' ज्ञानदातृत्वका निदान है। अखण्ड स्फोटका निदान 'अक्षमाला' है। 'कलश' ज्ञानामृतका निदान है। पदतलमें निहित 'अपस्मार' नामक असुर अज्ञानके अत्यन्ताभावका निदान है। 'तीन नेत्र' सोम, सौर और आग्नेयरूप तीन प्रकाशोंके निदान हैं। 'देहगत क्षीरांभता' (श्वैत्य) आत्मज्ञानप्रदा शक्तिका निदान है। दक्षिणा-मूर्तिके मौलि (मस्तक) में विराजमान 'चन्द्र' ज्ञानैश्वर्यका निदान है। कामेश्वर शिव, नीललोहित और भूतेश शिवके ध्यानों और ध्यानगत निदान-भावोंको आगम-ग्रन्थोंमें देखना आवश्यक है।

पाञ्चरात्र-आगम और मूर्ति-भेद

पाञ्चरात्र-तन्त्र (आगम) भी गुणभेद-जन्य निदान-भेदोंको मूर्ति-भेदका कारण मानता है। 'पाञ्चरात्र'की—'विष्णु-संहिता'का आवेदन है कि—

देवतेह परं ज्योतिरेक एव परः पुमान्।
स एव बहुधा लोके मायया भिद्यते स्वया॥
मूर्तयो वासुदेवाद्या धर्मज्ञानादिभेदतः।
चतस्रस्तस्य विज्ञेया वेदवर्णयुगाश्रयाः॥

अर्थात् परमज्योतिःस्वरूप परमात्मा एक ही देवता है, परंतु अपनी माया (शक्ति) से भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वे अपने धर्म, ज्ञान, विराग और ऐश्वर्यरूप चार गुणोंके भेदसे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भेदसे चार प्रकारोंमें अभिव्यक्त हो गये हैं। गुणोंसे भिन्न ये चार मूर्तियाँ भी उनकी इच्छा, ज्ञान एवं क्रियारूपा तीन शक्तियोंके भेदसे बारह प्रकारकी हो जाती हैं। इनके 'केशव' 'नारायण' आदि भेद प्रसिद्ध हैं। इच्छाशक्ति-प्रधान वासुदेव 'केशव' हैं। ज्ञानशक्ति-प्रधान वासुदेव 'नारायण' हैं। क्रियाशक्ति-प्रधान वासुदेव 'माधव' हैं। केशवादि द्वादश मूर्तियाँ ही संवत्सरके बारह मास हैं। इन शक्तियोंका परस्पर मनन ही प्रसिद्ध 'द्वादशाक्षर मन्त्र' है। ये ही शक्तियाँ अन्य शक्तियोंके संभेदसे (चौबीस) हो जाती हैं।

इच्छाज्ञानक्रियाभेदात् तिस्रो वै तस्य शक्तयः॥
यःभिर्द्वादशधा भिन्नाश्चतस्रस्तस्य शक्तयः।
चतुर्मूर्तिः परः प्रोक्त एकैको भिद्यते त्रिधा।
केशवादिप्रभेदेन मूर्तिद्वादशकं स्मृतम्॥
(हयशीर्षपाञ्चरात्र)

'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' भी गुणभेदजन्य निदान-भेदोंको मूर्ति-भेदका कारण मानता है। इस विषयमें उसका आवेदन है—

बलं ज्ञानं तथैश्वर्यं शक्तिश्च यदुनन्दन।
विज्ञेयं देवदेवस्य तस्य वक्त्रचतुष्टयम्॥
वासुदेवश्च भगवान् तथा संकर्षणः प्रभुः।
प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च बलाद्याः परिकीर्तिताः॥
सौम्यं तु वदनं पूर्वं नारसिंहं तु दक्षिणम्।
कापिलं पश्चिमं वक्त्रं तथा वाराहमुत्तरम्॥
द्वौ द्वौ भुजौ तु विज्ञेयौ प्रतिवक्त्रं महात्मनः।

अर्थात्—बल, ज्ञान, ऐश्वर्य एवं शक्ति—ये चार गुण ही देवदेव विष्णुके चार मुख हैं। अर्थात् चार मुख चार गुणोंके संकेत हैं। ब्रह्माके चार मुख चार वेदोंके निदान (संकेत) हैं। महादेवके पाँच मुख पाँच भौतिक शक्तियोंके निदान हैं। पूर्वका मुख 'सौम्य' है, अर्थात् सोमगुण-प्रधान है। दक्षिणका मुख 'नारसिंह' है, अर्थात् सिंह-मुखवत् है। निदान-शास्त्रमें सिंहका मुख 'ज्ञान' का निदान माना गया है। नरसिंह ज्ञानरूप हैं। शिवकी 'विज्ञान-कला' दक्षिणा-मूर्ति एवं विष्णुकी ज्ञान-कला 'नरसिंहमूर्ति' दोनों एक ही हैं। दोनों दक्षिणमें हैं। दोनों ज्ञानरूप हैं। दोनों संहारक होनेसे 'भैरव' हैं। पश्चिम मुख 'कापिल' है। अर्थात् ऐश्वर्यरूप है। यहाँपर ऐश्वर्यका अर्थ 'वैराग्य' है। उत्तर मुख 'वाराह' है अर्थात् शक्तिरूप है। निदान-शास्त्र वैराग्यका निदान 'कपिल' रंगको मानता है। 'वराह-मुख' शक्तिका निदान है। 'अश्वका मुख' आकर्षणका निदान है। अतः ज्ञानाकर्षणके लिये 'विश्वेशमश्वाननम्' से 'हयग्रीव'का ध्यान विहित है।

आयुधोंके नाम और निदान

'प्रतिवक्त्रं भुजद्वयम्' के सिद्धान्तसे—चतुर्मुखी मूर्तिके

आठ हाथ होते हैं। देवदेव विष्णुके आठ हाथ, चार दिशा और चार विदिशा शक्तियोंके निदान हैं। अष्ट-भुजाओंमें आठ आयुध हैं, जो तत्-तत्-शक्ति-विशेषोंके निदान हैं।

'वासुदेव'के हाथोंमें विद्यमान सूर्य और चन्द्रमा प्रकृति और पुरुषके निदान (संकेत) हैं। 'संकर्षण' के दो हाथोंमें विद्यमान 'हल' और 'मुसल'रूप आयुध 'काल' और 'मृत्यु'के निदान हैं—

'ताभ्यां संकर्षणो रुद्रः कर्षतीदं चराचरम्।'

'प्रद्युम्न' देवके हाथोंमें 'चाप' और 'बाण'रूप आयुध हैं। ये दोनों वह्निरूप शार्ङ्गधनुषरूपी 'सांख्य' और 'योग'के निदान हैं। इन दोनोंसे योगी परम लक्ष्य—ध्येयका वेध करते हैं। 'अनिरुद्ध'के हाथोंमें 'ढाल' और 'तलवार' रूप आयुध हैं। ये दोनों 'अज्ञान आवरण और वैराग्य' के निदान हैं। अभियुक्तोंका इस विषयमें आदेश है कि—

'वैराग्यं नन्दकं खड्गं छित्त्वा वै तेन बन्धनम्।
नन्दन्ति योगिनो यस्मात्तस्मात्तन्नन्दकं स्मृतम्॥

सामान्य निदान—

'वासुदेव' आदि विशेष रूपोंसे सम्बन्ध रखनेवाले निदान-भावोंकी अनुपदमें चर्चा की गयी है। अब भगवान् विष्णु-सम्बन्धी सामान्य निदान-भावोंका वर्णन किया जाता है। देवाधिदेव विष्णुका श्याम रंग उनके विश्वान्तर्यामित्वका सूचक है। भगवान्‌के दो रूप हैं—'विश्वातीत' और 'विश्वान्तर्गत'। इनमें विश्वातीतका रंग शुक्ल है। विश्वान्तर्गतका रूप श्याम है। परमात्मा श्यामरूपसे संसारका पालन करते हैं। विश्वका रूप काला है। विश्व उनका शरीर है। अतः वे 'आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः' होते हुए भी 'घनश्याम' हैं। 'कौस्तुभमणि' ज्ञानका निदान है। 'वनमाला' प्रकृतिका निदान है। 'पीताम्बर' संसार-परिपालिनी अविद्याका निदान है। विद्या-का रूप शुक्ल है। अज्ञानका रंग काला है। अज्ञान और विद्यासे उत्पन्न अविद्याका रूप कनक-जैसा पीत है। 'गरुड़' मनका निदान है। 'शारदातिलक'ने गरुड़को विश्वप्राणका निदान माना है। इसके विषयमें अभियुक्तोंका कहना है—

'तस्माच्छीघ्रतरं नास्ति ततश्च बलवत्तरम्।'

'शेष' अव्यक्तका निदान है। उनकी अनन्त 'फणावलि' अनन्त कामोदयोंका निदान है। इसके विषयमें 'मार्कण्डेय' महर्षिका आवेदन है—'फणावलिस्तस्य तु या प्रतिष्ठिता कामास्तु ते यादववंशमुख्य।' यहाँपर 'काम' शब्द बलरूप 'कर्मका' प्रतिपादक है। उस ज्ञानरूप अव्यक्त शेषमें बलरूप अनन्त कामों (कर्मों) का उदय-अस्त होता रहता है।

एतद्धि तस्याप्रतिमस्य रूपं
तवेरितं सर्वजगन्मयस्य।
एवं शरीरेण जगत्समग्रं
बिभर्ति देवः स जगत्प्रधानः॥

'इस प्रकार उस अरूपके रूप (प्रतिमा) का निर्माण निदान-शास्त्रके आधारपर किया गया है। इस शरीरसे वह समस्त जगत्‌की रक्षा और उसका धारण करता है।'

सत्पुरुषोंके गुण

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहिता
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयिता चित्तेऽतिगम्भीरता।
आचारे शुचिता गुणे रसिकता शास्त्रेऽतिविज्ञानिता
रूपे सुन्दरता हरौ भजनिता सत्स्वेव संदृश्यते॥

धर्ममें तत्परता, वाणीमें मधुरता, दानमें उत्साह, मित्रोंसे निष्कपटता, गुरुजनोंके प्रति नम्रता, चित्तमें गम्भीरता, आचारमें पवित्रता, गुणग्रहणमें रसिकता, शास्त्रमें विद्वत्ता, रूपमें सुन्दरता और हरिभजनमें लगन—ये सब गुण सत्पुरुषोंमें ही देखे जाते हैं।

पूर्णाहंता-विमर्श

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी कौल)

या काचिद् वै क्वचिदपि दशा किञ्चिदभ्यासपूरा-
दानन्दाख्या भवभयहरा स्यात् सुभक्तस्य सद्यः ।
सिद्धिः सैषा सुरपितृनृणां यस्य भक्त्या भवेन्नु
तं स्वात्मानं विभववपुषं सद्गुरुं वै प्रपद्ये ॥

'कहीं किसी दीर्घकालतक निरन्तर चलनेवाले धारावाहिक अभ्याससे किसी श्रेष्ठ भक्तको जो तत्काल कोई अनिर्वचनीय, भवभयहारिणी आनन्दावस्था प्राप्त हो जाती है, वही उसकी सिद्धि है। देवताओं, पितरों तथा मनुष्योंको यह उत्कृष्ट सिद्धि, जिनकी भक्ति (सेवा-पूजा) से उपलब्ध होती है, उन ज्ञानादि ऐश्वर्यमय शरीरवाले निजात्म-स्वरूप सद्गुरुकी मैं शरण लेता हूँ।'

पूर्णाहंताका जो विचार है, उसका वर्णन अत्यन्त दुष्कर है; क्योंकि पूर्णाहंता एक ऐसी अकथनीय अवस्था है, जिसमें एकमात्र अपनी अनुभूति ही प्रमाण होती है। इसलिये उसका अनुसंधान या विमर्श किसी मोक्षाभिलाषी यतिके ही अनुमानका विषय है। तथापि स्वान्तःसुख एवं विद्वज्जन-परितोषके लिये इस विषयपर कुछ कहने या प्रकाश डालनेका साहस किया जा रहा है।

अहंताका स्वरूप—अहंता दो प्रकारकी है—उनमेंसे एकका परिचय यों है—अनुलोम प्रकृति[1] स्वयं ही निमित्त एवं उपादान कारण बनकर जिस दृश्य-प्रपञ्चका निर्माण करती है, उसमें जीवकी जाग्रत्-अवस्थामें स्थूल शरीरतकको आधार बनाकर यह 'मैं', यह 'मेरा' इस रूपमें जो संकल्प-विकल्पात्मक अहंता प्रकट होती है—यह एक प्रकारकी अहंता है। यह जीवकी अज्ञानावस्था है; क्योंकि इससे द्वैत बुद्धि ही दृढ़ताको प्राप्त होती है। इस अवस्थामें जीव आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक—इन त्रिविध तापोंसे युक्त संसारमें विविध प्रकारकी यातनाओंमें पड़कर पीड़ित होता है और मोहिनी मायासे अभिभूत होकर जन्म-मरण आदि दुःखोंका ही अनुभव करता है।

दूसरे प्रकारकी अहंता यह है—साधनचतुष्टयके[1] अनन्तर 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।'—इस योग-सूत्रके अनुसार 'ऋतम्भरा प्रज्ञा'की उत्पत्ति होती है। उसकी अभिवृद्धिसे ही परमार्थ-पथमें विचरण करते हुए साधकको जो 'ऋतम्भरा प्रज्ञा'के नामसे वर्णित तत्त्वदर्शिनी बुद्धि प्राप्त होती है, उससे स्थूलका सूक्ष्ममें, सूक्ष्मका सूक्ष्मतरमें इत्यादि विलोमक्रमसे समस्त प्रपञ्चका अपने-अपने कारणोंमें प्रविलीनीकरणकी प्रक्रियाके अभ्याससे शून्य-महाशून्य आदि भावकी प्राप्तिसे प्रथम तो द्वैतरूप अन्धकारका लय कर देना ही जिसका स्वरूप है, वह अहंता प्रकट होती है; फिर अपरोक्ष स्वात्म-साक्षात्कारके चमत्काररूप रसकी आस्वादनस्वरूपा सकल-कलुषकल्मषनाशिनी शिवस्वरूपकी उपलब्धिरूपा अहंता आविर्भूत होती है, जो ज्ञानके प्रकाशसे समस्त कल्मषरूप अन्धकारका नाश कर देती है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(६। २०—२२)

'जिस अवस्थामें योगके अभ्याससे निरुद्धचित्त उपरत हो जाता है और जिस अवस्थामें (परमेश्वरके ध्यानसे) शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा परमात्माका साक्षात् करता हुआ योगी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट होता है; इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी भगवत्स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है। परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको पाकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है और

१. महत्तत्त्व, अहंकार आदिके क्रमसे विकृत होनेवाली।

१. (क) नित्य-अनित्य वस्तुका विचार, (ख) इस लोक एवं परलोकके फल-भोगमें वैराग्य, (ग) शम-दम आदि षट्सम्पत्ति, (घ) मोक्षकी इच्छा—ये 'साधनचतुष्टय' कहे गये हैं।

भगवत्प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी महान्‌से महान् दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है ।'

उक्त स्थितिमें शक्तिपात या ईश्वरानुग्रहकी उपलब्धि ही मुख्य कारण है; क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना ।
महद्भयपरित्राणा विप्राणामुपजायते ॥
(अवधूतगीता)

'महान् भयसे बचानेवाली अद्वैतवासना ईश्वरकी कृपासे ही ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंके (हृदयमें) उत्पन्न होती है ।'

और भी कहा है—

'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ।'
(कठोपनिषद् १ । २ । २२)

'यह साधक जिस आत्माका वरण करता है, उससे ही यह प्राप्त किया जा सकता है । उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूपको निरावृत रूपसे अभिव्यक्त कर देता'

भगवद्दर्शनमें अनुप्रवेश करके भी जो साधक उसमें संशयापन्न होते हैं, उनपर अनर्गल शक्तिपात भी नहीं हो पाता है—अनिवार्यरूपसे बरसनेवाली भगवत्कृपा भी नहीं आ पाती है ।

जैसा कि शैवतन्त्रमें कहा गया है—

ये यौष्माके शासनमार्गे कृतदीक्षाः
संगच्छन्ते मोहवशाद्विप्रतिपत्तिम् ।
नूनं तेषां नास्ति भवद्धानुनियोगः
संकोचः किं सूर्यकरैस्तामरसानाम् ॥

'जो आपके शैवतन्त्रकी दीक्षा ग्रहण करके भी मोहवश संशयको प्राप्त हुए हैं, निश्चय ही उनपर आपकी कृपा-किरण नहीं पड़ती है। भला सूर्यकी किरणोंसे कभी कमलोंका संकोच होना सम्भव है ? कदापि नहीं ! आपकी कृपा-किरण पड़नेपर क्या कभी मोहान्धकार रह सकता है ?'

इससे स्पष्ट है कि उनपर परमेश्वरका शक्तिपात (अनुग्रह) विघ्नसे उपहत होनेके कारण मन्दतर ही होता है, तीव्र नहीं होता ।

अतः जो ईश्वरके अनुग्रहसे गृहीत हैं, प्राणरूपी दिनके उदयस्थानीय पूरक तथा अपानरूपिणी रात्रिके संहारस्थानीय रेचक प्राणायामोंके प्रशमनात्मक अभ्यासमें अधिरूढ़ हैं तथा समानवायुरूपिणी सन्ध्याके स्थितिस्थानीय कुम्भक प्राणायामके भावमें स्थित हैं, 'न दृश्योऽस्तीत्येकक: स्थितः' (उसके समक्ष दृश्यजगत्‌का अभाव हो गया है, इसलिये वह अकेला ही स्थित है) ।', 'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।' जब वह न तो इन्द्रियोंके विषयोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है ।' 'सर्वसंकल्पसंन्यासी' (गीता) तब सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग देनेवाला वह साधक योगारूढ़ कहलाता है । इत्यादि शास्त्रवचनोंद्वारा जिनकी ओर संकेत किया जाता है तथा जो आगेके मार्गोंको प्रकाशित करनेमें तत्पर लोकोत्तर योगी हैं, वे ही पूर्णाहंताके अवगाहनमें समर्थ हैं ।

यह अवस्था ही अस्मिता (अहंभाव) के समावेशका अभ्यास है । 'इदं सर्वं यदयमात्मा ।' 'यह सब जो कुछ है, यह आत्मा ही है ।' 'शिव एव गृहीतपशुभावः ।' 'जीवके रूपमें शिवने ही पशुभावको ग्रहण कर रक्खा है ।' क्रमशः इन श्रुतियों एवं काश्मीर-शैवमतकी उक्तिके अनुसार जब ज्ञानीजन—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥
(गीता ४ । २४)

अर्थात् 'अर्पण (स्रुवादिक) ब्रह्म है । हवनीय द्रव्य भी ब्रह्म है । ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा जो हवन किया गया है, वह भी ब्रह्म ही है । इसलिये ब्रह्मरूप कर्ममें समाधिस्थ पुरुषके द्वारा जो प्राप्य है; वह भी ब्रह्म ही है ।'

इस गीतोक्त वचनके अनुसार अपरोक्ष दृष्टिसे सब ब्रह्म ही है —ऐसा दर्शन करके नित्यनैमित्तिक आदि समस्त कर्मोंको सर्वात्मा ब्रह्ममें ही संन्यस्त कर देते हैं । 'सब ब्रह्म ही है'—इस भावसे सबको ब्रह्ममें विलीन कर देते हैं, जैसा कि निम्नाङ्कित वचनसे सिद्ध होता है—

यथा जलं जले क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः ॥
(उत्तरगीता २ । २)

'जिस प्रकार जलमें जल, दुग्धमें दुग्ध एवं घृतमें घृत डालनेसे उसमें कोई अन्तर नहीं रह जाता, सब समान हो जाते हैं, वैसे ही जीवात्मा जब परमात्मासे मिलता है, तब उनमें कोई अन्तर नहीं रहता है ।'

तभी उन ज्ञानियोंकी 'पूर्णाहंता' सिद्ध होती है, जिसका निर्देश इस प्रकार किया गया है कि वह 'अहंता' एकमात्र 'अपरोक्ष आत्मानुभवरूप' है। बुद्धिकी वृत्तियोंद्वारा उसे जानना असम्भव है। वह स्वप्रकाशरूपा है तथा शुद्ध प्रकाश-विमर्श सामरस्य-स्वभावा है। उस समय वाणीसे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता और वे ज्ञानीजन तभी शुद्ध संविन्मात्र ब्रह्मके साथ ऐक्यभावको प्राप्त होते हैं।

यह पूर्णाहंता पूर्वोक्त अस्मिता-समावेश-रसके अनवरत अभ्याससे दृढ़ होती हुई परमात्मरूप प्रमाताके साथ एकता-पादन कराती है। यह एकतापादन ही इसका रूप है। सजातीय शुद्ध संवित्‌का प्रवाह ही इसके स्वरूपका परिचायक धर्म है। समस्त विजातीय प्रतीतियोंके समुदायको अपना ग्रास बना लेनेके कार्यमें यह सतत संलग्न रहती है तथा तैलधारा-वत् निरन्तर अविच्छिन्न एवं दृढ़ अभ्यासके बाद ही यह पूर्णतः हृदयंगम होती है। उस समय प्रमेयत्वविषयक मलका पूर्णतः विलय कर देनेके कारण कोई द्रष्टव्य या दृश्यपदार्थ नहीं रह जाता; अतः सांख्ययोग-सम्मत साक्षिभाव (द्रष्टापन) का भी सर्वथा शमन हो जाता है। तब निष्कल, परिच्छेदशून्य, शिवात्मभावके बोधजन्य चमत्कारसे परिपूर्ण, अपनी ऐश्वर्यराशि एवं आनन्दसिन्धुकी तरङ्गोंसे व्याप्त होनेके कारण सतत घूर्णमान शुद्ध संवित्-तेज ही शेष रहता है। जैसा कि आत्मोपनिषद् (३१) में कहा गया है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

'न तो किसीकी उत्पत्ति होती है, न मृत्यु; न कोई बद्ध है न साधक; न कोई मुमुक्षु है, न मुक्त—यही पारमार्थिक स्थिति है।'

और भी—

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥
(शैवदर्शन)

''लक्ष्य भीतर हो और दृष्टि बाहर, उस दृष्टिकी पलक न उठती हो, न गिरती हो। ऐसी स्थिति हो तो उसे 'शाम्भवी मुद्रा' कहते हैं। वह सब तन्त्रोंमें गोपनीय है।''

आगम-शास्त्रोंमें भी ऐसा ही कहा गया है—

शिवनभसि विगलिताक्षः कौण्डल्युन्मेषविकसितानन्दः।
प्रज्वालितसकलरन्ध्रः कामिन्या हृदयकुहरमधिरूढः॥
योगी शून्य इवास्ते तस्य स्वयमेव योगिनीहृदयम्।
हृदयनभोमण्डलगं समुच्चरत्यनलकोटिशतदीप्तम्॥
(तन्त्रालोक-काश्मीरशैवदर्शन)

'शिवाकाशमें जिस योगीके नेत्र निमेष-उन्मेष-व्यापार-रहित हो जानेसे बाह्यदर्शनकी शक्तिसे शून्य हो गये हैं और कुण्डलिनीके जागरणसे आनन्द पराकाष्ठाको पहुँच चुका है तथा शरीरके सारे रन्ध्र (छिद्र) प्रज्वलित (प्रकाशित) हो उठे हैं—वह योगी कामिनीकी हृदयगुहामें अधिरूढ होकर शून्यकी तरह चुपचाप बैठा रहता है। उसके हृदयरूप आकाशमण्डलके अन्तर्गत कोटिशत अनलके समान प्रकाश-मान जो हृदयपुण्डरीक है, उसपर योगिनी (कुण्डलिनी) स्वयं आरोहण करके ऊपरकी ओर जाती है। यही अस्मितासे अहंताकी विलक्षणता दिखायी गयी है।'

मनको शिक्षा

सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरि-पद-बिमुख लह्यो न काहु सुख, सठ! यह समुझ सबेरो॥ १॥
बिछुरे ससि-रबि मन-नैननितें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत श्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो॥ २॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित, बहिबो ताहू केरो॥ ३॥
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, श्रुति संदेहु निबेरो।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि, होहु रामको चेरो॥ ४॥
—तुलसीदासजी

अनुपाय आदि चतुष्टयका दिग्दर्शन

(लेखक—श्रीसंमुख ब्रह्मचारीजी, वेदान्ताचार्य)

ॐ श्रीचिन्नाथचरणारविन्द-रेणुओंको नमस्कार है। जो अनुकूल रूपसे अनुभवमें आता है, उसका नाम सुख है तथा जो प्रतिकूलतया प्रतीतिका विषय होता है, वह दुःख है। प्रतिकूल-वेदनीयता (अप्रिय अनुभूति) के कारण जिसकी सत्ताका ज्ञान होता है, ऐसे दुःखरूपी शूलसे बारंबार आहत होनेवाले संसारी जीवसमुदाय उस दुःखके निवारणके लिये स्वभावतः प्रयत्नपूर्वक साधनपथके पथिक हो रहे हैं; परंतु किसी विरले ही सत्पुरुषप्रवरके विशुद्ध अन्तःकरणमें उस दुःखके निराकरणकी आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक इच्छा जागरूक होती है। ऐसी सदिच्छाके जागरणमें परमेश्वरका अनुग्रह ही मूल कारण है। श्रीपरमेश्वरकी अनुग्रह-शक्ति ही उसे स्वरूपकी प्राप्ति करानेमें परम सहायक है। जैसा कि कहा गया है—

न नरो मोक्षमाप्नोति स्वसामर्थ्यात् कदाचन।
विनानुग्रहं देवस्य शिवस्य परमात्मनः।
तदाऽऽत्मज्ञानसम्पत्तिं ददात्यानन्दवारिधिः॥

'मनुष्य स्वयंप्रकाश परमात्मा शिवकी कृपाके बिना केवल अपनी सामर्थ्यसे कदापि मोक्ष नहीं पाता है। उस समय आनन्दमहासागर शिव स्वयं आत्मज्ञान-सम्पत्ति प्रदान करते हैं।'

यद्यपि आत्मा निर्विकल्प, स्वातन्त्र्यप्रकाशघन शिवरूप ही है, तथापि श्रीपरमेश्वर शिव ही (करने, न करने, एवं अन्यथा करनेमें) स्वतन्त्र होनेके कारण जब अपने संकुचित स्वरूपको उपादान प्रदान करते हैं, अर्थात् जब स्वयं ही स्वेच्छासे संकुचित रूपमें प्रकट होते हैं, तब वे ही व्यवहार-दशामें 'जीव' कहलाते हैं। परमेश्वर शिवमें जो इच्छा, ज्ञान, बल एवं क्रिया नामक स्वाभाविक शक्तियाँ हैं, वे ही संकोचावस्थाका अभिनय करने लगती हैं। जब आत्मा मलिन विकल्पमालाका संस्कार करता है, तब उसे स्वीय रूपका सम्यग् ज्ञान या साक्षात्कार होता है; साथ ही उसका स्वरूपभूत ऐश्वर्य भी प्रस्फुटित हो उठता है। परंतु जिन्होंने विकल्पमालाओंका संस्कार नहीं किया है, उन जीवात्माओंकी स्थिति विभिन्न रूपसे ही होती है। अतः शास्त्रधारा भी सर्वसाधारणकी एक ही साधन-सृति नहीं हो सकती। इसीलिये शास्त्रमें विभिन्न प्रकारकी साधन-प्रणालीका वर्णन मिलता है। जो आत्मा विशिष्ट अधिकारसे सम्पन्न हैं, उनमें भगवान्की सुदृढ अनुग्रहशक्तिका पात हुआ है तथा वे उस शक्तिपातसे पवित्र हुए महापुरुषोंकी श्रेणीमें आते हैं। उनको कोई उपाय या साधन किये बिना ही परमेश्वर-समावेश प्राप्त होता है। उनका वह परमेश्वर-समावेश उपाय-साध्य न होनेसे 'अनुपाय' कहलाता है। उन्हें आन्तर गुरुराजकी कृपासे स्वतः ही विवेक प्राप्त (प्रादुर्भूत) होता है। उसका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

अपने स्वरूपभूत जो स्वातन्त्र्यमय शिव हैं, उनका उपाय-समुदाय स्पर्श भी नहीं कर सकते; क्योंकि शिव सबके नित्य-सिद्ध स्वरूप हैं, अतः स्वरूपलाभांशमें उन उपायोंका कोई प्रयोजन नहीं है। यदि कहें, स्वरूपज्ञानांश-में उनका उपयोग होनेसे वे सप्रयोजन माने जा सकते हैं, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि शिव स्वयंप्रकाश हैं, उन उपायोंसे प्रकाश्य नहीं हैं; अतः ज्ञप्त्यंश (स्वरूपज्ञानांश) में भी उनका कोई प्रयोजन नहीं है। यदि कहें, उन उपायोंके अवलम्बनसे शिवमें अनुप्रवेश सम्भव होगा तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि शिव निरावरण हैं—किसी आवरणसे आवृत नहीं हैं तथा उनसे भिन्न कोई अनुप्रवेष्टा (उनमें प्रवेश करनेवाला) भी नहीं है। इस कारण तदनुप्रवेशांशमें भी वे उपायसमूह निष्प्रयोजन ही हैं। इसलिये "जो तत्त्व और कालसे अनाकलित (अतीत), देशसे अपरिच्छिन्न, उपाधियोंसे अम्लान, मूर्ति (देह)से अनियन्त्रित, शब्दराशिके अविषय, प्रमाणप्रपञ्चकी पहुँच-से परे, कालादि प्रमाणपर्यन्त तत्त्वको स्वेच्छासे ही स्वरूपसत्ता देनेमें सर्वथा स्वतन्त्र तथा चिन्मात्र आनन्दघन-स्वरूप शिव हैं, वही 'मैं' हूँ। मुझ अस्मत्पदार्थमें ही समग्र विश्व प्रतिबिम्बित है।"—इस रीतिसे सुदृढ विवेकका उदय होनेपर महापुरुषोंका शाश्वतिक परमेश्वर-समावेश निरुपाय ही होता है (उपाय-साध्य नहीं)। ऐसे महापुरुषोंपर पूजा, ध्यान, चर्या आदिका कोई नियन्त्रण नहीं है। जैसा कि निम्नाङ्कित श्लोकमें कहा गया है—

तत्र तावत् क्रियायोगो नैवोपायत्वमर्हति।
एषां मन्त्रो न च ध्यानं न पूजा नापि कल्पना॥

यहाँ 'अनुपाय' शब्द अल्पोपायका वाचक है। जैसे 'अनुदरा कन्या' का यह अर्थ नहीं होता कि 'इस कन्या-के उदरका अभाव है। उसका यही अभिप्राय है कि कन्याका उदर अल्पमात्र है—वह कृशोदरी है। इसी तरह अनुपाय-का यह अर्थ नहीं कि उपायका अत्यन्त अभाव है। उसका तात्पर्य इतना ही है कि उपायका सामान्य जीवोंके लिये किञ्चिन्मात्र उपयोग होनेसे वे अल्पमात्र हैं—पूर्णतः अभीष्ट साधनमें समर्थ नहीं हैं। पूर्वोक्त महापुरुषोंसे भिन्न जो निम्नस्तरके जीव हैं, जो उन महापुरुषोंकी भाँति अखण्डमण्डलरूप महाप्रकाश शिवमें स्वतः प्रवेश नहीं कर पाते हैं, वे आत्मस्वरूपसे अभिन्न जो परमेश्वरकी स्वातन्त्र्य-शक्ति है, उसका उपायरूपसे आश्रय ग्रहण करते हैं। फिर तो वे भी अनायास ही स्वात्मरूपमें प्रवेश पाते हैं और विधि-निषेधके नियन्त्रणसे परे हो जाते हैं। पूजा, ध्यान, चर्या आदिका नियन्त्रण उनपर भी लागू नहीं होता है। उनके अन्तस्तलमें भी इस प्रकारका विवेक उदित होता है कि "श्रीपरमेश्वरसे अभिन्न जो 'स्वातन्त्र्य' नामक उनकी शक्ति है, इसीके द्वारा समग्र भाव-समूह बोध-गगनमें प्रतिबिम्ब-रूपसे प्रस्फुटित होते रहते हैं।" यहाँ प्रश्न होता है कि प्रति-बिम्ब तो बिम्बका होता है। यहाँ बिम्ब क्या है? तो इसका उत्तर यह है कि परमेश्वरमें जो स्वतन्त्रता है—करने, न करने और अन्यथा करनेकी स्वरूपभूता शक्ति है, उसीके कारण उस प्रतिबिम्ब-दर्शनमें बिम्बकी अपेक्षा भी नहीं होती है; बिना बिम्बके ही प्रतिबिम्ब प्रस्फुटित होता है। यदि कहें, तब उसे 'प्रतिबिम्ब' क्यों कहा जाता है? तो इसका उत्तर यह है कि उक्त प्रस्फुटित वर्णकी पृथक् सत्ता उपलब्ध न होनेसे वह प्रतिबिम्बात्मक ही है। इसीलिये परमेश्वरको विश्वमय कहा जाता है। यह जो परमेश्वरकी विश्वरूपता है, इसका सदा आमर्शन होता रहता है; क्योंकि वह चिन्मय है। यदि स्व-स्वरूपका आमर्शन न हो, तो घट आदिकी भाँति उसमें जडताकी प्रसक्ति होगी।

यह आमर्शन चित्तत्त्वभावना मात्र तथा नान्तरीयक परनाद-गर्भ है। अर्थात् इस आमर्शनका जो मूल है, वह परनाद-रूप है। इसीको 'परा वाक्' भी कहते हैं। स्वर-स्वरूप परामर्शका नाम 'बीज' है। उससे प्रकट हुई व्यञ्जना 'योनि' कही गयी है। यह सारा परामर्श शक्तिस्वरूप ही है। माया तथा मायातीत राज्यमें इन परामर्शोंकी कार्यकारिता है। शिवात्मामें समष्टिरूपा 'परावाक्' कही गयी है। शुद्ध विद्याके विभागमें ये परामर्श किञ्चित् संकुचितरूपमें प्रकाशित होते हैं। मायिकदशामें तो ये वर्णरूपसे ही अपने-को प्रकाशित करते हैं। इन्हींका पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी वाक्के रूपमें व्यवहार होता है। ये ही वाह्यरूपसे आविर्भूत होकर तत्त्वरूपमें प्रस्फुटित होते हैं। मायिक दशामें जिन वर्णोंकी चर्चा की गयी है, उनका जीवन शुद्ध परामर्श ही है। अर्थात् इन परामर्शोंसे उज्जीवित होकर वे वर्ण कार्यक्षम होते हैं, अन्यथा शवकी भाँति अकिञ्चित्कर हो जायँ। ये वर्ण जब वीर्यसम्पन्न होते हैं, तब भोग और मोक्षको देनेवाले हो जाते हैं। जो पुरुष स्वात्म-साक्षात्कार करते समय यह देख पाते हैं कि वे वर्ण ही समस्त परामर्श-शक्तियोंके विश्रामधाम हैं, उन्हींमें सब तत्त्व भुवन आदि प्रतिबिम्बवत् रहते हैं। वे अनायास ही भगवत्स्वरूपमें प्रतिष्ठित होते हैं। उनके लिये साधना अथवा भावनाकी कोई आवश्यकता नहीं रहती है। जो निम्नावस्थाके प्राणी हैं, उनका अधिकार और भी संकुचित होता है। अतः उनको भावनाका आश्रय लेना पड़ता है। पूर्वोक्त स्तरमें विकल्पसंस्कारके लिये क्रम न रहनेपर भी इन निम्नस्तरवाले प्राणियोंकी अवस्थामें क्रम रहता है। किंतु भावनाके आदिमें सत्तर्क, सदागम तथा सद्गुरुके उपदेशकी आवश्यकता होती है। इस स्थितिमें अशुद्ध विकल्पोंका शुद्ध विकल्पोंद्वारा संशोधन करना पड़ता है। जीवमें जो 'मैं बद्ध हूँ' इत्यादि धारणाएँ हैं, उन्हींको 'अशुद्ध विकल्प' समझना चाहिये।

श्रीपरमेश्वरकी अनुग्रह-शक्ति जब तीव्र मात्रामें संचारित होती है, तब आविर्भूत सदागम आदिके अवलम्बनसे विकल्पोंका संशोधन होता है। तब परतत्त्वमें प्रतिष्ठा होती है परंतु वह परतत्त्व शुद्ध विकल्पोंका भी विषय नहीं; केवल अशुद्ध विकल्पोंके निराकरणमें ही इनकी चरितार्थता है। शुद्ध विकल्प जब अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित होते हैं, तब वे ही 'भावना' नामसे व्यवहृत होते हैं। इन भावनाके द्वारा अस्फुट भी प्रस्फुटित हो जाता है। इसको शुद्ध विद्याका प्रकाश समझना चाहिये। इस रीतिसे परतत्त्वमें प्रवेश होता है। जिनकी योग्यता और भी न्यून है, उनके मलिन विकल्पोंके संशोधनमें शुद्ध विकल्प पर्याप्त (पूर्णतः समर्थ) नहीं होते हैं। उस दशामें जीव इन शुद्ध विकल्पोंके सहायक रूपमें अन्य उपायोंका अवलम्बन करता है। जो बुद्धिभूमिमें अवस्थित हैं, वे ध्यानका अवलम्बन करते हैं। जो प्राणभूमिमें हैं, वे प्राणके कार्यका अवलम्बन करते हैं

तथा जो देहाभिमानी हैं वे क्रियात्मक उपायका आश्रय लेते हैं। इनकी सहायतासे वे शुद्ध विकल्पोंद्वारा मलिन विकल्पोंका संशोधन करते हैं। इस तरह क्रमशः उनका परतत्त्वमें समावेश होता है। यों १—सर्वोच्च स्तरमें अनुपाय (अथवा परमेश्वरकी अनुग्रहशक्ति) से परतत्त्वमें समावेश होता है। उससे न्यून स्तरमें २—स्वातन्त्र्यशक्तिका अवलम्बन, ३—उससे भी निम्नस्तरके प्राणियोंके लिये भावनाका अवलम्बन तथा ४—उससे भी निम्नस्तरमें ध्यानादि उपायान्तरोंका अवलम्बन आवश्यक होता है। इस प्रकार चार स्तरोंमें क्रमशः अनुपाय आदि साधन-चतुष्टयका दिग्दर्शन कराया गया है।

जीवनमें स्वरोदयकी महत्ता

(लेखक—श्रीगुरुरामप्यारेजी अग्निहोत्री)

१—षण्मुखी मुद्रा एवं तत्त्वोंके बीजमन्त्र

तत्त्वोंके ज्ञानके लिये षण्मुखी मुद्राका अभ्यास आवश्यक है। योगाभ्यासी इसी मुद्राके आश्रयसे तत्त्वोंका वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। षण्मुखी मुद्राका अभ्यास बिना गुरुकी सहायतासे सहज सुलभ नहीं है। इसका अभ्यासी तत्त्वज्ञानमें ही मस्त रहता है और उसे मुद्रा-ज्ञानसे अन्तरात्माका प्रकाश मिलता है तथा बाह्य विश्व अन्धकारमय प्रतीत होता है। श्वासका स्तम्भन होने लगता है। बाह्य शब्दोंका संचार अन्तरात्मामें नहीं होता। सूर्यकी किरणें प्रवेश नहीं कर पातीं; वायुका अवरोध हो जाता है। यह षण्मुखी मुद्रा पहले तो उकताहट पैदा करती है, किंतु धीरे-धीरे अभ्याससे ब्रह्मज्ञानका एक विचित्र आनन्द प्राप्त होता है। मन एकाग्र होकर अन्धकारमें व्याप्त विश्वात्माकी खोज करनेमें तन्मय हो जाता है और अभ्यास दृढ़ होनेपर कभी आनन्दमयी ज्योतिका अनुभव होता है और कभी भगवान्के दर्शन भी हो जाते हैं।

योगाभ्यासी षण्मुखी मुद्राका आश्रय लेकर ही तत्त्व-मिश्रित स्वर-ज्ञानके प्रवाहमें सच्चिदानन्द ब्रह्मके, अपनी अन्तरात्मामें ही दर्शन करनेमें सदा सफल होते थे और यही था ब्रह्मका साक्षात्कार। षण्मुखी मुद्रा बड़ी ही सहज-साध्य है।

दोनों कानोंमें दोनों हाथके अँगूठे, दोनों नासिकाछिद्रोंमें दोनों हाथकी मध्यमिकाएँ, होठोंके मध्यमें दोनों हाथकी अनामिकाएँ और दोनों आँखोंमें दोनों हाथकी तर्जनियाँ और तर्जनियोंके ऊपर छिंगुलियाँ रखकर कान, नाक, मुख और आँखके द्वार बंद कर दिये जाते हैं और मनको इन्हीं बंद द्वारोंमें लगा दिया जाता है। वह कभी कानके बंद द्वारतक जाकर लौटता है और कभी अन्य इन्द्रियके। इस तरह मन जब कान, नाक, मुख और आँखोंका द्वार बंद पाता है, तब वह उस अन्धकारयुक्त ब्रह्माण्डमें किसी और ही शक्तिकी खोज करनेमें लग जाता है और इस तरह धीरे-धीरे अभ्याससे उसे परमब्रह्म परमात्माके दर्शन उसी अन्धकारयुक्त ब्रह्माण्डमें हो जाते हैं और तब स्वर-साधना तथा तत्त्वज्ञानकी उपासना सफल हो जाती है।

पहले षण्मुखी मुद्राके अभ्यासमें तत्त्वोंके रंग-दर्शन होते हैं, अर्थात् कभी पृथ्वी-तत्त्वका पीला रंग, कभी जल-तत्त्वका सफेद रंग, कभी अग्नि-तत्त्वका लाल रंग, कभी वायु-तत्त्वका नीला रंग और कभी आकाश-तत्त्वका मिश्रित (अनेक मिले हुए) रंग अन्तर्दृष्टिमें प्रतिभासित होते हैं। जब बाह्य आँखें बंद कर ली जाती हैं, तब अन्तर्दृष्टि खुलने लगती है और उसीमें ये रंग प्रतिभासित होते हैं। इसी प्रकार कानोंका द्वार बंद हो जानेसे अन्तरात्मासे उठती हुई शान्ति-ध्वनि अभ्यास करते-करते सुनायी पड़ने लगती है। यह अन्तर्ध्वनि आनन्ददायिनी और ब्रह्मवाणी ही होती है जिससे जीवनकी भावी प्रगतिका संकेत मिलता है।

नाकके छिद्रोंके बंद हो जानेसे प्रथमतः अंदर समायी हुई वायु बाहर निकलनेका प्रयास करती है, जिससे पेट फूलने लगता है, फेंफड़ोंमें तनाव आ जाता है और दम घुटने-जैसा अनुभव होने लगता है; किंतु धैर्यके साथ उस वायुको शान्त करनेसे उसकी प्रगति ब्रह्माण्डकी ओर होने लगती है और अभ्याससे वायुका स्थान जब ब्रह्माण्डमें बन जाता है यानी वायु कुछ क्षणोंके लिये ब्रह्माण्डमें रुकने लगती है, तब ब्रह्म-नाड़ी जाग्रत् हो उठती है। ब्रह्मनाड़ीके जाग्रत् होनेपर वायुका प्रतिगमन स्तम्भित हो जाता है और इस तरह श्वास-प्रश्वासकी बाह्यक्रिया अवरुद्ध हो जाती है; तब लौकिकतासे

दूर समाधि-अवस्थाका उद्भास हो जाता है। मनकी गति स्थिर हो जाती है और जीव ब्रह्ममय हो जाता है।

षण्मुखी मुद्रामें पहले तत्त्वोंके बीज-मन्त्रका अंदर-ही-अंदर जाप करने और अन्धकारयुक्त ब्रह्माण्डमें मन अवस्थित होनेसे क्रमशः योगाभ्यासी लौकिकतासे दूर अलौकिकताका अनुभव प्राप्त करने लगता है। पञ्च-तत्त्वोंके बीजमन्त्र इस प्रकार हैं—

तत्त्व	बीजमन्त्र	ध्यानका स्वरूप	रंग
पृथ्वी	लं	चतुष्कोण	स्वर्णिम-पीला
जल	वं	अर्धचन्द्राकार	सफेद
अग्नि	रं	त्रिभुजाकार	लाल
वायु	यं	गोलाकार	नीला
आकाश	हं	निराकार	बहुरंगी

पृथ्वी-तत्त्वका ध्यान करनेसे योगाभ्यासीकी देह हलकी हो जाती है और कभी-कभी समाधि-अवस्थामें शरीर पृथ्वीसे ऊपर उठ जाता है। जल-तत्त्वका ध्यान करनेसे भूख-प्यास जाती रहती है और जलके भीतर डूबकर रहनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। अग्नि-तत्त्वके ध्यान करनेसे अपरिमित भोजन करने और घड़ों जल पी लेनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है, साथ ही कठिन धूप और आगकी लपटोंसे अभ्यासीका शरीर कष्टका अनुभव नहीं करता। वायु-तत्त्वके अभ्यासीको तीनों कालका ज्ञान प्राप्त होनेके साथ-साथ अणिमादि आठों सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस तरह षण्मुखी मुद्राके अभ्याससे अनेक अलभ्य शक्तियोंका लाभ होता है; किंतु यह अभ्यास एक लम्बी अवधिमें परिपक्वावस्थाको प्राप्त होता है।

२—छाया-पुरुष और मृत्यु-ज्ञान

स्वर-साधनामें छाया-पुरुषका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभ्याससे यह प्रत्यक्ष होकर अनेक दुर्लभ ज्ञानका संदेश देता है। स्वर-ज्ञानके आदि उपदेशक भगवान् शंकर हैं। छाया-पुरुषके रूपमें भगवान् शंकरके ही दर्शन होते हैं और उन्हींसे अभ्यासी साधक जीवन-मरणका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। इसके अभ्यासका प्रकरण इस प्रकार है—

अभ्यासीको बस्तीसे दूर किसी निर्जन एकान्त स्थानपर सूर्यकी ओर पीठ करके बैठ जाना चाहिये और छाया-पुरुष भगवान् शंकरका स्मरण कर धूपमें पड़ती हुई कण्ठ-भागकी छायाको ध्यानपूर्वक देखने और उसीपर अपनी दृष्टि जमानेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा कम-से-कम सात दिनोंतक प्रतिदिन दो घंटेतक अभ्यास होना आवश्यक है। अवकाश होनेपर इससे अधिक समयतक भी अभ्यास किया जा सकता है। ऐसा करनेसे दृष्टि नियन्त्रित हो जाती है और मन कण्ठ-भागकी छायामें केन्द्रित हो जाता है।

इसके अनन्तर आठवें दिनसे आकाशकी ओर दृष्टि जमाकर मन-ही-मन 'ह्रीं परब्रह्मणे नमः'—मन्त्रका प्रतिदिन १०८ बार जप करना चाहिये। जबतक मन्त्रका जप पूरा न हो जाय, तबतक एकनिष्ठ होकर आकाशकी ही ओर देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे छः महीनेके अंदर ही भगवान् शंकरके विभिन्न रूप आकाशमें दृष्टिगोचर होने लगते हैं। लगातार यह अभ्यास दो वर्षोंतक यदि अबाध गतिसे होता रहा तो शिवत्वकी भावना स्वयं अभ्यासीमें जाग्रत् हो जाती है। अभ्यासमें उस समय अवरोध पैदा हो जाता है जब कि आकाश मेघाच्छन्न रहता है; किंतु यह अवरोध केवल दृष्टिका बाधक अवश्य होता है; अभ्यासमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस तरह अभ्यास पूरा हो जानेपर वाणीमें सिद्धि आ जाती है। यदि यह अभ्यास तपस्याके रूपमें चलता रहा तो अभ्यासी त्रिकालदर्शी हो जाता है; सांसारिकतासे दूर वह ब्रह्ममय हो जाता है। भूख-प्यासकी आकाङ्क्षा शान्त हो जाती है। मन निश्चल होकर सर्वदा भगवान् शंकरके प्रत्यक्ष दर्शन करनेका अभ्यासी हो जाता है।

यदि प्रथमतः अभ्यासमें भगवान् शंकरके दर्शन चमकते हुए स्फटिकमणिकी तरह होते हैं तो वह व्यक्ति अपने अभ्यासमें सफल होता है और उसकी मृत्यु उसकी इच्छापर नि र रहती है। यदि निर्मल आकाशमें भगवान् शंकरका रूप श्यामवर्णका दिखलायी पड़ता है तो अभ्यासीका जीवन छः महीनेका होता है। यदि भगवान् शंकरका रूप पीले रंगका दिखलायी पड़ता है तो अभ्यास सिद्ध नहीं होता और अभ्यासी रोगग्रस्त हो जाता है। लाल रंगका रूप प्रदर्शित होनेपर अन्तरात्मामें भय पैदा होता है; साथ ही अनेक प्रकारकी बाधाएँ उत्पन्न होती हैं, जिससे अभ्यासी अपने अभ्यासमें सफल नहीं होता। यदि भगवान् शंकरके दर्शन विभिन्न रंगोंमें होते हैं तो योगीका अभ्यास पूर्ण सिद्धिको प्राप्त होता है। भगवान् शंकरका यह दर्शन स्थायी भी होता है और अभ्यासी जो चाहता है, माँग सकता है, बात कर सकता है और वह स्वयं शिवरूपताको प्राप्त हो जाता है।

छाया-पुरुषका अभ्यास और ध्यान सदा शुद्ध मन और पवित्रतासे ही करना चाहिये। ब्रह्मचर्यका पालन विशेषरूपसे किया जाना चाहिये और सदा शिव-चरणोंमें अभ्यासीका चित्त केन्द्रित होना चाहिये। सांसारिकतामें होते हुए भी

सांसारिकतामें लिप्त नहीं होना चाहिये। जीवनरक्षाके लिये एक बार स्वल्पाहार ही करना चाहिये। इस तरह इसके लिये मन और शरीर दोनोंकी साधना परमावश्यक है। छाया-पुरुषकी सिद्धिका अभ्यासी अपनेको सम्पूर्णरूपसे भगवान् शंकरके चरणोंमें अर्पण कर देता है। मन, कर्म और वचनसे शुद्ध हो जानेपर सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

छाया-पुरुषसे मृत्यु-ज्ञानका भी संदेश प्राप्त होता है। यदि अभ्यासीको छाया-पुरुष (भगवान् शंकर) के पाँव-पेट न दिखलायी पड़े और भुजाएँ कटी हुई प्रतीत हों, तो अभ्यासी अल्पायु होता है और उसका अभ्यास सफल नहीं होता। यदि दाहिनी भुजा भर ही कटी हुई दिखलायी पड़े तो बन्धुका नाश और बायीं भुजा कटी हुई प्रदर्शित हो तो स्त्रीका मरण अवश्यम्भावी होता है। दोनों भुजाएँ कटी हुई प्रतीत होनेपर वह स्वयं उसकी मृत्युका सूचक है। इसी तरह छाया-पुरुषके कान, कंधा या अन्य कोई अङ्ग स्पष्ट न दिखलायी पड़ें तो भी अभ्यासी अल्पायु होता है।

समय और पञ्चतत्त्व

(लेखक—कविराज श्रीनरेन्द्रनाथजी)

यह तो सभी लोगोंको विदित है कि निमेष, पल, मिनट, घंटा, प्रहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन और वर्ष—सब समयके ही अन्तर्गत हैं। समय चला जा रहा है। इसकी गणना नहीं है। जो अनन्त कालसे निरवच्छिन्न अप्रतिहत-गतिसे भ्रमण कर रहा है और भविष्यमें भी न जाने कितने कालतक यह भ्रमण करता रहेगा; असीम है इसकी गति। इस समय-चक्रमें ही सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके जन्म, वृद्धि, मरण आदि होते रहते हैं। यह स्थिति अटूट है। इसीको समय-काल कहते हैं। इस समयको ही परिवर्तनशील संसार कहा गया है। अर्थात् काल ही परिवर्तन करता है।

यह काल अजेय है। किसी भी संहारकारी वैज्ञानिक साधनसे यह परास्त नहीं हो सकता। यह अति बलवान्, अजेय, अत्यन्त पराक्रमी तथा घोर कठोर है। किसीकी भी कुछ भी नहीं सुनता। इसकी पाचन-शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी तथा अनन्त है कि यह अनन्तकालसे अनन्त विश्वको खा रहा है, पचा रहा है; पर कभी इसे अजीर्ण रोग नहीं हुआ। अनन्त कालसे अनवरत घूम रहा है; पर कभी इसे जरा भी थकान नहीं हुई। न इसकी गतिको ही कभी रोका जा सकता है। यह स्वतः (ऑटोमेटिक) ही चल रहा है। विचारपूर्वक देखें—यदि समयको इस तरह अनवरत परिवर्तनशील न बनाया जाता तो क्या होता? तब तो यह समस्त विश्व जहाँका तहाँ रह जाता—पाषाणकी प्रतिमाकी तरह। न हँसता, न बोलता, न आता, न जाता—सब बंद। जैसे बंद हुई घड़ीकी सूई एक ही स्थानपर रहती है, न आगेको सरकती है न पीछे हटती है। ठीक इसी तरह विश्वकी परिस्थिति होती। जन्मना, बढ़ना, मरना—सब बंद। ईश्वरकी कार्यकुशलताको, किसी चातुरीको देखना है तो सबसे प्रथम समयको ही देखिये। आश्चर्य-लीला है भगवान्की।

यह तो हुआ बाह्यरूपमें समयका परिचय। इसी प्रकार आभ्यन्तर स्तरमें पञ्चतत्त्वके रूपमें यही समय हम लोगोंको दूसरे सूत्रमें घुमा रहा है। यही हमारे नित्य-नैमित्तिक आदि सभी कार्योंमें लाभ-हानि, जय-पराजय, शुभ-अशुभ करानेमें निश्चित कारण बना हुआ है। इसका प्रायः किसीको बोध नहीं है।

गुप्तरूपमें घूमते हुए ये पञ्चतत्त्व एकके बाद दूसरे क्रमानुसार परिवर्तित होते मालूम होते हैं। जैसे ऋतुके परिवर्तनका बोध हो जाता है, उसी तरह तत्त्वके आगमनकी भी जानकारी हो जाती है।

प्रमाणके लिये देखिये—हम सब मनुष्य सब दिन एक ही हैं; परंतु हमारे अन्तःकरणके भाव इतनी जल्दी-जल्दी क्यों बदलते हैं? कभी शुभ, कभी अशुभ; कभी क्रूर, कभी सदय-विनम्र; कभी शान्त तो कभी अशान्त और कभी प्रसन्न तो कभी विषण्ण। यह जो बार-बार शीघ्र-शीघ्र मनोभावका परिवर्तन होता है, यह तत्त्वके प्रभावका ही परिणाम है। अभिप्राय यह कि जिस समय जिस तत्त्वका शरीरमें उदय होता है, उसी तत्त्वके प्रभावानुसार भाव होता है।

उदाहरणके लिये—मैंने आपसे अपने किसी कार्यके लिये विनय-प्रार्थना की, आपने उत्तरमें अस्वीकार कर दिया। फिर मैंने दूसरी बार आपसे कहा तो उस समय आपने कहा—'अच्छा, कर दूँगा।' ऐसी बात व्यवहारमें बहुधा देखनेमें आती है। लोग सलाह देते हैं कि अभी उनकी चित्तवृत्ति (मूड) ठीक नहीं है। कुछ मत कहो। जब देखो चित्तवृत्ति (मूड) ठीक है, तब कहना। तुम्हारा कहना सफल होगा। और व्यवहारमें यह स्वतः स्पष्ट हैं। तात्पर्य यह कि शुभ तत्त्वमें जो कहा जाता है, वह काम हो जाता है, अशुभ तत्त्वके समय कही गयी बात निष्फल जाती है। तत्त्वका यह सिद्धान्त ध्रुव सत्य है।

विचार करके देखिये—मनुष्य दुःखमें हो या सुखमें, क्रोधमें हो या क्षमामें अथवा हँसीमें हो या रुदनमें—एक ही स्थितिपर बहुत समयतक कभी कोई भी नहीं रह सकता। चाहे कोई शस्त्र लेकर घात करनेको ही क्यों न आये, यदि किसी तरह वह समय टाल दिया गया तो टल जाता है। अतएव मनुष्यकी सफलता-असफलतामें हेतु तत्त्वोंकी देन है। मेरा तो इसपर पूर्ण विश्वास है।

तत्त्व क्या है? इस विषयमें योगशास्त्रके वचन हैं—

प्रथमं पृथिवीतत्त्वं जलतत्त्वं द्वितीयकम्।
तेजस्तत्त्वं तृतीयं स्याद् वायुतत्त्वं चतुर्थकम्॥
आकाशः पञ्चमं तत्त्वं मनः षष्ठमुदीरितम्।
सप्तमं परमं तत्त्वं यो जानाति स मोक्षभाक्॥

अर्थ स्पष्ट है—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्चतत्त्व हैं। इनके परे छठा तत्त्व मन है। मनसे परे जो सातवाँ तत्त्व है उसे 'परमतत्त्व' कहते हैं। यह तत्त्व—'स्वमोङ्कार परात्परः'—साक्षात् भगवान् नारायण है।

उपर्युक्त पञ्चतत्त्वोंका एकके बाद दूसरेका आना-जाना निर्बाध निरवच्छिन्न रूपमें चलता रहता है। एक निमेष भी इनकी गतिमें अवरोध नहीं होता। यह विश्वस्रष्टा प्रभुका नियम है। इसीके अंदर जगत्का संचालन हो रहा है, ऐसा तत्त्वदर्शी महापुरुषोंका कथन है। इन पाँच तत्त्वोंमें पृथिवी और जल-तत्त्व शुभ हैं। शेष तीन तत्त्व अशुभ फलदायक हैं। इन तत्त्वोंका संक्षेपमें यहाँ कुछ दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

प्रथम पृथिवी-तत्त्वका परिचय

इसका वर्ण पीत है, स्वादमें मधुर है। इसके शरीरमें रहनेकी अवधि ८ मिनट है। जब इस तत्त्वका उदय होता है, तब मनमें धैर्य, शान्ति, संतोष और आनन्दका अनुभव होता है। इसकी अवधिके भीतर जो काम किया जाता है, वह कार्य पृथिवीकी तरह स्थिर होता है। शत्रुकी पराजय एवं अपनी विजय निश्चित है। इस तत्त्वमें किसी भी शुभ कर्मका श्रीगणेश करनेसे वह स्थिर और शुभ हो जाता है। ध्यान-पूजा-पाठ आदिमें बुद्धि स्थिर रहती है। सामान खरीदनेमें, नया कपड़ा आदिके पहननेमें, दान देनेमें, वचन-आदेश देनेमें यह तत्त्व शुभ फलदायक होता है। रोगीके प्रश्नमें, रोग थोड़ी देरमें आराम होनेवाला है। विदेशमें अमुक सुखमें है, आनेमें देर है। लड़का पैदा होगा। विवाहके प्रश्नमें उत्तम है। चिरकालतक दाम्पत्य-जीवन सुखमय रहेगा। कोई परदेश जायगा तो देरमें लौटेगा; पर विघ्न-बाधा कुछ नहीं होगी। अतिथि आयँगे तो देरमें वापस जायँगे, पर अपनेको शुभ फल होगा। व्यापारीके प्रश्नमें, धीरे-धीरे लाभ होगा। बाजार तेजीपर जायगा। इस तत्त्वमें कदापि दुर्घटना नहीं होती है। किसी कार्यको स्थिर काम और बहुत दिनतक टिकाऊ करनेके लिये यह पृथिवी-तत्त्व अत्यन्त शुभ है। नया आविष्कार, नया उद्घाटन-कर्म, नयी प्रतिष्ठा इसी तत्त्वमें करना उत्तम है। इस तत्त्वमें जन्म लेनेवाला मनुष्य पीलेपनके साथ कुछ श्याम-वर्णका, मोटा तथा हृष्ट-पुष्ट होता है। वह साहसी, धैर्यवान्, गम्भीर, दाता, धर्मात्मा, उपकारी, दीर्घजीवी एवं भाग्यवान् होता है।

जल-तत्त्वका परिचय

इस तत्त्वका वर्ण सफेद, स्वादमें कसैला है। इसके रहनेकी अवधि ४ मिनट है। इस तत्त्वके समयमें मनमें आनन्द तथा शीतल-सौम्य भावका उदय होता है। दया, धर्म, उपकार इसकी देन है। यह अति शीघ्र फलदायक तत्त्व है। इसके भीतर जो कर्म किया जाता है, उसका फल शीघ्र मिलता है। रोगीके प्रश्नमें, शीघ्र आराम होगा। परदेशीके प्रश्नमें, सुखपूर्वक है, जल्दी आनेवाला है। गर्भके प्रश्नमें, कन्या, व्यापारमें शीघ्र लाभ। बाजार तेजी, खरीद करना शुभ लाभदायक होगा। विद्यारम्भ, शीघ्रगमन, शीघ्रलाभके लिये यह जल-तत्त्व सद्यःफलदायक है। ध्यान, ईश्वरोपासनामें चित्तवृत्ति ठीक रहती है। इधर-उधर न भटककर शान्तिके साथ वृत्ति स्थिर रहती है। एकाग्रता प्राप्त होती

परीक्षाके दिन, यात्रारम्भ और दूसरे लोगोंसे काम पटानेके लिये यह तत्त्व प्रत्यक्ष फलकारक है। इस तत्त्वमें जन्म लेनेवाला व्यक्ति शीतल स्वभावका, सफेद वर्णवाला, सुन्दर, मीठी वाणी बोलनेवाला, नम्रभाषी, दया-धर्मयुक्त, उपकारी और सबको प्रसन्न करनेवाला भाग्यवान् होगा। यह मङ्गलदायक तत्त्व है।

अग्नि-तत्त्वका परिचय

इस तत्त्वका वर्ण लाल है, स्वादमें कटु है। स्वभाव भस्मकारक है। इसके रहनेकी अवधि १२ मिनट है। इसके अवधिकालमें मनमें अशान्ति, संताप, क्रोध, अहंकारका उदय होता है। यह तत्त्व अशुभ भावना पैदा करनेवाला है। यह कर्मनाशक है। इस तत्त्वके समयमें जो काम किया जाता है, प्रायः सब नष्ट हो जाता है। प्रश्नमें रोगी मर जायगा। परदेशी रोगग्रस्त—बहुत दुःखमें होगा, बचना कठिन है। गर्भके प्रश्नमें, पुत्र होगा। यात्रामें मरण या दुर्घटनामें अवश्य पड़ेगा। व्यापारके प्रश्नमें, नुकसान, बाजार मन्दा जायगा। परीक्षा-कार्यमें सफलता नहीं होगी।

इस तत्त्वमें जो ऋण दिया जाता है, वह लौटता नहीं। अतिथि नुकसान देकर जायगा। इस तत्त्वमें जन्मा हुआ व्यक्ति रक्तवर्णका, क्रूरकर्मी, दूसरेको सतानेवाला, कड़ी बातसे जलानेवाला, निष्ठुर एवं अपकारी होता है। परंतु साहसी, मार-काट, लड़ाई आदिमें शूरवीर होगा।

वायु-तत्त्वका परिचय

इसका वर्ण धुवाँ सा (धुवाँकी तरह) होता है। स्वाद अम्ल है। स्वभाव उड़ानेवाला, गति तिरछी। रहनेकी अवधि १० मिनट। इस तत्त्वके उदयकालमें मनमें खलबली, उद्वेग, अशान्ति, उचाटन, अस्थिरता होती है। इस तत्त्वमें कार्य-सिद्धि नहीं होती। केवल मौखिक आश्वासनसे बात टल जाती है। जिस तरह वायु चीजोंको उड़ा देता है, उसी तरह यह तत्त्व कर्मफलको उड़ा देता है। इस तत्त्वमें जन्म लेनेवाला व्यक्ति दुष्टचित्त, दंगा-फसाद मचानेवाला, मिथ्यावादी, विश्वासघाती, कर्कश, चञ्चल स्वभावका, अधिक बोलनेवाला, दुबला-पतला तथा लंबी कदका होगा। गर्भके प्रश्नमें, पुत्री। रोगी दीर्घकाल तक दुःख भोगकर आखिर मर जायगा। परदेशी दुःखमें होगा, जहाँ गया है, अब उस स्थानमें नहीं है, अन्यत्र जाकर बैठा है। चोरीका माल नहीं मिलेगा, केवल बात सुननेमें आवेगी। बाजार मंदीमें जायगा, नुकसान होगा। अभ्यागत कोई आयगा तो नुकसान देने आयगा। जो ऋण दिया जायगा, वह पूरा नहीं लौटेगा। जो भागेगा, वह पकड़ा नहीं जायगा इत्यादि।

आकाश-तत्त्वका परिचय

इस तत्त्वका शून्याकार चित्र-विचित्र-सा बताया जाता है। यह व्यवहारी कार्योंके लिये निषिद्ध है। यह केवल ईश्वरोपासनाके लिये उपयुक्त कहा गया है। इस तत्त्वका पता लगाना कठिन है। प्रायः प्रत्येक तत्त्वके आने-जानेका संधिकाल बताया जाता है, परंतु इसका संधिकाल अभीतक ठीक मालूम नहीं हो सका है।

इस तत्त्वका ज्ञान मनुष्य-जीवनके लिये बड़ा उपयोगी है। लौकिक व्यवहारसे लेकर परमार्थसिद्धि तक फल देनेवाली यह हमारे पूर्व महापुरुषोंकी देन है। इस विद्यासे ठीक-ठीक काम लिया जाय तो मनुष्य नुकसान, खतरे तथा पराजयसे बच सकता है, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है। और मैं प्रत्येक देशके तत्त्वानुसंधान करनेवालोंसे निवेदन करता हूँ कि अपने ही शरीरसे निकलनेवाले इस दिव्य तत्त्वकी खोज करके इसका प्रचार करें, तो वह जनता और राष्ट्र दोनोंके लिये ही कल्याणकारी होगा।

साधुभूषण साधु

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥

'जो साधुजन तितिक्षु, करुणामय, समस्त प्राणियोंके हितैषी, शत्रुहीन और शान्तस्वभाव होते हैं, वे साधुओंमें भूषणरूप हैं।'

रसेश्वरदर्शनमें साधनाका स्वरूप

(लेखक—प्राध्यापक पं० श्रीकाकुभाई दुर्गाशङ्करजी दवे (भानु), संस्कृत-साहित्य-व्याकरण-वेदान्त-ज्यौतिष-आयुर्वेदाचार्य; संस्कृत-काव्य-पुराण-कृत्यतीर्थ, जैनदर्शन-शास्त्री, पालीविशारद; संस्कृत-धर्मशास्त्र-पुराण-आयुर्वेद उत्तमा)

रसेश्वर-सम्प्रदायका स्थान शैवदर्शनान्तर्गत है। पुण्यात्मा श्रीसायण-माधवाचार्यजीने अपने सर्वदर्शन-संग्रहमें इसे दर्शनका स्थान दिया है और इस दर्शनका उपक्रम करते हुए कहा है कि 'इसके सिद्धान्तानुसार अत्युत्तम दृढ़ शरीरसे ही जीवन्मुक्ति प्राप्य है'[1]।

शैव-दार्शनिक 'माहेश्वर' कहलाते हैं। शैवतन्त्र-सिद्धान्तके अवान्तर प्रमुख चार मत हैं—(१) पाशुपत, (२) शैव-सिद्धान्तमत, (३) वीरशैवमत, (४) प्रत्यभिज्ञा-दर्शन, जिसके दूसरे नाम हैं—'स्पन्द' या 'त्रिक दर्शन'।

पाशुपतोंके अनुसार पञ्च पदार्थ हैं। यथा—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त।

ज्ञानमात्रे यथाशास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चमार्थाद् यतो नास्ति यथावत् तत्त्वनिश्चयः॥

कापालिक (कालामुख), रसेश्वर, व्याकरण, वीरशैव इत्यादि सम्प्रदायविशेष इसी शैव-दर्शनके अवान्तर्गत हैं। रसेश्वर-सम्प्रदायका सिद्धान्त यह है कि व्याधियुक्त एवं बलहीन शरीरसे ब्रह्मका साक्षात्कार कथमपि नहीं हो सकता। अतएव 'पिण्डस्थैर्य' अर्थात् सम्पूर्णतया स्वस्थ और दृढ़ शरीर—यह जीवन्मुक्ति (विदेहमुक्तिको ये साधक नहीं मानते हैं) के लिये नितान्त आवश्यक है'[2]।

रसार्णव-तन्त्र प्रथमपटल(८-९) में कहा है—

अजरामरदेहस्य शिवतादात्म्यवेदनम्।
जीवन्मुक्तिर्महादेवि देवानामपि दुर्लभा॥
पिण्डपाते च यो मोक्षः स च मोक्षो निरर्थकः।
पिण्डे तु पतिते देवि गर्दभोऽपि विमुच्यते॥

× × × ×

षड्दर्शनेऽपि मुक्तिस्तु दर्शिता पिण्डपातने॥
करामलकवत् सापि प्रत्यक्षं नोपलभ्यते।

× × × ×

शून्यपाथो मन्त्रयाजी न पिण्डं धारयेत् क्वचित्।
देवानामपि देवेशि दुर्लभं पिण्डधारणम्॥
किं पुनर्मानुषाणां तु धरणीतलवासिनाम्।
धर्मे (काये) नष्टे कुतो धर्मो धर्मे नष्टे कुतः क्रिया॥
क्रिया नष्टे कुतो योगो योगे नष्टे कुतो गतिः।
गतिर्नष्टे कुतो मोक्षो मोक्षे नष्टे न किंचन॥
तेन पिण्डो महाभागे रक्षणीयः प्रयत्नतः[3]।

(रसार्णवतन्त्र १। १२–१७)

और इस मनुष्य-शरीर (पिण्ड) को स्थिर करनेका सर्वोत्तम उपाय है—'पारद'की भस्मका सेवन। पारदकी प्रशंसामें कहा गया है—

'संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः[4]।'

'रसार्णव-तन्त्र' (१। ३४) में कहा है (भगवान् शंकरकी उक्ति है, पार्वतीके प्रति)—

त्वं माता सर्वभूतानां पिता चाहं सनातनः[5]।
द्वयोश्च यो रसो देवि महामैथुनसम्भवः॥

---

१. द्रष्टव्य—सर्वदर्शन-संग्रह, रसेश्वर-दर्शन (पृष्ठ २०२) अपरे माहेश्वराः परमेश्वरतादात्म्यवादिनोऽपि पिण्डस्थैर्ये सर्वाभिमता जीवन्मुक्तिः सेत्स्यतीत्यास्थाय पिण्डस्थैर्योपायं पारदादिपदवेदनीयं रसमेव संगिरन्ते।

२. अजर एवं अमर देहको प्राप्तकर ब्रह्मसाक्षात्कार करना—यही जीवन्मुक्ति है और देवताओंको भी दुर्लभ है। विदेहमुक्ति निरर्थक है।

३. षड्दर्शनोंमें भी मुक्ति तो देहावसानके बाद ही बतलायी गयी है। अतएव हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष मुक्तिकी (साक्षात्कारिणी) उपलब्धि किसी भी शास्त्रमें प्रतिपादित नहीं की गयी है।' 'मन्त्रोंसे यजन करनेवाले याजकके पाप भले ही नष्ट हो जायँ, किंतु शरीरका त्याग तो उसे भी करना ही पड़ता है। मनुष्योंकी कौन कहे, देवताओंको भी अपनी दिव्य देहोंको शाश्वत कालतक धारण कर रखनेकी सामर्थ्य प्राप्त नहीं है। शरीरका ही नाश हो जाय, तो धर्मकी साधना किस माध्यमसे की जायगी? धर्मविहीन क्रिया असम्भव है। क्रियाके अभावमें योग नहीं और योगके अभावमें गति कहाँ? और गतिके अभावमें मोक्ष कथमपि प्राप्य नहीं। अतएव शरीरकी रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये।

४. "इस संसाररूपी सागरको पार करवा देता है; अतएव वह 'पारद' कहलाता है।"

५. 'हे देवि! तुम समग्र भूतोंकी माता हो और मैं पिता हूँ। इन दोनोंके संयोगसे 'रस'की उत्पत्ति होती है।'

यहाँपर महामैथुनसे तात्पर्य है—उन दोनों मूलतत्त्वोंको जगज्जनकरूपी सङ्घर्ष।

"पारद भगवान् शंकरका 'वीर्य' और अभ्रक भगवती जगज्जननी रसेश्वरी पार्वतीजीका 'रज' माना जाता है"—

अभ्रकस्तव बीजं तु मम बीजं तु पारदः।
अनयोर्मेलनं देवि मृत्युदारिद्र्यनाशनम्[६]॥
(रसेश्वरदर्शन ४)

शरीरस्थ प्राणवायु एवं उल्लिखित पारद, दोनोंकी समुचित प्रयोगात्मक योजनासे मनुष्य-शरीरको सम्पूर्ण स्वस्थ, दृढ़ एवं दिव्य बनानेमें सफलता प्राप्त होती है। तात्पर्य कि प्राण सुदृढ़ करनेके लिये शास्त्रोक्त विधिसे प्राणायाम और शरीरकी सुदृढ़ताके लिये शास्त्रोक्त-विध्यनुसार पारदका सेवन आवश्यक है।

पारदकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—

कर्मयोगेन देवेशि प्राप्यते पिण्डधारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा मतः॥
मूर्छितो हरते व्याधिं मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्याद् रसो वायुश्च भैरवि[७]॥
(१।१८-१९)

अर्थात् पारद और वायु (दोनों) की ये विशेषताएँ हैं कि वे यदि विधिपूर्वक मूर्छित किये जायँ तब व्याधियोंके समूहको नष्ट करते हैं। उनका विधिपूर्वक मारण करनेपर जीवन प्रदान करते हैं और बाँध देनेपर आकाशमें उड़नेकी सामर्थ्य प्रदान करते हैं। 'मूर्छित', 'मृत' और 'बद्ध'—ये तीन पारदकी अवस्थाएँ हैं। रसशास्त्रोक्त प्रयोगानुसार पारदको घनता और चाञ्चल्यसे रहित कर देनेपर यह 'मूर्छित' बन जाता है। आर्द्रता (Lustre चमक) और गुरुता (भारीपन) से रहित कर देनेपर पारद 'मृत' बन जाता है, अर्थात् उसका मारण हो जाता है और विविध सिद्ध प्रयोगोंसे उसको बाँधा जाता है तब वह 'बद्ध' कहलाता है। 'रसरत्नसमुचय' में कहा है—

मूर्च्छित्वा हरति रुजं बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति।
अमरीकरोति हि मृतः कोऽन्यः करुणाकरः सूतात्॥
(रसरत्नसमुचय १।१३)

यही पारद 'रस' कहा जाता है और यही रस 'ईश्वर' है—'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति॥'
(तैति० उप० २।७।१)

इस मतमें जीवन्मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। पारदके सच्चे भस्मके साथ घर्षण करनेसे लोहा भी सोना बन जाता है। इसी रसके सेवनसे दिव्य, अजर, अमर शरीर प्राप्तकर साधक योगाभ्यासद्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यही 'रसेश्वर'-दर्शनकी साधनाका सिद्धान्त है।

इस 'रसेश्वर'-सिद्धान्तके अनेक ग्रन्थ भारतवर्षमें उपलब्ध हैं। उदाहरणके रूपमें बौद्धाचार्य नागार्जुनका 'रसरत्नाकर' है, जिससे वे 'सिद्धनागार्जुन' कहलाये। गोविन्दभगवत्पादाचार्यका 'रसहृदय', श्रीसायण-माधवाचार्यने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह'में विष्णुस्वामिकृत 'साकारसिद्धि' नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। 'रसार्णवतन्त्र'का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। 'रसेन्द्र-सार-संग्रह', 'रसमञ्जरी' इत्यादि अपेक्षाकृत आधुनिक होते हुए भी इसी सिद्धान्तके प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धतिके अनुयायियोंके मन्तव्यमें पारदका मूल्य अत्यन्त महत्त्वका है। सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Home and Village Doctor' के रचयिता बाबू सतीशचन्द्रदास गुप्त महोदयने अपने उक्त ग्रन्थमें पारदकी चर्चा करते हुए लिखा है कि 'The Kavirajas of Bengal swear by it' अर्थात् 'पारद' के समुचित प्रयोगसे प्रतिज्ञापूर्वक रोगकी शान्ति हो सकती है। मकरध्वजके ६५ अनुपातोंसे ६५ रोग मिट सकते हैं। तभी तो सुप्रसिद्ध शतककार राजर्षिप्रवर भर्तृहरिजीने रससिद्धोंको लक्षितकर अत्यन्त उचित कहा है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

संदर्भ-ग्रन्थसूची

१–सर्वदर्शनसंग्रह–अभयंकरोपाह्ववासुदेवशास्त्रिविरचि-

६. सर्वदर्शनसंग्रह,रसेश्वर-दर्शन–पृष्ठ २०४। हे देवि! अभ्रक तुम्हारा बीज है और मेरा बीज है पारद। इन दोनोंके एक साथ होनेसे मृत्यु और दरिद्रताका नाश होता है।

७. रसार्णवं नाम रसतन्त्रम्, प्रथमः पटलः, पृष्ठ ३। इस ग्रन्थमें अनेक प्रयोग मन्त्रसहित उपासनार्थ दिये गये हैं, जो गुरुगम्य हैं। अतः जिज्ञासुको वहीं देखने चाहिये।

८. उसीको रस-विद्या Alchemy कहते हैं।

तथा दर्शनाङ्कुराभिधया व्याख्यया समेतः, Government Oriental series, Class. A. No.1 Published by the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona. 1951.

२-रसरत्नसमुच्चय-(वाग्भट्टाचार्यरचितः), (कविराज श्रीअम्बिकादत्तशास्त्रीकृत व्याख्यासमेत) प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी (१९६१)।

३-रसार्णवं नाम रसतन्त्रम्-साहित्यायुर्वेदाचार्य-व्याकरणतीर्थ-दर्शनशास्त्रिणा पं० तारादत्तपन्तेन भागीरथ्या टिप्पण्या विभूषितं सम्पादितञ्च। प्रकाशक—'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' आफिस, वाराणसी (१९३९)।

४-रसमञ्जरी-वैद्यक-(पण्डितवरशालिनाथविरचित) (मुखियाजी रघुनाथजी मथुरानिवासिकृतभाषाटीकासहित) प्रकाशक—खेमराज-श्रीकृष्णदास, बम्बई (संवत् १९७२)।

५-रसपद्धति तथा लोहसर्वस्वम्-Published by Vaidya Yadavji Trikamji Acharya. Printed by Nirnaya Sagar Press, Bombay, Year 1925.

६-रसेन्द्रसारसंग्रह-(श्रीमद्गोपालकृष्णभट्टविरचितः) (सचित्रः) आयुर्वेदाचार्य पं० श्रीनीलकण्ठ मिश्र व्याकरणाचार्यकृतया 'रसायनी' समाख्यया भाषाटीकया विभूषितः। प्रकाशक—'पण्डित पुस्तकालय, काशी' । (संवत् २००४)।

७-भारतीय दर्शन-लेखक डॉ० पं० बलदेव उपाध्याय प्रकाशक—शारदामन्दिर, वाराणसी। (षष्ठ संस्करण-१९६०)।

चतुर्नवरात्रान्तर्गत श्रीचक्रोपासना

(लेखक—पं० श्रीकृष्णप्रसादजी शर्मा, धिमिरे, शास्त्री, काव्यतीर्थ)

उपासकको चाहिये कि वह नवरात्रारम्भके एक दिन पहले उस दिनका सारा कार्य समाप्त करके, दूसरे दिन आश्विन शुक्ल प्रतिपदाको प्रातःकाल शौच-स्नान आदिसे निवृत्त और पवित्र होकर, अपनी चित्तवृत्तिको सब ओरसे हटाकर, एकमात्र अपनी उपास्या देवीमें लगा ले। तदनन्तर साङ्गोपाङ्ग, सावरण, सायुध, सपरिवार, शक्ति, सिद्धि, मुद्रादिसहित भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी श्रीचक्रमयी परमेश्वरीकी चक्रपूजनके क्रमसे पूजा आरम्भ करे। इस पूजा-विधानमें प्रत्येक दिन एक-एक चक्रेश्वरी उस चक्रकी अधिष्ठात्री देवीकी ही पूजाका विधान है। पूजा-विधिके क्रमका यहाँ दिग्दर्शनरूपसे निर्देश किया जाता है। इस पद्धतिमें प्रतिदिन पूजा-सामग्री आदि और क्रम-विधान अलग-अलग ही होते हैं। पूजापात्रोंके स्थापन और पूजा-सामग्रीके सम्पादनका तो विधि एवं क्रमके निर्देशपूर्वक वर्णन प्रस्तुत विषयकी सभी पद्धतियोंमें बारंबार देखा जाता है, एवं इस प्रस्तुत उपासनाङ्कमें भी सम्भवतः पण्डितोंद्वारा उनका संनिवेश सम्भव है, इसलिये तथा लेखका कलेवर बड़ा न हो, इस भयसे भी उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। नवरात्रकी विशिष्ट पूजा-पद्धतिका निर्देशन ही यहाँ प्रस्तुत लेखके निर्देशनका हेतु है। जो कोई भी इस विषयके जिज्ञासु हों, वे उचित पत्र-व्यवहारके द्वारा अपनी जिज्ञासा हमें सूचित कर सकते हैं और हमसे प्रश्न पूछ सकते हैं; हम उन्हें शास्त्रीय सैद्धान्तिक एवं अपनी अनुभूत वस्तु-विशेषकी सूचना भी दे सकते हैं।

प्रथम दिवस प्रातःकाल भूपुरमें[1] अधिष्ठातृस्वरूपिणी त्रिपुराका, त्रिवृत्तमें त्रिपुरेश्वरीका सृष्टि-सृष्टिमय-चक्रमें विधानसहित पूजन होता है। वैसे ही मध्याह्न (दोपहर) में रुद्र-चण्डाका एवं सायंकाल दक्षिणाम्नायात्मिका-दक्षिणा-कालिकाका आवाहनादि क्रमके अवलम्बनपूर्वक शुद्धरूपसे संगृहीत पवित्र पूजा-सामग्रियोंसे पूजन करे।

दूसरे दिन प्रातःकाल षोडशदल-चक्रमें सृष्टिस्थित्यात्मक सर्वाशापरिपूरक-चक्रमें त्रिपुरेशीका, मध्याह्नमें प्रचण्डाका एवं सायाह्नमें महोग्रताराका ऊपर लिखे क्रमसे ही पूजन करना चाहिये।

तीसरे दिन प्रातःकाल अष्टदलपर सृष्टिलयात्मक-चक्रमें त्रिपुरसुन्दरीका, मध्याह्नमें चण्डोग्राका, सायाह्नमें ऊर्ध्वाम्नायात्मिका बालाका पूजन करना चाहिये।

१. श्रीचक्रके बाहरकी चतुरस्र रेखाका नाम 'भूपुर' है।

चौथे दिन प्रातःकाल चतुर्दशार मण्डलके स्थिति-सृष्ट्यात्मक सर्वसौभाग्यदायक-चक्रमें चक्रनायिका त्रिपुरवासिनीका, मध्याह्नमें चण्डनायिकाका एवं सायाह्नमें ऊर्ध्वाम्नायात्मिका गायत्रीका पूजन पूरा करना चाहिये।

पाँचवें दिन बहिर्दशारके स्थिति-स्थित्यात्मक-चक्रमें त्रिपुराश्रीका, मध्याह्नमें चण्डाका और सायंकालमें उत्तराम्नायात्मिका गुह्यकालिकाका आराधन करे।

छठे दिन सवेरे चक्रके अन्तर्दशारके स्थिति-लयात्मक-चक्रमें चक्रनायिका त्रिपुरमालिनीका, दोपहरमें चण्डवतीका, सायंकाल पूर्वाम्नायात्मिका भुवनेश्वरीका पूजन विधानसे करना चाहिये।

सातवें दिन प्रातःकाल अष्टारवर्ती लय-सृष्ट्यात्मक-चक्रमें त्रिपुरसिद्धाका, दोपहरमें चण्डरूपाका एवं सायंकाल उपाम्नायनायिका चामुण्डाका पूजन करे।

आठवें दिन प्रातःकाल त्रिकोणगत लय-स्थित्यात्मक-चक्रमें चक्रनायिका त्रिपुराम्बाका तथा मध्याह्नमें अतिचण्डाका और सायाह्नमें देवीकुब्जिकाका अर्चन करना चाहिये। इसी दिन विशेष अभिषेक और अधिवासन भी होते हैं। कर्मसिद्धिके लिये कर्मकुब्जिकाकी भी वहीं पूजा करनी चाहिये।

नवें दिन प्रातःकाल बिन्दुगत लय-लयात्मक-चक्रमें चक्रनायिका त्रिपुरसुन्दरीका पूजन करे। दोपहरमें महोग्र-चण्डिकाका एवं सायंकाल ऊर्ध्वाम्नायनायिका पञ्चदशीका विधानपूर्वक आराधन करे।

दसवें दिन अपराजिता आदि देवियोंका विशेष पूजा-विधान देखनेमें आता है। प्रतिदिन प्रतिपदासे लेकर नवमीपर्यन्त दशांश-क्रमसे त्रिकाल जप-हवन-तर्पण-मार्जन आदि क्रियाका अच्छी तरह सम्पादन करे।

इसी प्रकार भुक्ति-मुक्तिप्रदायिनी परमेश्वरी देवी कालीके उपासकोंको चाहिये कि नवचक्रेश्वरी देवियोंका आवाहन आदि क्रमसे पूजन करें; त्रिपुरा आदि देवीके नामके स्थानमें प्रथम दिनसे लेकर नवें दिनतक 'प्रथमं शैलपुत्री च द्वितीयं ब्रह्मचारिणी।'—इस श्लोकके विधानानुसार नाम लेकर आम्नायनायिका आदिका पूजन करे। यही आश्विन मासके पूजनका क्रम है। विशेष देखना हो तो 'बृहद् बडवानल-तन्त्र'में देखें।

इसी प्रकार माघ मासके नवरात्रमें भी शुक्ल प्रतिपदासे लेकर पूर्णिमापर्यन्त कामेश्वरी, भगमालिनी, नित्यक्लिन्ना, भेरुण्डा, वह्निवासिनी, महावज्रेश्वरी, शिवदूती, त्वरिता, कुलसुन्दरी, विमला, नित्या, नीलपताका, विजया, सर्वमङ्गला, ज्वालामालिनी, चित्रा, महात्रिपुरसुन्दरी आदि षोडश नित्याओंका प्रतिदिन आवाहनादि क्रमसे पूजन कर प्रत्येकको प्रसन्न करे। यहाँ इतनी विशेषता है कि प्रत्येक नित्याके ध्यान, अङ्गोपाङ्ग, मन्त्र आदि सब पृथक्-पृथक् ही हैं। श्रीचक्रके अन्तर्गत त्रिकोणमें नित्याओंके यन्त्रकी भावना करके पूजन करे। अथवा अलग ही उनके यन्त्र बनवाकर पूजन करे। इस क्रमसे देवी काली, कपालिनी, कुल्ला, कुरुकुल्ला, विरोधिनी, विप्रचित्ता, उग्रा, उग्रप्रभा, दीप्ता, महानीला, घना, बलाका, मात्रा, महामात्रा, मुद्रा, मिता आदि नित्याओंका पूजन करे। इनके भी यन्त्र-मन्त्र-ध्यान, अङ्गोपाङ्ग, आवरण अलग-अलग ही हैं, जो 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि', 'कालीतन्त्र-चिन्तामणि' में देखे जाते हैं।

इसी प्रकार चैत्र मासके नवरात्रमें भी सप्तशाम्भवी विद्याकी सपर्याका विधान देखा जाता है। इस उपासना-पद्धतिमें देवी कालीका केवल बिन्दुचक्रमें पूजन होता है। इस विधानमें पहले संक्षेप रीतिसे सम्पूर्ण श्रीयन्त्रका पूजन करके बिन्दुचक्रमें विशेष रूपसे भावित शाम्भव, महाशाम्भव, तुरीया, महातुरीया, निर्वाण, महानिर्वाण, सर्वाधिकार आदिका पूजन किया जाता है। इसीको 'सप्त-शाम्भव' कहते हैं। इसी प्रकार काली एवं महात्रिपुर-सुन्दरीका पूजन सम्पन्न होता है।

आषाढ़ मासके नवरात्रमें भी निर्वाण महात्रिपुर-सुन्दरी एवं निर्वाण दक्षिण-कालिकाका बिन्दुचक्रमें ध्यान स्थिर करके उनका साङ्गोपाङ्ग और आवरणसहित पूजन किया जाता है।

इन चारों नवरात्रोंमें पहले अपने दैनिक नित्य-पूजन-अर्चन करनेके अनन्तर ही नैमित्तिक अर्चन आदि क्रया-कलाप करना चाहिये।

इनके आधारभूत ग्रन्थरत्न ये हैं—जैसे 'कल्पद्रुम-तन्त्र'में लिखा है—

इषे कार्या महापूजा पूर्वोक्तविधिना शिवे।
माघे चैत्रे तथाऽऽषाढे तथैव बोधनं विना॥

माघे तु भोजनं दद्यान्नानाव्यञ्जनसंयुतम् ।
चैत्रे शुक्ले नवम्यां तु दुर्गां शम्यां समर्चयेत् ॥

हे शिवे ! आश्विन मासमें पूर्वोक्त विधिसे विस्तारपूर्वक महापूजा करनी चाहिये । वैसे ही माघ, चैत्र तथा आषाढ़में प्रबोधनके बिना पूजन करे; किंतु माघमें नाना प्रकारके व्यञ्जनोंसहित भोजन प्रदान करे और चैत्र शुक्ल नवमीमें भगवती दुर्गादेवीकी शमीमें अर्चना करे।'

'महाकालसंहिता' एवं 'बृहद् वड़वानल-तन्त्र'में भी लिखा है—

आश्विने सितपक्षस्य नवमी या शिवर्क्षयुक् ।
बोधयित्वेश्वरीं तस्यां शरदर्चनमारभेत् ॥
यावत् स्यान्नवमी शुक्ला तावत्पूजा प्रवर्तते ।
इत्येकपक्ष उदितो द्वितीयमवधारय ॥
चैत्रे शाम्भवसपर्या आषाढे निर्वाणार्चनम् ।
आश्विने श्रीचक्रेश्वर्याः पूजनं विधिपूर्वकम् ॥
इषे शुक्ले प्रतिपदि स्थापयेद् विधिवद् घटम् ।
अभ्यर्चेदावाहनादिक्रमाच्छ्रीचक्रनायिकाम् ॥
एकैव श्रीमहाविद्या नवधा सम्प्रकीर्तिता ।
माघमासे शुक्लपक्षे घटं संस्थापयेद् बुधः ॥
घटोपरि चक्रराजं स्थापयेद् विधिपूर्वकम् ।
आवाहयेत्साङ्गवर्णां श्रीमत्त्रिपुरसुन्दरीम् ॥
कामेश्वर्यादिकां नित्यां पूर्णिमान्तं यजेत् क्रमात् ।
प्रतिपद्येव शुक्लायां बोधयित्वा सुरेश्वरीम् ॥
अभ्यर्चयेन्नवाहानि तन्त्रपौराणिकैः क्रमैः ।
उदीरितो द्वितीयोऽयं तृतीयं कथयाम्यथ ॥
सायाह्ने बिल्वशाखायां षष्ठ्यां देवीं प्रबोधयेत् ।
प्रातः प्रवर्तते पूजा सप्तम्यादिदिनत्रये ॥
त्रैविध्यमीदृगर्चायाः ॥

'आश्विन मासके शुक्ल पक्षकी शिवजीके नक्षत्र (आर्द्रा) से युक्त जो नवमी तिथि है, उसमें जगन्माता ईश्वरीका प्रबोधन कर शारदीय पूजा प्रारम्भ करे । प्रतिपदासे प्रारम्भकर नवमीपर्यन्त पूजाक्रम चालू रक्खे । यह एक पक्ष कहा गया है । अब दूसरा पक्ष भी सुनो ।

'चैत्रमें शाम्भव-सपर्या, आषाढ़में निर्वाणार्चन, आश्विनमें श्रीचक्रेश्वरीका विधिपूर्वक पूजन करे ।

'आश्विन शुक्ल प्रतिपदाको विधिपूर्वक घटस्थापन करे और आवाहनादिक्रमसे श्रीचक्रनायिकाका पूजन करे । एक ही श्रीमहाविद्या नौ प्रकारसे कही गयी हैं ।

'विद्वान् माघ मासके शुक्ल पक्षमें घटस्थापन करे और उसपर विधि-विधानसे चक्रराजकी स्थापना कर दे । एवं अङ्ग और आवरणसहित श्रीत्रिपुरसुन्दरीका आवाहन करे तथा पूर्णिमातक क्रमसे कामेश्वरी आदि नित्याओंका पूजन करे ।

'शुक्ल प्रतिपदाको ही सुरेश्वरीका प्रबोधन कर तान्त्रिक और पौराणिक क्रमसे नौ दिनतक पूजन करे । यह दूसरा पक्ष है । अब तीसरा कहता हूँ—षष्ठी तिथिमें सायंकाल बिल्वकी शाखामें देवीका प्रबोधन करे एवं सप्तमीके प्रातःकालसे सप्तमी, अष्टमी, नवमी तीन दिनतक पूजा चालू रक्खे । इस प्रकार पूजाके तीन भेद कहे गये हैं ।'

निर्भय योगी

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनःसंयमः ।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजन-
मेते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्भयं योगिनः ॥

'धैर्य जिसका पिता है, क्षमा माता है, नित्य शान्ति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया भगिनी है तथा मनःसंयम भ्राता है, भूमितल ही जिसकी सुकोमल शय्या है, दिशाएँ ही वस्त्र हैं और ज्ञानामृत ही जिसका भोजन है, जिसके ये सब कुटुम्बी हैं, कहो मित्र ! उस योगीको किससे भय हो सकता है ?'

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि

(लेखक—श्रीकैलाशनाथजी द्विवेदी, एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, यू० जी० सी०, रिसर्च फेलो)

योगविद्या हमारे भारतीय दर्शनकी उत्कृष्ट कोटिकी उपलब्धि है, जिसकी आधार-भूमि ही प्रायोगिक होनेसे वह जीवनके साध्य-गम्य-रूपमें परिलक्षित होती है। साध्य (ईश्वर-प्राप्ति) तक पहुँचनेकी साधनस्वरूपा अष्टाङ्गयोगकी अन्तिम सीढ़ी समाधि है, जिसमें साधक चेतनावस्थामें भी ध्यानकी प्रक्रिया तथा ध्येयकी पृथक्ताका अनुभव न करता हुआ, आत्मविलीन होकर अपनी चित्तवृत्तिको केवल ध्येयाकार ही कर देता है। महर्षि पतञ्जलिद्वारा इसका इस प्रकार निरूपण किया गया है—

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।'

(यो० सू० ३ । ३)

सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि इसी समाधि-स्थितिके ही दो स्वरूप हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि

साधकके चित्तकी वह एकाग्रावस्था (बाह्य-विषयोंसे निवृत्ति) है, जब उसकी भावना-हेतु एक निश्चित आधार (आलम्बन) विद्यमान रहता है। यही 'सबीज समाधि' भी है, जो समापत्तिसे भी भिन्न नहीं कही जा सकती। महर्षि पतञ्जलि*के अनुसार यह (सम्प्रज्ञात) समाधि चार प्रकारकी होती है—

(१) सवितर्क समाधि, (२) सविचार, (३) सानन्द तथा (४) सास्मिता समाधि।

(१) सवितर्क समाधि

'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।'

(यो० सू० १ । ४२)

अर्थात् जहाँ 'शब्द, अर्थ एवं ज्ञान—तीनोंका अनुभव (भान) बिना भेदके ही साधकको होता है, वही वितर्क है—यानी स्थूल विषयकी अनुभूति। वितर्ककी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

'विशेषेण तर्कणम् (शब्दार्थज्ञानविकल्परूपम्) यत्र।'

इसी वितर्कसे ही स्थूल-विषयका साक्षात्कार होता है। जैसे—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—स्थूल पञ्चभूतों की भावना जब शब्दार्थोल्लेखपूर्वक हो, तब 'सवितर्क समाधि' की स्थिति होगी।

(२) सविचार समाधि

'विचारः' 'विशेषेण चारः (सूक्ष्मवस्तुपर्यन्तः संचारो) यत्र।'

अर्थात् जिस समाधिकी स्थितिमें चित्त सूक्ष्म वस्तुओं (विषयों) तक ही संचरण करता है, उसे 'सविचार समाधि' कहते हैं। ये सूक्ष्म-विषय† पञ्चतन्मात्र हैं, जो अस्थूल (अलिङ्ग) हैं, जिनपर साधककी भावना टिकती है, उस साक्षात्कारावस्था 'सविचार समाधि' कहलाती है।

(३) सानन्द समाधि

साधककी सात्त्विक अहंकारजन्य दशेन्द्रियविषयक भावनावस्था ही 'सानन्द समाधि' कही गयी है। इन्द्रिय-सुखस्वरूपा हैं; क्योंकि रज तथा तमके प्रभावसे हीनसत्त्वयुक्त होनेके कारण उनमें सुखभावनाकी प्रबलता रहती है। अतः इन्द्रियविषयक सुख-भावनाकी प्रधानतासे इसे 'सानन्द समाधि'की संज्ञा ठीक ही दी गयी है।

(४) सास्मिता समाधि

इन्द्रियजन्य अहंकारोपाधिक (बुद्धि या अहंकार, प्रकृति या पुरुषविषयक) जो भावना साधक करता है, वह अस्मिता [बुद्धि पर-चित्के प्रतिबिम्बित होनेपर अहमस्मि—मैं (पुरुष=आत्मा या ईश्वर) हूँ] से युक्त रहती है। अतः इसे 'सास्मिता समाधि' कहा जाता है; क्योंकि इसमें अहंकारोपाधिक पुरुषकी भावनाकी प्रधानता रहती है।

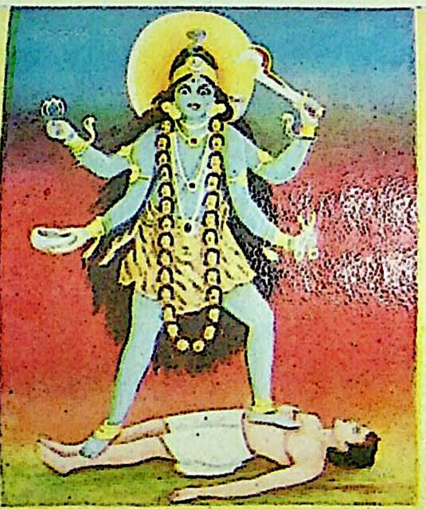
सम्प्रज्ञात समाधिके उपर्युक्त ४ भेदोंको योगसूत्र १ । ४१—'क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः' के आधारपर प्रकारान्तरसे ३ भेदोंमें व्यक्त कर सकते हैं—

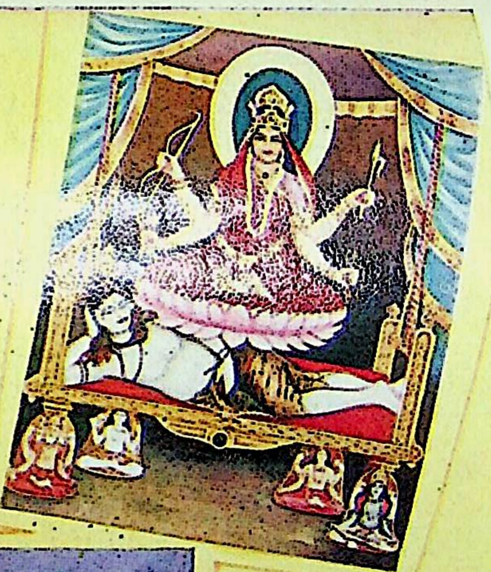
(१) **ग्राह्य-समापत्ति**—सवितर्क तथा सविचार समाधिका स्वरूप इसके अन्तर्गत आ जाता है; क्योंकि ग्राह्य (भाव्य) पदार्थ दो प्रकारके होते हैं—(१) स्थूल (जिनके

* यो० सू० १ । १७—'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।'

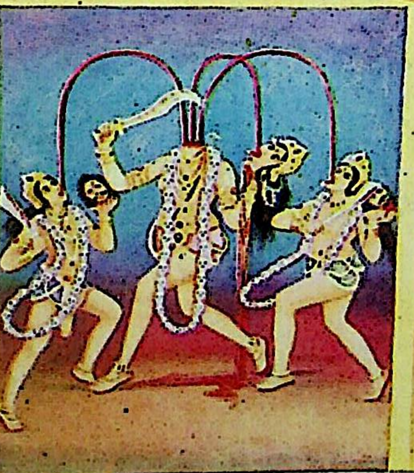
† यो० सू० १ । ४५—'सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।'











दश महाविद्यामें पाँच—काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी और छिन्नमस्ता ।

अन्तर्गत पञ्चमहाभूत आते हैं) तथा (२) सूक्ष्म (जिनमें पञ्च-तन्मात्राएँ आती हैं), जिनका आलम्बन इन दोनों (सवितर्क और सविचार) समाधियोंमें विद्यमान रहता ही है।

(२) ग्रहण-समापत्ति—सानन्द समाधिसे अभिन्न है; क्योंकि मूलतः इन्द्रियोंकी इसमें प्रधानता रहती है, जो सम्बन्धित विषयोंको ग्रहण करती है।

(३) ग्रहीतृ-समापत्ति—सास्मिता समाधि। क्योंकि पुरुष (अहमस्मि) के ग्रहीता होनेसे तद्विषयक समाधि 'ग्रहीतृ'की संज्ञासे अभिहित की गयी है।

यह सम्प्रज्ञात समाधि 'समापत्ति'से भिन्न नहीं है। जैसे विशुद्ध स्फटिकमणिके समक्ष किसी भी रंगका पुष्प रखनेपर वह भी पुष्पसे अभिन्न प्रतीत होती है, इसी प्रकार शुद्ध चित्तकी अवस्था होती है, जिसपर चेतन (चित्) का प्रतिविम्ब जब पड़ता है तो चिन्मय हो जाता है।

इस सम्प्रज्ञात समाधि (समापत्ति) को इस प्रकार तालिकासे व्यक्त कर सकते हैं—

विषय	समाधि	समापत्ति
(क) विषय		
(१) स्थूल—पञ्चमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश)	सवितर्क	ग्राह्य-समापत्ति
(२) सूक्ष्म—पञ्चतन्मात्र (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तन्मात्रा)	सविचार	
(ख) इन्द्रिय—दश (पञ्चज्ञानेन्द्रिय + पञ्चकर्मेन्द्रिय)	सानन्द	ग्रहण-समापत्ति
(ग) इन्द्रियोंसे भी सूक्ष्म तत्त्व—(अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, पुरुष)	सास्मिता	ग्रहीतृ-समापत्ति

स्थूलरूपसे सम्प्रज्ञात समाधिके यही चार भेद हैं, जिनमें प्रथम दो सवितर्क तथा सविचारके भी और भी दो भेद होते हैं। किंतु विस्तारभयसे इतना ही पर्याप्त है (विशेष ज्ञानके लिये योगसूत्र १। ४२, ४३, ४४ पर व्यास-भाष्यका अवलोकन कीजिये)।

असम्प्रज्ञात समाधि

जब साधक अपनी एकाग्रावस्था (बाह्य विषयोंसे पूर्ण निवृत्तावस्था) में चित्तको (भावना-हेतु) निराधार (आलम्बन-हीन) कर लेता है—अर्थात् जब स्थूल और सूक्ष्म कोई आलम्बन नहीं होता। ऐसी शून्ययुक्त-सी समाधिकी उच्च स्थिति 'असम्प्रज्ञात'की संज्ञासे अभिहित की गयी है। यही 'निर्बीज-समाधि' है; क्योंकि इसमें संसारोत्पादक बीजोंका बिल्कुल अभाव रहता है। अतः सृष्टि-बीज-निरोध करनेसे इसको 'निर्बीज समाधि' उचित संज्ञा दी गयी है—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजसमाधिः।

(यो० सू० १। ५१)

इस उच्चकोटिकी समाधि स्थितिमें सभी संस्कारों, स्मृतियों, स्वरूपों, भावनाओं, अभ्यास (feelings), वितर्कों (विकल्पों) का अभाव ही पाया जाता है। इसलिये इसका 'निर्वितर्क' अथवा 'निर्विकल्पक समाधि' अपर अभिधान ग्रहण किया जाता है।

'असम्प्रज्ञात समाधि'में साधककी चित्तवृत्तियोंका अन्तिम स्थितिमें निरोध हो जाता है तथा उस निरोधावस्थाकी समता उस भुने हुए बीजसे दी जा सकती है, जो अङ्कुरोत्पादनमें सर्वथा असमर्थ रहता है। इसी प्रकार निरुद्ध-स्थितिमें चित्त-वृत्ति कार्योत्पादनमें पूर्णरूपेण असमर्थ रहती है; केवल वह संस्कारमात्र ही अवशिष्ट रहती है। यही असम्प्रज्ञात समाधि-का स्वरूप है, जिसकी उपलब्धिका मूलाधार 'वैराग्याभ्यास' ही है।

इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि, जो सम्प्रज्ञात समाधि (जिसमें साधक ध्येयाकार चित्तवृत्तिसे युक्त रहता है) का ही उत्कृष्ट कोटिका स्वरूप है, स्थूल एवं सूक्ष्म आलम्बनसे सर्वथा शून्य है। इसकी सिद्धि सामान्यतः 'वैराग्याभ्यास'से ही सम्भव है।

आज आधुनिक भारतको ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न ऐसे महान् साधकोंकी बड़ी आवश्यकता है, जो समाधिके इन उत्कृष्ट स्वरूपोंकी सिद्धि कर योग-विद्याकी सार्थकता (विश्वकल्याण-हेतु) सिद्ध कर सकें। वैसे यहाँ ऐसे साधु-संन्यासियोंकी अब भी कमी नहीं है, जो अपनी संयम-सम्पन्न साधनाको एकान्तमें समाधि-स्थित होकर सफल बना रहे हैं, किंतु खेद है, कतिपय सांसारिक स्वार्थोंसे ग्रस्त 'रँगे-संन्यासी' समाधिके चमत्कार-प्रदर्शनद्वारा धनार्जनमें भी लगे रहते हैं। यौगिक शक्तियोंका दुरुपयोग वस्तुतः शोचनीय विषय है। क्या उसका सार्वजनीन सदुपयोग नहीं होना चाहिये ?

समाधिके विविध स्वरूपोंका परिचय

(लेखक—डा० श्रीचतुर्भुजसहायजी)

समाधि

समाधिके अर्थ बड़े विस्तृत हैं । अनेक ऋषियोंने इसके अर्थ अनेक प्रकारके लगाये हैं । कोई आत्माको परमात्मामें मिला देनेको समाधि बतलाते हैं । कोई प्राण, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके व्यापार बंद कर देनेको समाधिका नाम देते हैं, इत्यादि । परंतु भगवान् श्रीकृष्णने समाधिकी जो व्याख्या की है, वास्तवमें वही 'समाधि'के अर्थ हैं । वे बतलाते हैं कि "गुणोंको समतामें ले आना और व्यवहारमें परमार्थ और परमार्थमें व्यवहारका प्रवाह स्वाभाविक चलने लगना ही 'समाधि' है ।"

'समाधि' शब्दमें दो शब्द मिले हुए हैं—एक 'सम' और दूसरा 'अधि' । यदि व्याकरणसे दोनोंके अर्थ निकाले जायँ तो यही बात समझमें आती है कि गुणोंकी साम्यावस्था ही 'समाधि' है । प्रकृतिके ये गुण तीन हैं—सत्, रज और तम । ये ब्रह्माण्डमें रहकर कार्य करते हैं और हमारे अंदर भी इन्हींका कारोबार चल रहा है । इनकी विषमतामें मनुष्यको क्रोध, अशान्ति और दुःख मिलता है । जिन उद्योगशक्तियोंने गुरुका सहारा ले उनकी शिक्षापर चलकर इन गुणोंकी विषमताको अपने भीतरसे हटा दिया है और इनको एक-धार करके समतामें बहा दिया है, वही योगिराज एवं परम संत है । वही जीवन्मुक्त पुरुष आनन्द और शान्ति-धामके निवासी हैं । किंतु यह बहुत ऊँची बात है । मायाकी सातवीं मंजिलसे भी परेकी अवस्था है । विरलोंके ही भाग्यकी चीज है । इसलिये इस विषयपर हम नीचेसे ही चलते हैं ।

(१) हठयोगकी समाधि

समाधिके अनेक भेद हैं । प्रत्येक स्थानकी समाधि अपना रूप और गुण अलग-अलग रखती है । जिज्ञासु जब साधना-जगत्में प्रवेश करता है और ऊर्ध्वगतिसे ऊपरको बढ़ता है तो पहली समाधि उसे प्राणमय कोशकी अन्तिम सीमापर मिलती है । इस समाधिमें साधकके हृदयपटसे रज और सत्का प्रभाव हट जाता है अतएव वह एक व्यायाम मात्र या केवल अचेतन-सी अवस्था रह जाती है, जिसे तामस आवरण भी कहा जाता है । अतः इस हठयोगसे ऊपर उठकर राजयोगमें प्रवेश करना होगा, फिर उससे भी और आगे चलना होगा तब ध्येय प्राप्त हो सकेगा । हमने जिस समाधिका नाम लिया है और आगे लिखने जा रहे हैं, वह यह समाधि नहीं है, वह ज्ञानपूर्वक समाधि है—चैतन्य समाधि है । इस चैतन्य-समाधिसे शीघ्र साक्षात्कार होता है ।

(२) राजयोगकी समाधि

हठयोगकी तथा चैतन्य-समाधियोंके बीचमें तीन अवस्थाएँ और आती हैं, जिनमें इन दोनों समाधियोंकी मिलावट रहती है; अज्ञान और चैतन्यताकी मिली-जुली हालत उनमें चलती है । ये राजयोगकी समाधियाँ कहलाती हैं, जो मनोमय कोशके स्थानपर साधकको आती हैं । यह उस पहलीसे श्रेष्ठ है, पर जिसको हम बतलाने चले हैं, वह ये भी नहीं है; वह इनसे आगे है । कुछ आचार्योंने इनको समाधिका नाम दिया है, पर योगके रचयिता महर्षि पतञ्जलिने इनको भी समाधिकी श्रेणीमें नहीं लिया, साधना ही माना है ।

(३) ज्ञानयोगकी समाधि

इसके परे ज्ञानयोगकी समाधियाँ आती हैं जो विज्ञानमय कोशके बुद्धिक्षेत्रकी हैं । महर्षि पतञ्जलिके मतानुसार योगविद्याका आरम्भ यहाँसे ही चलता है । यहाँसे नीचे मनोमयतक साधनावस्था ही है । योगके स्थानतक पहुँचनेकी तैयारी है—योग नहीं है । उनके कथनानुसार 'सविकल्प' और 'निर्विकल्प' (जिसे 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क' भी कहते हैं) और 'सविचार' और 'निर्विचार'के भेदसे पहली समाधि 'सम्प्रज्ञात' और दूसरी समाधि 'असम्प्रज्ञात' है जो ज्ञानयोगकी है ।

सम्प्रज्ञात समाधि

सविकल्प समाधि और निर्विकल्प समाधि

सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद हैं—'सविकल्प समाधि' और 'निर्विकल्प समाधि' । इसे 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क' समाधि भी कहते हैं । तीसरी 'सविचार' और चौथी 'निर्विचार' समाधि है ।

वेदान्त जिसको 'विज्ञानमय कोश' कहता है, संत उसको 'त्रिकुटी' कहते हैं। इसीका नाम त्रिकूटपर्वत वा कैलास-गिरि है; क्योंकि इसकी चोटीपर शिवका स्थान है। इस त्रिकुटीके स्थानमें भी पञ्चतन्मात्राओंको लेकर कुण्डलिनी शक्तिने पाँच स्थान बनाये हैं और इनके ऊपर छठा संधि-स्थान है। इस प्रकार छः स्थानोंमें ठहरती हुई और अपने कारोबारके सिलसिलेको मजबूत बनाती हुई सुरतिकी धार यहाँ व्यापक हो गयी। पाँच तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इस त्रिकुटीमें—कारण-अवस्थामें होते हैं। शास्त्रोंकी भाषामें इन्हींका नाम 'तन्मात्रा' है।

त्रिकुटीके निचले भागमें जब साधक प्रवेश करता है तो सबसे प्रथम उसे 'सविकल्प समाधि'की अवस्था प्राप्त होती है। यह पहली समाधि है, जो विज्ञानमय कोशमें आती है। जब साधक इससे आगे बढ़ता है, तो दूसरी समाधि आती है जिसको 'निर्विकल्प' कहते हैं। यह निर्विकल्प समाधि सविकल्प-की ही ऊँची एवं अन्तिम अवस्था है। इन दोनोंको 'सवितर्क' और 'निर्वितर्क समाधि' भी कहते हैं।

सविकल्प—इस सविकल्प समाधिमें सूक्ष्म मन और सूक्ष्म बुद्धि दोनों मिलकर सृष्टिके उन पदार्थोंके रूप और गुणका निर्णय करते हैं, जिनमें पृथ्वी, जल और अग्नि—इन तीन स्थूल तत्त्वोंका प्राधान्य रहता है, जिनको हम अपने बाहरी नेत्रोंसे देखते हैं और जिनको हम 'स्थूल' कहते हैं। रोजाना देखते हुए और रोजाना इस्तेमाल करते हुए भी जो बारीकियाँ उन पदार्थोंके अंदर छिपी थीं, उनको हम नहीं जान सके थे। सविकल्प समाधिमें ये सब भेद खुलते हैं। उसकी बनावटमें अन्तर क्या है? उसका भीतरी रूप क्या है? वह वस्तु कौन-सा गुण और अवगुण रखती है। इस तरह लोक-लोकान्तर, सूर्य, चन्द्रमा, तारे, पृथ्वी और पृथ्वीपर-की वस्तुएँ, अण्डज, स्वेदज, जरायुज तथा उद्भिज्ज चारों प्रकार-की सृष्टि, वृक्ष और लताओंके गुण एवं उनकी भीतरी बनावट इत्यादि समाधि अवस्थामें खुली आँखों दृष्टिगोचर होते हैं। उनका पूरा नक्शा दिमागमें खिंच जाता है। यद्यपि हम उस समय समाधिमें होते हैं, बाहरी ज्ञान हमको नहीं होता, शरीरका होश भी नहीं रहता; परंतु फिर भी हमको उस समय ऐसा जान पड़ता है कि हम जाग रहे हैं, अपने होश-में हैं और ये सब ठीक-ठीक हमको दिखायी दे रहे हैं।

निर्विकल्प—इस प्रकार अपने ज्ञाननेत्रोंसे देखते और समझते हुए ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों ही हमको ऐसा अनुभव होता है कि हमारा मन थकित होता जा रहा है। वह इस कामसे पीछे हटने और बुद्धिका साथ छोड़नेके लिये उत्सुक हो रहा है। अन्तमें एक दिन ऐसा आ ही जाता है कि अपनी संकल्पशक्तिको लेकर मन पीछे हट जाता है और बुद्धिके उस कामको बंद कर देता है। अकेली बुद्धि कुछ नहीं कर सकती; इसलिये वह भी चुप होकर अलग जा खड़ी होती है। अब न कोई दृश्य है और न दृश्यका ज्ञान तथा अज्ञान है। इस अवस्थाको कहते हैं—'निर्विकल्प समाधि'। जिस समाधिमें कल्पना या तर्क न रहे, वह 'निर्विकल्प' या 'निर्वितर्क समाधि' कही जाती है। इन दोनोंमें जीवके अंदर द्वैतावस्था रहती है। 'मैं' और 'मुझसे' भिन्न ये पदार्थ, जिनको मैं देख रहा हूँ और समझ रहा हूँ, द्वैत है।

सविचार और निर्विचार

मनके चले जानेपर बुद्धि चित्तको आकर्षित करती है। शुद्ध और सात्त्विकी चित्त ऊपर उठकर बुद्धिसे मिलता है और बुद्धि चित्तकी विचारशक्ति लेकर उसी अवस्थामें फिर अपना काम शुरू कर देती है। पहिले कल्पना थी, अब विचार है। कल्पना शङ्काको पूर्णरूपसे नहीं दूर करती; इसलिये उसमें तर्क-वितर्क आते रहते हैं। वह (कल्पना) निर्णयात्मक ज्ञान नहीं देती। कल्पना वस्तुके ऊपर-ही-ऊपर चक्कर लगाती है। वह गहराईमें जाकर पूरा पता नहीं लाती; इसलिये पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। विचारकी तेज और नुकीली धार परदोंको चीरती हुई पदार्थके अंदर प्रविष्ट हो जाती है और उसके भीतर क्या भरा है, इसका ठीक-ठीक पता लगाती है, उस समय सच्चा और यथार्थ ज्ञान मिलता है। सविकल्प समाधिमें स्थूल पदार्थोंका ज्ञान हुआ था—पृथ्वी, जल और अग्नि-तत्त्वोंसे बने हुए लोक-लोकान्तर और शरीर दृष्टिगोचर हुए थे और वह ज्ञान भी शङ्कारहित नहीं था। अब यहाँ सविचारमें सूक्ष्मतत्त्व सम्मुख आते हैं। उनसे बहुत-से पदार्थ साफ-साफ दिखायी देते हैं और उनका यथार्थ ज्ञान होता है जिसमें शङ्काको कोई स्थान ही नहीं रहता। ऐसा ज्ञान ही निश्चयात्मक ज्ञान बोला जाता है, जिसमें आत्माको संतोष हो जाय और कोई संदेह न रहे। प्रकृतिके आठ तत्त्वोंमें तीन तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि) सविकल्पमें तै हो गये। अब बचे हुए पाँचमेंसे सूक्ष्मके दो तत्त्व वायु और आकाश

सविचार समाधिमें दिखायी देते हैं और उनके कार्य भी नजर आते हैं। शेष कारणके तीन तत्त्व मन, बुद्धि और अहंकार निर्विचार समाधिमें अनुभवमें आते हैं, चूँकि यहाँ कुछ विचार तो रहता नहीं है, केवल अनुभवमें आता है। और यह अनुभव लिखने और कहनेमें नहीं आता है। यह तो स्वयं अनुभव करनेसे ही समझमें आ सकता है।

✓असम्प्रज्ञात समाधि

जब साधक सम्प्रज्ञात समाधिकी सविकल्प और निर्विकल्प, सविचार और निर्विचार—इन चार अवस्थाओंको पारकर ऊपर उठता है तो उस समय एक और विशेष अवस्था आती है जिसमें कल्पना, विचार और विवेक—ये तीनों शक्तियाँ नीचे छूट जाती हैं। इन शक्तियोंके द्वारा जो ज्ञान हमको निचली अवस्थाओंमें मिला था, उसकी केवल स्मृति या याद हमारे दिमागमें रहती है। इस समय हमारे अंदर एक बेहोशीकी हालत होती है, जिसमें हमको अपना ज्ञान नहीं होता। अपनेसे बाहरकी वस्तुका भी ज्ञान नहीं रहता, परंतु जो कुछ देखा या समझा था, उसकी स्मृति शेष रहती है। स्मृतिके पर्देपर उन सूक्ष्म वस्तुओंके ये रूप जो मायाने रचे हैं, धुँधलेसे दिखायी पड़ते हैं; परंतु विचार और विवेकके न होनेसे हम उनका निर्णय नहीं कर सकते। नक्शेकी उन शक्लोंको देखकर हम कोई फैसला नहीं दे सकते कि यह क्या चीज है। उस समय हम अवाक्‌से रह जाते हैं। हमारी बुद्धि मारी जाती है, हमारा दिमाग फेल हो जाता है और हम आश्चर्यचकित-से उन रूपोंको देखते ही रह जाते हैं, पर कुछ फैसला नहीं दे सकते। इस अवस्थाको शास्त्रोंने 'असम्प्रज्ञात समाधि' का नाम दिया है।

✓ शून्य और महाशून्य समाधि

संत-समाजने असम्प्रज्ञातके भी तीन भेद माने हैं, जिसको 'असम्प्रज्ञात', 'शून्य' और 'महाशून्यका' नाम दिया है। ये सब बुद्धिकी विशेष अवस्थाएँ हैं जो विज्ञानमय कोशमें साधकोंको आती हैं। आगे आनन्दमय कोशका स्थान है जिसकी समाधिको 'धर्ममेध' कहकर महर्षि चुप हो गये हैं—उसकी अधिक व्याख्या उनके दर्शनमें नहीं मिलती।

✓ साम्ययोग वा सहज समाधि

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें एक और समाधिका वर्णन किया है, जिसका नाम उन्होंने 'साम्ययोग' रक्खा है। योग और समाधि शब्दोंके अर्थ एक ही होते हैं, इसलिये इसको 'साम्यसमाधि' भी कह सकते हैं। योगदर्शनकी 'धर्ममेध समाधि' सम्भव है, यही हो, इसलिये इसी समाधिकी साम्यावस्थाको ही सबसे ऊँचा माना जाता है। जैसा कि कहा है—'समत्वं योग उच्यते' अर्थात् सब योगोंसे ऊँचा समयोग है। इस समाधिकी अवस्थामें ज्ञानमें अज्ञान और अज्ञानमें ज्ञान रहता है। जाग्रत्‌में सुषुप्ति और सुषुप्तिमें जाग्रत्‌की अवस्था साधक अनुभव करता है। मूढ़ समाधि अथवा विज्ञानमय कोशकी सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातकी तरह उसके बाहरी कारोबार समाधिमें रुकते नहीं हैं। वह किसी विशेष अवस्थामें अपनेको नहीं रखता, बल्कि सारे व्यावहारिक काम करता हुआ लोगोंको दिखायी देता है, पर अन्तरमें वह अपनेको सबसे अलग-अलग और सबसे ऊँचा रखता है। एक ओर वह आत्माके अमृत-रसको पान करता हुआ परमार्थमें जुटा रहता है और दूसरी ओर व्यावहारिक कार्य करता हुआ संसारी बना रहता है। तराजूके दोनों पल्ड़े उसके बराबर रहते हैं, न इधर कमी, न उधर कमी। कर्त्तामें अकर्त्ता और अकर्त्तामें कर्त्तापनकी यह अवस्था उसकी ऐसी स्वाभाविक चलती रहती है, जिसके लिये उसे कोई विशेष उद्योग नहीं करना पड़ता। वह अपनेको कर्मोंमें लिप्त नहीं होने देता, बल्कि यह जगत्‌की मायावी मशीन जो कुछ करती जाती है, उसे वह दूर खड़ा हुआ देखता रहता है। संस्कारवश उसके जीवनमें भी सुख और दुःख आते हैं, अच्छे और बुरे कर्म भी उसके शरीरद्वारा होते रहते हैं पर इनमेंसे किसीके लिये वह कर्त्तापनका अभिमान अपने अंदर नहीं करता। केवल द्रष्टा रहता है। अपने अथवा दूसरोंके अच्छे और बुरे कर्मोंके फल भी उसके सम्मुख आते हैं, पर वह उनके लिये भी द्रष्टा ही रहता है। जहाँ कर्त्तापनका अभिमान उसमें नहीं रहता, वहाँ भोक्तापनका भ्रम भी उसका दूर हो जाता है। यह ज्ञान उसका अपने ही तक सीमित नहीं रहता, बल्कि दूसरोंको भी वह कर्त्ताकी दृष्टिसे नहीं देखता, इसलिये उसके राग-द्वेष छूट जाते हैं। सुख मिलनेपर वह संसारियोंकी तरह हर्षसे फूल नहीं जाता और विपत्ति आनेपर घबरा नहीं जाता। दोनों दशाओंमें एक-सा ही रहता है। इस प्रकार वह हर्ष-शोकके भी परे हो जाता है। प्राणी मायाके प्रवाहमें बहता हुआ ऊपर-नीचे होता है, इसीलिये उसे अशान्ति और दुःख रहता है। ऐसा मनुष्य द्रष्टा बनकर इस द्वन्द्वसे बच निकलता है और पूर्ण शान्ति

पूर्ण ज्ञान और पूर्ण सुखको सदैवके लिये प्राप्त कर लेता है। यह 'साम्ययोग' या 'साम्यसमाधि' मानी जाती है और वास्तविक समाधिके अर्थमें ही यह समाधि आती है; अतः इसको 'सहज समाधि' कहते हैं।

उन्मीलन-समाधि तथा निमीलन-समाधि

किसी एक विशेष अवस्था (हालत) में कुछ देरतक मन और शरीरको टिकाये रखनेको यौगिक भाषामें 'मुद्रा' कहा जाता है। हठयोगमें ऐसी मुद्रा दस हैं। इन्हींमें एक 'उन्मनी मुद्रा' भी है। इस उन्मनी मुद्राके दो रूप होते हैं—एक प्रारम्भिक और दूसरा अन्तिम। इसीको प्रथम प्रारम्भिकको 'उन्मीलन समाधि' तथा दूसरा अन्तिमको 'निमीलन समाधि' कहा जाता है।

उदासीनता, सूक्ष्मता और आकर्षण—ये तीन बातें इसकी प्रारम्भिक अवस्थामें आती हैं। तन्मयता और ठहराव इसकी अन्तिम अवस्थामें प्रकट होते हैं। यह सब सत्त्वगुणके प्रभावसे होता है। अन्तरमें सत्त्वगुणके उदय होते ही चित्तमें उदासीनता आने लगती है। वह (चित्त) बाहरी दुनियाँसे हटकर अपने अन्तरकी ओर चलने लगता है। यहाँकी किसी वस्तुमें, भोगविलासमें उस समय उसकी रुचि नहीं रहती। उसका चित्त एकदम इधरसे उपराम हो जाता है। इन्द्रियोंकी ओर उसका झुकाव नहीं रहता, विषयवासना नीरस और थोथी जान पड़ती है। किसीसे कुछ कहना अथवा किसीकी बात सुनना बुरा मालूम देता है। इसका नाम 'उदासीनता' है।

उदासीनताके साथ सूक्ष्मता और आकर्षण भी होता है। शरीर फूलकी तरह हल्का जान पड़ता है। श्वासकी गति धीरे-धीरे धीमी पड़ती जाना, यहाँतक कि श्वास लेनेवालेको और समीप बैठे हुए देखनेवालेको भी उसका ज्ञान न हो सके, परंतु श्वास चल रही हो; मस्तिष्कके विचार शान्त होते चले जा रहे हों, इसको 'सूक्ष्मता' कहते हैं। इस अवस्थामें जीव अपने स्थूल अङ्गोंसे उसके सूक्ष्ममें प्रवेश करता है, इसलिये ऐसा अनुभव होता है।

इस सूक्ष्मताके साथ एक विशेष आनन्ददायक आकर्षण भी होता है, जो बड़ा ही अच्छा लगता है। ऐसा जान पड़ता है कि मन अपनी उन धाराओंको जो बाहर प्रवाहित हो रही थीं, समेट रहा है। उतनी देरके लिये विषयोंकी वासना एकदम लुप्त हो जाती है। वासनाके लुप्त होनेसे इन्द्रियोंके कपाट बंद हो जाते हैं और वह सिमिट-सिमिटकर अपने केन्द्र (मन) की ओर खिंचने लगती है। शरीरका रोम-रोम भीतरको खिंचता हुआ-सा जान पड़ता है। चित्त अपनी तरङ्गें शान्त करने लगता है और वृत्तियोंका जो बहाव बाहरकी ओर था उसे खींचकर फिर अपने उदरमें भरने लगता है!

है उपासना, नहीं भुलाना

(रचयिता—श्रीप्रसाद-प्रभाकर)

अन्धेकी लाठी बन जाना, भटके जनको राह दिखाना। और अनाथोंको अपनाना—है उपासना, नहीं भुलाना ॥ १ ॥
कष्ट सभीके दूर हटाना, कण्टक चुनना, सुमन सजाना। अन्धकारमें ज्योति जगाना—है उपासना, नहीं भुलाना ॥ २ ॥
भूखे जनकी क्षुधा मिटाना, प्यासेको जल-पान कराना। रोगीको औषध पहुँचाना—है उपासना, नहीं भुलाना ॥ ३ ॥
शोक-विकलको गले लगाना, रोतोंको धीरज बँधवाना। आहोंमें सुख चैन बसाना—है उपासना, नहीं भुलाना ॥ ४ ॥
निर्धनको निज अर्थ लुटाना, निर्बलका बल बन दिखलाना। निर्जनका निजजन बन जाना—है उपासना, नहीं भुलाना ॥ ५ ॥
अपने प्रणपर प्राण गँवाना, जो कुछ कहना कर दिखलाना। कर्मवीर जगमें कहलाना—है उपासना, नहीं भुलाना ॥ ६ ॥
सदा धर्मपर बलि-बलि जाना, कुपथ छोड़ सत्पथ अपनाना। सज्जन-सेवामें सुख पाना—है उपासना, नहीं भुलाना ॥ ७ ॥
काम-क्रोधको मार भगाना, द्वेष-वैरको दूर हटाना। प्रभु-चिन्तनमें ही सुख पाना—है उपासना, नहीं भुलाना ॥ ८ ॥
पर-धनपर न कभी ललचाना, पर-नारीपर ध्यान न लाना। सादे जीवनमें रस पाना—है उपासना नहीं भुलाना ॥ ९ ॥
नहीं सफलतामें इतराना, नहीं विफलतामें डिग जाना। नहीं किसीपर दोष लगाना—है उपासना नहीं भुलाना ॥ १० ॥

नादानुसंधानका रहस्य

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी साह बी० ए०)

भगवान् शंकराचार्यने नादानुसंधानकी स्तुति इन शब्दोंमें की है—

नादानुसंधान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥
(योगतारावली)

'हे नादानुसंधान! आपको नमस्कार है। आप परमपदमें स्थित कराते हैं। आपके ही प्रसादसे मेरा प्राण-वायु और मन—ये दोनों विष्णुके परमपदमें लीन हो रहे हैं।'

वस्तुतः मोक्ष-साधनमें नादानुसंधान बहुत बड़े महत्त्वकी वस्तु है। नादानुसंधानकी महिमासे वेद, उपनिषद् और संतवाणियाँ भरपूर हैं।

नादका स्वरूप विलक्षण, निर्मायिक और साधनगम्य है। सारी सृष्टिका आधारभूत तत्त्व नाद ही है, जिससे यह सृष्टि हुई है। वह नाद ही निर्गुण (त्रिगुणरहित) सत्य और देश-कालरहित है; शेष सब परिवर्तनशील, असत्य और सगुण (त्रिगुणसहित) है। परमेश्वरने आदिमें सर्वप्रथम नादको ही प्रकट किया, जो सृष्टिका मूल कारण हुआ और जिसकी धारा अविच्छिन्न और अव्याहतरूपसे अग्रसर होती जा रही है। उसका लोप सृष्टिका लोप है। यह सर्वथा सत्य और नित्य है। भर्तृहरि, भर्तृमित्र, पतञ्जलि आदि वैयाकरणोंने इसके नित्यत्वकी पुष्टि की है। परमेश्वरसे सर्वप्रथम स्फुटित होनेके कारण ही वह 'स्फोट' कहलाता है। उच्चारणके सभी स्थानोंको भरकर निकलनेके कारण ही ऋषियोंने उस नादको अभिहित करनेके लिये वर्णात्मक 'ॐ' शब्द चुना। स्वामी विवेकानन्द इसे सारे नाम-रूपोंकी जननी (Mother of Names and Forms) मानते हैं और कहते हैं—"It properly pronounced, this 'Om' will represent the whole phenomenon of sound production and no other word can do this, and this, therefore, is the fittest symbol of the Sphota which is the real meaning of the Om"........."All this expressed sensible universe is the form behind which stands the eternal inexpressible Sphota, the manifester as Logos or Word." (From 'Bhakti Yoga')

यह 'ॐ' (वर्णात्मक) शब्द उस अनाहत आदिनाद (ध्वन्यात्मक स्वरूपतः वह जैसा कुछ है) का वाचक है और वह स्वयं वाच्य है, फिर वह अनाहत आदिनाद परमप्रभु परमात्माका वाचक है और परमप्रभु परमात्मा वाच्य हैं। ऋषियों-संतोंने इसे विभिन्न नामोंसे पुकारा है, जैसे—ॐ, प्रणव-ध्वनि, स्फोट, उद्गीथ आदि नाम, राम नाम, सत्य नाम, सार शब्द, अनाहत नाद, ब्रह्म नाद आदि। महर्षि मेंहीं परमहंसजी महाराजका यह पद्य इसे बहुत स्पष्ट करता है—

अव्यक्त, अनादि अनन्त, अजय, अज आदि मूल परमातम जो।
ध्वनि प्रथम स्फुटित पराधारा जिनसे कहिये स्फोट है सो॥
है स्फोट वही, उद्गीथ वही, ब्रह्मनाद शब्दब्रह्म ॐ वही,
अति मधुर प्रणव-ध्वनि-धार वही है परमातम-प्रतीक वही।
है सत्-चेतन-अव्यक्त वही, व्यक्तोंमें व्यापक नाम वही।
है सर्वव्यापिनी ध्वनि राम वही, सर्वाकर्षक हरिकृष्णनाम वही।
है परम प्रचण्डा शक्ति वही, है शिवशंकर हर नाम वही,
है एक ॐ सत् नाम वही, ऋषिसेवित प्रभुका नाम वही,
मुनि सेवित गुरुका नाम वही।
भजो ॐ ॐ प्रभु नाम यही, भजो ॐ ॐ 'मेंहीं' नाम यही।

पश्चिमी दार्शनिकों और विद्वानोंने इसे 'Word Logos, Whispers from the unknown, Inner voice, the voice from Heaven, the language of Soul, the voice of Soul, Primordial sound आदि विभिन्न नामोंसे पुकारा है। बाइबिलमें है—

'Word was in the beginning, Word was with God and Word was God.'
(The Holy Bible St. John)

'शब्द आदिमें था। शब्द ईश्वरके साथ था और शब्द ही ईश्वर था।'

पैथागोरस (Pythagoras-600 B. C.) नामक ग्रीक महात्माने इसे 'Music of the spheres' अर्थात् 'सृष्टिमण्डलका संगीत' कहा था।

सृष्टिके पूर्व ही उदय होनेके कारण यह उत्पत्तिस्थान (Place) और समय (Time) से रहित है—इसलिये यह देशकालातीत है। सृष्टिके पूर्व उदय होनेके कारण इसका सारी सृष्टिमें व्यापक, ओत-प्रोत होना स्वाभाविक है। जैसे एक मिट्टीकी गोली बनानेमें जो कम्पन होगा, वह कम्पन गोलीके अणु-अणुमें व्याप्त होगा, उसी प्रकार सृष्टिकी रचनाके लिये परमेश्वरसे जो मौज या कम्प (शब्द) हुआ, वह सारी सृष्टिमें ओत-प्रोत है। यही चेतन शब्द जीव-भावसे सबके अंदर वर्तमान है। गीतामें यह 'क्षेत्रज्ञ' और 'अक्षर पुरुष' तत्त्वतः है।

इस शब्दकी खोज, इसकी उपासना नादानुसंधान है। इसे 'सुरत-शब्द-योग', 'शब्द-साधन', 'नाम-भजन' आदि कई नामोंसे पुकारते हैं। इसकी खोज या उपासना कैसे की जाय ? ज्ञानियोंने नाद-ब्रह्मकी उपासनाका मार्ग अन्तर्मुखताकी दिशामें दर्शाया है। वह इसीलिये कि नाद-का स्थान सृष्टि या प्रकृतिके पूर्व है। चूँकि यह परमेश्वरसे प्रकट हुआ है, इसीलिये नाद परमेश्वरका निकटतम भी है। इसी औजारसे परमेश्वरने सृष्टिकी रचना की।

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥

× × × ×

(गो० तुलसीदासजी)

एक शब्द सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोय।
आगे पीछे वो करै, जो बलहीना होय॥
साधो सब्द-साधना कीजै।
जेहि सब्द से प्रकट भये सब, सोइ सब्द गहि लीजै॥

(संत कबीर)

वह शब्द हमें बाहर खोजनेपर नहीं मिल सकता है। बाहर जहाँ-कहीं जाना होगा, शरीर और इन्द्रियके साथ जाना होगा और कथित शब्दकी प्राप्ति हमें प्रकृतिके मायिक आवरणोंको पार कर जानेकी स्थितिमें होगी। वह अपने अंदर ही प्राप्त होगा।

संसार और शरीर अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड (Microcosm and Macrocosm) में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीर संसारका प्रतिनिधि है। शरीर-निर्माणमें जितने तत्त्व हैं, संसारमें भी वे ही तत्त्व हैं। शरीरमें हम जिस अवस्थामें रहते हैं, संसारमें भी उसी अवस्थामें हम अपनेको पाते हैं। जाग्रत् अवस्थामें रहनेपर अपना और संसारका ज्ञान रहता है, स्वप्नमें दोनोंका ज्ञान कम होता है, फिर सुषुप्तिमें दोनोंका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता। पिण्डके सब आवरणोंको पार करनेपर ब्रह्माण्ड या प्रकृतिके भी सब आवरण आप ही छूट जायँगे। अतः नाद-ब्रह्मकी उपासना-की परिणतिमें हमारी स्थिति सृष्टिके मायिक आवरणोंको उत्क्रमण कर जानेकी होगी अर्थात् देश-कालातीत पद (परमपद) को प्राप्त करनेकी होगी। अब उस शब्दकी प्राप्ति हमें युक्तियुक्त साधनाभ्याससे अपने अंदरमें ही होगी और फिर परमात्म-प्राप्तिका सवाल तो स्वतः हल हो जायगा।

'सब्द गहो जीव संसै नाहीं साहब गयो तेरे संग रे'

(कबीर)

इस शब्दकी प्राप्तिकी स्थिति 'कैवल्यावस्था'की स्थिति या अकेलेपनकी हालत है। तुरीयावस्थाकी स्थिति भी हमें यहीं प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने इसीलिये हमें विनयपत्रिकामें तीन अवस्थासे ऊपर उठकर भजन करनेका आदेश दिया है—

तीन अवस्था तजहु, भजहु भगवंत।
मन-क्रम-बचन अगोचर, व्यापक व्याप्य अनंत॥

वे शब्दके प्रकारका वर्णन करते हुए कथित शब्दकी ओर संकेत इस दोहेमें देते हैं—

श्रवणात्मक, वर्णात्मक ध्वन्यात्मक विधि तीन।
त्रिविध शब्द अनुभव अगम तुलसी कहहिं प्रबीन॥

शरीर या संसारके पाँच मण्डल हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य। कैवल्य चैतन्य-मण्डल है, ॐ का मूल स्थान है। शेष चारों मण्डल मायिक और जड हैं। चैतन्यमण्डल और परमात्माका सम्बन्ध अत्यन्त निकटका है। चारों जड-मण्डलोंसे छूटनेपर और कैवल्य-मण्डलमें स्थित रहनेपर नादके स्वरूपकी प्राप्ति, फिर परमात्म-फलकी उपलब्धि होती है। प्रत्येक मण्डलका एक केन्द्र होता है। बिना केन्द्रके मण्डल नहीं हो सकते। पाँचों मण्डलोंके पाँच केन्द्र हैं। इसीलिये कबीरने कहा है—

पाँचो नौबत बाजती होत छतीसों राग।
सो मंदिर खाली पड़ा बैठन लागे काग॥

शब्दमें तीन गुण हैं—उद्गमस्थानमें आकर्षणका, उद्गम या केन्द्रके गुणके साथ चलने और सुननेवालेको गुणसे गुणान्वित करनेका और ऊपरके शब्दका नीचे दूर

तक जानेका। प्रत्येक मण्डल बननेके पूर्व उसके केन्द्रसे मण्डल बननेके लिये अनिवार्य कम्पकी धार अवश्य प्रवाहित हुई; क्योंकि बिना कम्पके कुछ बनना असम्भव है। कम्प और शब्द सहचर हैं। जहाँ कम्प है, वहाँ शब्द है। दोनों अलग-अलग नहीं किये जा सकते। अतः पाँचों मण्डलोंके केन्द्रोंके पाँच शब्द मानने पड़ते हैं। स्थूल मण्डलके केन्द्रपर जो शब्दकी धार है, उसका सम्बन्ध सूक्ष्म मण्डलके केन्द्रकी धारसे, फिर उसका 'कारण' और इस प्रकार कैवल्यमण्डलके केन्द्र (स्वयं परमप्रभु परमात्मा) तक शब्द-धार सम्बन्धित है। साधक जप और ध्यानकी सहायतासे चित्त-वृत्तिका निरोध करता है और अपनी वृत्तिको सूक्ष्म करता है। वह अपनी वृत्तिको इतना सूक्ष्म करता है कि स्थूल मण्डलके केन्द्रका सूक्ष्म शब्द उसकी सुरत या चेतन-वृत्तिके ग्रहणमें आये। सूक्ष्म वस्तुका ग्रहण स्थूल यन्त्रोंसे नहीं हो सकता। अतः उस सूक्ष्म शब्दकी प्राप्तिके लिये अपनी वृत्तिको अत्यधिक एकाग्र या सूक्ष्म करना अत्यावश्यक है। पर यह खयाल रखना कि स्थूल मण्डलके केन्द्रपर उस आदिनादकी प्राप्ति हो जायगी, भ्रमपूर्ण है। वह नाद क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्मतर है और मधुरतर है। शब्दका आकर्षण साधकको अधिकाधिक एकाग्र बनायेगा और अपनेसे ऊँचे दर्जेके शब्दको प्राप्त करनेकी योग्यता प्रदान कराकर उन्हें पकड़ायेगा एवं अन्ततोगत्वा उस आदि-नादकी प्राप्ति होगी। वह नाद इतना सूक्ष्म है कि ध्यान-विन्दूपनिषद् (४) उसके बारेमें कहता है—

बालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः।
तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम्॥

'यदि केशके नोकको सौ हजार भाग करें, तो उसका फिर भाग करनेपर जो आधा भाग होगा, वह नादका स्वरूप होगा और जब यह नाद भी लीन हो जाता है, तब योगी निरञ्जन ब्रह्मको प्राप्त करता है।'

ऐसे बारीक ध्वन्यात्मक नादका हम उच्चारण कैसे कर सकते हैं? इसीलिये महात्मा कबीर कहते हैं—

सब्द सब्द बहु अंतरा वो तो सब्द विदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं निरखि परखि कर देह॥

और उपनिषद् कहता है—

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च यद्
अतालुकण्ठोष्ठमनासिकं यत्।
अरेफजातमुभयोष्मवर्जितं
यदक्षरं न क्षरते कथंचित्॥
(अमृतनाद० २५)

स्थूल-सूक्ष्मादि पाँच आवरणोंका मोटे तौरपर हम तीन परदोंमें भी वर्गीकरण कर सकते हैं। १—अन्धकार, २—प्रकाश और ३—शब्द। स्थूल-मण्डल अन्धकारपूर्ण है, इसके बाद प्रकाश और शब्दका मण्डल है। ज्योति और रूप जगत्‌का बीज बिन्दु (Point) है। 'बिन्दु-ध्यान' या 'दृष्टि-योग'के कायदेसे हम प्रकाशके दिव्य देश (the realm of Divine Light) में प्रवेश करते हैं। प्रकाश-का जीवन शब्द है। नादानुसंधान हमें 'शब्दकी डोरी' देता है। बिन्दु पीठका भेदन करनेपर नादलिङ्ग उपस्थित होता है; क्योंकि बिन्दुमें ही नाद स्थित है—

'बिन्दु में तहँ नाद बोले रैन दिवस सुहावन।'
(कबीर)

'बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम्।'
(योगशिखोपनिषद् २। ११)

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥
(ध्यानविन्दूप० २)

'परम बिन्दु ही बीजाक्षर है; उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाश ब्रह्म) में लय हो जाता है तो वह निःशब्द परमपद है।'

नादानुसंधानके अनुभव ऋषियों और संतोंकी वाणियोंमें बहुत समान मिलते हैं। शब्दकी मिठासकी चर्चा करते संत नहीं अघाते। कबीरने कहा—

जब तें अनहद घोर सुनी।
इंद्रिय थकित गलित मन हुआ, आसा सकल भुनी।
(कबीर)

क्यों न हो, वह आदिनाद तो स्वयं प्रभु परमात्मासे उत्थित है और इसीलिये जो कोई उस नादसे अपनेको युक्त करता है, वह ईश्वरीय गुणसे पूर्ण हो जाता है और फिर गुसाईंजीके शब्दोंमें 'जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।' तथा

कबीरके शब्दोंमें 'लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।' की स्थिति भी प्राप्त हो जाती है। कबीर और कहते हैं—

आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥
बंसी बाजी गगनमें मगन भया मन मोर।
मगन भया मन मोर महल अठवें पर बैठा।
जहँ होवै सोहम सब्द सब्द के भीतर पैठा॥

(संत पल्टू साहब)

आदि आदि । नादबिन्दूपनिषद् (३४ । ३५) नादानुसंधानका अनुभव इस प्रकार वर्णन करता है—

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवः।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा॥
अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥

'आरम्भमें नाद समुद्र, बादल, दुन्दुभि, जलप्रपातसे निकले हुए जैसे मालूम होते हैं और मध्यमें मर्दल, घण्टा और सिंगा-जैसे। अन्तिम अवस्थामें (किंकिणी) मजीरा, मुरली, वीणा और मधुमक्खियोंकी भनभनाहट-जैसे। इस प्रकार वह अनेक बारीक-से-बारीक नादोंको सुनता है।' इसके लिये सद्गुरुकी खोज, उसकी शरणागति और सदाचार-पालन आवश्यक है। गीता आदेश देती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४ । ३४)

'सद्गुरु' शब्दकी डगर बताते हैं। नादानुसंधानके लिये संतवाणियों तथा उपनिषदोंमें आँख, कान और मुँह बंद करनेका निर्देश मिलता है। प्रारम्भिक दशामें, कान खुले रहनेपर हम बाह्य संसारका शब्द ही सुनेंगे। अतः कान बंद करना आवश्यक है। संत कबीर कहते हैं—

आँख कान मुख बंद कराओ। अनहद झीना सब्द सुनाओ॥
दोनों तिल एक तार बजाओ। तब देखो गुलजारा है॥

(कबीर)

आँख कान मुख बंद करि, सुन अनहद टंकोर।
सहजो सुन्न समाधि में, नहीं साँझ नहिं भोर॥

(सहजोबाई)

महर्षि मेंही परमहंसजी अपने आध्यात्मिक प्रसिद्ध ग्रन्थ मोक्ष-दर्शनमें लिखते हैं—

'जबतक नादानुसंधान करनेकी गुरु-आज्ञा न हो—केवल मानस-जप, मानस-ध्यान और दृष्टि-योगके अभ्यास करनेकी गुरु-आज्ञा हो, तबतक दो ही बंद (आँख बंद और मुँह बंद) लगाना चाहिये। नादानुसंधान करनेकी गुरु-आज्ञा मिलनेपर आँख, कान और मुँह—तीनों बंद लगाना चाहिये।'

शिवपुराण (उमासंहिता) के हुंकार-अनुसंधानके प्रकरणमें लिखा है—'योगवेत्ता पुरुषको चाहिये कि सुखद आसनपर बैठकर विशुद्ध श्वास (प्राणायाम) द्वारा योगाभ्यास करे। रातमें जब सब लोग सो जायँ, उस समय दीपक बुझाकर अन्धकारमें योग धारण करे। तर्जनी अँगुलीसे दोनों कानोंको बंद करके दो घड़ीतक दबाये रक्खे।...जैसे आकाशमें वर्षासे युक्त बादल गरजता है, उसी प्रकार उस शब्दको सुनकर योगी तत्काल संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।...यह शब्द ही सुखद, मोक्षका कारण, बाहर-भीतरके भेदसे रहित, अविनाशी और समस्त उपाधियोंसे रहित परब्रह्म है।...यह अनाहतनाद (बिना आघातके अथवा बिना बजाये ही प्रकट होनेवाला (शब्द) है।...अतः नौ प्रकारके शब्द बताये गये हैं...घोष, कांस्य (झाँझ आदि), शृङ्ग (सिंगा आदि), घण्टा, वीणा आदि, बाँसुरी, दुन्दुभि, शङ्ख और नवमेघ-गर्जन—इन नौ प्रकारके शब्दोंको त्यागकर हुंकारका अभ्यास करे।' उपर्युक्त नौ प्रकारके शब्द माया-मण्डलके हैं। वह सार-शब्द या आदिनाद हुंकार ही है, जो आत्मज्ञान देता है। पर उसकी प्राप्तिके लिये हमें मायाके शब्दोंका अभ्यास तो करना ही होगा। नादानुसंधानके साधनमें सदाचारकी बड़ी अपेक्षा है। सदाचार-पालनके बिना नादानुसंधानमें सिद्धि असम्भव है।

बिन्दु-ध्यान और नादानुसंधानद्वारा ईश्वरोपासना

(लेखक—श्रीसंतसेवाजी महाराज; प्रेषक—श्रीअधिकलालदासजी, सम्पादक शान्ति-संदेश)

भारत एक ऐसा देश है, जहाँकी संस्कृति ऐसी है कि वहाँके निवासी अपने अर्जित ज्ञानके आधारपर कुछ-न-कुछ उपासना नित्य नियमित रूपसे अवश्य किया करते हैं। उपासनाओंमें शिव-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी, राम, कृष्ण, सूर्य, गणपति आदि इष्ट प्रसिद्ध हैं। इन सब इष्टोंके स्थूल रूपोंमें यद्यपि भिन्नताका बोध होता है तथापि तत्त्वतः सब अभिन्न हैं।

रूपका आरम्भ एक बिन्दुसे होता है और नामका आरम्भ नादसे। इसलिये यह बात बड़ी सरलतासे समझी जा सकती है कि समस्त नाम-रूपोंका जनक 'नाद' और 'बिन्दु' है। इस दृष्टिको अपनाये रखकर सूक्ष्म विचार करनेपर बिन्दु और नादकी उपासनामें सबकी उपासना हो जाती है। यही कारण है कि योगशिखोपनिषद्के प्रथम अध्यायमें बिन्दु और नादको शिव-शक्ति और पञ्चम अध्यायमें विष्णु-लक्ष्मी कहकर उपासना करनेका उल्लेख किया गया है। यथा—

बिन्दुनादमहालिङ्गशिवशक्तिनिकेतनम्।
देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्॥
(योग० १। १६७-१६८)

अर्थात् 'बिन्दुनाद महालिङ्ग है और शिव-शक्तिका घर है। इस देहको शिवालय कहते हैं। सभी प्राणियोंको इसमें सिद्धि मिलती है।'

बिन्दुनादमहालिङ्गविष्णुलक्ष्मीनिकेतनम्।
देहं विष्ण्वालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम्॥
(योग० ५। ४)

'बिन्दु-नाद-रूप जो महालिङ्ग है, वही विष्णु और लक्ष्मीका घर है। इस देहको ठाकुरवाड़ी कहते हैं, सभी प्राणियोंको इसमें सिद्धि मिलती है।'

बिन्दुको ही गी० ८। ९ में 'अणोरणीयान्' कहकर भगवान् श्रीकृष्णने ध्यान करनेका आदेश दिया है और मनु० अ० १२ श्लोक १२२ में भी परमात्माके अणुसे अणु-स्वरूपके ध्यान करनेकी आज्ञा है। बिन्दु और नादके सम्बन्धमें वायवीयसंहितामें और भी अधिक स्पष्ट कहा है—

आसीद्बिन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिसमुद्भवः।
नादरूपा महेशानि चिद्रूपा परमा कला॥

अर्थात् 'पहले बिन्दु तब नाद और नादसे शक्ति उत्पन्न होती है। चैतन्यरूपा परमा कला महेशानि (शिवा) नादरूपा है।'

ध्यानबिन्दूपनिषद् (२) में एक मन्त्र आया है—

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरिस्थितम्।
सशब्दे चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥

अर्थात् 'परम बिन्दु ही बीजाक्षर है। उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) में लय हो जाता है, तब वह निःशब्द परम पद है।'

इस मन्त्रके माध्यमसे ऋषिने नादानुसंधानकी विधिका स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने बताया है कि बिन्दुपर नाद अवस्थित है अर्थात् साधक प्रथम बिन्दु ग्रहण करे, पश्चात् नाद। और यह नाद जहाँ विलय होगा, वह परम पद वा परमात्म-पद है। एतदर्थ ऐसी सद्युक्तिकी आवश्यकता है, जिसके द्वारा प्रथम बिन्दु-ग्रहण हो और बिन्दु-ग्रहण होते ही स्वाभाविक नादानुभूति भी हो।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मनसे बिन्दुकी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि उसमें लंबाई, चौड़ाई, मोटाई, ऊँचाई, गहराई आदि कुछ नहीं होती। किंतु इतना कहा जा सकता है कि परिमाणरहित होनेपर भी उसका स्थान है और उसकी स्थिति भी। रेखा बिन्दुमयी होती है और रेखाओंकी सन्धि एक बिन्दुपर होती है। पेन्सिल वा लेखनीकी नोक जहाँ पड़ती है, वहाँ एक चिह्न उत्पन्न होता है, जिसको 'बिन्दु'की संज्ञासे अभिहित करते हैं; किंतु यह कल्पित बिन्दु है, यथार्थ नहीं; क्योंकि इसमें कुछ-न-कुछ परिमाण अवश्य होता है। वस्तुतः कल्पित बिन्दु यथार्थ बिन्दु नहीं हो सकता।

संत-सद्गुरुसे सद्युक्ति प्राप्त कर उनके द्वारा निर्देशित स्थानपर यौगिक-कलासे अवलोकन करनेपर मन एवं दृष्टि

की एकाग्रतामें जो अवलोकित होता है, वह यथार्थ बिन्दु है। इसी हेतु ध्यानबिन्दूपनिषद्के प्रणेता ऋषिने उपर्युक्त श्लोकमें इसको 'परम बिन्दु' कहकर सम्बोधित किया है। यह परम बिन्दु वह 'ज्योतिर्मय बिन्दु' है, जिसका 'तेजोबिन्दूपनिषद्'में परमोत्कृष्ट ध्यान बताया है। यथा—'तेजोबिन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम्।' (१।१) अर्थात् हृदय-स्थित विश्वात्म-तेजस्-स्वरूप बिन्दुका ध्यान परम ध्यान है।

योगशिखोपनिषद्में लिखा है कि बिन्दु-पीठका भेदन करके नादलिङ्ग उपस्थित होता है। 'बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम्।' (अ० २। १३)

संतोंकी वाणियोंमें भी हम बिन्दु-ग्रहणके पश्चात् ही नाद-श्रवणकी विधिका उल्लेख पाते हैं। जैसे—

सुर्त ठहरानी रहै अकासा। तिल खिड़की में निसदिन बासा॥
गगन-द्वार दीसै एक तारा। अनहद नाद सुनै झनकारा॥
(तुलसी साहब, हाथरस)

संत तुलसी साहबने ज्योतिर्मय बिन्दुको यहाँ 'तिल' कहकर संकेत किया है। संत कबीर साहबने भी 'बिन्दु' को 'तिल' शब्दसे सम्बोधित किया है और कहा है कि 'जो कोई पहले बिन्दु वा तिलपर सुरत स्थिर कर पाता है, वह विद्युत्प्रभा-सहित मेघ-गर्जन और अनहदनाद भी सुन पाता है—

प्रथमे सुरति जमावे तिलपर, मूलमंत्र गहि लावै।
गगन गराजै दामिनि दमकै, अनहद नाद बजावै॥
(कबीर साहब)

गुरु नानकदेवजीने बताया है कि अपनी चेतनवृत्तिको इडा-पिंगलासे हटा, सुषुम्णामें लाकर नाद-श्रवण वा नादानुसंधानका अभ्यास करे। यथा—

सुखमन के घर राग सुनि, सुन मंडल लिव लाइ।
अकथ कथा बिचारिऐ, मनसा मनहिं समाइ॥

संत पलटू साहबकी वाणीमें हम पाते हैं—

'बिन्दुमें तहँ नाद बोलै रैन दिवस सुहावन।'

संत राधास्वामी साहबने भी बिन्दुको 'तिल' शब्दसे अभिहित किया और उसकी प्राप्तिका निर्देशन उन्होंने सुषुम्णामें किया है—

सुरत शब्द एक अंगकर, देखो बिमल बहार।
मध्य सुखमना तिल बसे, तिल में जोत अकार॥

पुनः उन्होंने 'सुरतको तिल-द्वार तक खींचकर ले जाने और वहाँ दाहिनी ओरकी शब्द-धारको ग्रहण करनेका आदेश दिया है—

सुरत खैंच तक तिलका द्वार। दाहिनि दिसा सब्दकी धार॥

महर्षिमें ही परमहंसजी महाराजकी अनुभूति-पूर्ण वाणीमें हम कह सकेंगे—

तिल द्वार तक के सीधे सूरत को खैंच ला।
अनहद धुनोंको सुन-सुन चढ़-चढ़के खोजना॥

ज्योतिर्बिन्दु-ग्रहण वा तिल-धारण अथवा सुषुम्णामें सुरत वृत्तिकी स्थितिके लिये दृष्टि-साधनकी क्रिया करनी पड़ती है, जिसके तीन भेद हैं—अमा-दृष्टि, प्रतिपदा-दृष्टि और पूर्णिमा-दृष्टि। आँख बंदकर देखना अमा-दृष्टि है, आधी आँख खोलकर देखना प्रतिपदा-दृष्टि है और पूरी आँख खोलकर देखना पूर्णिमा-दृष्टि है। उसका लक्ष्य नासाग्र होना चाहिये। पुनः यह कह देना आवश्यक है कि दृष्टिकी इन तीनों विधियोंमें अमादृष्टिकी साधना सरल, सुखद, आपदा-हीन और प्राचीन है।

अमादृष्टिसे ध्यानाभ्यास करनेका अर्थ है—निमीलित नेत्रसे ध्यान करना। इस तरह आँख बंद कर ध्यान करनेसे अमानिशीथकी तमिस्रा साधकके सम्मुख उपस्थित हो जाती है। अपनी वृत्तिको इस अमावास्याके श्याम-गगनमें रखनेपर उसके मनपर कोई नया संस्कार नहीं पड़ता। इसका हेतु यह है कि आँख बंद रहनेपर कोई भी जागतिक दृश्य गोचर नहीं होता। जागतिक दृश्यके अभावमें तत्सम्बन्धी भाव मनमें उत्पन्न नहीं होता और मनकी चञ्चलता छूटती है। इस प्रकार साधक गुरु-निर्देशित स्थानपर क्रिया-विशेष-द्वारा अपने मन और दृष्टिको स्थिर कर अपने पुराने अशुभ संस्कारोंको शमन करनेमें सक्षम होता है।

भक्तवर श्रद्धेय जयदयालजी गोयन्दकाने दृष्टिसाधन और नादानुसंधानपर कितना सुन्दर तथा स्पष्ट प्रकाश डाला है। दृष्टि जमानेका और आँख मूँदकर ध्यान करनेका परिणाम तो मनकी स्थिरता और शुद्धि, बुरे संकल्पोंका नाश और शान्ति इत्यादि हुआ करते हैं…। कानबंद करके अंदरकी आवाजमें भगवान्के नामकी ध्वनि सुननेका साधन भी

बड़ा उत्तम है। इसमें हानिकी कोई बात नहीं है। दूसरे साधनोंके साथ इसे भी किया जा सकता है। यह साधन रात्रिमें और भी सुगमतासे किया जा सकता है; क्योंकि उस समय हल्ला-गुल्ला कम होकर शान्त वातावरण हो जाता है।' ('कल्याण' वर्ष ३०, अङ्क ९, पृ० ११६८)

नादानुसंधानकी विशेष विधि तथा तज्जनित लाभके विशेष बोधार्थ 'नादबिन्दूपनिषद्'के निम्न अवतरण पठनीय हैं—

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥ ३१ ॥

'सिद्धासनमें स्थित होकर वैष्णवी मुद्राका अभ्यास करते हुए, योगी* दाहिने कानसे आन्तरिक नाद सर्वदा सुने।'

मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धान् नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काङ्क्षति ॥ ४२ ॥
बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः ॥४२½॥

'जिस प्रकार मधुमक्खी मधुको पीती हुई उसकी सुगन्धकी चिन्ता नहीं करती है, उसी प्रकार चित्त जो सदा नादमें लीन रहता है, विषय-चाहना नहीं करता है; क्योंकि वह नादकी मिठासके वशीभूत है तथा अपनी चञ्चल प्रकृतिको त्याग चुका है।'

नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः ॥ ४३ ॥
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ॥४३½॥

'नागरूप चित्त नादका अभ्यास करते-करते पूर्णरूपसे उसमें लीन हो जाता है और सभी विषयोंको भूलकर नादमें अपनेको एकाग्र करता है।'

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥ ४४ ॥
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः ॥४४½॥

'नाद मदान्ध हाथी-रूप चित्तको, जो विषयोंकी आनन्द-वाटिकामें विचरण करता है, रोकनेके लिये तीव्र अङ्कुशका काम करता है।'

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥ ४५ ॥
अन्तरङ्गसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा ॥४५½॥

'मृग-रूपी चित्तको बाँधनेके लिये यह (नाद) जालका काम करता है। समुद्र-तरङ्ग-रूपी चित्तके लिये (नाद) तटका काम करता है।'

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥ ४७ ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते ॥४७½॥

'जबतक आकाश-संकल्प है, तबतक नादकी स्थिति रहती है। उसके परे अशब्द परब्रह्म परमात्मा है।'

सर्वेश्वरके पानेका स्वयंसिद्ध साधन बिन्दु-ध्यान और नाद-ध्यान है। यह मार्ग सबके लिये सरल, सुखद और सर्वथा संकट-शून्य है। त्रयताप-तापित जनको संसृति संतापसे निस्तार पानेके लिये इसका नित्य अभ्यास करना चाहिये।

संसारमें भयसे रहित केवल वैराग्य ही है

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयावहं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

भोगोंमें रोगका भय है, ऊँचे कुलमें पतनका भय है, धनमें राजाका, मौनमें दीनताका, बलमें शत्रुका तथा रूपमें वृद्धावस्थाका भय है, और शास्त्रमें वाद-विवादका, गुणमें दुष्ट जनका तथा शरीरमें कालका भय है, इस प्रकार संसारमें मनुष्योंके लिये सभी वस्तुएँ भयपूर्ण हैं, भयसे रहित तो केवल वैराग्य ही है।

* तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (गीता ६। ४६)

हठयोगके यथार्थ स्वरूपका निरूपण

(लेखक—श्रीरमेशचन्द्रजी काण्डपाल, एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, व्याकरणशास्त्री)

सभी प्राणियोंके शरीर त्रिगुणनिर्मित हैं। अतः कोई भी प्राणी सामान्यतः एक गुणमें ही रहता हो, यह असम्भव है। वैसे भी गुणोंको प्रसव-धर्म कहा है, जिनसे निरन्तर क्रिया एवं विचार-परिवर्तन होते रहते हैं। मानव रजःप्रधान होता हुआ भी कभी-कभी सत्त्वप्रधान देवताओंके लिये भी सत्त्ववृद्धिके कारण स्पृहणीय हो जाता है, एवं देवता भी रजोगुणी तथा कभी तमोगुणीतक होकर अनर्थ कर बैठते हैं। तमःप्रधान पशु तथा पक्षी भी अपने शिशुओंके साथ राजसिक तथा सात्त्विक प्रवृत्तिवाले भी हो जाते हैं। इस विचारप्रवाहका मूल प्रामाणिकरूपसे गीताके निम्नलिखित श्लोकमें उपलब्ध होता है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
(१८। ४०)

अर्थात् 'पृथ्वीमें और स्वर्ग अथवा देवताओंमें भी कोई प्राणी ऐसा नहीं है, जो प्रकृतिके इन तीन गुणोंसे सर्वथा मुक्त हो।'

योगिराज भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी भगवती गीता योगका सर्वोत्तम ग्रन्थ है। उसमें जीवके स्वभावका मुख्य कारण गुणोंको बताया है। सत्त्व, रजस् एवं तमस्—इन तीन गुणोंसे स्वर्गीय एवं भौम कोई भी जीव मुक्त नहीं है। यह एक स्वाभाविक नियम है। एक समयमें तीनों गुण अपना काम करते भी नहीं हैं; अतः प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती हुई भी परिचयमें एक ही गुणसे आती है। एक गुणकी मुख्यतापर शेष चुप-से रहते हैं। जैसे तीन स्वामीवाला सेवक एक स्वामीके भिन्न दिशाके कार्यको मुख्यता देकर करता है, शेषको पुनः यथावसर सम्पन्न करता है।

फिर भी प्रतिजीवमें स्वभावकी प्रबलता होती है, जिसके अनुसार किसी एक गुणके कार्यको अपने गुणविशेषके आग्रह (हठ)से करता है, शेषको नहीं। यह जीवमात्रका नैसर्गिक क्रम है। किंतु मनुष्य-जीव अस्वाभाविक कार्यको भी अभ्यासकी प्रबलतासे स्वाभाविकरूपमें करता हुआ पाया जाता है। इसीसे वह एक विशेष प्राणी समझा जाता है। इसके समान ही सामान्य दूसरे प्राणी भी एकजातीय समानताका खान-पानके रूपमें भौगोलिक कारणोंसे उल्लङ्घन करते पाये जाते हैं—जैसे वनवराह एवं ग्रामशूकर। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी जीवकी जिस स्थितिको हम स्वाभाविकी कहते हैं और वह उसके अतिरिक्तको भी उसी अभिनिवेशसे करता पाया जाता है, अतः जीवमात्रकी निरूढ़ स्वाभाविकी स्थिति कोई नहीं है।

यदि मातृ-पितृप्रदत्त गुणकृत जीवका कोई स्थूल स्वभाव आचरणसे ज्ञात होता है, तो इसमें गुणकृत आचरणके कृत्रिम एवं अस्वाभाविक अभ्याससे परिवर्तन भी सम्भव है; क्योंकि व्यक्तिमात्रमें गुण रूपसे, एक गुणकी मुख्यतापर शेष गुण प्रसुप्त या निर्बल रहते हैं। अभ्यासादिसे अपेक्षानुसार अस्वाभाविक ही किंतु प्रच्छन्न गुणोंके उदय करनेके साधनको 'हठयोग' कहना समुचित है।

हठयोग, क्योंकि अस्वाभाविक मयूरादि आसनों एवं प्राणके स्वच्छन्द प्रवाहके अवरोधके रूपमें अपनी साधना-मूर्तिकी आराधना करता है; अतः उसे हठयोग कहकर कुछ लोग हठी लोगोंकी तामसी साधनामात्र समझते हैं तथा हठयोगका उपहास भी करते हैं कि यह तो एक बाजीगरी, नटविद्या या शारीरिक व्यायाममात्र है आदि।

जब कि मानव स्वभावसे न तो मांसभक्षी सिंहादिकी भाँति मांससे ही जीवित रहता है और न वह फलौषधि-भक्षी वानरादिकी भाँति मांसादि खा ही नहीं सकता हो, ऐसी ही बात है। उसके लिये बँधे नियम नहीं है; वह कुछ भी साधारण रूपमें अपनाकर जीवित रह सकता है। इससे हम कह सकते हैं कि मानवका कोई भी गुणकृत स्वभाव सम्भव है तथा उसकी साधनाके चमत्कारसे सब कुछ स्वाभाविकरूपमें सम्भव है। प्रत्यक्षतः देखा भी जाता है कि मनुष्य प्राणी बोलना-चलना भी सिखाये जानेपर ही अभ्यासोत्तर समयमें जानता है, जब कि बिना सिखाये ही कोकिल पञ्चमस्वरसे संगीत तक प्रस्तुत करती है एवं शेष प्राणी चलना, दौड़ना, तैरना तथा उड़ना भी निसर्गतः जानते हैं। अतः इस प्रसङ्गमें मानवका क्या स्वभाव है, यह एक विचारणीय प्रश्न है।

मानवमें अनुकृतिमूलक क्रियाके स्वभावकी मुख्यता

है। वैसे तो प्राणिमात्रमें ही क्रियाका स्थान सर्वश्रेष्ठ है। क्रिया ही उसका जीवित रूप है। इसके विपरीत क्रिया शून्यकी ही मृत संज्ञा है। इसीसे गीता भगवती कहती है—

'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'
(३।५)

अर्थात् 'कोई भी प्राणी कभी भी क्रियाशून्य नहीं रहता है।' अतः मानवताके पण्डितोंने प्रवृत्तिलक्षण धर्म इतना मूलमन्त्र रखकर यथापेक्ष्यरूपसे प्रवृत्ति एवं निवृत्तिको समझना आवश्यक बतलाया है। पर वहाँ प्रथम प्रवृत्ति है, उत्तरकालमें निवृत्तिकी चर्चा है। प्रवृत्तिके विविध फल भी जितनी संख्यामें मानव-वृक्षपर लगते हैं, उतने अन्य किसी-पर नहीं। अतः प्रवृत्तिके साथ निवृत्तिको समझना मनुष्यको मनुष्यरूपमें रहनेके लिये आवश्यक है।

यदि निवृत्ति-ज्ञान मानवको नहीं रहा तो इसका अर्थ होगा कि उसमें तमोगुणकी वृद्धि हो गयी है तथा वह राक्षस हो गया है। अतः विशिष्ट मानवके लिये दोनोंका ज्ञान ही सात्त्विक भूमिमें अभिषिक्त करानेके लिये आवश्यक है। श्रीभगवान्ने कहा है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गीता १८।३०)

हठयोग तथा शेष योगशास्त्रका विस्तार निरोधलक्षण-साधनाको स्वीकार करता है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (योग० २।१) इस स्थितिपर परिनिष्ठित साधकोंके द्वारा ही कर्मोंमें कुशलता प्राप्त की जा सकती है, अन्यथा नहीं। गीताका 'योगः कर्मसु कौशलम्।' वाला योगका लक्षण बहुत बादमें ही जीवनकी सफलतापर सम्भव है। जो कुछ भी हो, कर्मोंमें कुशलताका सिद्धरूप योग है। उसकी साधनामें स्थिति है, साधनाप्रधान योग 'हठयोग' है।

हठयोगसे साधनामार्ग स्वयमेव अति सरल हो जाता है। हठकी शारीरिक क्रियाओंसे रोगादिकी निवृत्ति हो जाती है, जिससे मन बलवान् होकर साध्य-द्रोणाचलोंको यों ही उखाड़ लेता है। योगमार्गमें मनको वृत्तिनिरोधद्वारा बलवान् बनाया जाता है न कि मनको निर्बल या समाप्त ही किया जाता है। यही हठयोग आगे चलकर मनःसाधना-प्रधान राजयोगका स्वरूप प्राप्त करता है। हठयोगके आचार्य श्रीगोरखनाथजीने इसीसे केवल राजयोगके लिये हठविद्याका उपदेश दिया था। गुरु गोरखनाथजी राजयोग एवं हठयोगका अविना-भाव सम्बन्ध-सा मानते हैं और उनका कथन है—

हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः।
न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥
(गोरक्षपद्धति)

अर्थात्—'हठयोगके बिना राजयोग एवं राजयोगके बिना हठयोग सिद्ध नहीं होता है। अतः सिद्धि-प्राप्ति तक दोनोंका ही अभ्यास करना चाहिये।'

अतः चिन्तनप्रधान विचारधारा 'सांख्य' नामसे समझी जाती है तथा क्रियाप्रधान चिन्तनधारा 'योग'की है। योगके समस्त ही भेद साक्षात् अथवा परोक्षरूपमें हठयोगकी क्रियामयी भूमिमें ही अपना अस्तित्व रखते हैं। जीवनमें ज्ञानका उत्तम उदय साधनासापेक्ष है। अखण्ड ज्ञान भी शरीरमें स्थान-विशेषके अनुसार खण्डरूपमें समझा जाता है। जैसे—गन्धात्मक ज्ञान नासिकामें है तो श्रवणोंमें शब्दात्मक है। इसीसे हठयोगी गुरुजन शरीरके महत्त्वको जाननेके कारण ही, चक्रविशेषोंमें ध्यान करनेसे भी पूर्व शरीरस्थ शक्ति-जागरणके लिये आसनोंका आचरण कराते हैं। तदनन्तर वायुके संचारसे उन स्थानोंकी सत्त्व-शुद्धि खण्डात्मक ज्ञानको सहज ही शुद्ध कर देती है।

स्थान-शुद्धिसे पूर्व ज्ञानोदय असम्भव है। देशमें आज बहुतसे लोग केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' की बात करते हैं और परस्परमें कलह करते हैं। यह इस बातके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं कि उनकी उस अयोग्य अधिकारितामें महावाक्यके ज्ञान-साधनका कोई उत्तम परिणाम नहीं निकला, जबकि हठयोगकी क्रियाओंसे शरीर एवं मनकी शुद्धिपर ज्ञान या प्रज्ञाका स्वयमेवोन्मेष होता है। भारतीय-परम्परामें गुरुका शिष्योंके प्रश्नोंपर तप-मात्रका उपदेश मलविक्षेपकी निवृत्तिके उत्तरकालमें स्वयमेव आत्मज्ञानको उद्बुद्ध करता था (प्रश्नोपनिषद्के प्रथम प्रश्नमें); न कि केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' आदिका अजहद्वृत्ति तथा जहद्वृत्तिके बोधसे ज्ञानका रूप प्रकट होता है। सूतसंहितामें कहा भी है—

ज्ञानं नामाखिलं चेदं सद्रूपेणावभासनम्।
क्रिया तु कारकापेक्षा न ज्ञानालम्बिनी सदा॥
अतः क्रियाया ज्ञानेन विरोधादेव सर्वदा।
समुच्चयो न युज्येत कुतस्तेन परागतिः॥
सारूप्याख्या तु या मुक्तिः सामीप्याख्या च या परा।
सालोक्याख्या च या तासां केवलं कर्मसाधनम्॥

अर्थात् क्रियोत्तर ही ज्ञान सम्भव है एवं ज्ञान तथा कर्मका समुच्चय भी जन्य और जनकके एक ही कालमें उत्पत्तिके समान असम्भव है। मोक्षका कारण कर्मकाण्डादि रूप कर्मके अतिरिक्त मुक्तिका सहायक कर्मयोग ही एकमात्र साधन माना है।

हठयोगोपनिषदोंमें भी केवल ज्ञानके पक्षको अमान्य रखकर योगप्रधान ज्ञानकी श्रेष्ठतापर विश्वास किया गया है; क्योंकि भौतिक-शरीर कारणशरीरसे परिचालित भी विचार मात्रसे अपनी भौतिकी शुद्धिको नहीं कर सकता। वज्रसंहननादि जो देहकी सम्पत्ति राजयोगके प्रधान ग्रन्थ योगदर्शनमें कही गयी है, वह भी हठरूप प्राण-साधनासे सम्पन्न होती है। हठयोगकी प्राणायाम-साधना ही सर्वस्व है।

तस्माद् दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते।
ज्ञानं केचिद् वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये॥
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः।

(योगशिखोपनिषद् १२-१३)

अर्थात् 'दोषोंके नाशके लिये तुम्हें उपाय बताता हूँ, क्योंकि कुछ लोग केवल ज्ञानको ही परम साधन बताते हैं, पर वह अकेला सफलता नहीं दिला सकता है। इस मानवजीवनमें योगहीन ज्ञान मोक्ष नहीं प्राप्त करा सकता है।'—इत्यादि योगशिखोपनिषद्का मत भी क्रियायोग (हठयोग) को महत्त्व देता है।

वायवीय चक्रोंके परिचालनमें वायुके समान इस शरीर-यन्त्रके परिचालनमें प्राणका गमनागमन (श्वास एवं प्रश्वास) एकमात्र आधार है, जिससे जीव जीवित कहा जाता है।

शरीरकी सत्तापर ही निराकार-साकार, द्वैत-अद्वैत ज्ञान, कर्मकाण्ड एवं साधनाका महत्त्व-अमहत्त्व आदि कोई भी कुछ भी अलाप सकता है। फिर उस शरीरको हेय कहकर उसके बिना भी न रहते हुए कुछ विक्षिप्त-से लोक हैं, जो केवल ज्ञानमात्रकी चर्चा शरीर-निन्दाके माध्यमसे करते हैं। अस्तु, उनके इस प्रलापका कारण सम्यग् बोधका अभाव ही कहा जा सकता है। सम्यग् बोध तत्त्वदर्शनपर ही सम्भव है। उस तत्त्वदर्शनकी प्रक्रिया घटयोग या हठयोग-की प्रक्रिया—प्राणायामसे सम्भव है।

प्राचीन योगी जिसे 'हंसयोग'—इस नामसे सम्मानित करते थे, उसे ही कालक्रमके गुण-परिवर्तन आधारोंसे हठयोग कहा जाता है। हठयोग आसनादिप्रधान साधनामय है। हठाचार्योंने शरीरकी प्रवृत्तिको समझा एवं आसनादि-के साधनसे षडङ्गयोग (यम-नियमके अतिरिक्त) प्रचलित किया है, जब कि अष्टाङ्गयोगी श्रीपतञ्जलि 'स्थिरसुखमासनम्' (२।४६) मात्र कहकर मौन हैं। श्रीपतञ्जलिकी अपेक्षा हठाचार्योंने जीव-जन्तुओंके शरीर-वैशिष्ट्यके अनुसार आसनोंका निदर्शन किया है, एवं आत्माको अनिर्देश्य, अव्यक्त न कहकर साधनाग्रहसे प्राणरूप माना है, जिससे साधकके लिये प्रत्यक्ष अवलम्बनकी उपलब्धि होती है। सूर्य जगत्का आत्मा है, उसीसे सारे विश्वके कार्य चलते हैं। इसीसे 'सूर्य आत्मा जगतः' इस रूपमें यजुर्वेदाध्यायी जगत् आत्माका परिचय कराते हैं। किंतु हठयोगी शरीरस्थ सूर्यकी अधिक समीपतासे उदयास्तवेला (इडा एवं पिङ्गलाका योग रूप समय) में प्राणायामद्वारा आराधना करते हैं, जिससे उनका प्राणरूपसे प्रत्यक्ष परिचय विश्वात्माके परिचयका कारण बन जाता है। योगियोंका प्रत्यक्ष देव प्राण आराधित होकर उनके सभी अभीष्टोंको पूर्ण कर देता है।

प्रतिक्षणांशमें श्वासका योग (आदानरूपमें) तथा वियोग (प्रश्वासरूपमें) सहज होता है; किंतु साधक दीर्घकालिक कुम्भकोंसे योगको (प्राणके) अधिक प्रबल कर लेता है। इस सफलताको योगी ईश्वरानुग्रह मानते हैं, जिसकी ध्वनि भगवान्के 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' (९।२२) इस गीता-मौक्तिकमें चमकती हुई मालूम पड़ती है। आत्मरूप प्राणसे जिनका योग रहता है, उनका कल्याणदायित्व परमात्मापर निर्भर है। जो परमात्माश्रित हैं, वे ही वस्तुतः धन्य हैं।

उत्तरकालके गोरखनाथ आदि योगियोंने उक्त प्राण-विद्याका संकेत 'हठ' शब्दपर किया है, जिसका मौलिकरूप हंस-विद्याक्रमसे उपनिषदोंमें प्रच्छन्न-सा है।

हंस-विद्या सामान्यतः प्रश्वास एवं श्वासके रूपपर ध्यान देना है। सभी जीवोंके शरीरमें 'हम्'—इस ध्वनिके साथ अपान (प्रश्वास) बहिर्निर्गमन करता है तथा पुनः 'सः' इस ध्वनिके साथ प्राण (श्वास) विष्णुपदामृतके रूपमें अंदर आगमन करता है। इसका उल्लेख 'योगशिखो-पनिषद्'में निम्नलिखित पङ्क्तियोंमें इस प्रकार है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ॥
(१३०-१३१)

अर्थात् "प्राण 'हं' ध्वनिसे बाहर जाता है फिर 'सः' ध्वनिके साथ अंदर प्रवेश करता है। इस प्रकार जीव हंस हंस इस मन्त्रको जपते हैं।" उक्त प्राण-ध्वनिका रहस्य शरीरस्थ वायुको ब्रह्मरूपमें समझाते हुए भगवान्‌ने स्पष्ट किया है—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥
(श्रीमद्भागवत ११। १२। १७)

अर्थात् 'वह परमात्मा हृदय-छिद्रमें प्रत्यक्ष ही निवास करता है। वह (आत्मा) यहाँ (शरीरमें) शब्द (नाद) युक्त प्राणसे ही प्रविष्ट है, ऐसा जाना जाता है एवं मनोमय सूक्ष्मरूपसे युक्त होकर आत्मा ही प्राणरूपसे मात्रा, शास्त्रादिको स्वर-वर्णके आधारसे प्रकट करता है।'

'हंस'के अन्तिम दन्तस्थानीय अक्षर 'स'को हठयोगियोंने 'ठ' के रूपमें परिवर्तित किया है। यह उनकी साधनादृष्टिकी खूबी है न कि केवल नवीनीकरणका ममत्व है; क्योंकि प्राणको उदानगतिके साथ मूर्धाकी ओर ले जाना अपेक्षित है। अतः मूर्धन्य ध्वनि करनेकी सहज स्थितिमें 'ठः' घर्षणकी दृष्टिसे एवं कुण्डलिनीके आकारकी चिन्तन-सरलतासे तथा तान्त्रिक प्रभावसे स्वाहाको वाचकरूपमें अपनाया है। साथ ही अनुनासिक 'हं' की अपेक्षा अननुनासिक 'ह' मायारूप आवरण 'म्'से शून्य ही केवल स्वीकार करना विशुद्ध चिन्तन-साधनाका मत प्रकट करता है।

इस तरह प्राणायामप्रधान हंसयोग रोगादिकी निवृत्तिके साथ ही प्रसुप्त मस्तिष्कस्थरूप काम-कर्मबीजोंका भर्जन करता है, जिससे नवीनसत्त्वकी अखण्ड धाराकी ज्योत्स्नामें योगिमन-कुमुद निरन्तर एकरसानन्द हो जाता है तथा यहींसे राजयोगका प्रारम्भ बौद्धिक साधनाके सम्बलपर सद्‌चक्रमें साधकश्रेष्ठको आब्रह्म ले जाता है। श्रीभगवान्‌ने अर्जुनसे कहा भी है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥
(गीता २। ७२)

'हे अर्जुन! इस ब्राह्मी स्थितिको प्राप्तकर साधक जीवनकालमें मोहप्रभावोंसे दूषित नहीं होता है तथा अन्तकालमें भी इसी स्थितिसे मोक्षाधिकारी बनता है।' यह हठयोगकी पूर्ण परिणतिकी उत्कृष्ट भूमि है।

प्राणायाम-प्रधान साधनाओंसे हठयोगकी ख्याति उपनिषदोंमें भी निगूढ ही है। इसकी प्राप्तिके लिये प्राणायाम श्रेष्ठ साधना है; पर प्राणायामकी सरलताके लिये भी नेति-धौति आदिका आत्यन्तिक महत्त्व श्रीगोरक्ष एवं घेरण्ड आदिने स्वीकार किया है, जो कि क्रम-कालगतिमें प्रायः तिरोहित तथा क्लेशप्रधान भी सम्भव है। अतः हठभूमिमें जानेके लिये योगोपनिषद्‌में प्रतिपादित केवल प्राणायाम-साधनाको ही राजमार्ग मानकर अग्रसर होना श्रेष्ठ है। उसीसे सामान्य परिवर्तनोंद्वारा कफादिजनित दोष-निवृत्ति सरलतासे सम्भव है। इतना अवश्य है कि वहाँ प्राणायामके शीतली कुम्भक आदि निदर्शनरूप भेद किये गये हैं; फिर भी उनमें बहिःसाधनोंकी (वस्त्रादि) नेति-धौतिके समान आवश्यकता नहीं है। अतः इतना कहना आवश्यक है कि शरीर-यन्त्रकी कोश-शक्तिको अखण्डरूपमें रखनेके लिये मानव-हितमें प्राणायाम-प्रधान हठयोगकी शिक्षा दी जाय, जिससे बलवती मानवजाति भूमिमें ही दिव्य जगत्‌के प्राणियोंके समान रहकर इस वसुन्धराको सार्थक कर दे। पुनश्च, योगिराज श्रीकृष्णके 'प्राणायामं महद्बलम्' इस भागवतीय वाक्यांशसे इस लेखको पूर्ण करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेद्॥

ॐ नमः प्राणाय।

यदा जागर्ति कुण्डली

(जब कुण्डलिनी जाग उठती है)

(लेखक—अनेक स्वर्णपदकोंके विजेता—साहित्य-महोपाध्याय पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पंकज' एम्० ए०, शास्त्री, व्याकरण-साहित्य-न्याय-सांख्य-योग-वेदान्त-दर्शनाचार्य, साहित्यरत्न)

हठयोगकी प्रक्रियाओंमें कुण्डलिनी-जागरण सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण विषय है। योगके अष्टाङ्गों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधिमें यह एक प्रकारसे प्राण-प्रतिष्ठाका कार्य सम्पादन करती है। युज् समाधौ—धातुसे व्युत्पन्न 'योग' शब्दका अर्थ जहाँ एक ओर जीवात्मा-परमात्माकी एकता है, वहीं दूसरे मानीमें प्रकृति-पुरुषका वियोग भी है।

देवीभागवत-महापुराण (७। ३५। २) में लिखा है—

न योगो नभसः पृष्ठे न भूमौ न रसातले।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार एवं शौच—ये दस यम हैं।

नियम—तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, देव-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, जप तथा हुत (हवन)—ये दस नियम हैं।

आसन—पद्मासन, सिद्धासन, स्वस्तिकासन, वज्रासन, भद्रासन तथा वीरासनादि प्रमुख आसन हैं। कुछ लोग ८४ आसन मानते हैं।

प्राणायाम—(प्राण+आयाम) इडानाड़ी (चन्द्र स्वरवाहिनी) से १६मात्राओंमें वायु खींचकर पूरक करे। ६४ मात्राओंतक सुषुम्णामें कुम्भक (प्रतिरोध) करे तथा ३२ मात्राओंमें पिंगला (सूर्यवाहिनी) नाड़ीसे धीरे-धीरे रेचक करे। मात्रावृद्धि क्रमशः होती रहे। प्राणायाम 'सगर्भ' और 'विगर्भ'के भेदसे दो प्रकारके हैं। जप-ध्यानपूर्वक सगर्भ तथा इनसे रहित विगर्भ कहलाता है। घेरण्डसंहिता एवं हठयोगप्रदीपिका-जैसे ग्रन्थोंके अनुसार प्राणायाम अनेक प्रकारके हैं। प्राणायामके अभ्यास-क्रममें देहमें पसीना आ जाय तो अधम, कम्प हो तो मध्यम तथा भूमित्याग होने लगे तो उत्तम कहलाता है।

प्रत्याहार—(प्रति+आहार)—सांसारिक विषयोंमें स्वेच्छया विचरती हुई इन्द्रियोंको बलपूर्वक हटा लेना प्रत्याहार कहलाता है।

धारणा—(देशबन्धश्चित्तस्य धारणा यो० ३।१) अर्थात् पैरोंके अँगूठों, गुल्फों, जानु (घुटनों), ऊरु, मूलाधार, लिङ्ग, नाभि, हृत्प्रदेश, ग्रीवा, कण्ठ, नासिकाग्र, भ्रूमध्य, मस्तक तथा मूर्धामें प्राणवायुका धारण कर लेना धारणा कहलाती है।

ध्यान—समाहित-मनसे चैतन्यान्तर्वर्ती गुरुप्रदत्त इष्टदेव-का तैलधारावत् अविच्छिन्न (ध्येयाकार वृत्तिरूप) चिन्तन ध्यान कहलाता है।

समाधि—(समत्वभावना नित्यं जीवात्म-परमात्मनोः समाधिः) अर्थात् जीवात्मा-परमात्माकी नित्य समत्व-भावना समाधि कहलाती है।

यह पञ्चभूतात्मक शरीर ही विश्व है। शरीरमें साढ़े तीन करोड़ नाड़ियाँ हैं। उनमें दस मुख्य हैं और तीन प्रमुख हैं। मेरुदण्डमें चन्द्रस्वरूपा इडा बायीं ओर, सूर्यस्वरूपा पिङ्गला दाहिनी ओर तथा अग्निस्वरूपा सुषुम्णा दोनोंकी मध्यावस्था है। यह शक्तिरूपा सुषुम्णा योगशास्त्रमें प्रतिपादित सभी नाड़ियोंमें श्रेष्ठ है—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह सर्वतेजोमयी नाड़ी योगीन्द्र-गोचरा है। इसके भीतर इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक, कोटिसूर्य-समप्रभ स्वयम्भू-लिङ्ग है। उसके सिरेपर रक्त-विग्रहा शिखाकारा, देव्यात्मिका तथा मदभिन्ना कुण्डली-शक्ति विराजमान है। लिखा भी है—(यह हिमवान्‌के प्रति उमाकी उक्ति है।)

तदूर्ध्वं तु शिखाकारा कुण्डली रक्तविग्रहा।
देव्यात्मिका तु सा प्रोक्ता मदभिन्ना नगाधिप॥

मूलाधारनिवासिनी कुण्डलिनी शक्ति केशमूलव्यापिनी है। यही हृत्पद्मस्था 'प्राण-शक्ति' कहलाती है। कण्ठस्था तथा स्वप्ननायिका है। यही तालुस्था होकर 'सदाधारा' कहलाती और बिन्दुस्था होकर 'बिन्दुमालिनी' कहलाती है। इसे 'शब्दात्मिका' और 'नाद-शक्ति' भी कहते हैं। विज्ञानकी भाषामें इसे प्राण-स्पन्दन तथा निर्गुनिया संतोंके शब्दोंमें साँपिन भी कहते हैं। नाथपन्थकी इष्टदेवी और कबीरदासकी साँपिन भी यही है। इस सम्बन्धमें सर जॉन उडरफ साहबका 'सर्पेन्ट

पावर'-जैसा बृहदाकार एक दुर्लभ ग्रन्थ भी पठनीय है। पाश्चात्त्य जगत्में तो इसने खलबली मचायी ही है, प्राच्य पण्डितोंका एकाग्र ध्यान भी इसीने तन्त्रकी ओर बलपूर्वक आकृष्ट कर लिया है।

यों तो प्राणवाहिनी दस नाड़ियाँ हैं—इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अपूषा, कुहु, शंखिनी एवं अलम्बुषा। किंतु सुषुम्णा और कुण्डली शक्तिका निकटतम सम्बन्ध है—एक अर्थमें अभिन्न सम्बन्ध भी कह सकते हैं।

जीवात्माका सम्बन्ध जाग्रत्में दक्षिण नेत्रमें, स्वप्नमें कण्ठ-प्रदेश (पुरीतत नाड़ी)में तथा सुषुप्तिमें हृदयस्थ हिता नामकी नाड़ीमें बना रहता है। इस जीवात्माके हृदयमें एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमेंसे एक मूर्धा (कपाल) की ओर निकली हुई है। इसीको सुषुम्णा कहते हैं। इसीके द्वारा ऊपर जाकर मनुष्य अमृतत्वको प्राप्त होता है। दूसरी नाड़ियाँ मरणकालमें नाना योनियोंमें ले जानेवाली हैं। इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति—ये तीनों एकत्र होनेपर 'त्रिशक्तिता' कहलाती हैं। यही पराशक्ति है—यही कुण्डलिनी है और यही महादेवी है। यह अनादिकालसे मूलाधार-चक्रमें स्वयम्भू-लिङ्गसे लिपटकर सो रही है और जब जाग उठती है तो यही आज्ञा-चक्रमें पहुँचकर तत्रस्थ इतर-लिङ्गको अपने आलिङ्गन-पाशमें बाँध लेती है। आधार-चक्रमें प्रसुप्तावस्थामें यही बन्धन तथा आज्ञा-चक्रमें पहुँचकर यही मोक्षका कारण बन जाती है।

आधार-चक्रपर स्वयम्भू-लिङ्गके ऊपर मायाबीज 'ह्रीं' विराजमान है। यहाँ निःस्वन गुहा है—नितान्त शब्दहीन। स्यापेका सन्नाटा छाया रहता है। मायाबीजका यह हकार विश्वका रूप है—साधकका निजी रूप है। रकार अग्नि-बीज है। यह तैजस दैव है। ईकार प्रज्ञा है। अथच हकारका रकारमें और रकारका ईकारमें प्रविलाप ही मायाबीजका दार्शनिक रहस्य है।

कार्यकी उत्पत्ति कारणसे है; अतः उसका सर्वथा विलाप या विलय कारणमें ही होता है। अतः यहाँ वाच्य-वाचकता-हीन, सर्वथा द्वैतवर्जित अखण्ड सच्चिदानन्दकी भावना की जाती है। यही वेदान्तप्रतिपादित अद्वैत, प्रज्ञान अथवा आनन्दमय है।

इस निबन्धका प्रतिपाद्य विषय कुण्डली-शक्तिका उत्थापन या जागरण है। यह सभी दर्शनगत विवेच्य विषय रहा है। व्याकरण महाभाष्यान्तर्गत परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीके रूप-चतुष्टयमें महाभाष्यकार पतञ्जलिने इसी-का निरूपण किया है। वैयाकरणोंका स्फोटवाद, वर्णवादियोंका वर्णवाद तथा तान्त्रिकों और हठयोगियोंकी कुण्डलिनी-शक्ति सर्वथा अभिन्न वस्तु है।

कन्दोर्ध्व कुण्डली शक्ति—कन्दके ऊपर कुण्डलीशक्ति अवस्थित है। लिङ्ग, उपस्थ अथवा जननेन्द्रियके मूलमें नाड़ियोंका एक गुच्छा है। योगमें यही 'कन्द' कहलाता है। इसीपर कुण्डलिनी अपनी सेज बिछाकर प्रगाढ़ निद्रामें युग-युगान्तरोंसे बेखबर सो रही है। जबतक सोती रहती है, यह पञ्चपर्वा अविद्याका मूल बनी रहती है। तम, मोह, महामोह, तामिस्र एवं अन्धतामिस्र—ये ही पञ्चपर्वा अविद्या-के प्रभेद हैं।

मूलाधारमें व, श, ष, स—चतुर्दल हेमरूपाभ पद्म-का चिन्तन योग-साधनाकी प्रारम्भिक क्रिया है। उसके ऊपर स्वाधिष्ठान-चक्र है। यह अनलप्रख्य एवं हीरक-प्रभ ब, भ, म, य, र, ल—षड्दल कमल है। यहाँ पृथ्वीतत्त्व तथा स्वाधिष्ठानमें जलतत्त्व है। मूलाधार षट्-कोणात्मक है। 'स्व'शब्दका अभिप्रेत अर्थ पर-लिङ्ग है। नाभिदेशमें महाप्रभ, मेघाभ, विद्युदाभ तथा बहुतेजोमय मणिपूर-चक्र है। ड, ढ, ण, त थ, द, ध, न, प तथा फ—दशदल कमल है। इसके ऊपर आदित्य-सन्निभ क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट तथा ठ—द्वादशदल कमल है। यहाँ अयुत सूर्यसमप्रभ बाणलिङ्ग है। यह शब्द-ब्रह्मका अनाहत (न+आहत) रूप प्रकट है। परानाद—मणिपुरमें पश्यन्ती तथा अनाहत-चक्रमें पहुँचकर मध्यमा कहलाता है। कबीरकी भाषामें यही अनहद और सूफियोंकी भाषामें अनलहक कहलाता है। यह पुरुषाधिष्ठित आनन्द-सदन कहलाता है। उसके ऊपर १६ स्वरोंवाला धूम्रवर्ण एवं महाप्रभ षोडशदल कमल है। मणिपूरमें अग्नितत्त्व, अनाहतमें वायु तत्त्व तथा विशुद्धाख्यचक्रमें आकाशतत्त्व है। इससे परे आज्ञा-चक्र है। नामकरणका कारण है—

आज्ञासंक्रमणं तत्र तेनाज्ञेति प्रकीर्तितम्।
द्विदलं हक्षसंयुक्तं पद्मं तत्सुमनोहरम्॥

गुरुकी आज्ञासे ही साधक इस चक्रमें घुस-पैठ कर सकता है—अन्यथा नहीं। यह गुरुगम्य चक्र है। यहाँ वज्रकपाट लगे हैं। यही वैकुण्ठका द्वार है। कबीरके शब्दोंमें तो 'दसमे द्वारे तारा लागी—अर्थात् १०वें दरवाजे पर तालाबंदी है और इसकी कुञ्जी साधकको सिद्ध गुरुसे ही प्राप्त हो सकती है। कैलासाख्य इस चक्रपर रोधिनी शक्ति—एक दुर्गम दुर्गकी दीवारकी भाँति खड़ी है। यहाँ सहस्रदल कमल है। इसके ऊपर एक विन्दु है। कुण्डलीको मूलाधारमें एक जबर्दस्त टक्कर लेनेके बाद पुनः आज्ञा-चक्र या द्विदलमें पहुँचकर धुआँधार संघर्ष करना पड़ता है। ये ही दो जबर्दस्त मोर्चे हैं। उभयत्र किलेबंदी है। यहीं पहुँचकर पराशक्ति सदाशिवके साथ एकीभूत होती है। यही तदाकार अवस्था कहलाती है। शिव-शक्ति शिवाका शिवके साथ यहीं पहुँचकर अभेद सम्बन्ध स्थापित होता है। यही अद्वैतावस्था है। यही जीव-ब्रह्मकी एकता अथवा सायुज्य है।

स्मरणीय है कि द्विदलके 'ह' और 'क्ष' ही भागवत-प्रतिपादित वैकुण्ठद्वारके दो द्वारपाल जय और विजय हैं।

इस योगरहस्यको श्रीमद्भागवतकारने श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें जय-विजयके कथानकद्वारा दर्शाया है। आख्यायिका इस प्रकार है। ब्रह्माजीके मानसपुत्र—सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन ही निवृत्तिमार्गके आदिप्रवर्तक हैं। ये ऊर्ध्वरेता योगेश्वर एक समय श्रीहरिके निवासस्थान, सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरोंके वन्दनीय एवं श्रेष्ठ देवगणोंके विचित्र विमानोंसे विभूषित परम दिव्य और अद्भुत, विरजाकी सीमासे अतीत वैकुण्ठधाममें अपने योगबलसे जा पहुँचे। भगवद्दर्शन-की उत्कट लालसासे अन्य दर्शनीय वस्तुओंकी उपेक्षा करते हुए वैकुण्ठधामकी छः ड्योढ़ियाँ पारकर जब वे सातवीं ड्योढ़ीपर आ पहुँचे, तब वहाँ गदा-वेत्रधारी दो समान वयवाले द्वारपालोंने उन्हें सातवीं कक्षामें प्रवेश करते समय बेंत अड़ा-कर रोक दिया। आख्यायिकामें वर्णित द्वाररक्षक योग-शास्त्र-प्रतिपादित 'ह' और 'क्ष' द्विदल हैं। तथा जिन छः ड्योढ़ियोंको वे पार कर आये थे, वे ड्योढ़ियाँ और कुछ नहीं, योगान्तर्गत षट्चक्र ही हैं।

यहाँ सनकादि-जैसे ऊर्ध्वरेताओंके प्रवेशमें भी जब प्रतिबन्ध लग सकते हैं, तब सामान्य योग-साधक किस खेतकी मूली हैं। इस कथानकद्वारा आज्ञाचक्र-भेदनकी दुरूहता ही वर्णित है।

स्मरण रहे, कुण्डलिनीके उत्थापनमें वज्रासन सबसे महत्त्वपूर्ण आसन है। इस रंगमंचपर अपानवायु सदा स्मरणीय है। इसे भुलाया नहीं जा सकता। सच पूछिये तो यह रंगमंचका सूत्रधार है। पौराणिक दक्ष-यज्ञ-विध्वंस सर्वथा योगमूलक विषय है। सतीदेह-त्यागकी प्रक्रिया भी द्रष्टव्य एवं विचारणीय है। सतीको योगाग्निद्वारा भस्मीभूत होनेपर भी मोक्ष नहीं मिला है। क्यों? इसका कारण है। यहाँ आज्ञा-चक्रमें पहुँचनेपर कई रास्ते मिलते हैं। यहाँ त्रिपथ हैं। इसे सांकेतिक शब्दोंमें 'त्रिवेणी-संगम' भी कहते हैं। इसका एक नाम 'त्रिकूट' है। कोई-कोई इसे 'चित्रकूट' भी कहते हैं। इस यौगिक-क्रियामें सती आज्ञा-चक्रमें तो पहुँचती है, किंतु ब्रह्मरन्ध्रसे नहीं निकलकर रास्ता बदल लेती है। परिणामतः उनका हिमवान्के घर पार्वतीरूपमें पुनर्जन्म होता है।

सतीदाहकी प्रक्रिया भी देख लें। सती मौन होकर उत्तर दिशामें भूमिपर बैठ गयीं। उन्होंने आचमन किया और पीताम्बर ओढ़ लिया। आँखें मूँदकर योगमार्गमें स्थित हुईं। प्राणायामद्वारा प्राण और अपानको एकरूप करके उन्हें नाभिचक्रमें स्थित किया। उदानवायुको नाभिचक्रसे ऊपर उठाकर धीरे-धीरे बुद्धिके साथ हृदय (यहाँ अनाहत-चक्र) में स्थापित किया। पुनः सती उस हृदयस्थित वायुको कण्ठ-मार्ग अर्थात् विशुद्धचक्रसे भ्रूमध्यमें ले गयीं। तत्पश्चात् शरीरत्यागकी इच्छासे उन्होंने अपने सम्पूर्ण अङ्गोंमें वायु और अग्निकी धारणा की। तत्पश्चात् योगानल प्रज्वलित हुआ और उनका शरीर जल गया।

पद्मपुराणान्तर्गत भागवत-माहात्म्यमें वर्णित सप्ताह-श्रवणसे धुन्धुकारीके मोक्षके प्रसङ्गमें जड और शुष्क वंश-ग्रन्थिका फट जाना बतलाकर पुराणकारने यौगिकचक्र-भेदनकी ओर स्पष्ट इङ्गित किया है। लिखा है—

जडस्य शुष्कवंशस्य यत्र ग्रन्थिविभेदनम्।
चित्रं किमु तदा चित्तग्रन्थिभेदः कथाश्रवात्॥
(अ० ५ श्लो० ६४)

अर्थात् श्रीमद्भागवतकी कथाके साप्ताहिक श्रवणसे सूखे और जड बाँसकी गाँठें जहाँ फट जाती हैं, वहाँ चित्त-ग्रन्थियोंके फट जानेपर क्या आश्चर्य है! पुनश्च—

श्रीशुकाचार्यने विहंगम-मार्गसे उत्क्रमण करनेवाले ब्रह्मनिष्ठ योगियोंके देह-त्यागकी प्रक्रिया श्रीमद्भागवतके स्कन्ध २ अध्याय २ श्लोक १९—२१ में दिखला दी है। वह देह-त्याग-विधि नीचे

है—'पहले एँड़ीसे अपनी गुदाको दबाकर स्थिर हो जाय और तब बिना घबराहटके प्राणवायुको षट्चक्र-भेदकी प्रक्रियासे ऊपर ले जाकर, नाभिचक्र (मणिपूर) में स्थित वायुको हृदयचक्र (अनाहत) में, वहाँसे उदानवायुको धीरे-धीरे तालुमूल (विशुद्ध-चक्रके अग्रभाग) में चढ़ा दे। तत्पश्चात् शाम्भवी मुद्रासे दोनों आँखों, दोनों कानों, दोनों नासाच्छिद्रों और मुख—इन सातों छिद्रोंको रोककर तालुस्थित वायुको आज्ञाचक्रमें ले जाय। यदि किसी अन्य लोक-लोकान्तरमें जानेकी इच्छा न हो तो आधी घड़ीतक उस वायुको वहीं रोककर स्थिर लक्ष्यके साथ सहस्रारमें ले जाकर परमात्मामें स्थित हो जाय।'

कुण्डली-शक्तिके पूर्णतः जाग उठनेपर योगियोंका शरीर वायुवत् सूक्ष्म हो जाता है। त्रिगुणमय ब्रह्माण्डके किसी भी प्रदेशमें विचरण करनेके लिये योगीको मन और इन्द्रियोंके साथ निकलनेके सभी रास्ते यहीं भ्रूमध्यमें प्राप्त होते हैं। प्रभु श्रीरामके वियोगमें तड़पते हुए श्रीमहाराज दशरथने सायुज्यादि मोक्षको भी ठुकराकर षट्चक्र-भेदनद्वारा स्वर्गलोकका मार्ग यहींसे लिया था। श्रीरामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें छः बार 'राम'-'राम' कहकर देह-त्यागका रहस्य भी नितान्त योगमूलक है। लिखा है—

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरह राउ गयउ सुरधाम॥

हिंदी ज्ञानेश्वरी (जो गीतापर एक अनुभूत एवं विस्तृत चर्चा है) में कुण्डलिनी-जागरणपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। तदनुसार योगासनपर बैठे योगाभ्यासीकी मुद्रा ऐसी हो—

पिंडलीको जाँघसे मिलाकर पैरके तलुए इस प्रकार टेढ़े करने चाहिये कि वे ऊपरकी ओर हो जायँ और तब उन्हें गुदास्थानके मूलमें रखकर जोरसे दबाना चाहिये। दाहिने तलुएसे गुदाकी सीवनका ठीक बीचवाला भाग दबाना चाहिये। इससे बायाँ तलुआ सहजमें ठीक ऊपर जमकर बैठ जायगा। गुदा और वृषणके बीचमें चार अंगुलका अन्तर होता है। उसमेंसे यदि डेढ़-डेढ़ अंगुल दोनों ओर छोड़ दिया जाय तो बीचमें एक अंगुल बाकी रह जाता है। एँड़ीका पिछला भाग वहीं रखकर और सारे शरीरका भार खूब तोलकर उस स्थानको अच्छी तरह दबाना चाहिये। फिर पीठके नीचेवाला भाग ऐसे हल्केपनसे उठाना चाहिये, जिसमें यह भी पता न चले कि ऊपरका शरीर उठाया गया है या नहीं; और दोनों ओर घुटने भी उसी प्रकार सँभालकर रखने चाहिये। हे अर्जुन! ऐसा करनेसे सारे शरीरका भार एँड़ीके केवल अगले भागपर पड़ेगा। यह 'मूलबन्ध' नामका आसन है और इसीका दूसरा नाम 'वज्रासन' है। इस प्रकार जब गुदा और वृषणके बीचोंबीच रहनेवाले आधार-चक्रपर ऊपरके शरीरका सारा भार पड़ता है और शरीरके नीचेका भाग दबता है, तब आँतोंमें संचार करनेवाली अपानवायु उलटे शरीरके भीतरी भागकी ओर अर्थात् पीछेकी ओर हटने लगती है। फिर हाथकी हथेलियाँ द्रोणाकार होकर आप-से-आप बायें पैरपर आकर टिक जाती हैं और जान पड़ता है कि कंधे कुछ ऊँचे हो गये हैं। शरीरदण्ड ऊँचा या सीधा खड़ा रहता है और उसके बीचमें मस्तक घुसा या डूबा हुआ-सा मालूम होता है और आँखोंमें आप-से-आप झपकी आने लगती है। आँखोंकी ऊपरवाली पलकें तो बंद हो जाती हैं, पर नीचेवाली पलकें खुली रहती हैं। इसमें आँखें आधी खुली रहती हैं। फिर दृष्टि अंदरकी ओर बढ़कर जरा-सा बाहरकी ओर आती है और नाकके ठीक कोने या अगले भागपर आकर जम जाती है। इस प्रकारकी दृष्टि अंदरकी ओर संकुचित हो जानेके कारण फिर बाहर नहीं जा सकती। तब उस अर्धविकसित दृष्टिको नाकके अगले भागपर स्थिर होना पड़ता है। फिर किसी दिशामें दृष्टिपात करने अथवा किसीका आकार या रूप देखनेकी इच्छा आप-से-आप नष्ट हो जाती है। सिर दबकर नीचे बैठ जाता है और ठोढ़ी गलेके नीचे गड्ढेमें बैठ जाती है और सिर अच्छी तरह छातीके साथ सट जाता है। इससे कण्ठनाली भी उसीमें मिलकर फँस जाती है। इस प्रकारके बन्धको 'जालन्धर बन्ध' कहते हैं। नाभि ऊपर उठ आती है और पेट अंदर धँसकर सपाट हो जाता है; परंतु हृदय-कोश विस्तृत हो जाता है। इस प्रकार लिङ्ग-मूलके ऊपर और नाभिस्थलके नीचे जो बन्ध हो जाता है, उसे 'उड्डीयानबन्ध' कहते हैं।

इस प्रकारकी बन्धमुद्रासे शरीरके बाहरी अङ्गोंपर योगाभ्यासकी छाप पड़ती है और शरीरके अंदरका वह आधार नष्ट हो जाता है, जिसमें मनोवृत्तियाँ रहती हैं। कल्पना बेकाम हो जाती है और प्रवृत्ति शान्त हो जाती है।

इस मूलबन्ध या वज्रासनद्वारा पूरी तरहसे बँध जानेके कारण अपान वायु शरीरमें पीछेकी ओर चलती है और दवाव पड़नेके कारण फूलने लगती है। फिर वह कुपित होकर मत्त होती है और उसी बंद जगहमें गड़गड़ाने लगती है और नाभिस्थानमें रहनेवाले मणिपूर नामक चक्रको बीच-बीचमें धक्के देती है। इसके बाद जब यह आँधी शान्त हो जाती है, तब वह सारा शरीररूपी घर ढूँढ़ डालती है और बाल्यावस्थासे लेकर अबतक जितना मल अंदर जमा रहता है, वह सब शरीरके बाहर निकाल देती है। अपान वायुकी यह लहर शरीरके अंदर तो समा ही नहीं सकती, इसलिये वह कोठोंमें घुसकर कफ और पित्तको आधार-स्थलसे निकाल देती है। फिर यह उभरी हुई अपान वायु रुधिर आदि सातों धातुओंके समुद्रको उलट देती है। मेदके पर्वतोंको चकनाचूर कर देती है और हड्डियोंके अंदर बैठी हुई मज्जातकको बाहर निकाल देती है। वायुमार्गकी नालीको खुलासा करती है और सब अवयवोंको शिथिल कर देती है। इस प्रकार अपने इन लक्षणोंसे यह अपान वायु साधना करनेवाले नवसिखुए लोगोंको डरा देती है। परंतु योगकी साधना करनेवालोंको इन बातोंसे बिल्कुल डरना नहीं चाहिये। कारण यह है कि यद्यपि यह अपान वायु अपने इस प्रकारके व्यापारोंसे व्याधि उत्पन्न करती है, परंतु साथ-ही-साथ उस व्याधिका परिहार भी करती चलती है। शरीरमें कफ और पित्त आदिके जो जलीय अंश हैं और मांस-मज्जा आदि जो पृथ्वीके अंश हैं, वह उन सबको एकमें मिला देती है। इसी बीच आसनके उत्तापके कारण कुण्डलिनी नामकी शक्ति जाग्रत् होती है। जिस प्रकार नागिनका कुंकुमके समान लाल बच्चा कुण्डली मारकर बैठता है, उसी प्रकार यह 'कुण्डलिनी' नामक छोटी नाड़ी साढ़े तीन फेरेकी कुण्डली मार और सिर नीचे करके नागिनकी तरह सोयी रहती है।

स्मरण रहे—महाबन्ध, महावेध, महामुद्रा, विपरीतकरणी (शीर्षासन), योनिमुद्रा, अश्विनीमुद्रा तथा शक्तिचालनी मुद्रादि बाह्य साधन हैं। ये सभी कुण्डली-शक्तिके जागरणमें सहायक मात्र हैं। किंतु इसका जागरण तो इसके मुखका सुषुम्णामें प्रवेशसे ध्यानकी परिपक्वावस्थामें ही हो सकता है।

वज्रासन तथा बन्धत्रयमें जिन साधकोंको विशेष कठिनाइयाँ प्रतीत हों, वे आज्ञा-चक्र अथवा सहस्रारमें ही विधिपूर्वक ध्यान करके इसे जगा ले सकते हैं। किसी भी चक्रपर निष्ठा एवं विश्वासके साथ ध्यान करके इसे जगाया जा सकता है। कार्तिकसे फाल्गुन अथवा नवम्बरसे मार्चतकका समय योगाभ्यासके लिये सर्वोत्तम है। हाँ, वस्ति अथवा एनिमाद्वारा उदर-संशोधन अवश्य करते रहें।

सावधान, कुण्डली-शक्ति जब सुषुम्णा नाड़ीमें प्रवेश करती है, तब उसकी पहली टक्कर मूलाधारपर होती है। इससे उपस्थ या जननेन्द्रियपर विशेष दवाव पड़ता है। अतः मूलबन्ध बड़ी सावधानीसे लगाया जाय। भ्रूकुटि अथवा ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणवायुके रुक जानेपर शवासन तत्काल लगा लेना चाहिये। इससे प्राणवायुका प्रवाह कुण्डलिनीमें खिंच आता है और फिर उसका मुख सुषुम्णामें आसानीसे प्रविष्ट हो जाता है। मूलबन्ध दृढ़तासे लगा रहना चाहिये अन्यथा शुक्र अथवा मूत्र निकल आता है।

स्मरण रहे, धूम्रपायी और मांसाहारी योगमार्गके अधिकारी कदापि नहीं हो सकते। मादक वस्तुओंका सेवन करनेवाले लाभान्वित होनेकी आशामें कुपथ्यके कारण प्रमेह, वायुविकार तथा कम्पादि रोगोंके शिकार होते देखे गये हैं।

सच्चिदानन्दरूपिणी कुण्डलिनीका ध्यान* योगाभ्याससे पूर्व अवश्य कर लेना चाहिये।

यह कुण्डली विद्युत्के बने हुए कङ्कण या अग्निज्वालाकी रेखा या सोनेके बढ़िया घोटे हुए पाँसेकी तरह नाभिस्थानकी छोटी-सी जगहमें अच्छी तरह बन्धनोंसे जकड़ी हुई पड़ी रहती है।

पर जब उसपर वज्रासनका दवाव पड़ता है, तब वह सहसा जाग उठती है। फिर जिस प्रकार कोई तारा टूटता है, अथवा सूर्यका आसन छूट जाता है अथवा स्वयं तेजका बीज प्रस्फुटित होनेपर उसमेंसे कोमल गाभ निकलता है, उसी प्रकार यह कुण्डलिनी अपना घेरा छोड़

* ध्यान—प्रातरुत्थाय शिरसि संसरेत्पद्ममुज्ज्वलम्।
कर्पूराभं स्मरेत्तत्र श्रीगुरुं निजरूपिणम्॥
सुप्रसन्नं लसेद् भूषाभूषितं शक्तिसंयुतम्।
नमस्कृत्य ततो देवीं कुण्डलीं संस्मरेद् बुधः॥
प्रकाशमात्रं प्रथमे प्रमाणे प्रतिप्रमाणेऽप्यमृतायमानाम्।
अन्तःपदव्यामनुसंचरन्तीमानन्दरूपां सबलां प्रपद्ये॥

देती है और मानो अँगड़ाई लेती हुई नाभिकन्दपर खड़ी हो जाती है। स्वभावतः वह बहुत दिनोंकी भूखी होती है, तिसपर वह दबाकर जगायी जाती है; इसलिये वह अपना मुख बड़े आवेशसे खोलकर ऊपर उठाती है। उसी समय उसे अपने सामने वह अपान वायु मिल जाती है, जो हृदय-कोशके तलमें आकर एकत्र हुई रहती है। तब वह उस समस्त वायुको अपने अधिकारमें कर लेती है और मांसके कौर खाने लगती है। जहाँ-जहाँ मांस रहता है, वहाँ-वहाँ पहुँचकर वह उसे खाने लगती है और अन्तमें हृदयके भी एक-दो कौर वह चट कर जाती है। फिर वह पैरोंके तलुओं और हाथोंकी हथेलियोंकी भी खबर लेती है और तब ऊपरके अंशपर भी हाथ साफ करती है। इस प्रकार वह शरीरकी प्रत्येक सन्धि और प्रत्येक अंशकी तलाशी लिये बिना नहीं रहती। वह नीचेके भागोंको भी नहीं छोड़ती; यहाँतक कि नाखूनोंका सार भी चूस लेती है। चमड़ेतकका सत्त्व निकाल लेती है और तब हड्डियोंपर जा पहुँचती है। वह हड्डियोंकी नलियों-तकका रस चूस लेती है। शिराओंके जालतक साफ कर डालती है और इन सारी बातोंका परिणाम यह होता है कि बाहरकी ओरके रोमकूप तक बंद हो जाते हैं।

ऊपर ज्ञानेश्वरीके विचार व्यक्त किये जा चुके हैं। कुण्डलीकी कुम्भकर्णी नींदके बाद उसकी कुम्भकर्णी भूखके भलीभाँति मिट जानेपर उसे अत्यधिक प्यास लगती है। इसलिये रुधिर आदि सातों धातुओंको वह एक ही घूँटमें पी जाती है। इस कारण शरीर बिल्कुल नीरस हो जाता है, जिससे शरीरमें पूर्णरूपसे ग्रीष्म ऋतु ही व्याप्त हो जाती है। फिर नाकके छेदोंमेंसे १२ अंगुलतक जो हवा निकलती है, उसे भी यह कुण्डली पकड़कर अंदरकी ओर खींचने लगती है। ऐसी अवस्थामें नीचेकी वायु ऊपरकी ओर खिंचने लगती है और ऊपरकी वायु नीचेकी ओर दबने लगती है; और इन दोनोंके बीचमें केवल मध्यवाले चक्रके परदेकी आड़ ही रह जाती है। यदि बीचमें वह आड़ न हो, तो ये दोनों वायु उसी समय एक-दूसरीसे मिल जायँ। परंतु कुण्डली कुछ व्यग्र होकर इनसे कहती है—क्या केवल तुम्हीं दोनों अबतक बच रही हो? अभिप्राय यह है कि वह कुण्डली शरीरमें पृथ्वीवाला अंश खाकर समाप्त कर डालती है और जलके अंशका तो वह उसे नाम और निशानतक नहीं रहने देती।

जब यह शरीरमेंके पृथ्वी और जल—दोनों भूतोंको खा डालती है, तब यह पूर्णरूपसे तृप्त हो जाती है और तब कुछ शान्त होकर 'सुषुम्णा' नामक नाड़ीके पास रहती है। यहाँ तृप्त और संतुष्ट होकर, वह जो गरल या विष उगलती है, वही प्राणवायुके लिये अमृतके समान हो जाता है और उसी अमृतसे प्राणवायु जीवन धारण करती है। यद्यपि वह प्राणवायु उस गरलकी अग्निमेंसे निकलती है, परंतु फिर भी वह शरीरके भीतरी-बाहरी दोनों पार्श्व शीतल कर देती है और तब प्रत्येक अङ्गमें फिरसे सामर्थ्य भरने लगती है, जिसे पहले वह उनमेंसे खींच चुकी होती है। परंतु तबतक नाड़ियोंके मार्ग भर चुके होते हैं और उनका प्रवाह बंद हो चुका रहता है। शरीरमें जो अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नामक वायु नष्ट हो चुकी होती है और केवल प्राणवायु ही बची रहती है, इसलिये शरीरके सभी धर्म नष्ट हो जाते हैं। फिर नाकके दाहिने और बायें रन्ध्रोंकी इडा और पिङ्गला नामकी नाड़ियाँ मिलकर एक हो जाती हैं। उनकी तीनों गाँठें खुल जाती हैं और शरीरके अंदरके छहों चक्रोंके ऊपरके आवरण फट जाते हैं। फिर नासिका-रन्ध्रोंमेंसे बहनेवाली जिन वायुओंकी उपमा सूर्य और चन्द्रमासे दी जाती है, उनका ऐसा लोप हो जाता है कि दीपककी ज्योतिको भी वे नहीं हिला सकतीं। बुद्धिकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है और घ्राणेन्द्रियमें जो गन्ध बची रहती है, वह भी कुण्डलिनी-शक्तिके साथ-साथ मध्यमा नाड़ी सुषुम्णामें घुस जाती है। इसी बीच चन्द्रमाकी सत्रहवीं कलाके अमृतका वह सरोवर जो ऊपरकी ओर रहता है, धीरे-धीरे टेढ़ा होने लगता है और आकर कुण्डलिनीके मुँहके साथ लग जाता है। फिर इस कुण्डलिनीकी नलीमें जो अमृतरस भरता है, वह समस्त अङ्गोंमें व्याप्त हो जाता है और प्राणवायुके साथ प्रत्येक अङ्गमें पहुँचकर जहाँ-का-तहाँ सूख जाता है।

स्मरण रहे, यह वही अमृतकुण्ड है, जिसकी चर्चा श्रीरामचरितमानसके लंकाकाण्डमें त्रिजटाने सीतासे की है। 'अध्यात्मरामायण' में लिखा है—

नाभिदेशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकारसंस्थितम् ॥
तच्छोषयानलास्त्रेण तस्य मृत्युस्ततो भवेत् ।
विभीषणवचः श्रुत्वा रामः शीघ्रपराक्रमः ॥
पावकास्त्रेण संयोज्य नाभिं विव्याध रक्षसः ।
(११ । ५३—५५)

—यह विभीषणकी उक्ति है—संकेत है कि 'रावणकी नाभिमें कुण्डलाकार स्थित अमृतको अग्निबाणसे सुखा दें, तभी उसकी मृत्यु होगी, ।' तब रामने बड़ी फुर्तीसे अपने पावकास्त्रसे रावणकी नाभिको वेध डाला ।

कुण्डलिनीतत्त्व, मन्त्रार्थ-विज्ञान तथा मन्त्रचैतन्य

(लेखक—श्रीआद्याचरणजी झा, व्याकरण-साहित्याचार्य)

कुण्डलिनी-तत्त्वके विषयमें कुछ कहनेसे पूर्व 'उपासना' के विषयमें किञ्चित् निवेदन कर देना आवश्यक जान पड़ता है। अज्ञात शक्तिके सामीप्यकी प्राप्ति करानेवाले कर्मको तथा शक्ति-सञ्चयात्मक कर्मको भी 'उपासना' कहते हैं—इसमें कोई मतभेद नहीं है। सामान्यतः उपासना दो प्रकारकी है—वैदिकी तथा तान्त्रिकी। कुण्डलिनी-तत्त्व तथा मन्त्रके विषयमें तन्त्र-शास्त्रकी ही प्रधानता है। तदनुसार ही यहाँ यथामति तन्त्र-शास्त्रके अनुरूप मन्त्रार्थ-विवरण थोड़े-से शब्दोंमें प्रस्तुत किया जाता है।

मथित्वा ज्ञानदण्डेन वेदागममहार्णवम् ।
सारज्ञेन मया देवि कुलधर्मः समुद्धृतः ॥

भगवान् शंकर कहते हैं—'देवि ! गिरिराजनन्दिनि ! मैंने ज्ञानमय दण्ड (मथानी) के द्वारा वेदों और आगमोंके महासागरको मथकर वहाँसे कुलधर्म (कौलाचार) का उद्धार (प्राकट्य) किया है; क्योंकि मैं वेदों एवं आगमोंके सार तत्त्वका ज्ञाता हूँ ।'

कुलार्णव-तन्त्रकी इस उक्तिके अनुसार तन्त्र-शास्त्र प्रत्यक्ष उपासनाका प्रतिपादक शास्त्र है, जिसका सम्बन्ध शारीरिक और मानसिक उपासनासे है । तन्त्र-शास्त्र ही 'आगम' नामसे व्यवहृत होता है। वेद-शास्त्रोंका 'निगम' नामसे व्यवहार होता है। आगमकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है—वह शिवके मुखोंसे आगत हुआ—निकला, गिरिजाके श्रवणगत (प्रविष्ट) हुआ तथा भगवान् वासुदेवको भी अभिमत हुआ, अतः आगम* कहलाया।

* आगतः शम्भुवक्त्रेभ्यो गतश्च गिरिजाश्रुतिम् ।
मतश्च वासुदेवेन तस्मादागम उच्यते ॥

वेद तो अपौरुषेय है। वह निगमनात्मक होनेसे 'निगम' कहलाता है।

विस्तारार्थक 'तनु' धातुसे 'ष्ट्रन्' प्रत्यय करनेपर 'तन्यते ज्ञानमनेनेति तन्त्रम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'तन्त्र' शब्द बनता है। अतः ज्ञानका विस्तार करनेवाला शास्त्र 'तन्त्र' है। वह तत्त्व तथा मन्त्रसहित विपुल अर्थको विस्तारपूर्वक प्रकट करता है और साधकका त्राण भी करता है; अतः 'तन्त्र' कहलाता है। यथा—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

तन्त्र केवल शाक्तोपासनामें ही नहीं है, शैव तथा वैष्णव उपासनाओंमें भी वह समानरूपसे उपयुक्त होता है । शैवागमतन्त्र, वैष्णवागमतन्त्र तथा शाक्तागमतन्त्र —तीनों ही उपलब्ध होते हैं। वैष्णवतन्त्रके विषयमें श्री-मद्भागवतमें यों कहा गया है—

तेनोक्तं सात्वतं तन्त्रं यज्ज्ञात्वा मुक्तिभाग् भवेत् ।
यत्र स्त्रीशूद्रदासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः ॥

अर्थात् 'उन्होंने सात्वत-तन्त्र (वैष्णवतन्त्र) कहा है, जिसे जानकर मनुष्य मोक्षका भागी हो सकता है। उसमें स्त्रियों, शूद्रों तथा दासोंके लिये वैष्णव-संस्कारका विधान किया गया है।'

तन्त्रमें परब्रह्म परमात्माको शिवरूप एवं सच्चिदानन्द-स्वरूप बताया गया है। वे शिव सगुण भी हैं और निर्गुण भी। प्रकृतिरूपिणी शक्तिसे युक्त होनेपर शिव 'सगुण' कहे जाते हैं और उससे रहित होनेपर 'निर्गुण'। यहाँ शिव और शक्तिमें कोई भेद नहीं है। चिदंशकी दृष्टिसे एक ही तत्त्वको 'शिव' कहा जाता है और मायांशकी दृष्टिसे वही

'शक्ति' अथवा 'प्रकृति' नाम धारण करता है। वही ब्रह्मरूपसे स्थित है। ब्रह्मसे जब संसार प्रकट होता है, तो उसके साथ वह शक्ति द्वैतरूपा एवं मायात्मिका कही जाती है; तथा सृष्टिकी कारणभूता जो अव्यक्त प्रकृति है, उसीको मूल प्रकृति कहते हैं। प्रकृति-रूपधारी त्रिगुण ब्रह्मके तीन रूप हैं—परा, सूक्ष्म तथा स्थूल। पराका स्वरूप अनिर्वचनीय है। सूक्ष्म-रूप मन्त्रस्वरूप है तथा स्थूल-रूप साकार होता है, जिसकी स्तुति की जाती है। बाह्य जगत्‌में देवीका वही रूप प्रकट होता है। पिण्ड (शरीर) में और ब्रह्माण्डमें सूक्ष्म-रूप है, जो कुण्डलिनी-रूपसे स्थित है।

'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' ('मैं एक हूँ, बहुत होऊँ—अनेक शरीर धारण करके प्रकट होऊँ।') इस प्रकार जो वेदमें सृष्टिविषयक संकल्प तथा क्रम वर्णित है, तन्त्र-शास्त्रमें भी सृष्टिका वही क्रम स्वीकार किया गया है। जैसा कि 'शारदातिलक'में कहा है—

सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद् बिन्दुसमुद्भवः॥

'सच्चिदानन्दमय वैभवशाली पूर्णब्रह्म परमेश्वरसे पहले शक्ति प्रकट होती है, शक्तिसे नाद तथा नादसे बिन्दुका प्राकट्य होता है।'

बिन्दुके तीन रूप हैं—शिवमय, शक्तिमय तथा शिवशक्तिमय। बिन्दुकी आकृति चनेके समान है। जैसे चनेके ऊपर छिलका होता है, उसी प्रकार बिन्दुपर भी बाहरकी ओरसे मायामय आवरण होता है। उस आवरणके भीतर शिव-शक्तिस्वरूप दो खण्ड हैं, जैसे चनेकी दो दालें होती हैं। उन्हींकी भाँति पृथक्-पृथक् होनेपर भी शिव-शक्ति दोनों दल परस्पर संयुक्त हो अभिन्न रूपसे स्थित हैं। यही बिन्दु शिव-शक्ति उभय रूप है। इसीको 'शब्द-ब्रह्म' के नामसे कहा जाता है; इसीके द्वारा समस्त सृष्टि-प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है। जैसा कि 'प्रपञ्चसार'में कहा गया है—

स तत्त्वसंज्ञा चिन्मात्रा ज्योतिषः सन्निधेस्तथा।
विचिकीर्षुर्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्॥
कालेन विद्यमानस्तु स बिन्दुर्भवति त्रिधा।
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते॥
स बिन्दुनादबीजत्वभेदेन विनिगद्यते।
बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद् रवोऽव्यक्तात्मको भवेत्॥
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
(प्रथम पटल ४१-४४)

महावैयाकरण भर्तृहरिने व्याकरणशास्त्रके मूर्धन्यभूत ग्रन्थ वाक्यपदीयमें ऐसा ही कहा है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
अध्याहितकलां यस्य कालशक्तिमुपाश्रिताः।
जन्मादयो विकाराः षड् भावभेदस्य योनयः॥
एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥
प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।
यत्तत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः॥
(वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड १, ३-४, १२)

'उत्पत्ति और विनाशसे रहित जो अक्षर घटादि अर्थरूपसे भासित होता है, जिससे विकारात्मक जगत्‌की प्रथमतः उत्पत्ति हुई है, वह शब्दतत्त्व (पश्यन्ती वाक्स्वरूप) ब्रह्म है। जिस ब्रह्मकी आरोपित कला (भेद) वाली कालशक्तिके आश्रित जन्म आदि छः विकार भाव-भेदके कारण होते हैं। सबके बीजस्वरूप जिस एकमात्र ब्रह्मकी यह भोक्ता, भोक्तव्य तथा भोग-रूपसे अनेक प्रकारकी स्थिति है, जिसे वर्ण, पद और वाक्यरूप विभाग प्राप्त हो गया है, उस वाणीका जो परम रस (सारभूत साधु शब्दसमुदाय) है तथा जो श्रुतिप्रसिद्ध पुण्यतम ज्योति (शब्द-ज्योति) है, उसके ज्ञानके लिये यह व्याकरण-शास्त्र सरल मार्ग है।

श्रुति भी कहती है—

'ॐकार एव सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति।'

'ॐकार ही सम्पूर्ण वाणी है। वही यह स्पर्श (क से म तक अक्षर)से लेकर ऊष्मा (श ष स ह) तकके अक्षरोंके रूपमें प्रकट हो अनेक प्रकारके रूप धारण करके बहुत हो जाती है।'

'माण्डूक्य श्रुति' (५) का भी ऐसा ही कथन है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् इति।'

'ओम् यह अक्षर ही यह सारा जगत् है।' पुनश्च श्रुति कहती है—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे।
स भूरिति व्याहरद् भूमिमसृजत्॥

'वाणी ही सम्पूर्ण भुवनोंके रूपमें प्रकट हुई। उसने 'भूः' ऐसा कहा। फिर भूमिकी सृष्टि कर ली।'

स्मृति भी यही कहती है—

वेदशब्देभ्य एवासौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।

'उन विधाताने वेदके शब्दोंसे ही पृथक्-पृथक् संस्थाओं (यज्ञ-संस्थाओं) का निर्माण किया।'

वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड १२०)में पुनः कहा गया है—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत॥

'यह संसार शब्दका ही परिणाम है, ऐसा वेदवेत्ताओंका मत है। यह विश्व सर्वप्रथम वेदोंसे ही प्रकट हुआ है।' (अतः वेदोंका विवर्त है।)

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि शब्दब्रह्मसे ही सृष्टि होती है। उस शब्दब्रह्मका मूलतत्त्व कुण्डलिनी है। पूर्वोक्त 'सच्चिदानन्दविभवात्' इत्यादि शारदातिलकमें प्रतिपादित प्रमाणसे यही सिद्ध होता है कि परमेश्वर शिवसे शक्ति, शक्तिसे नाद और नादसे बिन्दुका प्रादुर्भाव हुआ है। वह बिन्दु ही शब्दका सूक्ष्मतम रूप है, जिसे 'कुण्डलिनी' कहते हैं।

कुण्डलिनी ही समस्त सृष्टिकी कारणभूता है। कुण्डलिनीका स्थान मूलाधार-चक्र है। शरीरके भीतर छः चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा। वह मूलाधार ही कुण्डलिनीका स्थान है। वही कुण्डलिनी ध्वनिकी कारणभूता है। इसी कुण्डलिनीमें मधुकी मक्खीकी भाँति अव्यक्त ध्वनि होती है। इसीकी सूक्ष्मरूपा वाणी (या ध्वनि) 'पश्यन्ती' कही जाती है। उससे न्यून स्थितिमें जो ध्वनि होती है, वह 'मध्यमा' है और उससे प्रकटरूपा ध्वनि 'वैखरी' वाक्के नामसे व्यवहारमें आती है। इसे इस प्रकार समझना चाहिये—परा वाक् मूलाधार-चक्रमें स्थित है, पश्यन्ती नाभिदेशमें और मध्यमा हृदयदेशमें है—ऐसा जाने। वैखरी वाणी कण्ठदेश तक पहुँचकर सबकी श्रवणेन्द्रियका विषय बनती है। वैखरीका नाद दूसरोंके कानोंतक पहुँचता है। मध्यमाका नाद स्फोट-व्यञ्जक कहलाता है। यह बात नागेशभट्टने अपनी 'परम लघु-मञ्जूषा'में कही है। इससे यह निश्चित होता है कि ध्वनि तथा वर्ण कुण्डलिनीके ही सार-रूप हैं। फलतः कुण्डलिनीके विकास ही मन्त्र हैं।

साधक ही मन्त्रोंके उस रहस्यको जान सकते हैं। मन्त्र कुण्डलिनीके विकसित रूप हैं। जब साधनद्वारा मन्त्र-शक्ति जाग्रत् होती है, तभी देवताका साक्षात्कार होता है। मनन (अभ्यास या जप) करनेसे जो त्राण करते हैं, वे 'मन्त्र' हैं। मन्त्र शब्दरूप है तथा वह शब्द ही ब्रह्मरूप है। जैसा कि 'बृहद्गन्धर्व-तन्त्र'में कहा गया है—

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि बीजानां देवरूपताम्।
मन्त्रोच्चारणमात्रेण देवरूपं प्रजायते॥

'देवि! सुनो—मैं बीजोंकी देवरूपताका प्रतिपादन करता हूँ। मन्त्रोंके उच्चारणमात्रसे साधकको देवताका सारूप्य प्राप्त हो जाता है।'

मन्त्रोंमें वर्ण, नाद, स्वर, व्यञ्जन और बिन्दुओंका जो सम्बन्ध है, वही देवताका विभिन्न रूप (अवयव) है। प्रत्येक अक्षरमें देवताके विशिष्ट रूपकी स्थिति है; किंतु सर्वात्मिका शक्ति सम्पूर्ण मन्त्रमें विद्यमान है।

तन्त्र-शास्त्र मन्त्रस्वरूप ही है। मन्त्र देवतारूप है। मन्त्र दो प्रकारके हैं—स्पष्ट और अस्पष्ट। बीजमन्त्र अस्पष्ट देवतारूप हैं। स्फोटात्मक शब्द नित्य ब्रह्मस्वरूप है; निश्चय ही उसमें अर्थ निहित है; क्योंकि शब्द और अर्थमें अभेद-सम्बन्ध है। मन्त्रमें देवताकी स्थिति है; क्योंकि पहले शब्द-स्वरूपमें देवताका प्रत्यक्ष होता है। तदनन्तर विशिष्ट अभ्यास-साधनसे साकाररूपमें देवताका प्रत्यक्ष सम्भव होता है। यह इस विवेचनका निष्कर्ष है। मन्त्रशास्त्र परम प्राचीन और आर्ष है। उसकी उत्पत्तिके विषयमें वेद, उपनिषद्, पुराण तथा धर्मशास्त्रमें विशिष्ट वर्णन है तथा सैकड़ों प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं। इन प्रमाणोंका थोड़ा-सा भी आलोचन हो तो उसके लिये पृथक् रूपसे निबन्धकी आवश्यकता होगी। अतः अब हम यहीं विराम लेते हैं।*

---

* इस संक्षिप्त दिग्दर्शनसे कुण्डलिनी-तत्त्व तथा मन्त्रार्थविज्ञानके विषयमें यदि कोई प्रकाश पड़ा और मार्ग सुलभ हुआ तो हम कृतकृत्य तथा धन्य होंगे।

उड्डीयान एवं नौलि

(लेखक—पं० श्रीमदनगोपालदत्तजी)

नौलिसे पूर्व यहाँ पहले उड्डीयानबन्धका वर्णन करना है। संस्कृतमें 'उड्डीयान' का अर्थ होता है—'उड़ना' और 'बन्ध'का अर्थ है—'बाँधना'। इस प्रकार किसी उड़ती हुई वस्तुको बाँधना या अपने नियन्त्रणमें करना उड्डीयानबन्ध है। मनुष्यकी चित्तवृत्तियोंको अधोमुखसे ऊर्ध्वमुख करनेके लिये उड्डीयानबन्ध एक बड़ी श्रेष्ठ क्रिया है। साथ-ही-साथ इससे मनुष्यके स्वास्थ्यमें भी सुधार किया जा सकता है; क्योंकि प्रायः सभी प्रकारके रोग उदरकी खराबीसे ही उत्पन्न हुआ करते हैं। हमारे शरीरके भीतर स्थित यकृत, आमाशय, प्लीहा, छोटी आँतें एवं बड़ी आँतें आदि यन्त्रोंमें जब रुग्णता, शिथिलता (सुस्ती) आ जाती है और वे सुचारु रूपसे अपना कार्य नहीं कर पाते, तो उनको सक्षम, स्वस्थ, सबल और क्रियाशील करनेके कार्यमें उड्डीयानबन्ध बहुत ही उत्तम सिद्ध हुआ है।

हमारे उदरमें बहुत-से स्नायु स्थित हैं। उड्डीयानबन्धसे प्रत्येक नसकी मालिश हो जाती है, जिससे उदरके आभ्यन्तरिक संस्थान बलिष्ट हो उठते हैं। उनमें पूर्ण क्रियाशीलता आ जाती है।

शारीरिक लाभकी अपेक्षा भी उड्डीयानबन्धसे आध्यात्मिक उन्नति अधिक होती है। चित्तकी बहकी हुई भावनाएँ एक स्थानपर केन्द्रित हो जाती हैं।

उड्डीयानबन्ध दो प्रकारसे किया जा सकता है। प्रथम खड़े होकर और दूसरा पद्मासनमें बैठकर।

विधि—प्रातःकाल शौच-क्रिया एवं मुख-प्रक्षालनके पश्चात् खड़े हो जायँ और अपने दोनों पैरोंको एक दूसरेसे डेढ़ फुटकी दूरीपर रक्खें एवं दोनों हाथ रानोंपर स्थापित करके सामनेकी ओर तनिक झुक जायँ तथा अपनी गर्दन और कंधोंके पूर्ण भारको हाथोंपर आने दें; इसके पश्चात् फेफड़ोंसे गहरी श्वास बाहर निकालें। फेफड़ोंको पूर्ण वायुरहित करनेके पश्चात् झूठे तौरपर श्वास लेना चाहिये अर्थात् श्वास भीतर न प्रवेश करने पाये। झूठे तौरपर ऊपरको श्वास खींचने-जैसी क्रिया करें। इस क्रियाके करनेसे महाप्राचीरा (Diaphragm) ऊँचे उठ जायगी और उदर गहरे गड्ढेमें परिवर्तित हो उठेगा।

सबसे सरल युक्ति तो यह है कि जबतक वायु सुखपूर्वक नियन्त्रित की जा सके, उसे नियन्त्रित करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके पश्चात् कंधों और गर्दनका पूर्ण शिथिलीकरण हो, जिससे शनैः-शनैः फेफड़ोंमें स्वच्छ वायु परिपूर्ण हो जाय। जब पूर्णवायु फेफड़ोंमें प्रवेश कर जाय, तब एक उड्डीयान पूर्ण समझना चाहिये। नये साधकके लिये प्रारम्भमें एक सप्ताहतक एक ही उड्डीयान करना पर्याप्त होगा। फिर पाँच-छः मासमें इसकी संख्या (सात तक) बढायी जा सकती है। साथ ही अपनी शक्तिके अनुसार वायु नियन्त्रित कर सकते हैं।

लाभ—उदरकी स्वच्छता एवं मालिश उड्डीयानबन्धसे बड़ी सुन्दर होती है। उदरके आभ्यन्तरिक अवयवका एक प्रकारका शिथिलीकरण हो जाता है, जिससे दिनभरके लिये चित्तमें ताजगी एवं प्रसन्नता आ जाती है। जीर्ण कोष्ठबद्धता, अपच एवं क्षुधाकी कमी दूर हो जाती है; परंतु आध्यात्मिक लाभ आगे चलकर इससे अधिक प्राप्त होते हैं। जैसे—कुण्डलिनी-जागरण इत्यादि।

निषेध—उच्च रक्तचाप (High Blood pressure) के रोगी, हृद्रोगी एवं यक्ष्मासे पीड़ित व्यक्तिको उड्डीयानबन्ध नहीं करना चाहिये।

नौलि—नौलिका अर्थ होता है—थैली। हमारे उदरमें जो बड़ी आँत है वह एक थैलीके आकारकी है जो कामाद्रिके ऊपर और नाभिके समीपसे दोनों ओर स्थापित की हुई है। नौलि उदरकी स्वच्छताके लिये संसारमें अद्वितीय क्रिया है और यह योगियोंकी षट्क्रिया—नौलि, धौति, वस्ति, नेति, कपालभाति और त्राटकमेंसे एक है। नौलि सीखनेके पूर्व उड्डीयान करना इसका प्रथम सोपान है।

उड्डीयानबन्ध दो प्रकारसे किया जाता है—पहला पद्मासनमें बैठकर और दूसरा खड़े होकर। जब उड्डीयानबन्धके पश्चात् नौलि-क्रिया करनी हो तो खड़े होकर ही करनी चाहिये।

नौलि सीखनेके पूर्व साधकको चाहिये कि वह अपनेको नौलि-क्रियाके अनुकूल बना ले। इसके लिये उड्डीयानका अच्छी प्रकारसे अभ्यास होना चाहिये। जो व्यक्ति मोटी तोंदवाले होते हैं, उनको उड्डीयानमें ही एक वर्ष या इससे भी अधिक समय लग सकता है। परंतु यह देखा गया है कि उड्डीयान करनेसे निकला हुआ तोंद बहुत कुछ घट जाता है। जब उड्डीयान अच्छी प्रकारसे बनने लगे और महाप्राचीरा (Diaphragm) वक्षःस्थलकी ओर ऊपर चढ़ने लगे तो साधकको समझना चाहिये कि उसे सफलता प्राप्त हो रही है या वह शनैः-शनैः विकासकी ओर बढ़ रहा है।

विधि—पहले सीधे खड़े हो जाइये। फिर एक पैरकी दूरी दूसरे पैरसे डेढ़ फुटपर कर लीजिये। अपने दोनों हाथोंको अपनी दोनों जंघाओंपर स्थापित कीजिये और अपने शरीरको थोड़ा आगे झुका दीजिये। फुफ्फुस (Lungs) को वायुरहित कीजिये। इसके पश्चात् झूठे तौरपर श्वास खींचिये (परंतु वायु अंदर न प्रवेश करे); इससे उदर और पृष्ठ एकाकार हो उठेंगे। महाप्राचीरा जब ऊपर वक्षःस्थलकी ओर चढ़ जाय, उस समय धड़को जरा सीधा कर ले और इच्छाशक्तिका कुछ सहारा ग्रहण करते हुए दोनों नलोंको उदरके मध्यमें निकालनेका प्रयत्न करे।

नलोंको बाहर निकालनेके लिये उचित स्थानपर दबाव या धक्का देना चाहिये। यानी जहाँसे ये दोनों नल प्रारम्भ होते हैं अर्थात् कामाद्रिके ऊपर और नाभिके नीचेसे। इच्छाशक्ति (Will-Power) का सहारा लेते हुए उसी स्थानपर भीतरकी ओर धक्का देना चाहिये। धक्का देनेसे नल स्पष्टरूपसे निकलकर दृष्टिगोचर होने लगेंगे और उदरकी सभी पेशियोंका शिथिलीकरण हो जायगा।

प्रथम यह उदरके मध्यमें जो नल दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें 'मध्यम नौलि' कहते हैं। नये साधकको कुछ महीने इसीका अभ्यास करना चाहिये। इसके पश्चात् दक्षिण और वाम नौलि सीखनेका प्रयत्न करना चाहिये। जब अच्छी प्रकारसे इन सभीका अभ्यास हो जाय, तब नौलिको चक्राकार रूपमें तीव्र गतिसे घुमाना चाहिये। क्रमशः नलोंको दायेंसे बायें और बायेंसे दाहिने घुमाना ही 'नौलि' कहलाता है।

इसके पश्चात् दक्षिण अर्थात् दाहिनी नौलि जब निकालनी हो तो पहले दाहिनी ओर थोड़ा झुकिये और बायीं ओर शरीर सीधा रखते हुए दाहिनी ओर धक्का देकर दाहिने नलको उभाड़नेका प्रयत्न इच्छाशक्तिका सहारा लेकर करना चाहिये। बायीं ओरका नल इस समय शिथिलावस्थामें रहेगा।

जब दाहिनी ओरकी नौलि सिद्ध हो जाय तो फिर बायीं ओरकी नौलि निकालनेकी चेष्टा करनी चाहिये। बायीं ओर जरा झुककर और दाहिनी ओरका शरीर सीधा करते हुए धक्का देकर बायीं ओरके नलको उभाड़नेका प्रयत्न करना चाहिये। दाहिनी ओरका नल इस समय शिथिलावस्थामें रहेगा।

जब मध्य, दक्षिण और वाम—इन तीनों नौलियोंका पूर्ण अभ्यास हो जाय और अच्छी प्रकारसे इनपर अधिकार हो जाय, तब कुछ महीनोंतक इसीपर संतोष करना चाहिये। इसके पश्चात् नलोंको चक्राकार रूपमें घुमानेका प्रयत्न करना चाहिये। दाहिनी और बायीं ओरके दोनों नलोंको क्रमानुसार घुमाना चाहिये। घुमानेके समय साधकको ऐसा अनुभव होगा कि उसके उदरमें तरङ्गें तरङ्गित हो रही हैं। इस प्रकार एक उड्डीयानमें सात चक्कर तक देने चाहिये। शनैः-शनैः इसको अभ्यासद्वारा बढ़ाया भी जा सकता है।

(१) साधकको चाहिये कि वह नित्य-क्रिया शौच आदिसे निवृत्त होकर खाली पेटसे ही नौलि करें।

(२) नौलि शरद् ऋतुमें ही सीखी जाय तो अच्छा हो।

(३) साथ ही साधकको शाकाहारी भी होना चाहिये।

(४) नौलि प्रतिदिन नियमसे प्रातःकाल करनी चाहिये।

(५) नौलि करनेके आध घंटे पश्चात् ही कुछ जलपानके रूपमें लिया जाय। वह भी तरल पदार्थ दुग्ध आदि हो तो उत्तम होगा।

उदरकी आभ्यन्तरिक शुद्धि एवं स्वच्छताके लिये उड्डीयान एवं नौलि अद्वितीय क्रियाएँ हैं।

कोष्ठबद्धता एवं अजीर्णको नौलि एवं उड्डीयानसे दूर किया जा सकता है। साथ ही इससे यकृत (Liver) प्लीहा और बृक (गुर्दा) आदिके कार्य ठीक प्रकारसे होने लगते हैं। आमाशय एवं आँतोंकी स्वच्छता भलीभाँति हो

जाती है। शारीरिक लाभके अतिरिक्त आध्यात्मिक लाभ इससे कहीं अधिक प्राप्त होते हैं।

निषेध—३९वर्षसे अधिक अवस्थावाले व्यक्तिको नौलिका अभ्यास नहीं करना चाहिये, जबतक कि किसी विशेषज्ञसे परामर्श न ले ली जाय।

उच्च रक्तचापसे पीड़ित व्यक्तिको भी यह व्यायाम करनेका साहस नहीं करना चाहिये।

राजयक्ष्मासे पीड़ित व्यक्तिको भी नौलि नहीं करनी चाहिये या जिनको नौलि करते समय कोई पीड़ा प्रतीत होती हो, उन्हें भी नहीं करनी चाहिये।

प्राणायामके प्रयोगात्मक चमत्कारी परिणाम

(लेखक—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम्० ए०, बार-एट-ला, विद्यावारिधि)

प्राण परमात्माकी शक्तिका द्योतक है। 'कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद्'में 'प्राणो ब्रह्म' कहकर प्राणकी महिमा बतलायी गयी है। 'मुण्डकोपनिषद्' (२।१।३) में कहा गया है कि

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

अर्थात् इस परमात्मासे प्राण, मन, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और सबको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। यही बात 'प्रश्नोपनिषद्' (६।४) में बतलायी गयी है। प्राणका क्रियायोग प्राणायाम है, जो मनुस्मृति (२। २६) में 'प्राणायामः परं तपः' कहा गया है।

जिस प्रकार बिजलीसे विविध यन्त्रोंका संचालन होता है, वैसे ही प्राणद्वारा समस्त प्राणियोंके अङ्ग गतिमान् होते हैं। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' (२।२।३) बतलाता है—

'प्राणं देवा अनुप्राणन्ति, मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः, तस्मात् सर्वायुषमुच्यते।'

अर्थात् प्राणके बलसे देवता, मनुष्य और पशु जीते हैं, प्राण सब भूतोंकी आयु है; अतएव वह 'सर्वायुष' कहलाता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' (५।१।६–१२) में प्राणकी महिमाके सम्बन्धमें एक रोचक आख्यान है। एक बार इन्द्रियोंमें और प्राणमें यह विवाद खड़ा हुआ कि उनमें कौन श्रेष्ठ है। न्याय करानेके लिये सब प्रजापतिके पास पहुँचे। उन्होंने उत्तर दिया कि तुममेंसे जिसके निकल जानेसे शरीर मृतवत् हो जाय, वही श्रेष्ठ है। यह सुनकर वाणी शरीरसे बाहर निकली, फिर चक्षु और उसके बाद श्रोत्र। इस प्रकार एक-एक करके इन्द्रियोंके निकलनेपर भी शरीर जीवित बना रहा। अन्तमें जब प्राण निकलने लगा, तब सब विकल हो गये और कहने लगे 'तुम्हीं हम सबमें श्रेष्ठ हो, तुम बाहर मत जाओ'। जिस प्रकार बिजलीके चले जानेपर घरमें रेडियो और पंखेका चलना बंद हो जाता है, वैसे ही प्राणशक्तिसे रहित होनेपर सब इन्द्रियोंके व्यापार लोप हो जाते हैं।

प्राण 'पञ्च वायवः' पाँच वायुओंद्वारा शरीरमें प्रकट होता है। वे 'प्राणापानव्यानोदानसमानाः' अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान हैं। इनका अधिष्ठान इस प्रकार है—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥

अर्थात् हृदयमें प्राण, गुह्याङ्गोंमें अपान, नाभिमें समान, कण्ठमें उदान और सारे शरीरमें व्यान व्याप्त हैं। इन पाँचोंके द्वारा विलक्षण देह-यन्त्रका संचालन इस प्रकार किया जाता है। प्राण-वायुका काम श्वास भीतर ले जाना और बाहर निकालना है, भोजनको पचाना, अन्नको मल, पानीको मूत्र और रसादिको वीर्यमें परिणत करना है। अपान गुदासे मल, उपस्थसे मूत्र और अण्डकोषसे वीर्य बाहर निकालता है। समान रसादिका वितरण सब अङ्गोंमें करता है। उदानद्वारा जीवात्माका सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरसे निकलकर शरीरान्तर या लोकान्तरमें जाता है। 'प्रश्नोपनिषद्' (३।७) में कहा गया है कि 'उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति।'

योगदर्शनके विभूति-पादके सूत्र ३९में यह कथन है कि 'उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।' अर्थात् उदानके जीतनेसे योगीका शरीर इतना हल्का हो जाता है कि वह पानीपर चल सकता है और कीचड़-काँटोंका असर उसके पैरोंपर नहीं होता है तथा

प्राणोंका निकलना उसके वशमें हो जाता है । व्यासभाष्यमें उदानकी व्युत्पत्ति 'उन्नयनादुदानः' की गयी है ।

जिस प्राणकी इतनी महान् शक्ति है, उसका उपयोग करनेकी प्रक्रिया प्राणायाम है । उसके तीन प्रकार हैं—(१) पूरक—नाकके छिद्रोंद्वारा श्वासको भीतर ले जाना, (२) रेचक—श्वासको बाहर निकालना और (३) कुम्भक—श्वासको भीतर या बाहर रोक लेना । पूरक-सहित कुम्भक 'आभ्यन्तर' और रेचकसहित 'बाह्य' कहलाता है। प्राणायामको प्रणवकी उपासना भी माना गया है। 'योगि-याज्ञवल्क्य' (६ । ३) में कहा गया है—

वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचकपूरककुम्भकाः ।
स एव प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥

अर्थात् रेचक, पूरक और कुम्भक—इन तीनोंमें तीन-तीन वर्ण हैं, जिस प्रकार प्रणवमें 'अ-उ-म'—तीन वर्ण हैं। अतएव प्राणायाम प्रणव-रूप है और इसी भावनासे उसकी उपासना करनी चाहिये। बाह्य कुम्भक और आभ्यन्तर कुम्भकके अतिरिक्त प्राणायामका तीसरा प्रकार केवल कुम्भक है, जिसमें श्वास-प्रश्वासकी गतिका निरोध होता है अर्थात् प्राण-वायुको जहाँ-का-तहाँ बिना पूरक-रेचक किये एकदम रोक दिया जाता है। चौथे प्रकारका प्राणायाम कुम्भकके बिना केवल पूरक और रेचकद्वारा किया जाता है और इसमें श्वास-प्रश्वासकी गतिका अल्पमात्रामें निरोध स्वतः ही बन जाता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि केवल श्वास लेना और निकालना ही पूरक और रेचक नहीं कहलाते; किंतु पूरकमें प्राण-वायुको प्रयाससे गुदा-स्थान तक ले जाकर अपानसे मिलाया जाता है और रेचकमें अपान ऊपर खिंचकर प्राणसे जा मिलता है और कुम्भकमें प्राण और अपान—दोनों समान-वायुके स्थान नाभिमण्डलमें रोक दिये जाते हैं। प्राणायाम 'योग-यज्ञ' है, जिसका वर्णन गीतामें इस प्रकार है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
(४ । २९)

अर्थात् 'जैसे कतिपय योगी अपानमें प्राणको होमते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणमें अपानका हवन करते हैं और कई योगी प्राण और अपानकी गतिका निग्रह कर प्राणायाममें लगाते हैं।'

प्राणायाम क्या है और उसके कितने भेद हैं—इस विषयका संक्षेपमें वर्णन करके, अब प्राणायामके प्रयोगों-के परिणामकी चर्चा की जाती है। प्राणायामके लाभोंके बारेमें मैंने जो कुछ पढ़ा है या सुना है और उसके निरन्तर अभ्याससे मुझे और अन्य पुरुषोंको जो सुफल प्राप्त हुए हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन ही इस लघु लेखका मुख्य लक्ष्य है।

(१) दीर्घायु-प्राप्ति

किस प्रकार प्राणायामद्वारा योगियोंकी आयु दीर्घ हो जाती है, उसके अनेक वर्णन प्राचीन पुस्तकों और सामयिक समाचारपत्रोंमें विद्यमान हैं। कलकत्ता कारपोरेशनके गज़ट ता० २६ । १२ । ५० में श्रीअरविन्दके योगी गुरुकी आयु ४०० सालसे ऊपर बतलायी गयी है। एक दिन श्रीसयाजी राव गायकवाड़के साथ अरविन्द उनके दर्शन करने गये। वे अरविन्दके पास जा खड़े हुए और बड़ी गहरी नजरसे उन्हें देखने लगे। उनकी धुँधली आँखें तारोंकी तरह जगमगाने लगीं और झुकी कमर सीधी हो गयी। वे हर्ष-पूर्वक अत्यन्त शान्त स्वरमें बोले कि 'अच्छा तो अन्तमें तुम आ ही गये, मैं न जाने कितने वर्षोंसे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ।' स्वामी सत्यमूर्ति, जिनका जन्मस्थान राजस्थान है और जो अब ९२ वर्षमें स्वस्थ और सशक्त विद्यमान हैं। अपने गुरु स्वामी सर्वानन्दकी आयु ३५० वर्ष बतलाते हैं और वे गंगोत्री, बदरीनाथ इत्यादि तीर्थ-स्थानोंमें पधारकर भक्तोंको दर्शन देते रहते हैं। स्वामी सत्यमूर्तिका कुछ रोचक वृत्तान्त अगले शीर्षकमें दिया जायगा।

योगियोंकी दीर्घायुका रहस्य क्या है ? समस्त भौतिक पदार्थ विनाशशील हैं। गति उनकी शक्तिकी क्षति कर डालती है। इंजन या वायुयान-सरीखा यन्त्र चलते-चलते घिसकर निकम्मा हो जाता है। पुरुषकी आयुका घटना या बढ़ना उसके श्वास-प्रश्वासकी गतिपर निर्भर है। जिस परिमाणसे श्वासोंकी संख्या बढ़ती जायगी या घटती जायगी, उसी परिमाणसे आयुकी क्षति या वृद्धि होती जायगी। प्राणायामकी प्रक्रियामें कुम्भकद्वारा प्राणकी गतिका निरोध होनेसे योगीकी आयु-वृद्धि हो जाती है।

(२) दिव्य शक्ति

गत अप्रैल मासकी तीसरी तारीख सोमवारको विठूर (कानपुर) के लवकुश-आश्रमके प्राङ्गणमें स्वामी श्रीसत्यमूर्तिने

निज अलौकिक शक्तिका प्रदर्शन किया। उन्होंने उस दिन वहाँकी गुफामें प्रवेश किया और संकल्पसे समाधि ग्रहण करते हुए कहा कि 'आगामी रविवार ता० ८ अप्रैलको प्रातःकाल ८ बजकर १५ मिनट होनेपर मेरे उठनेका समय होगा।' गुफाके द्वारपर डेढ़ फुट मिट्टी डाल दी गयी और वायु-प्रवेशका कोई छिद्र कहीं नहीं था। उस अवसरपर उत्तरप्रदेशके राज्यपाल श्रीविश्वनाथदास वहाँ उपस्थित थे। नियत दिन और समयपर बड़ी भारी भीड़ जमा हो गयी। गुहा-द्वारसे मिट्टी हटाये जानेपर स्वामीजी भले-चंगे बाहर निकले। अपने भाषणमें उन्होंने कहा कि 'मैं जीवनमें इस प्रकार १४२ बार समाधि ग्रहण कर चुका हूँ और यह प्राणायाम-योग है।' वे कुम्भक करके प्राणको ब्रह्माण्डमें चढ़ाकर समाहित हो जाते हैं और संकल्पके अनुसार प्राण नीचे उतरनेपर वे चेतन हो जाते हैं। प्राणपर विजय योगी प्राणायामकी क्रियासे प्राप्त कर लेता है।

सन् १८३७में पंजाबकेसरी महाराज रणजीतसिंहके समयमें प्राणायाम-परायण स्वामी हरिदासके योगबलके चमत्कारकी चर्चा डा० मैक्ग्रीगरने अपने ग्रन्थ 'सिक्खोंके इतिहास'में विस्तारपूर्वक की है। स्वामीजीने महाराजसे कहा कि 'बक्समें बंद करके मिट्टीमें गाड़ दिया जानेपर भी मैं जबतक चाहूँ जिंदा रह सकता हूँ।' इस बातकी परीक्षा की गयी। वे बक्समें समाधि लगाकर बैठ गये और उसमें ताला लगा दिया गया। एक बगीचेमें वह बक्स गाड़ दिया गया और पहरा बिठा दिया गया ताकि बगीचेके निकट कोई भी मनुष्य न आने पाये। चालीस दिन बीतनेपर महाराज अपने सरदारों और उक्त डाक्टरको साथ लेकर बगीचेमें पधारे और मिट्टी खुदवाकर बक्सको बाहर निकलवाया। हरिदासजी हँसते हुए बाहर निकले और बातचीत करने लगे। यह विचित्र योग-लीला देखकर सब विस्मयविमुग्ध हो गये। महाराज इतने प्रसन्न हुए कि अपने हाथसे उनके गलेमें रत्नोंका हार पहनाया और उनके सम्मानमें तोपोंकी गड़गड़ाहटसे आकाश गूँज उठा।

(३) विकारोंपर विजय

इन्द्रियोंके विषयासक्त होनेके कारण पुरुष विकारका शिकार हो जाता है। एक मर्मज्ञ कविने कहा है—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी कथं न हन्याद् यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

अर्थात् 'हरिण शब्दसे, हाथी स्पर्शसे, पतंग रूपसे, भ्रमर रससे और मछली गन्धसे आसक्त होकर विनाशको प्राप्त होते हैं। प्रमादी पुरुष जो इन पाँचों विषयोंको अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे भोगता है, वह क्यों न मारा जाय?' मनु भगवान्‌का वचन कि 'इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।' अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंमें फँसनेसे दोष आ जाता है। रावण-सरीखा महाबली इन्द्रियलोलुपताके कारण मारा गया। रामायणके लङ्काकाण्डमें उसके शवपर अश्रुमोचन करती हुई उसकी भार्या मन्दोदरी अपनी विषम व्यथा इस मर्मस्पर्शी श्लोकद्वारा व्यक्त करती है—

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया॥
स्मरद्भिरिव तद् वैरमिन्द्रियैरेव निर्जितः।

(युद्धकाण्ड १११। १५-१६)

अर्थात् 'पूर्वकालमें इन्द्रियोंको जीतकर तुमने तीनों लोकों पर विजय प्राप्त की थी। उस वैरका मानो स्मरण करती हुई इन्द्रियोंद्वारा ही तुम जीत लिये गये हो।' इन्द्रियोंके दोषोंको दूर करनेका उपाय प्राणायामका पीयूषपान करना है। मनुस्मृतिमें मानवजीवनको निर्मल बनानेकी विधि यह है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

(मनु० ६। ७१)

अर्थात् 'जैसे अग्निमें तपाये हुए धातुओंके मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम करनेसे इन्द्रियोंके दोष दूर हो जाते हैं।' चित्तसे काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ आदि विकारोंके मिट जानेसे पुरुषको प्रज्ञाका प्रकाश प्राप्त हो जाता है। योगदर्शनका सूत्र (२। ५२) है कि 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।' अर्थात् उससे (प्राणायामसे) ज्ञानरूपी प्रकाशको रोकनेवाला परदा हट जाता है। इस सूत्रपर वेदव्यासजीका भाष्य है कि 'तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य।' अर्थात् 'प्राणायामसे बढ़कर दूसरा तप नहीं है; क्योंकि उससे सारे मल मिट जाते हैं और ज्ञानका प्रकाश प्राप्त होता है।'

(४) अतुल मनोबल

प्राणायामसे कठिन-से-कठिन विषयको ग्रहण करने और

उसका स्मरण रखनेकी क्षमता बढ़ जाती है। स्वामी विवेकानन्दकी मेधा-शक्तिका एक विचित्र वृत्त है। जब वे जर्मनीमें भारतीय दर्शनप्रेमी प्रोफेसर पाल ड्यूसनके घर ठहरे हुए थे, वे एक कविता-पुस्तक पढ़नेमें इतने मग्न हो गये कि उन्हें भान ही नहीं हुआ कि कबसे खड़े हुए प्रोफेसर चायके लिये उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उन्हें देखते ही क्षमा माँगते हुए वे कविता सुनाने लगे जो उन्हें अच्छी लगी थी। उन्होंने स्वामीजीसे कहा 'आप इस कविताको पहलेसे जानते होंगे।' स्वामीजीने जवाबमें कहा कि 'मैंने तो इसे आपके यहाँ ही पढ़ा है।' चकित होकर वे बोले कि 'केवल एक बार ही पढ़नेसे इतनी लंबी कविता कैसे कण्ठस्थ हो गयी?' स्वामीजीने कहा कि 'ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे और प्राणायामके अभ्याससे चित्तकी एकाग्रता प्राप्त होनेपर यह क्षमता आ जाती है।'

भगवान् आदिशंकराचार्यकी स्मरण-शक्ति इतनी प्रबल थी कि वे एक बार जो पुस्तक पढ़ या सुन लेते, वह उन्हें ज्यों-की-त्यों याद बनी रहती। उनके शिष्य पद्मपादका वेदान्त-भाष्य मामाके घरमें आग लगनेपर भस्म हो गया था। जब शिष्यने उनके समक्ष इस घटनाके कारण अनुताप प्रकट किया तो उन्होंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'वत्स! चिन्ता न करो, तुमने मुझे वह भाष्य एक बार सुनाया था अतः मुझे वह साराका सारा याद है।' तदनन्तर शंकर बोलते गये और वह लिखता गया और वह भाष्य पूर्ववत् पूर्ण-रूपमें तैयार हो गया। यह प्राणायामका प्रताप था और शंकर महान् योगी थे। महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शन (२। ५३) में कहा है 'धारणासु च योग्यता मनसः।' अर्थात् 'प्राणायामसे मनमें विषयको धारण करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।'

(५) शारीरिक सामर्थ्य

एक बार बीकानेरमें प्रो० राममूर्ति पधारे। वे शारीरिक बलके प्रदर्शनोंके लिये परम प्रसिद्ध थे। मोटरकी गतिको रोक देना, लोहेकी भारी साँकलको तोड़ डालना, छातीपर विशाल शिला रखकर हथौड़ोंसे तुड़वाना, अपनी छातीपर पैर रखते हुए हाथीको निकलवा देना इत्यादि उनके बायें हाथके खेल थे। ये प्रदर्शन उन्होंने उस सरकारी विद्यालयमें किये जो आजकल 'सादूल पब्लिक स्कूल' कहलाता है और मैं उस समय वहाँ प्रधानाचार्य था। उन्होंने अपने भाषणमें कहा—'ब्रह्मचर्यका पालन और नित्य प्राणायाम करके मैंने यह बल प्राप्त किया है। भारतीय संस्कृतिके इन सबल साधनोंद्वारा प्रत्येक पुरुष यह शक्ति प्राप्त कर सकता है।' उन्होंने मुझे बतलाया कि आभ्यन्तर कुम्भकद्वारा यह कार्य किस प्रकार किया जाता है।

उनके इस कथनका मुझपर बड़ा असर हुआ और मैंने प्रयोगके लिये 'मोहता मूलचंद विद्यालय'के एक उपयुक्त छात्रको चुना। मैं उस विद्यालयका संचालन अवैतनिक मन्त्रीके नाते करता था। प्राणायामके सतत अभ्याससे उस छात्रका शरीर इतना सुदृढ़ और सबल हो गया कि विद्यालयके वार्षिक उत्सवमें लोहेकी भारी जंजीर तोड़कर और छातीपर शिला तुड़वाकर उसने दर्शकोंको विस्मय-विमुग्ध कर दिया।

(६) स्वास्थ्य-संरक्षण

जिस प्रकार राज्य-तन्त्रका सुचारु संचालन उसके विभाग-त्रय—शासन, विधान और न्यायके सामञ्जस्यसे होता है, वैसे ही देह-यन्त्रका सम्यक् चलते रहना उसके पाँच अवयवोंकी पंचायतके सहयोगपर निर्भर है। उनके बारेमें संक्षेपतः लिखा जाता है।

(१) पाकाशय—जो कुछ खाया जाता है वह पचनेपर रस बनकर रक्तमें परिणत हो जाता है। पाचन-क्रियाके सम्बन्धमें कहा गया है—'प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' (गीता १५। १४) अर्थात् 'मैं (परमात्मा) जठराग्निके रूपमें प्राण और अपानसे युक्त होकर चार प्रकारके अन्न (भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य) को पचाता हूँ।' प्राणायाम करनेसे पाकाशयकी मांस-पेशियाँ बार-बार संचालित होनेके कारण सुदृढ़ हो जाती हैं, अतः आँतें और गुर्दा मल-मूत्रको बाहर निकालनेमें सबल रहते हैं और मन्दाग्नि या कब्जकी कोई शिकायत नहीं रहने पाती।

(२) फेफड़े—हमारी छातीके दोनों ओर दो फेफड़े हैं। प्राणायाममें पूरक और रेचकद्वारा गहरी-गहरी साँस लेने और निकालनेसे हमारे फेफड़ोंको बल प्राप्त होता है और रक्त-विशुद्धिका कार्य सुचारुरूपसे बनता है। पूरक प्रक्रियाद्वारा वायुका आक्सिजन हमारे फेफड़ोंमें प्रविष्ट होता

है और रक्तको शुद्ध कर देता है। फेफड़े जितने मजबूत होते हैं, उतना ही अधिक आक्सिजन ग्रहण कर लेते हैं।

(३) हृदय–जिस प्रकार जलदाय विभागद्वारा पानी पंपोंसे नगरके विभिन्न भागोंमें पहुँचाया जाता है, वैसे ही धमनियों और रगोंद्वारा हृदय शरीरके भिन्न-भिन्न भागोंको रक्त पहुँचाता है। वह इस प्रकार उनका पोषण करता है। हृदय-गतिका अवरोध होनेसे रक्त-संचार बंद हो जाता है और तब मृत्युका आगमन तत्काल होता है। चतुर्थ प्रकारका प्राणायाम हृदयको बल देता है।

(४) ग्रन्थि-समूह–देहमें कई ग्रन्थियाँ हैं, जिनसे बहनेवाला द्रव स्फूर्तिका स्रोत है। यकृत या जिगर सबसे बड़ी ग्रन्थि (Gland) है, जिससे स्रवित द्रव पाचन-क्रियामें सहायक है।

(५) मस्तिष्क–मानव-मस्तिष्क कितना विलक्षण है, इसका अनुमान लगानेके लिये यह कहना पर्याप्त होगा कि जहाँ सारे संसारकी जन-संख्या अब चार अरब आँकी जाती है वहाँ मस्तिष्कके कोशों (nerve cells) की संख्या दस अरबके लगभग है। नर-यन्त्र (Robot) के पुर्जोंकी संख्या तो दस लाखके भीतर है। जिज्ञासु पाठकोंसे मेरा अनुरोध है कि वे 'रीडर्स डाइजेस्ट' नामक विश्व-विख्यात मासिकपत्रके सन् १९५८ और १९५९ के क्रमशः सितम्बर और नवम्बरके अङ्कोंका अवलोकन करें। हमारी देह-पुरीका यही प्रधान कार्यालय है। यही ज्ञान और कर्मका केन्द्र है और योगके अष्टाङ्ग इसीके द्वारा सधते हैं।

(७) रोग-निवारण

अनेक रोगोंके निवारणमें प्राणायामका प्रयोग क्या-क्या चमत्कार दिखाता है, इसका वर्णन मैं अपने और अन्य सज्जनोंके अनुभवके आधारपर कर रहा हूँ। कुछ वर्ष पहले मुझे भगन्दर और घुटनोंमें दर्द—ये दोनों रोग हो गये। चिकित्सकोंकी राय थी कि पहला रोग ऑपरेशनसे मिटेगा और दूसरा तो वृद्धावस्थाके कारण मेरा आजीवन संगी रहेगा। ऑपरेशनसे पहले मैंने तीर्थ-यात्रा करना उचित समझा। ऋषिकेशमें निवास करते हुए एक परोपकार-परायण योगीसे अकस्मात् भेंट हो गयी। उन्होंने फरमाया कि तुम्हें संसारमें अभी कुछ काम करना अवशेष है; अतः मेरे आदेशानुसार योग-क्रिया करनेसे तुम पुनः स्वस्थ हो जाओगे।' उन्होंने मुझे प्राणायामपरक पाँच व्यायामोंका अपने निर्देशनमें एक सप्ताहतक अभ्यास करवाया। इस यौगिक व्यायामके पाँच चक्रोंमें केवल १५-२० मिनट प्रतिदिन लगते थे। यह व्यायाम छः मासतक लगातार करनेसे मेरे दोनों रोग दूर हो गये। तबसे मैं यह प्रक्रिया प्रतिदिन करता हूँ और अद्यावधि १७ वर्ष बीत चुके हैं; इस यौगिक व्यायामकी बदौलत मैं किसी विषम व्याधिसे ग्रस्त नहीं हुआ। श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा गया है कि 'न तस्य रोगो न तस्य जरा' अर्थात् 'प्राणायाम करनेवाले साधकको न रोग होता है और न बुढ़ापा आता है।'

उस यौगिक व्यायामसे मुझे बड़ा लाभ पहुँचा और उसका अभ्यास प्रतिदिन मेरे चित्तमें उल्लास और स्फूर्ति उत्पन्न करता है; अतः निज जीवनका मिशन मानकर मैंने अनेक रोगियोंको उसे सिखाया और उन्होंने दीर्घकालीन रोगोंसे मुक्ति प्राप्त की। वह अभ्यास इतना सरल है कि केवल पाँच बार प्रत्येक चक्रको करना पड़ता है और इसमें १५-२० मिनटसे अधिक समय नहीं लगता। अन्य यौगिक अभ्यासों-की तरह न तो इसमें कोई कठिनाई है और न किसी प्रकारकी हानि होनेकी सम्भावना है। इसका श्रीगणेश चतुर्थ प्राणायाम अर्थात् केवल पूरक और रेचकसे होता है और आभ्यन्तर कुम्भकमें प्रत्येक चक्रका व्यायाम होता है। कुम्भक या श्वासका निरोध उतनी मात्रामें ही होता है, जिसमें जरा भी बेचैनी न हो। शौचसे निवृत्त होनेके बाद प्रातःकाल अभ्यास किया जाता है। यदि सूर्योदयसे पहले और दाहिना स्वर चलते हुए यह कार्य किया जाय, तो रोगनिवारण शीघ्र हो जाता है। जिन रोगियोंने मुझसे यह क्रिया सीखी वे कब्ज, पेचिश, अजीर्ण, मन्दाग्नि, वातव्याधि और रक्त-विकारके शिकार थे और वे उन रोगोंसे पिण्ड छुड़ा सके। निरन्तर स्वस्थ और प्रसन्नचित्त रहनेके लिये चतुर्थ प्राणायाम अर्थात् पूरकको 'ओ' से आरम्भ और रेचकको 'म' से समाप्त करते हुए करना प्रत्येक पुरुषके लिये उपयोगी है। जबतक जीना, तबतक स्वस्थ बने रहना ही जीवनमें परमानन्द है।

खेचरीमुद्राकी साधना

(लेखक—उदासीन स्वामीजी श्रीकृपाल्वानन्दजी)

योगशास्त्रकथित असंख्य मुद्राएँ

ऐसे तो योगशास्त्रवर्णित असंख्य मुद्राएँ हैं। घेरण्ड-संहितामें महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालंधरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरी, योनि, वज्रोलि, शक्तिचालिनी, तड़ागी, माण्डूकी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातंगिनी, भुजंगिनी, पार्थिवीधारणामुद्रा, आम्भसी-धारणामुद्रा, वैश्वानरी(आग्नेयी)धारणामुद्रा, वायवीधारणामुद्रा और आकाशीधारणामुद्राका वर्णन मिलता है। 'शिवसंहिता' में योनिमुद्रा, महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालंधरबन्ध, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली और शक्तिचालिनीमुद्राका वर्णन मिलता है। गोरक्ष-पद्धति'में शक्तिचालिनी, महामुद्रा, खेचरी, उड्डीयानबन्ध, जालंधरबन्ध और मूलबन्धमुद्राका उल्लेख है। 'हठयोग-प्रदीपिका'में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान-बन्ध, मूलबन्ध, जालंधरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली और शक्तिचालिनीमुद्राका उल्लेख है। अन्यत्र संक्षोभणी, द्रावणी, आकर्षणी, वशी, उन्माद, महांकुशमुद्राका निर्देश पाया जाता है। कहीं-कहीं खेचरी, भूचरी, अगोचरी, चाचरी और उन्मनी—इन नामोंसे भी मुद्राओंका कथन प्राप्त होता है। इनमेंसे खेचरी तो सर्वविदित है। भूचरी शक्तिचालिनी, अगोचरी योनिमुद्रा, चाचरी नभोमुद्रा और उन्मनी शाम्भवी-मुद्राका पर्याय है। कोई-कोई योगी अधोदृष्टिवाली शाम्भवी-मुद्राको शाम्भवी और ऊर्ध्व-दृष्टिवाली शाम्भवीमुद्राको उन्मनी कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें आठवें अध्यायके बारहवें श्लोकमें योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने 'सर्वद्वाराणि संयम्य' कहकर 'योनिमुद्रा'की ओर संकेत किया है।

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्॥
(घेरण्डसंहिता ३। ९५)

'जो साधक मुद्राओंका अभ्यास करता है, वह वृद्ध नहीं होता तथा उसकी मृत्यु नहीं होती; इतना ही नहीं, उसको अग्नि, जल और वायु भय नहीं पहुँचा सकते।'

प्रधान मुद्राएँ

इन सब मुद्राओंमें दस मुद्रा—१ मूलबन्ध, २ उड्डीयान-बन्ध, ३ जालंधरबन्ध, ४ महाबन्ध, ५ महावेध, ६ महामुद्रा, ७ विपरीतकरणी, ८ वज्रोली, ९ खेचरी और १० शक्तिचालिनी ही प्रधान मुद्राएँ हैं। शेष सब गौण वा उपमुद्राएँ हैं। वज्रोलीमुद्राका पर्याय है—योनिमुद्रा। 'शिवसंहिता'में कहा है—

एतत्सुमुद्रादशकं न भूतं न भविष्यति।
एकैकाभ्यासने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा॥

'ये दस श्रेष्ठ मुद्राएँ हैं। इनके समान न कुछ हुआ है न होगा। इनमेंसे एक-एकके अभ्याससे भी सिद्धि प्राप्त होती है। अन्यथा कोई साधक सिद्ध नहीं होता, यह वचन असत्य नहीं है।' 'घेरण्डसंहिता'में कहा है—

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते।
नास्ति मुद्रासमं किंचित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले॥
(३। ९७)

'हे चण्डकापालि! बहुत कहनेसे क्या है? तुझे निष्कर्ष ही कहता हूँ, इस क्षितिमण्डलमें मुद्राके समान सिद्धि देनेवाला कुछ भी नहीं है।'

शक्तिचालिनीमुद्रा तथा खेचरीमुद्राकी महत्ता

यदि सभी मुद्राओंका अन्तर्भाव केवल दो ही मुद्राओंमें करना हो तो 'शक्तिचालिनीमुद्रा' तथा 'खेचरीमुद्रा'को ही चुनना पड़ेगा। यदि एक ही मुद्रामें सभी मुद्राओंका समावेश करना हो तो केवल शक्तिचालिनीमुद्राको ही पसंद करना पड़ेगा।

शक्तिचालिनीमुद्रा सभी मुद्राओंकी जनयित्री है। उसके अनन्य अवलम्बनसे सबीज समाधिमें प्रवेश हो जाता है। इष्ट-देवसहित समस्त देवदेवियोंका साक्षात्कार होता है और निर्बीज समाधिकी सिद्धिकी अभिलाषा सुदृढ होती है।

मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।
तस्मादभ्यासनं कुर्याद्योगिभिः सिद्धिकाङ्क्षिभिः॥
(घेरण्डसंहिता ३। ५४)

'जरा-मरणको विनष्ट करनेवाली यह 'शक्तिचालिनीमुद्रा' परम गोपनीय है। अतः सिद्धिकी आकाङ्क्षावाले योगियोंको इसका अभ्यास अवश्य करना चाहिये।'

कभी-कभी ऐसा होता है कि केवल हठयोग यानी प्राणायाम-के सम्यक् अनुष्ठानसे ही इष्टदेवसहित सभी देव-देवियोंका साक्षात्कार हो जाता है। किंतु उपासक यदि शक्तिचालिनी-मुद्राके रौद्र-स्वरूपसे भयभीत हो जाता है, तो वह पराभक्तिसे वञ्चित रह जाता है। शक्तिचालिनीमुद्राका अवलम्बन लेनेवाला निर्भीक साधक ही आगे चलकर निर्बीज समाधि सिद्ध करके ब्रह्मसाक्षात्कार भी कर लेता है। तत्पश्चात् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। यह है शक्तिचालिनी-मुद्राकी महत्ता। दूसरे शब्दोंमें ऐसा भी कह सकते हैं कि शक्तिचालिनीमुद्राको सिद्ध करनेवाला साधक उत्तरायणका यात्री और इससे भयभीत होकर अन्य मार्गका अवलम्बन करनेवाला साधक दक्षिणायनका यात्री है। पूर्ण योगी, पूर्ण ज्ञानी एवं पूर्ण भक्तके मार्गमें सभी मुद्राएँ आती ही हैं, किंतु इनमें-से केवल एक खेचरीमुद्राका ही चिह्न उपर्युक्त सभी महापुरुषों-के शरीरमें विद्यमान रहता है। 'हठयोगप्रदीपिका'में कहा है—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी॥

सृष्टिरूप जो वीर्य है, वह एक ही है; खेचरीमुद्रा भी एक है; तद्वत् निरालम्ब ईश्वर और मनोन्मनी अवस्था भी एक ही है। यह है खेचरीमुद्राकी महत्ता। बिना शक्ति-चालिनीमुद्राके खेचरीमुद्राकी उत्पत्ति ही नहीं होती है। यदि कोई साधक येनकेन प्रकारेण रसनाको कपालकुहरमें ठूँस भी दे, तो इससे न समाधिलाभ होगा, न सिद्धिलाभ। हाँ, रामजप, प्रणवजप, अजपाजप, स्वरसाधना, आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान—इनमेंसे किसी भी एकका अनन्य आश्रय ग्रहण करनेवाला साधक खेचरीमुद्राके समीप तो आ सकता है, किंतु शक्तिचालिनीमुद्राका प्रादुर्भाव होते ही वह भयभीत हो जाता है और उसके अनुष्ठानका साहस ही नहीं कर पाता। संत श्रीचरणदासजी महाराजने कहा है—

योगेश्वर अरु देवता मुनी ऋषीश्वर जान।
रखवारे वाके घने करन न देवैं ध्यान॥
टेक गहै सो जापियै और करै ह्याँ ध्यान।
यती सती अरु गुरुमुखी जाकी पैसी आन॥

(भक्तिसागर)

मुद्राओंका रहस्य और इनके आद्य प्रवर्तक

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः।
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितानि तु॥

(घेरण्डसंहिता)

'पृथ्वीपर जितने जीवजन्तु हैं, उतने ही आसन हैं। प्राचीन कालमें भगवान् शिवजीने सर्वप्रथम उनकी संख्या चौरासी लाख कही है।' भगवान् शिवजीने चौरासी लाख आसन कहे हैं; उनमें मुद्राओंका भी समावेश हो जाता है। मुद्रा आसनका उत्कृष्ट स्वरूप है। श्रीसद्गुरुदेवकी कृपासे उत्पन्न होनेवाला स्वयम्भूनृत्य ही साधकको आसन एवं मुद्राका उपहार देता है। जिस प्रकार आसन अगणित हैं, उसी प्रकार मुद्राएँ भी अगणित हैं। हमारे पूर्वाचार्योंने कर्मकाण्डोंमें एवं मन्त्रोपासनामें कल्याणकारिणी मुद्राओंका आयोजन इसलिये किया है कि भावी प्रजाको सत्यका मार्ग शीघ्र मिले। मन्दिरों एवं गुहाओंमें भी देव-देवियोंकी असंख्य प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। इनको देखकर कई लोग यह अनुमान लगाते हैं कि वह सर्व शिल्प, नृत्य इत्यादि कलाओंकी सुरक्षा तथा विकासके लिये किया गया है, किंतु इस अनुमानमें अधिक तथ्य नहीं है। हमारे महापुरुषोंने इस कार्यको प्रेरणा देकर आग्रहपूर्वक करवाया है। संस्कृतिका मूल है—धर्म और वह धर्म भक्ति, ज्ञान एवं योगके सत्यपूर्ण अनुभवपर आधारित है। इन अनुभवोंका चयन मूर्तियोंमें कुशलतापूर्वक किया गया है। मूर्त्तियाँ योगके निगूढ़ ग्रन्थ ही हैं। इनमें ज्ञान, भक्ति एवं योगके सूत्रों तथा प्रक्रियाओंके रहस्य प्रच्छन्नरूपसे अंकित हैं। अर्वाचीन भारतीय शास्त्रीय संगीत एवं नृत्य क्रमशः अनाहतनाद तथा स्वयम्भूनृत्यपर आधृत हैं। अतः इनका विनियोग संस्कृति और धर्मके लिये करना चाहिये, न कि केवल भोग-विलासके लिये।

भगवान् श्रीभालचन्द्रजीका एक नाम है—'नटेश्वर' और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीका एक नाम है 'नटवर'। दोनोंके ये एकार्थी नाम सार्थक हैं। उभय नृत्यकार भी हैं और संगीतकार भी। भगवान् शिवजीका ताण्डवनृत्य और भगवान् श्यामसुन्दरजीका रासनृत्य सुप्रसिद्ध है। इतना ही नहीं, दोनों आद्य योगप्रवर्तक भी हैं। इन दोनोंके संगीतकी संज्ञा है—'गान्धर्व संगीत' या 'अनाहतनादोत्पन्न संगीत' और उनके नृत्यकी संज्ञा है 'स्वयम्भू नृत्य' या 'नैसर्गिक नृत्य'।

गान्धर्वसंगीत और स्वयम्भूनृत्यका अवलम्बन योगसाधकको ऊर्ध्वरेता बनाता है।

'अनाहतो हतश्चैव स नादो द्विविधो मतः।'

(संगीत-मकरन्द)

नाद दो प्रकारके हैं—अनाहत और आहत। आघातसे उत्पन्न होनेवाले नादको आहत और बिना आघातके उत्पन्न होनेवाले नादको अनाहत कहते हैं। 'अनाहतो योगिभिरेव गम्यः।' (संगीतसुधा) अनाहत नादको केवल योगीजन ही जानते हैं। 'भक्तिसागर'में संत श्रीचरणदासजी महाराज कहते हैं—

अनहद के सम और ना फल बरने नहिं जाहि।
पटतर कछू न दे सकूँ सब कुछ है वा माहि॥
पाँच थकै, आनंद बढ़ै अरु मनवा बश होय।
शुकदेव कहि चरनदास सुनि आप अपना जा खोय॥
नाडिन में सुषमन बड़ी सो अनहद की मात।
कुम्भकमें केवल बड़ा सो वाही का भ्रात॥
मुद्रा बड़ी जु खेचरी वाकी बहिनी जान।
अनहद-सा बाजा नहीं और न या सम ध्यान॥
सेवक से स्वामी भवै सुनै जो अनहद नाद।
जीव ब्रह्म है जात है, पावै अपनी आद॥

जब अनाहत नाद उत्पन्न होता है तब उसके अन्तर्गत रामजप, प्रणवजप, अजपाजप और स्वरसाधना भी अपने-आप होने लगती है।* उसके अवलम्बनसे योगी कामजित् यानी ऊर्ध्वरेता बनता है। यद्यपि उच्च प्रकारके योगसाधकके मार्गमें अनाहतनाद एवं स्वयम्भूनृत्य तो आता ही है, किंतु वे सब-के-सब ऊर्ध्वरेता नहीं बन पाते। केवल वे ही ऊर्ध्वरेता बन पाते हैं जो शक्तिचालिनीमुद्रा और खेचरीमुद्राका अनन्य अवलम्बन निर्भीक होकर लेते हैं और वर्षोंतक निष्काम भावसे उपासना करते रहते हैं।

* अनाहत नादके एक अंशसे योगियोंको 'रामनाम'की उपलब्धि होती है। यह नाम इनका जीवन-सर्वस्व होता है। स्वयं अनुभूति पानेवाले संतोंने कहा है—

नाम राम को अंक है, सब साधन है सून।
अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दस गून॥
रामनाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
बरसत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥

(संत श्रीतुलसीदासजी, दोहावली)

जो यह एकै जानिया तो जाना सब जान।
जो यह एक न जानिया सब ही जान बेजान॥
जो यह एक न जानिया सब जाने क्या होय।
एकै ते सब होत हैं सब से एक न होय॥

(संतश्री······नाम अप्राप्य है)

राम राम सब कोइ कहैं, ठग, ठाकुर अरु चौर।
तारे ध्रुव-प्रह्लाद को सोइ नाम कछु और॥

(संतश्री······ ··· नाम अप्राप्य है)

नाम गहौ निरभय रहौ तनिक न व्यापे पीर।
यह लीला है मुक्ति की गावत दास 'कबीर'॥
'कबीर' सब जग निर्धना धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सोइ जानिये जाके रामनाम धन होय॥
आदि नाम पारस अहै मन है मैला लोह,
परसत ही कंचन भया छूटा बंधन मोह॥
मोर-तोर की जेवरी बटि बाँधा संसार।
दास 'कबीरा' क्यों बँधे जाके नाम अधार॥

(संत श्रीकबीर साहब)

छोड़ै सब ही वासना हो बैठे निष्काम।
चरनकमलमें चित धरै सुमिरै रामहि राम॥
ऐसा हो जब संत हो तब रीझै करतार।
दरसन दे, अपना करै कभी न छोड़ै लार॥
अचरज साधन नाम का भक्तियोग का जीव।
जैसे दूध जमाय कै मथि करि काढ़ा घीव॥

(संत श्रीचरणदासजी महाराज)

एक राम बिनु जीव की कबहूँ जलन न जाइ।
'दादू' केते पचि मुये करि करि बहुत उपाइ॥

(संत श्रीदादू साहब)

तीन लोक को पूँठ दे सोहि कहेगा राम।
वही लहेगा 'संतदास' परम धाम विसराम॥

(संत श्रीसंतदासजी महाराज)

रामनाम एकै रती पाप के कोटि पहार।
ऐसी महिमा राम की जारि करै सब छार॥

(संत श्रीमलूकदासजी महाराज)

रामनाम तिहु लोक में ऐसा और न कोय।
जन हरिया गुरुगम बिना कथा सुन्या क्या होय॥

(संत श्रीहरिरामदासजी महाराज)

सकल ग्रंथ का अर्थ है, सकल बात की बात।
'दरिया' सुमिरन राम का कर लीजै दिनरात॥

(संत श्रीदरिया महाराज)

भगवान् मुरलीधरजी जिस मुद्रामें खड़े हुए दिखायी देते हैं, उस मुद्राका नाम है 'वैष्णवीमुद्रा', 'मोहनमुद्रा' या 'आकर्षणीमुद्रा'। वह शाम्भवीमुद्रा यानी सिद्धासनका एक प्रकार ही है और भगवान् गङ्गाधरजी जिस मुद्रामें स्थित दिखायी देते हैं, उस मुद्राका नाम है 'शाम्भवीमुद्रा' या 'महाङ्कुशमुद्रा'। इन दोनों मुद्राओंका अन्तर्भाव 'ध्यानमुद्रा'में होता है, अतः ये दोनों मुद्राएँ राजयोगके अन्तर्गत आती हैं। मुद्राओंके स्वाभाविक दो भेद हैं— इनमें पहला भेद प्राथमिक मुद्राओंका है। इनकी संज्ञा 'चलमुद्रा' है। इसका अन्तर्भाव स्वयम्भूनृत्यमें होता है। वह अत्यधिक चञ्चल होती है, किंतु आगे चलकर वही 'अचलमुद्रा' का स्वरूप धारण कर लेती है। स्वयम्भूनृत्यका स्थान सबीज समाधि यानी हठयोगके अन्तर्गत माना गया है। दूसरा भेद 'अचलमुद्राओंका' है। भगवान् मुरलीधरजी एवं भगवान् गङ्गाधरजीकी वैष्णवी तथा शाम्भवीमुद्रा क्रमशः अचलमुद्राओंमें गिनी जाती है। पूर्वोक्त दस मुद्राओंकी गणना भी अचलमुद्राओंमें होती है।

आसन और मुद्रा एक दूसरेसे नितान्त भिन्न हैं। एक ही आसनमें एक साथ कई मुद्राएँ की जा सकती हैं, इसी प्रकार कई आसनोंमें केवल एक ही मुद्रा की जा सकती है। यदि किसी भी अङ्गकी विशेष प्रक्रिया या अङ्गविन्यासको मुद्रा कहें तो भी चल सकता है। उदाहरणार्थ मूलबन्धको ही लें। किसी भी आसनमें गुदामार्गका आकुञ्चन करके अपान वायुको ऊर्ध्व उठानेकी प्रक्रिया 'मूलबन्ध' कहलायगी।

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, नारद, शुकदेव इत्यादि असंख्य ऊर्ध्वरेता योगियोंने स्वयम्भूनृत्य और अनाहत गानद्वारा ही परमात्म-प्राप्ति की है। महर्षि विश्वामित्रजी 'सबीज समाधि'की भूमिकामें ही मेनकासे विचलित हुए थे। तदनन्तर वे 'निर्बीज समाधि' सिद्ध करके ऊर्ध्वरेता बने थे। मुनिवर शुकदेवजीको निर्बीज समाधिकी भूमिकासे च्युत करनेके लिये रम्भाने पूर्ण प्रयत्न किया था, पर उसे हताश होना पड़ा था।

खेचरी-मुद्राका स्वरूप

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥
(हठयोगप्रदीपिका तथा गोरक्षपद्धति प्रथम शतक ६३)

तालुके मध्यमें जो छिद्र यानी गड्ढा है, जिसको योगकी परिभाषामें अमृतकूप, कपालकुहर, कपालविवर, दशमद्वार, भ्रुकुटीगुहा, व्योमचक्र या ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, उसमें जब उलटी हुई जिह्वा प्रवेश करती है और उसके साथ ही दृष्टि भी भ्रूमध्यमें स्थिर हो जाती है, तब खेचरीमुद्रा बनती है यानी उसी अवस्थाको खेचरीमुद्रा कहते हैं। शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता इत्यादि योगग्रन्थोंमें भी खेचरीमुद्राका वर्णन इसी प्रकार किया गया है, केवल शब्दोंमें अन्तर है, भावमें नहीं।

छेदन, चालन और दोहन

जिह्वाके नीचे—उसके बीचमें आयी हुई नसको 'शिराबन्ध' कहते हैं। आधुनिक शरीरविज्ञान उसीको Sublingual gland कहता है। इस शिराबन्धके कारण जिह्वा उलटकर कपालकुहरमें नहीं जा सकती है। इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिये छेदन, चालन और दोहनका प्रश्रय लेना पड़ता है। 'हठयोगप्रदीपिका'में इसकी विधि इस प्रकार दिखलायी है—

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण विवर्धयेत्तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति॥

'छेदन, चालन और दोहनसे जिह्वाको बन्धनमुक्त, कोमल और लम्बी बना लेना चाहिये। जब वह भ्रूमध्यका स्पर्श करने लग जाय, तब यह जानें कि खेचरीमुद्रा सिद्ध हुई है। थुहड़ (सेंहुड़) के पत्तेके समान अत्यन्त तीक्ष्ण निर्मल एवं चिपकनेवाले शस्त्रसे जिह्वाके अधोभागके मध्यमें आयी हुई नाडीको रोममात्र छेदन कर दे। तदनन्तर पीसे हुए सैंधव और हरड़ेसे जिह्वामूलको भली प्रकार सात दिनोंतक घिसे। तत्पश्चात् रोममात्र छेदन करे। इस प्रकार छः मासतक छेदन, चालन और दोहन करनेसे जिह्वाके मूलमें जो शिराबन्ध है, वह भलीभाँति नष्ट हो जाता है।'

महर्षि घेरण्डने 'घेरण्डसंहिता'में शिराबन्धके छेदनके

लिये शस्त्रका संकेत नहीं किया। उन्होंने केवल इतना ही कहा है—

जिह्वाधो नाडीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्न नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत्॥
(३।२३)

'जिह्वाके अधोभागके बीच जो शिराबन्ध है उसे काट दे। तदनन्तर जिह्वाको निरन्तर मुँहमें इधर-उधर घुमाया करे, उसे नवनीतसे दुहे और दोनों हाथोंके अँगूठों और तर्जनियोंसे खींचा करे।' इसमें यह नहीं दिखाया गया है कि शिराबन्धको किस शस्त्रसे काटे, कितना काटे और किस क्रमसे काटे। 'गोरक्षपद्धति' और 'शिवसंहिता' में भी शिराबन्धको काटनेके लिये शस्त्रका संकेत नहीं किया है।

यह सुनकर जिज्ञासु प्रश्न प्रस्तुत करेगा—'क्या आप शस्त्र-प्रयोगका निषेध करते हैं? बिना शस्त्रप्रयोगके जिह्वाका शिराबन्ध कैसे काटा जायगा?'

इस प्रश्नके उत्तर देनेके पूर्व एक बातका उल्लेख आवश्यक है। कुछ समय पूर्व एक अनुभवी योगी संतके पास उनके एक वृद्ध शिष्यके साथ एक शिक्षित तरुण आया था। उस समय खेचरीमुद्राकी चर्चा चल रही थी। उस तरुणने उन योगी संतसे कई प्रश्न पूछे थे। वे सभी प्रश्नोत्तर सर्वोपयोगी प्रतीत हुए थे, अतः उन्हीं प्रश्नोंको इस लेखमें उपस्थित किया जा रहा है।

उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर यह है—'जिसको सिद्ध सद्गुरुका सांनिध्य प्राप्त न हो, उसे शस्त्रप्रयोग नहीं करना चाहिये। उसका पहला कारण, साधक स्वयं शिराबन्ध काट नहीं सकता। उसमें अन्य व्यक्तिकी सहायता लेनी ही पड़ेगी। यह अभिप्रेत नहीं है। दूसरा कारण, मान लीजिये कि शिराबन्धको रोममात्र काट लिया या कटवा लिया, किंतु साधक उसे कितनी देरतक घिसेगा? वह घिसनेकी रीति भी तो नहीं जानता। तदुपरान्त जिह्वाचालन किस प्रकार करना—यह भी तो एक समस्या है। तीसरा कारण, साधक खेचरीमुद्राका अधिकारी है या नहीं, यह भी तो जानना चाहिये। मान लिया कि साधक खेचरीमुद्राका अधिकारी है, किंतु जबतक वह ब्रह्मग्रन्थिसहित मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र और विशुद्धाख्यचक्रका भेद नहीं कर पायेगा, तबतक उसके लिये शिराबन्धका छेदन निषिद्ध है।'

उसी समय जिज्ञासुको एक बातका स्मरण हो आया। वह बोला—'गुरुदेव! सुना है, जिह्वाके तीन प्रकार हैं—नागजिह्वा, हस्तिजिह्वा और धेनुजिह्वा। इनमें हस्तिजिह्वा तथा धेनुजिह्वा ह्रस्व और नागजिह्वा स्वभावसिद्ध दीर्घ होती है। यदि किसी योगसाधकको नागजिह्वा प्राप्त हो तो क्या उसको भी छेदनकी आवश्यकता पड़ेगी?'

संत—हाँ भैया! उस जिह्वाके शिराबन्धका भी छेदन करना ही पड़ेगा। हमारे प्राचीन योगग्रन्थोंमें यह आदेश नहीं पाया जाता कि जिह्वाका शिराबन्ध न काटनेसे भी चल सकता है।

यह सुनकर जिज्ञासु संतुष्ट हुआ, किंतु उसकी विचारधारा न रुक सकी। उसने अपनी उलझन प्रस्तुत की—'जिह्वाके अधोभागमें आयी हुई नस काटनेका कोई और हेतु भी है क्या?'

संत—बतलाता हूँ। हमारे प्राचीन तत्त्वदर्शी ऋषि-मुनियोंने योगद्वारा तीन ग्रन्थियोंका परिचय प्राप्त किया है। इन ग्रन्थियोंके नाम क्रमशः—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि एवं रुद्रग्रन्थि हैं। ब्रह्मग्रन्थि रजोगुण, विष्णुग्रन्थि सत्त्वगुण एवं रुद्रग्रन्थि तमोगुणकी ग्रन्थि है। ब्रह्मग्रन्थिकी सीमा मूलाधारसे लेकर मणिपूर-चक्रतक, विष्णुग्रन्थिकी सीमा अनाहत-चक्रसे लेकर विशुद्धाख्य-चक्रतक तथा रुद्रग्रन्थिकी सीमा आज्ञा-चक्रसे लेकर सहस्रदल-चक्रतक पहुँची हुई है। गुह्येन्द्रियको ब्रह्मग्रन्थि कहते हैं। उसका स्थान हृदयमें है। योगीन्द्रोंने तीन हृदयोंको स्वीकृत किया है। पहला हृदय मूलाधारमें, जिसमें ब्रह्मग्रन्थि अवस्थित है, दूसरा हृदय दो फेफड़ोंके बीचमें और तीसरा हृदय मस्तकमें आया हुआ है। तीसरे हृदयमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारका निवास है। जिह्वाको विष्णुग्रन्थि कहते हैं। उसका स्थान विशुद्धाख्य-चक्रमें है। लम्बिका (यह तालुके अन्तमें है) Uvula को रुद्रग्रन्थि कहते हैं। योगिराज श्रीगोरक्षनाथजीने जिह्वाके अधोभागके मध्य आयी हुई नसके लिये उचित ही कहा है—

बिन्दुर्मूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम्॥
(गोरक्षपद्धति प्र० श० ६७)

'समस्त शरीरोंका कारण वीर्य है। इस वीर्यका एक

नाडीकेन्द्र जिह्वाके निम्न भागके मध्यमें विद्यमान है। वही आपादतलमस्तक यानी सम्पूर्ण शरीरको समृद्ध करता है।'

जब कुण्डलिनी ब्रह्मग्रन्थिका भेद करके चक्रोंका उत्क्रमण करती हुई विष्णुग्रन्थिमें आती है, तब वह नाडीकेन्द्र प्रज्वलित हो उठता है और उसका स्वाभाविक भेद हो जाता है। इससे वीर्यके ऊर्ध्वगमनका मार्ग निर्बाध हो जाता है। रजोगुण तथा तमोगुण निर्बल और सत्त्वगुण प्रबल हो उठता है। रुद्रग्रन्थिके भेदके पश्चात् सत्त्वसंशुद्धिका क्रम अति प्रबल हो जाता है और निर्बीज समाधि सिद्ध होनेपर योगी त्रिगुणातीत हो जाता है। दक्षिणायनमें अमृत-प्राप्ति तो होती है, किंतु उसमें तीन ग्रन्थियोंका भेद नहीं होता। ग्रन्थियोंके भेद न होनेके कारण साधक ऊर्ध्वरेता नहीं बन पाता। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने सत्य ही कहा है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ८। २१)

'अव्यक्त' अक्षर इस प्रकार कहा गया है। उसीको परम गति कहते हैं तथा जिसको प्राप्त होकर योगी वापस नहीं लौटते हैं, वह मेरा परम धाम है।'

'जिज्ञासुके मुखपर संतोषकी रेखाएँ चिह्नित हो उठती हैं। वह विनयपूर्वक कहता है—'गुरुदेव! क्षमा कीजियेगा। मुझे जिज्ञासा अत्यन्त विह्वल बना देती है और मैं एक प्रश्नके पश्चात् तत्काल दूसरा प्रश्न पूछ बैठता हूँ। उसकी परम्परा रुकती ही नहीं।'

'उसको बलात् रोकनेकी कोई आवश्यकता भी नहीं। तुम प्रसन्नतापूर्वक प्रश्न पूछते रहो और मैं यथामति उत्तर देता रहूँगा।'

'क्या आपकी जिह्वा इतनी लंबी हो गयी है कि वह भ्रूमध्यको छू लेती है?'

'नहीं, मेरी जिह्वा केवल नासाग्रको ही छू लेती है, फिर भी वह कपालकुहरमें खड़ी रहकर उसके मध्यभागको, जिसे योगीन्द्र 'भ्रूमध्य' कहते हैं, अत्यन्त सरलतापूर्वक छू लेती है। इतना ही नहीं, छतके किसी भी भागको सुगमतासे छू सकती है। और क्या चाहिये? यदि जिह्वा नासिकाके दूसरे छोरतक, जिसे सामान्यतः भ्रूमध्य कहते हैं, पहुँच जाती तो वह कपालकुहरमें टेढ़ी हो जाती। वह गड्ढा इतना गहरा नहीं है जो इतनी लंबी जिह्वाको अपनेमें अवकाश दे सके। यदि कोई साधक जिह्वाको छेदन, चालन और दोहनसे लंबी बनाकर नासिकाके दूसरे छोरतक पहुँचा देगा तो वह जिह्वा किसी भी कार्यके योग्य नहीं रहेगी। उसकी समस्त शक्तियाँ विनष्ट हो जायँगी।'

खेचरीमुद्राका स्वानुभव

'यह सुनकर अतीव प्रसन्नता हुई। जब आप मेरी जिज्ञासाको संतृप्त करनेके लिये उत्सुक हैं, फिर संकोच किस लिये? आप किस योगकी उपासना कर रहे हैं?'

''मैं शरणागतियोगकी उपासना कर रहा हूँ। उसीको मैं अनुग्रहयोग, समर्पणयोग, बुद्धियोग, निष्कामकर्मयोग, सांख्ययोग, प्रेमयोग, अनन्यभक्तियोग, पूर्णयोग, अष्टाङ्गयोग और राजयोग कहता हूँ। मैं एकेश्वरवादी हूँ। मेरे उपास्य भगवान् 'राधा-पुरुषोत्तम' हैं। मेरा स्वाध्यायका ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता है। मेरी सुदृढ़ मान्यता है कि राजयोगके अन्तर्गत समस्त योगोंका समावेश हो जाता है। अतः राजयोगी सम्पूर्ण योगोंका ज्ञाता होता है। राजयोगका मूलाधार है—'हठयोग'। बिना हठयोगके तन-मनकी संशुद्धि नहीं हो सकती और प्रत्याहार भी सिद्ध नहीं हो सकता। प्रत्याहाररहित राजयोगका अनुष्ठान विफल ही रहता है। नादयोग और मन्त्रयोगका सम्बन्ध हठयोगके साथ और लययोगका सम्बन्ध राजयोगके साथ है। हठयोगके ज्ञाताको तन्त्रोंके लिये पृथक् उपासना नहीं करनी पड़ती; क्योंकि तन्त्रोपासना हठयोगपर अवलम्बित है।''

'आप साधक योगी हैं या सिद्ध?'

'भाईजी! अभी तो दिल्ली बहुत दूर है। सामान्य साधक ही हूँ।'

'आप उपासनामें प्रतिदिन कितना समय व्यतीत करते हैं?'

'चार बैठकमें कुल दस घंटे।'

'यह क्रम कितने वर्षोंसे चल रहा है?'

'पूरे सत्रह वर्षसे।'

'आपने खेचरीका प्रारम्भ कब किया था?'

'योगारम्भके पश्चात् चौथे मासमें।'

'तो क्या उसका अभ्यास अबतक समाप्त नहीं हुआ ?'

'नहीं।'

'क्या आप उसका अभ्यास सत्रह वर्षसे निरन्तर करते आ रहे हैं ?'

'हाँ।'

'बड़े आश्चर्यकी बात है। आप यदि अपना खेचरी-मुद्राविषयक अनुभव सविस्तर कहेंगे, तो उच्चकोटिके योगसाधकोंका साधनापथ प्रशस्त हो जायगा।'

प्रयत्न करूँगा, जब मैं १९ वर्षका नवयुवक था तब श्रीसद्गुरुदेव प्रणवानन्दजी महाराजने मुझे योगदीक्षा देकर 'योगाचार्य'की संज्ञा प्रदान की थी और कहा था—'बेटा ! तू भविष्यमें संन्यासी बनकर कुछ वर्ष पश्चात् योगोपासना करेगा।' उन्होंने मुझे केवल पाँच योगयुक्तियाँ सिखलाकर आशीर्वाद दिया था—'इन योगयुक्तियोंकी सहायताद्वारा तू समस्त योगोंका ज्ञाता बन सकेगा।' उस समय उन्होंने मुझसे पूछा था—'क्या तुझे पद्मासन आता है ?'

"मैंने हकारात्मक सिर हिलाया था और उनकी आज्ञा होते ही पद्मासन रचकर दिखलाया था।

"उसको देखकर वे बोले थे—'चलेगा।' साम्प्रतमें एक ही आसन पर्याप्त है। भविष्यमें जब तू संन्यासी बनकर योगोपासना करेगा, तब तेरे योगमार्गमें अचानक मुद्राओंसहित असंख्य आसन उपस्थित होंगे।"

जिज्ञासु अधीरतासे बीचमें ही बोल पड़ा—'गुरुदेव ! इस बालकको क्षमा कीजियेगा। बीचमें ही बोलता हूँ—क्या आपको परम गुरुदेवने अष्ट प्रकारके कुम्भक सिखलाये थे ?'

'नहीं। केवल अनुलोम-विलोम प्राणायाम सिखलाया था। हाँ, उस समय उन्होंने यह इंगित किया था कि इससे भिन्न अष्ट प्रकारके कुम्भक भी हैं। उन सबका परिचय भी योगानुष्ठानकी अवधिमें अप्रत्याशित ही मिलेगा।'

'ध्यान ?'

'दो प्रकारका—नासाग्र एवं भ्रूमध्य।'

'आपका ध्यानविषयक अनुभव जाननेकी उत्कट उत्कण्ठा है।'

'संक्षेपमें कहता हूँ। नासाग्रध्यान हठयोगकी मर्यादामें और भ्रूमध्य-ध्यान राजयोगकी मर्यादामें आता है। भ्रूमध्यके नीचेका सारा शरीर हठयोगका प्रदेश है। इसको 'मायाका प्रदेश' भी कह सकते हैं। इसमें मूलाधारसे लेकर दशमद्वार-तकके चक्र और तीन ग्रन्थियोंका समावेश होता है। नासाग्र-ध्यानद्वारा सबीज या सविकल्प समाधि सिद्ध होती है। समाधि तो एक ही है किंतु इसकी अवस्थाएँ असंख्य हैं। इनको भी समाधि संज्ञा प्राप्त है। समाधिके प्रधान दो भेद हैं—'सविकल्प या सबीज' और 'निर्विकल्प या निर्बीज।' 'सबीज समाधि'में मनका अस्तित्व बना रहता है और 'निर्बीज समाधि'में उसका विलय हो जाता है। 'निर्बीज समाधि'की अपरिपक्व अवस्थाको ही सबीज समाधि और सबीज समाधिकी परिपक्व अवस्थाको ही निर्बीज समाधि कहते हैं। भ्रूमध्यके ऊपरका भाग—आधा मस्तक, दोनों कानोंके ऊपरका खोपड़ीका आधा भाग राजयोगका प्रदेश है। इसमें आज्ञा-चक्र और सहस्रदल-चक्रका समावेश होता है। इस प्रदेशको 'प्रभुका प्रदेश' भी कह सकते हैं। ध्यानयोगके अधिकारी बननेके लिये शारीरिक एवं मानसिक संशुद्धि अनिवार्य है, इसके लिये साधकको वर्षों पर्यन्त तपश्चर्या करनी पड़ती है। यह तपश्चर्या बिना प्रपत्तिके शक्य नहीं है।'

'श्रीपरमगुरुदेवने आपको कौन-सा मन्त्र प्रदान किया था ?'

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। हमारी गुरुपरम्परा एकेश्वरवादी होनेके कारण उसमें ब्रह्मचारीको गायत्रीमन्त्र (शक्तिमन्त्र), गृहस्थको द्वादशाक्षर मन्त्र (विष्णुमन्त्र) और संन्यासीको पञ्चाक्षर—ॐ नमः शिवाय। मन्त्र (शिवमन्त्र) प्रदान करनेकी परिपाटी है। इनमेंसे किसी भी एक मन्त्रकी सिद्धि होनेपर शेष दो मन्त्र भी अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। ऐसी हमारी गुरुपरम्पराकी मान्यता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार तीन प्रधान देवोंमें अभेद माना गया है, उसी प्रकार तीन प्रधान मन्त्रोंमें भी अभेद माना गया है। अब मैं एक बातकी स्पष्टता कर देता हूँ—श्रीसद्गुरुप्रदत्त योगयुक्तियोंके सम्यक् अनुष्ठानसे ही मैं हठयोग, मन्त्रयोग, नादयोग, लययोग, राजयोग इत्यादि सम्पूर्ण योगोंकी समस्त प्रक्रियाओंको जान सका हूँ; क्योंकि उन सभी प्रक्रियाओंने मेरे उपासनामार्गमें आकस्मिक आकर मुझको मार्गदर्शन दिया है। दूसरे शब्दोंमें, मैंने योगसे ही योगोंका ज्ञान सम्प्राप्त किया है और शास्त्रोंमें उसीकी चर्चा पढ़ी है। प्राप्त अनुभव और योगशास्त्रोंके उपदेशमें साम्य

पाकर ईश्वर, शास्त्र एवं सद्गुरुमें मेरी श्रद्धा अविचल हो गयी है।'

यह सुनकर जिज्ञासुने कहा—'यदि आप ये योगयुक्तियाँ गुप्त न रखकर प्रकट कर देंगे तो सबका हित होगा।'

संतने मीठे स्वरमें उत्तर दिया—'प्यारे भाईजी ! प्रत्येक प्राचीन योगशास्त्रमें इन योगयुक्तियोंके दर्शन होते ही हैं यानी वे पाँचों योगयुक्तियाँ प्रकट ही हैं। उस ओर केवल अधिकारीको ही आकृष्ट किया जाता है। यही परम्परागत प्रथा है और वह समुचित ही जान पड़ती है।'

'परम गुरुदेव किस बातपर अधिक बल देते थे ?'

''वे प्रभुभक्ति, प्रभुप्रार्थना, रामजप, प्रणवजप, गुरुभक्ति, गुरुसेवा, ध्यान, प्राणायाम, सदाचार, ब्रह्मचर्य, आहारशुद्धि, मिताहार, चित्तशुद्धि, सत्संग, स्वाध्याय, व्यायाम, सरलता, स्नेह, मौन, एकान्त, वैराग्य, नियमितता और निश्चयपर अधिक बल देते थे। अब मैं खेचरी-साधनाके प्रसङ्गपर आ जाता हूँ। विक्रम संवत् १९६६ में मैंने हरिद्वार मुनिमण्डलवाले उदासीन मुनि श्रीशान्तानन्दजी महाराजसे संन्यस्त-दीक्षा ली थी। विक्रम संवत् २००६ की आषाढ़ शुक्ल एकादशीकी रातको सोते समय मैं श्रीसद्गुरुदेव प्रणवानन्दजी महाराजकी प्रार्थना कर रहा था। बीचमें ही मैं भावातिरेकसे रुदन करने लगा। मुझे दिव्य आदेश मिला—'रो मत ! अवसर आ गया है। अब तू योगारम्भ कर दे।' मैंने दूसरे ही दिन योगारम्भ कर दिया।' (शेष आगे)

परब्रह्मोपासना

(लेखक—श्रीमन्निजानन्दसम्प्रदायाचार्यधर्मपीठाधीश्वर श्रीप्रणामी धर्माचार्य श्री १०८ श्रीधर्मदासजी महाराज व्याख्यानवाचस्पति, सद्धर्मभूषण)

परमकृपालु परमात्माने देवदुर्लभ मानवशरीरको सर्व-प्राणियोंमें श्रेष्ठ बनाया है। पदार्थ-चतुष्टयका अधिकारी मनुष्य ही है। पदार्थ-चतुष्टय—धर्मार्थकाममोक्षका क्रमानुपात और उसके ध्येयका निष्कर्ष बहुत ही सुन्दर और सापेक्ष है। शास्त्रोंके संकेत और ऋषियोंके अपरोक्ष-ज्ञानकी ओर दृष्टिपात करें तो जीवनकी सफलताका आभास स्वतः ही मिलने लगता है और सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य-जीवनकी सार्थकता अन्ततोगत्वा परम पुरुषार्थ (मोक्ष) में ही निहित है। जो उसको प्राप्त किये बिना ही चला जाता है, वह कृपण है, तुच्छ है और उसका जीवन व्यर्थ है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥

पदार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्मार्थकाममोक्षमेंसे जिसके पास ['एको मुख्यो मोक्षाख्यो 'एको मुख्यान्यकेवलाः' न विद्यते] मुख्य जो 'मोक्ष'पदार्थ है, वही नहीं है। निश्चित ही उसका जन्म बकरीके गलेके स्तनके समान व्यर्थ ही है; प्रत्युत वे बकरीको खींचनेके काममें आकर रज्जुकी भाँति उसके बन्धनका हेतु बन जाते हैं। इसी प्रकार निःश्रेयसशून्य त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) मनुष्यके लिये नाना योनियोंके बन्धनका हेतु बना करता है। अतएव आत्मदर्शी महापुरुषोंने मनुष्यजीवनका चरम लक्ष्य 'निःश्रेयस'-को ही माना है। वस्तुतः है भी यह सत्य; क्योंकि जो त्रिवर्ग आपातरमणीय और अन्तवत्—नश्वर होनेके कारण नाना योनियोंकी शृङ्खलापरम्परासे अतिरिक्त अन्य कुछ हो ही नहीं सकता, वह हमारा चरम लक्ष्य कब हो सकता है!

परंतु यह निःश्रेयस इतना गहन और दुरूह है कि तत्त्ववेत्ताओंके सहस्रशः अन्वेषण-गवेषणके पश्चात् भी इसके स्वरूपका याथातथ्येन आदर्श अङ्कित नहीं किया जा सका। यद्यपि विभूतिकोटिके आचार्योंने उस दिशामें बहुत कुछ छानबीन की है, अपने परोक्ष-ज्ञानके बलसे जितना भी कहते बना, कहा है, तथापि शास्त्रोंने 'नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।' नाना मत-मार्गोंके[1] द्वारा उसे दुर्लभ बताकर 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' (यजु०) की छाप लगा दी और स्पष्ट कह दिया कि यदि तुम्हें निःश्रेयसकी आवश्यकता है तो प्रथम उसके स्वरूपको ढूँढ़ो, उस पुरुषोत्तम प्रभुके धामकी तलाश करो। उसके स्वरूप-ज्ञान एवं उसके स्वरूप-लाभके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग उसके धामकी प्राप्तिका नहीं।

जबतक उस सच्चिदानन्द-स्वरूप अनन्ताद्वैत अविनाशी तत्त्वका यथार्थ अनुभव नहीं होता, तबतक उसका निर्भ्रान्त

१. इत पंथ पैंडे कै चल हीं ... भेष दर्शन।
[illegible] ज्ञानकी कोई पावे ना निकसन॥

पथ दुर्लभ ही है। शास्त्रोंके परिशीलनके पश्चात् हमें तीन पुरुष होनेकी सत्ताका आभास मिलता है। यथा—क्षर, अक्षर और अक्षरातीत यानी पुरुषोत्तम। परंतु अधिकतर लोग क्षरमें ही भूल जाते हैं, आगेकी कौन कहे ?

यच्च मूर्तिमयं किंचित् सर्वंत्रैतन्निदर्शनम्।
जले भुवि तथाऽऽकाशे नान्यत्रेति विनिश्चयः॥
कृत्स्नमेतावतस्तात क्षरते व्यक्तसंज्ञितम्।
अहन्यहनि भूतात्मा ततः क्षर इति स्मृतः॥
(महाभारत शान्ति० ३०२। ३३-३५)

धर्मराज युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मपितामह कहते हैं कि हे तात ! जितना भी मूर्तिमान् विश्व है, जो कुछ भी जल, स्थल और आकाशमें है, वह सब व्यक्तरूप क्षर है। वह सम्पूर्ण व्यक्तरूप नित्य नाशको प्राप्त होता रहता है, अतः इसे 'क्षर' कहते हैं।' गीतामें भगवान् तीन पुरुषोंका प्रतिपादन कर अन्तमें उत्तमपुरुषको ही परमात्मत्वेन स्वीकार करते हैं। यथा—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
(गीता १५। १६-१७)

इस प्रकार समस्त भूत-प्राणियोंको क्षर बताकर कूटस्थ अक्षरका प्रतिपादन करते हैं और अन्तमें क्षर-अक्षर दोनोंसे पर पुरुषोत्तम परमात्माको ही सर्वोत्तम मानते हैं।

कतिपय विद्वान् 'अक्षर' पदका अर्थ जीवात्मा करते हैं तो कुछ सज्जन 'अक्षर' शब्दसे प्रकृतिको ग्रहण करते हैं। पर वास्तवमें ऐसा है नहीं; क्योंकि 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ' इत्यादि 'श्रुति' 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः सा च प्रशासनात्' इत्यादि ब्रह्मसूत्रोंमें 'अक्षर' पदसे ब्रह्मको ही ग्रहण किया है। गीतामें ही भगवान् स्वयं 'अक्षरं ब्रह्म परमम् (८। ३)' अक्षरको परब्रह्म बतलाते हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत अक्षर पदसे प्रकृतिके ग्रहण करनेका खण्डन भी किया है। स्मृतियाँ तो मुक्तकण्ठसे घोषित करती हैं कि 'अक्षर' पदसे ब्रह्मका ग्रहण है, प्रकृतिका नहीं। यथा—

अक्षरत्वेन प्रकृतिं ये वदन्ति विमोहिताः।
पुरुषत्वेन निर्दिष्टं कथं पश्यन्ति ते नहि॥

महाभारतमें तो 'अक्षर' पदको इतना स्पष्ट कर दिया है कि किसीको शंका करनेका अवसर ही नहीं रह जाता। यथा—

अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
अनादिमध्यनिधनं निर्द्वन्द्वं कर्तृ शाश्वतम्।
कूटस्थं चैव नित्यं च यद्वदन्ति मनीषिणः॥
यतः सर्वाः प्रवर्तन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
(महाभारत शान्तिपर्व ३०१। १०१-१०३)

भीष्मपितामह युधिष्ठिरको अक्षरब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान कराते हुए कहते हैं कि 'तात ! अक्षर ही अविनाशी तत्त्व है और वह ही सनातन ब्रह्मरूप है, जिसे विद्वान्लोग कूटस्थ कहकर पुकारा करते हैं, वह आदि-अन्तरहित यही अक्षर ब्रह्म है और इसीसे सृष्टि-प्रलयकी क्रियाओंकी प्रवृत्ति होती है।' इस प्रकार वेद-शास्त्र-पुराण सभी एक स्वरसे इस बातको मानते हैं कि 'अक्षर'-पदवाच्य अविनाशी ब्रह्म ही है। यह 'अक्षर ब्रह्म' मायिक क्षर जगत्-प्रपञ्चसे अतीत है और कूटस्थ है।

श्रुतियोंने इसको भी नित्य सनातन कूटस्थ ब्रह्मत्वेन ही प्रतिपादन किया है; तथापि वह 'क्षर' से अतीत और 'अक्षर' से उत्तम (अक्षरादपि चोत्तमः) समग्र परम ब्रह्मके समान नहीं माना जा सकता। कारण कि 'अक्षरे सृष्टिकर्तृत्वान्न शृङ्गाररसोदयः।' अक्षरब्रह्ममें सृष्टिका कर्तृत्व होनेसे शृङ्गार-रसका उदय नहीं होता। श्रुतियाँ भी अक्षरको सृष्टिका कर्ता प्रतिपादन करती हैं। यथा—

अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्। (मुण्डक० १। ७)

अक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति। (मुण्डक० २। १। १) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ अक्षर ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्तिका प्रतिपादन करती हैं।

इधर 'रसो वै सः। ब्रह्म रसः' इत्यादि श्रुति ब्रह्मको रसरूप वर्णन करती है। 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' (तैत्तिरीय २। ७) 'रसको पाकर ही यह आत्मा आनन्दित होती है।' 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।' (मुण्डक० १। २। ७) 'जो अविनाशी ब्रह्म आनन्दरूप प्रकाशित हो रहा है।'

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। (बृ० ३। ९। २८)
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। (तैत्ति० ३। ६)
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन (तैत्ति० २।४)

आनन्दमयोऽभ्यासात्। (ब्रह्मसूत्र १।१।१२)

इस प्रकार शतशः श्रुतियाँ ब्रह्मके आनन्दस्वरूपकी विशेषताका प्रतिपादन करती हैं। स्मृतियाँ तो और भी आगे बढ़ जाती हैं। यथा—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥
हेयोपादेयरहितं सच्चिदानन्दविग्रहम्।
प्रमाणैरपरिच्छेद्यं यतः संविन्मयं महत्॥
निर्दोषपूर्णगुण आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः
सर्वत्र स्वगतभेदविवर्जितात्मा॥

—इत्यादि स्मृतियाँ ब्रह्मके सच्चिदानन्दस्वरूप कलेवरका प्रतिपादन करती हुई उसके हाथ, पैर, नेत्र, उदर आदि अप्राकृत आनन्दरूप सम्पूर्ण देहका उल्लेख करती हैं, जो अक्षरोत्तम पूर्णब्रह्म परमात्मामें ही घट सकता है, अक्षरमें नहीं।

अक्षर ब्रह्म अविनाशी है अवश्य, परंतु उसका आनन्द अव्यक्त है। अतः उपासकको आनन्दित नहीं कर सकता। अव्यक्तमें आनन्दका उल्लास कहाँ ? तभी तो गीता (१२।५) में भगवान् कहते हैं कि—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः। (गीता ८।२१)

जिसका स्वरूप ही अव्यक्त है, जो सृष्टिका कर्तृत्वमात्र वहन करता है, जिसमें रसके द्रवीभूत और घनीभूत लीला-विहारको अवकाश ही नहीं, उसमें निःश्रेयसके आनन्दका बृंहण कैसे हो सकता है ?

अतएव उपासनाके लिये सच्चिदानन्द-स्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्माको ही लेना गौरवपूर्ण होगा। अक्षर, अक्षरोत्तम—दोनों ही एक नित्य अविनाशी पूर्णब्रह्म हैं; परस्पर अङ्ग-अङ्गिभाव होनेके कारण एक ही हैं।

अक्षरः परमात्मा च पुरुषोत्तमसंज्ञकः।
उभावप्येक एवार्थौ लीलाभेदेन सुन्दरि॥
एकमेवाद्वयं ब्रह्म द्विधा लीलाविभेदतः।
तदक्षरं च विज्ञेयं ज्ञानमात्रं च बालवत्॥

इस प्रकार अक्षरको भी शास्त्रोंने परमात्माका स्वरूप ही माना है। केवल लीला-भेदसे स्वरूप-भेद है। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका जो सदंश है, उसे 'अक्षर-ब्रह्म' कहते हैं, जो बालकोंकी भाँति लीलामात्रसे जगत्का उदय-लय किया करता है। यही बात तैत्तिरीय (२।५) में आयी है। यथा—'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा।' 'एकांशेन स्थितो जगत्।' (गीता १०।४२) आदि वचन अक्षर-ब्रह्मके स्वरूपका ही संकेत करते हैं। अतः उपासनाके लिये हमें अक्षरोत्तम रसघन परमात्माके स्वरूपको ही लेना होगा; क्योंकि—

यदि अक्षर ब्रह्म पूर्ण है तो अक्षरोत्तम 'पूर्णात्पूर्णमुदच्यते' है अर्थात् पूर्णात्पूर्ण होनेके कारण उत्कृष्ट तथा पूजनीय है। अक्षर कूटस्थ है सही; परंतु अक्षरोत्तम तो 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।' (गीता १५।१७) उत्तमसे भी उत्तम ब्रह्म होनेके कारण परमात्मा है। इसीलिये 'अक्षरात्परतः परः' कहकर मुण्डक श्रुति पूर्णब्रह्मके महत्त्वको अक्षरसे विशेष प्रतिपादन करती है।

इस प्रकार हमें पूर्णात्पूर्ण अक्षरातीत ब्रह्मकी महत्ताको ही सर्वोपरि मानना पड़ेगा। जो सब कारणोंका कारण है, जो सब ईशोंका ईश है, जो अकेला ही सबको आनन्दित करता है, वही सबका उपास्यदेव है। उसकी उपासनासे आवागमनका बन्धन कट जाता है—'न स पुनरावर्तते।'। उस ब्रह्मके धामको प्राप्त होनेपर जन्म-मरणका भय नहीं रहता। वहाँसे फिर लौटता नहीं। 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥' (गीता १५।६)

यह सब तो ठीक; किंतु एक बात और ध्यानमें रखनी होगी; वह यह कि—इस परात्पर ब्रह्मकी उपासनामें केवल बँधी भक्तिसे सफलता नहीं प्राप्त होगी, उसके लिये तो परा-प्रेमलक्षणा भक्तिको ग्रहण करना होगा; क्योंकि पूर्णब्रह्मको परा-प्रेम-भक्तिसे ही प्राप्त किया जा सकता है। वह साधन-साध्य नहीं, स्वयंप्रकाश है—

स्वप्रकाशमनिर्वाच्यं ह्यात्मद्वैतनिवर्तनम्।
विकल्पातीतमानन्दं प्रेम ब्रह्मैव केवलम्॥

उस प्रभुमें और प्रेममें अन्तर नहीं। प्रेम ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही प्रेम है; इस प्रकार परस्पर ओतप्रोत हैं। यह प्रेम ही तो ब्राह्मी प्रजाका, ब्रह्मसृष्टिका परिचायक है। जिसने इसे पकड़ा, उसका बेड़ा पार। उसे दूर जानेकी आवश्यकता नहीं। प्रेमी तो अपने प्रेमास्पद प्रियतम परमात्माके साथ ही रमण करता है और वह 'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।' संसारभरको पवित्र बना देता है। वह तो कृतार्थ हो ही गया।

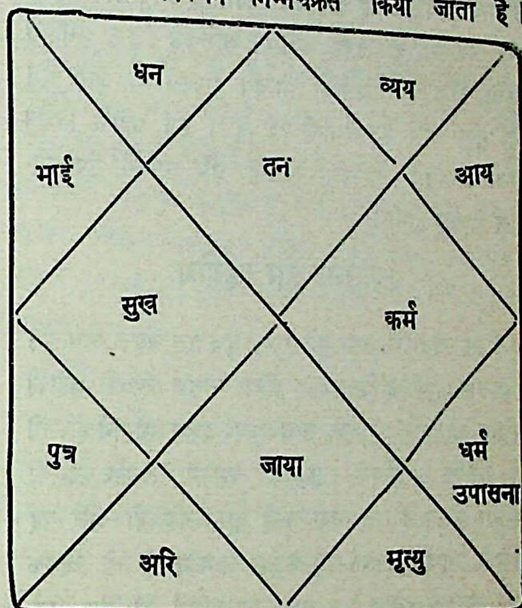
इतहीं बैठे घर जागे धाम,
पूरण मनोरथ हुए सब काम।

जन्माङ्गसे उपासनाविचार

(लेखक—ज्योतिषाचार्य पं० श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

'कल्याण'के इस विशेषाङ्कमें पाठकोंको उपासनाकी सुन्दर एवं सुस्पष्ट व्याख्या पढ़नेको मिलेगी। अनेक आचार्यों एवं उद्भट विद्वानोंके विचारोंका अध्ययन और मनन करनेका सुलभ अवसर प्राप्त होगा। उपासना अपनी-अपनी मनोवृत्तियोंके अनुसार विभिन्न प्रकारकी होती है। मनोवृत्तियोंपर भी सत्त्व, रज और तमका प्रभाव रहता है। सत्त्व, रज, तमके प्रभावके कारण तीन प्रकारकी मनोवृत्तियाँ भी होती हैं। तीन प्रकारकी मनोवृत्तियोंका प्रभाव तीन प्रकारकी उपासना-पद्धतियोंपर भी पड़ता है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें उपासनाका विचार जन्माङ्गके आधारपर उपस्थित करना अभीष्ट है।

भारतीय विचारधाराके आधारसे सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि एवं छायाग्रहोंमें राहु, केतु तथा आधुनिक ग्रहोंमें इन्द्र, वरुण आदि भी सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके प्रतिपादक हैं। हाँ, यहाँ यह अवश्य विचार करना पड़ता है कि ग्रहोंके स्थानबल, मित्रबल, दृष्टिबल आदिके प्रभावसे सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंके प्रभावका विचार किया जाता है। ग्रह भी मानवकी भाँति समय, स्थिति तथा स्थानके कारण अपने बलाबलका परिचय देते हैं। जन्म लेते ही जीवके जन्माङ्गकी रचना हो जाती है। जन्मके समय कौन ग्रह जन्मजात शिशुकी किस स्थितिपर कितना प्रभाव दिखलायेगा—यह विचार ग्रहोंके स्थानबल-स्थान, स्थिति और समयके आधारपर होता है। नवग्रहोंमें कुछ ग्रह स्वभावतः सत्त्व, रज, तम गुणोंके कारक होते हैं। ग्रहोंके ये प्रभाव मानवके अन्यान्य कर्मोंमें सहायक बनते हैं। जन्माङ्गके आधारपर मानवके जीवनमें पारिवारिक, सामाजिक और धार्मिक क्रिया-कलापोंका विवेचन निम्नचक्रसे किया जाता है।



इस चक्रके अनुसार संक्षेपमें शरीर, अर्थ, बन्धु, सुख, संतति, शत्रु, पत्नी, मृत्यु या मृत्युजन्य कष्टके बाद मानवके जीवनमें धर्म या उपासनाके लिये जन्माङ्गका नवम स्थान आता है। दशम स्थान कर्म और एकादश स्थान लाभ—आय और द्वादश स्थान व्ययका माना गया है। उपासनाका विचार दशम स्थानसे भी होता है। उपासना एक कर्म ही है।

मानव और पशु-पक्षियोंके जीवनमें महान् अन्तर है। मानवकी विशेषता ज्ञानके कारण अन्य जीवोंकी अपेक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। 'ज्ञान'का सहारा लेकर मानवमें धर्मकी प्रवृत्ति जाग्रत् होती है। धर्म मानवको उपासनाकी ओर अग्रसर करता है। जीवनमें धर्म नहीं तो कुछ नहीं। बिना धर्मके जीवन पशुवत् हो जाता है। धर्मके अभावमें 'उद्जन बम'का निर्माता महाविज्ञानी भी 'अज्ञानी' ही है। धार्मिक चेतनाके कारण मानवमें उपासनाकी ओर जो बढ़ावा मिलता है, उसमें ग्रहयोग भी सहायक बनता है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें इसी तथ्यके ऊपर संक्षेपमें विचार किया जा रहा है।

नवग्रहोंमें जो ग्रह नवम स्थान अर्थात् जन्माङ्गके धर्म-

स्थानमें पड़ेगा, वह अपना विशेष प्रभाव दिखलायेगा। उसी प्रभावके कारण मानवके जीवनमें उपासनाकी भावना जाग्रत् होगी। केवल धर्मस्थान (उपासनास्थान)में ही बैठकर ग्रह उपासना-प्रवृत्तिको जगानेमें सहायक नहीं होते, प्रत्युत ग्रह, मैत्री, दृष्टिबलसे भी सहायक सिद्ध होते हैं। शुक्र और गुरु सत्त्वगुणवर्द्धक ग्रह हैं। मङ्गल और सूर्य, राजसी प्रवृत्ति-के सहायक हैं। बुध और चन्द्रमा सात्त्विक ग्रहके प्रभावसे सात्त्विक और राजसीग्रहके प्रभावसे राजसी हो जाते हैं। शनि, राहु और केतु तामसी ग्रह हैं। इन ग्रहोंके विशेष प्रभावसे मानवमें सात्त्विक, राजसी और तामसी उपासना-प्रवृत्ति जाग्रत् होती है।

उपासना और ग्रहयोग

जिस जातकके जन्माङ्गमें गुरु, बुध एवं मङ्गल साथ हों, वह जातक उपासक होता है। ऐसा जातक साकार ब्रह्मकी उपासना करता है। गुरुके साथ बुध दशम स्थानमें हों, तो ऐसा जातक सात्त्विक उपासक बनकर 'साकार ब्रह्म'की उपासना करता है। दशमेश कोई शुभ ग्रह हो और वह चन्द्रमाके साथ हो तथा राहु-केतुका साथ न हो तो जातक साकार-उपासक बनता है। बुध उच्चस्थानमें हो या धर्म-स्थान (नवम)में हो, दशमेश नवममें हो, राहु-केतुका साथ न हो तो ऐसा जातक साकार-उपासक बनता है। दशमेश उच्चस्थानमें हो और बुधके साथ हो या लग्नेश दशमस्थ हो, दशमेश नवमस्थ हो और दोनों दशाओंमें किसी भी पापग्रहका साथ न हो, पापग्रहकी दृष्टि न हो, तो जातक साकार-उपासक होता है। यदि दशमेश दशमस्थ ही हो या वह चार शुभवर्गोंका हो, या केन्द्र या त्रिकोणमें हो तो जातक साकार-उपासक बनता है। दशमेश यदि बुध हो, गुरु बलवान् हो या चन्द्रमा तृतीय भावमें हो तो जातक साकार-ब्रह्मका उपासक बनता है। दशमेश और लग्नेश एक साथ हों और दशम और लग्नके एक ही स्वामी हों, तो जातक सफल सगुणोपासक होता है। दशमेश शनिके साथ हो या दशमेश राहुके साथ हो, तो ऐसा जातक तामसी प्रवृत्तिका उपासक बनता है। दशमेश सूर्य या शुक्र या चन्द्रमा हो, तो जातक दूसरोंकी सहायतासे उपासनाकर्मद्वारा अनेक धार्मिक कृत्य सम्पादित करता है।

पञ्चम भावसे भी ईश्वरमें प्रेमका विचार होता है। जिस जातकके पञ्चम और नवम दोनों स्थान शुभ लक्षणोंसे युक्त हों, वह जातक सफल सगुणोपासक होकर संसारमें अपनी ख्याति भी अर्जित करता है। पञ्चम स्थानमें यदि पुरुषग्रह हों, या पुरुषग्रहकी बलवती दृष्टि पड़ती हो, तो जातक किसी पुरुषदेवताका उपासक बनता है। यदि पञ्चमस्थान स्त्री राशिका हो, उसमें चन्द्रमा या शुक्र आसीन हों, तो जातक शक्तिका सिद्ध उपासक बन जाता है। सूर्य यदि पञ्चमस्थ हो या पञ्चमस्थानपर सूर्यकी दृष्टि पड़ती हो, तो जातक शक्तिका सिद्ध उपासक बन जाता है। यदि मङ्गलकी दृष्टि नवम भावमें हो या मङ्गल नवमस्थ हो तो जातक भगवान् शंकरका उपासक बनता है। यदि गुरु नवमस्थ हों या नवम स्थानपर उनकी पूर्णदृष्टि पड़ती हो, तो जातक शंकर भगवान्‌की उपासना करता है।

शनि यदि पञ्चम या नवम स्थानपर अपना विशेष प्रभाव दिखलाता है, तो ऐसा जातक, तामसी उपासनामें सिद्धि प्राप्त करता है। एक आचार्यने लिखा है—

> नवमस्थाने सौरो यदि स्थितः सर्वदर्शनविमुक्तः।
> नरनाथयोगजातो नृपोऽपि दीक्षान्वितो भवति॥

शनिके नवमस्थ होनेसे जातक, अन्य ग्रहोंके बलाबल-को प्राप्त करनेपर समस्त दर्शनोंको त्याग देता है। यदि उस जातकको राजयोग हो, तो राजा होनेपर भी संन्यासी बन जाता है या दीक्षा-ग्रहण करके उपासक बन जाता है। यदि जन्मके समय चारसे लेकर सात ग्रह किसी भी एक स्थानमें बैठे हों, तो जातक उपासनाकी ओर अग्रसर हो जाता है। यहाँपर ग्रहोंके बलाबलका भी विचार करना पड़ता है। चार या चारसे अधिक ग्रहोंकी स्थितिमें एक ग्रहको बली होना चाहिये या बली ग्रह अस्त न हो। बली ग्रह युद्धमें पराजित न हुआ हो। हारे हुए बली ग्रहपर अन्य ग्रहोंकी दृष्टि न पड़ती हो, उनमें कोई दशमाधिपति भी हो, तो उपासक बनकर जातक अपने लिये इस लोक और स्वर्गलोकका मार्ग प्रशस्त कर लेता है। ऐसी स्थितिमें सूर्यका प्रभाव जातकको साकार उपासक बनाता है। चन्द्रमाका प्रभाव जातकको तामसी उपासनाकी ओर प्रवृत्त करता है। मङ्गलका प्रभाव जातकको संन्यासकी ओर अग्रसर करता है। बुधका भी प्रभाव तामसी उपासनाकी ओर अग्रसर करता है। गुरुका प्रभाव साकार ब्रह्मकी उपासना करवाता है। शुक्र भी गुरुकी भाँति साकार उपासनामें सिद्धिकारक होता है।

यदि लग्नेशपर अन्य किसी भी ग्रहकी दृष्टि न पड़ती हो और लग्नेशकी दृष्टि शनिपर पड़ती हो तो जातक सिद्ध उपासक होकर प्रख्यात हो जाता है। यदि शनि ग्रहपर किसीकी दृष्टि न पड़ती हो और शनिकी पूर्ण दृष्टि लग्नेशपर पड़ती हो, तो जातक सिद्ध उपासक या सिद्ध संत हो जाता है। शनिकी दृष्टि किसी निर्बल लग्नपर पड़ती हो तो ऐसा साधक निर्गुण ब्रह्मका उपासक बनता है। जन्मकालीन चन्द्रमा जिस राशिमें हो, उसका स्वामी अर्थात् जन्मराश्यधिपतिपर यदि किसी ग्रहकी दृष्टि न हो, परंतु जन्मराश्यधिपतिकी दृष्टि शनिपर पड़ती हो तो जातकको प्रभावित ग्रहकी अन्तर्दशामें उपासनाकी ओर अग्रसर होना पड़ता है।

चन्द्रमा किसी राशिमें होकर मङ्गल या शनिके द्रेष्काणमें हो और चन्द्रमापर अन्य किसी ग्रहकी दृष्टि न होकर शनिकी दृष्टि हो, तो जातक निर्गुण उपासक होता है। यदि चन्द्र शनिके द्रेष्काणमें हो और उसपर दृष्टि हो, तो जातक निर्गुण ब्रह्मकी उपासनामें तत्पर होता है। चन्द्र शनिके द्रेष्काणमें हो और मङ्गल अथवा शनिके नवांशमें भी हो और ऐसे चन्द्रमापर शनिकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक निर्गुणोपासक होकर जावन व्यतीत करता है। जन्मराशि यदि निर्बल हो, उसपर शनिकी दृष्टि हो, तो जातक उपासनामें अपना अन्तिम जीवन लगा देता है। शनि यदि नवमस्थ हो, उसपर किसी बली ग्रहकी दृष्टि न हो, तो ऐसा जातक राजा होकर भी अन्त समयमें ब्रह्मकी उपासनामें लग जाता है। इस योगका यह भी प्रभाव है कि संन्यस्त जीवनमें ऐसा जातक राजसी जीवन व्यतीत करने लगता है। यदि शनि या लग्नेशकी दृष्टि चन्द्रमापर पड़ती हो, तो जातक उपासक बन जाता है। चन्द्रमा नवम स्थानमें हो और किसी भी ग्रहसे दृष्ट न हो, तो ऐसा जातक राजयोग होते हुए भी संन्यास ग्रहण करके सिद्ध उपासक बन जाता है। चन्द्रमा यदि उसी राशिमें हो जिसमें मङ्गल बैठा हो और चन्द्रमा शनिके द्रेष्काणमें हो और चन्द्रमापर शनिकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक उपासक बनता है। यदि लग्नेश बृहस्पति, मङ्गल अथवा शनि हों, उस लग्नेशपर शनिकी दृष्टि हो तथा गुरु नवमस्थ हों, तो जातक निर्गुणोपासक बन जाता है। दशमस्थ तान बलवान् ग्रह हों, सभी उच्चके हों, स्वगृही हों या शुभवर्गस्थ हों और दशमेश भी बली हो तो जातक सिद्ध उपासक बन जाता है।

इस संसारमें भी उसकी ख्याति बढ़ जाती है। यदि दशमेश बलवान् न हो और सप्तमस्थ हो, तो जातक तामसी उपासक बन जाता है। यदि द्वितीयेश और सप्तमेश उपासनाकी ओर अग्रसर करनेवाले तीन ग्रहोंसे घिरे हों, तो जातक तामसी उपासक बनकर कुख्यात भी होता है। उपासनाकी ओर अग्रसर करनेवाले ग्रहोंके साथ सूर्य, शनि और मङ्गल हों, तो ऐसा जातक तामसी उपासक होता है। लग्नेश बली न हो, उसपर शुक्र एवं चन्द्रमाकी दृष्टि हो और कोई उच्च अथवा उच्च नवांशस्थ ग्रह चन्द्रमाको देखता हो, तो जातक धनहीन उपासक होता है। हीनबल चन्द्रराशिका स्वामी, केन्द्रस्थ बलवान् शनिको देखता हो, तो जातक तामसी उपासनाकी ओर अग्रसर होता है या धनहीन उपासक बनता है।

यदि दशम स्थानमें मीन राशिगत बुध हो, या उस स्थानमें मङ्गल बैठा हो, तो जातक सिद्ध उपासक होता है और जीवन्मुक्त हो जाता है। दशमेश नवममें हो और बली नवमेश, गुरु शुक्रसे दृष्ट हों या संयुक्त हों तो जातक सफल उपासनासे सिद्धि प्राप्त करता है। नवमेश बलवान् हो, शुभ ग्रह हो, उसपर गुरु या शुक्रकी पूर्ण दृष्टि हो, या गुरु, शुक्रका साथ हो तो ऐसा जातक उपासनासे सिद्धि प्राप्त करता है और इस संसारमें भी उसकी ख्याति बढ़ती है। यदि दशमेश शुभग्रह हो या दशमेश दो शुभग्रहोंके बीचमें हो, या दशमेश शुभग्रहके नवांशमें हो, तो जातक उपासनासे सिद्धि प्राप्त करता है। यदि पूर्ण बली चन्द्रमा केन्द्रस्थ हो, उसपर गुरु या शुक्रकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक उपासनासे अभीष्टकी सिद्धि करता है। यदि दशमेश शुभग्रह हो और उच्च स्वगृही अथवा मित्रगृही हो, तो जातक सिद्ध उपासक बन जाता है। यदि दशमेश पाँच शुभ वर्गोंका हो, या सात उत्तम वर्गोंका हो, तो ऐसा जातक उपासनापद्धतिसे महान् सिद्धि प्राप्त करता है। यदि लग्नाधिपति दशम स्थानमें हो और दशमाधिपति नवम स्थानमें हो तथा दशमाधिपतिपर किसी भी पापग्रहकी दृष्टि न पड़े, तो ऐसा जातक महान् उपासक बन इस लोक और परलोकको बना लेता है अर्थात् सिद्धि प्राप्त करता है।

यदि जन्माङ्गमें चन्द्रमा और बृहस्पतिके भीतर अन्य सभी ग्रहोंकी स्थिति हो, तो ऐसा जातक निर्गुण उपासनामें सिद्धि प्राप्त करता है। यदि समस्त ग्रह शनि और मङ्गलके

अन्तर्गत हों, तो जातक निर्गुणोपासनामें सिद्धि प्राप्त करता है। यदि जातकका जन्म मकर राशिमें हो और समस्त ग्रहोंकी स्थिति सूर्य और मङ्गलके अन्तर्गत हो तो जातक निर्गुणोपासनामें सफलता प्राप्त करता है। ऊपर जो तीन योग निर्गुणोपासनासे सम्बन्धित उल्लिखित किये गये हैं, इनमें दो ग्रहोंके बीचमें अन्य सभी ग्रहोंको रहनेके जो तथ्य प्रकट किये गये हैं, उसका तात्पर्य यह है कि तीसरे योगमें यदि मकर राशिमें जन्म हो और सूर्य जिस राशिमें हो और जिस अंशमें हो, उससे आगे अन्य सभी ग्रह स्थित हों, तथा मङ्गल सबसे अन्तमें हो, यदि शनि और गुरु नवमस्थ हों या दोनों ग्रह दशमस्थ हों और एक नवांशमें हो तो जातक उपासनासे सिद्धि प्राप्त करता है। यदि कर्क लग्नका जन्म हो, धनके नवांशका लग्न हो और गुरु लग्नस्थ हो और केन्द्रमें तीन या चार ग्रह बैठे हों तो जातक उपासनासे जीवन्मुक्त हो जाता है। यदि धन राशिमें जन्म हो, गुरु लग्नस्थ हो और लग्न मेषके नवांशका हो, शुक्र मिथुनस्थ हो और चन्द्रमा कन्या राशिगत हो तो जातक उपासनासे परम पद प्राप्त कर लेता है। यदि मेषके अन्तिम नवांशका जन्म हो, लग्नमें गुरु या शुक्र हों, चन्द्रमा द्वितीय स्थानमें हो, मङ्गल सिंह नवांशका हो या धनराशिके पञ्चम नवांशका हो, तो जातक सिद्ध उपासक होता है। कर्क लग्न हो, गुरु लग्नस्थ हो, शनि सिंह राशिका हो, चन्द्रमा वृष राशिमें हो, शुक्र मिथुन राशिमें हो, सूर्य एवं बुध स्थिर राशिका हो, तो जातक उपासनासे सिद्धि प्राप्त करता है। यदि कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक और धन—इन छः राशियोंमें सातों ग्रह बैठे हों, इनमेंसे कोई भी राशि बिना ग्रह-स्थितिके न हो तो जातक लब्धप्रतिष्ठ उपासक होता है।

(तान्त्रिक) उपासना और ज्योतिषशास्त्र

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार १, ५, ९ में शुभ ग्रह होनेसे साधक सात्त्विक देवताओंका उपासक होता है तथा पापग्रह होनेसे क्षुद्र देवताओं—यक्षिणी, भूत-प्रेतादिकी उपासना करता है तथा अति पापविद्ध होनेसे तो उपासनाका विरोधी भी होता है। संहिता-ग्रन्थोंमें अनेक प्रकारकी उपासनाओंके मुहूर्त भी निर्दिष्ट हैं। मोक्षसाधना, भोगसाधना, शान्ति, पौष्टिक, अभिचार एवं क्रूर कर्मसिद्धि आदिके लिये अलग-अलग देश, काल, मुहूर्त निर्दिष्ट हैं। इनका कुछ वर्णन तन्त्र-ग्रन्थोंमें भी आता है। जैसे विवाहके पूर्व शतपदचक्रादिद्वारा नक्षत्र-मेलन (कुण्डली-मिलान) होता है, वैसे ही इष्टमन्त्र देवताके साथ भी अकडम चक्र, अकथह चक्रादिसे गणना की जाती है। यदि मेलापक मिल जाता है, तो उपासना शीघ्र सिद्ध होती है। अन्यथा विलम्ब या असफलता भी मिलती है।*

पुष्य नक्षत्रकी महत्ता

ज्योतिषमें एक सिद्ध काल भी है। सिद्धियोग, सर्वार्थ-सिद्धियोगोंके अतिरिक्त पुष्य नक्षत्रका नाम भी सिद्ध-नक्षत्र कहा गया है—'सिध्यन्ति अस्मिन् सर्वाणि कार्याणि इति सिध्यः, पुष्यन्ति अस्मिन् सर्वाणि कार्याणि इति पुष्यः।'

'पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्रे' (पाणि० ३।१।११६)

इस तरह 'पुष्' धातु तथा 'सिध्' धातुमें 'क्यच्' प्रत्यय करनेसे एक ही अर्थमें 'पुष्य' एवं 'सिध्य'—ये दोनों शब्द बनते हैं। इस प्रकार अत्यन्त प्रसिद्ध होनेसे व्याकरण एवं तन्त्र-ग्रन्थोंमें भी इसकी सुस्पष्ट चर्चा—वर्णन प्राप्त है। यदि गुरुवारको पुष्य नक्षत्र हो, तो पूर्ण सिद्धियोग होता है—

गुरौ पुष्यसमायोगे सिद्धयोगः प्रकीर्तितः।

पता नहीं पुष्य नक्षत्रसे ही पौष्टिक (शान्ति) शब्द चला, अथवा पहलेसे ही रहा। वाल्मीकिरामायण, महाभारत, पुराणों तथा अन्यत्र भी पुष्य नक्षत्रकी महत्ता विख्यात है। महाकवि श्रीभट्टि कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धिप्रद पुष्य नक्षत्रके समान ही जो विख्यात योगसिद्धा तथा सर्वसिद्धा थी, उस शबरीके पास लक्ष्मणजीके साथ प्रभु श्रीराम जा पहुँचे—

'सिध्यतारामिव ख्यातां शबरीमापतुर्वने।'

(भट्टिकाव्य ६।५९)

श्रीशिवपुराण, रुद्रसंहिताके युद्धखण्ड, अध्याय २ में

* 'साधनाङ्क' एवं 'नारदपुराणाङ्क' में इस पद्धति-प्रक्रियाका विस्तृत प्रदर्शन प्राप्त है।

भगवान् शंकरकी विभूतियोंका वर्णन आया है। इसमें देवता-लोग भगवान्से कहते हैं कि 'आप यज्ञोंमें अश्वमेध, युगोंमें सत्ययुग, नक्षत्रोंमें पुष्य एवं तिथियोंमें अमावास्या हैं (अमावास्या शिवजीकी तिथि है)।

'हरिः कामः शिवः शशी।' (मू० चि० २। १। ४)

क्रतूनामश्वमेधोऽसि युगानां प्रथमो युगः।
पुष्यस्त्वं सर्वधिष्ण्यानाममावास्या तिथिष्वसि॥
(शि० पु० २। ५। २। ४६)

भगवान् रामके वंशमें एक 'पुष्य' नामक राजाका जन्म हुआ। उसका वर्णन करते हुए महाकवि कालिदास लिखते हैं—

तस्य प्रभानिर्जितपुष्यरागं
पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां
पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये॥
(रघु० १७। ३२)

इस पद्यमें महाकविने 'पुष्य' शब्दका छः वार प्रयोग कर दिया। ऐसा उदाहरण विरल होता है। इससे पुष्य नक्षत्रसे कविका किसी रहस्यमय सम्बन्धका अनुमान होता है। वे यदि इसके विशेष रहस्यका विशिष्ट ज्ञान न रखते तो इतने आदरसे उल्लेख न करते।

अब इस श्लोककी टीकामें विभिन्न टीकाकारोंके प्रमाण-पूर्ण रहस्यमय भाव देखें—

१-'(पौषमासस्य) पुष्यनक्षत्रयुक्तायां पौर्णमास्यां तिथौ।' (मल्लिनाथ)

२-'यस्मिन् पुष्ये जाते सति लोका द्वितीयपुष्यनक्षत्र इव पूर्णां पुष्टिं पुष्यन्ति स्म। उक्तं च—चन्द्रे विरुद्धेऽप्यथ गोचरे वा सिद्ध्यन्ति कार्याणि कृतानि पुष्ये।' (दिनकर मिश्र)

३-पुष्यः परकृतं हन्ति न तु पुष्यकृतं परः।
अपि द्वादशगे चन्द्रे पुष्यः सर्वार्थसाधकः॥
(शिशुहितैषिणीकार चारित्रवर्द्धन)

४-'यस्मिन्नुदिते सति जनाः समग्रां पुष्टिं प्रापुः।' (वल्लभदेव इत्यादि)

अर्थात् सभी विरुद्ध योगोंमें भी पुष्यकृत कार्य निस्संदेह सिद्ध हो जाते हैं। पुष्य नक्षत्र अन्य योग-नक्षत्रोंके दोषको भी दूर कर देता है, पर पुष्यके गुण किसी भी दुर्योग आदि-द्वारा नष्ट नहीं हो सकते।

राजाके लिये पुष्यस्नानका वर्णन प्रायः सभी पुराणोंमें आता है और 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'में तो यह बहुत ही विस्तारसे आया है।

ज्योतिषशास्त्रोंमें भी कहा है—'सर्वसिद्धिकरः पुष्यः'[1], 'करग्रहं विना सर्वं कर्म देवेज्यभे शुभम्।' (मुहूर्तचिन्तामणि, पीयूषधारा टीका तथा नारदसंहिता, चौखम्बा सं० ६। १०, पृ० २४)

यह नक्षत्र लघुक्षिप्रगणके अन्तर्गत आता है[2]—

हस्ताश्विपुष्याभिजितः क्षिप्रं लघु गुरुस्तथा।
तस्मिन् पण्यरतिज्ञानभूषाशिल्पकलादिकम्॥
(मु० चि० २। ६)

पुष्यनक्षत्रमें प्रायः सभी शान्ति-पौष्टिक, सौभाग्य एवं वशीकरण-प्रयोग सिद्ध होते हैं। तन्त्र-ग्रन्थोंके अनुसार पुष्य-नक्षत्रमें गोजिह्वा (वनगोभी) तथा अपामार्ग (चिचिड़ा) की जड़ उखाड़कर मस्तकपर धारण करनेसे सभी वाद-विवादोंमें विजय प्राप्त होती है। इसी नक्षत्रमें श्वेत विकीरण (कटैया) का मूल उखाड़कर दाहिने बाहुपर बाँधनेसे सौभाग्यकी वृद्धि होती है। 'ॐ शान्ते प्रशान्ते सर्वक्रोधोपशमनी स्वाहा।'—इस मन्त्रको २१ बार जपकर मुँह धो लेनेसे, पुनः उसपर किसीको भी क्रोध नहीं आता। 'ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं श्रीं श्रीं श्रीं स्वाहा।'—इसे पढ़कर यदि एक छोटा कंकड़ या पत्थर बाँधकर फेंक दें, तो व्याघ्र स्तम्भन हो जायगा। न तो बाघ मुँह नीचे-ऊपर हिला-डुला सकता है और न चल ही

१. पुष्यने ब्रह्माजीपर स्वनक्षत्रमें मदनपुष्प छोड़कर व्यथित किया। अतः अति कामद होनेसे विवाहवर्ज्य होनेका उन्होंने इसे शाप दिया—

'पुष्यस्तु पुष्यत्यतिकाममेव प्रजापतेः शापमवाप तस्मात्।
(विवाहवृन्दावन १। ४)

अथवा मदनने पुष्यनक्षत्रमें ही ब्रह्माजीपर पुष्पबाण छोड़ा और पुष्यनक्षत्रने उसमें अपनी पूरी शक्ति लगाकर उसे असह्य बना दिया।

२. (क) सुरसचिवाश्विनहस्तास्तारा स्युः क्षिप्रसंज्ञकास्तु औषधपण्यविभूषणशिल्पकलाज्ञानकर्मसिद्धिः स्यात्। (वसिष्ठसंहिता) पीयूषधारा।

(ख) इसी प्रकार अन्य योगनक्षत्रोंपर अनुसंधान किया जा सकता है।

सकता है। पुष्यनक्षत्र यदि रविवारको पड़े, तो मधुयष्टिकी जड़ उखाड़कर सभामें फेंक देनेसे सभाके सभी सदस्योंका मुँह बंद हो जाता है। यदि गुरुवारको या दशमीको वह पड़े तो सारे मणि-मन्त्र, ओषधि, शिल्प, कला, ज्ञान, विद्या तथा अनुष्ठित समस्त शान्ति, पौष्टिक कार्योंकी सिद्धि करनेवाला होता है।

पुष्य नक्षत्रमें किये गये श्राद्धसे पितरोंकी भी अक्षय तृप्ति होती है—कर्ताको भी धन-पुत्रकी प्राप्ति होती है—

'पौष्यद्वये पुष्यचतुष्टये च श्राद्धप्रदाता बहुपुत्रवान् स्यात्।'

(नारदसंहिता ३७। २०)

'यदि पुष्य नक्षत्र दशमीको पड़े, तो 'अमृत' नामक योग होता है। जो व्यक्ति उस दिन श्राद्ध करता है, उसके वे पितर नित्य तृप्त तथा प्रसन्न रहते हैं।'

दशम्यां पुष्यसंयोगे स योगोऽमृतसंज्ञकः।
अर्चयेद्यः पितॄंस्तत्र नित्यं तृप्तास्तु तस्य ते॥

(वही, ३७। १७)

कुछ अन्य

इसी प्रकार ज्योतिषमें दुष्टग्रह-शान्ति एवं क्लेशनाशके लिये दशान्तर्दशाके अनुसार मणि-मन्त्रौषधि प्रयोग एवं बा- स्तोत्रोंद्वारा शान्तिप्रापक उपासना निर्दिष्ट है। यदि दशान्तर्दशामें बुध कष्टप्रद हो तो 'विष्णुसहस्रनाम'का पाठ निर्दिष्ट है—

'तद्दोषपरिहारार्थं विष्णुसाहस्रकं जपेत्।'

(बृहत्पाराशर होरा, श्रीपतिजातकपद्धति)

बृहस्पति हो तो शिवसहस्रनामका पाठ करना चाहिये—

'तद्दोषपरिहारार्थं शिवसाहस्रकं जपेत्।'

(बृहत्पाराशर होरा, श्रीपतिजातकपद्धति)

शुक्र हो तो दुर्गापाठ करना चाहिये—

'तद्दोषपरिहारार्थं दुर्गादेवीजपं चरेत्।'

(बृहत्पाराशर होरा, श्रीपतिजातकपद्धति)

इसी प्रकार सूर्यकी दशान्तर्दशादिमें आदित्यहृदयस्तोत्र चन्द्र-मंगलमें रुद्राभिषेकादि उपाय निर्दिष्ट हैं। इसी प्रकार गोचरजनित अनिष्टोंकी भी शान्तिके उपाय बतलाये गये हैं।

श्रीबगलामुखी देवीकी उपासना

(प्रेषक—ब्रह्मचारी श्रीपागलानन्दजी उपनाम पं० श्रीयज्ञदत्तजी शर्मा, वानप्रस्थी, वैद्य)

[प्राचीन पद्धतिसे उद्धृत]

मङ्गलाशंसा

संरुद्ध्य वैरिरसनां करमुद्गरेण
सम्माननं कृतवती निजसाधकानाम्।
नेत्रे निमील्य च हराश्रितमानसानां
कैवल्यमादिशति नः सुमुदे भवानी॥

'भवानी बगलामुखी अपने कर-मुद्गरद्वारा शत्रुकी जिह्वाका संरोधन कर स्वकीय मन्त्रकी साधना करनेवाले साधकोंका सम्मान करती हैं तथा जो दोनों नेत्र बंद कर मनको भगवान् शिवके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगाये हुए हैं; ऐसे हम सब भक्तोंको जो परमानन्दकी प्राप्तिके लिये कैवल्य-मोक्ष प्रदान करती हैं (उन भक्तवत्सला देवीको हम सादर नमस्कार करते हैं।)'

साधक ब्राह्ममुहूर्तमें निद्रा और शय्या त्यागकर उठ जाय तथा अपने मस्तक—ब्रह्मरन्ध्रमें श्वेत सहस्रदल कमल (या सहस्रारचक्र) की कर्णिकामें विराजमान गुरुदेव (शिव) का ध्यान करे। किस प्रकार ध्यान करे, यह बताया जाता है—

शिवस्वरूप गुरुका ध्यान

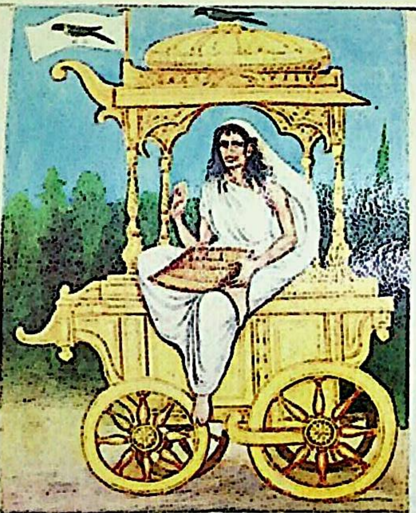
श्वेतं श्वेतविलेपमाल्यवसनं वामेन रक्तोत्पलं
बिभ्रत्या प्रिययेतरेण तरसाऽऽश्लिष्टं प्रसन्नाननम्।
हस्ताभ्यामभयं वरं च दधतं शम्भुस्वरूपं परं
हालालोहितलोचनोत्पलयुगं ध्यायेच्छिरःस्थं गुरुम्॥

'मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र) के सहस्रारचक्रमें मेरे गुरुके देवता भगवान् शिव विराजमान हैं; उनकी अङ्गकान्ति श्वेत है। उनके उनके अनुलेपन, पुष्पमाला तथा वस्त्र भी श्वेत हैं। उनकी प्रियतमा पार्वती बायें हाथमें लाल कमल लिये हैं और दाहिने हाथसे वेगपूर्वक उनका गाढ़ आलिङ्गन करके स्थित हैं। उनके हँसे गुरुदेवके मुखपर सहज प्रसन्नता खेल रही है। उनके दो हाथ अभय तथा वरकी मुद्राओंसे सुशोभित हैं तथा युगल नेत्रारविन्द हालाहल-पानके कारण लाल दिखायी देते हैं। इस प्रकार शम्भुस्वरूप गुरुका ध्यान करे।'

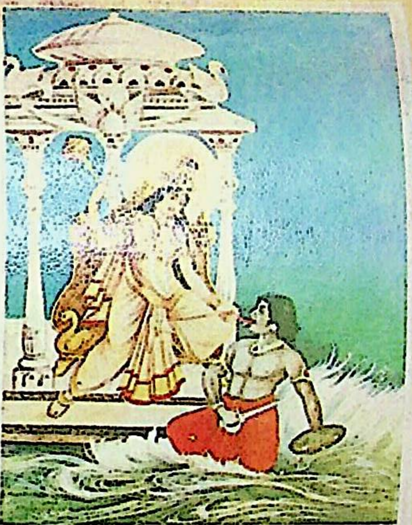
१. कुछ विस्तृत जानकारीके लिये देखिये 'भगवन्नामाङ्क'में 'ज्योतिषशास्त्र और भगवन्नाम' शीर्षक मेरा लेख।



त्रिपुरभैरवी

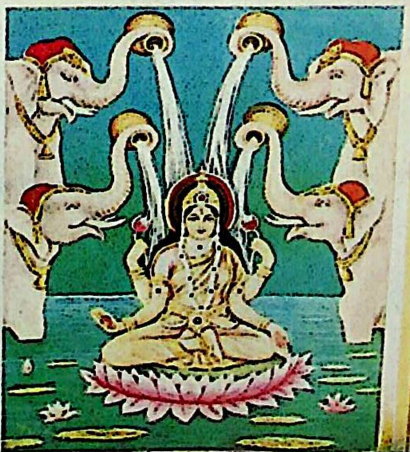


धूमावती



बगला

मातङ्गी



कमला

दश महाविद्याओंमेंसे पाँच—भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी और कमला।

तदनन्तर गुरुपादुका-मन्त्रका दस बार जप करे। वह मन्त्र इस प्रकार है—

गुरुपादुका-मन्त्र

'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्स्ख्फ्रें ह स क्ष म ल व र यूं स ह क्ष म ल व र यीं ह्सौं स्हौं श्रीप्रकाशानन्द श्रीनाथपादुकां पूजयामि।' इति

जप करके निम्नाङ्कित मन्त्रसे जप-समर्पण करे—

जपसमर्पण-मन्त्र

गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादात् सुरेश्वर॥

'देव! सुरेश्वर! आप गोपनीयसे भी अति गोपनीय वस्तुके गोप्ता (संरक्षक) हैं; हमारे द्वारा किये गये इस जपको ग्रहण करें। प्रभो! आपकी कृपासे मुझे सिद्धि प्राप्त हो।'

जप-समर्पणके पश्चात् यह चिन्तन करे कि 'गुरुदेवके चरणारविन्दोंसे अमृतकी धारा झर रही है और उसमें मैं आपादमस्तक निमग्न हो गया हूँ।' इस अनुभूतिके साथ ही निम्नाङ्कित पाँच श्लोकोंद्वारा गुरुदेवकी स्तुति करे।

गुरुस्तवन

ॐ नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रह॥ १॥
नारायणस्वरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमोभेदभाविने चिद्घनाय ते॥ २॥
स्वतन्त्राय दयाक्लृप्तविग्रहाय शिवात्मने।
परतन्त्राय भक्तानां भव्यानां भव्यरूपिणे॥ ३॥
विवेकिनां विवेकाय विमर्शाय विमर्शिनाम्।
प्रकाशानां प्रकाशाय ज्ञानिनां ज्ञानदायिने॥ ४॥
पुरस्तात् पार्श्वयोः पृष्ठे नमस्कुर्यादुपर्यधः।
सदा मच्चित्तरूपेण विधेहि भवदासनम्॥ ५॥

'ॐ नाथ! भगवन्! गुरुरूपधारी शिव! आपको नमस्कार है। जगत्में विविध विद्याओंका अवतरण हो, इसकी सिद्धिके लिये आपने अनेक विग्रह धारण किये हैं। आप नारायणस्वरूप हैं। एकमात्र परमार्थ ही आपका श्रीविग्रह है। सम्पूर्ण अज्ञानरूपी तमका भेदन करनेवाले चिद्घनस्वरूप आपको नमस्कार है। आप परमस्वतन्त्र हैं। केवल जीवोंपर करुणा करनेके लिये ही आप शरीर धारण करते हैं। स्वतन्त्र होते हुए भी आप वात्सल्यवश भक्तोंके पराधीन रहते हैं। भव्योंके भव्य (कल्याणोंके भी कल्याण या मङ्गलोंके भी मङ्गल) रूप आपको नमस्कार है। आप ही विवेकियोंके विवेक, विचारकोंके विचार तथा प्रकाशकोंके प्रकाश हैं। ज्ञानियोंको ज्ञान देनेवाले भी आप ही हैं; आपको नमस्कार है। आपको यह सेवक आगे-पीछे, अगल-बगल और ऊपर-नीचे सब ओरसे प्रणाम करता है। आप सदा मेरे चित्तको ही अपना आसन बनाइये।' ॥ १-५॥

इस प्रकार स्तुति करके भावनाद्वारा ध्येयस्वरूपको हृदयमें लीन करे। फिर मूलाधार-चक्रसे लेकर ब्रह्मरन्ध्र-पर्यन्त विराजमान कुण्डलिनी-शक्तिका चिन्तन करे। 'वह विद्युत्, अग्नि एवं सूर्यके समान महान् तेजःपुञ्जसे उद्भासित है। उसके तेजसे मेरा अपना शरीर भी अत्यन्त उद्दीप्त हो उठा है'—ऐसा चिन्तन करते हुए हृदय-कमलके भीतर पीताम्बरा देवीका ध्यान करे। फिर निम्नाङ्कित प्रकारसे मानसिक पाँच उपचारोंद्वारा उनकी पूजा करे।

लं पृथिव्यात्मकं गन्धं समर्पयामि। हम् आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि। यं वायव्यात्मकं धूपं समर्पयामि। रं वह्न्यात्मकं दीपं समर्पयामि। वम् अमृतात्मकं नैवेद्यं समर्पयामि। सं सर्वात्मकं ताम्बूलं समर्पयामि।

पूजनके पश्चात् मूलमन्त्रके[1] ऋषि आदिका स्मरण, न्यास और ध्यान करके यथाशक्ति जप करे और पूर्वोक्त 'गुह्यातिगुह्य' इत्यादि पढ़कर जप-समर्पण करनेके पश्चात् निम्नाङ्कित रूपसे प्रातःस्मरण-स्तोत्रका पाठ करे।

प्रातःस्मरण

प्रातः स्मरामि बगलां कमलायताक्षी-
मिन्दुप्रसन्नवदनां परिपीतवर्णाम्।
पाणिद्वयेन दधतीं च शिलां गिरीन्द्रे
द्वेष्यान्छवासनगतां मदमत्तचित्ताम्॥ १॥

'मैं प्रातःकाल विकसित कमलदलके समान विशाललोचना तथा चन्द्रमाके समान हास्यच्छटासे सुशोभित—प्रसन्न मुखवाली पीतवर्णा बगलामुखी देवीका चिन्तन करता हूँ, जो भक्तजनोंके शत्रुओंको चूर्ण करनेके लिये दोनों हाथोंमें शिलाखण्ड लिये गिरिराज हिमालयपर विराजमान हैं। वे

---

१ मूलमन्त्र और उसका विनियोग आगे यथावसर दिया जायगा।

देवी मदमत्तचित्त होकर यदा-कदा शिवस्वरूप शवासनपर आरूढ़ होती हैं' ॥ १ ॥

प्रातर्नमामि बगलामुखि धर्ममूर्तिं
कारुण्यपूर्णनयनां मुखमन्दहासाम् ।
इन्दुप्रसन्नवदनां परिपीतवर्णां
पीताम्बरां रुचिरकञ्चुकशोभमानाम् ॥ २ ॥

'देवि बगलामुखि ! मैं तुम्हारी उस धर्ममयी मूर्तिको प्रणाम करता हूँ, जिसके नेत्र करुणासे भरे हैं, मुखपर मन्द हासकी शोभा छा रही है, वदनमण्डल चन्द्रमासे भी अधिक आह्लादपूर्ण है, अङ्गकान्ति पीत है तथा वस्त्र भी पीले रंगके हैं। वे देवी सुन्दर कञ्चुकी (चोली) से सुशोभित हैं' ॥ २ ॥

प्रातर्भजामि यजमानसुसौख्यदात्रीं
कामेश्वरीं कनकभूषणभूषिताङ्गीम् ।
गम्भीरधीरहृदयां रिपुबुद्धिहन्त्रीं
सम्पत्प्रदां जगति पादजुषां नराणाम् ॥ ३ ॥

'जो भक्तजनोंको उत्तम सौख्य प्रदान करती हैं तथा सम्पूर्ण कामनाओंकी अधीश्वरी हैं, जिनके अङ्ग सुवर्णनिर्मित आभूषणोंसे विभूषित हैं; तथा हृदय (सागरके सदृश) गम्भीर एवं धीर है, जो साधकोंके शत्रुओंकी बुद्धिका नाश कर देती तथा अपने चरणोंकी सेवामें संलग्न मनुष्योंको जगत्में सब प्रकारकी सम्पत्ति प्रदान करती हैं, उन बगलामुखी देवीका मैं प्रातःकाल चिन्तन करता हूँ' ॥ ३ ॥

श्लोकत्रयमिदं पुण्यं बगलायास्तु यः पठेत् ।
रिपुबाधाविनिर्मुक्तो लक्ष्मीस्थैर्यमवाप्नुयात् ॥ ४ ॥

'जो बगलादेवीकी स्तुतिसे सम्बद्ध उपर्युक्त तीन श्लोकोंका पाठ करता है, वह शत्रुओंकी बाधासे मुक्त हो सुस्थिर लक्ष्मीका भागी होता है' ॥ ३ ॥

इस प्रकार स्तुति करके प्रातःकालका सारा कृत्य देवीको समर्पित करे।

प्रातःकृत्य-समर्पण

प्रातःप्रभृति सायान्तं सायादि प्रातरन्ततः ।
यत्करोमि जगद्योने तदस्तु तव पूजनम् ॥ १ ॥

'जगत्को जन्म देनेवाली देवि ! मैं प्रातःकालसे लेकर सायंकालतक जो कुछ करता हूँ, वह सब तुम्हारा पूजनरूप हो' ॥ १ ॥

इस प्रकार समर्पणके पश्चात् देवीसे प्रार्थना करे।

प्रार्थना

त्रैलोक्यचैतन्यमयीश्वरेश्वरि
पीताम्बरे त्वच्चरणाज्ञयैव ।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं
संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥ १ ॥

'देवि पीताम्बरे ! तीनों लोकोंमें जो चैतन्य (चिच्छक्ति) है, वह तुम्हारा ही स्वरूप है। तुम ईश्वरकी भी अधीश्वरी हो। देवि ! मैं तुम्हारे चरणोंकी आज्ञासे ही प्रातःकाल उठकर तुम्हारा प्रिय करनेके उद्देश्यसे संसारयात्राका अनुसरण करूँगा' ॥ १ ॥

संसारयात्रामनुवर्तमानं
त्वदाज्ञया श्रीबगले परेशि ।
स्पर्द्धातिरस्कारकलिप्रमाद-
भयानि मां माभिभवन्तु मातः ॥ २ ॥

'परमेश्वरि बगलानने ! मातः ! तुम्हारी आज्ञासे संसार-यात्राका अनुवर्तन करते समय मुझे स्पर्धा, तिरस्कार, कलह, प्रमाद और भय अभिभूत न करें' ॥ २ ॥

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
त्वया परेशेशि हृदीच्छयाहं
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥ ३ ॥

'परमेश्वरेश्वरि ! मैं धर्मको जानता हूँ, किंतु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती है । मैं अधर्मको भी समझता हूँ, परंतु उससे निवृत्त नहीं हो पाता हूँ। तुम मेरे हृदयमें रहकर स्वेच्छासे जैसी प्रेरणा देती हो, मैं वैसा ही करता हूँ' ॥ ३ ॥

इस प्रकार देवीकी आज्ञा लेकर गुरुचरणोंमें अजपा-जप समर्पित करे।

अजपाजप-समर्पण

'अद्य मया पूर्वेद्युरहोरात्राचरितमुच्छ्वासनिःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपाजपं ब्रह्मरन्ध्रस्थसहस्रदलकमलकर्णिकावर्तिन्यै श्रीगुरुपादुकायै समर्पयामि नमः ।'

'आज मैं पहले दिनके दिन और रातमें किये गये इक्कीस हजार, छः सौ, उच्छ्वास-निःश्वासरूप अजपा-जपका ब्रह्मरन्ध्रके सहस्रदल-कमलकी कर्णिकामें बैठी हुई श्रीगुरुपादुकाको समर्पण करता हूँ । नमस्कार है।'

इस प्रकार गुरुको अजपा-जप समर्पित करके हाथ जोड़कर कहे—

'ॐ अद्य सूर्योदयमारभ्याहोरात्रेणोच्छ्वासनिःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपाजपमहं करिष्ये।'

'ॐ आज मैं सूर्योदयसे लेकर दिन-रातमें उच्छ्वास-निःश्वासरूप इक्कीस हजार छः सौ बार अजपा-जप करूँगा।'

ऐसा संकल्प करके अजपा-जप मन्त्र 'हंसः' का एक चौथाई माला (अर्थात् पचीस बार) जप करे तथा 'गुह्यातिगुह्य०' इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्रसे उस जपका समर्पण करके यह भावना करे कि 'मैं साक्षात् देवी-स्वरूप हूँ।'

अपनेमें देवीरूपताकी भावना

अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहमात्मानमिति चिन्तयेत्॥

'मैं साक्षात् देवीका स्वरूप हूँ, दूसरा नहीं हूँ, मैं ब्रह्मरूप ही हूँ, अतः शोकका भागी नहीं हूँ। मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ—इस प्रकार आत्माका चिन्तन करे।'

इस प्रकार भावना करके पृथिवीकी प्रार्थना करे।

पृथ्वी-प्रार्थना

ॐ समुद्रमेखले देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

'भगवान् विष्णुकी पत्नी पृथ्वीदेवि! समुद्र तुम्हारी करधनी है और पर्वतसमूह स्तनमण्डल हैं। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। मेरे चरणोंसे तुम्हारा स्पर्श हो रहा है, इस अपराधको क्षमा करो।'

इस प्रकार प्रार्थना करके श्वासके अनुसार दायाँ अथवा बायाँ पैर पृथ्वीपर रक्खे और घरसे बाहर जाय। फिर धर्मशास्त्रोक्त विधिसे शौचादि क्रियाका सम्पादन करके दन्त-धावन करे।

दन्तधावन

'ॐ क्लीं कामदेवाय सर्वजनप्रियाय नमः।'—इस मन्त्रसे दाँतोंको धोकर शुद्ध करे। फिर मूल-मन्त्रसे मुँह धोये।

स्नान

स्नानके दो प्रकार हैं—वैदिक तथा तान्त्रिक। नदी आदिमें वैदिक विधिके अनुसार स्नान करके तान्त्रिक स्नान करे। उसकी विधि इस प्रकार है। नाभितक गहरे जलमें खड़ा होकर संकल्प करे—'ओमद्येत्यादि देशकालौ संकीर्त्य श्रीबगलामुखीप्रीतये स्नानमहं करिष्ये।' इस तरह संकल्प करके मूलमन्त्रसे प्राणायाम करे। तत्पश्चात् ऋष्यादिन्यास, करन्यास और षडङ्गन्यास करके त्रिकोणगर्भित चतुरस्र-तीर्थकी कल्पना (भावना) करे। उसमें अङ्कुशमुद्राके द्वारा 'गङ्गे च यमुने चैव' इत्यादि मन्त्र पढ़कर गङ्गा आदि तीर्थोंका आवाहन करे। इसके बाद तीर्थशक्तिका ध्यान करना चाहिये।

तीर्थशक्ति-ध्यान

सर्वानन्दमयीमशेषदुरितध्वंसां मृगाङ्कप्रभां
त्र्यक्षां चोर्ध्वकरद्वयेन दधतीं पाशं सृणिं च क्रमात्।
दोर्भ्यां चामृतपूर्णहेमकलशं मुक्ताक्षमालां वरां
गङ्गासिन्धुसरिद्द्वयादिसहितां श्रीतीर्थशक्तिं भजे॥

'जो सम्पूर्णानन्दमयी, समस्त पापोंका नाश करनेवाली, चन्द्रमासे भी उत्कृष्ट कान्तिवाली तथा त्रिलोचना हैं; जो अपने ऊपरवाले दो हाथोंमें क्रमशः पाश और अङ्कुश धारण करती हैं तथा दूसरे दो हाथोंमें हेमकलश एवं सुन्दर मोती या स्फटिकाक्षकी माला लिये हैं; जिसके साथ गङ्गा और सिंधु—ये दो नदियाँ और अन्यान्य तीर्थ भी सेवाके लिये उपस्थित हैं; उस श्रीतीर्थशक्तिका मैं भजन करता हूँ।'

इस प्रकार ध्यान करके धेनुमुद्राके द्वारा तीर्थजलका अमृतीकरण करे। फिर योनिमुद्राका प्रदर्शन करके जल-में यन्त्रकी भावना करे और उसमें मूलमन्त्रसे देवीका आवाहन करके, मुख, कान आदि सात छिद्रोंको बंद कर मूलमन्त्रके स्मरण-चिन्तनपूर्वक तीन बार गोता लगावे—डूबे और निकले। फिर आचमन करके, मूलमन्त्रसे मृत्तिका तथा गोबर लेकर सब अङ्गोंमें लगावे। तदनन्तर कुम्भमुद्राद्वारा मूलमन्त्रके पाठपूर्वक, तीन बार सिरका अभिषेक करे। फिर पूर्ववत् उन्मज्जन और निमज्जन करे। इसके बाद आचमन करके तत्त्वमुद्राके प्रदर्शनपूर्वक मूलमन्त्रसे सात बार सिरका अभिषेक करे। (इति स्नान-विधि।)

इस प्रकार स्नान-कार्यका सम्पादन करके जलाशयसे

बाहर आ दो पीत वस्त्र धारण कर पीले रंगके ही आसनपर बैठे और विभूति (भस्म) धारण करे।

विभूतिधारण-विधि

अग्निहोत्रसे अथवा गार्हपत्य अग्निस्थानसे प्राप्त भस्म या विभूति ले आकर गायत्री-मन्त्र तथा बगलाके मूलमन्त्रसे उसपर जलका छींटा दे, फिर दोनों हाथोंसे रगड़कर उसे लेपन योग्य बनावे और 'अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, व्योमेति भस्म, सर्वंऽह वा भस्म। मन एतानि चक्षूंषि च भस्मानि।' इस मन्त्रको पढ़कर ललाट, ग्रीवा, बाहुमूल तथा हृदयमें लगावे। इस प्रकार विभूति धारण करके रुद्राक्षकी माला पहने*। इसके बाद संध्योपासना करे।

संध्योपासना

पहले वैदिकी संध्या करके फिर तान्त्रिकी संध्या करनी चाहिये।

तान्त्रिकी संध्या

'ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा। ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा। ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा।'—इन मन्त्रोंको पढ़ते हुए तीन बार आचमन करे। इसके बाद—

'ॐ मणिधारिणि वज्रिणि महाप्रतिसरे रक्ष रक्ष हुं फट् स्वाहा।'

इस मन्त्रको पढ़कर शिखा (चुटिया) बाँध ले। फिर पूर्ववत् मूलमन्त्रसे तिलक कर उसी मन्त्रसे तीन बार प्राणायाम करे। तदनन्तर यह संकल्प-वाक्य पढ़े—'(देश-कालौ संकीर्त्य ओमद्य श्रीबगलामुखीप्रीतये प्रातःसंध्यामहं करिष्ये।' इस तरह संकल्प करके निम्नाङ्कित रूपसे विनियोग पढ़े—

'ओमस्य श्रीबगलामुखीमहामन्त्रस्य नारद ऋषिः बृहती च्छन्दः श्रीबगलामुखी देवता ह्लीं बीजं स्वाहा शक्तिः मम सकलकामनासिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।'

ऋष्यादिन्यास

नारदऋषये नमः, शिरसि। बृहतीच्छन्दसे नमः, मुखे। बगलामुखीदेवतायै नमः, हृदि। ह्लीं बीजाय नमः, गुह्ये। स्वाहाशक्तये नमः, पादयोः।

करन्यास

ॐ ह्लीं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। बगलामुखि तर्जनीभ्यां नमः। सर्वदुष्टानां मध्यमाभ्यां नमः। वाचं मुखं पदं स्तम्भय अनामिकाभ्यां नमः। जिह्वां कीलय कीलय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। बुद्धिं विनाशय ह्लीं ओं करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

अङ्गन्यास

ॐ ह्लीं हृदयाय नमः। बगलामुखि शिरसे स्वाहा। सर्वदुष्टानां शिखायै वषट्। वाचं मुखं पदं स्तम्भय कवचाय हुम्। जिह्वां कीलय कीलय नेत्रत्रयाय वौषट्। बुद्धिं विनाशय ह्लीं ओं—अस्त्राय फट्।

प्रातःकालिक ध्यान

उद्यदादित्यसंकाशां पुस्तकाक्षकरां स्मरेत्।
कृष्णाजिनधरां ब्राह्मीं ध्यायेत्ताराङ्कितात्म्बरे॥

'प्रातःकाल ब्राह्म वेलामें, जब आकाशमें तारे दिखायी देते हों, गायत्री देवीका ब्रह्मशक्ति सरस्वती या सावित्रीके रूपमें ध्यान करना चाहिये। वे उगते हुए सूर्यके समान रक्तवर्णा और तेजस्विनी दिखायी देती हैं। उनके एक हाथमें पुस्तक और दूसरेमें अक्षमाला शोभा पाती है। वे देवी कृष्णमृगचर्म धारण किये हुए हैं।'

मध्याह्नकालिक ध्यान

शुक्लां शुक्लाम्बरधरां वृषासनकृताश्रयाम्।
त्रिनेत्रां वरदां पाशं शूलं च नृकरोटिकाम्॥
सूर्यमण्डलमध्यस्थां ध्यायेद् देवीं समभ्यसेत्॥

'मध्याह्नकालमें देवी सूर्यमण्डलके भीतर विराजमान हैं। उनकी अङ्गकान्ति श्वेत है। उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण कर

---

* रुद्राक्षके विषयमें कहा गया है—

रुद्राक्षान् कण्ठदेशे दशनपरिमितान् मस्तके विंशती द्वे
षट् षट् कर्णप्रदेशे करयुगलतले द्वादश द्वादशैव।
बाह्वोरिन्दोः कलाभिः पृथगिति च शिखासूत्रयोरेकमेकं
वक्षस्यष्टाधिकं यः कलयति शतकं स स्वयं नीलकण्ठः॥

अर्थात् 'कण्ठमें बत्तीस, मस्तकपर चालीस, दोनों कानोंमें छः-छः, दोनों हाथोंमें बारह-बारह, दोनों बाहोंमें पंद्रह-पंद्रह (या सोलह-सोलह) शिखा और सूत्रमें एक-एक तथा वक्षःस्थलमें एक सौ आठ रुद्राक्ष धारण करनेवाला पुरुष साक्षात् नीलकण्ठ शिव-रूप है।'

रखा है। वे वृषभकी पीठपर आरूढ़ हैं, उनके तीन नेत्र हैं। वे अपने चार हाथोंमें क्रमशः वरद मुद्रा, पाश, शूल और नरकपाल लिये हुए हैं। इस प्रकार शिवस्वरूपा देवीका ध्यान करे और इसका बारंबार अभ्यास बढ़ावे।'

सायंकालिक ध्यान

श्यामवर्णां चतुर्बाहुं शङ्खचक्रलसत्कराम्।
गदापद्मधरां देवीं सूर्यासनकृताश्रयाम्।
सायाह्ने वरदां देवीं गायत्रीं संस्मरेद्धृदि॥

'सायंकालमें वरदायिनी गायत्रीदेवीका विष्णुरूपमें मन-ही-मन चिन्तन करे। उनकी अङ्गकान्ति श्याम है। चार हाथ हैं। उन हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म शोभा पाते हैं तथा वे देवी सूर्यमण्डलमें आसन जमाये हुए हैं।'

इस प्रकार ध्यान करके अपने समक्ष किसी आधारपर जलपात्र स्थापित करे। उसमें पूर्ववत् तीर्थोंका आवाहन करके उसीमें मूलमन्त्रद्वारा इष्ट देवताका आवाहन करे। आवाहन आदिकी मुद्राएँ दिखावे। आवाहन, स्थापन, संनिरोधन, अवगुण्ठन, सम्मुखीकरण, प्रार्थना, अंग्र तथा धेनु—इन आठ मुद्राओंका प्रदर्शन करना चाहिये। गन्धादि पञ्च-उपचारोंसे पूजन करके मूलमन्त्रद्वारा कुशके जलसे सात बार प्रोक्षण करे। फिर मूलमन्त्रसे तीन बार अभिमन्त्रित करके, उस जलसे अष्टदल कमल लिखे। उसकी कर्णिकामें एकाक्षरी बीजमन्त्र (ह्लीं) लिखे। फिर आठ दलोंमें मूलमन्त्रके चार-चार अक्षर लिखकर आठवेंमें आठ अक्षर अङ्कित करे। तदनन्तर पूर्वोक्त एकाक्षर विद्या (ह्लीं) से उस चक्रको इक्कीस बार अभिमन्त्रित करके मार्जन करे।

मार्जन, अघमर्षण तथा अर्घ्यदान-विधि

मूलमन्त्रसे तीन बार देवताके मस्तकपर, दो बार भुजाओंपर, तीन बार हृदयमें, तीन बार नाभिमें तथा दो बार पैरोंपर जलसे छींटा दे। इस प्रकार मार्जन करके देवीका ध्यान करनेके पश्चात्, बायें हाथमें उस पात्रका जल लेकर दायें हाथसे ढक दे तथा 'हं यं रं वं लं'—इन बीजमन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके उस जलको बायीं नासिकासे भीतरकी ओर खींचनेकी भावना करे और भावनाद्वारा ही यह अनुभव करे कि 'इस जलसे मेरे शरीरके भीतरका सारा पाप धुल गया है। अतएव यह जल काला हो गया है और दाहिनी नासिकाके द्वारसे बाहर निकल आया है।' इस प्रकार चिन्तन करके अपने सामने एक वज्रमय पाषाण-खण्डकी भावना करे। फिर 'ॐ क्रः अस्त्राय फट्'—यह मन्त्र बोलकर उक्त जलको उस भावनामय वज्र-पाषाणपर दे मारे। तत्पश्चात् दोनों हाथ धोकर आचमन कर ले। इसके बाद गायत्री-मन्त्रका उच्चारण करके 'उद्यदादित्यमण्डलवर्तिन्यै श्रीबगलायै इदमर्घ्यं स्वाहा।'—इस मन्त्र-वाक्यसे तीन बार देवीको अर्घ्य-प्रदान करनेके पश्चात् 'ॐ ह्रीं हं सः सूर्याय एषोऽर्घः स्वाहा।' इस मन्त्रसे सूर्यदेवताके लिये तीन बार अर्घ्य दे। फिर मूलमन्त्रसे तीन बार आचमन करके उपस्थान करे।

उपस्थान-विधि

उपस्थान भी प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकालका पृथक्-पृथक् है। इन तीनों समयोंमें देवीके निर्दिष्ट रूपोंका चिन्तन करते हुए प्रणाम करना चाहिये।

प्रातः-उपस्थान

गम्भीरां च मदोन्मत्तां स्वर्णकान्तिसमप्रभाम्।
चतुर्भुजां त्रिनयनां कमलासनसंस्थिताम्॥
मुद्गरं दक्षिणे पाशं वामे जिह्वां च वज्रकम्।
पीताम्बरधरां सान्द्रदृढपीनपयोधराम्॥
पीतभूषणभूषाङ्गीं धृतचन्द्रार्धशेखराम्।
रत्नसिंहासनासीनामम्बां त्रैलोक्यसुन्दरीम्॥

'त्रिभुवनसुन्दरी माता बगलामुखी रत्नसिंहासनपर कमलके आसनपर बैठी हैं। उनका स्वभाव गम्भीर है। वे मदसे उन्मत्त दिखायी देती हैं। उनकी अङ्गकान्ति सुवर्णके समान पीत एवं उद्दीप्त है। उनके तीन नेत्र और चार भुजाएँ हैं। वे दाहिने भागके दो हाथोंमें मुद्गर और पाश तथा वामभागके दो हाथोंमें जिह्वा एवं वज्र लिये हुए हैं। पीत वस्त्र धारण किये हुए हैं। उनके स्तन स्निग्ध, सुपुष्ट एवं पीन हैं। उनके अङ्ग पीले रंगके आभूषणोंसे विभूषित हैं तथा मस्तकपर धारित अर्ध-चन्द्राकार मुकुट शोभा पाता है। (मैं इन भक्तवत्सला देवीको भक्तिभावसे प्रणाम करता हूँ)।'

मध्याह्न-उपस्थान

दुष्टस्तम्भनमुग्रविघ्नशमनं दारिद्र्यविच्छेदनं
भूभृद्भीशमनं चलन्मृगदृशां चेतःसमाकर्षणम्।

सौभाग्यैकनिकेतनं मम दृशोः कारुण्यपूर्णेक्षणे
शत्रोर्मारणमाविरस्तु पुरतो मातस्त्वदीयं वपुः ॥

'करुणापूर्ण नेत्रोंवाली माता बगलामुखी ! मेरे समक्ष तुम्हारा वह स्वरूप प्रकट हो, जो शत्रुओंका मारण, दुष्टोंका स्तम्भन, भयंकर विघ्नोंका निवारण, दरिद्रताका विनाश, राजभयका शमन और चपल मृगलोचनाओंके चित्तका आकर्षण करनेवाला तथा मेरे दोनों नेत्रोंके लिये सौभाग्यका एकमात्र निकेतन है। (माँ ! तुम्हारे चरणोंमें मेरा सादर प्रणाम है)।'

सायंकालका उपस्थान

मातर्भञ्जय मद्विपक्षवदनं जिह्वाञ्चलं कीलय
ब्राह्मीं मुद्रय मुद्रयाशु धिषणामग्रे गतिं स्तम्भय ।
शत्रूंश्चूर्णय चूर्णयाशु गदया गौराङ्गि पीताम्बरे
विघ्नौघं बगले हर प्रणमतां कारुण्यपूर्णेक्षणे ॥*

'करुणाभरे लोचनोंवाली, गौराङ्गी पीताम्बरामाता बगलामुखी ! मेरे शत्रुपक्षका मुखभञ्जन कर दो; उसके जिह्वाञ्चल (वागिन्द्रिय) को कीलित कर दो; वाणीको और बुद्धिको भी शीघ्र ही मुद्रित (कुण्ठित) कर दो, शत्रुवर्गकी अग्रगति (उन्नति या प्रगति) को रोक दो तथा मेरे उन शत्रुओंको अपनी गदासे चूर-चूर कर दो। माँ ! तुम्हें प्रणाम करनेवाले जो भक्तजन हैं, उनकी विघ्नराशिको हर लो।'

इस प्रकार समयानुसार उपस्थान करके बगला गायत्रीका जप करे।

बगला गायत्रीका विनियोग एवं मन्त्र

ॐ अस्य श्रीबगलागायत्रीमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, बगलानाम्नी चिन्मयशक्तिरूपिणी गायत्री देवता, ॐ बीजं, ह्लीं शक्तिः, विद्महे कीलकं गायत्रीजपे विनियोगः।

इस प्रकार विनियोग करके १०८ वार बगला-गायत्रीका जप करे। मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ ह्लीं ब्रह्मास्त्रायै विद्महे । स्तम्भनबाणायै धीमहि। तन्नो बगला प्रचोदयात् ।

तदनन्तर मूलमन्त्रका यथाशक्ति जप करे।

बगलाका मूलमन्त्र

ॐ ह्लीं बगलामुखि सर्वदुष्टानां वाचं मुखं पदं स्तम्भय जिह्वां कीलय कीलय बुद्धिं विनाशयह्लीं ॐ।

आपके पश्चात्—

गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादात् सुरेश्वरि॥

—इस मन्त्रसे देवीके बायें हाथमें तेजःस्वरूप जप समर्पित करके षडङ्गादि ध्यानान्त कर्म करे। फिर स्तुति एवं प्रणाम करके संहारमुद्राद्वारा देवीका सूर्यमण्डलमें विसर्जन करे।

(क्रमशः)



प्रार्थना

तृष्णातोये
मदनपवनोद्धूतमोहोर्मिमाले
दारावर्ते तनयसहजग्राहसङ्घाकुले च ।
संसाराख्ये महति जलधौ मज्जतां नस्त्रिधामन्
पादाम्भोजे वरद भवतो भक्तिभावं प्रदेहि ॥

हे सर्वव्यापी ! हे वरदाता ! तृष्णारूपी जल, कामरूपी आँधीसे उठी हुई मोहमयी तरङ्गमाला, स्त्रीरूप भँवर और भाई-पुत्ररूपी ग्राहोंसे भरे हुए इस संसाररूपी महान् समुद्रमें डूबते हुए हमलोगोंको अपने चरणारविन्दकी भक्ति दीजिये ।

* पाठान्तर—विघ्नौघं बगले हर प्रतिदिनं कल्याणि तुभ्यं नमः । 'कल्याणमयी बगले ! तुम प्रतिदिन मेरे विघ्न-समूहका हरण करो, तुम्हें नमस्कार है ।

उपासनाओंपर एक तुलनात्मक दृष्टि

(लेखक—श्रीमण्डन मिश्र)

विभिन्न देशोंमें, विभिन्न समयोंपर विभिन्न प्रकारकी उपासनाएँ चलती रही हैं। अपने ही यहाँ कितने ही प्रकारकी उपासनाएँ प्रचलित हैं। उनमें कुछ प्राचीन और कुछ नवीन हैं। उनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। उन सब-पर विचार करना सम्भव नहीं। यहाँ केवल कुछ प्रमुख विदेशी उपासनाओंपर ही एक दृष्टि डालनी है और यह देखना है कि अपने यहाँकी उपासनाओंमें क्या विशेषता है?

वर्तमान ईराक राज्यमें सुमेरु, बैबिलोनिया (बाबुल), असीरिया (असुर) प्राचीन राज्य थे। सुमेरुमें मुद्राओंपर बल दिया जाता था। इसकी सभ्यताको ईसासे ३५०० वर्ष पूर्वकी सभ्यता माना जाता है। इसमें तीन मुद्राएँ मुख्य थीं। उपासक अपनी उपासनाओंमें प्रायः इन्हीं मुद्राओंका प्रदर्शन करता था। बाबुलवालोंने प्रायः इन्हींका अनुकरण किया; किंतु इनमें झुकना या साष्टाङ्ग-प्रणामका समावेश नहीं था। देव-देवियोंके सम्बन्धमें कोई विशेष कल्पना भी नहीं थी।

मिस्रमें मन्दिरोंकी उपासना प्रारम्भ हुई। वहाँ देव-देवियोंकी संख्या कम न थी; पर प्रायः सबके लिये एक ही प्रकारकी उपासना चलती थी। सूर्यको मुख्य देवता माना जाता था। राजा अपनेको सूर्य-पुत्र ही मानता या और प्रधान पुरोहितके रूपमें काम करता था। इसीलिये वह पूज्य तथा आदरणीय समझा जाता था। मन्दिर पूर्वाभिमुख होते थे, जिससे उषाकालीन सूर्य-रश्मियोंका उनमें प्रवेश होता था। पूरे दिनमें तीन बार पूजन होता था। पूजनमें पहले स्नान कराया जाता था, फिर वस्त्र पहनाकर चन्दन-जैसी किसी वस्तुका लेप किया जाता था। फिर भोग प्रदान किया जाता था। इसके पहले स्थानकी शुद्धि होती थी। भोगके अन्तमें फिर स्थान शुद्ध किया जाता था और नृत्य तथा गान होता था। ईरानमें भी सूर्योपासना चलती थी। बादमें सूर्यके प्रतीकरूप अग्निका पूजन चलने लगा, जो पारसियोंमें अब भी प्रचलित है। यहूदियोंने मन्दिरोंके स्थानपर अपने उपासनागृह बनाये, जिन्हें 'सिनागाग' कहा जाता था। यहाँ एक पवित्र वेदी होती थी, जिसपर पशुबलि दी जाती थी। प्रार्थनाएँ तीन प्रकारकी होती थीं—पश्चात्ताप-सम्बन्धी, कृतज्ञता एवं प्रशंसा-सम्बन्धी और वर माँगनेकी। तीर्थयात्राको भी उपासना माना जाता था। चीनमें उपासनाके लिये 'ची' शब्दका प्रयोग किया जाता था। उसमें पशुबलि या मांसका भोग देनेकी विधि थी। कन्फ्यूशसके समयसे (६०० वर्ष पूर्व मसीह) पितृपूजनपर अधिक बल दिया जाने लगा। 'ता-ओ' धर्मके प्रचार होनेके पूर्व चीनमें बौद्धधर्मका प्रवेश हो चुका था, इसलिये उसीका प्रभाव दृष्टिगोचर होता था।

यूनानमें कई देव-देवियोंका पूजन चलता था। पशुओंमें मूषक पवित्र माना जाता था, कई वृक्षोंका भी पूजन होता था। इसी तरह कुछ पत्थरोंका भी। रोममें कुछ तो यूनानियोंका ही अनुकरण किया गया और कुछ नये प्रकार भी चलाये गये। कुमारी-पूजनकी प्रथाका प्रचार हुआ। एक देवीका नाम 'एन्ना रिना' बतलाया गया है, जो 'अन्नपूर्णा' जैसा जान पड़ता है। परंतु वहाँ धर्मपर भी राजनीतिका अङ्कुश था। किसी समय रोम एक विशाल साम्राज्य था और उसके रीति-रिवाजोंका प्रचार बढ़ा। ईसाई-धर्मके प्रचारसे पश्चिमका धार्मिक नक्शा ही बदल गया। एशियाके पश्चिममें हजरत मुहम्मदने एक नयी रूह फूँकी। अरबी मरुस्थलके कण बारूद-जैसे विस्फोटक बन गये।

यदि गम्भीरतापूर्वक इन सम्प्रदायों, विचारधाराओंपर दृष्टि डाली जाय तो एक बात स्पष्ट होती है और वह है—'भयकी प्रेरणा'। 'ईश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न है, वह किसी प्रकारका अनिष्ट कर सकता है, इसलिये उसकी उपासना करनी चाहिये।' यही भाव प्रायः सबमें दिखलायी पड़ता है। इसीलिये उन सब उपासनाओंमें 'तामस तत्व' का ही प्राधान्य है। 'ईश्वर सबमें है, हम उसे प्राप्त कर सकते हैं, इतना ही नहीं हम 'ईश्वर' हैं—'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा दावा करना 'कुफ्र' समझा जाता था। 'चढ़ा मन्सूर सूलीपर करके दावा अनल-हक्का।' परंतु अपने यहाँ उपासनाका आधार ही दूसरा है। ब्रह्म सर्वव्यापक है, उसका पूजन हम किसी वस्तुमें कर सकते हैं।

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
(याज्ञवल्क्य उपनिषद् ४)

इतना ही नहीं, भक्त जिस रूपमें भगवान्‌की उपासना करता है, भगवान्‌को वही रूप धारण करना पड़ता है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
(गीता ७ । २१)

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
(गीता ४ । ११)

'यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ।'
(भागवत ३ । ९ । ११)

'तं यथा यथोपासते तथैव भवति ।'
(मुद्गल उपनिषद् ३ । ३)

'विष्णुपुराण' (५–१७, १४–३४) के वचनोंमें इसे विस्तारपूर्वक बतलाया गया है ।'

'हम भक्तनके भक्त हमारे ।'

—सूरदासने इन शब्दोंमें यही भाव व्यक्त किया है। तुलसीदासजीने भी लिखा है—

'जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति तिन देखी तैसी ॥'

कहा तो यहाँतक जाता है कि वृन्दावनमें जब तुलसीदासजीने श्रीबिहारीजीके दर्शन किये, तब वे बोल उठे—

कहा कहउँ छबि आजु की भले बने हो नाथ ।
तुलसी मस्तक जब नवै धनुषबान लेउ हाथ ॥

तुलसीको दर्शन देनेके लिये नाथको वैसा ही करना पड़ा—

'मुरली मुकुट दुराय कै नाथ भए रघुनाथ'

पाश्चात्त्य विद्वान् यह भाव न समझकर प्रायः कह बैठते हैं—'हिंदू अन्धविश्वासी हैं। वे वृक्ष, पत्थर आदि पूजते हैं, वे बहुदेवपूजक हैं, उनमें एक ईश्वरकी भावना नहीं।' ऐसा कहकर वे अपनी अनभिज्ञताका ही परिचय देते हैं। हिंदू-धर्ममें ३३ कोटि देवता अवश्य माने गये हैं, पर उन सबमें एक 'इष्टदेव'की ही उपासना चलती है। यह 'इष्टदेव'की भावना बड़ी विचारपूर्ण है। सभी लोग समान नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्तिकी योग्यता, बुद्धि, सामर्थ्य भिन्न-भिन्न है। सबको एक ही स्तरपर लाना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। इस तरह प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि, अपनी योग्यता, अपने सामर्थ्यके अनुसार अपना इष्टदेव चुनता और उसकी उपासना करता है। शैव, शाक्त, वैष्णव आदि इसी प्रकारके सम्प्रदाय हैं। पर इस तरह वह एक ही ईश्वरका पूजन करता है। उसका विश्वास है कि यह पूजन सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् ब्रह्मका ही है—'सर्वदेव-नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ।'

एला डेनेल् नामक एक फ्रांसीसी विद्वान्‌की इस सम्बन्धमें एक बड़ी अच्छी पुस्तक निकली है, जिसका नाम है—'हिंदू पालीथीज्म'। ये विद्वान् हिंदी पाठकोंके सुपरिचित शिवशरणजी हैं, जिनके कितने ही हिंदी लेख साप्ताहिक 'सिद्धान्त' या मासिक 'सन्मार्ग'में निकलते रहे हैं। 'कल्याण'में भी लेख निकला है।

विभिन्न आधारोंपर उपासनाके कई भेद किये जा सकते हैं। गुणोंके आधारपर सात्त्विक, राजस और तामस। अपने यहाँ इन तीनों प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन मिलता है। इसी तरह बाह्य और आन्तर—ये दो प्रकार बतलाये गये हैं। वैयक्तिक और सामूहिक भेद भी किये जा सकते हैं। हजारों व्यक्ति एक साथ 'नमाज' पढ़ें, ऐसी सामूहिक उपासना तो अपने यहाँ नहीं है, पर सामूहिक रूपमें उपासनाका क्रम अवश्य है। गाँधीजीकी शिष्या मीरा बहन (मिस स्लेड) ने एक बार लिखा था कि 'जब ईसाई सामूहिक उपासना करते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि वे मातम मना रहे हैं या रो रहे हैं। जब मुसल्मान एक साथ नमाज पढ़ते हैं, तब जान पड़ता है कि कवायद हो रही है। पर हिंदू सामूहिक उपासनाएँ ऐसी लगती हैं कि सब मस्त हैं; कोई नाच रहा है, कोई गा रहा है, कोई उछल रहा है, कोई कूद रहा है, सब आनन्दविभोर हैं।'

उपासनाके वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र—ये तीन प्रकार भी बतलाये गये हैं।

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥
(भागवत ११ । २७ । ७)

इसी तरह नित्य, नैमित्तिक और काम्य—ये तीन भेद भी किये गये हैं।

'पूजा सा त्रिविधा नित्या काम्या नैमित्तिकी तथा ।'

(रुद्रयामलतन्त्र)

श्रीमद्भागवतमें विस्तारसे बतलाया गया है कि किसकी उपासनासे किस प्रकारकी इच्छा पूरी की जा सकती है (२।३।१-१०)। 'महानिर्वाणतन्त्र'के अनुसार उपासनाएँ सर्वोच्च स्तरबद्ध हैं, जिसमें एक ही ब्रह्म सबमें व्याप्त माना जाता है। मध्य स्तर ध्यानका है, उससे भी घटकर कीर्तन-जप आदिका है।

सारांश यह कि अनेक प्रकारकी उपासनाएँ हैं। 'कौन किसके लिये' इसे वह स्वयं और योग्य गुरु ही उचित रूपसे बतला सकता है।

निर्गुण मतके संतोंकी उपासना

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी)

'उपासना' शब्दका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ चाहे 'किसीका किसीके निकट बैठना' अथवा 'उसके समीपमें उपस्थित रहना' मात्र क्यों न समझा जा सकता हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इसका प्रयोग प्रायः किसी उपासकका अपने उपास्यकी आराधना करना या उसके सेवामें प्रवृत्त रहना-जैसे एक विशिष्ट अभिप्रायको ही सूचित करता आया है। तदनुसार इस सम्बन्धमें इतना और भी स्वीकार कर लिया जाता है कि वैसे इष्टदेवको स्वभावतः सगुण एवं साकार भी होना चाहिये, जिस कारण उसका मानो कोई प्रत्यक्ष शरीर होगा, कोई चित्र होगा अथवा उसका कोई पार्थिव प्रतीक मात्र भी हो सकता है। ऐसी दशामें ही वस्तुतः उसका दर्शन हो पाना, उसके षोडशोपचार-पूजन एवं अर्चनकी विधिका सम्पन्न होना अथवा उसके प्रति किसी प्रार्थनाका या विनयका प्रस्तुत किया जाना उचित कहला सकेगा तथा उक्त 'उपासना' शब्दकी सार्थकता भी सिद्ध की जा सकती है। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि यदि उक्त उपास्यकी साकारता प्रत्यक्ष न हो सके, उस दशामें कम-से-कम उसके गुणोंका कीर्तन-गान, उसकी लीलादिका श्रवण, उसका ध्यान या उसका स्मरण-चिन्तन किया जाना भी सम्भव हो सकता है। कहना न होगा कि इस प्रकारकी स्थितिमें उपास्यविषयक ऐसी किसी धारणासे सहायता ली जा सकती है जो उसके उपर्युक्त आकार एवं गुणपर आश्रित रहा करेगी तथा इसी कारण वैसी उपासना बाह्य होनेकी अपेक्षा, अधिक आन्तरिक रूप भी ग्रहण कर ले सकती है; किंतु इसके फलस्वरूप, उपासकका अपने उपास्यके साथ भेदभाव कभी लुप्त नहीं हो पाता और उसका अन्तिम लक्ष्य सदा इसके सांनिध्यमें बना रहना मात्र ही रहा करता है। सगुणवादी उपासक अपने उपास्यके साथ अभेदभावकी कदाचित् कभी इच्छा भी नहीं किया करता और न उसके प्रति इतने तादात्म्यका अनुभव ही करना चाहता है, जो उसके पार्थक्यमें किसी प्रकारकी बाधा डाल सके।

परंतु निर्गुण-मतके संतोंकी उपासना इससे बहुत कुछ भिन्न ठहरायी जा सकती है। ऐसे उपासक अपने उपास्यको सगुण एवं निर्गुण—इन दोनोंसे परे और नितान्त विलक्षण बतलाते हैं, जिस कारण उसके किसी प्रकार साकार अथवा गुण-सम्पन्न कहे जानेका कभी कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। निर्गुण-मतवादी संत कबीरके अनुसार उनका उपास्य राम—

रूप अरूप न आवै बोला। हरु गरू कछु जाइ न तोला॥
भूख न त्रिखा धूप नहिं छाँहीं। दुख सुख रहित रहै सब माँही॥

अबिगत अपरंपार ब्रह्म, बखानरूप सब ठाम।
बहु बिचार करि देखिया, कोई न सारिख राम॥

—जैसे शब्दोंद्वारा प्रकट किया जा सकता है; क्योंकि उनका यह भी कहना है कि—

भारी कहूँ तौ बहु डरूँ, हरुवा कहूँ तो झूठ।
मैं क्या जानूँ रामको, नैना कबहुँ न दीठ॥

ये तो इस सम्बन्धमें यहाँतक भी बतला देना चाहते हैं कि—

'वो है तैसा वो ही जानै। वो ही आहि आहि नहीं आनै॥'

अर्थात् वह किस प्रकारका है, इस बातका पता वास्तवमें उसीको हो सकता है; हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि 'एकमात्र वही है और उसीको सत्ता है' तथा अन्य सभी कुछ अधिक-से-अधिक उसके साथ एक और

अभिन्न ठहराये जा सकते हैं। अतएव इस दृष्टिसे देखनेपर हम इस विषयमें यह भी कह सकते हैं कि—

देवल माँहै देहुरी, तिल जेता बिस्तार।
माँहै पाती माँहि जल, माँहै पूजनहार॥

अर्थात् 'उस उपास्यदेवके ही भीतर उसका मन्दिर है, उसीमें उसपर चढ़ानेके लिये पत्र, पुष्प एवं जल है तथा उसका पूजन भी उसीमें है।' इतना ही नहीं, संत कबीर तो इतना और भी स्पष्ट शब्दोंमें कह देते हैं—

नींव बिहूनां देहुरा, देह बिहूना देव।
कबीर तहाँ बिलंबिया, करै अलखकी सेव॥

अर्थात् "जिस प्रकार उपर्युक्त मन्दिर किसी नींवपर आधारित नहीं, उसी प्रकार उक्त देव भी अशरीरी मात्र ही कहा जा सकता है और मैं वहीं बना रहकर उस 'अलख' या अनिर्वचनीयकी सेवामें निरत हूँ।"

इस प्रकार अपने उपास्य भगवान्का साकार एवं सगुण रूप स्वीकार कर उपासना करनेवाले सगुणवादी भक्तोंके लिये जहाँ, इसके फलस्वरूप उसके सम्बन्धमें कोई धारणा बनानेका प्रश्न कभी, उसके किसी रूपमें भी उपस्थित न पाये जानेपर ही उठा करता है, वहाँ वैसे उपास्यको निर्गुण, निराकार एवं अलक्ष्यतक मानकर चलनेवाले संत कबीर-जैसे संतोंके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि ये आरम्भसे ही उसके प्रति कोई अपनी अद्वयतापरक भावना तक बनाकर तदनुसार इस ओर आगे बढ़ें और उसे अपनेसे पृथक् न समझें। यदि वास्तवमें उपास्यकी ही एकमात्र सत्ता है तथा उसके भीतर अथवा उसके साथ तद्रूपभावमें ही किसी अन्य वस्तुकी भी कल्पना की जा सकती है, तो फिर उसमें तथा उसके उपासकमें कोई अन्तर कहाँ रह जाता है? इसी प्रकार उसका उपासक, ऐसी स्थितिमें स्वयं अपने पृथक् अस्तित्वकी भी कोई धारणा बना पानेमें जब समर्थ नहीं, तब यह उसके प्रति समर्पित करनेके लिये किसी पृथक् वस्तुका आयोजन कहाँसे कर सकता है, अथवा उसके सांनिध्यमें सदा बने रहनेके प्रयोजनका ही अनुभव कैसे कर सकता है? इसीलिये संत कबीरका कहना है—

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं है रह्या, सीस नवावौं काहि॥

ये अपने विषयमें इतना और भी कह देते हैं—

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखूँ तित तूँ॥

तथा—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागै है मेरा॥

संत कबीरकी यह मनोवृत्ति उनके परवर्ती संतोंमें भी किसी-न-किसी रूपमें पायी जाती है; जिस कारण साधारणतः ऐसा अनुमान भी कर लिया जा सकता है कि निर्गुण-मतके संतोंके विषयमें 'उपासक' शब्दका प्रयोग उतना उपयुक्त न होगा।

परंतु जहाँतक पता चलता है, उपलब्ध संत-साहित्यके आधारपर उपर्युक्त अनुमान उतना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता और यह कदाचित् उपासनाके उस व्यापक रूपकी ओर जानेसे हमारा ध्यान भी रोक लेता है जो बड़े महत्त्वका है। सगुणोपासकवाली सच्ची उपासनाकी दशामें उसके उपास्यसे सम्बन्धित किसी भौतिक पदार्थका प्रत्यक्ष रहना अनिवार्य नहीं हुआ करता; प्रत्युत, जैसा इसके पहले कहा जा चुका है, यह तत्सम्बन्धी गुणादिविषयक मानसिक धारणाओंके आधारपर भी सम्पन्न कर ली जा सकती है तथा उपास्यके उक्त प्रकार स्थूलसे सूक्ष्मतर बन जानेके कारण किसी साधककी तन्मयतामें कभी कोई कमी नहीं आ पाती; प्रत्युत आन्तरिक भावोंमें अपेक्षाकृत विशेष गम्भीरता आ जानेसे वह प्रगाढ़तर एवं अधिक आनन्दप्रद भी बन जा सकती है। इसी प्रकार दूसरी ओर अद्वैतभावकी अनुभूतिके विषयमें भी कहा जाता है कि उसके अनुसार 'सामरस्य'का आनन्द होनेपर द्वैतभाव भी 'अमृतोपम' रूप ग्रहण कर लिया करता है। फलतः इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं, यदि 'उपासकस्य कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना'-जैसी चेष्टा भी कर ली जाय। फिर तो वैसी दशामें किसी निर्गुणोपासकवाली दृष्टिसे भी उसका उपास्य 'अलख' अगम एवं अगोचर न रहकर, उसके लिये साकारता ग्रहण कर सकता है और उसमें अशेष गुणोंका आरोप भी कर लिया जा सकता है। उस समय अभेदभावके बने रहते हुए भी एक विलक्षण भेदसूचक भावना काम करने लग सकती है तथा इस प्रकार उपास्य एवं उपासकके बीच एक ऐसे धूपछाँही अन्तरका आ जाना भी सम्भव हो जाता है, जिसका अनुभव

स्वभावतः आनन्ददायक होता है। निर्गुणोपासक संत कबीरने अपनी इस प्रकारकी अनुभूतिका परिचय देते समय उसे विभिन्न प्रकारसे व्यक्त करनेकी चेष्टा की है। अपने उपास्य 'अनन्त' के 'तेज'का वर्णन करते समय वे बतलाते हैं कि मैंने उसे, उस अपने पतिके साथ 'जागकर' देखा है। उनका कहना है—

कबीर तेज अनंत का, मानो उगी सूरज सेणि।
पति सँगि जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि॥

तथा फिर वे उसे कभी-कभी 'रवि ससि बिना उजास' या उजालेके रूपमें ठहराते हैं; कभी 'चाँद बिहूनां चाँदणा' मात्र कहकर छोड़ देते हैं तथा अधिकतर उसके विषयमें इतना ही कहते हैं—

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिवे कूँ सोभा नहीं, देखा ही परवान॥

इसी प्रकार वे उसका अपनी श्रवणेन्द्रियद्वारा अनुभव करते-जैसे कहते हैं—

कबीर सबद सरीर में, बिन गुण बाजे ताँति।
बाहरि भीतरि रमि रह्या, तातें छूटि भराँति॥

फिर प्राणेन्द्रियके माध्यमसे भी उसे हृदयङ्गम करते समय बतलाते हैं—

पंजरि प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुखि कसतूरी महमही, बानी फूटी बास॥

तथा उसका अपनी रसनेन्द्रियद्वारा आस्वाद लेकर कहने लगते हैं—

पंखि उड़ानी गगन कौं, पिंड रहा परदेस।
पाणी पीया चंच बिनु, भूलि गया यहु देस॥

इसके सिवा ये उसके साथ प्रगाढ़ालिङ्गन करनेसे भी नहीं चूकते और कहते हैं—

अंक भरे भरि भेंटिया, मन नहिं बाँधै धीर।
कहै कबीर वह क्यों मिले, जब लग दोइ सरीर॥

इस प्रकारकी अनुभूतियोंका वर्णन संत दादू, संत नानक-जैसे अन्य अनेक बड़े-बड़े संतोंने भी प्रायः इसी ढंगकी शैलीमें किया है। इन सभीकी दृष्टिमें जिस प्रकार इनका अपना उपास्य परम-तत्त्व अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार उसकी विलक्षण अनुभूति भी वर्णनातीत है। तदनुसार ये कभी-कभी उसे कोई अपार महासागर ठहराते हुए स्वयं अपनेको उसमें खो गयी हुई किसी नन्हीं-सी बूँद-सा देखना चाहते हैं और इसी प्रकार अपनी वैसी स्थितिके वर्णनको गुड़ खाकर उसकी मिठासका परिचय देनेकी किसी गूँगेवाली चेष्टा-सी असफल भी ठहराते हैं। इन संतोंकी उपासनामें किसी साधनाके-जैसे अनवरत प्रयासवाले उतने अंशका पता नहीं चलता, जितनी अधिक मात्रामें यहाँपर किसी अनुपम उपलब्धिका ही समावेश किया गया मिलने लग जाता है। अतएव ये लोग अपना ध्यान स्वभावतः वैसी स्थितिको निरन्तर एक-सी बनाये रखनेकी ओर विशेषरूपमें देते दीख पड़ते हैं। ये इसके लिये अनन्य-चित्तपूर्वक प्रगाढ़ ध्यानमें निरत रहना चाहते हैं, जिससे इनका अतिशय मनोनिवेश बना रहे और उसका धारावाहिक प्रवाह भी किसी प्रकार विचलित न होने पावे। इसी कारण इनकी नामस्मरण-विषयक साधनाका रूप भी 'अजपा-जाप' बनकर 'साँसों साँस संभारने'की स्थितिमें ही आ जाता है। ये वास्तवमें उसके द्वारा अपना एक ऐसा 'अविलोप्य रूपान्तर' कर देना चाहते हैं, जिसे किसी सहजावस्थाकी ही दशामें प्राप्त किया जा सकता है।

सब जग अंधा

मैं केहि समुझावौं सब जग अंधा॥
इक-दुइ होय उन्हें समुझावौं, सबहिं भुलाना पेटके धंधा।
पानी कै घोड़ा पवन असवरवा, ढरकि परै जस ओसके बुंदा॥
गहिरी नदिया अगम बहै धरवा खेवनहाराके पड़िगा फंदा।
घरकी वस्तु नजर नहिं आवत, दियना बारिके ढूँढ़त अंधा॥
लागी आग सबै बन जरिगा, बिनु गुरु ज्ञान भटकिगा बंदा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो! इक दिन जाय लंगोटी झार बंदा॥

—कबीरजी

सूर्योपासना

(लेखक—पं० श्रीरामकिशोराचार्यजी, काव्यतीर्थ, साहित्यभूषण)

सृष्टिमें अनादिकालसे ही मानवलोक एवं सौरमण्डलका अपृथक् सम्बन्ध रहा है। सौरमण्डलमें सूर्य, चन्द्र, नवग्रह, त्रिदेव, मरुद्गण, साध्यदेव, सप्तर्षिगण एवं तैंतीस कोटि देवता निवास करते हैं। इन समस्त 'स्व'लोकीय देवोंका प्रतिनिधित्व सूर्य एवं चन्द्रद्वारा होता है।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी अचिन्त्य शक्तियोंके प्रमुख संचालक हैं—तेजनिधान भगवान् भुवन-भास्कर श्रीसूर्यनारायणदेव। इन्हीं सर्वतेजोमय प्रत्यक्ष देवकी उपासनासे समस्त मानव-लोकके देहधारी प्राणी तेज, भुक्ति एवं मुक्ति प्राप्त करते हैं। आशुतोष भगवान् भुवन-भास्करकी उपासनासे विमुख मानव-जीवन भार-स्वरूप है।

यद्यपि उपासनाकी अनेकानेक पद्धतियोंका प्रचलन है किंतु संध्योपासनाको श्रेष्ठ उपासना माना गया है। जहाँ उपासनाक्षेत्रमें श्रीरामकृष्णादि नामोंकी उपादेयता प्रदर्शित की गयी है, वहीं यज्ञोपवीती द्विजातियोंको 'अहरहः संध्यामुपासीत' (प्रतिदिन संध्या करो)की आज्ञा भी शास्त्रने दी है।

उपासना-सिद्धिका प्रथम सोपान है—प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकालीन संधिवेलामें, (भौमादिकी भाँति वक्र न होकर, सदैव ही प्रकाशित रहनेवाले) दिवानाथ, सौर-मण्डलाधीशको अर्घ्य प्रदान करके, इष्टदेवका ध्यान करना—इसीको संध्योपासनाकी संज्ञा दी गयी है। दिवसकी इन तीनों संधियोंमें संध्योपासना करनेवाले सभी द्विज लोक-परलोकमें अभीष्ट शुभ फलोंको प्राप्त करते हैं।

'संध्योपासना' ध्यान एवं योगकी वृद्धिकी क्रिया है। इसके नित्य नियमित करनेवालेको नित्य ही नव-जीवनकी प्राप्ति होती है। संध्याके मन्त्र अमृत-भोजन हैं, वीर्यवर्द्धक हैं, अन्तःकरणकी शुद्धिके परम साधन हैं। त्रिकाल-संध्या मानवसमाजके लिये चिर उपयोगी क्रिया है। इसके द्वारा समूचा जीवन आलोकित हो जाता है। वसिष्ठजीके मतानुसार तो सूतक एवं मृतकावस्थामें भी संध्या-कर्मका त्याग नहीं होना चाहिये। उस समय 'मानसिक संध्या' कर लेनी चाहिये। यथा—

'सूतके मृतके वापि संध्याकर्म न संत्यजेत्।'

अशक्तावस्थामें भी उपासना विहित है। अतः प्रत्येकको संध्या जीवनपर्यन्त निरालस्य होकर करनी चाहिये, यह शास्त्रों एवं आप्तोंकी आज्ञा है।

संध्याके तीनों कालोंमें ये छः कार्य वर्जित हैं। यथा—

स्वप्नमध्ययनं यानमुच्चारं भोजनं गतिम्।
उभयोः संध्ययोर्नित्यं मध्याह्ने तु विवर्जयेत्॥
(कूर्म० उत्तरार्द्ध १६। ७४)

'सोना, पढ़ना, सवारी करना, शौच-निवृत्ति, भोजन एवं चलना—नित्यकी दोनों संध्याओं और मध्याह्नमें नहीं होना चाहिये। उसी प्रकार यमस्मृतिमें भी चार निषेधाज्ञाओंका उल्लेख है। यथा—

चत्वारि खलु कर्माणि संध्याकाले विवर्जयेत्।
आहारं मैथुनं निद्रां स्वाध्यायं च चतुर्थकम्॥
(यमस्मृति ७)

उस समयके आहारसे रोग, मैथुनसे क्रूर गर्भ, निद्रासे श्री-का नाश एवं स्वाध्यायसे मृत्युतुल्य कष्ट प्राप्त होता है। अतः आज्ञा दी गयी कि संध्याकालमें भोजन, मैथुन, निद्रा एवं स्वाध्याय निषेध है। उस समय तो सांसारिकताका त्याग एवं प्रभु-की शरणागति ही सुखदायिनी है। संध्योपासनासे ही हमारे उपास्यकी तुष्टि होती है। सनातन आज्ञा है कि जब काल-संधि होती है, तब सत्त्व एवं रजका संघर्ष होता है। दैवी सम्पदा निर्बल होती है और आसुरी सम्पदा प्रबल। मानवके छहों सशक्त शत्रु सजग हो जाते हैं, मन्देह-असुरसमूह उस समय भगवान् सूर्यका पथ रोकनेका दुस्साहस करता है। उस समय द्विजातियों-की मन्त्रसिंचित त्रिअञ्जलिसे दानवोंका नाश चाहनेवाले सूर्यदेव अर्घ्यकी इच्छा करते हैं और इसे पाकर मनमें अति प्रसन्न होकर प्राणीमात्रको जीवन देते हैं।

यथा—

मन्देहदेहनाशार्थमुदयास्तमये रविः।
समीहते द्विजोत्सृष्टं मन्त्रतोयाञ्जलित्रयम्॥
गायत्रीमन्त्रतोयार्घ्यं दत्तं येनाञ्जलित्रयम्।
काले सवित्रे किं न स्यात्तेन दत्तं जगत्त्रयम्॥
किं किं न सविता सूते काले सम्यगुपासितः।
आयुरारोग्यमैश्वर्यं वसूनि च पशूनि च॥

मित्रपुत्रकलत्राणि क्षेत्राणि विविधानि च ।
भोगानष्टविधांश्चापि स्वर्गं चाप्यपवर्गकम् ॥
(स्कन्द० काशीखण्ड अ० ९ श्लो० ४५–४८)

तो फिर क्यों नहीं इन तीन अञ्जलि जलके बदलेमें समस्त भोग तथा मोक्ष-जैसे अलौकिक फलकी प्राप्ति करें । निश्चित समयकी उपासनासे दिव्य आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन, पशु, मित्र, पुत्र, स्त्री, अनेक इच्छित भोग, स्वर्ग ही नहीं, मोक्षतक भी अनायास सुलभ हो जाता है ।

यों देखनेमें यह साधारण-सी क्रिया है, किंतु आरोग्य और दैवी आयुकी दात्री, (यथा—आरोग्यं भास्करादिच्छेत्) इस विलक्षण क्रियासे उज्ज्वलता सहस्रधाराओंसे बना जाती है । इसको उपलब्धि और हितोंका ज्ञान तो क्रियात्मकत्वसे ही प्राप्त होगा । तीनों कालोंमें नैतिक, सामाजिक, धार्मिक उत्थानके इच्छुकोंको यह संध्या नित्य और नियमितरूपसे करनी चाहिये । अहोरात्रके विभाग-कर्त्ता, तेजोराशि भगवान् भास्करकी सांनिध्यतामें किये गये शुभ कर्म सद्यः फलप्रदाता हैं । भास्करसे तेजकी प्राप्ति होती है और तेज ही वस्तुतः पुरुष है ।

शास्त्रोंकी आज्ञा है कि सर्वसिद्धियोंकी दात्री भगवती गायत्री देवीके उपासक द्विजाति-संस्कारजनित जन भगवान् भास्करकी अर्घ्याञ्जलिमें ही आदित्यमण्डल-स्थित कौशेय-वसना श्वेत-पद्मवर्णा तेजःपुञ्ज माता गायत्रीके सुमुग्ध दर्शन किया करते हैं, किंतु उपनयन-संस्कारशून्य अनधिकारी भी निम्न मन्त्रके द्वारा सूर्य भगवान्‌की अर्घ्य-उपासनाके अधिकारी होते हैं । यथा—

एहि सूर्यसहस्रांशो तेजोराशि जगत्पते ।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं दिवाकर ॥

आजका समय एक महान् धार्मिक क्रान्तिका समय है, अतः प्रत्येक द्विजपुरुषको त्रिकाल-संध्या करनी चाहिये । युवकोंमें इस क्रियाका प्रचार महान् बलका स्थायित्व करेगा, धर्मास्था बढ़ेगी एवं मङ्गल होगा ।



सौरोपासना

(लेखक—श्रीशैलेशजी ब्रह्मचारी)

भारतके विभिन्न धर्मयुगोंका इतिहास अवलोकन करनेपर यह स्पष्टतः ही देखनेमें आता है कि भारतकी विभिन्न उपासनाने अपने-अपने क्षेत्रमें एक विशिष्ट स्थान अधिकृत कर लिया है । विशेषतः हिंदू-जातिमें आदिकालसे ही जितनी प्रकारकी उपासना-विधि और प्रथाएँ प्रचलित हैं, उनमें सूर्योपासनाका एक विशिष्ट स्थान है । केवल भारतवर्ष ही नहीं, समस्त मानव-जातिका आदिकालका इतिहास देखनेपर पाया जाता है कि मानव-जातिकी विचारधाराके आदिकालसे ही सूर्य-पूजा प्रचलित है । दृष्टान्तस्वरूप हम ग्रीक देशोंके प्राचीनतम साहित्य और दार्शनिक विचारधारा, अथवा सुदूर मेक्सिको देशके दार्शनिक इतिहासका उल्लेख कर सकते हैं । भारतके प्राचीन साहित्य और धर्म तो धर्मविरोध भाषामें प्राचीनकालसे ही सूर्योपासनाके अस्तित्वके सम्बन्धमें अकाट्य प्रमाण देते हैं । केवल इतना ही नहीं, यहाँ तो ऐसा है कि प्राचीन ग्रीक लोगोंकी और भारतवर्षकी इस उपासनाकी मिलती-जुलती-सी पद्धति मानो एकजातीय चिन्तन-धारासे प्रसूत हुई हो । हमारी उषस् देवीकी सूर्य-परिक्रमणकी कथा तथा ग्रीक लोगोंके प्राचीन ग्रन्थों- (पुराणोल्लिखित) के एपोलो और डेयानाके उपाख्यान मानो एक ही तथ्यके विभिन्न स्वरूप हैं । दोनों देशोंकी विवाह-पद्धति इस उपासनाके साथ जिस प्रकार दृढ़रूपसे सम्बन्धित है, उससे यह धारणा और भी बद्धमूल हो जाती है । दोनों देशोंके विवाहमें आज भी सूर्यमन्त्र उच्चारित होता है । 'सवितृ' शब्दका अर्थ विश्वप्रकाशक है, अर्थात् सृष्टिका मूलकारण ।

मेक्सिको देशमें भी आदिसभ्यताके युगसे ही उनकी प्रधान उपासनामें उपास्य सूर्यनारायण ही हैं । उनकी इस उपासनामें एक और उल्लेखनीय बात यह है कि उनकी यह उपासना लिङ्ग-उपासनाके साथ अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें सम्बद्ध है, अर्थात् मेक्सिको देशमें सब लोग मानते हैं कि विश्वमें सृजनशक्तिका मूल 'सूर्य' हैं । यहाँतक कि उस देशके पण्डितोंका एक समूह यह मानता है कि सूर्यकी मूर्तिके दोनों ओर जो दो पद्म विधृत हैं, वह पुरुषत्व और स्त्रीत्वके निदर्शनके सिवा और कुछ नहीं हैं । इधर भारतवर्षमें भी विचारधारा बहुत कुछ ऐसी ही है । यहाँ भी पण्डितोंका एक समूह कहता है कि सूर्योपासना और शैवोपासना एक दूसरेमें ओत

प्रोत है। उनके मतसे शैव-उपासनासे पृथक्‌रूपमें सूर्योपासना-का कोई अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि शिवपूजाका विशिष्ट अङ्ग है—अष्टमूर्तिकी पूजा और उनमेंसे एक मूर्ति है—सूर्य। निश्चय ही यह युक्ति कहाँतक यथार्थ है, यह विचारणीय है। परंतु यह तो सभी जानते हैं कि कालक्रमसे शैवोपासनाकी प्रधानताके परिणामस्वरूप ही भारतीय सौरोपासना अपने स्वातन्त्र्यसे च्युत हुई है। अतएव यह माननेमें आपत्ति नहीं कि दोनों देशोंकी विचारधाराके स्रोत एक ही रूपमें प्रवाहित हुए थे।

अस्तु, अब पुरातत्त्वकी दृष्टिसे विचार करें कि हमारे देशमें सौरोपासनाने उस आदियुगसे विशिष्ट स्थान ग्रहण किया था या नहीं। पुरातत्त्वज्ञोंकी खोजसे ज्ञात होता है—

(१) बुद्धगयाके स्तूप—फलकमें भारतकी आदिकालीन सूर्यमूर्ति है। उस आदियुगमें सूर्यपूजाका बहुल प्रचार था, यह भी उस फलककी लिपिसे ज्ञात होता है।

(२) एलोरा-गुफाकी सूर्यमूर्ति इतिहासप्रसिद्ध है। तत्कालीन शिलालेख भी उस समयकी सौर-उपासनाकी साक्षी देते हैं।

(३) ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें दशपुरमें जो एक सूर्यमन्दिरकी स्थापना हुई थी, उसका प्रमाण है—बन्धुवर्मनकी मन्दसोरकी प्राचीन लिपि। कुमारबन्धु गुप्तकी प्राचीन लिपिमें भी इसका उल्लेख मिलता है।

४) ईसाकी छठी शताब्दीमें सूर्योपासनाके अस्तित्व-का प्रमाण मिलता है—ग्वालियरकी लिपिमें। इस लिपिमें उल्लेख है कि मिहिरकुलके पंद्रहवें राजाके राज्यत्वमें एक सूर्यमन्दिर स्थापित हुआ था।

(५) ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीमें भारतमें सूर्यमन्दिरों-की अधिकता थी, इसका भी प्रमाण कुलादित्यके ताम्रपट्टसे मिलता है।

(६) ईसाकी आठवीं शताब्दीमें ललितादित्यका 'मार्तण्ड-प्रासाद' उस युगकी सौरोपासनाको प्रमाणित करता है।

(७) परवर्तीकालमें भी यह धारा अविच्छिन्नभावसे बहती आयी है। इसका एक प्रमाण यह है कि केशवसेन (सेनवंशीय राजा) अपनेको 'परम सौर' कहते थे। पालवंश-के शासनकालकी सूर्यमूर्ति भी हमने देखी है।

तत्पश्चात् हमारे प्राचीन धार्मिक और पौराणिक ग्रन्थ, जैसे वेद, रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराण आते हैं, इनसे भी पता चलता है कि उन सब युगोंमें भी भारतमें सौर-उपासना अपनी महिमामें प्रतिष्ठित थी।

वेदोंमें 'मित्र' शब्द सूर्यका ही पर्यायवाची है। 'शतपथ ब्राह्मण'से ज्ञात होता है कि आदित्यके द्वादश नाम हमारे द्वादश मासोंके साथ सम्बन्धित हैं तथा तत्तत् नामसे तत्तत् मासमें वे उपासित होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद्के हिरण्मय पुरुष भी वही हैं।

महाभारतके युगपर दृष्टि डालिये। वीरश्रेष्ठ कर्ण सूर्यनारायणके ही पुत्र थे, अर्थात् कुन्तीदेवीने सूर्योपासनाके फलस्वरूप कर्णको प्राप्त किया था। वनमें युधिष्ठिरने सूर्यो-पासना करके सूर्यसे अक्षय पात्र प्राप्त किया था। रामायणसे भी ज्ञात होता है कि अगस्त्य मुनिने श्रीरामचन्द्रजीको आदित्यकी उपासनाके विषयमें कहा था और 'आदित्य-हृदय'का पाठ करके सूर्यनारायणको प्रसन्न करनेका उपदेश दिया था। अतएव सूर्योपासना भारतवर्षकी अति प्राचीन उपासना है।

पहले कह चुके हैं कि कालक्रमसे सौरोपासना अपने स्वातन्त्र्यसे च्युत हो गयी है। स्वातन्त्र्यसे च्युत तो अवश्य हो गयी है, परंतु लुप्त नहीं हुई है। इसके भी प्रमाण हैं। विभिन्न धर्मोंके आराध्यमें उसका अस्तित्व झलकता रहता है। जैसे, दृष्टान्तस्वरूप नारायणकी मूर्त्तिको लीजिये। उसमें उनके हस्त-स्थित आयुधोंमें एक पद्म भी है। यह पद्म है क्या? पण्डित लोगोंने धर्मकी तुलनात्मक आलोचना करके निर्धारित किया है कि यह पद्म सूर्यमुख है। फिर श्रीकृष्ण चक्रधारी हैं। श्रीकृष्ण सूर्यशक्ति-सम्पन्न हैं, उसीका प्रतीक यह 'चक्र' है। नारायणके ध्यानमें भी 'सवितृमण्डलमध्यवर्ती' का उल्लेख मिलता है।

तत्पश्चात् जैन और बौद्धधर्मपर दृष्टिपात करें। बौद्ध-जातकमें (जो बुद्ध भगवान्‌के पूर्व-पूर्व जन्मोंके इतिहास-के रूपमें वर्णित है) सूर्योपासनाका उल्लेख मिलता है। कुछ जातक-आख्यायिकाएँ हैं। जैन-आगममें सूर्य नवग्रहोंमें एक माने गये हैं तथा उनकी स्वतन्त्र विशिष्टता भी है। जैन-मतके अनुसार देव-समूहको इन्द्र, आत्मरक्ष, प्रकीर्णक आदि स्तरोंमें विभक्त किया गया है। उनमें सर्वोच्च स्तर, अर्थात् सर्वोच्च स्थान सूर्यका है। वे इन्द्र-कोटिके देवाधीश हैं।

अतएव भारतके तथा विभिन्न देशोंके धर्मोंमें सूर्योपासना-ने एक विशिष्ट स्थान अधिकृत किया है, यह निःसंदेह स्वीकार करने योग्य है।

पञ्चदेवोंकी उपासना

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य)

वैदिक धर्मके अनुसार देवताओंकी संख्या गणनातीत है। एक, तीन, पाँच तथा तैंतीस देवोंकी गिनतीको अर्थवाद मानना चाहिये। इन संख्याओंद्वारा देवगणना सीमित नहीं मानी जा सकती। इस नाना-जन्तु-सम्पन्न विचित्र संसारका नियमनकर्ता कोई एक सर्वशक्तिमान् पुरुष है, जो नाना नामोंके द्वारा अभिहित किया जाता है। वैदिक-धर्ममें निर्दिष्ट अनेक देवताओंका परीक्षण सामान्य जनके ही लिये बहुदेवत्ववादकी कल्पनाको साकार बनाता है। वस्तुतस्तु परमात्मा एक ही है और उस शक्तिशालीकी रश्मियोंसे आविर्भूत होनेवाले अनेक देवगण उसीके मानो अङ्ग हैं। 'निरुक्त'का यह कथन नितान्त प्रख्यात है—

'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'

(निरुक्त ७। १। ४)

'एक ही आत्माकी स्तुति अनेक रूपोंमें की जाती है। कारण है—महाभाग्यत्व-विशिष्ट शक्तिसम्पन्नता। ऋग्वेदके 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' (३। ५३। ८) मन्त्रमें इसी तथ्यका स्पष्ट संकेत उपलब्ध होता है।

निरुक्त तथा उसकी व्याख्याके अनुशीलनसे स्पष्ट हो जाता है कि नाना देवताओंका परमात्मासे किसी प्रकारका भेद नहीं है। मूल तत्त्व एक होनेपर भी यहाँ नामोंमें ही केवल अन्तर है। किसी एक विशेष गुणको लक्ष्य कर तत्तत् नाम दिये गये हैं, वास्तवमें कोई अन्तर नहीं है।

निरुक्तका कथन

अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो
वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः॥
तासां महाभाग्याद् एकैकस्या अपि
बहूनि नामधेयानि भवन्ति॥

(निरुक्त ७। ५। २-३)

इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय धर्म नितान्त व्यापक है। वह यदि किसी एक देवताकी आराधनाका उपदेश देता है, तो वह अधिकारी-भेद ही ऐसा करता है। वह जानता है कि वह देव मूलभूत देवतासे नाम्ना ही भिन्न है, तत्त्वतः नहीं। यह वैदिक धर्मकी महती विशिष्टता है जो इसे सब मतोंमें मूर्धन्य स्थान प्राप्त करानेमें पर्याप्त मानी जा सकती है।

देवकी संख्याके विषयमें विभिन्न मत हैं। द्योतनशील स्वर्गनिवासी, परोक्षप्रिय देवोंकी संख्या कितनी है? वह कौन मूल देवता है, जिसकी छटा अवान्तर देवोंमें दृष्टिगोचर होती है? इस विषयमें 'बृहद् देवता' का मत है कि वह सूर्य है। शौनक सूर्यको मूल, प्रधानदेवता मानते हैं। ऋग्वेदका मन्त्र ही इसका संकेत दे रहा है—

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।'

'जंगम तथा स्थावर—सभी प्राणियोंका आत्मा सूर्य ही है। फलतः आत्मस्थानीय सूर्यको प्रधान देव मानना वैदिक तथ्य है'। स्थानभेदसे त्रिविध देवकी कल्पना निरुक्तके प्रख्यात कथन-पर आश्रित है—अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। तासां माहाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति (निरुक्त ७। २। २-३)। पौराणिक त्रिदेवका आधार विनियोग-भिन्नता है—सम्पाद्यमान कार्यके पार्थक्यके कारण ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश—यह देवताका त्रिविध विभाजन है, जिनका कार्य क्रमशः सर्जन, पालन तथा संहरण है। इस प्रख्यात तथ्यके पल्लवनकी आवश्यकता नहीं है।

अब हम पञ्चदेवोंके विषयमें कतिपय शास्त्रीय विवरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

पञ्चदेवोंमें पाँचों देवोंका नाम क्रमसे इस प्रकार है—गणेश, देवी, शंकर, विष्णु तथा सूर्य। इसके पोषक कतिपय पुराणोंके प्रमाण हैं—

आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम्।
पञ्चदैवतमित्युक्तं सर्वकर्मसु पूजयेत्॥

(शब्दकल्पद्रुममें उद्धृत)

---

१. 'सूर्यतापिनी' उपनिषद्में इसीलिये सूर्यको 'सर्वदेवमय' स्वीकार किया गया है—

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एष हि भास्करः।
त्रिमूर्त्यात्मा त्रिवेदात्मा सर्वदेवमयो रविः॥ (१। ६)

शिवे विष्णौ तथा शक्तौ सूर्ये मयि नराधिप।
याभेदबुद्धिर्योगः स सम्यग् योगतमो मतः॥
(गणेशपुराण अ० २०)

गणेशपुराणके इस श्लोकमें 'मयि'से तात्पर्य गणेशसे है। फलतः यह पुराण शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य तथा गणेशको पञ्चदेवोंमें निर्दिष्ट करता है तथा उनमें होनेवाली अभेद-बुद्धिको वह 'योग' बतलाता है। विभिन्न पुराण एक विशिष्ट देवताकी प्रशंसामें व्यापृत होनेपर अन्य देवोंकी निन्दा मुख्यतः करनेसे सदा पराङ्मुख रहते हैं। इस विषयमें मीमांसाशास्त्रका यह तर्क सर्वथा मान्य है कि निन्दा किसीकी निन्दाके अभिप्रायसे प्रवृत्त नहीं होती, प्रत्युत अभिधेयकी प्रशंसामें ही उसका तात्पर्य होता है। पुराणोंमें यत्र-तत्र परिदृश्यमान निन्दाका यही तात्पर्य है, अन्यथा पुराण इन पञ्चदेवोंकी अभिन्नताके पूर्ण पक्षपाती हैं और यह होना स्वाभाविक ही है। एक ही परमात्माके रूप होनेसे उनमें वास्तव पार्थक्यकी कल्पना तो मूढग्राह ही है। इन देवोंको मूलतः भिन्न-भिन्न मानना प्रज्ञाविपर्यय नहीं, तो क्या है?

हरिहरयोः प्रकृतिरेका प्रत्ययभेदेन रूपभेदोऽयम्।
एकस्यैव नटस्यानेकविधा भूमिकाभेदात्॥

"हरि (विष्णु) तथा हर (शिव)—दोनोंकी प्रकृति एक ही होती है। प्रत्ययके भेद होनेसे रूपका भेद है। इन दोनों शब्दोंमें प्रकृति (धातु) की एकता विद्यमान है (अर्थात् इन दोनों शब्दोंमें एक ही 'हृ' धातु वर्तमान है) केवल विभिन्न प्रत्ययके योगसे एक ओर निष्पन्न होता है—'हरि' शब्द और दूसरी ओर बनता है—'हर' शब्द। नटकी नाना प्रकारकी भूमिकाके समान ही यह व्यापार संचारित होता है।

शिवपुराणमें शिवका वचन

ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्।
उभयोरन्तरं यो वै न जानाति मतो मम॥
(शिवपुराण रुद्र० सृष्टि० ९।५५-५६)

ऐसे मौलिक वचनोंकी सत्ता रहनेपर विष्णु तथा शिवमें वास्तव भेद माननेकी प्रवृत्ति दुराग्रह—हठधर्मिता नहीं है, तो क्या है?

पञ्चदेवोंका पञ्चभूतोंके साथ सम्बन्ध

पञ्चदेवोंका सम्बन्ध पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश—पञ्चभूतोंके साथ सिद्ध करनेमें यह श्लोक पर्याप्त संकेत दे रहा है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥

'विष्णु आकाशके स्वामी हैं। महेश्वरी अग्नितत्त्वकी स्वामिनी हैं, सूर्य वायुके, शिव पृथ्वीके तथा गणेश जलके अधिपति देवता हैं।' इस तथ्यके ऊपर ही इन देवोंकी उपासनामें भी पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। यह विषय गम्भीरतासे मननीय तथा गवेषणीय है। यहाँ एक-दो संकेत ही दिया जा सकता है। शिवका पृथ्वी-तत्त्वसे मौलिक आधिपत्य सम्बन्ध होनेके कारण शिवके पार्थिव पूजनका विधान है। मिट्टीके लौंदेको लिङ्गाकृति देकर नाना उपचारोंसे उसकी पूजाका विधान शास्त्रसम्मत है। शिव अपने पार्थिव रूपकी अर्चनासे जितने प्रसन्न होते हैं, उतने अन्य रूपकी उपासनासे नहीं। विष्णुके आकाशाधिप होनेसे उनकी शब्दोंद्वारा स्तुतिका विधान शास्त्रोंकी दृष्टिमें विशेष उपादेय माना जाता है। शब्द आकाशका जो गुण ठहरा। होमकी आवश्यकता तो प्रत्येक देवके पूजानुष्ठानके लिये होती है; परंतु देवीकी उपासनामें उसका विशेष स्थान है। हवन किया जाता है—अग्निकुण्डमें और अग्निकी स्वामिनी होनेसे अग्निकुण्डमें विहित हवनसे देवीकी तृप्ति होना नितान्त औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है।

पञ्चदेवोंका निश्चित क्रम इस प्रकार है—गणेश, शक्ति, शिव, विष्णु तथा सूर्य। इस क्रमका भी औचित्य तर्ककी सहायतासे समझा जा सकता है। सृष्टिका आरम्भ किस तत्त्वके सर्जनसे हुआ? इसके विषयमें विशेष मतद्वैविध्य दृष्टिगोचर नहीं होता। वैदिक-प्रक्रियाके अनुसार, जिसका अनुसरण मनुस्मृति आदि स्मृतियाँ करती आती हैं, जलसे ही सबसे प्रथम सृष्टिका उदय सम्पन्न हुआ। 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।'—मनुका प्रख्यात कथन इसी तथ्यका द्योतक है। जलके देवता ठहरे गणेश। इस लिये यावत् अनुष्ठानोंके आरम्भमें गणेशका पूजन नितरां औचित्य धारण करता है और इन पञ्चदेवोंकी गणनामें उनका नाम प्रथम होना यथार्थ है। अग्नितत्त्वकी अध्यक्षभूता शक्तिका क्रम तत्त्वक्रमानुसार तथा गणेशकी आदरणीया माता होनेके हेतु द्वितीय स्थानमें आना ठीक ही है। पृथ्वी जल तथा अग्नि—इन उभयविध तत्त्वोंकी आधार-भूमि है। इस पृथ्वी-तत्त्वके अध्यक्ष होनेसे तथा गणेशके

सिता होनेसे माताके अनन्तर शिवके नामका उल्लेख अक्रम नहीं कहा जा सकता। इन तीनोंकी सृष्टिके अनन्तर शब्दकी आवश्यकता पड़ती है। 'शब्दगुणकः आकाशः'। शब्द-गुणवाले आकाशके देवता विष्णुका आनन्तर्य स्वाभाविक रूपसे ठहरता है और सबके अन्तमें सूर्यकी प्रतिष्ठा है। होनी ही चाहिये; क्योंकि सूर्य जगत् तथा स्थावरके आत्मा ठहरे। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।' आत्मा होता है चरम पदार्थ—सूक्ष्मतम द्रव्य। फलतः उसके साथ सम्बद्ध देवताका स्थान सबसे अन्तिम होनेसे कोई आश्चर्य नहीं होता। इस प्रकार इन पञ्चदेवोंके शास्त्रनिर्दिष्ट क्रमकी यौक्तिकता सिद्ध की जा सकती है।

रोगनिवारणार्थ देवोपासना

यह तो निश्चित है कि प्राचीन आयुर्वेद-शास्त्रके आचार्योंने पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश—इन पञ्चतत्त्वोंमेंसे प्रत्येकके कुपित होनेपर नाना रोगोंके उत्पन्न होनेका विवरण दिया है। चरक तथा सुश्रुतने अपने ग्रन्थोंमें कोपजन्य विकारोंका उल्लेख बड़े समारम्भ तथा अनुभवके आधारपर किया है। रोगोंके निवारणके निमित्त देवोंकी उपासनामें भी पूर्वनिर्दिष्ट तथ्यको ध्यानसे ओझल नहीं किया गया है। किस रोगके प्रशमनके निमित्त किस देवताकी आराधना करनी चाहिये? यह विषय स्वयं गम्भीर है तथा स्वतन्त्र विवरणकी अपेक्षा रखता है। यहाँ इस विषयका सामान्य संकेत करना ही पर्याप्त होगा।

दोषोंमें वायुका दोष प्रबल माना जाता है। कारण, कफ तथा पित्त दोनों ही पंगु होते हैं। वायुके द्वारा नीयमान होनेपर ही तत्तत् स्थानोंमें वे वेगसे जा पहुँचते हैं। वायुकी प्रबलताके कारणोंका निर्देश इस प्रख्यात श्लोकमें किया गया है—

> विभुत्वादाशुकारित्वाद् बलित्वादन्यकोपनात्।
> स्वातन्त्र्याद् बहुदोषत्वाद् दोषाणां प्रबलोऽनिलः॥

चरक-संहिता (२० । १०) के अनुसार वायुके विकृत होनेपर शरीरमें रुक्षता, शैत्य, लाघव, विशालता आदि दोषोंका उद्भव होता है। इन रोगोंकी निवृत्तिके लिये सूर्यकी आराधना उचित मानी गयी है; क्योंकि सूर्यका आधिपत्य-सम्बन्धसे वायुके साथ पूर्ण सम्पर्क है।

बलके विकृत होनेपर शरीरमें नाना रोगोंके उदय होनेका पूर्ण संकेत वैद्यक-ग्रन्थोंमें मिलता है। (चरक-संहिता १५ । २६; सुश्रुत-संहिता १४ । १३; माधव-निदान अतिसारनिरूपण १ । ३) इनकी निवृत्तिके लिये गणेशकी उपासनाका विधान शास्त्रसम्मत है। ध्यान देनेकी बात है कि पुराणोंमें कुष्ठरोगकी निवृत्तिके लिये ही मुख्यतः सूर्यकी उपासनाका आरम्भ बतलाया जाता है। भविष्यपुराणके ब्रह्मपर्वमें दुर्वासाके शापसे कृष्णपुत्र साम्बके कुष्ठरोगसे आक्रान्त होनेकी प्रख्यात कथा है। श्रीकृष्णचन्द्रके आग्रह करनेपर गरुड़ने शाकद्वीपसे वैद्यविद्याके ज्ञाता ब्राह्मणोंको लाकर इस रोगकी निवृत्तिका मार्ग उन्मुक्त किया। इन ब्राह्मणोंने (जो अपने मूलस्थानके अभिधानपर शाकद्वीपी आज भी कहलाते हैं) सूर्यके मन्दिरकी स्थापना तथा उनकी विधिवत् आराधनासे साम्बको रोगमुक्त कर दिया—

> ततः शापाभिभूतेन सम्यगाराध्य भास्करम्।
> साम्बेनाप्तं तथाऽऽरोग्यं रूपं च परमं पुनः॥
> (भविष्य, ब्रह्मपर्व ७३ । ४९)

कवियोंमें मयूर कविने 'सूर्यशतक'की रचना कर अपनेको कुष्ठरोगसे निर्मुक्त किया—यह प्रसिद्धि सार्वत्रिक है। कुष्ठरोगकी उत्पत्तिमें अनेक कारणोंमें वायुकी विकृति भी मुख्यता रखती है। फलतः इस रोगके निवारणार्थ वायुतत्त्वाधिपति सूर्यकी आराधना नितान्त औचित्यमण्डित है।

उपासनाके अधिकारी

उपासनामें अधिकारीका विचार विशेष महत्त्व रखता है। गुरु शिष्यकी प्रकृति, स्वभाव तथा अभिरुचिका विचार करके ही, उसकी मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नतिको दृष्टिमें रखकर ही, किसी विशिष्ट देवताकी उपासनाका रहस्य बतलाता है। अधिकारी-भेद भारतीय उपासना-तत्त्वका मूल विषय है। यह गुरुका ही महनीय कार्य है—मन्त्रका उपदेश तथा दीक्षाका विधान; परंतु इसके सम्पादनमें वह अपने शिष्यकी योग्यतापर पूरा ध्यान देता है। तभी तो उसका उपदेश फलीभूत होता है। यह तो मनोविज्ञानका सामान्य नियम ही है कि जिधर मनकी अभिरुचि होती है, उसी देवताकी आराधना उस साधकके लिये क्रियाशील होती है।

पञ्चदेवोंके विषयमें भी इस नियमका अपवाद नहीं है।

मानवोंकी प्रकृति भी पञ्चात्मिका होती है। जिन साधकोंमें सत्त्वगुणका ही प्राचुर्य रहता है, उन्हें विष्णुकी आराधना फलद होती है (आकाश)। जिनमें सत्त्व तथा रजके मिश्रणकी स्थिति होती है, जिनकी प्रकृति सात्त्विकी होनेपर भी रजोगुणसे मिश्रित दृष्टिगत होती है, उन्हें सूर्यकी उपासना अभीष्ट होती है। अग्नि शुद्ध रजोगुणात्मक है; फलतः संसारकी सृष्टि करनेवाली क्रियात्मिका शक्तिकी प्रतीकरूपा माहेश्वरीकी उपासना अग्नि-तत्त्वाधिक्यवाले साधकोंके लिये नितान्त समुचित है। जल-तत्त्वोंमें रज तथा तम दोनोंका मिश्रित रूप उपस्थित रहता है; फलतः इस मिश्रणके वैशिष्ट्यवाले साधकोंके लिये गणेशकी उपासना अभीष्ट होती है। पृथ्वी तमस्तत्त्वकी द्योतिका है। फलतः सृष्टिके संहारकारी देव रुद्रकी उपासना इस प्रकारके साधकोंके लिये फलद होती है। इस सूक्ष्म तत्त्वका विचार गुरु शिष्यको दीक्षा देनेके अवसरपर करता है। इस विषयका संकेत इन श्लोकोंमें पाया जाता है—

मानवानां प्रकृतयः पञ्चधा परिकीर्तिताः।
ततो निरूप्यते सर्गः पञ्चभूतात्मको बुधैः॥
भिन्ना यद्यपि भूतानां प्रकृतिः प्रकृतेर्वशात्।
तथापि पञ्चतत्त्वानामनुसारेण तत्त्ववित्॥
प्रमेयतत्त्वप्राचुर्यं विमृश्य विधिपूर्वकम्।
उपासनाधिकारस्य पञ्चभेदमवर्णयत्॥

निष्कर्ष—आजकल पञ्चदेवोंकी उपासनापर शास्त्रकारोंका जो आग्रह है, वह उनकी व्यापक दृष्टिका परिचायक है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' की लोकोक्तिको चरितार्थ करके भी वे अधिकारी-भेद, प्रकृति-भेदके कारण इस पञ्चविध देवोंकी उपासनाको आजकलके लिये उपयुक्त मानते हैं। साधकोंको अपने हृदयको आप टटोलना चाहिये। जिधर उनकी नैसर्गिक प्रवृत्ति होगी, उस देवताकी उपासनासे ही उन्हें चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकेगी। यों तो सब देवता एक ही परमात्माके रूप हैं। शास्त्रोंमें इस विषयको सुस्पष्ट करनेवाले संकेतोंकी कमी नहीं है। एक-दो वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

शिव तथा सूर्यकी एकता—

आदित्यं च शिवं विद्याच्छिवमादित्यरूपिणम्।
उभयोरन्तरं नास्ति ह्यादित्यस्य शिवस्य च॥
(शिवपुराण)

शिव, विष्णु तथा सूर्यकी एकता—

एष ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एव हि भास्करः।
त्रिमूर्त्यात्मा त्रिवेदात्मा सर्वदेवमयो रविः॥
(सूर्यतापिनी उपनिषद् १।६)

सूर्यका सर्वदेवतात्मरूप—

त्वामिन्द्रमाहुस्त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः।
त्वमग्निस्त्वं मनः सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्म शाश्वतम्॥
(महाभारत, युधिष्ठिरकृत सूर्यस्तोत्र)

गणेशका सर्वदेवरूप—

त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रः।
त्वमग्निस्त्वं सूर्यश्चन्द्रमास्त्वं भूर्भुवः स्वरोम्॥
(गणपत्युपनिषद् ६)

इन उद्धरणोंका यही स्वारस्य है कि एक देवका उपासक अपनी भावनाको दृढ़ तथा निष्ठाको पूर्ण करनेके लिये अपने उपास्यमें सब देवताओंको देखता है तथा उस देवतामें आग्रह रखनेपर भी वह अन्य देवोंकी भक्तिसे पराङ्मुख नहीं होता। साधकका यह कर्त्तव्य है कि वह इस तथ्यको हृदयङ्गम करे तथा संकीर्णताको दूर हटाकर उदार भावनाको अपने हृदयमें जागरूक रक्खे। तथास्तु।

एक ही परम प्रभु पाँच उपास्य रूपोंमें

एक परम प्रभु चिदानन्दघन परम तत्त्व हैं सर्वाधार।
सर्वातीत सर्वगत वे ही अखिल विश्वमय रूप अपार॥
हरि, हर, भानु, शक्ति, गणपति हैं इनके पाँच स्वरूप उदार।
मान उपास्य उन्हें भजते जन भक्त स्वरुचि-श्रद्धा-अनुसार॥

पञ्चोपासना

(लेखक—डा० श्रीनीरजाकान्त चौधुरी, देवशर्मा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

उपासनं पञ्चविधं ब्रह्मोपासनमेव तत् ।

(योगशास्त्र)

ब्रह्म एक है, अद्वैत है और निर्गुण है—यह वेदसंहिता और वेदके ज्ञानकाण्ड उपनिषद्में अनेक स्थलोंमें अनेक प्रकारसे व्यक्त हुआ है। ऐसी अवस्थामें सनातनधर्ममें उस एक, अद्वितीय ब्रह्मकी उपासना न करके अनेक देवताओंकी पूजा क्यों की जाती है ?

बहुत-से आधुनिक विद्वानोंका मत है कि 'वर्तमान-कालमें वर्णाश्रम या सनातनधर्मके नामसे जो धर्म प्रचलित है, वह आदिम और अकृत्रिम वैदिक धर्मका[1] विकृत संस्करणमात्र है। वैदिक धर्ममें एक अद्वितीय ब्रह्मकी उपासना बराबर रही है। कालक्रमसे लोभी ब्राह्मणोंने पुराणादिकी रचना करके आडम्बरपूर्ण यज्ञ, नाना प्रकारकी देव-देवियोंकी उपासना और मूर्तिपूजा तथा व्रत-नियम आदिकी अवतारणा की है। ये सब कुसंस्कार पहले नहीं थे।'

1. Image worship came to India from Greece. The *Vedic* religion was opposed to all forms of Idol and Image worship. There were not even any temples for the Gods. But Greek artistic influence gradually had its way. Apollo-like statues of Bodhisatvas were followed by statues and images of Buddha himself. This encouraged image worship in some forms of Hinduism, though not in the *Vedic* religion which continued to be free of it.

—Nehru, 'The Discovery of India.' P. 173

अर्थात् मूर्तिपूजा यूनानसे भारतमें आयी । वैदिकधर्म सब प्रकारकी मूर्तिपूजा या प्रतिमापूजाका विरोधी था। देवताओंके कोई मन्दिर भी नहीं थे। परंतु यूनानी कलाका प्रभाव क्रमशः पड़ता गया। अपोलोके समान बोधिसत्त्वकी प्रतिमाएँ बनीं और उसके बाद स्वयं बुद्धकी मूर्तियों और प्रतिमाओंका दौर शुरू हुआ। इससे हिंदूधर्ममें कुछ अंशमें मूर्तिपूजाके लिये प्रोत्साहन मिला, परंतु वैदिक धर्मपर उसका कुछ असर न पड़ा और यह उससे मुक्त बना रहा।

—नेहरू, 'दी डिस्कवरी आव् इण्डिया' पृ० १७३

किंतु पाश्चात्त्य अन्वेषकोंने यह निश्चय कर डाला है कि वेदसंहितामें प्रकृत अध्यात्मतत्त्व अर्थात् ब्रह्मकी कोई बात ही नहीं थी। 'ब्राह्मण' ग्रन्थ तो वेद हैं नहीं, और उनमें भी केवल याग-यज्ञका व्यर्थ बकवाद, निरर्थक आडम्बर मात्र है। केवल दस-बारह उपनिषद्—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक आदि उनके तथा हमारे देशके प्रगतिशील विद्वानोंके मतसे प्राचीन और अविमिश्रित हैं। ये वेदसंहिता तथा ब्राह्मणादि-से पृथक् साहित्य हैं। याग-यज्ञ, व्रत, अनेक देवताओंकी उपासना, मूर्तिपूजा आदि बाह्याडम्बर इनमें नहीं हैं । इस साहित्यमें एक अद्वैत, निराकार-निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाकी ही चरम लक्ष्यके रूपमें विवेचना की गयी है । इस उपनिषद्-साहित्यके स्रष्टा या द्रष्टा क्षत्रिय थे।

ये कतिपय उपनिषद् 'प्राचीन' हैं। इस विषयमें उनका तर्क यह है कि इनके ऊपर श्रीशंकराचार्यका भाष्य है। अतएव इनके मतसे भी जिन ग्रन्थोंके ऊपर शंकराचार्यके भाष्य हैं, वे प्रामाणिक और अकृत्रिम हैं, इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता

थोड़ा विचार करके देखनेसे जान पड़ता है कि और भी कुछ उपनिषदोंके शांकरभाष्य विद्यमान हैं । नृसिंह-तापनी (पूर्व और उत्तर) उपनिषद्पर शंकरका, यहाँतक कि उनके परम (परात्पर) गुरु गौड़पादका प्रणीत भाष्य भी है[2] । इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद्पर भी शाङ्करभाष्य है। इसपर संदेहके लिये अवकाश नहीं है।

इसके अतिरिक्त श्रीशंकर और श्रीगौडपादाचार्यने अपने ग्रन्थों तथा भाष्योंमें अन्य बहुत-से. उपनिषदोंका नामोल्लेख करते हुए वाक्य उद्धृत किये हैं। जैसे बह्वृच, कौषीतकि, महानारायण, नारायण, जाबाल, योगशिखा, आत्मबोध, तलवकार, अमृतनाद, मन्त्रिक, अथर्वशिरः, सुन्दरीतापिनी, त्रिपुरातापिनी आदि।

वेदोंकी ११३१ शाखाएँ थीं, इसको स्वयं श्रीशंकराचार्यने[3] भी स्वीकार किया है । प्रत्येक शाखाका एक उपनिषद् था।

2. Weber, History of Indian Literature, P 167

३. शंकराचार्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, पृष्ठ ८४ (गीताप्रेस)।

'एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।
(मुक्तिकोपनिषद् १४)

आजकल प्रायः २६० उपनिषद् उपलब्ध हैं। हमारे देशके प्राचीन इतिहासके अनुसार वेद स्वतःप्रमाण हैं। उपनिषद् वेदोंका ज्ञानकाण्ड है, वेदोंका ही अंश है। पृथक् रूपमें किसी व्यक्तिविशेषके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ या साहित्य नहीं है। अतएव प्रत्येक उपनिषद् स्वतःसिद्ध है; अर्वाचीनता या प्रक्षिप्तताकी बात यहाँ उठ ही नहीं सकती। परंतु स्वल्प आयुमें, महासमुद्रके समान इस विशाल उपनिषद्-ज्ञानराशिमें प्रत्येकका भाष्य लिखनेका कोई भार श्रीशंकराचार्यने नहीं उठाया था और न यह सम्भव ही था। अतएव जिन-जिन उपनिषदोंके शांकरभाष्य हैं, उनको प्राचीन मानना और जिनपर उनके भाष्य नहीं है, उनको बनावटी कहना मूर्खता और धृष्टताका परिचय देनेके सिवा और कुछ नहीं है।

इसके सिवा श्रीशंकराचार्य तथा उनके परम (सत्तम परात्पर) गुरु श्रीगौडपादाचार्यने इतिहास (रामायण और महाभारत) तथा पुराणोंसे प्रमाणस्वरूप वाक्य उद्धरण किये हैं। इतना ही नहीं, बल्कि महाभारतके अंशविशेषके ऊपर, जैसे श्रीगौड़पादाचार्यका उत्तरगीताभाष्य तथा श्रीशंकराचार्यका 'विष्णुसहस्रनाम-भाष्य' आदि भाष्योंकी भी रचना उन्होंने की थी। श्रीगौड़पादाचार्यके ग्रन्थोंमें पद्मपुराण, शिवपुराण, श्रीमद्भागवतपुराण, मार्कण्डेयपुराण, (सप्तशतीका 'चिदानन्दकेलिविलास' नामक भाष्य श्रीगौड़पादाचार्य कृत है), स्कन्दपुराण, कूर्मपुराण और ब्रह्माण्डपुराणका नाम भी पाया जाता है। श्रीशंकराचार्यने भी ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण ('वासुदेवसहस्रनाम'पर भाष्य उनके नामसे प्रसिद्ध है), विष्णुपुराण, शिवपुराण, श्रीमद्भागवत-पुराण, भविष्यपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, लिङ्गपुराण, गरुड़-पुराण तथा ब्रह्माण्डपुराण (इससे 'ललितात्रिशतीभाष्य' उन्होंने लिखा है) आदि पुराणोंका नाम लिया है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि उपर्युक्त उपनिषदों और धर्मग्रन्थोंमें अनेक स्थलोंपर द्वैतवाद तथा मूर्तिपूजाकी बात आयी है। तथापि श्रीशंकराचार्य और श्रीगौड़पादाचार्य, अद्वैतवेदान्तके उभय पथद्रष्टा महामनीषियोंने उनको परम श्रद्धाके साथ शास्त्ररूपमें स्वीकार करने तथा प्रामाणिक माननेमें किसी प्रकारका संदेह नहीं व्यक्त किया है।

किंतु आधुनिक पाश्चात्त्य तथा उनका पदानुसरण करने वाले इस देशके अनुसंधानकर्त्ता अन्य उपनिषदोंकी तथा इतिहास और पुराण आदिकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते!

श्रीशंकराचार्य-रचित अद्वैतपरक भाष्यसे सम्बन्धित कुछ उपनिषदोंको प्रामाणिक मानना और उनके द्वारा रचित द्वैतभाव-भावित ग्रन्थोंको अथवा उनके द्वारा प्रमाणस्वरूप उद्धृत द्वैतवादकी उपासना और मूर्तिपूजाकी बातको न मानना अद्भुत युक्ति है। इस प्रकारका तर्क बेसिर-पैरका तर्क है।

अतिरिक्त इसके कतिपय इन प्राचीन उपनिषदोंमें तथा इनके शांकर-भाष्यमें भी द्वैतवादके भाव देव-देवीकी मूर्तिकी उपासना या याग-यज्ञकी बात नहीं पायी जाती है—यह बात भी पूर्णतः मिथ्या है।

श्रीशंकराचार्यके मतसे भक्तिमार्गमें सगुण साधना ही उपासनाका प्रथम सोपान है। अद्वैततत्त्व दुर्गम और दुःसाध्य है। जबतक देहज्ञान या अहंकार रहेगा, तबतक इसकी आलोचना, मानचित्रमें भूमण्डलदर्शनके समान, एक महासत्यका आभास मात्र दे सकती है, किंतु यथार्थतः फलप्रद नहीं हो सकती। उपासनाका अर्थ ही है द्वैतभाव; क्योंकि साधक और साध्य—इन दोनोंका समन्वय हुए विना साधना नहीं हो सकती। श्रीशंकराचार्यने स्पष्ट घोषणा की है कि गुरुके सामने[4] कभी अद्वैतभाव न करे। गुरु और शिष्यका सम्बन्ध ठीक भक्त और भगवान्के समान द्वैतभावका ही है।

श्रीशंकराचार्यने अपने 'प्रबोध-सुधाकर' ग्रन्थमें बृहदारण्यक उपनिषद्का वचन उद्धृत किया है—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च।'
(२।३।१)

अर्थात् 'ब्रह्मके दो रूप हैं, एक अरूप है और दूसरा मूर्तिमन्त है।' इसके बाद उन्होंने गीता (१२।१-५) से दिखलाया है कि अव्यक्तकी उपासना[5] देहधारीके लिये दुष्कर और दुःखप्रद है। यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि

४. भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिपु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥
—श्रीशंकराचार्य, 'सारतत्त्वोपदेश,' ३।

५. अव्यक्तं हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते। (गीता १२।५)

अपने 'विष्णुसहस्रनाम-भाष्य'में 'दुर्धर' (७२५) नामके ऊपर टीका करते समय भी श्रीशंकराचार्यने ठीक इसके अनुरूप युक्तिकी ही अवतारणा की है। (८९। २०९-१० पृ० गीताप्रेस संस्करण)।

श्रीशंकराचार्यने इस ग्रन्थमें प्रमाणित किया है कि निर्गुण और सगुण ब्रह्म—दोनों ही एक हैं। प्रत्येक सांसारिक कार्योंमें स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर चलते हैं। 'क' 'ख' का ज्ञान होते ही कोई एकबारगी शास्त्री उपाधिकी योग्यता नहीं प्राप्त कर लेता। जैसे नाम और रूप—ये दोनों साधारण व्यवहारके हेतु हैं, परमार्थके अनुसंधान अर्थात् उपासनाके मार्गमें भी ठीक यही बात है। श्रीशंकराचार्य और श्रीगौड़पादाचार्य—इन दोनों अद्वैतवादी महापुरुषोंने बारंबार यही कहा है। श्रुति भगवती भी यही कहती हैं। सनातनधर्मका यही मूल तत्व है।

गो० तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें (बालकाण्ड ११५) कहा है—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

श्रीशंकराचार्यने 'प्रबोधसुधाकर'में उपासनाके लिये इसी भक्तिपथका निर्देश किया है।

१–साधकको पहले वर्णाश्रमोचित अधिकारके अनुसार शास्त्रानुमोदितरूपमें इष्टदेवकी मूर्तिकी बहिरङ्ग उपासना और पूजा करनी चाहिये। यही स्थूल भक्ति है।

२–क्रमशः इष्ट-पूजा, भक्तोंका सत्सङ्ग, कृष्णकथा-कीर्तन आदिकी साधनाके फलस्वरूप सूक्ष्म भक्तिका उदय होगा; इष्टदेव कृपा करके साधकके मानस-पटलपर आविर्भूत होंगे; तब बाहरकी मूर्तिपूजा अपने-आप लोप हो जायगी और मानसिक पूजा-रति तथा इष्टमें तद्गतचित्तता आदिसे सर्वभूतमें इष्टदर्शन होने लगेगा।

३–क्रमशः साधक 'हरिदासवर्य' हो जायगा, उसके हृदयमें पराभक्तिका आविर्भाव होगा। यह अवस्था कोटि-कोटि जनमें कदाचित् किसीको प्राप्त होती है। (श्रीश्रीचैतन्य-चरितामृतमें उसको 'वैष्णवप्रधान' कहा गया है) तब वह इष्टमें लीन होकर एक हो जाता है।

अर्थात् श्रीशंकराचार्यके मतसे भी पहले द्वैत है (१) 'मैं तुम्हारा हूँ'। पश्चात् (२) 'तुम मेरे हो' और अन्तमें (३) अद्वैत है—'तुम मैं हूँ' और 'मैं तुम हो'। दोनों एक हैं। इसके आगे द्वैत-अद्वैतका कोई वाद नहीं रहता, सब तर्कोंका अवसान हो जाता है।

'प्राचीन' उपनिषद्में द्वैतवाद—

हमने देख लिया कि तथाकथित 'प्राचीन' बृहदारण्यक उपनिषद्में भी ब्रह्मकी मूर्तिकी बात है, स्वयं श्रीशंकराचार्यने इसका दृष्टान्त दिया है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् (८।५।४) में श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें लिखा है कि नद-नदी, समुद्र, वेद आदि ब्रह्मलोकमें ब्रह्माके समीप दिव्य देह धारण करके उपस्थित रहते हैं। इनका वह रूप साधारण जलमय मूर्त्ति आदिसे भिन्न ही होता है। केनोपनिषद् (३।१) में इन्द्रादि देवताओंके सामने ब्रह्म पहले यक्षरूपमें प्रकट हुए थे और पश्चात् उनका अहंकार चूर्ण होनेपर 'बहुशोभमाना उमा हैमवती' स्त्रीके रूपमें (३।१२) आकाशमें आविर्भूत होकर ब्रह्मके रहस्यका उपदेश किया था। यह आख्यान क्या सगुण ब्रह्ममूर्ति तथा देव-देवीकी कथा नहीं है?

इन 'प्राचीन' उपनिषदोंमें इसी प्रकार यत्र-तत्र याग-यज्ञका उल्लेख भी पाया जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद्में प्रथम पङ्क्तिसे ही अश्वमेध यज्ञकी आध्यात्मिक तत्त्व-कथा प्रारम्भ हो जाती है। ईशावास्योपनिषद् नाना प्रकारकी यज्ञ-विधिसे युक्त यजुर्वेदकी वाजसनेय संहिताका उपसंहारमात्र है। 'ॐ क्रतो स्मर' (१५) 'अग्ने नय सुपथा राये' (१६) इत्यादि मन्त्रोंमें यज्ञकी प्रशंसा गायी गयी है।

अधिक विवेचनाके लिये अब स्थान नहीं है। परंतु इन कतिपय प्राचीन उपनिषदोंमें ब्रह्मकी रूप-कल्पना, देव-देवीका अस्तित्व और उपासना तथा याग-यज्ञकी बात नहीं है, जो लोग इस प्रकारकी बातें करते हैं, उनको केवल भ्रान्त कहकर चुप हो जानेसे काम न चलेगा; बल्कि कहना पड़ेगा कि उनका मत सर्वथा मिथ्या है और सम्भवतः दुष्टबुद्धि-प्रणोदित है।

पञ्चोपासनाका मूल तत्त्व

हमने देखा कि श्रीशंकराचार्य आदि अद्वैतवादके प्रधान आचार्योंने भी स्वीकार किया है कि प्रथम स्तरमें ईश्वरके प्रतीकके रूपमें देव-देवीकी मूर्तिकी साकार उपासना गुरु-प्रदत्त मन्त्रकी सहायतासे करनी चाहिये। द्वैतभावकी सिद्धिके बिना पराभक्तिका आविर्भाव नहीं होता और तब-

तक अद्वैतवादकी कोई बात ही नहीं उठ सकती। मन्त्र या नाम एक ही वस्तु है। नाम-रूपके बिना गति नहीं है, उपासना ही असम्भव है।

मन्त्रयोगके अनुसार सगुण ब्रह्मके या ईश्वरके पाँच प्रधान रूप हैं। जगत् या मायाका प्रपञ्च पञ्चमहाभूतात्मक है। अतएव प्रत्येक पदार्थ और जीव पञ्चभूतोंके द्वारा ही दृष्ट हैं। ईश्वरकी पञ्च-अभिव्यक्ति इन पञ्चमहाभूतोंके अधिपति हैं।

महाभूत	अधिपति
१—क्षिति	शिव
२—अप् (जल)	गणेश
३—तेजः	शक्ति (महेश्वरी)
४—मरुत् (वायु)	सूर्य (अग्नि)
५—व्योम (आकाश)	विष्णु

'मन्त्रयोगसंहिता'में लिखा है—

मानवानां प्रकृतयः पञ्चधा परिकीर्तिताः।
यतो निरूप्यते सर्गः पञ्चभूतात्मकैर्बुधैः॥
भिन्ना यद्यपि भूतानां प्रकृतिः प्रकृतेर्वशात्।
तथापि पञ्चतत्त्वानामनुसारेण तत्त्ववित्॥
प्रत्येकतत्त्वप्राचुर्यं विमृश्य विधिपूर्वकम्।
उपासनाधिकारस्य पञ्चभेदमवर्णयत्॥

समस्त जगत् पञ्चभूतात्मक है अर्थात् क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योमके द्वारा गठित है। अतएव मानव-प्रकृति भी विभिन्न हैं और पाँच प्रकारकी कही जाती हैं। इसी कारण तत्त्ववेत्ता ऋषियोंने प्रत्येक तत्त्वके आपेक्षिक परिमाणके विषयमें विवेचना करके विभिन्न व्यक्तिके लिये व्यवस्था करके पञ्च प्रकारकी उपासनाका अधिकार बतलाया है।

प्रकृत सद्गुरु योगबलसे और ऋतम्भरा प्रज्ञा, स्वरोदय शास्त्र, ज्योतिष आदिके द्वारा किस शिष्यकी अन्तःप्रकृति किस प्रकारकी है, उसमें किस तत्त्वकी अधिकता है आदि निर्धारण कर सकते हैं और तदनुसार उस तत्त्वके देवताकी उपासनाका अधिकार तथा मन्त्रदीक्षा प्रदान करते हैं।

यह पञ्चमहाभूतोंका तत्त्व एक गम्भीर आध्यात्मिक रहस्य और अत्यन्त दुर्गम वस्तु है। श्रीगौड़पाद, श्रीशंकराचार्य आदि महामनीषियोंने 'पञ्चीकरण' विषयक ग्रन्थोंमें इस दुरूह विषयकी वैज्ञानिक आलोचना की है। यह 'त्रिवृत्-करण' का न्याय सनातन वैदिक धर्मकी एक मौलिक वस्तु है।

पञ्चदेवतामें प्रत्येक स्वयं ईश्वर हैं। ये मानो साकार ब्रह्मके एक-एक गुणके मूर्त रूप हैं।

केवल इस सुदुर्लभ मानव-जन्ममें ही भगवान्की उपासना करना सम्भव है। विभिन्न मानवके देह-मन आदि पञ्च-महाभूतोंके अल्प-विस्तृत तारतम्यके द्वारा गठित हुए हैं। जैसे रामके भीतर यदि जलतत्त्वकी प्रधानता है तो श्यामके देह-मनमें आकाशतत्त्वका परिमाण अपेक्षाकृत अधिक है।

साधककी प्रकृतिमें जिस महाभूतकी प्रधानता होती है, उस महाभूतके अधिपतिकी उपासना करनेपर स्वभावतः सहज ही सिद्धि प्राप्त होनेकी सम्भावना है। अतएव रामके इष्ट होंगे—जलतत्त्वके अधिपति गणेशजी, तो श्याम आकाश-तत्त्वके देवता विष्णुकी उपासना करके शीघ्र फल प्राप्त कर सकेंगे। सारांश यह है कि पञ्चदेवताकी उपासना गम्भीर वैज्ञानिक सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित है। वेदमें भी पञ्चदेवताका प्रसङ्ग है। वह अर्थलोलुप पुजारी ब्राह्मणोंके द्वारा रचित 'जाल' अथवा तन्त्रों और पुराणोंकी 'कपोल-कल्पना' नहीं है।

जन्म-जन्मान्तरके कर्मफलसे यह मानव-देह-मन विभिन्न उपादानोंसे गठित होता है तथा विशेष कुलमें आदमी जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंको लेकर ही जन्म ग्रहण करता है। एक-एक वंशके कुलदेवता पुरुषानुक्रमसे इष्ट होते हैं। माता-पिताकी आकृति-प्रकृति अथवा रोग आदि रक्तके द्वारा वंशानुक्रमसे संक्रमित होते हैं, यह प्रत्यक्ष सत्य है। ठीक इसी प्रकार इष्टमन्त्र और इष्टमन्त्रका प्रभाव पुरुषानुक्रम-से चलता है, इसमें कोई संदेह नहीं। कुलगुरु इष्टदेवके मन्त्र और उपासनाकी विधिको भलीभाँति जानते हैं, इसी कारण कुलगुरुसे ही मन्त्र ग्रहण करनेका नियम पाया जाता है।

परंतु इस शताब्दीके प्रथम भागसे ही अकस्मात् प्राप्त हुए जिस किसी संन्यासीको गुरु बनानेका नया प्रचलन चल गया है। आधुनिक शिक्षित मनुष्य अनायास ही कुलगुरु और कुलमन्त्रका त्याग करके मनमाना आचरण कर रहे हैं। संन्यासीको तो अधिकार ही नहीं है कि वह गृहस्थ-को या स्त्रीजनको दीक्षा प्रदान करे। ठीक उसी प्रकार जैसे कोई गृहस्थाश्रममें रहकर किसीको संन्यासकी दीक्षा नहीं दे सकता।

पञ्चदेवताकी उपासना साम्प्रदायिक नहीं है

शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर और गाणपत्य—पञ्चदेवताके

उपासक ये पाँच सम्प्रदाय सनातन हिंदू-समाजमें विद्यमान हैं। पाश्चात्य लेखक और उनके अनुवर्ती हमारे देशके कुछ पण्डितम्मन्य आधुनिक विद्वान् यह समझते हैं और प्रचार करते हैं कि रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैण्ट, अथवा शिया और सुन्नीके समान इन सब सम्प्रदायोंमें भी अनवरत घोर विद्वेष और विरोध चलता आ रहा है।

परंतु यह धारणा पूर्णतः निराधार है। कोई भी साधक केवल इष्टदेवताकी पूजा ही करेगा, ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक पूजामें ही **'गणेशादि पञ्चदेवताभ्यो नमः।'** कहकर ही पूजा आरम्भ की जाती है। नारदपुराण (पूर्व० ३। ६५) तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें विशदरूपमें वर्णित है कि प्रतिदिन एक साथ पञ्चदेवताकी पूजा किस प्रकार करनी चाहिये।

जैसे यदि विष्णु भगवान् इष्ट हैं तो उनको बीचमें रखकर, पहले दिनसे ही आरम्भ करके, अन्य चार देवताओं, क्रमशः गणेश, सूर्य, देवी और शिवजीको उनके चारों ओर रखकर आवरण देवताके रूपमें पूजा करनी चाहिये।

ठीक इसी प्रकार अन्य चार देवताओंमें कोई इष्ट होनेपर उसकी मूर्त्ति मध्यमें रखकर शेष चार देवताकी आवरण-देवताके रूपमें क्रमशः पूजा करनी पड़ती है।

अर्थात् चाहे जिस सम्प्रदायका आदमी हो, इष्टके साथ-साथ प्रतिदिन अन्य चारों देवताओंकी उपासना भी करनी ही पड़ेगी, किसीको भी छोड़ देनेसे काम नहीं चलेगा। अतएव किसी साम्प्रदायिक झगड़ेकी बात कदापि नहीं उठ सकती।

अद्वैतवादके प्रधान आचार्य श्रीशंकराचार्य भारतवर्षमें सर्वत्र पञ्चदेवताकी उपासनाको विधियुक्त और सुप्रचलित करनेके लिये प्राणपणसे प्रयत्न कर गये हैं। बीकानेर नगरमें शंकर-सम्प्रदायके मठमें पञ्चदेवताके पाँच मन्दिर आस-पास प्रतिष्ठित हैं।

सनातन वैदिक धर्मके सारे शास्त्र-ग्रन्थ एक मतके हैं। वेद, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन, इतिहास सब हिंदूमात्रकी साधारण सम्पत्ति हैं। महापुराणादि एक ही व्यक्ति महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यासके द्वारा प्रणीत हैं तथा नैमिषारण्यमें सूत और उनके पुत्र सौतिके द्वारा शौनक मुनिके आश्रममें सब ही मुनि-समाजमें प्रथम प्रचारित हुए हैं। इनमें किसीमें भी मुख्यतः विष्णु भगवान्, श्रीकृष्ण या शिवजीकी महिमा वर्णित होनेपर भी अन्य देवताओंकी स्तव-स्तुति प्रायः प्रत्येक पुराणमें देखनेमें आती है।

भारतमें जाति-विरोध या सम्प्रदाय-विरोध कभी नहीं था। जाति-द्रोह और वर्ण-विद्वेष भी आधुनिक कालमें वोट-प्रवर्तन (मतदान), मन्दिर-प्रवेश, समाज-सुधार आदिके फलस्वरूप बढ़ता जा रहा है!

पञ्चदेवताकी लिङ्गोपासना

पाश्चात्य लेखकोंके अन्धानुकरणके फलस्वरूप आज इस पुण्यभूमि भारतवर्षकी आर्यसंतान भी स्वधर्मको भूलती जा रही है। बहुत-से लोग 'शिश्नदेवाः' प्रभृतिकी रट लगाते हुए शिवजीको 'अनार्य देवता' या 'तिब्बती योगी' प्रमाणित करनेकी अपचेष्टा करते हैं। वस्तुतः इनको सनातन उपासनाविधिका कुछ भी ज्ञान नहीं है।

केवल शिव ही क्यों? प्रत्येक देव-देवीकी लिङ्गपूजा होती है और वैदिक युगमें भी होती थी।

नृसिंहतापनी-उपनिषद्में ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरकी स्व-स्व शक्तिके साथ लिङ्गपूजाका उल्लेख है। इन सबके लिङ्गको एकत्र करके सर्वेश्वर-ब्रह्मकी पूजा होती है। लिखा जा चुका है कि श्रीशंकराचार्यने, यहाँतक कि श्रीगौडपादाचार्यने भी इस उपनिषद्का भाष्य प्रणयन किया है।

'तथा ब्रह्माणमेव विष्णुमेव रुद्रमेव विभक्तांस्त्रीनेव अविभक्तांस्त्रीनेव लिङ्गरूपेणैव च सम्पूज्योपहारैश्चतुर्धा।'

(नृ० ता० उपनिषद् उत्तर १। ३। ९)

श्रीशंकराचार्यके द्वारा प्रवर्तित विधिके अनुसार दाक्षिणात्य ब्राह्मणलोग आज भी पञ्चदेवताकी लिङ्गपूजा प्रतिदिन करते हैं। वाराणसीधाममें इन पञ्चदेवताओंके लिङ्ग एकत्र खरीदे जा सकते हैं, मूल्य अनुमानतः २५ रुपये हैं। शिवकी बाणलिङ्ग (नर्मदाका पत्थर), नारायणकी शालग्राम (गण्डकी-शिला), शक्तिकी धातुपत्र (यन्त्र), सूर्यकी बिम्बाकार स्फटिक तथा गणेशकी एक प्रकारके रक्तवर्णके प्रस्तरखण्डमें लिङ्गपूजा होती है।

इसके बाद पञ्चदेवोपासना अर्वाचीन नहीं है, वेदमन्त्रोंके ऊपर आधारित है, यह प्रदर्शित किया जायगा।

पञ्चदेवोपासना वेदविहित है

प्रायः सौ वर्ष पहले मैक्समूलर साहबने (Max Muller[६]) एक वक्तृतामें हिंदूकी देव-देवीकी मूर्तिपूजापर कुत्सित-भावसे आक्रमण किया था। उनके मतसे विष्णु, गरुड, शिव, कार्तिकेय, गणेश, काली आदि देव-देवीकी उपासना वैदिक धर्ममें नहीं थी। इन्होंने सरकारी अर्थ-साहाय्यसे सायणाचार्यके भाष्यकी सहायतासे ऋग्वेद (शाकल) संहिताका अंग्रेजीमें अनुवाद किया था। परंतु जिस प्रकार बाइबिलका हिंदी-अनुवाद करनेसे ही किसीको हिब्रू-भाषा या ईसाई-मतका विद्वान् नहीं कह सकते, उसी प्रकार वेदका अनुवाद करनेसे ही कोई हिंदू शास्त्रका धुरन्धर वेत्ता नहीं कहला सकता। तथापि अंग्रेजी पढ़े हुए बहुतसे लोगोंकी धारणा यह है कि मैक्समूलरने वेद, जो लुप्त हो गया था, उसकी खोज की थी। वे भारतवर्षके तथा हिंदुओंके उपकार करनेवाले परम मित्र थे। परंतु वास्तविकता यह है कि वे मूलतः ईसाई थे और उनका मुख्य उद्देश्य था—हिंदुओंको ईसाई बनानेमें ईसाई मिशनरियोंकी सहायता करना।

हम संक्षेपमें यह प्रमाणित करेंगे कि ये देव-देवियोंकी सारी उपासनाएँ वैदिक हैं, वेद-विहित हैं, अर्वाचीन नहीं हैं। मैक्समूलर साहबका मत भ्रान्त है और दोषपूर्ण है।

१. शिवजी—

(क) ऋग्वेदसंहितामें लिखा है (शाकल)—

'स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो ।' इत्यादि।

(मं० २। ३३। ९)

सायणाचार्यने 'पुरुरूप'का अर्थ लिखा है—'अष्टमूर्त्यात्मकैर्बहुभी रूपैरुपेतः।' ईशानात्, ईश्वरात्। यह प्रमाणित हो गया कि पुराण और तन्त्रादिमें शिवजीकी जो अष्टमूर्तिकी बात आती है, उसका मूल इस मन्त्रमें है।

१. शर्व—क्षितिमूर्ति

२. भव—जलमूर्ति

---

६. The view of western scholar regarding Hindu deities may be sampled from the following peroration decrying image worship, which was delivered by MaxMuller at the Westminiter Abbey on 3—12—1873, nearly one hundred years ago.

"It is true that there are millions of men and women and children in India, who fall down before the image o Vishnu with his four arms, riding on a creature, half bird, half man, or sleeping on a serpent; worship Shiva, a Monster with three eyes, with a necklace of skulls for his ornaments. There are human beings who believe in a god of war, Karttikeya, with six faces, riding on a peacock, and holding bow and arrows in his hands, and who invoke a god of success, Ganesha with four hands, and an elephant's head, sitting on a rat. Nay it is true that in the broad daylight of the nineteenth century, the figure of the goddess Kāli is carried through the streets of her own city, Calcutta, her wild dishevelled hair reaching to her feet, with a necklace of human heads, her tongue protruded from her mouth, girdle stained with blood. All this is true, but ask any Hindu who can read, write and think, whether these are the gods he believes in, and he will smile at your credulity. How long this living dead of national religion in India will last no one can tell."

अर्थात् करीब एक सौ वर्ष पूर्व वेस्टमिनिस्टर अब्बीमें ३। १२। १८७३ ई० को मैक्समूलरके द्वारा दी गयी वक्तृताके निम्नलिखित उपसंहारमें हिंदू-देवताओंके विषयमें पाश्चात्य विद्वानोंके विचारका नमूना प्राप्त हो जाता है—

'यह सच है कि भारतमें लाखों नर-नारी और बच्चे हैं, जो आधा पक्षी और आधा मनुष्य जैसे जीव (गरुड) पर सवार अथवा साँप (शेष) के ऊपर सोये चतुर्भुज विष्णुकी मूर्तिके सामने साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हैं। गलेमें कपालकी माला धारण करनेवाले, त्रिनेत्र, कापालिक शिवकी पूजा करते हैं। ऐसे मनुष्य भी हैं, जो मोरपर सवारी करनेवाले, हाथोंमें धनुष-बाण धारण करनेवाले, छः मुँहवाले युद्धके देवता कार्तिकेयमें विश्वास करते हैं। तथा जो चतुर्भुज, हाथीके जैसे सिरवाले, चूहेपर सवारी करनेवाले, सिद्धिदाता देवता गणेशकी स्तुति करते हैं। यही नहीं, यह सच है कि १९वीं सदीके जागरणकालमें उस काली देवीकी मूर्ति लेकर वे अपने शहर कलकत्ताकी सड़कोंसे निकलते हैं, जिसके बिखरे केश पैरोंतक लटकते हैं, जो नर-कपालकी माला धारण करती हैं, जिसकी जीभ मुँहसे बाहर निकली रहती है, जिसका अञ्चल रक्तरञ्जित है। यह सब सत्य है, परंतु किसी हिंदूसे, जो लिख-पढ़ तथा सोच-विचार कर सकता है, पूछिये कि क्या वह इन्हीं देवताओंमें विश्वास करता है, तो वह आपके भोलेपनपर मुस्करा देगा। कौन कह सकता है कि भारतमें राष्ट्रीय-धर्मका यह जीता-जागता मुर्दा कबतक बना रहेगा।'

पञ्चदेव



विष्णु



सूर्य



गणेश

पञ्चमुख-परमेश्वर



श्रीदुर्गा



एक ही भगवान् पाँच रूपोंमें

३. रुद्र—अग्निमूर्ति
४. उग्र—वायुमूर्ति
५. भीम—आकाशमूर्ति
६. पशुपति—यजमानमूर्ति
७. महादेव—सोममूर्ति
८. ईशान—सूर्यमूर्ति

देखा जाता है कि प्रथम पाँच रूपोंमें शिवजी पञ्चतत्त्वोंमें मूर्तरूप हो रहे हैं। जगत् सोम-सूर्यात्मक है। साधक या यजमानकी मूर्ति भी वही हैं। ऋग्वेदसंहितामें यत्र-तत्र शिवजीके इन आठ नामोंका उल्लेख मिलता है।

(२) 'त्र्यम्बकं यजामहे' इत्यादि (७। ५९। १२; शु० ३। ६०) हलायुधने 'ब्राह्मणसर्वस्व' में इस मन्त्रकी व्याख्या की है—'त्र्यम्बकं महेश्वरं वयं पूजयामः।' यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि मैक्समूलर साहबने 'Three eyed Monster कहकर गाली-गलौज किया है, तथापि शिवजीके तीन नेत्र वेदोंमें भी प्रसिद्ध हैं।

(३) 'अहं रुद्राय धनुरातनोमि' इत्यादि (ऋग्वेद १०। १२५। ६) सायणभाष्यके अनुसार इस मन्त्रमें देवी कहती हैं कि 'प्राचीन कालमें त्रिपुरविजयके समय ब्राह्मणोंके द्वेषी त्रिपुरनिवासी असुर-वृन्दका संहार करनेके लिये मैंने ही महादेवके (पिनाक) धनुषकी ज्याको खींचा था।'

त्रिपुर-ध्वंसकी पौराणिक घटना समझी जाती है, पर वह वेदमूलक है।

(४) 'आ त्वा रम्भं न' इत्यादि (ऋग्० ८। ४५। २०) यास्कने निरुक्तमें (पूर्व ३। ४। ३) 'रम्भ'का अर्थ पिनाक धनुष करके यजुःसंहितासे 'पिनाकावसः कृत्तिवासा' (३। ६१) मन्त्रका उल्लेख किया है। 'स्थिरधन्वने' 'धन्वायिभ्यः' 'धनुष्कृद्भ्यः' शतरुद्रीय मन्त्रके इन सब शब्दोंसे भी शिवजीके प्रसिद्ध पिनाक धनुषकी बात प्रकट होती है।

(५) 'स्तोमं वो अद्य' इत्यादि (१०। ९२। ९) इस मन्त्रमें रुद्र और शिवका समानार्थक रूपमें एक साथ उल्लेख हुआ है तथा रुद्र और शिवकी अभिन्नता व्यक्त हुई है। 'नमसा' शिवके पञ्चाक्षरी 'नमः शिवाय' मन्त्रका द्योतक है।

(ख) मैत्रायणीयसंहिता (कृष्णयजुर्वेद)।

(१) देवानां च ऋषीणां चासुराणां च पूर्वजम्।
महादेवं सहस्राक्षं शिवमावाहयाम्यहम्॥

(२) तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि।
तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्। (२। ९। २-३)

(ग) तैत्तिरीय आरण्यक, नारायणोपनिषद्

(१) ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्।
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमः॥
(१०। १२)

बंगालके सामवेदी ब्राह्मण प्रतिदिन संध्यामें इस मन्त्रका पाठ करते हैं। इसमें विरूपाक्ष त्रिनेत्र, उमा-महेश्वररूप (कृष्ण-पिङ्गल) ऊर्ध्वरेता, तमोमय, संहारमूर्तिधारी शिवका वर्णन है।

(२) 'शिवाय नमः।' (ना० १० परि० १६)

(Bloomfield, Vedic Concordence, p.925 द्रष्टव्य है।)

(३) 'शिवलिङ्गाय नमः।' (ना० १० परि० १६)

(४) 'नमो हिरण्यबाहवे हिरण्यवर्णाय हिरण्यरूपाय हिरण्यपतयेऽम्बिकापतये उमापतये पशुपतये नमो नमः।'
(ना० १० परि० २२)

सायण अपने भाष्यमें कहते हैं कि 'शिव अपने भक्तपर अनुग्रह करनेके लिये सुवर्णमय देह धारण करते हैं। अम्बिका, जगन्माता पार्वती, उमा उनकी ब्रह्मविद्यात्मिका देह हैं।'

वेदमें शिवजीके असंख्य मन्त्र हैं। तैत्तिरीय आरण्यक और महानारायण उपनिषद्में शिवजीके शिव, सदाशिव, सद्योजात, वामदेव, रुद्र, सहस्राक्ष, काल, मनोमन, अघोर, तत्पुरुष, महादेव, ईशान, ईश्वर आदि प्रसिद्ध नाम पाये जाते हैं।

जाबाल, योगशिखा, मैत्रेय, बृहज्जाबाल, मुक्तिक, कैवल्य, नृसिंहपूर्व० और उत्तरतापनी० आदि उपनिषदोंमें शिवका, शिवलिङ्गका, शिवालयका तथा देवी उमाका बहुत उल्लेख मिलता है।

२–शक्ति

तन्त्रशास्त्र वेदोंके ऊपर प्रतिष्ठित है और यह अधमसे लेकर उच्च अधिकारीतक सबके लिये उपासनाका सहज और सरल मार्ग उन्मुक्त करता है। वैदिक उपनयन-संस्कारके अतिरिक्त प्रायः सभी प्रकारकी दीक्षा, चाहे वह वैष्णव हो या शाक्त, शैव, सौर या गाणपत्य दीक्षा हो, तान्त्रिक मतके उपचारसे ही होती है।

हम यह याद नहीं रखते कि कालिदास, गौड़पाद, शंकराचार्य, महाप्रभु चैतन्यदेव, मधुसूदन सरस्वती आदि सभी श्रीविद्याके उपासक और परम तान्त्रिक थे। शंकराचार्यकृत 'प्रपञ्चसार-तन्त्र' मूर्तिपूजाके तान्त्रिक रहस्यके सम्बन्धमें एक असाधारण ग्रन्थ है।

(१) ऋग्वेद (शाकल) संहिता।

(क) 'जातवेदसे सुनवाम' इत्यादि (१। ९९। १)

(ख) देवीसूक्त (१०। १२५)

(ग) 'चत्वार ईं' इत्यादि (५। ४७। ४) यह पञ्चदशाक्षरी विद्या है।

(२) शुक्लयजुर्वेद (वाजसनेयसंहिता)

'अम्बे अम्बिके अम्बालिके।' इत्यादि (२३। १८)

(३) मैत्रायणीयसंहिता (कृष्णयजुर्वेद)

'तद्भाङ्गगौर्याय विद्महे गिरिसुताय धीमहि। तन्नो गौरी प्रचोदयात्।' (२। ९। ४)

तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक तथा बह्वृचोपनिषद्, केनोपनिषद्, त्रिपुरा, त्रिपुरातापिनी, देवी, भावना, सीता, देव्यथर्वशीर्ष, सौभाग्यलक्ष्मी, सरस्वतीहृदय, अरुणा, ललितातापनी आदि अनेक उपनिषदोंमें तान्त्रिक शक्ति-उपासनाकी बात पायी जाती है।

३–विष्णु

(क) ऋग्वेद (शाकलसंहिता);

(वामन अवतार)

(१) 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इत्यादि (१। २२। १६–२१)।

(२) 'यो रजांसि विममे' इत्यादि (६। ४९। १३)

नृसिंह अवतार

(३) 'प्रतद् विष्णुः स्तवते' इत्यादि (१। १५४। २)

(ख) अथर्व (शौनकीय) संहिता।

वाराह अवतार—

(४) 'वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय।' (का० १२। १। ४८)

(ग) यजुःसंहिता।

(५) उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना।
भूमिर्धेनुर्धरणी लोकधारिणी॥
(तै० आरण्यक, ना० १० परि० १)

कृष्णकी कालियदमन-लीला

(६) ऋग्वेदसंहिता—

'कालिको नाम सर्पो नवनागसहस्रबलः।' इत्यादि
(७–९६ खिल ४। ५। १)

(घ) मैत्रायणीयसंहिता (कृष्णयजुर्वेद)।

(७) तत्केशवाय विद्महे नारायणाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। (२। ९। ८)

शतपथब्राह्मणमें मत्स्य तथा तैत्तिरीय आरण्यकमें कूर्म-अवतारकी बात आती है।

'रामतापनी', 'रामरहस्य', मुक्तिक, कलिसंतरण, गोपालपूर्व० और उत्तरतापनी०, कृष्ण, त्रिपादविभूति, महा-नारायण, वासुदेव आदि उपनिषदोंमें वैष्णव अवतार राम-कृष्ण आदिका उल्लेख मिलता है। विष्णुके वाहन गरुडकी बात बहुत-से ऋक्-मन्त्रोंमें मिलती है।

४–सूर्य

वेदोंमें सूर्य-उपासना यत्र-तत्र उपलब्ध होती है। कुछ मन्त्रोंका उल्लेख किया जाता है।

(क) ऋग्वेद (शाकल) संहिता।

१. 'सूर्य आत्मा जगतः' इत्यादि (१। ११५। १)

२. 'हंसः शुचिषद्'–इत्यादि (४। ४०। ५) कठ० उप० २। ५। २।

३. 'आ कृष्णेन रजसा'–इत्यादि (१। ३५। २)

(ख) मैत्रायणीय संहिता—(कृष्णयजुर्वेद)

४. तद्भास्कराय विद्महे प्रभाकराय धीमहि। तन्नो भानुः प्रचोदयात्। (२।९।९)

५. प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र—'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो—इत्यादि सूर्यकी तेजःशक्तिकी उपासनासे सम्बन्धित है और ब्रह्मविद्याके नामसे विख्यात है।

(शुक्लयजुर्वेद ३। ३५; २२। ९) तथा (ऋग्वेद-संहिता ३। ६२। १०)

जो लोग कहते हैं कि सूर्योपासना भारतमें फारस या अन्य किसी देशसे आयी है, उन लोगोंको वेदविद्याका कुछ भी ज्ञान नहीं है।

५—गणपति

गणेश वैदिक देवता हैं; इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता।

(क) ऋग्वेद (शाकल) संहिता।

(१) गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्। ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्'। (२।२३।१)

अनुमानतः ईसासे ४५० वर्ष पूर्व महाकवि भासने अपने 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटककी नान्दीमें कार्तिकेयके वाचकके रूपमें 'वत्सराज'—इस द्व्यर्थक शब्दका प्रयोग किया है।

'वत्सराजस्तु नाम्ना सशक्तियौगन्धरायणः'। (प्रतिज्ञा० १।१) वे अवश्य ही उपर्युक्त ऋक्-मन्त्र और गणेशके वैदिक नाम 'ज्येष्ठराज'से सुपरिचित थे। हर-पार्वतीके ज्येष्ठ पुत्र होनेके कारण ही गणपति ज्येष्ठराज हैं; उसी प्रकार कार्तिकेय उनके कनिष्ठ भाई हैं, अतएव उनका आदरका नाम 'वत्सराज' है।

गणेशका ज्येष्ठराज नाम महत्त्वपूर्ण है। इससे प्रमाणित होता है कि हर-पार्वतीका सारा पारिवारिक इतिहास ऋग्वेद-में भी सुप्रचलित था। मैत्रायणीयसंहिताके एक ऋग्-मन्त्रमें भी 'ज्येष्ठराज' नाम गणेशके वाचकके रूपमें व्यवहृत हुआ है।

(ख) शुक्लयजुःसंहिता।

(२) 'गणानां त्वा', इत्यादि। (२३।१९)

(ग) मैत्रायणीयसंहिता।

(३) तत् कराटाय विद्महे हस्तिमुखाय धीमहि। तन्नो दन्ती: प्रचोदयात्। (२।९।६)

(घ) तैत्तिरीय आरण्यक, नारायणोपनिषद्—

(४) तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्। (ना० १०।१)

अब स्पष्ट प्रमाणित हो गया कि मैक्समूलरका गणेशके हस्तिशिरको लेकर व्यङ्ग करना निरर्थक था; क्योंकि वेदोंमें ही उल्लेख है कि वे गजवदन, दन्ती आदि हैं।

उपर्युक्त कतिपय मन्त्र निःसंदेह पञ्चदेवताकी साकार उपासनाके द्योतक हैं। मैक्समूलर और उनके अनुयायी चाहे कुछ भी कहें, शिव, शक्ति (पार्वती, श्री आदि), विष्णु, सूर्य और गणेशकी पूजा वैदिक युगमें भी थी।

इष्टपूजा द्वैतमें अद्वैतकी उपासना है

वर्णाश्रमके अधिकारके अनुसार निष्कामकर्म याग-यज्ञादि करके चित्तशुद्धि होनेपर ही प्रकृत उपासनामें अग्रसर होना सम्भव है। सनातनधर्मका सार यह है कि वह एक अव्यय ब्रह्म ही अपनी अचिन्त्य मायाके प्रभावसे अनेक रूप धारण करके लीला करता है। उसके प्रधान रूप पाँच हैं। उनमेंसे साधककी प्रकृतिके अनुसार जो इष्ट हों, सद्गुरु उनके ही मन्त्रमें साधकको दीक्षित करें। साधक अनेकमें अपने उस एक इष्टदेवको ही देखे। वही अन्य चार आवरण-देवताओंके रूपमें स्थित है। दूसरे देव-देवी भी वही है। जगत्में जो कुछ है, था और होगा—सब वही एक इष्टदेव है। साधक अपनेको भी उस इष्टके रूपमें ही चिन्तन करे। द्वैत-भावनाके बिना साधन असम्भव है। परंतु यह इष्ट-पूजा द्वैतके मार्गसे अद्वैतमें पहुँचनेकी कील-काठी है। द्वैताद्वैतको पार करनेपर ही वास्तव ब्रह्मदर्शन होता है। मन और बुद्धिके लिये वह अगम्य और अगोचर है।

इसी प्रकार शिवाद्वैत-मतमें शिवोपासक नाना प्रकारके देवता, यहाँतक कि जगत्के भीतर-बाहर सर्वत्र एकमात्र इष्टदेव शिवजी ही हैं, ऐसा देखते हैं। रामाद्वैतवादके भावुक भक्तिमार्गसे चलकर सब कुछ राम-रूप ही अनुभव करते हैं। द्वैतवादमें अद्वैतवादके अपूर्व समन्वयके रूपमें इसका वर्णन किया जाता है। फलतः पञ्चोपासना संसार-सागरको पार करनेका एक लघु उपाय है।

नवग्रह-उपासना

(लेखक—पं० श्रीमक्खनलालजी मिश्र, ज्योतिषाचार्य)

सूर्य, चन्द्रमा, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतुको 'नवग्रह' कहते हैं। ज्यौतिषशास्त्रके मतानुसार रवि-चन्द्रमाको नक्षत्रोंका स्वामी, मङ्गलको पृथ्वीपुत्र, बुधको चन्द्रमाका पुत्र, बृहस्पतिको देवगुरु, शुक्रको दैत्य-गुरु, शनिको सूर्यपुत्र, एवं राहु-केतुको पृथ्वीका छाया-पुत्र माना गया है।

भारतीय संस्कृतिमें नवग्रह-उपासनाका उतना ही महत्त्व है, जितना कि भगवान् विष्णु, शिव तथा अन्य देवोपासनाका। जन्मसे लेकर उपनयन, विवाह आदि संस्कारोंमें नवग्रह-पूजनका विशेष महत्त्व है। यज्ञानुष्ठानकी क्रिया नवग्रह-स्थापनके बिना अपूर्ण ही रहती है; क्योंकि यज्ञरक्षा नवग्रहों-द्वारा ही होती है; अतः रक्षा-विधानके लिये शास्त्रीय आदेश है कि गणेश, सरस्वती, क्षेत्रपालकी स्थापनाके साथ-साथ नवग्रहोंकी भी स्थापना करनी चाहिये और उन्हें पूजन करके प्रणाम करना चाहिये—

ॐ गणाधिपं नमस्कृत्य नमस्कृत्य पितामहम्।
विष्णुं रुद्रं श्रियं देवीं वन्दे भक्त्या सरस्वतीम्॥
स्थानाधिपं नमस्कृत्य ग्रहनाथं निशाकरम्।
धरणीगर्भसम्भूतं शशिपुत्रं बृहस्पतिम्॥
दैत्याचार्यं नमस्कृत्य सूर्यपुत्रं महाग्रहम्।
राहुं केतुं नमस्कृत्य यज्ञारम्भे विशेषतः॥

जीवनका सम्पूर्ण सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय आदि विषय इन नवग्रहोंपर आधारित होता है। इसका कारण २७ नक्षत्रों और १२ राशियोंपर ये ग्रह सतत भ्रमण करते रहते हैं, जिससे ऋतुएँ, वर्ष, मास और दिन-रात बनते हैं।

भ्रमण-कोष्ठक

नाम ग्रह	रवि	चन्द्रमा	मङ्गल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु
भ्रमण-समय १ राशिपर	१ मास	२¼ दिन	१½ मास	१ मास	१३ मास	१ मास	३० मास	१८ मास	१८ मास

इस प्रकार अपनी-अपनी गतिके अनुरूप ये ग्रह मन्द अथवा तीव्र चालसे एक-एक राशिको पार करते रहते हैं। जब ये सप्तग्रह सूर्यके समीप अंशोंमें एक ही राशिपर होते हैं, अस्त माने जाते हैं। इन राशियोंके नाम (१) मेष, (२) वृष, (३) मिथुन, (४) कर्क, (५) सिंह, (६) कन्या, (७) तुला, (८) वृश्चिक, (९) धन, (१०) मकर, (११) कुम्भ और (१२) मीन हैं। नामके अनुसार इन्हीं राशियोंपर स्थित ग्रहोंकी चाल देखकर बताया जाता है कि अमुक व्यक्तिके लिये अमुक समय अच्छा नहीं। बारह राशियों-हेतु नवग्रहोंको इनका स्वामी चुना गया है। जैसे—

मेषवृश्चिकयोर्भौमः शुक्रो वृषतुलाधिपः।
बुधः कन्यामिथुनयोः प्रोक्तः कर्कस्य चन्द्रमाः॥
सिंहस्याधिपतिः सूर्यो गुरुश्च धनुमीनयोः।
मकरकुम्भाधिपो मन्द एते राशयापतिः॥

अर्थात् 'मेष-वृश्चिकका स्वामी मङ्गल, वृष-तुलाका शुक्र, कन्या-मिथुनका बुध, कर्कका चन्द्रमा, सिंहका सूर्य, धन-मीनका गुरु और मकर-कुम्भका स्वामी शनिको माना गया है।' मनुष्यकी आयु १२० वर्ष मानी गयी है, जिसमें सूर्यकी दशा ६ वर्ष, चन्द्रमाकी १० वर्ष, मङ्गलकी ७ वर्ष, राहुकी १८ वर्ष, बृहस्पतिकी १६ वर्ष, शनिकी १९ वर्ष, बुधकी १७वर्ष, केतुकी ७वर्ष और शुक्रकी २०वर्षतक क्रमानुसार प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें आती हैं। जब जन्मकुण्डली अथवा वर्षकुण्डलीमें कोई ग्रह खराब स्थानमें बैठा हुआ अपना अच्छा असर नहीं करता, तब कहा जाता है कि 'अमुक ग्रह खराब है; इसके लिये दान-पुण्य-आराधना कराओ।'

किस ग्रहकी शान्तिके लिये क्या पाठ-जप-श्रवण करना चाहिये, कौन-सा रत्न धारण करना चाहिये तथा किन-किन वस्तुओंका दान करना चाहिये, इसकी तालिका नीचे दी जा रही है।

ग्रह	आराधन	धारण	दान
सूर्य	हरिवंशपुराण-श्रवण	माणिक्य	गेहूँ, गाय, गुड़, ताँबा, सोना, लाल वस्त्र-दान ।
चन्द्रमा	शिवस्तुति	मोती	चावल, कपूर, सफेद वस्त्र, चाँदी, शङ्ख, वंशपात्र, सफेद चन्दन, श्वेत पुष्प, चीनी, वृषभ, दधि, मोती ।
मङ्गल	,,	प्रवाल	ताँबा, सोना, गेहूँ, लाल वस्त्र, गुड़, लाल चन्दन, लाल पुष्प, केसर, कस्तूरी, लाल वृषभ, मसूरकी दाल, पृथ्वी, विद्रुम ।
बुध	अमावास्याव्रत	पन्ना	काँसी, हाथीदाँत, हरा वस्त्र, मूँग, पन्ना, सुवर्ण, दासी, कपूर, शस्त्र, फल, षट्रस भोजन, घृत, सर्वपुष्प ।
गुरु	,,	पुखराज	पीला वस्त्र, सोना, हल्दी, घृत, पीले पुष्प, पीला अन्न, पुखराज, अश्व, पुस्तक, मधु, लवण, शर्करा, भूमि, छत्र ।
शुक्र	गोपूजा	हीरा	चाँदी, सोना, चावल, घी, सफेद वस्त्र, सफेद चन्दन, हीरा, सफेद अश्व, दही, गन्धद्रव्य, चीनी, गौ, भूमि ।
शनि	मृत्युञ्जयजप	नीलम	तिल, उड़द, भैंस, लोहा, तैल, काला वस्त्र, नीलम, कुलथी, काली गौ, काले पुष्प, जूता, कस्तूरी, सुवर्ण ।
राहु	,,	पिरोजा	अभ्रक, लौह, तिल, नीला वस्त्र, छाग, ताम्रपात्र, सप्तधान्य, उड़द, गोमेद, काले पुष्प, तेल, कम्बल, घोड़ा, खड्ग ।
केतु	,,	लहसुनिया	कस्तूरी, तिल, छाग, काला वस्त्र, ध्वजा, सप्तधान्य, कम्बल, उड़द, वैदूर्य, काले पुष्प, तेल, सुवर्ण, लोहा, शस्त्र ।

पूजनविधि—

बायें हाथमें अक्षत ले दाहिने हाथसे प्रत्येक मन्त्र बोलकर अक्षत छोड़ें—

(१) सूर्य (मण्डलके मध्यमें लाल, गोलाकार)

मन्त्र—ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्ययेन सविता रथेनाऽऽदेवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ (ऋग्० १ । ३५ । २; यजु० ३३ । ४३)

ॐ भूर्भुवः स्वः सूर्य इहागच्छ इह तिष्ठ । सूर्याय नमः ॥

बीजमन्त्र—ॐ ह्रां ह्रीं ह्रौं सः सूर्याय नमः ।

जप—७०००, समय उदयकाल ।

(२) चन्द्रमा (अग्निकोणमें श्वेत, अर्धचन्द्र)

मन्त्र—ॐ इमं देवा असपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ (यजु० ९ । ४०)

ॐ भूर्भुवः स्वः चन्द्र इहागच्छ इह तिष्ठ । सोमाय नमः ॥

बीजमन्त्र—ॐ श्रां श्रीं श्रौं सः चन्द्राय नमः ।

जप—११०००, संध्याकाल ।

(३) मङ्गल (दक्षिणमें लाल, त्रिकोण)

मन्त्र—ॐ अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति ॥ (ऋग्० ८ । ४४ । १६; यजु० १३ । १४)

ॐ भूर्भुवः स्वः भौम इहागच्छ इह तिष्ठ। भौमाय नमः॥

बीजमन्त्र—ॐ क्रां क्रीं क्रौं सः भौमाय नमः।

जप—१००००, समय घड़ी २।

(४) बुध (ईशानकोणमें हरा, बाण)

मन्त्र—ॐ उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च अस्मिन्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॥ (यजु० १५। ५४)

ॐ भूर्भुवः स्वः बुध इहागच्छ इह तिष्ठ। बुधाय नमः॥

बीजमन्त्र—ॐ ब्रां ब्रीं ब्रौं सः बुधाय नमः।

जप—१९०००, समय घड़ी ५।

(५) गुरु (उत्तरमें पीला, अष्टदल)

मन्त्र—ॐ बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद् विभाति क्रतुमज्जनेषु। यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्॥ (ऋग्० २। २३। १५; यजु० २६। ३)

ॐ भूर्भुवः स्वः बृहस्पते इहागच्छ इह तिष्ठ। बृहस्पतये नमः॥

बीजमन्त्र—ॐ ग्रां ग्रीं ग्रौं सः गुरवे नमः।

जप—१९०००, समय संध्याकाल।

(६) शुक्र (पूर्वमें श्वेत, पञ्चकोण)

मन्त्र—ॐ अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु॥ (यजु० १९। ७५)

ॐ भूर्भुवः स्वः शुक्र इहागच्छ इह तिष्ठ। शुक्राय नमः॥

बीजमन्त्र—ॐ द्रां द्रीं द्रौं सः शुक्राय नमः।

जप—६०००, समय सूर्योदय।

(७) शनि (पश्चिममें काला, मनुष्य)

मन्त्र—ॐ शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥ (ऋग्० १०। ९। ४; यजु० ३६। १२)

ॐ भूर्भुवः स्वः शनैश्चर इहागच्छ इह तिष्ठ। शनैश्चराय नमः॥

बीजमन्त्र—ॐ प्रां प्रीं प्रौं सः शनैस्चराय नमः।

जप—२३०००, समय संध्या।

(८) राहु (नैर्ऋत्यकोणमें काला मकर)

मन्त्र—ॐ कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कयाशचिष्ठया वृता॥ (ऋग्वे० ४। ३१। १, यजु० २७। ३९)

ॐ भूर्भुवः स्वः राहो इहागच्छ इह तिष्ठ। राहवे नमः॥

बीजमन्त्र—ॐ भ्रां भ्रीं भ्रौं सः राहवे नमः।

जप—१८०००, समय रात्रि।

(९) केतु (वायव्यकोणमें काला ध्वजा)

मन्त्र—ॐ केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥ (ऋग्० १। ६। ३; यजु० २९। ३७)

ॐ भूर्भुवः स्वः केतो इहागच्छ इह तिष्ठ। केतवे नमः॥

बीजमन्त्र—ॐ स्त्रां स्त्रीं स्त्रौं सः केतवे नमः।

जप—१७०००, समय रात्रि।

शनैश्चर	बीजमन्त्र	ॐ प्रां प्रीं प्रौं सः।	जप	२३०००, संध्या
राहु	बीजमन्त्र	ॐ भ्रां भ्रीं भ्रौं सः।	जप	१८०००, रात्रि
केतु	बीजमन्त्र	ॐ स्त्रां स्त्रीं स्त्रौं सः।	जप	१७०००, रात्रि

उपर्युक्त रीतिके अनुसार ग्रहशान्ति-हेतु उपासनाके लिये मण्डल बनाकर, वहाँ आकृति करके (जैसा कि सूर्य-हेतु लाल, गोलाकार, मण्डलके मध्यभागमें पूर्ववर्णित है।) नवग्रहोंको प्रतिष्ठित कर अक्षत-धूप-दीप-नैवेद्यादिसे पूजन करना चाहिये। निर्दिष्ट वस्तुका दान करे जो भी प्राप्त हो, तथा जिस ग्रहकी शान्तिकी आवश्यकता हो, उसी वारका व्रत एवं जागरण करना अत्युत्तम है। फिर प्रत्येक ग्रहशान्ति-हेतु सत्यनारायण या प्रदोषव्रत, गोपूजन सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। बीज-

मन्त्रोंके जप भी अपना महत्त्वपूर्ण प्रभाव दिखाते हैं। समस्त मन्त्रोंकी सुगमता एवं ग्रहोंकी शान्तिके हेतु यत्र-तत्र उल्लेखनीय है—

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः
सर्वे ग्रहाः शान्तिकरा भवन्तु॥

अर्थात्—ब्रह्मा, विष्णु, शिवके साथ समस्त ग्रह 'रवि, चन्द्र, मङ्गल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु हमारी शान्ति करें।'

सबल शरीर, आयु, यश एवं ऐश्वर्य-प्राप्ति तथा दुःस्वप्न-नाश और विघ्न-दुःखनाशके लिये श्रीमद् वेदव्यासजी-द्वारा वर्णित नव-ग्रह-स्तोत्रका नित्यपाठ अत्यन्त लाभदायक है। आशा है कि पाठकगण अवश्य ग्रहण करेंगे—

जपाकुसुमसंकाशं काश्यपेयं महाद्युतिम्।
तमोऽरिं सर्वपापघ्नं प्रणतोऽस्मि दिवाकरम्॥
दधिशङ्खतुषाराभं क्षीरोदार्णवसम्भवम्।
नमामि शशिनं सोमं शम्भोर्मुकुटभूषणम्॥
धरणीगर्भसम्भूतं विद्युत्कान्तिसमप्रभम्।
कुमारं शक्तिहस्तं तं मङ्गलं प्रणमाम्यहम्॥
प्रियङ्गुकलिकाश्यामं रूपेणाप्रतिमं बुधम्।
सौम्यं सौम्यगुणोपेतं तं बुधं प्रणमाम्यहम्॥
देवानां च ऋषीणां, च गुरुं काञ्चनसन्निभम्।
बुद्धिभूतं त्रिलोकस्य तं नमामि बृहस्पतिम्॥
हिमकुन्दमृणालाभं दैत्यानां परमं गुरुम्।
सर्वशास्त्रप्रवक्तारं भार्गवं प्रणमाम्यहम्॥
नीलाञ्जनसमाभासं रविपुत्रं यमाग्रजम्।
छायामार्तण्डसम्भूतं तं नमामि शनैश्चरम्॥
अर्धकायं महावीर्यं चन्द्रादित्यविमर्दनम्।
सिंहिकागर्भसम्भूतं तं राहुं प्रणमाम्यहम्॥
पलाशपुष्पसंकाशं तारकाग्रहमस्तकम्।
रौद्रं रौद्रात्मकं घोरं तं केतुं प्रणमाम्यहम्॥
इति व्यासमुखोद्गीतं यः पठेत् सुसमाहितः
दिवा वा यदि वा रात्रौ विघ्नशान्तिर्भविष्यति॥
नरनारीनृपाणां च भवेद्दुःस्वप्ननाशनम्।
ऐश्वर्यमतुलं तेषामारोग्यं पुष्टिवर्धनम्॥
ग्रहनक्षत्रजाः पीडास्तस्कराग्निसमुद्भवाः।
ताः सर्वाः प्रशमं यान्ति व्यासो ब्रूते न संशयः॥

सर्वसुलभ-परीक्षित-उपासना—गायत्रीमन्त्र [ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्] का निरन्तर जप एवं निम्नलिखित सूर्ययन्त्र-धारण।

ॐ

६	१	८
७	५	३
२	९	४

[रविवारके दिन भोजपत्रपर लालचन्दनसे लिखकर ताँबेके तावीजमें डालकर सूर्यकी पूजा करके तथा धूप देकर पुरुषकी दाहिनी भुजामें और स्त्रीकी बायीं भुजामें बाँध दे।]

नवग्रह-कवच

नीचे 'यामलतन्त्र'का एक 'नवग्रह-कवच' दिया जा रहा है। इसके श्रद्धापूर्वक पाठ करने तथा ताबीजमें रखकर भुजामें धारण करनेसे बहुत लाभ होता है।

ॐ शिरो मे पातु मार्त्तण्डः कपालं रोहिणीपतिः।
मुखमङ्गारकः पातु कण्ठं च शशिनन्दनः॥
बुद्धिं जीवः सदा पातु हृदयं भृगुनन्दनः।
जठरं च शनिः पातु जिह्वां मे दितिनन्दनः॥
पादौ केतुः सदा पातु वाराः सर्वाङ्गमेव च।
तिथयोऽष्टौ दिशः पान्तु नक्षत्राणि वपुः सदा॥
अंसौ राशिः सदा पातु योगश्च स्थैर्यमेव च।
सुचिरायुः सुखी पुत्री युद्धे च विजयी भवेत्।
रोगात्प्रमुच्यते रोगी बन्धो मुच्येत बन्धनात्॥
श्रियं च लभते नित्यं रिष्टिस्तस्य न जायते।
यः करे धारयेन्नित्यं तस्य रिष्टिर्न जायते॥
पठनात् कवचस्यास्य सर्वपापात् प्रमुच्यते।
मृतवत्सा च या नारी काकवन्ध्या च या भवेत्।
जीववत्सा पुत्रवती भवत्येव न संशयः॥
एतां रक्षां पठेद् यस्तु अङ्गं स्पृष्ट्वापि वा पठेत्॥

ग्रहोपासना

[प्रश्नोत्तर]

(लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन)

—भगवन् ! समय अच्छा चलना चाहिये था, परंतु इन दिनों घोर कष्टमें हूँ ।

—समय अच्छा चलना चाहिये था ऐसा क्यों कहते हो ?

—महाराज ! मेरी शुक्रकी महादशा चल रही है और शुक्र मेरा चन्द्रमा एवं स्वक्षेत्री बृहस्पतिके साथ पाँचवें स्थानमें उच्चका होकर बैठा है ।

—और शुक्रमें राहुका अन्तर जो चल रहा है । राहु बारहवें स्थानमें तुलाका होकर अनिष्ट ही फल देगा । वैसे भी राहु शुक्रसे आठवें बैठा है । उधर गोचर भी ठीक नहीं—शनि लग्नमें राहु दूसरे । आगे राहु लग्नमें आकर और कष्ट देगा । बृहस्पति अभीतक पाँचवें ठीक है, परंतु छठे आकर ठीक नहीं रहेगा ।

—समय अच्छा नहीं है तथा आनेवाला समय और भी बुरा है । उस और भी बुरेके पश्चात् तो अच्छा रहेगा ?

—अच्छा ही रहना चाहिये परंतु प्रत्येक अच्छा या बुरा समय बहुत कुछ अपने पूर्वगामी समयपर निर्भर रहता है कि उसमें जातकको कितनी स्थायी हानि अथवा स्थायी लाभ पहुँच चुका है ।

—तो ग्रहशान्ति अवश्य करवानी चाहिये । राहु, शनि और बृहस्पति तीनोंकी शान्तिके लिये दान तो मेरी समझमें आता है । उससे आसक्ति घटती है और आसक्ति ही सारे पापोंकी जड़ है ।

—दानसे न केवल आसक्ति ही घटती है, अपितु ईश्वर-विश्वास भी बढ़ता है कि जो प्रभुके पथपर चलते हैं, उनका योग-क्षेम उसके हाथोंमें है । बिना ईश्वर-विश्वास बढ़े जो आसक्ति घटती है, उसका कोई विश्वास नहीं । वह एक नीरस यातना है ।

—साधु ! परंतु महाराजजी ! ग्रहशान्तिके लिये जप मुझे नहीं अच्छा लगता । ग्रह हमें कष्ट देनेके लिये आते हैं और हम उनकी उपासना करने दौड़ें । आर्य दीन नहीं हो सकता ।

'अदीनाः स्याम शरदः शतम् ।'
'अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम् ।'

—माता-पिता, गुरुजन जो हमें दण्ड देते हैं, क्या उसमें हमारे कल्याणका भाव नहीं छिपा हुआ है ? क्या केवल इसी कारण कि उन्होंने हमें दण्ड दिया, हमें अपनेको अदीन सिद्ध करनेके लिये उनके प्रति अपनी सारी श्रद्धाको समेट लेना चाहिये ?

—बृहस्पति और शुक्र-जैसे शुभ ग्रहोंकी तो उपासना मैं कर सकता हूँ, परंतु शनि और राहु तो दुष्ट-ग्रह हैं, पाप-ग्रह हैं । उनका स्वभाव ही पीड़ा देनेका है । फिर उन्हें नमस्कार कैसा ? '**ॐ बृं बृहस्पतये नमः**' तो चले ठीक, परंतु '**ॐ रां राहवे नमः**' व '**ॐ शं शनैश्चराय नमः**' का क्या औचित्य है ? क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हम भारतीय दुष्टों और पापियोंको भी पूजते हैं, यदि वे हमें हानि पहुँचानेमें समर्थ हैं । हमारी पूजा प्रेम, श्रद्धा और भक्तिका परिणाम नहीं,—वह हमारी भीरुता, दीनता और विवशतासे सम्बन्धित है ।

—एक बार तुम ही कह रहे थे कि ज्योतिषकी सार्थकता तो तभी है जब हम आनेवाले अनिष्टको टाल सकें, नहीं तो यह जानने मात्रसे क्या लाभ कि समय अच्छा आयेगा या बुरा आयेगा ?

—परंतु, उस अनिष्टको टालनेके लिये दीनता स्वीकार्य नहीं । एक व्यक्तिकी बात नहीं, इससे हमारा राष्ट्रीय चरित्र गिरता है । हमारा राष्ट्र कलङ्कित होता है । दूसरे लोग हमारा उपहास करते हैं । १८वीं शतीके प्रसिद्ध राजनेता बर्कने आङ्गलीय संसद्में हमारे ऊपर यही लाञ्छन लगाकर अपना रोष प्रकट किया था । भारतीयोंपर विशेषतः महाराज नन्दकुमार, रुहेलों और अवधकी बेगमोंपर लोमहर्षक अत्याचार करनेके कारण स्वदेश लौटनेपर वारेन हेस्टिंग्जपर वहाँकी संसद्में अभियोग चलाया जिसके प्रमुख वक्ता बर्क, फाक्स और शेरिडन थे । जिस समय शेरिडनने अवधकी बेगमोंकी कहानी सुनायी तो आंग्लवासी सन्नसे रह गये ।

स्त्रियाँ भय और उत्तेजनासे काँपने लगीं। कई तो मूर्छित होकर गिर पड़ीं। जनरोष हेस्टिंग्जके विरुद्ध उमड़ चुका था। हेस्टिंग्ज उसमें डूबनेवाला ही था कि इसी बीचमें भारतीयोंके आवेदनपत्र पहुँचने आरम्भ हुए, आंग्ल देशकी संसद्में कि हेस्टिंग्ज तो बड़ा दयालु और बड़ा कृपानिधान रहा है। अवधकी बेगमोंका भी आवेदनपत्र पहुँचा कि 'वारेन हेस्टिंग्ज बड़ा न्यायकारी और बड़ा लोकप्रिय रहा है। हमारे नामपर उसपर अभियोग न चलाया जाय।' यह सब बर्कने सुना। वे आग-बबूला होकर हम भारतीयोंपर बरस पड़े और हमारे राष्ट्रीय चरित्रकी खिल्ली उड़ाने लगे। 'मैं जानता हूँ इन हिंदुओंको,* ये श्रद्धा और प्रेमके वश किसीको नहीं पूजते, ये भयसे आतङ्कित होकर पूजा करते हैं।' इस संदर्भमें उन्होंने शीतला और शनैश्चरका नाम लिया था।

—वत्स! राहु और शनिश्चर तीसरे, छठे और ग्यारहवें स्थानमें हों तो सुख भी देते हैं। उधर कुण्डलीमें ग्रह जैसा बैठा हो, वैसा फल देता है। ज्योतिषका तुमने अभ्यास किया है?

—यह ठीक है, ग्रह सुख-दुःख नहीं देता, ग्रहोंकी चाल सुख-दुःख देती है।

—वत्स! यदि चलती हुई मोटरसे कोई टकराकर मर जाय तो यह किसका अपराध है? मोटरका, मोटर चलानेवालेका या टकरानेवाले पथिकका?

—महाराज, मोटरका भी हो सकता है। वह इतनी निकृष्ट हो कि चलानेके योग्य ही न हो।

—तो भी अपराध चलानेवालेका कहा जायगा। उसने टूटी-फूटी मोटर सार्वजनिक पथपर क्यों चलायी? वत्स! समग्र ग्रह अटूट नियमोंके अनुसार परिभ्रमण करते रहते हैं। उन्हें किसीसे राग-द्वेष नहीं है। उनके चलानेवालेकी निपुणता और सर्वकल्याणमयी भावनापर तो तुम्हारा विश्वास नहीं डिगा?

—नहीं डिगा। न डिग सकता है।

—तो फिर ग्रह-चालसे जो हानि जातकको पहुँचती है, उसका कारण वह स्वयं है, ग्रह नहीं। इसी विश्वासको दृढ़ करनेके लिये जप किया जाता है। बार-बार दुहराओ प्रत्येक ग्रह हमारा मित्र है। उसकी प्रत्येक चाल हमारे कल्याणके लिये है। जो उसे चला रहा है, उसकी सतत चेष्टा हमें निरन्तर विकासकी ओर ले जानेकी है और उसके आज्ञाकारी सेवक एवं प्रतिनिधिके रूपमें जो ग्रह हैं, उनके चरणोंमें हमारा नमस्कार स्वीकार हो। कष्टकारी होनेसे पूर्व चूँकि कहीं हम विचल न जायँ, उन्हें अपना शत्रु न समझ बैठें। श्रेयके पथपर चलनेके लिये अनेक गुणोंकी आवश्यकता होती है। जिस प्रकार विद्यालयोंमें समय-विभाग होता है; प्रत्येक अध्यापक विद्यार्थियोंके एक या दो विषयोंकी ओर ध्यान देता है; जो विद्यार्थी जिस अध्यापकके विषयमें संदेहयुक्त होता है, उसका समय आनेपर वह घबराने लगता है; और यदि वह उस अध्यापकको अपना शत्रु समझकर चलता है, तो उसके कष्ट बढ़ जाते हैं और यदि यह भावना कर ले कि प्रत्येक अध्यापक मेरे कल्याणके लिये है तो उसमें सद्बुद्धिका विकास होगा। वह अपनी हीनता दूर करनेमें सफल होगा और सुखी रहेगा।

—सुखी तभी रहेगा जब हीनता दूर होगी। अध्यापकका नाम जपनेसे क्या लाभ होगा?

—त्रुटि दूर करनेसे पूर्व मनमें त्रुटि दूर करनेका संकल्प दृढ़ होना चाहिये और यह तभी हो सकता है, जब हम प्रत्येक ग्रह और उसकी प्रत्येक चालका उद्देश्य अपना कल्याण समझें। प्रत्येक ग्रह एक विशेष विभागका अध्यक्ष है। शनि संतुलन और न्यायका ग्रह है। वह तुला राशिमें मुदित होता है। जो लोग अस्वाभाविक विषमता अथवा अस्वाभाविक समताको आश्रय देते हैं, शनि उन्हें पीड़ित करता है। शनिके कुपित होनेसे पूर्व हमें यह देख लेना चाहिये कि हम अन्याय और अनावश्यक विषमताका तो साथ नहीं दे रहे हैं? जैसे गणितके अध्यापकके आनेसे पूर्व विद्यार्थी अपने गणितसम्बन्धी पोथी-पत्रे ठीक कर लेते हैं, वैसे ही प्रत्येक ग्रहदशा परिवर्तित होनेसे पूर्व हमें आनेवाली दशाके लिये अपने ऊपर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये। मङ्गल उग्रताका ग्रह है, अवाञ्छनीय शान्ति और अनावश्यक उग्रता दोनों ही मङ्गलको अप्रिय हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रहोंका कार्यविभाग है। उन सभीका हमारे जीवनमें स्थान है। यह समझकर हमें सभीको नमस्कार करना है। सभीको पूजा देनी है।

* उन दिनों भारतवासी मुसल्मानोंको भी यूरोपवाले हिंदू कहते थे।

भगवान् गणेशकी उपासना

(गणपत्युपनिषत् या गणेशाथर्वशीर्ष)

स्तुति-प्रार्थना

ॐ नमस्ते गणपतये । त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि ।
त्वमेव केवलं कर्तासि । त्वमेव केवलं धर्तासि ।
त्वमेव केवलं हर्तासि । त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि ।
त्वं साक्षादात्मासि नित्यम् ॥ १ ॥
ऋतं वच्मि । सत्यं वच्मि ॥ २ ॥
अव त्वं माम् । अव वक्तारम् । अव श्रोतारम् ।
अव दातारम् । अव धातारम् । अवानूचानमव
शिष्यम् । अव पश्चात्तात् ।
अव पुरस्तात् । अव चोत्तरात्तात् । अव दक्षिणात्तात् ।
अव चोर्ध्वात्तात् । अवाधरात्तात् ।
सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात् ॥ ३ ॥

'हरिः । भगवान् गणपतिको नमस्कार है । तुम्हीं प्रत्यक्ष तत्त्व हो । तुम्हीं केवल कर्ता हो । तुम्हीं केवल धर्ता हो । तुम्हीं केवल हर्ता हो । निश्चयपूर्वक तुम्हीं इन सब रूपोंमें विराजमान ब्रह्म हो । तुम साक्षात् नित्य आत्मस्वरूप हो । मैं ऋत—न्याययुक्त बात कहता हूँ । सत्य कहता हूँ । तुम मेरी (मुझ शिष्यकी) रक्षा करो, वक्ता (आचार्य) की रक्षा करो । श्रोताकी रक्षा करो । दाताकी रक्षा करो । धाताकी रक्षा करो । व्याख्या करनेवाले आचार्यकी रक्षा करो । शिष्यकी रक्षा करो । पश्चिमसे रक्षा करो, पूर्वसे रक्षा करो, उत्तरसे रक्षा करो, दक्षिणसे रक्षा करो, ऊपरसे रक्षा करो, नीचेसे रक्षा करो, सब ओरसे मेरी रक्षा करो, चारों ओरसे मेरी रक्षा करो ।'

स्वरूप-तत्त्व

त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः । त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः ।
त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि ।
त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि ॥ ४ ॥
सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते । सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति ।
सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति ।
सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति ।
त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः ।
त्वं चत्वारि वाक्पदानि ॥ ५ ॥
त्वं गुणत्रयातीतः । त्वं कालत्रयातीतः ।
त्वं देहत्रयातीतः । त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम् ।
त्वं शक्तित्रयात्मकः ।
त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम् ।
त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्नि-
स्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म
भूर्भुवःसुवरोम् ॥ ६ ॥

'तुम वाङ्मय हो, तुम चिन्मय हो, तुम आनन्दमय हो, तुम ब्रह्ममय हो । तुम सच्चिदानन्द अद्वितीय हो । तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । तुम ज्ञानमय, विज्ञानमय हो । यह सारा जगत् तुमसे उत्पन्न होता है । यह सारा जगत् तुमसे ठहरा हुआ है । यह सारा जगत् तुममें लयको प्राप्त होगा । इस सारे जगत्की तुममें प्रतीति हो रही है । तुम भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश हो । परा, पश्यन्ती, वैखरी और मध्यमा—वाणीके ये चार विभाग तुम्हीं हो । तुम सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे परे हो । तुम भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंसे परे हो । तुम स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे परे हो । तुम मूलाधार-चक्रमें नित्य स्थित रहते हो । इच्छा, क्रिया और ज्ञान—तीन प्रकारकी शक्तियाँ तुम्हीं हो । तुम्हारा योगिजन नित्य ध्यान करते हैं । तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो, तुम रुद्र हो, तुम इन्द्र हो, तुम अग्नि हो, तुम वायु हो, तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम ब्रह्म हो । भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों लोक तथा ॐकारवाच्य परब्रह्म भी तुम हो ।'

मन्त्र और गायत्री

गणादिं पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनन्तरम् ।
अनुस्वारः परतरः । अर्धेन्दुलसितम् ।
तारेण रुद्धम् । एतत्तव मनुस्वरूपम् ।
गकारः पूर्वरूपम् । अकारो मध्यमरूपम् ।
अनुस्वारश्चान्त्यरूपम् । बिंदुरुत्तररूपम् ।
नादः संधानम् । संहिता संधिः ।
सैषा गणेशविद्या । गणक ऋषिः निचृद्गायत्री छन्दः ।

श्रीमहागणपतिर्देवता । ॐ गम् ।
(गणपतये नमः) ॥ ७ ॥
एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि ।
तन्नो दन्ती प्रचोदयात् ॥ ८ ॥

'गणके आदि अर्थात् ग्‌का पहले उच्चारण करके उसके बाद वर्णोंके आदि अर्थात् अ का उच्चारण करे, उसके बाद अनुस्वार उच्चरित होता है। इस प्रकार अर्धचन्द्रसे सुशोभित 'गं' ॐकारसे अवरुद्ध होनेपर तुम्हारे बीजमन्त्रका स्वरूप (ॐ गं) है। गकार इसका पूर्व रूप है, अकार मध्यम रूप है, अनुस्वार अन्त्य रूप है, बिन्दु उत्तर रूप है। नाद संधान है। संहिता संधि है। ऐसी यह गणेश-विद्या है। इस महामन्त्रके गणक ऋषि हैं, निचृद्गायत्री छन्द है, श्रीमहागणपति देवता हैं। वह महामन्त्र है—ॐ गं गणपतये नमः। एकदन्तको हम जानते हैं। वक्रतुण्डका हम ध्यान करते हैं, वह दन्ती (गजानन) हमें प्रेरणा प्रदान करे। (वह गणेश-गायत्री है।)'

ध्यान

एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशाङ्कुशधारिणम् ।
अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम् ॥
रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम् ।
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम् ॥
भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम् ।
आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम् ॥
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः ॥ ९ ॥

'एकदन्त, चतुर्भुज, चारों हाथोंमें पाश, अङ्कुश, अभय और वरदानकी मुद्रा धारण किये तथा मूषक-चिह्नकी ध्वजा लिये हुए, रक्तवर्ण, लंबे उदरवाले, सूप-जैसे बड़े-बड़े कानोंवाले, रक्त-वस्त्रधारी, शरीरपर रक्तचन्दनका लेप किये हुए, रक्तपुष्पोंसे भलीभाँति पूजित, भक्तके ऊपर अनुकम्पा करनेवाले देवता, जगत्‌के कारण, अच्युत, सृष्टिके आदिमें आविर्भूत, प्रकृति और पुरुषसे परे श्रीगणेशजीका जो नित्य ध्यान करता है, वह योगी सब योगियोंमें श्रेष्ठ है।'

नमस्कार

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः ॥ १० ॥

'व्रात (देवसमूह) के नायकको नमस्कार, गणपतिको नमस्कार। प्रमथपति (शिवजीके गणोंके अधिनायक) के लिये नमस्कार, लम्बोदरको, एकदन्तको, विघ्नविनाशकको, शिवजीके पुत्रको तथा श्रीवरदमूर्तिको नमस्कार।'

पाठ-पूजन और जपका माहात्म्य तथा फल

एतदथर्वशिरो योऽधीते स ब्रह्मभूयाय कल्पते ।
स सर्वविघ्नैर्न बाध्यते ।
स सर्वतः सुखमेधते ।
स पञ्चमहापातकोपपातकात् प्रमुच्यते ।
सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति ।
प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति ।
सायं प्रातः प्रयुञ्जानोऽपापो भवति ।
धर्मार्थकाममोक्षं च विन्दति ।
इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम् ।
यो यदि मोहाद् दास्यति स पापीयान् भवति ।
सहस्रावर्तनाद्यं यं काममधीते तं तमनेन साधयेत् ॥ ११ ॥
अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी भवति ।
चतुर्थ्यामनश्नन् जपति स विद्यावान्भवति ।
इत्यथर्वणवाक्यम् । ब्रह्माद्याचरणं विद्यात् ।
न बिभेति कदाचनेति ॥ १२ ॥
यो दूर्वाङ्कुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति ।
यो लाजैर्यजति स यशोवान्भवति । स मेधावान्भवति ।
यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति ।
यः साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्वं लभते स सर्वं लभते ।
अष्टौ ब्राह्मणान् सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति ।
सूर्यग्रहे महानद्यां प्रतिमासंनिधौ वा जप्त्वा सिद्धमन्त्रो भवति ।
महाविघ्नात् प्रमुच्यते । महापापात् प्रमुच्यते ।
महादोषात् प्रमुच्यते । स सर्वविद् भवति । स सर्वविद् भवति ।
य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥ १३ ॥

'यह अथर्वशिरस् (अथर्ववेदकी उपनिषद्) है। इसका जो पाठ करता है, वह ब्रह्मत्वको प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है। सब प्रकारके विघ्न उसके लिये बाधक नहीं होते। वह सब जगह सुख पाता है। वह पाँचों प्रकारके महान् पातकों तथा उपपातकोंसे मुक्त हो जाता

है। सायंकाल पाठ करनेवाला दिनके पापोंका नाश करता है। प्रातः पाठ करनेवाला रात्रिके पापोंका नाश करता है। जो प्रातः-सायं दोनों समय इस पाठका प्रयोग करता है, वह निष्पाप हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको प्राप्त करता है। इस अथर्वशीर्षको, जो शिष्य न हो, उसे नहीं देना चाहिये। जो मोहके कारण देता है, वह पातकी हो जाता है। सहस्र बार पाठ करनेसे जिन-जिन कामनाओंका उच्चारण करता है, उन-उनकी सिद्धि इसके द्वारा ही मनुष्य कर सकता है। इसके द्वारा जो गणपतिको स्नान कराता है, वह वक्ता बन जाता है। जो चतुर्थी तिथिको उपवास करके जपता है, वह विद्यावान् हो जाता है। यह अथर्वण-वाक्य है। जो इस मन्त्रके द्वारा तपश्चरण करना जानता है, वह कदापि भयको नहीं प्राप्त होता। जो दूर्वाङ्कुरोंके द्वारा भगवान् गणपतिका यजन करता है, वह कुबेरके समान हो जाता है। जो लाजोंके द्वारा यजन करता है, वह यशस्वी होता है, वह मेधावी होता है। जो सहस्र लड्डुओं (मोदकों) के द्वारा यजन करता है, वह वाञ्छित फलको प्राप्त करता है। जो घृतके सहित समिधासे यजन करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है। आठ ब्राह्मणोंको सम्यक् रीतिसे ग्रहण करानेपर सूर्यके समान तेजस्वी होता है। सूर्यग्रहणमें महानदीमें या प्रतिमाके समीप जपनेसे मन्त्रसिद्धि होती है। वह महाविघ्नसे मुक्त हो जाता है। महापातकसे मुक्त हो जाता है, महान् दोषसे मुक्त हो जाता है, जो इस प्रकार जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, सर्वज्ञ हो जाता है।'

भगवान् श्रीदत्तात्रेय और उनकी उपासना

(लेखक—म० म० श्रीपांडुरंगजी शास्त्री गोस्वामी)

भगवान्‌के प्रत्येक अवतारका असाधारण वैशिष्ट्य और प्रयोजन होता है। भगवान् दत्तात्रेयके अवतारमें भी इसी तरहके असाधारण वैशिष्ट्य और प्रयोजनका दर्शन होता है। वे 'गुरुदेव' कहे जाते हैं; 'गुरुदेव दत्त' संज्ञासे वे विभूषित किये जाते हैं। भगवान् दत्तात्रेयका असाधारण कार्य है—अखण्ड रूपसे ज्ञानदान करते रहना। 'गृणाति उपदिशति ब्रह्मज्ञानं स्वभक्तेभ्य इति गुरुः।'—इस तरह ये गुरुरूपमें अपने भक्तोंको अध्यात्मज्ञानका उपदेश देकर सांसारिक दुःखसे मुक्त करते तथा अविद्याकी निवृत्ति करते हैं। गुरु शब्दकी एक दूसरी व्युत्पत्ति 'गिरति अज्ञानमिति गुरुः' भी है। वे भक्तोंके हृदयाकाशमें प्रकाशित होकर उनके अज्ञान-रूपी तिमिरको निगल जाते हैं—अज्ञान-अन्धकारका नाश कर देते हैं। अपने स्वतःसिद्ध प्रकाशसे अपने स्वरूपमें विराजमान रहनेसे वे 'देव' कहलाते हैं।

अज्ञानरूपी संसार-सागरसे जीवात्माओंको मुक्त करनेके लिये परमात्माने सद्गुरु भगवान् श्रीदत्तात्रेयके रूपमें अवतार लेकर आत्मसाक्षात्कार और वैराग्यका युक्तिसंगत उपदेश देकर—भक्तोंके अज्ञान-तिमिरका नाश कर दिया। अज्ञान-तिमिरका निरसन होते ही स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है, मानवका दुःख नष्ट हो जाता है। सृष्टिके आरम्भसे ही करुणावरुणालय परमात्मा सद्गुरुदेव भगवान् दत्तात्रेय अवतार लेकर प्राणियोंका अनवरत उपकार—उद्धार करते चले आ रहे हैं और इस सृष्टिमें जबतक मानवमें अज्ञान-अन्धकार है, तबतक उसका नाश करनेके लिये वे गुरुदेवके रूपमें उपदेश देते रहेंगे। यही कारण है कि दत्तात्रेयके अवतार-कार्यकी परिसमाप्तिका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।

भगवान् दत्तात्रेयका संक्षिप्त अवतार-चरित्र इस प्रकार वर्णित है कि प्रलयकालकी परिसमाप्तिके बाद सृष्टिकालका प्रारम्भ होनेके समय भगवान् आदिनारायणके नाभि-कमलसे सृष्टिकर्ता ब्रह्मा प्रकट हुए। ब्रह्माके पुत्र महर्षि अत्रि थे। महर्षि अत्रि ही भगवान् दत्तात्रेयके पिता थे और कर्दम ऋषिकी कन्या तथा सांख्यशास्त्रके प्रवक्ता भगवान् कपिलदेवकी बहिन सती अनसूया ही उनकी माता थीं। आशय यह है कि महर्षि कर्दम दत्त भगवान्‌के मातामह थे तथा स्वायम्भुव मनुकी द्वितीय कन्या देवहूति उनकी मातामही थीं और सृष्टिकर्ता ब्रह्मा उनके पितामह थे। उपर्युक्त विवरणसे भगवान् दत्तात्रेयके अवतार-कालका अनुमान लगाया जा सकता है।

भगवान् श्रीदत्तात्रेयका प्राकट्य महर्षि अत्रिके चरम

तपका पुण्यफल है। ब्रह्माके पुत्र अत्रि उनकी आज्ञासे सृष्टि-निर्माण कर पितृ-ऋणसे मुक्त होनेके लिये अपनी सती-साध्वी पत्नी अनसूयाके साथ ऋक्ष नामक कुल-पर्वतपर जाकर अनन्यभावसे भगवान्की आराधना करते हुए कठोर तपमें तत्पर हो गये। उनके तपकी ज्वालासे त्रिभुवन संतप्त हो उठा। महर्षि अत्रि इसी चिन्तनमें तल्लीन थे कि परमात्माके समान ही समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न संतानकी मुझे प्राप्ति होनी चाहिये। ब्रह्मा, विष्णु और महेश—तीनों उनके आश्रमपर आये। 'तदाश्रमपदं ययुः।' (भागवत ४।१।२२) वे तीनों अपने-अपने वाहन—हंस, गरुड और बैलपर विराजमान थे। अत्रि आनन्दविभोर हो उठे। उन्होंने स्तुति की—

विश्वोद्भवस्थितिलयेषु विभज्यमानै-
मायागुणैरनुयुगं विगृहीतदेहाः।
ते ब्रह्मविष्णुगिरिशाः प्रणतोऽस्म्यहं व-
स्तेभ्यः क एव भवतां म इहोपहूतः॥
को मयेह भगवान् विविधप्रधान-
श्चित्तीकृतः प्रजननाय कथं नु यूयम्।
अत्रागतास्तनुभृतां मनसोऽपि दूराद्
ब्रूत प्रसीदत महानिह विस्मयो मे॥
(श्रीमद्भागवत ४।१।२७-२८)

'भगवन्! प्रत्येक कल्पके आरम्भमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके लिये जो मायाके सत्त्वादि तीनों गुणोंका विभाग करके भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं—वे ब्रह्मा, विष्णु और महादेव आप ही हैं, मैं आपको प्रणाम करता हूँ; कहिये, जिनको मैंने बुलाया था, आपमेंसे वे कौन महानुभाव हैं?

'मैंने तो संतान-प्राप्तिकी इच्छासे विविध पूजोपचारोंके द्वारा केवल एक ही भगवान्का चिन्तन किया था। फिर आप तीनोंने यहाँ पधारनेकी कैसे कृपा की? आप लोगोंतक तो देहधारियोंके मनकी भी गति नहीं है, इसलिये मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है; इसका रहस्य बताइये।'

त्रिदेवोंने मधुर हास्यपूर्वक महर्षि अत्रिसे कहा कि 'आप सत्यसंकल्प हैं, आपकी मनःकामना पूरी होगी। हम तीनों एक ही परमात्म-तत्त्व—परमात्मा हैं। आपकी तपस्या और सती अनसूयाके पातिव्रतसे हम तीनों प्रसन्न हैं। हम स्वयं आपके पुत्ररूपमें प्रकट होंगे। हमारे अंशसे आपके तीन पुत्र होंगे। वे लोकविख्यात होकर आपकी कीर्तिका त्रिलोकीमें विस्तार करेंगे।' ऐसा वरदान देकर तीनों अन्तर्धान हो गये। महर्षि अत्रिको परमात्माने इस तरह आत्मार्पित कर देनेसे उनके: पुत्ररूपमें प्रकट होनेपर 'दत्त' संज्ञा प्राप्त की।

अत्रेरपत्यमभिकाङ्क्षत आह तुष्टो
दत्तो मयाहमिति यद् भगवान् स दत्तः।
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रदेहा
योगर्द्धिमापुरुभयीं यदुहैहयाद्याः॥
(श्रीमद्भागवत २।७।४)

श्रीमद्भागवतमें उल्लेख है कि ब्रह्माजीके अंशसे चन्द्रमा, विष्णुके अंशसे योगवेत्ता दत्तात्रेय और महादेवजीके अंशसे दुर्वासा ऋषि अत्रिके पुत्ररूपमें प्रकट हुए—

सोमोऽभूद् ब्रह्मणोंऽशेन दत्तो विष्णोस्तु योगवित्।
दुर्वासाः शंकरस्यांशो निबोधाङ्गिरसः प्रजाः॥
(श्रीमद्भागवत ४।१।३३)

महर्षि अत्रि भगवान्को पुत्ररूपमें प्राप्त करना चाहते थे। उनपर प्रसन्न होकर भगवान्ने उनसे एक दिन कहा था, 'मैंने अपने-आपको तुम्हें दे दिया।' इसीसे अवतार लेनेपर भगवान्का नाम 'दत्त'—दत्तात्रेय पड़ा। उनके चरण-कमलके परागसे अपने शरीरको पवित्र कर राजा यदु और सहस्रार्जुन आदिने योगकी भोग-मोक्ष—दोनों सिद्धियाँ प्राप्त कीं।

प्राणिमात्रको संसार-जालसे मुक्त करने तथा आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार करानेके लिये दयाघन भगवान् दत्तात्रेय सद्गुरुदेव-रूपमें प्रकट हुए। संसारके प्राणियोंको यथार्थ मार्गपर ले चलनेके लिये भगवान् दत्तात्रेयरूपमें अवतरित होते हैं। भगवान् दत्तात्रेयके सोलह रूप स्वीकार किये जाते हैं; पर सभी रूपोंमें—अवतारोंमें गुरुदेव दत्तके ही रूपमें विराजमान रहते हैं। १. श्रीयोगिराज दत्त, २. अत्रिवरद दत्त, ३. दत्तात्रेय, ४. कालाग्निशमन दत्त, ५. योगिजन-वल्लभ दत्त, ६. श्रीलीलाविश्वम्भर दत्त, ७. श्रीसिद्धराज दत्त, ८. श्रीज्ञानसागर दत्त, ९. श्रीविश्वम्भर अवधूत दत्त, १०. मायामुक्त अवधूत दत्त, ११. श्रीमायायुक्त अवधूत दत्त, १२. श्रीआदिगुरु दत्त, १३. श्री-शिवरूप दत्त, १४. श्रीदेवदेव दत्त, १५. श्रीदिगम्बर दत्त

और १६. श्रीकृष्ण श्यामकमलनयन दत्त—उनके ये सोलह अवतार-रूप हैं। श्रीविष्णुपुराण, वायुपुराण, ब्रह्मवैवर्त्तपुराण, मार्कण्डेयपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, अग्निपुराण, पद्मपुराण और श्रीमद्भागवतपुराण आदिमें इनका वर्णन उपलब्ध होता है।

एक ग्रन्थमें भगवान् दत्तात्रेयके अवतारकी बड़ी विचित्र कथा आती है। एक पतिव्रता स्त्री अपने कुष्ठरोगी पतिको उसके इच्छानुसार कंधेपर बैठाकर संकेतस्थलपर ले जा रही थी। अँधेरी रात्रि थी। ऋषि अणिमाण्डव्यको उस समय किसी अपराधसे शूलीपर चढ़ाया गया था। वे उसी रास्तेके समीप थे, जहाँसे पतिव्रता जा रही थी। दिखायी न देनेसे उसके पतिका धक्का माण्डव्य ऋषिको लग गया। माण्डव्यने पीड़ित होकर शाप दे दिया कि 'सूर्य उदय होते ही जिसका धक्का मुझे लगा है, वह मर जायगा।' पतिव्रता साध्वीने यह सुनकर कह दिया कि 'सूर्य उदय ही न हों।' पतिव्रता सतीके वचनका बड़ा प्रभाव है। सूर्योदयमें बाधा आ गयी। ब्राह्मणोंके यज्ञ-हवन आदि कर्म स्थगित हो गये। देवता आहुति न पाकर भूखे रह गये। संकटसे छुटकारा पानेके लिये इन्द्र आदि देवता ब्रह्माजीके पास पहुँचे। ब्रह्माजीने सती अनसूयाके पास जानेकी सम्मति दी। सब देवता अनसूयाजीकी शरणमें गये। अनसूयाजी देवताओंको तथा विश्वको संकटमें पड़े जानकर उक्त सतीके पास गयीं और उससे सूर्योदयपर प्रतिबन्ध हटानेका अनुरोध किया। सतीने सूर्योदय होनेपर अपने पतिकी मृत्यु होनेकी बात बतायी। अनसूया माताने कहा—'बेटी! चिन्ता मत कर; मैं अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे तेरे पतिदेवको जिला दूँगी।' ऐसा ही हुआ। सतीने सूर्यस्तम्भन हटाया, सूर्योदय हुआ, तत्काल सतीके पतिकी मृत्यु हो गयी और परम सती अनसूयाने अपने पातिव्रत्यके प्रभावसे उसे जीवित कर दिया।

अनसूयाका यह प्रभाव देखकर श्रीपार्वतीजी, श्रीलक्ष्मीजी और श्रीसावित्रीजीको बड़ी ईर्ष्या हुई। उन्होंने अपने-अपने पति भगवान् शंकर, भगवान् विष्णु और भगवान् ब्रह्माको अनसूयाके पातिव्रत्यके प्रभावको खण्डित करनेके लिये प्रेरित किया। उनके आग्रहसे तीनों महान् देव अत्रि मुनिकी अनुपस्थितिमें उनके आश्रमपर अनसूयाजीके पास पहुँचे। अनसूयाने अर्घ्य-पाद्य आदिसे स्वागत-सत्कार करके बैठने तथा भोजन करनेकी प्रार्थना की। त्रिदेवोंने कहा—'अनसूया नग्न होकर भोजन परोसेगी तभी हम जीमेंगे।' अनसूया धर्मसंकट-में पड़ी। परपुरुषोंके सामने नग्न होना भी अनुचित और अतिथियोंका भूखे-प्यासे लौट जाना भी अनुचित। अनसूयाजीने मनमें कुछ संकल्प करके कमण्डलुमें रक्खा हुआ पतिदेवका चरणामृत हाथमें लेकर अतिथियोंपर छिड़क दिया। उस चरणोदकका स्पर्श होते ही तीनों देव नवजात शिशुओंके रूपमें परिणत हो गये और जोर-जोरसे रोने लगे। अब तो अनसूयाने उन्हें गोदमें उठाकर अभ्यङ्ग किया, नहलाया और स्तन्य पिलाया। ये ही तीनों बालक आगे चलकर स्वयं 'दत्त' हो गये और सती अनसूयाकी गोदके बालक बन गये। हमारे आराध्य गुरुदेव दत्तात्रेय ये ही त्रिगुणात्मक भगवान् हैं।

अति प्राचीन कालसे सदा सद्गुरु भगवान् दत्तात्रेयने अनेक राजर्षियों, ऋषि-मुनियों तथा विभिन्न सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्योंको सद्ज्ञानका उपदेश देकर कृतार्थ किया है। उन्होंने श्रीपरशुरामजीको 'श्रीविद्या-मन्त्र' प्रदान किया। यह 'परशुराम-तन्त्र'के रूपमें उपलब्ध है। 'त्रिपुरारहस्य'में दत्त-भार्गव-संवादके रूपमें अध्यात्मविद्याका उपदेश पर्याप्त रूपमें उपलब्ध होता है। श्रीशिवजीके पुत्र सुब्रह्मण्य—कार्तिकेय श्रीदत्तात्रेयके ही शिष्य कहे जाते हैं, श्रीदत्तात्रेयने उन्हें अध्यात्मविद्याका उपदेश दिया था। उन्होंने ही भक्तवर प्रह्लादको स्वधर्मानुष्ठानपूर्वक ज्ञानमार्गका उपदेश देकर आदर्श कर्मयोगकी शिक्षा प्रदान की थी। इसी उपदेशके बलपर अनासक्तियोगका प्रश्रय लेकर प्रह्लादने राज्यपद पानेपर प्रजाका पुत्रके समान पालन किया था। उन्होंने मदालसाके पुत्र राजा अलर्कको योगमार्गकी शिक्षा दी थी। राजा आयुको नहुष नामका पुत्र प्रदान किया, श्रीदत्तने उन्हें अध्यात्मयोगका उपदेश देकर कृतार्थ किया। श्रीदत्तात्रेयने यदुराजाको अपने चौबीस गुरुओंका परिचय देते हुए व्यवहारमार्ग और तत्त्वज्ञानकी शिक्षा दी। इसका विवरण श्रीमद्भागवतपुराणके ग्यारहवें स्कन्धमें उपलब्ध होता है। श्रीदत्तने सांकृति-मुनिको अवधूतोंके परम लक्ष्यका ज्ञान प्रदान कर अवधूतमार्गका उपदेश दिया। राजा सहस्रबाहु कार्तवीर्य अर्जुनको उन्होंने अनेक मन्त्र-तन्त्रका उपदेश देकर आधिभौतिक सिद्धियों और साम्राज्यादि वैभवसे सम्पन्न किया। श्रीदत्तने नागार्जुनको रसशास्त्र और धातुविद्याकी प्रक्रिया समझाकर रसायनादि सिद्ध ओषधियोंका आचार्य बना दिया। उन्होंने नाथ-सम्प्रदायके श्रीगोरखनाथजीको आसन, प्राणायाम, मुद्रा और

समाधि—चतुरङ्ग योगका मार्ग बताया। भगवान् श्रीआद्यशंकराचार्यको साक्षात् दर्शनसे कृतार्थ कर अपने सहस्रनामका उपदेश दिया। इस तरह आचार्य शंकर अद्वैतवेदान्त-दर्शनका साम्राज्य स्थापित कर सके। श्रीदत्तात्रेयने महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संत श्रीजनार्दन स्वामी तथा दासोपन्त आदि अनेक संत-महात्माओंको अपने दर्शनसे कृतार्थ कर भक्तिमार्गपर चलनेकी शिक्षा दी। दक्षिणभारतमें श्रीपाद आचार्य वल्लभ और श्रीनरसिंह सरस्वती महाराज तो दत्तात्रेयके अवतार ही माने जाते हैं।

भगवान् श्रीदत्तात्रेयजीकी उपासना कर अनेक संत-महात्माओं तथा उपासकोंने समय-समयपर बड़ा लाभ उठाया है। पूजा, स्तोत्रपाठ, मन्त्रजाप, दत्तकवच, दत्तवज्रपञ्जर, दत्तहृदय, दत्तसहस्रनाम और श्रीदत्तात्रेय-सिद्ध-यन्त्रकी समाराधना आदि साधनोंद्वारा भगवान् दत्तात्रेयकी उपासना की जाती है। उन्हें स्मरणगामी कहा जाता है। भक्तों तथा उपासकोंद्वारा अपना स्मरण किये जानेपर वे तत्काल ही उनके सांनिध्यमें उपस्थित हो जाते हैं। यन्त्रकी समाराधनासे इष्ट देवताका प्रसाद, मन्त्रोंकी सिद्धि और अभीष्ट कामनाओंकी सिद्धि सत्वर हो जाती है। यन्त्रमें बीजमन्त्र और अन्य सिद्ध-मन्त्रोंके अक्षर लिखे जाते हैं। मन्त्र देवताका रूप माना जाता है। 'मन्त्रमयी देवता'—यह पूर्वमीमांसाका एक सिद्धान्त ही है। इस दृष्टिसे यन्त्र मन्त्रस्वरूप देवताका मन्दिर बन जाता है। इष्टदेवताका एक स्थानपर संयमन—एक ही जगह स्थिर रखने और भक्तोंका परित्राण करनेके कारण ही यन्त्रको 'यन्त्र' कहा जाता है।

साधकोंकी सुविधाके लिये एक महासिद्ध दत्तात्रेय-यन्त्र इसी अङ्कमें दिया जा रहा है। लेखकको इसकी प्राप्ति १०८ श्रीस्वामी दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजीकी कृपासे हुई थी। इस यन्त्रमें श्रीदत्तात्रेयजीके एकाक्षर मन्त्रसे लेकर मालामन्त्रतक आठ मन्त्रोंका निर्देश है। इस यन्त्रके यथाविधि अर्चनसे साधकको बहुत लाभ होता है। लेखकके विचारसे इसके बीज और अक्षर बड़े ही भावपूर्ण हैं। गुरुमुखसे इष्टमन्त्र लेकर ही उसका जाप तथा यन्त्रकी समाराधना करना उचित है।

जैनधर्ममें उपासना-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीचैनसुखदासजी न्यायतीर्थ)

उपासनाका अर्थ परमात्माके सांनिध्यमें सर्वतोभावेन उपस्थित होना है। इसका प्रयोजन आत्मशुद्धि है। जो लोग लौकिक प्रयोजनोंकी उपलब्धिके लिये उपासनाका श्रम करते हैं, उन्हें उसका वास्तविक फल कभी प्राप्त नहीं होता। स्त्री-पुत्र, धन-सम्पदा, पद एवं प्रतिष्ठा आदि तुच्छ कार्योंके लिये उपासनाका प्रयत्न ऐसा ही है, जैसा पैर धोनेके लिये अमृतप्राप्तिका प्रयास।

यह संसार अशरण, अशुभ, अनित्य और दुःखमय है। इसमें कहीं भी शान्ति नहीं है। जो तत्त्वदर्शी नहीं हैं, वे जगत्के बाह्य पदार्थोंको शान्तिका साधन समझते हैं और इसीलिये उनकी प्राप्तिके प्रयत्नोंमें अपनेको उलझाये रखते हैं। किंतु तत्त्वदर्शियोंका मार्ग उनसे भिन्न होता है। वे जलमें रहनेवाले कमलकी तरह निर्लिप्त होकर दुनियाका काम करते हैं और इसके लिये उपासनाका सहारा पकड़ते हैं। यही शान्तिका सच्चा मार्ग है।

जबतक आत्मा और परमात्माका ठीक रूपसे विश्लेषण नहीं किया जाय, तबतक उपासनाका महत्त्व नहीं समझा जा सकता। तत्त्व-दृष्टिसे आत्मा और परमात्मामें कोई भेद नहीं है। जो भेद दृष्टिगोचर होता है, वह तो औपाधिक है। इसी भेदको मिटानेके लिये सर्वप्रथम मनुष्य अपने और परमात्माके स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करता है और इसीके क्रममें वह उपासनाको अपना अवलम्बन बनाता है। वह भक्तिको, जो उपासनाका स्वरूप है, सर्वप्रमुख स्थान देता है और महाकवि धनञ्जयके शब्दोंमें इस प्रकार कहता है—

> शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा
> भक्तिर्नो चेदनवधि सुखाऽऽवञ्चिका कुञ्चिकेयम्।
> शक्योद्घाटं भवति हि कथं मुक्तिकामस्य पुंसो
> मुक्तिद्वारं परिदृढमहामोहमुद्राकवाटम्॥

अर्थात् 'हे भगवन्! शुद्ध ज्ञान और पवित्र चरित्रके होनेपर भी यदि अनन्त आनन्दकी प्राप्तिका साधन तुम्हारी उत्कृष्ट भक्तिरूपी कूँची (चाभी) न हो तो मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यके लिये, जिसमें महामोहरूपी जबर्दस्त ताला लगा हुआ है, वह मुक्तिका द्वार कैसे खुल सकता है?'

उपासनाका यही महत्त्व है कि वह शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र्यको फलवान् बना देती है और मनुष्यके अपने अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचनेमें निःसंदेह सहायक होती है।

कर्मबन्धनोंको ढीला करनेके लिये उपासना एक महत्त्वपूर्ण साधन है। स्तुतिकार कुमुदचन्द्राचार्य अपने 'कल्याणमन्दिर' नामक स्तोत्रमें कहते हैं—

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजङ्गमचया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य ॥

'हे भगवन्! जीवके कठोर कर्मबन्ध भी, यदि तुम हृदयमें विराजमान हो जाओ तो, क्षणभरमें ढीले हो जाते हैं। ठीक वैसे ही, जैसे चन्दनके वृक्षके तनेके बीचमें वन-मयूरके आकर बैठ जानेपर उस वृक्षसे चिपटे हुए साँपोंके समूह।'

भक्ति अथवा उपासनाका प्रारम्भ और अन्त दोनों ही निवेदनसे होता है। भक्तका काम केवल निवेदन करना है। वह कोई दूसरी आकाङ्क्षा लेकर भगवान्के पास नहीं जाता। वह तो स्पष्टरूपसे अपनेको उनके सामने उपस्थित करता है। इसीसे वह कृतकृत्य हो जाता है। भक्तकवि वादिराज अपने 'एकीभाव' स्तोत्रमें कहते हैं—

जानासि त्वं मम भवभये यच्च यादृक्च दुःखं
जातं यस्य स्मरणमपि मां शस्त्रवन्निष्पिनष्टि।
त्वं सर्वेशः सकृप इति च त्वामुपेतोऽस्मि भक्त्या
यत् कर्तव्यं तदिह विषये देव एव प्रमाणम् ॥

'हे भगवन्! मुझे भव-भयमें जो और जैसा दुःख हुआ है, उसे आप अवश्य जानते हैं। उसका स्मरण मात्र ही मुझे शस्त्रकी तरह पीस डालता है। आप तो सबके स्वामी हैं और दयालु भी हैं—यह जानकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ; अब मेरे उद्धारके लिये जो कुछ भी कर्तव्य है, उसके लिये आप ही प्रमाण हैं। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें।'

यह आत्मनिवेदन भक्तिकी उत्कृष्टताका आदर्श है। इसमें समर्पणकी भावना है। इसी भावनासे भक्ति रसवती बनती है। वह सारे संकल्प-विकल्पोंको समाप्तकर एकस्थ अथवा एकनिष्ठ हो जाती है। भक्तिकी यही वास्तविक निरपेक्षता है।

जबतक भक्तिका वास्तविक फल नहीं मिलता, तबतक भक्त अपनी ही कमियोंको देखता रहता है और उन्हें दूर करना अपना वास्तविक कर्त्तव्य समझता है। वह भक्तिकी असफलताकी जिम्मेदारी कभी दूसरेपर नहीं डालता। भक्त कहता है—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥

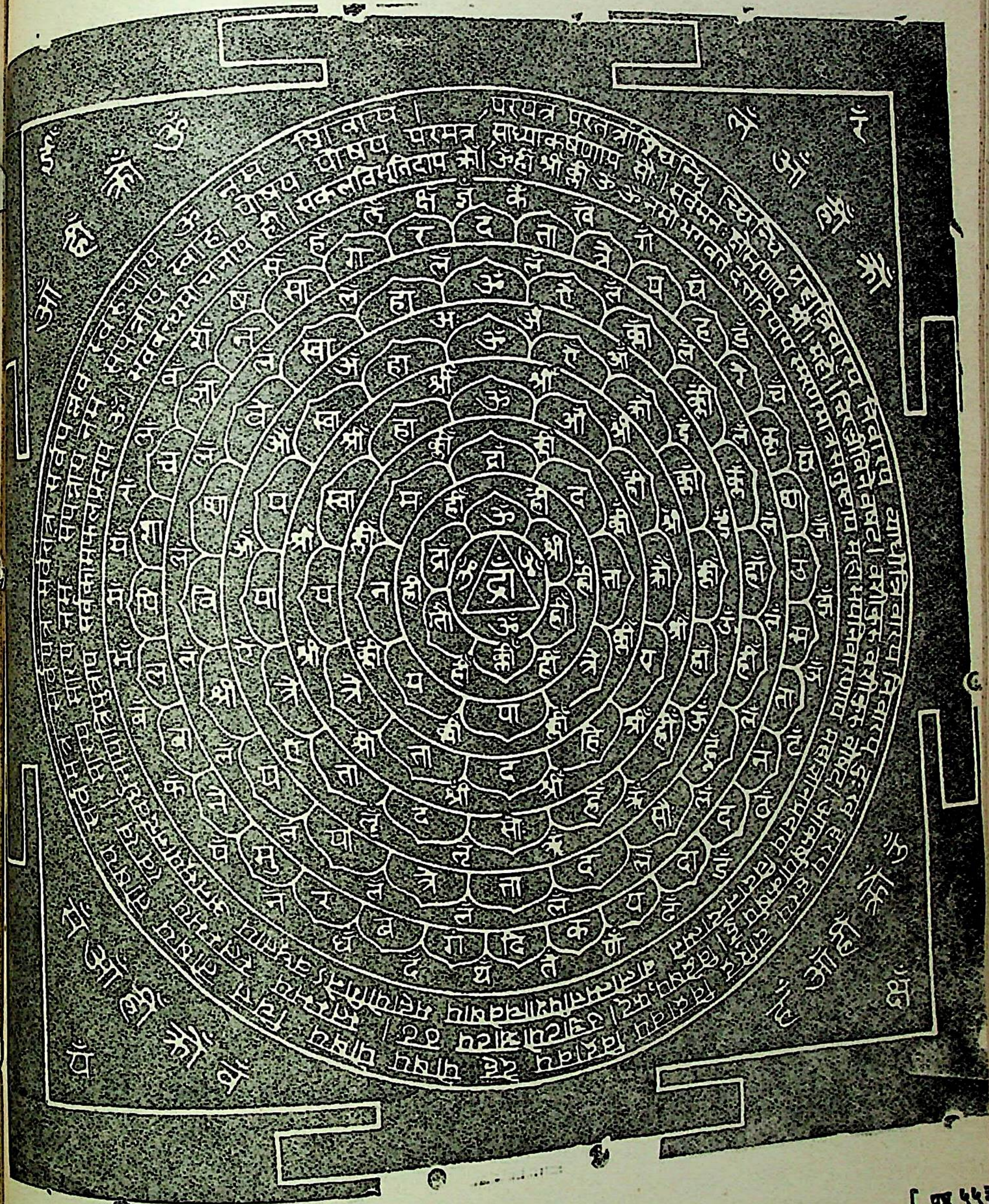
'हे जनबान्धव! मैंने तुम्हारा नाम सुना; तुम्हें पूजा, तुम्हारे दर्शन भी किये; तथापि यह निश्चित है कि मैंने तुम्हें चित्तमें धारण नहीं किया। इसीसे मैं अबतक सारे दुःखोंका पात्र बना हुआ हूँ। ठीक ही है, भावरहित क्रियाएँ कभी फलवती नहीं होती हैं।' इसमें कोई संदेह नहीं है कि यदि मैं भावपूर्वक आपकी उपासना करता तो मेरे दुःख कभीके नष्ट हो गये होते।

जो परमात्माके सम्मुख होकर उसकी उपासना करता है, उसे अवश्य ही सुखकी प्राप्ति होती है और जो उससे विमुख रहता है, वह निःसंदेह दुःख पाता है। यह एक स्वाभाविक स्थिति है। दर्पणमें जो जैसा मुँह बनाकर देखता है, वैसा ही उसे दीखने लगता है। जो सीधा देखता है उसे सीधा दीखने लगता है और जो टेढ़ा बनाकर देखता है, उसे टेढ़ा दीखने लगता है। परमात्मा भी दर्पणकी तरह है; अतः उसमें राग-द्वेषकी कल्पना करना बिल्कुल निराधार है। इसी विषयको कवि धनञ्जयने अपने 'विषापहारस्तोत्र'में इस प्रकार प्रकट किया है—

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि
त्वयि स्वभावाद् विमुखश्च दुःखम्।
सदावदातद्युतिरेकरूप-
स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ॥

भगवान्का भक्त उपासनाको इतना अधिक महत्त्व देता है कि वह मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र आदिको भगवान्के नामके ही पर्यायवाची शब्द मानता है। विघ्न एवं रोग आदिको दूर करनेवाली ओषधियों, रत्नों तथा रसायन आदिको भी वह नहीं माँगता। भगवान्के नामके अतिरिक्त वह दूसरा

दत्तात्रेय यन्त्र



[पृष्ठ ५५२

कुछ भी नहीं चाहता, किंतु जो भ्रममें पड़कर इनका आश्रय लेते हैं, उनके प्रति वह आश्चर्य प्रकट करता है और कहता है—

विषापहारं मणिमौषधानि
मन्त्रं समुद्दिश्य रसायनं च।
भ्राम्यन्त्यहो न त्वमिति स्मरन्ति
पर्यायनामानि तवैव तानि ॥

उपासनाके वास्तविक स्वरूपको समझनेवाला भक्त इतना महान् होता है कि लौकिक आकाङ्क्षाओंकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। वह दीन बनकर भगवान्से कुछ भी नहीं माँगता। वह कहता है—

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्
कश्छायया याचितयाऽऽत्मलाभः ॥
अथास्ति दित्सा यदि वोपरोध-
स्त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम्।
करिष्यसे देव तथा कृपां मे
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ॥

'हे भगवन्! इस प्रकार मैं स्तुति करके आपसे कोई वर नहीं माँगता हूँ; क्योंकि वर माँगना तो एक प्रकारकी दीनता है और आप तो उपेक्षक हैं, राग-द्वेषरहित हैं, इसलिये कुछ देनेका सवाल ही उपस्थित नहीं होता है। सच तो यह है कि वृक्षका आश्रय लेनेवालेको उसकी छाया तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। उससे छायाकी याचना करनेसे क्या लाभ है?

'फिर भी, अगर आपकी देनेकी इच्छा ही हो और मैं कुछ माँगूँ, इस प्रकारका आपका आग्रह ही हो, तो केवल मुझे यही वर दीजिये कि मेरा मन आपमें लगा रहे और भव-भवमें आपकी भक्ति मिलती रहे, जबतक कि मुझे मोक्षकी प्राप्ति न हो। देव! मुझे विश्वास है कि आप ऐसी कृपा अवश्य करेंगे; क्योंकि मैं आपका पोष्य पुत्र हूँ। कौन ऐसा विद्वान् पुरुष होगा जो अपने पोष्य पुत्रके प्रति सुमुख (कृपाप्रसादसे युक्त) न हो।'



जैनधर्ममें उपासना

(लेखक—डॉ० श्रीराजनारायणजी पाण्डेय, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न)

तत्वतः जैन-उपासनाके मूलमें चार मुख्य बातें हैं—जिन-भक्ति, अहिंसा, सदाचार तथा कर्म-मलका क्षय। समग्ररूपसे उपासनासम्बन्धी अन्य अपेक्षित बातोंका उक्त तत्त्वोंमें ही समावेश हो जाता है।

'जिन-भक्ति' जैन उपासनाका मेरुदण्ड है। इसके द्वारा शुद्धात्मवृत्तिका उदय होता है। वीतरागी सिद्ध महात्माओंके गुणोंपर श्रद्धापूर्वक अनुराग रखते हुए आत्म-विकास करना ही 'जिन-भक्ति' है। इन सिद्धात्माओंको तीर्थंकर, आप्त, स्वयंभू, अर्हत् आदि अनेक नामोंसे अभिहित किया जाता है। साधनाद्वारा कर्म-मलको नष्ट कर डालनेके कारण ही वे 'जिन' कहलाते हैं।

जैनमतके पूज्य पुरुषों—यथा चक्रवर्ती बलदेवादि—में 'जिन'का सर्वोच्च स्थान है। यद्यपि वेदों-उपनिषदोंमें वर्णित ईश्वरके समान उन्हें जगत्-स्रष्टाके रूपमें नहीं माना जाता, तथापि कठोर तपश्चरणद्वारा कषायों—क्रोध, मान, माया तथा लोभको नष्ट करके अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त कीर्ति-समन्वित आत्मत्व प्राप्त करनेके कारण जैन भक्तोंने 'जिन'को उन समस्त विशेषणों तथा उपाधियोंसे विभूषित किया है, जो वेद-पुराणादिमें सामान्यतः ईश्वरके हेतु प्रयुक्त हुए हैं।

'जिन' उच्च राजकुल—इक्ष्वाकु, हरिवंश आदिमें जन्म लेते हैं। तीर्थंकर होनेके तृतीय पूर्व भवमें वे तीर्थंकर नाम-कर्म प्राप्त करते हैं, द्वितीय भवमें देव-आयु पूर्ण करते हैं, तत्पश्चात् मानवरूपमें अवतरित होते हैं। वस्तुतः इसी भवमें वे तीर्थंकर पद-लाभ करते हैं। जीवनके आरम्भमें वे राज-लक्ष्मीका भोग करते हैं, परंतु संसारकी नश्वरताका बोध होते ही, क्षणमात्रमें अपने अखिल ऐश्वर्यका तृणवत् परित्याग करके मुनि-दीक्षा ले लेते हैं। दुर्धर्ष साधनाके पश्चात् उन्हें केवल-ज्ञानकी उपलब्धि होती है। इस अवसरपर इन्द्रादि देव उनकी स्तुति करते हैं तथा उनका पवित्र उपदेश श्रवण करनेके लिये समवसरणका निर्माण करते हैं। इसी समय उनमें अष्ट प्रातिहार्यविभूतिका उदय होता है। ये प्रातिहार्य हैं—भामण्डल, सिंहासन, अशोक-वृक्ष, पुष्प-वृष्टि, मनोहर दिव्य ध्वनि, श्वेत छत्र, चमर तथा दुंदुभि-निनाद। अन्तमें जन-

कल्याण करते हुए वे निर्वाण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार 'जिन'के नाम, कर्म, जन्म, मुनि-दीक्षा, कैवल्य तथा निर्वाणके अवसरोंपर जो समारोह होते हैं, उन्हें 'पञ्च-कल्याणक' कहते हैं। संस्कृत अपभ्रंशके जैन पुराणोंमें ऋषभसे लेकर वर्धमान महावीर तक २४ तीर्थंकरोंके पञ्चकल्याणकोंके अत्यन्त भाव-पूर्ण वर्णन प्राप्त होते हैं।

जिन-भक्तिका प्रधान उद्देश्य आत्मोन्नति है। वीतरागी जिनदेवको उनके प्रति की गयी स्तुति, पूजा, वन्दना आदिसे कोई प्रयोजन नहीं; क्योंकि रागका लेशमात्र भी उनमें नहीं होता। न तो पूजादिसे उनमें किसी नवीन हर्षका संचार होता है और न निन्दासे वे अप्रसन्न ही होते हैं। हाँ, उनके पुण्य गुणोंका स्मरण स्मरण-कर्ताके पाप-मलको धोकर चित्तको निर्मल अवश्य कर देता है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥
(स्वयम्भूस्तोत्र ५७)

जैनाचार्य समन्तभद्रका कथन है कि 'स्तुतिके समय तथा स्थानपर स्तुत्य चाहे उपस्थित हो अथवा न हो एवं फल-प्राप्ति भी चाहे सीधी उनके द्वारा होती हो या न होती हो, परंतु आत्म-साधनामें तत्पर साधु-स्तोताकी भक्ति कुशल-परिणामका कारण अवश्य होती है'—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा।
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः॥
(स्वयम्भूस्तोत्र १६)

स्तुतिद्वारा गुणोंका स्मरण किया जाता है। जिनके गुण-स्मरणसे पाप दूर भागते हैं, परिणामतः आत्मामें पवित्रताका संचार होता है। निरन्तर इसी भक्ति-साधनाका पथावलम्बन करता हुआ भक्त एक दिन स्वयं उस पावन पदको प्राप्त कर लेता है। यद्यपि इस कार्यमें 'जिन'की कोई इच्छा नहीं होती, परंतु निमित्त कारण होनेसे ही उन्हें 'प्रदाता' कहा जाता है।

जैन-उपासनामें अहिंसाका बहुत महत्त्व है। वस्तुतः वह जैनधर्मका प्राण है। पूर्ण अहिंसक पुरुषको परब्रह्म परमात्माकी संज्ञा दी गयी है—

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

कषाय तथा प्रमादके निमित्त किसीके प्राणोंका घात करना तो हिंसा है ही, परंतु मनमें किसीके घातका विचारमात्र आना भी जैनमतमें हिंसा ही माना जाता है। इसीलिये हिंसाके दो भेद—भाव तथा द्रव्य किये गये हैं। अपभ्रंशके महाकवि पुष्पदन्तके 'जसहर चरिउ'—'यशोधरचरित्र' में महाराज यशोधरद्वारा जीवित कुक्कुटके स्थानपर आटेके कुक्कुटकी बलि देनेके कारण भाव-हिंसा उत्पन्न हुई, अतः मरणोपरान्त उन्हें नरक-यातना प्राप्त हुई—

कारिम कुक्कुडेन णिहरण वि तुहुं भमिओ सि दुब्भवो।
(जस० ४।१८।१)

जैनधर्म जगत्‌की प्रत्येक वस्तुमें जीवकी स्थिति मानता है। अहिंसाको परम धर्म मानते हुए, उसमें मानवमात्रको अत्यन्त सावधान होकर चलनेके विधान प्रस्तुत किये गये हैं। प्रत्येक श्रावक अथवा गृहस्थके लिये अणुव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहका जो विधान है, उसमें अहिंसा सर्वप्रथम है। श्रावक या गृहस्थके लिये यत्नपूर्वक मद्य, मांस, मधु आदिका त्याग आवश्यक बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त मूली, अदरख, नवनीत, नीम तथा केतकीके पुष्प भी उनके लिये त्याज्य हैं। मुनि-दीक्षा-प्राप्त साधकोंके लिये तो अहिंसाका सर्वदेशीय पालन करना अनिवार्य है। उनके महाव्रत अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहमें भी अहिंसा सर्वोपरि है। जैनमुनि केश नहीं कटवाते; वे स्वयं उनका लुंचन करते हैं। दंशन करते हुए मशक अथवा शरीरमें लिपटे हुए भुजंगको भी वे नहीं हटाते। निशा-भोजन तो मुनि, श्रावक दोनोंके लिये वर्जित है। प्राणि-वध वस्तुतः आत्म-वधके समान ही माना गया है—

पाणिवहु भडारिए अप्पवहु।

जैन-धर्मोपासनामें अहिंसाके पालनका जितना कठोर विधान है, उतना अन्य मतोंमें कठिनाईसे ही प्राप्त होगा।

अहिंसाके साथ ही जैन-उपासनामें सदाचारको अत्यन्त महत्त्व दिया जाता है। जैनधर्म जहाँ एक ओर मानव-जीवनकी नश्वरता, संसारकी क्षणभङ्गुरता तथा जीवद्वारा पापोंका फल भोगनेके लिये नरकादिकी विभीषिकाका उल्लेख करता है, वहाँ वह प्राणिमात्रको इनके कष्टोंसे त्राण पानेके लिये धर्म-सम्मत सदाचारके अनुगमन करनेका उपदेश भी देता है।

मोक्ष प्राप्त करनेके लिये जीवको तीन मुख्य साधनोंका आश्रय लेना आवश्यक है। वे हैं—'सम्यक्-दर्शन', 'सम्यक्-ज्ञान' तथा 'सम्यक्-चारित्र'। जिस गुणके विकाससे सत्यकी प्रतीति होती है, वह सम्यक्-दर्शन है। नय तथा प्रमाणद्वारा जीवादि तत्त्वोंका बोध सम्यग्-ज्ञान है एवं सम्यग्-ज्ञानपूर्वक काषायिक भाव अथवा राग-द्वेषके क्षयसे जो स्वरूप प्राप्त होता है, वही सम्यक्-चारित्र है। इनमेंसे सम्यग्-दर्शनको उत्कृष्ट मानकर, उसे जैनधर्मका कर्णधार कहा गया है। इससे सम्पन्न व्यक्ति चाण्डाल-पुत्र होनेपर भी देवतुल्य है। गुरु-सेवा तथा शास्त्राभ्यासद्वारा इसमें अधिक दृढ़ता आती है।

सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्-ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् ही सम्यक्-चारित्रकी साधना सम्भव है। इसके 'सकल' तथा 'विकल' दो भेद हैं। गृहत्यागी मुनियोंका चारित्र सकल है, परिग्रही गृहस्थोंका विकल। सकल चारित्रानुगामी मुनि पञ्च-महाव्रतका पालन करते हैं। उनके लिये शून्य आवास तथा श्मशान ही आगार हैं। चान्द्रायण-व्रत साधना करते हुए, उन्हें विचरण करना चाहिये। क्षुधा, तृष्णा, शोक, अप्रिय, बन्धन, शीत, उष्ण आदिकी ओर ध्यान न देते हुए उन्हें सत्पथपर सतत आरूढ़ रहना चाहिये और इस प्रकार अपने संचित कर्मोंको क्षीण करना चाहिये। विकल अथवा आगार-धर्म अपेक्षाकृत सरल है। इसके व्रतीको अणुव्रतादिके अतिरिक्त मधु, मदिरा, पचुम्बर फलों अर्थात् वट, पीपल, उदुम्बर, पकन्द, काकोदुम्बर आदिका त्याग भी आवश्यक है। उसे कुशास्त्र-श्रवण-वर्जन, वर्षाकालमें गमननिषेध तथा जीवघातक आजीविकाका त्याग करना चाहिये। उसे अष्टमी तथा चतुर्दशीके दिन पत्नीसे पृथक् होकर उपवास-पूर्वक एकान्तवास करना चाहिये। कुगुरु, कुदेव तथा कुकर्मसे विमुख होकर उसे अन्तकालमें सल्लेखनाद्वारा शरीरत्याग करना चाहिये। श्रावक-व्रतका पालन करते हुए कोई भी व्यक्ति सोलहवाँ अर्थात् अच्युत स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।

मानवके आत्म-विकासमें जिस शक्तिके कारण बाधा उपस्थित होती है, उसे 'कर्म' कहते हैं। प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान, सुख, वीर्यादि शक्तियोंका आधार है; परंतु अनादि कालसे उसके साथ कर्ममल लिप्त रहनेके कारण, उसकी स्वाभाविक शक्तियाँ विकसित नहीं हो पातीं। दूसरे शब्दोंमें पुद्गलका परमाणुपुञ्ज आकर्षित होकर आत्माको आच्छादित कर लेता है। यही 'कर्म' है। कर्मका आत्मासे सम्पर्क होनेसे जो अवस्था उत्पन्न होती है, वह 'बन्ध' है। राग-द्वेषसे युक्त मनुष्यका आत्मा पुद्गल-पुञ्जको वेगके साथ आकर्षित कर लेता है, जिस प्रकार चुम्बक लौहको। पञ्चेन्द्रिय-सुखोंके कारण असंख्य कर्मोंका आश्रय होता है।

कर्मोंके आठ भेद होते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र। आत्माका बन्ध करनेवाले इन कर्मोंके आश्रवको अवरुद्ध करनेके लिये साधकको संवरकी आवश्यकता होती है। इसके द्वारा आश्रवके समस्त द्वारोंका निरोध होकर नवीन कर्मोंका प्रवेश रुक जाता है तथा पुरातन कर्म क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। यही 'निर्जरा' है। कर्मोंका पूर्ण क्षय ही 'मोक्ष' है। मोहनीय कर्मोंका नाश होनेसे केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है। जैन-दर्शनके अनुसार आत्म-विकासकी चौदह अवस्थाएँ होती हैं, जिनके द्वारा आत्मा शनैः-शनैः कर्मबन्धनसे मुक्त होता हुआ, अन्तमें पूर्ण निर्मल हो जाता है। इन्हें 'गुणस्थान' कहते हैं। इनकी प्रत्येक अवस्थामें पाप-वृत्तिका क्षय तथा पुण्यवृत्तिका उत्तरोत्तर विकास होता जाता है।

जैन-उपासनाके अन्तर्गत निर्दिष्ट उक्त साधनोंका सम्यक् पालन करके सामान्यसे सामान्य मानव भी, चाहे वह किसी वर्णका हो, दिव्य परमात्म-पदका अधिकारी बन सकता है।

सबको वशमें करनेवाले गुण

क्षमया दयया प्रेम्णा सूनृतेनार्जवेन च।
वशीकुर्याज्जगत् सर्वं विनयेन च सेवया॥

क्षमा, दया, प्रेम, मधुर वचन, सरल स्वभाव, नम्रता और सेवासे सब संसारको वशमें करना चाहिये।

बौद्धधर्ममें उपासना

(लेखक—आचार्य श्रीविश्वनाथजी पाठक, एम्० ए०)

जगत्में द्विविध अनुयोग दृष्टिगत होते हैं—'अत्तकिलमथानुयोग' और 'कामसुखल्लिकानुयोग'। कोई दुःखनिवृत्तिके लिये चान्द्रायण-व्रत करता है तो कोई पञ्चाग्नितापन। कोई शाकभक्षी है तो कोई श्यामाकभक्षी। कोई नीरभक्षी है तो कोई समीरभक्षी। इस प्रकार विविध काय-क्लेश सहकर लोग कृच्छ्र-साधनामें निरत देखे जाते हैं। इसके सर्वथा विपरीत द्वितीय वर्ग उन संख्यातीत लोगोंका है जो संसारको दुःखमय नहीं मानते। इन्द्रियजन्य विषय-सुखोपलब्धि ही उनका ध्रुव जीवन-लक्ष्य होता है। ऐसे लोग मोक्षकी चिन्ता छोड़कर दिन-रात वासना-प्रवाहमें बहते रहते हैं। बौद्ध-उपासना इन दोनोंको दो छोरोंपर छोड़कर मध्यवर्ती मार्गसे अग्रसर होती है। उसमें न कठोर कायक्लेशके लिये कोई स्थान है और न इन्द्रियवश्यताके लिये अवकाश।

बौद्धधर्मानुसार यह संसार दुःखोंका आगार है। दुःखका मूल है—अविद्या। जबतक अविद्याका उच्छेद नहीं होता, तबतक भवचक्रसे मुक्ति नहीं मिलती। अविद्याका नाश होता है— दिव्य ज्ञानसे। दिव्य ज्ञानकी उत्पत्ति तबतक असम्भव है, जबतक शरीर उसे धारण करनेमें सक्षम नहीं हो जाता। शारीरिक एवं मानसिक शुद्धिसे ही मनुष्यमें ज्ञान धारण करनेकी योग्यता उद्भूत होती है। शारीरिक एवं मानसिक शुद्धिका उपाय है—अष्टाङ्गिक मार्ग।

अष्टाङ्गिक मार्ग

अष्टाङ्गिक मार्गका दूसरा नाम है—'दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा।' मध्यमार्गका अवलम्बन करनेके कारण 'मज्झिम पटिपदा' तथा अष्टाङ्गयुक्त होनेसे इसे 'अष्टाङ्गिक मार्ग' भी कहा गया है। अष्टाङ्गिक मार्गके आठ अङ्ग निम्नलिखित हैं—

(१) सम्यग्दृष्टि (आर्य-सत्योंका ज्ञान), (२) सम्यक् संकल्प (दृढ़ निश्चय), (३) सम्यग् वाक् (सत्यभाषण), (४) सम्यक् कर्मान्त (दुराचरणरहित कर्म), (५) सम्यग् आजीव (न्यायपूर्ण जीविका), (६) सम्यग् व्यायाम (पापोंको छोड़ने तथा पुण्योंका संचय करनेके लिये सतत उद्योग करना), (७) सम्यक् स्मृति (चित्त, वेदना, शरीर आदिकी अनित्यता और अपवित्रताका बोध तथा लोभादि दोषोंसे दूर हटना) और (८) सम्यक् समाधि (चित्तकी एकाग्रता)। इनमें प्रथम दोका सम्बन्ध प्रज्ञासे, अन्तिम दोका सम्बन्ध समाधिसे तथा शेष चारका सम्बन्ध शीलसे है। इस अष्टाङ्गिक मार्गके सेवनसे प्रज्ञाका उन्मेष होता है और जीवको निर्वाणकी उपलब्धि हो जाती है। 'धम्मपद'के अनुसार दर्शनशुद्धिका केवल यही एक मार्ग है—

'एसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।' (२७४)

इस मार्गपर आरूढ़ होनेवाले उपासककी चार अवस्थाएँ या मार्गफल निर्दिष्ट हैं—स्रोतापन्न, सकृद् आगामी, अनागामी और अर्हत्। 'महालिसुत्त'के अनुसार तीन संयोजनों (सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत-परामर्श) को क्षीण कर सम्बोधिकी ओर अग्रसर होनेवाला साधक 'स्रोतापन्न' है। इसके चार अङ्ग हैं—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति और निष्कलुष-शील-समादान। सकृद् आगामी इस भवचक्रमें केवल एक बार पुनः आता है। अनागामी इस संसारमें फिर जन्म नहीं लेता। अर्हत पदको प्राप्त करनेपर जीव आस्रवमुक्त होकर आत्मकल्याण-साधनमें निरत हो जाता है।

साधन

शील, समाधि और प्रज्ञा—ये तीन साधन हैं। 'विसुद्धिमग्ग'के अनुसार इन्हींके द्वारा अन्तर-बाहर-सर्वत्र प्रसृत जटाबन्ध (तृष्णा) का मूलोच्छेद सम्भव है।

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं ति॥
(परिच्छेद १)

प्रज्ञासे दिव्यचक्षुकी प्राप्ति होती है और चित्त कामास्रव (भोगेच्छा), भवास्रव (जन्म लेनेकी इच्छा) तथा अविद्यास्रव (अज्ञान) से मुक्त हो जाता है। समाधिसे चित्त समाहित होता है और विद्याका प्रादुर्भाव होता है। शील सबका आधार है। उसके अन्तर्गत समग्र सात्त्विक कर्मोंका समाहार है। मोक्षका उपनिषद् वैराग्य है, वैराग्यका ज्ञान, ज्ञानका समाधि, समाधिका शारीरिक

और मानसिक सुख, शारीरिक और मानसिक सुखका प्रश्रब्धि (शान्ति), प्रश्रब्धिका प्रीति, प्रीतिका आनन्द, आनन्दका कुकृत्यसे मानसिक पीड़ाका न होना और मानसिक पीड़ाके अभावका उपनिषद् (आधार) है—पुनीत शील (देखिये—सौन्दरानन्द काव्य)। अतएव शील सर्वोत्तम साधन है। वह स्वर्गारोहणका सोपान है। निर्वाण-नगरमें प्रवेशार्थ उससे उत्तम अन्य द्वार नहीं है—

सग्गारोहणसोपानं अञ्ञं सीलसमं कुतो।
द्वारं वा पन निब्बान नगरस्स पवेसने॥

(विसुद्धिमग्ग परि० १)

अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य तथा मादक द्रव्योंका सेवन न करना—ये पञ्चशील हैं। इनका पालन परमावश्यक है। भिक्षुओंके लिये अन्य पाँच शीलोंका संविधान है—अपराह्ण-भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रजत और महार्घ शैय्याका परित्याग।

शील-सम्पन्न होनेके लिये बड़े प्रयत्नकी आवश्यकता है। मनुष्य जिस वस्तुका सतत चिन्तन करता है, अभ्यास-वशात् उस वस्तुकी ओर उसका चित्त प्रवृत्त हो जाता है; यह स्वभाव है। अतः अकुशलमूल (अधर्म) को छोड़कर कुशलमूल (सत्कर्म) का अभ्यास करना चाहिये। जैसे ईंधन और वायु दोनोंके रहनेपर अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे ही विषय और परिकल्पनाकी उपस्थितिमें क्लेशाग्नि प्रज्वलित हुआ करती है। एक ही रूपको देखकर कोई प्रेम करता है, कोई द्वेष करता है; कोई मध्यस्थ रहता है और कोई घृणा करता है। इन्द्रियविषयोंके सम्पर्कमें रहकर भी तबतक उनमें आसक्त नहीं होता जबतक तत्सम्बन्धी मानसिक संकल्प नहीं होता। अतः परिकल्प (संकल्प) से ही सङ्ग और ताटस्थ्य-वृत्ति उद्बुद्ध होती है। इन्द्रिय शरीर-मन्दिरके द्वार हैं। इन्हींसे कुशलमूल और अकुशलमूल धर्मोंका प्रवेश होता है। अकुशलमूलकी ओरसे इन्द्रियोंका द्वार बंद कर देना 'इन्द्रियसंवर' है। संवृतेन्द्रिय उपासक कवच-बद्ध योद्धाके समान अजेय हो जाता है।

व्यायाम (अभ्यास)

शीलार्जनके लिये उत्कृष्ट व्यायाम अनिवार्य है। व्यायाम चार प्रकारके हैं—'संवरप्रधान', 'प्रहाणप्रधान', 'भावनप्रधान' और 'अनुरक्षणप्रधान'। अनुत्पन्न अकुशल धर्मोंके अनुत्पादार्थ अभ्यास करना 'संवरप्रधान' है। इसमें इन्द्रियसंवरका प्राधान्य रहता है। चित्तमें जो अकुशल वितर्क (कामवितर्क, व्यापादवितर्क और विहिंसा-वितर्क) पूर्वसे विद्यमान हैं, उन्हें बिल्कुल निर्मूल कर देनेके लिये अभ्यास करना 'प्रहाणप्रधान' है। इसमें वितर्कोंके प्रतिपक्षकी भावना विधेय है। जो कुशलधर्म चित्तमें पूर्वसे विद्यमान नहीं हैं, उनकी उत्पत्तिके निमित्त अभ्यास करना 'भावनप्रधान' है। इसमें स्मृति, धर्म, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षाकी भावनाका संविधान है। अभ्यासवशात् जो कुशलधर्म चित्तमें आविर्भूत हो चुके हैं, वे अनपेक्षित रहकर नष्ट न हो जायँ—एतदर्थ अभ्यास करना 'अनुरक्षणप्रधान' है। इसके अन्तर्गत समाधि-निमित्तों (अहिक, पुलुवक, विलीनक आदि) की रक्षा की जाती है।

आहार

बौद्ध-उपासनामें निराहार रहकर शरीरको कष्ट देनेका कोई नियम नहीं है। अश्वघोषने लिखा है कि भोजनके बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। अतः भोजनमें दोष नहीं है। भोजन-विशेष वर्जित है—

यस्मान्नास्ति विनाहारात् सर्वप्राणभृतां स्थितिः।
तस्माद् दुष्यति नाहारो विकल्पोऽत्र तु वार्यते॥

(सौन्दरानन्द १।९)

तथापि प्रत्येक मासकी अष्टमी, पूर्णिमा और अमावास्याको उपोसथका दिन माना गया है। उस दिन अष्टशील ग्रहणपूर्वक उपवास विहित है। अधिक भोजन और अल्प भोजन दोनों योग-प्रतिकूल हैं। अधिक भोजनसे आलस्य और अल्प भोजनसे शक्तिका ह्रास होता है। भोजन बिल्कुल त्याग देनेवाला उपासक ईंधनरहित अग्निके समान शीघ्र बुझ जाता है। इस शरीरको जीर्ण-शीर्ण कर देनेसे कोई सिद्धि नहीं मिलती। जैसे कोई नावको उसके स्नेहसे नहीं, अपितु नदी पार करनेके लिये रक्षित रखता है, वैसे ही योगीको आसक्ति और स्नेहसे नहीं, मोक्षकी कामनासे शरीरकी रक्षा करनी चाहिये।

स्मृतिप्रस्थान

अष्टाङ्गिक उपासनामें स्मृतिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव स्मृतिसम्प्रमोष साधकका सबसे बड़ा दुर्गुण है। अतएव

'महासतिपट्ठानसुत्त'में स्मृतिप्रस्थानकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की गयी है। यदि प्रधान समाधिका परिष्कार है तो स्मृतिप्रस्थान उसका निमित्त। स्मृतिप्रस्थान चार हैं—'कायानुपश्यना', 'वेदनानुपश्यना', 'चित्तानुपश्यना' और 'धर्मानुपश्यना'।

शरीरकी अपवित्रता और नश्वरताका मनन करते हुए उसके समस्त व्यापारों और उपादानोंके प्रति जागरूक रहना 'कायानुपश्यना' है।

मृत्यु अवश्यम्भावी है, यह शरीर मल-मूत्रका आगार है—इस प्रकार सोचनेसे साधक आसक्ति-रहित हो जाता है। वेदनाओं (इन्द्रियजन्य अनुभूति) एवं उनके समुदय (उद्भव) तथा व्यय (निरोध) का पूर्णतया ज्ञान रखना 'वेदनानुपश्यना' है।

चित्तकी प्रत्येक दशाकी जानकारी रखना 'चित्तानुपश्यना' है। इसमें साधक जागरूक रहकर देखता है कि मेरा चित्त सराग है या वीतराग, सदोष है या निर्दोष, संक्षिप्त है या विक्षिप्त, समाहित है या असमाहित। वह जानता है कि यह चित्त समुदय और व्यय (निरोध) धर्मवाला है।

धर्मोंकी सम्यक्स्मृति 'धर्मानुपश्यना' है। इसके अन्तर्गत रूप (शरीर), वेदना (वस्तुसाक्षात्कारजन्य सुख-दुःखात्मक बोध), संज्ञा (वस्तुसाक्षात्कार), संस्कार (मानसिक प्रवृत्तिविशेष) विज्ञान (चैतन्य), इन्द्रिय, विषय, इन्द्रिय-विषय संयोगजबोध, तज्जन्य संयोजन (बन्धन)—इन सबकी उपलब्धि, निरोध और अभूतार्थताका मनन किया जाता है। साधक दुःख, दुःखकी उत्पत्ति, दुःखका निरोध तथा दुःखनिरोधक मार्ग—इन चारों आर्य सत्योंका यथाभूत बोध प्राप्तकर इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ समुदय (उत्पत्ति) और व्यय (निरोध) धर्मवाले हैं। वह पाँचों नीवरणो (काम), व्यापाद (क्रोध), स्त्यानमृद्ध (मानसिक और शारीरिक आलस्य); औद्धत्य कौकृत्य (चञ्चलता और पश्चात्ताप); विचिकित्सा (संशय) को यथावत् जानता है तथा यह भी जानता है कि ये उत्पन्न कैसे होते हैं और इनका निरोध कैसे होता है। सम्पूर्ण धर्मोंके स्वभाव और प्रवृत्तिका यथार्थ बोध करता हुआ अन्तमें साधक सबको असार समझकर भोगोपादानशून्य हो जाता है। इन स्मृतिप्रस्थानोंकी भावना, जो केवल सप्ताहभर ही कर ले, तो वह अनागामी-फलका अधिकारी हो जाता है। संसारमें उसे फिर आना नहीं पड़ता।

समाधि

चित्तकी एकाग्रता 'समाधि' है (चित्तसे कग्गता समाधि)। असमाहित चित्तमें कोई ज्ञान स्थिर नहीं हो सकता। अतः शील और स्मृतिसम्पन्न साधक समाधिस्थ होनेके लिये किसी विविक्त स्थानपर पर्यङ्कबद्ध होकर बैठ जाता है। वह अपना चित्त नासाग्र, ललाट या भृकुटि-मध्यमें किसी एक अवलम्बनपर स्थिर करता है। शनैः-शनैः अभ्यास-वशात् चित्तमें स्थिरता आने लगती है और साधक समाधिके प्रथम सोपानपर पहुँच जाता है। उस समय उसे सवितर्क-सविचार विवेकज-प्रीति-सुखकी अनुभूति होती है। तदनन्तर वह वितर्क और विचारकी उपेक्षा कर द्वितीय सोपानपर आरूढ़ होता है। वहाँ अवितर्क और अविचारयुक्त समाधिसे उत्पन्न प्रीति-सुखका अनुभव होता है। तृतीय सोपानपर प्रीतिमें विराग होनेसे उसका भी उपशम हो जाता है, केवल सुखका अस्तित्व शेष रह जाता है। चतुर्थ सोपानपर पहुँचते-पहुँचते सुख-दुःख, दौर्मनस्य और सौमनस्य सबका लय हो जाता है। इस प्रकार समाहित चित्तसे पाँचों नीवरण प्रहीण हो जाते हैं। आस्रवोंका ऐकान्तिक क्षय हो जाता है। साधकमें पाँच अभिज्ञाओंका उदय होता है। वह दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र, पूर्वजन्मस्मृति-ज्ञान, ऋद्धिविध तथा परचित्त-विजानन-ज्ञानसे सम्पन्न हो जाता है। वह दिव्यज्ञानमण्डित होकर तथा प्रतीत्य समुत्पाद (सापेक्षकारणतावाद) पर निष्ठा रखकर कार्य-कारण-शृङ्खलापर विचार करता है। कार्यकी सत्ता तभीतक है, जब-तक उसका हेतु विद्यमान है। अतः वह सर्वप्रथम सम्पूर्ण दुःखोंकी जननी अविद्याका मूलोच्छेद करता है। अविद्याके अभावमें उससे उत्पन्न होनेवाला संस्कार (पूर्वजन्मकृत कर्म तथा अनुभवसे उत्पन्न संस्कार) निरुद्ध हो जाता है। संस्कारके अभावमें उसीपर आश्रित रहनेवाला विज्ञान (चैतन्य) विलीन हो जाता है। विज्ञानके अभावमें नामरूप (शरीर और अन्तःकरणका संस्थानविशेष), नामरूपके अभावमें षडायतन (मन एवं ज्ञानेन्द्रियपञ्चक), षडायतन-के अभावमें स्पर्श (विषयोंका इन्द्रियसे सम्पर्क), स्पर्शके अभावमें वेदना (इन्द्रियजन्यानुभूति), वेदनाके अभावमें तृष्णा, तृष्णाके अभावमें उपादान (आसक्ति), उपादान-के अभावमें भव (कर्म), भवके अभावमें जाति (जन्म) और जातिके अभावमें जरा-मरण आदि सम्पूर्ण क्लेश निरुद्ध हो जाते हैं। साधक जीवन्मुक्त (अर्हत्) होकर निर्वाण पद प्राप्त करता है।

निर्वाण

निर्वाण वह नैष्ठिक एवं अच्युत पद है, जिसके उपलब्ध होनेपर न जन्म होता है न जरा, न रोग होता है न मृत्यु, न अप्रिय-सम्प्रयोग होता है, न प्रिय-विप्रयोग। बौद्ध महाकवि अश्वघोषने निर्वाणका स्वरूप समझाते हुए लिखा है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित्
क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥

अर्थात् 'जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न पृथ्वीमें जाता है न अन्तरिक्षमें; न दिशाओंमें जाता है न विदिशाओंमें। तेल समाप्त हो जानेपर वह अपने स्थानपर केवल शान्त हो जाता है। उसी प्रकार साधक निर्वाण प्राप्त करनेपर न पृथ्वीमें जाता है, न अन्तरिक्षमें, न दिशाओंमें जाता है न विदिशाओंमें; क्लेशोंका क्षय हो जानेपर वहीं शान्त हो जाता है।

'मज्झिमनिकाय'के अनुसार शान्त मुनि न उत्पन्न होता है, न मरता है, न जीर्ण होता है, न कुपित होता है, न इच्छा करता है। उसमें वे निमित्त ही नहीं रहते, जिनसे उत्पत्ति होती है। अनुत्पन्न व्यक्ति जीर्ण कैसे होगा? जीर्ण न होनेवाला कोप कैसे करेगा? और कोप न करनेवाला कैसे स्पृहा (इच्छा) करेगा?

मुनि खो पन भिक्खवे! सन्तो न जायति, न जीयति, न मीयति, न कुप्पति, नप्पिहेति, तञ्हिस्स भिक्खवे नत्थि येन जायेथ। अजायमानो किं जीयिस्सति? अजीयमानो किं कुप्पिस्सति? अकुप्पियमानो किं पिहेस्सति।

बौद्धधर्ममें वज्रयानी उपासना

(लेखक—श्रीरासमोहन चक्रवर्ती एम्० ए०, पी-एच्० डि०, पुराणरत्न, विद्याविनोद)

१. बौद्धधर्ममें तान्त्रिक विवर्तन

बौद्धधर्मके शास्त्र और उपासनामार्गको प्रधानतः तीन मार्गोंमें विभाजित किया जाता है—'हीनयान', 'महायान' और 'तन्त्रयान'। ई० पूर्व छठी शताब्दीसे ईसाकी प्रथम शताब्दीके पूर्व पर्यन्त हीनयानके अभ्युदयका काल है। ईसाकी प्रथम शताब्दीसे सातवीं शताब्दीतक महायान तथा आठवींसे बारहवीं शताब्दीतक तन्त्रयानका प्रादुर्भाव-काल निरूपित होता है। इन तीनों ही यानोंका विशाल साहित्य, सांस्कृतिक, ऐतिह्य, विशिष्ट उपासनापद्धति तथा उपासक-परम्परा है।

बौद्धधर्मके भीतर तन्त्रयान या तान्त्रिक उपासना-पद्धतिका आविर्भाव कब किस प्रकारसे हुआ था, इस विषयमें मतभेद देखा जाता है। तिब्बतके बौद्धोंका विश्वास है कि महायानके अन्तर्गत योगाचार-दार्शनिक सिद्धान्तके प्रवर्तक आचार्य असङ्गने सर्वप्रथम बौद्धतन्त्रका प्रचार किया था (ईसाकी चौथी शताब्दी)। उन्होंने महायानी उपासना-पद्धतिमें नाना प्रकारके गुह्य मन्त्र, यन्त्र, धारणी आदिका सूत्रपात किया। आठवीं और नवीं शताब्दीमें महायान बौद्धधर्ममें नयी-नयी तान्त्रिक ध्यान-कल्पनाओंका स्पर्श हो गया था और उसके फलस्वरूप दशवीं शताब्दीसे बौद्धधर्ममें गुह्य साधनतत्त्व, नीति-पद्धति और पूजा-अनुष्ठान आदिका व्यापक प्रसार दृष्टिगत होने लगा। आठवींसे बारहवीं शताब्दीतक बंगालमें पालवंशके शासनकालमें तन्त्रयानकी विभिन्न शाखाओंकी श्रीवृद्धि और प्रबल प्रताप विद्यमान था। सारे बङ्गदेशमें, विहार और उड़ीसामें तन्त्रयानका अत्यधिक प्रभाव रहा।

बौद्धधर्मके इस तान्त्रिक विवर्तनमें जिन्होंने नेतृत्व किया था, तत्कालीन बौद्ध इतिहासमें वे सिद्ध या सिद्धाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। ऐसे चौरासी सिद्धाचार्योंके नाम उपलब्ध होते हैं। ये नवींसे बारहवीं शताब्दीतक आविर्भूत हुए थे। इनमेंसे कई सिद्धोंने ग्रन्थ-रचना की थी। उनके मूलग्रन्थ अधिकांशमें लुप्त हो गये हैं, तथापि उनका तिब्बती अनुवाद आज भी उपलब्ध है। आठवींसे बारहवीं शताब्दीतक नालन्दा, विक्रमशिला और ओदन्तपुरी महाविहारमें बौद्ध-तन्त्रशास्त्रोंका विशेष अनुशीलन होता था। वहाँके

आचार्योंने तन्त्रशास्त्रके विषयमें बहुतसे ग्रन्थोंका प्रणयन किया था। उनकी चेष्टासे अल्पकालमें ही प्राच्य भारत और तिब्बत (भोट) देशमें तान्त्रिक-धर्म और उपासनापद्धति फैल गयी थी।

बौद्ध-तन्त्रयानमें मुख्यतः तीन प्रकारके मतोंका पता लगता है—'वज्रयान' 'कालचक्रयान' और 'सहजयान'। प्रत्येक मतके बहुतसे ग्रन्थ थे और वे ग्रन्थसमूह पूर्णतः तिब्बती अनुवादमें संरक्षित हैं। कुछ ग्रन्थोंकी मूल संस्कृत प्रतियाँ नेपाल दरबार लायब्रेरी, 'रायल एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल'के पुस्तकागारमें तथा 'बड़ोदा ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट'के संग्रहालयमें संगृहीत हैं। कुछ बौद्धतन्त्र विभिन्न संस्थाओंके द्वारा मुद्रित और प्रकाशित हुए हैं।

२. वज्रयानी उपासनाके शास्त्र और ग्रन्थकार

तन्त्रयानके अन्तर्गत वज्रयान शाखाके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। इन सब ग्रन्थोंकी पर्यालोचना करनेपर वज्रयानी उपासनापद्धति तथा तत्त्वविचारके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(१) **आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प**—इस ग्रन्थमें नाना प्रकारकी तान्त्रिक बौद्धदेवियोंकी पूजा-पद्धति, मन्त्र, मुद्रा और धारणी आदिका वर्णन है। 'त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज'से तीन खण्डोंमें यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

(२) **श्रीगुह्यसमाजतन्त्रम्**—इस ग्रन्थके प्रथम पटलमें पञ्चध्यानी बुद्ध, उनकी पञ्चशक्तियाँ तथा उनके मण्डलके द्वारपाल-चतुष्टयकी उत्पत्तिकी कथा और मन्त्रादिका वर्णन है। अष्टादशपटलमें वज्रयानी तान्त्रिक सिद्धान्त विशदरूपसे विवेचित हुए हैं। ('गायकवाड ओरियण्टल सिरीज' की यह ५३ संख्याकी पुस्तक है)।

(३) **प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि**—चौरासी सिद्धाचार्योंमें सुप्रसिद्ध अनङ्गवज्रके द्वारा यह ग्रन्थ प्रणीत है। इस ग्रन्थमें पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें प्रज्ञा (शून्यता) तथा उपाय (करुणा) का स्वरूप निर्धारित हुआ है। द्वितीय परिच्छेदमें वज्राचार्य या गुरुकी आराधना एवं तृतीय परिच्छेदमें बोधिचित्ताभिषेक वर्णित है। चतुर्थ परिच्छेदमें वज्रयानकी तत्त्व-भावना तथा पञ्चम परिच्छेदमें उपासना-पद्धतिका विवेचन है।

(४) **ज्ञानसिद्धि**—यह इन्द्रभूतिके द्वारा रचित है। वज्रयानी तन्त्र-साहित्यमें इन्द्रभूति और उनकी बहिन भगवती लक्ष्मीङ्कराका नाम सुप्रसिद्ध है। इन्द्रभूति थे उड्डीयान राज्यके अधीश्वर तथा सिद्धाचार्य अनङ्गवज्रके शिष्य। सातवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें उनका आविर्भाव हुआ था। ज्ञानसिद्धि ग्रन्थमें २० परिच्छेदोंमें तान्त्रिक-तत्त्व-सिद्धान्त, गुरु-शिष्य, अभिषेक और साधन-पद्धति आदिकी विवेचना की गयी है। (Two Vajrayan Works, Gaekwad's Oriental Series No. 44)

भगवती लक्ष्मीङ्कराकी गणना ८४ सिद्धाचार्योंमें होती है। राजकन्या होकर भी इन्होंने योग और तन्त्रसाधनामें सिद्धि प्राप्त की थी। लक्ष्मीङ्कराने तान्त्रिक बौद्धधर्मके भीतर सहजयान पन्थका प्रवर्त्तन किया था। इनके द्वारा रचित 'अद्वयसिद्धि' नामक ग्रन्थमें सहजयान मतवादकी विवेचना की गयी है।

(५) **अद्वयवज्रसंग्रह**—पण्डित अवधूत अद्वयवज्रने (११-१२ शताब्दी) वज्रयानके तत्त्व और उपासनापद्धतिका अवलम्बन करके २१ लघु ग्रन्थोंकी रचना की थी (G. O. S. No. 40)

(६) **साधनमाला**—इस ग्रन्थकी ३१२ साधनाओंमें वज्रयानी देव-देवीकी मूर्त्तियोंका ध्यान, पूजा-पद्धति, मन्त्र और प्रयोगादि वर्णित हैं। रचनाकाल ११६५ ई० है, दो खण्डोंमें प्रकाशित है। (G. O. S. Nos. 26, 41)

(७) **निष्पन्न योगावली**—विक्रमशिला महाविहारके पण्डित अभयाकर गुप्तके द्वारा प्रणीत है। इसमें न्यूनाधिक छः सौ बौद्ध तान्त्रिक देव-देवियोंकी मूर्तियोंका विवरण है। रचनाकाल ११३० ई० के आसपास है। Gaekwad's Oriental Series द्वारा प्रकाशित है।

३. वज्रयानकी तत्त्व-भावना

बौद्धतन्त्रके मतसे सृष्टिका आदि और अकृत्रिम उत्पत्ति-स्थान एकमात्र 'शून्य' है। इस शून्यका अर्थ है सत्-विज्ञान और महासुख, अर्थात् शून्य सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप है। शून्यको वज्रयानने 'वज्र' नामसे अभिहित किया है। इसका कारण यह है कि शून्य वज्रके समान दृढ़, सारवान्, छिद्ररहित, अच्छेद्य, अदाही और अविनाशी है। महायानकी 'शून्यता' ही वज्रयानमें आकर 'वज्र' नाम ग्रहण करती है। अतएव 'अद्वयवज्रसंग्रह' में लिखा है—

दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशं च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

'शून्य' या शून्यताका नाम ही वज्र है तथा जिस मार्गके द्वारा शून्य या वज्रके साथ मिलन होता है, वह 'वज्रयान' नामसे अभिहित होता है। बौद्धतन्त्रकी परिभाषामें जीवात्मा बोधिचित्त या करुणा है और परमात्मा शून्य, वज्र या आदिबुद्धके नामसे अभिहित है।

वज्रयानकी ध्यान-कल्पना गम्भीर और जटिल है। वज्रयानियोंने शून्यता या निर्विकल्प ज्ञानका नाम रक्खा है 'निरात्मा'। जीवकी आत्मा निर्वाण प्राप्त करनेपर इसी 'निरात्मा' में विलीन हो जाती है। निरात्माकी कल्पना देवीरूपमें हुई; और कहा जाता है कि 'बोधिचित्त' जब निरात्माके आलिङ्गनमें बद्ध होकर निरात्मामें ही विलीन हो जाता है, तभी उत्पत्ति होती है 'महासुख' की। बोधिचित्त-का अर्थ है—चित्तकी एक विशेष वृत्ति या अवस्था, जिसमें सम्यक्-ज्ञान या बोधि-लाभका संकल्प विद्यमान रहता है। यह बोधिचित्त ही 'वज्र' है; क्योंकि योगसाधनाके फलसे इन्द्रिय-शक्ति पूर्णरूपेण दमित हो जानेपर वह वज्रके समान दृढ़ और कठिन हो जाता है। बोधिचित्त जब वज्रभावको प्राप्त होता है, तभी बोधिज्ञानकी प्राप्ति सम्भव होती है। चित्तके इस वज्रभावका आश्रय लेकर जो साधन-पथ प्रवर्तित होता है, वही 'वज्रयान' है। वज्रयानके एक प्रामाणिक ग्रन्थ 'ज्ञानसिद्धि'में लिखा है कि 'बोधिचित्तं भवेद् वज्रम्'। अर्थात् 'बोधिचित्त ही वज्र हो जाता है।' इस कारण जिन महापुरुषोंने बुद्धत्व प्राप्त किया था, उनको वज्रधर या वज्रसत्त्व नामसे अभिहित किया जाता था। यह बहुत प्राचीन धारणा है, इसमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि गौतमबुद्धने बोधि-वृक्षके नीचे जिस आसनपर सिद्धि प्राप्त की थी, उसे अति प्राचीन कालमें ही 'वज्रासन' नामसे पुकारा जाता था। आचार्य इन्द्रभूतिने 'ज्ञानसिद्धि' तन्त्रमें वज्रयानकी इस प्रकारकी परिभाषाका निर्देश किया है—

सर्वं तथागतज्ञानं वज्रयानमिति स्मृतम्।

समस्त तथागत या बुद्धगण जिस उपायसे ज्ञान प्राप्त करते हैं, वही 'वज्रयान' कहलाता है। वज्रयानके माहात्म्यका वर्णन करते हुए इन्द्रभूति कहते हैं—

अशेषयोगतन्त्रोक्तं वज्रयानमनुत्तरम्।
ये न जानन्ति मूढास्ते भ्रमन्तीह भवार्णवे ॥
(ज्ञानसिद्धि १।३)

'असंख्य योगतन्त्रोंमें वज्रयान ही सर्वोत्तम है। जो मूढ़ लोग इसको नहीं जानते हैं वे संसार-सागरमें बहते रहते हैं।'

कल्पनाजलपूर्णस्य संसारस्य महोदधेः।
वज्रयानमनारुह्य को वा पारं गमिष्यति ॥
(ज्ञानसिद्धि ११।८)

'कल्पनारूपी जलसे परिपूर्ण इस संसार-सागरको वज्रयान-पर आरूढ़ हुए बिना कौन पार करेगा? इसको पार करनेके लिये उसे वज्रयानरूपी जलयानपर अवश्य चढ़ना पड़ेगा।'

पद्मवज्र-रचित 'गुह्यसिद्धि' तन्त्रमें वज्रयानको एक ऐसे अपूर्व साधनमार्गके रूपमें बताया गया है, जिसमें सर्व धर्मोंकी एकता प्राप्त होती है। वज्रयानकी उपासना गुह्यातिगुह्य है। यह निःस्वभाव और शुद्ध है। इसकी कहीं भी उपमा नहीं है—

सर्वधर्मसमेकत्वं यत्त्वया भाषितं प्रभो।
अहो गुह्यातिगुह्यस्य वज्रयानस्य देशना ॥
निःस्वभावविशुद्धस्य विद्यते यस्य नोपमा ॥
(गुह्यसिद्धिः)

४. वज्रयानकी उपासना-पद्धति और साधन-तत्त्व

वज्रयानकी उपासना-पद्धति अत्यन्त गुह्य है और जिस भाषामें और शब्दोंमें इस पद्धतिका वर्णन किया जाता है, वह भी गुह्य है। गुरुके द्वारा दीक्षित साधकके सिवा और कोई उस भाषा और शब्दोंके गूढ़ार्थको नहीं समझ सकता तथा गुरुके निर्देश और उपदेशके बिना इस उपासना-पद्धतिका अनुसरण करना भी हानिप्रद है। वज्रयान-साधनामें दीक्षा ग्रहण करनेके पहले साधकको सिद्ध गुरु या वज्राचार्यके पास जाना पड़ता है तथा 'बोधिचित्ताभिषेक' नामक अनुष्ठानके बाद मन्त्र ग्रहण करना पड़ता है। मन्त्र, मुद्रा और मण्डल वज्रयानकी उपासना-पद्धतिमें प्रधान स्थान ग्रहण करते हैं। प्राकृतिक शक्तियोंको पूर्णरूपसे वशीभूत किये बिना चरम सत्यज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण वज्रयानी तान्त्रिक साधक सारी प्राकृतिक शक्तियोंको विकसित करके तथा उनको स्वायत्त करके चरम लक्ष्यकी ओर अग्रसर होते हैं। इस कार्यके लिये उनको मन्त्र, मुद्रा और मण्डलकी आवश्यकता होती है।

वज्रयानियोंका 'मन्त्र' शब्दबीज होता है; अतएव उस मन्त्रके अवलम्बनसे प्राकृतिक शक्तिको उद्बुद्ध और स्वायत्त करना सम्भव होता है। यह शब्दबीज जब साधकके सामने मूर्तिमान् होकर उपस्थित होता है, तब नाना प्रकारकी देव-देवियोंका आविर्भाव होता है। शक्तिका विकास असंख्य रूपोंमें हो सकता है, इसी कारण देव-देवियाँ भी असंख्य हैं। इन देव-देवियोंका जब आविर्भाव होता है, तब वे अपने गुणोंके अनुसार निर्दिष्ट स्थान ग्रहण करती हैं। इन सब स्थानोंके समावेशमें 'मण्डल' की सृष्टि होती है। उस मण्डलके केन्द्रमें अधिष्ठातृ-देवता स्थान ग्रहण करते हैं और उनके चारों ओर वृत्ताकारमें बहुत-से देवी-देवता आसन ग्रहण करते हैं। मन्त्र जब इस प्रकार मूर्त्त हो उठता है, तब देवताओंका आवाहन होता है—'मुद्रा'में। 'मुद्रा' कर-न्यास है। साथ ही वह मौन साधककी भाषा भी है। इसी कारण वज्रयान-उपासना-पद्धतिमें अनेक प्रकारकी मुद्राएँ प्रचलित हैं। मण्डलका निःशब्द (मौन) ध्यान करते-करते बोधिचित्त स्थायी और स्थिर होकर वज्रके समान कठिन हो जाता है और आगे चलकर बोधिज्ञानकी प्राप्ति होती है।

वज्रयानमें देव-देवी-उपासनाकी सुसम्बद्ध पद्धति दृष्ट होती है। इन सब देवताओंकी मूर्त्तियोंके निर्माण तथा चित्राङ्कनकी प्रणाली, गाथा, स्तोत्र-मन्त्र आदि पारमिता-समूहकी साधना, मुद्रा और मण्डल-रचना, हठयोग और ध्यानयोगकी पद्धति, षट्कर्म अर्थात् मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और वशीकरण तथा मैथुन-योगक्रिया (Sexo-yogic Tantric Practices) आदि विभिन्न प्रकारके विषय वज्रयान-तन्त्रकी आलोचनाकी सीमामें आ जाते हैं। ऐसे जटिल और विभिन्न विषय वज्रयानमें रहनेपर भी सर्वापेक्षा गुरुत्वपूर्ण विषय है—'वज्र'। वज्रयानियोंके सब मन्त्र-तन्त्र, आचार और अनुष्ठानके अन्तर्गत जो एक मूल स्वर ध्वनित होता है, वह है—सब धर्मोंकी वज्रस्वरूपता या शून्यतारूपी स्वभावकी उपलब्धि। वज्रयानियोंका इसके सम्बन्धमें एक गुरुत्वपूर्ण मन्त्र है—

'ॐ शून्यताज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम्।'
'ॐ वज्रात्मकाः सर्वे धर्मा वज्रात्मकोऽहम्।'

'मैं शून्यताज्ञानरूप वज्रस्वभावविशिष्ट हूँ। सब धर्म वज्रस्वभावविशिष्ट हैं, मैं भी वज्रस्वभावविशिष्ट हूँ।'

वज्रयानके मतसे किसी भी देवताकी पूजा करते समय उस देवतामें वज्रस्वरूपकी भावना करनी पड़ती है; उसकी मूर्ति वज्र है, पूजाके उपकरण वज्र हैं, मन्त्र भी वज्र है। अर्थात् सारे धर्म ही वज्रात्मक हैं। वज्रयान-साधनपथकी परमेश्वरी हैं वज्रेश्वरी (इसके दूसरे नाम वज्रधात्वीश्वरी या वज्रवाराही हैं)। वज्रयानके पूजा-अनुष्ठान आदिमें प्रयुक्त धूप, दीप, शङ्ख, घण्टा, गन्ध, पुष्पमाला, तिल, जौ, आसन, ध्वजा, कलश, वस्त्र, अलङ्कार, लाजा, अक्षत, अर्घ्य, अञ्जलि, पञ्चगव्य और पञ्चामृत आदि जो कुछ उपकरण होते हैं, सभी 'वज्र' नामाङ्कित होते हैं। यह मन्त्र इसका द्योतक है—'ॐ वज्रपुष्पे हुं स्वाहा, ॐ वज्रधूपे हुं स्वाहा, ॐ वज्रगन्धे हुं स्वाहा, ॐ वज्रदीपे हुं स्वाहा, ॐ वज्रनैवेद्ये हुं स्वाहा—इति सर्वं दातव्यम्।' (साधनमाला)

वज्रयानियोंमें यह धारणा बद्धमूल थी कि जो कुछ वज्रनामाङ्कित होगा, वही शून्यतास्वरूपकी उपलब्धिमें सहायक होगा। वज्रयान-साधनामें दीक्षा-ग्रहणके समय साधकको जो संकल्पवाक्य पढ़ना होता था, उसीसे वज्रयानके महान् आदर्श और उद्देश्यका परिचय मिलता है। यथा—

'अहो बताहम् अनुत्तरां सम्यक् सम्बोधिं अभिसंबुध्येयं सर्वं सर्वसत्त्वानाम् अर्थाय हिताय सुखाय यावद् अत्यन्तनिष्ठे निर्वाणधातौ बुद्धबोधौ प्रतिष्ठापनाय च एषोऽहम् अनुत्तर-सम्यक्सम्बोधिमार्गमाश्रयामि यदुत वज्रयानम्।' (साधनमाला)

"मैं अनुत्तर सम्यक्सम्बोधि प्राप्त करके सब प्रकारसे अभिसंबुद्ध हो जाऊँ। सब भूतोंके हित और सुखके लिये उनको निर्वाण धातुमें तथा बुद्धगणसेवित बोधिमें प्रतिष्ठापित करनेके लिये मैं उस अनुत्तरसम्बोधित मार्गका आश्रय ग्रहण करता हूँ, जिसका नाम 'वज्रयान' है"।

वज्रयानके पूजा-अनुष्ठानादिके अन्तर्निहित उद्देश्य हैं साधकका बोधिचित्त उत्पादन तथा सर्वजीवोंका दुःखविमोचन। सारे मन्त्र, मुद्रा, मण्डल तथा आचार-अनुष्ठानके द्वारा साधक अपने स्वरूपकी उपलब्धि करनेकी चेष्टा करता है—'हमारा चित्त स्वभावतः ज्योतिर्मय (प्रकृति-दीप्तियुक्त) है। यह वज्र या शून्यतास्वरूप है।' सब जीवोंके साथ तादात्म्यकी उपलब्धि करनेके लिये साधकको चार ब्रह्मविहार अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाकी भावना करनी पड़ती है। इसके पश्चात्—

'बोधिचित्तोत्पादं च कुर्याद् रत्नत्रयं मे शरणम् इत्यादिना। ततः शून्यतां विभावयेत्। सर्वधर्मान् निःस्वभाव-

रूपान् विभाव्य अक्षररूपं बोधिचित्तस्वरूपं प्रभास्वरम् आत्मानं पश्येत् ।' (साधनमाला)

बुद्ध, धर्म और संघ—इन तीन रत्नोंके शरणापन्न होकर बोधिचित्त उत्पादन करना पड़ता है। तत्पश्चात् शून्यता भावना करनी पड़ती है। सर्वधर्म (पदार्थ) की निःस्वभावता (Essencelessness) भावना करके बोधिचित्तको अक्षर-स्वरूप और अपनेको ज्योतिर्मयरूपमें प्रत्यक्ष करना पड़ता है।

इन सब भावनाओंको स्थिर और दृढ़ करनेके लिये 'साधनमाला' में निम्नलिखित मन्त्रोंका विनियोग देखनेमें आता है—

'ॐ स्वभावशुद्धाः सर्वधर्माः स्वभावशुद्धोऽहम् ।'

'ॐ सर्वतथागतात्मकोऽहम् ।'

'सर्वधर्म या पदार्थ स्वभावतः शुद्ध हैं, मैं स्वभावतः शुद्ध हूँ। मैं सर्वतथागत स्वरूप हूँ।' वज्रयानके ये मन्त्र अद्वैत वेदान्तके इस दुन्दुभिनादको स्मरण कराते हैं—

'ॐ चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ।'

'श्री'वैष्णव-मतमें उपासना

(लेखक—श्रीरङ्ग रामानुजाचार्य व्या० न्या० वेदान्ताचार्य)

श्रीवैष्णवमतमें ध्यान, भक्ति, ज्ञान, उपासना आदि शब्द समानार्थक माने गये हैं। सभीका पर्यवसान भक्ति-विशेषमें ही मानकर उपासनाके स्वरूपका विचार किया गया है, जिसे निम्नलिखित निबन्धमें सप्रसंग दिखानेका प्रयास किया जा रहा है—

सकल-कल्याणगुणनिधान भगवान् श्रीमन्नारायणके अनुग्रहसे ही जीव इस विषम संसारसे मुक्ति पाता है। जो (परमात्मा) प्राप्त करने योग्य वस्तुओंमें सर्वश्रेष्ठ है, सर्वथा दोषरहित है, सम्पूर्ण जगत्का एकमात्र कारण है, सबको सदा सब प्रकारसे जानता है, सबके अन्तर्यामी होनेके कारण सभी प्राणी जिसके शरीर हैं, जो सत्यसंकल्प है, जिसकी विभूतियाँ महान् और अनन्त हैं, उस सकल-कल्याण-गुणनिधान भगवान् श्रीमन्नारायणके अनुग्रहसे ही जीव विषम संसारसे मुक्ति-लाभ करता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।
(गीता १८ । ५६)

अर्थात् 'मेरी प्रसन्नतासे अविनाशी अखण्ड पद प्राप्त करता है।'

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
(गीता १८ । ५८)

अर्थात् 'मुझमें चित्तवाला होकर सब कर्म करता हुआ सम्पूर्ण सांसारिक कठिनाइयोंसे केवल मेरी कृपासे ही तर जायगा।'

मत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(गीता १८ । ६२)

अर्थात् 'मेरे (प्रभुके) प्रसादसे तू परम शान्तिको और शाश्वत स्थानको प्राप्त करेगा।'

परमात्माको प्रसन्न करनेमें भक्ति और प्रपत्ति प्रधान कारण हैं। भक्ति-प्रपत्तिसे प्रसन्न होकर परमात्मा मुक्ति प्रदान करते हैं। इसीलिये श्रीनिवासाचार्यने 'यतीन्द्रमत-दीपिका'में लिखा है कि—

भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्नः सन्नीश्वर एव मोक्षं ददाति ।

'भक्ति-प्रपत्तिसे प्रसन्न होकर ईश्वर ही मुक्ति प्रदान करता है।' जहाँ उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञानको मोक्षका साधन बतलाया गया है। यथा—

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(श्वेताश्वतर० ३ । ८)

'उस परमात्माको जाननेवाला विद्वान् इस संसारसे मुक्त हो जाता है, मोक्षके लिये ब्रह्मज्ञानके सिवा दूसरा कोई साधन है नहीं।'

'य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ।'
(कठोपनिषद् ६ । ९)

'जो इस परमात्माको जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं।'

ब्रह्मविदाप्नोति परम् ।
(तैत्तिरीय० २ । १ । १)

'ब्रह्मको जाननेवाला परब्रह्मको प्राप्त करता है।'

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद।

(मुण्डक० ३ । २ । ९)

'जो इस परब्रह्मको जानता है।'

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

'जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है' अर्थात् परम साम्यको प्राप्त होता है। यहाँ ज्ञानको ध्यानरूप समझना चाहिये।

क्योंकि—

'निदिध्यासितव्यः'

इत्यादि वचन 'ध्यान'को मोक्षका साधन बतला रहे हैं। ज्ञान सामान्य है, ध्यान ज्ञानविशेष है। सामान्यका विशेषमें पर्यवसान होता है।

अतएव वेदान्तदेशिकने 'तत्त्वमुक्ताकलाप'के 'जीवसर' में लिखा है—

जो इस परब्रह्मको जानता है।

ज्ञानध्यानादिवाचां समफलविषया सैव मुक्त्यै प्रतिष्ठा
सामान्योक्तिःसमानप्रकरणपठिता पर्यवस्येद्विशेषे ॥ २ ॥

'पशुछागन्यायसे ज्ञान, ध्यान, उपासना आदि शब्दोंका पर्यवसान भक्तिविशेषमें ही है; क्योंकि सब समान प्रकरणमें पठित हैं और समानविषयक हैं। अतएव सबका पर्यवसान विशेषमें समझना चाहिये।

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

(बृहदारण्यक० २ । ४ । ५)

'हे श्वेतकेतो! आत्मा ही देखनेयोग्य, मनन करनेयोग्य और निदिध्यासन करनेयोग्य है।'

आत्मानमेव लोकमुपासीत।

(बृहदारण्यक० १ । ४ । १५)

'आत्मस्वरूप लोककी ही उपासना करनी चाहिये।'

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

(छान्दोग्य० ७ । २६ । २)

'आहार शुद्ध होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और अन्तःकरणकी शुद्धिसे स्थायी स्मृति होती है और स्मृतिकी प्राप्तिसे सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।' उपर्युक्त वचनोंके साथ इन वचनोंकी एकार्थता होनेके कारण यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मका निरन्तर स्मरणरूप जो ज्ञान है, जो कि दर्शन-समानाकार है, उसे ही ध्यान और उपासना शब्दसे कहा गया है।

अतएव वेदान्तदेशिकने 'तत्त्वमुक्ताकलाप'के जीवसरमें लिखा है—

ध्यानाद्युक्त्या ध्रुवानुस्मृतिरिह विहिता ग्रन्थिमोक्षाय सैव
स्पष्टा दृष्टिस्तथैव श्रुतफलविषया सेत्रतत्त्वाद्युपास्तिः।
व्याप्यैक्यं विद्युपास्त्योर्व्यतिकरितगिरा भक्तिमेवाह गीता
सर्वं तद्व्यक्तिमात्रे फलवति विफलं तेन सैव विशिष्टा ॥३०॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥

(मुण्डकोपनिषद् ३ । २ । ३)

'यह परमात्मा उस मननसे भी लभ्य न होंगे जो प्रवचनका कारण एवं कार्य है। परमात्मा मेधा अर्थात् ध्यानसे तथा बहुत श्रवणसे भी प्राप्त न होंगे, वे जिसे चाहते हैं उसे मिलते हैं। उसको परमात्मा अपना स्वरूप प्रकाशित करते हैं।' परमात्मा भी उसे ही चाहते हैं, जो परमात्मासे प्रेम करता है। इस श्रुतिवचनसे प्रेमरहित श्रवण, मनन और निदिध्यासनका खण्डन किया गया; क्योंकि अन्यत्र प्रेममिश्रित श्रवण, मनन और निदिध्यासनका विधान मिलता है। यह श्रुति प्रेममिश्रित ध्यानको मोक्षोपाय बतलाती है। वह प्रेममिश्रित ध्यान ही भक्ति है—

स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।

'स्नेहपूर्वक बार-बार ध्यानको ही ज्ञानीजन 'भक्ति' कहते हैं।

इस प्रकारसे यह सिद्ध हुआ कि 'यथार्थ ज्ञान' ईश्वरकी ध्रुवास्मृति या निरन्तर स्मरणको कहते हैं। वही उपासना या भक्ति है। यही भक्ति भगवान्‌के प्रसाद-उत्पादनद्वारा मुक्तिका साधन है। भक्तिकी प्राप्तिमें वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान सहायक होता है। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग स्वतन्त्र मोक्षमें हेतु नहीं हैं; बल्कि भक्तिद्वारा उपाय बनता है। अतएव वेदान्तदेशिकने लिखा है कि—

कर्मज्ञानमुपासनं च शरणं व्रजेति चावस्थितान्
सन्मार्गानपवर्गसाधनविधौ सद्वारकान् द्वारकान्॥

(अधिकारसंग्रह)

'कर्म, ज्ञान, उपासना और शरणागति—ये चार मुक्तिके

साधन हैं। उनमें कर्म और ज्ञान सद्वारक हैं अर्थात् भक्ति-द्वारा मुक्तिमें हेतु हैं।' इसीलिये कर्मको अङ्ग और भक्तिको अङ्गी मानते हैं। वेदविहित वर्णाश्रम कर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तकी शुद्धि होती है। चित्तशुद्धि होनेपर परमात्माका निरन्तर स्मरण-रूप भक्ति उत्पन्न होती है। यह बात निम्नलिखित उपनिषद्-वचनसे भी सिद्ध होती है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

(ईशावास्य० ११)

'सदाचार्यसे उपदेश प्राप्त करके जो साधक ब्रह्म-उपासनारूपी अङ्गी विद्याको तथा उसके अङ्गरूप कर्मरूपी अविद्याको परस्परमें अङ्ग-अङ्गीके रूपमें अनुष्ठान करने योग्य समझता है, वह विद्याका अङ्ग बने हुए निष्काम कर्मसे विद्या-उत्पत्तिके विरोधी प्राचीन कर्मरूपी मृत्युको पार करके प्राप्त हुई विद्या अर्थात् ब्रह्म-उपासनासे अमृत ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसमें अविद्या शब्दसे वर्णाश्रम-धर्मादि कर्म विवक्षित हैं; क्योंकि वे विद्यासे भिन्न हैं। विद्या-शब्दसे भक्ति अर्थात् ब्रह्म-उपासना विवक्षित है।

भक्तिका सर्वश्रेष्ठ तात्पर्य प्रपत्तिसे है। इसीलिये लिखा है कि—

साधनं भगवत्प्राप्तौ स एवेति स्थिरा मतिः।
साध्यभक्तिस्तथा सैव प्रपत्तिरिति गीयते॥

(यतीन्द्रमतदीपिका, प्रकाशटीका)

'भगवान्‌की प्राप्तिमें भगवान् ही साधन हैं, इस प्रकारकी जो स्थिर बुद्धि है उसे ही साध्य भक्ति तथा प्रपत्ति भी कहते हैं। प्रपत्ति ही ईश्वरीय अनुकम्पा पानेका एक सरल श्रेष्ठ साधन है। प्रपत्तिको ही शरणागति तथा न्यास-विद्या भी कहते हैं। भगवान्‌से निष्कपटरूपसे यह प्रार्थना करना कि मैं अपराधोंका आलय हूँ, अकिंचन तथा निराश्रय हूँ अब आप ही केवल एकमात्र उपाय बनिये।' शरणागति कहा जाता है। भगवत्-शरणागतिके बिना जीवको मोक्ष नहीं मिल सकता है। यह अर्थ निम्नलिखित गीता-वचनसे प्रमाणित होता है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(७ । १४)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मेरी इस गुणमयी मायाको पार करना कठिन है। इससे पार होनेका एक सुलभ उपाय यही है कि जीव मेरी शरणागति कर ले।' मोहग्रस्त अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णने शरणागति-सम्बन्धी अत्यन्त गोपनीय उपदेश देकर अपना उपदेश समाप्त किया है। यथा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८ । ६६)

'समस्त कर्म-फलोंको त्यागकर एकमात्र मेरी शरणको उपाय समझो। मैं तुम्हें समस्त पापोंसे छुड़ा दूँगा। चिन्ता मत करो।' इसी प्रकार भगवान् रामने भी विभीषणको निमित्त बनाकर जगत्‌के लिये सुलभ शरणागति-धर्मका ही उपदेश किया है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड)

भगवान् श्रीराम कहते हैं कि "जो भक्त दीनहीन अकिंचन बनकर भगवान्‌की शरणमें आकर 'मैं आपका हूँ' ऐसा एक बार भी कह देता है उसे मैं समस्त भूतोंसे अभय प्रदान कर देता हूँ। यह मेरा व्रत है।"

अतएव वेदान्तदेशिकने अधिकार संग्रहमें लिखा है—

प्रपन्नादन्येषां न दिशति मुकुन्दो निजपदम्।

'प्रपन्नोंसे अन्य लोगोंको भगवान् मुक्ति प्रदान नहीं करते हैं।'

शरणागति छः प्रकारकी होती है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः।

(यतीन्द्रमतदीपिका)

'भगवान्‌के अनुकूल रहनेका संकल्प, प्रतिकूलताका त्याग, भगवान् रक्षा करेंगे इसमें विश्वास, भगवान्‌को रक्षक मानना, आत्मसमर्पण और नितान्त दीनता दिखलाना—यही छः प्रकारकी शरणागति है।'

श्रीवैष्णव-भक्तोंको 'पञ्च-कालज्ञ' कहते हैं; क्योंकि वे

अपने समयको पाँच विभागोंमें बाँटकर भगवत्-पूजामें निरन्तर लगे रहते हैं। उन पाँच कालोंका नाम इस प्रकार है—अभिगमनकाल, उपादानकाल, इज्याकाल, अध्यायकाल और योगकाल।

१—अभिगमनकाल—कर्मणा-मनसा-वाचा जप, ध्यान, अर्चनके द्वारा भगवान्‌के अभिमुख होना।

२—उपादानकाल—पूजानिमित्त फल-पुष्पादिका संग्रह करना।

३—इज्या—भगवत्-विग्रहकी सेवा करना।

४—अध्याय—आगम-ग्रन्थोंका श्रवण, मनन तथा उपदेश करना।

५—योग—अष्टाङ्ग-योगका अनुष्ठान।

वैष्णव-सम्प्रदायमें वैखानस-सम्प्रदायका वैशिष्ट्य

(लेखक—श्री च० भास्कर राम कृष्णमाचार्युलु)

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे॥
नारायणः पिता साक्षात् माता चापि हरिप्रिया।
भृग्वादिमुनयः शिष्यास्तस्मै विखनसे नमः॥

'जिनके स्मरणमात्रसे मनुष्य जन्म-संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है, सबकी उत्पत्तिके कारणभूत उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है। जिनके पिता साक्षात् नारायण एवं माता श्रीलक्ष्मीजी हैं तथा भृगु आदि मुनिगण शिष्य हैं, उन श्रीविखनस महर्षिको नमस्कार है।'

'उपासना' शब्दमें उप+आसना दो शब्द हैं, जिनका अर्थ भगवान्‌के समीप आसना अर्थात् आसीन होना है। भगवत्प्राप्तिके समस्त साधन-अनुष्ठान उपासनाके अन्तर्गत ही हैं। उनमें भक्ति-प्रपत्तिपूर्वक सगुण-साकारकी उपासना परम सुगम है, तत्रापि भगवान् विष्णुकी उपासना अति सरल, सुलभ एवं प्रमादरहित है। श्रद्धासे युक्त अन्य देवताओंके उपासक भी विधिविधानके बिना ही विष्णु भगवान्‌के अनुग्रहको प्राप्त कर लेते हैं; क्योंकि वे उनकी पूजासे अपनी ही पूजा मानते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
(गीता ९। २३)

राजा युधिष्ठिरके प्रश्नके उत्तरमें श्रीभीष्मजी कहते हैं—

तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
(महाभा० अनुशा० विष्णुसहस्र०)

'उन अव्यय-अविनाशी परम पुरुष परमात्माकी प्रतिदिन भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिये। इस प्रकार भगवान् विष्णुकी आराधना करनेवाले सज्जनको 'वैष्णव' एवं इस पद्धतिसे भगवत्प्राप्ति करानेवाले मार्ग या सम्प्रदायको 'वैष्णव-सम्प्रदाय' कहते हैं। इस वैष्णव-सम्प्रदायके दो भेद हैं (१) वैखानस और (२) पाञ्चरात्र। ये दोनों क्रमशः वैखानसागम एवं पाञ्चरात्रागम नामसे प्रसिद्ध हैं। इनमें यहाँ वैखानसागमकी प्राचीनता तथा विशिष्टताका विवेचन किया जाता है। पाञ्चरात्रागमसे मैं सर्वथा अनभिज्ञ हूँ, इसलिये उस आगमका विवेचन तत्सम्प्रदायवेत्ता विद्वानोंकी लेखनीके लिये छोड़ता हूँ। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वैखानसागमका मैं पूर्ण ज्ञाता हूँ तथापि भगवत्कृपासे इस लेखमें जो कुछ लिख रहा हूँ, उसमें कुछ भी उपादेय गुण हों तो वह सब भगवान्‌का प्रसाद है और अन्य सारी त्रुटि—दोष मेरे अज्ञानमूलक हैं, जिनके लिये मैं करबद्ध क्षमा चाहता हूँ।

प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता—

'वैखानस' अथवा 'विखनोमुनि' का उल्लेख आगमोंके अतिरिक्त श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहासोंमें पाया जाता है।

श्रुति—

धेनुर्वहाणमतितिस्सुराणाम्।
ब्रह्मा ऋभूणां विखनोमुनीनाम्॥

स्मृति—

वेदान्तविद्भिर्विप्रैस्तद्वैखानससूत्रिभिः।
यजयेद् यज्ञपुरुषं विष्णुं राजा जगद्धितः॥
(वृद्ध-मनुस्मृति)

'जगत्‌के हितकारी राजाको चाहिये कि वह वेदान्तवेत्ता

वैखानस-सूत्रके ज्ञाता ब्राह्मणोंसे यज्ञपुरुष विष्णुका यजन करावे।'

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा।
कालपक्वैः स्वयं शीर्णैः वैखानसव्रते स्थितः॥

'वैखानसव्रती समयपर स्वयं पके एवं गिरे फल-मूलोंसे केवल अपनी जीविकाका सम्पादन करे।'

इतिहास—

विष्णुभक्तसहस्रेभ्यो विप्रो वैखानसो वरः।
(महाभारत)

'हजारों विष्णु-भक्तोंसे वैखानस ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।'

पुराण—

धर्माणां वैष्णवो धर्मः स्मृतीनां मानवी स्मृतिः।
विप्राणां वेदविदुषां सदा वैखानसो वरः॥
(ब्रह्मवैवर्त०)

'जिस प्रकार सब धर्मोंमें वैष्णव-धर्म, स्मृतियोंमें मनुस्मृति श्रेष्ठ है, वैसे ही वेदवेत्ता ब्राह्मणोंमें वैखानस सदा श्रेष्ठ हैं।'

अनन्यशरणा राजन् तस्माद् वैखानसा वराः।
(कूर्मपुराण)

'भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य शरण न होनेसे वैखानस श्रेष्ठ हैं।' इनके अतिरिक्त गरुड़पुराण, ब्रह्माण्डपुराण, पौष्करसंहिता, हारीतस्मृति आदि अनेक ग्रन्थोंमें अनेक प्रमाण हैं, जो स्थानाभावसे यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं।

वैखानस महर्षिकी उत्पत्ति तथा सूत्र-रचना—

भगवान् विष्णुने वेदान्त-तत्त्व-मीमांसाके खनन करनेवाले स्वाराधन (विष्णुके आराधन) में तत्पर मुनिको उत्पन्न किया। वे मुनि भगवान्‌के अंशभूत होनेसे रूप, लक्षण, सौन्दर्य तथा ओजमें उनके समान ही थे। उनकी चार भुजाएँ शङ्ख, चक्र तथा वरद, अभय मुद्राओंसे सुशोभित थीं। वे कुशासनपर आसीन थे। उनका पावन ललाटपट्ट ऊर्ध्वपुण्ड्रसे सुशोभित था। वे किरीट, कुण्डल, केयूर, हार आदि अलंकारोंसे अलंकृत तथा शिखा, यज्ञोपवीत एवं त्रिदण्डसे सुशोभित थे। उनके अभय-मुद्रायुक्त हस्तमें कमल शोभा पाता था। उन भगवदवतार महर्षिका नाम भगवान् विष्णुने 'विखनस' रक्खा।

चिन्तयित्वासृजद् विष्णुः स्वाराधनपरं मुनिम्।
वेदान्ततत्त्वमीमांसाखननं कृतवान् प्रभुः॥
स्वांशभूतो हि भगवान् संजातो मुनिपुङ्गवः।
रूपलक्षणसौन्दर्य······················॥
चतुर्भुजः शङ्खचक्रवरदाभयचिह्नितः।
कुशासने समासीन ऊर्ध्वपुण्ड्रपवित्रकः॥
किरीटहाराभरणकुण्डलाङ्गदभूषितः।
शिखायज्ञोपवीताभ्यां त्रिदण्डेन विराजितः॥
पद्मं चाभयहस्ते तु·····················।
नाम्ना विखनसं चक्रे। (आनन्दसंहिता)

महर्षि विखनसने भगवान् विष्णुके आदेशानुसार नैमिषारण्यमें चिरकालतक तपस्या करके श्रौत-स्मार्तरूप सूत्र तथा आगमको भगवान् विष्णुजीसे प्राप्त किया और विष्णूक्त आगमका सारभूत सार्धकोटि (डेढ़ करोड़) प्रमाण ग्रन्थोंकी रचना की।

मया नियुक्तो विखन मदाराधनकृद्भव।
सूत्रं कुरु महाभाग त्वन्नाम्ना यजुषि श्रुतौ॥
वैखानसमिदं प्रोक्तं लोके ख्यातिं गमिष्यति।
(ब्रह्माण्डपुराण भगवद्विखनस-संवाद)

इस प्रकार भगवान्‌की आज्ञा पाकर यजुर्वेदके मन्त्रोंसे द्वात्रिंशत्प्रश्नात्मक वैखानस सूत्र एवं कर्षणादि प्रतिष्ठान्त दैविक कर्मकाण्डका निर्माण भगवान् विखनसने किया।

पश्चादपश्यद् विष्णूक्तमागमं विस्तरात्तदा।
सश्रौतं च ससूत्रं च वेदमार्गैरभिष्टुतम्॥
संक्षिप्य सारमादाय धाता विखनसो नाम्नामरीच्यादि-
सुतान् मुनीनाबोधयदिदं शास्त्रं सार्धकोटिप्रमाणतः।
(वैखानस भगवच्छास्त्र)

'पश्चात् ब्रह्माजीने वेदमार्गानुमोदित श्रौत-स्मार्तरूप विष्णूक्त आगमको अति विस्तृत जानकर संक्षेपमें उनका सार डेढ़ करोड़ प्रमाण ग्रन्थोंके रूपमें महर्षि विखनसके नामसे मुनिवर मरीचि आदि पुत्रोंको समझाया।'

भारतवर्षके मुकुटायमान नैमिषारण्यक्षेत्रमें स्वायंभुव मन्वन्तरके कृतयुगान्तर्गत शुक्ल नामक वत्सरमें श्रवणनक्षत्रसे युक्त श्रावणपूर्णिमा इन्दुवासरके दिन सिंह लग्नमें इन सूत्रोंका निर्माण सम्पन्न हुआ। यह आनन्दसंहितोक्त वचनोंसे प्रमाणित है।

स्वायम्भुवमनोः काले युगादौ शुक्लवासरे।
श्रवणे श्रावणे शुक्लपूर्णिमासोमवासरे।
सिंहलग्ने च संयुक्ते विखनाः प्राप नैमिषम्॥
(आनन्दसंहिता)

महर्षि विखनसने अपने शिष्य दक्ष, मरीचि, नीललोहित, भृगु, आङ्गिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, वसिष्ठ, क्रतु, सनकादिको इस भगवच्छास्त्रका उपदेश दिया।

दक्षं मरीचिं नीललोहितं भृगुमेव च।
तथाङ्गिरसमत्रिं च पुलस्त्यं पुलहं तथा॥
वसिष्ठं च क्रतुं चैव क्रमादसृजदब्जभूः।
नव ब्राह्मणा एवैते विनान्ये नीललोहितम्॥
धर्मसङ्कल्पसहिताः सनकाद्या मुनीश्वराः।
..........शिष्याः विखनसः प्रोक्ताः॥
(आनन्दसंहिता)

इन शिष्योंमें नीललोहितको छोड़कर नव शिष्य ब्राह्मण थे, जिनमें केवल चार भृगु, अत्रि, कश्यप एवं वसिष्ठ महर्षियोंने गुरूपदिष्ट सार्धकोट्यात्मक (डेढ़ करोड़) भगवच्छास्त्रको संक्षिप्त करके चार लाख प्रमाण ग्रन्थकी रचना की। वे क्रमशः अधिकारकाण्ड, तन्त्र तथा संहिता नामसे प्रसिद्ध हैं। ये ही वैदिक संस्कृतिके मूलस्तम्भ देवालय-निर्माण, प्रतिष्ठापन एवं बिम्बप्रतिष्ठा, अर्चना आदिके लिये मूलाधार बनकर लोककल्याणके लिये परम श्रेयो-दान कर रहे हैं।

विखनस मुनि ग्यारह प्रश्नात्मक स्मार्तसूत्र, इक्कीस प्रश्नात्मक श्रौतसूत्र निर्माण करके वैखानस-सम्प्रदायके प्रवर्तक बने। इन सूत्रोंके व्याख्यानभूत (१) श्रीनिवास दीक्षितीय, (२) नृसिंहवाजपेयीय तथा (३) सुन्दरराजीय आदि ग्रन्थ प्रख्यात हैं। विखनस महर्षिद्वारा सूत्रमें निर्दिष्ट जिन वेद-मन्त्रोंपर सायणभाष्यमें व्याख्या नहीं की गयी, उन सभी मन्त्रोंपर श्रीभट्ट भास्कराचार्यद्वारा निर्मित भट्टभास्करीय मन्त्रभाष्य उपलब्ध है। ये वैखानस सम्प्रदायके परम प्रमाणभूत मूलाधार-ग्रन्थ माने जाते हैं।

वैखानस सूत्रका वैशिष्ट्य—

इस सूत्रमें अन्य सूत्रोंकी अपेक्षा एक विशिष्ट संस्कार होता है, जिसको 'विष्णुबलि' कहते हैं। इस संस्कारमें शिशुको गर्भावस्थामें ही स्वयं भगवान् विष्णुके द्वारा चक्रमुद्रा धारण करायी जाती है, जिससे उसको परम वैष्णवत्वकी प्राप्ति उस प्रकार हो जाती है, जिस प्रकार भागवतोत्तम प्रह्लादजीको गर्भावस्थामें नारदोपदेशसे परम वैष्णवत्वकी प्राप्ति हुई थी।

त्वदंशजानां सर्वेषां गर्भवैष्णवजन्मनाम्।
अहमेव स्वयं गर्भे यन्मुद्रां धारयाम्यहम्॥
(आनन्दसंहिता भगवद्वचन)

'जैसे सब शालग्राम शिलाओंमें गर्भमें चक्र होता है, वैसे ही वैखानस-सम्प्रदायके अनुयायियोंको गर्भमें ही चक्र धारण कराया जाता है।'

शालग्रामेषु सर्वेषु गर्भे चक्रस्य धारणम्।
वैखानसानां सर्वेषां गर्भे चक्रस्य धारणम्॥
(आनन्दसंहिता)

वैखानस-सम्प्रदायके वैष्णव अन्य वैष्णवोंकी अपेक्षा अपना यह वैशिष्ट्य रखते हैं। यही कारण है कि वे भगवान्‌को अतिशय प्रिय हैं। ब्रह्माण्डपुराणमें उनको भगवान्‌का ही अंश कहा गया है—

त्वत्सूत्रिणो द्विजाः सर्वे मदंशा एव सुव्रत।
(भगवद्विखनस-संवाद, ब्रह्माण्डपुराण)

'हे सुव्रत! तेरे सूत्रोंके अनुयायी सभी ब्राह्मण मेरे ही अंश हैं।' अन्य सूत्रोंकी अपेक्षा वैखानस-सूत्रका अपना एक और वैलक्षण्य है। इसमें स्वार्थ तथा परार्थ दोनोंके लिये भगवदाराधनका विधान है, जबकि अन्य सूत्रोंमें केवल अपने उद्धारके लिये ही भगवदाराधनका उल्लेख है।

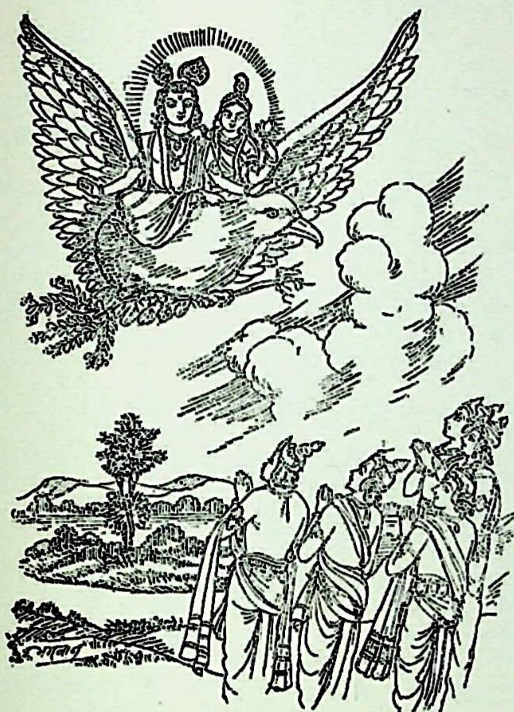
वैखानसस्य सूत्रस्य स्वार्थं चापि परार्थकम्।
(आनन्दसंहिता)

वैखानससूत्रोक्त रीतिसे ग्राममें विष्णु भगवान्‌के आलय (मन्दिर) का निर्माण कराकर उसमें भगवान् विष्णुकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा उसी विधिसे करें और वैखानस-सम्प्रदायानुगत ब्राह्मणोंके द्वारा भगवान् विष्णुकी आराधना करावें, जिससे उन ग्रामवासियोंके वर्णाश्रमाचारप्राप्त अनुष्ठानोंमें होनेवाले न्यूनातिरिक्त दोष धुल करके परिपूर्ण होते हैं और वे विष्णु भगवान्‌के परमपदको प्राप्त कर लेते हैं। पाञ्चरात्र-सम्प्रदायके अनुसार भी भगवान् विष्णुकी आराधना करके वैष्णव विष्णुपदको प्राप्त कर सकते हैं।

ग्रामे विष्णुं प्रतिष्ठाप्य वैखानसविधानतः।
विप्रैर्वैखानसैर्विष्णोः कारयित्वार्चनं नराः॥
वर्णाश्रमफलं लब्ध्वा यान्ति विष्णोः परं पदम्।
पाञ्चरात्राश्रिता अपि......................॥
(आनन्दसंहिता)

उपर्युक्त विवेचनसे वैखानस-सम्प्रदाय अति प्राचीन वैदिक तथा विशिष्ट वैष्णवसम्प्रदाय सिद्ध होता है। अतः इसके अनुसार सब भगवदाराधन करके विष्णुपद प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीराम श्रीकृष्ण राधागोविन्द



श्रीकृष्ण-ध्यान—९



श्रीकृष्ण-ध्यान—११



श्रीकृष्ण-ध्यान—१०



श्रीकृष्ण-ध्यान—१२



रसराज श्रीकृष्ण-ध्यान—१३



महाभावरूपा श्रीराधा-ध्यान—१४

श्रीमध्वमतमें उपासना

(लेखक—श्रीशेपो धोंडो झुंजुरवाड गुरु)

सदागमकविज्ञेयं समतीतक्षराक्षरम् ।
नारायणं सदा वन्दे निर्दोषाशेषसद्गुणम् ॥
(श्रीमन्मध्वाचार्य)

'श्रीनारायण आगमद्वारा ज्ञेय हैं । क्षर-अक्षरसे अतीत हैं। निर्दोष हैं। समस्त गुणोंसे परिपूर्ण हैं। मैं उनको नित्य वन्दन करता हूँ।'

इस जगत्‌में दो तत्त्व हैं। एक स्वतन्त्र तत्त्व, दूसरा परतन्त्र तत्त्व। स्वतन्त्र एकमात्र भगवान् नारायण हैं। शेष सब भावाभावात्मक सृष्टि परतन्त्र है।

इस प्रकारके स्वतन्त्र तत्त्वकी उपासना करना जीवका स्वधर्म है। जड तथा जीवात्मक चर-अचर सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहारका नियमन करनेवाले एवं ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त अखिल जीवोंके ज्ञान-अज्ञान और बन्ध-मोक्षके प्रदायक श्रीहरि हैं। जो स्वतन्त्र होता है वही सेव्य होता है और जो परतन्त्र है वह सेवक है, यह निसर्गका अनादि नियम है। इस न्यायसे प्रकृतिके समेत समस्त चराचर सृष्टि हरिसेवक है तथा एकमात्र श्रीहरि सेव्य हैं। श्रीहरि ही प्रकृतिको सत्ता प्रदान करते हैं।

ऐसे श्रीहरिका अखण्ड स्मरण ही 'उपासना' है। उपासनाके जो बहुविध विभिन्न प्रकार हैं, श्रीहरिका यह सतत स्मरण उन सब उपायोंका प्राणस्वरूप है।

इस रीतिसे जो अखण्ड, अविराम श्रीहरिस्मरणपूर्वक उपासना करता है, उसे आनन्द, समाधान तथा शान्तिकी प्राप्ति होती है। श्रीहरि उसे सब प्रकारका ऐहिक वैभव देकर सुखी बनाते हैं अथवा एक भी वस्तु न देते हुए भी उसे विश्वके किसी सम्राट्‌की अपेक्षा भी अधिक सुखी रखते हैं। विष्णु आनन्दमय ब्रह्म हैं, उनके आगे-पीछे सब ऐहिक, पारत्रिक वैभव सदा चक्कर काटते रहते हैं और कराल काल उनके निकट भी नहीं फटकता। उन आनन्दमय भगवान् विष्णुका स्मरण करनेवाले पुरुषके काम-क्रोध-मद-लोभ जल जाते हैं तथा जन्म-जन्मके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, कर्म भस्म हो जाते हैं ओर सारी आधि-व्याधि मिट जाती है।

इस प्रकार सब जीवोंको इष्टकी प्राप्ति तथा अनिष्टके परिहारके लिये सदा अखण्ड हरिस्मरणपूर्वक श्रीहरिकी उपासना करनी चाहिये तथा अपना कल्याण-साधन करना चाहिये। यही विश्व-कल्याणका राजमार्ग है।

श्रीमध्वाचार्यका सिद्धान्त

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः ।
मुक्तिर्नैज सुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ॥

श्रीश्रीमध्वाचार्यके सिद्धान्तमें उपर्युक्त अमूल्य रत्नरूप नौ प्रमेय हैं—(१) श्रीहरि सर्वश्रेष्ठ हैं, (२) जगत् सत्य है, (३) जड़जीव और ईश्वरमें तात्त्विक भेद हैं, (४) जीवगण श्रीहरिके अनुचर हैं, (५) जीवोंके अधिकार-योग्यतामें नीचा-ऊँचा भाव स्वाभाविक है, (६) जीवकी निज-स्वरूपभूत आनन्दकी अनुभूति ही मुक्ति है, (७) निर्मल-निष्काम भक्ति मुक्तिका साधन है, (८) प्रत्यक्ष, युक्ति और शास्त्र—ये तीन प्रमाण हैं और (९) समस्त वेदोंके मुख्य प्रतिपाद्य एकमात्र श्रीहरि हैं।

श्रीवल्लभमतमें उपासना

(लेखक—बागरोदी पण्डित श्रीकृष्णचन्द्रजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न)

श्रीवल्लभमतके संस्थापक जगद्गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्यने अपने मतको दो भागोंमें विभाजित किया है। ज्ञानक्षेत्रमें बुद्धिप्रधान ज्ञानमार्गीय जीवोंके सांसारिक दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्तिके लिये तथा निर्गुण निराकार ब्रह्मकी आराधनाके हेतु 'शुद्धाद्वैत' मतकी स्थापना की है और ब्रह्मका स्वरूप मायासम्बन्धरहित स्थिर किया है, जिसकी दृढ़ता इस श्लोकसे होती है—

मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥

'मायासम्बन्धरहित ब्रह्मको ही विद्वान् शुद्ध कहते हैं। कार्यकारणरूप जो ब्रह्म है, वह शुद्ध है, मायिक नहीं।' इस प्रकार ब्रह्मका शुद्ध अद्वैतरूप है। शुद्ध अद्वैत ब्रह्ममें और श्रीकृष्णमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं है। दोनों एक हैं—

परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत्।

ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण ही जगत्के कारण हैं और रूप-नाम-भेदसे जगत्में क्रीडा करते हैं।

नमो भगवते तस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे।
रूपनामविभेदेन यः क्रीडति जगद् यतः॥
(निबन्ध)

'अद्भुतकर्मा भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है, जो रूप-नाम-विभेदसे जगत्में क्रीडा करते हैं तथा जिनसे जगत् उत्पन्न है।'

ऐसा वर्णनकर एक ओर ज्ञानमार्गियोंका मार्ग प्रशस्त किया तो दूसरी ओर भक्तिक्षेत्रमें हृदयप्रधान भावना-संवलित निःसाधन जीवोंके लिये पुष्टिमार्गकी स्थापना कर सच्चिदानन्द पूर्णपुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्णके साकार विग्रहकी वात्सल्यमयी सेवापद्धति प्रचलित की। इस प्रकार भक्तिक्षेत्रमें आराधना नामस्मरणरूपसे और सेवारूपसे विकासोन्मुख हुई। इनमें नामस्मरणसे सेवाको प्रधानता प्रदान की। साथ ही यह सिद्ध किया कि नामस्मरण और सेवामें प्रवृत्त होनेके लिये प्रथम कारुणिक गुरुकी शरणमें जानेकी नितान्त आवश्यकता है। गुरुके बिना ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्गमें प्रवेश असम्भव है।

'गुरुद्वारा भजनं निरूपितं तदेव फलपर्यवसायि।' (सुबोधिनी)
'गुरुसेवायां हि ज्ञानं सिद्ध्यति।' (सुबोधिनी)

गुरु ही अज्ञानतिमिरान्धके नयनोंको ज्ञानाञ्जन-शलाकासे प्रकाशित करते हैं। हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्यज्ञानपूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिक स्नेहको जगाते हैं। भगवद्-अनुग्रहका अधिकारी जान प्रथम शरणमन्त्र 'श्रीकृष्णः शरणं मम' की दीक्षा प्रदान करते हैं। 'भगवान् रक्षक हैं, वे भक्तका योगक्षेम वहन करते हैं'—यह बोध कराते हैं। अपने कर्त्तव्यका परिचय करा श्रीकृष्णकी अपूर्वता सिद्ध करते हुए श्रीकृष्णभजनका उपदेश देते हैं।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥
(नवरत्न ९)

''सब प्रकारसे सदैव 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस मन्त्रका उच्चारण करते हुए ही रहना चाहिये। यह मेरी सम्मति है।''

कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम्।
(अन्तःकरणप्रबोध १)

'वस्तुतः श्रीकृष्णके अतिरिक्त दूसरा कोई भी दोष-रहित देवता नहीं है।'

सर्वमार्गेषु नष्टेषु कलौ च खलधर्मिणि।
पाखण्डप्रचुरे लोके कृष्ण एव गतिर्मम॥
(कृष्णाश्रय १)

'दुष्टधर्मवाले इस कलिकालमें मनोवाञ्छित फलकी प्राप्तिके साधनभूत कर्म, ज्ञान, उपासना आदि सभी मार्ग लुप्त हो चुके हैं। लोग अत्यन्त पाखण्डी हो गये हैं इसलिये एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं—ऐसा भाव हृदयमें दृढ करना चाहिये।' निरालस्य होकर व्रजाधिप-यशोदोत्सङ्गलालित नन्दकुमारका भजन ही हमारा धर्म है। ऐसा समझकर भजनमें प्रवृत्त होना चाहिये—

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन॥
(चतुश्श्लोकी)

'सदैव सर्वभावसे व्रजाधिप श्रीकृष्ण ही भजन करने योग्य हैं। जीवात्माका यही धर्म है। किसी कालमें किसी देशमें श्रीकृष्णकी भक्तिके अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं है।'

अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः॥

(चतुश्लोकी ४)

'अतएव सब प्रकारसे सदैव श्रीगोकुलेशके चरणकमलका स्मरण-भजन त्याग करनेयोग्य नहीं है—यह मेरी सम्मति है।'

श्रेयस्कामी तथा भगवत्-प्राप्तिके अभिलाषी जनको इसका पालन करना चाहिये।

इस प्रकारकी शिक्षा और उपदेशके अनन्तर जब जीवमें सात्त्विक भावोंकी अभिवृद्धि होती है, तब उसका श्रीकृष्णके प्रति अनुराग होता है। हृदय भगवान् परम प्रभुके साक्षात्कारके लिये व्याकुल हो उठता है तथा संसारासक्ति शिथिल हो जाती है, तब उसे आचार्य 'ब्रह्मसम्बन्ध' (आत्मनिवेदन) की दीक्षासे पावन करते हैं। जीवको सहस्रों वर्षोंके भगवद्वियोगका स्मरण करा दारा, आगार, पुत्र, वित्त, आत्माके सहित भगवान्के चरणोंमें समर्पण कर देते हैं और उसे हरिदासोंकी श्रेणीमें प्रतिष्ठित करते हुए वैष्णवोंकी वेषभूषासे पूर्णतः सुसज्जित कर, मार्गकी रीति-नीतिका ज्ञान दे भगवल्लीलाका अनुभव कराते हैं और श्रीकृष्णके स्वरूपकी सेवाका अधिकार प्रदान करते हैं; क्योंकि सेवा इस मतकी चरम साधना है।

'शुद्धाद्वैत' ज्ञानमार्गके पथिकोंका सम्बल है, तो 'पुष्टिमार्ग' भक्तिसाधकोंके लिये जीवनतरणि है। भक्तिमें सेवाकी प्रधानता है और उसमें **'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।'**—नवधा भक्तिका अन्तर्भाव है।

यहाँ वल्लभमतमें प्रचलित श्रीविग्रहकी सेवाका परिचय प्राप्त करनेके पूर्व अन्य मतोंमें पूजा-अर्चासंयुक्त उपासनाका रूप क्या है? यहाँकी सेवा तथा मन्त्र-प्रधान कर्ममार्गीय उपासनामें क्या अन्तर है? इसका भी यत्किंचित् परिज्ञान विषयकी दृढ़ताके लिये प्राप्त करना उत्तम है।

अन्य मतके देवालयों (मन्दिरों) में वहाँके आचार्यों वैष्णवोंने जब अलौकिक इन्द्रियातीत निर्गुण निराकार प्रभुकी उपासनाको दुरूह माना, तब सर्वजनसुलभ अपनी-अपनी भावनाके अनुसार परम प्रभुकी लीलामयी साकार प्रतिमा (मूर्ति) की स्थापना कर ली और उसकी वेदमन्त्रोंसे प्राणप्रतिष्ठा की। भावानुसार उसमें प्रभुका लीलास्वरूप प्रतिष्ठित हुआ। तदनन्तर भक्तिभावनासे आवाहन आदि प्रक्रियाके साथ स्नान-चन्दन-पुष्प-अक्षत-धूप-दीप-नैवेद्य आदि षोडशोपचार और पञ्चोपचार पूजा-अर्चा प्रारम्भ हुई। उसीका 'उपासना'के नामसे व्यवहार हुआ।

इनमें आवाहन-विसर्जनकी परिपाटी है। खण्डित मूर्तिका विसर्जन प्रचलित है। कर्ममार्गीय-मर्यादामार्गीय उपासनामें साधनफल भिन्न-भिन्न माने गये हैं। यह उपासना सार्वजनिक एवं मन्त्रप्रधान है।

'उपासनायां मन्त्र एव प्रधानः।'

स्तोत्र-नमस्कार नम्रतासे सीमित परिचर्यामें तथा धूप, दीप उपहारसे सीमित सामग्रीसे पूजा-प्रकारकी परिसमाप्ति है।

'धूपं दीपं नैवेद्यमुपहारपूजायां साधनत्रयं निर्दिष्टम्। इयं पूजास्तोत्रनमस्कारप्रह्वीभावात्मिका।' (सुबोधिनी)

पूजा-अर्चाकी परिशुद्धि देश-काल-मन्त्र हव्यकर्त्ताकी परिशुद्धिपर निर्भर है। कालकी नियामकता अपेक्षित है। तथा किसी फलकी आकाङ्क्षा पूजाका हेतु है, यह पूजा-प्रवाहमार्गी है।

किंतु वल्लभमत (पुष्टिमार्ग) में **'लौकिकवैदिकमार्गापेक्षया पुष्टिमार्गः उत्कृष्टः।'** (सुबोधिनी)

लौकिक-वैदिकमार्गकी अपेक्षा पुष्टिमार्ग उत्कृष्ट है—**'मार्गोऽयं सर्वमार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः।'** (सुबोधिनी)

यह मार्ग उपासनामार्गसे भिन्न है। इसमें सेवाकी महत्ता है। सेवामें अविहित स्नेहकी प्रगाढ़ता है। भगवद्-अनुग्रह ही इसका फल है। **'सेवा च पुष्टिमार्गे सस्नेहा कृपाफलं चैतत्।'** यह सेवा भक्ति-मार्गका अङ्ग है। सेवामें साधनफल एक ही है। भक्तिका धात्वर्थ भी सेवा है। सेवामें सेव्यके सम्पूर्ण सुखका सस्नेह आग्रह होनेके कारण सेव्यके सुखानुकूल ही परिचर्याका विधान है। इसीसे यहाँकी सेवापद्धति षड्ऋतुओंके अनुकूल ही निर्मित हुई है। यहाँ सेवामें कालनियामकता बाधक नहीं, न सेवामें शुद्धिके हेतु देशादि परिशुद्धिकी आवश्यकता है। वेदमन्त्रोंसे पूजा-अर्चा नहीं होती, आवाहन-विसर्जनकी रीति नहीं है। प्रभुका

स्वरूपमें नित्य अधिष्ठान रहता है। गुरुकी आज्ञाको सेवामें मुख्यता दी गयी है। यहाँके मन्दिर नन्दालय (नन्दगृह) हैं। मन्दिरके प्रत्येक स्थल भावनामय है। प्रत्येक वस्तु भावनामय है। स्वरूप या श्रीविग्रहकी प्रतिष्ठा (पुष्टि) आचार्यके करस्पर्शसे होती है। परब्रह्म नन्द-राजकुमारका बालरूप ही सेव्य है या लीला-विग्रह। सेवामें वात्सल्यभावकी मुख्यता है; किंतु सख्य, माधुर्य, दास्यभावका भी संयोग है। श्रीकृष्णमें और गिरिराजसम्भूत श्रीनाथजीमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं है। न सम्प्रदायमें विराजमान अन्य निधिस्वरूपमें ही किसी प्रकारका भेद है। सब निधिस्वरूप श्रीकृष्णके ही लीला-विग्रह हैं। प्रभुके दिव्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये श्रीकृष्ण-सेवा ही जीवन-लक्ष्य है।

श्रीकृष्णसेवाके दो प्रकार वर्णित किये गये हैं—एक बाह्य-सेवा, दूसरी आभ्यन्तर-सेवा। बाह्य-सेवा क्रियात्मक सेवा है, जिसमें 'तनुजा' 'वित्तजा'का ग्रहण है। इसमें प्रभुके प्रति चेतस्की प्रवणता आवश्यक है। तभी तनुजा-वित्तजा-सेवा सिद्ध होती है।

चेतस्तत् प्रवणं सेवा तत् सिद्‌ध्यै तनुवित्तजा।

(सिद्धान्तमुक्ता० २)

"चित्तको प्रभुमें तल्लीन कर देना ही 'सेवा' है और उसकी सिद्धिके लिये 'तनुजा' शरीरसे और 'वित्तजा' द्रव्यसे प्रभुकी सेवा मन लगाकर करें।"

सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिर्दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मतिर्मम॥

(भक्तिवर्धिनी ९)

'भगवत्-सेवामें अथवा भगवत्कथामें जिसकी जीवन-पर्यन्त दृढ़ आसक्ति रहती है, उसका कहींपर भी नाश नहीं होता है—ऐसा मेरा विचार है।'

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया।
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्॥

(नव० ७)

'श्रीगुरुदेवके आज्ञानुसार प्रभुकी सेवा करनी चाहिये। किसी समय प्रभुकी इच्छासे उसमें किसी प्रकारकी अड़चन आ पड़े और गुरुकी प्रथम आज्ञाके अनुसार सेवा न बन सके तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। वैष्णवको चाहिये कि वह चित्तको सेवापरायण रखकर सुखपूर्वक रहे।'

आभ्यन्तर-सेवा जिसे भावात्मक सेवा भी कहते हैं। इसमें मानसी सेवाका निर्देश है। मानसी सेवा 'परा सेवा' है।

'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।'

(सिद्धान्तमु० १)

'श्रीकृष्णकी सेवा सदा करनी चाहिये। उसमें मानसी सेवा सबसे उत्तम और परम फलरूप मानी जाती है।'

सेवाका प्रारम्भ

वल्लभमतमें सेवाका प्रारम्भ उस समयसे हुआ है, जब श्रीमद्वल्लभाचार्यको श्रीनाथस्वरूपने परम पावन गिरिराज पर्वतपर प्रकट होकर, झारखण्डमें गिरिराज पर्वतपर अपने प्राकट्यकी सूचना देकर आमन्त्रित किया। आचार्य भगवदाज्ञाके अनुसार गिरिराजगिरिपर पधारे और पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीनाथस्वरूपके दर्शनकर उन्होंने अपनेको सौभाग्यशाली माना। परम प्रभुके लिये नवीन गृह (मन्दिर) का निर्माण करा, स्वरूपकी प्रतिष्ठा की और सेवाकी समुचित व्यवस्था की। आचार्यके पश्चात् आचार्यके पुत्र श्रीविट्ठलनाथजी प्रभुचरणने सेवामें अनेक प्रकारका सुधार, विस्तार तथा परिवर्द्धन किया। श्रीनवनीतप्रियजी आदि स्वरूपोंकी स्थापना कर मार्गकी रीति-नीति निश्चित की। अपने सातों पुत्रों—श्रीगिरिधरजी, श्रीगोविन्दजी, श्रीबालकृष्णजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीरघुनाथजी, श्रीयदुनाथ-जी और श्रीघनश्यामजीको सेवाका रहस्य समझाकर उनको इच्छाके अनुसार सम्प्राप्त स्वरूपों—श्रीनाथजी, श्रीनवनीत-प्रियजीके अतिरिक्त निधिस्वरूप श्रीमथुराधीशजी, श्रीविट्ठल-नाथजी, श्रीद्वारिकानाथजी, श्रीगोकुलनाथजी, श्रीगोकुल-चन्द्रमाजी, श्रीबालकृष्णजी और श्रीमदनमोहनजीको सेवार्थ प्रदान किया। क्रम-क्रमसे आपके वंशमें अन्य स्वरूपोंकी प्रतिष्ठा हुई। वल्लभवंशजोंने सेवामें अपनी भावनाके अनुसार अनेकरूपताका सर्जन किया। श्रीहरिरायजी महाप्रभुका सेवा-पद्धतिके निर्माण और परिवर्द्धनमें बड़ा योग रहा।

वल्लभमतमें सेवा-विटपका बीजारोपण श्रीमदाचार्यने किया तो पल्लवित-पुष्पित श्रीमत्प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजीने किया तथा फलित श्रीहरिरायजीने किया।

सम्प्रति श्रीनाथजी श्रीनवनीतजीका सेवाक्रम नाथद्वाराके ति० गो० श्रीके द्वारा प्रचलित है तथा अन्य सात निधियोंका विभिन्न स्थानोंमें सातों बालकोंके वंशजोंद्वारा संचालित है।

प्रभुकी सेवाके दो रूप निर्धारित हैं

नित्यसेवा—

जिसमें मङ्गला, श्रृङ्गार, गोपीवल्लभ-भोग, राज-भोग, उत्थापन-भोग, सन्ध्या, आरती, शयन एवं उत्सवोंकी विशिष्ट सेवा भी होती है।

नैमित्तिक सेवा—

इसमें सारे वर्षभरके उत्सवोंकी सेवा है, जिसमें चार मुख्य अवतारोंकी जयन्तियाँ, यहाँके आचार्योंकी जयन्तियाँ, सांस्कृतिक उत्सव, रक्षाबन्धन, दीपावली, अन्नकूट, दशहरा, होलिका, दोलोत्सव तथा संवत्सर, अक्षयतृतीया, ज्येष्ठाभिषेक, रथयात्रा, सावनके हिंडोले, जलके मनोरथ, देवोत्थापन, शरत्पूर्णिमा, साँझीके उत्सव आदि हैं।

ऋतुओंके अनुसार उत्सवोंमें सोने-चाँदीके बँगले, विविध प्रकारके खस, चन्दन, पुष्प, कलिकाओं तथा काँचके बँगले, हिंडोरे, पलने आदिका उपयोग होता है। जलके मनोरथोंमें नौका आदिका।

सेवाके अङ्ग—भोग, राग, श्रृङ्गार हैं

भोगमें—विविध प्रकारके ऋतुओंके अनुसार व्यञ्जन, पक्वान्न समर्पित किये जाते हैं, जिसमें फल, मेवा, दूध-घट, बालभोगकी सखडीकी सामग्री रहती है। यहाँके पक्वान्नोंकी बड़ी महत्ता है। विश्वके किसी भी स्थानपर इतने फल, मेवा, पक्वान्नोंका प्रयोग नहीं होता। अन्नकूट, दोलोत्सव, जन्माष्टमी आदिके अवसरपर विशेष भोग-सामग्रीकी व्यवस्था है।

राग—प्रत्येक दर्शनमें और प्रत्येक उत्सवमें अष्टछापके कवियों एवं वल्लभीय अन्य कवियों, जयदेव आदिकी अष्टपदियोंके कीर्तन होते हैं, जिसमें पूरा समाज रहता है। ऋतुओंके अनुसार और उत्सवोंके अनुसार राग-रागिनियोंके कीर्तन होते हैं। कीर्तनमें सारङ्गी, मृदङ्ग, हारमोनियम, वीणा, तमूरा, झाँझ, ढप, उपंग आदिके प्रयोग होते हैं।

श्रृङ्गार—ऋतुओंके अनुसार प्रभुको श्रृङ्गार धारण कराये जाते हैं।

जैसे चैत्र-वैशाखमें—खुलेबन्धके चाकदार, घेरदार काछनी, पिछोडा आदि।

ज्येष्ठ-आषाढ़में—आडबन्ध पडदनी धोती, सूथन, पटका, मल्लकाछ, काछनी, पिछोडा आदि।

श्रावण-भाद्रपद—चाकदार पिछोडा, धोती, मल्लकाछ, काछनी।

आश्विन-कार्तिक—चाकदार घेरदार पिछोडा, धोती मल्लकाछ, काछनी।

मार्गशीर्ष-पौष—चाकदार घेरदार।

माघ-फाल्गुन—चाकदार घेरदार काछनी आदि मस्तकके श्रृङ्गार कुल्हटिपारा, फेटा, ग्वालपगा, खिडकीकी पाग, गोलपाग, दुसाला आदि। सेहरा, टिपारेका जोड, कुल्हेके जोड, कलंगी, जामा, काकतरा, टोपी, मुकुट, क्रीट।

श्रीअङ्गमें—हस्त-चरणमें सभी प्रकारके रत्नोंके मोती, मीना आदिके आभरण धारण कराये जाते हैं।

ग्रीष्ममें श्री··के समक्ष फुहारे, शीतकालमें अंगीठीकी व्यवस्था रहती है।

सेवाविधि—

ब्राह्ममुहूर्तमें सेवक शय्यात्यागके अनन्तर श्रीमदाचार्यचरण, श्रीविट्ठलनाथजी, सातों बालकों, सातों स्वरूपोंकी, श्रीनाथजी, श्रीयमुनाजी, श्रीस्वामिनीजीकी वन्दना करता है। भ्रमरगीतके छः श्लोक—'एताः परं' से प्रारम्भकर फिर देहकृत्यके लिये पृथ्वी-प्रार्थना, दन्तधावनके लिये वनस्पतियोंसे प्रार्थना, स्नानके लिये यमुना एवं अन्य तीर्थोंकी अवना-प्रार्थना करके दण्डाकार तिलक, द्वादश तिलक-धारण, चरणामृतपान करता है।

प्रातः शङ्खनाद-घण्टानादके समय शङ्ख-घण्टाकी प्रार्थना, भगवत्-मन्दिर-प्रार्थना, सोहनी-प्रार्थना, सिंहास्तरण-प्रार्थना, भगवत्प्रार्थना, स्वरूपोंकी प्रार्थना, सिंहासनपर विराजमान करनेके अनन्तर प्रभु-प्रार्थना। 'यमुनाष्टक' पाठ करते हुए जलकी झारी भरकर यथास्थान पधराना, मुखवस्त्र, वेणु, सिंहासन आदिकी प्रार्थना। मङ्गलभोग समर्पण करते हुए प्रार्थना। फिर समयपर आचमन, मुखवस्त्रसे मुखप्रोञ्छन, ताम्बूलसमर्पण, दर्शन खोलकर आरती करते हुए विज्ञापन। दर्शनानन्तर छोटे स्वरूपके स्नान, बड़े स्वरूपके अङ्गप्रोञ्छन करते प्रार्थना, श्रृङ्गार—ऋतुके अनुसार श्रृङ्गार होनेपर वेणुधारण, दर्पण-अवलोकन। गोपीवल्लभभोग, दर्शन खुलनेके समय राजभोगका धूप-दीप, राजभोगसमर्पण, तुलसीसमर्पण, वेणुवेत्र-धारण, आरसी दिखाकर आरती। श्रीमत्प्रभुको,

स्वामिनीजीको, महाप्रभुजीको विज्ञप्ति, निकुञ्जगमन, विज्ञापन। सायं शङ्खनाद-घण्टानादसे प्रभुजागरण-उत्थापन-भोगसमर्पण। अनन्तर सन्ध्याभोग। फिर वेणुवेत्रधारण, आरती। शयनभोग चैया, शयनभोगका समय होनेपर मुखप्रक्षालन, ताम्बूलसमर्पण, वंशीधारण, शयन-आरती। फिर शय्यापर पौढाना। यथासमय जलकी झारी भरना। इस सेवाके साथ पादुकाजीकी सेवा एवं अन्य छोटे स्वरूपोंकी भी सेवा की जाती है। सेवाके भावनात्मक होनेके कारण प्रत्येक वस्तुकी श्लोकबद्ध प्रार्थना की जाती है। चारों आरती श्लोकबद्ध आर्याओंसे होती है तथा प्रत्येक दर्शनमें कीर्तनोंकी मुख्यता रहती है। सेवाके लिये अलग विभाग (गृह) रहते हैं जहाँ सेवा सिद्ध होती है। सेवाके प्रत्येक पदार्थ वहाँतक प्रकाशमें नहीं लाये जाते, जबतक प्रभुको वे समर्पण नहीं कर दिये जाते हैं। यहाँके दर्शन अधिक समयतक इसलिये खुले नहीं रहते कि कहीं सुकुमार बालक गुपालको किसीकी नजर न लग जाय। अतः नन्दरानी शीघ्र ही उन्हें भीतर ले लेती हैं। साथ ही प्रभुके सुखका ध्यान भी विशेषरूपसे रक्खा जाता है। दर्शनोंके लिये भक्तोंकी उत्कण्ठा बढ़े, यह भी एक कारण है। सेवाके क्रमके अनुसार दर्शन खोलने या बंद करनेकी व्यवस्था है।

सर्वश्रेष्ठ उपासना—नामोपासना

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

अनादिकालसे नामोपासनाको ही सर्वोच्च स्थान दिया जाता आ रहा है। वास्तवमें नामोपासना ही सच्ची ईश्वरोपासना है। वर्तमान कालमें भी यह इतनी सर्वलोकप्रियता प्राप्त कर चुकी है कि इसकी उपेक्षा करना असम्भव नहीं तो कठिन तो है ही। यह उपासना अत्यन्त ही प्रभावशाली, शक्तिशाली और उपयोगी है। इस उपासनाके लिये दीक्षा-दक्षिणा और पुरश्चर्याकी भी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि यह स्वतन्त्र सत्य साधना है। चैतन्य-चरितामृतमें भी इसकी पुष्टि इस प्रकार की गयी है—

> नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते।
> मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीकृष्णनामात्मकः॥

यदि कोई उपासक केवल नामोपासनाका ही आश्रय पूर्णरूपेण ले लेता है, तो उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जायँगी। वह कृतकृत्य हो जायगा और वह ईश्वरके राज्यमें पहुँच जायगा, जहाँ असीम आनन्दका स्रोत बह रहा है।

नामोपासनामें साधकोंको एक सुविधा यह है कि इसमें किसी विशेष नियमका पालन करना अनिवार्य नहीं है। जैसे सामगान करनेमें यदि छन्दोभङ्ग दोष या व्याकरणसम्बन्धी त्रुटियाँ आ जायँ तो उल्टा परिणाम भोगना पड़ता है, वैसा नामगानमें नहीं है। यहाँ तो 'मरा-मरा' करनेवाला उपासक भी ब्रह्मके समान हो जाता है। जैसे-तैसे, शुद्ध या अशुद्ध नामोपासना करते चले जाना चाहिये, लाभ तो होगा ही।

नामोपासकको नामापराधोंसे बचनेके लिये सावधान रहनेका आदेश शास्त्रोंमें अवश्य है। इससे बचनेका प्रयत्न अवश्य ही करना चाहिये। परंतु यदि बचना कठिन हो तो चिन्ता नहीं करनी चाहिये। नाम-जप ही नामापराधको दूर कर देगा।

उपासनाका अर्थ होता है—निकटमें रहना। उपास्य और उपासक एक हो जायँ—यही सच्ची उपासना है। हम नाम जपते-जपते इतने तल्लीन हो जायँ कि अपने तन-मन-धनकी भी सुधि नहीं रहे। हमारे रोम-रोमसे नाम-जप होने लगे। सोते-जागते भी नामोच्चारण होता रहे। नाम ही सुनें और नाम ही बोलें। बस, यही 'नामोपासना' है।

यदि आप सत्यकी सिद्धि चाहते हैं तो नामोपासना कीजिये। यदि आप कुविचारोंसे अपने मनको मुक्त करना चाहते हैं तो नामोपासना कीजिये।

यदि आप दुरभिलाषाओंको दूर करना चाहते हैं तो नामोपासना कीजिये।

यदि आप आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते हैं तो नामोपासना कीजिये।

यदि आप भगवान्का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो नामोपासना कीजिये।

बस, नामोपासना ही कीजिये। जो कुछ मिलेगा—नामोपासनासे ही मिलेगा। नामोपासना एकदेशिक नहीं, सार्वभौम है। हिंदू, मुसल्मान, ईसाई और यहूदी सभी किसी-

न-किसी रूपमें नामोपासनाका महत्त्व स्वीकार करते ही हैं। सभी साधनोंसे जितने लाभ हो सकते हैं, वे केवल निरन्तर नामोपासनासे ही सुलभ हैं। संत तुलसी भी स्वीकार करते ही हैं—

'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू।'

(मानस० बालकाण्ड)

सभी प्रकारके पाप-ताप-संताप, अपराध और बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये नामोपासनासे बढ़कर अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं है।

नामोपासकके लक्षण बताते हुए श्रीमद्गोस्वामी लिखते हैं—

सकल कामनाहीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुपेम पियूष ह्रद तिनहुँ किए मन मीन॥

(दोहावली ३०)

मछलीकी उपमा भी कितनी अच्छी उपमा है। मछली जलसे प्रेम करती है; एकाङ्गी प्रेम तो है ही। जल भले ही मछलीकी परवा नहीं करे, पर मछली तो जलके बिना क्षण-भर भी जी नहीं सकती। इसीलिये मछलीके प्रेमको सच्चा प्रेम कहा गया है—

मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकहि मीन को है साँचिलो सनेह॥

(दोहावली ३१८)

मानसभरमें दशरथजीके प्रेमको ही 'सत्य प्रेम' कहा गया है—

'सत्य प्रेम जेहि राम पद।'

(मानस० बालकाण्ड)

क्यों नहीं! दशरथजीने मनुरूपमें यही वरदान तो माँगा था—

मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।
मम जीवन तिमि तुम्हहिं अधीना॥

(मानस० बालकाण्ड)

मुसल्मान भक्त रहीम भी मछलीके प्रेमकी प्रशंसा करते-करते अघाते नहीं हैं—

मीन काटि जल धोइये खाये अधिक पियास।
रहिमन प्रीति सराहिये मुएहु प्रीति की आस॥
प्रीतम प्रीति न छाड़हीं होत न पनसे हीन।
मुए पड़ेहू उदरमें जल चाहत है मीन॥

नामोपासक भी अपने मनको मीन बनाकर रामप्रेम-पयोधिमें डुबो रक्खे तो कहना क्या है। बेड़ा पार हो जाय।

विशेषकर इस कलिकालमें तो और कोई साधना बनती ही नहीं। एक नामोपासना ही उपासकको श्रेय-प्रेय देनेमें समर्थ है। आइये, हम आप भी नामोपासनाका आश्रय लेकर सारे विश्वको पाप-ताप और संतापसे मुक्त कर दें।

भगवान्के नामका माहात्म्य

वेपन्ते दुरितानि मोहमहिमा संमोहमालम्बते
सातङ्कं नखरञ्जनीं कलयति श्रीचित्रगुप्तः कृती।
सानन्दं मधुपर्कसम्भृतिविधौ वेधाः करोत्युद्यमं
वक्तुं नाम्नि तवेश्वराभिलषिते ब्रूमः किमन्यत् परम्॥

नामनिष्ठ किसी भक्तने कहा है—'हे भगवन्! आपके नामोच्चार करनेकी अभिलाषा करनेमात्रसे सम्पूर्ण पाप काँपने लग जाते हैं, संसारमें अर्थात् पुत्र, पौत्र, कलत्र, भृत्यादिमें बढ़ा हुआ आसक्तिरूप मोह भी मोहित होकर भाग जाता है। और सकल जन्तुओंके पुण्य-पापके लेखक, यमराजके प्रधान मन्त्री, न्यायशील कुशल श्रीचित्रगुप्तजी भी अपनी नहरनीको शीघ्र ही आशंकापूर्वक उठाते हैं अर्थात् इस नामोच्चारकी अभिलाषावाले जीवका नाम तो मैंने पापियोंकी श्रेणीमें लिख रक्खा था; परंतु अब तो इसने नामोच्चार करनेकी अभिलाषा की है; अतः इसका नाम पापियोंकी श्रेणीसे काट देना चाहिये, नहीं तो, श्रीनाम-माहात्म्यके विशिष्ट ज्ञाता श्रीयमराजजी मुझपर कहीं कुपित न हो जायँ। इस विचारसे ही चित्रगुप्तजी अपनी नहरनीको शीघ्र उठाते हैं। एवं श्रीब्रह्माजी भी 'यह नामोच्चारकी अभिलाषावाला व्यक्ति ब्रह्माण्डको भेदकर अवश्य ही भगवद्-धामको जायगा' ऐसा विचारकर उसकी पूजाके लिये आनन्दपूर्वक मधुपर्कादि सामग्री जुटानेमें संलग्न हो जाते हैं। अतएव हे प्रभो! आपके मङ्गलमय श्रीनामका माहात्म्य इससे अधिक और क्या कहें।'

श्रीभगवन्नाम-उपासना—परम उपाय

(लेखक—श्रीरामलालजी)

यह बात श्रुति-स्मृतिसे स्वतःसिद्ध है कि भगवान्‌के रूप और नाम दोनों भगवत्स्वरूपगत हैं, अभिन्न हैं, नाम उन्हींका रूप है, इसलिये नाम-संकीर्तनको उपासना कहनेमें आपत्तिके लिये तिलमात्र भी अवकाश नहीं है। रामचरित-मानस साक्षी है।

समुझत सरिस नाम अरु नामी।
प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
(मानस० बालकाण्ड)

नाम-उपासना अथवा संकीर्तन भगवत्सान्निध्यप्राप्तिका विशिष्ट अनुष्ठान है, इस तरहका अनुष्ठान ही उपासनाका स्वरूप है। सनातन गोस्वामीका कथन है—

श्रीमन्नाम प्रभोस्तस्य श्रीमूर्तेरप्यतिप्रियम्।
जगद्धितं सुखोपास्यं सरसं तत् समं न हि॥
(बृहद्भागवतामृत २। ३। १८४)

'भगवान्‌को श्रीनाम अपने दिव्य मङ्गलविग्रहसे भी प्रिय है। इसीसे समस्त जगत्‌का हित होता है। इसकी सहज ही उपासना हो सकती है और इसके समान सरस कोई अन्य वस्तु है भी नहीं।' कलियुगके लिये तो यह सुगमतम और सर्वसिद्धिप्रद है। श्रीमद्भागवतमें इस स्वीकृतिकी पूर्णरूपसे पुष्टि है।

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भागवत १२। ३। ५२)

'सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंद्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका संकीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।' नाम-संकीर्तनसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। चैतन्य महाप्रभुकी श्रीकृष्णदास कविराजकी वाणीमें स्वीकृति—अनुभूति है। चैतन्यचरितामृत ३। ४। ६५-६६ साक्षी है।

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविध भक्ति।
कृष्णप्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नामसंकीर्तन।
निरपराधे नाम लैते पाय प्रेमधन॥

आशय यह है कि नामापराधवर्जनपूर्वक भगवन्नामका संकीर्तन करनेपर प्रेमकी प्राप्ति होती है। श्रीचैतन्यने नाम-संकीर्तनको कलिमें 'परम उपाय' बताया है—

'नाम संकीर्तन कलौ परम उपाय।'
(चैतन्यचरितामृत ३। २०। ७)

महात्मा शंकरदेवने हरिनाम-कीर्तनको परम धर्म कहा है; सारे शास्त्रका मत है कि हरिनाम सब धर्मोंका राजा है, सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इसके सदाचरण—उपासनाका समस्त प्राणियोंको अधिकार है। श्रीशंकरदेवका कथन है।

परम निर्मल धर्म हरिनाम-कीर्तन त, समस्त प्राणीर अधिकार॥
एतेके से हरिनाम समस्त धर्मेर राजा, एहि सार शास्त्रर विचार॥

नाम-संकीर्तन दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्तिका परम उपाय है। जगत्‌में प्राणी दुःखसे दूर रहने और सुख प्राप्त करते रहनेका ही अनवरत प्रयत्न करते हैं। यद्यपि यह सुख क्षणस्थायी है तथापि लोगोंका सदा यही काम्य होता आया है। यह सुख दैहिक और ऐन्द्रिय होता है। देह और इन्द्रिय जड—अचेतन हैं। जडमें कोई वासना नहीं होती है, जीवात्मामें ही वासना होती है। जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णकी चेतनामयी जीवशक्तिका अंश है; सुखस्वरूप, आनन्दस्वरूप, प्रियस्वरूप और रसस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्णके साथ उनकी शक्ति और अंशसे जीवात्माका नित्य सम्बन्ध है। इसलिये उसका उनकी ओर स्वाभाविक आकर्षण है, यही उसकी वास्तविक सुखवासनाका रूप है। वह इसे भूल गया है। मायाके वशमें होकर देहमें आत्मबुद्धि करनेसे उसकी सुखवासना दैहिक और ऐन्द्रिय हो गयी है। वह इसीको सुख मान बैठा है। देहका सुख देहीका सुख नहीं है। आत्मा चिद्वस्तु है, वह जडवस्तुका भोग नहीं करता है। देहका सुख वास्तविक सुख नहीं है। तत्त्वकी विचार-दृष्टिमें वह दुःख ही है। परब्रह्म ही सुखस्वरूप है—देही अथवा जीवात्माका वही सुख परम काम्य है और इसकी प्राप्तिके लिये भगवन्नामसंकीर्तन ही परम उपाय है।

भगवान् और भगवन्नाम—दोनोंमें अभेद है। जिस तरह श्रीकृष्ण चिन्तामणि हैं, उसी तरह उनका नाम भी

चिन्तामणि है। भगवन्नाम चित्स्वरूप है। ऋग्वेदकी एक ऋचा है—

'आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।' (१। १५६। ३)

निस्संदेह भगवान् सम्पूर्ण चैतन्यरसविग्रह हैं। जीव-गोस्वामीने 'भगवत्संदर्भ'में इसका स्पष्टीकरण किया है।

'हे विष्णो! तव नाम चित् चित्स्वरूपम्, अतएव महः स्वप्रकाशरूपम्। तस्मात् अस्य नाम्नः आ ईषत् अपि जानन्तः न तु सम्यक् उच्चार-माहात्म्यादि पुरस्कारेण तथापि विवक्तन ब्रुवाणाः केवलं तदक्षराभ्यासमात्रं कुर्वाणाः सुमतिं तद्विषयां विद्यां भजामहे प्राप्नुमः।'

इसका आशय यह है कि 'हे विष्णु! आपका नाम चित् है, इसलिये यह महः—स्वप्रकाशरूप है, अतएव महिमादि स्वरूप न जाननेपर भी केवल नाम—अक्षरमात्र-उच्चारणसे आपके सम्बन्धकी विद्या—तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है।'

भगवान्के समस्त नाम प्रिय हैं, मधुर हैं। यद्यपि इन भगवन्नामोंकी महिमा समान है तथापि अपने प्रिय उपास्यदेवके नामसे तत्काल ही अभीष्टकी सिद्धि होती है और सुख मिलता है—

सर्वेषां भगवन्नाम्नां समानो महिमापि चेत्।
तथापि स्वप्रियेनाशु स्वार्थसिद्धिः सुखं भवेत्॥
(बृहद्भागवतामृत २। ३। १६०)

भगवन्नाम परम मङ्गलमय है, समस्त निगमवल्लीका सत्फल है, चित्स्वरूप है। भगवन्नाम-कीर्तनसे पापका नाश होता है। गरुड़पुराणका एक स्थलपर उद्धृत वचन है।

पापानलस्य दीप्तस्य मा कुर्वन्तु भयं नराः।
गोविन्दनाममेघौघैर्नश्यते नीरबिन्दुभिः॥
(हरिभक्तिविलास ११। ३१६)

'प्रदीप्त पापानल देखकर भयभीत न होइये। हे नरो! मेघजलसमूहसे जिस तरह आग शान्त हो जाती है, उसी तरह गोविन्दनामसे पाप शान्त हो जायगा, नष्ट हो जायगा।' भगवन्नाम-कीर्तनका फल भुक्ति-मुक्तिकी प्राप्ति नहीं है; उन दोनोंसे परे वस्तुस्वरूपस्थितिकी प्राप्ति होती है। इसका मुख्य फल पञ्चम पुरुषार्थ—प्रेम है। साथ-ही-साथ यह भी स्मरणीय है कि मुक्तिसे परे गुरुतर वस्तु भक्ति—पराभक्तिकी प्राप्ति भी नाम-संकीर्तनका फल है। प्रह्लादका निवेदन है—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
(विष्णुपुराण १। २०। १८)

मुक्त लोग भी भगवान्का भजन-कीर्तन करते हैं। 'नृसिंहतापनी' उपनिषद्के भाष्यमें एक स्थलपर आचार्य शंकरकी उक्ति है—

'यद्वा मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनो मुक्ताश्च लीलया विग्रहं परिगृह्य नमन्ति।'

(नृसिंहपूर्वतापनी २। ४)

इसपर श्रीमद्भागवत १० । ८७ । २१ श्लोकके भाष्यमें श्रीधरस्वामीका स्पष्टीकरण है—

'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा (भगवन्तं) भजन्ते।'

आशय यह है कि 'सायुज्यमुक्तिप्राप्त जन भी भक्तिकी कृपासे भजनोपयोगी देह प्राप्तकर भगवान्का भजन करते हैं।'

श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी सेवा ही जीवात्माका—देही-का स्वरूपगत परम काम्य है। मोक्षादि उसके काम्य नहीं हैं। श्रीकृष्ण-प्रेमधन ही पञ्चम पुरुषार्थ है। नामसंकीर्तनका यही परम पुण्यफल है। चैतन्यदेवका प्रेमधनके विषयमें कथन है—

एइ मत परम फल—परम पुरुषार्थ।
यार आगे तृण तुल्य चारि पुरुषार्थ॥
(चैतन्यचरितामृत २। १९। १४६)

श्रीकृष्णकी प्रेमसम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये बलिष्ठ साधन उनका नाम-संकीर्तन ही है। श्रीसनातन गोस्वामीका कथन है—

तदेव मन्यते भक्तेः फलं तद्रसिकैर्जनैः।
भगवत्प्रेमसम्पत्तौ सदैवाव्यभिचारतः॥
(बृहद्भागवतामृत २। ३। १६५)

'भगवन्नाम-संकीर्तनके रसिक संकीर्तनको भक्तिका फल-स्वरूप मानते हैं, भगवत्प्रेमसम्पत्ति प्रदान करनेमें यह सर्वदा अमोघ है।'

केवल कलियुगके ही लिये नामसंकीर्तन परम उपाय है—ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है। परम उपाय विशेष युगके अधीन नहीं है; यह तो चारों युगोंका धर्म है। भगवान् नित्य हैं, सर्वयुगस्थ हैं। कलियुगमें नाम-संकीर्तन, नाम-ग्रहण—नाम-उपासना भगवान्की विशेष कृपाका रूप है। श्रीजीवगोस्वामीकी भक्ति-संदर्भ २७३ अनुच्छेदमें उक्ति है—

'तस्मात् सर्वत्रैव युगे श्रीमत्कीर्तनस्य समानमेव सामर्थ्यम्। कलौ च श्रीभगवता कृपया तद्ग्राह्यत इत्यपेक्षयैव तत्र तत्प्रशंसेति स्थितम्। अतएव यदन्यापि भक्तिः कलौ कर्तव्या, तदा तत् संयोगेनैवेत्युक्तम्—यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।'

इसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि समस्त युगोंमें कीर्तनकी समान सामर्थ्य है। कलिमें अन्य भजनाङ्ग करते हुए भी उनमें कीर्तनका समावेश करना चाहिये।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

तृणसे भी अधिक विनम्र, वृक्षके समान सहनशील होकर तथा सदा दूसरेको मान देते हुए भगवान्का नाम-कीर्तन करना चाहिये; नाम-उपासकका यही यथार्थ स्वरूप है। श्रीभगवन्नाम सुखका सागर है, सुखका धाम है। संत समर्थ रामदासका कथन है; 'मनांचे श्लोक'की विज्ञप्ति है—

मुखीं राम विश्राम तेथें चि आहे। सदानंद आनन्द सेऊनि राहे॥
तया वीण तो शीण संदेहकारी। निज धाम हें नाम शोकापहारी॥
(मनांचे श्लोक ८६)

'जिसके मुखमें राम रहते हैं, उसे उन्हींमें विश्राम मिलता है। वह अखण्ड आनन्दस्वरूप आनन्दका भागी होता है, रामनामके सिवा सब कुछ संशयजनक और थकावट देनेवाला है। नाम सर्वशोकहारी परमात्माका धाम है।'

संध्योपासना

(लेखक—प्रा० श्रीमधुसूदनजी मल्लिक, एम्० ए०)

संध्या प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी हिंदूका पवित्र धार्मिक कृत्य (व्रतवन्धन) है। परा विद्याकी प्राप्तिमें इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह कृत्य शारीरिक होते हुए भी साथ-साथ मानसिक और आध्यात्मिक भी है। यह मनको संसारकी स्थूलतासे ऊपर उठा देती है, परम तत्त्वका साक्षात्कार करनेमें सहायक बनती है और उसके साथ एकीभूत होनेकी योग्यता प्रदान करती है।

महाभारतकालमें संध्या दो प्रकारकी थी—परा और अपरा (अनुशासनपर्व १०)। साधककी ऋक्, साम आदि परम्पराके अनुसार संध्योपासनाके मन्त्रोंमें अन्तर है। साधारण-से अन्तरके साथ प्रायः सभी मन्त्र एकसे ही हैं।

'संध्या'की व्युत्पत्ति क्या है? यह सम् + ध्यै + अन् + आप (स्त्री०) से बना है। 'ध्यै' धातुका अर्थ है 'ध्यान करना'। अतः संध्याका अर्थ है ध्यान अथवा भगवान्पर तन, मन और वाणीको एक साथ ही एकाग्र करना।

संध्याका एक और अर्थ है—'संधि' अर्थात् दिन और रातकी संधि। मध्याह्न भी पूर्वाह्न और अपराह्नकी संधिवेला है। अतएव प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल तीनों ही संधियाँ भगवदुपासनाके लिये अत्यन्त उपयुक्त समय है।

भगवान्से जुड़नेके लिये (प्रक्षालनादिके द्वारा) शारीरिक; (उत्तम विचारोंके द्वारा) मानसिक और (सत्य वचनके द्वारा) वाचिक पवित्रता अनिवार्य है। मन और वाणीके संयुक्त होकर आचरण किये बिना आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। ब्रह्मको ऋत और सत्य संज्ञा दी गयी है। अतः ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये शारीरिक पवित्रता और स्वास्थ्यकी अखण्डता आवश्यक है। संध्योपासनामें तन, मन और वाणी—तीनों ही एक साथ मिलकर ध्यानमें प्रवृत्त होते हैं और यौगिक सिद्धियोंकी प्राप्ति कराते हैं। इसीलिये परिपूर्ण स्वास्थ्य और पवित्र मनकी आवश्यकता है।

संध्योपासना सभीके लिये आश्रयकी वस्तु है—चाहे कोई शाक्त हो, शैव हो, वैष्णव हो, सूर्योपासक हो या गाणपत्य हो। प्राचीन, नवीन, विद्वान् या अनपढ़ सभीके लिये मानसिक शान्ति प्राप्त करनेका यह एक मार्ग है। प्राकृतिक

वस्तुओंकी भाँति संध्योपासनामें भी क्रमबद्ध एकके बाद दूसरा अङ्ग है। जिस प्रकार कोई प्राणी अस्थि, मांसपेशी, शिरा, प्राण, मन, आत्मा आदिका समाहार है, उसी प्रकार संध्याके अन्तर्गत भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन तत्त्व हैं। नीचे संध्याके कुछ अङ्गोंकी व्याख्या की गयी है—

आचमन—

इस क्रियामें जलका अल्प घूँट लिया जाता है और इसका अर्थ है—शरीरकी शुद्धि, जिससे वह भगवान्का वासस्थान बन सके। इसको करते समय निम्नलिखित विष्णुमन्त्रका उच्चारण किया जाता है—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं
सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।
(ऋग्वेद १।२२।२०)

'जिस प्रकार आकाशमें दृष्टि घुमानेसे चारों ओरकी सब वस्तुएँ दृष्टिगोचर हो जाती हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति सदा विष्णुके दिव्य मार्गका दर्शन करता है।'

मार्जन—

इस क्रियामें शरीरपर जल छिड़का जाता है और इसका अर्थ है—पश्चात्ताप। इसका मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ शन्न आपो धन्वन्याः शमु सन्त्वनूप्याः।
शन्नः समुद्रिया आपः शं सन्तु कूप्याः॥
—इत्यादि इत्यादि।

'हे मरुस्थलके जल! हमारा कल्याण करो। हे जलमय प्रदेशके जल! हमारा कल्याण करो। हे सागरके जल! हमारा कल्याण करो। हे कूप-जल! हमारा कल्याण करो।' आदि, आदि।

प्राणायाम—

श्वास-प्रश्वासके संयमकी यह एक यौगिक क्रिया है। रेचक, कुम्भक और पूरकके साथ-साथ ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरको सम्बोधित करके कहे हुए मन्त्रोंका उच्चारण करना चाहिये।

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम्
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

त्रिकालाचमन—

विष्णुस्मरणाचमनके अतिरिक्त प्रातः, मध्याह्न एवं अपराह्नके समय त्रिकालाचमन भी किया जाता है।

अघमर्षण—

वैदिक ऋषि पापोंके नाशपर अत्यधिक जोर देते हैं; क्योंकि वे उनको ही सारे उपद्रवोंकी जड़ मानते हैं। मोक्षधर्मशास्त्रमें कहा गया है—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः।
तत्रादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि॥

सूर्योपस्थान—

सूर्यकी सेवा-पूजा संध्योपासनाका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। यह क्षमा, दया और कृपाके लिये सूर्यका यशोगान है। सत् तक पहुँचानेवाला मार्ग सूर्यकी सुनहली किरणोंसे ढका हुआ है। सूर्यसे प्रार्थना की जाती है कि वह उस पथको प्रकट कर दें—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

गायत्री-प्रकरण—

गायत्रीमें तीन मन्त्र होते हैं—प्रणव, व्याहृति और सावित्री। हिंदू जातिका भाग्य अद्वितीय है, जिसके हाथमें ऐसा महिमामय मन्त्र है, जो उसके हृदयको अभय और प्रेरणासे भर देता है तथा उसको वह सुख प्रदान करता है, जिसकी आशा किसी भौतिक पदार्थसे नहीं की जा सकती।

गायत्री-उपासनाके पाँच अङ्ग हैं—आवाहन, अङ्गन्यास, ध्यान, जप और विसर्जन। गायत्रीका आवाहन इस प्रकार किया जाता है—

आयाहि वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मवादिनि।
गायत्रिच्छन्दसां मातर्ब्रह्मयोनि नमोऽस्तु ते॥

'वरदायिनी त्र्यक्षरी देवी गायत्री, वेद-जननी और हे ब्रह्मयोनि! पधारो। मैं तुम्हारा अभिवादन करता हूँ।'

न्यासमें मन्त्रोंको शरीरके विविध अवयवोंपर इसलिये स्थापित किया जाता है कि वे देवताओंके उपयुक्त आवास बन सकें और उनकी कोई क्षति न हो।

गायत्रीका प्रातःकालीन ध्यान इस प्रकार है—

कुमारीं ऋग्वेदयुतां ब्रह्मरूपां विचिन्तयेत् ।
हंसस्थितां कुशहस्तां सूर्यमण्डलसंस्थिताम् ॥

'कुश लिये हुए, ऋग्वेद हाथमें धारण किये हुए, सूर्यमण्डलमें अवस्थित हंसारूढा ब्रह्मारूपा कुमारीके रूपमें ।'

मध्याह्नका इस प्रकार ध्यान—

मध्याह्ने विष्णुरूपां च ताक्ष्यस्थां पीतवाससीम् ।
युवतीं च यजुर्वेदां सूर्यमण्डलसंस्थिताम् ॥

'यजुर्वेद धारण किये हुए सूर्यमण्डलमें अवस्थित, पीताम्बरा, गरुडारूढा विष्णुरूपा युवतीके रूपमें ।'

सायंकालका इस प्रकार ध्यान—

सायाह्ने शिवरूपां च वृद्धां वृषभवाहिनीम् ।
सूर्यमण्डलमध्यस्थां सामवेदसमायुताम् ॥

'सामवेदसे सेवित, शिवके वेशमें, सूर्यमण्डलमें अवस्थित वृषभारूढा वृद्धाके रूपमें ।'

गायत्रीका जप इस प्रकार है—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ।

'हम ज्योतिर्मय सविताके उस अनश्वर प्रकाशका ध्यान करें जो पृथ्वी, आकाश और अन्तरिक्षको आलोकित करता है । वह हमारी बुद्धिमें भी प्रकाश भरे ।'

गायत्रीका विसर्जन इस प्रकार होता है—

महेशवदनोत्पन्ना विष्णोर्हृदयसम्भवा ।
ब्रह्मणा समनुज्ञाता गच्छ देवि यथेच्छया ॥

'महेशके मुखसे निःसृत हुई, विष्णुके हृदयसे उत्पन्न होनेवाली और ब्रह्माकी अनुमति प्राप्त करनेवाली देवी अपनी इच्छासे विदा हों ।'

आत्मरक्षा, रुद्रोपस्थान, देवतार्पण, सूर्य-अर्घ्यदान, सूर्य-नमस्कार इत्यादि अन्य क्रियाएँ भी संध्याके साथ जोड़ी गयीं ।

भारतवर्ष एक पूजा-प्रधान देश है । अत्यन्त प्राचीन कालसे लेकर हमलोगोंके समयतक किसी-न-किसी रूपमें पूजाकी भावना हिंदू-हृदयपर अधिकार जमाये हुए है । संध्योपासना उपयोगी और सरल भी है । इसके द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति होकर ही रहेगी । आजीवन संध्या करनेसे स्वास्थ्य एकदम ठीक रहता है, मानसिक धरातल ऊँचा उठ जाता है और हृदय विस्तृत हो जाता है । उपासनाकी प्रत्येक क्रियामें भगवान्‌की उपस्थितिका अनुभव होता है, मनुष्यके प्रति मनुष्यके रूपमें गहरे प्रेमकी अनुभूति होती है, निम्न श्रेणीके पशुओंके प्रति प्रीति जागती है, तरु-लताके प्रति भी अनुराग उमड़ता है और सबसे बढ़कर हमको सार्वभौम भ्रातृत्वकी ओर बढ़नेका मार्ग मिल जाता है । भारतवर्षकी प्राचीन कालमें यही हृदयकी अत्यन्त प्रिय साध रही है और आज भी है !

भगवान्‌का भजन करो

भजु मन चरन संकटहरन ॥
सनक संकर ध्यान लावत निगम असरन सरन ।
सेस सारद कहैं नारद संत चिंतत चरन ॥
पद पराग प्रताप दुरलभ रमा को हितकरन ।
परसि गंगा भई पावन तिहूँ पुर उद्धरन ॥
चित्त चेतत करत, अन्तःकरन तारन तरन ।
गए तरि लै नाम केते संत हरि पुर धरन ॥
जासु पदरज परसि गौतम-नारि गति उद्धरन ।
जासु महिमा प्रगट कहत न धोइ पग सिर धरन ॥
कृष्णपद मकरंद पावत और नहिं सिर परन ।
सूर प्रभु चरनारबिंद तें मिटै जन्मरु मरन ॥

—सूरदास

वारकरी-सम्प्रदायकी उपासना

(लेखक—श्री ह० भ० प० श्रीधुंडा महाराज, देगलूरकर, पंढरपुर)

भारतवर्षके महाराष्ट्र प्रान्तमें 'वारकरी' तथा 'भागवत-धर्म'का बहुत प्रचार है। वारकरी-सम्प्रदाय कुछ अन्य पन्थ-के सदृश किसी व्यक्तिविशेषद्वारा प्रवर्तित नहीं है। यह श्रीवेदव्यास, शुकदेव तथा नारदादि महर्षियोंद्वारा अङ्गीकृत भागवतधर्मका ही एक साकार रूप है, जिसकी महाराष्ट्र प्रदेशमें 'वारकरी-सम्प्रदाय'के नामसे प्रसिद्धि है। इस सम्प्रदायके एक अध्वर्यु श्रीनामदेव महाराजका कथन[1] है कि हमें यह धर्म मिला है, हम भागवत-धर्मकी ही उपासना करेंगे'। श्रीतुकाराम महाराजने इसको 'वैष्णव-धर्म' कहा है। श्रीमद्भागवत और श्रीमद्भगवद्गीतामें वर्णित भक्तिमार्गका ही इसमें प्रमुखतासे अनुसरण किया गया है। इस सम्प्रदायके उपासनाग्रन्थ श्रीमद्भागवत और श्रीभगवद्गीता हैं।[2] अपने उपास्यका दर्शन करनेके लिये नियमितरूपसे प्रतिमास या प्रतिवर्ष जाना 'वारी' कहा जाता है। वारी शब्दका यही रूढ़ अर्थ है। भक्ति-मार्गीय ग्रन्थोंमें अभिगमन, उपादान, ईज्या, स्वाध्याय और योग—भक्तिके पाँच अङ्ग निरूपित हैं। अपने इष्ट देव—उपास्यके दर्शनके लिये अभिगमन करना वारकरी-सम्प्रदायके अनुयायी भक्तोंकी उपासनाका एक सुदृढ़ नियम है। वारकरी सम्प्रदायके उपास्यदेव पण्ढरपुरमें विराजित श्रीपाण्डुरंग विठ्ठल भगवान् हैं। इस सम्प्रदायके अनुयायीके लिये प्रतिवर्ष आषाढ़ और कार्तिक मासकी शुक्ला एकादशीको श्रीक्षेत्र पण्ढरपुरमें जाकर श्रीविठ्ठलका दर्शन करना अनिवार्य है। पाँच लाखसे भी अधिक व्यक्ति प्रतिवर्ष आषाढ़ और कार्तिक मासकी शुक्ला एकादशीको पण्ढरपुर जाकर भगवान् पाण्डुरङ्गके दर्शन करते हैं। श्रीपाण्डुरङ्गका अपने भक्तोंके प्रति आदेश है। श्रीनामदेवकी वाणी साक्षी है, आदेशका आशय यह है, भगवान्‌के हृदयकी गुप्त बात है।[3] 'आषाढ़ और कार्तिककी एकादशीको मुझे भूलना नहीं।' असंख्य भक्त अपने-अपने ग्रामसे मृदंग, वीणा और पताका लेकर आनन्दपूर्वक भजन-कीर्तन करते हुए आते हैं और 'श्रीविठ्ठल, विठ्ठल' की सरस ध्वनिसे पण्ढरपुर-का वातावरण कृतार्थ हो जाता है।

दस हजारसे अधिक व्यक्ति प्रतिमासकी शुक्ला एकादशी-को भगवान् पाण्डुरङ्गके दर्शनके लिये तथा 'वारी' की नियमपूर्तिके लिये आया करते हैं। इसका आशय यह है कि पाण्डुरङ्गके दर्शनके लिये आनेका नियम पालन करना वारकरी भक्तोंके लिये आवश्यक है। यह नियम ही 'वारी' है, इस नियमको श्रद्धापूर्वक स्वीकार करनेवाले ही 'वारकरी' हैं। इस सम्प्रदायका वारी प्रधान अङ्ग है, इसलिये 'वारकरी-सम्प्रदाय' नाम रूढ़ हुआ। मूलतः तो यह भागवत-धर्मका ही स्वरूप है।

छः सौ वर्ष पहले विश्ववन्द्य परम ज्ञानी संत ज्ञानेश्वर महाराज तथा उनके समकालीन संत नामदेव, भानुदास, निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई, चोखामेळा, संत रैदास, गोरा कुम्हार, नरहरि सुनार और सेन नाईने वारकरी-सम्प्रदायके प्रचारमें बड़ा योग दिया। उनके डेढ़ सौ सालके पश्चात् संत एकनाथने तथा ढाई सौ साल बाद जन्म लेनेवाले संत तुकारामने प्रचार-कार्यको आगे बढ़ाया। संत तुकारामका कथन है[4]—'हम भक्तिका ढिंढोरा—डौंड़ी पीटेंगे, उसके घोषसे कलिकाल भयभीत होगा, आनन्दसे जय-जयकर करो।' उनके आक्रोशमय वचन हैं[5]—'छोटी-बड़ी—सभी जातियोंके नारी-नर हमारे इस सम्प्रदायमें सम्मिलित हो सकते हैं, इस सम्बन्धमें किसी तरहका विचार

१. आम्हां सांपडले वर्म। करूं भागवतधर्म॥
(संत नामदेव)

२. गीताभागवत करिती श्रवण। अखंड चिंतन विठोबाचे॥
(संत तुकाराम)

३. आषाढी कार्तिकी विसरू नका मज।
सांगतसे गुज पांडुरंग॥ (नामदेव)

४. पिट्ट भक्तीचा डांगोरा। कळिकाळासी दरारा॥
तुका म्हणे करा। जयजयकार आनंदे॥
(संत तुकाराम)

५. यारे यारे लहान थोर। याति भलते नारीनर॥
करावा विचार। न लगे चिन्ता कवणाची॥
ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्य शूद्र। चांडाळा ही अधिकार॥
बाळे नारीनर। आदि करुनि वेश्या ही॥
(संत तुकाराम)

या चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल, वेश्या आदि सभीका अधिकार है।' इस सम्प्रदायमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कुम्हार, नाई, सुनार, चमार और धोबी आदि सभी जातियोंके अधिकारी—परम साक्षात्कारी संत हो गये हैं। श्रीज्ञानेश्वर, भानुदास और एकनाथ ब्राह्मण थे। श्रीतुकाराम शूद्र थे, नामदेव दरजी, गोरा कुम्हार, सेना नाई, नरहरि सुनार और रैदास चमार थे। इन महान् संतोंने जनभाषामें अभंग-रचना की! श्रीनामदेव, एकनाथ और तुकाराम आदिकी रचनाएँ हिंदी भाषामें भी मिलती हैं। ये बड़ी प्रामाणिक रचनाएँ हैं। यही कारण है महाराष्ट्र प्रदेशमें सभी वर्णों और जातियोंमें इस वारकरी-पन्थका बड़ा प्रचार हुआ।

महाराष्ट्र प्रदेशके प्रायः सभी ग्रामोंसे लोग पण्ढरपुर 'वारी' करने आते हैं। आषाढ़ और कार्तिक मासके मेलेमें जितने लोग आते हैं, उतने कहीं अन्य स्थानपर इस तरह नियमित रूपसे नहीं एकत्र होते हैं। वारकरियोंकी संख्या पाँच लाखसे भी अधिक हो जाती है। बृहद्महाराष्ट्र, विदर्भ, नागपुर, खानदेश, मराठावाड़ा, बम्बई, पूना, कोंकण, रत्नागिरी आदि स्थानोंके अतिरिक्त महाराष्ट्र प्रान्तसे संलग्न कर्णाटक, आन्ध्र, गुजरात, मद्रास, बंगलौर, इंदौर आदि दूर-दूरसे भी नियमित रूपसे पण्ढरपुर आनेवाले सज्जनोंकी संख्या बहुत है।

जगत्प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर महाराजका समाधिस्थान आळन्दी क्षेत्र है। यह पूनाके ही निकट पंद्रह मीलकी दूरीपर स्थित है। इस समाधिस्थानसे ज्ञानेश्वर महाराजकी चरण-पादुका पालकीमें प्रतिष्ठितकर बीस हजारसे भी अधिक वारकरी भक्तोंकी शोभायात्राके साथ प्रतिवर्ष आषाढ़ मासकी शुक्ला एकादशीको पण्ढरपुरमें पधरायी जाती है। लोग ताल-मृदंग-वीणाके साथ भजन-कीर्तन करते हुए इस यात्राको आनन्दसे परिपूर्ण कर देते हैं। ठीक इसी तरह संत तुकाराम, श्रीनिवृत्तिनाथ, श्रीसोपानदेव, श्रीमुक्ताबाई और संत एकनाथ महराजके समाधिस्थान देहू, त्र्यम्बकेश्वर, सासवड़, एदलाबाद, पैठण आदिसे उनकी चरणपादुकाएँ उक्त तिथिको शोभायात्राके साथ पण्ढरपुरमें पधरायी जाती हैं। प्रायः भारतवर्षमें अन्यत्र कहीं भी इस तरह भजन-कीर्तन करते हुए इतनी अधिक जनसंख्याका अपने उपास्यदेवके दर्शनके लिये नियमितरूपसे जानेकी परम्परा नहीं दीख पड़ती है। निस्संदेह वारकरी-सम्प्रदायका यह एक महत्त्वपूर्ण उपासना-वैशिष्ट्य है।

इस सम्प्रदायके प्रमाणभूत ग्रन्थ श्रीभागवतपुराण, श्रीमद्भगवद्गीता तथा पुराण आदि हैं; पर ये संस्कृतमें हैं। संस्कृत सर्वजनसुलभ न होनेके कारण इन ग्रन्थोंका उपयोग लोग अच्छी तरह करनेमें असमर्थ हैं। इसलिये श्रीज्ञानेश्वरने ८००० ओवी छन्दमें श्रीमद्भगवद्गीताका मराठी भाषामें 'ज्ञानेश्वरी' भाष्य प्रस्तुत किया है। यह टीका बहुत ही सरल है, दृष्टान्त तथा उपमादि अलंकारोंसे युक्त है। इसमें कर्म, उपासना, ज्ञान और भक्ति आदिपर अधिकारयुक्त समर्थ वाणीमें विचार किया गया है। मराठी भाषामें यह कृति अद्वितीय तथा मुकुटमणि है, विद्वानोंद्वारा परम मान्य है। इसी तरह श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धपर सन्त एकनाथ महाराजने अठारह हजार ओवियोंमें अत्यन्त विस्तृत, सरल और प्रसादपूर्ण टीका लिखी है। यह कृति 'एकनाथीभागवत' नामसे अमित प्रसिद्ध है। इसी तरह संत तुकाराम महाराजने कई हजार प्रसादगुणसे परिपूर्ण अभंग लिखे हैं। इनमें पाँच हजार अभंगोंको साक्षात् भगवान् पाण्डुरङ्गने इन्द्रायणी नदीमें विलुप्त हो जानेसे बचा लिया। उपर्युक्त तीनों कृतियाँ वारकरी-सम्प्रदायकी 'प्रस्थानत्रयी' समझी जाती हैं। ये इस सम्प्रदायके उपासना-ग्रन्थ हैं। इनका बड़ी श्रद्धासे पठन-पाठन होता है। कीर्तन, प्रवचन और सत्संगमें प्रमाणरूपमें इनके ही वचन उद्धृत किये जाते हैं। श्रीवाल्मीकिरामायण तथा अन्य प्रामाणिक रामायणोंके आधारपर श्रीएकनाथ महाराजने पचीस हजार ओवियोंमें रामचरित्रपरक सप्तकाण्डात्मक 'भावार्थरामायण' की भी रचना की है। यह अमित विस्तृत और भक्तिरसप्रधान कृति है। चरित्रभाग तो अत्यन्त ही रोचक, भावपूर्ण और रञ्जनात्मक है। यह ग्रन्थ इतना प्रासादिक तथा सर्वजनप्रिय है कि महाराष्ट्रके छोटे-बड़े सभी ग्रामोंमें इसका पाठ और प्रवचन नित्य होता है। जो आदर उत्तरप्रदेशमें श्रीरामचरितमानसका है, वही महाराष्ट्रमें उपर्युक्त पुण्यकृतिके लिये है। यह ग्रन्थ सर्वसाधारण स्त्री-पुरुषोंके हृदयमें भगवद्भावकी परिपुष्टि करता है। प्रमाण-ग्रन्थोंके द्वारा ही उपासनाका स्वरूप निश्चित होता है।

यह वारकरी-सम्प्रदाय वेदसम्मत पन्थ है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी स्पष्ट उक्ति है[६]—'हमारे ऋषि-मुनि वेद-मार्गपर

६. वेदमार्गे मुनी गेले, त्याचि मार्गे चालिलो।
न कळे चि विषय अंधा म्हणुनि उघड बोलिलो॥ (श्रीज्ञानेश्वर)

चलते हैं, हम भी उसी मार्गसे चल रहे हैं। विषय-दोषसे अन्धी दृष्टिके लोग इस मार्गको नहीं जानते हैं। उन्हें समझानेके लिये हमें स्पष्ट भाषामें बोध देना पड़ता है। श्रीतुकाराम महाराजका भी ऐसा ही कथन है[७]—'हम वाणीसे वेदनीति ही कहेंगे तथा संतोंद्वारा अवलम्बित मार्गका ही अनुसरण करेंगे।' उपर्युक्त ग्रन्थोंमें अद्वैत-तत्त्वज्ञानपर ही विचार किया गया है। साथ-ही-साथ सगुणोपासनाका बड़ी प्रधानतासे महत्त्व वर्णित है। श्रीमद्भागवतके सातवें स्कन्धमें भक्तश्रेष्ठ श्रीप्रह्लादद्वारा प्रतिपादित नवधा भक्तिका स्वरूप विस्तृतरूपमें वर्णित है। वारकरी-सम्प्रदायमें भक्तिपरक आचरण करनेका पूर्ण प्रयत्न किया जाता है।

वारकरी-सम्प्रदायके उपास्यदेव श्रीपाण्डुरङ्ग विठ्ठल हैं, पाण्डुरङ्ग विठ्ठल भगवान् श्रीकृष्णके बालस्वरूप हैं। भक्तश्रेष्ठ पुण्डलीककी मातृ-पितृ-सेवासे मुग्ध और प्रसन्न होकर उसे अपने दर्शनसे कृतार्थ करने तथा उसके भावानुसार दर्शन करनेवाले भक्तोंका भवसागरसे उद्धार करनेके लिये भगवान् विठ्ठल श्रीपण्ढरपुरमें स्वयं आ गये और तभीसे एक ईंटपर अखण्डरूपसे खड़े हैं, इसीलिये उनका नाम विठोबा भी है। पुराण और संतोंने ऐसा ही वर्णन किया है। श्रीमान् शंकराचार्यने भी अपने श्रीपाण्डुरङ्ग-अष्टकमें ऐसा ही वर्णन किया है, उनका कथन है—

महायोगपीठे तटे भीमरथ्यां
वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानन्दकन्दं
परब्रह्मलिङ्गं भजे पाण्डुरङ्गम्॥ १॥

श्रीज्ञानेश्वर[८] और तुकाराम[९] महाराजने भी इसी तथ्यका प्रतिपादन किया है। श्रीपाण्डुरङ्ग भगवान्की अर्धाङ्गिनी रुक्मिणी मानी जाती हैं। पण्ढरपुरमें श्रीपाण्डुरङ्गके मन्दिरके निकट उनका भी मन्दिर विद्यमान है। श्रीकृष्ण और पाण्डुरङ्गमें भेद नहीं माना जाता है। श्रीपाण्डुरङ्ग-विग्रह अनादि ही माना गया है। एक पौराणिक वचन है—

आविर्बभूव यो विष्णुः देवक्यां ब्रह्मणार्थितः।
स एवास्ते पौण्डरीके भक्तानुग्रहकाम्यया॥

'जिन भगवान् विष्णुने ब्रह्मादिद्वारा प्रार्थना करनेके कारण देवकीके गर्भमें अवतार लिया, वे ही इस पौण्डरीक नगर—पण्ढरपुरमें भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये स्वयं आकर विराजित हैं।' श्रीतुकारामका कथन है[१०]। 'जिन्होंने कुरुक्षेत्रमें श्रीअर्जुनको गीताका उपदेश दिया, वे ही यहाँ ईंटपर जगत्के उद्धारके लिये खड़े हैं।' श्रीजगद्गुरु शंकराचार्यके पश्चात् श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य और श्रीवल्लभाचार्य आदिने भी अपने ग्रन्थोंमें श्रीपाण्डुरङ्ग विठ्ठलमूर्तिका वर्णन किया है। श्रीपाण्डुरङ्ग ही इस वारकरी-सम्प्रदायके एकमात्र उपास्य हैं। नाम-नामीके अभेद-चिन्तनद्वारा ही उपासना होती है। इस मूर्तिकी ध्यान, चिन्तन, पूजन, स्मरण, वन्दन आदि रूपमें भक्ति बड़ी श्रद्धासे की जाती है। श्रीविठ्ठल और श्रीराम-कृष्ण आदिके नाममें भेद नहीं किया जाता है। इस सम्प्रदायमें '**ॐ नमो भगवते वासुदेवाय**', '**श्रीरामकृष्णहरि**'-मन्त्रका भी जप किया जाता है। 'रामकृष्णहरि'—नामोच्चारणसे ही नित्यप्रति होनेवाला भजन आरम्भ किया जाता है; वीणा, ताल और मृदंग आदि वाद्योंके साथ भजनका आनन्द लिया जाता है, यह ब्रह्मरस कहा गया है। श्रीतुकाराम महाराजका कथन है[११]—'हम मृदंग, वीणा और तालके साथ, भजन करेंगे तथा ब्रह्मरसका प्रेमसे सेवन करेंगे।' भजन-कीर्तनमें संतवाणीका भी उपयोग किया जाता है। भगवत्कीर्तनमें सगुणभक्तिप्रधान अवतार-चरित्र और संतचरित्रका गायन करना ही आवश्यक माना जाता है। श्रीएकनाथ महाराजने कीर्तन-मर्यादा बतलायी है।[१२] 'प्रायः गुणकीर्तन, लीला-

७. वाचा बोलूं वेदनीती। करूं संती केलें तें॥
(श्रीतुकाराम)

८. पुण्डलीकाच्या भावार्था। गोकुळींहूनि झाला येता।
निज प्रेम भक्ति भक्ता। घ्या घ्या म्हणत से॥
(श्रीज्ञानेश्वर)

९. पांडुरंग बाळमूर्ती। गाई गोपाळ सांगाती।
घऊनिया प्रीती। उभे समचि राहिले॥
(संत तुकाराम)

१०. गीता जेणे उपदेशिली। ते हे विटेवरी माऊली॥
(संत तुकाराम)

११. लाऊनि मृदंगश्रुतिटाळघोष। सेवूं ब्रह्मरस आवडीनें।
(संत तुकाराम)

१२. सगुण चरित्रे परम पवित्रे सादर वर्णावी।
सज्जनवृंदे मनोभावे आधी वंदावी॥
जेणे करुनि मूर्ति ठसावे अंतरि श्रीहरीची।
ऐसी कीर्तन मर्यादा ही संतांच्या घरची॥
(संत एकनाथ)

कीर्तन और नामकीर्तन ही कीर्तनके तीन भेद हैं।' सत्संगमें अद्वैत तत्त्वज्ञानसहित भक्तिका निरूपण किया जाता है। श्रीमद्भागवतके सिद्धान्तके अनुसार सच्चा भक्त मोक्षनिरपेक्ष होकर भगवत्प्रेमपूर्वक भजनमें ही निमग्न रहता है। इस सम्प्रदायका भी यही परम आदरणीय विषय है। श्रीज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम आदि सभी संतोंने भगवान्से 'मोक्षनिरपेक्ष भक्ति'की ही याचना की है। भक्ति केवल साधन ही नहीं, परम साध्यस्वरूपिणी भी मानी जाती है। श्रीतुकारामका कथन है[13] 'बीज और फल भगवन्नाम हैं। सर्व कर्म और धर्म केवलमात्र भक्ति ही है। समस्त कलाओंका वर्म भी वही है। नाम समस्त श्रमका निवारण करता है।' प्रेमलक्षणा भक्ति पञ्चम पुरुषार्थके रूपमें स्वीकृत है।

इस सम्प्रदायमें श्रीतुलसीकी माला धारण करना आवश्यक है। गोपीचन्दन-मुद्राङ्कन इसका चिह्न है। अपने-अपने वर्णके अनुरूप नित्य-नैमित्तिक विहित कर्माचरण, अहिंसा, सत्य, शौचादि यम-नियमोंका यथाशक्ति पालन तथा मद्य-मांसादि निषिद्ध पदार्थोंका पूर्णतया त्याग आदि इस सम्प्रदायके आवश्यक अङ्ग हैं। निषिद्ध पदार्थोंके त्यागकी प्रतिज्ञाके विना इस सम्प्रदायमें प्रवेश नहीं हो सकता है।

यद्यपि श्रीविट्ठल पाण्डुरङ्ग इस सम्प्रदायके उपास्यदेव हैं, तथापि इसमें हरि-हरमें न्यून-अधिक भाव नहीं किया जाता है; सगुण-निर्गुण, साकार और निराकारमें भी भेद नहीं माना जाता है। भगवान् विट्ठल शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हैं। ('विष्णु' शब्द ही प्राकृतरूपमें 'विट्ठल' बना है।) इस तरहकी व्यापक दृष्टिकी उपासना इस सम्प्रदायमें प्रचलित है।

वर्तमान समयका सुशिक्षित जगत् भक्तिभावना-प्रधान सम्प्रदाय और उनके आचारके विषयमें प्रायः उदासीन और विरुद्ध दीख पड़ता है। ऐसा होनेपर भी महाराष्ट्रका सुशिक्षित जनसमुदाय इस सम्प्रदायमें पूर्ण भावनिष्ठ है। स्पष्ट रूपसे यह संत ज्ञानेश्वर, एकनाथ और तुकारामके उपदेशके प्रभावके ही कारण है। इस सम्प्रदायका कोई बाह्य वेष नहीं है। विधिपूर्वक पाण्डुरङ्ग भगवान्की उपासनाके द्वारा शान्तचित्तसे भगवत्सान्निध्य-लाभ इस सम्प्रदायका साध्य है।



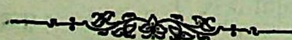
निश्चला भक्ति हो

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे यद्भाव्यं तद्भवतु भगवन्पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहु मतं जन्मजन्मान्तरेऽपि त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

हे भगवन्! मैं धर्म, धन-संग्रह और कामभोगकी आशा नहीं रखता, पूर्व कर्मानुसार जो कुछ होना हो सो हो जाय, पर मेरी यही बार-बार प्रार्थना है कि जन्म-जन्मान्तरोंमें भी आपके चरणारविन्द-युगलमें मेरी निश्चल भक्ति बनी रहे।

धिक्कुलं धिक्कुटुम्बं च धिग्गृहं धिक् सुतं च धिक्।
आत्मानं धिक् शरीरं च श्रीगोपालपराङ्मुखम्॥

(क्योंकि) जो गोपालसे विमुख है उस कुलको, कुटुम्बको, घरको, पुत्रको, आत्माको और शरीरको धिक्कार है, धिक्कार है।



१३. बीज आणि फळ हरीचे नाम। सकळ पुण्य सकळ धर्म॥
सकळ कळाचे हे वर्म। निवारी श्रम सकळ ही॥ (संत तुकाराम)

श्रीसमर्थ रामदासकी उपासना

(लेखक—श्रीनागोराव बासरकर, एडवोकेट)

श्रीसमर्थ रामदास केवल छत्रपति शिवाजी महाराजके ही गुरु नहीं थे, बल्कि तत्कालीन महाराष्ट्रके सभी संत-महात्मा उनको अपना गुरु मानते थे। दूसरे साधु-संतोंसे रामदासजीकी यह विशेषता थी कि जहाँ अन्य सत्पुरुष प्रपञ्च त्याग करके परमार्थ-साधनपर जोर दिया करते, वहाँ श्रीसमर्थ प्रपञ्च-त्यागकी कोई आवश्यकता न बतलाते हुए प्रपञ्च और परमार्थ दोनोंके साधनेका एक ही मार्ग बतलाकर राष्ट्रको फिरसे समृद्धि और उन्नतिके मार्गपर पहुँचानेमें बराखी हुए।

आपके अनेक शिष्य थे। जब गुरुजीका अन्तसमय समीप आया तो उनमेंसे किसी एक शिष्यकी आँखोंसे आँसू झरते देखकर श्रीसमर्थने उसका कारण पूछा। शिष्यने उत्तर दिया—'आपके पश्चात् कोई शङ्का उपस्थित होगी तो हम किससे पूछेंगे, मेरे मनमें ऐसा विचार आया और यही आँसुओंका कारण है।' श्रीसमर्थने कहा—"मैं 'दासबोध' ग्रन्थके रूपमें हूँ, जो प्रश्न चाहो, पूछ लो, उत्तर मिल जायगा।" अतः इस पंथकी उपासनाके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर जो उत्तर मिला है, वही सम्मान्य पाठकोंकी सेवामें निवेदन किया जा रहा है।

समर्थ श्रीरामदासजी ईश्वरके परम भक्त थे। वे बारंवार भगवान्को परम समर्थ बतलाते और प्रभुका जय-जयकार करते—'जय जय रघुवीर समर्थ'की गूँज सारे महाराष्ट्रमें फैल गयी। लोग उन्हींको 'समर्थ'के नामसे पुकारने लगे। 'दासबोध' ग्रन्थके सम्बन्धमें वे कहते हैं—'भक्तोंके अत्यन्त अभिमानी भगवान्ने कृपा करके जो समर्थ वचन कहे हैं, वही दासबोध हैं।'—

भक्तांचेनी साभिमानें। कृपाकेली दाशरथीनें।
समर्थ कृपेची वचनें। तो हा दासबोध॥

इस ग्रन्थमें विशेषरूपसे किस बातका विवेचन किया गया है और इसके पढ़नेसे क्या लाभ है?—इस प्रश्नका उत्तर ग्रन्थारम्भके सर्वप्रथम दो श्लोकोंमें ही दिया गया है तथा यह भी बतलाया गया कि उपासना-लक्षणका इसमें विवरण है—

श्रोते पुसती कोण ग्रंथ। काय बोलिलेजी येथ।
श्रवण केलियानें प्राप्त। काय आहे॥
(दास० द० १ स० १ श्लोक १)

ग्रंथा नाम दासबोध। गुरु शिष्यांचा संवाद।
येथें बोलिला असे विशद। भक्तिमार्ग॥
(द० १ स० १ श्लोक २)

मुख्य उपासना लक्षण। बोलिले असे॥
(द० १ स० १—१०)

'रोचनार्था फलश्रुतिः'—इस न्यायसे प्रथममें ही इसका अनुभव और प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाते हैं कि 'इसके श्रवण-हीसे मनुष्य अपने कुकर्मोंको छोड़ देगा। उसको इह-पर-लाभका सुगम मार्ग मिल जायगा और किसी दुर्गम साधनकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी। सायुज्यमुक्तिका वर्म मिल जायगा। आलसी लोग उद्योगी बन जायँगे। पापी पश्चात्ताप करने लगेंगे। भक्तिमार्गकी कल निन्दा करनेवाले ही आज उसकी स्तुति करते हुए दिखायी देंगे। जो कोई कलतक मूर्ख तथा अवलक्षणी समझे जाते थे, वही हीन-दीन आज सर्वप्रकारसे दक्ष और प्रवीण होते नजर आयँगे।

श्रवण केलियाचे फळ। क्रिया पालटे तत्काळ।
मार्ग सांपडे सुगम। न लगे साधन दुर्गम।
सायुज्य मुक्तिचे वर्म। ठाईं पडे॥
आळसी तेची साक्षपी होती। पापी तेचि पस्तावती।
निंदक तेचि वंदु लागती। भक्तिमार्गासी॥
जे मूर्ख अवलक्षण। जेकां हीना हूनी हीन।
तेचि होती दक्षप्रवीण। सर्व विषईं॥
(दास० द० १ स० १)

'उपासना' शब्दका अर्थ आराधना, पूजा, सेवा, अभ्यास इत्यादि है। धनुर्वेदाभ्यास और चिन्तनको भी 'उपासना' कहा गया है। विशेषतः लक्ष्य-वस्तुपर मनको केन्द्रित करके चिन्तन करनेको उपासना कहा गया है। आस् धातुको उप् उपसर्गके लगानेसे उसका अर्थ—समीप जाना—आश्रय करना होता है। ईश्वरकी संनिधिमें अपने-आपको मानना, सदैव सांनिध्य—यही सेवन करना या उपासना है। सारी इन्द्रियोंसे और मनसे यही काम होना चाहिये—

जे जे दृष्टीनें देखिले। जे जे शब्दें ओळखिले।
जे जे मनास भासले। तितुकें रूप तियेचें॥

ईश्वर-संनिधिका अनुभव या अभ्यास नवधा भक्तिके रूपमें किया जाता है। श्रवण-कीर्तन इत्यादि नौ प्रकारोंमें अन्तिम प्रकार 'आत्मनिवेदन'का है। विचार करनेपर ज्ञात होगा कि श्रवण-मननादि हर प्रकारकी भक्तिमें ईश्वर-सांनिध्य ही अभिप्रेत है। अतिसांनिध्यका नाम ही 'आत्म-निवेदन' है। इसी प्रकारको 'सङ्गत्याग' भी कहा गया है।

जे वस्तु दृष्टीस दिसेना। आणि मनास भासेना।
संगत्यागेंवीण येना। अनुभवासी॥
(दा० ४।४।६)

अनुभव घेतां संगत्यागनसे। संगत्यागें अनुभवनसे।
हे अनुभवीयासच मासे। येरां गथा गोवी॥
(दा० ४।४।७)

विविध शब्दोंसे जिस स्थितिका वर्णन किया जाता है वह परमात्म-ऐक्य आत्मनिवेदन ही है। संगत्याग, निवेदन, विदेहस्थिति, अलिप्तत्व, सहजस्थिति, उन्मनी—ये सब उस एक ही स्थितिके नाम हैं।

संगत्याग आणि निवेदन। विदेह स्थिति अलिप्तपण।
सहज स्थिति उन्मनी विज्ञान। हे सर्व ही एकरूप॥
लक्षें जयासि लक्षावें। ध्यानें जयासि ध्यावें।
ते गे तेचि आपण व्हावें। त्रिविधा प्रचीती॥
(दास० ४।४।१४)

शास्त्रप्रचीति, गुरुप्रचीति तथा आत्मप्रचीति—इन तीनों कसौटियोंपर कसनेपर भी इसीकी सिद्धता प्रकट हो सकती है। सत्-रूपी परमेश्वर या गुरुका सांनिध्य ही इसका मूल आधार है। जो ज्ञान अनेक प्रकारके प्रयोग, साधन तथा अभ्यास करनेपर भी कठिनाईसे प्राप्त होता है, वह सत्-समागम, साधु-संगति या भगवत्-संनिधानमें सहज ही प्राप्त हो सकता है। इसका प्रसिद्ध उदाहरण एकलव्यकी धनुर्वेद-साधना है। यही सत्संग या उपासनाकी महिमा है।

जे अभ्यासें अभ्यासिता नये। जे साधनें असाध्य होये।
तें हें सद्गुरुवीण काय। समजों लागे।
या कारणें ज्ञानमार्ग। कळाया धरावा सत्संग।
सत्संगें वीण प्रसंग। बोलोंचि नये॥
(दास० ४।४।२१)

दूसरी एक बात यह भी है कि भगवान् स्वयं भक्तोंके बड़े अभिमानी हैं। वे भक्तको किसी प्रकारसे गिरने नहीं देते। उसके योगक्षेमकी सारी जिम्मेवारी वे स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं। यही हाल संत-महात्माओंका है। तब जो भक्त अनन्यभावसे ईश्वर-सांनिध्यका सेवन कर रहा हो, वह किस प्रकार असफल रहेगा?

साधक भावें नमस्कार घाली। त्याची चिंता साधूसलागली।
सुगमपंथे नेबून घाली। जेथील तेथें॥
(दा० ४।६।२४)

तात्पर्य यह कि सदा भगवत्-संनिधान ही उपासना-मूल है। इसका आचरण नवविधा भक्तिसे किया जाता है। यह भक्तियोग स्वार्थ-परमार्थ, इहलोक-परलोक इत्यादि सर्व प्रकारके ध्येय प्राप्त करा देनेमें समर्थ है। जब इस मार्गसे प्रत्यक्ष परमेश्वरकी प्राप्ति भी हो सकती है, तब क्षुद्र भौतिक सुख-साधनाकी प्राप्ति क्यों नहीं हो सकती? इसपर भी यदि किसीको अनुभव ही प्राप्त करना हो, तो अपने किसी कार्यकी सिद्धिके लिये वह भक्तियोगका प्रयोग करके देख सकता है। सिद्धि निश्चित है—

भक्तिचेनी योगें देव। निश्चयें पावती मानव।
ऐसा आहे अभिप्राव। इये ग्रंथीं॥
(दा० १ स० १)

नवधा-भक्तिके प्रकार ये हैं

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

श्रीसमर्थ-पंथमें इन भक्तियोंके सम्बन्धमें जो कुछ विशेष बातें बतलायी गयी हैं, केवल उन्हींका उल्लेख विस्तारभयके कारण किया जाता है—

(१) **श्रवणम्**—भगवद्गुणानुवर्णन या इच्छित विषयको एकाग्रतासे सुनना 'श्रवण-भक्ति' है।

हातीचें रत्न जळीं गळे। गढूळ होतां ते ना ढळे।
निवांत जळ निवळे। तरीच लाभे॥

(२) **कीर्तनम्**—भगवान्‌के गुण गाना कीर्तन है—

बहुत करावे पाठांतर। कंठी धरावें ग्रंथांतर।
भगवत् कथा निरंतर। करीत जावी॥

(३) विष्णोःस्मरणम्–

नाम अखंड स्मरावे । रूपमनीं आठवावें ।
तिसरी भक्ती स्वभावें । निरोपिली ॥

(४) पादसेवनम्–

बहुधा अनुभवाची अंगे । सकळ कळती संतसंगे ।
चौथे भक्तिचे प्रसंगे । गौप्य प्रगटे ॥

(५) अर्चनम्–

काया वाचा आणि मने । चित्तें वित्तें जीवें प्राणें ।
सद्भावें भगवंत अर्चणें । या नांव अर्चन भक्ति ॥

(६) वन्दनम्–

जेथें दिसती विशेष गुण । ते सद्गुरूचे अधिष्ठान ।
या कारणें तयासि नमन । अत्यादरें करावे ॥

(७) दास्यम्–

सातवें भजन दास्य जाणावे । पडेळ कार्य ते करावे ।
सदा सन्निधची असावें । देवद्वारीं ॥
देवाचे वैभव चालवावे । नीच दास्यत्व ही करावे ।
पडले प्रसंगी सावध असावे । सर्वकाळ ॥

(दास० ४ । ७ । १९)

दास्यत्व भक्तिमें कठोर भाषाका उपयोग करना अनुचित है। अतः भगवत्-संनिधानको सदैव ध्यानमें रखते हुए साधक नम्र बने।

वचनें बोलावी करुणेची । नाना प्रकारें स्तुतीची ।
अंतरे निवती सकळांची । ऐसें वदावें ॥

(दा० ४ । ७ । २६)

(८) सख्यम्–

देवास जयाची अत्यंत प्रीती । आपण वर्तावें तेणें रीती ।
येणें करतां भगवंती । सख्यघडे नेमस्त ॥
देवाच्या सख्यत्वा साठीं । पडाव्या जिवलगांसी तुटी ।
सर्व अर्पावें शेवटीं । प्राण तोही वेंचावा ॥

भगवान्‌को अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानना चाहिये, यही सख्य है। एक पुजारीने आरतीके समय गड़बड़ करनेपर एक छोटे बालकके हाथको जलती हुई आरतीपर दबा दिया। उस समय यदि भगवत्-संनिधानका विचार रहता तो क्या पुजारी ऐसा अविवेकपूर्ण व्यवहार कर सकता ? अनन्यभावसे शरण होनेपर भगवान् अपनी अमोघ शक्तिसे उस भक्तको मूक हो तो, महापण्डित बना देते हैं; तथा पङ्गु होनेपर पर्वत लाँघनेकी शक्ति प्रदान कर देते हैं। देखिये पाण्डवोंको लाक्षागृहमें जलते हुए कैसे बचाया—

ऐसे परम सख्य धरितां। देवास लागे भक्ताची चिंता ।
पांडव लाखाजोहरीं जळतां । विवरद्वारें काढिले ॥
आपल्या मनोगता कारणे । देवावरी क्रोधास येणें ।
ऐसी नव्हेत कीं लक्षणें । सख्य भक्तिची ॥

(९) आत्मनिवेदनम्–

मी भक्त ऐसें म्हणावे । विभक्तपणेंचि भजावें ।
हें अवघेचि जाणावे । विळक्षण ॥
आपण मिथ्या साच देव । देवभक्त अनन्यभाव ।
या वचनाचा अभिभाव । अनुभवीं जाणती ॥

आत्मनिवेदन होनेपर भक्तका कोई अलग अस्तित्व ही नहीं रह जाता। अलग अस्तित्व देहाभिमानके सिवा और कुछ नहीं है—

एक मुख्य परमेश्वर । दूसरी प्रकृती जगदाकार ।
तिसरा आपणकैंचा चोर । आणिला मध्यें ॥

इस प्रकार आत्मनिवेदन होनेपर भगवत्-संनिधान या उपासनाकी पूर्णता हो जाती है।

मी कोण हे जाणावें । मीपण त्यागोनि अनन्य व्हावें ।
मग समाधान ते स्वभावें । अंगीबाणे ॥

(दा० ६ । ८ । ५०)

इस प्रकारकी उपासनाके लिये संसार-त्याग या अरण्य-सेवनकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह प्रत्यक्ष अनुभव करने और आजमाकर देखनेका विषय है। इसी जन्ममें सद्यः-प्रचीती करानेवाला है यह मोक्षमार्ग—

संसार त्याग न करितां । प्रपंचउपाधी न सांडितां ।
जनामधें सार्थकता । विचारेंचि होय ॥
हे प्रचीतीचें बोलणें । विवेकें प्रचीत पाहणें ।
प्रचीत पाहे ते शहाणें । अन्यथा नव्हे ॥
येचि जन्मी येचि काळें । संसारीं होइजे निराळे ।
मोक्ष पाविजे निश्चळें । स्वरुपाकारे ॥

यही नहीं, श्रीसमर्थ अपनी उपासनाकी शपथ खाकर कहते हैं—

ये गोष्टीस करी अनुमान । तो सिद्धची पावे पतन ।
मिथ्या वदे त्यास आण । उपासनेची ॥
(दास० ६ । ९ । ३०)

अन्तमें मैं सज्जन पाठकोंसे विनती करता हूँ कि मेरे ये शब्द तो मानो भूसेके सदृश हैं। इनके अंदर जो धान्यकणके समान सत्यकण हैं, कृपया उन्हींका स्वीकार किया जाय—

भूस सांडोनि कण घ्यावा । तैसा वाच्यांश त्यजावा ।
कण लक्षांश लक्षावा । शुद्ध स्वानुभवें ॥
(दा० ६ । १० । २५)

सत्-स्वरूप भगवान् तथा उनकी उपासना करनेवाले भक्त, दोनों समर्थ हैं। उनका सदा जय-जयकार ही होता रहेगा—

'जय जय रघुवीर समर्थ'

उपासनाकी चर्चामें जहाँ गुरु और शिष्यका वर्णन आता है, वहाँ समर्थ रामदासजीने गुरु और शिष्यके कई आवश्यक लक्षण बतलाते हुए कहा है कि तीन प्रकारकी (शास्त्र-प्रचीति, गुरु-प्रचीति तथा आत्म-प्रचीति की) परीक्षामें जाँचनेपर जो टिक सका हो, वही 'सद्गुरु' है और साधकके शरण होनेयोग्य व्यक्ति वही है। अर्थात् गुरुका श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ होना आवश्यक है। नहीं तो, जो गुरु अपने शिष्यको साधनामें नहीं लगाते, इन्द्रियदमनका अभ्यास नहीं कराते, ऐसे गुरु बाजारमें दमड़ीके तीन मिलते हों, तो भी त्यागनेके ही योग्य हैं।

शिष्यास न लाविती साधन । न करविती इंद्रियदमन ।
ऐसे गुरु अडक्याचे तीन । मिळाले तरी त्यजावे ॥
(दास० ५ । २ । २१)

कोई-कोई गुरु तो अपने-आपको सिद्धपुरुष बतलाते हैं। शिष्योंको अनुग्रह या उपदेश-मन्त्र भी देते रहते हैं। परंतु कभी-कभी अनजानमें ही उनके मुखसे स्वयं उनकी असलियत खुल जाती है। वे कहते हैं—'पूर्वकालमें कैसे-कैसे ज्ञानी तथा विरक्त भक्त होते थे। उन्हें भगवान्का प्रत्यक्ष दर्शन भी हुआ करता और अष्टसिद्धियोंका सामर्थ्य उनके पास था। उन्हें क्या कमी थी। परंतु वह बात अब हममें कहाँ है। हमारा कोरा ज्ञान व्यर्थ ही है।' श्रीसमर्थके मतमें यह स्वार्थ और असंतुष्टिका लक्षण है। ऐसे स्वार्थी पुरुष न तो सिद्ध योगी हैं और न निश्चय ही गुरु बनने योग्य हैं—

पूर्वी ज्ञाने विरक्त भक्त । तयांसी साहश्य भगवंत ।
आणि सामर्थ्य ही अद्भुत । सिद्धिचेनि योगें ॥
ऐसें तयांचे सामर्थ्य । आमुचे ज्ञानचि नुसते व्यर्थ ।
ऐसा सामर्थ्याचा स्वार्थ । अंतरीं वसे ॥
(दा० ५ । २ । ३५)

निःशेष दुराशा तुटे । तरीच भगवंत भेटे ।
दुराशा धरिती ते वोखटे । शब्द ज्ञाने कामिक ॥
म्हणोनि नवविधा भजन । नेथें प्रतिष्ठिले साधन ।
ते सद्गुरुचे लक्षण । श्रोतीं ओळखावें ॥
(दा० ५ । २ । ४०)

नाहीं उपासनेचा आधार । तो परमार्थ निराधार ।
कर्मेंवीण अनाचार । भ्रष्ट होती ॥
आचार उपासना सोडिती । ते भ्रष्ट अभक्ताचे दिसती ।
जळो तयांची महंती । कोण पुसे ॥
कर्म उपासनेचा अभाव । तेथे भक्तांचेसि (बकाध्यास मुद्रा)
झाला ठाव । तो कान कोंडा समुदाव । प्रपंची हांसती ॥
(दासबोध-दशक ५ समास २ श्लोक ५७)

इस प्रकार सिद्ध होनेपर भी गुरुके लिये निर्हेतुक नवधाभक्तिका सदैव आचरण आवश्यक बतलाया है। जो गुरु साधन करनेके लिये केवल इसलिये डरता हो कि कहीं देखनेवाले उसे साधक ही न समझ बैठें, उस गुरुमें धैर्यका अभाव स्पष्ट हो जाता है, संदेहरहित-वृत्ति, जो गुरुका मुख्य लक्षण है, यहाँ नहीं है—

मुख्य निःसंदेहपणें । सिद्ध बोलिजे ।
साधन न मने जयाला । तो सिद्धपणें बद्ध झाला ।
त्याहूनी मुमुक्षु भला । ज्ञानाधिकारी ॥
चंद्रचूडाचे (शंकराचें) वचन । सद्गुरूचें उपासन ।
गुरुगीता निरूपण । बोलिले हरे ॥
(दा० ६ । ६ । ११)

शिष्यके अनेक गुणोंका वर्णन करके एक ही श्लोकमें दिखाते हैं कि साधक ही सत्-शिष्य है और उपासना ही मुख्य है—

सदुपासना सत्कर्म । सत् क्रिया आणि स्वधर्म ।
सत्संग आणि नित्य नेम । निरंतर ॥
(५ । ३ । १३)

एक शिष्या सावधान । आता भविष्य सांगेन ।
जया पुरुषा जे ध्यान । तयास तेचि प्राप्त ॥
(५ । ६ । ६३)

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४ । ११)

इस पंथमें साधन-उपासनाके लिये सगुण भक्तिको ही अपनाया गया है। निर्गुण परमेश्वरका ज्ञान होनेपर भी सगुण उपासनाका त्याग नहीं करना चाहिये; परंतु यह निश्चितरूपसे समझ लेना चाहिये कि सगुणभक्ति एक साधनमार्ग मात्र है—

साधु संत महानुभाव। त्यांचा ऐसा अभिप्राव।
पंचभूतातीत देव। सृष्टि मिथ्या॥
म्हणोनि सृष्टि नाशवंत। जाणती संत महंत।
सगुणीं भजावे निश्चित। निश्चया कारणें॥

(६ । ६ । ५४)

ज्ञानप्राप्तिके बाद भी उपासना नहीं छूट सकती, इस सम्बन्धमें कहा है—

जो अपने आपको बड़ा मानकर साधन-मार्गसे दूर भागना चाहता है, वह तो प्रत्यक्ष ही देहाभिमानी है। उपासना शरीरकी ओरसे होती रहती है और विवेक-विचारसे देखनेपर ममत्व कहीं रहता नहीं। ऐसी स्थितिमें 'मैं उपासना क्यों करूँ?' ऐसा प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

मी थोर वाटे मनी। तो नव्हे ब्रह्मज्ञानी।
विचार पाहतां देहामिमानीं। प्रत्यक्ष दिसे॥

(६ । ७ । २५)

ज्ञान बळें उपासना। आम्ही भक्त जरी मानूंना।
तरीया दोषाच्या पतना। पावों अभक्तपणें॥

(६ । ७ । ४०)

देहास लागली उपासना। आपण विवेकें उरेना।
ऐसी हे स्थिती सज्जना—अंतरीची॥

आत्म-निवेदन-भक्ति या परमात्मामें एकात्मभावके लिये विवेक और वैराग्य, दोनोंकी आवश्यकता है—

मी कोण हें जाणावें। मीपण त्यागूनी अनन्य व्हावें।
मग समाधान ते स्वमावे। अंगी बाणें॥

(दास० द० ६ स० ८ श्लोक ५०)

'कलिमें मुक्ति नामते पावत'—गुरु तेगबहादुर

[सिख गुरुओंकी नामनिष्ठा]

(लेखक—पं० श्रीकपिलदेवजी शर्मा)

पंजाबकी गुरु-परम्पराके उदीयमान नक्षत्र परम संत श्रीगुरु तेगबहादुरजीने नाम-स्मरणको ही उपासनाका सर्वोत्तम स्वरूप बताया है। खालसा-पन्थमें दो ही बातोंपर अधिक बल दिया गया है—'नाम जपना' और 'बंड छकना' अर्थात् नामका जप करना और बाँटकर खाना। यों तो गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने भी लिखा है कि यद्यपि चारों युगोंमें नामका प्रभाव प्रत्यक्ष है, परंतु कलियुगमें तो इसका विशेष महत्त्व है—

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥

(रामचरित० बाल०)

नाम-स्मरणको कलियुगमें कल्पवृक्षके समान समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाला एवं समस्त भव-व्याधियोंको दूर करनेवाला बताया गया है—

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥

(रामचरित० बाल०)

निस्संदेह नाममें अपरिमित शक्ति है। इसीलिये तो श्रीगोस्वामीजीने निर्गुणब्रह्म तथा सगुण रामसे भी नामको बड़ा बताया है—'ब्रह्म राम ते नाम बड़' अतः मानव-जीवनको उभयविध (आन्तर-बाह्य) प्रकाशित करनेके लिये श्रीगोस्वामीपादने 'देहरी-दीपक-न्याय'से रामनाम-स्मरण करनेका सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वसुगम मार्ग सुझाया है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

(दोहावली ६)

परंतु गुरु तेगबहादुरजीकी सम्पूर्ण वाणीमें राम-नामका ही एकमात्र रस अलौकिक छटासे सुशोभित है। राम-नामका स्मरण ही उनका जीवन-सर्वस्व है। उनके जीवनमें नाम-स्मरणकी महत्ता अपनी चरम सीमाको स्पर्श करती दीख पड़ती है—कुछ एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

राम नाम नर निसि बासरमें निमिष एक उर धारै।

जमको त्रास मिटे नानक तिह अपनो जन्म सँवारै ॥

गुरुजीकी दृढ़ निष्ठा है कि यदि मनुष्य वेद-पुराण और संतमतका अनुगमन करके भी उसके परिणामस्वरूप नाम-स्मरण नहीं करता तो निश्चय ही वह पथभ्रष्ट है। उसे कौन समझावे—

कोऊ माई भूल्यो मन समझावै।
बेद पुराण साध मग सुनि करि,
निमिष न हरि गुन गावै ॥

वेदाध्ययनका परिणाम यही होना चाहिये कि मानव नाम-स्मरणमें प्रवृत्त हो। इस मतकी पुष्टि गुरुजीने अन्यत्र भी की है—

वेद पुरान पढ़ेको इहु गुनु सिमरै हरिको नामा।

उनका कहना यथार्थ ही है; क्योंकि वेद-पुराण आदिमें उसी प्रभुका ही तो गुणगान किया गया है। फिर क्यों न उनके अध्ययनसे मनुष्य नाम-स्मरणमें लगे। उन्हींके शब्दोंमें—

वेद पुरान जासु गुन गावत ता को नाम हिपे मो धरु रे।
पावन नाम जगत महि हरिको सिमर सिमर कसमल सब हरु रे॥
मानस देह बहुरि नहिं पावहि कछु उपाय मुकतीका करु रे।
नानक कहत गाइ करुणामय भवसागर कै पार उतरु रे ॥

इस दुःखमय भवजलधिको पारकर परम सुखको प्राप्त करनेका एकमेव साधन नाम ही तो है। गुरुजी कहते हैं—

कहु नानक सोई नर सुखिया राम नाम गुन गावै।
और सकल जग माया मोहिया निर्भय पद नहि पावै ॥

इसीलिये गुरुजी अपने मनको राम-नामकी प्रेरणा करते हुए कहते हैं—

रे मन राम सिउ कर प्रीत।
स्रवन गोबिंद गुन सुनहु अरु गाउ रसना गीत ॥
करि साध संगति सिमरु माधो होहु पतित पुनीत।
कालु ब्यालु ज्यों परिओ डोले मुख पसारे मीत ॥
आजु कालि पुनि तोहि ग्रसिहै समझि राखहु चीत।
कहै नानक राम भजि लै जातु अउसरु बीत ॥

नाम-स्मरणमें एक और बड़ी विशेषता है जो अन्य किसी भी साधनमें नहीं है। साक्षर हो या निपट निरक्षर, मानव हो या पशु-पक्षी, धर्मात्मा हो या पापी—नामस्मरणका फल सर्वत्र प्रत्यक्ष है। भला, गजने कौन-सा धर्म-कर्म किया या वेदाध्ययन किया, जो उसे वह पद प्राप्त हुआ जो योगीश्वर लोग कठोर तपसाधनके द्वारा पाते हैं। गुरुजी कहते हैं—

नाहन गुनु नाहन कछु बिद्या धर्म कौन गज कीना।
नानक बिरद रामका देखो अभय दान तिहि दीना ॥

यही हाल अजामिल और गणिका आदिका भी है—

मन रे प्रभुकी सरनि बिचारो।
जिह सिमरत गनका-सी उधरी ताको जसु उरि धारो ॥
अटलु भयो ध्रुअ जाके सिमरनि अरु निर्भय पद पाया।
दुख हरता इहि विधि को स्वामी तै काहे बिसराया ॥
जब ही सरनि गही कृपानिधि गज ग्राह ते छूटा।
महिमा नाम कहाँ लौं बरनौं राम कहत बंधन तिह तूटा ॥
अजामलु पापी जग जाने निमिष माहि निस्तारा।
नानक कहतु चेति चिंतामनि तै भी उतरहि पारा ॥

इतना सुगम मार्ग है—मुक्तिका यह नाम-स्मरण, फिर भी सब लोग इसे नहीं अपनाते हैं। करोड़ोंमें कोई एक इस मार्गपर चलता है। जैसे प्रभु रामचन्द्रजीने स्वयं ही लक्ष्मण-जीसे कहा है—

कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी।
(रामचरित० किष्किन्धा०)

गुरुजीने भी इसकी पुष्टि इस प्रकार की है—

जन नानक कोटनमें कोऊ भजन रामको पावे।

इस प्रकार राम-नामसे विमुख हुए और संसारके माया-जालमें फँसे हुए लोगोंकी दयनीय दशापर द्रवित होकर गुरुजी कहते हैं—

साधो इहु जगु भरमि भुलाना ॥
राम नामका सिमरनु छोड़िआ माया हाथि बिकाना ॥
मात पिता भाई सुत बनिता, ताके रस लपटाना।
जोबन धन प्रभुताके मद महि अहनिसि रहे दीवाना ॥
दीनदयाल सदा दुखभंजनु ता सिउ मन न लगाना।
जन नानक कोटनमें किनहू गुरुमुखि होइ पहचाना ॥

संसारके विषय-विकारों और मिथ्या स्नेह-सम्बन्धोंकी यह मृगतृष्णा नाम-स्मरणमें कब प्रवृत्त होने देती है ! इस उलझनकी अवस्थाका वर्णन गुरुजीने इस प्रकार किया है—

अब मैं कहा करौं री माई।

सकल जन्म बिषियन सिउ खोया सिमरिओ नाहिं कन्हाई ॥
काल फास जब गर मैं मेली तिहि सुधि सब बिसराई ।
राम नाम बिनु या संकटमें को अब होत सहाई ॥
जो संपति अपनी करि मानी छिन मो भई पराई ।
कहु नानक यह सोच रहो मनि हरि जसु कबहु न गाई ॥

जीव तभीतक संसारके विषयोंके पीछे भागता फिरता है, जबतक इसे नाम-धन नहीं मिल जाता । नाम-धनके मिलते ही इसकी कैसी अवस्था हो जाती है ? समुद्रवत् शान्त । गुरुजी कहते हैं—

माई मैं धन पायो हरिनामु ।
मनु मेरो धावन ते छूटियो करि बैठो बिसरामु ॥

माया ममता तन ते भागी उपजियो निर्मल ज्ञान ।
लोभ मोह एह परसि न साके गही भक्ति भगवान ॥

इसीलिये उन्होंने राम-नामकी महत्ता बतलाते हुए कहा है—

राम भजु राम भजु जनम सिरात है ॥
कहउ कहा बार बार समझत नहि क्यों गँवार
बिनसत नह लगे बार ओरे सम गात है ॥
सगल भरम डारि देह गोविंदको नाम लेह
अंत बार संग तेरे इहे एक जात है ॥
बिषया बिग ज्यों बिसार प्रभुको जसु हिए धार
नानक जन कह पुकार अउसर बिहात है ॥

अतः राम-नामका स्मरण ही सर्वोत्तम उपासना है ।

सूफियोंकी उपासनाका रहस्य—प्रेम

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'मुमकिन न बुवद कि यार आयद बकिनार,
खुदरा अज़ ख़याले ख़ामो अन्देशा बरार,
हर चीज़ कि ग़ैर अस्त दर सीनए तुस्त,
विसयार हिजाबेस्त मियाने तो व यार ।'

सूफी संत सरमदने सूफी-उपासनाका रहस्य बता दिया है—इन शब्दोंमें । कहता है वह—

'जबतक तेरे दिलमें बाहरी चिन्ताएँ भरी हैं, झूठी भावनाएँ भरी हैं, तबतक यह कैसे मुमकिन है कि तेरा यार, तेरा प्रेमास्पद-ब्रह्म—तुझे मिल जाय ? जबतक तेरे दिलमें ये दूसरी चीजें भरी हैं, तबतक यारसे कैसे मिल सकेगा ? तेरे और उसके बीचमें यही तो पर्दा है !'

मतलब ?

अपने प्रेमास्पदको छोड़कर और किसीका चिन्तन न करना, दिलमें उसके सिवा और किसीको न ठहरने देना, किसी ख्वाहिश, किसी इच्छा, किसी कामनाको न पनपने देना—बस, इतनी-सी ही तो उपासना है, इन प्रेममार्गी साधकोंकी । वे कहते हैं—

जिसे इश्क़का तीर कारी लगे, उसे ज़िंदगी जगमें भारी लगे ।
न छोड़े मुहब्बत दमे मर्ग तक, जिसे यार जानीसूं यारी लगे ॥
न होवे उसे जगमें हर्गिज़ क़रार, जिसे इश्क़की बेक़रारी लगे ।
हर इक वक़्त मुझ आशिके ज़ार कूं, पियारे, तेरी बात प्यारी लगे ॥
'वली' कूं कहे तू अगर एक वचन, रक़ीबोंके दिलमें कटारी लगे ॥

× × ×

सूफीमतकी, तसव्वुफ़की जान है—प्रेम । एक सूफीने बड़े अच्छे शब्दोंमें उसका वर्णन किया है—

'अगर इश्क़ न होता, इन्तज़ाम-आलमें सूरत न पकड़ता । इश्क़के बग़ैर ज़िंदगी बवाल है । इश्क़को दिल दे देना कमाल है । इश्क़ बनाता है । इश्क़ जलाता है । दुनियामें जो कुछ है, इश्क़का जलवा है । आग इश्क़की गरमी है । हवा इश्क़की बेचैनी है । पानी इश्क़की रफ्तार है । ख़ाक इश्क़का क़याम है । मौत इश्क़की बेहोशी है । जिंदगी इश्क़की होशियारी है । रात इश्क़की नींद है । दिन इश्क़का जागना है । नेकी इश्क़की कुरबत है । गुनाह इश्क़से दूरी है । बिहिश्त इश्क़का शौक़ है । दोज़ख़ इश्क़का जौक़ है ।'

सूफी-मतमें ऐसा माना जाता है कि सारी सृष्टिमें उस अल्लाहकी ही झाँकी दिखायी पड़ रही है । जिधर नज़र डालते हैं, अल्लाह-ही-अल्लाह है । उसे पानेका एक ही रास्ता है और वह है—प्रेम, इश्क़, मुहब्बत !

× × ×

सूफी-साधनाकी चार हालतें मानी गयी हैं—

शरीअत, तरीक़त, मारिफ़त और हक़ीक़त

शरीअत

किसी भी उपासनापद्धतिमें आचार और विचार मुख्य होते हैं। सूफ़ीलोग विचारपर,—हृदयकी शुद्धिपर सबसे ज्यादा जोर देते हैं, फिर भी वे इस्लामके इन चार आचारोंको छोड़ते नहीं। ये आचार हैं—(१) सलात (प्रार्थना, नमाज़), (२) ज़कात (दान), (३) सौम (उपवास, रोज़ा) और (४) हज (तीर्थयात्रा)।

शरीअतमें ये चारों आचार निभाने पड़ते हैं।

क़ुरानशरीफ़का पाठ—'तिलवत' करना होता है। रोज पाँच दफा 'नमाज़' पढ़नी होती है। चुनी हुई कुछ आयतोंका पाठ करना पड़ता है। इसे कहते हैं—'अवराद'।

अल्लाहका 'जिक्र' उसका स्मरण करना पड़ता है। जिक्रके कई भेद हैं। जैसे, 'जिक्रेजली'में 'अल्लाह' शब्दका जोरसे उच्चारण किया जाता है। 'जिक्रे-ख़फ़ी'में मन्द स्वरसे मुँह बंद करके नाम लिया जाता है। 'मुराकबा'में साधक अल्लाहो हाजिरी, अल्लाहो नाजिरी, अल्लाहो सहीदी, अल्लाहो-माई आदिका उच्चारण करके अल्लाहका ध्यान करता है। 'मुजाहिदा'में साधक चित्तकी वृत्तियोंको रोकता है। उसे आँख रहते हुए न देखनेका, कान रहते हुए न सुननेका, मुँह रहते हुए न बोलनेका, जीभ रहते हुए स्वाद न लेनेका अभ्यास करना पड़ता है।

अल्लाहकी फ़िक्र भी करनी होती है। उसके गुणोंका चिन्तन करना पड़ता है। अल्लाहका 'समा' उसके नामका कीर्तन भी करना होता है।

'हू, अल्लाह हू'—सूफ़ियोंका परम प्यारा मन्त्र है।

तरीक़त

शरीअतके नियमोंका पालन करनेसे साधक गुरुदीक्षा पानेका अधिकारी बनता है। उसे गुरुकी आज्ञाका पालन करनेकी क़सम लेनी पड़ती है। मुर्शिद—गुरु मुरीद—साधकको रास्ता बताकर उसमें अल्लाहके इश्क़की चिनगारी सुलगा देता है।

बाहरी क्रियाओंसे ऊपर उठकर हृदयकी शुद्धताद्वारा अल्लाहका ध्यान करना तरीक़त है। तरीक़तमें साधकको अहंभाव छोड़नेका और इन्द्रियोंपर अधिकार करनेका अभ्यास करना पड़ता है। इसके लिये उसे भूख-प्यास सहनी पड़ती है। मौन रहना पड़ता है और एकान्तमें रहकर साधना करनी पड़ती है।

मारिफ़त

मारिफ़त कहते हैं परम ज्ञानको। पर वह कोरा-कोरा ज्ञान नहीं होता। उसमें अनुभूति भरी रहती है। इसीका नाम है—इश्क़, मुहब्बत, प्रेम। इसीको 'वस्ल' कहते हैं, इसीको 'वज्द'। साधक उसमें डूबकर दुनियाको ही नहीं, अपने-आपको भी भूल जाता है।

सात मुक़ाम

परंतु मारिफ़तकी चढ़ाई आसान नहीं होती। उसके लिये इन सात मुक़ामोंसे गुजरना होता है—

तौबा (प्रायश्चित्त, अनुताप), ज़हद (अपनी इच्छासे दारिद्रयको अपनाना), सब्र (संतोष), शुक्र (अल्लाहके प्रति कृतज्ञता), रिज़ाअ (दमन), तवक्कुल (अल्लाहकी दयापर, उसके रहमपर पूरा भरोसा) और रज़ा (अल्लाहकी मर्जीको अपनी मर्जी बना लेना)।

तौबा—कहनेको तो छोटा-सा एक शब्द है, पर है वह गुरु-गम्भीर। अबू बकर केतानी कहता है कि उसके भीतर ये छः भाव भरे पड़े हैं—

(१) पहले किये गये पापोंके लिये खेद।

(२) फिरसे पापकी तरफ झुकाव न हो, इसकी सावधानी।

(३) अल्लाहके लिये किये जानेवाले कामोंकी कमियाँ दूर करना।

(४) दूसरोंके प्रति जो गलत व्यवहार हो गया हो, उसका बदला चुका देना।

(५) गलत भोगोंसे बढ़ा हुआ शरीरका खून-मांस सुखा देना, उसे कम कर देना। और—

(६) जिस मनने पापका मज़ा चखा है, उसे साधनाकी कड़ुवाहटका भी मज़ा चखाना !

तौबासे पीड़ित मानव ही भोगोंसे विरत हो सकता है। यह अनुताप यदि भयजनित हो तो भी काम करता है, पर जब वह प्रेमजनित होता है तो वह ज्यादा अच्छा ठहरता है।

ज़हद—स्वेच्छा-दारिद्रयसे साधना शीघ्र फलवती होती है। ग़रीबी अपनाना, ग़रीबोंसे तादात्म्य स्थापित करना और अपनी जरूरतोंको कम-से-कमपर ले आना ज़हद है।

सब्र–संतोष ! जो मिल जाय, जैसा मिल जाय, जब मिल जाय—चाहे जिस हालतमें रहना पड़े, प्रसन्नचित्तसे स्वीकार करना 'सब्र' है।

शुक्र–अल्लाहके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते रहना 'शुक्र' है।

फू पलके उपकार रावरे समुझि सोचि जिय नीके।
मिट्यो न कुलिसहुँ तें कठोर हिय कबहुँ प्रेम सिय पी के॥
(गो० तुलसीदासजी)

रिज़ाज़–इन्द्रियोंका दमन। बेलगामकी इन्द्रियाँ मनुष्यको हरदम गड्ढेमें ढकेलनेको तैयार रहती हैं। साधकको उनसे कदम-कदमपर सावधान रहनेकी तो जरूरत है ही, हर वक्त उनपर नियन्त्रण रखना भी बहुत जरूरी है।

तवक्कुल–मालिककी कृपापर पूरा भरोसा।

रिज़ा–सुख-दुःख, हर्ष-शोकमें समानता रखना। मालिककी मर्ज़ीमें खुश रहना। भूलकर भी कोई शिकवा-शिकायत न करना।

कहते हैं कि एक फकीर कई दिनोंसे भूखा था। दिलमें इच्छा पैदा हुई कि इस समय कोई हलुवा लाता। थोड़ी ही देरमें एक आदमी हलुवासे भरा थाल लेकर खिदमतमें हाजिर हुआ।

फकीरने पूछा–'क्यों लाये ?'

बोला–'आपकी मिन्नत मानी थी, इसलिये लाया हूँ।'

फकीरने सिर हिलाकर उसे वापस कर दिया। कहा—'वापस ले जाओ। हमारे कामका नहीं है।'

एक पहर बाद वही आदमी फिर हलुवा भरा थाल लेकर फकीरकी खिदमतमें हाजिर हुआ।

फकीरने उसे लेकर बड़े प्रेमसे खाया।

चलने लगा, तो वह शख्स पूछ ही तो बैठा,—'हुजूर, हलुवा तो वही था। पहले आपने इसे लौटा दिया था। बादमें इसीको कबूल कर लिया! आखिर ऐसा क्यों ?'

फकीर हँसा! बोला—'बेटे! उस वक्त मेरे मनमें यह ख्वाहिश पैदा हुई थी कि कहींसे हलुवा आये तो खाऊँ। नफ्सकी ख्वाहिशसे कोई चीज मिले तो उसे हर्गिज नहीं लेना चाहिये, वर्ना गुनहगार बनना पड़ता है। बादमें जब तू यह थाल दुबारा लाया तो मेरी पहलेकी ख्वाहिश मर चुकी थी। मैं समझ गया कि मालिकने इसे भेजा है। इसको लौटाना गुनाह होता; इसलिये मैंने मजे ले-लेकर उसे खाया।'

यह है तवक्कुल और यह है रज़ा।

× × × ×

इन सात मुकामोंको पार करके मुरीद मारिफ़त पानेका अधिकारी बनता है।

इसके आगेकी मंजिल है।

हक़ीक़त

हक़ीक़त–साधन नहीं, साधककी परम अनुभूति है। यहाँ पहुँचकर साधक संसारके दुःख-सुखसे मुक्त हो जाता है। अल्लाहके सिवा उसे और कुछ नहीं सुहाता।

किसकी शादी किसका ग़म,
हू अल्लाहू दम पर दम।

× × × ×

सूफी साधनामें प्रेमकी ही बलिहारी है। रात-दिन प्रेमास्पदका चिन्तन करना, उसीकी लौ लगाये रहना साधकका काम रहता है। प्रेमी जब प्रेमरसमें डूब जाता है तो सारी दुनिया अलग खड़ी रहती है। सारे भेद-भाव डूब जाते हैं। न किसीकी चिन्ता, न किसीकी फ़िक्र, न किसीका डर, न किसीसे कोई वास्ता। उसे तो घट-घटमें उसी प्यारेकी, उसी प्रियतमकी झाँकी दीख पड़ती है।

आशिकोंको इम्तियाज़े दैरो काबा कुछ नहीं।
उसका नक्शे पा जहाँ देखा वहीं सर रख दिया॥

× × × ×

सूफी उपासनामें प्रेम ही मूल मन्त्र है। उस प्रेमकी प्राप्तिके लिये हृदयको शुद्ध बनाना पड़ता है। तौबासे शुरुआत होती है—

'अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेल बोई।'
(मीराँबाई)

यह प्रायश्चित्त, यह तौबा दिलसे होता है, दिखावटी नहीं। यह शेख साहबका वह तौबा नहीं, जिसके लिये कहा है—

शबको मय खूब सी पी, सुबह को तौबा कर ली,
रिन्दके रिन्द रहे हाथसे ज़न्नत न गयी।

दिखावटी तौबा इस रास्तेमें काम नहीं करता। यहाँ तो सच्चे तौबासे प्यारेके मिलनेका दरवाज़ा खुलता है।

हृदयशुद्धिके बाद ही तो—

दिलके आईनेमें है तस्वीरे यार
जब ज़रा गर्दन झुकायी देख ली।

प्रेमका यह मार्ग भारतीय उपासनामें भी वैसा ही है जैसा सूफी-उपासनामें। इसके लिये सर्वस्व त्याग करके आगे बढ़ना होता है—

प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देय लै जाय॥

सूफी भी कहता है—

तरीक़े फ़नामें क़दम रखके पूछो,
मुहब्बतकी रस्में मुहब्बतकी राहें।

मीराँबाईकी उपासना-धारा

(लेखक—श्रीव्योमकेश भट्टाचार्य)

श्रीकृष्ण-प्रेमोन्मादिनी मीराँका असीम आशीर्वाद जीवके साधन-पथका श्रेष्ठ अवलम्बन है। यौवनके प्रारम्भसे लेकर वृद्धावस्थामें अन्तिम क्षणतक इस जीवनकी वे ही उपास्य देवी हैं। उनके आशीर्वादसे ही मीराँकी पवित्र जीवनीके विषयमें मीराबाई आदि ग्रन्थोंकी रचना तथा 'मीराँवाणी-प्रचार' नामक संस्थाकी स्थापना हुई है। 'कल्याण'की अशेष कृपासे आज मीराँकी उपासना-पद्धतिपर कुछ प्रकाश डालनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मीराँबाईके सम्बन्धमें स्वामी आनन्दस्वरूपने लिखा है कि 'मीराँ राधा, ललिता, चम्पकलता अथवा अन्य किसी गोपीका अवतार थी।' भक्तनामावली ग्रन्थके प्रणेता ध्रुवदासजीने लिखा है—

लाज छाड़ि गिरिधर भजी करी न कछु कुलकानि।
सोई मीराँ जग बिदित प्रगट भक्ति की खानि॥
ललिता हूँ लइ बोलि कै तासो हो अमिहेत।
आनँद सो निरखत फिरै बृंदाबन रसखेत॥

'मीरा-माधुरी' ग्रन्थ-प्रणेताने लिखा है कि 'मीराँकी भक्ति स्वभावज थी। वे पूर्वजन्ममें स्वयं ही गोपी रह चुकी थीं। उन्होंने श्रीकृष्णकी पतिभावसे उपासना की थी।'

मीराँके पूर्वजन्मके सम्बन्धमें 'मीरा-सुधासिन्धु' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि 'व्रजमें बरसानेकी एक गोपीका विवाह नन्दगाँवके कृष्ण-सखा एक गोपके साथ हुआ था। जब गोप गौना करानेके लिये बरसाने आया तो विदा करते समय गोपीकी माँने अपनी लड़कीको सावधान करते हुए कहा कि नन्दगाँवमें एक चतुरचूडामणि रहता है। उसकी दृष्टि किसीके ऊपर पड़ गयी तो फिर कोई बचाव नहीं है। वह मन-प्राण तथा सर्वस्व हरण कर लेता है। यदि वह रास्तेमें मिल जाय तो घूँघट मत खोलना।'

उसका रथ जैसे ही संकेत-स्थानके प्रेमसरोवरके पास पहुँचा तो गोपसखा कन्हैयाने आकर मुख दिखाने और प्रथम बार मुखावलोकनके लिये मिठाईकी माँग की। बहुत अनुनय-विनय की गयी, परंतु वह तो यों ही छोड़नेवाला था नहीं। गोपी अपने घूँघटको और भी लंबा करके पत्थरकी-सी बनकर बैठ गयी, परंतु अन्तमें बोल पड़ी—'तुम क्या देखोगे? मेरा सिर देखो।' निराश होकर कन्हैया रथ छोड़कर चला गया। कुछ दिनोंके बाद इन्द्रके प्रकोपसे व्रजमें भीषण बाढ़ आ गयी। त्राहि-त्राहि मच गयी। व्रजवासियोंकी करुण-प्रार्थना सुनकर नन्दनन्दनने गिरिराजको अँगुलीपर उठा लिया। व्रजके साधु-संत, गोप-गोपी, धेनु-वत्स—सबने गिरिराजकी छायाके तले आश्रय लेकर अपने प्राण बचाये। बरसानेकी वह गोपी भी माँका उपदेश भूलकर प्राण-रक्षार्थ गिरिराजके आश्रयमें आयी। वहाँ क्या देखती है कि श्यामसुन्दर पीताम्बरधारी वही कन्हैया, जिसने उसका मुखावलोकन करके मिठाई माँगी थी, आज दो हाथोंमें वंशी लिये, एक हाथ नन्दबाबाके कंधेपर रक्खे और एक हाथपर गिरि-गोवर्द्धनको उठाये व्रजवासियोंकी रक्षा कर रहे हैं। गोपीको लगा कि उसने बहुत बड़ा अपराध कर दिया। आँसू बहाते-बहाते उसने श्यामसुन्दरके चरणोंमें स्थान पानेकी अभिलाषा की। श्रीकृष्ण भगवान् बोल उठे—'इस शरीरके द्वारा तुमने मेरा अपमान किया है, इस कारण इस जन्ममें तुम मुझको नहीं पा सकती, परंतु दूसरे जन्ममें तुम मुझको प्राप्त करोगी।'

युग-युगान्तमें युग-भ्रष्टा, शाप-ग्रस्ता वही गोपी राजस्थानके मेड़ता राज्यके कुड़की नामक स्थानमें आविर्भूत हुई और शिशुकालमें ही लोक-लाज, कुलकी मर्यादा

त्यागकर, घूँघटके प्रति वीतश्रद्ध होकर श्रीकृष्ण-प्रेम-पागलिनी हो गयी। दलाल जेठालाल बड़ीयालने एक स्थानमें लिखा है—'मीराँके जन्म-कालमें एक अपूर्व ज्योति प्रकट हुई थी।' चित्तौड़गढ़में रहते समय स्वामी आनन्दस्वरूप ब्रह्मचारी महाराजने शोध करके कहा था कि 'मीराँके जन्मस्थानमें एक अपूर्व वैशिष्ट्य है। मरुस्थलमें होते हुए भी वहाँ सैकड़ों तुलसीके कुञ्ज हैं। मीराँकी जन्मभूमि कुड़कीको देखते समय मैंने स्वयं इसे प्रत्यक्ष किया है।'

चार वर्षकी अवस्थामें मीराँने अपनी माँसे कहा था—

'माई, म्हाने सुपनेमें परण गया जगदीस।'

ये जगदीश ही गिरिधर गोपाल हैं।

राजस्थानकी मर्यादाके अनुसार राजपरिवारकी नारियाँ असूर्यम्पश्या होती हैं, लंबा घूँघट निकालती हैं। युगभ्रष्टा, अभिशाप-ग्रस्ता मीराँ जब सयानी हुई तो उसने घोषणा की—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई॥
तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई।
छाड़ दई कुलकी कान का करिहै कोई॥
संतन ढिग बैठ बैठ लोक लाज खोई।

मीराँको गिरिधर गोपालकी चिन्मय मूर्ति मिली थी एक साधु-महात्माके द्वारा। साधनाके साथ-साथ मीराँने गिरिधर गोपालकी सेवा आरम्भ कर दी थी।

'कबहुँ प्रगट, कबहुँ मानस-पूजा।'

मीराँकी उपासना थी—प्रभुकी पतिके रूपमें सेवा करना, स्नान कराना, भोग-राग तैयार करके पहले वे स्वयं चख करके देखतीं कि कहीं नमक तो नहीं ज्यादा पड़ गया; क्योंकि इससे प्रभुको कष्ट होगा। सांसारिक दृष्टिसे यह अपराधजनक है। यहाँ याद आती है प्रभुकी लीलाकी एक बात। एक बार श्रीकृष्ण पेट-दर्दका स्वाँग बनाकर प्रेमी भक्तकी चरणरजकी माँग कर बैठे। नारदजी महाराज ब्रह्माजी और शिवजीसे लेकर त्रिभुवनमें चारों ओर घूम आये भक्तकी चरण-रजकी खोजमें। भगवान्को चरण-रज देनेका किसीका साहस न हुआ। अन्तमें व्रजकी गोपाङ्गनाओंने नारदकी प्रार्थना पूर्ण की। इस अपराधके लिये व्रजकी वे गोपियाँ नरककी यन्त्रणा भोगनेके लिये भी प्रस्तुत हो गयीं। 'कुछ भी हो, उनके प्राणनाथके पेटका दर्द मिट जाय।' गोपीजन श्रीकृष्णके सुखसे सुखी हैं। मीराँ भी इसी प्रकार श्रीकृष्णकी सेवामें ही आनन्दमग्न थी।

मीराँकी उपासनामें था प्रियतमकी विरह-ज्वालामें दग्ध होना—

मैं बिरहिण बैठी जागूँ जगत सब सोवै री आली!
बिरहिण बैठी रंगमहल में मोतियन की लड़ पोवै।
एक बिरहिण हम ऐसी देखी अँसुवन माला पोवै॥
तारा गिण-गिण रैन बिहानी सुख की घड़ी कब आवै।
मीराँके प्रभु गिरिधर नागर जब मिलकर बिछुड़ न जावै॥

इस विरह-ज्वालामें गिरिधर गोपालकी सेवा! प्रभुकी तृप्तिके लिये माला गूँथकर उनका श्रृङ्गार करना। नाच-गाकर उनको तुष्ट करना—

मैं तो गिरिधर आगे नाचूँगी।
नाच नाच पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमीजन कौं जाचूँगी॥

इस प्रकार मीराँ साधनामें अग्रसर होने लगीं। कहाँ वे बरसानेकी गोपी और कहाँ आज राजपूत-कुलरमणी। पूर्वजन्मकी स्मृति उनके अन्तःकरणमें जाग उठी, इसलिये उन्होंने अपने भजनमें स्पष्ट कहा—

'मैं तो गिरिधर के घर जाऊँ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ॥'

मीराँ बारंबार पूर्वजन्मकी प्रतिश्रुतिका स्मरण कराके कहती है—

थाँनै काँई काँई कह समझाऊँ, म्हारा बाला गिरिधारी।
पूर्व जनम की प्रीत हमारी, अब नहिं जात निवारी॥

मीराँने अपनी ननद ऊदाबाईको बात-ही-बातमें कहा था—

भाव भजन भूषन सजे, सील सजे सिंगार।
ओढ़ी चूनर प्रेम की (म्हारा) गिरिधरजी भरतार॥

केवल इतना ही नहीं, मीराँने अन्तमें अपनी अन्तरात्माकी वाणी प्रकटरूपसे व्यक्त कर दी—

पूरब जनम की मैं हूँ गोपिका,
अध विच पड़ गयो झोल रे।

गोपीभावकी उपासना वैष्णव-साधनाकी एक प्रधान विशिष्टता है। जीव प्रकृतिकी पुरुषोत्तमके सङ्ग मिलनकी

लीला ही मधुरभावकी उपासना है। इस विश्वमें जो कुछ हो रहा है, सब प्रकृतिका खेल है। इस खेलके बंद हो जानेपर 'विश्व'नामकी कोई वस्तु नहीं रह जाती। मूलमें प्रकृति भी एकाकिनी और अचला रहती है। पुरुषके सांनिध्यके बिना वह भी कुछ कर नहीं सकती। पुरुष देखता है, भोग करता है, तब इस सोहागमें रंगमयी प्रकृति नाना प्रकारकी विचित्र लीला-लहरियोंसे विश्वको विकसित करती है; किंतु जैसे ही उसे ज्ञात होता है कि पुरुष अब कुछ भी भोग नहीं करता, तो वह अभिमानिनी पलमात्रमें अपनेको संयत कर लेती है। उसकी सारी लीला अन्तर्हित हो जाती है, खेल बंद हो जाता है। यह जो पुरुषको दिखलानेके लिये, उसको भोग करानेके लिये प्रकृतिका विलास है, इसी भावके मूलमें मधुरभावका संकेत विद्यमान है। मीराँ इसी मधुर-भावकी रसिका थीं।

साधनाके प्रथम सोपानपर जाकर साधक कहता है—'मैं उसका हूँ'। '**इतः पूर्वं मनोबुद्धिदेहधर्माधिकारतः**'—(इससे पूर्व मन-बुद्धि-देह-धर्मके सारे अधिकार) तुम्हारे चरणोंमें समर्पण कर चुका हूँ। तुम कृपा करके मुझको अपना लो। अनेक जन्म-जन्मान्तरोंमें न जाने कितना रास्ता तय करके वृन्दावनमें आया हूँ। मुझको स्वीकार कर लो।

द्वितीय सोपानमें साधक कहता है,—'वे मेरे हैं; तुम मेरे हो। मुझे पैरोंसे कुचल दो, असीम यातना दो, कोई हर्ज नहीं, तथापि हे प्रभो! तुम मेरे हो, तुम मेरे ही हो।'

प्रथम भाव 'तदीया रति' है और द्वितीय भाव 'मदीया रति'। यह मदीया रति ही व्रजका 'गोपीभाव' है। मीराँ मदीया रतिकी पूर्ण अधिकारिणी हो गयीं।

मथुरा और द्वारका-लीलामें सेवककी स्वार्थबुद्धि है। दोनों ही सेवाएँ सकाम हैं और वृन्दावनलीलामें गोपीजनका आनन्द है—प्रभुकी सेवा करनेमें। उस आनन्दके सामने ब्रह्मानन्द भी तुच्छ है। गोपीजन भावानन्दमें केवल बाह्य-आभ्यन्तरको विस्मृत हो जाती हों, ऐसी बात नहीं है; वह अन्तर और बाहरको एक करके कहती है—'प्रभु! तुम आनन्दित होओ। हमारा उपभोग करके, हमारा सर्वस्व लेकर तुम सुखी होओ। हमारा कहकर कुछ भी रहने न पाये। तुम्हारे ही रसमें हम रसिका हैं।' मीराँने अपनी साधनाके स्तरमें अपने लिये कुछ भी नहीं रक्खा। वह अपना सर्वस्व प्रभुको समर्पण करके उन्हींके रसमें रसिका हो गयीं।

मीराँ थीं—पूर्ण वैष्णवी। यद्यपि मीराँके भजनमें विष्णु भगवान् या शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी नारायणका कोई उल्लेख नहीं मिलता। विष्णु भगवान् और श्रीकृष्णमें स्वरूपतः अभेद है, किंतु रसतः पार्थक्य है। मक्खन, छेना, दुग्धका सार—सब स्वरूपतः एक हैं। किंतु उनके स्वादमें तारतम्य रहता है। श्रीनारायणमें नियत ईश्वरावेश नित्य है और श्रीकृष्णमें नित्य गोपावेश है। लक्ष्मीजी और व्रजाङ्गनाओंमें तत्त्वतः भेद न होते हुए भी रसगत भेद है। श्रीरासोत्सवमें निखिल माधुर्य-प्रकर्षण श्रीकृष्णके भुजद्वयके द्वारा आलिङ्गित होकर व्रजाङ्गनाओंने जो आनन्द प्राप्त किया था, लक्ष्मीजी स्वयं उसको प्राप्त नहीं कर सकतीं। लक्ष्मीजीका नारायणमें 'तदीया' रतिभाव है और व्रजाङ्गनाओंका श्रीकृष्णमें 'मदीया' रतिभाव है। व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णकी अपेक्षा नहीं करतीं। श्रीकृष्ण ही उनकी अपेक्षा करते थे। रासमण्डलमें गोपियाँ एक दूसरेका हाथ पकड़कर नृत्य कर रही थीं। अचानक प्रेमावेगमें श्रीकृष्णने स्वतः प्रवृत्त होकर गोपियोंको हृदयसे लगा लिया। यही गोपीजनकी विशेषता है।

मीराँके भजनमें श्रीराधाजीको भी कोई स्थान नहीं मिला है। प्रश्न हो सकता है कि श्रीराधा या सखीवृन्दके आनुगत्यके बिना गोपीभावकी उपासना सम्भव नहीं है। परंतु मीराँकी साधनापद्धतिमें इसका व्यतिक्रम पाया जाता है। मीराँ प्रत्येक क्षण पूर्वजन्मकी स्मृतिको मनमें जाग्रत् रखकर सीधे-सीधे ही अपनेको व्रजगोपी मानकर ही श्रीकृष्णकी उपासना सेवाद्वारा गोपीभावसे करती थीं। 'मीराबाई' ग्रन्थके प्रणयनके समय यह प्रश्न आया था कि मीराँ चार वैष्णव सम्प्रदायोंमेंसे किस सम्प्रदायकी थीं। श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेवके द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय मध्वसम्प्रदायकी मधुरभावकी उपासनाके साथ मीराँकी उपासनाका पूर्ण सामञ्जस्य है परंतु श्रीमत्सुन्दरानन्दने अपने 'परतत्त्व-सीमा श्रीकृष्णचैतन्य' नामक ग्रन्थमें प्रमाणित करनेकी चेष्टा की है कि महाप्रभुका सिद्धान्त मध्वसम्प्रदायके अन्तर्भुक्त नहीं है, बल्कि "महाप्रभुने स्वयं चार वैष्णव सम्प्रदायोंके अतिरिक्त 'अचिन्त्यभेदाभेद-' सिद्धान्तरूपी गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायका प्रवर्त्तन किया है।" महाप्रभु चैतन्यदेव तथा रामानन्दरायके द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्तके अनुसार चलनेवाली साधना वैष्णवसम्प्रदायके ही अन्तर्गत है, इसमें संदेह नहीं। अतएव मीराँबाईकी साधनाको

अवश्य ही वैष्णवसम्प्रदायमें गोपीभावकी उपासनाके रूपमें ग्रहण करना चाहिये । इसको 'श्रीकृष्ण-सेवक-सम्प्रदाय' कहा जाय तो क्या आपत्ति है ? मीराँके इष्टदेव श्रीकृष्ण हैं, उनकी उपासना-पद्धति गोपीभावमें मधुर रसकी है, द्वैत-भाव है और सेवा माध्यम है ।

श्रीकृष्णप्राणा राजरानी मीराँकी जय !

महापुरुष श्रीमन्त शंकरदेव और उनकी भक्ति-उपासना

(लेखक—श्रीनवरुणजी वर्मा)

परम कृपालु श्रीमन्त शंकरे
लोकक करिया दया ।
हरिर निर्मल भकति प्रकाश
करिला शास्त्रक चाया ॥

—नामघोषा

अपने गुरु, भारतके पूर्वाञ्चलमें वैष्णव-धर्मके महान् प्रवक्ता महापुरुष श्रीमन्त शंकरदेवकी वन्दनामें माधव-देवने अपनी सर्वोत्तम कृति 'नामघोषा' में उपर्युक्त पदका उच्चारण करते हुए भक्ति-भावसे जिस प्रकार आपका स्मरण किया है, उसीसे शंकरदेवकी महत्ता प्रकट है ! शंकरदेवकी वन्दनामें माधवदेवका और एक प्रसिद्ध पद यों है—

हरि नाम रसे अमृत निधिक बान्धि
गुप्त करि थैला देव गणे ।
दयालु शंकरे पाइ तुलि मुद भाङि दिला
सुखे पान करा सर्व जने ॥

अर्थात् 'देवताओंने हरि-नाम-रसरूपी अमृत-निधिको बाँधकर छिपा रक्खा था । दयालु शंकरने उसे पाकर बन्धन तोड़ दिया, जिससे सभी लोग उसका पान कर सकें ।'

वस्तुतः पूर्वाञ्चलका मध्यकालीन सामाजिक और धार्मिक इतिहास नाना प्रकारकी रूढ़ि-परम्पराओं, अन्ध-विश्वासों और भ्रान्तियोंके जालोंसे समावृत है । बौद्ध-धर्मकी पतनावस्थामें वज्रयानकी अवाञ्छनीय आचार-पद्धतियों तथा तान्त्रिक वामाचारकी प्रक्रियासे समूचा जन-जीवन आक्रान्त था और धर्मकी मूलभूत चेतना अन्तर्हित होकर विविध पंथोंके यौनाचारों एवं अतिचारोंमें भयावह अभिवृद्धि हो रही थी । शैवों और शाक्तोंकी पूजा—उपासना-पद्धति भी बलिविधान और श्मशान-साधना आदि बाह्याडम्बरोंमें फँसकर जनताको मार्ग-भ्रष्ट कर रही थी । विभिन्न वादोंमें फँसी हुई जनताकी चित्तवृत्ति इस भयावह अन्धकारसे निर्मुक्तिका मार्ग पानेके हेतु तड़प रही थी । राजदरबारों तथा धार्मिक स्थलोंमें पाखण्डियोंके अड्डे बने हुए थे । इसी कालमें महापुरुष शंकरदेवका आविर्भाव इस भूखण्डपर नव-सूर्योदय ही सिद्ध हुआ । आपने न केवल धर्मके नामपर चलनेवाले बाह्याडम्बरोंका ही खण्डन किया अपितु समूचे पूर्वाञ्चलकी जनताको एक ऐसे भक्तिमूलक धर्मसूत्रमें संग्रथित कर दिया, जिससे वह नवीन प्राणोन्मादनासे उज्जीवित हो उठी ।

श्रीशंकरदेवका जन्म असमके नौगाँव जिलेके बरदोवा नामक स्थानमें शक संवत् १३७१ के आश्विन महीनेकी शुक्लपक्षकी दशमी तिथिको हुआ था । आपके पिता कुसुमवरको उनके गुणोंके कारण 'शिरोमणिभुजा' की उपाधि मिली थी । आपकी माता सत्यसन्धादेवी परम साध्वी थीं । शैशवावस्थामें ही शंकरदेवके पिता-माता स्वर्गवासी हो जानेके कारण उनका पालन-पोषण दादी खेरसुतीने किया था ।

बारह वर्षके होनेपर आपको महेन्द्र कन्दलीकी पाठशालामें प्रवेश कराया गया । थोड़े ही दिनोंमें अपनी महान् प्रतिभाके चमत्कारसे शंकरदेव 'अप्रमादी पण्डित' बन गये । वर्ण-परिचय होते ही आपने गम्भीर भावपूर्ण ऐसी एक कविताकी रचना कर डाली, जिससे सभी चकित रह गये । उस कविताकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

करतरु कमरु कमलदल नयन ।
भव दव दहन गहन वन शयन ॥
नपर नपर पर सतरत गमय ।
समय ममय भय ममहर सततय ॥
खरतर वर शर हत दशवदन ।
खगचर नगधर फणधर शयन ॥
जगदघ मपहर भवभय तरण ।
पर पद रज लय कमरुज नयन ॥

छात्रावस्थामें ही आपने 'हरिश्चन्द्र-उपाख्यान' काव्यकी रचना की थी, ऐसा विद्वानोंका मत है। इसके बाद सूर्यावतीदेवीका पाणिग्रहण कर आपने गार्हस्थ्य-जीवनमें प्रवेश किया। कुछ दिन बाद सूर्यावतीका स्वर्गवास होनेपर आपके हृदयमें वैराग्य जगा और बारह सालतक भारतके विभिन्न स्थानोंकी लगातार तीर्थयात्रा की तथा अनेक भक्तों और आचार्योंके सत्सङ्गका लाभ उठाया।

इस तीर्थ-यात्रासे लौटकर आपने पहले-पहल बरदोवामें ही सत्र और कीर्तन-घरकी स्थापना की तथा भक्तिरसात्मक वैष्णव-धर्मका व्यापक प्रचार आरम्भ किया। उसी समय कछारियोंने उनपर तरह-तरहसे अत्याचार करना शुरू किया। फलस्वरूप अपने शिष्योंके साथ आप आहोम राज्यके अन्तर्गत माजुलीके धुँवाहाट या बेलगुरी नामक स्थानमें चले आये। यहीं आपके प्रमुख शिष्य माधवदेवके साथ आपका प्रथम मिलन हुआ था।

वैष्णव-धर्मका प्रचार दिनों-दिन बढ़ने लगा। जनताने बड़े ही प्रेम-भावसे शंकरदेवके प्रवचन-कीर्तन आदि सुनकर धर्मका यथार्थ 'स्वरूप' हृदयङ्गम किया। आहोम राजाका शक्ति-उपासक पुरोहितवर्ग शंकरदेव-प्रचारित वैष्णव-धर्मकी व्यापकता सह न सका और उनकी प्ररोचनासे आहोम शासकोंने वैष्णवोंपर अत्याचार करना प्रारम्भ किया। शंकरदेवके जामाता हरिको मार डाला गया। अन्तमें शंकरदेव कोचवंशी राजा नरनारायणकी प्रसिद्धि तथा विद्वत्ताके समादर करनेकी बात सुनकर पूर्वमें आ गये और कामरूप जिलेके अन्तर्गत पाट बाउसीमें सत्रकी स्थापना की।

इसके बाद शंकरदेवने अपने शिष्योंके साथ दूसरी बार तीर्थ-यात्रा की। कोचराज्यमें शंकरदेवके द्वारा प्रवर्तित वैष्णव-धर्मका पहले-पहल घोर विरोध शैव और शाक्त-पंथी पुरोहितोंने किया। परंतु राजसभामें शंकरदेवकी विद्वत्ताका प्रगाढ़ परिचय प्राप्तकर राजा नरनारायणने वैष्णव-धर्मकी श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए आपसे दीक्षा देनेकी प्रार्थना की। शंकरदेव हिंसा-निरत तथा विलासी राजाओंको दीक्षा देनेके पक्षमें न थे; परंतु राजा नरनारायणका उत्कट आग्रह देखकर अन्तमें उन्हें दीक्षित करनेकी स्वीकृति देनी पड़ी। दैवयोगसे जिस दिन दीक्षा देनेका निश्चय किया गया था उसके पहले दिन ही रातको भक्तप्रवर श्रीमंत शंकरदेव वैकुण्ठ सिधार गये।

शंकरदेवकी उपासना-पद्धति

शंकरदेवप्रवर्तित वैष्णव-धर्म मूलतः दास्यभक्ति-मूलक है। आपने भारतीय भक्ति-साधनाके मूलाधार श्रीकृष्ण तथा श्रीरामके स्वरूपको ग्रहण किया; परंतु उत्तरभारतीय साकारोपासक भक्तों तथा संतोंकी भाँति उन्हें सगुण रूपमें न मानकर निर्गुण विष्णुके रूपमें ही माना। मूर्तिपूजनका और बलि-विधानका निषेध शंकरी-उपासनाकी दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। इसलिये आपके द्वारा प्रतिष्ठित देवासनोंपर प्रतीकमात्रके रूपमें ग्रन्थ रहते हैं। भक्तजन उसी आसनारूढ़ प्रतीकके प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पित करते हैं।

मूर्तिपूजन-विधानके निषेधके साथ-साथ शंकरदेवने अन्य देवी-देवताओंकी पूजाका विरोध करते हुए एक-मात्र आराध्य निराकार विष्णुकी पूजा-उपासनाका प्रचार किया। 'आन देवी देव न करिबा सेव' यह शंकरदेवका बहु-प्रचारित आधार-वाक्य है।

शंकरदेवकी उपासना-पद्धतिमें नाम-स्मरणका जितना महत्त्व है, उससे कहीं अधिक नाम-कीर्तनका है। आपने सामाजिक एकताकी सिद्धिके लिये धर्माचरणको भी सामूहिकरूप प्रदानकर कीर्तन-पद्धतिका प्रचार किया। झाँझ, मृदङ्ग, मँजीरेके साथ-साथ हाथसे तालियाँ बजाकर उच्च-स्वरसे नामका घोष करना शंकरी-उपासना-पद्धतिका प्रमुख अङ्ग है।

'भक्ति-प्रदीप' ग्रन्थमें शंकरदेवने श्रीकृष्णके मुखसे 'एक-शरण' 'अव्यभिचारिणी' भक्तिका वर्णन किया है—

मोक परि आन एको न भजे देवक।
सेहि भक्ति परुवावे समस्ते कर्मक॥
सेहि एक-शरण भजन अनुपाम।
नु सुनय आन एको देवतार नाम॥
अव्यभिचारिणी ताके बुलिय भकति।
नाहिके प्रयास आत अल्पे साधे गति॥

(श्रीकृष्ण कहते हैं)—"मुझे छोड़कर जो अन्य देवोंको नहीं भजती, वही भक्ति समस्त कर्मोंसे मुक्त करनेवाली होती है। वही 'एक-शरण' भजन अनुपम है जो अन्य किसी देवताका नाम नहीं सुनता। उसे 'अव्यभिचारिणी भक्ति' समझना चाहिये। यही बिना प्रयास अल्पमें ही मुक्तिका साधन है।"

आपने आगे कहा है—

आन देव पूजे मिटो सेहि मोर द्रोही।

(जो अन्य देवताओंकी पूजा करता है, वह मेरा द्रोही है।) बलि-विधानका प्रबल निषेध करते हुए आपकी उद्घोषणा है—

अनेक जन्मर आछे पातक प्रचुर
तातो से आनक पूजे करे वलिदान।

'जिनके अनेक जन्मोंके अनेक पातक हैं, वे ही दूसरोंकी पूजा वलिदानके द्वारा करते हैं।'

शंकरदेवका वैष्णव-धर्म जिसे 'भागवतीं-धर्म' भी कहा जाता है, मूलतः भागवत और गीताकी भक्तिपर आधारित है। इसलिये शंकरदेवने भागवत और गीताको ही प्रामाणिक संदर्भ-ग्रन्थोंके रूपमें बार-बार उद्धृत किया है।

बहुदेव-पूजनके विरोधी होनेपर भी शंकरदेव 'अवतार-वाद' के सिद्धान्तके पोषक थे। इन अवतारोंके माध्यमसे श्रीकृष्ण (आदिपुरुष परमब्रह्म-स्वरूप) ही अपनी लीला विश्वमें प्रदर्शित करते हैं। इसलिये बहुदेव-पूजनके समान अवतारोंकी उपासनामें कोई अन्तर्विरोध नहीं है। उत्तरभारतीय अनेक पंथोंमें राम और कृष्णको अलग-अलग मानकर उपासना-पद्धतिमें भी भिन्नता देखी जाती है। परंतु शंकरदेवने इनमें परिपूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर दोनों रूपोंकी अभिव्यक्तिका भी समन्वय कर दिया है। आपने 'भागवत'का असमीया रूपान्तरकर कृष्ण-लीलाकी महत्ता प्रतिपादित की। उसी प्रकार रामायणके 'आदिकाण्ड' और 'उत्तरकाण्ड' का रूपान्तर कर राम-भक्तिको भी कृष्ण-भक्तिके पर्यायरूपमें स्वीकृत किया।

वस्तुतः शंकरदेवके आराध्य कृष्ण केवल वात्सल्य और मधुर भावोंकी लीला करनेवाले नटनागर ही नहीं हैं, बल्कि अनाचार-निकन्दन, असुरमर्दन परम वीर्यशाली भक्तोंके आश्रय-स्थल भी हैं। युग तथा परिस्थितिके कारण आपने श्रीकृष्णके प्रति 'सखी' भावको अन्य कृष्ण-भक्त कवियोंकी भाँति सर्वात्मक महत्त्व नहीं दिया। रास-क्रीड़ा-जैसी श्रृङ्गारिक लीलाको शंकरदेवने 'काम-विजय' कहा है।

वस्तुतः श्रीकृष्णका अनुपम चरित्र अनाचार और पापके प्रतीक राक्षसोंके मर्दन तथा संकटमें पड़े हुए भक्तजनोंके उद्धारमें ही प्रतिभासित हुआ है। रावणादिके नाशक रामचन्द्र भी इसीके प्रतीक हैं। इसीसे शंकरदेवने अपनी उपासना-पद्धतिमें 'नाम' को प्रमुख स्थान प्रदान करते हुए कहा है—

कृष्णर किंकरे कहे परि आन काम।
निरंतरे नरे डाकि बोला राम राम॥

'कृष्णका किंकर कहता है, अन्य कर्मोंको तजकर हे नर! पुकार-पुकारकर 'राम' 'राम' कहो।'

शंकरदेवकी उपासनामें श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्मस्वरूप हैं। आपने 'कीर्तन'में स्पष्ट कहा है—'पूर्णब्रह्म आपुनि भैला हा अवतार।' यों श्रीकृष्णके अनेक नाम हैं; परंतु उनमें मुख्य दो ही नामोंको माना गया है। नाम-महिमा-वर्णन-प्रसङ्गमें स्वयं श्रीकृष्णका कथन है—

'मोहोर दुगुटि नाम। एक हरि, एक राम॥'

(मेरे दो नाम हैं एक हरि और दूसरा राम)

इसी कारण 'कीर्तन'में हो या बरगीत (शंकरदेव-रचित भजन) गायनमें—कृष्ण, हरि, राम—इन तीन नामोंका उच्चारण बार-बार किया जाता है।

शंकरदेवकी उपासना-पद्धतिमें जाति-भेद, वर्ग-भेद आदिका कोई स्थान नहीं है। सत्रोंकी उपासना-प्रक्रियामें सत्राधिकार महंत ही व्यवस्थादि करते हैं; ब्राह्मणोंकी कोई अनिवार्य आवश्यकता नहीं होती। महंत भी ब्राह्मणके अलावा ब्राह्मणेतर जातियोंके हो सकते हैं। भक्तोंको दीक्षा देनेका कर्म इन महंतोंपर ही होता है। जन्मना शूद्र होनेपर भी महंत ब्राह्मणको भी दीक्षित कर सकता है। इसी व्यापक दृष्टिके कारण असमके जन-समाजमें वैष्णव-भक्तिका प्रसार इतनी तीव्रतासे हुआ, जिसके फलस्वरूप धीरे-धीरे सभी भ्रान्त और पतित पंथोंका उन्मूलन अनायास सम्भव हो सका।

एकान्तरूपसे वैष्णव-भक्तिमूलक होनेपर भी शंकरी-उपासनामें संकीर्णताका स्थान नहीं है। शंकरदेवका निर्देश है कि ''कभी भी दूसरे धर्मोंके प्रति हिंसाकी भावना न रखना, सकरुण-हृदयसे प्राणियोंके प्रति दया-भाव रखना। शान्त-चित्तसे सभी धर्मोंके प्रति वत्सल रहना ही 'भागवत-धर्म' है।''

परर धर्मक निहिंसिबा कदाचित।
करिबा भूतक दाया सकरुण चित्त॥

हुइबा शान्त चित्त सर्व धर्मत वत्सल।
पहि 'भागवत-धर्म' जाना महाबल॥

सत्र और नामघर

शंकरदेवके वैष्णव-धर्मकी प्रमुख विशेषता सत्र और नामघर है। 'सत्र' अधिकतर धर्मगुरुओं या महंतोंके आश्रम होते हैं। वहाँ बड़ा-सा 'कीर्तन-घर' होता है जिसमें 'नाम-कीर्तन'के अलावा 'भाओना' (शंकरदेव-माधवदेवरचित भक्ति-मूलक नाटक) के अभिनयकी व्यवस्थाके अलावा भक्ति-धर्मसम्बन्धी प्रवचन भी होते रहते हैं। सत्रोंको केन्द्रित कर ही वैष्णव-धर्म-व्यवस्था संचालित होती है। इन सत्रोंमें अधिकारी-निर्वाचनकी जन्मगत और गणतान्त्रिक चुनाव इन दोनों प्रकारकी पद्धतियाँ प्रचलित हैं।

'नामघर' हर गाँवमें स्थित होता है। यहाँ भी वेदी प्रतिष्ठित रहती है और उसपर ग्रन्थकी प्रतिष्ठापना होती है। यह सामूहिक प्रार्थना-गृह होता है, साथ ही यहाँ भी 'भाओना' अभिनयकी व्यवस्था होती है।

सम्पूर्णरूपसे बाह्याचारोंका खण्डन 'भागवती-धर्म-परम्परा'की विशेषता रही है। भक्तिको ही ईश्वर-प्राप्तिका एकमात्र आलम्बन मानकर इसमें यज्ञ-याग आदिको भी स्थान नहीं दिया गया था। यद्यपि बादको कुछ-कुछ कर्मकाण्ड भी स्वीकृत हुए।

अन्य वैष्णव-धर्म-शाखाओंकी भाँति शंकरी-धर्ममें भी गुरुकी महत्ता सर्वोपरि है। शंकरदेवने अपने गुरु और हृषिकेशको अभिन्न माना है—

नमो नमो महा मोर गुरु हृषिकेश।
कृष्णर चरणे मने पाया उपदेश॥

'अपने महान् गुरु हृषीकेशको नमस्कार है, जिनसे मेरे हृदयने कृष्ण-चरणके उपदेश प्राप्त किये।'

वस्तुतः शंकरदेव-प्रवर्तित वैष्णव-धर्म-उपासना-पद्धति एक ओर जहाँ लौकिक और भागवत-उपासना-पद्धतिका समन्वय, है वहाँ भारतीय धर्म-परम्पराका अखण्ड स्वरूप भी। इसकी सीमाएँ निर्गुण ब्रह्म और सगुण लीलावतारके उभय पक्षोंको स्पर्श कर उनमें सहज अभेदकी स्थिति प्रदर्शित करती है।

निर्गुण नामोपासक रामस्नेही-सम्प्रदाय

(लेखक—श्रीरामस्नेहीसम्प्रदायाचार्य सिंहथलपीठाधीश्वर श्री १०८ स्वामीजी श्रीभगवद्दासजी महाराज, शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य)

राजस्थानमें निर्गुण विचारधाराकी परम्परामें रामस्नेही-सम्प्रदायका महत्त्वपूर्ण स्थान है। बीकानेरसे पूर्ववर्ती सिंहथल गाँवमें इस सम्प्रदायके आद्यप्रवर्तक श्रीहरिरामदास (हरियानन्द) जी महाराज हुए। आचार्य श्रीहरिरामदासजी श्रीजयमलदासजी महाराजके शिष्य थे। यद्यपि यह सम्प्रदाय रामानन्दजीको अपना पूर्वपुरुष मानता है तथापि इसका रामानन्दीय वैष्णव-पद्धतिसे भिन्न निर्गुणाश्रयी विचारधाराके रूपमें पृथक् प्रवर्तन विक्रमकी १८वीं शतीके अन्तसे हुआ।

राजस्थानमें रामस्नेही-सम्प्रदायके प्रधान पीठस्थान अभिन्न-भिन्न रूपसे चार हैं—

(१) सिंहथल (बीकानेर), (२) खैड़ापा (जोधपुर), (३) शाहपुरा (उदयपुर), (४) रैंण (जोधपुर)

आचार्य पूज्यपाद श्रीहरिरामदासजी महाराजका मुख्य पीठ (साधनास्थल) सिंहथल है। इस सम्प्रदायमें अनेक अनुभवी संत हुए, जिन्होंने अपनी वाणीसे इस सम्प्रदायकी मान्यताएँ स्थिर करते हुए राजस्थानके विविध सम्प्रदायोंमें भटकते हुए सामान्यवर्गके जनमानसका मार्गदर्शन किया। राजस्थानके लोगोंके अन्यान्य प्रदेशोंमें जाकर बस जानेसे आज तो प्रायः सभी प्रदेशोंमें रामस्नेही जनोंका प्रसार हो चुका है। इस सम्प्रदायमें अनेकों महात्माओंकी अनुभव-वाणियाँ हजारोंकी संख्यामें उपलब्ध हैं; जिनमें सिंहथल एवं खैडापाके—श्रीजैमलदासजी, हरिरामदासजी, नारायणदासजी, रामदासजी, हरिदेवदासजी, दयालदासजी (द्यालजी), परशरामजी, पीथोदासजी, मणीरामजी, निर्मलरामजी, सेवगरामजी, वखतरामजी, मूलदासजी, चैनरामजी, राघोदासजी, कनीरामजी, बालकरामजी, पूर्णदासजी, अर्जुनदासजी आदि संतोंकी तथा इसी प्रकार रैंण एवं शाहपुराके आचार्योंकी परम्परामें भी अनेक अनुभवी संतोंकी वाणियाँ उपलब्ध हैं।

सम्प्रदायकी साधना

इस सम्प्रदायमें अस्ति, भाति और प्रियको जीवनमें उतारनेके लिये नामका ग्रहण किया गया है। वह नाम 'राम' है। रूपका ग्रहण नहीं किया गया है। इसी रामको इष्ट, उपास्य, आराध्य, स्मरणीय, चिन्तनीय एवं जपनीय

माना गया है । आचार्य हरिरामदासजीके विचारसे अनन्यरूपसे राम-नाम-स्मरण करना ही मुक्तिका मार्ग है—

अविनासी को याद कर, परिहरि दूजी आस ।
हरिया गुर समझाय के, दीया नाम निरास ॥
राम नाम को सुमिरिये, आपो तन मन सोध ।
हरिया मारग मुगति को, यो ही गुर परबोध ॥

आपके मतसे रामनामका उच्चारण आठों पहर करते रहना चाहिये । यह रामनामकी पुकार बन्दीवानकी तरह आर्तभावसे करनी चाहिये । यह नाम सहज है, इसमें किसी जोग और जुगतिकी आवश्यकता नहीं है ।

राम नाम को कीजिये, आठों पोहर उचार ।
हरिया बंदीवान ज्यों, करिये कूक पुकार ॥
राम नाम को नित भजो, रसना होठ समेत ।
हरिया जोगरु जुगति विन, सहजन को सुमरेत ॥

रकार और मकार—ये दोनों अक्षर मन्त्र हैं, इन्हींका उच्चारण करते हुए परब्रह्ममें लौ लगानी चाहिये । इन्हींके सुमिरनसे मनुष्य भव पार होता है—

ररो ममो दोउ मन्त्र है, या सेती लिव लाय ।
हरिया जब तब सुमिरतां, लेसी पार लंघाय ॥

जीभपर ही नहीं, सारे शरीरमें और यहाँतक कि रोम-रोममें 'ररंकार'की जब ध्वनि होने लगे और 'ममकार' मकारका उच्चारण रकारमें ही समाहृत हो जाय—अर्थात् केवल रकारका ही रटन हो, मकारका उच्चारण न हो—तभी ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है—

रसना नख सिख बीच में, रोम रोम ररकार ।
जन हरिया सुख ब्रह्म का, होत नहीं ममकार ॥

निर्गुण निराकार राम

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यह राम-नामका स्मरण क्या रघुकुलमें अवतरित दशरथनन्दन रामका स्मरण है ? इसका उत्तर सम्प्रदायकी वाणीमें अपने उपास्य 'राम'के वर्णनसे स्पष्ट प्राप्त होता है । श्रीहरिरामदासजी महाराज अपने ग्रन्थ निजज्ञानमें अपने उपास्य 'राम'का वर्णन करते हैं—

ररो ममो अक्षर पढ़ि लीजै, तन मन बचन साधु पै दीजै ।
राम नाम जो सत्य है सोई, जा को जानत है जन कोई ॥
सो है चिदानन्द अविनासी, निराकार निर्गुन निरवासी ।
परब्रह्म पार परषोतम, निराधार निरमै निर गोतम ॥
निर बिकल्प निकलंक निवासी, निरालेप निर्वाण निरासी ।
निह्चल अचला चलै न डोलै, अमर अथाह न अरथ अतोलै ॥
निरपष निजानन्द पद न्यारो, परम गुरु परमेश्वर प्यारो ।
अजरामर अषंडी अणभंगी, आप अकल अणमै अणजंगी ॥
परमातम परनव परगासा, परोदेव परमव परनासा ।
त्रिव्यापक त्रिदेह निरालौ, ना कोई विघन न तरणा बालौ ॥
अधर एक अणभंग अणजायो, मात पिता नहीं गोद खिलायो ।
ना कुछि हलका ना कुछि भारी, ना कुछि पुरुषा ना कुछि नारी ॥
ना मुष मौनि ग्रहै नहीं बोलै, ना रू पलक पलक नहीं षोलै ।
अगमागम अवगति आद्यंता, पावैगा परमागति मिंता ॥

इसी प्रकार श्रीदयालदासजी महाराज (खैडापा) ने भी अपनी ब्रह्मस्तुतिमें उस रामका वर्णन किया है ।

नमो राम सर्वज्ञ करण कारण कर्तारा ।
जगमें ज्योति उद्योत ब्रह्म विस्तार अपारा ॥
नमो अछेद अभेद परम परमातम देवा ।
अडिग अनादि अगाध निरंतर नित्य अमेवा ॥
विघन हरण मंगल करण चिदानन्द व्यापक सकल ।
रामदास वंदन करै नमो अजौनी नित अकल ॥

श्रीहरिरामदासजी महाराजके पूज्यगुरु श्रीजैमलदासजी भी अपने 'राम' विषयमें फरमाते हैं—

रमैया राजा अनन्त भवन उर थारै ।
व्योम में तुम व्यापि रहे हो, एक निरंतर सारै ॥
नाम रूप नाना विधि भाषत, तुम बिन नाहिं लगारै ।
तुम ही बीज वृक्ष भये तुम ही, तुम ही मूल तुम डारे ॥
तुम ही रूप अरूपी तुम ही, यों शास्त्र निगम पुकारे ।
जैमलदास एको निज आतम, यह निहचै मन म्हारे ॥

इस तरह रामस्नेही-सम्प्रदायमें 'राम' नामसे ब्रह्मका ही व्यवहार है । यह 'राम' निर्गुण निराकार है, दाशरथि राम नहीं ।

यद्यपि सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें निर्गुण ब्रह्मका अवतारी रूपसे अनेक स्थलोंपर वर्णन किया गया है, किंतु वह साधकको विश्वास करवानेके निमित्त ही कहा जा सकता है । वस्तुतः यहाँ साकार और सगुणकी मान्यता नहीं है । यहाँ तो उस परब्रह्म रामको घटमें ही माना गया है; उसे

सर्वव्यापक मानते हुए भी उसकी खोज घटमें ही करनेकी प्रेरणा है, कहीं अन्यत्र नहीं—

हरिया जैमलदास गुरु, राम निरंजण देव।
काया देवल देहरों, सहज हमारे सेव॥

तथा—

देही भीतर देवता, सो अणघडिया देव।
जन हरिया इन देव की, करो नित्य प्रति सेव॥
आतम आपा बीच में, सो अणघडिया देव।
जन हरिया इनको भजो, तज घडिया की सेव॥

घट में राम निरंजन राया, जग माँही विरले जन पाया।
घट में प्राण पुरुष की माया, घट में तीनों लोक समाया॥
घट में सेव करो असनाना, पूजूँ मूर्ति न धात पषाणा।
पान न पाती फूल चढ़ाऊँ, घट में उनमुनि ध्यान लगाऊँ॥
घटमें सहज करो डँडोता, पूँजू प्राण पुरुष पंडोता।

कस्तूरी कमंडल बसे, मृग ढूँढे वन-वन।
ऐसे जग जाने नहीं, राम बसे तन मन॥
आँख आँख में पूतली, ज्यों घट-घट में राम।
हरिया पट्टल आँख में, ताहिन दरसे नाम॥

इस प्रकार निर्गुण उपासना और निर्गुण भक्तिकी नींवपर इस सम्प्रदायका निर्माण हुआ और उपासनाके बाह्य उपकरणोंकी अवहेलना एवं साधनोंकी उपेक्षा की गयी है। मनकी माला, जो कि सुरति सूतसे पोयी हुई है, जिसे घटमें ही फेरते रहनेसे अजपा जाप होता है, उसे ही फेरनेका विधान है। कर्मफन्दको काटनेके लिये और यमराजसे बचनेके लिये यह श्वासोच्छ्वासकी माला ही उपयुक्त बतायी गयी है। काठकी मालाकी कोई उपयोगिता नहीं—

कहा फेरिये काठकी, मनकी माला फेर।
हरिया मन माला फिरै, बिना विचेरन मेर॥
मन माला सतगुर दई, सुरति सूत सों पोय।
हरिया घट में फेरता, जाप अजप्पा होय॥
हरिया माला साँस की, जो नित फेरी जाय।
काटे फंदन कर्म का, जीव न जमपुर जाय॥

इस मानसी मालाके अतिरिक्त तिलक एवं वस्त्रके विषयमें भी कहा है—

हरिया मन माला भई, तिलक हमारे सत्त।
ज्ञान हमारे गूदड़ी, सहज हमारे गत्त॥

अतः तत्त्वको तिलक मानकर तत्त्वकी महानताको स्वीकार करनेकी ओर संकेत है। इसी तत्त्वको प्रमुखता देते हुए श्रीहरिरामदासजीने सभी मतों, पन्थों, सम्प्रदायोंकी उपेक्षा करते हुए कहा है कि 'मत-मतान्तरोंमें भटकते हुए लोग तत्त्वको प्राप्त नहीं कर सकते'—

हरिया राता तत का, मत का राता नाहिं।
मत का राता जो फिरे, तहँ तत पायो नाहिं॥
जोग जुगति जाण्याँ बिना, क्या भगवाँ क्या स्वेत।
हरिया बीज न बाहियाँ, जाका निरफल खेत॥

इस प्रकार निर्गुण उपासनाके विषयमें अनेक स्थलोंपर अनेक प्रकारके उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनमेंसे अपने उपास्यविषयक उद्धरण देकर इस प्रसंगको पूर्ण किया जाता है—

सस्तर सों नहिं छेदिये, पावक लगे न सीत।
हरिया कहिये ब्रह्म कों, ऐसी अद्भुत रीत॥
हरिया साँई एक है, सबै समरथा जाँन।
ऊ जल माँही थल करै, थल तँह नदी निमान॥
नान्हो कहूँ तो कै जिडो, बडो कहूँ किन माँन।
हरिया हरि कि बडो कहों, देख न सुनियो काँन॥
जहँ चींटी नहिं चढ़ि सकै, हस्ती चढ़ि-चढ़ि माल।
ऊ रावँती रंक करि, रंका करै निहाल॥
तीन लोक ताकै परै, एक अभंगी राय।
जन हरिया मन मिल रह्यो, जरा न जमरो जाय॥
चन्द बिना जहँ चाँदना, सूर बिना अहवास।
जन हरिया घर ब्रह्म का, तेज पुंज परकास॥
पवन न पाणी चंद रवि, जहँ नहिं धरा अकास।
जन हरिया घर ब्रह्म का, आस न पास निरास॥
पाँव बिना जहँ चालिबो, राह बिना जँह राह।
जन हरिया घर ब्रह्म का, सुर नर सके न जाह॥
दर्पण में मुख रैण का, हरिया दरसै नाहिं।
ऐसे उर अग्यानता, ब्रह्म न भेदै माहिं॥
तहाँ न तारा चंद रवि, श्वास नहीं उच्छ्वास।
हरिया धरा अम्बर नहीं, सुरति ब्रह्म का वास॥

निर्गुण-सगुण विचार

निर्गुण और सगुणके रहस्यको भी कई स्थानोंपर स्पष्ट किया है। सम्प्रदायके मतमें निर्गुण और सगुणमें कोई भेद नहीं है। जो निर्गुण है वही सगुण है—

हरिया कोइ न देखिया मात पिता बिन पूत।
निर्गुण सगुण यों भया ताणे पेटे सूत॥
निर्गुण न्यारा नाम को सगुण बिना नहि पाय।
किसको निंदिये विन्दिये हरिया पितारु माय॥

और भी—

सगुण निर्गुण रामदास, तूँ एको कर जाण।
एक ब्रह्म सब बीच में, समरथ पद निरवाण॥

जिस प्रकार ताना और बाना मिलकर वस्त्र कहलाता है, उसी प्रकार निर्गुण और सगुणकी स्थिति है। आद्यतत्त्व तो निर्गुण ही है। उसीसे सगुण-साकार होता है। निर्गुण बिना सगुणकी उत्पत्ति उसी प्रकार नहीं हो सकती, जिस प्रकार माता-पिता बिना पुत्रकी। इसके विपरीत समस्या भी उपस्थित की गयी है कि सामान्यरूपसे सगुणका आधार लिये बिना निर्गुणकी स्थिति नहीं समझी जा सकती है और न निर्गुणको प्राप्त किया जा सकता है। अतः हरिरामदासजीका मत हैं कि निर्गुण और सगुण दोनों माता और पिताके समान हैं। इनमें किसकी तो निन्दा की जाय और किसकी वन्दना की जाय? इसी प्रसंगको श्रीरामदासजीने कहा है कि 'सगुण और निर्गुण इन दोनोंको एक ही समझो; क्योंकि समर्थ ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हैं।' गोस्वामी तुलसीदासजी भी (मानस० बाल०) इस प्रसंगको इसी प्रकार कहते हैं—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

जीव और ब्रह्म—

जीव और ब्रह्मके अभेदको स्पष्ट करनेके लिये कहा गया है कि जिस प्रकार जमा हुआ पानी ओला या बर्फका रूप धारण कर लेता है और फिर गल जानेपर अपना पुराना शुद्ध स्वरूप पानी ही हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्मसे जीव और फिर जीवसे ब्रह्म होनेकी स्थिति है। यही स्थिति निर्गुणसे सगुण होकर पुनः निर्गुणमें परिवर्तित होनेकी है। पानी और ओला दोनों वास्तवमें अलग पदार्थ नहीं हैं—

पाला गल पाणी हुआ जीव पलट हुआ ब्रह्म।
निर्गुण सगुण जु एक हुय रामा छूटा भ्रम॥

यहाँ गोस्वामी तुलसीदासजीकी एक उक्ति भी स्मरण हो आती है—

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥

जीव और सीव (शिव—ब्रह्म) को छाया और वृक्षकी तरह मानते हुए कहा गया है कि 'जीव सीवमें मिला हुआ है और सीव जीवमें व्याप्त है। जिस प्रकार छाया वृक्षसे अलग नहीं है, उसी प्रकार जीव और सीव भिन्न नहीं है'—

जीव मिलाना सीव में सीव जीव के माँहि।
ऐसे छाया वृक्ष की हरिया अन्तर नाँहि॥

इसके अतिरिक्त यहाँतक कहा है कि 'वृक्षकी छाया तो घटती-बढ़ती और नष्ट भी होती है, किंतु जीव और सीवमें कभी भिन्नता नहीं होती। ये तो सदा एकात्म रहते हैं'—

हरिया छाया वृक्ष की बधे घटे बहि जाय।
मेला जीव रु सीव का न्यारा कबहु न थाय॥

किंतु वह जबतक मायासे आवृत रहता है, तबतक ही जीव कहलाता है और जब ब्रह्ममें मिल जाता है, तब ब्रह्म ही हो जाता है। किंतु यह कार्य मायाके आश्रयमें रहते हुए कदापि सम्भव नहीं—

ब्रह्म मिल्या सो ब्रह्ममें माया मिल्या सो जीव।
माया आसै रामदास कदै न पावे पीव॥

माया—

सम्प्रदायमें इस मायाको ब्रह्मसे उत्पन्न ही माना है, किंतु जीव जब मायाके वशमें हो जाता है, तो ब्रह्मको भूलकर केवल मायाको ही महत्त्व देने लगता है और यह नहीं समझता कि यह माया भी तो ब्रह्मसे ही उद्भूत है। इस प्रसंगको श्रीरामदासजीने छायामें बैठे हुए जीवद्वारा वृक्षकी महत्ता और ज्ञान स्वीकार न कर अपनेको छायामें ही बैठा समझनेका दृष्टान्त देकर स्पष्ट किया है—

रामा छाया वृक्ष की वृक्ष बिना नहिं होय।
छाया बैठा मानवी वृक्ष न जानै कोय॥

भक्ति—

सम्प्रदायमें 'राम' की भक्ति करते रहनेके भी अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं। कहीं-कहीं 'राम' के स्थानपर 'हरि' शब्दका भी प्रयोग है। भक्तिके विषयमें कहा है कि भक्तिके बिना धैर्य नहीं रहता है और भक्तिमें आत्मसमर्पणकी भावना रहती है और यह आत्मसमर्पण कोई शूरवीर ही कर सकता है। जाति-पाँति, कुल आदिका विचार इसमें नहीं है। संतोंकी वर्गरहित मानवीय भावनाओंका अनेक स्थलोंपर प्रसंग आया है।

भक्तिकी महत्ता और उसकी अत्यन्त आवश्यकता स्वीकार की गयी है; पर यह निर्गुण भक्तिके विषयमें है; क्योंकि भक्तिके उपकरण एवं उपचार बाह्य न होकर सहज हैं—

भक्ति करें सो राम की दिल का होय अधीर।
हरिया हरि की भक्ति बिन ओछा मता अधीर॥
राम भक्ति के कारणे शीश करो बखसीस।
हरिया जे कोइ काट ले तोई न मानो रीस॥
भक्ति करे कोइ सूरमो जाति पाँति कुल खोय।
जन हरिया भोंदूँ नरा ताते भक्ति न होय॥

नित्य नियमपूर्वक प्रेम-भक्तिका व्यवहार बड़ा कठिन बताया गया है। इसमें संसारके सुख और दुःख सबको भूलना पड़ता है और जो भक्तिपूर्वक रामका सुमिरन नहीं करते हैं, वे अनेकों योनियोंमें भटकते फिरते हैं।

प्रेम भक्ति नित-नेम का बहुत कठिन व्यवहार।
हरिया सोई ले निभै, सुख दुख तजि संसार॥
हरिया राम न सुमिरियो, तास पटंतर एह।
जोनि जोनि फिर अवतरे, सुख दुख भुगते देह॥

अनन्यभाव—

यह भक्ति अनन्यभावसे करनी चाहिये। अन्य देवताओंकी उपासना आदिके विषयमें परोक्ष रूपमें निषेधाज्ञा दिखायी पड़ती है—

हरिया हरि व्रत छाँड़िके करै आन को वास।
जैसे गनिका पीव बिन लगी जगत के पास॥
हरिया दुनिया देव की, जात देन को जाय।
दूर पड़ी दरगाह सों धका काल का खाय॥
धोक पूज में दिन गया, आन देव के नाँव।
जमरो देखर विगसियो, जाय हमारे गाँव॥

जहाँतक सम्प्रदायकी वाणियोंका सम्बन्ध है, वहाँतक कहीं भी पूजा आदिके उपकरणों एवं उपचारोंका कोई विधान नहीं है। सब कुछ भावनारूपमें ही करनेका आदेश है। सहज साधनासे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होनेका उल्लेख है। सहज साधनाके प्रसंगमें कुछ योगसे सम्बन्धित आसन आदिकी व्यवस्थाएँ अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं; वस्तुतः निराकार-निर्गुणकी उपासनाके लिये द्रव्य आदिकी आवश्यकता होनी भी नहीं चाहिये। कहा है—

सहजां कूँची सहजां ताला, सहजां खूलै मोख दुवार।
जो सहजांका जानै भेव, जन हरिया सो परतख देव॥

और भी—

सहज बिना नहिं पाइये, अन्तर जामी आप।
हरिया सहज विचारिये, पीछे पुन्य न पाप॥
मन इन्द्री को मारने मती करो विसवास।
हरिया सहजां होत है, सकल काम को नास॥

ज्ञान तथा क्रिया—

सम्प्रदायमें ज्ञान तथा क्रिया इन दोनोंको साधनाका मुख्य अङ्ग माना गया है। क्रियाकी सीमामें कुछ योगके आसन आदिकी व्यवस्थाएँ भी ग्राह्य प्रतीत होती हैं। स्पष्ट है कि क्रियासे तात्पर्य ध्यान, सुमिरन तथा रामनाम-जपसे है, अन्य क्रियाओंसे नहीं। श्रीहरिरामदासजी कहते हैं कि आत्म-निरीक्षणके लिये ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक हैं। केवल ज्ञानसे कोई कार्य नहीं होता। ज्ञानको इन्होंने पङ्गु बताया है और क्रियाको अंधी कहा है। ये दोनों मिलकर ही पार हो सकते हैं। ज्ञान ब्रह्मकी दृष्टि है और क्रिया ध्यानका स्वरूप। इन दोनोंसे ही हरिजन पार उतरता है—

ज्ञान क्रिया से ऊतरै हरिया हरिजन पार।
जैसे अन्धा कन्ध करि, पङ्गू आन उतार॥
पंगा सोई ज्ञान है, किरिया अन्धी जान।
जन हरिया मिल एकठा, मुगत भई आसान॥
ज्ञान ब्रह्म की दृष्टि है, किरिया ध्यान स्वरूप।
जन हरिया मिलि एजठा, आतम तत्व अनूप॥
ज्ञान सहित किरिया भई मोख महापद जान।
हरिया किरिया ज्ञान बिन, भगति भरम की ठान॥

क्रियासहित ज्ञानमार्गका प्रयोग इस सम्प्रदायकी विशेषता है और भक्तिका आश्रय लेते हुए जिस साधना-पथका निर्देश स्थान-स्थानपर पाया जाता है, वह निर्गुण-निराकारकी प्रेमाभक्तिसे सम्बन्धित है। यहाँ चन्दन आदि पदार्थोंसे उपचारोंका ग्रहण नहीं है। यहाँ तो सहज साधनाका ही माहात्म्य है।

'रामस्नेही'के लक्षण—

रामस्नेही शब्दका तात्पर्य रामसे स्नेह करनेवालोंसे है। 'स्नेह' शब्दका सामान्य अर्थ प्रेम किया जा सकता है, जो

प्रेमाभक्तिके रूपमें यहाँ ग्राह्य है। पूर्ववर्ती संतोंकी वाणियोंके मूल तत्त्वोंके आधारपर ही इस सम्प्रदायके विविध नियम आदिका गठन परवर्ती आचार्यों एवं संतोंने किया है; जिनमें श्रीदयालदासजीने रामस्नेहीके लक्षण तथा उनके लिये पालने योग्य नियमोंको अपनी वाणीमें निबद्ध किया है—

मिलता पारख प्रसिद्ध विमल चित राम सनेही।
उर कोमल मुख निर्मल प्रेम प्रवाह विदेही॥
दरसण परसण भाव नेम नित श्रद्धा दासा।
साच वाच गुर ज्ञान भक्ति प्रणमत इक आसा॥
देह गेह सम्पति सकल हरि अर्पण पर मानिये।
जन रामा मन वच करम रामसनेही जानिये॥

खान पान पहिरान निर्मली दशा सदाई।
सात्विक लेत अहार हिंसा करिहै न कदाई॥
नीर छाण तन वरत दया जीवाँ पर राखै।
बोले ज्ञान विचार असत कबहूँ नहिं भाखै॥
साधुसंगति पण व्रत सुदृढ नेम प्रेम दासाँ क्रिया।
राम सनेही रामदास तन मन धन लेखे किया॥

श्रद्धा सुमरण राम मीन मन राम सनेही।
गुण ग्राही गुणवन्त लाभ लेखे हरि देही।
अमल तमाखू भाँग तजें आमिष मद पानं।
जुआ द्यूतका कर्म नारि पर माता जानं॥

साच शील क्षमा गहै राम राम सुमरण रता।
रामा भक्ती भाव दृढ राम सनेही ये मता॥

इसी प्रकार श्रीतेजरामजी (खेड़ापा) नामक संतने भी रामसनेहीके सामान्य नियम एक कवित्तमें वर्णन किये हैं—

राम जो सनेही होय ताकी रीत कहूँ जोय,
राम साध पूजै दोय ऐसो जाकै नेम है।
जीव में तो दया राखै झूठ नाहीं भाखै,
राम रस नित चाखै नित नवो पेम है॥
जल छाण पिये नित्त कथा सुणे एक चित्त,
अभ्यागत देखे मित: मोरधज जेम है।
डंडोतां तो साँझ स्वार चरणांमृत नेम धार,
तेजराम होसी पार कुशला जु षेम है॥

सारांशतः ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, क्रिया, सत्य, अहिंसा, श्रद्धा, दया और सात्त्विक आहार-विहारयुक्त होकर राम-नामका सहज स्मरण करते हुए निर्गुण ब्रह्मकी अनन्यभावसे सहज उपासना ही रामस्नेही-सम्प्रदायका सिद्धान्त है।

बाह्योपचार एवं आडम्बरोंकी उपेक्षा करके प्रेम-भक्ति-पूर्वक 'राम-नाम'का रटन करते हुए आत्मसाक्षात्कार करनेका विधान ही रामस्नेही-सम्प्रदायकी 'निर्गुण नामोपासना' है।

राम-रस मीठा रे

राम रस मीठा रे, कोइ पीवै साधु सुजाण।
सदा रस पीवै प्रेमसूँ, सो अबिनासी प्राण॥ टेक॥
इहि रस मुनि लागे सबै, ब्रह्मा-बिसुन-महेस।
सुर-नर साधू-संत जन, सो रस पीवै सेस॥
सिध-साधक जोगी-जती, सती सबै सुखदेव।
पीवत अंत न आवई, ऐसा अलख अभेव॥
इहि रस राते नामदेव, पीपा अरु रैदास।
पिवत कबीरा ना थक्या, अजहूँ प्रेम पियास॥
यह रस मीठा जिन पिया, सो रस ही माँहि समाइ।
मीठे मीठा मिलि रह्या, दादू अनत न जाइ॥

—दादूजी

स्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपासना

(लेखक—शास्त्री श्रीकृष्णस्वरूपजी महाराज, स्वामिनारायण)

विषय

विषयज्ञानके बिना किसीकी ग्रन्थ या प्रबन्धके अध्ययनमें प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिये वेदान्तसूत्रोंमें सर्वप्रथम प्रतिपाद्य विषयके रूपमें 'ब्रह्म'का नाम लिया गया है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।' इति । इसी तरह श्रीकृष्ण—नारायण ही गीताके प्रमुख प्रतिपाद्य हैं, इसलिये गीतार्थ-संग्रहमें—

स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।
नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ॥

'स्वधर्मके अनुष्ठानसे, भगवान्‌के स्वरूप और महिमाके ज्ञानसे तथा वैराग्यसे प्राप्त होनेवाली एकमात्र भक्तिके ही गोचर परब्रह्म परमात्मा नारायण ही गीताशास्त्रमें प्रतिपादित हुए हैं ।'

ऐसा कहा गया है । भगवान् स्वामिनारायणने अपने ग्रन्थ वचनामृत, शिक्षापत्री तथा सत्संगी जीवन आदिमें स्वधर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भगवन्माहात्म्य-ज्ञानरूप उपासनासे साध्य जो भक्ति या प्रपत्ति है, उससे प्राप्त होनेवाले सिद्धिरूप एकमात्र परमतत्त्व भगवान् श्रीहरि नारायणको ही समस्त वेदादि ग्रन्थोंका मुख्य प्रतिपाद्य बताया है । उनकी उक्ति इस प्रकार है—

तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः ।
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः परः ॥

'तत्त्व-जिज्ञासुओंको सर्वतोमुखी हेतुओं (युक्तियों या तर्कों) से साध्य परम तत्त्वके रूपमें एकमात्र महायोगी श्रीहरि नारायण ही निश्चित होते हैं ।'

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'—'सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ ।' इन वचनोंद्वारा यही सूचित होता है कि यहाँ 'तत्त्व' शब्दसे मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु परम प्राप्य परमात्मा ही ग्राह्य है । वही प्रधान विषय है ।

अधिकारी

वह परमोपास्य परमात्मा भजन, सेवन और उपासना आदि समानार्थक शब्दोंसे वाच्य भक्तिके द्वारा ही साध्य है । अतः इस मार्गमें भी साधकके अधिकार (पात्रता) की आवश्यकता है । साधनके अधिकारीके लिये किन-किन गुणों या विशेषणोंका होना अनिवार्य है, इसका दिग्दर्शन शास्त्रोंने अनेक स्थलोंमें अनेक प्रकारसे कराया है । उन सबका सार इतना ही ज्ञात होता है कि अधिकार-सम्पादक गुणोंमें 'मुमुक्षता' ही मुख्य है । भगवत्प्राप्तिके मार्गका प्रधान अधिकारी वही है, जिसमें मुमुक्षा—आध्यात्मिक आदि त्रिविध तापोंसे मुक्त होकर निरवधि निरतिशय ब्रह्मानन्दको प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा हो । स्वर्गादि भोगोंकी क्षणभङ्गुरता और भगवदानन्दकी निरतिशय उत्कृष्टताका विचार करनेसे जिसको मोक्षकी अभिलाषा होती है, वही ब्रह्मविद्याका अधिकारी होता है । सत्-शास्त्रोंमें अधिकारीके लिये निर्वेद, शम, दम, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य, निरभिमानता, अनसूया (अदोषदृष्टि), प्रणिपात तथा ब्रह्मविद्याप्रदाता गुरुकी शरणमें जाना, उनकी सेवा करना, उनमें देवबुद्धि रखना आदि-आदि गुण आवश्यक बताये गये हैं । इससे सिद्ध होता है कि अनधिकारीको इस परम तत्त्वका ज्ञान नहीं देना चाहिये । गीताका वचन है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥
(१८ । ६७)

'जो तपस्वी नहीं, भगवद्भक्त नहीं तथा जिसमें सुननेकी रुचि नहीं, उसे इस गीताशास्त्रका उपदेश नहीं देना चाहिये । इसके सिवा, जो मेरी निन्दामें रत रहता है, उसको भी गीताज्ञान देना उचित नहीं है ।'

तब फिर किसको यह ज्ञान दिया जाय ? इसका उत्तर भगवान् स्वामिनारायणने 'शिक्षापत्रिका'में दिया है—

युक्ताय सम्पदा दैव्या दातव्येयं तु पत्रिका ।
आसुर्या सम्पदाढ्याय पुंसे देया न कर्हिचित् ॥

'जो दैवी सम्पत्ति (अभय सत्त्वसंशुद्धि आदि) से युक्त हो, उसीको यह पत्रिका देनी चाहिये । आसुरी सम्पत्तिसे धनाढ्य बने हुए मनुष्यको कदापि नहीं देनी चाहिये ।'

भगवान् स्वामिनारायणने अधिकारसूचक लक्षण 'वचनामृत' नामक ग्रन्थमें स्पष्ट रीतिसे बताये हैं—

गुरुकी आवश्यकता

इस उपासना-सरणि या भक्तिमार्गमें प्रथमतः गुरुकी आवश्यकता बतायी गयी है। यद्यपि शास्त्र स्वयं ज्ञानजनक हैं तथापि वे गुरुके उपदेशरूप संस्कारकी अपेक्षा रखते हैं। अतः सद्गुरुप्रदत्त ज्ञान ही मुमुक्षुके लिये उपकारक होता है। श्रुति कहती है—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।'—'तत्त्वज्ञानके लिये सद्गुरुकी ही शरणमें जाना चाहिये।' स्वामिनारायण वचनामृतमें कहा गया है कि 'महापुरुषोंसे शिक्षा ले, तब ज्ञान प्राप्त होता है। केवल शास्त्रको बाँचनेसे, स्वयं पढ़ने या कहीं कथा-व्याख्यानमें सुननेमात्रसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती है। शास्त्रोंमें भगवत्स्वरूप-सम्बन्धिनी बातें होती हैं, किंतु बिना गुरुके मुखसे सुने वे स्वतः प्रकाशमें नहीं आती हैं। गुरु भी यदि भगवान्‌का ऐकान्तिक भक्त न हो तो उसकी समझमें भी बात नहीं आती। अतः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु होना चाहिये। यह श्रुतिका मत है। गीताने तत्त्वदर्शी ज्ञानीको गुरुकी योग्यता प्रदान की है—'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।' गुरु शब्दब्रह्म और परब्रह्ममें निष्णात एवं ब्रह्मनिष्ठ उपशमयुक्त होना चाहिये। कहा भी है—

'शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्।'

आचार्य कैसा हो? शास्त्र बताता है—

आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते॥

"शास्त्रके तात्पर्यका सम्यग्रूपसे चयन करना, उन्हें लोगोंके आचारमें स्थापित करना और स्वयं भी तदनुसार आचरण करना—ये आचार्यके लक्षण हैं; इन लक्षणोंके कारण वह 'आचार्य' कहलाता है।"

गुकारस्त्वन्धकारः स्याद्रुकारस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥

"'गु' का अर्थ है अन्धकार तथा 'रु' का अर्थ है, उसका निवारण करनेवाला। इस तरह अज्ञानान्धकारका निवारक होनेसे आचार्यको 'गुरु'की संज्ञा दी गयी है।"

'ज्ञानहीन गुरुको पाकर मोक्षकी उपलब्धि कैसे हो सकती है?'* 'अवैष्णव गुरु नहीं हो सकता।'† 'ज्ञानभक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी जो स्वधर्मसे गिर गया है तथा जो स्त्रीलम्पट है; उसे कभी गुरु नहीं बनाना चाहिये।'‡ इन वचनोंसे स्पष्ट है कि अयोग्य या अनधिकारीको 'गुरु' होनेका गौरव नहीं प्रदान करना चाहिये। 'वचनामृत'में श्रोत्रियता, ब्रह्मनिष्ठता, स्वपरहितपरता, वैराग्य, उपशम, दया, शम, ज्ञान, वक्तृत्व तथा अवञ्चकता इत्यादि गुरुके गुण बताये गये हैं।

* ज्ञानहीनं गुरुं प्राप्य कुतो मोक्षः।

† न गुरुः स्यादवैष्णवः॥

उपासनाके चार अङ्ग

१–धर्म

उपासनाका प्रथम अङ्ग 'धर्म' है। वह उपासनामें साक्षात् उपकारक होनेसे उसका अङ्ग माना गया है। इसमें **'मर्यादितेष्ववहितः स्वधर्मेषु।' 'यः स्वधर्मेण मां नित्यम्।' 'भक्तिः सिद्धयति धर्मेण।' 'धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तः।'** इत्यादि पौराणिक वचन प्रमाण हैं।

२–ज्ञान

दूसरा अङ्ग 'ज्ञान' है। भगवान् स्वामिनारायणके मतमें ज्ञान दो प्रकारका है। आत्माका ज्ञान और परमात्माका ज्ञान। इसी ज्ञानको उपासनाका अङ्गत्व प्राप्त होता है। इसीसे श्रुतिकथित 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादि आठ गुणोंका आविर्भाव होता है। यही परिशुद्ध आत्मस्वरूप है। 'मैं आत्मा हूँ, देह नहीं हूँ[1]।'—इस बोधसे युक्त 'जो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है, वह परमात्माका शरीर है[2]।' 'सभी आत्मा परमात्माके दासभूत हैं; अतः हे भगवन्! मैं भी आपका दास हूँ। ऐसा मानकर मैं आपको प्रणाम करता हूँ[3]।' इत्यादि वचनोंसे सूचित होता है कि स्वात्म-बोधसे सम्पन्न जीवात्मा परमात्माका दास है। अतः ज्ञान भक्तिका अङ्ग है—यह निश्चित हो गया।

३–वैराग्य

भक्तिका तीसरा अङ्ग 'वैराग्य' है। विषयोंमें जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दुःखरूप दोषोंको देख-समझकर उनसे

‡ सम्पन्नो ज्ञानभक्तिभ्यां स्वधर्मरहितस्तु यः।
स गुरुर्नैव कर्तव्यः स्त्रीहृतात्मा च कर्हिचित्॥

१. अहमात्मा न देहोऽस्मि।

२. ज्ञानानन्दमयः स्वात्मा शेषो हि परमात्मनः।

३. दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः।
अतोऽहमपि ते दास इति मत्वा नमाम्यहम्॥

विरक्त होना चाहिये ।'[४] 'संस्पर्शज भोग दुःखके जन्म स्थान हैं, सादि और सान्त है । विद्वान् पुरुष उनमें नहीं रमता ।'[५] इत्यादि गीताके वचनोंके अनुसार विषयोंसे वैराग्य हुए बिना भगवान्‌की भक्ति नहीं हो सकती । श्रीकृष्णके अतिरिक्त सभी विषयोंमें अरुचि होना वैराग्य है ।[६] 'वैराग्यहीनको न तो दुःखशून्य सुख प्राप्त होता है और न उसकी भक्ति ही बढ़ती है ।'[७] (स्वामिनारा० शिक्षा०) इन वचनोंसे वैराग्यकी भी अङ्गता सिद्ध हो जाती है ।

४—माहात्म्यज्ञान

वैराग्यसे सम्पन्न पुरुष जब भगवान्‌के स्वरूप, गुण, नाम और विभूति आदिके माहात्म्यका विचार करता है, तब श्रीहरिमें परमानुरागरूप पराभक्तिका उदय होता है। भगवान् स्वरूप आदि सभी दृष्टियोंसे परम महान् सर्वोत्कृष्ट हैं । अशेष कल्याणमय निरतिशय गुणगणोंसे समलंकृत हैं— इत्यादि बातोंका अनुभव करना माहात्म्यज्ञान कहा गया है । भगवान् स्वामिनारायण कहते हैं—

श्वेतद्वीपे ब्रह्मपुरे गोलोकेऽपि च धामनि ।
वैकुण्ठादौ यदैश्वर्यं दिव्यं दिव्याश्च पार्षदाः ॥
स्वेच्छया मनुजाकारे हरौ तद् विद्यतेऽखिलम् ।
दिव्यभावेनेतिबोधो माहात्म्यज्ञानमुच्यते ॥
(स० प्र० ४ । ६७)

'श्वेतद्वीप, ब्रह्मधाम, गोलोकधाम तथा वैकुण्ठधाम आदिमें जो दिव्य ऐश्वर्य और दिव्य पार्षद हैं, वह सारा वैभव स्वेच्छासे मानवरूप धारण करनेवाले श्रीहरि—श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें दिव्यरूपमें विद्यमान हैं—ऐसा बोध होना माहात्म्यज्ञान कहलाता है ।'

माहात्म्यज्ञानसे माधवके प्रति अधिक स्नेह और भक्तिभावकी वृद्धि होती है—

माहात्म्यज्ञानयुत् भूरिस्नेहो भक्तिश्च माधवे ।

श्रीवल्लभाचार्यजीने कहा है कि 'माहात्म्यज्ञानपूर्वक जो सुदृढ़ एवं सर्वतोऽधिक स्नेह प्रकट होता है, उसीका नाम भक्ति है ।'

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति........................... ॥

इन वचनोंसे भक्ति या उपासनामें माहात्म्यज्ञान भी अङ्गभूत साधन है—यह बात अनायास ही स्पष्ट हो जाती है ।

साधक या उपासककी भगवान्‌के साकार विग्रहमें ही दृढ़ निष्ठा होनी चाहिये । निराकारप्रतिपादक ग्रन्थ-व्याख्यान सुननेपर भी अपनी निष्ठा न बदले । भगवान्‌के स्वरूपको सदा साकार ही समझे । यही भगवान्‌की सुदृढ़ एवं शुद्ध उपासना है ।

मेरी और कोई गति नहीं है

क्षौणीपतित्वमथवैकमकिंचनत्वं
नित्यं ददासि बहुमानमथापमानम् ।
वैकुण्ठवासमथवा नरके निवासं
हा वासुदेव ! मम नास्ति गतिस्त्वदन्या ॥

भगवान् ! आप मुझे पृथ्वीपति बना दीजिये, चाहे परम दरिद्र । नित्य सम्मान प्रदान कीजिये अथवा अपमान । और वैकुण्ठमें वास दीजिये, चाहे नरकमें पचाइये । परंतु वासुदेव ! आपसे भिन्न मेरी तो और कोई गति नहीं है ।

---

४. जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् । (गीता)
५. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ (गीता ५ । २२)
६. वैराग्यं ज्ञेयमप्रीतिः श्रीकृष्णेतरवस्तुषु ।
७. वैराग्यहीनस्य सुखं नास्ति दुःखविवर्जितम् । भक्तिर्न वर्धते पुंसां वैराग्येण विना द्रुतम् ॥

आर्यसमाजके अनुसार ईश्वरकी स्तुति-प्रार्थना—उपासना

[भक्तप्रवर ऋषि दयानन्दके विचार]

(लेखक—श्रीमदनमोहनजी विद्यासागर)

उन्नीसवीं शताब्दीके भारतके इतिहासमें ऋषि दयानन्दका प्रमुख स्थान है। वे युगप्रवर्तक हैं। जीवनके हर पहलूपर ऋषिने एक स्पष्ट मार्ग-प्रदर्शन किया है। वे पक्के आस्तिक महात्मा धर्मात्मा थे। ऋषि दयानन्दके प्रादुर्भावके समय भारतीय आस्तिक विचारधारामें कुछ अवैदिक विचारोंका प्रवेश होनेसे यह धारा मलिन हो रही थी। ऋषि दयानन्दने उनके प्रभावसे उस भक्तिधाराको मलिन होनेसे बचाया और मुख्यतया वेदका आश्रय लेकर इस विषयमें जो विचार प्रकट किये हैं, उन्हींके आधारपर यह संक्षिप्त संकलन प्रस्तुत कर रहा हूँ। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका, पञ्चमहायज्ञविधि, आर्योद्देश्य-रत्नमाला और स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशसे यह संकलन किया है।

१—परमेश्वरकी उपासना क्यों करें ?

श्रेष्ठ, ज्ञानी, उन्नत एवं सुखी होनेके लिये, जीवको 'सर्वोपरि विराजमान सृष्टिकर्ता चेतन दिव्य अखण्ड एकरस निर्विकार सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयालु परमेश्वरके साथ सम्बन्ध करना आवश्यक है' (प्र० क०)। 'वह कौन-सा देव है और कहाँ है ? वह सबके भीतर व्यापक होकर परिपूर्ण हो रहा है। उसीको तुम उपास्य, पूज्य और इष्टदेव जानो' (पञ्चमहायज्ञविधि २३)। 'उससे भिन्न और किसीको उपास्य-इष्टदेव, उसके तुल्य व उससे अधिक नहीं मानना चाहिये'। (संस्कार-विधि ९६)। क्योंकि—

१. परमेश्वरकी कृपादृष्टि और सहायतासे ही महा-कठिन कार्य भी सुगमतासे सिद्ध हो सकते हैं। (सं० वि० २१६)।

२. उसी परमेश्वरकी कृपा और उपासनासे विश्वविद्या (सम्यग्-ज्ञान एवं सर्वविध ज्ञान-विज्ञान) की प्राप्ति हो सकती है। (पं० म० य० वि० २३)।

३. ईश्वरकी उपासनासे उसका अनुग्रह प्राप्त होता है; जिससे (पुरुषको) व्याधि आदि विघ्न नहीं होते और बुद्धि-वृत्तियोंके अनुसार अनुभव करनेवाले जीवात्माको अपने वास्तविक शुद्ध, प्रसन्न तथा शरीरादिके सम्बन्धसे भिन्न (अपने) स्वरूपका दर्शन भी हो जाता है। यह 'स्वरूप-दर्शन' (आत्मसाक्षात्कार) ही 'परमात्मदर्शन' [विष्णुके परमपदके दर्शन] में भी कारण बनता है (ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका ४०५)।

४. उस सर्वज्ञताके अतिशय बीज परमेश्वरको ही यथावत् जानकर मनुष्य ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं। (प्र० क०)

इस प्रकार उस परमेश्वरको ही जानकर और प्राप्त होकर जीव जन्म-मरण आदि क्लेशों तथा समुद्र-समान दुःखोंसे (सब पाप-कर्मोंसे) छूटकर परमानन्दरूप मोक्षको प्राप्त होता है। अन्यथा किसी प्रकारसे मोक्षसुख नहीं प्राप्त हो सकता। मोक्षको देनेवाला एक परमेश्वरके सिवा दूसरा कोई नहीं है। व्यवहार और परमार्थ दोनों सुखोंकी अर्थात् भद्रकी प्राप्तिका मार्ग एक परमेश्वरकी उपासना और उसका जानना ही है। (प्र० क०)।

इसलिये वह शक्ति, जो सकल ब्रह्माण्डका संचालन करती है; पृथिवीपर न्यायका प्रसार करती है; जिसकी दया वा सामर्थ्यसे सब जीवों अर्थात् मनुष्य एवं अन्य सब प्राणियोंके 'भोग'के निमित्त नाना प्रकारके पदार्थ भरपूर उत्पन्न होते हैं; (प्र० क०) सब मनुष्योंको उसी एक सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त श्रेष्ठ परमेश्वरकी उपासना करनी उचित है (ऋ० वे० भा० भू० ३०३); उससे भिन्नकी उपासना किसीको नहीं करनी चाहिये। (स० प्र० १। ९, १०, १३) जो उसकी राहपर चलते हैं, उन्हें ही उस परमदर्शनीय ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि इसके अतिरिक्त परमेश्वर-प्राप्तिका, ईश्वर-सांनिध्यका, ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा मोक्षोपलब्धिका कोई अन्य मार्ग नहीं है—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'। इस-लिये सच्चा भक्त भगवान्‌का आह्वान कर कहता है (प्र० क०)—

'हे आनन्दघन ! परमकारुणिक ! सर्वेश्वर प्रभो ! तीन प्रकारके क्लेशोंसे आप हमलोगोंको दूर करके कल्याणकारक कर्मों (निष्काम पुण्यकर्मों) में सदा प्रवृत्त रखिये; क्योंकि आप ही कल्याणस्वरूप सब संसारके कल्याणकर्ता और

धार्मिक मुमुक्षुओंको कल्याणके दाता हैं, इसलिये आप स्वयं अपनी करुणासे सब जीवोंके हृदयमें प्रकाशित वृत्तियोंको, जिससे सब जीव धर्म (पुण्य, सत्य, न्याय, सत्याग्रह, सर्वोदय) का आचरण और अधर्म (पाप, असत्य, अन्याय, दुराग्रह, सबको दुःख देना आदि) को छोड़कर परमानन्दको प्राप्त हों और दुःखोंसे पृथक् रहें।' (स० प्र० १ । १२, १३)।

२—ईश्वर-प्रत्यक्ष

जो आप्त धार्मिक विद्वान् संन्यासी ज्ञानप्रकाशयुक्त हैं, कहते हैं कि हमें प्रजा (अर्थात् संसार) से कुछ भी प्रयोजन नहीं; क्योंकि हमें तो इस परमेश्वरको ही प्राप्त करना है और इसे देखना है। संन्यासी इस यथोक्त 'द्रष्टव्य परमेश्वर'को ही चाहते हुए संन्यासाश्रम ग्रहण करते हैं (ऋ० वे० भा० भू० ६१३) और मुक्तिको प्राप्तकर जीव 'दर्शनीय परमात्मा' में स्थिर होकर मोक्ष-सुखको भोगते हैं। (स० प्र० ९ । ३१७)

जो पुरुष धर्म [सत्य-न्यायानुसार सदाचरण] को ही प्रधान समझता है और धर्मके अनुष्ठानसे जिसका कर्तव्य पाप दूर हो गया है, उसको प्रकाश-स्वरूप 'परम दर्शनीय परमात्मा'को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है (स० प्र० ४ । १३२)।

जिस पुरुषके समाधियोगसे अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर जिसने परमात्मामें चित्त लगाया है, उसको जो परमात्माके योगका सुख होता है, वह वाणीसे नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस आनन्दको जीवात्मा अपने अन्तःकरणसे ग्रहण करता है। अष्टाङ्ग-योगसे परमात्माके समीपस्थ होने और उसको 'सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामीरूपसे' प्रत्यक्ष करनेके लिये जो-जो काम करना होता है; वह-वह सब करना चाहिये (स० प्र० ७ । २४३)।

यह ईश्वरका प्रत्यक्ष क्या है ? [विचारणीय यह है कि] वह ईश्वर व्यक्ति अर्थात् आकृति·········और चक्षुरादि इन्द्रियोंके विषयोंके पथसे [तो] पृथक् है (स० प्र० १ । २१); क्योंकि वह निराकार है। जो निराकार है, उसको किसने देखा ? (स० प्र० १३ । ६३०) [क्योंकि] जो देखनेमें आता है, वह व्यापक नहीं हो सकता। (स० प्र० १४ । ७३८) वह तो 'कभी जन्म न लेनेवाला' होनेसे अज है। (स० प्र० १ । १७) अर्थात् वह कभी शरीर धारण नहीं करता या जन्म नहीं लेता। (स० प्र० ७ । २३७)

तब ईश्वर-प्रत्यक्ष क्या है ?

ईश्वर-प्रत्यक्षका अभिप्राय इस प्रकार है [प्र० क०] 'शरीर-स्थित जो जीव है, वह भी आकाररहित है। जीवका वैसा आकार न होते हुए भी सब मनुष्य परस्पर एक दूसरेको पहिचानते हैं और प्रत्यक्ष कभी न देखते हुए भी केवल गुणानुवादोंसे ही सद्भावना और पूज्यबुद्धि परस्पर मनुष्योंके विषयमें रखते हैं। उसी प्रकार ईश्वरके सम्बन्धमें भी [प्रत्यक्ष] हो सकता है; यह कहना ठीक है (उपदेश-मञ्जरी १ । ११)।' यों तो जैसे शरीरमें भूख-प्यास, दर्द आदि कोई भी नेत्रोंसे दीखनेवाली वस्तु नहीं, अनुभववेद्य हैं; इसी प्रकार परमात्मा भी अनुभव किये जानेवाला पदार्थ है। वह किसी भी विशेष इन्द्रियका विषय नहीं बन सकता। वह केवल चेतन सत्ता है; अतः वह बाह्येन्द्रियोंका विषय नहीं; परंतु जीव उसका आत्मप्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात्कार करता है; इसलिये निराकार जीवके साथ जैसा लोक-व्यवहार होता है, वैसा ही निराकार परमात्माके विषयमें सबको समझना चाहिये।

३—नाम-स्मरण

जैसे परमेश्वरके गुण-कर्म स्वभाव हैं, वैसे अपने भी करना ही परमेश्वरकी स्तुति अर्थात् नाम-स्मरण है। जैसे वह न्यायकारी है तो आप भी न्यायकारी बनें और जो केवल भाँडके समान परमेश्वरके गुण-कीर्तन करता जाता है और अपने चरित्रको नहीं सुधारता, उसका स्तुति करना व्यर्थ है (स० प्र० ७ । २३७)। उपासकको चाहिये कि 'सर्वदा सत्य शास्त्रोंको पढ़े-पढ़ावे, सत्पुरुषोंका सङ्ग करे और 'ओ३म्' इस एक परमात्माके मुख्य नामका अर्थ विचारकर नित्यप्रति जप किया करे। अपने आत्माको परमेश्वरके आज्ञानुकूल समर्पित कर दे (स० प्र० ७ । २४३)।

४—ईश्वरस्तुति प्रार्थनोपासना

जो ब्रह्म सबका द्रष्टा, धार्मिक विद्वानोंका परम हितकारक तथा सृष्टिके पूर्व, पश्चात् और मध्यमें सत्य स्वरूपसे वर्तमान रहता है······'उसी ब्रह्मको हमलोग सौ वर्षपर्यन्त देखें; दिव्य और पुण्य कर्मोंके लिये सौ वर्षपर्यन्त जीवें; उसकी सत्यविद्यामय वेदवाणीको सुनें; उसी ब्रह्मका उपदेश करें और उसकी कृपासे किसीके अधीन न रहें। उसी परमेश्वरके आज्ञापालन और कृपासे सौ वर्षोंके उपरान्त भी हमलोग देखें और सुनें-सुनावें और स्वतन्त्र रहें। अर्थात् हमारा

नीरोग शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्ध मन और आनन्दसहित आत्मा सदा रहे। (प० म० वि० २६ के आधारपर)

इसलिये सब लोगोंको चाहिये कि सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, नित्य ज्ञानी, नित्य मुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, व्यापक, कृपालु, सब जगत्के जनक और धारण करनेवाले परमेश्वरकी ही सदा उपासना करें, जिसमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष—जो मनुष्यदेहरूपी वृक्षके चार फल हैं, वे उसकी भक्ति और कृपासे सर्वथा सब मनुष्योंको प्राप्त हों (प० म० वि० ३१)।

सब मनुष्योंको प्रतिदिन गायत्र्यादि मन्त्रों (और ईश्वरके ओ३म् आदि नामों) के अर्थ-विचारपूर्वक परमेश्वरकी—

स्तुति—(ईश्वरके गुण और उपकारका जानना और वर्णन करना)।

प्रार्थना-(सब कामोंमें उस ईश्वरके सहायकी चाह)। और

उपासना-(ईश्वरके गुण-विचारपूर्वक उसका ध्यान और जड (प्रकृति) प्राणी जगत् (जीव) के गुणोंसे ईश्वरको पृथक् जानकर उसका ध्यान करना) करनी चाहिये (प० म० वि० १६)।

(क) स्तुतिका लक्षण और फल

जो ईश्वर तथा किसी दूसरे पदार्थके गुण-कीर्तन-कथन-श्रवण और ज्ञान करना है तथा जैसेको तैसा अर्थात् योग्यको योग्य व अयोग्यको अयोग्य कहनारूप सत्यभाषण करना है; वह स्तुति कहाती है (आर्य-उद्देश्यरत्नमाला २१)। इसका अभिप्राय है कि—'जो गुण जिस-जिस पदार्थमें ईश्वरने रचे हैं और जो वेदप्रतिपादित शास्त्रोंद्वारा सम्मत ईश्वर जीव प्रकृतिके हैं (ग्र० क०) उन-उन गुणोंका लेख, उपदेश, श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्य-सृष्टिके गुण-दोषोंका भी लेख आदि करना 'स्तुति' कहाता है (ऋ० वे० भा० भू० १४०)।*

पदार्थोंके गुण-कीर्तन, कथन, श्रवण और ज्ञानसे ईश्वर एवं अन्य गुणवाले पदार्थोंमें जो प्रीति होती है तथा उनके गुण-कर्म-स्वभावसे अपने गुण-कर्मका जो सुधार होता है, यह स्तुतिका फल है (आ० उ० र० मा० २१, २२; स्व० म० पु० ४८; स० प्र० ७। २३६)।

(ख) प्रार्थनाका लक्षण और फल

अपने सामर्थ्ययुक्त पूर्ण पुरुषार्थके उपरान्त ईश्वरके सम्बन्धसे प्राप्तव्य उत्तम कर्मों तथा विज्ञानादिकी सिद्धिके लिये परमेश्वरसे याचना करना, अथवा किसी सामर्थ्यवाले मनुष्यसे सहायता लेनेको 'प्रार्थना' कहते हैं।

निरभिमानता, उत्साह, आत्मामें आर्द्रता, गुणग्रहणमें पुरुषार्थ, अत्यन्त प्रीति एवं सहायप्राप्तिका होना प्रार्थनाका फल है (आ० उ० र० मा० २४-२५; स्व० म० प्र० ४९; स० प्र० ७। २३६)।

(ग) उपासनाका लक्षण और फल

जैसे ईश्वरके गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं, वैसे ही अपने करना; ईश्वरको सर्वव्यापक और अपनेको व्याप्य, ईश्वरको उपास्य और अपनेको उपासक, ईश्वरको जनक और अपनेको उसकी संतान जानकर ईश्वरके समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, ऐसा निश्चयपूर्वक योगाभ्यासद्वारा साक्षात् करना; जिससे ईश्वरके ही आनन्दस्वरूपमें अपने आत्माको मान लेना होता है; उसको 'उपासना' कहते हैं (आ० उ० र० मा० २६; स्व० म० प्र० ५०)।

निरहंकार, आत्मसंतोष, आत्मविश्वास, आशावादी मनोवृत्ति, उच्च जीवन, सदा परोपकारमें रत रहना, ज्ञानकी उन्नति और परब्रह्मसे मेल एवं उसका साक्षात्कार आदि उपासनाका फल है (स० प्र० ७। १। २३६ के आधारपर)। ईश्वरकी उपासनासे उसका अनुग्रह प्राप्त होता है; जिससे व्याधि आदि विघ्न······नहीं होते और बुद्धि-वृत्तियोंके अनुसार अनुभव करनेवाले जीवात्माको अपने वास्तविक शुद्ध प्रसन्न तथा शरीरादिके सम्बन्धसे भिन्न स्वरूपका दर्शन भी हो जाता है। यही स्वरूपदर्शन परमात्मदर्शनमें भी कारण बनता है (ऋ० वे० भा० भू० ४०५)।

५—स्तुति-प्रार्थनोपासनाका प्रकार*

(क) स्तुति—

'वह परमात्मा सबमें व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त

* स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्त्तनं भवति। यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति, तादृशतामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते (ऋ० भू० १३७)।

* आगे जो स्तुति-प्रार्थना-उपासनाके प्रकार दिये हैं, उन्हें स्मरण कर लेना चाहिये और उसी प्रकारसे 'स्तुति-प्रार्थना-उपासना' करनी चाहिये।

बलवान्, शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, स्वयंसिद्ध है और वह परमेश्वर अपनी जीवस्वरूप सनातन अनादि प्रजाको अपनी सनातन विद्यासे यथावत् अर्थोंका बोध वेदद्वारा कराता है; इस प्रकार गुणसहित परमेश्वरका गुणानुवाद करना इसकी 'सगुणस्तुति' है। (स० प्र० ७ । २३७); जैसे—

'हे सच्चिदानन्दस्वरूप ! हे नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ! हे अद्वितीयानुपम अखण्डैकरस ! हे जगदादिकारण ! हे अज निराकार निर्विकार ! हे सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् ! हे दयालो न्यायकारिन् ! हे अनादि अनन्त ! हे जगदीश ! हे सर्वजगदुत्पादक, जगदाधार, जगद्संहारक ! हे सनातन, सर्वमङ्गलमय, सर्वस्वामिन् ! हे करुणामय परमपितः ! हे परमोपकारक परम सहायक इष्टदेव ! हे सर्वानन्दप्रद सर्वदुःखविनाशक ! हे अधमोद्धारक, पतितपावन, पापविमोचक ! हे अविद्यान्धनिर्मूलक विद्यार्थप्रकाशक ! हे परमैश्वर्यदाता मोक्षप्रद ! हे निर्मल निरीह निरामय अपापविद्ध अव्रण अकाय शुद्ध स्वरूप ! हे दीनदयाकर दीनबन्धो ! हे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-साधक ! हे सर्वसिद्धिप्रद ! परात्पर परमात्मन् परब्रह्मन् ! हे सर्वान्तर्यामिन् सर्वद्रष्टा प्रभो ! हमारे लिये न्याययुक्त सुख देनेवाले तुम ही हो ! हमको तुम्हारा ही आश्रय है। (आ० भि० वि० प्र० स० ७-८) हे जगद्वन्द्य ! सब जगत्के आदिकारण होनेकी तरह परमविद्या वेदके आदिकारण भी तुम ही हो। हे सर्वहितोपकारक ! तुम सब जगत्के हित-साधक हो। सब मनुष्योंके पूज्यतम हो। सब जगत्को समस्त योगक्षेमके देनेवाले हो। हे मेरे प्राणप्रिय प्रभो ! हम बारम्बार तुम्हारी स्तुति करते हैं। इसको स्वीकार करो, जिससे तुम्हारे कृपापात्र होकर सदैव आनन्दमें रहें।'

वह परमेश्वर अकाय—कभी शरीर धारण नहीं करता या जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह अखण्ड अनन्त और निर्विकार है तथा उससे अधिक कोई पदार्थ नहीं; वह अव्रण—अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल होनेसे उसमें छिद्र किसी प्रकारसे नहीं हो सकता; वह अस्नाविरम्—नाड़ी आदिका बन्धन (स० प्र०) एवं प्रतिबन्ध (विरोध) भी उसका नहीं हो सकता; अतिसूक्ष्म होनेसे ईश्वरका कोई आवरण नहीं हो सकता; शुद्धम्—उसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता (स० प्र०) अर्थात् वह परमात्मा सदैव निर्मल, अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृषादि दोषोपाधियोंसे रहित है*। अपापविद्धम्—वह कभी पापाचरण नहीं करता (स० प्र०) अर्थात् अन्याय नहीं करता; क्योंकि सदैव न्यायकारी है (यजु० ४० । ८ के आधारपर; आ० भि० वि० द्वि० प्र० २)········इत्यादि जिन-जिन राग-द्वेषादि गुणोंसे पृथक् मानकर परमेश्वरकी स्तुति करना होता है, वह 'निर्गुण स्तुति' है (स० प्र० ७ स० २३७)।

(ख) प्रार्थना—

'हे प्रकाशस्वरूप सर्वज्ञान परमेश्वर ! आपकी कृपासे जिस विज्ञानवती यथार्थ धारणावाली बुद्धिको विद्वान्, ज्ञानी और योगी लोग धारण करते हैं तथा यथार्थ पदार्थ-विज्ञानवाले पितर जिस बुद्धिके उपाश्रित होते हैं, उसी बुद्धिसे युक्त हमको इसी वर्तमान समयमें मेधावी कीजिये' (यजु० ३२ । १४; स० प्र० ७ । २३८ तथा आ० भि० वि० द्वि० प्र० ५३ तथा ऋ० वे० भा० भू० ३५२ के आधारपर)।

'हे स्वप्रकाश ! अनन्ततेज ! आप अविद्यान्धकारसे रहित हैं, किंतु सत्यविज्ञान तेजःस्वरूप हैं; कृपादृष्टिसे मुझमें भी वही तेज प्रकाश धारण कराइये, जिससे मैं निस्तेज दीन और भीरु कहीं कभी न होऊँ। हे अनन्तवीर्य परमात्मन् ! आप वीर्यस्वरूप हैं, मुझमें शक्तिकी स्थापना कीजिये। हे सर्वशक्तिमान् ! आप अनन्तबलयुक्त हैं (प्र० क०); मुझमें भी सर्वोत्तम बलको स्थिर कीजिये। हे अनन्तपराक्रम ! आप ओजः—अनन्त सामर्थ्ययुक्त हैं; मुझमें भी पूर्ण सामर्थ्य सदैव धारण कराइये। हे न्यायकारिन् ! आप दुष्टकाम और दुष्टोंपर मन्यु (बुद्धियुक्त क्रोध) करनेवाले हैं; मुझमें भी वही मन्यु धारण कराइये। हे अनन्तसहनस्वरूप ! आप निन्दा, स्तुति और स्व अपराधियोंका सहन करनेवाले हैं, कृपा करके मुझको भी वैसा ही कीजिये, मुझमें भी सहन-सामर्थ्य धारण कराइये' (यजु० १८ । ९, स० प्र० ७ । २३९; आ० भि० वि० प्र० ९ तथा ऋ० वे० भा० भू० ३५० मिलाकर)।

'हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर भगवन् ! (इषे०) हमारे शरीरोंको उत्तम अन्नसे सदा पुष्टियुक्त रखिये, बिना अन्नके हम लोग कभी दुखी न हों। हे महाबल ! (उर्जे०) हमको सदा उत्तम पराक्रमयुक्त और दृढ़प्रयत्नवाले कीजिये। हे सर्वार्थवित् ! (ब्रह्मणे०) सत्यशास्त्र=वेदविद्याके पढ़ने-पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेनेमें हमको अत्यन्त समर्थ

* शुद्धकी उपासना करनेवाला शुद्ध ही होता है और मलिनका उपासक मलिन ही होता है (आ० भि० वि० द्वि० प्र० २)।

कीजिये । हे महाराजाधिराज ! (क्षत्राय) हमें अखण्ड चक्रवर्ति राज्यके लिये शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और शूरवीर पुरुषोंसे युक्त कीजिये । अन्य देशवासी राजा किसी देशमें कभी न हों, हमलोग पराधीन कभी न हों । हे स्वर्ग-पृथिवीश ! परमोत्कृष्ट मोक्ष-सुख और संसार-सुखके लिये हमको समर्थ कीजिये अर्थात् जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थोंसे जगत्का प्रकाश और उपकार होता है, वैसे ही कला-कौशल-विमान आदि यान चलानेके लिये हमको उत्तम सुखसहित कीजिये, जिससे हमलोग सब सृष्टिके उपकार करनेवाले हों । हे सुधर्मन् ! न्याय करनेवाले 'धर्मशील ईश्वर ! आप न्यायकारी, धर्मकारी, धर्मस्वरूप हैं। हमको भी न्यायकारी धर्मात्मा कीजिये । हे शुद्धस्वरूप स्नेह-सुधावर्षक ईश्वर ! जैसे आप निर्वैर हो सबसे वर्तते हैं, वैसे ही सबसे वैररहित हमको भी कीजिये । हे परमकारुणिक सर्वक्षतः ! हमारे लिये उत्तम राज्य, विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादि रत्नरूप उत्तम धन, उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि शुभगुणोंको धारण कराइये, जिससे हमलोग किसी पदार्थके अभावसे दुखी न हों । हे सर्वाधिपते ! (प्रत्येक देशमें) पूर्णविद्या, बुद्धि आदि सद्गुणसे युक्त ब्राह्मण, विद्या-बुद्धि तथा रक्षण, शौर्य आदि गुणयुक्त क्षत्रिय, अनेक भाषा-विद्या-उद्यम-तीव्र-बुद्धि-धन-धान्यादि वस्तुयुक्त वैश्य और सेवादि गुणयुक्त शूद्रादि भी सब स्वदेशभक्त हों । इन सबका धारण आप ही करें; जिससे हमारा अखण्ड ऐश्वर्य आपकी कृपासे सदा बना रहे और हम शुभ गुणवाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों' (यजु० ३८ । १४ ऋ० वे० भा० भू० ३५७ तथा आ० वि० भि० द्वि० प्र० ३१ मिलाकर द्रष्टव्य) ।

(ग) उपासना—

जब-जब मनुष्य ईश्वरकी उपासना करना चाहें, तब-तब इच्छाके अनुकूल एकान्त स्थानमें बैठकर अपने मन-को शुद्ध और आत्माको स्थिर करें । सब इन्द्रियोंको और मनको सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त, सर्वान्तर्यामी और न्यायकारी परमात्माकी ओर अच्छी प्रकारसे लगाकर, (उसके गुण-कर्म-स्वभाव और यथार्थ रूपका) सम्यक्-चिन्तन, स्तुति और शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मामें बलकी प्रार्थना करके, उसमें अपने आत्माको नियुक्त करें अर्थात् उसीकी स्तुति-प्रार्थना और उपासनाको बार-बार करके अपने आत्माको भली-भाँति उसमें लगा दें ।······

उपासनाके समय परमेश्वरसे अतिरिक्त अन्य विषयसे और व्यवहारके समय सब अधार्मिक व्यवहारोंसे अपने मन-की वृत्तिको सदा रोकना चाहिये; यही 'योग' है । इससे विपरीत परमेश्वरसे दूर होने और उसकी आज्ञाके विरुद्ध बुराइयोंमें फँसनेको 'वियोग' कहते हैं ।·····

जैसे जलके प्रवाहको एक ओरसे दृढ़ बाँधसे रोक देनेपर वह जिस ओर नीचा होता है, उसी ओर चलकर स्थिर हो जाता है, वैसे ही जब मनकी वृत्ति बाहरके व्यवहारोंसे हटाकर स्थिर की जाती है, तब वह सर्वज्ञ परमेश्वरमें स्थिर हो जाती है । (ऋ० वे० भा० भू० ३८९, ३९० तथा ४५०-४५४ स० प्र० ७ । २४३) ।

'उपासना' शब्दका अर्थ है—समीपस्थ होना (स० प्र० ७ । २४२); जीवका ईश्वरके समीप होना अर्थात् (ग्र० क०) जो जीव परमेश्वरके गुण-कर्म-स्वभावके अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करता है; वही साधर्म्यसे उस सर्वज्ञ सर्वव्यापी परब्रह्मके साथ एकता कर सकता है । (स० प्र० ७ । २५४) उस समय समाधि-दशामें योगीको परमेश्वरका प्रत्यक्ष होता है (स० प्र० ७ । २५५) ।

इस प्रकार 'समाधियोग'से जिस पुरुषके अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं; आत्मस्थ होकर परमात्मामें जिसने चित्त लगाया है; उसको जो परमात्माके योगका सुख होता है, वह वाणीसे कहा नहीं जा सकता; क्योंकि उस आनन्दको जीवात्मा अपने अन्तःकरणसे ग्रहण करता है (स० प्र० ७ । २४२) ।

ईश्वरकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, शुद्धता, समानता, न्यायकारिता, दयालुता, सर्वव्यापकता, सर्वाधारता, मङ्गलमयता, सर्वोत्पादकता, सर्वस्वामित्व, सर्वाधिष्ठातृत्व इत्यादि सत्यगुणोंसे उसकी ज्ञानपूर्वक उपासनाको 'सगुणोपासना' कहते हैं (ऋ० वे० भा० भू० ४३९; स० प्र० २४३) ।

वह परमेश्वर अजन्मा अर्थात् कभी जन्म नहीं लेता; निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता; अकाय अर्थात् कभी शरीर धारण नहीं करता, अव्रण अर्थात् उसमें छिद्र कभी नहीं होता; (क्योंकि वह सब पदार्थोंमें व्याप्त होकर परिपूर्ण हो रहा है, वह अखण्ड निर्विकार है); वह द्वेष तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धवाला कभी नहीं होता; उसमें दो-तीन आदि संख्याकी गणना नहीं बन सकती; वह लंबा-चौड़ा, हल्का-भारी (छोटा-बड़ा) कभी नहीं

होता; इत्यादि-इत्यादि गुण-निवारणपूर्वक उस परमात्माका स्मरण (चिन्तन, ध्यान) करते हुए अति सूक्ष्म आत्माके भीतर बाहर व्यापक परमेश्वरमें दृढ़ स्थित हो जाना—इसे 'निर्गुण उपासना' कहते हैं (स० प्र० ७ । २४४; ऋ० वे० भा० भू० ४३९)।

६–इस उपासनाका फल

जैसे शीतसे आतुर पुरुषका शीत अग्निके पास जानेसे निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वरके समीप प्राप्त होनेसे सब दोष और दुःख छूटकर परमेश्वरके गुण, कर्म, स्वभावके सदृश जीवात्माके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हो जाते हैं।

सब भूत, आकाश और प्रकृतिसे लेकर पृथिवीपर्यन्त संसारमें जो परमेश्वर व्याप्त होकर पूर्ण भर रहा है, जिसके बिना एक कण भी खाली नहीं; जीवको चाहिये कि अपने आत्मासे अत्यन्त सत्याचरण, विद्या, श्रद्धा, भक्तिसे उस यथार्थ सत्यस्वरूप परमात्माको यथावत् जानकर, उसके निकट उपस्थित—प्राप्त—अभिमुख होकर उस परमानन्दस्वरूप परमात्मामें प्रवेश करके सब दुःखोंसे छूट (आ० भि० वि० द्वि० प्र० १०) उसमें स्वतन्त्रतासे विचरता हुआ महाकल्पपर्यन्त सुख ही सुखको भोगे। (स० प्र० ९ समु०)

७–उपसंहार

परमेश्वरकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना सबको अवश्य करनी चाहिये, इससे दुःख-निवृत्ति एवं परमेश्वरके गुण-कर्म-स्वभावके सदृश जीवके हो जानेके अतिरिक्त आत्माका बल इतना बढ़ेगा कि पर्वतके समान दुःख प्राप्त होनेपर भी उपासक न घबरायेगा और सबको प्रसन्नतासे सहन कर सकेगा और जो परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थना-उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है; क्योंकि जिस परमात्माने इस जगत्‌के सब पदार्थ जीवोंको सुखके लिये दे रक्खे हैं, उसका गुण भूल जाना और ईश्वरको ही न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है (स० प्र० ७ । २४२)।

सौन्दर्योपासना

(लेखक—पण्डित श्रीमंगलजी उद्धवजी शास्त्री, 'सद्विद्यालंकार')

हम सभी चाहे योग, यज्ञ, जप, तप, मन्त्र, तन्त्र आदि साधनोंके उपासक न भी हों, परंतु सौन्दर्योपासक होनेका हमारा दावा तो जितना प्राग् युगमें था, उतना ही नहीं, बल्कि उससे कहीं विशेष आज भी बना हुआ है। स्नानादि शुद्धिके बाद जब हम बाहर जानेकी तैयारी करते हैं, तो वस्त्रोंसे सज-धजकर दर्पणमें अवश्य ही अपना मुख देख लेते हैं। अभी तो स्नान किया है साबुन मल-मलकर, भला इतनी देरमें मुँहपर कौन-सा वज्र गिर पड़ा था, जो उसके दाग देखकर निकालनेके लिये दर्पणमें मुँह देखना आवश्यक बन गया ?

इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि मनुष्य बाहर जाते समय यह देखना जरूरी समझता है कि मैं मुझे कैसा लगता हूँ ? मेरे पहिने हुए कपड़े ठीक साफ और देखनेमें सुन्दर तो हैं न ?

जिस दर्पणके सहारे हम अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं, उसके व्यावहारिक शब्दार्थको तो कभी हम भूलकर भी नहीं सोचते। जिसका नाम स्वयं 'दर्प-न' है, 'यदि तुम्हें दर्प न हो—गर्व न हो, तो मेरे अन्तर्गत अपने प्रतिबिम्बको देखो' यह तो हमें 'दर्पण' शब्द ही समझा रहा है, फिर भी हम दर्पणमें देखकर अपने दर्पको—शान-अभिमानको बढ़ाते हैं और यदि कहीं मुखके ऊपर या कपड़ेके ऊपर जरा-सा भी धब्बा देखा गया तो जल्दीसे मुँह धोकर कपड़े बदल डालते हैं। मुँह धोना इसीलिये पड़ता है कि हम उसे कपड़ेकी तरह बदल नहीं सकते !

शरीरके सौन्दर्यको हम सौन्दर्य मान बैठे हैं। दर्पणमें देखते समय कोई ऐसा नहीं सोचता कि दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, यह मेरे स्थूलशरीरका बाह्य प्रतिबिम्बमात्र है। उसे देखनेवाला 'मैं' उससे भिन्न है। यही 'मैं' आत्मा है और आत्माका प्रतिबिम्ब जड काँचमें आ नहीं सकता।

जिस तरह जड शरीरके प्रतिबिम्बको देखनेके लिये एक प्रकारके विशेष काँचकी आवश्यकता है, उसी तरह चैतन्यांश आत्माके स्वरूपदर्शनके लिये विशुद्ध हृदयरूप दर्पणकी आवश्यकता है। हृदयको विशुद्ध करनेका मूल साधन है—शास्त्रोंका श्रवण एवं संत-महात्माओंका सत्संग। उसीसे हम आत्माके मल-विक्षेपादि आवरणोंको दूर कर सकते हैं।

पर खेदकी बात यह है कि आजका सभ्य कहलानेवाला मानव इस तथ्यको माननेके लिये तैयार नहीं है। बाह्य मुख-सौन्दर्यको दिखानेवाला दर्पण तो बाजारू चीज है, हर जगह मिलनेवाली वस्तु है, किंतु शास्त्र-श्रवण एवं सत्संग कोई बाजारू चीज नहीं है। भाग्य और प्रयत्नके समन्वयसे वह क्वचित् ही सुलभ बनता है।

लेकिन आज तो उलटा पानी बह रहा है। बाह्य-सौन्दर्यका आकर्षण हमारे अन्न-वस्त्र एवं आवरूके ऊपर भी आक्रमण कर बैठा है तथापि हम जगत्में आबरूदार बननेकी मिथ्या चेष्टा कर रहे हैं। यह कितने खेदकी बात है ? आज हम शरीरकी कुरूपता मिटानेके लिये प्राणपणसे प्रयत्न करते हैं, परंतु ज्यों-ज्यों स्थूलके प्रति हमारा आकर्षण बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों सूक्ष्म—मन, बुद्धि, चित्त एवं आत्माके प्रति हमारी उपेक्षा भी बढ़ती जा रही है। इसीसे हमारे अन्तःकरणमें गंदगी बढ़ी जा रही है। इसी कारणसे हमें धर्मचिह्नोंको धारण करनेमें भी लज्जाका अनुभव हो रहा है। हमारा युवकसमुदाय आज शुभप्रसंगमें कुंकुम-तिलक करनेमें भी शर्माता है। इतना ही नहीं, आजकल लड़कोंको अपने ही विवाहादिमें भी कुंकुम-तिलक न करानेका दृढ़ आग्रह हो रहा है !

पिछले दिनोंकी एक ताजी घटनाका उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। गत वैशाख मासमें एक पढ़ा-लिखा नवयुवक अपने ही विवाहमें कन्यादानके समय कुंकुम-तिलक करानेसे साफ इन्कार कर बैठा ! कन्याका पिता तिलक करानेके लिये प्रार्थना करने लगा, परंतु वरने स्पष्ट कह दिया कि 'मैं ऐसे पुराने रिवाजोंको नहीं मानता।' बात बढ़ गयी, दोनों तरफसे खींचातानी होने लगी। आखिरकार कन्याके पिताने स्पष्टरूपसे घोषणा कर दी कि यदि तुम तिलक करानेका इन्कार करोगे तो मैं जो पाँच हजार रुपये तिलक-दहेजके रूपमें देनेवाला था, वह भी नहीं दूँगा; क्योंकि तिलक-दहेज भी पुराना ही रिवाज है।

आखिर वरके पिताके द्वारा धमकाये जानेपर और प्रायः डेढ़ घंटेकी बहसके बाद वरका मन कुछ पलटा। केवल आधे घंटेके लिये उसने तिलक लगाना मंजूर किया। आधे घंटेके बाद उसने स्वयं अपने रूमालसे तिलकको पोंछ डाला ! इस प्रकार शायद उसने अपनी सुधार-सभ्यताकी टाँग ऊपर रक्खी।

पुराने लोगोंका मन खिन्न था। तिलक पोंछना अपशकुन भी माना ही जाता है ! बड़ी अवाञ्छनीय घटना हो गयी। बारात विदा हुई। वर अपनी मोटरमें आगेके भागमें—ड्राइवरके पास बैठा था। मोटर वेगसे चल रही थी। बीचमें दैववशात् एक भरी हुई ट्रकसे टक्कर हो गयी ! आगेका काँच टूट गया और काँचका एक तीखा टुकड़ा उड़कर वरके कपालमें घुस गया ! औरोंको भी छोटी-मोटी चोटें आयीं ! परंतु वर तो बेहोश हो गया। आखिर उसे नजदीकके शहरके एक अस्पतालमें ले जाया गया, थोड़ा आपरेशन करनेके बाद ४–६ घंटे बीतनेपर वह होशमें आया ! परंतु सारे कपालपर पट्टी बँधी हुई थी। अपने घर पहुँचनेके बाद भी एक महीनेके बाद उसे आराम हुआ; पर कपालके मध्यभागमें, जहाँ धारदार काँच घुस गया था, वहाँ पाव इंच गहरा गड्ढा रह ही गया। अब वह तो जीवनभरके लगे हुए इस तिलकको कैसे पोंछेगा ?

हमारे इस सभ्य कहलानेवाले समाजकी करुण कहानी कहाँतक कहें ? सच तो यह है कि आज वस्तुको नहीं, हम पैकिंगको देखकर नाच रहे हैं; ग्रन्थको नहीं, टाइटलको देखने लगे हैं। दर्पणमें मुख देखकर अपने ही बाह्य सौन्दर्यको देखते हुए हम फूले नहीं समाते। जिस हमारे बाह्य सौन्दर्यपर हम लट्टू बने बैठे हैं, उसीके अंदर असत्य, अनीति, असंयम, काम, क्रोध, लोभ, विश्वासघात एवं विषयकी दुर्गन्ध बढ़ रही है; जीवनका आन्तरिक सौन्दर्य नरककी खान बनता जा रहा है ! यह हमारी आजके युगकी सौन्दर्योपासना है ! अब जरा सच्ची सौन्दर्योपासनाके प्रति भी ध्यान दें।

यदि हम आन्तरिक दृष्टिसे देखें तो सच्चा सौन्दर्य आत्मामें है। जब इस शरीरसे आत्मा निकल जाता है, तब शरीर चाहे जितना सुन्दर हो, भयानक, बीभत्स और सर्वथा कद्रूप बन जाता है। जिस सौन्दर्य-दृष्टिसे मानव अनेक प्रसाधनोंका उपयोग करते हैं, जिस शरीरकी मानी हुई सुन्दरताके लिये कोमल-टाइट कपड़े, अलंकार और नित्य नवीन फैशनकी भद्दी पोशाकें पहनते और रंग-रोगन लगाते फूले फिरते हैं, वही शरीर आत्माके अभावसे एक क्षणमात्रमें कुरूप बन जाता है। जिस सौन्दर्यकी जड़ एवं बुद्धिहीन उपासनाके लिये हम नित्य-नये फैशनोंको अंगीकार कर रहे थे, वह शरीर निर्जीव पड़ा

है, पर मृत्युमें कोई नयी फैशन हम नहीं ला सकते। आत्माके अभावमें शरीरमें दुर्गन्ध फैल जाती है, उस बदबूको कोई पफ-पाउडर या सैंट-इत्र नहीं मिटा सकता। जिस शरीरके धब्बे हम साबुन और पानीसे धोकर 'साफ' होनेका संतोष लेते थे, उसे अब आगकी तीव्र लपटोंके सिवा और कोई साफ नहीं कर सकता।

इन सब बातोंसे यह निश्चय हो गया कि सच्चा सौन्दर्य आत्मामें है। आत्मा वस्तु है और शरीर पैकिंग; आत्मा किताब है और शरीर टाइटल है। आत्माका सौन्दर्य अलौकिक दैवी गुणोंसे बढ़ता है। अतः दैवीसम्पत्तिको बढ़ाना ही सच्ची 'सौन्दर्योपासना' है। यदि सत्य, अहिंसा, सेवा, संयम, दया, क्षमा, नम्रता, सद्ज्ञान, वैराग्य, सादगी और निरभिमानिता आदि सद्गुणोंको तिलाञ्जलि देकर हम केवल देहके बाह्य आकर्षणोंको बढ़ानेमें ही अपने तन, मन, धन और समयको नष्ट करते रहेंगे, तो ऐहिक दृष्टिसे भी हमारा उद्धार कोई नहीं कर सकता। परलोक तो बिगड़ेगा ही। यहाँ जीवनभर हृदयमें अशान्तिकी अग्नि दुर्गन्धपूर्ण जलन बढ़ाती रहेगी और मरनेके बाद भीषण दुर्वासनामयी नरकाग्निमें पचना पड़ेगा।

और यदि हम उपासनाकी दृष्टिसे देखते हैं तो सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाके अनन्त अर्णव तो सच्चिदानन्दघन नन्दनन्दन मनमोहन श्रीकृष्ण हैं, जिनके सौन्दर्यसागरमें रसखान और अलिखान-जैसे विधर्मी पठानोंने भी गोता लगाया और धन्य बन गये। जिन सौन्दर्यधाम नित्य-सुन्दर श्यामके सौन्दर्यसे मुग्ध होकर सूरदासजी, महारानी मीराँ और नरसिंह मेहता-जैसे बड़भागी भक्तोंने अपना जीवन न्योछावर कर दिया, जिन सौन्दर्यधाम श्रीकृष्णकी लीलाको देखनेके लिये ब्रह्मादि देव, ऋषि-मुनिगण एवं सिद्धोंके समुदाय सदा लालायित रहते हैं, जिन सौन्दर्य-सिन्धुका रसपान करनेके लिये व्रजाङ्गनाओंने अपना सर्वस्व दे दिया,—वही हैं हमारे तन, मन, धन, ऐश्वर्य एवं सर्वसौन्दर्यके परम आकर (खान)। उन्हींके कृपाकटाक्षद्वारा यह जगत् असत्, जड और अनित्य होनेपर भी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' प्रतीत होता है। जिनके सौन्दर्य-लेशसे ही सब सौन्दर्यवान् बनते हैं, उनकी उपासना ही हमारी 'सच्ची सौन्दर्योपासना' है।

वे सौन्दर्यराशि श्रीनन्दकुमार व्रजभूमिमें 'व्रजसुन्दर' या 'श्यामसुन्दर' हैं, मथुरामें 'सकलसुन्दर' हैं और द्वारका-लीलामें 'भुवनसुन्दर' हैं। वे अपने धाम, नाम और लीलामें 'नित्यसुन्दर' हैं, उनके सौन्दर्यमें कभी न्यूनताकी तो कल्पना ही नहीं है, वह तो प्रतिक्षण नित्य नवायमान दिव्य सौन्दर्य है। अतः यदि हमें सच्चे सौन्दर्योपासक होना है, तो उन्हीं अनन्त असीम नव-नव आकर्षणमय सौन्दर्यघन श्यामसुन्दरकी ही उपासना करनी चाहिये।

केवल मानवताकी दृष्टिको लेकर ही यदि हम सौन्दर्योपासना करना चाहते हैं तो भी हमें अपने अंदर दया-धर्मादि गुणोंकी अभिवृद्धि करनी चाहिये। एक महात्माने दर्पणमें अपना मुख देखते हुए यौवन-मदमत्त मनुष्यको ठीक ही कहा है—

मुखड़ा क्या देखे दरपनमें···

कछु दया धरम नहिं मनमें···मुखड़ा०

हमारा स्थूल भौतिक आकर्षण बढ़ रहा है। उसका मूल कारण है, हमारे अंदर सद्गुणोंकी कमी। स्थूलका आकर्षण कम होते ही सद्गुणोंकी अभिवृद्धि होने लगेगी। हमारी सूक्ष्मबुद्धि शास्त्रों एवं संतोंके वाक्योंको ग्रहण करने लगेगी। हमारे शास्त्र तो स्पष्ट कहते हैं—

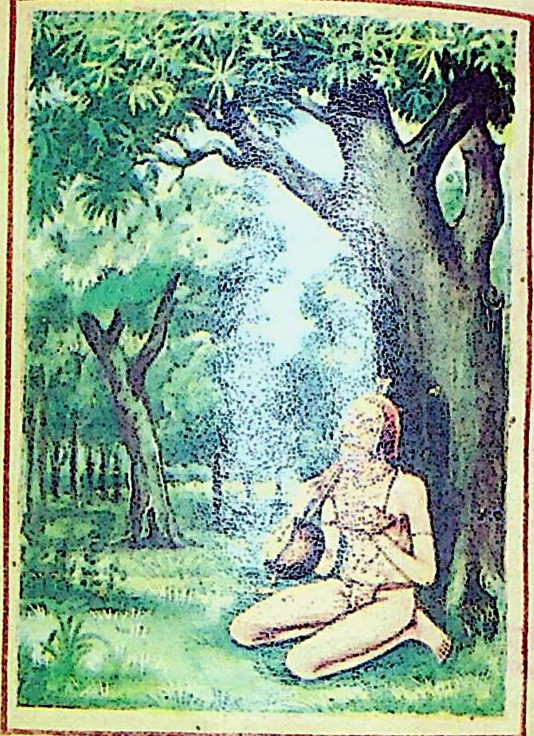
प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिति॥

प्रातःकालमें उठते समय मनुष्यको अपने गतजीवनका नित्य अवलोकन करना चाहिये कि गतजीवनमें मेरा जीवन पशु-जैसा था कि किसी महापुरुष-जैसा ?

यह संसार भगवान् वनमाली विश्वम्भरका उद्यान है—हम सभी मनुष्य उन प्रभुकी विश्ववाटिकाके खिले हुए पुष्प हैं। हमें गुलाब, चमेली, मोगरा आदिके फूलोंके समान सुवासित बनना होगा। भगवान्‌के सुगन्ध-सौन्दर्यमय बगीचेको अधिक सुगन्ध-सौन्दर्यमय बनाना ही हमारी सौन्दर्योपासनाका सुन्दर फल है। यदि हम इस विश्ववाटिकाको अधिक सुन्दर न भी बना सकें, तो कम-से-कम हमारी बुराइयोंसे इस विश्वोद्यानको कण्टकमय, बीभत्स और दुर्गन्धमय बनानेका तो हमें कोई अधिकार नहीं है। एक गुजराती महाकविने ठीक ही कहा है—

'सौन्दर्य पामतां प्हेलां, सौन्दर्य बनवुं पडे।'


मीराँ


सूर


तुलसी


चैतन्य

मीराँ, सूर, तुलसी, चैतन्य

सौन्दर्यको पानेके अधिकारी बननेसे पूर्व हमें स्वयं सुन्दर बनना चाहिये, अन्यथा हमारी सौन्दर्योपासना निरा दम्भ है, मोह है और विनाशधर्मी है।

हम सच्चे सौन्दर्यके उपासक बनें, ऐसी उन सौन्दर्यधाम नित्य नव सुन्दर; सुन्दरताको भी सुन्दर बनानेवाले अप्रतिम परम सुन्दर श्यामसुन्दरसे प्रार्थना है। इत्योम्।

श्रीमानस-प्रतिपाद्य उपासना आदि तीन मार्गोंका निरूपण

(लेखक—श्रीकृपाशंकरजी रामायणी)

भारतीय वाङ्मयमें उपासनाविषयक दो शब्द विशेष उपलब्ध होते हैं—'उपासनम्' एवं 'उपासना'। उप उपसर्गपूर्वक 'असु क्षेपणे' धातुमें 'ल्युट्' प्रत्यय करनेसे 'उपासनम्' शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है 'उपासकद्वारा अपने-आपका अपने उपास्यके समीप निरन्तर प्रक्षेप करना।' इसी प्रकार उप उपसर्गपूर्वक 'आस उपवेशने' धातुसे 'युच्' प्रत्यय करनेके अनन्तर 'उपासना' शब्दकी संसिद्धि होती है, जिसका अर्थ है 'समीप बैठना।' अर्थात् जिस क्रियाके द्वारा हम अपने उपास्यके समीप बैठ सकें, अपने उपास्यका मङ्गलमय सांनिध्य प्राप्त कर सकें, उस क्रियाका नाम 'उपासना' है। यह हुई शब्द-शास्त्रानुसार 'उपासना' शब्दकी संक्षिप्त व्युत्पत्ति।

इस भौतिकवादी युगमें बकवाद बहुत बढ़ गया है, दिखावा बहुत हो गया है। वस्तुतः उपासना-साधनाकी ओर विशेष अभिरुचिके दर्शन नहीं होते हैं। यदि किसीमें उपासना मिलती भी है तो उस उपासनाका दृष्टिकोण भी भौतिकवादी ही होता है, किंवा अत्यन्त अनुदार होता है। कोई भूतकी उपासना कर रहा है तो कोई प्रेतकी सिद्धि कर रहा है; कोई यक्षिणी सिद्ध कर रहा है तो कोई कर्णपिशाची-सिद्ध्यर्थ ध्यान लगाये बैठा है; कोई निशीथ वेलामें श्मशानपर आसुरी-मन्त्र जप रहा है तो किसीका ध्यान खोपड़ीकी संसिद्धिमें है। कई लोग केवल उपासनाका दम्भ ही करते हैं। वे तो उपासक हैं ही नहीं। सच तो यह है कि कितने प्रकारके अच्छे-बुरे सच्चे-झूठे उपासक और उपास्य आज इस कराल-कालमें दृश्यमान हैं, उनका वर्णन और ज्ञान भी असम्भव है। परंतु विचारणीय प्रश्न है कि क्या ये उपासनाएँ विहित हैं? क्या इनमें शास्त्रीय दृष्टिकोणसे औचित्य है? क्या इन उपासनाओंद्वारा जीवका ऐहिकामुष्मिक, लौकिक-पारलौकिक कल्याण सम्भव है?

पूज्यपाद आचार्यचरण श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज लिखते हैं कि—

जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूत गन घोर।
तेहि कइ गति मोहिं देउ बिधि जो जननी मत मोर॥
(रामचरितमानस, अयोध्या०)

भगवान् गीताचार्य श्रीकृष्णचन्द्रने भी इन उपासकोंको तामस उपासककी संज्ञा दी है। 'प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।' (गीता १७। ४) और इनकी अधोगति भी सुनिश्चित ही है।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गीता १४। १८)

स्मरण रहे—जीवमात्रके सच्चे उपास्य, परम प्रेमास्पद, परमाराध्य तो केवल भगवान् श्रीराम ही हैं। 'कीर्तनीयः सदा हरिः' श्रीमानसके उत्तरकाण्डमें अनुभवी भक्तिपरायण श्रीभुशुण्डिजी कहते हैं—

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही॥
(मानस० उत्तर०)

श्रीगोस्वामीजी विनय-पत्रिकामें बहुत सुन्दर शब्दोंमें कहते हैं—

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ बिरद-हित हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब माया बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥
(विनय० १०१)

स्मरण रहे जिनका आकर्षण श्रीहरिके पावन-पाद-पद्मोंमें है, उन्हें भक्तिविरोधी कोई कार्य कथमपि न करना चाहिये। किन्हीं क्षुद्र उपास्योंकी उपासनामें व्यर्थ समय

यापन नहीं करना चाहिये। भौतिकवादी, कपोलकल्पित, शास्त्रविरहित पंथमें आस्था नहीं रखनी चाहिये। केवल श्रीरामोपासनाके द्वारा ही सम्पूर्ण देव-उपदेव और प्राणिमात्र संतृप्त और संतुष्ट हो जाते हैं। 'यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः' अर्थात् जैसे वृक्षकी जड़में जल देनेसे उसकी शाखाएँ, प्रशाखाएँ स्वयं हरी-भरी और तृप्त हो जाती हैं। परम प्रभुकी उपासना, श्रीराम-कृष्णकी उपासना, श्रीहरि-हरकी उपासना इतनी महीयसी उपासना है।

भारतीय साहित्यमें अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये, उन परमप्रेमास्पद भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्णादिकी उपलब्धिके लिये अनेकानेक सात्त्विक मार्गोंका अनुष्ठान विहित है। उनमें भी भगवती श्रुतिद्वारा प्रतिपाद्य तीन विशिष्ट मार्ग तो अत्यन्त प्रशस्त हैं। ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और उपासना-मार्ग—ये तीनों ही मार्ग सुन्दरतम हैं; तीनों ही भवसंतरणके सुन्दर साधन हैं और तीनोंके ही साधक तीनोंमें विशिष्ट आनन्दकी समुपलब्धि करते हैं।

को बड़ छोट कहत अपराधू।
सुनि गुनि भेद समुझिहहिं साधू॥
(बालकाण्ड)

श्रीरामचरितमानसके एक पावन प्रसङ्गके आधारपर इस परम पवित्र मार्गत्रयका संक्षिप्त विवेचन ही इस लेखका अभीष्ट विषय है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपनी अनोखी सेनाके साथ समुद्र पार जानेके लिये प्रस्तुत हैं। श्रीनल और नीलको सुन्दर सुयश मिला। सेतु निर्मित हो गया। उस पावन सेतुकी रचना मनोहारिणी थी। उस मङ्गलमय सेतुका एक-एक पाषाण श्रीरामनामसे अङ्कित होकर संयुक्त हुआ था। श्रीरामकी मुखाम्बुजश्रीपर प्रसन्नता नृत्य कर रही थी। अपने स्वामीको परम प्रसन्न देखकर सम्पूर्ण वानरोंके समुदायोंने अपनेको धन्य समझा। वे भी किलकिला रहे थे। श्रीसुमित्रानन्दनकी प्रसन्नताका पारावार न था। 'अब शीघ्र ही रावणका विनाश होगा, माँ सीताके शुभ दर्शन होंगे।'—यह पवित्र भावना किस भावुक हृदयको नरीनृत्यमान नहीं करेगी? परंतु केवल सेतु-निर्माण ही समुद्रके पार जानेके लिये सम्भवतः पर्याप्त न था। आवश्यकता थी यात्राके पूर्व श्रीशिव-प्राणप्रतिष्ठाकी। ठीक भी तो है, शिवके बिना शिवत्व कहाँ? और जब शिवत्व ही नहीं तो क्या सौन्दर्य सच्चे अर्थमें प्रशस्त होगा? फिर हम देखते हैं सत्यस्वरूप श्रीरामभद्रद्वारा 'शिव'—प्राण-प्रतिष्ठा। क्या कहना है। अब तो मानो 'सत्यं शिवं सुन्दरं' ही चरितार्थ हो गया। श्रीशिव-प्राण-प्रतिष्ठाके बाद ही वानरोंका समुदाय विभिन्न मार्गावलम्बी होकर अनेक मार्गोंका सहारा लेकर समुद्र पार करने लगा। हाँ-हाँ, विभिन्न मार्गोंका आश्रय ग्रहण किया इन वानर सुभटोंने। आश्चर्यचकित न हों, देखें—एक मार्ग तो सेतुका था ही, दूसरा मार्ग निर्मित हो गया सेतुकी ही तरह समुद्रके जलके ऊपर समुद्रके मध्य रहनेवाले जलचरोंका।

अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं।
(मानस० लंका०)

उन्हें श्रीरामकी मुखाम्बुजश्रीने विमुग्ध कर दिया। वे आत्मनिमग्न हो गये—आत्मविस्मृत हो गये। उन्हें अध्यास ही नहीं रहा कि हमारे शरीरके ऊपरसे कोई विशाल वाहनी जा रही है। एक तो किसी चेतन प्राणीके शरीरपर चढ़कर पैरसे जाना ही कठिन, दूसरे विशाल वीरोंका जाना, तीसरे वानरोंकी विशाल वाहिनीका जाना, जो स्वभावतः परम चञ्चल थे; जो सीधे पैर रख ही नहीं सकते, उछल-कूदकर चलना ही जिनका सहज स्वभाव है। धन्य है, श्रीरामका कोटि-कोटि कन्दर्प-दर्पदलन एवं कामके लिये भी कमनीय नयन-मन-प्राणाभिराम नित्य नवायमान अतुल अनन्त सौन्दर्य!

सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु बहुताई॥
देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा। प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥
मकर नक्र नाना झख ब्याला। सत जोजन तन परम बिसाला॥
अइसेउ एक तिन्हहिं जे खाहीं। एकन्ह कें डर तेपि डेराहीं॥
प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे। मन हरषित सब भए सुखारे॥
तिन्ह की ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरि रूप निहारी॥
चला कटकु प्रभु आयसु पाई। को कहि सक कपि दल बिपुलाई॥
(मानस० लंका०)

परमपावन सेतुबंधके संनिकट ही किसी ऊँचे शिलाखण्डपर चढ़ गये भगवान् श्रीराघवेन्द्र रामचन्द्र और अपने करुणामय जलजोपम विशाल नेत्रोंसे समुद्रका विस्तार अवलोकन करने लगे। 'चितव'के साथ यह 'कृपालु' शब्द एक विलक्षण भाव द्योतित कर रहा है। 'सिंधु बहुताई' को देखनेके व्याजसे श्रीरामने जलके बीच

रहनेवाले जलचरोंको निष्पाप कर दिया—निर्भय कर दिया। साथ ही मूक निमन्त्रण भी दिया कि 'तुम लोग जलसे बाहर आ जाओ।' धन्य है कृपालुता! जब श्रीराम स्वयं चाहते हैं तो फिर क्या है ? बात ही बन गयी। अकारण-करुण करुणावरुणालयके 'सान्द्रानन्दपयोद-सौभगतनु'के दर्शनके लिये जलचरोंकी भीड़ उमड़ पड़ी। सम्पूर्ण जलचरवृन्द जलके ऊपर आ गये। अत्यन्त विशाल शरीरधारी अनेक प्रकारके मकर, नाक, मत्स्य और सर्पादि जलचर प्रभुके कामाभिराम स्वरूप-सुधा-सिन्धुमें अवगाहन कर रहे हैं। वे अपने स्वाभाविक, जन्मजात, परम्परागत पारस्परिक वैर-भावको भूल गये हैं। भय नामक भाव उनके पास है ही नहीं। प्रभुको देखकर वे निर्भय हो गये हैं। श्रीरामस्वरूप-सुधासिन्धुमें वे इतने निमग्न हैं कि 'टरहिं न टारे'। यद्यपि समुद्रमें जल ही जल तो है, परंतु उस समय तो लोगोंने देखा और कहा कि समुद्रमें जलचर ही जलचर हैं। जलका-अदर्शन है। जल जलचरोंसे आच्छादित है। जलचरगण श्रीहरिके मनहरण स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन करके प्रेममग्न हैं। इस पदमें 'हरि' शब्द बड़ा भावपूर्ण शब्द है। 'हरतीति हरिः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार श्रीराघवेन्द्र हरिने इन जलचरोंका पापापहरण कर लिया। उनकी पारस्परिक वैरभावनाकी परिसमाप्ति कर दी। उनका भय समाप्त कर दिया और फिर उनके मन भी अपहृत हो गये, श्रीहरिके मनहरण स्वरूप-सौन्दर्यके द्वारा। वे सब कुछ भूलकर लगे श्रीरामको एकटक—अपलक-दृष्टिसे देखने। इनके शरीरके ऊपरसे वानरोंकी विशाल सेना चली जा रही है, परंतु वे तो 'मगन भए हरि रूप निहारी' संज्ञाशून्य हैं। धन्य है! धन्य है!

आकाश भी वानर-सुभटोंसे परिपूरित हो गया। आकाशमार्गसे वानरोंका समुदाय उड़कर समुद्र पार कर रहा है। आश्चर्य है! ऐसा तो कभी नहीं देखा गया। एक आश्चर्य तो थलचरका नभचर बनना; दूसरे, ध्यानसे देखें इनके पंख भी लगे हुए हैं। पंख भी बहुत मनोरम हैं, लुभावने हैं। पंखके बिना उड़ना सम्भव भी तो नहीं है। इस प्रकार समुद्र पार करनेका यह तीसरा मार्ग भी प्रस्तुत है। 'कपि नभ पंथ उड़ाहिं।'

स्मरण रहे, इन नभचारी वानरोंको पंख भी श्रीराम-कृपाद्वारा ही उपलब्ध हैं। ठीक भी तो है—

'राम बिमुख सिधि सपनेहुँ नाहीं'। हाँ, तो इन्हें भी पंख भगवत्कृपासे ही मिले हैं।

देखी राम सकल कपि सेना। चितइ कृपा करि राजिव नैना ॥
राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा ॥
(मानस० सुन्दर०)

इस प्रकार इन तीनों मार्गोंके द्वारा महाभाग वानरोंने समुद्र पार जानेके लिये अपनी-अपनी यात्रा आरम्भ की।

इस आदर्श प्रसङ्गपर किंवा इन तीनों ही अनोखे मार्गोंपर कुछ गम्भीर विचार आवश्यक है। यदि सत्य ही इस प्रसङ्गको हम जीवनमें समझ लें तो हमें अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्ति, प्रेमास्पदकी उपलब्धि, पदार्थ-चतुष्टयकी सम्प्राप्तिका मार्ग मिल जाय।

समुद्र-संतरणकी ही भाँति भवसंतरण हमें करना है। सेतु-निर्माणकी आवश्यकता है। वह रचना भी परम मनोरम होनी चाहिये। सभी साधन-सामग्री एकत्रित हो गयीं; परंतु पृथक्-पृथक् साधनाएँ जबतक विकीर्ण हैं, तबतक किसी विशेष लक्ष्यकी उपलब्धि नहीं होती है। आवश्यकता है, सम्पूर्ण साधनाओंको श्रीरामनामकी पवित्र एवं मधुर शृङ्खलाके द्वारा संयुक्त करनेकी। सभी साधनाओंका सम्बन्ध श्रीराम-नामसे हो जाय। श्रीराम-नामसे शून्य साधना सुन्दर फल नहीं दे सकती। साधना कैसी भी हो, भक्त किसी भी तरहका क्यों न हो ? श्रीरामनाम तो उसके लिये आवश्यक है ही—'चहूँ चतुर कहुँ नाम अधारा।' श्रीराम-नामकी मङ्गलमयी शृङ्खलामें साधनाएँ निबद्ध हो गयीं। परंतु भव-संतरणोपायमें एक बहुत बड़ी कमी है। किसी भी पथका पथिक क्यों न हो, सिद्धि भले ही उसे पास दीखे, परंतु उसकी उपलब्धि कठिन है—विश्वासके अभावमें। विश्वासके बलका आश्रय पाकर तो साधक सिद्धियोंको 'करतल गत आमलक समाना' कर लेता है। ठीक भी तो है 'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।' बिना विश्वासके तो आयी हुई सिद्धियाँ भी लौट जाती हैं। श्रीरामचरितमानसमें विश्वासके प्रतीक भगवान् भवानी-पति श्रीशंकरजी हैं।

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥
(मानस० बाल०)

भक्तिमार्गके पथिकको सचेत करते हुए करुणासागर

श्रीराम करुणासे प्रेरित होकर हृदय खोलकर स्वयं श्रीमुखसे कहते हैं—

औरउ एक गुपुत मत सबहिं कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥
(मानस० उत्तर०)

रेखाङ्कित वाक्य प्रष्टव्य है कि शंकर-भजन बिना ही क्यों ? यदि यह समझ लें कि—

सिव सम को रघुपति ब्रत धारी। बिनु अघ तजी सती अस नारी॥

तो महान् त्यागी, परम विरागी श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण अथवा अन्यान्य भक्त जो इसी श्रेणीके हैं, उनके नामका उल्लेख क्यों नहीं ? अथवा उनका महत्त्व इस प्रसङ्गमें क्यों नहीं है ? वास्तवमें इस 'संकर भजन बिना' का भाष्य करते हुए गोस्वामीजी अन्यत्र लिखते हैं—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।

अब इन दोनों वाक्योंकी सुसंगति यदि हम सँभालपूर्वक लगावें तो सुस्पष्ट हो जाता है कि 'संकर भजन बिना' का ही स्पष्टार्थ है 'बिनु बिस्वास' अर्थात् विश्वासके बिना श्रीराम-भक्ति कथमपि नहीं उपलब्ध होती है। भगवान् शंकरके 'विश्वास-स्वरूप'की एक मनोरम झाँकी मानसमें ही अवलोकन करें।

श्रीरामचन्द्रजी महाराज श्रीमैथिलीके अपहरणके अनन्तर नराभिनय कर रहे हैं। करुण-विलाप कर रहे हैं। उस करुण-विलापको श्रवण करके चेतनकी तो बात ही क्या, जड भी करुणाभिभूत हो गये। उसी समय श्रीसती और श्रीशंकरको उनके उस रुदन करते हुए करुण-स्वरूपके दर्शन होते हैं। श्रीसती तो कुछ और ही समझ लेती हैं। 'खोजइ सो कि अग्य इव नारी।' यह दक्षसुता श्रीसतीकी धारणा है। परंतु श्रीशंकरजी अडिग हैं। यहींपर विश्वास-स्वरूपकी उच्चतम भावनाके दर्शन होते हैं। श्रीशंकर सोचते हैं—यद्यपि प्रभु 'अग्य इव' श्रीसीतान्वेषण अवश्य कर रहे हैं परंतु हैं ये 'चिद्रूप'। हैं ये 'ग्यान-अखंड एक सीतावर'। इनकी सर्वज्ञता संदेहास्पद नहीं है। यद्यपि ये करुण-विलाप कर रहे हैं, परंतु ये वास्तवमें दुखी नहीं हैं। हैं ये 'सुख-स्वरूप रघुवंश-मणि' और तब हम सुनते हैं, विश्वास-स्वरूप श्रीशंकरकी भावुक वाणीद्वारा प्रेमाभिभूत प्रशस्ति—

जय सच्चिदानंद जग पावन। अस कहि चले मनोज नसावन॥
(मानस० बाल०)

रेखाङ्कित वाक्य अत्यन्त गम्भीर आशय रखते हैं। पाठक इनका मनन करें। तात्पर्य कि अनुकूल परिस्थितियोंमें तो हर एक विश्वस्त हो सकता है, परंतु प्रतिकूल परिस्थितियोंके समुत्पन्न होनेपर भी जो विश्वास न डिग सके वही सच्चा विश्वास है। अस्तु, स्पष्ट हो गया कि किसी भी पथका पथिक क्यों न हो, उसे शंकरकी आवश्यकता तो है ही और उपासकको तो उनकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि—

याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।
(मानस० बाल०)

अतः सभी साधना-सम्पन्न होनेपर भवसंतरणके पूर्व विश्वासकी परम आवश्यकता है; अतः श्रीरामेश्वरकी स्थापना होती है। तदनन्तर हम तीन मार्गोंका दर्शन करते हैं। इन तीनों मार्गोंका—'नभपथ' 'जलचर-पथ' और 'सेतुपथ'का बड़ा सुन्दर विश्लेषण है। इन मार्गोंका एक और नाम है। ज्ञान-मार्ग, कर्ममार्ग और उपासनामार्ग।

नभपथसे उड़कर जानेवाले ज्ञानमार्गके साधक हैं। इनको अपने पक्ष किंवा बलका ही आश्रय है। ज्ञानमार्गके यात्रीको भी अपने बलका ही भरोसा रहता है 'निज बल ताहीं' श्रीमुखवाक्य है। उसके उड़नेमें कोई आश्रय नहीं है। ज्ञानपथ कुछ इसी प्रकार है। ज्ञानके पथको कहा गया है 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।'

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
(मानस० उत्तर०)

जैसे छुरेकी धारपर चलना कठिन है, उसी प्रकार ज्ञान-मार्गकी साधना भी बहुत कठोर है। पतनकी आशंका पग-पगपर है।

दूसरा मार्ग है—कर्मका। इस मार्गमें आश्रय अवश्य है; परंतु भीषण भय है—उस आश्रयमें। क्वचित् एक जलचर भी इतस्ततः हुआ तो सीधे समुद्रमें गोता लगानेका भय है; केवल डूबनेका ही डर नहीं है। उसे जलचर भी अपना भक्ष्य बना सकते हैं। मात्स्यन्याय तो प्रसिद्ध है ही। अर्थात् कर्म-मार्गमें कर्मकी क्रिया करनेमें—संकल्प आदिमें तनिक भी व्यतिक्रम हुआ कि अर्थसे अनर्थ सम्भाव्य है। सृजनसे संहार भी हो सकता है। कल्याणके स्थानपर विनाश भी सम्भव है।

इसके अनेक उदाहरण पढ़ने और देखनेमें आते हैं। प्राचीन भी और अर्वाचीन भी। परंतु भव-संतरणका श्रुतिप्रतिपाद्य मार्ग तो है ही और साधकगण उस मार्गके द्वारा भी भव-संतरण करते ही हैं। मार्ग भी प्रशस्त है। परंतु 'गहना कर्मणो गतिः' वाक्य भी प्रसिद्ध है।

तीसरा मार्ग है—उपासना अथवा भक्तिका। यह मार्ग उनका है जिनके पास अपना बल नहीं है। 'जनहिं मोर बल' श्रीमुखवाक्य है। इस पथका पथी यदि अपने बलका स्वयं अनुभव करे अथवा उसे अपने पौरुषका अभिमान हो तो वह इस भक्तिमार्गका सच्चा यात्री नहीं है। भक्त नहीं है। उसके परम बल भगवान् श्रीराम ही हैं—'सुने,री मैंने निर्बलके बल राम।' भक्तका निर्बलत्व ही उसका परम बल है। वही भगवान्‌को आकर्षित करता है। यह मार्ग उनका है जिनके पास अपना कुछ नहीं है। वह तो अपना अपनपौ सर्वदाके लिये समाप्त कर चुका है और अनन्यभावसे सर्वदा हरिस्मरण करता है तथा मङ्गलमय श्रीहरि सदा उसका 'योगक्षेम' वहन करते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

"जिन साधु-भक्तोंका मुझे छोड़कर कोई काम्य और भजनीय नहीं है, उन अपने अनन्य भक्तोंका मङ्गलमय 'योग-क्षेम' मैं ही चलाता हूँ।" गीताके प्रसिद्ध भाष्यकार उदारचेता आचार्य श्रीश्रीधरस्वामी **'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** का भाष्य करते हुए लिखते हैं—**'नित्याभियुक्तानां सर्वदा मदेकनिष्ठानां योगं धनादिलाभं क्षेमं च तत्पालनम्, मोक्षाख्यं च तदप्रार्थितमपि अहमेव वहामि प्रापयामि।'** योग-क्षेमको इस प्रकार भी समझा जा सकता है—

'अप्राप्तस्य प्रापणं योगः, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः' अर्थात् अनुपलब्ध वस्तु (चाहे वह भौतिक पदार्थ हो या भगवदीय पदार्थ हो, किंवा स्वयं श्रीहरि हों) की उपलब्धिको 'योग' कहते हैं और उपर्युक्त उपलब्ध वस्तुओंके परिरक्षणको 'क्षेम' कहते हैं।

कृपालु श्रीरामजी एक अधिकारीके सामने अपना हृदय प्रकट करते हैं। प्रसङ्ग इस प्रकार है कि श्रीदेवर्षि नारदने प्रभुसे पूछा कि 'जब मैं विश्वमोहिनीसे विवाह करना चाहता था तो आपने वह विवाह मुझे क्यों नहीं करने दिया?'

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥
(मानस० अरण्य०)

कुछ लोग श्रीनारदके इस भावभरे भावुक वचनमें भी व्यङ्ग्योक्तिकी कल्पना करके अर्थका अनर्थ करते हैं। परंतु इस वाक्यमें व्यङ्ग्योक्तिकी धारणा ही भ्रममूलक है। यहाँ श्रीनारदके प्रश्नमें उनका स्नेहपूर्ण हृदय उमड़ रहा है। वे कहते हैं—'हे प्रभो! यदि मैं विवाह कर लेता तो निश्चित ही पथभ्रष्ट हो जाता, योगभ्रष्ट भी हो जाता, इसमें संदेह नहीं है। परंतु विवाह कर लेनेपर मैं आपको शाप तो न देता और यदि शाप न देता तो आज आप श्रीमैथिली-वियोगजन्य पीड़ासे संतप्त न होते।' 'अपने लिये अपने उपास्यको कष्ट न देना चाहिये।' भक्त तो इस भावनाका समादर करता है।

जो सेवक साहिबहिं सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥
(मानस० अयोध्या०)

देवर्षि नारदके इन व्यथापरिपूर्ण वचनोंका समुचित प्रत्युत्तर देते हैं श्रीराघवेन्द्र। भगवान् श्रीरामने भक्तोंके परम उत्साहवर्धक, जीवनसर्वस्व उदार वचनोंका उच्चारण हृदय खोलकर किया है। वे वचन भक्तोंको भक्तिपथ-पर चलनेके लिये उत्साहित करते हैं। 'वचनरचना-अतिनागर' ने स्वयं श्रीमुखसे जिन मधुर वचनोंका उच्चारण किया है, उन वचनोंका आनन्द गोस्वामीजीके शब्दोंमें ही लें।

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
अस बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥
(मानस० अरण्य०)

करुणासागर श्रीरामजी आज परम उत्साहपूर्वक भक्तका प्रधान लक्षण, भक्तका और अपना पारस्परिक सम्बन्ध, ज्ञानीका और अपना सम्बन्ध तथा भक्तके प्रति अपने कर्तव्य एवं ममत्वका निरूपण कर रहे हैं। 'हे मननशील महात्मन्! जो साधक सम्पूर्ण भौतिक आश्रयोंका परित्याग करके केवल मेरा भजन करता है। आवश्यकता है कि

साधक एकनिष्ठ हो। एकनिष्ठका तात्पर्य किसीसे विरोध नहीं है। श्रीरामजीका विशेष जोर 'तजि सकल भरोसा' पर है। इसी वाक्यको अन्यत्र भी प्रभुने कहा है—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहाँ बिस्वासा॥
(मानस० उत्तर०)

इस प्रकारके अन्याश्रयशून्य भक्तका मैं सर्वदा परिरक्षण करता हूँ। जैसे बालककी सार-सँभार महतारी (जननी) करती है। 'महतारी' शब्दमें प्रभुने हृदय उँड़ेल दिया है। यह अवधी भाषाका शब्द है। 'महतारी' उस माताको कहते हैं जो पुत्र पैदा करती है। जननी, भारतीय जननी अपने बालकका लालन-पालन स्वयं अपने हाथोंसे करती है। किसी औरका विश्वास नहीं करती है; उसी प्रकार मैं भी अपने अमानी भक्तकी रक्षा स्वयं करता हूँ। यदि भक्त चाहे कि मेरी रक्षा प्रभु न करें तो भी मैं 'अरगाई' अर्थात् बलात् रक्षा करता हूँ; क्योंकि वह अमानी है और मेरा नन्हा-सा बालक है। देदीप्यमान अग्निकणोंका और सुशोभन सर्पका अवलोकन करके बालक ललक उठता है और मचल पड़ता है पकड़नेके लिये। परंतु माँ, वात्सल्यसे परिपूर्ण माँ, भारतीय माँ क्या उसे पकड़ने देती है? कभी नहीं। प्रभु कहते हैं "नारद! तुम भी सर्पग्रहणके लिये प्रयत्नशील थे। कामोपसेवनकी भावना ही तो भयंकर भुजंग है।

काम भुजंग डसत जब जाही। बिषय निंब कटु लाग न ताही॥

परंतु मैं उसे पकड़ने कैसे देता? जैसे एक ममतामयी मातासे पूछा जाय कि 'तुमने अपने बालककी रक्षा क्यों की?' ठीक उसी प्रकार तुम भी पूछते हो कि 'मैं तब विवाह करना चाहता था, फिर आपने क्यों नहीं करने दिया?' क्वचित् तुम मेरे ज्ञानी पुत्र होते तो सम्भवतः मैं उस प्रकार न रोकता, किंतु स्मरण है तुमने कहा था—

जेहि बिधि होइ नाथ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥
(मानस० बाल०)

"फिर मैं तुम्हें कैसे विवाह करने देता। यह ठीक है कि पुत्र जब प्रौढ़ावस्थासम्पन्न हो जाता है, तब वह बात नहीं रहती है। यद्यपि स्नेह उस समय भी रहता है। ज्ञानी मेरा प्रौढ़ावस्थासम्पन्न पुत्र है और अमानी अपनी शक्तिका मान न करनेवाला मेरा अनन्य भक्त 'शिशुवच्छ' है। ज्ञानीको अपना बल रहता है, जब कि भक्तको तो केवल मेरा ही बल रहता है। यद्यपि काम-क्रोधरूपी जीवके स्वाभाविक शत्रु दोनोंहीपर आक्रमण करते हैं। किंतु ज्ञानी उनका निराकरण अपनी शक्तिद्वारा, साधनाद्वारा करता है, परंतु भक्त मेरी ओर लौ लगा देता है। स्वयं निश्चिन्त हो जाता है। ऐसा ही सोचकर पण्डितगण भी मेरा भजन करते हैं और ज्ञानोपलब्धिके बाद भी मेरी परम पावनी भक्तिका परित्याग नहीं करते हैं।"

मार्गत्रयका समन्वय—

चाहे जिस मार्गसे भवसंतरण करना चाहें अथवा उच्चतम पदकी उपलब्धि करना चाहें, किंवा अपने चरम लक्ष्यकी सिद्धि करना चाहें, एक बात आवश्यक है कि उसमें भक्ति अवश्य हो। वह मार्ग प्रेमरससंयुक्त अवश्य हो। बिना भक्ति किंवा प्रेमके वह साधन प्रथम तो उच्चतम पदकी उपलब्धि करा ही नहीं सकेगा, क्वचित् घुणाक्षरन्यायेन चरम पदकी प्राप्ति हो भी जाय तो उसमें स्थैर्य नहीं रहता है, पतनकी आशंका रहती है। आशंका ही क्यों पतन निश्चित रहता है—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥
(मानस० उत्तर०)

यही सोचकर पण्डितवर्ग ज्ञानोपलब्धिके बाद भी श्रीराम-भजन परित्याग नहीं करते हैं—

अस बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

सरण रहे—तीनों ही मार्गोंमें भगवत्-कृपादृष्टिकी परम आवश्यकता है। आकाशगामी अर्थात् ज्ञानीको—

राम कृपा बल पाइ कपिंदा। भए पच्छजुत मनहुँ गिरिंदा॥

जलचर-पथगामी अर्थात् कर्मकाण्डीको—

सेतुबंध ढिग चढ़ि रघुराई। चितव कृपाल सिंधु बहुताई॥

सेतुपथगामी अर्थात् उपासकको—

अस कौतुकि बिलोकि द्वौ भाई। बिहँसि चले कृपालु रघुराई॥

उपसंहार—

पहले मार्ग—ज्ञानमार्गमें आश्रय है ही नहीं,

मात्र अपना ही बल है। दूसरे मार्गमें, कर्ममार्गमें आश्रय है अवश्य, परंतु सुदृढ़ नहीं है। पतनकी गम्भीर आशंका है। तनिक भी साधनमें त्रुटि होनेपर महान् अनर्थ सम्भाव्य है। तीसरा मार्ग—उपासनामार्ग सुदृढ़तम है। इस पथकी प्रशस्ति करते हुए भगवान् श्रीराम श्रीमुखसे कहते हैं—'सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी'। भाव यह कि अन्य पथ दुर्गम हैं, किंतु भक्ति-पथ—प्रेमपंथ किंवा उपासना-मार्ग अत्यन्त सुगम पन्थ है। प्रभु और भी कहते हैं—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपबासा॥

सबसे सुन्दर यह है कि उपासनामार्ग (सेतुपथ) मेरे रामजीको भी अच्छा लगता है। अच्छा ही नहीं, बहुत अच्छा लगता है।

बाँधि सेतु अति सुदृढ़ बनावा। देखि कृपानिधि के मन भावा॥

श्रीरामचरितमानसमें साधना-रहस्य

(लेखक—डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

भारतीय सभ्यताने गुरुको बहुत ऊँचा स्थान दिया है। गुरुको ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरके समान ही नहीं माना है, बल्कि यहाँतक कहा है कि 'गुरु और गोविन्द दोनों यदि पास-पास खड़े हों तो गुरुके चरण पहले छुए, क्योंकि गुरुके द्वारा गोविन्दके दर्शन सम्भव हुए।' श्रीरामचरितमानसमें गुरु-महिमाकी यह परम्परा सुरक्षित है।' गुरुके चरण क्या गुरुकी चरण-रजतक अलौकिक गुणसम्पन्न होती है—यह भक्तवर तुलसीदासजीका मत है।

'समन सकल भव रुज परिवारू।'

गुरु-चरणके केवल एक नखकी ज्योति—

'सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥'

'दलन मोह तम सो सप्रकासू।'

बालकाण्डके संस्कृत मङ्गलाचरणमें सरस्वती और गणेश, शिव और पार्वती, गुरु, वाल्मीकि और हनुमान्, सीताजी और श्रीरामचन्द्रजी—इन नौकी वन्दना की गयी है। इस क्रममें गुरुका स्थान पाँचवाँ है। गुरुके पहले चारकी वन्दना है, गुरुके पश्चात् चारकी वन्दना है, दोनोंके ठीक बीचमें गुरु आते हैं। जैसे किसी अमूल्य रत्नको कोई डिब्बेमें रखकर डिब्बेके ऊपर और नीचेके भागोंको मिलाकर बंद कर दे, वैसे भक्तवर तुलसीदासजीने बड़े प्रेमसे गुरुको देवी-देवताओं और योगियोंके बीचमें सुरक्षित स्थान दिया है।

अपने देशकी गुरु-महिमा-परम्परासे प्रभावित होकर अध्यात्मसुखकी खोजमें हम सबसे पहले गुरुकी खोजमें अग्रसर होते हैं। अपना गुरु निर्धारित कर लेनेके पश्चात् बहुधा हम आध्यात्मिक पुरुषार्थके प्रति उदासीन हो जाते हैं; क्योंकि हम इस विश्वाससे संतुष्ट हो जाते हैं कि गुरु-कृपासे सब कार्य स्वयं सिद्ध हो जायगा।

परंतु वास्तविक सत्य यह नहीं है। आध्यात्मिक सरोवर-के तापहर निर्मल जलतक पहुँचनेमें न तो गुरु-खोज प्रथम सोपान है, न अन्य आवश्यक स्थितियोंके अभावमें गुरुकृपा सर्वसिद्धिप्रद है।

भक्तवर तुलसीदासजी कहते हैं—

मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सम।

इससे यह अर्थ निकलता है कि सद्गुरुप्राप्ति एक बात है। इसके अतिरिक्त दूसरा पक्ष भी है जो साधककी आन्तरिक अवस्था है; क्योंकि यदि शारदा-पति भी गुरु हों तो वे मूर्ख साधकको तारनेमें असमर्थ होंगे। उपर्युक्त कथनसे यह बात पुष्ट होती है कि गुरु-प्राप्ति गौण है। जो मुख्य है वह साधकका हृदय है।

× × ×

'मूरख' और 'मूरुख' रूपसे 'मूर्ख' शब्द तीन बार मानसमें आया है। इसका एक समानार्थ शब्द 'मूढ़' है। इसका प्रयोग मानसमें लगभग ३० बार हुआ है लेकिन 'मूढ़'से प्रायः विचारहीन व्यक्तिका अर्थ निकलता है।

जैसे—

बोले बिप्र सकोप तब नहिं कछु कीन्ह बिचार।
जाइ निसाचर होहु नृप मूढ़ सहित परिवार॥

परंतु 'मूरख', 'मूरुख', 'मंदमति' और 'मतिमंद' पर्यायवाची रूपसे मानसमें प्रयुक्त हुए हैं।

तुलसीदासजीकी कवितामें एक बात यह है कि कभी-कभी शब्दोंको वे विशेष अर्थमें प्रयोग करते हैं जैसे 'रुचिर', 'खरारि', 'बड़भागी'का प्रयोग मानसमें उन्होंने किया है।

'मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुरु मिलहिं बिरंचि सम।' में कविवरने एक प्रमुख सिद्धान्त स्थापित किया है। इसलिये 'मूरख'से कविवरका क्या अभिप्राय है यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। विचारार्थ शंकर भगवान्‌की इस उक्तिमें 'मूरुख'का अर्थ देखिये।

बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा॥

क्यों? 'मूरुख' क्यों? क्योंकि लेखा वही करेगा जो प्रभुके ऐश्वर्यको नहीं समझता होगा। असीमकी गिनती करके अनन्तको एक निश्चित अङ्कमें सीमित करनेका प्रयत्न एक 'मूरुख'का प्रयास है; क्योंकि जो असीम है वह असीम है। अनन्तशक्तिसम्पन्न प्रभुकी लीलाकी विविध विचित्रता तथा उनके अकथ गुणोंकी सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।

महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥

वानर सृष्टिके आदिकालसे चले आये हैं; परंतु जिस 'बानर कटक'का शिवजीने वर्णन किया, वैसी वानरसेना उस समयके पूर्व कभी नहीं हुई थी। इसका कारण स्पष्ट है। वह सामान्य वानर-सेना नहीं थी। उसके सम्बन्धमें लंकेशके दूतने कहा—

....................बदन कोटि सत बरनि न जाई॥
नाना बरन भालु कपि धारी। बिकटानन बिसाल भयकारी॥
अमित नाम भट कठिन कराला। अमित नाग बल बिपुल बिसाला॥
... ...
ए कपि सब सुग्रीव समाना। इन्ह सम कोटिन्ह गनइ को नाना॥
... ...
नाथ कटक महँ सो कपि नाहीं। जो न तुम्हहि जीतै रन माहीं॥

एक-एक बन्दर त्रिलोक-विजेता रावणसे अधिक शूरवीर और बली था। ऐसे अभूतपूर्व बली अगणित भालु-कपि कहाँसे एकत्रित हो गये? यह ब्रह्माका कार्य नहीं था। यह—

'राम तेज बल बुधि बिपुलाई।'

—का साक्षात् प्रमाण था। जो यह न समझ सके कि प्रभुकी लीला कैसी अनन्त है, उसकी असीम विचित्रता कैसी है, प्रभुकी विपुलता कैसी अपार है और प्रभुके सम्बन्धमें अन्य कुछ सोचे, वह मूर्ख है, मतिमंद है।

अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान।
जो मतिमंद बिमोह बस हृदयँ धरहिं कछु आन॥

ब्रह्माजीने खगपतिसे कहा था—

जान महेस राम प्रभुताई।

इसलिये शिवजीने पार्वतीजीसे जब कहा—

बानर कटक उमा मैं देखा। सो मूरुख जो करन चह लेखा॥

तो कैलासपतिका संकेत यह था कि अभूत और अद्वितीय वानरसेना करुणानिधान प्रभुकी अनन्त लीलाका प्रमाण थी और वह निश्चय ही मूर्ख होगा जो प्रभुकी असीम प्रभुताईका लेखा करनेका विचार करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसमें मूर्खताका एक लक्षण यह है कि प्रभु कैसे और किस-किस प्रकारसे असीम हैं—यह न जानना।

अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई॥

मूर्खताका दूसरा लक्षण है—करुणानिधान प्रभुसे छल करना; जैसे जयन्तने किया—

अतिकृपाल रघुनायक सदा दीन पर नेह।
ता सन आइ कीन्ह छलु मूरख अवगुन गेह॥

छल भी किससे किया, जो घट-घटवासी, अन्तर्यामी प्रभु हैं!! करुणामयके दास निर्मलहृदय होते हैं। इस कारण उनको बहुत प्रिय होते हैं। छल-कपट प्रभुको बिल्कुल नहीं अच्छा लगता—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

देवेन्द्र-पुत्र होकर असत् व्यवहार किया, पाप किया, करुणानिधानसे छल किया। मंदमति-सा व्यवहार किया। मूर्खता की। समुचित फल पाया। यदि और किसीसे ऐसा अक्षम्य व्यवहार करता तो इसके पाप-कर्मके लिये वह जयन्तका वध कर देता; परंतु करुणामय प्रभु अनन्त दयावान् हैं। इसलिये—

'एक नयन करि तजा भवानी।'

करुणानिधानके प्रति इस छल-भावके कारण शिवजीने छः पंक्तियोंमें चार बार जयन्तको 'सठ', 'महामंदमति', 'मूढ़ मंदमति' और 'मूरख' कहकर सम्बोधन किया है।

कारणरहित दयालु श्रीरघुनाथजीसे वही छल-कपट करेगा, जिसका उनके चरण-कमलमें प्रेम-भाव न हो। इस व्यवहारसे मिलती-जुलती एक दूसरी बात है, जिसकी उत्पत्ति भी प्रभुके पदकमलमें प्रीति न होनेके कारण होती है। वह है 'करुणामय प्रभुका भजन नहीं करना; जान-बूझकर नहीं करना जैसा राक्षसोंका स्वभाव था। यह भी 'मूरख हृदय'का लक्षण है। कविवर तुलसीदासजी कहते हैं—

उमा राम मृदु चित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परमगति सो जियँ जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥
अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमंद ते परम अभागी॥

तथा—

निसिचर अधम मलाकर ताहि दीन्ह निज धाम।
गिरिजा ते नर मंदमति जे न भजहिं श्रीराम॥

'मूरख हृदय' का तीसरा लक्षण यह है कि वह जयन्तके समान 'अवगुन गेह' होता है या निशाचरोंके समान 'अधम मलाकर', नीच तथा पापकी खान होता है।

उपर्युक्त उदाहरणोंसे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'मूरख हृदय' से कविवर तुलसीदासजीका यह अर्थ है कि—

(१) वह व्यक्ति जो प्रभुकी अतुलित प्रभुताईको तथा उनकी अकथ-लीलाकी अनन्त विचित्रताको नहीं समझता। जिसको अभी यह विश्वास नहीं हुआ है कि प्रभुके समान 'अतिसय नहिं कोई।'

(२) वह व्यक्ति जो करुणानिधानसे अकारण ही छल-कपटका व्यवहार करता है अथवा हठ करके उनका भजन-स्मरण नहीं करता।

(३) वह व्यक्ति जो पापकी खान होता है, दोष-युक्त होता है, दोष-ग्रहण जिसका स्वभाव होता है।

× × × ×

अब प्रश्न यह है कि इन अशुभ लक्षणोंके नाशका क्या उपाय है? क्योंकि यदि हम 'मूरख हृदय' बने रहे तो ब्रह्मा भी हमारी सहायता करनेमें असमर्थ रहेंगे।

सर्वप्रथम 'मूरख हृदय'का अन्तिम लक्षण लिया जाय अर्थात् दोषसे प्रीति। यदि हम मानसमें प्रभुके शबरीको नवधाभक्तिके उपदेशकी ओर ध्यान दें तो देखेंगे कि पहली बात जो करुणानिधान श्रीरघुनाथजीने कही वह यह है—

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।

सबसे पहली बात साधक यह करे कि सत्सङ्गका उपाय करे। ऐसा क्यों किया जाय? इसका कारण यह है कि—

बिनु सतसंग बिबेक न होई।

और वह विवेक यह है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

कविवर तुलसीदासजी यह नहीं कहते कि यह सृष्टि गुण-दोषयुक्त किसी प्रकार बन गयी। उनका कहना है कि इस विश्वको करतारने जान-बूझकर 'गुन अवगुन साना' बनाया—'कीन्ह करतार।' यदि सृष्टिमें दोष हैं तो ये कुछ सोच-विचार करके, किसी अभिप्रायसे जान-बूझकर करतारने रक्खे हैं—

अस बिबेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहिं मनु राता॥

इसलिये हमें दोषोंसे घृणा नहीं करनी चाहिये। केवल उनके प्रति त्याग-भावना बनाये रखना ही अभीष्ट है, अतः दोषसे प्रीतिके नाशका उपाय सत्सङ्गद्वारा विवेककी प्राप्ति है; चाहे सत्सङ्ग साधु-महात्माओंका हो या इनके अभावमें सद्ग्रन्थोंका।

सत्सङ्गसे दूसरा लाभ यह होता है कि इसके द्वारा प्रभुकी लीला जानने-समझनेका अवसर मिलता है।

सुनिअ तहाँ हरि कथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई॥

मुनियोंने करुणामयकी मोक्षदा लीला नाना भाँतिसे गायी है; क्योंकि—

हरि अनंत हरि कथा अनंता।

अनन्त कथाओंके श्रवण तथा ज्ञानसे प्रभुकी बहु-विधि अनन्तता समझमें आती है—प्रभुके बलकी अनन्तता, उनकी करुणाकी असीमता, उनकी अपार अलौकिकता। 'मूरख हृदय' प्रभुकी अतुलित प्रभुताईमें विश्वास नहीं

कर पाता। परंतु तरह-तरहकी हरिकथाएँ सुनकर या पढ़कर उसका यह दोष नाशको प्राप्त होता है।

मूर्खताका तीसरा लक्षण यह है कि 'मूरुख हृदय' प्रभुसे छल-कपट करता है और उनका भजन नहीं करता। यदि दयामयके प्रति हमारा प्रेम जाग्रत् हो सके तो यह दोष स्वतः नष्ट हो जायगा। गरुड़को शंकर भगवान्ने हरिकथा सुननेका उपदेश दिया था; क्योंकि ऐसा करनेसे 'राम-चरन'में प्रेम ही नहीं, बल्कि अत्यन्त प्रेम हो जायगा—

रामचरन होइहि अति नेहा।

और उन्होंने कहा—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

रघुपति-चरनमें दृढ़ अनुराग हुआ या नहीं। यह हमारे भजन करनेके ढंगसे स्पष्ट होगा। प्रभुमें अनुरागका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि साधक—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥

सीताजी प्रभुको इस प्रकार स्मरण करती थीं। भरतजी करुणानिधानको इस प्रकार स्मरण करते थे। रावणवधोपरान्त ब्रह्मा और शिवजीने प्रभुकी स्तुति इस प्रकार की थी। यदि हमारे भीतर दृढ़ अनुराग श्रीचरणमें है तो हम इस प्रकार ही प्रभुका स्मरण-भजन करेंगे और किसी प्रकार हम कर ही नहीं सकेंगे; क्योंकि वह प्रेम क्या जो आँसू बनकर श्रीचरणोंपर छलक न पड़े।

× × × ×

हमलोग गुरुकी खोजमें बहुत समय और धन नष्ट करते हैं। बिना सुयोग्य अधिकारी बने किसी वस्तुको प्राप्त करनेका प्रयास करना बुद्धिमानी नहीं है। शबरीको नवधा-भक्तिका उपदेश करते हुए या अन्य किसी प्रसङ्गमें प्रभु श्रीरघुनाथजीने यह नहीं कहा कि पहला काम यह करो कि 'गुरुकी खोज करो।' जैसे आज-कल लोग अधिकतर करते हैं। करुणानिधानका संकेत यह है कि गुरुकी प्राप्तिका समय जब आवेगा तब देखा जायगा। पहले श्रीगुरुवचनामृत ग्रहण करनेके अधिकारी बनो। सत्सङ्गद्वारा विवेक प्राप्त करके घृणाशून्य बनकर, दोष-त्यागका अभ्यास करके, हृदयकी मूर्खता मिटाकर अपने भीतर साधनाकी भूमिका बनाओ। तदुपरान्त यदि हम दृढ़ अनुरागसे प्रभुका सुमिरन-भजन करें तो गुरुके खोजकी आवश्यकता उठती ही नहीं। उचित समयपर करुणानिधान स्वयं गुरुका रूप धारण करके हमारे पास आ जायँगे। अपनी हृदयगत मूर्खताका विनाश करके निर्मल मनसे अनुरागयुक्त भजनद्वारा हम अपनेको यदि प्रभुकी कृपाका अधिकारी बना लें तो जितने व्याकुल प्रभुसे मिलनेको हम होंगे, उससे अधिक विह्वल हमसे मिलनेके लिये करुणा-निधान हो जायँगे और फिर वे तुरंत हमारे पास आये बिना रह नहीं सकते। यह मानसका साधना-रहस्य है।

पतितपावनकी शरणागति

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ बिरद-हित, हठि हठि अधम उधारे।
खग-मृग, ब्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥

—विनयपत्रिका

तुलसीकी उपासना-पद्धति

(लेखक—श्रीरेवानन्दजी गौड, एम्० ए०, आचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ)

जर्मन विद्वान् डॉ० ग्रियर्सनका विश्वास है कि बुद्धदेवके बाद भारतमें सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे। इसका प्रमुख कारण उनकी उपासनामें समन्वयात्मक भावना है। तुलसीके आविर्भावके समय राजनीति तथा समाजकी स्थिति बड़ी ही विशृङ्खल थी। समाज आदर्शहीन होकर विलासितामें मग्न था। राजनीतिक संगठन धीरे-धीरे शिथिल होता जा रहा था। आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी दशा बड़ी शोचनीय थी। धार्मिक मान्यताओंके ऊपर अँगुली उठने लगी थी। वैरागी बन जाना तो मामूली बात थी। घरमें स्त्री मर गयी, व्यापारमें दिवाला निकल गया, संसारमें कोई आकर्षण न रहा तो चट मनुष्य संन्यासी बन बैठा। अलखकी आवाज गरम थी और मिथ्या आत्मविश्वासका बाजार जोरोंपर था ऐसी विषम परिस्थितिमें तुलसीका आविर्भाव पतनोन्मुख जनताका सहारा बन गया।

हिंदी साहित्यमें सगुण उपासनाके क्षेत्रमें तुलसीदास अग्रणी हैं। ये रामानन्द वैष्णवोंके सम्प्रदायमें दीक्षित थे। रामानुजके विशिष्टाद्वैतवादके परम विश्वासी होनेके कारण इनकी उपासनाका स्वरूप 'ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट' है। माया और ब्रह्म दोनों सत्य और अनादि हैं। जीव अज्ञानावृत है। अज्ञानावरण दूर करनेके निमित्त मायापति भगवान्‌की उपासना करता है। उनकी उपासना कोरी राममय ही नहीं, अपितु सीताराममयी है—

सीय-राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

उन्होंने अपनी उपासना-पद्धतिके सम्मुख ज्ञान और मोक्षतकको छोटा माना है—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मो को तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो॥
करम उपासन ग्यान बेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावनके अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥
(विनय० २२६)

भक्तिके बिना मोक्ष पाकर भी उन्हें संतोष नहीं। अपने उपास्यकी उपासनामें तो नरक भी स्वर्ग है। भव-बन्धन-जालसे मुक्तिका उपाय उन्होंने रामोपासनाको माना है। उनके ग्रन्थोंमें भक्तिरसका उद्रेक है। उनका एकान्त उद्देश्य था—भक्ति। उनकी पुकार है—

तुलसिदास माँगत कर जोरे। बसौ राम सिय मानस मोरे॥
सुख संपति परिवार बड़ाई। सब तजि भजन करौं सेवकाई॥

तुलसी रामके अनन्योपासक हैं। उनके राम साक्षात् ब्रह्म हैं। 'जब जब होइ धर्मकी हानी' के अनुसार भगवान् मायासंवलित होकर नर-लीला करते हैं और समस्त भूमण्डलके दुःख दूर करते हैं। मायाबन्धनसे छुटकारा पानेके लिये वे रामके पीछे पड़े हैं—

तुलसीदास प्रभु मोह-सृंखला छुटिहि तुम्हारे छोरे।
(विनय० ११४)
बिनु तव कृपा दयालु! दासहित मोह न छूटै माया॥
(विनय० १२३)

सेव्यसेवकभावसमन्विता तुलसीकी उपासनामें राम स्वामी है और अन्य समस्त संसार सेवक है। वे अपने राममें पूर्ण श्रद्धा—विश्वास रखते हैं। और स्वयंमें दीनता, हीनता, तुच्छता, अयोग्यताका भाव देखते हैं—

राम सों बड़ो है कौन मो सों कौन छोटो।
राम सो खरो है कौन मो सो कौन खोटो॥
(विनय० ७२)

तुलसीकी उपासनामें भावुकता है, आत्मसमर्पण है और उच्चकोटिका ज्ञान है। उन्होंने रामकी अनन्य उपासना करते हुए भी अपने वन्दनाप्रकरणमें किसीको छोड़ा नहीं। यही कारण है कि तुलसीमें कोई सम्प्रदायगत संकीर्णता नहीं आने पायी। उनकी उपासनामें राम-कृष्णमें पारमार्थिक अन्तर नहीं, केवल भक्तकी भावनाका अन्तर है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश—इन तीनों देवोंकी उपासना एकस्वरूपा है। 'राम' इन्हीं अक्षरों (र, आ, म) में त्रिगुण-स्वरूपाराधना है। उनकी उपासना बड़ी निराली है। राम शिवके उपासक हैं, शिव रामकी आराधनामें रत हैं। दोनोंमें अन्तर भी कुछ नहीं—

करिहउँ इहाँ संभु थापना। मोरे हृदय परम कलपना॥
लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहि न दूजा॥

तुलसीकी उपासनामें ज्ञान है और ज्ञानमें कर्म निहित है। यही कारण है कि तुलसी-उपासना उपासकको आलसी और अकर्मण्य नहीं बनने देती; अपितु सत्कर्म करनेकी अहर्निश प्रेरणा देती है। उनकी उपासनामें वेद-शास्त्र और समस्त पुराणोंकी मर्यादाका पूर्ण पालन है। तुलसीको लोक और शास्त्रका व्यापक ज्ञान था। नानापुराण-निगमागमका उन्होंने गहन अध्ययन किया था। उनकी उपासना स्वान्तःसुखाय है। परंतु उनका 'स्व' व्यक्तिगत भावनापर केन्द्रित नहीं; बल्कि यह 'स्व' आत्माका प्रतीक है। अतः प्राणिमात्रके कल्याणके लिये उनकी उपासनाके द्वार खुले हैं। अतः उनकी उपासनामें लोक-मङ्गलकी उदात्त भावनाओंका सहज समावेश है।

तुलसी कवि थे। कवि क्रान्तदर्शी होता है। वे भविष्यके द्रष्टा ही नहीं; बल्कि स्रष्टा भी थे। वे अपनी उपासना-पद्धतिके साँचेमें भावी समाजको ढालना चाहते थे। यही कारण है कि उनकी भक्तिप्रधान उपासनामें योग और वैराग्य भी लपेटेमें आ गये। सम्भव है तुलसीने सोचा होगा—योगाभ्यासी भी योगके अष्टांग (यम-नियमादि) के पालनसे भयभीत होकर पथभ्रष्ट हो सकता है और वैराग्य-भावनाके बिना भक्त भी संसारके आपात-रमणीय विषयोंमें भटक सकता है। इसलिये तुलसीने अपनी भक्ति-उपासनाका योग वैराग्यके साथ गठबन्धन कर दिया। जिसके लालचसे योगी, वैरागी, ज्ञानी, कर्मकाण्डीतक भी भक्तिसे विमुख न हो पाया और रामभक्त भी ज्ञान-वैराग्यके अंकुशसे पथभ्रष्ट न होगा।

तुलसीकी उपासना शास्त्रसम्मत है। उसकी मान्यताएँ सर्वप्रिय हैं। धर्म तो उसका प्राण है; परंतु वह धर्म-मर्यादाओंकी चारदीवारोंका उल्लङ्घन नहीं करता। वे रामके सगुण उपासक थे। उनकी उपासनामें दास्य-भावना प्रधान है और दैन्य-भावना उसके साथ है। दीनता-हीनताकी भावना तुलसीको रामके सामने मुँहतक नहीं खोलने देती। वे तो अपनेको दीन-हीन जन जानकर अपने रामके द्वारपर ज्यों-त्यों पड़ा रहना चाहते हैं। अपने हृदयके भावोंको भी व्यक्त करनेमें मानो उनके मुँहपर ताले लगे हों। श्रद्धा, प्रेम तथा विश्वास उनकी उपासनाके अङ्ग हैं। लोकमङ्गलकी भावना उनके लक्ष्यसे ओझल नहीं होती। उन्हें बहुत कहना नहीं आता। बस, सौकी एक कह दी—

राम सों बड़ो है कौन मो सों कौन छोटो।
राम सों खरो है कौन मो सो कौन खोटो॥

तुलसीकी उपासनाकी सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें शीलभावका चरमोत्कर्ष है। उनकी धारणा है कि उपासककी उपासना तबतक अपूर्ण है, जबतक उसमें उपास्यका शील-स्वभाव प्रतिबिम्बित न हो जाय—

सुनि सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल, सो नर खेहर खाउ॥
(विनय० १००)

उपास्यका शील-स्वभाव उपासकमें आ जाना चाहिये। ऐसी ही उपासनाके विषयमें तुलसीके विचार पढ़िये—

प्रीति राम सों, नीति पथ चलिय, राग रिस जीति।
तुलसी संतनके मते इहै भगति की रीति॥
(दोहावली ८६)

वे स्वयं मानसिक पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं—'हे राम! तुमने मुझे अपनाया, यह मुझे तब निश्चय होगा—

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।
हानिलाभ सुखदुख सबै समचित हित अनहित कलि-
कुचालि परिहरिहै॥
(विनय० २६८)

शीलके बिना कोई भी उपासना उच्च भूमितक नहीं पहुँच पाती। यदि उपासनामें शील नहीं है तो वह उपासना-दम्भ भरना पोपलीला मात्र है। तुलसीदासकी उपासनाकी पद्धति तो उक्त समस्त गुणोंकी खान है। उसमें पतितको पावन बनानेकी महान् शक्ति है।

अब मैं कुसल मिटे भव भारे। देखि राम पद कमल तुम्हारे॥

राम-संसर्गसे सबका स्वरूप ही बदल गया—

राम दरस मिटि गइ कलुषाई। ×× भये सब साधु किरात किरातिनि॥

भगवान् राम अपने भक्त विभीषणसे कह रहे हैं—
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।

अपने प्रभुकी यह वाणी सुनकर तुलसीने अपने समस्त पापों और दोषोंका चिट्ठा खोल दिया। उन्होंने बेखटके होकर अपनी विवशता तथा अयोग्यता रामसे कह दी—

नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्हीं कृपा जानि जन दीना॥

हे राम! तुलसी-सा दीन-हीन जन तीनों लोक और

तीनों कालमें आपको कौन मिलेगा । तुम्हें छोड़कर किसके दरवाजे जाऊँ ।' ऐसी बातें कहते-कहते तुलसीका मुँह सूख गया । वे अपनी इसी उपासनापद्धतिके बलपर अमर हो गये । इसीके कारण वे लोकप्रिय लोकनायक बन गये । उनकी उपासनामें अपने उपास्यके नाम, रूप, गुण, शील, स्वभावादि सभी कुछ विद्यमान हैं—

मामवलोकय पंकज लोचन । कृपा बिलोकनि सोच बिमोचन ॥
नील तामरस स्याम काम अरि । हृदय कंज मकरंद मधुप हरि ॥
× × × ×
कलिमल मथन नाम ममताहन । तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनत जन ॥

सूरदासकी उपासना

(लेखक—साहित्याचार्य,साहित्यरत्न पं० श्रीचन्द्रशेखरजी शास्त्री, 'गौतम')

उपासनाक्रम भारतीय संस्कृतिके प्रधान अङ्गोंमेंसे एक विशिष्ट अङ्ग है । इसकी भावना मानवकी उत्पत्तिके साथ-साथ ही भारतीय जनताके प्राणोंमें निरन्तररूपसे समायी हुई चली आ रही है । जीवनके सुख एवं दुःखके क्षणोंमें भी उपासनाका यह निर्मल स्रोत अपनी अविच्छिन्न गतिसे बहता चला आ रहा है ।

सृष्टिके प्रारम्भसे ही मानव अपने लिये ही क्या, प्राणिमात्रके सुख और शान्तिके अन्वेषणमें व्यस्त है । मनुष्य-हृदय किसी ऐसी अपरिमेय शक्तिके अन्वेषण करनेमें तत्पर है, जो उसका सुख-दुःखमें वास्तविक मार्गदर्शन कर सके; अर्थात् सुखमें सहयोग और दुःखसे निवृत्त करनेके हेतु तत्पर हो । ऐसी सर्वशक्तिमान् अपरिमेय शक्ति केवलमात्र जगन्नियन्ता प्रभु ईश्वर है । इसी प्रवृत्ति तथा निवृत्तिपरक भावनाको लेकर महाकवि सूरदासके समयसे पूर्व ही उपासना-मार्गमें दो शाखाएँ प्रारम्भ थीं । एक निर्गुणोपासना तथा दूसरी सगुणोपासना । जहाँतक साहित्य-क्षेत्रका प्रश्न है, दोनों ही शाखाएँ नवल-श्यामल दलोंसे फूट पड़ीं । किंतु जनमानस तत्कालीन शासनसत्तासे अत्यधिक त्रस्त था । अतः निर्गुणोपासना अपना मानव-मनमें परम श्रेष्ठ स्थान नहीं प्राप्त कर सकी; क्योंकि उस समय तो निराश जनताके लिये आशाकी किरणोंको बरसानेवाले एवं चरम सीमातक पहुँचते हुए अत्याचारका दमन करनेवाले लीलामय लीलापुरुष लोकरक्षक अवतार-पुरुषकी उपासनाकी आवश्यकता थी, जिसका वास्तविक रूप महाकवि भक्त-शिरोमणि सूरदासकी ओजस्विनी वाणीमें यत्र-तत्र-सर्वत्र दिखायी देता है ।

सूरकी उपासनाका आलम्बन भगवान् श्रीकृष्णका परम मनोरम चारु चरित्र तथा उनका हँसता-खेलता निरतिशय सुन्दर स्वरूप ही है । इसी उपासनाका रूप सामने रखकर सूरदासजीने हिंदूजातिकी नैराश्य-जनित खिन्नताको दूर कर जीवनमें अपूर्व उल्लास भरनेका सफल प्रयास किया । सूरदासजीके वर्णनके अनुसार उनके गुरु श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज थे—

'श्रीगुरु बल्लभ तत्व सुनायो लीलाभेद बतायो ।'

अतः स्पष्ट है कि सूरपर पुष्टिमार्गका अनिवार्य प्रभाव पड़ा था । पुष्टिमार्गके सिद्धान्तोंके अनुसार श्रीसूरदासजीकी उपासनाके उपास्यदेव लीलापुरुषोत्तम सच्चिदानन्दघन परमतत्त्व श्रीकृष्णचन्द्र हैं । श्रीकृष्णके आनन्द-रस-सिन्धुका तात्पर्य उसी परमब्रह्म परमेश्वर निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार परम प्रभुसे है, जो सृष्टिकी उत्पत्ति, रक्षा और विनाश करनेवाला है । केवल अवतारकालमें उसका नाम श्रीकृष्ण हुआ हो—ऐसी बात नहीं है । वह मूलतः भी सगुण-साकार-विग्रह श्रीकृष्ण ही है । वह जगत्में निर्मल प्रेम-धर्मकी स्थापनाके लिये स्वेच्छासे अवतीर्ण होकर प्रेमी भक्तोंको प्रेमानन्दरसका आस्वादन करानेवाला है । वह दुष्टोंका दमन करनेवाला तथा सज्जनोंका रक्षक भी है । वह लीलापुरुषोत्तम जगत्के प्राणियोंके उद्धारार्थ मधुरातिमधुर लीलाएँ करता है । उन्हीं लीलाओंको गाकर-सुनकर संसारके मनुष्य परम-धाम एवं परमपदके अधिकारी होते हैं । भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण जिसपर कृपा करते हैं, उन्हें उनकी अनन्यभक्ति प्राप्त होती है । भगवान्के इस कृपा या अनुग्रहको ही 'पुष्टि' की संज्ञा दी गयी है । यह पुष्टि भी अनुग्रहकी मात्राके अनुसार वल्लभाचार्यजीने चार प्रकारकी बतलायी है—

(१) प्रवाहपुष्टि, (२) मर्यादापुष्टि, (३) पुष्टि-पुष्टि और (४) शुद्धपुष्टि । यहाँ 'शुद्धपुष्टि' ही भक्तका चरम उद्देश्य है । उक्त पुष्टिको प्राप्त करके उपासक परम विरहा-

सक्तिको प्राप्त होता है और अन्तमें वह परमधामगोलोकमें निवास करता है।

सूरदासजीने उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार श्रीकृष्णकी अनन्य-मनसे उपासना की है। सूरका विनय अपने प्रभुके लिये छटपटाते हुए हृदयके उद्‌गार हैं। ईश्वरोन्मुख होनेके लिये सूरकी भावनाएँ मननीय हैं।

क्यों तू गोविंद नाम बिसारौ।
अजहूँ चेत भजन करि हरि कौ, काल फिरत सिर ऊपर मारौ॥
धन, सुत, दारा काम न आवैं, जिनहिं लागि आपुनपौ हारौ।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु चल्यौ पछिताइ, नयन जल ढारौ॥
(सूर-विनय० ८७)

सूरदासजी अनेक पदोंमें भगवान्‌को अद्वैत तथा गुणातीत बताते, जानते तथा मानते हैं; फिर भी सगुण भगवान्‌की ओर उन्मुख करने एवं उनके ध्यानमें तन्मय कर देनेवाले पदोंकी उन्होंने अधिक रचना की है।

मेरे जिय ऐसी आज बनी।
छाँड़ि गुपाल और जो सुमिरौं तो लाजौं जननी॥

शास्त्रोंमें उपासनाके नौ चरण अथवा नौ प्रकार बतलाये हैं। इन्हें ही नवधाभक्तिके नामसे पुकारा जाता है। उनके नाम यों हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। अपने इस उपासनाके मार्गसे उपासक जब चरम लक्ष्यपर पहुँच जाता है, तब आत्म-निवेदनकी दशाको प्राप्त कर लेता है। उस समय उपासक मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान्‌का होकर उन्हींकी ओर अग्रसर होता है। सूरदासने चाहे किसी भी उपासना-क्रमको लिया हो, उनकी अनन्यता तथा तल्लीनता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। साथ ही विनय एवं सख्य-उपासनाके पद प्रचुर मात्रामें मिलते हैं।

सूरने वल्लभाचार्यजीके सम्पर्कमें आनेके पूर्व विनय-पद लिखे थे; किंतु गुरुदेवके सम्पर्कमें आ जानेके बाद वे वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्यभावसे पूर्ण पदोंकी रचनामें लग गये।

विनयके पदोंमें सूरने दैन्य, दास्य, भक्तवत्सलता, समर्पण और भगवान्‌के प्रति असीम विश्वासके भाव जगाने-वाले पद लिखे हैं। सूरदासजीने उपासनामें श्रीवल्लभ-सम्प्रदायके सिद्धान्तोंको पूर्णरूपेण अपनाया है। वैष्णव-दर्शनमें विनयकी सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं। यथा—

(१) दीनता, (२) मान-मर्यादा, (३) भयदर्शन, (४) भर्त्सना, (५) आश्वासन, (६) मनोराज्य और (७) विचारण।

परमभक्त महाकवि सूरने इनपर क्रमशः लिखा है। यथा—

(१) दीनता—

अब कैं नाथ! मोहि उधारि।
मगन हौं भव-अंबुनिधि में कृपासिंधु मुरारि॥

(२) मानमर्यादा—

अब हौं कहौ कौन दर जाउँ।
तुम जगपाल, चतुर चिंतामनि, दीनबंधु सुनि नाउँ॥

(३) भयदर्शन—

भजन बिनु बैल बिराने ह्वै हौ।
× × ×
भजन बिनु कूकर-सूकर जैसौ।

(४) भर्त्सना—

भजि मन नंद-नंदन-चरन।
सनक संकर ध्यान धारत, निगम-आगम बरन॥

(५) आश्वासन—

ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।
दीनदयाल, प्रेमपरिपूरन, सब घट अंतरजामी॥

(६) मनोराज्य—

ऐसी कब करिहौ गोपाल।
मनसा-नाथ, मनोरथ-दाता, हौ प्रभु दीनदयाल॥

(७) विचारण—

रे मन मूरख, जनम गँवायौ।
करि अभिमान विषय-रस गीध्यौ स्याम-सरन नहिं आयौ॥
यह संसार सुवा-सेमर ज्यौं, सुंदर देखि लुभायौ।
चाखन लाग्यौ रूई उड़ि गई, हाथ कछू नहिं आयौ॥
—(इत्यादि)।

एक ओर परम भक्त सूरकी रचना शुद्धाद्वैत दर्शनकी भाष्यरूपा थी, तो दूसरी ओर वह सख्य आदि भावोंकी परा-काष्ठा प्रस्तुत करनेवाली हुई। इन भावोंके राज्यमें भगवान्‌का चलना, फिरना, हँसना, बोलना, खेलना, कूदना, खाना,

पीना और हास-विलास आदि कुछ भी अकथनीय नहीं—गोपनीय नहीं। तभी तो ग्वाल-बाल भगवान्‌को ताना देते हुए कहते हैं—

खेलन में को काकौ गुसइयाँ। आदि।

इसके अतिरिक्त श्रीनाथजीके मन्दिरमें नाम-मन्त्रोपासना (कीर्तन) का कार्य भी इन्हें ही सौंपा गया था। फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके प्रति इनकी अनन्यता—घनिष्ठता और भी बढ़ गयी थी। और तो और, इस परमभक्तने मधुर लीलाके प्रसङ्ग-में श्रीराधा-कृष्णके प्रेमालापतक ही सीमित न रहकर उनकी आपसकी छेड़-छाड़ तकका वर्णन करनेमें संकोच नहीं दिखाया। अवश्य ही मैं यहाँ यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सूरके इस प्रकारके वर्णन उनकी अलौकिक विशुद्ध प्रेमोपासनाके ही परिचायक हैं।

दास्य और सख्यभावकी उपासनाके अतिरिक्त सूरने वात्सल्य एवं माधुर्यभावोपासनाके रूपमें भी श्रीकृष्णकी उपासना की है। वात्सल्योपासनाका बड़ा विशदरूप हमें सूरकी उपासनामें ही मिलता है। यही कारण है कि सूरने नन्द तथा यशोदाके माध्यमसे इस महान् परमानन्दको प्राप्त किया है।

माधुर्यभावोपासना-सम्बन्धी पदोंमें सूरकी मौलिक एवं अलौकिक उद्भावना अभिव्यक्त हुई है। श्रीमद्भागवतका माधुर्य-प्रसङ्ग इस भावनाका मूल उद्गम है। इसके अतिरिक्त माधुर्योपासनाकी चरम परिणति विरह-भावनामें है। अतः महाकवि सूरने आसक्ति एवं विरह-वर्णनमें भी कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है।

शास्त्रोंमें आसक्तिके ग्यारह प्रकार बतलाये हैं—

(१) गुणमाहात्म्यासक्ति, (२) रूपासक्ति, (३) पूजा-सक्ति, (४) स्मरणासक्ति, (५) दास्यासक्ति, (६) सख्या-सक्ति, (७) कान्तासक्ति, (८) वात्सल्यासक्ति, (९) आत्म-निवेदनासक्ति, (१०) तन्मयता सक्ति और (११) परम-विरहासक्ति।

परमभक्त सूरदासजीने अपने उपासनाक्रममें उक्त आसक्तियोंका वर्णन 'सूरसागर'में किया है। यहाँ इतना अवकाश नहीं कि इस लघु लेखमें उनका वर्णन किया जाय, अतः पाठक क्षमा करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरने अपने उपासनाक्रममें सभी पद्धतियोंको अपनाया है। पुष्टि-मार्गसे वे स्वभावतः अत्यधिक प्रभावित थे ही। वास्तवमें बात यह है कि भारतीय उपासना-मार्ग इतना रहस्यमय है कि इसपर जितना लिखा जाय, उतना ही अत्यल्प है।

अन्तमें महाप्रभु वल्लभाचार्य और गुसाईं श्रीविठ्ठल-नाथजीकी कृपासे महाकवि सूरदासने अपने आराध्य-उपास्य श्रीनाथजी और नवनीतप्रियजीका परम सांनिध्य प्राप्त किया। सूरदासजीके उपरिवर्णित उपासना-प्रसङ्गका यही निश्चित संकेत है कि निश्चिन्त होकर इस प्रकार यथारुचि उपासना-मार्गपर चलना चाहिये। लीलापुरुषोत्तम अपने भक्तका सर्व प्रकारसे ध्यान रखते हैं—

भक्ति-पंथ कौं जो अनुसरै, सुत कलत्र सौं हित परिहरै।
असन, बसन की चिंत न करै, विस्वंभर सब जग कौं भरै॥
तातैं सब चिंता करि त्याग। सूर करौ हरिपद अनुराग॥
(सूर विनय० २८७)

अन्तमें परम भक्त सूरदासद्वारा वर्णित उपासना-मार्गकी ओर आप विज्ञ पाठकोंका ध्यान आकर्षित करता हुआ मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप भी इस उपासनाक्रमसे अपने जीवनको सार्थक बनानेका कष्ट करें; क्योंकि—

'भक्तिप्रियो माधवः।'

पशुके समान व्यर्थ जीवन

जिहिं तन हरि भजिबौ न कियौ।
सो तन सूकर-स्वान-मीन ज्यौं, इहिं सुख कहा जियौ?
जो जगदीस ईस सबहिनि कौ, ताहि न चित्त दियौ।
प्रगट जानि जदुनाथ बिसारयौ आसा-मद जु पियौ॥
चारि पदारथ के प्रभु दाता, तिन्हैं न मिल्यौ हियौ।
सूरदास रसना बस अपनैं, टेरि न नाम लियौ॥

—सूरदासजी

उपासनामें संगीतकी उपयोगिता

(लेखक—वैद्य पं० श्रीभैरवानन्दजी शर्मा 'व्यापक' रामायणी, मानस-तत्त्वान्वेषी)

आजके वर्तमान भौतिक युगमें संगीतका कितना प्रभाव है, यह तो सर्वविदित है। आज कोई भी ऐसा नगर, ग्राम, बाजार, घर, गली नहीं है, जिसमें जानेपर कुछ-न-कुछ गान न सुनायी पड़ता हो। यद्यपि संगीत-जगत्‌के निम्नस्तरपर उतर आने तथा कामोत्पादक होनेसे आज संगीत काफी बदनाम हो चुका है। फिर भी विचार करके देखा जाय तो ज्ञात होगा कि कोई भी वस्तु भली या बुरी नहीं है, उसका यथायोग्य उपयोग करनेवाले ही कठिनतासे प्राप्त होते हैं। 'योजकास्तत्र दुर्लभाः।' हमें काजल और लाली दोनोंकी ही आवश्यकता पड़ती है, पर यह ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं असावधानतासे काजल होठोंपर तथा लाली आँखोंमें न लगने पावे।

नीतिशास्त्रका कथन है—

अश्वः शस्त्रं शास्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्त्ययोग्याश्च योग्याश्च॥
(पंचतन्त्र, मित्रभेद श्लोक० ११९)

मानव-जीवनकी प्राथमिक तीन अभिव्यक्तियोंमेंसे नृत्य और वाणीके उपरान्त संगीतको ही अन्तिम स्थान प्राप्त हुआ है। विचारपूर्ण व्यक्त भाषण तथा संगीतके बिना मनुष्य इस चेतन जगत्‌में पृथ्वीपर स्थित नहीं रह सकता था तथा न कोई सभ्यता ही रहने पाती। तब मानव पशु होता। कहा भी जाता है—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः॥

वाणीका सम्बन्ध मनुष्यकी मानसिक अथवा विचार-शक्तिसे है तथा संगीतका सम्बन्ध उसके मनोवेगोंसे। अतः जो मानव विचारशक्तिसे रहित है और जिसकी मनोभावनाओंको दबा दिया गया है, अथवा वे असंतुलित हैं, वह बोलनेमें असमर्थ है और संगीतके भी अयोग्य है। वह मनुष्य सामान्य मानवी विकाससे निम्न धरातलपर है। स्वरतालमय स्पन्दन जीवनके सिद्धान्तकी अभिव्यक्ति है। मुखाकृतियोंके रूपमें हँसनेमें, हाथ-पैरोंको हिलाकर व्याकुल होकर अन्य प्राणी और मनुष्यका अन्तःकरण अथवा आत्मा स्थूल शरीरको आन्तरिक भावोंके प्रकाशनके लिये, अग्रसारित करके अभिव्यक्तिके लिये बाहर ढकेलती है। बालकोंके रोने एवं व्याकुल होनेका यही कारण है।

हिंदू तथा समस्त प्राचीन सभ्यताओंके पुजारी अपने मन्दिरोंमें आत्माको परमात्मामें तल्लीन करनेके लिये समस्त उत्सवोंमें संगीतको अनिवार्य स्थान देते थे, जिससे एक साथ दो बातें—पूजा और प्रार्थना पूर्ण हो जाती थी। किन्हीं-किन्हीं गिरजाघरों तथा विशाल मन्दिरोंमें तो भजन-गायकोंके लिये ऊपर उठाया हुआ विशेष स्थान निर्माण किया जाता था, तथा भक्ति-भावसे पूर्ण मधुर संगीतकी ध्वनि एवं लयके कारण वह स्थान उत्साह एवं भावनाओंसे ओत-प्रोत रहता था। वाद्य-यन्त्रोंद्वारा प्रस्तुत किये जानेवाले भजन-गीतोंके कारण संगीत प्रभु-प्रेम (ईश्वर-भक्ति) एवं स्वयं प्रभुकी सजीव अभिव्यक्ति होता है।

यथा—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा॥
(अरण्य० ८)

वेदमें भी इस बातका स्पष्ट कथन है कि अनन्त दूरीपर बैठे हुए किसी भी देवता या साक्षात् अखिल भुवनपति भगवान्‌के पास भी भक्ति-भाव-पूर्ण संगीतमय स्तुति पहुँचाना चाहें तो वह पहुँच सकती है तथा उसके कारण उसे प्रत्यक्ष भगवद्दर्शन भी हो सकता है—

यथा—

अभि स्वरन्ति बहवो मनीषिणो राजानमस्य भुवनस्य निंसते॥

(ऋग्० ९। ८५। ३)

अर्थात् 'बहुतसे मनीषीगण इस अखिल भुवनके राजाधिराज भगवान्‌की ओर संगीतमय स्वर लगाते हैं और इस प्रकार उसे प्राप्त करते हैं।' पुनः इसी प्रकार कहा है—

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः॥
(ऋग्० ८। ३३। २)

अर्थात् 'हे सर्वान्तर्यामी परमेश्वर! अपना उत्थान चाहनेवाले मनुष्य हृदय-गुहासे बाहर निकालनेके लिये तेरे प्रति भक्ति-रस-प्लावित अपना स्वर लगाते हैं।'

मनको एकाग्र करके समाधि-अवस्थाकी प्राप्तिके लिये जहाँ कई साधन बताये गये हैं, वहाँ स्वर (संगीत) को भी एक बड़ा भारी साधन माना है । यथा—

'स्वरेण सल्लयेत योगी ।'

(त्रिपुरातापिन्युपनिषद् ५ । ७)

यदि सुन्दर भक्ति-भाव पूर्ण स्तोत्र, कविता, भजन-गीतको संगीतके द्वारा तन्मय होकर गान किया जाय तो इष्ट-देवतामें मन अपनी चञ्चलता छोड़कर कुछ क्षणके लिये केन्द्रित होकर तल्लीन हो ही जाता है ।

जब संगीतका प्रभाव त्यागी-विरागी ऋषि-मुनि तथा कठोर-से-कठोर हृदयके व्यक्ति तथा पशु—सिंह, सर्पादि विषधर प्राणियोंपर भी अपना पूर्ण प्रभाव डाल देता है तो फिर अनन्त करुणावरुणालय अखिल प्रेमभक्तिके भण्डार भगवान्‌को वह अछूता कैसे छोड़ सकता है ?

कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं । सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं ॥

(मानस० अरण्य०)

कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम कोकिल लाजहीं ॥

(मानस० बाल०)

सबरी गान मृगी जनु मोही ॥ (मानस० अयोध्या०)

बिबिरसना तनु स्याम है, बंक चलनि विष खानि ।
तुलसी जस श्रवनन्हि सुन्यौ सीस समरप्यो आनि ॥

(दोहा० ३१०)

भगवान् श्रीराम स्वयं संगीत (गान) को—अपनी भक्तिको अपनेको वशमें होने या प्रसन्न होनेका प्रधान साधन मानते हैं । यथा—

'भगति अबसहिं बस करी ॥' 'भगतिहि सानुकूल रघुराया ॥'
'भजत कृपा करिहैं रघुराई ।'

तथा—

मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥
काम आदि मद दंभ न जाके । तात निरंतर बस मैं ताके ॥

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ॥

(मानस० अरण्य०)

इस सम्बन्धमें इस आक्षेपका भी उत्तर दे दिया गया है कि 'यदि इस प्रकारकी शक्तिवाला है, तो फिर जितने भी संगीतज्ञ हैं, उनको यह विशेष शक्ति तथा भगवत्-प्रेम-भक्तिकी प्राप्ति अवश्य होगी । फिर अन्य प्रकारके भजन-ध्यान-पूजापाठ करनेकी आवश्यकता ही क्या है ?' इसपर भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया है कि मेरे गुणोंका गान करते समय किसी प्रकारकी कामना (कामवासना), संगीतज्ञ होनेका अभिमान या संगीत-कलाद्वारा किसीकी स्त्री या धन अपहरण करनेकी भावनाको हृदयमें स्थान देकर मेरे गुणोंके गानेकी ओटमें दम्भ न करे तथा बाहरी भेंट-पूजा अन्न-वस्त्र-प्राप्तिकी कामनासे भी मेरे गुण-गानका आश्रय न ले । भीतर और बाहर किसी भी प्रकारका कपट न करके जो मेरा गुण-गान करता है तो मैं सदैवके लिये अवश्य ही उसके वशमें हो जाता हूँ ।

यथा—

काम आदि मद दंभ न जाके । तात निरंतर बस मैं ताके ॥

(मानस० अरण्य०)

भगवान्‌को प्रसन्न करने एवं उनका साक्षात्कारतक करा देनेवाले सबसे श्रेष्ठ गायत्री-मन्त्रकी भी इतनी महिमा इसी कारण है कि वह गान करते समय ही ब्रह्मदेवके मुखाम्बुजसे प्रकट हुआ था—

यथा—

गायतो मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम् ॥

(निरुक्त०)

अतः यदि कोई प्रेम-भक्तिपूर्ण, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवत्प्राप्ति-हेतु पवित्र संगीतका आश्रय लेता है तो भगवान् उसकी उपासनाको दृढ़ करके सदैव उसीके पास स्थित रहते हैं । भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे कहा है कि—

हे नारद ! न तो मैं वैकुण्ठमें ही सदैव निवास करता हूँ तथा न योगिगणोंके हृदयमें ही रहता हूँ । किंतु मेरे भक्तगण जिस स्थानपर एकत्रित होकर मेरा गुणगान करते हैं वहीं—'तत्र तिष्ठामि नारद' ठहरा रहता हूँ । श्रीहनुमान्‌जीने भी भगवान्‌को गुणगानके द्वारा ही अपने वशमें कर रक्खा है । अतः उपासनामें संगीतकी भी उपयोगिता निर्विवाद सिद्ध है ।

—गोविन्दाय नमो नमः

१. श्रीमद्भागवत पुराण स्कंध ५ अ० १९ श्लो० १–८ ।

गुरूपासना

(लेखक—महामहोपाध्याय-विद्यावाचस्पति श्रद्धेय पं० श्रीप्रभुदत्तजी शास्त्री)

य आतृणत्यवितथेन कर्णा-
वदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह ॥ १ ॥

निरुक्तकार श्रीयास्काचार्यने इस मन्त्रको उद्धृत करते हुए गुरु-शिष्यके सम्बन्धको प्रशस्त किया है—

जो सत्य नामक कुरेदनी, चिमटी आदिसे कानोंको पहले 'आतृणति' कुरेदता है, खोलता है—'तृहि हिंसायाम्'और फिर उनमें अमृत भरता है अर्थात् पहिलेसे भरी गलत-सलत बातोंको खोदकर निकालना और फिर 'अमृत' उत्तमोत्तम बातें भरना—ये दो कार्य करनेवाला गुरु होता है। साथ-ही-साथ यह भी कहा गया है कि 'अदुःखं कुर्वन्' बिना किसी दुःखके पहुँचाये अर्थात् कानोंको दुःख न दे। ऐसे गुरुको माता-पिताके समान समझे, उससे कभी कोई द्रोह न करे।

वहीं आगे लिखा है—

अध्यापिता ये गुरुंनाद्रियन्ते
मनसा वाचा कर्मणा मौनतश्च ।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीया-
स्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥

'जो पढ़ाये-समझाये शिष्य गुरुका मन, वाणी, काम और चुप्पीसे अनादर करते हैं, वे जैसे गुरुके अभोज्य (अरक्षणीय) हैं, वैसे ही शास्त्र भी उनका भोग (संरक्षण) नहीं करता।'

अतः गुरु नामक तत्त्वमें भी परमात्म-शक्ति झलककर शिष्यका पथ प्रदर्शन करती है। अतः गुरुकी उपासना परमात्मोपासनासे कम नहीं। तभी तो यह कहा है—

अधिगच्छति शास्त्रार्थः स्मरति श्रद्दधाति च ।
यत्कृपावशतस्तस्मै नमोऽस्तु गुरवे सदा ॥

'शास्त्रका अर्थ अपने आप आता है। हम उसे क्या याद करें? वही हमें याद करता है। हम उसमें श्रद्धा क्या करें? वही हममें श्रद्धा करता है। जिनकी कृपासे यह सम्भव होता है, उन गुरुदेवको सदा नमस्कार है।' सोचिये, है कोई परमात्म-कृपा और गुरु-कृपामें अन्तर?

जैसे परमात्माकी प्राप्ति अनेकजन्मार्जित पुण्यसे होती है, वैसे ही गुरुकी प्राप्ति भी भाग्यसे ही होती है। गुरुको ढूँढ़ते समय गुरुकी इन विशेषताओंको अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये—गुरु 'शान्त, दान्त, तपोनिष्ठ, दयालु और शब्दब्रह्ममें निष्णात हों।' क्योंकि शब्दोंके द्वारा ही गुरु हममें ज्ञानधनको भर सकेंगे। गुरुके मानसिक संकल्पसे भी शिष्योंके उद्धारकी बातें 'शंकर-दिग्विजय' आदि ग्रन्थोंमें आयी हैं। जैसे—

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा ।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ॥

वृद्ध शिष्योंकी पङ्क्तिमें युवा गुरु चुपचाप बैठे थे, किंतु फिर भी शिष्योंकी शङ्काएँ मिटी जा रही थीं। किंतु इतनी भक्ति और ऐसे गुरु—आजकल दोनों दुर्लभ हैं। अब तो शब्दोंके द्वारा ज्ञान देनेवाले गुरुका मिलना ही बड़ा सौभाग्य माना जा सकता है।

दो गुरु शिष्योंका अद्भुत प्रेम

मीमांसा-शास्त्रमें दो सिद्धान्तोंका नाम लिया जाता है—'इति गुरवः' 'इति प्राभाकराः'—यह गुरु कहते हैं, यह प्रभाकरवाले कहते हैं। यहाँ ये प्रभाकर और गुरु दोनों परस्परमें गुरु-शिष्य ही थे। गुरुका शिष्यपर अपार स्नेह था। गुरुकी कृपारूपी चाँदनीके संयोगसे शिष्यका ज्ञान-समुद्र उछला जा रहा था; किंतु चाँदको जैसे यह पता नहीं होता कि मेरे प्रकाशके स्पर्शसे यह समुद्र उत्तुङ्ग हो रहा है, ऐसे ही गुरु भी नहीं जानते थे कि मेरी ही कृपा मेरे काबूसे बाहर हो गयी है। अतः उन दोनोंमें जब कोई शास्त्र-विचार चलता तो शिष्यके विचार कहीं ऊँचे होते और शिष्यके किये हुए प्रश्नोंके उत्तर देनेमें गुरु समय माँगते—'अच्छा, फिर कभी' कहकर शास्त्रार्थको अपनी हार-सी मानते हुए समाप्त करते।

शिष्य भी विजयी-सा हुआ घर चला जाता। जब यह काण्ड बहुत दिनोंतक चलता रहा तब गुरु-पत्नीको असह्य हो गया। उसने गुरुसे कहा कि 'मुझे तो बड़ी शर्म आती है, जब आप प्रतिदिन शिष्यसे हार जाते हैं। आपके पास

इतनी ही विद्या थी, जो इस शिष्यने सभी ले ली, और उसे बढ़ा भी लिया !' तब गुरु हँसे और अपनी पत्नीसे बोले—'यह शिष्य मेरा परम भक्त है, जैसे अपने बालकसे हारनेमें सुख होता है, वैसे ही मुझे इससे हारनेमें होता है।' गुरुपत्नीने कहा—'यह तो आपने अपनी पराजयको छिपानेका मार्ग निकाला है। मैं तो प्रत्यक्ष देखती हूँ कि वह आपको अपने तर्कोंसे निरुत्तर कर देता है।' तब गुरुने कहा—'अच्छा देखो, हमें श्वास खींचकर मुर्दा बनना आता है, तो हम आज मुर्दा बन जाते हैं। हमारे ऊपर तुम कपड़ा डाल देना और जब शिष्य आये तो तुम रोने लग जाना कि आज तो तुम्हारे गुरुजी मर गये। फिर तुम देखना कि हमसे उसका प्रेम कितना और कैसा है।'

उसने वैसा ही किया और जब शिष्य आया तो उसने गुरुपत्नीको छाती कूट-कूटकर रोते देखा तो पूछा, और उसने बताया, तब तो वह गुरुपत्नीसे अधिक रोने लगा तथा माथेको दोनों हाथोंसे पीटने लगा। गुरुपत्नीने कहा—'भैया ! जो हुआ सो हुआ; परंतु तू इतना क्यों रो रहा है ? उनकी विद्या तो तूने सब सीख ली है। अब तुझे उनसे क्या लेना शेष है ?' तब शिष्य बोला—'माताजी ! आप भोली हैं, गुरुजीकी विद्याका तो आर-पार-थाह नहीं। वे तो मुझे अखाड़ेके पहलवानकी तरह खिलानेमें रस लेते थे। यह उनकी अहैतुकी कृपा थी।' तब गुरुजी हँसते हुए उठे और बोले—'जितं मया' 'जितं मया'—'मैं जीता, मैं जीता।' तब सारे विषयको समझकर शिष्य बोला कि—'मृत्वा जितं तदा किं जितम्' ! 'वाह महाराज ! मरकर जीते तो क्या जीते ? जीवित अवस्थामें जीतते तो जीतना मानता। यह भी कोई जीतना है ?' गुरु-शिष्यमें कितना अगाध प्रेम था ! इतनी प्रीति बिना हुए शास्त्र अपने आप नहीं आता। अतः ज्ञानके निधान, भक्तिके भूधर, विवेकके भास्कर गुरुकी प्राप्ति और उससे ऐसी प्रीतिका होना भी पुण्योंका फल होता है।

यास्काचार्यने स्वयं भी निरुक्तके लिखते समय कहा है—

स न मन्येत…यदुत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेतेति।

वैश्वानर नाम सूर्य, बिजली और पृथ्वीगत अग्नि—तीनोंका है; किंतु वह शिष्य तो यह नहीं मानेगा कि सूर्य और बिजली भी वैश्वानर कहाते हैं। अतः विस्तारसे विचार करते हैं। इसी तरह 'स न मन्येत' 'स न मन्येत' अनेक स्थानोंपर कहकर शिष्यकी अनुपस्थितिमें भी शिष्यका ध्यान करना यह महान्-से-महान् गुरुका कार्य है।

'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली'की टीका केवल एक ही शिष्यके लिये लिखी गयी थी—'ननु राजीवदयावशंवदः' यह मैं राजीव नामक शिष्यपर दया करनेके लिये लिख रहा हूँ। वे गुरु जो अपने साथ-ही-साथ अपने शिष्यके नामका विस्तार भी करते थे, ऐसे गुरुकी उपासनामें नियोगानुयोगादि नहीं होने चाहिये। 'नियोग' आज्ञा करना और 'अनुयोग' प्रश्न करना आदि। 'नियोगं चानुयोगं च गुरौ शिष्यो विवर्जयेत्।'—शिष्य गुरुपर न हुकुम चलाये, न जवाब माँगे कि यह आपने क्यों नहीं किया ? और न किया तो कब करोगे ? इत्यादि।

इसपर मैं अपनी आप-बीती कहानी सुनाना भी उचित समझता हूँ। राजस्थानके मंडावा नामक नगरमें मैंने श्रीपं० विलासरायजी और मोहनलालजी शुक्लसे विद्यारम्भ किया, जिनके पुत्र पं० विद्याधरजी शुक्ल आज भी गोरखपुरमें आयुर्वेदके द्वारा जनताकी सेवा करते हैं। वे पूर्वोक्त गुणोंसे युक्त थे। जब हमलोग उनके पास पढ़ने जाते और कहते कि 'महाराज ! पढ़ाओ,' तब वे हँसते हुए कहते—'नियोग यानी आज्ञा करते हो ?' जब हम कहते कि 'महाराज ! पढ़ाओगे ?' तो कहते कि 'अनुयोग यानी प्रश्न करते हो ?'

कभी हम सोचकर कहते कि 'महाराज ! कब पढ़ाओगे ?' तो कहते कि 'संदेह करते हो', इत्यादि मधुरालापोंके साथ वरदान-वृत्ति भरकर अध्यापन आरम्भ करते थे।

अत्यन्त सौम्यवृत्तिके दो विद्वान् गुरुओंके अपने शिष्योंके साथ खेल—

एक बार एक अद्वैत-सम्प्रदायके गुरु किसी भक्तके घर भिक्षा करने पहुँचे। भक्तने भिक्षा करानेके बाद कहा कि 'महाराज ! कोई मन्त्र बता जाओ, जिसे जपकर मैं अपना कल्याण कर सकूँ।' तो उन्होंने कहा '"सोऽहं" "सोऽहं" जपा करो !'' वह जपता रहा तो फिर कोई भक्ति-सम्प्रदायके महात्मा भी उसके घर आये। उन्होंने भिक्षाके बाद पूछा कि 'कुछ भगवन्नाम जपते हो ?' तो उसने कहा "महाराज ! 'सोऽहं' 'सोऽहं' जपता हूँ।" तो वे हँसे और बोले कि "इसके पहिले 'दा' और लगा दिया करो।" उसने 'दा' और लगाकर

'दासोऽहं' 'दासोऽहं' जपना शुरू कर दिया, जो भक्ति-भावका वर्धक है। कुछ दिनों बाद फिर वही महात्मा आ गये। उन्होंने पूछा—जप चलता है? तो उसने कहा "हाँ, एक और महात्मा आये थे। उन्होंने उसमें 'दा' और जुड़वा दिया है, तबसे मैं 'दासोऽहं' 'दासोऽहं' जपता हूँ।"

तो उन्होंने हँसकर कहा कि 'तो उसके पहिले 'स' और मिला लिया करो!' तो वह 'सदा सोऽहं' जपने लगा। फिर वे भक्तिवाले आ पहुँचे और पूछा कि 'जप चलता है?' तो कहा कि "हाँ महाराज! वे पहिलेवाले गुरुदेव आये थे। उन्होंने उसमें 'स' और मिलवा दिया है, तबसे मैं 'सदा सोऽहं' जपता हूँ।' उन्होंने कहा "अच्छा तो उसके पहिले एक 'दा' और लगा लिया करो" तो वह 'दासदासोऽहम्' जपने लगा। इस प्रकार दो गुरुओंकी टक्कर भी ज्ञान-भक्ति रूप दो पलड़ों-में झूलनेवाले प्रभुकी प्राप्ति आनन्दसे करा देती है।

अतः गुरुओंकी महिमा बड़ी विचित्र है, जो शिष्यको भी किसी दिन गुरु बना देती है।

श्रीमद्भागवत (१।१।८) में लिखा है 'ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।' शिष्यमें स्नेह हो तो गुरु गुप्तसे गुप्त रहस्य बता देते हैं। गुरुको गौ और शिष्यको बछड़ा बताया गया है। 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'—भगवान् तो जगत्के गुरु हैं। उनका तो कहना ही क्या? संसारमें सबसे बड़े गुरु शंकर हैं।

गुरु ब्रह्मा भी है, क्योंकि वह शिष्यको बनाता है। वह विष्णु भी है, वह रक्षा भी करता है; किंतु गुरु साक्षात् महेश्वर है। वह उसके सभी दोषोंका संहार करता है। अतएव गुरुका 'व्याकरण शास्त्र'ने अर्थ किया है—'गृणातीति गुरुः' 'गृ निगरणे' धातुसे अर्थ लेते हैं—जो अंदरसे कुछ निकालकर दे, वह 'गुरु' कहलाता है।

कोषकार अर्थ करते हैं—'गुकारस्तमसि प्रोक्तो रुकारस्तन्निवर्तकः'। पहले अक्षर 'गु'का मतलब है—'अन्धकार' और दूसरे 'रु'का अर्थ है उसको हटानेवाला। इस प्रकार गुरुतत्त्वकी सभी शास्त्रोंने प्रशंसा की है। ईश्वरके अस्तित्वमें मतभेद हो गये हों, किंतु गुरुमें नहीं। गुरुको सभीने माना है। बहुत-से सम्प्रदाय तो भारतमें केवल गुरुवाणीके आधारपर ही कायम हैं। वे और कुछ न देखते और न सुनते हैं।

कबीरने गुरु-महिमामें अच्छा दोहा लिखा है—

गुरु कुम्हार, सिख कुंभ है, घड़ि-घड़ि काढ़ै खोट।
हाथ सहारा दे रहै, लागि न पावै चोट॥

प्रथम तो गुरुको मारना-पीटना—खासकर कान मरोड़ना आदि चाहिये ही नहीं। 'सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः'—गुरुओंको अमृतभरे हाथोंसे कभी कुछ मारना चाहिये, न कि जहरभरे हाथसे। गुरुको शिष्यके संतापकी ओर ही ध्यान रखना चाहिये।

बहवो गुरवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
विरला गुरवः सन्ति शिष्यसंतापहारकाः॥

'शिष्यके वित्तका अपहरण करनेवाले गुरु बहुत होते हैं, पर शिष्यका संताप हरनेवाले गुरु विरले ही होते हैं।'

शिष तौ ऐसा चाहिये, (जो) गुरुको सर्वस देय।
गुरु तौ ऐसा चाहिये (जो) शिष का कछू न लेय॥

इसमें शिष्य एवं गुरु दोनोंको परस्पर निर्लोभ बताया गया है। भावना बढ़ानेके जो स्थान बताये जा रहे हैं, उसमें सातवाँ स्थान गुरुका है।

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

अतः प्रथम ही सोच-विचारकर योग्य गुरुका वरण करना चाहिये, गतानुगतिक-न्यायसे नहीं—जिससे फिर श्रद्धा तोड़नी न पड़े।

एकलव्यने अपने अभ्यासमें गुरुकी भावना भरकर सफलता प्राप्त की थी। गुरुके द्वारा जपनीय मन्त्र ग्रहण करना 'दीक्षा' कहाता है। किंतु उसका यह भाव नहीं कि उसे किसीके सामने बोले ही नहीं और केवल गुरु भी उसके कानमें मुँह लगाकर ही सुनाये। गायत्री-दीक्षामें तो स्पष्ट लिखा है—'गृहीतपादाङ्गुष्ठो नेत्रेषु नेत्रे सम्मिश्रयन् निवारितशङ्कादिस्वनो दीक्षां गृह्णीयात्' कुछ भीरु विद्वानोंने इस कर्णदीक्षाका प्रचार कर दिया है। ऐसे ही स्त्री-जातिके लिये भी कर्णदीक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं। वे पतिके गुरुको ही गुरु मानें या ज्ञान सुनानेवाले किसी भी सच्चरित्र पवित्र पुरुषको गुरु कहकर संतुष्ट रहें। अब कुछ स्त्रियाँ भी स्त्रियोंकी गुरु होने लगी हैं। किंतु शास्त्रोंने ऐसे गुरुओंके गुरुभ्रमको गुरुत्वके महत्त्वको क्षति पहुँचानेवाला ही कहा है। 'गुरु' शब्द गुरुताके अर्थमें स्त्रीलिङ्गमें गया ही नहीं है। वह तो

केवल गर्भिणीके अर्थमें 'गुर्वी' बनकर रह गया है। जैसे गो जन्मसे ही पूज्य होती है, उसको संस्कारोंकी आवश्यकता नहीं, ऐसे ही दुर्गास्वरूपा स्त्रीको गुरु आदिसे किसी संस्कारके करानेकी आवश्यकता नहीं है।

स्त्रीको गुरु बनानेमें एक और विप्रतिपत्ति आती है कि प्रत्येक दीक्षाके अवसरपर शिष्यको साष्टाङ्ग प्रणाम करना लिखा गया है। उसके करनेमें स्त्रीके स्तनोंका स्पर्श पृथ्वीसे हो जाता है। शास्त्रोंके अनुसार पृथ्वी इतनी चीजोंका स्पर्श करनेमें खेद मानती है। जैसे 'पाराशर-स्मृति' में लिखा है—

विप्रं निरासनं शङ्खं शालग्रामशिलां तथा।
सर्वंसहा न सहते कामिनीकुचमण्डलम्॥

बिना आसनके ब्राह्मणको, शङ्खको तथा शालग्राम-शिलाको और स्त्रीके कुचमण्डलको सब कुछ सहनेवाली पृथ्वी भी नहीं सह सकती।' शास्त्राज्ञाकी रक्षा करते हुए किया हुआ गुरुवरण ही कल्याणकारी होता है। शास्त्र और गुरुका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। गुरु न हो तो शास्त्र कौन लिखता? शास्त्र न होते तो गुरुकी पहचान कौन कराता?

गुरु कीजै जानकर, पानी पीजै छानकर।



गुरु-स्वरूप और माहात्म्य

(लेखक—श्रीरमेशचन्द्रजी शर्मा, एम्० ए०)

भारतीय साहित्यमें गुरु सर्वथा पूजनीय रहा है। यही कारण है कि काव्यारम्भ गुरु-वन्दनासे ही हुआ है। साहित्यावलोकनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि गुरुका स्थान समाजमें भी सदा सम्माननीय था। अपनी महत्ताके ही कारण उसे ईश्वर-पदकी भी प्राप्ति हो जाती है। अधोलिखित शास्त्रवाक्य इसीकी पुष्टि करता है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।

श्वेताश्वतरोपनिषद्का अन्तिम श्लोक गुरु तथा देवता-की समानता स्पष्ट करता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ॥

अर्थात् जैसी भक्तिकी आवश्यकता देवताके लिये है, वैसी ही गुरुके लिये भी। शास्त्रवाक्यमें गुरुको ही ईश्वरके भिन्न रूपों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरके रूपमें स्वीकार किया गया है। हमें जिससे ज्ञान अथवा शिक्षा प्राप्त हो, वही हमारा गुरु है। इस प्रकार हम 'कुल-गुरु', 'विद्या-गुरु' और 'धर्मगुरु' तीन भेद स्थापित कर सकते हैं। एक परिवारका गुरु 'कुल-गुरु' कहलाता है। पैतृक रूपमें हम उसके शिष्य बनते जाते हैं। उसका कार्य धार्मिक अनुष्ठान कराना है। 'विद्या-गुरु'से हम ज्ञान अथवा शिक्षा प्राप्त करते हैं। 'धर्म-गुरु' वह कहा जाता है, जो हमें धर्मविशेषमें दीक्षित करता है। यह गुरु मन्त्र-दीक्षा-का कार्य करता है।

गुरुका कार्य अत्यन्त पुनीत और श्लाघ्य है। वह ईश्वर-प्राप्तिका मार्ग दिखलाता है। ईश्वर-अंश जीव इस संसारमें आकर अंशी (ईश्वर) को ही भूल जाता है। माया-मोह-लोभ-ईर्ष्या-तृष्णायुक्त संसारके अन्धकारमें जीव लक्ष्यहीन भटकता रहता है और निरन्तर आवागमनके चक्करमें फँसा रहता है। किंतु क्या हरिभक्तिके बिना वह इससे मुक्त हो सकता है? कदापि नहीं! जिस प्रकार बालूसे तेल नहीं निकल सकता, पानीके मथनेसे घी नहीं निकल सकता, उसी प्रकार हरिभजनके अभावमें संसार-सागरका संतरण नहीं हो सकता। संत कवि तुलसीके शब्दोंमें—

बारि मथें बरु होइ घृत सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥
(मानस० उत्तर०)

और यह तभी हो सकता है, जब सच्चे गुरुकी प्राप्ति हो जाय। तभी शिष्यको ईश्वर-प्राप्तिका सच्चा मार्ग ज्ञात हो सकता है। अन्यथा यदि गुरु अज्ञानी हुआ तो फिर दोनों इसी संसार-कूपमें गिरेंगे।

'जो स्वयं ज्ञानसे वञ्चित है, वह दूसरोंको क्या ज्ञान देगा। अन्धकारसे क्या प्रकाश-किरणोंकी अपेक्षा की जा सकती है?'

जाका गुरु है आँधरा, चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया, दोनों कूप परंत॥

अतः सद्गुरुकी प्राप्ति आवश्यक है और बिना गुरुके ज्ञानप्राप्ति नहीं हो सकती—

बिनु गुर होइ कि ग्यान। (मानस० उत्तर०)

गुरुका कार्य नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओंका हल उपस्थित करना था। दशरथ-के दरबारमें गुरु वसिष्ठके महत्त्वसे सुधीजन भलीभाँति परिचित हैं। बिना उनकी सलाहके कोई कार्य नहीं होता था। चन्द्रगुप्तके गुरु चाणक्यको कौन नहीं जानता, जिसने चन्द्रगुप्तका मार्ग-दर्शन करा उसे मौर्य-साम्राज्यका प्रवर्त्तक बना दिया!

गुरुके ज्ञानके विषयमें घेरण्डसंहितामें कहा गया है कि वह ज्ञानका सागर है। वह उपयोगी ज्ञानका उपदेशक है। जिस ज्ञानको सद्गुरुने अपने मुखसे उच्चरित किया है, वह निरर्थक नहीं जाता। इसीलिये गुरुकी सेवा मनसा, वाचा, कर्मणा करनी चाहिये। वह ज्ञानका भंडार है, उससे लाभ प्राप्त करना शिष्यकी योग्यतापर निर्भर करता है और यदि उस ज्ञानका उपयोग शिष्य प्राप्त न कर सके, तो गुरुका क्या दोष है? जैसे वंशीमें संगीतोत्पादनकी क्षमता है, किंतु उस ध्वनिको उत्पन्न करना बजानेवाले-का कार्य है—

सतगुरु बपुरा क्या करे, जो सिष माहीं चूक।
भावै त्यूँ परबोधि लै, ज्यूँ बंसि बजाई फूँक॥

सद्गुरुका व्यक्तित्व माता-पितासे भी ऊपर है। गुरुकी कृपासे ही ईश्वरका साक्षात्कार होता है। उसकी कृपाके अभावमें तीर्थोंमें भी शान्ति नहीं मिलती। वही ईश्वरकी ज्योति शिष्यके हृदयमें जगा देता है।

अपुनपौ आपुन ही में पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सदगुरु भेद बतायौ॥
'गुरु बिरह चिनगी जो मेला' (जायसी)

उस गुरुने ही परमात्माकी विरहाग्निकी चिनगी लगा दी है। उसीने यह व्यथा अनुभव करायी है। महाकवि जायसीने गुरुके विषयमें कहा है—

सैयद असरफ पीर पियारा। तिन्ह मोहिं पंथ दीन्ह उजियारा॥
... ...
मारग हुत अँधियार असूझा। भा अँजोर सब जाना बूझा॥

भारतीयताके सच्चे प्रतिनिधि महाकवि तुलसीदासने भी गुरुके गुणोंका वर्णन करते हुए लिखा है—

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किएँ तिलक गुन गन बस करनी॥
श्री गुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हियँ होती॥
(मानस० बाल०)

अर्थात् 'गुरु हृदयके विकारको दूरकर उसे स्वच्छ दर्पण-सदृश बना देते हैं। उनके चरणनखोंसे वह ज्योति निकलती है, जो हमारे हृदयको प्रकाशित कर देती है।'

गुरु ईश्वरको बतानेवाला है। यदि हमारी किसी चूकसे ईश्वर नाराज हो जाय तो हम गुरुकी शरणमें जा सकते हैं; किंतु गुरुके रुष्ट होनेपर ईश्वर भी शरण नहीं देता। संत कबीरके शब्दोंमें—

हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर।

किंतु यह गुरुका रूठना, उसका अपमानित—कष्टित होना तो ईश्वरको भी प्रिय नहीं है। तुलसीदासद्वारा वर्णित उत्तरकाण्डका यह अंश इसीकी पुष्टि करता है—

एक बार हर मंदिर जपत रहेउँ सिव नाम।
गुर आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
(मानस० उत्तर०)

गुरु-अपमानको न सह सकनेके कारण भगवान् शंकरने उसे शाप दे दिया—

बैठ रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति ब्यापी॥
महा बिटप कोटर महुँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई॥
(मानस० उत्तर०)

किंतु गुरु हृदयका कठोर नहीं। उसका हृदय तो प्रेम, करुणा, सहानुभूति, दयाका भंडार है; अतः इस शापको सुनकर वह शंकरसे क्षमा-प्रार्थना करता है—

संकर दीनदयालु अब एहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहिं नाथ थोरेहीं काल॥
(मानस० उत्तर०)

इस प्रार्थनासे शंकर प्रसन्न होकर कहते हैं—

जदपि कीन्ह एहिं दारुन पापा। मैं पुनि दीन्हि कोप करि सापा॥
तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी॥
(मानस० उत्तर०)

गुरुकी महत्ता माता, पिता, साधुसे ही नहीं, ईश्वरसे

भी अधिक है। गुरु तथा ईश्वरकी एक साथ उपस्थिति हो तो किसे पहले प्रणाम किया जाय? कबीरने इसका समाधान गुरुकी महत्ताद्वारा प्रस्तुत किया है। कबीरके इस दोहेसे मैं लेखका अन्त करना उचित समझता हूँ।

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरु देवकी, जिन गोविंद दियो बताय॥

शुष्क जीवनमें अमृतधाराका प्रवाहित करना ही उपासनाका मर्म है

(लेखक—डा० श्रीचमनलालजी गौतम, सम्पादक 'युग-संस्कृति')

"मनुष्य-जीवनकी समस्त प्रवृत्तियाँ सुख-शान्तिकी खोजके लिये ही होती हैं। दिन-रातकी दौड़-धूपका एकमात्र उद्देश्य होता है कि मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करे। जितने भी सांसारिक पदार्थोंका संग्रह वह करता है, उनमें वह यही झलक देखनेका आकांक्षी रहता है। लोकमें धन, ऐश्वर्य, मकान, जायदाद, संतान और नाना प्रकारके विषय-भोगोंमें उसे सुख प्रतीत होता है। इसलिये वह उनके पीछे मतवाला हुआ रहता है और प्राणोंकी बाजी लगाकर भी इस होड़में आगे बढ़ना चाहता है। सांसारिक उपलब्धियोंके लिये वह अपनी मूल्यवान् सम्पत्ति—मन, बुद्धि और आत्माके बलिदानकी परवा नहीं करता, परंतु अपने लंबे जीवनके अन्तमें वह अनुभव करता है कि प्रकृति चञ्चल है, उससे सम्बन्धित सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली और अस्थायी हैं। जो स्वयं अपना अस्तित्व बनाये रखनेमें असमर्थ हैं, वे किसीको भी स्थायी शान्ति प्रदान करनेकी स्थितिमें कैसे हो सकती हैं? उनसे यह आशा करना व्यर्थ ही है।"

मनुष्य विषय-भोगोंके लिये छटपटाता है, उनके लिये लाख-लाख प्रयत्न करता है। कुछ क्षणोंके लिये उनमें सुखकी अनुभूति भी होती है। वह इस आशासे उनमें लिप्त रहता है कि इनसे ऐसा सुख मिलेगा, जिससे मेरा जीवन सफल हो जायगा; परंतु उसे निराशा ही हाथ लगती है। मृगकी तरह कस्तूरीकी खोजमें वह वन-वन भटकता है, परंतु वास्तविकतासे दूर रहता है। वह यह नहीं जानता कि इन प्रवृत्तियोंसे वह तमोगुणके क्षेत्रमें प्रवेश करता है। अन्धकारमें घुसकर वह प्रकाशके दर्शन करना चाहता है। उसे चारों ओर अन्धकार और निराशाके ही दर्शन होते हैं। कारण स्पष्ट है। उसने अपने सुखका साधन उन वस्तुओंको चुना है, जिनमें स्वयंमें स्थायित्व नहीं है।

हमारे शास्त्र इस तथ्यका सशक्त शब्दोंमें समर्थन करते हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'में महर्षि याज्ञवल्क्यसे उनकी पत्नी मैत्रेयीने पूछा—'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा; धनसे अमरत्वकी तो आशा है ही नहीं।' 'कठोपनिषद्'में यमराज-नचिकेता-उपाख्यानमें यमराज नचिकेताको समस्त प्रकारका धन, ऐश्वर्य और अनन्तकालतक जीनेके साधनोंका प्रलोभन देते हैं; परंतु नचिकेता उत्तर देते हैं कि 'क्षणभङ्गुर भोग मनुष्यके अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंका जो तेज है, उसको क्षीण ही कर डालते हैं। जो मूर्ख बाह्य भोगोंका अनुसरण करते हैं, वे सर्वत्र फैले हुए मृत्युके बन्धनमें पड़ते हैं; किंतु बुद्धिमान् मनुष्य नित्य अमरपदको विवेकद्वारा जानकर इस जगत्के अनित्य भोगोंमेंसे किसीको नहीं चाहते अर्थात् उनमें आसक्त नहीं होते।' धम्मपद १८६। १८७ में राजा मान्धाताने कहा है—'कर्षापण नामक महामूल्यवान् सिक्केकी यदि वर्षा होने लगे तो भी कामवासनाकी तृप्ति नहीं होती और स्वर्गीय सुख मिलनेपर भी कामी पुरुषकी कामेच्छा पूरी नहीं होती।' म० भ० आ० ६२। ४५ के अनुसार राजा ययातिने अपने युवा पुत्रका यौवन लेकर लंबे समयतक विषयोंके भोगका अपना अनुभव लिखा है कि सुखोंके उपभोगसे विषय-वासनाकी तृप्ति तो होती नहीं, अपितु विषय-वासना दिनोंदिन उसी प्रकार बढ़ती जाती है, जैसे अग्निकी ज्वाला हवन-पदार्थोंसे बढ़ती जाती है।' विष्णु-पुराणका आदेश है कि 'जीव जितना ही विषय-सुखमें चित्तको लगाता है, उतना ही उसके हृदयमें दुःखका काँटा चुभता है।' गीता भी कहती है—'विषयके साथ इन्द्रियोंके स्पर्श होनेपर जो सुख होता है, वह सब दुःखको ही देनेवाला है।'

अतः विज्ञजनोंका संदेश है कि विषय-भोगोंमें सच्ची सुख-शान्ति असम्भव है; क्योंकि यह मलिनताका रूप है। और जिस तरह सूर्यका प्रतिबिम्ब स्वच्छ जलमें स्पष्ट दिखायी

देता है और मलिन जलमें धुँधला-सा हो जाता है, उसी तरहसे विषयोंकी दुर्गन्ध और मलिनतासे सदैव मस्तिष्कमें धुँधलापन ही रहेगा।

जीवको स्थायी आनन्दकी प्राप्तिकी छटपटाहट तो रहती है, परंतु सांसारिक ऐश्वर्योंके भ्रमजालमें पड़कर वह भटक जाता है। इसलिये चारों ओर उसे निराशाका अन्धकार दिखायी देता है। वह भूल जाता है कि वास्तवमें आनन्द उस वस्तुमें है, जो स्वयं कभी नष्ट नहीं होती, जो अजर-अमर है तथा जो पूर्ण है। जिसके अणु-अणुमें अमृतके समुद्र भरे पड़े हैं, जिसके क्षेत्रमें प्रवेश करनेपर दुःख और आपदाओंके स्पर्शकी भी सम्भावना नहीं, जिसका लेशमात्र भी अनुग्रह करोड़ों साम्राज्योंसे कहीं अधिक है, उसकी एक आनन्दकी किरणसे इतना सुख मिलता है, जितना कि लाखों वर्षोंतक सांसारिक ऐश्वर्योंमें लिप्त होनेसे सम्भव नहीं है। उसके कृपा-कटाक्षसे जन्म-जन्मान्तरोंके समस्त पाप ऐसे धुल जाते हैं, जैसे जीवपर कभी किसी पापका छींटा भी न पड़ा हो। उससे एकीकरण करनेसे वह इतने बड़े साम्राज्यका सम्राट् बना देता है, जिसकी कभी कल्पना नहीं थी, जिसकी शक्तिका अनुमान लगानेमें जीव करोड़ों वर्षोंसे असमर्थ है, जिसके क्षेत्रका नाप-तौल असम्भव है, जिसका सामीप्य प्राप्त होनेपर अनन्तकाल-तक आनन्दके सागरमें गोते लगानेकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है। अणु-अणुमें व्यक्त उस शक्तिको ही 'परमात्मा' कहते हैं। वही समस्त आनन्दोंका केन्द्र है। इसके अतिरिक्त और कहीं इसकी खोज दुराशा मात्र है। वेदने भी कहा है—'परमात्मा आनन्दरूप है। ब्रह्म आनन्दमय है। उसके आनन्दरूपको जाननेसे जीवका समस्त भय नष्ट हो जाता है। आनन्दसे ही समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है। आनन्दके द्वारा ही समस्त संसारकी रक्षा होती है और उसी आनन्दमय परमात्मामें ही समस्त जीवोंका लय होता है।' संसारमें जितने भी प्रकारके आनन्द दिखायी देते हैं, वे इस आनन्दकी छायामात्र हैं। छायाको मूल समझना भूल है। अतः वास्तविकताकी खोज ही बुद्धिमत्तापूर्ण है। उस आनन्दके सागरकी ओर पग बढ़ाना ही श्रेय पथ है। यही मानव-जीवनका सदुपयोग है।

ईश्वर समदर्शी है। सभी जीव उसकी संतान हैं। वह समस्त प्राणियोंको समान दृष्टिसे देखता है। किसीका भी पक्षपात नहीं करता। वह निःस्पृह है। उसका किसीसे भी मोह नहीं है। वह किसीकी स्तुतिसे प्रसन्न नहीं होता और निन्दासे अप्रसन्न नहीं होता। अग्नितत्त्वका भी यही गुण है। वह भी किसीकी निन्दा-स्तुतिसे प्रभावित नहीं होता। जो उसके नियमोंका पालन करता है, वह लाभ उठाता है; जो अवहेलना करता है, वह हानि उठाता है। नियम-पालक अपनेपर अग्निका अनुग्रह मानता है और नियम-उपेक्षक प्रकोप। अग्नितत्त्व इन दोनों क्षेत्रोंसे अलग है। इसी तरहसे ईश्वर-का अनुग्रह प्राप्त करना, उसके नियमोंके अनुसार चलना और उनको मानना ही उसकी प्रसन्नता समझनी चाहिये। मनुष्य मन्दिरमें मूर्तिके सामने माथा रगड़ने और स्तुतिसे उसे फुसलाकर समस्त आनन्दोंको ईश्वरसे खरीदना चाहता है, परंतु उसके निर्देशित मार्गपर चलना नहीं चाहता। ईश्वरके बनाये नियमोंपर चलना ही उसकी सच्ची उपासना है। उनका दृढ़तापूर्वक पालन करना सच्ची पूजा है। चाहे लोकमें कितनी भी ठोकरें और धक्के क्यों न खाने पड़ें, सच्चे मार्गपर चलना ही उनका अनुग्रह प्राप्त करना है।

उपासनाका उद्देश्य अपनी उन्नति करना है, आत्मिक उत्थानकी सीढ़ियोंपर चलना ही उसका लक्ष्य है। उपासकको एक नया प्रकाश मिलता है, वह शरीरकी क्षणभङ्गुरताको समझ जाता है और उसके लिये झूठ, छल, कपट, पाप एवं अत्याचारसे दूर रहता है, अपनेमें अखण्ड ज्योतिके दर्शन करता है। सच्चा उपासक वही है, जो सर्वत्र अपने इष्टदेवको व्यापक मानता है। वह सबके साथ सम व्यवहार करता है। उसके सामने ऊँच-नीचका कोई प्रश्न नहीं उठता, वह अपनेसे छोटी आर्थिक एवं सामाजिक स्थितिवालोंके साथ भी नम्र व्यवहार करता है; क्योंकि वह तो दोनोंको एक ही मानता है।

परमात्माने जीवको अपनी समस्त शक्तियोंसे विभूषित किया है। आवश्यकता है उनको प्रकट करनेकी। वह साधक प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और अभ्यासके द्वारा अदृश्य लोकमेंसे प्रचुर मात्रामें शक्तियोंको आकर्षित कर सकता है। इस क्रियासे वह शक्तिमान् हो जाता है और इन शक्तियोंको वह किसी भी दिशामें लगाकर उनका लाभ उठा सकता है। इन शक्तियोंको आकर्षित करनेके प्रयत्नको 'उपासना' कहते हैं। यदि उपासक शक्तिशून्य है, उसका शरीर दिनोंदिन क्षीण हो रहा है मनोबल दुर्बल है तो उपासककी असफलता ही माननी चाहिये।

ईश्वरकी उपासनाका तात्पर्य उसके दिव्य सद्-तत्त्वकी

आराधना है। जप-तप, धारणा-ध्यान आदि उपायोंसे साधक सत्तत्त्वसे ओतप्रोत हो जाता है। उसमें जितनी भी सत्तत्त्वकी वृद्धि होती है, वह उतना ही आनन्दकी अनुभूति करता है, उतने ही अंशोंमें उसमें ईश्वरत्व आता है। इस सत्तत्त्वकी पूर्णता ही ईश्वर-प्राप्तिका लक्षण है। वेदने भी लिखा है—'परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। उन्हींके स्वरूपको जाननेसे जीव मृत्युराज्यरूपी इस संसारको पार कर जाता है। संसारके बन्धनोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये और कोई उपाय नहीं है।'

मानव विषय-भोगोंमें लिप्त होकर उन्हींको सच्चा सुख मान रहा है और उसके लिये वह लाखों प्रयत्न करता है, परंतु ये ही उसके दुःख और नाशका कारण बनते हैं। सांसारिक विषयोंसे अपने चित्तको हटाकर ईश्वरका सामीप्य प्राप्त करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है, उसीका नाम 'उपासना' है।

मनुष्य ८४ लक्ष क्षुद्र योनियोंसे होकर आता है, इसलिये स्वभावतः उसमें नीच वृत्तियोंका प्राबल्य होता है। यदि वह कुछ प्रयत्न करता भी है तो वे वृत्तियाँ उसे नीचेकी ओर घसीटती हैं। इन निम्नगामिनी वृत्तियोंपर यह विजय प्राप्त करके इनकी नीतिको बदलकर इन्हें मानवोचित कर्मोंके सहश ऊँचा उठाना ही 'उपासना' है।

सांसारिक उन भावों और परिस्थितियोंसे परेशान होकर व्यक्ति हर समय अशान्त रहता है, शान्ति तो केवल ईश्वर-के सांनिध्यसे ही मिल सकती है। अतः शास्त्रोंमें शान्ति-प्राप्तिके लिये जिन उपायोंका निर्देश किया गया है, उन्हींको 'उपासना' कहते हैं। तमसे सत्की ओर, अज्ञानसे ज्ञानकी ओर बढ़ना ही 'उपासना' है। स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर कदम बढ़ानेमें पुरुषार्थका नाम ही 'उपासना' है।

हमारे शास्त्रोंका कथन है कि उपासनाका अर्थ है 'परमेश्वरके पास बैठना'। बड़ोंके पास बैठनेका अर्थ है—तदनुरूप बन जाना। परमेश्वर सत्यरूप है, अतएव सत्य-रूप बनना ही उसकी उपासना है। उपासना बुद्धिका नहीं, श्रद्धाका विषय है। उपासना करते-करते शुद्धता आती ही है। ऐसी श्रद्धा रखकर नित्य उपासना करनी चाहिये। जिस प्रकार अन्नादिसे शरीरका पोषण होता है, उसी प्रकार उपासनासे आत्मा पुष्ट होती है। जीवमात्रके साथ ऐक्य सिद्ध करनेका अर्थ है—उनकी सेवा करना। अतएव निष्काम सेवा भी उपासना ही मानी जायगी।

स्वामी दयानन्दने उपासनाकी आवश्यकतापर बल देते हुए लिखा है—'जिस जीवनमें उपासनाकी अमृतधारा प्रवाहित नहीं होती, वह जीवन शुष्क वालुकामयी मरुभूमि-की तरह है। जबतक सूर्य और ज्ञानके साथ उपासनाका मधुर मिश्रण न हो, तबतक न तो कर्ममार्गमें ही पूर्णता प्राप्त हो सकती है और न ज्ञानमार्गमें ही पूर्णता लाभ हो सकती है। इसलिये ज्ञानके साथ साधनकी पूर्णताके लिये उपासनाका रहना परमावश्यक है।

वैदिकधर्ममें उपासनाके अन्तर्गत ऐसी वैज्ञानिक विधियों और पद्धतियोंका समावेश है जिनका अनुसरण करके उपासक निरन्तर प्रगति-पथपर ऊँचा उठता ही जाता है। उसका शरीर नीरोग रहता है। मनमें शक्तिका अनुभव होता है। सांसारिक आपत्तियोंसे लोहा लेनेकी उसमें सामर्थ्य होती है। वह उन्हें ईश्वरका वरदान समझकर प्रसन्नतापूर्वक सहन करता है और उन्हें ही अपनी उन्नतिका माध्यम मानता है। विचार और विवेकके रूपमें उसे सच्चे मित्र प्राप्त होते हैं। ये ही उसे भवसागरसे पार करनेमें सहायता देते हैं। स्वयं ऊँचा उठानेके साथ दूसरोंका उत्थान भी वह आवश्यक समझता है। निःस्वार्थ सेवा तो उसके स्वभावमें ही आ जाती है। जब उपासनामें ये लक्षण दिखायी देने लगें, तब समझना चाहिये कि वह आनन्द-मय प्रभुका सामीप्य प्राप्त कर रहा है। यही सच्ची उपासना है। यदि हमारी उपासना इन कसौटियोंपर खरी नहीं उतरती है, तो निश्चय ही उसे असफल समझना चाहिये और उसमें निहित दोषोंके परिमार्जनके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

सगुणोपासनाका संक्षिप्त शास्त्रीय विवेचन

(लेखक—श्रीबजरंगबलीजी ब्रह्मचारी एम्० ए० (द्वय), साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, साहित्यसुधाकर, सदस्य विधान-सभा, उ० प्र०)

उपनिषदोंमें दहर विद्या, शाण्डिल्यविद्या और वैश्वानर-विद्याओंके रूपमें अनेक सगुण उपासनाएँ वर्णित हैं। एक ही तत्त्व अनेक रूपोंमें प्रकट है। पर यह बिल्कुल सत्य है कि अनेक अनुपयोगी नहीं, बल्कि हम अनेकके द्वारा ही एकतक पहुँचते हैं।

उपनिषदोंमें जहाँ-जहाँ ब्रह्मकी उपासना कही गयी है, वहाँ-वहाँ उपास्य ब्रह्मके अव्यक्त होनेपर भी सगुणरूपसे ही उसका वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—शाण्डिल्य विद्यामें, जिस ब्रह्मकी उपासना कही गयी है, वह यद्यपि अव्यक्त अर्थात् निराकार है, तथापि छान्दोग्योपनिषद् (३-१४) में कहा गया है कि वह प्राणशरीर, सत्यसंकल्प, सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वकर्म अर्थात् मनको गोचर होनेवाले सब गुणोंसे युक्त है।

यही कारण है कि व्यक्त-उपासनाका मार्ग अनादिकालसे प्रचलित है। रामतापनीय आदि उपनिषदोंमें मानव-लीलाकारी व्यक्त ब्रह्मस्वरूपकी उपासनाका वर्णन है।

यह सगुणोपासनाका मार्ग वेदोंके समान ही प्राचीन है; क्योंकि वेदोंमें हम एकदेववादकी और उस एकदेवके प्रति प्रेमकी बातें पाते हैं। वैदिक साहित्यानुशीलनसे हमें पता चलता है कि भिन्न-भिन्न शक्तियोंके लिये भिन्न-भिन्न देवताओंकी विवेचना करते हुए आर्योंने ऐकेश्वरवादपर अपनी पूर्ण आस्था रक्खी है। यथा—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
(ऋक्० १।१६४।४६)

कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
(ऋक्० १०।११४।५)

आगम और तन्त्रसाहित्यमें भी विभिन्न देवताओंको लेकर—विशेषकर रुद्र और शिवके साकार विग्रह और विधि-विधानमयी उपासना तथा मन्त्रों और मन्त्रविधानोंकी अच्छी विवेचना की गयी है। निम्नलिखित उक्तियोंने भी उपासना-मार्गको प्रशस्त किया है—

आगमोक्तविधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः।
न हि देवाः प्रसीदन्ति कलौ चान्यविधानतः॥
(विष्णुयामल)

पुराणोंमें तो यह सगुणोपासनाका साधनमार्ग सर्व-साधारणके हितकी दृष्टिसे अत्यन्त सरल, सरस एवं सात्त्विक ढंगसे और आस्तिक्य तथा लोकसेवाको प्राधान्य देते हुए वर्णन किया गया है।

वैसे तो पूर्ण ब्रह्म ही सकल शास्त्रोंके महान् तात्पर्यके विषय हैं और उनका अपरोक्ष साक्षात्कार ही जीवनका चरम फल है। किंतु प्रारम्भसे ही लोगोंका मन इस परम दुरवगाह्य, मनोवचनातीत स्वरूपमें प्रवेश नहीं कर सकता। अतः भक्तानुग्रहार्थ ही परमप्रभु अनेक प्रकारके मङ्गलमय स्वरूपोंको धारण करते हैं। जो भगवान् गणेशके रूपमें ऋद्धि-सिद्धि शक्तियोंके सहित उपासकोंके सर्वविघ्न हरण करते हैं, वे ही भगवान् भास्करके रूपमें उपास्य होकर उपासकोंके सर्वरोग निवारण करते हैं और वे ही भूतभावन शंकर, विष्णु, नृसिंह एवं राम तथा श्रीकृष्णके रूपमें उपासित होकर सर्वसिद्धि प्रदान करते हैं।

भगवद्गीतामें कहा गया है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
(१२।५)

अर्थात् 'अव्यक्तमें चित्तकी एकाग्रता करनेवालेको बहुत कष्ट होते हैं; क्योंकि इस अव्यक्तगतिको पाना देहेन्द्रियधारी मनुष्यके लिये स्वभावतः कष्टदायक है।'

इसीलिये कलाके सहारे निराकारको साकार रूप देकर समझाना सगुणोपासनाका प्रधान विषय है। अवाङ्मनस-गोचर परमात्मा भावके आश्रयसे व्यक्तित्व-विशिष्ट बन जाते हैं। कदाचित् नारायणऋषिने इसीलिये पहले-पहल परमात्माको 'पुरुष' संज्ञा देकर पुरुषसूक्तके समान कलापूर्ण वस्तु संसारको प्रदान की। इस सूक्तमें जहाँ एक ओर हजार हाथ-पैरवाले पुरुषका वर्णन है, वहाँ दूसरी ओर उसके एक मुख, दो हाथ और ैर भी बताये गये हैं।

अहंग्रह-उपासनासे प्रतीकोपासनाका मार्ग सरल और सुगम है। प्रतीकोपासनामें बाहरके पदार्थमें पदार्थदृष्टि हटाकर उसमें ब्रह्मका मनन, चिन्तन और निदिध्यासन करना होता है। इसमें किसी स्थूल रूप अथवा आकारकी सहायता लेनी पड़ती है और इसीलिये यह प्रतीकोपासना साकारोपासना कहलाती है। श्रीवेदव्यासजीने अपने ब्रह्ममीमांसा-दर्शनमें इस प्रकार आज्ञा दी है—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्। (४।१।५)

अर्थात् प्रतीकोपासनामें प्रतीकमें ब्रह्मदृष्टि रखनी चाहिये।

यदि कोई मनुष्य अरुन्धती ताराको देखना चाहता है तो उसके समीपका एक बड़ा तारा पहले दिखाया जाता है और जब उसकी दृष्टि उस बड़े तारेपर जम जाती है, तब उसको उससे कुछ छोटा एक दूसरा तारा दिखाते हैं। यों करते-करते क्रमशः उसको अरुन्धती तक ले जाते हैं। उसी प्रकार ये भिन्न-भिन्न प्रतीक और प्रतिमाएँ सगुणोपासनाके माध्यमसे हमें ईश्वरतक पहुँचा देती हैं।

शास्त्रोंमें अनेक स्थानोंमें उपासनाका अर्थ निरन्तर स्मरण बताया गया है और यही स्मरण प्रगाढ़ होनेपर दर्शनका रूप धारण कर लेता है। इसीलिये भक्तराज प्रह्लादने ऐसी ही उपासनाकी माँग करते हुए भगवान्से प्रार्थना की है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
(विष्णुपुराण १।२०।१९)

अर्थात् 'जैसी तीव्र आसक्ति अविवेकी पुरुषोंकी इन्द्रिय-विषयोंमें होती है, उसी प्रकारकी तीव्र आसक्ति आपका स्मरण करते समय कहीं मेरे हृदयसे चली न जाय।'

शास्त्रोंने उस अवस्थाको 'तदर्थप्राणसंस्थान' कहा है, जब उपास्यके सतत चिन्तनके कारण ही उपासकको अपना जीवन मधुर प्रतीत होता है और ऐसी ही सगुणोपासनाके आश्रयसे हम भोगीसे योगी, पापीसे पुण्यात्मा और नरसे नारायण बन सकते हैं तथा ऐसी उपासनाकी कामना जनसाधारणको कौन कहे, बड़े-बड़े देवता, मुमुक्षु और ब्रह्मवादी भी करते हैं—

यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च।
(नृसिंहपूर्वतापनी-उपनिषद् ५।२।१५)

श्रीभरतजीकी रामचरणपादुका-उपासना

(लेखक—श्रीरामलालजी)

श्रीभरतजीकी भगवान् श्रीराममें अनुपम और अप्रतिम प्रेमनिष्ठा भक्ति थी। उन्होंने श्रीरामसे चित्रकूटमें भेंट करनेके समयसे उनके अयोध्या लौटनेकी अवधितक नन्दिग्राममें निवासकर उनकी चरणपादुकाकी उपासना करके राज-कार्य-संचालन किया। भरतके स्वभावका वर्णन वेदोंके लिये भी सुगम नहीं है। गोस्वामी तुलसीदासका कथन है—

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ।
(रामचरितमानस, अयोध्या०)

वे श्रीरामचरण-कमल-मकरन्दके रसिक मधुप थे। उन्होंने श्रीरामकी पादुकारूपी राजाके मन्त्रीरूपमें पृथ्वीका पालन किया।

पादुका, नृप, सचिव, पुहुमि-पालक परम
धरम-धुर-धीर बरबीर भारी।
(विनयपत्रिका ३९)

महामति वेदान्तदेशिकने अपने 'पादुकासहस्रम्' काव्यमें श्रीभरत—भक्तोंके प्रथम उदाहरणकी वन्दना की है—

भरताय परं नमोऽस्तु तस्मै
प्रथमोदाहरणाय भक्तिभाजाम्।
यदुपज्ञमशेषतः पृथिव्यां
प्रथितो राघवपादुकाप्रभावः॥
(पादुकासहस्रम् १।२)

श्रीरामके चरण परम मङ्गलमय हैं, उनकी मङ्गलमयता निस्संदेह उनकी पादुकाके आश्रित है। उनके चरण समस्त मङ्गलमय चिह्नोंसे युक्त हैं। स्पष्ट है कि ये माङ्गलिक चिह्न भी पादुकाके ही आश्रित हैं। उनकी उपासनासे चरण-उपासनागत समस्त सिद्धिकी प्राप्ति हो जाती है। भगवच्चरण-चिह्न संतों और भक्तोंकी सदा सहायता करते हैं। भक्तमालमें संत नाभादासकी उक्ति है—

चरणचिह्न रघुबीरके सन्तन सदा सहायका।

दक्षिणपदगत वज्र, अङ्कुश, अम्बर, कमल, यव, अष्टकोण, ध्वजा, चक्र, स्वस्तिक, ऊर्ध्वरेखा और पुरुष तथा वामपदगत गोपद, शङ्ख, जम्बूफल, कलश, सुधाकुण्ड,

अर्धचन्द्र, षट्कोण, मीन, बिन्दु, त्रिकोण, इन्द्रधनुष चिह्नों*के समस्त गुण भगवच्चरणपादुकामें निवास करते हैं।

इन मङ्गलमय गुणोंसे युक्त समस्त चरण-चिह्नोंका आश्रयस्थान भगवच्चरण-पादुका है। श्रीभरतने श्रीरामकी पादुकाकी उपासनासे तद्गत समस्त गुणोंकी छत्रच्छायामें स्वस्थ होकर विश्वमात्रका कल्याण किया। पादुका भगवच्चरण-सेविका है, भक्त भगवान्‌का सेवक है, दोनोंके सेव्य भगवान् हैं, दोनों समकक्ष हैं, सेवक हैं। श्रीभरतकी पादुका-उपासनाकी विशिष्टता यह है कि उन्होंने चरणसेविका पादुकाको समकक्ष पद न देकर उपास्य—आराध्य पद प्रदान किया, पादुकाने उनके लिये रामकी ही तरह सेव्यका रूप ग्रहण कर लिया।

भरतकी श्रीरामपादुका-निष्ठापर श्रीमद्वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण, रामचरितमानस, वेदान्तदेशिककृत 'पादुकासहस्रम्' काव्यग्रन्थ तथा अन्य रामपरक काव्योंमें यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। श्रीरामकी पादुकाके तात्त्विक निरूपणमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि यह रामपादसहधर्म-चारिणी है, समस्त जगत्‌की अधीश्वरी है, समस्त पापोंका नाश करनेवाली तथा भरतकी रक्षिका है। वेदान्तदेशिकका कथन है—

'रामपादसहधर्मचारिणीं
पादुके ! निखिलपातकच्छिदम्।
त्वामशेषजगतामधीश्वरीं
भावयामि भरताधिदेवताम्॥
(पादुकासहस्रम् ३। ४९)

* संत नाभादासने उपर्युक्त चिह्नोंको ही मान्यता दी है। वज्र बलदायक और पाप-संहारक है, अङ्कुशके द्वारा मनोनिग्रह होता है, अम्बर-वस्त्र भयनाशक है, कमलसे भगवद्भक्ति और जैसे मोक्ष तथा अष्टकोणसे अष्टसिद्धिकी प्राप्ति होती है, ध्वजासे विजय और यशकी उपलब्धि होती है, चक्र शत्रुका विनाश करता है, स्वस्तिक मङ्गलकारक है, ऊर्ध्वरेखासे भवसागरका संतरण सम्भव होता है तथा पुरुषसे भक्ति, शान्ति और सात्त्विक गुणोंकी प्राप्ति होती है। गोपदसे भक्ति, शङ्खसे जय और बुद्धि, जम्बूफलसे चारों पदार्थ, कलशसे भक्ति-जीवन्मुक्ति, सुधाकुण्डसे अमृत और रत्न, अर्धचन्द्रसे भक्ति-शान्ति-प्रकाशकी उपलब्धि होती है। षट्कोण, षट्विकार—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरका नाश करता है, मीनसे मङ्गल होता है, बिन्दु पुरुषार्थकी सिद्धि प्रदान करता है, त्रिकोण योगसिद्धि देता है तथा धनुष मृत्यु-भयका निवारण करता है।

अप्सराएँ स्वर्गमें अव्याहत सौभाग्य प्राप्त करनेकी कामनासे कल्पवृक्षके पुष्प समर्पित कर श्रीरङ्गेश्वरकी पादुकाकी अभ्यर्चना करती हैं। श्रीरामकी पादुकाकी यह सर्व-शक्तिमत्ता है।

तवैव रङ्गेश्वरपादरक्षे !
सौभाग्यमव्याहतमाप्तुकामाः।
सुरद्रुमाणां प्रसवैस्सुजातै-
रभ्यर्चयन्त्यप्सरसो मुहुस्त्वाम्॥
(पादुकासहस्रम् १२। ६)

श्रीरामने भरतके आग्रहसे उन्हें अपनी पादुका प्रदान की। जब वे किसी भी तरह अयोध्या लौटनेके लिये प्रस्तुत न हुए, तब भरतने श्रीपादुकाका ही आश्रय लेना उचित समझा। अन्यथा चौदह वर्षकी अवधितक उनके लिये जीवित रहना सम्भव नहीं होता। श्रीगोस्वामीजीने गीतावलीमें स्पष्टरूपसे इस रहस्यका अनावरण किया है। तुलसीदासजीका वचन है कि श्रीरामने अपनी चरणपादुकाओंके मिससे भरतके प्राणोंका रखवाला नियुक्त कर दिया है, रामपादुका भरतकी प्राणरक्षिका है।

तुलसी प्रभु निज चरन पीठ मिस भरत-प्रान रखवारो।'
(गीतावली, अयोध्या० ६७)

श्रीभरतकी विह्वलताने चित्रकूटमें श्रीरामका हृदय पूर्ण द्रवित कर दिया। प्रभुने कहा—'भैया ! अपने हृदयमें ऐसी ग्लानि क्यों मानते हो ? तुमने तो प्रीति, नीति, गुण, शील और धर्म—सभीको सहारा दे रक्खा है। ये दिन भी कट जायँगे।' भाईको इस प्रकार समझाकर अपनी चरण-पादुकाएँ दे दीं और भरतने सबके प्राणोंके प्रहरीरूप उनको अपने सिरपर लगाकर ग्रहण कर लिया।

तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि प्रभु चरन-पीठ निज दीन्हे।
मनहु सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हे॥
(गीतावली, अयोध्या० ७५)

प्रभुने अपनी चरण-पादुका प्रदानकर भरतपर अहैतुकी कृपा-वृष्टि की। गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामकी कृपा, पादुकाकी महिमा तथा शक्तिका अमित व्यापक दृष्टिसे वर्णन किया है—

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं।
सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥

चरनपीठ करुनानिधान के।
जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
संपुट भरत सनेह रतन के।
आखर जुग जनु जीव जतन के॥
कुल कपाट कर कुसल करम के।
बिमल नयन सेवा सुधरम के॥
भरत मुदित अवलंब लहे तें।
अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥

(रामचरितमा० अयोध्या०)

कितना समीचीन ध्यान है यह श्रीरामकी चरणपादुकाका। निस्सन्देह भगवच्चरण-पादुका मूर्तिमती दया है। यह अमोघ शक्तिका प्रतीक है। इसके आलोकमात्रसे घोर अन्धकारमयी रजनी—निराशाका अन्त हो जाता है। यह सम्पूर्ण चिन्मय है। वेदान्तदेशिकका कथन है—

असूर्यभेद्यां रजनीं प्रजाना-
मालोकमात्रेण निवारयन्ती।
अमोघवृत्तिर्मगिपादरक्षे
मुरद्विषो मूर्तिमयी दया त्वम्॥

(पादुकासहस्रम् १५। ४)

श्रीरामकी पादुका हेमभूषित थीं। वाल्मीकिरामायणमें वर्णन मिलता है कि भरतने रामसे निवेदन किया—'हे आर्य! ये स्वर्णभूषित पादुकाएँ आपके चरणोंमें अर्पित हैं, ये सम्पूर्ण जगत्के योगक्षेमका निर्वाह करेंगी।'

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥

(वा० रा०, अयोध्या० ११२। २१)

भरत श्रीरामकी चरणपादुका लेकर नन्दिग्रामकी ओर चल पड़े। नन्दिग्राममें रामके लौटनेकी अवधितक निवास करके उन्होंने श्रीचरणपादुकाकी उपासनाका व्रत ग्रहण किया। उन्होंने मन्त्रियोंसे कहा कि 'आपलोग इनके ऊपर छत्र-चामर धारण करें, मैं इन्हें श्रीरामके साक्षात् चरण मानता हूँ; मेरे गुरुकी इन चरण-पादुकाओंसे ही इस राज्यमें धर्मकी स्थापना होगी'—

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम॥

(वा० रा०, अयो० ११५। १६)

श्रीभरतके लिये श्रीरामकी इच्छाएँ पादुकाकी इच्छाओंकी प्रतीक हो गयीं। रामकी इच्छाके अनुरूप पादुका आज्ञानुवर्त्तिनी हो गयी और पादुकाकी सेवा—आज्ञापालन-वृत्ति रामकी इच्छाका पर्याय बन गयी। भगवान् अहैतुकी कृपाके मूलाधार हैं तो पादुका दास्यरति—भक्तिका अनन्त स्रोत है। पादुका पराविद्या—महाविद्याके ही समान है। वेदान्तदेशिककी उक्ति है—

प्रपद्ये पादुकां देवीं पराविद्यामिव स्वयम्।
धामर्पयति दीनानां दयमानो जगद्गुरुः॥

(पादुकासहस्र० ३१। १)

वे श्रीभरत चरणपादुकाकी उपासनामें तत्पर हो गये। अध्यात्मरामायणमें वर्णन मिलता है कि 'एक सिंहासनपर दोनों पादुकाओंको रखकर वे रामके समान ही उनकी नित्यप्रति भक्तिपूर्वक गन्ध, पुष्प और अक्षतादि सम्पूर्ण राजोचित सामग्रीसे पूजा करने लगे। वे शत्रुघ्नसहित फल-मूल खाते, इन्द्रिय-दमन करते, जटा और वल्कल धारणकर पृथ्वीपर शयन करते, ब्रह्मचर्यका पालन करते तथा समस्त राजकार्य पादुकाओंके सामने निवेदन करते थे—

तत्र सिंहासने नित्यं पादुके स्थाप्य भक्तितः॥
पूजयित्वा यथा रामं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः।
राजोपचारैरखिलैः प्रत्यहं नियतव्रतः॥
फलमूलाशनो दान्तो जटावल्कलधारकः।
अधश्शायी ब्रह्मचारी शत्रुघ्नसहितस्तदा॥
राजकार्याणि सर्वाणि यावन्ति पृथिवीतले।
तानि पादुकयोः सम्यङ् निवेदयति राघवः॥

(अध्यात्म० अयोध्या० ९। ७१–७४)

वे उन पादुकाओंपर छत्र लगाते और स्वयं चँवर डुलाया करते थे। गोस्वामी तुलसीदासके शब्दोंमें उन्होंने ऋषिधर्मका पालन किया। यह सहज नहीं, कठिन ऋषिव्रत था। श्रीरामचरितमानस प्रमाण है—

नंदिगाँव करि परन कुटीरा।
कीन्ह निवास धरम धुर धीरा॥
जटा जूट सिर मुनिपट धारी।
महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा।
करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा॥

× × × ×

भरत रहनि समुझनि करतूती।
भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं।
सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥
(रामचरितमानस अयोध्या०)

श्रीभरतका पादुका-उपासनापरक आचरण परम पवित्र, मङ्गलकारक और आनन्ददायक है। उन्होंने चौदह सालकी अवधितक पादुकाकी भक्ति करके रामके लौटनेपर उनके चरणोंमें उनका संयोजन कर दिया।

भरतः पादुके ते तु राघवस्य सुपूजिते।
योजयामास रामस्य पादयोर्भक्तिसंयुतः॥
(अध्यात्म० युद्ध० १४। ९३)

महाकवि कालिदासका कथन है कि चरणपादुकाकी छत्रच्छायामें अपने बड़े भाईकी भक्ति करके राजपदको ठुकराकर भरतने अपनी माँके पापका प्रायश्चित्त कर डाला।

इदभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत्॥
(रघुवंश १२। १९)

श्रीभरतद्वारा प्रतिपादित चरणपादुका-उपासनाका व्रत संसारसागरसे पार होनेका सुगम उपाय है। वेदान्तदेशिककी बड़ी भावमयी उक्ति है—

त्वदुपासनसम्प्रदायविद्भि-
स्समये सात्वतसेविते नियुक्ताः।
भरतव्रतिनो भवाम्बुराशिं
कतिचित् काञ्चनपादुके! तरन्ति॥
(पादुकासहस्रम् ३२। ६)

श्रीरामकी पादुका गङ्गाकी सखी है, सुख प्रदान करनेवाली चिन्मय वस्तु है, तीनों लोकोंकी स्वामिनी है, पाप-संहारिणी महाशक्ति है। महाकवि सेनापतिके शब्दोंमें चरण-पादुकाकी महिमाके निरूपणमें इतना ही कथन पर्याप्त है—

सुरतरु-सार की, सँवारी है बिरंचि पचि,
कंचनखचित चिंतामनि के जराइ की।
रानी कमला को पिय-आगम कहनहारी,
सुरसरि-सखी, सुखदैनी, प्रभु पाइ की॥
बेद में बखानी, तीन लोकन की ठकुरानी,
सब जग जानी 'सेनापति' के सहाइ की।
देवदुखदंडन, भरतसिरमंडन वे,
बंदौं अघखंडन खराऊँ रघुराइ की॥

श्रीरामकी पादुका उनकी चरण-स्थितिकी आधार-शक्ति है, समस्त विश्वके मङ्गलकी सौभाग्यवती स्वामिनी है, महादेवी है।

भरतका प्रेम-नियम-व्रत

जब तें चित्रकूट तें आए।
नंदिग्राम खनि अवनि, डासि कुस, परनकुटी करि छाए॥
अजिन बसन, फल असन, जटा धरे रहत अवधि चित दीन्हें।
प्रभु-पद-प्रेम-नेम-व्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हें॥
सिंहासनपर पूजि पादुका बारहि बार जोहारे।
प्रभु-अनुराग माँगि आयसु पुरजन सब काज सँवारे॥
तुलसी ज्यों-ज्यों घटत तेज तनु, त्यौं-त्यौं प्रीति अधिकाई।
भए, न हैं, न होहिंगे कबहूँ भुवन भरत-से भाई॥
(तुलसीदासजी—गीतावली ७९)

भगवान् शिवकी उपासनाके चमत्कार

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुबे)

(१)

उपास्यकी उपासना-लीला

वेद-वेदाङ्गका पूर्ण अध्ययन करके ब्रह्मचारी विश्वानरने गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया और शुचिष्मती नामक कन्याका पाणिग्रहण करके वे गार्हस्थ्य-धर्मका पालन करने लगे। अधिक समयतक कोई संतान न होनेसे उन्होंने वाराणसी क्षेत्रकी यात्रा की और वहाँ भगवान् वीरेश्वरकी आराधना करने लगे।

करुणामय वीरेश्वरकी उपासनामें उन्होंने अपना तन, मन और प्राण—सभी लगा दिया। पुण्यतोया जाह्नवीमें स्नान करके अहर्निश वीरेश्वर प्रभुकी उपासनामें ही लगे रहते। बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, एक समय अन्न-ग्रहण करते। एक महीनेतक मुट्ठीभर तिल खाकर पूजा-अर्चामें लगे रहे। कुछ दिनोंतक दूध, कुछ दिनोंतक केवल जलपर निर्भर रहकर एवं कुछ दिन सर्वथा निराहार रहकर बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिसे, बड़ी ही निष्ठासे प्रभु वीरेश्वरकी उपासनामें अपना प्रत्येक क्षण व्यतीत कर रहे थे। बड़ी कठोर तपस्या थी उनकी।

एक दिन गङ्गा-स्नान करके श्रीवीरेश्वर प्रभुकी पूजा करने बैठे और प्रणाम करने ही जा रहे थे कि मूर्तिकी ओर देखते ही रह गये। उन्होंने देखा, लिङ्गके मध्यमें आठ वर्षका परम सुन्दर कर्पूरगौर बालक मुस्करा रहा था। वे साक्षात् विश्वेश्वर थे। विश्वानर साष्टाङ्ग चरणोंमें गिर पड़े।

'करुणानिधि स्वामी!' भगवान्की अनुपम सौन्दर्य-छटा एवं करुणासे वे विह्वल-विमुग्ध होकर बोले। 'आपकी दयाका पार नहीं। मेरा अहोभाग्य······।' उनकी वाणी अवरुद्ध-सी हो गयी। नेत्रोंसे अश्रुपात होने लगा।

'तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी।' उमानाथने अत्यन्त स्नेहसिक्त वाणीमें कहा। 'शुचिष्मतीकी इच्छापूर्तिके लिये तुम्हारा तप सफल हो गया! मैं स्वयं अपने एक रूपसे तुम्हारे इसी जीवनमें शुचिष्मतीकी कोखसे जन्म-ग्रहण करूँगा। मेरा नाम गृहपति, अग्नि अथवा वैश्वानर होगा।'

भगवान् अन्तर्धान हो गये और विश्वानर करुणा-वरुणालय वीरेश्वरकी पूजा करके उनके अनुपम रूपका स्मरण करते घर लौटे।

जिस दिन भाग्यवती शुचिष्मतीकी कोखसे अत्यन्त सुन्दर और तेजस्वी बालकने जन्म लिया, उस दिन सर्वत्र आनन्द प्रसरित हो रहा था। बालकका नाम गृहपति रक्खा गया। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत-संस्कारके उपरान्त गृहपति वेदाध्ययनके लिये गुरुकुल गये। बालक इतना अधिक प्रतिभाशाली था कि केवल तीन वर्षोंके अत्यल्प कालमें ही उसने समस्त शास्त्रोंका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर लिया। सच बात तो यह है कि भगवान् शंकरके अंशावतार-को निखिल सृष्टिकी समस्त विद्याएँ विदित थीं। मातृ-पितृ-भक्त गृहपति घर लौट आये।

'यह बालक सर्वथा निर्दोष, निष्कलङ्क एवं सर्वगुण-सम्पन्न अद्वितीय है'—एक दिन देवर्षि नारद विश्वानरके बालकको अपनी गोदमें लेकर उनसे कहने लगे। 'किंतु बारहवें वर्षमें विद्युत्पातसे इसका इहलौकिक जीवन समाप्त हो सकता है।'

अनभ्र वज्रपात! माता-पिता मूर्छित-से हो गये। परम वैष्णव त्रिकालज्ञ श्रीनारदकी वाणी कहीं मिथ्या हो सकती है? विश्वानर और शुचिष्मती दुःखसे व्याकुल होकर रोने लगे।

'माँ!' वैश्वानरने अत्यन्त विनयपूर्वक माता-पितासे निवेदन किया। 'आपलोग भयभीत क्यों होते हैं? आप-लोगोंके चरणोंकी कृपासे काल मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। मैं भगवान् मृत्युंजयकी उपासना करूँगा। भयानक विष-पान करनेवाले नीलकण्ठकी कृपासे वज्र मेरा कोई अनिष्ट नहीं कर सकता, आपलोग इसका विश्वास करें।'

'बेटा!' पुत्रके सरल स्वभाव, अपने चरणोंमें प्रीति एवं आशुतोष शिवकी कृपामें दृढ़ विश्वास देखकर गद्गद होकर माता-पिताने स्नेह-गद्गद वाणीसे कहा। 'तुम्हारा कथन सर्वथा ठीक है। भगवान् मृत्युंजय कालोंके काल एवं अनन्त, अपरिसीम करुणासे परिपूर्ण हैं। उनकी शरण ग्रहण कर लेनेपर कोई भी महान् शक्ति तुम्हारा तनिक भी अनिष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो सकती।'

'तुम जाओ ।' पिताने आगे कहा । 'तुम अशरण-शरण, सर्वशक्ति-सम्पन्न, दयासिन्धु देवाधिदेव महादेवकी चरण-शरणमें जाओ और उनकी आराधना करके उन्हें संतुष्ट कर लो । उनकी कृपा प्राप्त कर लो । तुम मृत्युपर विजय प्राप्त कर लोगे ।'

वैश्वानरने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम करके उनकी प्रदक्षिणा की और काशीके लिये प्रस्थान किया । स्वयं भगवान् शंकर अपनी ही उपासनाके लिये अपनी ही पवित्र पुरी काशीमें पधारे ।

'अहा, देवर्षि नारदने मुझपर कितनी बड़ी कृपा की'—काशीमें मणिकर्णिकापर पुण्यतोया जाह्नवीमें स्नानोपरान्त भगवान् विश्वेश्वरके दर्शन करके शुचिष्मतीके पुत्र गृहपतिने आनन्दमग्न होकर मन-ही-मन कहा । 'त्रैलोक्यनाथ पार्वती-वल्लभ श्रीविश्वनाथका पावन दर्शन-लाभ करके मैं कृतार्थ हो गया ।'

बाबा विश्वनाथके दर्शनसे वैश्वानरकी तृप्ति नहीं होती थी । वे अपलक दृष्टिसे उनकी ओर देख रहे थे—साश्रुनयन बद्धाञ्जलि । भगवान्‌के श्रीचरणोंमें श्रद्धा-भक्तिपूर्ण प्रणाम निवेदन करके वे मन्दिरसे बाहर चलने लगे । नेत्र झर रहे थे । वे आगे नहीं बढ़ पाये । पुनः लौट आये और भगवान् विश्वेश्वरके सम्मुख हाथ जोड़े बड़ी देरतक मन-ही-मन प्रार्थना करते रहे ।

वैश्वानरने पुण्यपर्वपर शिवलिङ्गकी स्थापना की और उपासना करने लगे । शरीर और प्राणकी चिन्ता छोड़कर उन्होंने अत्यन्त कठोर नियम ले लिया । वे प्रतिदिन श्रीगङ्गाजीसे एक सौ आठ घड़े जल लाकर उन्हें चढ़ाते । एक सहस्र आठ नील कमलोंकी माला भगवान्‌को प्रतिदिन अर्पित करते और निरन्तर आर्तत्राणपरायण, कर्पूरधवल, भस्मभूषित, त्रिनयन, फणि लपेटे, शशाङ्कशेखर परम परमेश्वर श्रीशंकरका ध्यान एवं उनके मङ्गलमय नामका जप करते रहते ।

आहार—शरीर-रक्षाके लिये आहार नितान्त अपेक्षित था, किंतु वैश्वानरके शारीरिक-पोषणके लिये भी देवाधिदेव चन्द्रशेखरकी उपासनाका ही सहारा था । उन्होंने छः मासतक सप्ताहमें केवल एक बार कंद-मूल लिया । छः मासतक सूखे पत्ते, छः महीनेतक गङ्गाजल और छः मासतक वायुपर ही निर्भर रहकर वे अपने प्राणाराध्य पशुपतिकी उपासना करते रहे । अनुक्षण लोकनाथ विश्वनाथमें उनके प्राण घुलते-मिलते जा रहे थे । वैश्वानरके श्वास-प्रश्वासमें भी जैसे भुवनपति महादेव ही समा गये थे । इस प्रकार कठोर व्रतके साथ श्रद्धा-भक्तिपूर्ण उपासनाका बारहवाँ वर्ष चल रहा था ।

'मैं तुम्हारी निष्ठापूर्ण उपासनासे संतुष्ट हूँ ।' जैसे देवर्षिकी उक्ति चरितार्थ करनेके लिये हाथमें वज्र लिये देवेन्द्रने आकर विश्वानरके पुत्र गृहपतिसे कहा । 'इच्छित वर माँग लो ।'

'देवेन्द्र !' वैश्वानरने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'आप वर देनेमें समर्थ हैं, किंतु मेरे मनमें अपने इष्ट देवाधिदेव विश्वनाथके दर्शनकी ही लालसा है । मुझे जो कुछ चाहिये, वही देंगे । आप कृपापूर्वक प्रस्थान करें ।'

'वैश्वानर !' इन्द्रने कुछ रुष्ट होकर कहा । 'देवाधिदेवका अस्तित्व मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं । मूर्खता छोड़कर तुम्हें जो अभीष्ट हो, मुझसे माँग लो ।'

'पूज्यवर !' पुनः वैश्वानरने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'मेरे प्राणोंके स्वामी भगवान् विश्वेश्वर हैं । मैं उनके अतिरिक्त किसीसे कुछ भी याचना करना नहीं चाहता ।'

'मूर्ख बालक !' इन्द्रकी मुखाकृति लाल हो गयी । उन्होंने वैश्वानरको भयभीत करनेके लिये जैसे क्रोधसे वज्र उठाया । वज्रसे अग्निकी भयानक लपटें निकल रही थीं ।

वैश्वानर वज्र-तेज कैसे सह पाते । मूर्छित हो गये ।

'पुत्र !' श्रवण-रन्ध्रोंमें जैसे सुधा-रस टपका दिया गया हो । वैश्वानरने नेत्र खोल दिये । देखा उनके परमाराध्य उन्हें अङ्कमें लेकर बड़े ही प्यारसे सहलाते हुए कह रहे थे—'तुम्हारा मङ्गल हो, उठो, देखो मैं आ गया ।'

'प्रभो !' वैश्वानरकी वाणी जैसे जड हो गयी । उन्होंने ऐसे मनोहर मुग्धकर सौन्दर्य-वैभवकी कल्पना भी नहीं की थी ।

कर्पूरधवल मनोहर अङ्ग । मस्तकपर तृतीय नेत्र, सुन्दर जटा और द्वितीयाका चन्द्र । नील कण्ठ तथा अङ्गपर रेंगता विषधर एवं गजचर्मावृत कटि ! निकट ही निखिल सृष्टिका सृजन, पालन एवं संहार करनेवाली, करुणामयी, सौन्दर्यकी राशि माता पार्वती खड़ी थीं । उनके अरुण अधरपर हास्य क्रीड़ा कर रहा था ।

आश्चर्यचकित, आनन्दविह्वल वैश्वानर कुछ बोल नहीं पा रहे थे। इधर वैश्वानर और दूसरी ओर भगवान् गौरीशंकर।

'प्रिय पुत्र वैश्वानर!' भगवान् शंकरने हाथ जोड़े हुए बालकसे कहा। 'वज्र देखकर तुम डर गये ? अरे, सुरेन्द्रके वेषमें तो मैं ही तुम्हारी निष्ठाकी परीक्षा कर रहा था। मेरे प्रेमी, मेरे भक्त और मेरे सच्चे उपासक मेरे ही स्वरूप हैं। मुझमें और तुममें कोई अन्तर नहीं। मैं तुम्हारी प्रत्येक कामना पूरी कर सकता हूँ। मैं तुम्हें अग्नि-पद दे रहा हूँ। तुम समस्त प्राणियोंमें निवास करोगे और सम्पूर्ण देवताओंके मुख बनोगे। तुम्हारे ही द्वारा सब देवता अपना-अपना भाग ग्रहण करेंगे। तुम आग्नेय कोणके अधिपति हुए। तुम पूर्वके अधीश्वर इन्द्र एवं दक्षिणके स्वामी यमराजके बीचमें दिक्पाल होकर निवास करो।'

'आज हमारा जीवन सफल हुआ।' इसी समय वैश्वानरके पिता और माता विश्वानर और शुचिष्मतीने आकर परम प्रभु गौरी-शंकरके चरणोंमें आनन्दविह्वल होकर साष्टाङ्ग दण्डवत् किया।

'वैश्वानर!' भगवान् बोले। 'तुम अपने माता-पिता एवं बन्धु-बान्धवोंसहित विमानपर आरूढ़ होकर अग्निलोकमें जाओ और वहीं निवास करो।'

वैश्वानर अग्निने देखा, उनके बन्धु-बान्धव सभी वहाँ आ गये हैं। वे भगवान् पार्वती-वल्लभकी आज्ञाके अनुसार भगवान्को प्रणाम एवं उनकी प्रदक्षिणा करके अपने लोकके लिये प्रस्थित हुए और भगवान् शंकर उसी लिङ्गमें प्रवेश कर गये, जिसकी उपासना वैश्वानर बारह वर्षोंसे करते आ रहे थे।

(२)

कट्टर शिवोपासक

नीरव निशीथ! चोलराज घबराकर उठ खड़े हुए। 'क्या है ?' उन्होंने प्रहरीसे रोषपूर्वक पूछा—'अर्द्धरात्रिमें जगानेका क्या कारण है ?' 'कट्टर जैनी शासक कुणपाण्ड्यने दुर्गपर आक्रमण कर दिया है।' अधीर प्रहरीने विनीत स्वरमें निवेदन किया। 'दुर्ग घेर लिया है उसने और उसकी तोपें आगके गोले उगल रही हैं।'

'चिन्ताकी बात नहीं।' वीर चोलराजने बड़ी गम्भीरता और शान्तिसे कहा। 'हम शत्रुओंकी युद्ध-पिपासा शान्त करना अच्छी तरह जानते हैं।'

'चलो!' चोलराज शयन-कक्षसे बाहर निकले। चोलराजके आदेशानुसार दुर्गकी प्राचीरोंपर भीषण तोपें गर्ज उठीं।

तमसाच्छन्न नीरव रात्रिमें तोपें धायँ-धायँ ध्वनिके साथ अग्निपिण्ड उगलती जा रही थीं, किंतु शत्रुपक्ष दुर्गके निकट कहाँ छिपा है, यह पता नहीं चल सका। दुर्गके चारों ओर जल एवं काँटोंकी दुर्लङ्घ्य खाइयाँ थीं और उसके बाद सघन वन। चोलराजके गोले शून्यमें व्यर्थ चमककर नष्ट होते जा रहे हैं या शत्रु-पक्षकी कुछ हानि भी हो रही है—यह पता नहीं चल पा रहा था और दूसरी ओर शत्रुके गोले यद्यपि सुदृढ़ दुर्गकी दीवारोंका कुछ भी बिगाड़ नहीं पा रहे थे, फिर भी कुछ गोले जो दुर्गमें गिर रहे थे, वे विनाश करते जा रहे थे। कई अट्टालिकाएँ अग्निकी लपेटमें आ गयीं और कितने ही सैनिक तड़पकर सो गये। वीर चोलराज हैरान थे।

रात्रि इसी प्रकार बीती। उषाका पूर्व क्षितिजपर आगमन हुआ और चोलराजने अपने सैनिकोंको दुर्गकी रक्षा एवं शत्रुको इस प्रकार पराजित करनेके लिये प्रोत्साहित किया कि शत्रुका एक सैनिक भी जीवित हमारी सीमासे बाहर न जा सके।

चोलराजके सैनिकोंने बड़े ही उत्साहसे युद्ध प्रारम्भ किया। तोपोंके गोलोंके साथ वीरोंके विषाक्त तीक्ष्ण शर जिस शत्रुका स्पर्श करते, वह वहीं भू-लुण्ठित हो जाता। दिनभर युद्ध होता रहा और सैकड़ों शत्रुओंके प्राणपखेरू उड़ गये।

पुनः रात्रि आयी। शत्रु-पक्ष शान्त हुआ। चोलराजने शान्तिकी साँस ली। सैनिकोंको सजग और सावधान रहनेका आदेश देकर नरेश विश्रामके लिये शयन-कक्षमें पहुँचे।

'दूध है, पिताजी!' चोलराजकी एकमात्र प्राणप्रिय सुन्दरी पुत्री वनितेश्वरीने बड़ी ही श्रद्धासे निवेदन किया। 'इसे पी लीजिये।'

'अब मुझे विश्राम करने दे, बेटी!' वनितेश्वरीके हाथसे शर्करामिश्रित दुग्ध लेकर पी लेनेके अनन्तर चोलराज

बोले। 'अब मैं कुछ विश्राम कर लूँ बेटी! पता नहीं, शत्रु कब क्या कर बैठे? तू जा, निश्चिन्त होकर सो जा; मङ्गलमय शशाङ्कशेखर सब मङ्गल ही करेंगे।'

वनितेश्वरी चुप-चाप चली आयी।

× × ×

'ये रहे नरेश!' चोलराजके भूतपूर्व मन्त्रीने कुणपाण्ड्यसे कहा। कुणपाण्ड्यके सहस्रों सैनिक दुर्गमें प्रवेश कर गये थे। चोलराजके सैनिकोंने वीरतापूर्वक प्रतिरोध किया था, अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी थी; किंतु गुप्त मार्गसे शत्रु-सेनाने अचानक उन्हें घेर लिया। विवशतः उन्हें शस्त्र रख देने पड़े।

अभी दो घड़ी रात शेष थी।

चोलराज घबराकर उठ भी नहीं पाये कि कुणपाण्ड्यके सशस्त्र सैनिकोंने उन्हें घेर लिया।

'अब आप नरेश नहीं।' चोलराजके भूतपूर्व मन्त्रीने अपने ही प्रजापालकसे अत्यन्त धृष्टतापूर्वक निर्लज्ज वाक्य कहा। 'पाण्ड्यराजके बंदी हैं।'

'मैं समझ गया, कुत्ते!' चोलराजने दाँत पीसकर कहा—'मेरी दया मुझे धोखा दे देगी, तू पुनः दूसरी बार विश्वासघात करेगा, इसकी मुझे स्वप्नमें भी कल्पना नहीं थी। सच है, राजदण्ड शिथिल होनेपर या दुष्टोंपर दया करनेसे राज्यका सर्वनाश हो जाता है।'

'महाराज अधिक न बोलें तो अच्छा रहे।' कुणपाण्ड्यने चोलराजसे कहा। 'महाराज!' चोलराजके भूतपूर्व मन्त्रीने अत्यन्त कृतघ्नताका परिचय देते हुए कुणपाण्ड्यसे अपने नरेशके सम्मुख ही विनयपूर्वक निवेदन किया। 'अनुपम सौन्दर्य-वैभव-सम्पन्न इनकी एक पुत्री भी है—वनितेश्वरी। वह दुर्लभ रमणी-रत्न आपके सर्वथा उपयुक्त है।'

'नराधम, पामर कहींका!' चोलराज चीत्कार कर उठे।

'महाराज चुप रहें।' कुछ कड़े स्वरमें कुणपाण्ड्यने कहा। चोलराज अवश, असहाय और निरुपाय कसमसाकर रह गये।

× × ×

'आप मुझे पराजित राजपुत्रीके रूपमें स्वीकार कर रहे हैं?' अत्यन्त दुखी मनसे चोलराज-पुत्री वनितेश्वरी बोली। 'तो मेरा निर्जीव शरीर ही आपकी राजभूमिमें पहुँचेगा।'

'नहीं, नहीं वनितेश्वरी देवी!' विजयी कुणपाण्ड्यने अत्यन्त सरल और स्नेहसिक्त शब्दोंमें कहा। 'मैं आपको सम्मानपूर्वक अपनी महारानीके पदपर प्रतिष्ठित करना चाहता हूँ। चोलराज मेरे अतिशय आदरणीय सम्बन्धी रहेंगे। आपको धर्म-पत्नीके रूपमें पाकर मैं अपना जीवन कृतार्थ समझूँगा।'

'आपका प्रस्ताव स्वीकार कर लेनेमें मुझे आपत्ति नहीं होगी, यदि मेरी एक वाञ्छाकी पूर्ति हो जाय।' वनितेश्वरीने कुछ सोचकर उत्तर दिया।

'आपकी वाञ्छा-पूर्तिके लिये मैं अपना तन, मन, धन—सम्पूर्ण शक्ति लगा दूँगा।' पाण्डुनरेश सोत्साह बोले। 'आप अपना अभीष्ट व्यक्त करें।'

'अभीष्ट प्रकट करनेके पूर्व मैं आपसे प्रतिज्ञा करा लेना चाहूँगी।' अत्यन्त शान्तिसे वनितेश्वरी कह गयी।

'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आपकी इच्छा अवश्य पूरी करूँगा।' कुणपाण्ड्यने उत्साहसे कहा। 'यदि मैं आपकी इच्छा पूरी नहीं कर सका तो यहाँसे सहर्ष वापस लौट जाऊँगा। आपके पिताका राज्य तो सुरक्षित रहेगा ही, इस युद्धमें आपकी जो कुछ क्षति हुई है, उसकी पूर्ति भी करूँगा—यह मेरी प्रतिश्रुति है।'

'खूब सोच लीजिये, महाराज!' वनितेश्वरी बोली। 'कहीं ऐसा न हो कि आपको पश्चात्ताप करना पड़े।'

'आपको प्राप्त करनेके लिये मैं सारी छलना सहन करूँगा।' पाण्डुनरेशने कहा। 'आप अपना अभीष्ट प्रकट करें।'

'तो इस कृतघ्न, अधम और विश्वासघाती भूतपूर्व मन्त्रीका मस्तक अभी इसी क्षण मेरे और मेरे पिताके सम्मुख धड़से अलग कर दें।' वनितेश्वरीकी आँखोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं। उसने दाँत पीस लिये। क्रोधावेशसे उसका सुन्दर वदनाम्बुज विवर्ण हो गया।

× × ×

'क्यों?' वनितेश्वरीने नैराश्यपूर्ण स्वरमें पूछा—'आप क्या सोच रहे हैं? चुप कैसे रह गये?'

'मैंने इसे पुरस्कृत करनेका निश्चित आश्वासन दिया है।' कुणपाण्ड्यने उदास मुँह उत्तर दिया। 'वीर योद्धाओंसे पूर्ण इस सुदृढ़ दुर्गपर विजयश्री मुझे इसी मन्त्रीके

अनुग्रहसे प्राप्त हुई है। इसकी सहायता और सहयोगका प्रतिदान इसके शिरश्छेदसे······।'

'वचन-भङ्ग करनेके लिये आप पूर्ण स्वतन्त्र हैं।' वनितेश्वरीका मुख म्लान हो गया। वह बोली—'पर मेरी निष्प्राण काया ही आपके हाथ··'।'

'छप्!' भूतपूर्व मन्त्रीका मस्तक छटककर दूर जा गिरा। कुणपाण्ड्यने अपने तीक्ष्ण खड्गसे उसका मस्तक एक ही झटकेसे मूलीकी तरह काट फेंका।

'अब मैं आपकी हूँ।' वनितेश्वरीने कुणपाण्ड्यके चरणोंपर सिर रख दिया और पुनः उसने बड़ी ही श्रद्धा एवं आदरपूर्वक अपने जन्मदाता पिता चोलराजको प्रणाम निवेदन किया।

'अखण्ड सौभाग्यवती हो, बेटी!' चोलराज अपनी प्राणप्रिया पुत्रीके शीशपर हाथ फेरने लगे।

'मेरा सादर अभिनन्दन और प्रणाम स्वीकार करें। चोल-प्रजापालक।' कुणपाण्ड्यने हाथ जोड़कर चोलराजका अभिवादन किया।

अब चोलराजके दुर्गमें वैवाहिक उत्सव और समारोह मनाया जाने लगा।

× × ×

'आशुतोष उमानाथ!' षोडशोपचारसे भगवान् शशाङ्कशेखरका पूजन करके वनितेश्वरी साश्रुनयन प्रार्थना कर रही थी। 'हे करुणावरुणालय विश्वनाथ! मैंने बाल्यकालसे ही अपना जीवन श्रीचरणोंपर अर्पित कर दिया है और आजतक नियमितरूपसे आपकी श्रद्धा-भक्तिपूर्ण हृदयसे पूजा करती आ रही हूँ। देवाधिदेव महादेव! एक वर्षसे मेरे प्राणाधिक पतिदेव रोगशय्यापर पड़े हैं। किसी भी ओषधिका कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है उनपर!' वनितेश्वरी फूट पड़ी। उसकी हिचकियाँ बँध गयीं।

'महामृत्युंजय!' कुछ देर रुककर उसने पुनः प्रार्थना की। 'आपकी किंचित् कृपासे ही मृत्युपाश छिन्न हो जाता है।···इस कुलमें मेरे सिवा अन्य कोई भी शिव-सेवा नहीं करता। सब-के-सब शिव-विरोधी हैं। यदि आप अनुग्रह करें तो मेरे प्राणसर्वस्व पतिदेवके प्राण बच जायँ। मेरा सुहाग बना रहे और फिर इस राज्यमें सर्वत्र शिवार्चन होने लगे। दया कीजिये, भोलेनाथ!'

वनितेश्वरीने आँसू पोंछे और शिवार्चनका कुछ जल लेकर अपने पति कुणपाण्ड्यके पास पहुँची।

'एक प्रार्थना है मेरी आपसे।' वनितेश्वरीने उदास मुँह अपने पतिसे कहा। 'वैद्यराजने निराशा व्यक्त कर दी है। आपके शरीरमें अस्थिमात्र अवशिष्ट रह गया है। यह मेरा परम दुर्भाग्य है। यदि आप···।'

'आजतक मैंने कभी भी तुम्हारी इच्छापूर्तिमें बाधा दी है?' सर्वथा अशक्त नरेशने धीरे-धीरे कहा। 'तुम्हें सर्वप्रथम दुर्गमें जिस क्षण मैंने देखा, तबसे लेकर इस क्षणतक मैंने तुम्हारी रुचिके विपरीत कुछ किया है, मुझे तो स्मरण नहीं। यदि है, तो बताओ; अन्यथा निस्संकोच मनकी बात कह दो।'

'आशा और विश्वाससे ही तो प्रार्थना करनेका साहस संचित कर पायी हूँ।' वनितेश्वरीने भगवान् शंकरका चढ़ाया हुआ चन्दन नरेशके ललाटपर लगाते हुए कहा। 'यदि आप प्रतिज्ञा करें कि रोगमुक्त होकर और पूर्ण स्वस्थता प्राप्तकर कर्पूरगौर भगवान् पार्वतीवल्लभकी आराधना करने लग जायँगे और आपके सम्पूर्ण राज्यमें भगवान् नीलकण्ठकी ही आराधना होगी तो मेरी श्रद्धा और विश्वासके अनुसार आप स्वस्थ हो सकते हैं, इसमें संदेह नहीं।'

'मैं तुम्हें वचन देता हूँ।' जीवनसे सर्वथा निराश कुणपाण्ड्य बोले। 'यदि मैं मुण्डमालीकी कृपासे पुनः स्वास्थ्य प्राप्त कर सका तो शेष जीवन दयामय शिवकी ही आराधना करता रहूँगा और मेरे राज्यकी सीमामें अनन्त अव्यय, अक्षमालाधर, फणिभूषणकी, केवल उन्हीं कैवल्यपद-कारण, उन्हीं महिमामय भोलेनाथकी ही आराधना और उपासना होगी।'

'यह शिवार्चनका जल लीजिये।' वनितेश्वरीका सुन्दर मुख उद्दीप्त हो उठा। उसकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं रही। शिव-निर्माल्य नरेशको देते हुए उसने कहा। 'निश्चय ही आप शीघ्र स्वस्थ हो जायँगे, मुझे इसमें तनिक भी संदेह नहीं। मेरे महाप्रभु विश्वेश्वर आपका अशेष कल्याण करेंगे।'

× × ×

अद्भुत चमत्कार! जीवनसे सर्वथा निराश कुणपाण्ड्य अतिशीघ्र स्वस्थ हो गये। तनिक-सी चलनेकी शक्ति प्राप्त

होते ही सर्वप्रथम उन्होंने अपनी प्रिय पत्नी वनितेश्वरीके इष्टदेव शशाङ्कशेखरका श्रद्धा-विभोर होकर पूजन एवं उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और बार-बार प्रार्थना की।

पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ करनेपर वे पूर्णतः शिवोपासक हो गये। वे राज्य-कार्यकी ओर अपेक्षित ध्यान नहीं दे पाते थे। रात-दिन भगवान् शंकरके नामका जप, पूजन और उनका ही गुणगान। उनका विश्वास हो गया था कि 'अब इस शरीरपर पूर्णतया भगवान् विश्वनाथका ही अधिकार है। मेरी प्राणरक्षा सम्भव ही नहीं थी। यह तो करुणामय महामहेश्वरने मुझे अपने चरणोंकी उपलब्धि करानेके लिये अत्यन्त कृपापूर्वक इसे दिया है। अतएव मेरे जीवनका प्रमुख कर्त्तव्य उनके मङ्गलमय, कल्याणमय चरणोंकी दृढ़ प्रीति-प्राप्ति ही रह गया है।' नरेश जब भी कुछ बोलते, भगवान् शंकरका नाम अवश्य लेते। उनके वाक्योंमें भगवान् शंकरके नामका जैसे सम्पुट लगता जाता था। उन्होंने घोषणा कर दी—'मेरे राज्यकी सीमामें सर्वत्र भगवान् शंकरकी ही उपासना होनी चाहिये। उमा-महेश्वरकी उपासना न करनेवाला कठोरतम दण्डका भागी होगा।'

(३)

मृत्युविजयिनी उपासना

'आज आप बहुत दुखी और उदास दीख रहे हैं।' महामुनि मृगशृङ्गके पौत्र श्रीमार्कण्डेयने अपने पूज्य पिताको चिन्तित देखकर अत्यन्त विनम्रतासे कहा। 'इसका क्या कारण है? आपको चिन्तित देखकर मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है।'

''बेटा!' महामहिम मृकण्डुने दुखी मनसे श्रीमार्कण्डेयजीके मुखकी ओर देखते हुए अतिशय स्नेहसे बताया। ''तुम्हारी माता मरुद्वतीको कोई संतान न होनेसे मैंने उसके साथ तपस्या और नियमोंका पालन करते हुए पिनाकधारी शिवको प्रसन्न किया। आशुतोषने प्रकट होकर वर माँगनेके लिये कहा।''

''करुणामय प्रभो!' कृतार्थजीवन होकर मैंने पार्वती-वल्लभसे याचना की। 'अबतक मुझे कोई संतान नहीं हुई है। मैं आपसे एक पुत्र चाहता हूँ।'

''मुने!' त्रिपुरारि बोले। 'तुम गुणज्ञ, सर्वज्ञ एवं अद्भुत केवल सोलह वर्षकी आयुका पुत्र चाहते हो या गुण-हीन दीर्घजीवी पुत्रकी कामना तुम्हें है?'

''दयामय परमेश्वर!' मैंने तुरंत प्रभु-चरणोंमें निवेदन किया। 'मैं मूर्ख, गुणहीन पुत्र नहीं चाहता। अल्पायु ही सही, पर मुझे अनुपम गुणवान् एवं सर्वज्ञ संतान ही अभीष्ट है।'

''अच्छा!' जगदीश्वर बोले। 'तुम्हें अत्यन्त धार्मिक, गुणवान्, सर्वज्ञ एवं अद्वितीय ज्ञानी सोलह वर्षका पुत्र प्राप्त होगा।'

''शशाङ्कशेखर अन्तर्धान हो गये। कुछ समयके अनन्तर तुम्हारा जन्म हुआ। भोलेनाथके वरप्राप्त पुत्र होनेसे तुममें अद्भुत गुण विद्यमान हैं। तुमसे हम दम्पति अत्यन्त सुखका अनुभव करते हैं, अपनेको गौरवान्वित समझते हैं।'' कुछ रुककर कातर स्वरमें श्रीमृकण्डु मुनिने कहा—'अब तुम्हारा सोलहवाँ वर्ष समाप्त हो चला है।'

'आप मेरे लिये चिन्ता न करें।' श्रीमार्कण्डेयने अत्यन्त गम्भीरतासे पिताको आश्वस्त करनेके लिये विनम्रताके साथ कहा। 'भगवान् आशुतोष, कल्याणस्वरूप एवं अभीष्ट फल-दाता हैं। मैं उनके मङ्गलमय चरणोंका आश्रय लेकर, उनकी उपासना करके अमरत्व प्राप्त करनेका प्रयत्न करूँगा।'

'भगवान् मृत्युंजयकी आराधनाका निश्चय कर तुमने हमें निश्चिन्त कर दिया।' दृढ़-निश्चयी धर्ममूर्ति बालक श्रीमार्कण्डेयकी उक्तिसे संतुष्ट एवं पुलकित होकर मुनीश्वर मृकण्डुने कहा। 'सृष्टिके मङ्गलके लिये भयानक कालकूटका पान करनेवाले महादेवका चरण-शरण-ग्रहण निश्चय ही मृत्युसे रक्षा कर लेगा। तुम भगवान् धूर्जटिकी शरण जाओ एवं उनकी आराधना करके उनकी कृपा प्राप्त कर लो। महामहेश्वर तुम्हारा कल्याण करें।'

श्रीमार्कण्डेयजी माता-पिताके चरणोंकी धूलि मस्तकपर रख भगवान् शंकरको स्मरण करते हुए दक्षिण समुद्रके तटपर पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपने ही नामपर (मार्कण्डेयेश्वर) शिवलिङ्गकी स्थापना की और त्रिकाल-स्नान करके बड़ी ही श्रद्धा-भक्तिसे भगवान् मृत्युंजयकी उपासना करने लगे। भगवान् शिवकी पूजा और पूजोपरान्त स्तोत्रपाठ करके प्रेम-विह्वल होकर तन्मयतासे नृत्य। भगवान् शंकर तो आशुतोष ठहरे। उक्त स्तोत्रसे एक ही दिनमें प्रसन्न हो गये। श्रीमार्कण्डेय पार्वतीश्वरपर समर्पित हो गये।

मृत्युके दिन श्रीमार्कण्डेय अपने आराध्यकी पूजा

करके स्तोत्र-पाठ करना ही चाहते थे कि चौंक गये। उनके कोमल कण्ठमें कठोर पाश पड़ गया। उन्होंने दृष्टि उठाकर देखा तो सम्मुख भयानक काल खड़े थे।

'महामते काल!' श्रीमार्कण्डेयने निवेदन किया। 'मैं अपने प्राणप्रिय मृत्युंजय-स्तोत्रका पाठ कर लूँ, इतना अवसर आप मुझे दे दें।'

'काल किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता, ब्रह्मन्!' कालने बड़े रोषसे कहा। 'तुम्हारे लिये भी समय नहीं।'

'मेरे आराध्य भगवान् शिवकी स्तुतिमें विघ्न डालनेवालेका सर्वनाश हो जाता है।' श्रीमार्कण्डेयने कालसे पुनः कहा। 'अपने भक्तोंपर वे शिव ही शासन करते हैं। उनके भक्तोंपर यम, यमदूत, स्वयं विधाता और महामृत्यु तथा अन्य कोई भी अपना प्रभुत्व स्थापित करनेमें समर्थ नहीं। आप कृपापूर्वक मुझे अपने प्राणप्रिय आराध्यकी स्तुति कर लेने दीजिये।'

'आह!' कालने नेत्र लालकर श्रीमार्कण्डेयका प्राण-हरण करनेके लिये पाश खींचना ही चाहा कि वे दूर जा गिरे। पीड़ासे छटपटाने एवं भयसे काँपने लगे।

उक्त शिवलिङ्गसे साक्षात् भूतभावन भगवान् शंकरने प्रकट होकर अत्यन्त क्रोधसे कालके वक्षमें कठोर पदाघात किया था।

कालकी दुर्दशा एवं अपने आराध्यका अनुपम रूप-लावण्य देखकर श्रीमार्कण्डेयकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं रही। कर्पूरगौर शिवके मस्तकपर अर्द्धचन्द्राकार मुकुट शोभा पा रहा था। अत्यन्त मुदित हो श्रीमार्कण्डेयजीने प्रभुके श्रीचरणोंपर मस्तक रख दिया और उनकी अवर्णनीय सौन्दर्यराशिको देखते हुए स्तुति करने लगे—

रत्नसानुशरासनं रजताद्रिशृङ्गनिकेतनं
शिञ्जिनीकृतपन्नगेश्वरमच्युतानलसायकम्।
क्षिप्रदग्धपुरत्रयं त्रिदशालयैरभिवन्दितं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
पञ्चपादपपुष्पगन्धिपदाम्बुजद्वयशोभितं
भाललोचनजातपावकदग्धमन्मथविग्रहम्।
भस्मदिग्धकलेवरं भवनाशिनं भवमव्ययं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
मत्तवारणमुख्यचर्मकृतोत्तरीयमनोहरं
पङ्कजासनपद्मलोचनपूजिताङ्घ्रिसरोरुहम्।
देवसिद्धतरङ्गिणीकरसिक्तशीतजटाधरं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
कुण्डलीकृतकुण्डलीश्वरकुण्डलं वृषवाहनं
नारदादिमुनीश्वरस्तुतवैभवं भुवनेश्वरम्।
अन्धकान्तकमाश्रितामरपादपं शमनान्तकं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
यक्षराजसखं भगाक्षिहरं भुजङ्गविभूषणं
शैलराजसुतापरिष्कृतचारुवामकलेवरम्।
क्ष्वेडनीलगलं परश्वधधारिणं मृगधारिणं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
भेषजं भवरोगिणामखिलापदामपहारिणं
दक्षयज्ञविनाशिनं त्रिगुणात्मकं त्रिविलोचनम्।
भुक्तिमुक्तिफलप्रदं निखिलाघसंघनिबर्हणं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः
भक्तवत्सलमर्चितं निधिमक्षयं हरिदम्बरं
सर्वभूतपतिं परात्परमप्रमेयमनूपमम्।
भूमिवारिनभोहुताशनसोमपालितस्वाकृतिं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
विश्वसृष्टिविधायिनं पुनरेव पालनतत्परं
संहरन्तमथ प्रपञ्चमशेषलोकनिवासिनम्।
क्रीडयन्तमहर्निशं गणनाथयूथसमावृतं
चन्द्रशेखरमाश्रये मम किं करिष्यति वै यमः॥
रुद्रं पशुपतिं स्थाणुं नीलकण्ठमुमापतिम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
कालकण्ठं कलामूर्त्तिं कालाग्निं कालनाशनम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
नीलकण्ठं विरूपाक्षं निर्मलं निरुपद्रवम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
वामदेवं महादेवं लोकनाथं जगद्गुरुम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
देवदेवं जगन्नाथं देवेशमृषभध्वजम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
अनन्तमव्ययं शान्तमक्षमालाधरं हरम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥
आनन्दं परमं नित्यं कैवल्यपदकारणम्।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति॥

स्वर्गापवर्गदातारं सृष्टिस्थित्यन्तकारिणम् ।
नमामि शिरसा देवं किं नो मृत्युः करिष्यति ॥*

(पद्मपु०, उत्तर० २३७ । ७५–९०)

श्रीमार्कण्डेयजीकी इस स्तुतिसे प्रसन्न होकर देवाधिदेव महादेवजीने उन्हें अमरत्व-प्रदान कर दिया ।

भगवान् धूर्जटिका दुर्लभ दर्शन-लाभ एवं मृत्युपर विजय प्राप्तकर श्रीमार्कण्डेयजीने जब अपनी माता और पिताके चरणोंपर मस्तक रक्खा तो वे अत्यधिक प्रसन्नतासे भगवान् शंकरकी अनन्त कृपाका बखान करने लगे ।

(४)

अद्भुत उपासना

[सरल श्रद्धा]

स्यंदन, गयंद, बाजिराजि, भले-भले भट,
धन-धाम-निकर करनिहू न पूजे क्वै ।
बनिता बिनीत, पूत पावन सोहावन, औ
बिनय, बिबेक, बिद्या, सुभग सरीर ज्वै ॥
इहाँ ऐसो सुख, परलोक सिवलोक ओक
जाको फल तुलसी सों सुनो सावधान है ।
जानें, बिनु जानें, कै रिसानें, केलि कबहुँक
सिवहि चढ़ाए ह्वैहैं बेल के पतौवा द्वै ॥†

* श्रीवसिष्ठके वचन हैं—

मार्कण्डेयकृतं स्तोत्रं यः पठेच्छिवसंनिधौ ।
तस्य मृत्युभयं नास्ति सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

अर्थात् श्रीमार्कण्डेयजीद्वारा किये हुए इस स्तोत्रका जो भगवान् शंकरके समीप पाठ करेगा, उसे मृत्युभय नहीं होगा—मैं सत्य, सत्य कहता हूँ ।

† जिसके यहाँ रथ, हाथी और घोड़ोंकी कतारें लगी हुई हैं, अच्छे-अच्छे योद्धा तथा धन-धामकी भी अधिकता है और जिसकी करनीको भी कोई नहीं पहुँच सकता, जिसकी स्त्री अत्यन्त विनीत, पुत्र बड़ा सदाचारी और सुन्दर तथा जिसे विनय, विवेक, विद्या और सुन्दर शरीर प्राप्त हैं; तुलसीदासजी कहते हैं—इस प्रकार उसे जो यहाँ ऐसा सुख प्राप्त है और परलोकमें शिवलोकमें स्थान मिलता है, यह सब फल जिस कर्मका है उसे सावधान होकर सुनो—उसने जानकर, बिना जाने, रूठकर अथवा खेलमें ही किसी समय श्रीमहादेवजीपर बेलके दो पत्ते चढ़ा दिये होंगे ।

'शाल-वृक्षोंका वन समाप्त होते ही सुवर्णा नदी मिल जायगी ।' नाणने अपनी शिकारी जातिके युवक सरदार तिण्णको बताया । 'उसका जल अत्यन्त निर्मल, शीतल एवं सुमधुर है । वहीं चला जाय ।'

योद्धा तिण्ण अपने दो साथी नाण और काडके साथ सर्वप्रथम आखेटके लिये निकला था । घने वनमें एक शूकर-का वध किया और उसे लेकर चला तो प्यास लग गयी । नाणके बतानेपर वह शाल-वनको पार करने लगा ।

दक्षिणके जंगली प्रदेशकी शिकारी जातिके सरदार नाणकी पत्नी तत्ताके गर्भसे जब यह बालक पैदा हुआ तो उसके रूप-लावण्यको देखकर माता-पिता मुग्ध हो गये थे । बालकको गोदमें लिया तो वह अस्वाभाविकरूपसे सामान्य बालकोंकी अपेक्षा अधिक भारी लगा । इसलिये उसका नाम तिण्ण रख दिया । 'तिण्ण' शब्दका अर्थ भारी होता है । वीर शिकारीके अनुरूप शस्त्र-संचालनमें निपुण हो जानेपर वृद्ध नाणने अपने एकमात्र पुत्र तिण्णको अपनी जातिका सरदार बना दिया था ।

'वह ऊँचा-ऊँचा शिखर क्या है ?' साल-वन पार करते हुए उत्तुङ्ग शिखरको देखते ही तिण्णने नाडसे पूछा । वह अपने साथियोंसहित सालवनके बाद पहाड़ीपर चढ़ गया था ।

'भूतभावन भगवान् भोलानाथका उपासना-गृह है ।' नाणने रुककर कहा । 'वहाँ आशुतोष शिव विराजते हैं । वे देवताओंमें महान् होनेके कारण 'महादेव' कहे जाते हैं । वे थोड़ी-सी उपासनासे ही अत्यन्त संतुष्ट होकर अपने भक्तोंको अपना सर्वस्व दे देनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं ।'

'तो चलो, हम भी उनकी पूजा करें ।' तिण्ण जल्दी-जल्दी चलने लगा । पता नहीं, उसके पूर्वके कौन पुण्य उदित हो गये । भगवान् आशुतोषका नाम सुननेसे ही उसके हृदयमें अगाध प्रेमके अङ्कुर फूट पड़े । वह जटाजूट-धारी मुण्डमालीके दर्शन एवं पूजनके लिये व्याकुल हो गया । मार्गमें उसने वनके फूल तोड़े और उन्हें अपने बालोंमें खोंस लिया । सोचा, अपने प्यारे भगवान्‌के चरणोंपर रख दूँगा ।

'मैं कई बार आपके पिताके साथ इनका दर्शन करने आया था ।' नाणने कहा । 'एक ब्राह्मणने भगवान्‌के मस्तकपर ठंडा पानी उँड़ेलकर कुछ फूल और बेलके पत्ते चढ़ाकर हाथ जोड़े और न जाने क्या बड़बड़ाता रहा । गाल बजा-बजाकर बहुत देरतक बड़बड़ाता रहा ।'

'मैं भी भगवान्‌को पानी दूँगा।' तिण्ण दौड़ा सुवर्णाकी ओर। जलका कोई पात्र नहीं। मुँहमें जल भर लिया।

फिर भागा मन्दिरकी ओर।

'मेरे भगवान्!' तिण्णने मुँहका पानी भोलेनाथके मस्तकपर फेंक दिया और शिव-प्रतिमाको अङ्कमें लेकर उससे चिपट गया और उसकी आँखें बरसने लगीं।

'मैं कितना अभागा हूँ, नाथ!' तिण्ण प्रतिमाका गाढ़ आलिङ्गन किये रोते-रोते कहता जा रहा था। 'मैं इतना बड़ा हो गया और अबतक तुम्हें जाना ही नहीं, देखा ही नहीं। मुझे क्षमा करना, मेरे देवता। मैं अब तुम्हें नहीं छोड़ूँगा। इस जीवनमें कभी नहीं छोड़ूँगा।'

'यहाँ तो तुम बिलकुल अकेले हो।' तिण्णकी हिचकियाँ बँध गयी थीं। उसने चारों ओर दृष्टि घुमाकर रोते-रोते कहा—'यहाँ वन्यपशु आकर तुम्हें कष्ट दे सकते हैं। तुम्हें भूख लगी होगी।...अच्छा रुको। मैं अभी दौड़कर तुम्हारे लिये शूकर-मांस लाता हूँ। देर नहीं होगी। मेरे साथ धो है। तुम्हें खिलाकर मैं सारी रात यहीं रहूँगा। तुम निश्चिन्त रहना। अब भयकी कोई बात नहीं।'

'ये कुछ फूल ले लो।' तिण्णने प्रतिमाको छोड़कर फूल सिरपर डाल दिये। 'ये बड़े सुगन्धित हैं।'

'लो, भरपेट खा लो।' शूकर-मांस लाकर वह प्रतिमापर रगड़ने लगा और फिर दौड़कर सुवर्णाका जल मुँहमें ले आया, कुछ अञ्जलिमें। सब प्रतिमाके ऊपर डाल दिया। 'कल अच्छे सुस्वादु मांस खिलाऊँगा। तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ, मुझे क्षमा कर दो।' शिव-प्रतिमापर उसने सिर रख दिया, रोने लगा, बहुत देरतक रोता ही रहा।

और उठा तो सारी रात्रि मन्दिरके द्वारपर सावधानीसे पहरा देता रहा।

× × ×

'सरदार पागल हो गया है।' काडने नाणसे कहा। 'आज चार दिनोंसे यह भूखा है। पका मांस चखकर पत्तेपर रख लेता है, स्वयं खाता नहीं। वनके फूलोंकी तलाशमें इधर-उधर दौड़ता है। कितनी बार सुवर्णाका पानी मुँहमें लेकर महादेवके पास दौड़ता है। महादेवको खिलाता है, अपने भूखा रहता है। रातभर धनुष-बाण लिये पहरा देता है। कोई बात ही नहीं सुनता।'

काडने आगे कहा—'चलो हमलोग इसके पितासे कह दें। उनके जीमें जो आये करें।'

'हाँ, और मार्ग ही क्या है?' नाणने काडकी बातोंका समर्थन किया।

दोनों चले गये। प्रेमोन्मत्त तिण्णको अपने देवता, अपने प्राणाधार उपास्यकी सेवासे अवकाश ही नहीं था। मित्रोंके जानेका उसे तनिक भी खेद नहीं हुआ।

× × ×

'करुणामय आशुतोष!' पुजारीजी छटपटा उठे थे। 'पता नहीं, मुझसे कौन-सा अपराध बन गया है, मेरे कौन-से कुकर्म उदय हुए हैं कि प्रतिदिन आपके श्रीविग्रहके आस-पास मांस बिखरा मिलता है। पता नहीं किस दुष्टने मन्दिरको अपवित्र करनेके लिये महापापका व्रत ले लिया है। विश्वेश्वर! मुझे क्षमा करें।'

पुजारीजी पाँच दिनोंसे प्रतिदिन प्रातःकाल मन्दिरमें बिखरे मांस-खण्डोंको देखकर व्याकुल हो रहे थे। सुवर्णासे जल लाकर मन्दिर धोते, शिवार्चन करते और दुखी हृदयसे भगवान् शंकरकी प्रार्थना करके घर लौटते।

आज पाँचवें दिन वे बहुत ही दुखी थे। रोते-रोते आधी रात बीत गयी। धीरे-धीरे नींद आ गयी।

'ब्राह्मण!' रात्रिमें मुण्डमालीने स्वप्नमें पुजारीसे कहा। 'तुम दुखी मत हो। एक शिकारी मेरा अनन्य भक्त है। वह प्रेमकी मूर्ति है। हाथमें मांसादि लिये रहनेके कारण अपने जूतेकी नोकसे जब वह मेरे मस्तकके पुष्प हटाता है तो मुझे अत्यन्त सुखद स्पर्शका अनुभव होता है। उसका प्रेम-भक्तिसे किया हुआ कुल्ला मुझे गङ्गाजल और बालोंसे निकालकर चढ़ाये पुष्प नन्दन-वनके पुष्पोंसे भी अधिक सुगन्धित और सुन्दर प्रतीत होते हैं। उसकी हृदयके प्रेमसे परिपूर्ण प्रार्थना मुझे वेद-स्तुतिसे भी अधिक प्रिय लगती है। उसकी मेरे प्रति प्रीति देखनी हो तो आज रात्रिमें मूर्तिके पीछे छिपकर देखना। उसकी प्रेमभरी इस अद्भुत उपासनासे मैं उसके वशमें हो गया हूँ।'

पुजारीजी जग गये। उस दिन वे फिर नहीं सो सके।

× × × ×

शशाङ्कशेखरकी दाहिनी आँखसे रक्त टपकता देखकर तिण्ण व्याकुल हो गया। आज उसे अपने परमदेवताके चरणोंमें पहुँचनेमें कुछ विलम्ब हो गया था। वह चीत्कार कर उठा।

'प्राणपिता !' कुछ देर अवसन्न रहनेके अनन्तर वह कातर प्रार्थना करने लगा। 'हे भगवान् ! यह आपको क्या हो गया ? बड़ा कष्ट होता होगा आपको। उस पातकीका मैं अभी वध कर डालूँगा, जिसने आपको पीड़ा पहुँचायी है।'

तिण्ण अपना तीक्ष्ण विषाक्त शर और धनुष लिये बाहर दौड़ा। वह उन्मत्त-सा चारों ओर दौड़ा; किंतु कहीं कोई नहीं दीखा। निराश होकर कुछ जड़ी-बूटियाँ ले आया। मसल-मसलकर उनका रस नेत्रोंपर निचोड़ने लगा; पर उससे कोई लाभ नहीं। रक्त नहीं रुका। बहता ही रहा। वह छटपटा रहा था। लगता था, जैसे पागल हो जायगा।

'मांस मांससे अच्छा होता है' अचानक उसे कहावत याद आयी तो वह प्रसन्नतासे भर गया। अपने तीखे तीरकी नोक अपनी दाहिनी आँखके कोनेमें लगाकर दबाया ही था कि आँख बाहर निकल आयी।

अपनी आँखको अपने प्रेमधन पार्वतीवल्लभ शिवकी दाहिनी आँखमें दबाया ही था कि रक्त बंद हो गया। तिण्णका हृदय आनन्दसे भर गया।

पर उसने प्रभुके मुखारविन्दकी ओर पुनः देखा तो अब बायीं आँखसे धीरे-धीरे रक्त टपक रहा था।

तिण्ण अबकी बार अधिक व्याकुल नहीं हुआ। उसे इस रोगकी अचूक औषध विदित ही हो गयी थी। उसने वही तीखा तीर उठाकर अपनी बायीं आँखके कोनेमें धँसाकर दबाना ही चाहा कि भगवान् शंकरका हृदय अपने प्यारे तिण्णके प्रेमसे द्रवित हो गया।

'कण्णप्प* रुको !' कर्पूर-गौर महेश्वरने तिण्णका हाथ पकड़कर उसे अपने हृदयसे लगा लिया। उनके मुखारविन्दसे तुरंत निकला—'प्रेमके धनी, कण्णप्प रुक जाओ। तुम इसी प्रकार सदा मेरे साथ रहो।'

देवगण पुष्पोंकी वर्षा करने लगे।

× × × ×

पुजारी आश्चर्यचकित थे। कण्णप्पके द्वारा अपने आराध्य करुणामय शंकरकी अद्भुत उपासना और उनका शिवके प्रति अनन्य प्रेम देखकर वे मन-ही-मन भगवान् एवं उनके प्रेमी उपासकके चरणोंमें प्रणाम करने लगे।

विभिन्न देवोपासनाओंके चमत्कार

(लेखक—श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

(१)

सूर्योपासनासे योगक्षेमकी सिद्धि

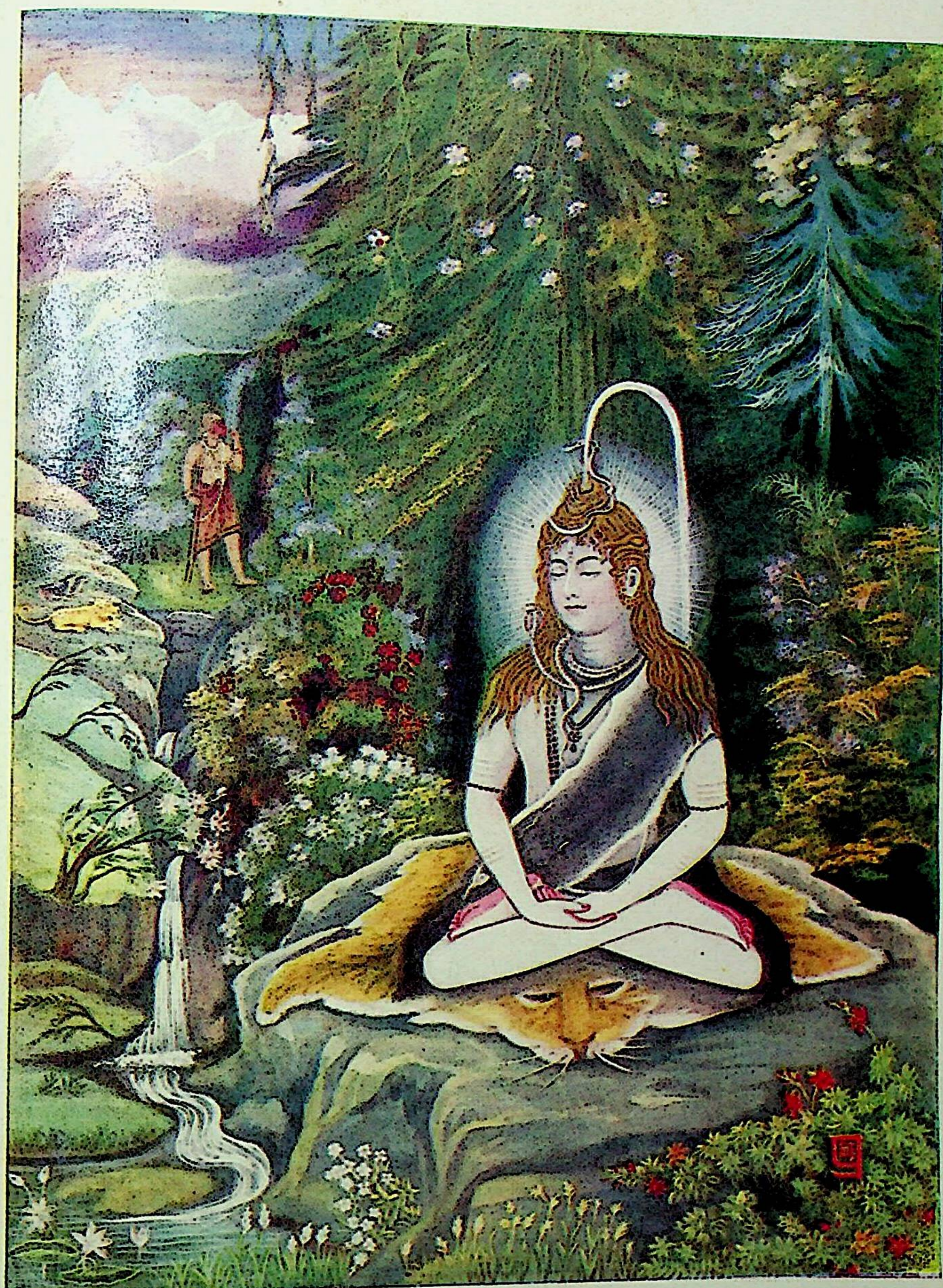
(धर्मराज महाराज युधिष्ठिरकी उपासना)

महाराज युधिष्ठिर धर्मराजके अंशसे उत्पन्न कहे गये हैं। इधर धर्मराज सूर्यपुत्र हैं। इस तरह युधिष्ठिर परम वैष्णव तो थे ही, किंतु इनकी मन्त्रगणना सूर्यसे भी ठीक बैठती थी और इनपर सूर्यभगवान्‌की कृपा तुरंत उतरती थी। जब वे जूएमें राज्य हारकर वनको चले, तब सभी नगरवासी और ब्राह्मण भी साथ हो गये। हाथ जोड़ने तथा अनुनय-विनय करनेसे शेष प्रजा तो वापस चली गयी, पर शौनकादि ब्राह्मणगण नहीं लौटे। ये सभी लोग अन्नाभावसे उपवास कर रहे थे। तब युधिष्ठिरने अपने पुरोहित धौम्यसे अपनी स्थिति बतलायी। इसपर धौम्यने कहा कि 'भगवान् सूर्य ही सदा क्षुधा-पीड़ितोंका अन्नके द्वारा क्लेश-निवारण करते रहते हैं। वे उत्तरायण होकर जलको पृथ्वीसे खींचकर दक्षिणायनमें रस एवं अन्नरूपमें पृथ्वीमें प्रविष्ट होते हैं; अतः अन्न सूर्यांश एवं सूर्यमय हैं। पहले भी कार्तवीर्य (सहस्रार्जुन), वैन्य, पृथु, नहुष, भीम आदि चक्रवर्ती राजागण सूर्यकी आराधनासे प्रजाका अन्नसम्बन्धी क्लेश दूर कर चुके हैं[1]।' इसके साथ ही धौम्यने उन्हें 'सूर्याष्टोत्तरशतनाम'का उपदेश किया[2]। इससे तथा अन्य स्तोत्रोंसे उपासना-आराधना किये

* कण्ण—आँख, अप्प-वत्स, कण+अप्प-कण्णप्प।

१–एवं भानुमयं ह्यन्नं भूतानां प्राणधारणम्। भीमेन कार्तवीर्येण वैन्येन नहुषेण च॥
तपोयोगसमाधिस्थैरुद्धृता ह्यापदः प्रजाः॥ (महाभारत, वनपर्व ३। ९-११)

२–यह अष्टोत्तरशतनाम नृसिंहपुराण, अध्याय २०, स्कन्द, कुमारि० ४२, ब्रह्मपुराण तथा महा०, वन० ३। १६-२८ आदि कई स्थलोंपर उपलब्ध होता है।



भगवान् शिव

जानेपर भगवान् सूर्य उनके सम्मुख प्रकट हुए और एक ताम्रमय परिवेषण (परोसनेका) पात्र प्रदान किया और कहा कि 'स्वयं उपवास रहकर जबतक द्रौपदी इस पात्रसे परोसती रहेगी, तबतक इसमेंसे फल, मूल, भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय, मिष्टान्न एवं विविध सुस्वादु अक्षय अन्नका भण्डार निकलता रहेगा। द्रौपदीके भोजन करनेके बाद उस दिन फिर कुछ नहीं मिलेगा। इस तरह बारह वर्षोंतक प्रतिदिन हम तुम्हें चाहे जितने अतिथि हों, सबके लिये पर्याप्त अक्षय भोजन देंगे और इसके बाद तुम्हारा राज्य भी वापस मिल जायगा'।

इसके बादसे द्रौपदीने उसी पात्रसे प्रतिदिन सहस्रों ब्राह्मणों तथा अतिथियोंका सत्कार करते हुए भारी महानस पाक एवं भोजनशालाका कार्य कर सभीको चकित कर दिया।

(महाभारत वनपर्व ३)

(२)

गायत्री-उपासनाका परम श्रेष्ठ फल मोक्ष

गायत्री-उपासनाका वर्णन वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, स्मृति, धर्मसूत्र, पुराण, उपपुराण, तन्त्र एवं निबन्ध-ग्रन्थोंमें भी आया है। साथ ही इसपर गायत्र्युपासना-विधि, गायत्रीपुरश्चरणपद्धति, गायत्रीपञ्चाङ्ग आदि कई स्वतन्त्र ग्रन्थ भी हैं। मन्त्रमहार्णव, पुरश्चर्यार्णव, श्रीविद्यार्णव एवं मन्त्रमहोदधिमें अनेकानेक (प्रायः सैकड़ों) गायत्रियोंके उल्लेखपूर्वक उनकी उपासना-विधि निर्दिष्ट है। मन्त्रमहार्णवमें पचासों तथा श्रीविद्यार्णवमें तो सैकड़ों गायत्रियोंका निर्देश है। श्रीमनसुखरायजी मोरने केवल कुछ स्मृतियोंके गायत्री-माहात्म्यप्रतिपादक वचनोंका संग्रह कराया तो उसके ६७२ पृष्ठ हो गये। यदि वेद, उपनिषद् एवं सभी स्मृति-पुराणों तथा तन्त्रोंके वचनोंका भी संग्रह होता तो निश्चय ही पाँच हजार पृष्ठसे भी अधिक हो जाते। इस तरह गायत्रीकी महिमा अपार है। वाल्मीकिरामायणमें स्वयं भगवान् श्रीरामके द्वारा सादर प्रतिदिन संध्या-गायत्री-उपासनाका उल्लेख है। गायत्रीमहिमा-सम्बन्धी कथाएँ भी बहुतेरी हैं, उनमेंसे यहाँ एकका उल्लेख किया जा रहा है—

बहुत पहले हिमवत्प्रदेशमें कौशिक नामका एक पिप्पलादका पुत्र रहता था। वह विद्वान् तथा गायत्रीका जप करनेवाला था। बहुत दिनोंके बाद एक बार भगवती गायत्री देवीने प्रसन्न होकर उसे दर्शन दिया और कहा कि 'मैं तुमपर बड़ी प्रसन्न हूँ।' उस समय ब्राह्मणने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इसपर गायत्री देवीने उस जापक ब्राह्मणके जपकी बड़ी प्रशंसा की। जपके अन्तमें ब्राह्मणने देवीके चरणोंमें प्रणाम कर कहा कि 'यदि आप सचमुच प्रसन्न हैं तो यही वर दें कि मेरा जपमें ही अधिकाधिक मन लगा करे। देवीने 'एवमस्तु' कहा और चली गयीं।'

कुछ दिन बाद साक्षात् धर्मने ब्राह्मणको दर्शन देकर कहा कि 'तुम्हारे जपका यह फल है कि तुमने सभी दिव्यलोक जीत लिये, अब तुम स्वर्ग चलो।' इसपर जापकने अनिच्छा व्यक्त की और सशरीर स्वर्ग चलनेको कहा। धर्मने कहा कि 'ये यम, काल तथा मृत्यु भी यहाँ आये हैं, तुम्हें शरीर तो छोड़ना ही होगा।' ब्राह्मणने काल, यम, मृत्युको देखकर उन्हें अर्घ्य देकर स्वागत किया, तबतक तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे महाराज इक्ष्वाकु भी वहाँ पहुँच गये। जापक ब्राह्मणने उनका भी अर्घ्य, पाद्य देकर स्वागत किया। राजाने उन्हें कुछ धन देना चाहा। पर ब्राह्मणने कहा कि धर्म तथा ब्राह्मण दो प्रकारके होते हैं—प्रवृत्तिपरायण एवं निवृत्तिपरायण। मैं तो दान आदि नहीं लेता, कहो, तुम्हारा अपने तपोबलसे कौन-सा श्रेय सिद्ध करूँ ?'

राजा—मैं तो क्षत्रिय हूँ, 'दो' कहना ही नहीं जानता। क्षत्रिय तो 'दो' का प्रयोग केवल 'रणं देहि'—'युद्ध करो' में करना जानता है।

ब्राह्मण—ठीक है, तुम अपने धर्ममें रमो, मैं अपने धर्ममें। अब तुम्हें जैसा पसंद हो करो।

राजा—आपने यथाशक्ति सहयोग देनेकी बात कही है, कृपया अपने तपका फल प्रदान करें।

ब्राह्मण—आप चाहे मेरे जपका आधा या सब फल ले लें।

राजा—आप भी मेरे धर्मका आधा ग्रहण करें।

ब्राह्मण—मैंने माँगा नहीं, आपने तो माँगा है; अतः आप अवश्य लें।

वादविवाद बढ़नेपर राजा डर गये और दान लेकर साथ ही फल भोगनेकी बात कही। अन्तमें भगवान् विष्णुके

साथ वहाँ सभी देवता[1] (ऋषि, सिद्ध, मुनि आदि) भी पहुँच गये और वे दोनों ही योगियोंसे भी श्रेष्ठ गति पाकर मुक्त हो गये।

—महाभारत, शान्तिपर्व, १९८-२०० अध्याय।

(३)

गणेशजीकी उपासनासे बन्धनमुक्ति

गणेशजी आदि उपास्य हैं—'आदिपूज्यो गणेश्वरः'। ये बाल्य-स्वभावके कारण अतिशीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं, अतः इनकी अल्प भी स्मृति-पूजा श्रेयस्कर है। किंतु यदि कार्यारम्भमें इनकी कुछ भी पूजा-उपासना न हुई तो ये अपनी विघ्नोंकी पूरी टोली लिये आ धमकते हैं और कुछ विघ्न बिना डाले रहने-माननेवाले नहीं हैं—

यो विघ्नपाशं च करेण बिभ्रत् स्कन्धे कुठारं च तथापरेण।
अपूजितो विघ्नमथोऽपि मातुः करोति को विघ्नपतेः समोऽन्यः॥

(गणेशपुराण, उपासनाखण्ड २१, ब्रह्मपुराण ११४। १४; सा० जी० मा० १। १। ८ इत्यादि)

पर ये आराधना करनेवाले भक्तोंके समस्त मनोरथोंको शीघ्र ही पूर्ण कर डालते हैं—

ध्यातेन येनाखिलदेहभाजां
पूर्णा भविष्यन्ति मनोऽभिलाषाः।

(वही ८)

इस सम्बन्धमें यद्यपि अनेक कथाएँ हैं, पर यहाँ उनमेंसे केवल एक दी जा रही है—

*पहले सिन्धुदेशके पल्ली नगरीमें एक कल्याणमल्ल नामक सेठ रहते थे। उनके पुत्रका नाम था बल्लाल। वह गणेशजीका बड़ा भक्त था। वह नन्हेपनसे ही छोटे-छोटे कंकड़ोंको गणेशजी मानकर पूजा-उपासना करता रहता था। उसके सहचर भी उसीके साथ गणेशोपासनामें मन लगाते और विलम्बतक सेवामें रहनेके कारण समयपर घर नहीं आते थे। सबोंके पिताओंने कल्याणमल्लको धमकाया कि यदि तुम अपने लड़केको नहीं रोकोगे तो हमलोग राजासे कहकर सारे परिवारको नगरसे निकलवा देंगे। इससे कल्याणमल्लने अपने लड़केको मार-पीटकर एक पेड़से बाँध दिया और कहा कि 'अब गणेशजी खोलें तेरा बन्धन!'

बल्लालकी भावना शुद्ध और पक्की थी। भगवान् गणपतिने प्रकट होकर उसका बन्धन खोला और उसे हृदयसे लगाकर निहाल कर दिया। उसके घर ऋद्धि-सिद्धि आयीं और वह जगत्-सेठ होकर कृतार्थ हुआ। वहाँकी गणपतिमूर्ति बल्लालेश्वर तथा श्रीबल्लाल-गणपतिके नामसे विख्यात हुई। यह भारतके प्रमुख गणेशविग्रहोंमेंसे एक है। यह स्थान महाराष्ट्र राज्यके कुलावा जिलेमें अब पाली (नगर) नामसे विख्यात है। कुलावासे यहाँतक मोटर बससे सीधे पहुँचनेका मार्ग है।

(द्रष्टव्य—तीर्थांक पृ० ४४९)

(गणेशपुराण, उपासनाखण्ड, अ० २२)

(४)

देवीकी उपासनासे अभीष्ट-सिद्धि—विपत्तिनाश

'आपदि किं करणीयं स्मरणीयं चरणयुगलमम्बायाः।'

घोर आपत्तिमें मनुष्यको क्या करना चाहिये? आपत्ति-निवृत्तिके लिये पराम्बाके युगलचरणोंका ध्यान ही करना चाहिये। इससे शीघ्र ही श्रेयलाभ होता है। इसके कई उदाहरण हैं, जिनमेंसे दो तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं—

(१)

विगत स्वारोचिष मन्वन्तरमें चैत्रवंशीय 'सुरथ' नामके एक धर्मात्मा चक्रवर्ती नरेश थे। ये अपने औरस पुत्रके समान प्रजाका पालन करते थे। तथापि दुर्दैव-योगसे इनकी म्लेच्छोंके साथ युद्धमें पराजय हुई और स्वदेशमें भी दुष्ट अमात्योंने इनके कोषादिका अपहरण कर लिया। अतः ये निर्विण्ण होकर शिकारके बहाने घोड़ेपर चढ़कर गहन वनमें चले गये। वहाँ इन्होंने सुमेधा (वसिष्ठ) मुनिका परम शान्त आश्रम देखा और उनके आग्रह तथा सत्कारसे आकृष्ट होकर ये वहीं रहने लगे। वहीं वनमें घूमते हुए उन्हें एक 'समाधि' नामका वैश्य मिला, जिसे परिवारवालोंने सब धन छीनकर घरसे बाहर निकाल दिया था। बातचीतसे ज्ञात हुआ कि उस वैश्यका मन घरवालोंके समाचार न मिलनेसे बड़ा उद्विग्न रहता है और प्रायः यही

---

१. नागाः सिद्धाश्च मुनयो देवदेवः प्रजापतिः।
विष्णुः सहस्रशीर्षश्च देवो चिन्त्यः समागतः॥

(महा० शां० २०० । १२)

* समुद्रतटवर्ती होनेसे महाराष्ट्र राज्य ही यहाँ सिन्धु देशके नामसे उल्लेख्य है। ऐसा टीकाकारों आदिका मत है। एक दूसरी सिन्धु नदी भी इसके समीप है।

स्थिति सुरथ राजाकी भी थी। दोनोंने ही मुनिके चरणोंमें उपस्थित होकर इस महामोहकी चिकित्सा जाननी चाही।

मुनिने बतलाया कि "यह सब महामायाका ही चमत्कार है। वे बड़े-बड़े ज्ञानियोंको भी महामोहमें डालकर किंकर्तव्य-विमूढ़ बना देती हैं। मनुष्य तथा समस्त प्राणी-वर्ग जानते हुए भी बलात् खींचे हुएके समान विवश होकर बुद्धिविरुद्ध कार्य करता जाता है। यही तो उस महामायाका चमत्कार है। वही देवी संसारके बन्धन तथा मुक्तिकी भी हेतु है। यदि वह प्रसन्न हो तो मोह नष्ट हो जाता है, अन्यथा मोहमें पड़ा प्राणी क्लेश पाता रहता है। वह देवी यद्यपि नित्य ही जगत्में सदा सर्वत्र व्याप्त है तथापि वह समाराधित, उपासित होनेपर प्रकट होती, अवतार भी धारण करती हैं; अतः तब उस नित्याको 'उत्पन्ना' भी कहा जाता है। उसके अनेकानेक दिव्य रूप, चरित्र तथा अवतार हैं। वही शुम्भ-निशुम्भ, महिषासुर एवं मधुकैटभ आदि दैत्योंका संहार करनेवाली है, जिनके संहारमें सभी देवतागण भी असमर्थ हो जाते हैं। तुमलोग भी उनकी ही आराधना कर स्वावाञ्छित वस्तु प्राप्त कर सकते हो।"

सुमेधा मुनिके द्वारा देवीका विस्तृत चरित्र श्रवण कर तथा पूजापद्धति और उपासना-प्रणालीकी पूरी विधि जानकर राजा सुरथ एवं समाधि वैश्य दोनोंने ही वहीं नदी-किनारे देवीकी उपासना आरम्भ की। तीन ही वर्षोंमें देवी प्रकट हो गयीं और राजाको शत्रुओंपर अनायास विजय कर विश्वविजयी होनेका वर दिया और कालान्तरमें सूर्यपुत्र होकर सावर्णि मनु होनेका भी वरदान दिया। वैश्यने विश्वको ब्रह्मरूपमें देखनेकी इच्छा व्यक्त की और देवीने उसे भी दिव्य ज्ञान देकर परम सुखी बना दिया।

(२)

अयोध्यामें भगवान् रामकी १५वीं पीढ़ीमें ध्रुवसंधि नामके राजा हुए। उनकी बड़ी रानीका नाम मनोरमा था, जिसका पुत्र सुदर्शन जन्मान्तरसे ही देवीका परम भक्त था। कुछ दिन बाद शिकार खेलते हुए ध्रुवसंधि एक सिंहद्वारा मार डाले गये। मन्त्रियोंने सुदर्शनको राजा बनाना चाहा, पर युधाजित नामक उज्जैनी-नरेशने अपने नाती शत्रुजितका पक्ष लेकर सुदर्शनके पक्षवालोंको मार डाला। इसी युद्धमें सुदर्शनके नाना कलिङ्ग-देशाधिपति वीरसेन भी वीरगतिको प्राप्त हुए। अब रानी मनोरमा किसी प्रकार अपने छोटे पुत्रको लेकर भागती हुई प्रयागमें भरद्वाज ऋषिके आश्रमपर पहुँची। युधाजितने सुदर्शनका प्रयागतक पीछा किया, पर मुनिके सामने उनकी एक न चली और उन्हें वापस अयोध्या लौटना पड़ा।

एक दिन महर्षिके शिष्यगण विदल्ल (सुदर्शनके सहायक अमात्य) के विषयमें कुछ बातें कर रहे थे। कुछने कहा कि विदल्ल तो क्लीव (नपुंसक) है। सुदर्शन अभीतक निरा बालक ही था, सो वह भी क्ली-क्ली करने लगा। संयोग कहिये या पूर्वजन्मके संस्कार-अभ्यासकी बात। उसका वह जप शीघ्र ही काली-बीज 'क्लीं' के रूपमें बदल गया। इधर थोड़े ही दिनोंमें महर्षिद्वारा सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित होकर वह सभी अस्त्र-शस्त्र-विद्याओंमें भी कुशल एवं पारङ्गत हो गया। एक दिन उसपर वनमें ही देवीने दया कर उसे दिव्य धनुष एवं अक्षय तूणीर भी दे दिया।

इधर काशीनरेश सुबाहुने अपनी कन्या शशिकलाका स्वयंवर रचा। उसे देवीने स्वप्न दिया कि 'तू सुदर्शनको ही अपने पतिके रूपमें वरण कर।' 'मेटि जाइ नहिं राम रजाई।' दिव्याज्ञाओंका उल्लङ्घन सम्भव नहीं, 'राम रजाय सीस सबहीं के॥' माता-पितादिके विरोध करनेपर भी शशिकलाने सुदर्शनसे ही विवाह कर लिया। उसके सौतेले भाई शत्रुजितके नाना युधाजित एक बड़ी सेना लेकर उसके मार्गमें आ डटे। सुदर्शन भी 'क्लीं' बीजका जप करता हुआ वहाँ पहुँचकर युद्धके लिये उद्यत हुआ। तबतक भगवती दुर्गा वहीं साक्षात् प्रकट हो गयीं। अब क्या था, युधाजितकी सेना छू-मंतरके समान बड़ी तेजीसे पचासों कोसकी गतिसे वायुवेगसे भाग खड़ी हुई। देवीके बलसे अपने नाती (शत्रुजित) सहित युधाजित खेत रहे। पराम्बाने सुदर्शनको अखण्ड भूमण्डलका चक्रवर्ती सम्राट् बना दिया।

यह घटना जहाँ हुई थी, वहीं काशीका आज दुर्गाकुण्ड है। सुदर्शनकी प्रार्थनापर आज भी भगवती दुर्गा वहाँ पश्चिमाभिमुख स्थित हुई वाराणसी-पुरीकी रक्षा करती रहती हैं। (देवीभागवत ३। १४—२५, कालिकापुराण ९२, भविष्य-पुराण प्रतिसर्ग० १। १, पद्म० सृष्टि० १७, रघुवंश १८। ३४—५३ इत्यादि)।

चाण्डालकी विष्णु-उपासना

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुबे)

धन्यास्ते पुरुषा लोके येऽर्चयन्ति सदा हरिम् ।
सर्वपापहरं देवं सर्वकामफलप्रदम् ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजादयः ।
सम्पूज्य तं सुरवरं प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ॥
(ब्रह्मपुराण २२६ । १३-१४)

'संसारमें वे मनुष्य धन्य हैं, जो समस्त मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाले सर्वपापहारी श्रीहरिका सदा पूजन करते हैं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र और अन्त्यज आदि सभी सुर-श्रेष्ठ भगवान् वासुदेवका पूजन करके परम गतिको प्राप्त होते हैं ।'

प्राचीन कालकी बात है । अवन्तीपुरीके छोरपर एक चाण्डाल रहता था । उसका नाम मातङ्ग था । मातङ्ग संगीतज्ञ था । अवन्तीपुरीमें स्थित शेषशायी विष्णु भगवान्के चरणोंमें उसकी अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्ति थी । मातङ्ग प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रातः एवं सायंकाल मन्दिरके द्वारपर जाकर पुजारीजीको सुन्दर सुगन्धित पुष्प देता । पुजारीजी मातङ्गकी प्रभु-पद-प्रीति देखकर उसका पुष्प लेकर धोते और भगवान्को चढ़ा देते । मातङ्ग मन्दिरके बाहर हाथ जोड़े श्रीभगवान्की पूजा देखा करता । वह भगवान्की पुष्प, गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्यके द्वारा पूजा एवं जप, होम, प्रदक्षिणा, भाँति-भाँतिके सुन्दर स्तोत्रोंसे प्रार्थना एवं दण्डवत्-प्रणाम देखता और स्वयं मन-ही-मन भगवान्की पूजा करता रहता । अत्यन्त प्रेमके कारण उसके नेत्रोंसे आँसू झरते रहते । 'जय' शब्दके साथ जब लोग मन्दिरके बाहर चले आते तो वह चाण्डाल श्रीभगवान्के पूरे मन्दिरकी परिक्रमा करता और द्वारपर खड़े होकर जोर-जोरसे श्रीभगवान्की प्रीतिके लिये पद गाता और फिर द्वारसे ही प्रभुके चरणोंमें दण्डवत्कर उत्तम वृत्तिसे आजीविकाके लिये निकल पड़ता ।

उसका यह नित्यका नियम था । श्रीभगवान्के चरण-कमलोंमें दृढ़ प्रीति एवं नियमपूर्वक उनके चरणोंके समीप पहुँचनेके कारण सात्त्विक दैवी सम्पदाएँ उसके जीवनमें धीरे-धीरे स्वतः आ गयी थीं । बड़ा ही पवित्र एवं सदाचारसम्पन्न जीवन बन गया था उसका ।

एकादशीके दिन तो वह निर्जल उपवास करता था । पुजारीजीके मुखसे श्रीभगवान्के अवतारोंकी लीला-कथा सुनकर उपवास और उपासनाका यथार्थ अर्थ उसने समझ लिया था । अपने आराध्यके समीप शुद्धान्तःकरणसे बैठना, आराध्यका ही स्मरण, चिन्तन, पूजन एवं भजन ही 'उपवास' है, उसने समझ लिया था । फलतः उपवासके दिन वह दिन-रात्रि श्रीभगवान्के द्वारपर ही पड़ा रहता । गान्धार, षड्ज, निषाद, पञ्चम और धैवत आदि स्वरोंसे वह सारी रात्रि श्रीविष्णुका गुण-गान करता । अपने इष्टदेव क्षीरा-ब्धिशायी भगवान्की लीलाका गान करते कब रात्रि व्यतीत हो जाती, उसे पता ही नहीं चलता । अंशुमालीकी अरुणिम किरणें पृथ्वीपर फैलते ही वह श्रीभगवान्के चरणोंमें दण्डवत्-प्रणाम निवेदन करता, पूरे मन्दिरकी परिक्रमा करता और पुनः बारंबार प्रणाम करके घर लौटता । इस प्रकारकी उपासनामें उसे कभी किसी प्रकारका व्यवधान नहीं आया । आराध्यमें दृढ़ आस्थाके कारण कुटुम्बकी चिन्ता सहज ही कम हो गयी थी और जब उसने देख लिया कि बिना किसी अपकर्मके उसके परिवारका भरण-पोषण अच्छी तरह होता जा रहा है । फिर, वह अपने जीवन-सर्वस्वसे दूर कैसे रहता ?

प्रत्येक एकादशीको मातङ्ग इसी प्रकार श्रीभगवान्के चरणोंमें रहकर व्यतीत करता और घर लौटकर पहले अपने जामाता, भानजा एवं कन्याको भोजन कराकर तब अन्न-ग्रहण करता । इस प्रकार व्रत, उपवास एवं श्रीप्रभुकी उपासना करते उसे बीस वर्षसे भी अधिक बीत गये । अब तो उसकी मनःस्थिति ऐसी हो गयी कि घरके काममें उसका मन ही नहीं लगता । जीविका-निर्वाहके लिये विवशतः वह कार्य करता, पर उसके प्राण जैसे उसके प्रभुके ही चरणोंमें बसते । अपने आराध्यके बिना वह रह ही नहीं पाता था । एक दिनके लिये भी वह अपने किसी सम्बन्धीके यहाँ नहीं जा पाता । प्रभुका एक दिनका विछोह भी उसे असह्य था । आवश्यक कार्यसे कहीं जरा अवकाश मिला कि वह भागा श्रीविष्णु-मन्दिर ।

एक बारकी बात है—चैत्र कृष्णपक्षकी एकादशी थी । चाण्डाल मातङ्ग पुण्यमयी क्षिप्राके समीप घने वनमें

श्रीभगवान्‌की पूजाके निमित्त पुष्प-चयन करने गया। वहाँ एक बहेड़ेके वृक्षके नीचे एक राक्षसने उसे पकड़ लिया और उसे खानेके लिये मारना ही चाहता था कि चाण्डालने बड़े ही विनयके साथ कहा—'भद्र! तुम आज मुझे छोड़ दो। मेरा बड़ा आवश्यक कार्य है, उसे पूरा कर मैं कल प्रातःकाल पुनः तुम्हारे पास आ जाऊँगा। तब तुम मुझे प्रसन्नतापूर्वक मारकर खा जाना। मुझे तनिक भी आपत्ति नहीं होगी।'

'प्राण-भयसे झूठ बोलनेमें कठिनाई नहीं।' ब्रह्मराक्षसने कहा। 'मुझे अपनी बातोंमें भुलानेका प्रयत्न मत करो। मैं क्षुधार्त हूँ। मैं तुम्हें अभी खाना चाहता हूँ।'

'मैं सत्यकी शपथ लेता हूँ।' चाण्डालने ब्रह्मराक्षससे कहा। 'इतना ही नहीं, मैं सभी पावन धर्मोंकी शपथ लेकर कहता हूँ कि कल प्रातःकाल मैं तुम्हारे पास अवश्य आ जाऊँगा। आज मुझे छोड़ दो।'

'जाओ, अपने सत्यकी एवं समस्त पावन धर्मोंकी शपथ याद रखना।' ब्रह्मराक्षसने चाण्डालको छोड़ दिया।

चाण्डाल मातङ्गने अनुभव किया कि मेरे परमाराध्य प्राणनाथ श्रीविष्णु भगवान्‌ने ही आजकी रात्रि और अपने चरणोंमें बैठने देनेका अनुग्रह किया है।

मन्दिरपर आकर पुष्प उसने पुजारीजीको दिये। पुजारीजीने उन्हें धोकर श्रीभगवान्‌को अर्पित कर दिया। चाण्डाल मातङ्गने श्रीभगवान्‌का दूरसे ही दर्शन किया। शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मधर श्रीभगवान्‌की झाँकी करते ही वह अपने आपको भूल गया। नृत्य करने लगा। वह झूम-झूमकर नाचता और श्रीभगवान्‌का मधुर पदोंसे यशोगान करता जाता। पुजारीजी बाहर आकर प्रभुके सच्चे उपासकका नृत्य देखने एवं उसके मधुर मनोहर पदोंको तन्मयतासे सुनने लगे।

नृत्य और पद-गायन बंद हुआ तो वह दौड़ पड़ा मन्दिरकी परिक्रमा करने। दौड़-दौड़कर परिक्रमा करने लगा। आज उसे पूरी १००८ परिक्रमा करनी है, कल क्या पुनः प्राणनाथ मिलेंगे? परिक्रमा पूरी करते-करते अन्न-जलरहित मातङ्ग मूर्च्छित-सा होकर मन्दिरके द्वारपर साष्टाङ्ग लेट गया। लेटा ही रहा।

होश आया तो मधुर कण्ठसे पद-गायन। सारी रात्रि मातङ्ग, श्रीविष्णुका अनन्य उपासक चाण्डाल मातङ्ग—भगवान्‌का विभिन्न गाथाओंके पदोंसे गुणगान करता रहा। प्रातःकाल परिक्रमा और दण्डवत्‌के उपरान्त वह सीधे क्षिप्राके निकटस्थ वनमें ब्रह्मराक्षसके समीप पहुँचा।

'साधुवाद!' ब्रह्मराक्षसने अत्यन्त चकित होकर चाण्डालसे कहा। 'प्राणोंकी चिन्ता न कर तुमने सत्यका पालन किया है; मैं तुम्हें पवित्र कर्मसे ब्राह्मण समझता हूँ। तुम कृपापूर्वक बताओ कि विष्णु-मन्दिरमें जाकर तुमने क्या किया?'

'करता क्या', चाण्डालने उत्तर दिया। 'भगवान् श्रीविष्णु मेरे आराध्यदेव हैं। बीस वर्षसे मैं उनके द्वारपर प्रतिदिन जाता हूँ। उनके बिना मुझसे रहा नहीं जाता। मैं दिनभर उनकी परिक्रमा और प्रणामकर बैठा रहा और रात्रि-जागरण कर सीधे तुम्हारे पास आया हूँ।'

'तुम मेरा उपकार कर सकोगे?' ब्रह्मराक्षसने सानुनय कहा। 'तुम मुझे एक रात्रिके जागरणका फल अर्पित कर दो। मैं तुम्हें छोड़ दूँगा। तुम सुखपूर्वक वापस लौट सकते हो।'

'मैंने अपना शरीर तुम्हें दे दिया है।' चाण्डालने कहा। 'तुम मुझे मारकर खा जाओ। व्यर्थकी बात मत करो।'

'तुम भगवान् विष्णुके सच्चे उपासक हो।' ब्रह्मराक्षसने पुनः कहा। 'तुम्हें मारना महापाप है। तुम मुझे केवल एक याम रात्रि-जागरणका फल दे दो। देखो, पुण्यात्मा पुरुष दीन-दुखियोंका दुःख निवारण करनेके लिये अपने प्राण भी दे देते हैं। तुम मुझपर दया करो।'

'मैं घर नहीं लौटूँगा।' चाण्डाल बोला। 'न मुझे प्राणोंकी चिन्ता है। मेरे साथ मेरे स्वामी श्रीभगवान् हैं। पुण्य-पाप मैं कुछ समझता नहीं। तुम मुझे शीघ्र मारकर खा लो।'

''देखो भैया! ब्रह्मराक्षसने गिड़गिड़ाकर कहा—'तुम मुझपर दया कर रात्रि बीतते समय तुमने जो पद गाया हो, उसीका फल मुझे दे दो। मुझे इस योनिसे मुक्ति मिल जाय। अब तुम 'ना' मत करो।''

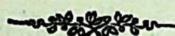
'मैं अपने गीतका पुण्य तुम्हें अर्पित कर दूँगा।' सदय मनसे चाण्डाल बोला। 'किंतु तुम आजसे किसी प्राणीका वध न करनेका वचन दे दो।'

'इस क्षणसे मैं किसी प्राणीकी हत्या नहीं करूँगा।' ब्रह्मराक्षसने तुरंत वचन दे दिया।

'बहुत अच्छा।' चाण्डालने कहा। 'मैं तुम्हें अपनी आधे मुहूर्तकी उपासना, जागरण एवं पद-गायनका फल अर्पित कर रहा हूँ।'

ब्रह्मराक्षस जैसे कृतार्थ हो गया। उसने चाण्डालके चरणोंमें प्रणाम किया एवं पृथूदक तीर्थमें जाकर अन्न-जल-रहित रहकर शरीर छोड़ दिया। चाण्डालकी आधे मुहूर्तकी उपासना, जागरण एवं प्रभुकी लीलाके पद-गायनके पुण्यके प्रभावसे उसकी राक्षस-योनिसे मुक्ति हो गयी और पृथूदक तीर्थके प्रभावसे दुर्लभ ब्रह्मलोकमें उसने सहस्रों वर्ष निवास किया।

इस घटनासे चाण्डालका मन वैराग्यसे भर गया। घर-द्वार छोड़कर तीर्थोंमें भ्रमण करता हुआ वह निरन्तर श्रीभगवान्‌की मानसिक उपासना एवं उनकी मनोहर लीलाओंके पद गाता रहा। अन्तमें वह विन्ध्यगिरिमें पापमोचन तीर्थमें स्नानकर श्रीभगवान् विष्णुके पदोंको गाते हुए शरीर छोड़कर विष्णुलोकमें चला गया!



हनुमान्‌जीकी उपासना और अचूक सिद्धि

(लेखक—पं० श्रीसभापतिजी मिश्र 'साहित्यरत्न')

कलियुगमें विश्ववन्द्य श्रीहनुमान्‌जीकी उपासना और भक्ति सभी प्रकारकी इच्छाओंको सहज पूर्ण करनेवाली है। जो व्यक्ति सकाम या निष्कामभावसे श्रीहनुमन्तकी पूजा करता है, उसे सद्यः फल प्राप्त होता है; उसकी सभी बाधाएँ दूर हो जाती हैं और वह सर्वदा प्रसन्नचित्त होकर रहने लगता है। मैं भी हनुमान्‌जीका एक साधारण साधक हूँ। मेरी तुच्छ श्रद्धा तथा लगनपर श्रीहनुमान्‌जीने मुझपर बड़ी भारी कृपा की। तत्सन्दर्भकी आप-बीती कथा यहाँ लिख रहा हूँ।

पिछले कई वर्षोंसे मुझे परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डी स्वामी श्रीरामेश्वराश्रमजीसे हनुमान्‌जीके बारेमें विस्तारसे सुननेको मिला। उस वर्ष स्वामीजी पुनः मेरे यहाँ पधारे, उस समय भी मुझे उनसे बातें करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने व्याख्यानद्वारा मुझे श्रद्धालु बना दिया और उसी दिनसे मैंने नियमित पाठ करना प्रारम्भ किया। संस्कृतज्ञ होनेके कारण स्वामीजीने मुझको 'हनुमत्कवच' तथा 'हनुमान-चालीसा'का पाठ करनेकी आज्ञा प्रदान की। मैंने नियमित पाठ प्रारम्भ कर दिया। पञ्चमुखी तथा एकमुखी कवचका पाठ करनेके उपरान्त मैंने एकादश बार हनुमान-चालीसाका पाठ प्रारम्भ किया तथा मङ्गलवार और शनिवारको मन्दिरमें जाकर श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन करना प्रारम्भ किया। जुलाईमें विश्वविद्यालयमें अध्ययनार्थ प्रयाग जाना पड़ा, किंतु मेरी चित्तवृत्तिमें तनिक भी परिवर्तन न हुआ। मैं दर्शनके लिये संगम जाया करता था। वर्षभर यह प्रक्रिया चलती रही। फिर मैं बी० ए० की परीक्षा देकर देहातमें चला आया।

मेरे गाँवके उत्तरकी ओर प्राचीन भारशिवोंके भवनके भग्नावशेष एक टीलेके रूपमें हैं। उसके पश्चिमाञ्चलमें श्रीहनुमान्‌जी, शिवजी तथा दुर्गादेवीका पुराना मन्दिर है। पास ही एक तालाब है, जिसके भीटपर पलाशके सघन पेड़ हैं। प्रयागसे लौटनेके बाद मैंने प्रतिदिन वहाँ जाना शुरू किया। हनुमान्‌जीके शरीरका सिन्दूर छूट जानेपर प्रतिमा मलिन-सी हो गयी थी और उसे देखते ही मेरे हृदयमें दीनता तथा करुणाका भाव जग जाता था। मैंने संकल्प कर लिया कि 'मैं जब ही विन्ध्याचल जाऊँगा, वहाँसे सिन्दूर लाकर हनुमान्‌जीके ऊपर लेप करूँगा।'

दैवयोगसे इस वर्ष २४ जूनको मुझे मिर्जापुर जानेका शुभ-अवसर प्राप्त हुआ। २७ जूनको मैं प्रयाग जानेवाला था और उसी दिन मङ्गलवारके कारण सिन्दूर भी पोतना चाहता था। स्नानादि करनेके बाद मैंने अपने मित्र सतीश-कुमारको सामग्री लेकर चलनेके लिये कहा और प्रातः साढ़े तीन बजे मैं मन्दिरपर गया एवं सिन्दूर-को चमेलीके तेलमें मिलाकर, मूर्तिपर लेप करके पूजोपरान्त घर लौट आया। सात बजेके लगभग सतीशके साथ प्रयाग जानेके लिये उसी रास्तेसे मैंने स्टेशनकी ओर प्रस्थान किया, तब देखा कि मन्दिरमें एक अलौकिक कुत्ता हनुमान्‌जीके सिन्दूरको चाट रहा है। मैंने एक ईंट उठाकर, ज्यों ही उसे मारना चाहा कि कुत्ता तुरंत गायब हो गया। हम लोग समझ गये कि ये हनुमान्‌जी ही हैं। हमलोगोंने बहुत देरतक खोज भी की, किंतु निष्कर्ष कुछ न निकला।

एक दिन शामके समय मैं मन्दिरमें गया और हनुमान-चालीसाका उच्च स्वरसे पाठ करने लगा। लगभग ११ बजेके समय मुझे पहले कुछ प्रकाश दिखायी पड़ा। पुनः हनुमान्जीकी विशाल आकृति दिखायी दी। उस समय मुझे मन्दिरकी प्रस्तर-प्रतिमा नहीं नजर आ रही थी। मैंने अपना पाठ जारी रक्खा और मुझे यह अनुभव हुआ कि 'अब मुझपर हनुमान्जीकी कृपा हो गयी है।' तदनन्तर मूर्ति लुप्त हो गयी और वही प्रतिमा शेष रही। मेरा पाठ पूर्ण हो गया और मैं घर लौटते समय—

दुर्गम काज जगत के जेते। सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते॥

—की पुनरावृत्ति करता रहा और मुझे पूर्ण शान्ति प्राप्त हो गयी। उन्हींकी कृपासे मेरे कई असम्भव कार्य स्वतः सिद्ध हो गये हैं। अतः मेरा यह निवेदन है कि श्रद्धा-विश्वासपूर्वक श्रीहनुमान्जीकी सेवा करके लाभ उठावें; क्योंकि दुनियामें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो इनकी कृपासे न सिद्ध हो सके। कृपाके समुद्र हनुमान्जी स्वयं अपने भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण कर दिया करते हैं।

श्रीइष्टदेवकी कृपाद्वारा मैं कुछ मन्त्र नीचे दे रहा हूँ। समुत्सुक लोग इनसे लाभ उठावें।

(१) प्रेत-बाधाके लिये मन्त्र

ॐ दक्षिणमुखाय पञ्चमुखहनुमते करालवदनाय नरसिंहाय ॐ ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रैं, ह्रौं, ह्रः सकलभूतप्रेत-दमनाय स्वाहा। (पञ्चमुखहनुमत्कवचम् २८)

यह मन्त्र कम-से-कम दस हजार जप करनेपर सिद्ध हो जाता है। मन्त्र-जापके बाद अष्टगन्धसे हवन करना चाहिये।

(२) विष उतारनेके लिये—

ॐ पश्चिममुखाय गरुडाननाय पञ्चमुखहनुमते मं, मं, मं, मं, मं सकलविषहराय स्वाहा। (पञ्चमुखहनुमत्कवचम् २९)

यह मन्त्र दीपावलीके दिन अर्द्धरात्रिमें घीका दीपक जलाकर हनुमान्जीको साक्षी करके दस हजार जप लेनेसे सिद्ध हो जाता है। पुनः बिच्छू, बर्रें आदि विषधारी जीवोंद्वारा त्रस्त होनेपर इस मन्त्रको उच्च स्वरसे उच्चरित करते हुए उस अङ्गका स्पर्श करे। कई बार ऐसा करनेपर विष उतर जाता है।

(३) शत्रु-संकट-निवारणके लिये—

ॐ पूर्वकपिमुखाय पञ्चमुखहनुमते टं, टं, टं, टं, टं सकलशत्रुसंहरणाय स्वाहा। (पञ्चमुखहनुमत्कवचम् २७)

इस मन्त्रके सिद्ध कर लेनेपर शत्रुभय दूर हो जाता है। यह १५००० मन्त्र-जपसे सिद्ध होता है। आवश्यकता है विश्वास और श्रद्धाकी।

(४) महामारी, अमङ्गल तथा ग्रह-दोष एवं भूत-प्रेतादि नाशके लिये—

ॐ ऐं ह्रीं श्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रः, ओं नमो भगवते महाबलपराक्रमाय भूत-प्रेत-पिशाच-ब्रह्मराक्षस-शाकिनी डाकिनी-यक्षिणी-पूतना-मारी-महामारी-राक्षस-भैरव-वेताल-ग्रह-राक्षसादिकान् क्षणेन हन हन भञ्जय भञ्जय मारय मारय शिक्षय शिक्षय महामाहेश्वररुद्रावतार ॐ हूं फट् स्वाहा। ॐ नमो भगवते हनुमदाख्याय रुद्राय सर्व-दुष्टजनमुखस्तम्भनं कुरु कुरु स्वाहा। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ठं ठं ठं फट् स्वाहा।

यह मन्त्र मंगलवारको दिनभर व्रत रहनेके बाद अर्ध-रात्रिमें हनुमान्जीके मन्दिरमें सात हजार जापसे सिद्ध हो जाता है। सिद्धिके बाद हनुमान्जीके समक्ष दशांश हवन करना चाहिये।

विशेष—हनुमान्जीके साधकोंको चाहिये कि उपर्युक्त मन्त्रोंमें जिसकी सिद्धि करे, उसे तत्क्षण भोजपत्रपर लाल चन्दन या लाल स्याहीसे लिखकर पुनः उसे अभिमन्त्रित कर तावीजमें भरकर धारण करे। यदि यह काम विश्वास और श्रद्धासे किया गया तो अवश्य ही रामबाण सिद्ध होगा।

१. विद्यार्थियोंके लिये हनुमान्जीकी सिद्धि सहज है। विद्यार्थियोंपर मारुति शीघ्र कृपा करते हैं। उनसे पवित्रता तथा श्रद्धाकी अपेक्षा की जाती है।

२. शनिवारके दिन हनुमान्जीको तेल चढ़ानेसे शनैश्चरका प्रकोप शान्त हो जाता है। शनिकी क्रूरदृष्टिसे ग्रस्त महानुभाव अवश्य इसका सेवन करें।

उपर्युक्त सभी सिद्धियाँ मेरे स्वतः अनुभवकी हैं। इनसे मुझे जो शान्ति प्राप्त हुई है, वह असीम है।

उपासनाके सनातन साधन

(लेखक—पं० श्रीसूरजचन्दजी 'सत्यप्रेमी' डाँगीजी)

उपासनाके तीन सनातन साधन हैं, जिन्हें सिद्ध करके हम सिद्धिके समीप पहुँच सकते हैं—यही उपासनाका लक्ष्य है।

तीनों साधनोंका साध्य एक ही है—'परिपूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके युगल-चरणारविन्दोंमें प्रतिक्षण वर्द्धमान 'प्रेम'।' उस प्रेमकी प्राप्तिके लिये तीनों साधन स्वयं भगवान्‌ने निरूपण किये हैं। अन्तिम-साधन 'श्रीकृष्णका अनुग्रह' है, जिसके आदर्श हैं—श्री'उद्धव' जो 'भागवत'के शिष्य हैं। श्रीचरणोंमें उत्कृष्ट हवनके बिना—सर्वस्व समर्पणके बिना वह दिव्य अप्राकृत 'गोपी-प्रेम' उपलब्ध ही नहीं हो सकता।

मध्य-साधन 'श्रीकृष्णका ज्ञान-विज्ञान' जिसके आदर्श हैं—श्री'अर्जुन', जो 'महाभारत'के शिष्य हैं। अर्जुनके समान तपस्वी और ऋजु—सरल बने विना यह 'राजराजर्षियोग, राजविद्या-राजगुह्ययोग' प्राप्त ही नहीं हो सकता।

प्रथम साधन है—'श्रीहरिका कर्म-सिद्धान्त' जिसके आदर्श हैं—भगवान् सूर्य, जो रामवंशके पूर्वज हैं और श्रीकृष्णके आदिशिष्य हैं। यह 'राजर्षियोग' है। सूर्यभगवान् सब कुछ करके भी कुछ नहीं करते और कुछ नहीं करते हुए भी सब करते-कराते हुए प्रत्यक्ष हैं।

'प्रेमयोग' सर्वगुह्यतम सर्वेश्वर-सिद्धान्त है, जिसका भगवान् शंकर श्रीपार्वतीजीके प्रति रामायणके रूपमें बखान करते हैं।

'ज्ञानयोग' राजराजर्षिसिद्धान्त है, जिसका भगवान् श्रीकृष्णने श्रीअर्जुनको गीताके रूपमें महाभारतमें उपदेश किया।

'कर्मयोग' राजर्षिसिद्धान्त है, जिसे भगवान् ब्रह्माने वेद-वेदाङ्गके रूपमें प्रकट किया है। गायत्रीके अनुशासनमें कर्म करना ही 'वैदिक मार्ग' है। इस प्रकार इन साधनोंका व्यक्तीकरण भी 'श्रीकृष्णके अनुग्रह'से होता है और रसरूपमें भी वही हैं। इसलिये आद्य साधन चरम हो जाता है और चरम आद्य। दोनों मिलकर 'परम' बन जाता है। दक्षिणामूर्ति भगवान्‌की मुद्रा भी यही सिखाती है कि तीनों सिद्धान्त तर्जनी और अंगुष्ठके मिलनेसे प्रभुकृपामें एकरूप अवस्थित हैं।

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।

सभी साधन-साध्य सिद्ध प्रभुरूप ही है, यही परम उपासनाका परम साधन है।

हरिरेव जगत्, जगदेव हरिः,
हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः
स नरो भवसागरमुत्तरति॥

श्रीकृष्णका अनुग्रह श्रीराधाजीके कृपाकटाक्षके बिना दुर्लभ है।

श्रीराधाजीकी कृपा 'स्व-सुख-वाञ्छा-लेश-कल्पना-गन्ध'के त्याग तथा 'श्रीकृष्ण-सुख-वाञ्छाके लिये सर्वस्वका त्याग' ही एकमात्र साधन है।

धाराप्रवाहसे राधा-राधाका भजन तुरंत श्रीकृष्ण-अनुग्रहका पात्र बनाकर श्रीसर्वेश्वर प्रभुसे योग करा देता है।

वह दिन धन्य होगा कि जब हम बरसानेके मन्दिरके पीछे व्याकुलताके साथ राधा-राधा रटते हुए जीवनके परम लक्ष्य श्रीकृष्ण-चरण-रजमें दिव्य प्रेम समुपलब्ध करनेका परम पुरुषार्थ करते हुए अपने प्राकृतदेहका परित्याग करेंगे।

राधामाधव-प्रेमरस-सुधा

राधामाधव बसि रहे हियमहँ नित्य ललाम।
मुख निरतत नित नव मधुर राधामाधव-नाम॥
राधामाधव-प्रेमरस-सुधा दिव्य सुमहान्।
स्वसुख-वासना-रहित चित करत निरंतर पान॥

गीतोपासनाका प्रभाव

(प्रेषक—पं० श्रीबाबूरामजी द्विवेदी)

सन् १९३७ ई०की घटना है। कबीरचौरा अस्पताल (काशी) में भरती होकर मैंने गलेकी गिल्टी (डाक्टरोंके मतानुसार टी० बी० ग्लाण्ड्स) का ऑपरेशन कराया। यह गिल्टी दो वर्ष पूर्व १८ वर्षकी अवस्थामें गोपालगंज (बिहार) के अस्पतालमें प्लुरिसी (फेफड़ेके पानी) का उपचार कराते समय ५ मासमें ९५ सुइयाँ लगवानेके पश्चात् हुई। मेरा बचपन दुःखमय था। एक बार शीतज्वर हुआ। पुराना होकर तिजरा हो गया। मेरे स्व० पिताजी (पं० रामबरनजी द्विवेदी) ने एक ग्रामीण वैद्यसे उपचार कराते-कराते थककर रामचरितमानसकी एक चौपाई—

दीनदयाल बिरद संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

और गीताके एक श्लोक—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९। २२)

—की आध्यात्मिक औषधका सेवन करनेके लिये मुझे प्रेरित किया। कण्ठस्थ कर लेनेके पश्चात् एक दिन ज्वर चढ़नेके समय उक्त मन्त्रोंका मैंने मनोयोगपूर्वक पाठ (प्रयोग) किया। फलतः उस दिन न जाड़ा मालूम हुआ, न ज्वर। उसके बाद ईश्वरकी असीम कृपासे आजतक मुझे शीत-ज्वर नहीं हुआ। अस्तु!

हाँ, तो कबीरचौराके सरकारी अस्पतालमें उपचार कराते चार मास व्यतीत हो गये। 'रोग बढ़ता ही गया, ज्यों उपचार किया।' प्रधान चिकित्सकने एक दिन मुझसे कहा कि 'तुम कहीं और जाकर दवा कराओ। तुम्हारे रोगकी दवा मेरे पास नहीं है।' अनुनय-विनय करनेपर कुछ दिन और अस्पतालमें रहनेकी अनुमति मिल गयी। मैंने नियम बना लिया। मैं प्रतिदिन भगवान् विश्वनाथजीकी भव्य आरतीमें सायंकाल उपस्थित होकर आत्मिक आनन्द-लाभ करने लगा। एक दिन अस्पतालको लौट रहा था। कचौड़ी गलीमें धार्मिक पुस्तकोंकी दूकानपर दो महात्मा ज्ञानचर्चामें तल्लीन थे। कुछ श्रोता एकत्र थे। मैं भी वहाँ रुक गया। ज्ञानचर्चाका विषय था—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

[जो भक्त अनन्यभावसे परमेश्वरका चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन निष्कामी भक्तोंका योगक्षेम (भगवत्प्राप्तिका सुयोग एवं भगवत्प्राप्तिके साधनोंकी रक्षाका उपाय) भगवान् स्वयं वहन करते हैं।] मैं प्रेमपूर्वक उनकी बात सुन रहा था। एक महात्माजीने मेरे गलेकी पट्टीकी ओर संकेत करते हुए पूछा, 'बच्चा! यह क्या है?' मैंने कहा—'नासूर! असाध्य रोग!!' मेरे स्वरमें निराशाकी गन्ध पाकर महात्मा रामबाबाजीने सान्त्वना देते हुए कहा—'धैर्य धारण करो, गीताका अध्ययन और मनन करो। जिस दिन सम्पूर्ण गीता तुम्हें कण्ठाग्र हो जायगी, उसी दिन तुम्हारा रोग नष्ट हो जायगा।' पूज्यचरण श्रीरामबाबाजीने ही श्रीमद्भगवद्गीताकी एक पुरानी प्रति मुझे दी। पिताजीकी प्रेरणासे 'गीता' और 'रामचरितमानस'पर मेरा पहलेसे ही अटल विश्वास हो गया था। डेढ़ महीनेमें पूरी गीता मैंने कण्ठस्थ कर ली।

एक दिन भगवान् विश्वनाथजीके आरती-समारोहमें सलेमगढ़-(देवरिया) नरेश (श्रीअमरेश्वरीप्रसादजी) और राजज्योतिषी पं० जगदेवजी शर्मा मिले। मेरी दयनीय दशापर सहानुभूति दिखाते हुए बोले—'पटना चलो, वहाँ मेडिकल कालेजमें घावका उपचार हो जायगा।' उक्त दोनों सज्जनोंकी कृपासे मैंने राज्यसे चार रुपये मासिक छात्रवृत्ति प्राप्त करके किसी प्रकार मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। कुछ संस्कृत भी पढ़ी थी। इसी अल्प शिक्षाके आधारपर मैंने गीताके ७०० श्लोक कण्ठस्थ करनेमें सफलता प्राप्त की। अस्तु—

मैं पटना मेडिकल कालेजमें भरती हुआ। एक मासमें घाव अच्छा हुआ। घर आया। दुःखद परिस्थितिमें पड़नेके कारण गीताका अभ्यास छूट गया। एक सप्ताहके पश्चात् गलेका घाव विकृत हो गया। पीड़ा बढ़ने लगी। एक डाक्टरने कहा—'कैंसर है।' गाँव-घरके लोग चिन्तित हुए। जीवनकी आशा क्षीण हो गयी। गाँवके एक संत (बाबा बिहारीजी), जो मेरे गीताभ्यासपर बड़े प्रसन्न थे,

यह जानकर उदास हो गये कि सब व्याधियोंको निर्मूल करनेवाली गीता-संजीवनीका मेरेद्वारा सदुपयोग न हो सका। उनके आज्ञानुसार मैंने अघटनघटनापटीयसी भगवती गीताको नमस्कार किया। आश्रमसे एक ध्वनि सुनायी पड़ी—

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता।

अल्प-प्रयासद्वारा मैंने एक मासमें अध्याय-श्लोक-संख्या-सहित सम्पूर्ण गीता हृदयंगम कर ली। गीताध्ययनका मनोवैज्ञानिक प्रभाव मेरे जीवनपर पड़ा। घाव बिल्कुल अच्छा हो गया। भौतिक जीवन आध्यात्मिकताकी ओर उन्मुख हुआ। मनमें सत्संगकी भावना जाग्रत् हुई। एक दिन मनमें विचार उठा; मैं गीताके विद्वान् पूज्यपाद श्रीराघवदास-जी परमहंसकी सेवामें उपस्थित हुआ। मेरी गीता-विषयक जानकारीसे संतुष्ट होकर उन्होंने मुझे शिष्य बनाया। उनकी प्रेरणासे मैं सं० १९९४ (सन् १९३८) में 'श्रीगीता-परीक्षा-समिति,' बरहजकी उत्तमा (प्रथम खण्ड) परीक्षामें सम्मिलित हुआ। प्रथम श्रेणी प्राप्त करनेके उपलक्ष्यमें इक्कीस रुपये पुरस्कार मिले। (क्रम-सं० २३)। तत्पश्चात् सं० १९९५ में मैंने 'भारतीय-धर्म-संघ-परीक्षा-सम्मेलन' बरहजकी उत्तमा परीक्षा इक्यावन रुपये पुरस्कारके साथ उत्तीर्ण की। (क्रम-सं० ५)।

श्रीपरमहंसजीद्वारा प्रयुक्त 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः,[1] नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः,[2] शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्[3]।' आदि सिद्धान्त-वाक्योंका मेरे हृदयपर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा; फलतः भौतिक और आध्यात्मिक विकासके दोनों पहलुओंके सामञ्जस्यविधानमें ही मैंने जीवन-की पूर्णताका अनुभव किया। पुरस्कारके धनका सदुपयोग मैंने 'विशारद' और 'साहित्यरत्न' परीक्षा उत्तीर्ण करनेके रूपमें किया।

सन् १९४१ में मकर-संक्रान्तिके अवसरपर श्रीपरमहंस-जीके साथ मैं प्रयाग गया। वहाँ 'हिंदी-साहित्य-सम्मेलन' प्रयागके परीक्षा-मन्त्री (श्रीदयाशंकर दुबे) से सम्पर्क होनेपर मैं परीक्षा-विभागमें काम करने लगा। १९४२ का आन्दोलन छिड़ा हुआ था। मैं अपने गुरुजीकी प्रेरणासे खद्दरका कुर्ता, धोती, टोपी पहनने लगा था। इसी वेषमें एक दिन स्टेशन-पर घूम रहा था। एक अंग्रेज सैनिकने ठोकर मारकर मेरे सिरसे टोपी उतार ली, उसे पैरोंसे कुचल दिया। दो-तीन घूँसा जमाते हुए मुझे लखनऊ जानेवाली गाड़ीके सैनिक-कक्षमें बैठा लिया। गाड़ी चल दी। मैं विवश था। मुझे नाना प्रकारका कष्ट दिया गया। एक सैनिकने मेरे हाथमें छोटी-सी पुस्तक देखकर कहा—'यह क्या है? पढ़कर सुनाओ।' मैंने ग्यारहवें अध्यायके १५ से ५० श्लोकतक सस्वर-पाठ उन्हें सुनाया। बार-बार उन लोगोंने सुना। किसी-किसीने अर्थ पूछा। मैं लखनऊ पहुँच गया। सेना-ध्यक्ष भी गीतापाठ सुनकर प्रभावित हुआ। मुझे छावनीपर ले गया। एक सैनिकके साथ लालबाग हाई-स्कूलके लेडी प्रिंसिपलके पास मुझको भेजा। उन्होंने हिंदी अध्यापकके रूपमें मेरी नियुक्ति कर ली। अवकाशके समय वे मुझसे गीताके श्लोक सुनतीं एवं अर्थ समझती थीं। उनकी प्रेरणासे मैंने हाईस्कूलसे लेकर एम्० ए० तथा बी० एड्० परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं।

सन् १९५८ में मैंने 'बख्शी-तालाब इण्टर कालेज'में हिंदी-विभागका अध्यक्ष-पद ग्रहण किया। नैमिषारण्यके भारत-विख्यात संत पूज्यपाद श्रीनारदानन्दजीकी सत्प्रेरणासे विद्यालयकी प्रतिदिनकी प्रार्थना-सभामें गीतापर प्रवचन होता है। विद्यालयका वातावरण गीतामय है। समय-समय-पर अखण्ड गीता-रामायण-पाठकी व्यवस्था भी होती है।

गीतोपासनाका प्रत्यक्ष लाभ इहलौकिक एवं पारलौकिक विकासके रूपमें मेरे जीवनपर घटित हुआ। तद्विषयक स्वानुभव जनता-जनार्दनकी सेवामें उपस्थित करता हूँ—

इहलौकिक लाभ

(भौतिक)

१—गीता मानवमात्रमें भावात्मक एकतापर बल देती है, क्रियात्मक एकतापर नहीं[4], इस नीतिका संकेत मुझे अ० ५ श्लोक १८ में मिला। यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि—'विद्याविनययुक्त ब्राह्मणमें, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें समभावसे देखनेवाले ही सच्चे पण्डित हैं।' (साम्यवादियोंके मतानुसार यहाँ समभावका अर्थ 'समवर्तन' नहीं, वरं उक्त नीतिके अनुसार 'समदर्शन' है।)

१. जिस साधनद्वारा इहलौकिक उन्नतिके साथ पारलौकिक कल्याण हो वह धर्म है।

२. निर्बल व्यक्तियोंद्वारा आत्माकी प्राप्ति नहीं होती।

३. प्रथमतः शरीर ही धर्म करनेका मुख्य साधन है।

४. भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।

२–गीतोक्त भगवद्वाक्योंपर श्रद्धा रखकर अपने जीवनको लोकसंग्रहार्थ कर्मोंके पालनमें लगा देना सृष्टिचक्र-संचालनका हेतु है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि 'लोकसंग्रह'को देखता हुआ भी हे अर्जुन! तू कर्म कर[1]। उक्त तथ्य हमारे इहलौकिक जीवनको आदर्शोन्मुख करता है।

३–गीताके सतत अध्ययन, मनन और निदिध्यासनके फलस्वरूप मैंने समस्त आधि-व्याधियोंपर विजय प्राप्त की। मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि अच्युत भगवान्के नामस्मरण-रूपी औषधके सेवन करनेसे सभी रोग नष्ट हो जाते हैं[2]।

४–गीताध्ययनके फलस्वरूप मैं कुसंगतिसे और व्यर्थके वार्तालापसे बच गया।

५–गीताध्ययनके द्वारा मुझे जनता-जनार्दनकी सेवा करनेका सुअवसर मिला, वक्तृत्व-शक्ति मिली।

६–गीताका सार्वभौम सिद्धान्त है—'समन्वयवाद'। ज्ञान, कर्म और भक्तिके समन्वयकी चेष्टा हमें गीतामें सर्वत्र लक्षित होती है।

पारलौकिक लाभ
(आध्यात्मिक)

१–कर्मके प्रवाहमें पड़े हुए मानवमात्रके आत्मिक कल्याण-हेतु भगवान्की आज्ञा है कि 'कर्म करनेमें ही मनुष्यकी गति (अधिकार) हो, फल-प्राप्तिमें नहीं। कर्मफलमें आसक्ति न हो। कर्म न करनेकी प्रवृत्ति भी मनुष्यमें नहीं होनी चाहिये[3]। कर्मफल-त्याग मोक्षप्राप्तिका साधन है[4]।

२–भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको सब प्रकारकी विद्याओंमें 'अध्यात्म-विद्या' बतलाया है[5]। यदि हम संत श्रीविनोबाजीके अनुसार यह मान लें कि 'यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है; यहाँ सुन्दर वर्णोंमें परमेश्वर सर्वत्र लिखा हुआ है[6]' तो इस ज्ञानके द्वारा हम निश्चय ही ईश्वरको प्राप्त कर सकते हैं।

३–भारतीय दर्शनकी दृष्टिमें आध्यात्मिकता ही जीवनका सत्य है, ध्येय है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें स्वामी विवेकानन्दने कहा था 'यदि कोई आध्यात्मिक आधार न मिला तो भौतिकवादी सभ्यता चूर-चूर हो जायगी[7]।' ये विचार हमें 'अध्यात्म'की ओर प्रेरित करते हैं।

४–गीताप्रवचन करनेका अवसर मिला जो अध्यात्म-साधनाका माध्यम है।

५–गीतोक्त भगवदाज्ञाके अनुसार मनको वशमें करनेकी प्रेरणा मिली। संयत मन मोक्षका हेतु है[8]।

६–सात्त्विक ज्ञानकी आधार-शिलापर मानवमात्रमें एक ही आत्मतत्त्व देखनेकी प्रेरणा गीतासे मिलती है, जो मोक्षका साधन है[9]।

---

१. लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि। (३ । २०)

२. अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्। नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥ (धन्वन्तरि)

३. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (२ । ४७)

४. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥ (२ । ५१)

५. 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। (१० । ३२)

६. 'कल्याण' मानवता-अंक पृष्ठ ५३०।

७. 'कम्प्लीट वर्क्स ऑव स्वामी विवेकानन्द' भाग ३ पृ० १५९।

८. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। चित्ते चलति संसारो निश्चले योग उच्यते॥ (महाभारत, शान्ति० १६० । ६)

९. सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ (गीता १८ । २०)

उपासनासे मनःकामनाकी आश्चर्यजनक पूर्ति

[एक सच्ची घटना]

(लेखक—श्रीहरिहरप्रसादजी अठघरा)

इसी वर्षके जून मासके 'कल्याण' से यह जानकर कि अगले वर्ष इसका विशेषाङ्क 'उपासना-अङ्क' होगा, बड़ी प्रसन्नता हुई। मेरे जीवनमें यदा-कदा ऐसे अवसर भी आये हैं, जब 'भगवद्-आराधना'पर अपनी धारणा और भी दृढ़ हुई है। उसीका एक उदाहरण 'कल्याण'के प्रेमी पाठकोंके लिये प्रस्तुत है।

'उपासना' शब्दका अर्थ सीधा-सादा होता है—परिचर्या, आराधना, पूजा, अर्चना, जिसे अंग्रेजीमें Worship कहते हैं। विभिन्न देवी-देवताओंकी उपासनापद्धतियाँ विभिन्न हैं, जिन्हें पाठक इसी उपासना-अङ्कमें अन्यत्र अनेक विद्वानों-द्वारा लिखित निबन्धोंको पढ़ेंगे। प्रस्तुत लेखका विषय मात्र सच्ची भावनासे प्रभुमें अटूट विश्वाससे आराधना करनेके प्रत्यक्ष फलसे है। घटना प्रायः कुछ वर्षों पूर्वकी है। परंतु मेरे मनमें वह सदैव इस प्रकार विद्यमान है, जैसे लगता है अभी-अभीकी बात है।

उस समय मैं बिहारप्रान्तके एक बहुत बड़े अभ्रकके व्यवसायी 'श्रीछट्टूराम होरिलराम लि०' फर्ममें कार्य करता था। फर्मके दो भागीदार थे और बिहारप्रान्तमें कोडरमा, गिरीडीहके अतिरिक्त फर्मका कार्य सुदूर मद्रास प्रान्तके निलोर जिलेमें एवं राजस्थानके नसीराबाद इलाकेमें भी चलता था। मैं राजपूताना एवं मद्रासका शाखा-व्यवस्थापक (ब्रांच मैनेजर) था एवं उस समय मेरा कार्यक्षेत्र निलोर जिलेके गुडुर नगरमें था, जहाँसे अभ्रक खरीदकर कोडरमा चालान करता था।

एक बार जब मैं कार्यवशात् कोडरमा आया तो श्रीछट्टूरामजीने मुझसे कहा कि 'उनके द्वितीय पुत्र श्रीपरमेश्वरप्रसाद भदानी, जो शिक्षा प्राप्तकर बनारससे लौटे थे, कारबारका अनुभव प्राप्त करनेके लिये मेरे साथ मद्रास जायँ और वे मेरे साथ रहकर अभ्रक-खरीद इत्यादिमें अनुभव प्राप्त करें।' भला, मुझे इसमें एतराज ही क्या होता। हम दोनों व्यक्तियोंने मद्रासके लिये प्रस्थान किया एवं दो दिन पश्चात् अपने कार्यालयमें गुडुर पहुँच गये। गुडुर नगर बहुत अधिक बड़ा नहीं है। यहाँसे रेल दो तरफ जाती है। मेन लाइन—मद्रास-कलकत्ता एवं ब्रांच लाइन—कालहस्ती-त्रिपती। इसलिये यात्रियोंका यहाँ पर्याप्त आवागमन होता रहता है। शहरके एक कोनेपर जिसे 'स्प्रींग फील्ड' कहते हैं—किरायेकी एक कोठी थी, जिसमें हमलोगोंका आवास एवं व्यवसाय दोनों था। कम्पनीकी नयी मोटरकार भी थी। दो-तीन कर्मचारी भी रहते ही थे।

जलवायु तो दक्षिण भारतका अच्छा था ही, परंतु अभ्रककी खानें जिन स्थानोंमें हैं, उधर कुछ मलेरियाकी शिकायत रहती थी। अतः हमलोग जब भी कहीं खानपर जाते, जैसा प्रायः जानेका मौका होता था—तो कच्चा पानी पीनेसे परहेज ही करते थे। चाय काफी तो बराबर उपलब्ध हो ही जाता था और उससे कोई हानि नहीं होती थी। मैंने अपने सहयोगीको मना कर दिया था कि 'उन्हें खानपर बराबर उबला जल ही पीना चाहिये, कच्चा पानी कभी नहीं पीना है।' परंतु उन्हें उबला जल स्वादहीनताके कारण पसंद नहीं आता और यदा-कदा वे कच्चा पानी पी लेते थे। बालक तो नहीं थे और उम्र चढ़ती जवानीकी थी। अतएव उन्होंने मेरी बातपर बहुत ध्यान नहीं दिया। खैर, होनी होकर रही और खानसे वापस आनेपर एक दिन बाद ही उन्हें बहुत तेज बुखार आ गया—लगभग १०४-१०५ डिग्री तक। तुरंत अस्पतालके असिस्टेंट सिविल सर्जन बुलाये गये। औषधोपचार आरम्भ हुआ। तीन-चार दिनोंमें मलेरिया बुखार उतर गया। परंतु डाक्टरने परामर्श दिया कि ओषधिका सेवन एक सप्ताह नियमित रूपसे चलना चाहिये एवं भोजनमें लघुपथ्य रहे। पाठक जानते हैं बुखारकी ऐलोपैथिक ओषधियाँ प्रायः स्वादहीन ही नहीं, वरं कटु होती हैं। और मेरे साथी जरा स्वतन्त्र प्रकृतिके थे। उन्होंने डाक्टरके आदेशानुसार ओषधि-सेवन जारी न रक्खा और कुछ खान-पानमें भी बदपरहेजी की। परिणामस्वरूप वे पुनः रोगी हो गये। पथ्यापथ्यके कारण अनपच भी हो गया। अबकी बार पहलेसे भी अधिक भीषणरूपसे उल्टी और कई उपद्रवोंके साथ रोगका आक्रमण हुआ। फिर डाक्टर आये, वैद्य आये,

झाड़-फूँकवाले आये। नगरमें जितने गुणीजन थे प्रायः सभी बुलाये गये। तीन बजे दिनसे लेकर रात्रि नौ बजे तक यथासाध्य सभी उपचार हुए। पर परिणाम शून्य-सा रहा, निराशा बढ़ती गयी और श्रीपरमेश्वरप्रसाद-के शरीरमें इतनी शक्ति भी शेष नहीं रही कि वे कुछ बोल सकें; करवट लेना या कुछ और बात करना तो असम्भव था। प्रायः सब सान्त्वना देनेवाले ही चारों ओर थे—कुछ उपाय नहीं चल रहा था। मैं अपनी हालत क्या लिखूँ। मेरे तो होश उड़ गये थे। अपने देश-परिवार-बन्धुसे दूर १०-५ मील नहीं, पूरे १३०० मील करोड़पति मालिकके पुत्रकी, जिन्हें मेरे साथ काम सीखनेको भेजा गया था, यह बुरी स्थिति! उसके अपने माता-पिता, भाई-बन्धु यहाँ कोई नहीं। लगभग दस बजे रात्रिको मैं इतना निराश हुआ कि अब सोच ही नहीं पाता था कि क्या करूँ। अन्तमें अपनी आदतके अनुसार मैंने अपने साथियोंको रोगीके समीप सेवाके लिये छोड़ा। मैं एक छोटी कोठरीमें जा आर्त-हृदय और कातर-स्वरसे मन-ही-मन अन्तर्यामी प्रभु परमात्माका ध्यान करके प्रार्थना करने लगा—'हे दीनबन्धु! अशरणशरण! अब केवल तुम्हारे सिवा अपना यहाँ और कौन है? हे नाथ! अबकी दया करो, जन्मभरके इस कलंकसे छुटकारा दिलाओ।' जहाँतक मुझसे बन पड़ा, सच्चे हृदयसे सहज स्वाभाविक करुणाभरे शब्दोंमें मैंने अपार शक्तिशाली ईश्वरसे अनुनय-विनय किया। प्रायः आधा घंटे बाद मैंने अन्तर्मनमें एक शक्तिका अनुभव किया और मैंने ड्राइवरको आदेश दिया कि 'एक्सीडेन्ट बचाते हुए—जितनी शीघ्रतासे हो सके, निल्लोरसे (जो वहाँसे प्रायः २२ मील दूर था) सिविल सर्जनको लेकर आओ—फीस चाहे जितनी लगे; और एक अत्यावश्यक तार श्रीछट्ठूरामजीको कोडरमा भेजा, जिसमें संक्षेपमें बीमारीकी हालत लिख दी थी। ये दोनों कार्य रात्रिके ११ बजे किये गये। हमलोग रोगीके पास प्रभुका स्मरण करते हुए बैठे थे। जब मुँह खुलता तो दो-चार बूँद ओषधि दे देते। श्वासकी प्रगति केवल चालू थी। मिनट-मिनट करके तीन बजे और सामने फाटकपर कार आकर रुकी। सिविल सर्जन साहेब, जो उसी प्रान्तके नायडु जातिके थे एक छोटी एटैचीके साथ बड़ा बक्सा भी दवाका साथ लेते आये थे, पधारे। उन्होंने रोगीकी परीक्षा की और वे कुछ चिन्तित होकर कुर्सीपर बैठे। असिस्टेन्ट सर्जनसे, जो पहलेसे ही वहाँ मौजूद थे, सारी बातें मालूम करनेपर शीघ्रतासे एक इंजेक्शन लगाया एवं एक हाथमें घड़ीकी सेकिंडकी सूईको देखते हुए दूसरे हाथसे स्थेथिस-कोपकी नली रोगीके छातीपर रखकर प्रायः तीन-चार मिनटतक अनुभव प्राप्त करते रहे। पाँच मिनटके बाद डाक्टरोंके चेहरेपर आशाकी रेखाएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगीं और वे बोले (Now he is out of danger)—'अब ये खतरेसे खाली हैं।' यानी अब चिन्ताकी कोई बात नहीं है। इसके उपरान्त और भी एक इंजेक्शन लगाकर बादकी दवाका विवरण असिस्टेन्ट सर्जनको देकर वे प्रायः ५ बजे प्रातःकाल वापस लौट गये।

अब जरा कोडरमाकी बात पढ़िये। हमने जो तार रातके ११ बजे गुडुरसे भेजा, वह तार झुमरीतिलैया पोस्ट आफिससे श्रीछट्ठूरामजीको एक बजे रात्रिमें मिल गया—और अपने प्रिय पुत्रके स्वास्थ्यकी हालत जानकर वे उसी क्षण कुछ आवश्यक सामान लेकर एक नौकरके साथ रात्रिमें ही २-२॥ बजेवाली ट्रेनसे गुडुरके लिये रवाना हो गये। अगले दिन जब रोगी रोगमुक्तिकी ओर बढ़ रहा था; परंतु कमजोरी वैसी ही बनी हुई थी, स्वयं करवट लेना बहुत कठिन था, पथ्य तो दो दिन तक कुछ दिया ही नहीं था। केवल डिस्टील्ड वाटरमें कुछ ग्लुकोज दिया जाता था। वही एकमात्र आधार था। दिनके करीब ११ बजे हमें तारद्वारा सूचना मिली कि 'छट्ठूराम बाबू गुडुरके लिये प्रस्थान कर चुके हैं और मैं रोगीकी हालत दिनमें दो बार तारद्वारा सूचित करता रहूँ।'

दो दिन बाद श्रीछट्ठूरामजी गुडुर पहुँचे और अपने पुत्रको रोगसे छुटकारा पाते देखकर उन्हें जो प्रसन्नता हुई, वह वर्णनातीत है। मैं भी ईश्वरकी अनुकम्पाका अनुभव करके बड़ा ही हर्षित था कि ईश्वरने मुझे जन्म-जन्मके लिये कलङ्कसे बचा लिया। आज भी जब वह घटना याद आती है तो भगवान्‌के प्रति श्रद्धासे मेरा हृदय भर जाता और मस्तक झुक जाता है तथा आँखोंसे प्रेमाश्रु ढुलक पड़ते हैं।

अन्तमें, मैं इतना ही अनुभव प्राप्त कर चुका हूँ कि पूर्ण श्रद्धा एवं सच्चे मनसे की हुई उपासना—परिचर्या, आराधना, पूजा, प्रार्थना अथवा अर्चना कभी भी निष्फल नहीं जाती, वरं इसका प्रत्यक्ष फल अवश्य प्राप्त होता है—इसमें किञ्चिन्मात्र भी संदेह नहीं है।

जातें लाग न छुधा पिपासा । अतुलित बल तन तेज प्रकासा ॥

(लेखक एवं प्रेषक—श्रीसदाशिवजी जोशी)

गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें कहा है कि महर्षि विश्वामित्र जब भगवान् श्रीराम और लक्ष्मणको अपने यज्ञकी रक्षाके निमित्त अयोध्यासे वनमें लिवा ले गये तो वहाँ आश्रममें ताड़का-वधके उपरान्त महर्षिने भगवान्‌को अनेक प्रकारकी विद्याएँ प्रदान कीं, जो पहले उन्होंने अपने तपोबलसे अर्जित की थीं। ये सब विद्याएँ मन्त्ररूप थीं और अधिकतर उनका प्रयोग विविध अस्त्रोंके चलानेमें किया जाता था। इनमेंसे एक विद्या वह थी, जिसके अभ्याससे साधकको भूख और प्यासकी निवृत्ति होकर महान् बलकी प्राप्ति होती है। इस विद्या या मन्त्रको बला-अतिबला-मन्त्रके नामसे कहते हैं। इस मन्त्रका प्रभाव बताते हुए महर्षि विश्वामित्रने भगवान् श्रीरामसे इस प्रकार निवेदन किया।

'वत्स राम ! बला-अतिबला नामसे प्रसिद्ध इस मन्त्र-समुदायको ग्रहण करो। इसके प्रभावसे तुम्हें कभी श्रमका अनुभव नहीं होगा, ज्वर इत्यादि नहीं होगा और तुम्हारे रूपमें किसी प्रकारका विकार या उलट-फेर नहीं होने पायेगा।

'सोते समय अथवा असावधानीकी अवस्थामें भी राक्षस तुम्हारे ऊपर आक्रमण नहीं कर सकेंगे। इस भूतलपर बाहुबलमें तुम्हारी समता करनेवाला कोई न होगा।

'नरश्रेष्ठ राम ! बला-अतिबलाके अभ्याससे तुम्हें भूख-प्यासका भी कष्ट नहीं होगा। अतः रघुकुलको आनन्दित करनेवाले राम ! तुम सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षाके लिये इन दोनों विद्याओंको ग्रहण करो।

'इन दोनों विद्याओंके अध्ययन कर लेनेपर इस भूतलपर तुम्हारे यशका विस्तार होगा। ये दोनों विद्याएँ ब्रह्माजीकी तेजस्विनी पुत्रियाँ हैं। ककुत्स्थनन्दन ! मैंने इन दोनोंको तुम्हें देनेका विचार किया है। राजकुमार ! तुम्हीं इनके योग्य पात्र हो। मैंने तपोबलसे इनका अर्जन किया है; अतः मेरी तपस्यासे परिपूर्ण होकर ये तुम्हारे लिये बहुरूपिणी होंगी—अनेक प्रकारके फल प्रदान करेंगी।'

तदनन्तर श्रीराम आचमन करके पवित्र हो गये, उनका मुखकमल प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने महर्षिसे वे दोनों विद्याएँ ग्रहण कीं। विद्यासे सम्पन्न होकर पराक्रमी श्रीराम सहस्रों किरणोंसे युक्त शरत्कालीन भगवान् सूर्यके समान शोभा पाने लगे। (वा० रा० बालकाण्ड सर्ग २२)

सौभाग्यसे उपर्युक्त मन्त्र हमें अभी भी 'सावित्री-उपनिषद्'में उपलब्ध है। इस मन्त्रके ऋषि विराट् पुरुष हैं। छन्द गायत्री और देवता भी गायत्री हैं। अकार बीज है, उकार शक्ति है और मकार कीलक है। क्षुधा आदिके निवारणके लिये इसका विनियोग है*। इसका ध्यान इस प्रकार है—

अमृतकरतलाऽऽर्द्रौ सर्वसंजीवनाढ्य
अघहरणसुदक्षौ वेदसारे मयूखेः।
प्रणवमयविकारौ भास्कराऽऽकारदेहौ
सततमनुभवेऽहं तौ बलाऽतिबलान्तौ ॥†

मूल मन्त्र‡ गुरुद्वारा ही दीक्षारूपमें दिये जानेका विधान है; अतः उसे यहाँ प्रकाशित करना उचित नहीं जान पड़ता।

* विनियोगके पश्चात् 'क्लींके द्वारा षडङ्ग-न्यास इस प्रकार करे—'ॐ क्लीं हृदयाय नमः, ॐ क्लीं शिरसे स्वाहा, ॐ क्लीं शिखायै वषट्, ॐ क्लीं कवचाय हुम्, ॐ क्लीं नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ क्लीं अस्त्राय फट्।'

† ध्यानका अर्थ है—जिनके करतल अमृतसे आर्द्र हो रहे हैं, जो सब प्रकारकी संजीवनी शक्तियोंसे सम्पन्न हैं, पापोंका नाश करनेमें सुदक्ष हैं तथा वेदोंके साररूप किरणात्मक प्रणवरूप विकारवाले एवं सूर्यनारायणके सदृश सुदीप्त शरीरवाले हैं—उन बला और अतिबला विद्याओंके अधिष्ठातृ-देवताओंको मैं निरन्तर अनुभव करता हूँ।'

‡ बला-अतिबला विद्याओंके अधिष्ठातृ देवताके मन्त्र है—

"ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले क्लीं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वरदात्मिके ह्रीं वरेण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्वक्षुद्भ्रमोपनाशिनि धीमहि धियो यो नो जाते प्रचुर्यः या प्रचोदयादात्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहा।"

लेखक महोदयके कथनानुसार मन्त्रका प्रयोग सुयोग्य गुरुके द्वारा दीक्षारूपमें मन्त्र प्राप्त करनेके अनन्तर ही करना चाहिये। केवल यहाँ पढ़कर नहीं।

—सम्पादक

अच्युत, अनन्त और गोविन्द-नामकी महिमाका वर्णन

(१)

भगवान् धन्वन्तरिजीके वचन हैं—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन नामोंके उच्चारणरूप औषधसे सब रोग नष्ट हो जाते हैं। यह मैं सत्य-सत्य कह रहा हूँ।'

(२)

श्रीमहादेवजीने पार्वतीजीके अनुनयपर उन्हें भगवान्के मत्स्य-कूर्मादि अवतारोंका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सुनाया। इसी प्रसङ्गमें उन्होंने पार्वतीको समुद्रमन्थनकी कथा सुनाते हुए भगवान् विष्णुकी नाममहिमाका प्रकाशन इस प्रकार किया—"शुक्ल एकादशी तिथिको समुद्रका मन्थन आरम्भ हुआ। उस समय लक्ष्मीके प्रादुर्भावकी अभिलाषा रखते हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणों और मुनिवरोंने भगवान् लक्ष्मीनारायणका ध्यान और पूजन किया। उस मुहूर्तमें सबसे पहले कालकूट नामक महाभयंकर विष प्रकट हुआ, जो बहुत बड़े पिण्डके रूपमें था। वह प्रलयकालीन अग्निके समान अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था। उसे देखते ही सम्पूर्ण देवता और दानव भयसे पीडित हो भागने लगे। यह देख मैंने उन सबको रोककर कहा—'देवताओ! इस विषसे भय न करो। इस कालकूट नामक महान् विषको मैं अभी अपना आहार बना लूँगा।' मेरी बात सुनकर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता मेरे चरणोंमें पड़ गये और साधु-साधु कहकर मेरी स्तुति करने लगे। उधर मेघके समान काले रंगवाले उस महाभयानक विषको प्रकट हुआ देख, मैंने एकाग्रचित्तसे अपने हृदयमें सर्वदुःखहारी भगवान् नारायणका ध्यान किया और उनके तीन नामरूपी महामन्त्रका भक्तिपूर्वक जप करते हुए उस भयंकर विषको पी लिया। सर्वव्यापी श्रीविष्णुके तीन नामोंके प्रभावसे उस लोकसंहारक विषको मैंने अनायास ही पचा लिया।" उन्होंने आगे कहा—

अच्युतानन्तगोविन्द इति नामत्रयं हरेः।
यो जपेत्प्रयतो भक्त्या प्रणवाद्यं नमोऽन्तकम् ॥
तस्य मृत्युभयं नास्ति विषरोगाग्निजं महत्।
नामत्रयमहामन्त्रं जपेद् यः प्रयतात्मवान् ॥
कालमृत्युभयं चापि तस्य नास्ति किमन्यतः ॥

(पद्मपुराण, उत्तर० २३२। १९-२१, कलकत्ता मोर-संस्करण)

'अच्युत, अनन्त और गोविन्द—ये हरिके तीन नाम हैं। जो एकाग्रचित्त हो इनके आदिमें 'प्रणव' और अन्तमें 'नमः' ('ॐ अच्युताय नमः' 'ॐ अनन्ताय नमः' 'ॐ गोविन्दाय नमः' इस रूपमें) भक्तिपूर्वक जप करता है, उसे विष, रोग और अग्निसे होनेवाली मृत्युका भय नहीं प्राप्त होता। जो इस तीन नामरूपी महामन्त्रका एकाग्रतापूर्वक जप करता है, उसे काल और मृत्युसे भी भय नहीं होता; फिर दूसरोंसे भय होनेकी बात ही क्या है।'

'हरिः शरणम्'—मन्त्रका चमत्कार

देवर्षि नारदजीने सनकादि मुनियोंसे कहा—'आप देखनेमें पाँच-पाँच वर्षके बालक-से जान पड़ते हैं, किंतु हैं पूर्वजोंके भी पूर्वज। आपलोग सदा वैकुण्ठधाममें निवास करते हैं, निरन्तर हरिकीर्तनमें तत्पर और भगवान्के लीलामृतका रसास्वादन करते हुए सदा उसीमें उन्मत्त रहते हैं एवं एकमात्र श्रीहरिकी कथा ही आपके जीवनका आधार है। आपके मुखमें सदा-सर्वदा 'हरिः शरणम्' वाक्य (मन्त्र) रहता है, इसीसे कालप्रेरित वृद्धावस्था (कोई भी आधि-व्याधि, शारीरिक-मानसिक पीड़ा) आपको कभी बाधा नहीं पहुँचाती—

हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः। अतः कालसमादिष्टा जरा युष्मान्न बाधते ॥

(भागवतमाहात्म्य २। ४८)

उपासनाकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीरामचन्द्रजी उपाध्याय 'आर्यपथिक')

'उपासना' शब्द उप-उपसर्गपूर्वक आस उपवेशने धातुसे बना है; जिसका अर्थ है—पास होना, पास बैठना, अत्यन्त समीपता होना। प्राणी-जगत्पर दृष्टिपात करनेसे यह ज्ञात होता है कि चींटीसे लेकर हस्तिपर्यन्त छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े जीवधारीमें उपासनाकी प्रवृत्ति पायी जाती है। जब हम किसी भी प्राणीको कष्टमें देखते हैं, तब वह उससे छुटकारा पानेके हेतु अपनेसे बड़े और शक्तिशालीकी सहायता लेनेके लिये उसकी शरणमें जानेको उत्सुक और उद्यत होता है। हिंदी साहित्यमें रीतिकालीन प्रसिद्ध कवि श्रीबिहारीलाल-जीने इसका कितना उत्तम दिग्दर्शन कराया है। ग्रीष्म-ऋतुसे सताये हुए सर्प, मोर, मृग और सिंह स्वभावसे एक दूसरेके वैरी हैं, परंतु उष्णकालमें उसे भुलाकर वे एक हो गये हैं और उन्होंने संसारको तपोवन बना दिया है—

कहलाने एकत बसत अहि, मयूर, मृग, बाघ।
जगत तपोवन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ॥

अर्थात् सर्प भक्ष्य है मयूरका, जो ग्रीष्मतापसे सताया हुआ मोरके पंखोंके नीचे, जो अत्यन्त गरमीसे ठंड लेनेको पंख फैलाये हैं, आकर बैठ गया है। मृग भक्ष्य है सिंहका, सिंह गरमीसे सताया व्याकुल दशामें अपनी माँदमें पड़ा है, हिरन गरमीसे घबराकर कहीं शान्तिका स्थान न पाकर सिंहकी माँदमें शरण ले रहा है और भक्ष्य-भक्षक दोनों कैसे आरामसे रह रहे हैं। बिहारीकी यह उक्ति उपासनाका बड़ा सुन्दर प्राकृतिक उदाहरण उपस्थित करती है। इस प्रकार हम प्रतिदिनके व्यवहारमें देखते हैं कि कोई भी जीव, जो गरमीसे सताया हुआ है, शीतल वृक्षकी छायामें आश्रय ग्रहण करता है अथवा जलाशयके निकट पहुँचता है। इसी तरह शीतसे सताया प्राणी सूर्यताप अथवा अग्निका आश्रय ग्रहणकर शान्ति पाता है। यह स्वाभाविक प्रवृत्ति, न केवल मनुष्योंमें ही पायी जाती है, वरं जीवमात्रमें वर्तमान है।

आर्यसंस्कृतिके तपःपूत महर्षि गौतम अपने न्यायशास्त्रमें जीवका लक्षण ही इस प्रकारका करते हैं—

'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्।'

(अ० १ सूत्र १०)

जिसमें इच्छा, राग, प्रेम, द्वेष, वैर, प्रयत्न (पुरुषार्थ) सुख, दुःख, ज्ञान (जानना) गुण हों, वह आत्मा (जीव) की पहचान है अर्थात् उसे जीवात्मा या प्राणी कहते हैं।

पाठक ! विचार करें, उपर्युक्त छः गुण जिनमें मिलते हैं वे सब जीवात्मा हैं और उन्हें दुःखोंसे छूटने तथा सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, जिसके लिये प्रयत्न आवश्यक है और अपनेसे उच्च पदार्थ, व्यक्तिके सांनिध्यकी अत्यन्त ही आवश्यकता है।

यदि कोई मनुष्य सर्दीसे बचनेके लिये अग्निकी, जिसका गुण शीत-निवारण है, उपासना न करेगा तो उसके शीत-दुःखका निवारण कदापि न होगा। इसी प्रकार सर्वत्र प्राणी-जगत्में छः गुणोंकी व्यापकताको देखते हुए उपासनाकी आवश्यकता सहजमें ही प्रतीत हो जाती है।

उपासनाके भेद

वैदिक आचार्योंने उपासनाके दो भेद दिखलाये हैं—१–निर्गुण उपासना, २–सगुण उपासना।

आध्यात्मिक जगत्में उपासनाका लक्षण

आध्यात्मिक जगत्में ईश्वरके ही आनन्दस्वरूपमें अपनी आत्माको सदैव मग्न करते रहना 'उपासना' है।

१—निर्गुण उपासना

उस आनन्दमय सत्यस्वरूप भगवान्को शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग, हल्का, भारी, अविद्या, मोह, जन्म-मरण और दुःखादिसे रहित जानकर जो उन प्रभुके ध्यानमें निमग्न होना है—वह 'निर्गुण उपासना' है।

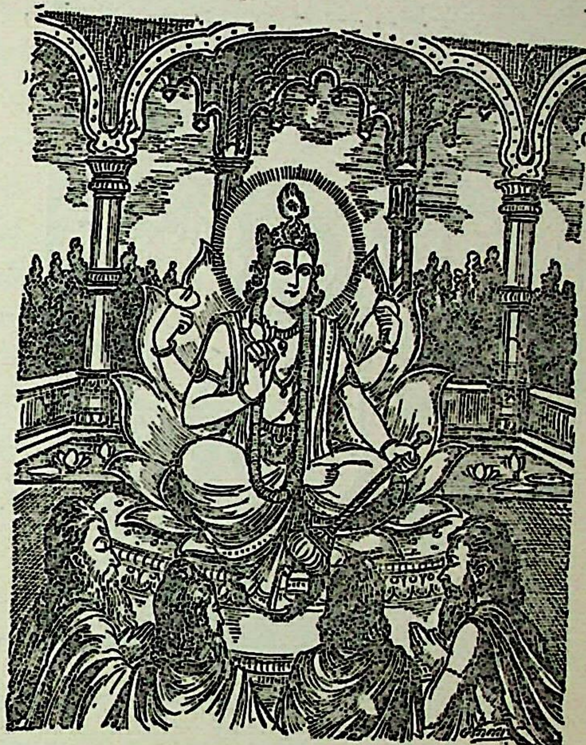
२—सगुणोपासना

भक्तके द्वारा जब अपने प्रभु इष्टदेवको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनन्दमय, सर्वव्यापक, एक, सर्वकर्ता, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, मङ्गलमय, सर्वानन्दप्रद, सब जगत्का रचनेवाला आदि गुणोंसे युक्त जानकर उपासना की जाती है, तब वह 'सगुणोपासना' कहलाती है।

भारतीय संतपरम्परामें दोनों ही प्रकारकी उपासना करनेवाले महापुरुष सदासे होते रहे हैं, हो रहे हैं तथा भविष्यमें भी होते रहेंगे।



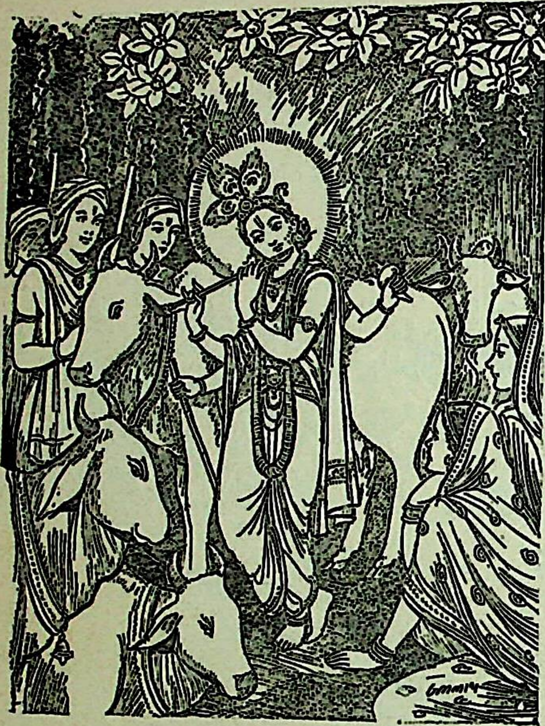
शिशुलीलामें श्रीकृष्ण [पृष्ठ ३३५



श्रीकृष्णका सायंकालीन ध्यान [पृष्ठ ३३६



गौओं और गोपबालकोंसे घिरे वृन्दावनचन्द्र [पृष्ठ ३३४



गौ-गोप-गोपियोंमें मुरली-मनोहर [पृष्ठ ३३६



चतुर्भुज पीताम्बरधारी मुरारी [पृष्ठ ३३८

द्वारकापुरीमें भगवान् श्रीकृष्णका अभिषेक [पृष्ठ ३३९

भारतीय वर्णाश्रम-परम्परामें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि सभी वर्णों और सभी आश्रमोंमेंसे स्त्री-पुरुष बहुत बड़ी संख्यामें दोनों प्रकारकी उपासना करनेवाले उत्पन्न होते रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदास, भक्त सूरदास, भक्तिमती मीराँबाई, महात्मा कबीर, सदना कसाई, नामदेव दर्जी, भक्त-रविदास चर्मकार, ताज मुग़लानी (मुस्लिम-महिला), भक्त रसखान (मुसल्मान) इत्यादि अनेकों संत-महात्माओंसे भारतीय भक्ति-साहित्य भरा हुआ है। पाठकगण यथास्थान इनके चरित्रका विस्तार देख सकते हैं।

उपासनासे क्या लाभ होता है ?

अब प्रश्न यह है कि उपासनासे क्या लाभ है ? इसके उत्तरमें हम इतना ही संकेत करते हैं कि जिस प्रकार शीतसे सताया व्यक्ति अग्निकी उपासनासे शीतके कष्टसे मुक्त होकर अपनेको सुखी अनुभव करता है, इसी प्रकार संसारमें हम देखते हैं—रोगी वैद्यकी उपासनासे रोगमुक्त हो जाता है, मूर्ख व्यक्ति विद्वानोंके संसर्गसे विद्वान् हो जाता है एवं निर्धन धनवानोंके समीपमें आनेसे धनी होते देखे जाते हैं। तब फिर उस परम पावन प्रभुकी उपासना करनेसे जीवमें जो वास्तवमें प्रभुका अमृतमय पुत्र है, उस पिताके गुण क्यों न आयेंगे ? हम रात-दिन देखते हैं, बच्चोंमें माता-पिताके गुण आते हैं और शिष्योंमें गुरुओंके गुण आते हैं; फिर परम पिता परमेश्वरके सम्पर्कमें आकर हमारे अंदर भी उनके उपर्युक्त गुण, जो निर्गुण-सगुणोपासनामें दिये हैं, क्यों न आयेंगे ? अवश्य ही आयेंगे। यह निर्विवाद है। अस्तु, संक्षेपमें निष्कर्ष यह निकला कि उपासकमें उपास्यके गुण आकर उसे तत्सम बना देते हैं। इस हेतु उपासना अनिवार्य और आवश्यक है।

उपासनाके प्रकार

अपने प्यारे प्रभुकी उपासनाके अनेक प्रकार हो सकते हैं। यथा—योगदर्शनके अनुसार योगके आठ अङ्गोंसे सिद्धि मिलती है। महापुरुषप्रवर महात्मा श्रीचैतन्यने 'प्रभु-गुण-कीर्तन'में आनन्द प्राप्त किया। गोस्वामी तुलसीदासजीने समस्त संसारके प्राणियोंको 'सीय राम मय सब जग जानी' जानकर प्रभु-साक्षात्कार किया। व्याध वाल्मीकि भगवान्का उलटा नाम जपकर शान्ति पा गये। भक्त प्रह्लादने अग्निकी लपटोंमें भगवान्को पाया। यज्ञ, वेदपाठ, दान आदि श्रौत और स्मार्त, जो भी कर्म निःस्वार्थ लोककल्याणकी भावनासे प्रभु-प्रीत्यर्थ किये जाते हैं, सब उपासनाके ही अङ्ग हैं और उनसे उपासकको आत्मशान्ति प्राप्त होती है।

केनोपनिषद् (५) में कहा है कि—

ॐ इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें परमात्माको जान लिया तब तो बहुत कुशल है; यदि इस शरीरके रहते-रहते उसे नहीं जाना तो महान् विनाश—हानि है। अतः बुद्धिमान् पुरुष प्राणी-प्राणीमें उस परब्रह्म पुरुषोत्तमको समझकर इस लोकसे प्रयाण करके अमर (परमात्माको प्राप्त) हो जाते हैं।'

अतः प्रत्येक वर्ण-आश्रममें रहनेवाले व्यक्तिका यह परम धर्म और एकमात्र कर्तव्य है कि वह भगवद्भक्ति, प्रभु-उपासनामें सर्वदा तल्लीन रहे। संसारमें आजतक देखा गया है कि प्रभुभक्त ही राष्ट्र, जाति, धर्म और संस्कृतियोंके उद्धारक रहे हैं। उपासनासे निराशा, निःशक्तता दूर होती है। आत्मामें बल, द्वन्द्व-सहन-शक्ति, निर्भयता आदि सद्गुणोंका विकास होता है और मानव व्यक्तिगतरूपसे महान् होता है। अतः उपासनाकी सर्वकालमें और अब तो विशेषरूपसे अत्यन्त आवश्यकता है।

सर्वोपरि कर्तव्य—धर्म

एक 'उपास्य' देव ही करते लीला विविध अनन्त प्रकार।
पूजे जाते वे विभिन्न रूपोंमें निज-निज रुचि अनुसार॥
सर्वोपरि कर्तव्य—धर्म है यही एक, जीवनका सार।
करें स्वकर्मोंसे उपासना उनकी ही रख शुद्ध विचार॥

न्यास-तत्त्व*

'नि' पूर्वक 'अस्' धातुसे 'न्यास' शब्द साधित होता है। 'अस् क्षेपणे स्थापने च'—अस् धातुका अर्थ है क्षेपण करना एवं स्थापन करना। जिसका जो स्थान नहीं है, यदि वह बलपूर्वक वहाँ बैठ जाय तो उसको उस स्थानसे हटाकर वहाँके प्रकृत मालिकको बैठा देनेका नाम है 'न्यास-क्रिया'। स्वर्ग इन्द्रका राज्य है, महिषासुर बलपूर्वक वहाँ प्रवेश करके स्वर्गका राजा बनकर बैठ गया है—'स्वर्गान्निराकृता देवा इन्द्रोऽभून्महिषासुरः'। इसी प्रकार हमारी यह देह, देहके विचित्र यन्त्र तथा विभिन्न तत्त्व हमने सृष्ट नहीं किये, इनके ऊपर हमारा कोई कर्तृत्व नहीं है; मृत्युके समय हम इनको अपने साथ नहीं ले जा सकते। चरम-निर्वाणके समय यह हमारे संग नहीं जायँगे। इसलिये इनके मालिक हम नहीं हैं, श्रीभगवान् हैं। उन्होंने दया करके इन देह, आत्मीय-स्वजन, धन-दौलत एवं अन्य सुखके सब उपकरणोंके केवल भोग करनेका कुछ अधिकारमात्र हमको दिया है। अपनी देहको, बालबच्चोंको, धन-ऐश्वर्यको 'मेरा' कहना सम्पूर्णतः भूल है। ये कोई भी न मेरे साथ आये थे, न मेरे साथ जायँगे। ये सब भगवान्के हैं। हमने इनको 'अपना' कहकर नाना उपसर्गोंकी सृष्टि कर दी है। इन सब पदार्थोंमेंसे आगन्तुक अनर्थकारी 'मेरा' भाव दूरकर 'ये सब भगवान्के हैं' यह तत्त्व अनुभव करना ही अङ्गन्यास-क्रियाका उद्देश्य है। अङ्गन्यास-क्रियाके मन्त्रोंके भीतर अपने विभिन्न अङ्गोंमें, विभिन्न तत्त्वोंमें, विभिन्न देवताओंका, विभिन्न भगवत्-शक्तियोंका चिन्तन करनेकी व्यवस्था है। इसका उद्देश्य है—इस तथ्यको उपलब्ध करना कि 'ये सब अङ्ग, ये सब तत्त्व, श्रीभगवान्के हैं—मेरे नहीं।'

अङ्गन्यास—'अङ्ग'का अर्थ है देह। 'अङ्गन्यास'का अर्थ है देहके विविध तत्त्वोंका न्यास, इनके ऊपर वृथा स्वाभिमानका त्याग करना। ये सब मेरे नहीं हैं, ये हमारे प्रियतम भगवान्के हैं, इसलिये ये मेरे आदरके योग्य हैं। इनको प्रेमपूर्वक अच्छी तरह रखना होगा; किंतु समझना होगा कि 'ये मेरे नहीं हैं।' अङ्गन्यास-क्रियाद्वारा हम अनासक्त अनुरागी होनेकी शिक्षा-लाभ करते हैं।

करन्यास—हमारी यह देह सर्वप्रथम एक परमाणुके समान सूक्ष्म थी। किसकी शक्तिसे और किस प्रकार यह एक पुष्ट परिणत सर्वकार्यक्षम यन्त्रमें परिणत हुई, यह सम्पूर्णतः किसी भी दार्शनिक अथवा वैज्ञानिकके अनुभवमें नहीं आता। इस देहके विभिन्न अवयव, शिरा, स्नायु, इन्द्रियादि एवं इनकी कार्यप्रणाली हृदयंगम करनेमें श्रेष्ठ वैज्ञानिकतक स्तम्भित और पराभूत हो गये हैं। किस प्रकार भुक्त अन्न रक्तमें परिणत होता है, किस प्रकार विविध यन्त्रोंका कार्य साधित होता है—इस विषयमें हमें कोई कर्तृत्व अथवा ज्ञान नहीं। हमारे संस्कार कहाँसे उत्पन्न होते हैं, कहाँ ले जा रहे हैं, कैसे हमको चला रहे हैं—यह तत्त्व तो प्रायः हम कुछ भी नहीं जानते। नदीमें बहता हुआ फूल यदि कहे कि मैं इस स्रोतका चालक हूँ, हाथमें कलम यदि कहे कि मैं हाथसे लिखवाता हूँ, अथवा विद्युत्के सम्बन्धका वर्जन करके पंखा यदि कहे कि मैं हवा देता हूँ या बल्ब कहे कि मैं प्रकाश देता हूँ, तो यह जिस प्रकार हास्यकर होगा, हमारे सब कार्योंमें हमारा वृथा कर्तृत्वाभिमान देखकर भी शायद कोई इसी प्रकार हँसता है। इस प्रसङ्गमें केनोपनिषद्की देवताओंका दर्प चूर्ण करनेकी कहानी आस्वादनीय है। इसलिये तत्त्वदर्शी ज्ञानी कहते हैं कि 'कार्य हम नहीं करते, ये हमारे द्वारा कारित होते हैं, हम कर्त्ता नहीं हैं, हम यन्त्रमात्र हैं।' इसी कारण गीतामें अर्जुनको केवल निमित्तमात्र होनेका उपदेश किया गया है—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' (गीता ११। ३३)। इस वृथा कर्तृत्वाभिमानरूप महिषासुरका वध करके अहंकारके हाथसे कर्तृत्वबुद्धिको छीनकर प्रकृत कर्त्ताको अर्पण करना ही न्यासक्रियाका उद्देश्य है। करने न करनेका कर्त्ता मैं नहीं हूँ, कर्त्ता हैं श्रीभगवान्—भगवत्-शक्ति। इस

* एक महात्मा स्वामीजी हैं। ये महापुरुष अपना नाम प्रचार नहीं करना चाहते, इन्होंने बँगलामें कई बड़े उपयोगी आध्यात्मिक ग्रन्थ लिखे हैं। उनमेंसे कुछ ग्रन्थोंका हिंदी-रूपान्तर भी प्रकाशित हुआ है। उन्हींमें 'पूजातत्त्व' नामक एक ग्रन्थ है। इसकी भूमिका वाराणसीके प्रसिद्ध विद्वान् श्रद्धेय म. म. डॉ० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी० लिट्० महोदयने लिखी है और उन्होंने ही इसे प्रकाशित भी किया है। पुस्तकका प्राप्तिस्थान है—श्रीओंकारनाथजी मुद्गू, ५२। ४६ लक्ष्मीकुण्ड, वाराणसी। यह 'न्यास-तत्त्व' लेख उसी पुस्तकसे लिया गया है। इनकी 'यज्ञतत्त्व' आदि सभी पुस्तकें बहुत उपयोगी हैं। —सम्पादक

प्रकारकी अनुभूतिके साथ निरहंकार-भाव स्वतः ही आ जाता है। अङ्गन्यास, करन्यासद्वारा हम निर्मम-निरहंकारभाव लाभ करते हैं। दुःखका विषय है कि आजकल ये सब क्रियाएँ प्रायः एक नीरस मन्त्रोच्चारण और बाह्य हस्तक्रिया-मात्रमें पर्यवसित हो गयी हैं।

मातृकान्यास—'मातृ' शब्दके सहित अल्पार्थवाचक 'क' प्रत्यय युक्त करनेसे स्त्रीलिङ्ग 'मातृका' शब्द बनता है। मातृकाका अर्थ है 'खण्ड-खण्ड माँ' अर्थात् शक्ति। हमारी इस खण्डदेहमें वर्णोच्चारणादि क्रियाकलापका कर्तृत्व इन्हीं मातृकाओंके हाथमें न्यस्त है। ये मातृका ही हमारी खण्डदेहमें स्थित हुई—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीका स्तर-भेद करके—हमारे द्वारा उच्चारित शब्दोंकी प्रकृत स्वामिनी हैं। इनके कथनको अपना कथन समझकर हम अपने संस्कारद्वारा, अपने विकृत भावद्वारा, शब्दब्रह्म-तत्त्वको विकृत कर देते हैं। मातृकान्यासके फलस्वरूप हम अपनी इस देहाविच्छिन्न खण्डीकृत माँको जगद्व्यापिनी माँमें मिलाकर अखण्ड मातृशक्तिका, अखण्ड शब्दब्रह्म-तत्त्वका स्वरूप-आस्वादन करनेकी योग्यता लाभ करते हैं। तब माँ हमारे मुखसे अपने शब्द-तत्त्वका अबाधित प्रकाश साधितकर हमारे उच्चारित शब्दोंको शब्दब्रह्म-रूप वेदमें परिणत करनेका सुयोग लाभ करती हैं। इस अवस्थामें साधक समझता है कि माँ ही मानो मेरे मुखसे वेद-उच्चारण कर रही हैं, माँ शब्द-ब्रह्मतत्त्व प्रकाश कर रही हैं। माँको शब्दब्रह्म-रूपमें अपने भीतरसे अबाधित रूपमें, वेदरूपमें आत्मप्रकाश करनेकी योग्यता दान करनेका नाम ही है—मातृकान्यास। ऋषिगण मातृकान्यासके फलस्वरूप भगवान्‌में आत्मसमर्पण करके अपने अवधारित कथनद्वारा वेदकी महिमा प्रचार करते थे और अपनेको वेदमन्त्रके द्रष्टा एवं उच्चारणकर्ता कहकर परिचय देते थे। इसीलिये ऋषि-वाक्य अभ्रान्त सत्य माना जाता था।

ऋष्यादिन्यास—मातृकान्यासकी अनुभूति लाभ करनेके लिये ही हमारी प्रचलित सरस्वती-पूजा है। ऋष्यादिन्यासके फलस्वरूप हम वेदके मन्त्रकर्ता ऋषियोंके भावसे परिभावित होकर, ऋषियोंकी संगतिमें चालित होकर, अपने उच्चारित वाक्योंको ऋषिवाक्य अथवा वेदवाक्यरूपमें अनुभव करनेका सुयोग पाते हैं। तब हमारी देह, हमारी वागिन्द्रिय ऋषियोंके—परमात्मा भगवान्‌के—यन्त्ररूपमें परिगणित होनेकी योग्यता लाभ करती है।

व्यापकन्यास—सर्वभूतमें सर्वव्यापी भगवत्सत्ताकी, भगवत्-कार्यप्रणालीकी एवं भगवत्-आनन्दकी उपलब्धि लाभ करना ही व्यापकन्यासका उद्देश्य है। जीव-जगत् श्रीभगवान्‌की मूर्त्ति—भगवद्विकास है। इस मूर्त्तिके भीतर उनके अस्तित्व और उनकी लीलाका दर्शन करना एवं उनमें सत्यप्रतिष्ठा, प्राणप्रतिष्ठा और आनन्दप्रतिष्ठाका अधिकार लाभ करना ही व्यापकन्यासक्रियाकी स्वाभाविक परिणति है।

अनन्त विश्वके अधिष्ठाता हमारे एकमात्र प्रियतम सुहृद्, अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यके आधार श्रीभगवान् हमारी देहके सब यन्त्रोंका निर्माण करके हमारे हृदयमें अधिष्ठित हुए इनको परिचालित कर रहे हैं। हमारी वृथा आसक्ति और कर्तृत्वाभिमान इस परम तत्त्वका अनुभव करनेमें बाधा देते हैं। साधनाके प्रभावसे हम अपने देहादिमें वृथा स्वामिमान और कर्तृत्वाभिमानको दूर कर सकनेसे ही भगवान्‌का कर्तृत्व उपलब्ध करनेकी योग्यता लाभ करेंगे। यही वृथा ममत्वाभिमान और अहंकार दूरकर अपने भीतर स्थित अन्तर्यामीका कार्यकलाप उपलब्ध करना ही न्यास-तत्त्वका एकान्त प्रयोजन है। न्यासतत्त्वकी साधनाके फल-स्वरूप हमारे भीतरसे निर्मम-निरहंकारभाव उदित होकर हमको सत्यप्रतिष्ठ और प्राणप्रतिष्ठ करता है।

सब न्यासोंका एक ही उद्देश्य है। श्रीभगवान् किस प्रकार अनन्त रूप धारणकर अनन्त लीलारस विस्तार किये हुए हैं—यह अनुभूति लाभ कर, सर्वत्र उनका दर्शन कर, उनके ध्यान और सेवाकी योग्यता लाभ करना ही न्यासक्रियाका स्वाभाविक फल है।

न्यास प्रधानतः त्रिविध है

१—अङ्गन्यासद्वारा यह तत्त्व उपलब्ध होता है कि मेरे, मेरे आत्मीयजनोंके एवं मेरे जगत्‌के सब अवयव अथवा तत्त्व मेरे नहीं हैं, ये श्रीभगवान्‌के हैं। इसके फलस्वरूप साधक सम्पूर्णतः आसक्तिवर्जित होकर निर्मम-भाव लाभ करता है।

२—करन्यासद्वारा साधक उपलब्ध करता है कि वह किसी कर्मका कर्ता नहीं है, सब कर्म प्रकृतिद्वारा कारित हो रहे हैं। यह तत्त्व उपलब्ध करके साधक निरहंकारभाव लाभ करता है। इन दोनों न्यासोंके परिणामस्वरूप 'मेरा अपना' कहकर कुछ नहीं रह जाता और 'मैं किसी कर्मका कर्ता नहीं हूँ'—यह तत्त्व उपलब्ध होता है।

३—व्यापकन्यासद्वारा सर्वत्र ब्रह्मानुभूतिकी योग्यता प्राप्त होती है। व्यापकन्यास यथार्थरूपसे सम्पन्न हो जानेपर साधक जगत्‌के समस्त पदार्थोंमें भगवान्‌का अपूर्व प्रकाश अनुभव कर आनन्द लाभ करता है। सौन्दर्य-माधुर्यादि चित्ताकर्षक धर्म तब खण्डरूपसे स्थानविशेषमें अनुभव करनेकी आवश्यकता नहीं होती। समग्र जगत् अपने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धके सम्भारसहित साधककी इन्द्रियोंके सामने उपस्थित होता है और साधक अनुभव करता है कि यह जगत् उन्हींकी श्रीमूर्ति है। इस अवस्थामें सौन्दर्य-माधुर्यके लिये अन्वेषण नहीं करना पड़ता; क्योंकि व्यापकन्यासके फलस्वरूप समस्त जगत् ही श्रीभगवान्‌की सत्तासे अनुरञ्जित दिखायी देता है और जिस ओर इन्द्रियाँ जाती हैं, उसी तरफ श्रीभगवान्‌का कोई माधुर्यमय प्रकाश साधकको दृष्टिगोचर होता है। भक्त अपने इष्टको अपने जीवनका चरम आदर्श एवं अपनी सब प्रकारकी आकांक्षाओंका चिर-विश्रान्ति-स्थान मानता है। आँखोंमें भावका अञ्जन लगा सकनेसे सौन्दर्यका अन्वेषण बाहर नहीं करना पड़ता। सर्वत्र पूर्ण सौन्दर्यका मूर्त्त प्रकाश अनुभव होता है। जिसको व्यापकन्यास कहकर वर्णन किया गया है, वह नेत्रोंमें 'भाव'का अञ्जन लगानेके समान है। अङ्गन्यास और करन्यास सिद्ध हो जानेपर ममत्व और अहंकार अपगत हो जाते हैं और साधक अपने-आपको अकिंचन अनुभव करता है। जैसे चातक तृष्णार्त्त होते हुए भी अन्य जलकी ओर आकृष्ट नहीं होता—वह केवल आकाशके जलबिन्दुके लिये ही उन्मुख रहता है, साधककी अवस्था भी इसी प्रकारकी हो जाती है। वह केवल उनकी कृपाकी ओर ही उन्मुख रहता है। तब उसके निर्मल चित्तमें 'भाव'का उदय होता है। वस्तुतः यह श्रीभगवान्‌का कृपादान है। इस 'भाव'का अञ्जन लगाकर जब वह बाह्य जगत्‌का निरीक्षण करता है तब उसके इष्ट अथवा प्रियतमकी अपार माधुरी उसकी इन्द्रियोंके सामने प्रकटित होकर उसको विह्वल कर देती है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥
(गीता ३। २७)

कर्माणि सर्वशः (सब प्रकारके कर्म) प्रकृतेः गुणैः (प्रकृतिके गुणोंद्वारा) क्रियमाणानि (साधित होते हैं)। अहंकारविमूढात्मा अहं कर्त्ता (अहंकारसे विमूढ़ हुआ जीव मैं कर्ता हूँ) इति मन्यते (इस प्रकार समझता है)।

भगवान्‌की प्रकृति अर्थात् माँ आद्याशक्ति ही समस्त कर्मोंकी कर्ता हैं। मनुष्य, बुद्धिके दोषसे, संस्कारवशतः, अपनेको कर्ता मानकर अनर्थकी सृष्टि करता है, यह उपलब्धि करनी होगी।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥
(गीता ३। २८)

महाबाहो (हे महाबाहो अर्जुन!) गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् तु (प्रकृतिके भीतर गुण और कर्मका खेल हो रहा है, जो इस विभागको जानते हैं ऐसे तत्त्ववित्) गुणा गुणेषु वर्तन्ते (सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंका खेल तत्तद्‌गुणान्वित विषयोंमें होता रहता है) इति मत्वा (ऐसा मानकर) न सज्जते (प्रकृतिके गुण एवं कर्ममें आसक्त नहीं होते)।

तत्त्वदर्शी सब कर्मोंमें जीवका कर्मफल-रहस्य एवं तदनुसार प्रकृतिके गुणोंका खेल आस्वादकर, अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहकर, अनासक्त भावसे यह खेल देखते रहते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥
(गीता १४। १९)

यदा द्रष्टा (जब उदासीन भावसे द्रष्टा पुरुष) गुणेभ्यः (त्रिगुणभिन्न) अन्यं कर्तारं न अनुपश्यति (अन्य कर्त्ता नहीं देखता) गुणेभ्यः च परं वेत्ति (और गुणोंसे अतीत वस्तुको जानता है) तदा (तब) सः मद्भावम् अधिगच्छति (वह मेरे भावको—ब्रह्मभावको प्राप्त होता है)।

साधक जब अपने आपको प्रकृतिके गुण अथवा गुणकार्यसे सम्पूर्णतः पृथक् अनुभव करता है अर्थात् अपने व्यष्टि देह एवं समष्टि जगत्‌के प्रत्येक कार्यके मूलमें प्रकृतिका कर्तृत्व देखता है और स्वयं स्वरूपस्थ होकर अपने आपको सम्पूर्णतः पृथक् पुरुषचैतन्यरूपमें अनुभव करता है, तब वह भगवद्भावसे परिभावित हुआ उदासीनभावसे भगवल्लीला-दर्शन करनेकी योग्यता लाभ करता है।

देहेन्द्रियाणि च मनो न तु मे तवैव
स्वात्मीयबान्धवगणा न तु मे तवैते।
सर्वं त्वदीयमिति मे प्रियमेव सर्वं
त्वत्प्रीतये सततमेव नियोजयानि॥५६॥

देहेन्द्रियाणि मनः च (देह; इन्द्रिय एवं मन) न मे (मेरे नहीं हैं) तु तव एव (परंतु तुम्हारे ही हैं); स्वात्मीयबान्धवगणाः (आत्मीय बान्धवगण) न मे (मेरे नहीं हैं) तु एते तव (परंतु ये तुम्हारे ही हैं)। सर्वं त्वदीयम् (सब तुम्हारे हैं) इति (इसलिये) सर्वं मे प्रियम् एव (सब मेरे भी प्रिय ही हैं)। त्वत्प्रीतये एवं (तुम्हारी प्रीतिके लिये ही अर्थात् तुम्हारे प्रिय कार्यमें ही) सततं नियोजयानि (इनको सर्वदा नियुक्त करूँगा)।

अर्थात् मेरी इन्द्रियाँ एवं आत्मीय स्वजन—ये कोई भी मेरे नहीं हैं, मेरे सङ्ग जायँगे भी नहीं। ये सब तुम्हारे हैं, इसलिये मेरे प्रिय हैं। सुतरां अनासक्त-अनुरागी होकर इनको तुम्हारे कार्यमें नियुक्त रखना मेरा एकान्त कर्त्तव्य है।

देहस्य बीजमतिसूक्ष्ममणुप्रमाणं
सृष्टं त्वयैव सुविचित्रतया च पुष्टम्।
सर्वात्मना परिणतं कृतियोग्यदेहे
कर्तृत्वबुद्धिरिह नास्तु कदापि नाथ ॥५७॥

देहस्य बीजम् (इस देहका बीज) अणुप्रमाणं अतिसूक्ष्मम् (अणुप्रमाण—अतिसूक्ष्म) त्वया एव सृष्टं (तुम्हारे द्वारा ही सृष्ट हुआ है) सुविचित्रतया पुष्टं च (एवं अतिसुन्दर विचित्ररूपसे परिपुष्ट हुआ है) (तथा) सर्वात्मना परिणतं (सब प्रकारसे तुमने इसकी परिणति साधित की है)। नाथ (हे नाथ) इह कृतियोग्यदेहे (इस सब कार्य करनेके योग्य शरीरमें) कर्तृत्वबुद्धिः (मेरी कर्तृत्वबुद्धि) कदापि न अस्तु (कभी न हो)।

अर्थात् यह शरीर सर्वप्रथम एक बिंदु रक्त था, तुमने इसको एक सुन्दर पुष्ट-परिणत सर्वकार्यक्षम देहमें परिणत किया। इसलिये इस देहमें एवं इसके कार्यके विषयमें मेरा मिथ्या कर्तृत्वाभिमान रहना उचित नहीं।

यन्त्री त्वमेव तव यन्त्रमिदं शरीरं
स्वीयेच्छयैव परिचालयसि प्रभुत्वात्।
एवं मनोऽपि मम देव मतं त्वयैव
बुद्धिः स्थिरा मम हृषीकपतेऽत्र भूयात् ॥५८॥

त्वम् एव यन्त्री (तुम्हीं यन्त्री हो), इदं शरीरं तव यन्त्रम् (यह शरीर तुम्हारा यन्त्र है)। प्रभुत्वात् (तुम प्रभु होकर) स्वीयेच्छया एव (अपने इच्छानुसार ही) (इसको) परिचालयसि (चलाते हो) एवं मम मनः अपि (इसी प्रकार मेरा मन भी) त्वया एव मतं (तुम्हारे इच्छानुसार परिचालित हो, मननीकृत हो अर्थात् तुम ही मेरे मनके मन हो 'येनाहुर्मनो मतम्' मनमें रहकर तुम ही मेरे मनको चालित करते हो)। देव हृषीकपते (हे देव हृषीकेश !) अत्र मम बुद्धिः (इस विषयमें मेरी बुद्धि) स्थिरा भूयात् (स्थिरता लाभ करे)।

अर्थात् तुम यन्त्री हो, मेरी देह तुम्हारे हाथमें एक यन्त्रमात्र है, तुम स्वयं इसको अपने इच्छानुसार चलाते हो। मेरे मनके विषयमें भी ऐसा ही है। मैं इस तत्त्वको कभी न भूलूँ।

त्वं सर्वभूतेषु विराजसे सदा
सर्वेषु जीवेष्वसि जीवनं स्वयम्।
त्वद्दर्शनं सर्वग मेऽस्तु सर्वत-
स्तवैव पूजास्तु च कर्मभिर्मम ॥५९॥

त्वं सदा सर्वभूतेषु विराजसे (तुम सब भूतोंमें सदा विराजमान हो), सर्वेषु जीवेषु स्वयं जीवनम् असि (सब जीवोंमें तुम जीवनरूप धारण किये हुए हो अर्थात् तुम्हीं हमारे प्राणके प्राण हो, तुम्हींको लेकर तो हम जीवित हैं)। सर्वग (हे सर्वव्यापी) सर्वतः त्वद्दर्शनं मे अस्तु (सर्वत्र—सब भूतोंमें तुम्हारा दर्शन मुझे प्राप्त हो)। मम कर्मभिः च (मेरे सब कर्मोंद्वारा) तव एव पूजा अस्तु (तुम्हारी ही पूजा हो)।

अर्थात् तुम जगत्की सृष्टि करके उसमें अनुप्रवेश कर गये। तुम्हारी सत्ता, चैतन्य और आनन्दका प्रकाश ही हमारा जीवन, मन और आनन्द है। तुम्हारा सर्वत्र दर्शन करना, अनुभव करना और सेवा करना ही हमारी चरम साधना है।

मेरा कहकर जो कुछ है वह सब तुम्हीं हो। तुम्हीं मेरे आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव, धन-दौलतके रूपमें मेरे तृप्ति-विधानके लिये मेरे सामने उपस्थित हो। इन सबके भीतर, इन सबके मूलमें, तुम्हीं सत्यरूपमें अधिष्ठित हो। मैं भी तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ—तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब हूँ। मेरा बल-बुद्धि सब तुम्हीं हो; तुम्हीं मेरे भीतर शक्तिरूपमें अधिष्ठित होकर मेरे दर्शन, श्रवण, ज्ञान और उपलब्धिमें सहाय होते हो। तुम्हारे दिये हुए नेत्रोंमें तुम्हारा प्रकाश मेरा देखना है। तुम्हारे दिये हुए कानोंमें तुम्हारा प्रकाश मेरा सुनना है; तुम्हारी

दी हुई बुद्धिमें तुम्हारा प्रकाश मेरा ज्ञान है, मेरा सुख-शान्ति-आनन्द तुम्हारे दिये हुए चित्तमें तुम्हारा प्रकाश है। तुम अपनी दी हुई इस देहके भीतर, अन्तर्यामीरूपमें अधिष्ठित हुए इसको कल्याण और शान्तिके पथपर ले जा रहे हो। यह यन्त्र तुम हो, इसके चालक तुम हो, इसका ज्ञान तुम हो, इसका आनन्द भी तुम्हीं हो। विद्युत्-शक्ति जिस प्रकार बल्ब और पंखेकी चालक है, वैसे ही तुम भी इस देहयन्त्रके चालक हो। तुम्हारे अतिरिक्त मेरा और कोई भी अथवा कुछ भी नहीं है। तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो। इसलिये मुझमें अब आसक्ति, कर्तृत्वाभिमान, प्रतिष्ठा-मोह, सुख-स्पृहादिके रहनेका अवकाश नहीं।

न्यास-तत्त्व साधित हो जानेके फलस्वरूप ममता-अहंता शिथिल पड़ जाती हैं। तब समझमें आता है कि वे ही सर्वस्व हैं, वे ही सब कर रहे हैं, सर्वत्र उन्हींकी लीला हो रही है। तब भगवत्-कृपासे अपने भीतर परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरीका स्फुरण होनेपर समझमें आता है कि पूजाके उपचाररूपमें वे ही आगत हैं और हमारे भीतर बैठे हुए वे ही पूजा ग्रहण भी कर रहे हैं। तब साधक सोचता है कि मैं भगवान्‌को क्या दूँ, सभी तो उनका है। इस तत्त्वका चिन्तन करते-करते उसकी समझमें आता है कि आत्मातक भगवान्‌को निवेदित हो जानेपर ही प्रकृत 'आत्मनिवेदन-तत्त्व' सार्थक हो सकता है।

मुद्रा

मोदनात्सर्वदेवानां द्रावणात्पापसंहतेः।
तस्मान्मुद्रेति सा ख्याता सर्वकामार्थसाधिनी॥

'समस्त देवताओंका मोद होता है, सारे पापोंका नाश होता है और समस्त काम तथा अर्थकी सिद्धि होती है, इसलिये इसे मुद्रा कहते हैं।'

देवताओंकी प्रसन्नता, चित्तकी शुद्धि और विविध रोगोंके नाशमें मुद्राओंसे बड़ी सहायता मिलती है। मुद्रा-तत्त्वको समझकर इनका साधन करना चाहिये।

सुमुख, सम्पुट, वितत, विस्तृत, द्विमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, पञ्चमुख, षण्मुख, अधोमुख, व्यापकाञ्जलि, शकट, यमपाश, ग्रथित, सन्मुखोन्मुख, प्रलम्ब, मुष्टिक, मत्स्य, कूर्म, वराह, सिंहाक्रान्त, महाक्रान्त, मुद्गर और पल्लव—ये २४ मुद्राएँ हैं, जो गायत्री आदिके जपके आदिमें दिखलायी जाती हैं। इनके दिखाये बिना जपादिका व्यर्थ होना कहा गया है—

चतुर्विंशतिमुद्राश्च गायत्र्यादौ प्रदर्शयेत्।
वृथा मन्त्रजपश्चैव स्नानं भोजनमेव च॥
यज्ञश्च निष्फलस्तेषां होमो देवार्चनं वृथा।
तस्मान्मुद्रा सदा ज्ञेया विद्वद्भिर्यत्नमास्थितैः॥
(गा० प०)

चौबीस मुद्राओंका विवरण

सुमुखम्—दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको मोड़कर परस्पर मिलावें। १

सम्पुटम्—दोनों हाथोंको फुलाकर मिलावें। २

विततम्—दोनों हाथोंकी हथेली परस्पर सामने करें। ३

विस्तृतम्—दोनों हाथोंकी अँगुलियाँ खोलकर हाथोंको कुछ अधिक अलग करें। ४

द्विमुखम्—दोनों हाथोंकी कनिष्ठिकासे कनिष्ठिका तथा अनामिकासे अनामिका मिलावें। ५

त्रिमुखम्—दोनों मध्यमाओंको भी और मिलावें। ६

चतुर्मुखम्—दोनों तर्जनियाँ और मिलावें। ७

पञ्चमुखम्—दोनों अँगूठे और मिलावें। ८

षण्मुखम्—हाथ वैसे ही रखते हुए दोनों कनिष्ठिकाएँ खोलें। ९

अधोमुखम्—उल्टे हाथोंकी अँगुलियोंको मोड़ तथा मिलाकर नीचेकी ओर करें। १०

व्यापकाञ्जलिकम्—वैसे ही मिले हुए हाथोंको शरीरकी तरफसे घुमाकर सीधा करें। ११

शकटम्—दोनों हाथोंको उल्टाकर अँगूठेसे अँगूठा मिला तर्जनियोंको सीधी रखते हुए मुट्ठी बाँधें। १२

यमपाशम्—तर्जनीसे तर्जनी बाँधकर, दोनों मुट्ठी बाँधें। १३

ग्रथितम्—दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको परस्पर गूँथें। १४

सन्मुखोन्मुखम्—हाथोंकी पाँचों अँगुलियोंको मिलाकर प्रथम बायेंपर दाहिना, फिर दाहिनेपर बायाँ हाथ रक्खें। १५

प्रलम्बः—अँगुलियोंको कुछ मोड़ दोनों हाथोंको उलटाकर नीचेकी ओर करें। १६

मुष्टिकः—दोनों अँगूठे ऊपर रखते हुए दोनों मुट्ठियाँ बाँधकर मिलावें। १७

मत्स्यः—दाहिने हाथकी पीठपर बायाँ हाथ उलटा रखकर दोनों अँगूठे अलग करें। १८

कूर्मः—सीधे बायें हाथकी मध्यमा, अनामिका तथा कनिष्ठिका मोड़कर उलटे दाहिने हाथकी मध्यमा-अनामिकाओं-को उन तीनों अँगुलियोंके नीचे देकर बायीं तर्जनीपर दाहिनी कनिष्ठिका और बायें अँगूठेपर दाहिनी तर्जनी रक्खे। १९

वराहकः—दाहिनी तर्जनीको बायें अँगूठेसे मिला, दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको परस्पर बाँधें। २०

सिंहाक्रान्तम्—दोनों हाथोंको कानोंके समीप करें। २१

महाक्रान्तम्—दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको कानोंके समीप करें। २२

मुद्गरः—मुट्ठी बाँध, दाहिनी कोहनी बाँयीं हथेलीपर रखें। २३

पल्लवः—दाहिने हाथकी अँगुलियोंको मुखके सम्मुख हिलावें। २४

जप आदिके अन्तमें निम्नलिखित आठ मुद्राएँ दिखायी जाती हैं—

सुरभि, ज्ञान, वैराग्य, योनि, शङ्ख, पङ्कज, लिङ्ग और निर्वाण।

आठ मुद्राओंका विवरण

सुरभिः—दोनों हाथोंकी अँगुलियाँ गूँथकर बायें हाथकी तर्जनीसे दाहिने हाथकी मध्यमा, दाहिने हाथकी तर्जनीसे बायें हाथकी मध्यमा, इसी प्रकार बायें हाथकी अनामिकासे दाहिने हाथकी कनिष्ठा और बायें हाथकी कनिष्ठासे दाहिने हाथकी अनामिका अंगुली मिला लें। १

ज्ञानम्—दाहिने हाथकी तर्जनीसे अँगूठा मिलाकर हृदयमें तथा इसी प्रकार बायाँ हाथ बाँयें घुटनेपर सीधा रक्खें। २

वैराग्यम्—दोनों तर्जनियोंसे अँगूठा मिलाकर घुटनों-पर सीधा रक्खें। ३

योनिः—दोनों मध्यमाओंके नीचेसे बायीं तर्जनीके ऊपर दाहिनी अनामिका और दाहिनी तर्जनीपर बायीं अनामिका रख दोनों तर्जनियोंसे बाँध दोनों मध्यमा ऊपर रखें। ४

शङ्खः—बायें अँगूठेको दाहिनी मुट्ठीसे बाँध दाहिने अँगूठेसे बायीं अँगुलियोंको मिलावें। ५

पङ्कजम्—दोनों हाथोंके अँगूठे तथा अँगुलियोंको मिलाकर ऊपरकी ओर करें। ६

लिङ्गम्—दाहिने अँगूठेको सीधा रखते हुए दोनों हाथों-की अँगुलियोंको गूँथकर बायाँ अँगूठा दाहिने अँगूठेकी जड़-के ऊपर रक्खें। ७

निर्वाणम्—उल्टे बायें हाथपर दाहिना हाथ सीधा रख, अँगुलियोंको परस्पर गूँथ, दोनों हाथ अपनी तरफसे घुमा दोनों तर्जनियोंको सीधी कानके समीप करें। ८

मनुष्य अपनी मृत्यु नहीं देखता—यही आश्चर्य है

गृहे पर्यन्तस्थे द्रविणकणमोषं श्रुतवता स्ववेश्मन्यारक्षा क्रियत इति मार्गोऽयमुचितः।
नरान्गेहाद्गेहात् प्रतिदिवसमाकृष्य नयतः कृतान्तात् किं शङ्का न हि भवति रे जागृत जनाः॥
अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्। शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

पड़ोसके घरमें चोरी होनेकी बात सुनकर अपने घरका प्रबन्ध किया जाता है, यह उचित ही है किन्तु घर-घरसे प्रतिदिन मनुष्योंको पकड़कर ले जाते हुए कालसे क्या कुछ भी भय नहीं होता? अतएव हे मनुष्यो! अब भी सावधान हो जाओ।

प्रतिदिन जीव यमराजके घर जा रहे हैं तो भी शेष बचे लोग स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बढ़कर क्या आश्चर्य है?

सुरभि-मुद्रा

[उचित प्रयोगसे लाभ और अनुचित प्रयोगसे हानि]

(लेखक—श्रीशंकरलालजी वर्मा, एम्० ए०)

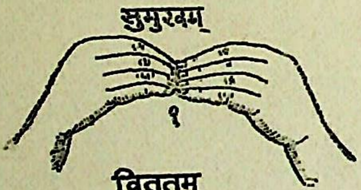
अन्तकी आठ मुद्राएँ ये हैं—

(१) सुरभि, (२) ज्ञान, (३) वैराग्य, (४) योनि, (५) शङ्ख, (६) पङ्कज, (७) लिङ्ग और (८) निर्वाण।

इनमें 'सुरभि' मुद्राके सम्बन्धमें कुछ विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। सुरभि मुद्रामें वायु और आकाशका सम्मिलन होता, पृथ्वी और जलका सम्मिलन होता है और अग्नितत्त्व शान्त रहता है। जल और पृथ्वीके मिलनेसे ब्रह्माण्डमें उर्वरा शक्ति उत्पन्न होती है। इस शक्तिका उत्तेजन जल है। वायु और आकाशके मिलनेसे ब्रह्माण्डका चक्र स्थिर होता है। निरन्तर अभ्यासके द्वारा ब्रह्मचक्र अर्थात् नाभिचक्र अपनी स्थितिको ग्रहण करता है। सुरभि-मुद्रामें अग्नितत्त्वको यदि जल-तत्त्वके मूलमें लगा दिया जाय तो पित्तसे विकृत समस्त मूत्र-रोगोंका शमन होता है। यदि अग्नितत्त्वको पृथ्वीतत्त्वसे सम्मिलित करे तो सुरभि-मुद्राद्वारा पेटके समस्त रोग—पाचन क्रियाकी विकृतिसे होनेवाले नष्ट होते हैं। यही मुद्रा निरन्तर अभ्यासके द्वारा षट्-कमलका भेदन सम्भव करती है। इसीलिये आचार्योंने सबसे पहले इसी मुद्राका निर्णय किया है। इसके पश्चात् वायु और अग्निके उद्रेक और अग्नि तथा वायुके व्यतिरेकसे मस्तिष्कके ज्ञानतन्तु खोलनेके लिये ज्ञान-मुद्राका निर्णय दिया है। समाधिस्थ व्यग्र योगीके लिये सुरभि-मुद्रा करना वाञ्छनीय है। यदि सुरभि-मुद्रा की जाय तो कफ प्रकृतिसे विकृत मनुष्यके साधारण रोग नष्ट हो जाते हैं। अग्नितत्त्वको शून्यसे सम्मिलित करनेपर सुरभि-मुद्राके निरन्तर अभ्याससे व्यक्ति अपना शून्य बढ़ाकर विश्वके कोलाहलसे दूर हो जाता है। शून्य बढ़ जाता है, पर शरीरके अन्य तत्त्व अपना संतुलन न खोकर मानवी क्रियाको दैवी क्रियाकी ओर निरन्तर खींचते रहते हैं। विश्वके इस कोलाहलसे दूर निरन्तर अभ्यस्त योगी विश्वसे परे अनेक नाद सुननेमें सफल होता है। विना इस मुद्राके इस प्रयोगके योगी समाधिमें नाद सुनते अवश्य हैं, पर इतनी स्पष्टतासे नहीं। ब्रह्माण्डमें लयकी क्रिया अन्य मुद्रासे सम्भव हो जाती है। वायु-तत्त्वमें यदि अग्नि-तत्त्वका सम्मिलन सुरभि-मुद्रामें किया जाय तो समाधिके प्रारम्भिक विद्यार्थीको वायु-अवरोधकी बाधा उपस्थित नहीं रहती। वात-विकार किसी सीमातक शमन अवश्य होता है, किंतु इसी शमनके साथ रोगीको मूत्र और पेट रोगकी पीड़ा तीव्र हो जाती है। इसीलिये वात-विकार अकेला हो तो ऐसा किया जा सकता है। अभ्यस्त योगीको तो कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती। पर भोगीको अन्य विकारोंकी उपस्थितिमें यह मुद्रा वातका शमन होनेसे हानि कर बैठती है। रोगी मर भी सकता है। पर यदि कफ-विकारकी गति अधिक और पित्तकी कम हो तो वायुके शमनसे शीतका भय होता है और गठिया हो जाती है। इसमें शमनकी क्रिया किसी सीमातक शमन पाकर तीव्राततितीव्र गतिसे वृद्धि प्राप्त कर लेती है। इसी कारणसे गठिया होनेकी सम्भावना बतायी जाती है और अग्नितत्त्वके उल्टा शमन पानेके साथ-साथ पाचनक्रिया भी विकृत हो जाती है। यदि पित्तके विकारकी गति तीव्र और कफकी गति कम हो तो मूत्राशयपर प्रभाव पड़कर मूत्राशयके फटनेका भय रहता है। अण्ड-वृद्धिका रोग होनेकी सम्भावना होती है। वायुका शमन विपरीत गति प्राप्तकर अग्निको मन्द करके पूरे वेगसे मूत्राशयको या अण्डकोषको फुला देता है। इससे मृत्यु नहीं होती, पर पित्तमें वातका व्यतिरेक होनेसे पित्तप्रधान वातज रोगोंका आविर्भाव हो जाता है। यदि वातके अतिरिक्त अन्य विकार देहमें उपस्थित न हों तो सुरभि-मुद्राके द्वारा वात-शमनके प्रयोगसे वातविकृत उदररोग शान्त हो जाते हैं।

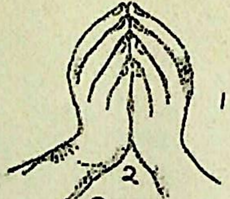
वात और कफके प्रधानत्वमें सम्मिलित विकारोंके रोगोंमें सुरभि-मुद्राका प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिये। इससे लाभ तो नहीं होता पर हानि अवश्य होती है। न्यूनाधिक मात्रामें विकार सम्मिलित होनेपर ही हानि और खतरा उपस्थित होता है। पित्तप्रधान रोगोंके लिये सुरभि-मुद्राका प्रयोग बिल्कुल हितकर नहीं है। केवल पित्तरोगोंमें सुरभि-मुद्रामें यदि बायें हाथके अङ्गुष्ठसे दायें हाथके अँगूठेको दबाये तो अग्नि मन्द पड़कर जलका संतुलन बिगड़ जाता है और पृथ्वीतत्त्वके प्रधानत्वमें कफके

सुमुखम्



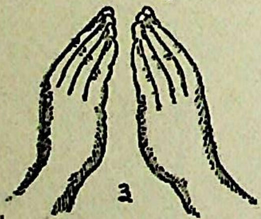
१

सम्पुटम्



२

विततम्



३

विस्तृतम्



४

द्विमुखम्



५

त्रिमुखम्



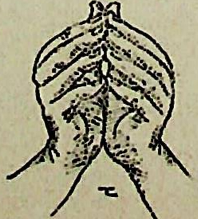
६

चतुर्मुखम्



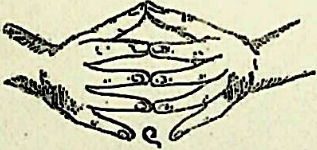
७

पञ्चमुखम्



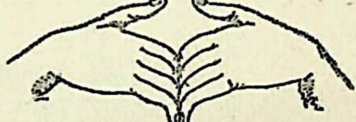
८

षण्मुखम्



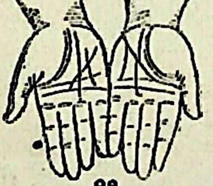
९

अधोमुखम्



१०

व्यापकाञ्जलिकम्



११

शकटम्



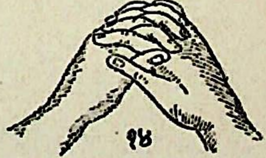
१२

यमपाशम्



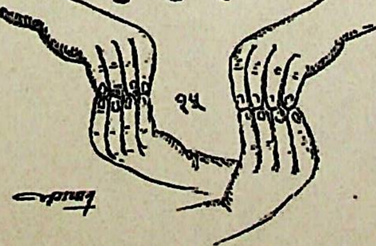
१३

ग्रथितम्



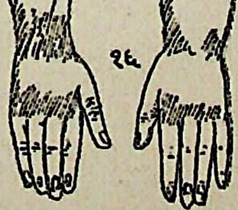
१४

सम्मुखोन्मुखम्



१५

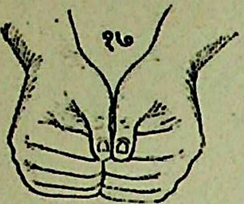
प्रलम्बः



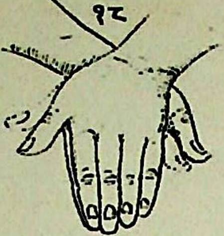
१६

[पृष्ठ ६७०-६७१

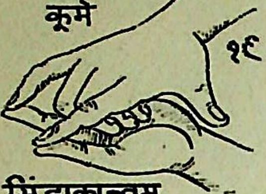
*



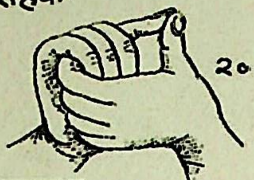
मुष्टिकः १७



मत्स्यः १८



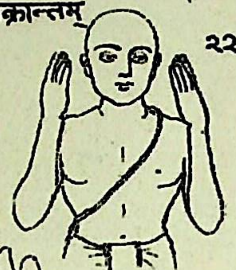
कूर्म १९



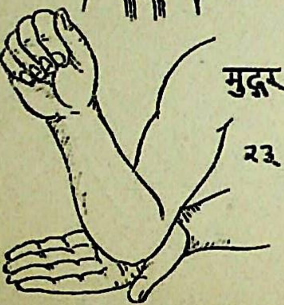
वराहकः २०



सिंहाक्रान्तम् २१



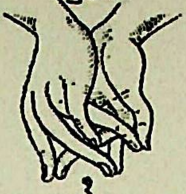
महाक्रान्तम् २२



मुद्गरः २३



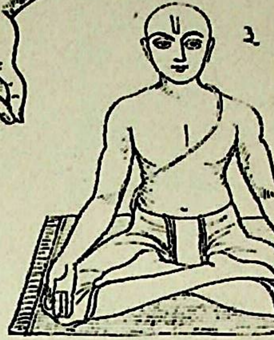
पल्लव २४



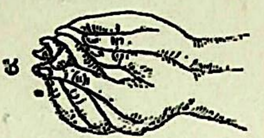
सुरभिः १



ज्ञानम् २



वैराग्य ३



योनिः ४



शङ्खः ५



पङ्कजम् ६



लिङ्गम् ७



निर्वाणम् ८

विकार अधिक बढ़ जाते हैं। अतः पित्तविकारमें इसका प्रयोग वर्जनीय है। योगीके लिये सुरभि-मुद्रामें अग्नि-तत्त्वको बिलकुल पृथक् रक्खा गया है; क्योंकि योगी शकट-मुद्राके द्वारा पहले ही पित्त अर्थात् क्रोधको जीत लेता है। सांसारिक मनुष्योंमें और योगीमें बहुत अन्तर है; क्योंकि योगी समस्त मुद्राओंके अभ्याससे पहले ही अपनी देहको सम कर लेता है। उसके लिये किसी विकारके शमन करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। बीच-बीचमें निर्धारित समाधिको बार-बार तोड़नेसे या सांसारिक पदार्थोंको अधिक देखनेसे तपस्वियों या योगियोंकी पित्तकी अभिवृद्धि होकर क्रोधका कारण बन जाती है। ऐसी स्थितिमें इसकी भयानकता बड़ी विकराल हो जाती है; क्योंकि इस स्थितिमें दोनों गतियोंका चक्रभेदन होता है और विकारका शमन न होकर अवरोधन होता है। अतः अवकाश पाकर बड़ी तीव्रगतिसे विस्फोटका कारण होता है। पित्तविकारमें सुरभिद्वारा अग्निको शमन करनेसे अन्य सभी विकार अपना संतुलन खो देते हैं। सांसारिक घटनासे वायुके गत्यवरोधका कारण और सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है। क्रोधके उपकरण प्रस्तुत होनेपर ऐसे व्यक्तिके क्रोधका विकास गतिकी त्वरता और मादकताकी तन्त्रीके आधारपर होता है। इस स्थितिमें क्रोधी हाँफने लगता है। परिणाम निकलता है कि कफ-प्रवृत्ति और वायु-प्रवृत्ति दोनों अवरुद्ध होकर उल्टी गति प्राप्त करती हैं, तब वायु तीव्र हो जाती है और फुफ्फुस-यन्त्रकी सीमाका भेदन कर श्वासकी गतिको तीव्र कर डालती है। कफका अवरोध होनेसे उल्टी गति प्राप्त होकर देहमें निर्बलता लाती है। शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल होकर रक्तकी साधारण गरमी भी चौपट हो जाती है। यदि इस क्रियाका शीघ्र शमन न किया जाय तो हृदयकी गति बंद होनेमें आश्चर्य नहीं होता। व्यक्तिका हार्ट फेल भी हो सकता है। प्रयोगकर्ताको स्मरण रखना चाहिये कि पित्तमें अग्नि और जल दोनोंके विकार सम्मिलित हैं। इसलिये केवल अग्निको शमन करनेसे उपर्युक्त विकार उत्पन्न होकर अन्तका कारण बन जाते हैं; क्योंकि सुरभि-मुद्रामें जल-तत्त्व पृथ्वीसे सम्मिलित होकर अपनी गतिको अतिरेक देता है और वायुतत्त्व शून्यसे सम्मिलित होकर स्वच्छन्द-गतिको प्राप्त कर लेता है। ऐसी स्थितिमें प्रयोगकर्ताके लिये पूर्ण निदानद्वारा सचेत होना अत्यावश्यक हो जाता है। पित्तविकारके मूत्ररोगोंमें अग्निका जलके मूलमें सम्मिलित करना तो सुरभि-मुद्रामें लाभदायक है; क्योंकि अग्नि उसमें स्वयं अवरुद्ध नहीं होती, पर बढ़कर जलतत्त्वका पृथ्वीके साथ शमन करती है और ऐसा ही वह पृथ्वीतत्त्वके साथ करती है, पर पित्तके अन्य रोगोंमें इसका प्रयोग नहीं होता।

सुरभि-मुद्रा योगीके लिये केवल ब्रह्मचक्रको भेदनेके लिये ही सहायक होती है। ब्रह्मचक्रका भेदन तभी सम्भव होता है, जब पाचनक्रियाके रोग दूर हो जाते हैं। इसलिये सुरभि-मुद्रा पाचनक्रियाके रोगोंको मिटाकर ब्रह्मचक्रको स्थिर करती है। योगीको अपने विकारोंको सम करनेकी आवश्यकता नहीं होती। पाचनक्रियाके रोग निश्चित नहीं होते हैं। क्षण-क्षणमें पाचनक्रियाका व्यतिरेक चलता है, नियमित व्यक्ति या कठोर संयमीकी पाचनक्रिया भी तत्त्वोंके प्रत्यावर्तनसे कुछ अंशमें विकृत होती रहती है। गलती हो जानेसे समाधिव्यग्र अभ्यासी मृत्युको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि पाचनक्रियाके तनिकसे विकृत होनेसे षट्-कमलका खुलना कठिन-सा हो जाता है। इसके द्वार अधिक हैं, किस तरह खुलें ? और केवल सुषुम्णाको छोड़कर अन्य और किसी द्वारके भी खुलनेपर या थोड़ा-सा लीक होनेपर भी मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाती है। अतः आचार्योंने सुरभि-मुद्राका निर्माण इसी विज्ञानके आधारपर पृथ्वी और जलके सम्मिलित वेगसे पाचनक्रियाको अनुगामी बनाकर निर्णयात्मक किया है।

रोगी और भोगी—दोनों ही अपने विकारोंमें ग्रस्त होते हैं, इसलिये उनके विकारोंकी प्रधानता जानकर पित्त और कफमें अग्नितत्त्वका उद्रेक दे दिया जा सकता है, शमन नहीं किया जा सकता। निश्चित निदानके पश्चात् ही इस मुद्राका प्रयोग लाभप्रद हो सकता है। पित्तप्रधान, कफ-प्रधान, वातप्रधान अथवा अलग-अलग प्रधानत्वमें अन्य विकारोंके प्रत्यावर्तनवाले रोगीके लिये सुरभि-मुद्रामें प्रयोग नहीं किया जाता अर्थात् प्रधानत्वमें या प्रधानत्वमें अन्य विकारोंके प्रवर्तनमें इस मुद्राका प्रयोग नहीं किया जा सकता। जब वात और कफ इन दोनोंमेंसे कोई भी प्रधान न हो और न पित्त प्रधान हो और दोनोंका वेग समान हो, एक दूसरा अधिक या कम वेगवाला न हो, तब साधारण सुरभि-मुद्रा प्रयोगमें लायी जा सकती है अग्निका उद्रेक उस समय न तो वायुमें ही होना चाहिये

और न जलमें ही। यदि कुछ अंशमें ही पित्त ऊपरके सम विकारोंमें प्रत्यावर्तन करता हो तो जिस विकारमें प्रत्यावर्तन होता है, उससे विपरीत विकार अर्थात् कफका उलटा वात और वातका उलटा कफसे अग्निका सम्बन्ध कर देना चाहिये, पर वातका सम्बन्ध करते समय उतनी ही देर रखना चाहिये, जितनी देर पित्तका प्रत्यावर्तन बंद न हो। इसलिये प्रयोगकर्त्ता रोगीका नाड़ीद्वारा निदान करता जाय और देखता जाय कि पित्तका प्रत्यावर्तन बंद हो गया है। बंद होते ही फौरन सम्बन्ध हटा देना चाहिये; क्योंकि उससे अधिक देर रखनेसे उपर्युक्त विकार (उत्पात) शीघ्र उत्पन्न हो जाया करते हैं। स्मरण रहे कि पित्तका प्रत्यावर्तन समाप्त होनेपर सुरभि-मुद्राकी क्रियाकी अवधिमें पित्त सम रहता है, विकृत कभी नहीं हो सकता; क्योंकि जल और पृथ्वी एवं वायु और शून्य अपनी गति पकड़ लेते हैं। तब पित्त स्वयमेव जलके साथ होनेसे अनुपात गति पकड़ लेता है। कफ और वातके विकारोंके परिणामस्वरूप जिन तत्त्वोंका विघटन या प्रत्यावर्तन हो गया है, वे सभी तत्त्व सुरभि-मुद्राद्वारा विपरीत क्रियामें संलग्न हो जाते हैं, जैसे यदि वायु विघटित हो गयी है तो उसका प्रत्यावर्तन हो गया या जल यदि अभिवृद्ध हो गया है तो उसका घटन प्रारम्भ हो जायगा।

जबतक इस स्थितिमें विकृत तत्त्व समताको प्राप्त होते हैं, ऐसे रोग शान्त हो जाते हैं; किंतु विषम तत्त्वोंका देहमें अधिक देरतक अभ्यास निषिद्ध है। अवधि केवल पौन या एक घंटेकी है। इससे अधिक करनेसे देहमें तत्त्व-परिवर्तनके चक्रमें बाधा पड़ जाती है। करीब एक घंटेसे कम समयमें ही तत्त्वोंका प्रत्यावर्तन हो जाता है और दूसरे प्रधान तत्त्वकी बारी आ जाती है। सूक्ष्म तत्त्वोंके प्रवर्तनका इस क्रियापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; क्योंकि उनमें इतना वेग नहीं होता, जितना किसी समयविशेषमें प्रधान-तत्त्वका होता है। सूक्ष्म तत्त्व तो उस समय प्रधान-तत्त्वसे प्रभावित रहते हैं और उनकी गति उस प्रधान-तत्त्वके द्वारा संचालित होती है। जैसे अग्नितत्त्वके प्रधानत्वमें लगभग सभी अन्य तत्त्वोंकी गति तीव्र होती है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि सूक्ष्म तत्त्व अग्नितत्त्वके प्रधानत्वमें जल्दी चलना प्रारम्भ हो जाते हैं अथवा समयकी अवधि कम लेते हैं, पर उनका वेग तीव्र हो जाता है। उनकी तीव्रताको अग्नितत्त्व क्षीण करता है, पर अग्नितत्त्वका प्रभाव पाकर विपरीत परिणाम प्राप्त करते हैं, इधर अग्नि उन्हें क्षीण करता है और उधर वे तीव्रता प्राप्त करते हैं। यही संघर्ष मनुष्यके जीवनमें रात और दिनमें लगभग पाँच बार प्राप्त होता है। वैसे किस तत्त्वके प्रधानत्वमें कौन-सा सूक्ष्म तत्त्व कैसी गति प्राप्त करता है, वह आगेका विषय है, जिसपर फिर कभी लिखा जा सकता है।

मङ्गलमय मनोरथ

निखिलभुवनलक्ष्मीनित्यलीलास्पदाभ्यां
कमलविपिनवीथीगर्वसर्वंकषाभ्याम्।
प्रणमदभयदानप्रौढिगाढोद्धताभ्यां
किमपि वहतु चेतः कृष्णपादाम्बुजाभ्याम्॥
प्रणयपरिणताभ्यां प्राभवालम्बनाभ्यां
प्रतिपदललिताभ्यां प्रत्यहं नूतनाभ्याम्।
प्रतिमुहुरधिकाभ्यां प्रस्नुवल्लोचनाभ्यां
प्रभवतु हृदये नः प्राणनाथः किशोरः॥

संसारमात्रकी लक्ष्मीकी लीलाके नित्यनिकेतन, कमलवनकी वीथीमें विराजमान, समस्त कमलोंके गर्वहारी, आश्रितजनोंको अभय देनेमें सर्वथा उद्यत, श्रीकृष्णके चरणारविन्दसे मेरा मन कोई विशेष नाता जोड़ ले।

प्राणाधार किशोरमूर्ति श्रीकृष्ण अपने प्रेमपूर्ण, आश्रयदाता, सदा सुन्दर, नित्यनूतन, क्षण-क्षण खिलते हुए आनन्दवर्षी नेत्रोंसे हमारे हृदयको वशीभूत कर लें।

प्रदक्षिणा (परिक्रमा) तथा स्वस्तिकका रहस्य

(लेखक—श्रीपृथ्वीराज मालेराव)

शास्त्रके कथनानुसार पूज्य, वन्दनीय और आदरणीय व्यक्ति तथा शक्ति (भगवान्, देवता आदि) प्रदक्षिणाके योग्य हैं। केवल श्रेष्ठ पवित्र सत्त्वगुण-प्रधान तत्त्व ही पूजनीय होनेके कारण उनकी सेवासे उपासक स्वयं पवित्र एवं सात्त्विक बनता है। जिस प्रकार भगवान्के चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके जल तीर्थ 'चरणामृत' बन जाता है, वैसे ही भगवान्को निवेदित किया गया नैवेद्य 'प्रसाद' बन जाता है और उस चरणामृत तथा प्रसादके ग्रहण करनेसे उपासक पवित्र हो जाता है। उसी प्रकार सत्त्वगुणी प्राणी, पदार्थ तथा देवताकी दाहिनी दिशासे की गयी परिक्रमासे साधकमें सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। जलमें स्नान करनेपर स्वाभाविक-रूपसे गीला होनेके समान ही पूजनीय वस्तुकी प्रदक्षिणा करनेसे हम पुण्यकर्मों तथा पवित्र गुणोंसे युक्त हो जाते हैं। यह तथ्य स्वयंसिद्ध होनेसे शास्त्रसम्मत है। जैसे साधारण स्वच्छ जल तथा भगवान्से स्पर्श किये गये जल अर्थात् चरणामृतके अन्तरको चर्मचक्षुओंसे नहीं पहचाना जा सकता, वैसे ही साधारण अन्न-पदार्थ और भगवान्के अर्पित किये हुए अन्न-पदार्थ अर्थात् प्रसादके भेदको बहिर्मुखी दृष्टिसे देखा नहीं जा सकता। इस अन्तरको दिव्यदृष्टिसे एवं सूक्ष्मबुद्धिसे निश्चित ही देखा जा सकता है; वैसे ही परिक्रमा न किये हुए और परिक्रमा किये हुए भगवान्के सम्मुख उपस्थित व्यक्तिके आभामण्डलके अन्तरको सूक्ष्मग्राही अन्तश्चक्षुओंसे एवं ज्ञानदृष्टिसे देख सकना सम्भव है। इसी प्रकारके सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम ज्ञान-ग्रहणसे ही धर्मशास्त्रोंके सिद्धान्तोंका आविर्भाव होनेके कारण उनके अनुशीलन-परिशीलन तथा निरीक्षण-परीक्षणका कार्य उसी प्रकारकी अत्यन्त सूक्ष्म तथा दिव्य प्रज्ञा या दैवी मेधा ही कर सकती है और यह कार्य प्रगतिशील तथा उन्नत ज्ञानशक्तिसे सम्पन्न होना उचित भी है। जनसाधारणमें इस प्रकारकी दृष्टिके अभावमें भी उस ओर अंगुलिनिर्देश करनेसे शास्त्रीय नियमों तथा विधिविधानोंमें निहित रहस्योंके मूल्यका आभास करा सकनेकी कुछ सम्भावना अवश्य है; इसी कारण हम इस लेखके द्वारा प्रदक्षिणा या परिक्रमामें निहित तत्त्वके सम्बन्धमें इसी दृष्टिसे कुछ विचार करेंगे।

दैवी शक्ति और उसका तेजोवलय (ज्योतिर्मण्डल) स्वभावतः ही दक्षिणवर्ती होते हैं अर्थात् भाव यह है कि उस मण्डलकी दिव्य प्रभा सदैव ही दक्षिण दिशाकी ओरसे गतिमान् होती है। दिव्यत्व या देवत्व ही श्रेष्ठत्व होनेसे दायाँ हाथ या दक्षिणावर्तन श्रेष्ठ है। इसी कारण दिव्य लहरियोंका दक्षिणकी ओर गतिमान् होना स्वाभाविक है। जिस स्थानपर देवताकी प्रतिष्ठा भली-भाँति करके प्रतिमा अवस्थित है, उस स्थानके मध्यबिन्दुसे अर्थात् देवप्रतिमासे कुछ दूरीतक उस देवताकी दिव्य प्रभा बिखरी रहती है, जो निकटमें कुछ गहरी और आगे क्रमशः कम तथा विरल होती जाती है। सूर्य तथा चन्द्रमाकी ओर ध्यानसे देखनेपर इस तथ्यको हम देख सकते हैं। उस देवताके चारों ओर घूमने या इस तेजोमण्डलमेंसे निकलनेपर वे दिव्य कण हमारे चारों ओर चिपक जाते हैं। तेजकी इन लहरियोंकी गतिकी दिशामें हमारे गतिमान् होने अथवा चलनेसे उस देवताके ज्योतिर्मण्डलके अन्तर्गत विद्यमान दिव्यकणों, सत्त्वगुणके परमाणुओं तथा पवित्र गुणोंकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। इसीलिये देवताका तेज दक्षिणवर्ती होनेसे उसकी प्रदक्षिणा भी उसीके अनुरूप गतिकी दिशामें करना शास्त्रसम्मत है। दक्षिणवर्ती या दाहिने हाथकी ओर घूमना यही 'प्रदक्षिणा' शब्दका अर्थ है। इसलिये जितनी अधिक प्रदक्षिणा की जाय, उतनी ही अधिक दिव्यताके पुट हमारे व्यक्तित्वको प्राप्त होंगे और व्यक्तित्वका वलय उससे पुनीत होकर स्वच्छ होगा। क्या यह तर्कशुद्ध तथा विज्ञानसम्मत निष्कर्ष नहीं है? धर्मशास्त्रका स्वरूप अधिकतर आधिदैविक है। इसी कारण हमारी ग्रहणशक्ति या प्रज्ञाको यदि उसीके अनुरूप हम दिव्य बना सकें तो शास्त्रोंमें वर्णित सभी तत्त्व तर्क, विज्ञान तथा प्राकृतिक नियमों इत्यादिपर आधारित दिखायी देंगे और हम उन्हें शास्त्रीय तथा शास्त्रसम्मत कह सकेंगे।

दैवी आभामण्डलकी गति दक्षिणवर्ती होती है। उसके विरुद्ध अपनी गति होनेपर अर्थात् वामवर्ती प्रदक्षिणा करनेसे हमारे अंदर जो दिव्य परमाणु पहलेसे हैं, उनमें तथा ज्योतिर्मण्डलकी गतिमें संघर्ष निर्माण होगा; उसमें उनका अपव्यय होकर वे नष्ट हो जायँगे। दिव्य या पुण्य कणोंका नाश होना एक प्रकारसे पाप ही है। इसके विपरीत दिव्य परमाणुओंका संचय पुण्य है। इसीलिये वामवर्तिनी परिक्रमा पापरूप है तथा वर्जित है।

दक्षिणवर्तिनी प्रदक्षिणा पुण्यरूप होनेसे ग्राह्य एवं विहित समझी जाती है। कार्य-कारणका इस प्रकार विवेचन करनेसे यह पता चलता है कि यह परम्परागत अन्धविश्वास न होकर विज्ञानसम्मत तथ्य है।

परिक्रमाके योग्य वस्तुकी परिक्रमा न करना, जहाँ पाप समझा जाता है, वहाँ बायीं ओरसे उलटी परिक्रमा करना तो और भी पाप माना जायगा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इसका कारण भी स्पष्ट है—परिक्रमायोग्य, दिव्य वस्तु यथा—भगवान्, देवता आदि अपनी परिक्रमा करनेवालेको अपने तेजःकण उनकी दक्षिणावर्तिनी गति होनेके कारण स्वभावतः ही देते हैं। उनका यह तेजोदान वर-प्रदान है, जो सम्भावित विघ्नों एवं संकटोंका नाश करनेमें समर्थ है। परंतु ऐसी इन महान् विभूतियोंकी परिक्रमा यदि उपासकोंने न की तो उनके ये तेजःकण अथवा दिव्य परमाणु व्यर्थ चले जाते हैं। परिणामस्वरूप सम्भावित संकटोंके निराकरणका वर या सामर्थ्य प्राप्त करनेसे हम वञ्चित रह जाते हैं। परिक्रमाके योग्य विभूतियोंकी परिक्रमा न करनेसे हम अपने ही हितका तथा कल्याणका नाश कर देते हैं। इस प्रकार पापके भागी बनते हैं। इसका एक उत्तम दृष्टान्त इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न होनेवाले महाराज दिलीपका है। स्वर्गसे पृथ्वीपर लौटते समय उन्हें मार्गमें देवताओंकी दिव्य गौ कामधेनु दिखायी दी, पर राजा दिलीपने उस ओर दुर्लक्ष्य किया और उसकी परिक्रमा नहीं की। इसपर गोमाता क्रुद्ध हो गयीं। उसका परिणाम यह हुआ कि परिक्रमा करनेसे उन्हें जिन पुण्यकर्मोंका लाभ हुआ होता और उसके कारण उनके पूर्वजन्मोंके पापके फलस्वरूप संतान न होनेमें जो बाधा थी, उसका नाश हो गया होता, जिससे आगे चलकर संतानकी प्राप्ति हो सकती थी। परंतु दिलीपके ऐसा न करनेके कारण वह बाधा ज्यों-की-त्यों बनी रही। उन्हें निःसंतान रहनेका दुःख भोगना पड़ा। परंतु कुछ कालके बाद ऋषि वसिष्ठको अपनी दिव्यदृष्टिसे राजाके इस पूर्वके प्रमादका पता चला। उसके परिमार्जनके लिये प्रायश्चित्तके रूपमें राजाको कामधेनुकी पुत्री नन्दिनी गौकी दीर्घकालतक सतत और निरलस होकर सब प्रकारकी सेवा करनी पड़ी। इस सेवासे—परिक्रमा न करनेके पापसे राजाके शुद्ध होनेपर, नन्दिनी एवं स्वयं कामधेनुने राजापर प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया, जिससे उन्हें पुत्रकी प्राप्ति हुई! यह कथा जानकार लोगोंको भलीभाँति ज्ञात है। तात्पर्य यह है कि विभूतिकी परिक्रमा न करना प्रमादमात्र है। उस विभूतिके पवित्र गुणोंसे अलिप्त तथा वञ्चित रहनेकी स्थिति शाप तथा पापरूप होनेपर भी पश्चात्ताप तथा प्रायश्चित्तके द्वारा इस पापकी निवृत्ति की जा सकती है अर्थात् यह निवृत्ति शाप-निवारक बन जाती है। सारांश यह कि तटस्थता तथा उपेक्षा, जहाँ प्रमाद समझा जाता है, वहाँ परिक्रमामें उलटी गति स्वीकार करना तो और भी बड़ा पाप है।

केवल महादेवजीके बारेमें तेजोलहरीकी गति केवल दाहिनी ओर नहीं है; अतः अरघे (जलहरी) के निचले भागके कोनेतक जाकर यह पुनः वापिस लौटती है, इसी कारण उनकी परिक्रमा विशिष्ट प्रकारसे दोनों ओर करनेका विधान है, (अर्थात् इस कारणका भी आकलन किया जा सकता है, परंतु इसकी विज्ञानसिद्ध कार्य-कारणपरम्पराका विवेचन करनेसे विषय-विस्तारका भय है, इसलिये इस लेखमें हमने केवल इसका उल्लेखमात्र कर दिया है।) परंतु इस एकमात्र अपवादको छोड़कर सभी दिव्य प्रभा दक्षिणवर्तिनी या दाहिने हाथकी ओर गतिमान् होनेसे उसीके अनुसार की गयी परिक्रमा शास्त्रसम्मत है। इसी शास्त्रीय आधारके कारण ही ऐसी विशिष्ट परिक्रमाको स्वभावतः 'प्रदक्षिणा' कहा गया है। जिस प्रकार लोह-चुंबककी शक्तिकी गतिकी दिशा चुंबकपर कागज रखकर उसके ऊपर चिपके हुए लोहकणोंकी गतिसे दिखायी देती है, उसी प्रकार दिव्य लहरियोंका दक्षिणावर्तन भी प्रगत, सूक्ष्म तथा दिव्य प्रज्ञा या बुद्धिके ध्यानमें आ सकता है। इसी प्रकार अदृश्य—परंतु सत्यके भानके रहस्यज्ञानको समझा जा सकता है।

देवताके चारों ओर घूमनेवाले आभामण्डलका चिह्न ही 'स्वस्तिक' होनेके कारण तथा वह देवताका प्रतीक होनेके कारण शास्त्रमें उसे शुभ माना गया है। तर्कसे भी इसे सिद्ध किया जा सकता है और यह मान्यता श्रुति-द्वारा प्रतिपादित तथा युक्तिसंगत भी दिखायी देती है। यदि जानकार लोगोंको इस प्रकारकी अनुभूति भी होती है, तो इसमें आश्चर्य कुछ नहीं। श्रुति, अनुभूति तथा युक्ति—इन तीनोंका यह एक-सा प्रतिपादन प्रयागराजमें होनेवाले संगमके समान है। इसे यों देखिये—दिशाएँ मुख्यतः चार हैं। खड़ी तथा सीधी रेखा खींचकर जो धनचिह्न (+) जैसा आकार बनता है, वह आकार चारों दिशाओंका द्योतक (प्राचीन तथा अर्वाचीन समयमें और पूर्वी तथा पश्चिमी देशोंमें) सर्वत्र तथा सदैव यही माना

गया है। तेजोलहरी चारों दिशाओंमें अर्थात् सभी दिशाओंमें दाहिनी ओरसे गतिमान् है, यह प्रदर्शित करनेके लिये उसका रेखाचित्र (Diagram) किस प्रकार बनाया जा सकता है, इसका सीधा सरल उत्तर है कि धनचिह्नके आकारकी चारों भुजाओंके कोनेसे ९० अंशका कोण बनाने-वाली एक रेखा दाहिनी ओर खींचनेसे यह पूरा कार्य हो जाता है। इसका प्रारम्भ ऊपरवाली भुजासे करना स्वाभाविक ही है। प्रथमतः आकारकी जो ऊपरकी भुजा है, वहाँ दाहिनी दिशामें एक रेखा खींची जाय। उसके बाद उस पूरे आकारको उस रेखाकी दिशामें अर्थात् दाहिनी ओर घुमानेसे पूर्वी दिशाके बायीं ओरकी भुजा चक्रगतिसे ऊपरकी ओर आ जायगी। अब दाहिनी ओर रेखा खींचनेसे और इस प्रकार सब मिलाकर चार बार करनेसे जो चिह्न बनता है, वह दाहिनी ओरकी गति अर्थात् दक्षिणवर्ती गतिका प्रतीक है। तेजोवलयके दाहिनी ओरसे गतिमान् होनेके कारण पर्यायसे तथा इस रेखाचित्रको देवताके तेजका ही प्रतीक मानना होगा।

देवताका तेज कल्याणकारक होता है। यह उपासकोंके लिये श्रेष्ठ है। इसीलिये हम तेजकी गतिके अनुरूप गतिको स्वीकार करते हैं अर्थात् परिक्रमा करते हैं। उसी प्रकार कल्याणकारी गतिके चिह्नको 'स्वस्तिक' कहा जाना उचित ही है। 'स्वस्ति'का अर्थ है—क्षेम, मङ्गल इत्यादि प्रकारकी शुभता एवं 'क' अर्थात् कारक या करनेवाला। इसलिये देवताका तेज शुभ करनेवाला—स्वस्ति करनेवाला है और उसका गति-सिद्ध-चिह्न 'स्वस्तिक' कहा गया है।

परिक्रमाके विवेचनमें यह थोड़ा-सा विषयान्तर दिखायी पड़ सकता है, तो भी स्वस्तिकके चिह्नका रहस्य भी परिक्रमाके रहस्यके समान किस प्रकार है, इसका सहसा ध्यान आनेके कारण तथा इस चिह्नके सम्बन्धमें काफी साधकोंमें जिज्ञासा होनेके कारण इसका विवेचन किया गया है। उपासनाका रहस्य जाननेके लिये इच्छुक जिज्ञासुओंको यह उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसी आशा है। सारांश यह है कि देवताके तेजकी गति और उसके पुण्यकारक प्रभावमें परिक्रमा-तत्त्वका शास्त्रीय रहस्य निहित है। यह विचारवान् लोगोंके ध्यानमें अब सहज ही आ जायगा।

उपासनामें पुष्प

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

'कुलार्णव-तन्त्र' (१७। ५८) में 'पुष्प' शब्दकी बड़ी सुन्दर निरुक्ति की गयी है। उसमें लिखा है कि पुण्यको बढ़ाने, पापोंको भगाने और श्रेष्ठ फलको प्रदान करनेसे यह 'पुष्प' कहा जाता है।[1] देवोपासनाके समस्त उपकरणोंमें पुष्प ही सर्वोत्तम दिव्य साधन कहा गया है। देवतालोग रत्न, सुवर्ण, भूरि द्रव्य, व्रत, तपस्या एवं अन्य किन्हीं भी साधनोंसे उतना प्रसन्न नहीं होते, जितना वे एक पुष्प प्रदान करनेसे प्रसन्न होते हैं—

पुष्पैर्देवाः प्रसीदन्ति पुष्पे देवाश्च संस्थिताः।
न रत्नैर्न सुवर्णेन न वित्तेन च भूरिणा।
तथा प्रसादमायाति यथा पुष्पैर्जनार्दनः॥

(बृहन्नारदीय० पूर्व० ६७, श्रीविष्णुधर्मोत्तर० ३।३६८।१—१०)

'शारदातिलक' आदिके अनुसार देवताका मस्तक सदा पुष्पसे सुशोभित रहना चाहिये।

देवस्य मस्तकं कुर्यात्कुसुमोपहितं सदा।

(स्कन्द० काशीखंड)

पर अशुद्ध, बासी,[2] जमीनपर गिरे कटे-फूटे, कीड़ोंसे खाये तथा दूसरोंसे माँगे या चुराये हुए पुष्प देवतापर नहीं चढ़ाने चाहिये—

पुष्पं च कृमिसम्भिन्नं विशीर्णं भग्नमुद्गतम्।
सकेशं मूषिकोद्धूतं यत्नेन परिवर्जयेत्॥
याचितं परकीयं च तथा पर्युषितं च यत्।
अन्त्यस्पृष्टं पदास्पृष्टं यत्नेन परिवर्जयेत्॥
उग्रगन्धं न दातव्यं त्वन्यदेवगृहोद्भवम्।
स्वयं पतितपुष्पाणि त्यजेदुपहितानि च॥

(कालिकापुराण, ७२-७३ शारदातिलक, श्रीविष्णुधर्मोत्तरपु० २। ९१। ४—७, तन्त्रसार, पूजापङ्कजभास्कर इत्यादि)

---

१. पुण्यसंवर्धनाच्चापि पापौघपरिहारतः।
पुष्कलार्थप्रदानाच्च पुष्पमित्यभिधीयते॥

(कुलार्णवतन्त्र १७। ५८)

२. कमल एवं कुमुद—ये क्रमशः ११ तथा ५ दिनतक बासी नहीं होते। (भविष्यपुराण)। तुलसीपत्र, बिल्वपत्र, अगस्त्य-पुष्प—ये कभी बासी नहीं होते। (शारदातिलक, टीका राघवभट्ट पदार्थादर्श, मेरुतन्त्र १। ७६)

पर बेलपत्र तथा पान, खदिर, आमलकी एवं तुलसीके टूटे-फटे पत्र भी चढ़ाये जा सकते हैं—

धात्री (तुलसी) खदिरबिल्वानां तमालस्य दलानि च।
छिन्नभिन्नान्यपि मुने न दुष्याणि जगुर्बुधाः।
सर्वदा तुलसी शुद्धा बिल्वपत्राणि वै तथा।
(बृहन्नारदीय० पूर्व० ६७। ६८-६९)

शास्त्रोंमें मध्याह्न-स्नानके बाद पुष्प तोड़नेकी सख्त मनाही है—

स्नात्वा मध्याह्नसमये न छिन्द्यात् कुसुमं नरः।
देवतास्तन्न गृह्णन्ति भस्मीभवति काष्ठवत्॥
(लघुहारीत ४१, शारदाति० पदार्थां० राघवभट्ट)

भगवान् शंकरपर कुन्द, केतकी; विष्णुपर धतूरा; देवीपर आक (मदार) पुष्प न चढ़ावे तथा तगरका पुष्प भगवान् सूर्यको न अर्पित करे—

शिवे विवर्जयेत् कुन्दमुन्मत्तं च हरौ तथा।
देवीनामर्कमन्दारौ सूर्यस्य तगरं तथा॥

भगवान् विष्णुके लिये तुलसीपत्र, बिल्वपत्र, आमलकी-पत्र, भृङ्गारपत्र तथा मालती, मल्लिका, यूथिका, अतिमुक्तक, गुलाब, कनेर, कुब्जक, कर्णिकार, चम्पा, तगर, अशोक, तिलक एवं कमलके तथा श्रेष्ठ गन्धवाले पुष्प प्रशस्त माने गये हैं।[3] लक्ष्मीका प्रायः सभी पुष्पोंमें ही वास है, पर कमल उन्हें अधिक प्रिय है—

लक्ष्मीर्वसति पुष्पेषु लक्ष्मीर्वसति पुष्करे।

कोई भी पत्र-पुष्प या फल किसी भी देवतापर उलटकर नहीं चढ़ाना चाहिये—'यथोत्पन्नं तथार्पणम्' पर पुष्पाञ्जलिमें एवं बिल्वपत्रके लिये इसकी छूट है—

पुष्पाञ्जलौ न तद्दोषः···बिल्वपत्रमधोमुखम्।[4]

चम्पाकी कलीको छोड़कर किसी दूसरे पुष्पकी कली भी देवतापर नहीं चढ़ानी चाहिये—

चम्पस्य कलिकास्त्यक्त्वा कलिकामपि वर्जयेत्।
(कालिकापुराण विष्णुधर्म० २। ९१। ७)

गौतमीतन्त्र, महाभारत आश्वमेधिकपर्व, वैष्णवधर्मपर्व ८।६०।११० तथा वृद्धगौतमस्मृति (मोर सं० ८। ७३—१०० में पुष्पविधिका बड़ा विस्तार है)। वहाँ भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे अपने लिये कुमुद, कनेर, मल्लिका, जाति, चम्पा, नन्द्यावर्त (तगर-पुष्प इसे भगवद् या विष्णुवृक्ष भी कहा जाता है। द्रष्टव्य) हेमचंद्र, अभिधानचिंता तथा अनेकार्थसं० कोश पलाशपत्र, पलाशपुष्प, दूर्वा, भृंगार और वनमालाको परमप्रिय कहा है। कमलका पुष्प भगवान्को लक्ष्मीका निवास होनेसे अन्य सबकी अपेक्षा हजारगुना अधिक प्रिय है और कमलसे भी हजारगुना उन्हें तुलसी प्रिय है—अतः जब कोई पुष्प न दिखे तो तुलसीपत्रसे पूजा कर देनी चाहिये—

सर्वेषामपि पुष्पाणां सहस्रगुणमुत्पलम्।
तस्मात्सहस्रपत्रं तु पुण्डरीकं ततः परम्॥
पुण्डरीकसहस्रात्तु तुलसी गुणतोऽधिका।
पुष्पालाभे तुलस्यास्तु पत्रैर्मामर्चयेद् बुधः॥
(गौतमीतं० महा० अश्वमेध वैष्णवपर्व दाक्षिणा० सं० १०९। ७७-७८, कुम्भकोणम् संस्करण १०४। ७८-७९, वृद्धगौतमस्मृति ८। ७७-७८)

यदि तुलसीपत्र भी न मिल सके, तो उसकी शाखा, मूल या मृत्तिकासे ही पूजा करनी चाहिये—

शिफाऽलाभे मृदा तत्र भक्तिमानर्चयेत माम्।
(वही सव ७९)

यहाँ भगवान् विष्णुके लिये वर्ज्य पुष्पोंकी संख्या भी बड़ी लम्बी है। यथा—किंकिणी, अगस्त्य, धतूर, पाटल (पाढ़र वृक्ष, इसके पत्ते बेलके समान तथा फूल उजले तथा किसी-किसीके लाल भी होते हैं), अमुक्त, वैभतिक, पुन्नाग,

---

३. बिल्वपत्रं शमीपत्रं पत्रं भृङ्गरजस्य तु।
तमालामलकीपत्रं शस्तं केशवपूजने॥
(हरिभक्तिविलास १। ७। २४२)

४. पुष्पं वा यदि वा पत्रं फलं नेष्टमधोमुखम्।
(क) नार्पयेत् कुसुमं पत्रं फलं देवे ह्यधोमुखम्।
दुःखदं तत्समाख्यातं यथोत्पन्नं तथार्पणम्॥
(मेरुतन्त्र ५। ७५९, बृहन्नारदीयपुराण, सात्वततन्त्र ६७। ७०)

(ख) बिल्वपत्र एवं धतूर भगवान् शंकरको परमप्रिय है। यों २१ पुष्प उन्हें बहुत प्रिय हैं—अगस्त्य, जपाकुसुम (अड़हुल), बंधूक, करवीर (कनेर), निर्गुण्डी, हरश्रृङ्गार इत्यादि। दूर्वाद्वारा शिवपूजासे आयु तथा धतूरसे पुत्रकी प्राप्ति होती है—

आयुःकामो भवेद् यो वै दूर्वाभिः पूजनं चरेत्।
पुत्रकामो भवेद् यो वै धत्तूरकुसुमैश्चरेत्॥
(शिवपुराण, रुद्रसंहिता, सृष्टिखं० १४। २६, प्रायः यह पूरा अध्याय पुष्पनिर्णयपर ही है।)

नक्तमाल, यौथिक (जूही), निर्गुण्डी, जांगुली, जपा (अड़हुल), कर्णिकार (कचनार), अशोक, शाल्मलि (सेमर), ककुभ (अर्जुनवृक्ष), कोविदार, कुरण्टक, कल्पक, अकोल, गिरिकर्णिका, नील, एकपर्ण (टूटे तथा एक पत्तेवाले भी) आक एवं पिचुमन्द (नीम) इत्यादिके पुष्प भगवान् विष्णुपर नहीं चढ़ाये जाने चाहिये तथा आक पत्तेपर रखे या गिरे हुए फूल भी नहीं चढ़ाने चाहिये—

वर्जनीयानि पुष्पाणि शृणु राजन् समाहितः।
किङ्किणी मुनिपुष्पं च धत्तूरं पाटलांस्तथा॥
तथापि मुक्तकं चैव पुन्नागं नक्तमालिकाम्।
यौथिकं क्षीरिकापुष्पं निर्गुण्डी लाङ्गुली जपा॥
कर्णिकारं तथाशोकं शाल्मलीपुष्पमेव च।
ककुभाः कोविदाराश्च वैभीतकमथापि वा॥
कुरण्टकप्रसूनं च कल्पकं कालकं तथा।
अङ्कोलं गिरिकर्णी च नीलान्येव च सर्वशः॥
एकपर्णानि चान्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत्।
अर्कपुष्पाणि वर्ज्यानि अर्कपत्रस्थितानि च॥
व्याघृताः पिचुमन्दादिसर्वाण्येव विवर्जयेत्॥

(महाभारत वैष्णवधर्मपर्व० दाक्षिणा० सं० १०९। ८०—८३, कुम्भकोणम् संस्क० १०४। ८०—८४, वृद्धगौतमस्मृति० ८। ८०—८४)

अन्यत्र भी कहा गया है—

शिरीषोन्मत्तगिरिजामल्लिकाशाल्मलीभवैः।
जपाकुन्दशिरीषैश्च यूथिकामालतीभवैः॥
अर्कजैः कर्णिकारैश्च विष्णुर्नार्च्यस्तथाक्षतैः।
केतकीभवपुष्पैश्च नैवार्च्यः शंकरस्तथा॥
गणेशं तुलसीपत्रैर्दुर्गां नैव तु दूर्वया।
मुनिपुष्पैस्तथा सूर्यं लक्ष्मीकामो न चार्चयेत्[5]॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, कार्तिकमाहात्म्य ९४। २६—२८, ६, मेरुतन्त्र ५। ७६१, बृहन्नारदीयपुराण पूर्वभाग, ६७। ६०—७०)

करवीर एवं जपापुष्प दुर्गा देवीको अधिक प्रिय है।

(योगिनी-तन्त्र पटल ७। पुरश्चरणोल्लास, बृहन्नील-तन्त्र २।७)

पद्मपुराण उत्तरखण्डके ८९ वें तथा २८०। १३९—१५५ श्लोकतकके (पूना संस्करण, मोर प्राच्य सं०, वंगवासी तथा श्रीवेंकटे० सं०में यह क्रमशः ८७ तथा २५३ वाँ अध्याय हैं) अध्यायोंमें तो विष्णु-पूजनमें मासभेदसे भी पुष्पभेदोंका निर्देश हुआ है। वहाँ कहा गया है कि चैत्रमें कमलपुष्प, जातिपुष्प, चम्पा, दौना, कटसैरया, वरुण-पुष्प तथा विल्वपुष्पोंसे भी भगवान् केशवकी पूजा करनी चाहिये। वैशाख मासमें केतकी (केवड़े) के पत्तेसे महाप्रभु श्रीविष्णुकी पूजा करनी चाहिये। ज्येष्ठ मासमें तो पूर्वोक्त सभी पुष्पोंका उपयोग करना चाहिये। आषाढ़में करवीर (कनेर), कदम्ब तथा कमलपुष्पोंसे पूजा करनी चाहिये। घनागमके समय घनश्यामकी जो कमलपुष्पके तुल्य ही प्रिय कदम्ब पुष्पोंसे पूजा करता है, भगवान् सृष्टिपर्यन्त उसकी कामनाओंको पूरी करते रहते हैं। श्रावणमें अलसी पुष्प तथा दूर्वादलसे प्रभु श्रीहरिनारायणकी उपासना करनी चाहिये। भादोंमें चम्पा, श्वेत पुष्प, रक्त सिन्दूरक तथा कल्हार (कमल)के पुष्पोंसे उनकी पूजा करनी चाहिये। पर भाद्रपद मासमें भगवान् विष्णुकी केतकी (केवड़े) के पुष्पसे पूजा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि भाद्रपदमें केतकी सुरा (मदिरा) तुल्य मानी गयी है—

यतो भाद्रपदे मासि केतकी स्यात् सुरासमा।

(पद्मपुराण, क्रियायोग० ७। १३। ४२)

आश्विनमें जूही, चमेली एवं कार्तिकमें कमलपुष्पोंसे भगवान्की पूजा करे। कार्तिकमें छितवन, मौलसिरी, चम्पा आदिकी विशेष महिमा है। मार्गशीर्षमें वकुल पुष्पसे, पौषमें तुलसीदल तथा कस्तूरीमिश्रित जलसे एवं माघमें नाना प्रकारके पुष्पोंसे प्रभुकी पूजा करनी चाहिये। फाल्गुनमें नवोद्गत वासन्तिक पुष्पोंसे प्रभुकी पूजा करे। माघ-फाल्गुनमें कर्पूरकी आरती करे तथा विशेष नैवेद्य अर्पित करे—

चैत्रे तु चम्पकेनैव जातिपुष्पेण वा पुनः।
पूजनीयः प्रयत्नेन केशवः क्लेशनाशनः॥
वैशाखे तु सदा देवि ह्यर्चनीयो महाप्रभुः।
केतकीपत्रमादाय वृषस्थे च दिवाकरे॥
येनार्चितो हरिर्भक्त्या प्रीतो मन्वन्तरं शतम्।

---

५. (क) तदनुसार शिवजीपर केतकी, गणेशजीपर तुलसी एवं दुर्गाजीको दूब नहीं चढ़ाना चाहिये।

(ख) पर आश्विनमें जूही तथा अक्षयतृतीयाको भगवान् विष्णुपर अक्षत चढ़ाया जाता है। साथ ही 'अक्ष' तशब्दसे यव (जौ) का भी ग्रहण होता है, चावलोंका नहीं—

अक्षतास्तु यवाः प्रोक्ता भ्रष्टा धाना सुराह्वताः।

(कात्यायनस्मृति, गोभिलस्मृति छान्दोग्य० परिशिष्ट १। ४)

घनागमे घनश्यामः कदम्बकुसुमार्चितः ।
ददाति वाञ्छितान् कामान् यावदिन्द्राश्चतुर्दश ॥

(इत्यादि—प्रायः पूरा ८९ वाँ तथा २८० अध्याय ही)

चम्पक-पुष्पके सम्बन्धमें एक मनोरम कथा

शास्त्रोंमें—

सौवर्णाच्च प्रसूनात्तु मत्प्रियं नास्ति पाण्डव ।

(वृद्धगौतमस्मृति० ८ । ७८; महाभारत, अश्वमेध, वैष्णव, ७८)

इत्यादि वचनोंसे कई स्थलोंपर सुवर्णपुष्प अर्पण करनेकी चर्चा है । यह सुवर्णपुष्प चम्पक या चम्पा ही है । इसकी महिमाके सम्बन्धमें कहा गया है कि इस एक सुवर्णपुष्पसे प्रभुकी पूजाका फल मेरुतुल्य सुवर्णदानके बराबर या उससे भी अधिक है—

मेरुतुल्यसुवर्णानि दत्त्वा भवति यत्फलम् ।
एकेन स्वर्णपुष्पेण हरिं सम्पूज्य तत्फलम् ॥

(पाद्म०, क्रियायोग १० । ३४)

जिसने इस सुवर्ण (चम्पक) पुष्पके द्वारा भगवान्‌की पूजा नहीं की, वह जन्म-जन्मान्तरोंमें रत्न-सुवर्णादिसे रहित—दरिद्र होता है—

सुवर्णकुसुमैर्दिव्यैर्येन नाराधितो हरिः ।
रत्नैर्हीनः सुवर्णाद्यैः स भवेज्जन्मजन्मनि ॥

(वही ३६)

इस रहस्यके सम्बन्धमें एक कथा व्यासजीद्वारा जैमिनि मुनिसे कही गयी प्राप्त होती है ।

कहते हैं कि पहले आर्यावर्तमें एक सुवर्ण नामका राजा रहता था । वह बड़ा ही धनी, बली तथा विद्वान् भी था । पर वह कुसंगति एवं अहंकारके कारण पाप-परायण हो गया । एक रात्रिमें वह संगीतासक्तिके कारण उज्ज्वला नामक वेश्याके यहाँ अभी पहुँचा ही था कि द्रोही प्रजाने वहीं घेरकर उसे मार डाला । इधर यमदूत भी उसे लेने आ गये । पर वेश्याने राजाके स्वागतमें एक सुवर्णपुष्प दिया था, जिसे लेते ही उसकी सुन्दरतापर मुग्ध होनेके कारण राजाके मुखसे अकस्मात् 'नमो नारायणाय' उच्चरित हो गया था । अतः विष्णु भगवान्‌द्वारा भेजे गये विष्णुदूत भी वहाँ पहुँच गये । वे यमदूतोंको मार-पीटकर सुवर्णको विष्णुलोक ले गये । भगवान्‌ने उस राजाको गले लगाकर पुनः जीवित कर दिया । राजाने प्रभुके सामने दीनतापूर्वक स्तुति की, तो प्रभुने उसके पूर्वमनोरथोंको परिपूर्ण करनेके लिये विश्वकर्माद्वारा विनिर्मित अत्युत्तम दिव्य सुवर्णके आभूषणोंद्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही मण्डित कर दिये । पुनः वह प्रभुकी आज्ञासे पृथ्वीपर लौट आया तथा प्रतिदिन मन्दिरमें जाकर स्वर्णपुष्पों (चम्पाके फूलों) द्वारा प्रभुकी पूजा करने लगा । मन्दिरमें प्रभु उसे वैकुण्ठके समान ही मिलते एवं वार्तालाप-प्रेमालाप करते । अब इस धर्मसे उसकी आयु बढ़ने लगी और वह नौ हजार नौ सौ मन्वन्तरोंतक पृथ्वीपर शासन करता रहा । चम्पकपुष्पसे पूजा तो उसकी सदा चलती रही ही—

स राजा विष्णुमन्दिरे·····
मन्वन्तरसहस्राणि तथा नवशतानि च ।
प्रजानां पालनं चक्रे स राजा धर्मतत्परः ॥
पूजयामास सततं भक्त्या परमया हरिः ।
चारुचम्पकपुष्पैश्च नैवेद्यैर्विविधैश्च सः ॥

(वही—क्रियायोग १० । ७१–७३)

अन्तमें गङ्गातटपर स्वेच्छया विना क्लेशके शरीर त्यागकर वह प्रभुमें ही जा मिला—ऐसी चम्पकपुष्पकी महिमा है ।[६]

समासाद्य ययौ मोक्षं प्रसादाच्चक्रपाणिनः ।

(वही ७३)

इसी प्रकार पुष्पार्चनके प्रभावसे राजा नृग, ययाति, नहुष, करन्धम, दिलीप, युवनाश्व, भगीरथ, रघु आदि अनेक

६. इसी प्रकार क्रियायोगसारके १३वें अध्यायमें कमल-पुष्पकी महिमापर एक सुन्दर कथा मिलती है । संक्षेपमें—प्रजा नामका एक धर्मात्मा ब्राह्मण था । वह पूर्वजन्म-विज्ञानके लिये शिव-क्षेत्रमें जाकर भगवान् शंकरकी स्तुति करने लगा । भगवान् शीघ्र ही प्रकट हुए और बतलाया कि वह पूर्वजन्ममें दण्डपाणि नामका शबर (भील) था । वह व्याध एवं दस्यु-वृत्तिसे रहकर बड़ा ही पाप करता रहा; पर एक दिन उसने सर्ववेदा नामके ब्राह्मणके माँगनेपर पूजाके लिये एक कमलका पुष्प दे दिया था । जब सर्ववेदाने उसके द्वारा भगवान्‌की पूजा की तब वह बहुत प्रसन्न हुआ । इसीसे उसके सारे पातक नष्ट हो गये और स्वर्गसे वापस आकर भगवद्भक्त ब्राह्मण हुआ था । बादमें पुनः कमलसे प्रभुकी पूजा कर वह मुक्त हुआ । भगवान् शंकरके दर्शनसे उसका परम श्रेय हो गया—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमेव मयोच्यते ।
कमलैर्हरिमभ्यर्च्य प्राप्यते परमं पदम् ॥

(पद्म० क्रियायोग १३ । १६७)

राजाओंने भी निष्कण्टक चक्रवर्ति-सार्वभौम साम्राज्य प्राप्त किया था—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं दूर्वाङ्कुरमथापि वा।
अरण्यादाहृतैः पुष्पैः सम्पूज्य मधुसूदनम्॥
पूर्वजन्मनि [illegible] राज्यं शृणु नराधिप।
नृगो ययातिर्नहुषो विष्वगश्वः करन्धमः।
दिलीपो युवनाश्वश्च ऋतुपर्णो भगीरथः।
देवरातः ककुत्स्थश्च विनीतो विक्रमो रघुः॥
एते चान्ये च बहवः प्रापू राज्यमकण्टकम्॥

इत्यादि।

(श्रीविष्णुधर्मोत्तरमहापुराण १। १६९। १३–२७ तथा द्रष्टव्य—गो० तुलसीदासकी कवितावली ७। १६३ भी)

भावपुष्प

इसके अतिरिक्त पुराणोंमें बार-बार अहिंसा, क्षमा, सत्य आदि भावपुष्पोंका भी वर्णन आया है। इनसे प्रभुकी पूजा करनी चाहिये—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं सत्यं चैव द्वितीयकम्।

इत्यादि। योगवासिष्ठ ६। १। २८ वें अध्यायके १–३७ श्लोकोंतक पूरी आध्यात्मिक पूजाका वर्णन है। उसमें सदा सर्वत्र चिन्मात्र प्रभुके दर्शनको ही वास्तविक पूजा कहा गया है—

एतदेव परं ध्यानं पूजैषैव परा स्मृता।
यदनारतमन्तःस्थशुद्धचिन्मात्रवेदनम्॥
(यो० वा० ६। १। ३८। २५-२६)

वस्तुतः इस दिव्यभावसे पुष्पार्पण पूजाकी श्रेष्ठ विधि है।

उपासनामें शुचि वेषका महत्त्व

(लेखक—श्रीपृथ्वीराज भालेराव)

शुचि वेष उपासनाका आधार है; परंतु आधुनिक कालमें वैदिक संस्कृतिके विसरण और पाश्चात्त्य संस्कृतिके ग्रहणके कारण स्वयं उपासक या साधक स्वतः जो रुचता है, उसे ग्रहण करते हैं; इस विषयमें जैसा चाहिये, वैसा नहीं बर्तते। यह बात बहुत ही अनुचित है। यह समझनेकी बात है कि यदि किसी मकानकी नींव ठीक न हो तो उसपर बना हुआ मकान चाहे कितना ही भव्य, सुन्दर या ऊँचा हो, टिकाऊ नहीं हो सकता। इसी प्रकार शुचिताहीन उपासना चाहे कितनी ही साङ्गोपाङ्ग, कितनी ही समृद्ध क्यों न हो, उसमें निहित मूलभूत दोष सारी उपासनामें अनुस्यूत होनेके कारण उस उपासनाको कदापि शास्त्रानुकूल नहीं रहने देंगे।

शास्त्रानुकूल उपासनाका मूल आधार शुचित्व होनेके कारण उपासनाके पहले स्नान तथा स्नानोपरान्त वस्त्रधारण, आधारभूत कृतिकी शुचिता, शास्त्रीय दृष्टिसे देखनेपर, उपासकके लिये अत्यावश्यक जान पड़ती है। प्रस्तुत लेख केवल शुचि वेष तक सीमित होनेके कारण हम इस विषयमें संक्षेपसे आलोचना करते हैं। केवल प्रसङ्गवश एक महत्त्वपूर्ण बात कहकर यह सूचित करना है कि वैसी कोई बात बीचमें न आवे तो उपासनामें आदिसे इतितक केवल 'शुचिः' तत्त्वका ही मूल्य और महत्त्व अद्वितीय है। इससे ही साधनाका प्रारम्भ होनेके कारण शुचित्वकी दृष्टिसे इसका माहात्म्य प्रभावशाली है। अतएव उपासनाके साथ इस तत्त्वका सम्बन्ध कितना और कैसा महत्त्वपूर्ण है, इसे विज्ञ पाठक तथा उपासक सहज ही समझ सकते हैं, ऐसी आशा की जाती है।

पहले उपासकको शुद्ध जलसे स्नान करके स्वच्छ और पवित्र वस्त्र धारण करना चाहिये। उपासना-शास्त्रमें वेषका स्वतः एक विशिष्ट स्थान है। शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन—ये सर्वसाधारण उपासकके वेष होते हैं। धोती, उत्तरीय भी वैदिक कालमें वस्त्रोंमें परिगणित थे। जगन्नियन्ता प्रजापतिका अर्थात् सगुण परमात्माका दर्शन ऋषिलोग दिव्यदृष्टिसे करते थे। उन्होंने ब्रह्माजीको यज्ञोपवीतके साथ सगुण आकार धारण किये हुए देखा था। यज्ञोपवीतके मन्त्रसे ही यह सिद्ध होता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

ॐ यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥

इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि देव-देवीके स्वाभाविक वेष, उनकी भाषा सब दैवी होनेके कारण पवित्र थे, उनसे पवित्रताकी वृद्धि होनेके कारण अर्थात् उन्नति-साधन होनेके

कारण ऋषि-मुनियोंने उनका अनुकरण और प्रसार किया। विशिष्ट वेष-धारणका दूसरा उद्देश्य यह है कि अपने पसंदकी बात जब दूसरा अङ्गीकार करेगा तो वह सहज ही अपना प्रिय बन जायगा। यह बात मानस-शास्त्रकी दृष्टिसे सुस्पष्ट है। इस प्रकार वैदिक संस्कृतिमें प्रसरित वेष-परिधान करनेसे वेदवर्णित देवता प्रसन्न होते हैं; क्योंकि वह वेष उनकी पसंदगीका है। अस्तु, उपासनाका हेतु क्या है?—देवताको प्रसन्न करना ही तो है? इसलिये बात छोटी हो या बड़ी, देवताको प्रसन्न करनेके लिये बाल्यकालसे ही वह अवश्य ग्रहणीय होती है। अतएव साधनामें तत्त्वतः छोटे-बड़े भाव न होनेके कारण वेषका क्या महत्त्व रह जाता है?—यह सोचकर वेषादिकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। वेष, मन्त्र, जप, ध्यान, पूजा, स्तुति-स्तोत्र आदिमें कोई भी साधन हो, वह बाह्य होनेके कारण दृश्य हो या आन्तरिक होनेके कारण अदृश्य हो—तथापि साधनाकी दृष्टिसे उसका अपना महत्त्व है। इनमें आचार बाह्य होनेपर तथा इनका प्रारम्भ वेषसे होनेपर विज्ञ पुरुषकी दृष्टिमें इनका महत्त्व अकारण नहीं जान पड़ता।

'आचारः प्रथमो धर्मः।' 'आचारप्रभवो धर्मः' अथवा 'आचारः परमो धर्मः'—इत्यादि शास्त्रवचनोंके द्वारा आचार-धर्मका पालन उपासकके लिये अनिवार्य हो जाता है।

जो वेष वेदोंमें प्रशंसित है, देवताओंको प्रिय लगनेवाला है, उसे ही धारण करना चाहिये। 'वस्त्रोपवस्त्रे शुद्ध अकार्षीत'—शुद्धताका तत्त्व स्वच्छता और पवित्रता दोनोंपर अवलम्बित है। 'स्वच्छता'का अर्थ है 'बाह्य शुद्धता' और 'आन्तरिक शुद्धता'को 'पवित्रता' कहते हैं। बाह्य शुद्धता शारीरिक आरोग्यके लिये है और आन्तरिक शुद्धतासे मानसिक आरोग्यके बनाये रखनेमें सहायता मिलती है। उपासना मुख्यतः आन्तरिक अर्थात् मानसिक और आत्मिक उन्नति-साधनके लिये होती है। अतएव पवित्रताकी उपेक्षा करके केवल बाह्य स्वच्छतापर निर्भर करनेसे उपासकका काम नहीं निकल सकता। इसलिये जल-वस्त्रादि सारे उपासनाके साधनोंको शुचि यानी पवित्र बनाये रखनेपर ही लक्ष्य होना चाहिये।

यहाँ शुचिताके विषयमें वैज्ञानिक दृष्टिसे कुछ रहस्य-निदर्शन आवश्यक जान पड़ता है। चर और अचर अर्थात् प्राणी और जड पदार्थ, अपने विशिष्ट स्वभाव यानी गुण-धर्मसे आवेष्टित होते हैं। इसके अतिरिक्त परिवर्तनशील संस्कारके कारण यह आवेष्टन भी अनित्य होता है। इन दोनोंके मिलनेसे एक वलय तैयार होता है। उस वलयमें उलट-फेर, अच्छे-बुरे गुणकण कार्य-रत रहते हैं। इसको good and evil process कहना चाहिये। एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ सम्पर्क होनेपर उनके पारस्परिक वलयका मिश्रण होता है और उनसे संकर अर्थात् मिश्रस्वरूपके वलयका निर्माण होता है। इस वलयमें जीवदृष्टिसे वैचारिक और वैकारिक परमाणुओंके न्यूनाधिक मिश्रण होनेपर त्रिगुणोंका संचालन विविध शक्तियों (forces) के रूपमें चालू हो जाता है। उसके द्वारा दैवी-शक्तिकी हानि करनेवाले अर्थात् मारक और बाधक वलयोंके गुण 'अशुद्धिकर' होते हैं। इसके विपरीत अच्छे गुणोंसे युक्त परमाणु 'शुद्धिकर' होते हैं।

'आचार' प्रत्यक्षतः जाननेमें आता है और 'विचार' परोक्षतः। परंतु इसके दूसरी ओर अर्थात् भौतिक कक्षाके परले क्षेत्रमें जो कुछ चल रहा है, वह सामान्यतः दृष्टिगोचर नहीं होता और न जाननेमें आता है। केवल उस क्षेत्रमें प्रकृतिके और शक्तिके परिणाम होते रहते हैं, क्रिया-प्रतिक्रिया सतत चालू रहती है। यह गूढ़ तत्त्व बहुत ही महत्त्वका है। इस प्रकारकी क्रिया-प्रतिक्रियासे वलय-वलयमें जो संघर्ष उत्पन्न होता है, उस संघर्षमें दैवी गुणकणोंका ह्रास होते रहना स्वाभाविक होता है। उसको पलटकर अर्थात् अशुद्ध गुणकणोंका ह्रास करके दैवी गुणकणोंकी वृद्धि करना विशिष्ट विधिद्वारा ही हो सकता है। यहाँ विचारशक्ति कारगर नहीं होती, यह महत्त्वकी बात है। इस विधिका आधार आचार-धर्मपर रहता है। अर्थात् विशिष्ट प्रकारसे किये जानेवाले स्नान-आचमन आदि शुद्धि-कर्म दैवी गुणोंके उदयके लिये, पवित्रताके लिये अर्थात् शुचिकरणार्थ साधक होते हैं। इस शुद्धि या पवित्रताका उद्देश्य यह होता है कि अपने गतिशील वलय, जो इतर राजस-तामस अर्थात् अपवित्र प्राणी-पदार्थोंके सम्पर्कसे मिश्रित होते रहते हैं, वे शुद्ध होकर दीप्तिमान् हो उठें; यही नहीं—बल्कि शुद्ध होनेके बाद वे अधिक पुण्य-गुणोंसे युक्त हों। शुचित्वका रहस्य निश्चयपूर्वक इसीमें निहित है।

सारांश यह है कि विरोधी गुणोंका, शक्तियोंका वलयरूपमें एकत्र होना दोनोंके ही लिये घातक होता है; क्योंकि इसमें संघर्ष पैदा होता है। ये दोनों ही वलयान्तर्गत होनेवाले संघर्ष व्यक्तिकी दैवी और पारमार्थिक उन्नतिमें स्वभावतः बाधक होते हैं। यह विरोध या संघर्ष यद्यपि हमारे मनमें आभासित नहीं होता, तथापि सम्पर्कद्वारा सूक्ष्मतया घटित होता ही है। यह दैवी सत्य है। आधुनिक विज्ञानने भी यह

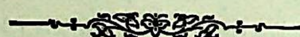
सिद्धान्त प्रस्थापित किया है कि जिसे हम प्रकट रूपमें नहीं जानते, वह संज्ञा-प्रवाह अन्तर्मनको ज्ञात होता है और उसका दृश्य-परिणाम किसी-न-किसी रूपमें दीख पड़ता है। अन्तर्मनकी यह ज्ञान-कक्षा निरोध या संघर्षसे युक्त होनेके कारण किसी-न-किसी प्रकार ज्ञात या अज्ञातरूपमें उसका स्फोट विकृतरूपमें होता है। आधि अर्थात् मानसिक रोग और व्याधि अर्थात् शारीरिक रोग उसी विकृतिके रूप हैं। उदाहरणार्थ आजकलके अपस्मार आदि रोग इसी कोटिमें आते हैं। इसके विपरीत अन्तर्मनमें स्थित ज्ञान अनुकूल और व्यक्तित्वके लिये अनुरूप होनेपर उसका परिणाम आरोग्य, उल्लास आदि रूपमें दिखलायी देता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो बात हमारी जानकारीमें नहीं है, वह है ही नहीं—ऐसा नहीं समझना चाहिये। वह अन्तमें कार्यरत होता है तथा 'फलानुमेयः प्रारम्भः'—इस नीतिके अनुसार परिणाम देखकर उसके मूलका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इस दृष्टि और क्रमसे अन्तर्मन (Sub-conscious mind) के आगे जानेपर वहाँ कार्य करता हुआ अज्ञात संज्ञा-प्रवाह दिव्यदृष्टिसे दीख सकता है। इस प्रवाहके समुदायसे चराचर पदार्थोंके, विशेषतः व्यक्तिके आधिदैविक वलय भरे रहते हैं। इन वलयोंमें पूर्वजन्मके शक्तिशाली संस्कार, जन्मजात गुणधर्म आदिकी लहरें आन्दोलित होती रहती हैं अर्थात् तत्तत् गुण-कणोंके स्पन्दनसे वे वलय परिपूर्ण होते हैं। जिस प्रकार प्रकृतिमें पानीका प्रवाह नीचेकी ओर बहता है, उसी प्रकार इस प्रवाहका खिंचाव स्वभावतः अवनतिकी ओर होता है। अतएव नलका पानी जैसे ऊपरकी ओर खींचा जाता है, उसी प्रकार उन्नति भी प्रयत्नपूर्वक साध्य हो सकती है। पूर्वजन्मोंके बलिष्ठ संस्कारोंके द्वारा जन्मसे ही उन्नतिकी ओर प्रवृत्ति हो तो इसे अपवाद ही समझना चाहिये। दूसरी बात यह है कि दृश्य-अदृश्य जगत्में तामस शक्तिका प्रभाव और प्राबल्य प्रकृतितः देखनेमें आता है। उसके द्वारा व्यक्ति-वलयकी लहरें उसका आहार बनकर दूषित हो जानेके कारण बहुत ही हानिप्रद हो जाती हैं। ऐसी स्थितिमें उन्हें दूषित न होने देना अर्थात् मुमुक्षु व्यक्ति उससे अलिप्त रहकर सम्भाव्य अवनतिको टाल दे, यही शुचि अर्थात् पवित्र करनेका मूल हेतु है। उदाहरणतः नीरोग मनुष्यके सहवाससे रोगी आदमीके अच्छा होनेकी बात सुननेमें नहीं आती; इसके विपरीत रोगके कीटाणुओंके प्रभावसे रोगी आदमीके पास रहनेवाला नीरोग मनुष्य भी बीमार पड़ जाता है। लोहेको अपने स्पर्शसे सुवर्ण बना देनेकी पारस-पत्थरकी शक्ति अथवा नालीके जलको अपनेमें मिलाकर शुद्ध कर देनेकी गङ्गाजीकी शक्तिको अपवाद-स्वरूप ही समझना चाहिये। अतिरिक्त इसके नालीमें मिलकर स्वच्छ स्रोतके जलको गंदा होनेका दृश्य सर्वत्र देखनेमें आता है। इसका कारण स्पष्ट है, और वह है—निसर्गतः तामस गुणका प्राबल्य। जगत्की उत्पत्ति भी तो मूलतः अज्ञान-वश हुई है, यह वेदान्तशास्त्रका सिद्धान्त है। अज्ञान तमोगुणका लक्षण है। अतएव यह स्वभावतः तमोगुणका ही प्रभाव है। सबसे प्रथम उत्पन्न और सबका आधार आकाश भी तो तमोरूप है! तथापि अपने अङ्गके तेजसे आकाशके भीतरके अन्धकारको दूर करनेका कार्य सूर्य-तारागण आदि अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार करते ही हैं। इसी प्रकार तमोगुणके प्रभावसे दूर रहकर, अपनी सामर्थ्यको बढ़ाकर उन्नत होना मानवका कर्त्तव्य है। इस प्रकारके अनिष्ट प्रभावको नष्ट करनेका एक प्रबल उपाय शुचि अर्थात् पवित्रताकी क्रिया है। इस प्रकार इस उपायसे शुद्ध होनेके बाद अपने वलयमें पुण्य प्रभावकी वृद्धि अर्थात् पवित्रीकरण होता है। अतएव ये दोनों प्रक्रियाएँ करनेसे उन्नयनका अथवा उपासनाका हेतु सफल होता है। सारांश यह है कि भौतिक आरोग्यकी दृष्टिसे स्वास्थ्यशास्त्र (Hygiene) का जो महत्त्व है, वैसा ही दैवी स्वच्छताके अथवा आरोग्यताके शास्त्रके अनुसार शुचिता या पवित्रताका महत्त्व है। इसको Divine Hygiene के नामसे पुकारना ठीक होगा।

तात्पर्य यह है कि स्वच्छता (भौतिक) और शुचित्व (दैविक) दोनों घटकों (Factors) के मिलानेसे 'शुद्धि'-तत्त्व पूर्ण होता है। इस दृष्टिसे वेषमें रेशमी, टसर अथवा सूती धौतवस्त्र शुद्ध माने गये हैं। इनमें शुद्धिके अतिरिक्त पवित्रताका अर्थात् पुण्यकारिताका ही गुणधर्म स्वभावतः निहित है। अशुद्धिकी क्षीण करनेकी प्रक्रियाको शुद्धिकरण तथा अशुद्धिकी क्षीणताके आगे शुद्धताकी दृढ़ताको पवित्रीकरण कहते हैं। धर्मशास्त्रोंके द्वारा ये दोनों ही प्रशंसित गुण जल और वस्त्रादिमें रहते हैं। इनके द्वारा हमारे चक्राकार मिश्रित वलय शुद्ध और दीप्तिमन्त होते हैं। उन वलयोंमें सत्त्वगुणके परमाणु और सात्त्विक शक्ति

संक्रमित होकर उनको दिव्य और तेजस्वी बनाते हैं। यह दिव्यता और तेजस्विता उपासनाके लिये नितान्त आवश्यक होती है।

सूती वस्त्रका रोज धोना आवश्यक है तथा उसको अन्य संस्कारोंसे अलिप्त शुचि तथा पवित्र होना चाहिये। रेशमी और ऊनी वस्त्र भी स्वच्छताकी दृष्टिसे खूब धुले होने चाहिये। इन तीनों प्रकारके वस्त्रोंमें मानसिक और दैविक शक्तिकी उन्नतिके लिये आवश्यक तेज निहित रहता है। सूक्ष्म प्रज्ञा होनेपर जो जानना चाहो, वह जान सकते हो। सूक्ष्म प्रज्ञा या दिव्यदृष्टि यदि एक बार प्राप्त हो जाय तो भी ऐसे वस्त्रोंमें रहनेवाले विद्युत्-तेज (Electricity) के द्वारा इनमें स्थित सुप्त-शक्तिका अनुमान हो सकता है। इस प्रकारकी सुप्त-शक्ति कृष्ण-मृगचर्म, दर्भ, पञ्चपल्लव, पञ्चगव्य, गङ्गोदक आदि पवित्र वस्तुओंमें पर्याप्त परिमाणमें रहती है। अतएव शुद्धिके लिये या पवित्रताकी प्राप्तिके लिये प्रसङ्गानुसार इन सबका उपयोग करना उपासनाकी दृष्टिसे अत्यावश्यक होता है।

सारांश यह है कि ऐसे स्वच्छ और शुद्ध अर्थात् शुचि और पवित्र वेष, जो वेद-सम्मत हैं, तथा वैदिक संस्कृतिके द्वारा अनुमोदित हैं, उनका परिधान करके उपासकको संध्या-पूजा, ध्यान आदि अङ्गोपाङ्गसे युक्त उपासना करनेसे वह उपासना शास्त्रानुकूल शुद्धिपर अवलम्बित होनेके कारण शीघ्र ही सफलता प्रदान करती है। अतएव विधियुक्त उपासनाको आचरणमें लानेवाले साधककी उन्नति स्वभावतः बहुमुखी और सर्वाङ्गीण होती है तथा वह इसके द्वारा आत्मोद्धार करके अन्य लोगोंके लिये निश्चित मार्गदर्शक बन सकता है।*



* उपासनामें शुचिता या शुद्धिकी बड़ी महत्ता है। शुद्धि निम्नलिखित रूपमें समझनी चाहिये—

१–जो ईमानदारी, सत्य तथा परहितयुक्त कमाईका हो—वह पैसा शुद्ध है।

२–जिसमें सम्मान, सत्य तथा हित भरा हो,—ऐसा बर्ताव शुद्ध है।

३–जिसमें निज-सुख-वासनाका त्याग एवं प्रेमास्पदको सुखी बनानेकी एकान्त इच्छा और क्रिया सहज हो,—वह 'प्रेम' शुद्ध है।

४–जिस सेवाके बदलेमें निष्काम सेवा करनेकी ही वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हो—वह सेवा शुद्ध है।

५–जिस व्यापारमें हिंसा, पर-अहित, चोरी आदि न होकर केवल आजीविका-निर्वाहार्थ सत्यता हो—वह व्यापार शुद्ध है।

६–जिसमें घबराहट पैदा करनेवाले शब्द न हों, जो सत्य हो, मधुर हो एवं हितकर हो—वह वाणी शुद्ध है।

७–जिसमें अहिंसा, सेवा, गुरुजनोंका पूजन-मान, ब्रह्मचर्य, निरभिमानतायुक्त विनय हो तथा जो शुद्ध खान-पानसे पोषित तथा भजनपरायण हो—वह शरीर शुद्ध है।

८–जिसमें प्रसन्नता, निर्मलता, दया, सतत ईश्वर-चिन्तन और शुद्ध भाव-विचार भरे हों और जो कभी व्यर्थ-अनर्थकी बात न सोचता हो—वह मन शुद्ध है।

९–जिसमें मद्य, मांस, अण्डे, तामसी वस्तु, जूठन आदि न हों और जो खिलानेवालेको सुखी बनाकर किया जाता हो तथा जो चोरीकी कमाईका न हो—वह खान-पान शुद्ध है।

१०–जिसमें राजस, तामस शृंगार न हो; हिंसा न हो, चोरीकी कमाईका न हो; अपने तथा दूसरेके मनमें विकार पैदा न करके शुद्ध भाव पैदा करनेवाला हो; स्वच्छ, सादा तथा पवित्र हो; अच्छी तरह शुद्ध साधनोंसे धोया-साफ किया हुआ हो–(चर्बीकी साबुनसे नहीं);—वह वस्त्र-परिधान शुद्ध है।

११–जिससे मनमें सेवा-भाव, त्याग-भाव, सादगी, इन्द्रिय-संयम, दैवी-सम्पदाके गुण, भगवद्भक्ति, भोगविरक्ति आदि उत्पन्न होते हों—वह सत्सङ्ग तथा वह स्वाध्याय शुद्ध है।

मातृभूमिकी उपासना

(लेखक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

काष्ठ, पाषाण और मृत्तिका आदिकी बनी निर्जीव मूर्तिको यदि कोई न पूजता हो, सगुण भक्तिका रहस्य समझनेमें किसीने मनोयोग न किया हो या अचेतनमें चैतन्यकी भावना करनेतक किसीकी बुद्धिकी पहुँच न हुई हो, तो उसे कोई दोष नहीं दे सकता; परंतु अपनी संतानको स्तन्यदान कर लाड़-प्यारसे पालने-पोसनेवाली और उसीके सुख-दुःखमें अपना सुख-दुःख समझनेवाली स्नेहमयी माताकी आराधना न कर, जो दूसरोंकी उपासनामें बाधा डालता है, वह निस्संदेह अक्षम्य अपराधी है। भारतभूमि हमारे माता-पिताकी भी जननी है। विभिन्न मतों, धर्मों, सम्प्रदायों और जातियोंके लालोंको जन्म देकर उनका इसने बड़ी प्रीतिसे पालन किया है, कर रही है और करती रहेगी। इसके प्रति जो श्रद्धा न करे, वह मूढ़ एवं कृतघ्न है। इसकी उपासना निर्जीव मूर्त्तिकी उपासना नहीं कही जा सकती, बल्कि यह सचेतन उपासना है। उदारतामें अचल होनेके कारण 'अचला' नाम धारण करके भी यह सूर्यकी कक्षामें ऐसे हिसाबसे घूमती है कि सब ऋतुएँ यहाँ सदा विकसित रहें और इसकी प्रकृति निरन्तर पूर्णावस्थामें ही बनी रहे। इसमें उत्पादिका और धारिका शक्ति है तथा अपने आश्रितोंका शारीरिक और मानसिक उत्कर्ष करनेकी क्षमता है। इसे जो निर्जीव कहे, वह दुराग्रही या अज्ञानी है।

इसकी प्रसुप्त संतानके जागरणके लिये 'वन्दे मातरम्'का महामन्त्र स्फुरित हुआ और उसने अपना महान् प्रभाव कुछ वर्षोंमें ही संसारको दिखा दिया और आज भी दिखा रहा है। इस मन्त्रको सिद्ध करते हुए कितने ही युवक उपासकोंका देशकी बलिवेदीपर बलिदान हुआ। उनपर कोड़े बरसे, जिससे उनके कोमल शरीरोंसे रक्तकी धाराएँ बह निकलीं और कितने ही साधकोंने फाँसीपर लटकनेसे पहले—इस संसारसे विदा होते समय—मातृभक्तिसे गद्गद होकर यही अन्तिम दिव्य मन्त्र 'वन्दे मातरम्' कहा। निजामशाहीके घनघोर अन्धकारमें इस मन्त्रने प्रकाश-किरणें फैलायीं और इसी मन्त्रको अविच्छिन्न रखनेके लिये भारतके असंख्य नर-नारियोंने असामान्य स्वार्थ-त्याग किया। इसी महामन्त्रके बलपर हमारे राष्ट्रनिर्माताओंने भारतभूमिको स्वतन्त्र किया। इसी मन्त्रकी उपासनासे उन्होंने इतना सामर्थ्य प्राप्त किया, जिसका फल हमलोग आज प्रत्यक्ष प्राप्त कर रहे हैं। यदि हम सब प्रत्येक क्षण इस महामन्त्रका स्मरण करते रहें तो समस्त विश्वकी कोई भी शक्ति हमको भयभीत नहीं कर सकती, यह हमारा अचल विश्वास है।

प्रत्येक सरस्वती-मन्दिरमें, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, वहाँके शिक्षक इसी महामन्त्रकी उपासनाका उपदेश अवश्य करें। आज हम जो कुछ दुःख पा रहे हैं, इसी महामन्त्रकी उपेक्षाका परिणाम है। प्रत्येक बालक यही महामन्त्रमय गीत प्रतिदिन प्रातः-सायं गाये। जितने तरुण हैं, वे उपर्युक्त महामन्त्रको हृदयमें रक्खें और जितने वृद्ध हैं, इसी महामन्त्रका उपदेश अपने बच्चोंको दें तो निस्संदेह हमारा देश उस शक्ति और उस स्फूर्तिको प्राप्त करेगा एवं मनोबल, आत्मबल प्राप्तकर उन्नति करेगा, जिससे थोड़े ही दिनोंमें जो कुछ काम हमारे राष्ट्र-निर्माताओंके हृदयमें अवशिष्ट रह गया, वह पूर्ण होगा—यह हम पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वासके साथ कहते हैं।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'



छः बान्धव हैं

सत्यं माता पिता ज्ञानं धर्मो भ्राता दया सखा।

शान्तिः पत्नी क्षमा पुत्रः षडेते मम बान्धवाः॥

सत्य मेरी माता है, ज्ञान पिता है, धर्म भाई है, दया मित्र है, शान्ति पत्नी है और क्षमा पुत्र है—ये छः मेरे बान्धव हैं।



गायद्वारा उपासना

[सत्य घटना]

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

यह सत्य घटना संवत् २०२२ के आश्विन मास शुक्ल पक्षके परमपावन नवरात्र दिवसोंकी है। राजस्थान-मध्यप्रदेश सीमापर वेस्टर्न रेलवेके स्टेशन चौमहला मंडीसे १० मील दूर पश्चिममें चम्बल नदीके किनारे तहसील सीतामऊ जिला मन्दसौरका मामटखेड़ा नामक एक गाँव है। इस गाँवमें गूजर आदि कृषकोंके सिवा रेबारी अधिक बसते हैं, जो ऊँट पालने-बेचनेका धंधा करते हैं।

मामटखेड़ा ग्रामकी सीमासे ठिकानेके ग्राम दीपाखेड़ाकी सीमा मिली हुई है। वहाँपर चम्बल नदीके किनारे ठिकानेकी पड़त भूमि वर्षोंसे वीरान पड़ी हुई है, जिसमें आस-पासके गाँवोंके ढोर घास चरते और चम्बल नदीका जल पीकर मस्त रहते थे। उस पड़त धरतीको जोतने और उसमें बसने-बसानेका वर्षोंसे किसीने भी प्रयास, इस धार्मिक भावनाके कारण नहीं किया कि गोचरभूमिको खेत बनाकर अन्न उपजाना महापाप है। परंतु दुर्भाग्यकी बात है कि उस गाँवके जागीरदार ठाकुर साहबकी यह भावना आर्थिक आकर्षणने दूर कर दी। उन्होंने सतत प्रयत्न करके कुछ घुमक्कड़ बनजारोंको, उस धरतीमें अच्छी उपज होनेका लोभ बताकर बसा दिया और चरनोई उर्वर करनेके हेतु उन्हें दे दी। पड़त जमीनको उर्वरा बनानेकी कठिनाईके कारण पहले वर्ष थोड़ा लगान और बादमें प्रतिवर्ष बढ़ाते-बढ़ाते पूरा लगान लेनेकी शर्त ठहर गयी।

एक तो पास ही चम्बल नदीका जल, नयी जमीनमें अधिक अन्न उपजनेकी पूरी आशा और एक जगह एक ही जातिके बसनेका आराम—ये सभी सुभीते देखकर बनजारे वहाँ झोपड़ियाँ बनाकर बस गये। आजके युगमें बनजारोंका—बैलोंद्वारा अन्नादि वस्तुएँ इधरसे उधर ले जानेका धंधा समाप्त-सा हो गया है, और बैलोंको घास मिलना दुर्लभ। इन्हीं सारी कठिनाइयोंको मिटानेके हेतु उन बनजारोंने ठाकुरकी शर्त मान ली और जमीनके झाड़-झंखाड़ काटकर उसे जोतनेके योग्य बना लिया। पासके गाँवोंके पशु, जो वर्षोंसे उस चरनोईमें घास चरकर पेट भरते थे, वे अभ्यासके अनुसार जब इसमें चरने आते तो बनजारे मार-पीटकर उन्हें भगा देते थे। बेचारे मूक पशु मार खाकर इधर-उधर भटकते हुए संध्या-समय भूखे ही घर लौट जाते थे। उनके पीछे-पीछे ग्वाले भी निराश होकर!

वर्षा होनेपर उस धरतीमें घास उत्पन्न होनेकी जगह अन्न बो दिया गया। अब तो उधर एक भी पशुको आनेपर पक्की रोक लगा दी गयी। पशुओंके इस भारी संकटको देखकर ग्रामवासियोंमें एक साथ ही असंतोषकी लहर दौड़ गयी। वे समवेत हो ठाकुरके पास जा विनयपूर्वक उन्हें समझाकर चरनोईकी धरतीको छुड़वानेके प्रयत्नमें लगे, किंतु सफल नहीं हुए। ठाकुरकी निजी जमीन होनेसे वे लोग अधिक जोर देने अथवा सरकारमें पुकार सुनानेकी कोई कार्यवाही करनेमें भी असमर्थ रहे। अतः पशुओंके चारापानीका संकट बढ़ता ही गया!

राजस्थानके अनेक गाँवोंके बाहर देवनारायणके देवले (चबूतरे) बने होते हैं। इनका पुजारी भील होता है, जसे श्रीदेवनारायणका भोपा कहते हैं। रविवारके दिन उस भोपाके शरीरमें मानो देवनारायण प्रवेशकर यात्रियोंकी मनःकामना सिद्ध होनेके प्रश्नोंका उत्तर देते हैं। इसपर इधरके नवासियोंका दृढ़ विश्वास है। भोपा पुजारीके उस दिन अन्नादि भेंटमें आ जाते हैं। सरकारकी ओरसे भी देवनारायणके नामसे उसे कुछ जमीन माफीमें मिली हुई होती है। इस आयसे उसके कुटुम्बका पालन-पोषण होता है।

नवरात्रकी चतुर्थीको मामटखेड़ाके श्रीदेवनारायणके देवलेके सामने एक विचित्र घटना घटी। गाँवके एक गूजरकी ब्यायी गाय, जो घरसे जंगलमें चरनेको छोड़ी गयी थी, जंगलमें चरनेको न जाकर उस देवलेके सामने एक पाँव उठाकर तीन पाँवसे चुपचाप खड़ी हो गयी, मानो गहरी उपासनामें संलग्न है। संध्या समय उसके मालिकने गायके घर न पहुँचनेपर जब खोज की, तो उसे देवनारायणके चबूतरेके सामने तीन पाँवसे खड़ी देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि गायके एक पाँवमें

कोई चोट या मोच आ गयी है। यह सोच वह पतली लकड़ीद्वारा धीरे-धीरे मारकर प्यारसहित टिचकारी लगाता हुआ उसे घर ले जाने लगा। किंतु गायने मस्तक हिलाकर बार-बार घर जानेसे इन्कार कर दिया। मालिककी स्त्री और बच्चे भी आ गये। उन्होंने भी गायका नाम लेकर उसे पुचकारा, पुकारा, सहलाया और उसके शरीरपर बड़े प्रेमसे हाथ फेरते हुए उसे घर ले जानेका प्रयत्न करने लगे। गाय उनकी इस प्रकारकी सेवासे चुपचाप खड़ी रही, किंतु घर चलनेके नामपर बार-बार मस्तक हिलाकर इन्कार कर देती थी। इस मनाहीसे सभी आश्चर्यमें पड़ गये। गायने चारा चरना, पानी पीना बिल्कुल छोड़ दिया था। बात फैलने लगी। पासके ग्रामवासी भी इस अद्भुत दृश्यको देखने आने लगे। प्रतिदिन इतने लोग वहाँ एकत्र हो जाते, मानो कोई मेला लगा हुआ है।

सभी लोग हर प्रकारसे गायको सूखी-हरी घास, अन्न, कुट्टी, हलुवा, खल-कपासियोंका मिश्रित आहार आदि खाद्य वस्तुएँ देने लगे। पर गायने किसी भी वस्तुको बहुत प्रयत्न करनेपर भी खाना तो दूर रहा, उनको सूँघा-तक नहीं, न उनकी ओर देखा। वह तो श्रीदेवनारायणके सम्मुख आँखें मूँदे हुए ध्यान लगाये खड़ी रही। घास एवं खाने-पीनेकी सामग्रीका ढेर गायके पास लग गया। जलके पात्र रक्खे गये, किंतु गायने लगातार पाँच दिनों तक न कुछ खाया और न जल पीया। उधर उसका नवजात वत्स क्षुधासे विह्वल हो रहा था और अविराम ध्वनिसे माँको पुकार रहा था। उसका संताप किसीसे देखा नहीं गया। सबकी सम्मतिसे बछड़ेको गायके पास उसका दूध पिलानेको लाया गया। किंतु बहुत बार प्रयत्न करनेपर भी गायने बछड़ेको दूध नहीं पिलाया। उसके थनोंमें भरपूर दूध भरा हुआ था, किंतु ज्योंही बछड़ा स्तनको छूने लगता, त्योंही वह लात मारकर उसे हटा देती थी। बहुत देरतक यह क्रिया होती रही। थनोंका दूध दुहकर वत्सको बाँसकी नलीके द्वारा पिलाया जाय, यह तदबीर सोची गयी, किंतु अपने प्राणप्यारे नवजात वत्सको ही जब उसने दूध नहीं पिलाया और थनोंको छूनेतक नहीं दिया, तब अन्य लोगोंको तो वह स्तन छूने ही कैसे देती। अन्तमें सब लोग हार मानकर हैरानीमें पड़ गये। अधिकांश लोग, गोभक्ति जाग्रत् हो जानेसे उसकी पूजा-अर्चा-आरती करने लगे। गाय अचल, शान्त, चुपचाप, बिना पागुर किये तीन पाँवसे लगातार पाँच दिन-रात ज्यों-की-त्यों खड़ी रही। श्रद्धालु लोग उसे भूखी-प्यासी देखकर मनमें बड़ा दुःख मान रहे थे। सर्वान्तर्यामी भगवान्से गायका यह कष्ट मिटानेकी प्रार्थना कर रहे थे और गायकी पदरेणु अपने मस्तक तथा सारे शरीरपर लगा रहे थे। परंतु गायने किसी भी प्रयत्न अथवा उपायसे खाया-पीया ही नहीं। सैकड़ों लोगोंकी भीड़ यह अनुमान नहीं लगा सकी कि यह गोमाता किस कार्यकी सिद्धिके लिये चारा-पानी छोड़कर देवनारायणकी ओर टकटकी लगाये तीन पाँवसे खड़ी है, जैसे देवनारायण महाराज इसको अभी अभीष्ट सिद्धिका वरदान देनेवाले ही हैं। गायने एकत्रित मानवोंमेंसे किसीसे भी कुछ नहीं कहा—न किसीको मारने, भड़काने अथवा भय दिखानेकी गतिविधि दिखलायी। बालकवृन्द उसके पाँवोंमें खेल रहे थे। गायके प्रति लोगोंकी अगाध श्रद्धा निरन्तर बढ़ती ही गयी।

पाँचवें दिन अन्य लोगोंके साथ वे ही ठाकुर, जिन्होंने गोचरभूमि कृषिके निमित्त दे दी थी, गायको देखने मामटखेड़ा आये और भीड़में खड़े होकर गायकी अचलता देखकर आश्चर्य करने लगे। भीड़में जब गायने उनको दर्शक रूपमें देखा, तो न जाने कहाँसे उस भूखी-प्यासी निर्बल देहमें अतुल शक्ति बटोरकर फुफकारती हुई वह ठाकुरको सींगोंसे मारनेके लिये एकदम दौड़ी। ठाकुर भयके मारे घबराकर शक्तिभर दौड़ लगाकर भागे। किंतु गाय भी द्रुतगतिसे दौड़ती हुई उनका पीछा करती ही गयी। आगे ठाकुर, पीछे गाय—दोनोंकी तेज दौड़को देखकर लोग आश्चर्यचकित हो रहे थे। कोई डेढ़ मीलतक दोनों दौड़ते ही गये। अन्तमें जब ठाकुर अपनी सीमामें पहुँच गये, तब गाय उनका पीछा करना छोड़कर वापस श्रीदेवनारायणके सामने आकर पूर्ववत् तीन पाँवसे खड़ी हो गयी। इसी समय चबूतरेपर भोपा आकर उपस्थित हुआ। अगरबत्ती, धूप-दीप जलाये गये। थोड़ी देरके पश्चात् मानो देवनारायण महाराज भोपाके शरीरमें प्रवेशकर कहने लगे कि 'ठाकुरकी अनीतिको चुनौती देती हुई यह गाय गोचरभूमिको छुड़ाने-की प्रार्थना मुझसे कर रही है। इसकी कामना अवश्य सिद्ध होगी और यह भूमि पुनः पशुओंकी चरनोई बनेगी। यह सत्य है।' आकाशवाणीकी भाँति यह वचन सुन एवं क्रोधपूर्वक गायका मारनेको झपटना देखकर सभी लोग भलीभाँति समझ गये कि पशुओंके चरनेकी जमीन ठाकुरने

लोभवश खेतीके लिये दे दी, उसको छुड़ानेके निमित्त गायने सत्याग्रहपूर्वक पाँच दिन देवनारायणकी उपासनामें बिताये। इसपर लोगोंको आश्चर्य और आनन्द दोनों हुए।

उसी दिन संध्या समय वह गाय परलोक सिधार गयी। मृत्युके समय उसके सारे शरीरमें कोई भी तड़प अथवा पीड़ा होनेका आभास किसीको नहीं हुआ। मानव हो या पशु—सबके लिये भगवद्भक्तिका प्रभाव समान ही होता है।

गायके वैकुण्ठवास हो जानेका ग्रामवासियोंने भारी शोक मनाया और उसे एक दैवीशक्ति मानकर रातभर उसके पास भजन-कीर्तन करते रहे। प्रातःकाल होते ही सभी लोगोंने गायके दर्शनकर उसकी चरणरज मस्तकपर चढ़ायी और बारंबार प्रणामकर अपनेको धन्य-धन्य माना। भेंट चढ़ानेका ताँता बँध गया। टीकी, महँदी, लच्छा, सिन्दूर, ओढनी, काँचली आदि सौभाग्यचिह्न एवं साड़ी, लूगड़े, सिंगोटी, नारियल, मिष्ठान्न जगह-जगहसे स्त्री-पुरुष लाने लगे। इन वस्तुओंका वहाँ ढेर लग गया। गायके शवको दुशाला ओढ़ाकर फूलोंसे सजाया गया। फिर एक सज्जित गाड़ीमें उसे रखकर गाजे-बाजेके साथ कीर्तन-भजन करते, जय-जयकार बोलते, गुलाल उड़ाते हुए शवकी धूम-धामसे शोभायात्रा निकाली। आस-पासके सैकड़ों नर-नारी, बालकवृन्द गो-माताकी जय बोलते हुए साथ थे। महिलाएँ गोमाताके ग्राम्यगीत गाती हुई गोभक्तिमें मस्त हो नृत्य करती-करती साथ चल रही थीं। ऐसा मालूम होता था, मानो किसी पहुँचे हुए संत-महात्मा अथवा बड़े राजा-महाराजाके शवका जुलूस ससमारोह जा रहा हो। इस प्रकार गायके शवको ले जाकर दूर चम्बल नदीके किनारे गहरा गड्ढा खोदकर उसमें गाड़ दिया गया और इसी नदीमें—जिसे चर्मण्वती भी कहते हैं, जो विन्ध्याचलसे निकलकर इटावाके पास श्रीयमुनाजीमें मिलती हैं, सबने स्नान किया और घर आकर गो-निमित्त दानपुण्य किया।

इसके पश्चात् सबने चन्दा इकट्ठा करके उस स्थानपर एक पक्का सुन्दर चबूतरा बनवा दिया। आज भी इस चबूतरेके दर्शनार्थ बहुतसे लोग आते रहते हैं। गायको एक पूज्य दैवीशक्ति मानकर उसकी मूर्तिकी पूजा करते हैं। और जो जिस कामनासे इसकी पूजा-अर्चासे उपासना करता है, उसकी वह मनःकामना भी सिद्ध होती है। ऐसी मान्यता इधरके सभी लोगोंकी बनी हुई है। कभी-कभी तो वहाँ इतने यात्री आ जाते हैं कि मेला-सा लग जाता है। अपरिचित व्यक्तिको ग्रामवासी सारा वृत्तान्त सुनाते हैं।

इधर, गायके द्वारा खदेड़े गये ठाकुर किशोरसिंहजी उदास होकर जबसे घर आये, तबसे ही एक भारी पश्चात्तापने उन्हें घेर लिया। वे बार-बार अपनी भूलपर पछताते थे, 'हाय! मैंने मूक पशुओंके मुँहका चारा भी छीन लिया, जिन्हें चरकर गायें जीवन-रक्षक दूध देती हैं। ग्रामवासियोंको ही आजके युगमें शुद्ध गो-दुग्ध प्राप्त होता है।' उन्होंने उस धरतीको पहलेकी भाँति पशुओंकी चरनोई बनानेकी कार्यवाही चला दी, किंतु जीवनमें वे इसे नहीं कर पाये। रात-दिनके पश्चात्ताप, चारों ओरसे लोगोंकी धिक्कार और गो-मृत्युके संतापसे घुलकर इस घटनाके एक वर्षके भीतर ही उनका देहावसान हो गया!

बनजारे, जो विपुल अन्नोत्पादनसे धनवान् बननेकी आशा लेकर इस धरतीमें आये थे, अथक परिश्रम करनेपर भी नाममात्रका ही उत्पादन कर पाये। यहाँतक कि उनके भूखे रहनेकी घड़ी आ गयी। अतः वे सभी कुटुम्बसहित, झोंपड़ियों तथा खेतोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं चले गये। उनके चले जाने और ठाकुरकी मृत्यु हो जानेसे वह धरती पुनः चरनोई बन गयी। कोई रोकटोक नहीं रही। पुनः गोचरभूमि बन जानेसे अब वहाँ आस-पासके गाँवोंके पशु पूर्ववत् घास चरते और चम्बल नदीका ठंडा जल पीकर मस्तीसे वृक्षोंकी छायामें बैठे पागुर किया करते हैं। उनके बछड़े पास ही किलोल करते रहते हैं। यह सुहावना दृश्य देखकर पथिकोंको बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। गायके सत्याग्रह और कठिन उपासनाके फलस्वरूप ही यह सब सफल हो सका है। इसका सभीको प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया।

गाय हमारी माता-धाता-विधाता सभी कुछ है। किसी भी प्रकारका भेदभाव न रखकर समस्त मानवजातिको अपने पञ्चगव्यसे समान लाभ पहुँचानेवाली गोमाता आज मशीनोंके द्वारा निर्दयतापूर्वक काटी जा रही हैं, यह भयानक दुःख और लज्जाकी बात है।

भगवान् सबको सद्बुद्धि दें, जिससे भारतभूमिसे यह महापाप शीघ्र जड़से नष्ट हो!

आत्माका पूर्ण जागरण और उसकी परिणति

(लेखक—पद्मविभूषण महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०)

[पृष्ठ ४८ से आगे]

'प्रबुद्ध अवस्था'से लेकर 'सुप्रबुद्ध अवस्था' पर्यन्त आत्माकी उन्नति आवश्यक है। किंतु प्रबुद्ध दशासे चलकर सुप्रबुद्ध दशातक पहुँचनेमें एक बीचकी अवस्था भी प्राप्त होती है और उसका परित्याग करके आगे बढ़ना पड़ता है। यह 'अभेदज्ञान' अथवा 'कैवल्य उद्भव' नामसे व्यक्त है। जिन लोगोंने यह अवस्था प्राप्त कर ली है, उनके लिये 'इदं' रूपी प्रकृतिका विषयीभूत ज्ञेयपदार्थ 'अहं' रूपी आन्तरिक पदमें निमग्न हो जाता है। इस निमग्नभावको प्रकृतिका 'निमेष' कहते हैं। ऐसा विमर्श-शक्तिके द्वारा होता है। यह अवस्था सदाशिवकी स्थितिके अनुरूप है। यहाँ 'अहं' भावके द्वारा आच्छादित अस्फुट 'इदं' भाव विद्यमान रहता है। यह अवस्था स्थायी नहीं है। जिस समय यह अवस्था आविर्भूत होती है, उस समय स्वस्वरूपभूत प्रकाशमें सर्वथा मग्न और उसके बाद उन्मग्न होती दीखती है। इस अवस्थामें इन दोनों रूपोंका अनुभव हुआ करता है। इनमें 'मग्न' को 'निमेष' तथा 'उन्मग्न'को 'उन्मेष' कहते हैं। जिस प्रकार समुद्रमें तरङ्गादि उठते हैं और कभी उसीमें लीन हो जाते हैं, पर समुद्र तो दोनों ही अवस्थाओंमें समुद्र ही रहता है, ठीक उसी प्रकार शिवादि विश्व प्रकाशात्मक रूपमें ही प्रकाशरूपसे उन्मीलित होता है और प्रकाशमें ही विलीन हो जाता है। यह अवस्था 'प्रबुद्ध' तथा 'सुप्रबुद्ध'—इन दोनों अवस्थाओंकी अन्तरालवर्तिनी है। इसे 'समना' अवस्था कहते हैं।

'उन्मना'के द्वारा जिस समय स्वरूपमें स्थिति होती है, उस समय इस स्थितिका 'उन्मना' नामसे निर्देश किया जाता है। जिस समय उन्मनाके द्वारा पूर्णत्वकी सिद्धि अविचलित हो जाती है, उस समय योगी सिद्धावस्था तथा सुप्रबुद्धावस्थाको प्राप्त करता है। इस अवस्थामें स्थित हो जानेपर मनकी कोई भी क्रिया नहीं रह जाती अर्थात् मनकी चञ्चलता इसे किसी भी प्रकार कभी स्पर्श नहीं करती।

जिस समय योगी सुप्रबुद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेता है, उस समय उसकी इच्छामात्रसे अभीष्ट विभूतिका आविर्भाव हो जाता है। साधारणतया इसीको 'इच्छाशक्ति' कहा जाता है।

इससे ज्ञात होता है कि योगीके इच्छा करनेपर ही वह इच्छाशक्तिका रूप धारण नहीं करती; क्योंकि मनके अतिक्रमण किये बिना (जीव) आत्माका पूर्ण जागरण ही नहीं होता और जबतक जीव पूर्ण भावसे जाग्रत् नहीं हो जाता, अर्थात् मनसे पूरी तरह मुक्त नहीं हो जाता, तबतक उसकी इच्छा 'इच्छाशक्ति'का रूप धारण नहीं करती।

यह जो सिद्धिकी बात कही गयी है, उसके अनेक प्रकार हैं तथा उनका आविर्भाव भी विभिन्न उपायोंसे हुआ करता है। इन सब सिद्धियोंको 'अपरसिद्धि' और 'परसिद्धि'—इन दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है। अपरसिद्धि निम्न स्तरकी तथा परसिद्धि ऊर्ध्वस्तरकी मानी जाती है। 'आद्यासिद्धि' तो गुरुलाभका नामान्तरमात्र है। दूसरी सिद्धि शिवत्व-स्वरूपवाली है। इन दोनोंको 'महासिद्धि' भी कहा जा सकता है। सूर्य प्रभृति जिन किन्हीं वस्तुको भी आत्मारूपसे दृढ़ भावना की जाय, तो उसके प्रकाशादि कर्म जो नित्य सिद्ध गुण पहचाने जा सकते हैं, प्राप्त हो जाते हैं। इसीको प्रत्यभिज्ञा (Recognition) कहते हैं। जिस समय यह 'प्रत्यभिज्ञा' अत्यन्त दृढ़ हो जाती है, उस समय यह अर्थकारी रूपमें प्रतीत होती है अर्थात् वह कार्यरूपमें परिणत हो जाती है। उस समय योगी सूर्यादिरूपमें न होनेपर भी सूर्यादि वस्तुका रूप धारण कर लेता है। विमर्श अथवा ज्ञान दुर्बल होनेपर दूसरे प्रकारकी स्थिति होती है; किंतु इस विमर्श-ज्ञानके प्रबल होनेपर भेद तथा भ्रमके संस्कार नहीं रह जाते। योगी उस समय स्वयं 'विश्वात्मक' हो जाता है; अतः उसमें सभी सिद्धियाँ नित्यसिद्धिके रूपमें प्रकट हो जाती हैं और इसके दृढ़ होनेपर केवल भावमात्र नहीं रहता, किंतु अपने-अपने कार्य-साधनमें सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। पर स्मरण रखना चाहिये कि योगीको सभी अवस्थाओंमें अपना परिपूर्ण प्रकाशात्मक जो विश्वरूपी स्वरूप है, उसमें अविचलित रहना परमावश्यक है।

जो देवता जिस कार्यकी सिद्धि करता है, वही कार्य-साधन यदि आवश्यक हो तो उसी देवताका अहंकार धारण कर सकनेपर वह कार्य क्षणमात्रमें सम्भव हो सकता है—सिद्ध हो सकता है।

पृथिवीका लक्षण धारण करना है, जलका लक्षण संग्रह है, तेजका लक्षण पाक या पाचन है, वायुका लक्षण व्यूह तथा आकाशका लक्षण अप्रतिघात है। योगी पृथिवी आदि जिस भूतका ही आत्मरूपसे अनुसंधान करता है, उसी भूतकी कर्मसिद्धि हो जाती है। ठीक इसी प्रकार तन्मात्रा, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, मन, अस्मिता, बुद्धि, अव्यक्त और पुरुष—इनमें चित्-शक्ति धारण कर सकनेपर तदनुरूप कर्मसिद्धि हो जाती है। ऐसे ही राग, नियति, काल, विद्या, कला तथा मायामें चित्-शक्तिकी धारणा हो सकती है। पक्षान्तरमें शुद्धविद्या या सरस्वती, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति और शिव, इनके ऊपर भी चित्-शक्तिकी धारणा शक्य है। धारणाके साथ-साथ ही तदनुरूप सिद्धि आविर्भूत होती है।

आचार्योंका कथन है कि शुकदेव, वामदेव, श्रीकृष्ण, दधीचि, वैन्य (पृथु)—इन लोगोंका जो विश्वात्मक भाव इतिहास-पुराणोंमें प्रसिद्ध है, वह सब पूर्वोक्त उपायोंसे ही आविर्भूत (प्रकट) हुआ था। इसके बाद महासिद्धिकी बात याद रखनी है। महाशक्ति अथवा पराशक्तिका विषय स्मरण करना आवश्यक है। यह शक्ति कोटि-कोटि कालाग्निकी दीप्तिको लेकर षडध्वाको दग्ध करती रहती है। इसका निरन्तर अनुसंधान आवश्यक है। जिस समय तृप्ति अथवा आप्लावन-सिद्धिका उदय होता है, उस समय अमृत-लहरीकी वृष्टिकी भाँति सभी अध्वाको प्लावित करती हैं। इस अनवच्छिन्न सुधासमुद्रकी बात भी याद करना आवश्यक है। इस दाह और प्लावनके द्वारा 'सकलीकरणरूप' क्रियाकी सिद्धि होती है। अध्वा पूर्वोक्त प्रणाली (पद्धति) से जितना शोधित हो, शेष जगत् उतना ही अनुग्रहका भाजन होता है। यहाँ जो शुद्धिकी बात कही गयी है, वह देहात्मकरूपमें संक्षिप्त षडध्वाकी शुद्धि नहीं है; अपितु समग्र विश्वकी शुद्धि है। सभी आचार्य विश्व-शरीर हैं। किसी निर्दिष्ट देहमें ही जो देहीरूपका अभिमान है, वह आचार्यका नहीं है। इसलिये विश्वको अपने शरीरके रूपमें परिणत करके विश्वकी साधना करना आवश्यक है। अतः प्रकाशके साथ इस देहका अभेद-दर्शन करनेवाली जैसी स्वरूपावस्थिति है, उसे सभी अध्वाओंका दाह समझना चाहिये। यह और कुछ नहीं है, केवल विशुद्ध चैतन्यरूपी प्रकाशके साथ तादात्म्य है। पहले जो आप्लावनकी बात कही गयी थी, वह इस विमर्शका ही नामान्तर है। इसीलिये शास्त्रोंमें कहा गया है—

'प्रकाशस्य विमर्शघनता प्रत्यभिज्ञानदार्ढ्यात्।'

अर्थात् 'प्रकाशकी विमर्शघनता और प्रत्यभिज्ञान-दृढ़तासे परमानन्दका आविर्भाव होता है।' इस व्यापारको प्राचीन शाक्तोंने सकलीकरणके नामसे वर्णन किया है। यह परम आनन्दके आविर्भावका नामान्तर है। वास्तविक पक्षमें जिस समय प्रकाशरूपी चैतन्य विमर्शशक्तिके प्रभावसे घनीभूत होता है, उस समय दृढ़ प्रत्यभिज्ञाके उदयसे यह आनन्द प्रकट हुआ करता है। इसीका नाम 'आद्या सिद्धि' है। यह गुरु-प्राप्तिका नामान्तर है।

ध्यान रहे कि इस अवस्थामें भी पूर्ण-ख्यातिका उदय नहीं होता। अतः यह भी अपूर्ण-ख्यातिके ही अन्तर्गत है। अपूर्ण-ख्याति स्थायी नहीं होती; किंतु जिस समय स्थायित्वका उदय होता है, तब उसका दृढ़ भावसे आश्रय करके अपूर्ण-ख्यातिका क्षय करना पड़ता है। प्रतिक्षण अनुसंधानको दृढ़ करते रहनेसे यह क्षयक्रिया सम्पन्न होती है। योगी इस प्रकार पूर्णख्यातिका उन्मीलन करते-करते इच्छानुसार समस्त भुवनोंकी सृष्टि कर सकता है और वह उन भुवनोंकी रक्षा, पालन आदि समस्त कृत्योंको भी सम्पन्न कर सकता है अर्थात् योगी पञ्चकृत्य करनेमें समर्थ है।

पूर्णत्व-लाभ एवं नित्यलीलापर विचार करते समय तीन ओर दृष्टि रखकर विचार करना आवश्यक है। एक ओर महाप्रकाश है, जो अपनेमें आप रहकर पञ्चकृत्यमय-रूपमें सर्वदा नित्यलीलापरायण है। दूसरी ओर चिदाकाश है, जहाँ आत्मा चितिशक्तिके द्वारा अभिनय कर रहा है। तीसरी ओर प्रेक्षकरूपमें सारी इन्द्रियाँ हैं। इस स्थानपर हमें कर्त्ता, द्रष्टा और नाट्यगृहका संधान प्राप्त होता है। इस लीलाकी मूल ह्लादिनी शक्ति हैं। रसास्वादन करनेवाली भी यही हैं और रसास्वादन करानेवाली भी यही हैं।

(३)

गुह्यराज्यमें जागरणका क्रम विभिन्न दिशाओंमें, विभिन्न प्रस्थानोंमें विभिन्न प्रकारसे दिखाया गया है। अब संक्षेपमें यहाँ उसका कुछ विचार (दिग्दर्शन) किया जा रहा है।

पूर्ण जागरणका फल ही पूर्णत्व-लाभ है। अद्वैतवादी शैवगण जिसे 'परमशिव' कहते हैं, यह उसी अवस्थाका नामान्तर है। यही 'परासंवित्' है। यह एक ही समयमें विश्वातीत होते हुए भी विश्वात्मक भी है। यह सदा ही नित्य-प्राप्त-स्वरूप है, शक्ति भी यही है। जिस दिशामें

विश्वका भान नहीं, उस दिशामें भी शक्तिकी एक कलाके अतिरिक्त पूर्ण संकोचकी अवस्था है। एक कला-शक्ति विश्वातीत अवस्थामें भी रहती है। न रहती तो विश्वातीत अक्षर-स्वरूप जगत्में आत्मप्रकाश नहीं कर पाता। परंतु इस कलाके रहनेपर भी आत्माको 'निष्कल' कहा गया है। ऐसा न होता तो शिवका शिवत्व ही नहीं रह सकता था। इसे ऋषियोंने 'अमृतकला' कहा है। शेष पंद्रह कलाओंका संकोच तथा प्रसार होता रहता है। विश्वात्मक अवस्थामें भी प्रसार एवं विकास चलता रहता है।

इसका विस्तृत विवरण यहाँ आवश्यक है। शक्ति या कला चितिशक्तिका ही नामान्तर है। इसका विकास किस प्रकार होता है, यह विचारणीय है। शक्तिको तीन अवस्थाओंकी बात याद रखनी है। इनमें एक सुप्तावस्था है, एक क्रमिक जागरणकी अवस्था है और एक नित्यपूर्ण जागरणकी अवस्था है। पूर्ण जाग्रत्के भी क्रम हैं। इसी प्रकार शक्तिके जागरणकी बात कहनेसे यही समझना होगा कि यह अचित्-अवस्थासे चिन्मयरूपमें उठना होता है। शक्तिकी जो कृश दशा है, उसमें आचार्यगण विश्वका आस्वादन नहीं करते। यद्यपि विश्व अभेद-सम्बन्ध उसीमें है, यह सत्य है; तथापि जो कहा गया है, वह भी सत्य है। विश्व उसमें वही होकर विद्यमान है। वे भी विश्वरूप हैं; पर वह अपने-आप अपनेको आस्वादन नहीं करता। इसीसे अनुभाव या संकोचका उदय होता है। इसीसे सुप्त अवस्था एक घेरेकी अवस्था है। यह घेरा या आवरण महामायाका ही स्वरूप है। अनुभावके साथ-साथ यह व्याप्त है। इससे यह शून्य है। इसीको शास्त्रमें 'तिरोधान' कहा गया है। इसीलिये स्फुट विग्रह उसमें रहता है। स्फुट विग्रहकी अवस्थामें कञ्चुकके साथ योग होता है। फिर कलासे प्रकृतिका आविर्भाव होता है। यहाँ पुरुष कर्म-मलयुक्त हो जाता है। क्रियाशक्ति एवं ज्ञानशक्तिका उदय होनेपर चित्तका आविर्भाव होता है। उसके फलस्वरूप देह प्रकट हो जाता है। तब पुरुष कर्ता और भोक्ता बन जाता है। जगत् भी भोग्यरूपमें परिणत हो जाता है। इसी प्रकार संकोचकी क्रमवृद्धिके फलस्वरूप प्रमेय, प्रमाण और प्रमातारूप विभक्त दशाका उदय होता है।

साधारण मनुष्यके स्तरमें आनेपर देखनेमें आता है कि यह एक भेदमय ज्ञानका राज्य है। शाक्तलोग विश्वका विश्लेषण करके इसे कई अङ्गोंमें देखते हैं। उनमें प्रथम ग्राह्य, दूसरा ग्रहण एवं तीसरा ग्राहक है। किंतु वे लोग इसमें एक ऐसे ग्राहकका संधान प्राप्त करते हैं, जिसमें ग्राह्य एवं ग्रहणजनित क्षोभ नहीं है, अथच वह ग्रहणफलका अधिकारी है। यह सत्य है। इस जगत्का प्रथम अंकुर यही है और कहा जाय तो यही संवित् या प्रमा अवस्था है। समस्त जगत् इसीके गर्भमें विद्यमान है। ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय सभी इसके अन्तर्गत हैं। सृष्टिके प्रसङ्गमें प्रथम ज्ञाताका आविर्भाव होता है, उसके बाद ज्ञानका और सबके अन्तमें ज्ञेयका। इसी प्रकार शक्तिकी दशा समझनी चाहिये। यहाँ शिव शक्तिमान्‌रूपमें विद्यमान न होकर शक्तिरूपमें विद्यमान है। इस शक्तिके तीन रूप हैं। तदनुसार एक तो 'पराशक्ति', दूसरी 'परापराशक्ति' और तीसरी 'अपरा शक्ति' है। इन तीनोंके अतिरिक्त 'मातृसद्भाव' नामकी एक सत्ता और है। यही चतुर्दलचक्रका रहस्य है।

पूर्णताका तिरोधान होनेपर इस दशाका उदय होता है। यह 'शक्तिदशा' नामसे प्रसिद्ध है। इससे संसारकी अवस्थाका उदय होता है। शक्तिकी दशाएँ अविभक्त हैं। यहाँ परा, परापरा एवं अपरा—ये तीनों शक्तियाँ एक ही साथ विद्यमान हैं। अब भी इन शक्तियोंने देवीका रूप धारण नहीं किया है। यही पूर्वोक्त 'मातृ-सद्भाव'का तात्पर्य है। यहाँ इस अवस्थामें सभी प्रकारकी अनुभूतियाँ विद्यमान हैं। अथच उसके मूलमें क्षोभ नहीं है, पर यहाँ भी अपूर्णता है। यह एक अद्भुत राज्य है।

पूर्ण सत्तासे अवतरण—इसीका नाम 'तिरोधान' है। शाक्तोंने इस परम प्रकाशमय पूर्ण सत्ताका 'भासा'—नामसे वर्णन किया है और इस शक्तिमय अवस्थाकी 'अनाख्या' नामसे व्याख्या की है। 'भासा'से अनाख्यामें अवतरण—यही 'निग्रह' या 'तिरोधान' है तथा अनाख्यसे भासामें आरोहणका ही नाम 'अनुग्रह' है। तिरोधानके फलस्वरूप चतुर्दल कमलका आविर्भाव होता है और उससे क्रमशः षोडशदलपर्यन्त विकास होता है। पक्षान्तरमें अनुग्रहके फलस्वरूप षोडशदलसे चतुर्दलपर्यन्त गति होती है और उसके बाद अनाख्याके आश्रयसे 'भासा'में स्थिति होती है।

'भासा'में आत्मा अविभक्त, अविभाज्य एवं अव्यय-स्वरूप है, यही पुरुष है। अनाख्यामें, चतुर्दल प्रकृतिमें स्थिति है। यह अविभक्त होनेपर भी विभाज्य है। प्रमाताके स्थलपर अष्टदल कमल है तथा 'अहं'के रूपमें प्रकाश है, यह विभाज्य एवं सत्त्वप्रधान है। प्रमाणभूमिमें द्वादशदल-कमल है। यह मन-बुद्धि एवं दस इन्द्रियोंका प्रवृत्ति-क्षेत्र है। यह रजःप्रधान है। प्रमेय-भूमिमें षोडशदल-कमल है—यह तन्मात्रा एवं भूतोंका क्षेत्र है। यह तमःप्रधान है।

अनुग्रह-शक्तिके प्रभावसे क्रमशः प्रमेयसे प्रमाण, प्रमाणसे अनाख्या एवं अनाख्यासे पूर्ण या 'भासा'में प्रवेश होता है।

पूर्ण या भासामें समग्र विश्व अभेदमें विद्यमान रहता है। तिरोधानकालमें वह पृथक् भावसे स्फुरित होता है। इसीका नाम प्रकृति अथवा 'शक्तिचक्र' है। यही एक प्रकारसे पुरुषसे प्रकृतिका आविर्भाव है, अथवा इसे ब्रह्मसे मायाका आविर्भाव भी कहा जा सकता है। तिरोधान शब्दका अर्थ आत्मसंकोच अथवा कालचक्रका आविर्भाव है। इसके बीच प्रतिपद्से लेकर अमावास्यातक कृष्णपक्ष है। अमावास्या पूर्णसंकोचका प्रतीक है। इस अवस्थामें चित् कला आदि कलाओंका पूर्णतया आकुञ्चन रहता है। केवल एक कला बच रहती है। इस कलाका नाम 'अमा' है।

यहाँ एक बात विवेचनीय प्रतीत होती है। पूर्णसे जो अनाख्याका आविर्भाव होता है, इसकी प्रणाली 'विवर्त' है। अनाख्यासे जो त्रिपुटीका आविर्भाव होता है, इसकी प्रणाली 'परिणाम' है। इसके बाद आरम्भ-क्रियाका अवसर आता है। जागरणसे ही अनुग्रहका उदय होता है। इसके बाद शाक्त-स्रोतका वर्षण होता है। यह प्रक्रिया अनाख्यापर्यन्त चलती रहती है। इसके बाद अनाख्यासे पूर्ण अथवा भासामें प्रवेश परम अनुग्रहका स्वरूप है। जैसे आरम्भवाद अवरोह-अवस्थामें होता है, वैसे ही आणव-कार्य आरोहके पश्चात् समझना चाहिये। आरोह-क्रममें पहले अपनी चेष्टा रहती है। इसका नाम है—'आणव-उपाय'। इसके बाद शाक्त-स्रोत बहा ले जाता है। लक्ष्य होता है—शक्ति या अनाख्या। अनाख्यामें गमन करके प्रतीक्षा करनी पड़ती है; क्योंकि अपनेसे पूर्ण या भासासे जाना शक्य नहीं होता। उस समय पूर्ण स्वयं खींच लेता है। उसीके फलस्वरूप 'पूर्णत्व'लाभ होता है। अनाख्यासे भासामें तभी जाना सम्भव होता है, जब अनुग्रहके फलस्वरूप ऊर्ध्वस्रोतके खिंचावसे आत्मा अपनेको समर्पण कर देता है, अनाख्यापर्यन्त पहुँच जाता है। किंतु ऊर्ध्वस्रोतसे भी शेषतक नहीं पहुँचा जा सकता। उस तुङ्ग शिखरपर पहुँचनेके बाद वहाँ कुछ ठहरना पड़ता है, तब वे खींच लेते हैं। महाशक्ति माँ साथ-साथ ही खींचकर ले जाती हैं और इसके उपलक्ष्यमें आत्माका रूपान्तर कर देती हैं। वे शिखरपर्यन्त पहुँचा देती हैं। यह विश्वमें सबसे ऊँचा (ऊर्ध्वतम) स्थान है। पर यह है—विषयी विश्व। इसके बाद पूर्णकी महाकृपासे विश्वातीत अवस्थाकी प्राप्ति होती है या पूर्णत्व-लाभ होता है।

अतएव अनुग्रह-धारा हुई शुक्लपक्ष। पूर्णिमा हुई पञ्चदशी। आरोहक्रममें यही 'अनाख्या' है। अवरोहकालमें शिव थे शक्तिरूपमें, अब आरोहकालमें शक्ति हैं शिवरूपमें। यहीं शक्ति शिवरूप धारण करती हैं। इसीसे शक्तियुक्त शिवका प्रकाश है। यहाँ युगलपक्ष है। वह पञ्चदशीयुक्त हैं। इसके बाद षोडशी अर्थात् अमा है। यह युक्त नहीं, एका है। इसके बादकी अवस्था है—'परा'।

अनाख्याके बाद भासा है। इसके बीचमें अनन्त व्यवधान हैं। तिरोधानके कारण इस व्यवधानकी सृष्टि होती है। फिर अनुग्रहके उदय होनेपर ये व्यवधान कट जाते हैं। तिरोभावके फलस्वरूप कालराज्यमें प्रवेश होता है। सुतरां यह दरार है—यमुना या कालिन्दी अथवा विरजा। वैष्णवोंकी परिभाषाके अनुसार पूर्ण है—नित्य वृन्दावन या 'नित्यलीला-भूमि'। यमुना अथवा कालिन्दीसे पार होना ही पार जाना है। नाविक है केवल एक—वही पूर्ण है।

आत्माके जागरणका एक क्रम है। आत्मा अभी मायाके आवरणसे आच्छन्न होकर सो रहा है, इसीलिये उसे आत्म-विमर्श नहीं है। इसीका प्रभाव है कि पिण्डमात्रमें ही उसकी अहंता सीमित है। इसीका नाम 'देहाभिमान' है। यह सर्वत्र विद्यमान है और इसीलिये यह अपनेको विश्वशरीर नहीं जान पाता। अतएव जागनेमें समर्थ नहीं हो पाता।

वस्तुतः विशुद्ध आत्मा अनवच्छिन्न चैतन्यस्वरूप एवं अशुद्ध आत्मा अवच्छिन्न चैतन्य है, जिसे हम 'ग्राहक' कहकर निर्देश करते हैं। विशुद्ध आत्मा ही वस्तुतः 'परमशिव' है। समग्र विश्व उसका शरीर है। अनाश्रित शिवसे लेकर पृथिवी-तत्त्वपर्यन्त सब उसीके शरीर हैं। अनवच्छिन्न चैतन्य और ग्राहक चैतन्य एक ही प्रकारके नहीं हैं। शुद्ध चैतन्यरूपी आत्मा किसी निर्दिष्टरूपसे विशिष्ट ग्राह्य पदार्थके प्रति उन्मुख नहीं होता। जो इस प्रकार उन्मुख होता है, उसीका नाम 'ग्राहक' है। यह अवच्छिन्न चैतन्य है। उस ग्राह्यके द्वारा ही इसका चैतन्य किंवा प्रकाश अवच्छिन्न होता है। अनवच्छिन्न चैतन्यका भान किस प्रकारका है ? निर्दिष्ट विशेषरूपमें उसमें भान नहीं होता। किंतु भान होता है सामान्य सत्तासे। इस सामान्यका अनुसंधान ही उसका स्वभाव है। सर्वत्र अनुगत एक अखण्ड सत्ताका अनुसंधान ही उसका स्वभाव है। जो कोई आत्मा अपने ग्राहकत्वके कारण होनेवाले नियत दर्शनादिसे मुक्त हो जाता है, वह चैतन्यरूपमें अपनेको देख पाता है और तब यह समग्र विश्व उसको अपने शरीरके रूपमें ही ज्ञात होता है।

शुद्ध आत्मा विभिन्न स्तरोंमें विद्यमान है। कोई तो आत्माके अस्मिता विषयको लेकर क्रीडा करता है, कोई देहका आश्रय लेकर, कोई इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण अथवा शून्यका आश्रय लेकर कार्य करता है। शून्य ही सुषुप्तिरूपी माया है। 'अहं'रूपी अभिमान है। देहमें या हृदयमें ही हो,

ऐसी कोई बात नहीं है। देह-बाह्य विषयोंमें भी अस्मिता होती है। पक्षान्तरमें अदृश्य होनेपर उससे भी अहं-अभिमान हो सकता है। असली बात तो यह है कि अहं-अभिमान भी माया है। यह अहं-अभिमान चितिका अथवा संवित्का ही होता है, ग्राहकका नहीं होता। वह किसी-किसी पदपर धारण किया जाता है। यदि वह छः अध्वाओंमें धारण किया जाय तो शिवसे लेकर पृथ्वीपर्यन्त सभी वस्तुओंको नित्य शुद्ध प्रत्यभिज्ञाके द्वारा अनुसंधान किया जा सकता है। ऐसा होनेपर साधारण आत्मा भी अपनेको विश्वरूपमें बोध (अनुभव) कर सकता है।

एक बात और है। जिससे चितिका दृढ़ अभिनिवेश अथवा अस्मिता होती है, इच्छामात्रसे उससे क्रिया उत्पादन की जा सकती है। अस्मिताको अहंका आकाराभिनिवेश मात्र ही समझना चाहिये। एकमात्र शिवकी ही अस्मिता विश्वमें सर्वत्र विद्यमान है। कारण शिव ग्राहक नहीं हैं। अर्थात् वे अवच्छिन्न प्रकाश नहीं हैं।

यह जो अहंता है, वह बिन्दुसे शरीर वेष्टन किये हुए है। बिन्दु है—स्वरसवाहिनी सामान्यभूता सूक्ष्मा अहंकी प्रतीति, जो ग्राहक, ग्रहण तथा ग्राह्यादि प्रतीतिविशेषकी पूर्ववर्ती है। प्राण है—उसी सत्ता या अणुका नाम, जो अभिमान, अध्यवसाय प्रभृतिके रूपमें अन्तःकरणका क्षोभक है। शक्ति है—बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय और शरीर-रूपसे प्रसिद्ध वस्तु। जो अहंता बिन्दुसे लेकर शरीरपर्यन्त सबको घेरकर कम्पित करती है, उसकी धारणा होनी चाहिये। भावनाके द्वारा इस अहंताका विकास होता है। इसीका नाम कर्तृत्व, ईश्वरत्व, स्वातन्त्र्य, चित्स्वरूपता इत्यादि है। सिद्धिमात्र ही अहंतामय है, इसलिये दृढ़ प्रत्यय होना आवश्यक है।

(४)

प्रश्न—सुप्त प्रमाताकी प्रतीतिका क्या रूप है ?

उत्तर—यह मायासे मोहित है। ग्राहक चिदात्मक एवं ग्राह्य अचिदात्मक है तथा इससे भिन्नरूपमें प्रतीत होता है। यद्यपि यह समग्र विश्वभुवनावली पूर्ण अथवा प्रकाशके भीतर ही स्थित है, तथापि सुप्त आत्माको यही लगता है कि यह सब उससे बाहर है। ऐसी सभी जीवात्माएँ 'भवी' नामसे वर्णित हुई हैं।

प्रश्न—जाग्रत्रूपी प्रमाताकी प्रतीति किस प्रकारकी होती है ?

उत्तर—इसका नामान्तर 'भवपदी' है। शुद्धविद्यारूपी प्रमाता एवं सम्प्रज्ञात समाधिप्राप्त प्रमाता इसीके अन्तर्गत है। न तो ये पूरे सुप्त ही हैं और न पूर्ण जाग्रत् ही। सुप्त नहीं हैं, क्योंकि इनके लिये भव या संसार नहीं है। इस कारण इन्हें भेदज्ञान नहीं है अर्थात् अभिन्न वस्तुसे भिन्न प्रतीति नहीं है। किंतु ऐसा होनेपर भी इनकी अवस्था उद्भव है। अतः भव अर्थात् भेदज्ञान न होनेपर भी उसके संस्कार इनके चित्तपर विद्यमान हैं; क्योंकि अन्तः-संकल्प प्रभृति आकारमें भिन्नवत् प्रतीति शुद्ध विद्याके प्रभावसे अथवा सम्प्रज्ञात समाधिके फलस्वरूप हो सकती है। इस अवस्थामें अविवेक रहता है। इसके बाद विवेकख्यातिका उदय होता है और तत्पश्चात् शुद्ध सत्ताका आविर्भाव होता है।

यह अवस्था ठीक स्वप्नकी ही तरह है। सुप्ति तो नहीं है, किंतु ठीक-ठीक जागरण भी नहीं है। ठीक-ठीक जागरण होनेपर भेदके संस्कार रहना सम्भव नहीं है। ये सभी आत्मा धर्माधर्मके क्षय हो जानेसे किन्हीं-किन्हींकी दृष्टिके अनुसार मुक्त पुरुषरूपमें परिगणित होनेपर भी वास्तवमें मुक्त-पुरुष नहीं हैं। तन्त्रशास्त्रमें इन लोगोंको 'रुद्राणु' कहा गया है। वास्तविक पक्षमें ये लोग भी पशु ही हैं। कर्म-संस्कारसे रहित होनेपर भी संवित्के श्रवणमें इन लोगोंका अधिकार नहीं है।

इसके बाद जाग्रत् अथवा प्रबुद्ध प्रमाताकी अनुभूतिकी बात कही जाती है। इन सभी आत्माओंमें भी भेद एवं अभेदके संस्कार विद्यमान रहते हैं। ये सभी जड वस्तुको 'इदं' रूपसे अनुभव करते हैं, एवं पक्षान्तरमें अहं वस्तुकी प्रतीति भी इन्हें 'अहं'रूपसे रहती है। सामान्याधिकरणके कारण अभेदके आरोपद्वारा भेदांश ढक जाता है और 'इदं-अहं'रूप अनुभवका उदय होता है। इन लोगोंको अनुभवमें समग्र विश्व अपने शरीररूपमें प्रतीयमान होता है। इस अवस्थामें दो अनुभव युगपत् (एक ही साथ) विद्यमान रहते हैं। इसे ईश्वरकी अवस्था कहते हैं।

अब सुप्रबुद्ध कल्प तथा सुप्रबुद्ध प्रमाताके अनुभवकी बात कही जाती है। इस अवस्थामें 'इदं' प्रतीतिका विषयीभूत ज्ञेय पदार्थ अहंरूपी स्वरूपमें निमग्न हो जाता है। इसे 'निमेष' कहना चाहिये। ये सभी आत्मा अभेद-ज्ञान अथवा कैवल्यप्राप्तिके कारण 'उद्भवी'रूपमें वर्णित (निरूपित) हुए हैं। इनका 'अहं' रूप 'स्वरूप'में मग्न रहता है। यह अवस्था अहंभावके द्वारा आच्छादित अस्फुट 'इदंभाव'की दशा है। इसे सदाशिवकी अवस्था कहकर समझा जा सकता है।

परंतु स्मरण रखना होगा कि यह भी आत्माकी पूर्णस्थिति नहीं है। इसके बाद पूर्णस्थितिका उदय होता है, किंतु वह अस्थायी होता है। इस अवस्थामें 'उन्मेष' एवं 'निमेष' दोनों ही रहते हैं। समुद्रमें जिस प्रकार तरङ्गोंका उन्मेष एवं निमेष दोनों ही होते हैं, प्रायः उसी प्रकार इस अवस्थामें भी उन्मेष-निमेष होते हैं। प्रकाश सर्वदा ही रहता है, परंतु शिवादि विश्वका कभी भान रहता है, कभी नहीं रहता। जब भान रहता है, तब प्रकाशात्मकरूपसे उसका उन्मेष होता है और जब भान नहीं रहता, तब प्रकाशस्वरूपसे ही उसका निमेष होता है।

इसके बाद वास्तविक पूर्णत्वका आविर्भाव होता है। यही स्थायी अवस्था है। पहले जो पूर्णत्वकी अभिव्यक्ति होती थी, उसमें प्रकाश तथा निमेषका सम्बन्ध था; किंतु अब वह नहीं रहा। इसका कारण यह है कि पहले मन था, इससे उन्मेष-निमेष होता था; पर इस समयकी अवस्था 'उन्मना' कहलाती है। उन्मना कहते हैं—पूर्णात्माकी अचल सिद्धिको। इसीका नाम 'सिद्ध सुप्रबुद्ध अवस्था' है। इस प्रकारके योगीकी इच्छामात्रसे अभिमत विभूतिका आविर्भाव हो जाता है। यही आत्माके पूर्ण जागरणकी अवस्था है।

(५)

अब विभूति अथवा सिद्ध-विज्ञानके सम्बन्धमें कुछ कहना है—

सिद्धियाँ अनेक प्रकारकी हो सकती हैं। कुछ सिद्धियाँ अर्थमूलक हैं। ये सिद्धियाँ निम्नस्तरकी हैं। इन्हें 'अपरा सिद्धि' भी कह सकते हैं। कोई-कोई सिद्धि तत्त्वमूलक हैं, जो उच्च स्तरकी सिद्धि है या 'परासिद्धि' है। प्रत्येकके अर्थके लिये एक-एक कर्म है। इसे Cosmic function कहा जा सकता है। नित्यसिद्ध योगी जब जिस अर्थके लिये आत्मभावना करता है, तब वह स्वयं उसी अर्थके रूपमें स्वयमेव अवस्थित हो जाता है और साथ-ही-साथ उस कर्मका भी सम्पादन हो जाता है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, वज्र, समुद्र, पर्वत इत्यादि प्रत्येकका जो भी अर्थकारित्व है, योगी उसे उसी क्षण प्राप्त हो सकता है। जो देवता जिस अर्थका या प्रयोजनका सम्पादन करता है, इच्छा करनेपर वह अर्थ उस देवतामें अहं-अभिमान धारण कर सकनेपर क्षणभरमें ही अपने-आप ही वहाँ प्रकट हो जाता है। इस तरह पृथ्वीसे लेकर शिवत्वपर्यन्त अहंभावके अभिनिवेशके कारण योगी उन-उन सिद्धियोंको प्राप्त हो जाता है। मायापर्यन्त जिस-जिस सिद्धिका उदय होता है, उसका नाम 'गुहान्त सिद्धि' है। यह सब अपरा या निम्नस्तरकी सिद्धियाँ हैं। सरस्वती अथवा शुद्धविद्यादि सिद्धियाँ परासिद्धि हैं। ये उच्चस्तरकी सिद्धियाँ हैं। इसके बाद सभी सिद्धियोंके ऊपरकी दो महासिद्धियाँ और हैं।

प्रथम महासिद्धि है—सकलीकरण। कालाग्निके सदृश तीव्र ज्वालाके द्वारा छः अध्वरूपी पाश दग्ध हो जाते हैं। तदुपरान्त अमृतके द्वारा आप्लावन होता है। उस समय इष्टदेवताका दर्शन होता है। इस अवस्थामें शोधित समग्र अध्वाओंके अर्थात् समस्त विश्वके गुरुपदमें वरण होता है। वे जगद्गुरु हैं, वे समस्त विश्वके अनुग्राहक हैं। किंतु यहाँ भी अपूर्ण ख्याति है। इसके उपरान्त जो दूसरी महासिद्धि है, वही पूर्णख्याति अर्थात् शिवत्व-प्राप्ति है। इस अवस्थामें उसकी स्वीय इच्छाके अनुसार भुवनादिकी सृष्टिका अधिकार उत्पन्न हो जाता है। परम शिवकी पञ्चकृत्यकारिता सदा ही वर्तमान रहती है।

स्मरण रखना चाहिये कि मुक्तशिव मात्र ही परम शिवके साथ अपनी अभिन्नता होनेके कारण पञ्चकृत्यसम्पादनके अधिकारी हैं; किंतु अधिकारी होनेपर भी ये लोग कृत्य-सम्पादन करते नहीं।

इस स्थानपर एक रहस्यकी बातका संकेतमात्र निवेदित किया जा रहा है। सिद्धावस्थामें यहाँ एक ऐसी स्थिति आती है जब कि योगी इच्छाशक्तिकी उपेक्षा करके भक्तिकी ओर उन्मुख होता है। जबतक इच्छारूपमें इच्छाशक्ति वर्तमान रहती है, तबतक लक्ष्य बाहरकी ही ओर रहता है; किंतु इच्छाके अन्तर्मुख होते ही वह भक्तिरूपमें परिणत हो जाती है, तब योगीभक्त कुछ भी नहीं चाहता। एकमात्र उन (इष्ट) को ही चाहता है। उसे उनसे किसी भी प्रयोजन-सिद्धिका उद्देश्य नहीं रहता तथापि वह उनको चाहे बिना रह नहीं सकता। श्रीआदिशंकराचार्यने कहा है—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहम्। × × इत्यादि।

'हे नाथ! यह सत्य है कि कोई भेद नहीं है तथापि मैं तुम्हारा हूँ।'

यह वही अवस्था है। इसीको श्रीमद्भगवद्गीतामें 'ज्ञानी भक्त' बतलाया गया है। ये ही श्रेष्ठ भक्त हैं; क्योंकि ये नित्ययुक्त तथा एकभक्त हैं।

भगवान् श्रीकृष्णके कुछ ध्यान तथा मन्त्र

भगवान् श्रीकृष्णके तेरह ध्यानोंके तथा श्रीराधाजीके एक ध्यानका यों चौदह चित्र इस अङ्कमें दिये जा रहे हैं। उनके मन्त्र, जप-संख्या (अनुष्ठानकी दृष्टिसे), और फल नीचे लिखे जा रहे हैं। ये सभी ध्यान-मन्त्र श्रद्धाविश्वासपूर्वक निष्काम भावसे सेवन किये जानेपर अन्तःकरणकी शुद्धि करके परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले हैं और प्रेमकी प्राप्तिके लिये इनका सेवन किया जाय तो ये भगवान्के दुर्लभ दिव्य प्रेम-लाभमें बड़ी सहायता करते हैं। सकाम अनुष्ठानके लिये ही संख्या लिखी गयी है। निष्काम तथा प्रेम-प्राप्तिमें कोई नियत संख्या नहीं है, वहाँ तो ध्यान-जप चालू ही रहने चाहिये।

ध्यान	मन्त्र	संख्या	फल
१	ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा	१॥ लाख	बृहस्पतिके समान ज्ञान-प्राप्ति
२	,,	१ लाख	शत्रुभय आदि विपत्तियोंसे रक्षा
३	,,	१ लाख	सर्वकार्य-सिद्धि
४	,,	२१ लाख	संसारसागरसे सद्योमुक्ति
५	,,	१ लाख	संगीतमें निपुणता
६	,,	१ लाख	विज्ञता
७	,,	१ लाख	ज्वर-अपस्मार आदि रोगोंका नाश
८	,,	११ लाख	वेदार्थपारदर्शिता और वेदज्ञान
९	,,	१ लाख	शत्रु-पराजय
१०	,,	१ लाख	ऐश्वर्य और पशुलाभ
११	,,	२ लाख	सर्वगुणसम्पन्न कन्यासे विवाह
१२	,,	१॥ लाख	मेधाशक्ति और कवित्वकी प्राप्ति
१३	,,	१० लाख	अखण्ड ऐश्वर्य, यश, सम्मान-प्राप्ति
१४	ॐ ह्रीं श्रीं राधिकायै नमः	१६ लाख	सर्वार्थ-सिद्धि

जपके समय श्रीराधा-कृष्णके श्रीविग्रह या चित्रपटका पूजन करना चाहिये। एवं जपका दशांश हवन या जप इसी मन्त्रसे करना चाहिये।

महत्त्वपूर्ण उपासना—सर्वभूतहित

उपासनाका महत्त्वपूर्ण स्वरूप है—'एक भगवान् ही समस्त विश्व-चराचरके रूपमें अभिव्यक्त हैं'—यह समझकर किसीका अपमान, अनिष्ट न करके किसीको दुःख न पहुँचाकर किसीका अहित न कर, सदा-सर्वदा अपनी सारी योग्यता, सारी शक्ति, सारी सम्पत्ति, सारी बुद्धि और सारा जीवन लगाकर मन-वाणी-शरीरसे सबका सम्मान करना, सबका दुःख निवारण करना, सबको सुख पहुँचाना और सबका हित करना। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं—'मैं सबका आत्मा, सबमें स्थित हूँ, जो मेरी उपेक्षा करके केवल मेरा पूजन करता है वह तो भस्ममें ही हवन करता है। जो दूसरे जीवोंसे वैर बाँधता है, वह तो उनके शरीरोंमें स्थित मुझ आत्मासे ही द्वेष करता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल सकती।—'भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।'

कल्याण

याद रक्खो—उपासनाके विभिन्न प्रकार हैं—गुणातीत, सात्त्विक, राजस, तामस और मिश्रित। इसीके अनुसार उपासकोंमें भी भेद है और उपासकोंकी रुचि, अधिकार, मनोवृत्ति, मान्यता, श्रद्धा, सिद्धान्त तथा मनोरथके अनुसार ही उपास्यदेव भी विभिन्न हैं।

याद रक्खो—भगवान् परमतत्त्व परमात्मा एक ही हैं। उनके प्रधानतया तीन रूप हैं—निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार। इन तीनोंके लीलाभेदसे अनेक विभिन्न नाम-रूप हैं। इन्हींकी उपासना होती है। निर्गुण-निराकार ब्रह्मतत्त्वकी उपासना नहीं मानी जाती, पर जबतक तत्त्वकी उपलब्धि होकर एकात्मताकी स्थिति न अनुभूत हो, तबतक उपासना होती तो है ही। उसे ब्रह्मोपासना कहें, आत्मोपासना कहें या अहंग्रह-उपासना। 'वाद' भी चाहे कोई-सा माना जाय—अजातवाद, विवर्तवाद, आभासवाद या परिणामवाद—उपासना सभीमें है। सगुण-निराकार और सगुण-साकारकी उपासनाके तो इतने प्रकार हैं कि वेदोंसे लेकर संतोंकी वाणीतक सबमें विविध विचित्र उपासनाओंके प्रसङ्ग तथा पद्धतिनिरूपण भरे पड़े हैं।

याद रक्खो—उपासनामें उपासकका जैसा भाव होता है, उसीके अनुसार उपासना होती है और उसीके अनुसार फल भी मिलता है। जीवन्मुक्ति, कैवल्यमोक्ष, दिव्य नित्य-भगवद्धामकी प्राप्ति, भगवत्प्रेमका नित्य आस्वादन, भगवत्सेवाधिकार, स्वर्गप्राप्ति, देवलोकोंकी प्राप्ति, पितर या प्रेतलोककी प्राप्ति—ये सभी विभिन्न उपासनाओंके ही फल हैं। लोग जडोपासना या भोगोपासनामें भी लगे ही हैं—पर वह वस्तुतः उपासना नहीं है—प्रमादमात्र है।

याद रक्खो—सगुण-साकारकी उपासनामें भारतीय सनातनधर्मके अनुसार शिव, विष्णु, गणेश, सूर्य और शक्ति—प्रधानतया ये पाँच उपास्यरूप माने जाते हैं। इनमें भी सौम्य-रौद्र अनेक रूप हैं। सात्त्विकजन सौम्यरूपकी उपासना करते हैं, राजस सौम्यासौम्य-मिश्रित रूपकी और तामस रौद्र रूपकी। भगवान् विष्णुका नारायणरूप सौम्य है, असुरसंहारी विष्णुरूप सौम्यासौम्य है और नरसिंहरूप रौद्र है। भगवान् शिवका तपस्वीरूप शान्त है, विवाहके समयका रूप (शिवपुराणके अनुसार) सौम्य है, सर्वसंहारक भैरव तथा रुद्ररूप रौद्र है। शक्तिका लक्ष्मी-सरस्वती-सीता-राधारूप सौम्य है, दुर्गारूप सौम्यासौम्य है, काली-छिन्नमस्ता आदि रूप रौद्र हैं। इसी प्रकार इनकी पूजापद्धतियोंमें सात्त्विक-राजस-तामस-भेदसे भावों तथा सामग्रियोंका भेद है।

याद रक्खो—सौम्य तथा शान्तरूपकी उपासना ही परम श्रेयस्कर तथा वाञ्छनीय है। जिस रूपकी उपासना होगी, उसीके गुण उपासकमें आयेंगे; क्योंकि उसे भावसे वैसा ही बनकर उपासना करनी पड़ेगी। अतएव भगवान्‌के मधुरतम रसमय आनन्दमय स्वरूपकी उपासना करनेमें आरम्भसे ही माधुर्य, रस, आनन्द, शान्ति, सद्भाव, सद्गुण आदिकी प्राप्ति होती रहती है और अन्तमें उपासक उस भगवत्प्रेमसुधा-सागरमें निमग्न हो जाता है। फिर उसमें जो कुछ क्रियाएँ होती हैं, सब अखिल प्रेमानन्दरसामृत-मूर्ति भगवान्‌के उस महान् लीलासमुद्रमें लहरियाँ होती हैं।

याद रक्खो—सभी जीव नित्य, अखण्ड, पूर्ण, अनन्त, असीम, अपरिवर्तनशील और अविनाशी सुख चाहते हैं। यह सुख केवल एक भगवत्स्वरूपमें ही है। भगवान् ही नित्य, सत्य, सनातन, सम, अनन्त, एकरस, अखण्ड, असीम, अविनाशी परम तत्त्व हैं। अतएव पूर्ण सुखस्वरूप या

पूर्ण रसस्वरूप वे अथवा उनका परम दिव्य प्रेम ही परम साध्य है । उसीकी प्राप्तिके लिये उपासना होनी चाहिये । इसलिये सबसे पहले यह निश्चय करना है कि मेरे जीवनका साध्य केवल एक भगवान् या उनका दिव्य प्रेम है और उन भगवान्‌की कृपाके बलपर ही इस साध्यकी प्राप्तिके लिये नित्य उपासना करना मेरा एकमात्र जीवन-साधन है ।

याद रक्खो—उपासना या साधना विभिन्न रूपोंमें होगी, पर यह निश्चय सदा बना रहना चाहिये कि—सत्य एक ही है, उपास्यदेव भगवान् एक ही हैं; वे ही अनन्त नाम-रूपोंसे उपासित होते हैं । जैसे किसीको 'जगन्नाथ-पुरी' जाना है, तो पुरी एक ही है; पर पुरी जानेवाले लोग अपनी विभिन्न दिशाओंसे भिन्न-भिन्न मार्गोंसे तथा अपनी-अपनी रुचि, अधिकार तथा क्षमताके अनुसार विभिन्न वाहनोंके द्वारा जाते हैं । कोई पैदल ही जाते हैं; कोई बैलगाड़ी, मोटरगाड़ी, रेलगाड़ी या वायुयानसे यात्रा करते हैं । पहुँचते सब देर-सबेर एक ही जगह हैं । इसी प्रकार श्रद्धा-विश्वासके साथ अपने-अपने अधिकार, रुचि, शक्ति, बुद्धि, अभ्यास, इच्छा तथा स्वीकृत मार्गसे अपनी क्षमताके अनुसार तीव्र या मन्द गतिसे चलते रहें । यदि मुख उधर है और चल रहे हैं तो पहुँच ही जायँगे, भगवान् सहायता भी करेंगे ही ।

याद रक्खो—भारतीय वैदिक उपासनाके अतिरिक्त समस्त जगत्‌में जितनी भी विभिन्न प्रकारकी उपासनाएँ प्रचलित हैं तथा उनके जितने भी विभिन्न उपास्यदेव हैं, वे सब उपासनाएँ किसी-न-किसी रूपमें एक ही सत्य तत्त्वकी होती हैं और वे सब उपास्यदेव भी एक ही सच्चिदानन्दघन परम तत्त्व हैं, चाहे वे सगुण-साकार हों, निर्गुण-निराकार हों, ब्रह्मरूप हों, ईश्वररूप हों, महापुरुषरूप हों अथवा प्रकृति या नियमरूप हों ।

याद रक्खो—जब सभी उपासक एक ही उपास्य-तत्त्वकी उपासना करते हैं, तब किसी भी उपासनापद्धति-से घृणा मत करो । किसीकी निन्दा मत करो । न किसीकी ओर देखकर ललचाओ । अपनी उपासनाके प्रति उपास्यसे भी बढ़कर आदर तथा श्रद्धा रक्खो । उपासना या साधनाका तिरस्कार करनेवाला, उससे जी चुरानेवाला, उससे ऊबनेवाला, उसको बला टालनेकी भाँति अवहेलनासे सम्पादन करनेवाला, उपासनाको विपत्तिनाश या भोगप्राप्तिके लिये बेचनेवाला और उपासनाका अभिमान करनेवाला वस्तुतः उपास्यदेवकी प्राप्ति नहीं कर पाता । अतएव उपासना निरभिमान होकर श्रद्धापूर्वक करो । उपास्यका चुनाव करने और उपासना-पद्धतिको स्वीकार करनेके बाद तो बस, उपासनामय ही बन जाओ । उपास्य कब मिलेंगे—इसकी चिन्ता मत करो; न धैर्य छोड़ो । हाँ, अपनी उपासना ठीक चल रही है या नहीं, इसकी जाँचके लिये इतना अवश्य देखते रहो कि तुम्हारे अंदर उपास्यके प्रति आदर—प्रेम, दैवीसम्पत्तिके गुण और उपासनामें उत्तरोत्तर रुचि बढ़ रही है या नहीं । उपासना-मार्गमें भय तथा प्रलोभन आयेंगे, पर उनके वशमें नहीं होना है । किसी भी भयानक भय या लोभनीय प्रलोभनको देखकर उपासनासे कदापि तनिक भी डिगना नहीं है ।

याद रक्खो—उपासनामें बहुत-से विघ्न आया करते हैं—उनसे सावधान रहनेके लिये उनमें कुछके नाम लिखे जाते हैं । इनसे सावधान रहो—

आहारदोष, आलस्य, असूया, अस्वस्थता, अश्रद्धा, अविश्वास, अन्धविश्वास, अकर्मण्यता, अधैर्य, असहिष्णुता, अपवित्रता, अनिश्चय, कुतर्क, कुसङ्ग, घृणा, परनिन्दा, प्रसिद्धि, पुजवानेकी इच्छा, परदोष-दर्शन, पर-चर्चा, घृणा, द्वेष, मानकी चाह, निर्दयता, दुराग्रह, चपलता, जल्दबाजी, बाहरी वेषभूषा, आडम्बर, विवाद या शास्त्रार्थ, शरीरके आरामकी चाह, मानकी चाह, विलासिता, दूसरोंसे सेवा कराने-की वृत्ति, लोकरञ्जनमें रुचि, माता-पिता-गुरुजनोंका तिरस्कार, शास्त्र तथा संतवचनोंमें संदेह, भजनमें

अरुचि या लापरवाही, सर्वथा कर्मत्याग या बहुधंधीपन, दूसरोंके उपास्य तथा उपासनाके प्रति लोभ, दूसरोंके उपास्य, उपासना तथा धर्मसे द्वेष, उपासनाका अभिमान, ब्रह्मचर्यका खण्डन, पैसोंकी आसक्ति, किसी भी वस्तु, स्थान या प्राणीमें ममता, किसी भी वस्तु-प्राणी-परिस्थितिमें द्रोह, विपत्तिमें घबराकर और सम्पत्तिमें फूलकर कर्तव्यको भूल जाना, नाम आदिके लिये आश्रमादिकी स्थापना करना, दलबंदी करना और लक्ष्यको भूल जाना—इन विघ्नोंसे सदा बचो।

याद रक्खो—उपासना या साधनामें कुछ सहायक गुण-तत्त्व हैं, उनका अनुशीलन तथा सेवन करो—उनमें कुछ ये हैं—

सत्य कमाईका—अपने हकका अन्न खाना; शरीरसे परिश्रम करना; आजका काम कलपर या अभीका काम पीछेपर न छोड़ना; उद्योगी तथा प्रयत्नशील बने रहना; भगवान्‌की अहैतुकी दया, न्याय, महान् शक्ति तथा सौहार्दपर दृढ़ विश्वास करना; संदेहशील कभी न होना; अहिंसाव्रतका पूर्ण पालन करना (मन-शरीर-वचनकी हिंसासे वचना); सत्य, मधुर, हितकर और सीमित वचन बोलना; (चुगली-निन्दा न करना) कडुवा न बोलना, शाप न देना, अपशब्दका उच्चारण न करना तथा व्यर्थ न बोलना; मनमें दया, प्रेम, त्यागके भाव भरे रखना; सदा प्रसन्न रहना; सबका हित चाहना-करना; नम्र व्यवहार करना; विवाह आदिमें कम खर्च करना; दिखावा न करना; मांस, मद्य, अंडे, अखाद्य वस्तु, जूँठन तथा नशीली चीजें न खाना; शौकीनी-विलासिता न करके सादगीसे रहना; भाँग, गाँजा, तम्बाकूका सेवन न करना; सबसे प्रेम करना, हठ या विवाद न करना; दलबंदी न करना; भाषा, वेश, प्रान्त, जाति आदिके भेदको लेकर कभी लड़ाई-झगड़ा न करना; दूसरोंके गुण देखना; सुखीको देखकर सुखी होना, दुखीको देखकर दयार्द्र होना; अपने सुख-दुःखमें सम रहना; बुरा करनेवालेका भी भला करना; अहंकार-शून्य रहना; गुणवान्‌को देखकर उनके गुणोंका आदर करना; सबकी यथायोग्य सेवा करना, करवाना नहीं; अधिकार देना, छीनना नहीं; सदा सत्सङ्गमें रहना; सत्साहित्यका अध्ययन करना; अच्छे सात्त्विक पदार्थ देखना; गंदे सीनेमा—गंदे दृश्य कभी न देखना; माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा करना, बड़ोंको नित्य प्रणाम करना; संध्या-वन्दनादि अपने-अपने नित्यकर्मको सदा श्रद्धा तथा सावधानीसे सम्पादन करना; संतोंकी तथा शास्त्रकी वाणीपर विश्वास करना; किसीको भी भगवान्‌की ओर लगनेमें उत्साहित करना; उपासना-भजन-साधनमें कभी भी चूक न पड़ने देना; अपने ही इष्ट-उपास्यको सर्वदेवरूप या सब कुछ समझना, किसीका विरोध न करना; लक्ष्यको सदा याद रखना और उसपर सुदृढ रहना; भगवान्‌की कृपापर विश्वास बढ़ाते रहना; अपने पुरुषार्थमें प्रमाद न करना, पर उसका अभिमान कभी न करना तथा घरको, घरके पदार्थोंको भगवान्‌की वस्तु मानना; और ममता केवल भगवान्‌में करना।

उपासक सभी वर्णों तथा सभी आश्रमोंके लोग हो सकते हैं—अतएव सबको उपर्युक्त विघ्नोंका त्याग तथा सहायक गुणोंका ग्रहण करना और अपने-अपने वर्णाश्रमके कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की उपासना करनी चाहिये।

भारतीय वर्णाश्रमधर्म माननेवालोंके अतिरिक्त अन्यान्य सभी विभिन्न देशोंके, विभिन्न धर्मोंके, विभिन्न सम्प्रदायोंके तथा विभिन्न मतवादोंके लोगोंको अपनी-अपनी रुचि, निष्ठा, श्रद्धा तथा मान्यताके अनुसार उपासना करनी चाहिये।

'शिव'

क्षमा-प्रार्थना

ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् एक ही हैं—पर उनके अनन्त लीलानुरूप अनेक नाम-रूप हैं। उनमें बहुत-से नाम-रूप 'उपास्य देव'के रूपमें हैं, जो विभिन्न रुचियोंके उपासकोंद्वारा विभिन्न प्रकारसे उपासित होते हैं और उपासकके भाव, साधन तथा मनोरथके अनुसार उसे विविध प्रकारके फल प्रदान करते हैं। इसलिये उपासनाके विविध विभिन्न बहुत-से रूप हैं तथा बहुत-सी पद्धतियाँ हैं। 'कल्याण'के प्रेमी पाठक उपासनाके तत्त्व तथा उपासना-पद्धतियोंके सम्बन्धमें 'कल्याण'का विशेषाङ्क प्रकाशित करनेके लिये वर्षोंसे अनुरोध कर रहे थे। भगवत्कृपासे इस बार उनके अनुरोधके अनुसार 'उपासनाङ्क' प्रकाशित करनेका विचार और प्रयास किया गया।

उपास्यके स्वरूप, उपासकोंके भाव तथा उपासनापद्धतियाँ बहुत अधिक हैं और हमलोगों-का ज्ञान इस विषयमें अत्यन्त सीमित है। इसलिये जितना अच्छा अङ्क होने चाहिये था, उतना नहीं हो सका। यह हमारी विवशता है। हमें तो उपासना-सम्बन्धी विषयोंका भी बहुत अल्प परिचय है। इसीसे इस अङ्कमें किन-किन विषयोंपर लेख प्रकाशित करनेका प्रयास किया जाय—इसकी सूची भी भारतके प्रसिद्ध विद्वान् शास्त्रनिष्णात तथा अनुभवी महात्मा महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी० लिट्० महोदयसे बनवायी गयी थी। श्रद्धेय श्रीकविराजजीने अत्यन्त रुग्ण तथा अत्यन्त कार्यव्यग्र होनेपर भी सूची लिखवा दी, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। 'कल्याण'का यह सौभाग्य है कि उसपर श्रद्धेय श्रीकविराजजी तथा अन्यान्य सम्मान्य विद्वान् चिरकालसे ही बड़े अनुग्रह—स्नेह और आत्मीयताकी अनवरत वर्षा करते रहते हैं।

कुछ तो इधर लोगोंमें लिखनेकी प्रवृत्ति बढ़ी है और कुछ 'कल्याण'के प्रति सभीका स्नेह भी विशेष है। इसीलिये बार-बार लेख न भेजनेकी प्रार्थना करनेपर भी इतने अधिक लेख आ गये हैं कि उन सबका प्रकाशन सम्भव ही नहीं है। जहाँ हमें लेखकोंका उत्साह तथा 'कल्याण'पर उनकी कृपा देखकर बड़ी प्रसन्नता है, वहाँ इस बातका खेद भी है कि गम्भीर विचारक, विषयके ज्ञाता, उस विषयके शास्त्रोंसे पूर्ण परिचित और खास करके साधना-उपासनाके स्वयं अनुभवी पुरुषोंकी संख्या उत्तरोत्तर घट रही है। लेखक बहुत बढ़े हैं; ज्ञाता, अनुभवी तथा साधक घटे हैं। 'साधनाङ्क' और 'योगाङ्क' आदिके समय जो महान् लेखक थे, उनमेंसे जिनका देहावसान हो चुका, उनके स्थानोंकी पूर्ति बहुत ही कम अंशमें हुई है। ऐसा कहना भी शायद अत्युक्ति न होगा और क्षम्य होगा कि वे स्थान प्रायः रिक्त ही रह गये। पर अब भी हमारे पास कई बहुत ही उच्च कोटिके विचारपूर्ण, युक्तियुक्त विवेचनसे सम्पन्न तथा कुछ अनुभवयुक्त लेख भी आये हैं। उन सब लेखक महानुभावोंके तो हम हृदयसे कृतज्ञ हैं ही। वस्तुतः हम तो सभी लेखकोंके कृतज्ञ हैं। अवश्य ही आये हुए लेखोंमेंसे बहुत थोड़े छप सके हैं। कुछ लेख आगे साधारण अङ्कोंमें भी छप सकते हैं तथापि बहुत-से लेख तो रह ही जायँगे। एक-एक विषयपर अनेक लेख आये हैं, उन सबका छपना सम्भव नहीं। कुछ भी कारण हो, जिनके लेख नहीं छपेंगे, उनमेंसे बहुतोंके मनमें क्षोभ होना स्वाभाविक है। पर हम भी इस विषयमें सर्वथा निरुपाय और असहाय हैं। हमारी परिस्थिति समझकर वे सभी महानुभाव हमें क्षमा करेंगे। यह हमारी हाथ जोड़कर प्रार्थना है। दृष्टिदोष या प्रमादवश लेख-संशोधनमें अयुक्त परिवर्तन-परिवर्धन हो गये होंगे या कोई लेख बिल्कुल ही न छप सका होगा, उसके लिये भी हम करबद्ध क्षमा-

प्रार्थी हैं। आशा है, हमें सब महानुभाव क्षमा-प्रदानकी कृपा करेंगे।

इस 'उपासना-अङ्क'के सम्पादनमें हमारे साथियोंसे तो सदाकी भाँति सहयोग मिला ही है। उन्हें धन्यवाद क्या दिया जाय। लेख-संशोधन आदिके कार्यमें पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीसे तथा अनुवादके कार्यमें पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदीसे बड़ी सहायता मिली है, इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

हमारे पुराने चित्रकार श्रीवी०के०मित्र महोदयकी आँखें खराब हो गयीं, वे चित्र-निर्माणका कार्य कर नहीं पाते। दूसरे कुशल चित्रकार श्रीजगन्नाथका देहावसान हो गया। श्रीभगवानदास हैं, वे कुशल चित्रकार हैं, पर इन दिनों वे भी प्रायः अस्वस्थ रहते हैं, इससे हमारी इच्छाके अनुसार चित्र नहीं दिये जा सके, तथापि जो चित्र दिये गये हैं, वे बड़े सुन्दर हैं तथा भावपूर्ण हैं।

पाठक महानुभावोंसे सविनय प्रार्थना है कि वे इस अङ्कको बड़े ध्यानसे पढ़ें, उपन्यास-कहानीकी भाँति नहीं। इसमें बहुत-सी ऐसी उपासना-सम्बन्धी बहुमूल्य, गोप्य तथा अनुभवपूर्ण बातें भी आयी हैं, जिनसे अधिकारीजन चाहें तो बहुत लाभ उठा सकते हैं। साथ ही जिनको जिस उपासनामें रुचि हो, उसका, समझमें आ जाय तो, अभ्यास भी करना चाहिये।

इस अङ्कके सम्पादनकालमें लगातार कई दिनोंतक भगवान्‌के विविध-विचित्र नाम-रूपोंकी, उनके तत्त्वरहस्यकी, उनकी विविध विचित्र उपासना-प्रणालियोंकी तथा विविध-विचित्र उपासकोंकी जो दुर्लभ शाब्दिक झाँकी हमें होती रही है, इसे हम भगवान्‌की असीम कृपा मानते हैं। भगवान् हमको इस योग्य बनावें कि जिसमें यह झाँकी शाब्दिक ही न रह जाय।

एक बार पुनः हमलोग श्रद्धेय लेखक महानुभावोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपने दोषोंके लिये सविनय क्षमा-प्रार्थना करते हैं।

निवेदक

हनुमानप्रसाद पोद्दार }
चिम्मनलाल गोस्वामी } सम्पादक

सब नामरूपोंमें एक ही सत्यकी उपासना

एक सत्य जो परम तत्त्व परमात्मा ब्रह्म ईश भगवान्।
निर्गुण-गुणसह-निराकार, साकार-सगुण, सब भाँति महान्॥
नित्य, सच्चिदानन्द, सर्वमय, सर्वातीत, सर्व-आधार।
विष्णु, सूर्य, दुर्गा, शिव, गणपति; राम-कृष्ण अवतार-उदार॥
अर्हत्, बुद्ध, पिता ईसाके, अहुरमज्द, अल्लाह, प्रधान।
प्रकृति, नियम, अणु, महत्, कर्म, कर्त्ता, अव्यक्त, स्वरूपज्ञान॥
सभी प्राणियोंमें विभक्त-से जो प्रतीत होते 'अविभक्त'।
वही उपास्य, उपासित होते विविध रूपमें हो अभिव्यक्त॥

श्रीहरिः

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित [लेखों]द्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना [इस]का उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-[परक], कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत [आक्षेपरहित] लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई [सज्ज]न कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा [न छा]पनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे [लौटा]ये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये [स]म्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम [वार्षि]क मूल्य भारतवर्षमें ९ रुपये और भारतवर्षसे बाहरके [लिये] रु० १३.३५ (१५ शिलिंग) नियत है। सजिल्द [विशेष]ाङ्कका भारतमें रु० १०.५० तथा विदेशके लिये [चं]दका १७ शिलिंग (१५.१३ पैसे) है।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ [होक]र दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे [ही ब]नाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये [जा] सकते हैं; किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए [त]कके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके [कि]सी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके [लिये] भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी [रूप]में प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके [प्रत्ये]क ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क [सम]यपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। [वहाँ]से जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका [ज]वाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति [बिन]ा मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले [कार्य]ालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-[संख]्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ [लि]खना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये पता बदलवाना [हो] तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना [चा]हिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे [च]ले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा[स]केगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक महीने-महीने ११ अङ्क मिला करेंगे। सबका मूल्य रु० ९.०० है। किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य ९ रुपये है।

(८) ५० पैसे एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ५० पैसे बाद दिये जा सकते हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) प्रेस-विभाग तथा कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १ रु० से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी संख्या, रुपये भेजनेका उद्देश्य, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **व्यवस्थापक—"कल्याण", पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **सम्पादक—"कल्याण", पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)** के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

राज० सं० एल्० १७५

उपासना-चतुर्दशी

सात्त्विक उपासना—

१—जो मांस, मद्य, अंडे, तामसी वस्तु, अखाद्य भोजन आदिका सर्वथा त्याग करके की जाय ।

२—जो सात्त्विक तथा अहिंसायुक्त सादा स्वच्छ वस्त्र पहनकर सात्त्विक वातावरणमें की जाय ।

३—जो क्रोध, द्वेष, वैर, हिंसाका सर्वथा त्याग करके सहिष्णुता, शान्ति, मैत्री तथा प्रेमभावसे की जाय ।

४—जो प्राणीमात्रके सुखसम्पादन, कल्याण तथा हितके लिये की जाय ।

५—जो काम, लोभ, अभिमानका त्याग करके कामना तथा लोभसे रहित विनयभावसे की जाय ।

६—जो मन-इन्द्रियोंको वशमें रखकर उनके द्वारा शास्त्रोक्त सात्त्विक विधिके अनुसार की जाय ।

७—जो मिथ्या, चोरी-जारी, हिंसा, पराया हक, अवैध भोग आदि पाप-वृत्तियोंसे सर्वथा छूटकर सत्य, संयम, सेवा, उदारता, त्याग, अहिंसा, दया आदि सद्वृत्तियोंको जगानेके लिये की जाय ।

८—जो आसुरी सम्पत्तिको सर्वथा मिटाकर दैवी सम्पदाकी प्राप्तिके लिये की जाय ।

९—जो सार्वभौम सर्वकल्याणकारी परिस्थितिकी प्राप्तिके लिये की जाय ।

१०—जो सात्त्विक तथा उससे भी आगे गुणातीत अवस्थाकी प्राप्तिके लिये की जाय ।

११—जो लौकिक सिद्धियोंके लिये न होकर परमार्थसिद्धिके लिये की जाय ।

१२—जो निष्कामभावसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये की जाय ।

१३—जो केवल दिव्य भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये की जाय ।

१४—जो सात्त्विक देवताके स्वरूपोंकी, सात्त्विक श्रद्धा तथा सात्त्विक विधिसे की जाय ।

